

बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि धर्म शासकों का भी शासक है और दण्ड का आधार निरीह शक्ति नहीं, बरन् धर्म है। बौद्धग्रन्थों में धर्म को वह परम्परा माना गया है जो 'याय, निष्पक्षता और परोपकारिता पर आधारित है। राजधर्म का आधार अध, धर्म, काल, मान्य और परिषद हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजधर्म का उद्देश्य है इसकी साधना धर्मपालन समयानुसार उचित माना में दण्ड का प्रयोग और राजधर्म को लागू करने के लिए परिषद की आवश्यक मन्त्रणा का पालन। धर्म का बाढ़ा ने सत्य का प्रतीक माना है। राजधर्म की धारणा में, इस प्रकार धर्म और दण्ड के मिश्रण से एक म मिल गए हैं जिसके कारण राजधर्म में, विरोध तथा दण्ड के उपयोग में, नतिकता का समावेश हुआ है। इस कारण राजधर्म में दण्ड बरन् निरीह राजनतिक शक्ति और राज्य एक निरुद्ध्य प्रशासक संगठन होने से बचे हैं और सम्राट की निरुक्तता पर राय लगी रही है। यही कारण है कि हिन्दू राजनतिक विचारधारा में यक्ति का वही राज्य तथा सम्राट के प्रति विद्रोह करने का अधिकार मिला हुआ है जहाँ राज्य तथा सम्राट धर्म के पथ से झिग चुके हैं। इसी कारण महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है और कुल्शेभ धर्मक्षेत्र है। गुरु रामदास ने शिवाजी का अधर्म के प्रति सलाह दी थी न कि औरंगजेब के प्रति। देवासुर संग्राम की कल्पना का सम्बन्ध भी अधर्म के प्रति धर्म संग्राम और धर्म की अन्तर्गत विजय सह। वाइ आख्य नहीं यदि वर्तमान भारत में, भारत चीनी युद्ध का देवासुर तथा अधर्म के प्रति धर्म का संग्राम कहा गया है।

राजधर्म का धर्मप्राण मानन व विचार से हिन्दू राजनतिक संगठन में उन अनेक समाजशास्त्रीय तथ्यों का प्रस्फुटन हुआ है जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। राजधर्म में धर्म के दिय तथा सामाजिक पक्षों के सम्बन्ध का प्रयास किया गया है। राजधर्म में धर्म के सामाजिक पक्ष का निवचन परिवार कुल, जाति वर्णायम व्यवस्था, धर्मोप प्रथाया युग मर्यादाओं और मानवता के उन नियमों के रूप में किया गया है, जिनका निष्पक्ष श्रुतियों और स्मृतियों में दृष्टा है। श्रुतियों और स्मृतियों प्रथाओं पर आधारित रनी हैं। अतः राजधर्म में धर्म का आधार प्रथा रही है। यही कारण है कि धर्मग्रन्थों में विरोधी प्रथाया का उल्लेख मिलता है और इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राज्य प्रणामन में प्रथा विधि सभी शक्तिशाली है। भारतीय समाज का सामाजिक संस्कृति विजातिता का ही इसका कारण माना जा सकता है। भारत प्रारम्भ में ही जातियों और गणजातियों का रूप रहा है और प्रत्येक जाति तथा गणजाति के अपने सामाजिक संस्कृति नियम रह हैं। इनके अतिरिक्त धर्मोप संस्कृतियों भारत में हैं। धर्मग्रन्थें इस विज्ञानीयता में सजातीयता लाने का प्रयास हैं और यही प्रयास हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार रहा है। अतः, यह सजातीयता न तो किसी मजहब द्वारा घोषी गई है और न किसी राज्य द्वारा। एभी दशा में,

सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम के रूप में, प्रथा को ही प्रमाण मानने की परम्परा रही है। इस कारण भारत में उस राजनैतिक विचारधारा का अभ्युदय हुआ है जिसमें यह माना गया है कि प्रजा की प्रथाओं के अनुसार प्रशासन करना ही सम्राट का धर्म है। जातियाँ और गणजातियों के नियमों के अनुसार प्रशासन करना और विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के नियमों का लागू करना राज्य का धर्म माना गया है। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों ने भी इस नियम की अवहेलना नहीं की है। अंग्रेजी राज्यकाय में जब स्वीम विधि (Personal Law) का महिमाबद्ध करने का प्रयत्न उठा तब यही नियम लागू ठहराया गया कि जहाँ व्यवस्था में मतभेद हो, वहाँ प्रथा ही निश्चित वैधिक प्रमाण है। भारत में सविधायिनी मता का श्रीगणेश अंग्रेजी राज्यकाल में हुआ है। प्रथा की सर्वोपरिता का ही यह परिणाम है कि भारतीय सामाजिक विधान प्रणाली, एक ओर जटिल है और दूसरी ओर, अधिकतर मामाजिक विधान प्रणाली में प्रथा का सामान्यविधि का धषवाद माना गया है। प्रथायी वैधिक अपवाद को भी उतना ही वैधिक प्रमाण माना गया है जितना कि किसी निरूपित विधि को। हिन्दू विवाह अधिनियम (1951) इसका प्रमाण है। इस अधिनियम के अनुसार बहुपत्नीत्व अमान्य है लेकिन जीवनसारावसर में बहुपत्नीत्व मान्य है क्योंकि वहाँ की प्रथा के अनुसार बहुपत्नीत्व वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार है। इस अधिनियम के अनुसार समान विवाह वहाँ वैध है जहाँ प्रचलित प्रथा में इनका विरोध न हो।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विजयनगर के हिन्दू राजाओं ने अपने लिए 'जातिरक्षक' (Maintainer of Castes) की उपाधि ग्रहण की थी। सम्राट के जातिरक्षक होने का तात्पर्य है जातिगत प्रथाओं की रक्षा करना तथा उनको लागू करना। ऐसा दसा में जाति तथा गणजाति पंचायतों का महत्त्व स्वतः ब्रह्म जाता है। जाति तथा गणजाति पंचायत और ग्रामपंचायत, राज्य तथा व्यक्ति के बीच में, एक तबर्ती सामाजिक क्षेत्र (Buffer Social Zone) के माने रहते हैं। विभिन्न जातियाँ तथा गणजातियों के बीच में व्यवस्था बनाय रखना और आश्रय तथा वर्णों के नियमों का व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। इसका तात्पर्य यह निरूपणा है कि विभिन्न जातियाँ गणजातियाँ तथा वर्णों के स्वधर्म की रक्षा करना और उन व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रथा का प्रमाण मानने हुए, राज्यम की धारणा के अनुसार राज्य का मुख्य कर्तव्य है जीवन कालीन धार्मिक—धर्म धर्म और काम (जिनमें परिवार, जाति धर्म और वर्ण की व्यवस्था आ जाती है) का व्यवस्थित रखना। हिन्दू सामाजिक संगठन की धारणा में, राज्य का स्थान अराजकता और व्यवस्था के बीच में आता है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य अरा-

जकता को रोकना और वर्णाश्रमी व्यवस्था और व्यक्तिगत, साम्प्रतिक तथा सस्यायी सुरक्षा को बनाये रखना है। मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अतः, मोक्ष राजधर्म के क्षेत्र से बाहर है।

हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था की धारणा में राज्य तथा सम्राट के दो पहलू हैं— एक, पहलू है धर्म, अथ तथा काम की व्यवस्था के मरक्षक का, स्वधर्म के परिपोषक का और परोपकारी कृपालु का और दूसरा, जो केवल व्यवस्था का माध्यम है और अराजकता का अवरोधक है, जिसका कर्तव्य उन प्रयत्नों को लागू करना है जिनका व्यक्ति परिवार जाति वंश, आश्रम, ग्रामीण सामाजिक संगठन और घनापाजन में पालन करता है। व्यक्ति का राज्य से वही तब सम्बन्ध है जहाँ तब धर्म और काम की व्यवस्थित साधना का सम्बन्ध है। व्यक्तिगत जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ, व्यक्ति का राज्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य है—कुलधर्म जातिधर्म, वंशधर्म तथा संक्षेप में स्वधर्म को व्यवस्थित करना। व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार, जाति तथा ग्राम से है क्योंकि वही उससे सामाजिक जीवन तथा अस्तित्व की परीक्षायाँ हैं। ऐसी दशा में राज्य व्यवस्था में दो प्रवर्तनियों का परस्पर हाता है—एक राज्य समाज का केन्द्र है और जनकल्याण का मुख्य माध्यम है। उसका अस्तित्व परापकारात्मक है अतः, उसके अधिकार असिमित हैं और दूसरे उसका अधिकार कभी तक सीमित है जहाँ परिवार, जाति, वंश आश्रम व्यवस्था और ग्रामसंगठन के अधिकारों का अंत होता है। इसलिए राजतन्त्र में दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक आरारण्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से है—सभी कुछ उससे वस्तु तथा अधिकार तब से आता है। राजधर्म में परापकारिता का विचार न राज्य का वसुधा अधिकार तथा कर्तव्य दिये हैं जो जनकल्याण के लिए आवश्यक हैं लेकिन दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था (परिवार, जाति और ग्राम) के कारण उससे अधिकार सीमित है। अतः परापकार और अपरिग्रह राजधर्म के दो मुख्य आधार होते हैं लेकिन उनका विस्तार कभी तक है जहाँ से परिवार, जाति, ग्राम तथा आश्रम की सीमाएँ प्रारम्भ होती हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भारत में अनहिताय व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य ने, एक सरासरी के रूप में व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के सभी अंगों को व्यवस्थित किया है और दूसरा इन व्यापक कार्यों के बावजूद भी राज्य ने भी निरंकुश अधिपत्यवर्तन का रूप न ले सका। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि जहाँ राज्य सरासरी है और इसकारण उस असीमित अधिकार मिल जाते हैं क्या व्यक्ति स्वतन्त्र रह सकता है? अस्तेकर के मत में, प्राचीन भारत में राज्य समाज का केन्द्र और जनकल्याण का मुख्य माध्यम समझा जाता था जिसके कारण राज्य का क्षेत्र काफी विस्तृत था। लेकिन, इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि राज्य के बहुमूर्ती नाथ मुख्यतः राज्य की नीवरणाहा द्वारा ही नहीं

हानि हो¹।

धर्म के आधार पर प्रथा को राज्य-प्रश्न और सामाजिक-व्यवस्था का आधार मानने का एक और परिणाम निकला। राजधर्म के निरूपण में जहाँ तक दण्ड और न्याय के लागू करने का प्रश्न है, हिन्दू विचारका न समता सिद्धांत (The Principle of Equity) को स्वीकार किया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य ने इन बातों पर जोर दिया है कि दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए। दण्ड का अपराध के अनुरूप बनाने का सिद्धांत में समता सिद्धांत निहित है। अतः, धर्म सिद्धांत का व्यावहारिक पर प्रथा पर आधारित था। इसलिए व्यवहार में समता सिद्धांत व्यवहार्य ही रहा। प्रथा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ वह वर्ण-व्यवस्था के सद्भावित रूप से भिन्न रहा है। उभा कि वर्ण के विस्तारण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है सिद्धांत में सभी वर्णों का समान माना गया है, यद्यपि व्यवहार में विभिन्न वर्ण असमान रहे हैं। वर्णव्यवस्था का अर्थ एक उच्चाच्च परम्परा प्रणाली में उच्च विभिन्न समूहों जिनका सामाजिक स्तर मूलतः जन्मानुसार है। राजधर्म का उद्देश्य माना गया है विभिन्न वर्णों और उनकी प्रथाओं व्यवस्था को बनाए रखना, जिसका व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वर्ण मरचना की उच्चाच्च परम्परा में निहित प्रथाओं जसमानताओं का व्यवस्थित ही नहीं करना बरन उन्हें बनाए भी रखना। अतः कारण हिन्दू-धर्म विधान में विभिन्न वर्णों के समान अपराध के लिए जन्म-जन्म दण्डों का विधान मिलता है। जिस प्रकार, धर्मशास्त्री न्यायिक व्यवस्था में मुख्यतः धर्म के प्रति धारणा की मांग (गवाही) अभाव है उसी प्रकार प्रथाओं हिन्दू-न्याय-व्यवस्था में शास्त्रों के विरुद्ध गूढ़ की मांग अभाव है। इसी परम्परा का यह भा परिणाम है कि परम्परागत हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था में गद्द एक प्रकार का अधिपति नागरिक रहा है और गद्द का अनेक अधिकारों में वरित रहना गया है। रामायण में यह कहा आई है कि भगवान रामचन्द्र ने उस गद्द का वध कर लिया था जो तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि परम्परानुसार तप उच्चवर्णियों विनयन शास्त्रों, का अधिकार है न कि गूढ़ों का। यही तो गूढ़ों की उन समान नियोग्यताओं का जन्म हुआ है जिन्हें धर्म सामाजिक विधान और सनातन-सत्ता काय से दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

- 1 शतहर ए० एम० स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एशियाटिक इण्डिया पृष्ठ 33, राज्य की यह परम्परा आज भी बनी हुई है। भारत के वर्तमान राजनैतिक संगठन में राज्य की जनकल्याण का मुख्य माध्यम माना गया है लेकिन माय-ही-साय यह भी स्वीकार किया गया है कि राज्य का निरंकुश अधिनायकत्व नहीं बनाना है और इसके लिए ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों के विकास का कार्यक्रम अपनाया गया है।

समता का सिद्धांत नया नहीं, पुराना है, जो हिन्दुत्व में ही नहीं वरन् अन्य सामाजिक-धार्मिक प्रणालियों में भी पाया गया है। लेकिन, उने व्यावहारिक जामा पहनाने का आन्दोलन नया है, जिसकी उत्पत्ति योरोप के सुधार आन्दोलन के युग में हुई है। इसी आन्दोलन के प्रभाव के परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में समता सिद्धांत को स्वीकार करके, उस वैधिव्यवहारिक आधार प्रदान किया गया है।

राजधर्म का धारणा में, इस प्रकार, राजसत्ता का आधार प्रथा है। प्रथा से ही राजसत्ता की सीमाएँ और परिसीमाएँ निर्धारित होती हैं। महाभारत राज्योत्पत्ति स्मृतियाँ और नीतिशास्त्रों में प्रथा को ही प्रमाण मानकर राज के सिद्धांत सत्ता की सीमाओं का निर्धारित किया गया है। लेकिन, हिन्दू विचारधारा में राज्य केवल प्रथा पर ही आधारित नहीं है।

राजसत्ता का एक अन्य आधार भी है और वह है राज्यात्पत्ति का दैवी सिद्धांत (The Divine Theory of the Origin of State)। यहाँ राज्य एक दैवी मजन है एक दिव्य प्रमय है और राज्य का अधिष्ठाता सम्राट् एक पुरुष है—वह पुरुष जिसमें दैवी गुणों का समावेश होता है। हिन्दू विचारधारा में राज्यात्पत्ति के तीन सिद्धांत मिलते हैं—एक सनिक सिद्धांत, दूसरा सविदा सिद्धांत और तीसरा दैवी सिद्धांत। सनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रमाण बन्धु साहित्य में मिलते हैं। तृतीय ब्राह्मण में यह कहा आई है कि असुरों से बार बार हारने पर दैवी न इन्द्र को अपना सनि नेता चुना क्योंकि असुरों में सनिक नेतृत्व था और देवों में सनिक नेतृत्व नहीं था। युद्ध का सनिक नेता नातिकाल में सम्राट् हो गया। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक का जीवणन मिलता है उसमें सम्राट् द्वारा रथ की चौड़ के खेल में भाग लेने का उल्लेख मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस काल में सम्राट् में सनिक गुणों की अधिक अपेक्षा की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सतत युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ही आयुष्मन् के प्रारम्भिक काल में सम्राट् के पत्र का आविर्भाव हुआ होगा। यह निश्चित है कि बन्धु काल में सम्राट् मुख्यतः सनिक नेता और सनाध्यक्ष ही है। उसका मुख्य कार्य सनिक नेतृत्व है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैदिककालीन सम्राट् पुरोहित नहीं था। सम्राट्त्व क्षत्रिय का कम और अधिकार था और पुरोहितत्व का अधिकार तथा कम। सम्राट् अपने राज्य तथा प्रजा के लिए मन अवश्य करता था लेकिन इन यज्ञों में पुरोहित ब्राह्मण हुआ करता था न कि क्षत्रिय। भारत के इतिहास में ब्राह्मण सम्राटों के प्रमाण मिलते हैं लेकिन ये प्रमाण अपवाद को सिद्ध करते हैं न कि सामान्य नियम को। सनिक नेता होने के कारण सम्राट् पुरोहित तथा मन का रक्षण था। सम्राट् तथा राज्य प्रजा के रक्षण हैं यह विचार वैदिक काल में अस्तित्व में आ गया था क्योंकि उक्त काल की सनिक आवश्यकताओं के कारण सम्राट् का पत्र व्यापक हो गया था। नासक सरण है, यह विचार पुरोहित वर्ग की दृष्टि से संभव

है। इसी विचार व आधार पर आगे चलकर शासक को देवी पुष्प माना गया। शासक में दत्तत्व की स्थापना पुरोहित वर्ग द्वारा हुई है, ऐसा इतिहासकारों का मत है।

सविदा सिद्धांत (Contract Theory) का निरूपण बौद्धों ने किया है। महाभारत में राज्यात्मिक के द्वाँ सिद्धांत का निरूपण हो चुका था, लेकिन बौद्धों ने इस सिद्धांत का अनुसरण नहीं किया क्योंकि बौद्ध विचारधारा दिव्यवादी नहीं है। बौद्ध विचारधारा में राज्य की उत्पत्ति उम समझौते (सविदा Contract) से हुई है जो राजा और प्रजा के बीच में हुआ है। इस समझौते के अनुसार राजा ने जब प्रजा की रक्षा की प्रतिज्ञा की तो प्रजा ने राजा का राजस्व देना स्वीकार किया। राजस्व बौद्ध विचारधारा में राजा और प्रजा के सम्बन्धी सेवाओं के उपरान्त राजा को दिया हुआ प्रजा का योगदान है। इस सिद्धांत में यह भी निहित है कि जब कोई भी पक्ष समझौते का तात्ता है तो समझौता रद्द हो जाता है इसी आधार पर बौद्धों ने प्रजा की रक्षा और प्रशासन राजा का कर्तव्य माना और राजस्व द्वारा राजा के साथ सहयोग करना प्रजा का कर्तव्य। इस सिद्धांत के दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पद न तो एकत्र निरूपण है और न निरंकुश। इसी कारण, राजधर्म में, जमा कि पद सिद्धांत जा चुका है बौद्धों ने परिष्कृत, जिसका तात्पर्य प्रजा की मरणा पश्चात् सन्निहित जा सकता है का महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों की विचारधारा में राजा और राज्य की उत्पत्ति हो तब हुई जब मनुष्य उस स्वर्णिम युग में अस्तित्व में आ गया जहां न राजा की आवश्यकता थी न राज्य की और न प्रजा की रक्षा की। राज्यात्मिक का यह सिद्धांत एक युक्तिपूर्ण कल्पना मात्र है, जिसे केवल बौद्ध धर्म में ही मान्यता मिली और बुद्धवाद के साथ-साथ समाप्त भी हो गया है।

हिन्दू विचारधारा में राज्यात्मिक के द्वाँ सिद्धांत का ही प्रधानता मिली है। ब्रह्म काल में ही सनिक सिद्धांत का विचार मनुष्य के प्रमाण मिलने है। ऋग्वेद में सम्राट् को इन्द्र का सहचर और जघत्स्व कहा गया है ऋग्वेद में सम्राट् परीक्षण का एक दस्ता के रूप में वर्णन किया गया है और नतपक्ष शासन में सम्राट् का प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है। ब्रह्म युग के बाद इसी परम्परा का विस्तार मित्ता है जिसमें देवी सिद्धांत के साथ धर्म की धारणा का समर्थन हुआ है। हिन्दू विचारधारा में राज्यात्मिक के द्वाँ सिद्धांत का सार यह है कि जब धर्म स्थिर है तो उस पर आधारित राज्य तथा उसका शासन सम्राट् भी स्थिर है। महाभारत में एक कथानक के रूप में, राज्यात्मिक के द्वाँ सिद्धांत के निरूपण

1 गोमते धी० जी० वही पृष्ठ 149-150

2 वही पृष्ठ 151

कें काल में हुई है, शिवाजी को युगावतार कहा गया है—एसा युगावतार जो विष्णु का अंश है, जो आठ लोकपालों के जग से अवतरित हुआ है और जो वस्तुतः विष्णु पुत्र है¹ ।

राजधर्म में राज्यात्पत्ति का दवी सिद्धांत, इस प्रकार, राज्य को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए अस्तित्व में आया। लेकिन, इस सिद्धांत की विशेषता यह है कि इसमें राज्य दिव्य है न कि स्वयं सम्राट्। सम्राट् की दियता व्यक्तिगत नहीं है, वह सस्यागत है। सम्राट् दिव्य नहीं है वरन् सम्राट्त्व दिव्य है। कोई भी व्यक्ति यही तक दिव्य है जहाँ तक वह सम्राट्त्व के कर्तव्य का पालन करता है। सम्राट्त्व के कर्तव्यपालन का आधार धर्म है। अतः सम्राट् वही तक दिव्य है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजकाज में राजधर्म का पालन करता है। दवी सिद्धांत से जसा कि स्वाभाविक था राजसत्ता के एकीकरण का प्रास्ताविक मिलता रहा जिसके कारण समय-समय पर, साम्राज्य को संगठित, एकीकृत और केंद्रीभूत करने में सहायता मिली। दवी सिद्धांत वह माध्यम रहा है जिससे सम्राट् के प्रति प्रजा की निष्ठा प्रोत्साहित होती रही है। लेकिन साथ ही साथ, इस सिद्धांत में वह विचार भी निहित है कि जहाँ सम्राट् धर्म से गिर जाता है, वहाँ उसकी दियता समाप्त हो जाती है। अतः सम्राट् की आज्ञा का पालन प्रजा का यही तक धर्म है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजधर्म को करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्राट् को मिला हुआ ढग का अधिकार दवी अधिकार है लेकिन सम्राट् उस अधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता है। सम्राट् के दिव्य अधिकार ढग के प्रयोग की कौड़ी धर्म भी दिव्य है। इस प्रकार, राज्यात्पत्ति के दवी सिद्धांत में जहाँ राज्य को दिव्य माना गया है वहाँ धर्म को भी दिव्य मानकर, दिव्य को दिव्य के आधार पर संस्थागत करने का प्रयास किया गया है। राजसत्ता एवं दिव्य मस्या है, जिसमें कार्यात्मक ढग से संबंधित होने के कारण ही सम्राट् दिव्य है। इस सिद्धांत में दो परिणाम निकलें—एक, राज्य सत्ता का आधार नैतिकता है न कि निरीह सैन्य और उसका निरकुण प्रयोग और दूसरा, जहाँ सम्राट् धर्म से विमुख हो प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। हिंदू विचारधारा में निश्चित राजधर्म की धारणा जहाँ एक ओर, सामाजिक एतिहासिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है वहाँ दूसरी ओर इसमें राजतन्त्र में नैतिकता का समावेश हुआ तथा उन अवसरों में राज्य के प्रति विद्रोह करने का वैयक्तिक अधिकार बना रहा जहाँ राज्य और सम्राट् धर्म से विमुख हो।

सम्राट्त्व की धारणा भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की

पट्टभूमि में विकसित हुई है। यहाँ सम्राट् क्षेत्रीय अधिनायकों को अपने शासन में रखकर साम्राज्य की स्थापना करते रहे हैं। भारत गणजातियों में बड़ा था और प्रत्येक गणजाति अपने में एक राष्ट्र थी। जैसा कि गाँडा के राजनैतिक प्रसार से स्पष्ट है, कुछ गणजातियाँ न क्षेत्रीय राज्यों का रूप ले लीं और इसप्रकार क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। भारत में एक ओर, क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना की परम्परा मिनवी है और दूसरी ओर अखिल भारतीय साम्राज्य सम्हापन की। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य मल्लोत्तरीन खिलजी अकबर और गजनेव और गिवाजी सम्राट् बनने की भावना से प्रेरित रहे हैं। यातायात के साधनों की अमुविधा के कारण प्रथम शासन की सम्भावना न होने से चन्द्रगुप्त सम्राटत्व का आदेश जाया। सम्राट् का काम दिव्यजय करके अथवा क्षेत्रीय शासकों को अपने अधीन करके और उनमें कर लेकर साम्राज्य की स्थापना करता रहा है। क्षेत्रीय सामक सम्राट के नाम पर राज्य करते रहे हैं। इस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने लिए कम्पनी बहादुर का खिताब चुना और जठारह मी मनायन तक मुगल सम्राट के नाम पर राज्य किया। अंग्रेजी सरकार ने भी दंगी रियासतों का कायम रखा। इस विकास के कई परिणाम निकले। पहला भारत में जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी की भावना का विकसित हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना क्षीण रही। दूसरा, सम्राट के स्तर का राजनैतिक संगठन अलग रहा और क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर अलग। तीसरा, सम्राट का सत्ता बँटने तक राजनैतिक गति रूढ़ा किन्तु उस सत्ता के क्षीण होने ही अराजकता फैला। यहाँ कारण है कि भारत में एक ओर जाति चन्द्रगुप्त और अकबर के राजनैतिक स्थापित के स्थिति में युग रहे हैं और दूसरी ओर राजनैतिक अस्थिरता का कारण। चौथा सम्राटों ने शासन का भावना में शासन किया है और इस कारण उन्होंने प्रजा के लिए सभी कुछ सम्भव करने का प्रयास किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में निश्चय की भावना रही है। पाँचवा, सम्राटत्व में दिव्यता की प्रतिपादन करने से उस इतना सम्भवता बनाने की प्रेरणा मिली कि सम्राट का सम्भव उसकी दिव्यता का प्रतीक बन जाय। शम्भु की सम्राट के प्रभाव का माध्यम बताया गया। बड़ी बड़ी इमारतें मवागी वेपथूया और परावहारी काम सम्भव प्रमाण के माध्यम बन। किन्तु भारतीय इतिहास में सम्राटों के राज दरबारों के सम्भव का जो वर्णन मिलता है, उसका भार जनता पर पड़ा। भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार जीवन निर्वाही कृषि रही है जिसका स्तर आन्विकारी क्षेत्रों में निम्न हो रहा है। इस परिणामस्वरूप, जनता का सम्भव भारों पर दना गया है जिसके कारण एक ओर जनदासिय बन रहा है और दूसरी ओर, आर्थिक प्रगति निष्प्रवाह रही है और इन सबका एक सम्मिश्रित परिणाम यह रहा है कि भारतीय विचारधारा, इतिहास के सभी युगों में, भाग्यवादिता तथा भाग्यनिश्चयता की ओर प्रवृत्त रही है। भारतीय विधान की भाग्यवादिता आज की नहीं दुर्गों की दन है।

धर्म और काम की साधना करना। अथ और काम की साधना समाज और संस्कृति से होती है। अतः, इहलौकिक पूणत्व का अर्थ हुआ, समाज और संस्कृति के मादश नियमों के साथ व्यक्ति का पूण तादात्म्य जो तभी होता है जब व्यक्ति का पूण सामाजीकरण हो जाय। उत्तमपुरुष की धारणा उस पूण मनुष्य की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्य बिन्दु है। इसीलिय उत्तमपुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक (Metaphysical) है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है, वही उत्तम पुरुष है।

वैदिक साहित्य में कई ऐसी धारणायें मिलती हैं जिनमें यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का पूण सामाजीकरण पूणत्व प्राप्ति का एक मुख्य आधार है। यह वेदों में पहले ही कहा जा चुका है कि पुण्याय में अथ और काम का उत्तम पुरुष समावेश व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी सामाजिक वृत्ति की तुष्टि की आवश्यकता की महत्ता का स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में पाई जाने वाली 'सम्य' तथा 'शिष्ट' की धारणायें इस महत्ता को और भी स्पष्ट करती हैं। ऋग्वेद में सम्य से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सभा का सदस्य हान के योग्य है। सभा का वही सदस्य होने योग्य है जो वयस्क है, जिसमें सभा के नियमों का समझने तथा उनके अनुसार नियम लेने की क्षमता है। अनुभव वयस्कता, योग्यता और अवधारणा (Comprehension) सोचने-समझने की क्षमता) 'सम्य' की मुख्य विशेषतायें हैं। अतः, सम्य वह है जो अपने अनुभव वयस्कता योग्यता और अवधारणा के कारण सभासद होकर गाँव वगैरे की उचित सलाह दे सके। सभा से तात्पर्य गणजातीय पंचायत (Tribal Panchayat) से है। इस दृष्टि कोण से, 'सम्य' वही है जिसका पूण और सुचारु सामाजीकरण हो गया हो। अथर्ववेद में शिष्ट शब्द का प्रयोग गिनतीका अनुशासन और आत्मनियंत्रण के अर्थ में किया गया है। अतः, यह कहा जा सकता है कि शिष्ट वह है जिसने सामाजीकरण में निहित गिनतीका, अनुशासन और आत्मनियंत्रण के द्वारा संस्कृति के आदर्शों को पूणतः आत्मसात कर लिया हो। समाज के आदर्शों (Ideals) और अर्थों (Values) के अनुसार व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। अतः शिष्ट वही है जिसमें समाज का आदर्श व्यवहार पाया जाता हो। जो सम्य और शिष्ट है, वही आदर्श नागरिक है।

लेकिन सम्य, शिष्ट और नागरिक पूण मनुष्य के परिचायक नहीं हैं। सम्य, शिष्ट और 'नागरिक' हाना समाज और संस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। सामाजिक-सांस्कृतिक तादात्म्य पूणत्व का केवल एक इहलौकिक आधार है। पूणत्व का आधार केवल सामाजिक-सांस्कृतिक तादात्म्य नहीं है। ऋग्वेदिक विचार धारा के अनुसार पूणत्व का प्रतीक 'ऋत' है। 'ऋत', जसा कि पहले कहा जा चुका है,

रहस्यमय सादरत नियम है—वह नियम जिस पर सारी व्यवस्था आधारित है। इहलौकिक तथा पारलौकिक दाना व्यवस्थाओं का आधार 'ऋत' है। ऋत ही सत्य है। अतः जो सत्य है वही नैतिक आत्मा है। सत्य इहलौकिक जीवन भी है और पारलौकिक जीवन भी। लेकिन इससे भी बड़ा एक सत्य है और वह यह है कि इहलौकिक का आधार पारलौकिक है। पूर्णत्व न केवल इहलौकिकता है और न पारलौकिकता। पूर्णत्व पारलौकिकता पर आधारित इहलौकिकता है। इसीलिये वेदों में प्रतिपादित इहलौकिक जीवन देवा, उनकी कृपा कल्पों और लोकमण्ड के प्रति विराग की भावनाओं से बड़ा है। वृत्त में माये विचार के अनुसार पूर्ण यह है जो मृत्यु के बाद देवयान या पितृयान में निवास करने का अधिकारी है। यहाँ देवताओं को प्रमत्त करने के लिये विय गय यन् प्राथमार्थ और कल्प पूर्णत्व का आधार माने गए हैं। औपनिषदिक विचारधारा का प्रस्फुटन हाते ही पूर्ण मनुष्य और पूर्णत्व के आधार सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। उपनिषदों में आत्मनिष्ठ दान और दया न तो एक साथ मिलकर और न अलग-अलग पूर्ण हैं—ये तो केवल साधनमात्र हैं जिनके आधार पर पूर्णत्व को प्राप्त किया जा सकता है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार पूर्ण है ज्ञान—वह ज्ञान जो विज्ञान से ऊपर है। यहाँ ज्ञान यह अनुभूति है जिससे पारलौकिक तत्व की वास्तविकता प्रगट होती है। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा व्याप्त है जिसका उत्तम और परिणति ब्रह्म में है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा तथा ब्रह्म की आधारभूत एकता समझी हुई है और सम्पूर्ण इहलौकिक पारलौकिक ब्रह्म का रहस्य है—यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। इस ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की मत्ता दी गई है। इसी ज्ञान से पारलौकिकता की अनुभूति होता है अतः इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। इसकारण केवल ज्ञान ही पूर्ण है। औपनिषदिक विचारधारा में ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है और उत्तमपुरुष अर्थात् पूर्ण मनुष्य वही है जो जानती है।

उपनिषद् में

उत्तमपुरुष

औपनिषदिक विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में योगी की धारणा उत्पन्न हुई है। यदि ज्ञान ही पूर्ण है तो उस पूर्णता के प्राप्त करने का साधन क्या है। योगाचार की विचारधारा के अनुसार योग ज्ञान के साधन का उपकरण है। योग का अर्थ है जानना मिश्रता और सम्पर्क में लाना इत्यादि। योग वही है जहाँ ध्याना और ब्रह्म का योग हो जहाँ इहलौकिक तथा पारलौकिक की द्विविधा समाप्त हो जाय और सत्ता का विभिन्नता में एकता (अविभक्त विभक्त्यु) का अनुभूति का अनुभव हो। योगाचार का विचारधारा में योग व्यामस आता है। योगाभ्यास के साधन हैं यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

समाधि योग की अवस्था है क्योंकि समाधि की ही अवस्था में व्यक्ति के

ध्यान का धारण की हुई वस्तु से याग हो जाता है। यागाचार की विचारधारा का मूलधार यह है कि आत्मशक्ति और आत्मज्ञान के उदयोपधन के लिये शरीर को समय से रखना और अभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। योगी शरीर से हट कर आत्मा में रमण करता है। शरीरी एषणाओं तथा वासनाओं का उसमें अंत हो जाता है। वह सासारिक शरीरी सुख का नहीं बरन परमानन्द का अनुभव करता है। आत्ममिद्वि के द्वारा उस का आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, उससे उस भौतिक सुख ही नहीं बरन मनचाहे भ्रमस्य की भी प्राप्ति हो जाती है^१। योग रहस्यवादिता से ओतप्रोत है। इस्लाम में सूफी सत भी इसी परम्परा में आते हैं। योग की ही विचारधारा से तप की धारणा उत्पन्न हुई है। तप का अर्थ है अभ्यास द्वारा शरीरी आवश्यकताओं को दबाना और आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। शरीर में भस्म लगाना, जटाजूट रखना, सर्दों तथा गर्मों में नगे बदन रहना, गर्मियों में भी अग्नि तापना, उल्टा लटककर नीचे से धुआं सुलगाना, एक पर से या एक हाथ उठा कर यों खड़े रहना, प्राणनाभु रोक्कर समाधिस्थ होना याग के वे निरुद्ध रूप हैं जो तांत्रिक विचारधारा के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आये हैं। योगी के रूप में पूर्ण मनुष्य वस्तुतः वह है जो यागाभ्यास द्वारा इहलौकिक शरीरी आधार से ऊपर उठ जाता है, जो पारलौकिक के समीप पहुँच जाता है और जिस ईश्वरीय प्रसाद मिल जाता है जिससे वह शरीरी बाधियाँ—जरा भोगों और वासनाओं से मुक्त हो जाता है। योगी इस ससार में रहते हुए भी परमानन्द में स्थित रहता है।

बौद्ध विचारधारा की औपनिषदिक विचारधारा में जो परिवर्तन मिला उससे वस्तुतः कई विचार प्रशस्त्रायेँ अस्तित्व में आईं। एक बौद्धिक प्रशस्त्रा के अनुसार ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है दूसरी के अनुसार योग और तीसरी के अनुसार भक्ति। अतः उपनिषदा की विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में ज्ञानी, योगी और भक्त की धारणाओं का प्रस्फुटन हुआ। औपनिषदिक विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। अतः, ज्ञानी, यागी और भक्त की निवृत्त पुरुष के रूप में कल्पना की गई है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, योगी योग द्वारा और भक्त भक्ति के द्वारा। यही ज्ञान

१. धाममाग में जहाँ तत्र का प्रभाव रहा है, इस विचारधारा ने कापालिक, सिद्ध, भरव और औघड इत्यादि की धारणाओं को जन्म दिया है। कापालिक, सिद्ध भरव और औघड वे पुरुष हैं, जिनके लिये यह समझा जाता है कि उन्होंने शक्ति सिद्ध कर रखी है जिसके द्वारा वे अलौकिक कृत्यों को सम्पादित कर सकते हैं। तत्र में योगाचार की विचारधारा सज्जम शक्ति की साधना का रूप ले लेती है। किन्तु धाममागी सिद्ध हो सकते हैं, उत्तम पुरुष नहीं।

पूणत्व का सर्वोत्कृष्ट आधार है। लेकिन उसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। योग और तप उस अभ्यास के आधार हैं। भक्ति उनके लिये है जो ज्ञान और योग के माग को नहीं अपना सकते हैं। लेकिन ज्ञान, योग और भक्ति वस्तुतः एक ही मनोन्मा तक पहुँचने के तीन माग हैं। पूणत्व वस्तुतः न तो ज्ञान है, न योग और भक्ति। पूणत्व तो वह मनोन्मा है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मपरायण हो जाता है। उस मनोन्मा के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। ये साधन हैं नैतिकता, अहिंसा, सत्य-प्रियता, दायप्रियता, करुणा और जात्मनिग्रह, जिन्हें महाभारत में पूण पुरुष के गुण माना गया है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा और ध्यान में इन गुणों के विकास का प्रोत्साहन मिलता है। सत विचार, सत्य भाषण और सतकाय से वह नैतिक शील विकसित होता है जिससे या तो निष्काम भक्ति द्वारा या आत्मपान द्वारा निर्लिप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः पूणपुरुष का अंतिम रूप जानी का है। उत्तमपुरुष का दृष्टान्त जीवन समाप्त नहीं हो जाता है। सबकल्याण के लिये उत्तमपुरुष का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि उत्तमपुरुष का अपने लिये कुछ करना आवश्यक नहीं रह जाता है। वह समार में मुझ दुम में निवृत्त होकर सबकल्याणकारी भावों की पूर्ति में रत रहता है। उत्तमपुरुष वस्तुतः कल्याणकारी बल और ज्ञान का प्रकाशस्वरूप है^१।

गीता में, असा कि पहले कहा जा चुका है, बल के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, बल, ज्ञान और भक्ति गीता में याग हैं जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है क्योंकि उत्तमपुरुष निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता प्राप्ति है। जो बल ज्ञान और भक्ति निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित है उन्हीं के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का याग होता है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ ही निष्काम बलयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग है। वही बल, ज्ञान और भक्ति आदा है जो निष्काम है और ब्रह्मपरायण है। अतः, गीता के अनुसार, उत्तमपुरुष वही है जो स्थितप्रज्ञ है। गीताकार ने स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थ में अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्पन्न निवाता जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि में होती है। समत्वबुद्धि का एक आधार निष्कामता है और दूसरा समभाव। इन्द्रियों, गीताकार ने उसे स्थितप्रज्ञ कहा है जो मन को उठी हुई गमस्त वामनाश का त्याग करता है, आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, राग, भय और ज्ञान रहित होता है, न तो दुःख से दुःखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है गुण अगुण के प्रति समभाव रखता है और सब इन्द्रियों को बल में रखकर ईश्वर में रत रहता

है। स्थितप्रज्ञ कह्ये भी भाति अपने सब अंगों को इन्द्रिया के विषयों में से समेटे रहता है। स्थितप्रज्ञ वह कमयोगी है जो केवल कम को कम समझकर कम करता है और कमफलासक्ति से सगरहित होने के कारण श्रम-अश्रम, दुःख-सुख और राग-भय तथा शोक से विचलित नहीं होता। कम करते हुये स्थितप्रज्ञ वैसे ही शांत रहता है जैसे नदियों के निरंतर प्रवेश करने पर भी समुद्र। गीता का स्थितप्रज्ञ सत्तार में प्रवृत्त होते हुए भी सत्तार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे एक सेवक।

गीता में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन दर्शन पर आधारित है। लेकिन, बुद्धवाद तथा जैनवाद में उत्तमपुरुष की धारणा बुद्धिवादी जन निवृत्तिवादी दर्शन के आधार पर निरूपित की गई है। उत्तमपुरुष वादी विचार में की धारणा के रूप में बुद्धवाद में 'अहत्' और बौद्धिकत्व की उत्तमपुरुष धारणाओं या तथा जैनवाद में 'केवलिन' की धारणा का विकास हुआ है। 'अहत्' अलौकिक नहीं लौकिक पुरुष है। नतिकता, आध्यात्मिकता और ज्ञानपरायणता अहत् के मुख्य गुण हैं। अहत् वह है जो लोगो को धर्म का मार्ग दिखाए, जिसका मस्तिष्क सत्यानुभव में डूबा हुआ और शांत है, जो आत्मनिग्रही है, जो सुख-दुःख में पदचर की चट्टान के समान अविचलित रहता है, जो ज्ञानस्त है और इस सत्तार में रहते हुए भी सत्तार से विरक्त है। 'अहत्' अपने दोषों के प्रति सजग है और परछिद्रावेपण से दूर, मस्तिष्क विचार, वाणी और कम से शांत तथा सभी दशाओं में अपने को शांत रखता हुआ, वह मदव जागरूक रहता है। शील, समाधि और ज्ञानानुभूति उसने के उपकरण हैं, जिनसे उस भुक्ति मिलती है। पश्वी के समान सहिष्णु रहते हुए वह सग्रह तथा विषयों के त्याग में सुख का अनुभव करता है। वह सत्तार को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे मधुमक्खी पुष्प के रंग या उसकी गंध को अधुष्य रहते हुए उससे मधु ग्रहण करती है। 'अहत्' का मार्ग दुःखरहित और मुक्त है जिसके कारण उसमें कामनायें जल जाती हैं और देवता उसकी स्पर्धा करते हैं। अहत् धर्म का मूर्तिमान रूप है और धर्मपथ प्रदर्शक है। अहत् सम्यक्मार्गी है—वह न तो अत्यधिक विषयासक्त होता है और न योगियों की भांति अपने शरीर को तप के नाम पर अत्यधिक बर्त देता है। वह अपने मस्तिष्क को सत्यानुभूति और सत्यगोष्ठ में लगाता है जिसके लिए उस अपने शरीर और मस्तिष्क का अभ्यास द्वारा प्रशिक्षित करना पड़ता है।

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सत्य, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् श्रुति के सात साधन हैं जिनके द्वारा यकिन सत्तार में रहते हुए भी सामारिक बंधनों से मुक्ति पाकर सम्यक् समाधि को प्राप्ति होता है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् मनस्य से ज्ञान आता है सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म और

सम्यक् जीविका से शील और सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि में समाधि। अतः, अहत यह है जो अष्टांगिन माग का अनुसरण करके, ज्ञानवान्, शीलवान् तथा समाधिरूप हो गया है। ज्ञान शील और समाधि अहत के तीन स्वरूप हैं। अहत की धारणा हीनयानी बुद्धवाद की दन है। हीनयानी बुद्धवाद का सम्प्रदायों में विभाजित है—एक स्थविरवाद और दूसरा जम्भक। स्थविर का मतलब है ज्ञानी या तत्त्वदर्शी। स्थविर विभज्यवादी सम्प्रदाय भी है। विभज्यवाद का अर्थ है विदलेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अच्छे बुरे भाग का अलग कर देना। स्थविरवाद और विभज्यवाद का आधार तत्त्वज्ञान है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अहत सूक्त तत्त्वज्ञान है और जीवन की वह अवस्था है जिसे प्राप्त कर जीव सामारिक क्रिया कलापों की ओर नहीं मुड़ता^१।

अच्छाद्यों का भजन करना और चित्त की समय में रचना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य, बुद्ध के अनुसार, लाभ सत्कार, प्रसादा, सदाचार, समाधि और ज्ञान के लिये नहीं है। ब्रह्मचर्य का मुख्य उद्देश्य है चित्त की शुद्धि। चित्त की शुद्धि ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है। इसीलिये, सम्यक् समाधि की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—पहली, विरचित के अनुभव की अवस्था, दूसरी, विचारों और वित्तों का जजाल समाप्त होने के साथ साथ शान्ति के अनुभव की अवस्था, तीसरी समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता की अवस्था, चौथी, 'पूर्ण प्रसाद' अथवा निर्वाण की अवस्था जो दुःख सुख से परे होती है। सम्यक् समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिये सात सम्यक् मार्गों का अभ्यास आवश्यक है। शरीर मन और वाणी में भले बुरे कर्मों का प्रभाव ज्ञान प्राप्त करना सम्यक् दृष्टि है। दुःख, दुःख का कारण, दुःख का जन्म और दुःखों के अन्त का उपाय—ये चार आय सत्य हैं जिनकी अनुभूति रखते हुए जीवन बिताने का सफल भी सम्यक् सफल है। बड़े वाणी सम्यक् है जो विषया भाषण चतुसलोरी, कटुता और बकवास जैसे वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है। जो कम हिंसा, छोटी और अभिचार के वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है, वही कम सम्यक् कम है। प्राणिहिंसा, बुद्ध और प्राणि मांस मद्य-सम्पत्ति विषयों पर निर्भर जीविका गृही जीविका है। अतः, गृह, निष्कपट एक वास्तविक कर्मों द्वारा उपार्जित जीविका ही सम्यक् जीविका है। जो प्रयत्न गृह विचारों से प्रेरित है, वे सम्यक् प्रयत्न बड़े जाते हैं। शरीर, चित्त यन्त्र और मन के विषयों से निरन्तर मुक्ति पाने के उपाय की स्मृति सम्यक् स्मृति है क्योंकि शरीर, चित्त, वेदना और मन के विषयों से मुक्त होने के उपायों की ओर वे विरमृत होने पर, व्यक्ति इनमें फँस जाता है और उस दुःख भोगना परना है—

गैरीला वाचस्पति भारतीय दान पृष्ठ 186-188

‘अहृत’ की धारणा ज्ञानवादी तथा भक्तिवादी है। नितांत ज्ञानवादी होने के कारण ‘अहृत’ की धारणा ‘गुप्क’ और नीरस भी है। ‘अहृत’ जनसाधारण के दैनिक दुःख-सुख के जीवन की प्रेरणा न बन सका। उधर बुद्ध के निर्वाण के लगभग चार सौ साल बाद जब बुद्धवाद पर हिंदुत्व का प्रभाव पड़ा तो महायानी बौद्ध सम्प्रदाय का अम्युदय हुआ। महायानी सम्प्रदाय ज्ञानमार्गी न होकर भक्तिमार्गी था। इस सम्प्रदाय के अनुयाइया ने बुद्ध को मनुष्य के माध्य का शासक और नियंता स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप बुद्धवाद ईश्वरवादी तथा भक्तिप्रधान हो गया।

माध्यमिक और योगाचार, महायानी बुद्धवाद की दो उपशाखाएँ हैं। माध्यमिक विचारधारा ‘गूयवादी’ थी। योगाचार का अर्थ है वह आचार जिसके द्वारा ‘योग’ अथवा ‘बोधि’ प्राप्त हो। ‘बाधि’ प्रबुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। यत बुद्धवाद की महायानी विचारधारा के अनुसार उत्तमपुरुष वह है जो लौकिक आचारों का पालन करते हुए प्रबुद्धता को प्राप्त हो। प्रबुद्धता ज्ञानानुभूति की अवस्था है। ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—परिक्लिप्त (वस्तुनाशित ज्ञान) परतत्र (सापेक्ष ज्ञान) और परिनिष्पन्न (सत्याश्रित ज्ञान)¹। सत्याश्रित ज्ञान का अनुभव बाधि प्राप्ति की उच्चतम अवस्था है जिसके लिये निरंतर प्रयास की आवश्यकता है, वस ही जैसे जीवात्मा को परमात्मा में मिलन के लिए निरंतर प्रयास की आवश्यकता है। अतः, महायानी विचारधारा के अनुसार, उत्तमपुरुष वह है जो ‘बाधिमत्त्व’ हो। ‘बोधिसत्त्व’ ज्ञान और कल्याण का मूर्तिमान् स्वरूप है। ‘बाधिसत्त्व’ सत्याश्रित ज्ञान की अनुभूति के कारण निर्वाण का अधिकारी हो गया है, लेकिन जनहिताय कल्याण के कारण, इस ससार में तब तक बार-बार जन्म लेता है या लेता रहेगा, जब तक कि इस ससार के सभी प्राणी मुक्ति न पा जाय। बोधिसत्त्व वस्तुतः बाधि का सत्त्व है जो, ससार के कल्याण के लिये, युगानुसार युग युग में अवतरित होता रहता है। ‘बाधिसत्त्व’ प्रत्येक युग का गुरुप्रदाता और उद्धारकर्ता है। बोधिसत्त्व की धारणा में वही निवार निहित है जो गीता का सम्भवामि युगे युगे की धारणा में निहित है। बाधिसत्त्व केवल ज्ञानी नहीं बल्कि समशील ज्ञानी है। निर्वाण प्राप्ति के लिये ‘बाधिसत्त्व’ का जितना कष्ट अपने प्रति है, उतना दूसरों के प्रति भी है क्योंकि ‘बाधिमत्त्व’ अपने तथा ससार के निर्वाण की प्रेरणा से प्रेरित है। ‘बाधिसत्त्व’ की धारणा ‘अहृत’ की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

जैनवाद में प्रादुर्भूत ‘नेवलिन’ की धारणा बौद्धों की अहृत या धारणा से मिलती जुलती है²। जैनवादी विचारधारा, बुद्धवादी विचारधारा की भाँति ब्रह्मवादी न होकर पुरुषार्थमूलक और धर्मप्रधान रही है। अतः, इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है और इसी कारण इस विचारधारा को नास्तिक भी कहा गया है।

1 गरीला, वाचस्पति वही पृष्ठ 150

2 गोखले वी० जी० वही पृष्ठ 203

जैनवादी विचारधारा में 'सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दान और सम्यक् चरित्र ही मोक्षसाधन के तीन स्तंभ या उद्देश्य बताए गए हैं¹। जैनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पांच श्रेणियाँ हैं—एक मतिज्ञान (जो मन, इन्द्रिय, स्मृति प्रत्यभिज्ञा तथा तत्त्व से प्राप्त हो), दूसरा, श्रुतिज्ञान (जो शब्द एवं संकेतों से प्राप्त हो), तीसरा अवधिज्ञान (जो विकासजन्म वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त हो), चौथा मनःपरिचयज्ञान (जो दूसरा के मन से प्राप्त हो), और पाँचवा केवल ज्ञान (जो जीवमुक्ति का ज्ञान है)²। जब मनुष्य आत्मगत ज्ञानवाचक कर्मों का नष्ट कर डालता है, तब उसका दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जो आन्तरिक होती है और जिससे अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है जो जीवमुक्ति महत्त्वों का प्राप्त होता है³। केवल ज्ञान का प्राप्त करने वाला केवलिन है और केवलिन जीवमुक्त है। केवलिन के लिए सम्यक् दान और सम्यक् चरित्र आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के लिए शरीर, मन तथा वाणी का वह योग आवश्यक है जो ज्ञान और नतिकता पर आधारित है। याग के लिए तप आवश्यक है। पूण तथा उत्तमपुरुष के रूप में केवलिन का वही प्रादुर्भाव होता है, जहाँ ज्ञान तथा नतिकता पर आधारित तप के द्वारा आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का पूण ज्ञान अवतरित होता है।

अद्वैत वेदान्त में उत्तमपुरुष की धारणा जीवमुक्त की धारणा के रूप में प्रतिपादित की गई है। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा एकस्वरवादी तथा ब्रह्म वेदान्त ब्रह्मवादी है। इस विचारधारा में संसार ब्रह्म और माया के योग में उत्तमपुरुष बना है। माया मिथ्या है। अतः मायापरायणता भ्रम है। आत्मा और ब्रह्म एक है। अतः ज्ञान का आधार आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता में है। अविद्या का नाश तत्त्वज्ञान में होता है और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति 'मैं ही ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति में होती है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है क्योंकि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न सामान्य तथा उपदेष्टा के धारण की। वेदान्त की विचारधारा में तत्त्वज्ञान तथा आत्मज्ञान का एक माना गया है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण का शुद्धि आवश्यक है जिसके लिए नैतिक गुणों की वस्तुमान बनाने की आवश्यकता है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि के लिए व्रतों में प्रतिपादित कर्मों की भी आवश्यकता है। तत्त्वज्ञान का उद्देश्य अद्वैतचित्त कर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। मान के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और वाक्यरूप अगत दोनों को जानता है, वह धर्ममूर्ति (मूर्त्यु) पर विजय प्राप्त करने समूति (मान)

1 परोला, पाचस्पति वही पृष्ठ 92

2 वही पृष्ठ 91

3 वही पृष्ठ 107

। प्राप्त करता है। वेदान्त में मोक्षप्राप्ति के नित्य साधनों को बहिरंग तथा अन्तः श्रेणियाँ में रक्खा गया है। विवेक, वराग्य, समाधि और मुमुक्षुत्व बहिरंग तथा ध्यान, मनन, निदिध्यासन और समाधि अन्तरंग साधन हैं^१।

जिस प्रकार, गीता में उत्तमपुरुष की कल्पना निष्काम कर्मसिद्धान्त के सद्बन्ध की गई है उसी प्रकार, वेदान्त में उत्तमपुरुष की कल्पना अद्वैतवादी सिद्धान्त के दृष्टि में की गई है। वेदान्त के अनुसार जीव-मुक्त वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है। जीव-मुक्त अवस्था है जहाँ कर्तृत्व भावनत्व तथा भोग (सुख दुःख) का बोधन नष्ट हो जाते। यह अवस्था तब आती है जब गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा स्वानुभव से आत्मा पर ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान के द्वारा अनान का नाश होने से अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा में अज्ञान में उत्पन्न सगुण और विषय नष्ट हो जाते हैं और आत्मा एवसाय ब्रह्मज्ञान में तत्पर हो जाती है। इस आत्मत्व से साक्षात्कार होने पर जीव-मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय कामों (हृदय प्रिय) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूर्ण निवृत्त सद्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके मशय नष्ट हो गए हैं जिसकी अविद्या क्षीण हो चुकी है ऐसे मुक्त पुरुष जन्मान्तर में तथा पानोत्पत्ति के समय इस जन्म में किए गए सारे कार्य भी नष्ट

नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना विवेक है। इस लोभ के भोग विलास और परलोक के कर्मजय धनयागादि दोनों प्रकार की वस्तुओं एवं फलों से संवधा विमुक्त हो जाना ही वराग्य है। शम दम तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा की गमादि (वृत्तसम्पत्ति) कहा गया है। इन्द्रियों के विषयों को सममित करके आत्मवस्तु में चित्त लगाने का नाम ही शम है। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर लगाना दम है। मान-अपमान, सुख दुःख और शीत ताप को समभाव से सहन करना तितिक्षा है। समस्त कर्मों में फलेच्छा शून्यता और कर्मों का भगवान् के प्रति समर्पण उपरति है। समाधान में गुड बुद्ध परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुड-मुधूषण आती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। अज्ञान में मुक्त होकर मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षुत्व कहते हैं। विवेक वराग्य को जन्म देता है, वराग्य मोक्ष की इच्छा को और मोक्ष की इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देती है। सम्पूर्ण वेदान्त वाक्या का एक ही अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य समझना श्रवण, वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ब्रह्म का चिन्तन मनन, वेह से लेकर बुद्धि तथा फले हुए जड़ पदार्थों में एक ही ब्रह्म को देखना निदिध्यासन और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान के अन्तर को हटाकर ब्रह्म में चित्तवृत्ति को एकाकार करना समाधि है।

हो जाते हैं। 'यह साक्षात् में ही है (जय साक्षादहमेव) इस प्रकार जीवित रहत हुए भी वह मुक्त हो जाता है^१' ।

गीता के उत्तमपुरुष (स्थितप्रज्ञ) के आध्यात्मिक पक्ष की वेदांत की जाव-मुक्त की धारणा में अधिक विस्तार दिया गया है। गीता का उत्तमपुरुष निष्काम कमयोगी है, ससार में उसके अस्तित्व का आधार कम है। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम कम ही सब कुछ है। स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मानिष्ठा का आधार निष्काम कम में है। लेकिन, जीव-मुक्त कम से उतना भासन नहीं है, जितना कि वह ब्रह्म से है। स्थितप्रज्ञ के लिए पुरुष और प्रकृति का योग में बना ससार मूलतः निष्काम कम का भोग है। जीव-मुक्त के लिए ब्रह्म और माया का योग में उत्पन्न ससार मूलतः कम क्षेत्र नहीं है। ससार वही तक ग्रहणीय है जहां तक ससार में ब्रह्म का आभास होना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जीव-मुक्त के लिए 'अहं' सबम बड़ा अनिष्ट है। उसके अस्तित्व प्रम और वर्णा में है वह ईश्वर की इच्छा में प्रेरित है उसके जीवन का उद्देश्य जनकल्याण की भावना का जमाना तथा स्वाध्यायियों का दमन करना है लेकिन, साथ ही साथ, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि जीव-मुक्त कम की अपना वैराग्य से अधिक प्रेरित है। स्थितप्रज्ञ की प्रेरणा है निवर्तितवादी प्रवृत्ति और जीव-मुक्त की प्रेरणा है निवर्तित तथा वैराग्य। स्थितप्रज्ञ के लिए कल्पाचार सारहीन है और वण तथा जाति के बचन बसल विगुणात्मक प्रवृत्ति की लीन है। जीव-मुक्त के लिए बहविहित कल्पाचार वण और आश्रम निर्दनीय नया तथा ग्रहणीय है यद्यपि निवर्तित (वैराग्य) ध्येयस्वर है। अतः वेगलन के सबम बड़े प्रतिष्ठा पापक गबर ने जीव-मुक्त के साक्षात्क कम के दो स्तर माने हैं—एक, अल्पतम कम, निवर्तित तथा वैराग्य का और दूसरा जावनब्रह्म (जनकल्याण) के लिए किए गए कम का^२। लेकिन, दोनों दशाओं में, जीव-मुक्त मूलतः निवर्तितवादी है।

हिंदू सामाजिक जीवन-दण की सरिता निवर्तित तथा प्रवर्तित के बीच में प्रवाहित होती हुई कहीं निवर्तित की ओर और कहीं प्रवर्तित की ओर तरंगित होती रही है। तटों का अस्तित्व सरिता से है न कि सरिता का तट में। सरिता बहती हुई जलधारा है जो अपने तटों का स्पर्श करती हुई बहती रहती है। सरिता के तटों के धार में समाहित रहत है क्योंकि सरिता की जलधारा ही तटों का सायकना प्रणन करता है। जिस प्रकार सरिता के तटों का सरिता में अलग नहीं किया जा सकता और उन्हें सरिता से अलग करके अलग अलग नहीं आका जा सकता, उसी प्रकार न ना निवर्तित और प्रवर्तित के विचारों का हिंदू सामाजिक जीवन-दण का सरिता में अलग हो किया जा सकता है और न अलग-अलग करके उन्हें आका है जो

१ गरीता, वाचस्पति बही पृष्ठ ४४६

२ गोसते बही पृष्ठ २०७

सकता है। निम्न प्रकार, सरिता के दोनों तट हर दशा में तट हैं और उनमें विभेद नहीं है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में विभेद नहीं किया जा सकता। प्रवृत्ति निवृत्ति की परिभाषा है और निवृत्ति प्रवृत्ति की। हिंदू विचारधारा में प्रवृत्ति कोरी प्राथम्यता नहीं है। प्रवृत्ति धर्म के लिए है, काम के लिए है और अर्थ के लिए है। धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्ति, एक ओर, मोक्ष के लिए है और दूसरी ओर, लोकमग्न्य के लिए। माक्ष और लोकमग्न्य का विचार ही प्रवृत्ति को निवृत्तिवादी रूप देता है और मोक्ष तथा लोकमग्न्य के विचार के मध्य में निवृत्ति प्रवृत्ति का विभेद वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे सरिता में प्रवाह में उसके दोनों तटों का विभेद। मोक्ष और लोकमग्न्य का विचार हिंदू सामाजिक जीवन दशम की सरिता का मुख्य प्रवाह है। हा यह अवश्य है कि जहां मोक्ष प्रधान है वहां जीवन प्रवाह निवृत्ति की ओर अधिक बढ़ गया है और जहां लोकमग्न्य प्रधान है वहां प्रवृत्ति की ओर—उस प्रवृत्ति की ओर जिसका आधार लोकमग्न्य है न कि व्यक्तिगत स्वाध्याय। उत्तमपुरुष न केवल निवृत्तिवादी है और न केवल प्रवृत्तिवादी। उत्तमपुरुष वह है जिसके जीवन में माक्ष और लोकमग्न्य के उद्देश्यों का समन्वय हुआ है। गीता में यह समन्वय निष्काम काम योग के द्वारा हुआ है और ब्रह्मज्ञान में ब्रह्म के द्वारा। इन दोनों मार्गों का प्रतिपादन अलग अलग युगों में हुआ है लेकिन दोनों लोकमग्न्य से गुजरते हुए मोक्ष की ओर जाते हैं।

मध्ययुगीन तथा वर्तमान भारत में उत्तमपुरुष की जो धारणाएं विकसित हुई हैं उनमें एक आर आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के विचारों के समन्वय हुआ है और, दूसरी ओर, ज्ञान भक्ति तथा काम के वर्तमान युग तक समन्वित रूप का समन्वय। निगुण विचारधारा के ज्ञानधर्म की वरपाचार और मत्सर की मर्यादाओं और निगुण के ज्ञान तथा भक्ति का भुक्ति का साधन माना, लेकिन सामाजिक जीवन तथा लोकमग्न्य के विचार का नहीं छाया। मुरदास तथा तुलसीदास जैसे सगुण विचारधारा के भक्त कवियों ने राम और कृष्ण के रूप में उत्तमपुरुष की धारणा का प्रतिपादन किया। इन्होंने, एक ओर, उत्तम पुरुष को अतींद्रिय मानवीकरण माना और दूसरी ओर, उन लोकमग्न्याय नमयोगी या लीलाधारी के रूप में प्रस्तुत किया। राम और कृष्ण 'सम्भवामि युग युग' की विचारधारा के सत्त्व में मर्यादापूरणोत्तम के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। राम और कृष्ण पुरुषोत्तम हैं जो युग-युग की आवश्यकताओं के अनुसार, मर्यादाओं की रक्षा तथा लोकमग्न्य के लिए मानवी आवार में, उत्तमपुरुष का रूप धारण करते हैं। उत्तमपुरुष की यह धारणा पुरुषोत्तम की धारणा में लीन हो जाती है, और इसकारण, उत्तमपुरुष वस्तुतः वह अतींद्रिय पुरुष हो जाता है जो लोकमग्न्य के लिए और युगधर्म की रक्षा के लिए उत्तमपुरुष के रूप में इस मत्सर में आता है। इस दृष्टिकोण में, उत्तमपुरुष एक अतींद्रिय आत्मा नहीं बरत युग की

भी आत्मा है। श्री अरविन्द ने उत्तमपुरष का वह अलौकिक आत्मा माना है जो कृष्ण के रूप में प्रत्येक युग के कुम्भेश्वर रूपी घमसेन में अधम का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए अवतरित हुआ करती है। उत्तम दिव्य है अतः उत्तमपुरष भी वह दिव्य पुरुष है जिसमें युग के आत्मा सन्निहित रहते हैं।

आठवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक भारत, एक जार, राजनतिक शासता का भारत रहा है और दूसरी ओर विज्ञेता मस्त्रुतिषी के सुधान तथा उत्तम उत्पन्न होने वाला सांस्कृतिक और बौद्धिक कोलाहल का भारत। इस्लाम और इसाई मजहब सहिष्णुता, स्वाझाद और जनकातशा के आधारभूत विचारों पर सीधे घाघात करते रहे हैं क्योंकि ये मजहब मिशनरी मजहब हैं। इनका उद्देश्य रहा उन आध्यात्मिक तथा सामाजिक विदवासा काकाचारों और परम्पराओं का प्रसार जिन्हें इनमें अन्तिम सत्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी पूजोबादी व्यवस्था जो अजन भावना (The Idea of Acquisition) पर आधारित है पारलौकिकता, त्याग, दान, अस्वयं आत्मनिष्ठता और लाकसपदाय कम के विचारों के विराध में आती है। यह काल भारत के राजनतिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक पराजय और पुनरन्वेषन का काल रहा है। पराजय से ज्ञान पान की भावात्मक चेष्टा ने अलौकिकता और प्रपत्ति के भाग का प्राप्ताहित किया जिस, जसाकि राम और कृष्ण के इस युग में प्रतिपादित स्वरूपों से स्पष्ट है उत्तमपुरष की धारणा में आत्म सात किया गया। इस युग का उत्तमपुरष जहाँ अलौकिक है वहाँ वह निष्काम कमठ भी है। वह कम में इसलिये लीन होता है कि घम की रक्षा हो सके और सत्य स्थापित हो सके। वह अधम और असत्य का विरोधी है। वह अधम और असत्य के प्रतीक रावण और कस का बधक है। वह एक दिव्य पद्मप्रदक्षक है, जिसका उद्देश्य है निगमागम सम्मत आदर्शों की प्रतिस्थापना करना। यहाँ पूर्णतः वह अलौकिक है जो एतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार मानव क्रिया कलाओं में पूर्णतः लाने के लिए हस्तक्षेप किया करता है।

पुनरन्वेषन के इस काल में, बुद्धवादी, जनवादी और गीता तथा वगैरह में प्रतिपादित उत्तमपुरष की धारणाओं में, उत्तमपुरष के विचारों को प्रभावित किया है। राजनतिक तथा सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य के लिए अहिंसा सधय और युग की आवश्यकता नुसार समाजसुधार, इस युग की दो आधारभूत आवश्यकताएँ रही हैं जिनमें इस युग की उत्तमपुरष की धारणाएँ प्रभावित हुई हैं। स्वातन्त्र्य-संग्राम में निष्काम कमठना की मांग की, जिस जनवादी, बुद्धवादी और गीता के विचारों से प्रेरणा मिली। आवश्यक समाजसुधार से उत्पन्न परिवर्तनों को प्राप्तमान करते हुए, सामाजिक

1. रामायण के विषय में तुलसीदास ने कहा है 'गाना पुराण निगमागम सम्मत पत रामायणें निगमित कविदयतोषि'

संगठन के पुनरुत्थान के विचार तथा आवश्यकता को आयसमाज तथा वेदांत से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातंत्र्य-संग्राम की आवश्यकता ने पूजोवाद के समक्ष भी लोकसंग्रह के विचार का सर्वोपरि रक्खा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रवीण हाती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नहीं हुई तो, कुठित होकर, मृत अवश्य पड़ी। इन विभिन्न प्रभावों के परिणामस्वरूप, इस युग में उत्तमपुरुष की नई धारणायें प्रतिपादित हुईं, जो नई परिस्थितियों में, पुरानी धारणाओं का पुनरुत्थान हैं। लिंक ने गीता के निबन्धन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कामयोगी है और स्वतंत्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहंस के वापों और विचारों से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी में एक ही मत्ता देखता है उसमें ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है वह दोनों के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतंत्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतियों को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए 'यज्ञ और काम' गोल है। वह सदासी है, जीवमुक्त है किन्तु वह राजनैतिन आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसंग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है वह आत्मवत् मन्त्रमूर्तेषु की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निष्पक्ष है न कि लोकसंग्रह के प्रति। आयसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदा के प्रति फल हुए अज्ञान का नष्ट करने तथा वेदविहित आत्मीयों के आधार पर समाज के पुनरुत्थान के प्रति कम ही तत्पर है जैसा कि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसका लिए वही हिंदू है जो आर्यों की दन है और वेदविहित है।

गांधी का विचारधारा में उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप में अवतरित हुई है। गांधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उह प्रेरणा मिलनी है। लेकिन, गांधी की विचारधारा में प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नहीं है वह पूजनयोगी लौकिक और इस संसार का पुरुष है। गांधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्यगोष्ठी के विचारों से प्रभावित है। लेकिन, गांधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नहीं है जितना कि लोक-कल्याण की भावना से। (सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग।)

१. सत्यनिष्ठा, अहिंसा, अपरिग्रह

मूल आधार

और मन वचन तथा
यस्तुत जीवनदान
है। सत्याग्रह, सत्यनिष्ठा
आधारित है। सत्याग्रह
वही सत्याग्रह का अर्थ

नि

५

कम को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दुष्ट निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसमें अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयगम्य कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला ब्रह्मचर्य जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं चलाना, वचन तथा काम से इन्द्रियाँ पर पूरा नियंत्रण है दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा तीसरा 'निडरता' अर्थात् निश्चय और यह भाव की उसमें (सत्याग्रही के) सारे कार्य सत्य और ईश्वर-च्छा से प्रेरित हैं और चौथा, अपरिग्रही जीवन जो हरिद्वारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य दोनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग क्योंकि स्वच्छिन्न त्याग से सम्भव दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लाकमग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए उसमें दया, करुणा और प्रेम के साथ-साथ कमठता भी है। सत्याग्रही में लाकमग्रह की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि वह संसार का केवल त्याग मान नहीं है। समाज में सत्य की स्थापना के लिए, वह निरन्तर क्रियाशील रहता है क्योंकि अहिंसा के द्वारा असत्य का विनाश उसका धर्म है और वह उसके लिए मरने तक तैयार रहता है। वह सत्य की स्थापना के लिए जब तक निरन्तर प्रयत्नशील और कष्ट सहन करता है जबतक कि समाज का वांछित रूपांतरण नहीं आता। सत्याग्रही का आदर्श उस समाज की स्थापना करना है जिसमें सदस्य आध्यात्मिकता से प्रबुद्ध हो गये हों और इस कारण, अहिंसक अपरिग्रही सरल गुण और तपस्वी जीवन की ओर स्वतः प्रेरित हो। सत्याग्रही, इस प्रकार, एक आत्मा तथा समाज-मुक्त उत्तमपुरुष है जो एक आदर्श समाज की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर लोकमग्रह के कार्य में लगे हुए है। गांधी का आदर्श समाज अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित वह समाज है जो मनीष, औद्योगिकता, पूँजीवाद और गंदरीकरण के दावों से मुक्त है।

अद्वैत वेदान्त की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राधाकृष्णन के पुनरुत्थान में भी विचारों पर जीवन-मुक्ति की धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्णन ने पूणपुरुष को मुक्तात्मा कहा है। वही व्यक्ति मुक्तात्मा है जिसमें आत्मसाक्षात्कार के अनुभव के द्वारा, अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया एकीकृत कर लिया है, जिसका तब प्रकाश में परिणत हो गया है तथा हृदय प्रेम और इच्छा-मय है जिसके प्रयत्न अनुशासित हैं जिसमें आत्मा के एकत्व का भावना निश्चित रूप से चुकी है और जिसमें अविद्या, एगोता, अहं, द्वेष तथा द्विधावपण का नाश हो गया है। मुक्तात्मा शाश्वत के प्रति सर्वदा जागरूक रहता है और इसी जागरूकता के साथ समाज के कर्मों का सम्पादन करता है। माधुसूतन उसका सहजगुण है, जिसके नाम से बोद्धि-बल की उन्नति पायी गयी है। मुक्तात्मा विनम्र धर्मवान तथा कष्टसाध्य होता है। वह दूसरे के दोष का नहीं दखना क्योंकि वह दूसरों का पूरा

रूपेण जानने का दावा नहीं करता है। मुक्तात्मा के एगणरहित प्रेम से दुखी हृदयों को सात्वना मिलती है। मुक्तात्मा, वस्तुतः, रचनात्मक जीवन का बलाकार है। मुक्तात्मा, इस प्रकार, एक भार, शाश्वत के प्रति जागरूक है और, दूसरी ओर, अपने सत्य के प्रति असम्य रहित होकर, लोकसंग्रह के लिए कामशील है। मुक्तात्मा स्वपरक न होकर, शाश्वतपरक तथा समाजपरक होता है।

हिंदुत्व के ब्यापारिक आधार तथा आदर्श नियम, जसाकि पिछले वंश से स्पष्ट है, धर्म, पुरुषार्थधर्म, वर्णाश्रमधर्म, कर्मधर्म, राजधर्म, कुलधर्म तथा उत्तमपुरुष की धारणाओं से प्रेरित हैं। हिंदू विचार लौकिकता और अलौकिकता से एक साथ प्रेरित है। हिंदू सामाजिक विचार वस्तुतः दार्शनिक विचार है। हिंदुत्व में व्यक्ति तथा समाजसम्बन्धी विचारों को दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ केवल तर्काश्रित आदर्श विचार से नहीं है। यहाँ दर्शन ज्ञान है और ज्ञान पारलौकिक सत्य की वह अनुभूति है जो विज्ञान से परे है। पारलौकिक सत्य की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत और सामाजिक एक दूसरे के विरोधी नहीं बरन् पूरक हैं क्योंकि पारलौकिक सत्य की अनुभूति और मोक्ष के लिए व्यक्ति का सामाजीकरण आवश्यक है। समाज बचन नहीं बरन् सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए वैयक्तिक स्वाध्याय नहीं बरन् लोकसंग्रह महत्वपूर्ण है। पूणपुरुष का उदभवन्त्यान और त्रिया क्षेत्र समाज है। लौकिक, समाज लौकिक है, वह पारलौकिक की छाया मात्र है। पूणत्व पारलौकिक की प्राप्ति में है। समाज पारलौकिक की प्राप्ति का साधन बना रहे, इसलिए समय समय पर समाज का सुधारने के लिए मानव रूप में स्वयं पारलौकिक अवतरित होता है। इस प्रकार, रहस्यविचार और पारलौकिकता हिंदू सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के आधार हैं। प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है निश्चित सर्वोत्तम आवश्यक साधन और दोनों का आधार तथा माध्यम समाज है। हिंदुत्व में समाज को साधन और माध्यम माना गया है—वह साधन जिसमें जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। समाज, एक साधन के रूप में, सामाजिक आदर्श नियमों (Social Norms) या लोकधारों से बंधा है। आदर्श नियमों की सामाजिक अभिव्यक्ति संस्थाओं में होती है। संस्थाएँ व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम होती हैं और संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति अपने समाज के सांस्कृतिक आदर्शों से समीप पहुँचता है। हिंदू संस्थाएँ और हिंदू सांस्कृतिक आदर्श पारलौकिकता के विचार से प्रेरित हैं।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम

बारहवाँ अध्याय भारत में इस्लाम

हिन्दुत्व और इस्लाम

भारत के सांस्कृतिक उन्विकाम में गहरा वा अम्युन्य और इस्लामी सांस्कृतिक धारा का प्रवाह माध माध प्रारम्भ हुआ है । जागवा गवाली स एनर अठारहवीं शतादीतनका काल एक अर, हिंदुआ आर मुसलमानो म चलने वाले राजनतिक तथप का कान है तो दूसरी ओर, दानिक उहापोह, सामािक सुवारा और विपलवो का । इसी कान को एक ओर मययुग कहा जाता है ता दूसरी ओर मुस्लिम-काल । सांस्कृतिक उन्विकास व इतिहास के दष्टिगण स मुस्लिम काल ही गना निरधन है क्वाकि एम काल म मुसलमाना को भारत पर पूण राजननिक प्रभुत्व कभी नही मिला । मात सी बारह इगवी म मुहम्मद बिन कासिम क द्वारा सिंध के कुछ शहर जीत लो का अथ भारत म मुस्लिम काल का प्रारम्भ होना तरी ३ ओर न उन समय स हिंदू मस्तिन क उत्तरानर उन्विकास की प्रक्रिया म बाध व्यवधान हो जाया है । मार मस्लिम बह जान काल काल म, भारत के किसी न किसी भाग म हिंदू राज्य रहे हे जिनक अधिष्ठाता हिंदू मान्ना व अनुमार धम राज्य स्थापित करी का प्रगतन करत रहे ह । वाजु, लाहौर, जिल्ली अजमेर काोज मालवा और गुजगन व राजपूत नामक जाधमणकारी इस्लाम को राव कर हिंदू मायता व अंगार धम राज्य की स्थापना करत हुए समाप्त हुए हैं । चौदहवीं शताब्दी म

तुगलका के पतन के बाद, राजपूता ने अपने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक भारत पर वस्तुतः हिंदुओं का प्रभुत्व था¹। राजनैतिक सर्वोपरिता के दृष्टिकोण से केवल तरहवी शताब्दी के अंत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का काल ही मुस्लिम-काल कहा जा सकता है। किंतु, सांस्कृतिक विकास के तारतम्य में जहां आधारभूत धारा प्रवाहित होती रहती है इन कालों में अधिक महत्वपूर्ण हैं वे परिवर्तन प्रक्रियाएँ, जिनमें मुख्य साम्प्रतिक धारा के बिनार कटत छटत तो हैं, उसकी गति भी बदलती है, पर उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं आता है।

भारत की हिन्दू-संस्कृति में इस्लामी धारा के मिलन के बाद से ही भारतीय संस्कृति का रूप आता है। इस्लाम की उपनिर्गत इतिहासिक प्रक्रिया से हुई है। इस्लाम इतिहास में समाया हुआ है और इस्लाम में इतिहास। इस्लाम, एक आर, एक मजहबी आस्था है तो दूसरी ओर, एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रवाह। हिंदुत्व और इस्लाम का मिलन वस्तुतः उन दो ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन है जिनमें मानव-जीवन में सभी पक्ष निहित हैं जिनका उत्पन्न और विकास अलग-अलग स्थानों में हुआ और अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो एक दूसरे के विभेदक मिट्टी हुए। मध्ययुगीन भारत में इतिहासकार बहुधा हिंदुत्व पर इस्लाम के मघान की बात करते हैं क्योंकि उनका यह भावना है कि इस काल में हानि वाला सामाजिक साम्प्रतिक परिवर्तन इस्लाम के मघान के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हैं²। समाजशास्त्रीय मन्त्र में यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि यहाँ यदि इस्लाम का सम्पर्क हिन्दुत्व से हुआ तो हिंदुत्व का इस्लाम से। दोनों इतिहास की अन्त-अन्त प्रक्रियाएँ थी और दोनों का राजनैतिक महत्त्व प्राप्त था। अपनी-अपनी सामाजिकारी समताओं के कारण यदि इस्लाम ने हिंदुत्व के सम्पर्क में उद्विग्न किए तो हिंदुत्व ने इस्लाम के, और इन्हीं उत्तरों के माध्यम से दोनों का भारतीयकरण हुआ। फिर भी, इस्लाम और हिंदुत्व के भारतीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच इस्लाम ने इस्लाम को रहने का प्रयत्न किया और हिंदुत्व ने हिंदुत्व। इस्लाम ने जीराज्य का जन्म दिया तो हिंदुत्व ने गिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह का और कालान्तर में, एक आर, पाकिस्तान बना तो, दूसरी ओर, इटिया अथवा भारत।

1. सरकार प्रियकुमार ने पोजिटिव बयान उद्धृत किए हिंदू सोमपालाजी प्रथम तिल, पृष्ठ १०-१००

2. उदाहरण के लिए दण्डि डा० ताराचंद इन इन्फ्लुएंस ऑफ इस्लाम आन इटिया।

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं का समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विविधताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में अवगुलित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में भक्ता निवासी हजरत मुहम्मद (०७०-०१०) को इस बात का दिव्य अंतर्ज्ञान हुआ था कि वह ईश्वर का दूत है और उनके माध्यम से मानव मानव के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अकुरुित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज गान या प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मकका में प्रसार हुआ और उन्हें नागरिक मनीना में शरण लेनी पड़ी जहाँ मुहम्मद के तत्पर में, इस्लाम फैलता हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरंतर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जय मकरा विजय की तो इस्लाम का राजनैतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झंडा गाढ़ गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद एक शताब्दी बीतते बिंदु से लेकर मोरक्का तक इस्लाम का झंडा लहराते लगा था। ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभवों ने एक सम्प्रदाय विविधता का रूप ले लिया था। पिछले तरह सौन्दर्य के निरंतर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आस पास होना हुआ पामीर तक आता है और वहाँ से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में फैली हो जाना है^१। अपने इस व्यापक प्रसार में एक ओर, इस्लाम ने अनेक प्रजातियों (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) का एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बाधन का प्रयास किया तो, दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही मघात से अरबी, फारसी, ईरानी, तुर्कानी, अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

१. इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है, यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किंतु, मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिपीन्स तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टंगानिका और जजीवार वाले अफ्रीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किंतु दक्षिणी अफ्रीका के राज्य तथा में मुसलमानों की संख्या घटपट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानांतरित हुए हैं—यिब, मोहम्मदिज्जम पृष्ठ ३

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। जून इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने का ईश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिप्राप्त की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इस्लामी धर्मशास्त्रों में बतलाने और जिन्हें, ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद का मनुष्य का कुरान नामक धार्मिक पुस्तक में उद्धृत कर लिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में, ईश्वर एक ही और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अवस्था अजमा अजर, समर और चेष्टाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजमा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न इसाया की मरणा की भांति नजर नारी के समान से वह किसी का जन्म ही दे सकता है। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अंतिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पक्ष परगम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद नहीं आए, ऐसा इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह व्यक्तित्व होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अंतिम है क्योंकि ऐसा मान न पक्ष मिला है और न मिला। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ, रहस्यपूर्ण दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मशास्त्र (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अंतिम दूत हैं न कि कोई मायावादी धर्मशास्त्र (Theologian)। इतिहास प्रमाण इस्लामी धर्मशास्त्रों का प्रमाणित नहीं आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मौलिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य में अन्तर अन्तर और किसी भी न के विरावी मतों हैं किन्तु ईश्वर के समान, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अन्तर्गत तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

1. कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक बार, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उद्देश्य निहित है वहाँ, दूसरी ओर, धार्मिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मोदक वस्तुओं का सेवन न करना सुगर का मांस न पाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुना हदीस और गरि अत तीन अर्थ पुस्तक है। सुना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का सङ्कलन। गरिअत इस्लामी विधि संहिता है जिसमें कुरान सुना और हदीस के आधार पर सङ्ग्रहीत किया गया है। गरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितनी कि कुरान।
2. इसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय रूप के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अतः यह ऐसा नहीं कर सकता।

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश में उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विशेषताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में जब गूँथित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिनका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570-610) का इस बात का दिव्य अंतर्गति हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अस्तित्व में आया था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का में विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना में गिरा लनी पड़ी जहाँ मुहम्मद के नेतृत्व में, इस्लाम फैलता हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरंतर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का सामाजिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झंडा गढ़ गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद, एक गतांगी वीतल धीरे-धीरे, सिंधु से लेकर मारवा तक इस्लाम का झंडा लहराने लगा था। इसी की तरह ही शताब्दियों के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभूतियों ने एक सभ्यता विधेय का रूप ले लिया था। पिछले तरह से उर्पा के निरंतर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आस पास फैला हुआ पामीर तक आता है और वहाँ से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में फैली हुई है। अपने इस व्यापक प्रसार में, एक ओर इस्लाम न केवल प्रजातियों (Peoples) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) का एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बाधन का प्रयास किया तो दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही मघात से अरबी, फारसी, तुर्कानी, अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जागरण हुआ।

1. इस्लाम के अनुयायियों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किंतु मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिपाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टंगानिका और जजीबार वाले अफ्रीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किंतु दक्षिणी अफ्रीका के राज्य सघ में मुसलमानों की संख्या छुटपुट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानांतरित हुए हैं—गिब, मोहम्मदनिज्म पृष्ठ ३।

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा गान्धि में प्रवृत्त करना। अतः, इस्लाम एक आस्था है जिसमें द्वारा मनुष्य अपने का ईश्वर के प्रति समर्पण करके शान्तिप्रदान की कामना करता है। यह आस्था निहित है उस वाक्य (आयना) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इस्लामी व्यवस्था का मकह है और जिसे ईश्वर वाक्य मानकर, हजरत मुहम्मद की मर्यादा का, कुरान के नामक धार्मिक पुस्तक में प्रकट कर दिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अमर, अजमा अजर अमर और चेष्टाचारी परमेश्वर है। अमर और अजमा अजर के कारण न तो समय और स्थान की भाँति ईश्वर अवतार ले सकता है और न इमादया की मरणा की भाँति मरने वाला कभी मरता है वह किसी का जन्म ही दे सकता है। इस्लाम ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) है। मुहम्मद के पक्ष परगम्बर अन्त्य हुए हैं पर उनके बाद भी हाग, ऐसी इस्लामी मानता है। इस आस्था से यह व्यक्तित्व होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है, क्योंकि ऐसा ज्ञान न पहलू मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय सर्वव्यापक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि आचार्य (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि कोई साधारण धर्मविद (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रणायक यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मानिक है और मनुष्य गुनाह है। ईश्वर और मनुष्य का अन्त अन्त जो किन्हीं रूपों में विशादी भनाये हैं किन्तु ईश्वर के समान, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक अपूर्ण तथा निराश प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

1. कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक बार, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने के उद्देश्य निहित है वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक पदार्थों का सेवन न करना, सुबर का मान न मानना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुना हदीस और गरि अन नोन अमर पुस्तक है। सुना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। गरिअत इस्लामी विधिसंहिता है जिसे कुरान, सुना और हदीस के आधार पर तय्यार किया गया है। गरिअत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितना कि कुरान।
2. ईसाई ईसा की ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरवाचक रूप से कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर व्यक्तीय है। अतः, वह ऐसा नहीं कर सकता।

हाना है और न मोक्ष^१। प्रलय (क्यामत) के द्वारा एक दिन इस समार का नाश हाना है और जब तक प्रलय नहीं आती है, प्रत्येक मत मनुष्य का कर्म पड़ा रहना पड़ेगा। क्यामत के बाद, हर एक को, ईश्वर के निणय के अनुसार स्वर्ग या नर्क में जाना होगा। चूंकि समार का जन्म है और यकिन का पुनर्जन्म नहीं है मनुष्य का केवल एक ही धर्म है और वह है हजरत मुहम्मद द्वारा बनाए हुए ईश्वरीय आदेशों के अनुसार चलकर ईश्वरीय कृपा पाने का निरन्तर प्रयास करना क्योंकि एहिक तथा पारलौकिक मुन्नक लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। नमाज (प्राचना) राजा (वत उमास) जहात (मिना गान) हज (नीव यात्रा) और जिहाद^३ के माध्यम से मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है।

इस प्रकार इतिहास के गम से उत्पन्न इस्लाम एक दल आत्म विश्वासी और विनयाकाशी मजहबी आस्था है। यह आस्था केवल मानसिक (Psychical) नहीं है क्योंकि यह व्यक्ति को समष्टि में समेटे हुए है और धर्म की राष्ट्र अनुगमन तथा सम्प्रदाय में। इस्लामी आस्था का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था एक समुदाय में जिसने अपने आप को शासक और धर्मगुरु (हजरत मुहम्मद) को स्वयं चुना था। इसीलिये इस्लाम में मुल्क (समुदाय) अधिक महत्वपूर्ण है न कि मलिक (शासक) या व्यक्ति। इस्लाम का जन्म हुआ था एक धार्मिक राष्ट्रीय चेतना के रूप में। इसीलिये इस्लाम में शासक और धर्मगुरु एक में मिल गये। इस्लाम ने सर्व राष्ट्र और मजहब को

१ जीव, आत्मा माया, मोक्ष या निर्वाण जैसी मायनायें इस्लाम में नहीं हैं। सूफीवाद में ऐसी मायनायें अन्वय मिलती हैं पर, वास्तव में सूफीवाद मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम का एक निभद है। सूफीवाद की आत्मा इस्लाम की अवस्था वेदान्त के अधिक समीप है। इस्लाम में जीव अधिनामी और ईश्वर का जन्म नहीं है। ईश्वर का समक्ष मनुष्य करत दया की भील माग सकता है। हिन्दुत्व में, ईश्वर की दया का बावजूद भी कम की छाप अमिट रहती है। सम्भवतः इसी कारण हिन्दुत्व की प्राप्ति (इमादत) में आराध्य में लीन हो जाने की प्रेरणा है और इस्लाम में कृपा भीय मागन की सो है (नलहब) या 'पुन्नी की कर चल द इना' कि हर तमगीर से पहले, पुदा दन्ते से फिर पूछे कि यता तेरी रजा क्या है जता वस्फनायें इस्लाम की आमा का बिरद है।

२ इस्लाम में हज का अर्थ है मक्का मदीना की यात्रा करना।

३ जिहाद का मूल अर्थ है हजरत मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय ज्ञान का प्रसार करना। किन्तु इस्लाम के प्रसार के लिए स्वयं हजरत मुहम्मद ने तलवार उठाई थी। बाद में इस्लामी साम्राज्य का फैलने का साथ जिहाद का अर्थ हो गया धर्मयुद्ध और आज जिहाद इसी अर्थ में प्रयुक्त होना है।

एक मू मिलाने का प्रयास किया है और, इसी कारण इतिहास में इस्लाम एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रहा है। भारत में पाकिस्तान का निर्माण इसी ऐतिहासिक प्रतिभा में सम्पादित है। इस्लाम शक्ति का एक राष्ट्रीय और सामाजिक अनुपासन में बाधन का प्रयास है। समुत्थान करने का यह उद्योग में दीक्षा लेता जा अद्वितीय, अनियम, सम्प्रदायिक और निर्यात - इन मन्त्रों और राष्ट्र का मन्त्र बनना जो इसी पान पर आधारित - नराला उर उराला और अनुपासन का अपनाता जा पूर्वनिर्धारित है और जो पहले ही में उचित मान लिया गये हैं। नितामाओं के स्थान पर, मुहम्मद द्वारा मिला - राष्ट्रीय जागृता का चालन - इस्लाम की अपने अनुयायी स मुहम्मद माग है और समुत्थान का मन्त्र बड़ा है। इस्लाम पान का प्रचार (जिहाद) समुत्थान का कर्तव्य है। इसी कारण इस्लाम एक अनुपासक आस्था है और प्रत्येक समुत्थान एक सद्ग मित्र मित्रता (यस प्रकार)। अपने ऐतिहासिक मन्त्र में इस्लाम एक सामाजिक जागृता का व्यापित करने का प्रयास है जिसका एक आधार है इस्लामी शिष्टाचार और दूसरा इतिहास प्रमाण सामाजिक विरासत जो समुत्थान के नराला सम्प्रदायिक है।

इस्लाम का अविभाज्य और अन्वयपूर्ण है एक मुमुक्तिमन्त्र (Rationalized) सामाजिक राजनितिक धार्मिक और शिष्टाचार का रूप में सामान्य के धार्मिक ऐतिहासिक विकास का एक पूर्वनिर्धारित चालन बनना जो इतिहास वाली गयी है। इस्लाम के प्रतिष्ठापायका न हम आस्था का निरन्तर मुमुक्तिकरण (Rationalization) किया है। यह मुमुक्तिमन्त्र जागृता निम्न है कुरान मुता हदीस

1. इस्लाम के अनुयायी की कारखानों में मसलमान और अरबी में मुस्लिम की सजा दी जाती है। मिय न इस्लाम के लिये मुहम्मदवाद (Mohammadanism) की सजा का प्रयोग किया है जिसने जाघार पर मुसलमान की मुहम्मदवादी (Mohammadan) की कहा जाता है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मुहम्मदवाद या मुहम्मदवाद। स यह ध्वनित होता है कि जस मुहम्मद काई दबता हों और इस्लाम मुहम्मद का धर्म हो। इस्लाम ईश्वर का धर्म है न कि मुहम्मद का। इस्लाम के विज्ञापकों का यह आपत्ति है कि मुहम्मदवाद इस्लाम के बदल ए-अग को ध्वनित करता है—यह अग तो मुहम्मद के प्रतिपादनों से ही सम्पादित है। गिया और सफ़ी सम्प्रदाय भी इस्लाम का अग है यद्यपि वे मुहम्मदवाद के सफ़ में नहीं आते हैं। इस्लाम गार, मुहम्मदवाद के स्थान पर, अद्वितीय उपयुक्त और स्थापक है।
2. उदाहरण के लिये इतिहास गिया द्वारा रचित 'मोहम्मदनिजम और अमीरअली कृत दि लिपिस्ट आफ इस्लाम'। अमीरअली न इस्लाम के धार्मिक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें यह ध्वनित होता

और शरिअत में, जिनका अक्षरसः पालन ही नहीं बरन जिहाद (प्रसार) भी आवश्यक है। इस्लाम की उत्पत्ति ही उस स्थिति में हुई थी जिनमें राजा, राज्य, विधिसंहिता, समाज और संस्कृति सभी कुछ मजहब के आधीन हो गये थे। राजा (खलीफा) जो धर्म गुरु भी है, जिहाद का प्रतिष्ठापोषक बना और इन्हें जानने वाले (उलमा धर्मविद) मादय के रणक। कुरान, सुना हदीस और शरिअत की आत्मा जरबी है जिसके कारण इस्लाम का मूल आधार अरबीवादी है। इस्लाम को ग्रहण करने वाला न इस्लाम इसी अरबीपन में रगने की मांग करता रहा है। इस पृथ्वी पर ईश्वर का अन्तिम और सबश्रेष्ठ निश्चयान होने के कारण, सिद्धान्त इस्लाम परिवर्तन नहीं स्वीकार करता। संसार के मुस्लिम समाजों का एकसूत्र में बाधने तथा प्रथम महायुद्ध के बाद विलाफत का बनाये रखने के प्रयास और अठारहवीं शताब्दी में लेकर उनीसवीं शताब्दी के पूवाद्ध के बाद तक जबिल मुस्लिम समाज में इस्लाम की शुद्धता बनाये रखने के लिये चलने वाला बहाबी आन्दोलन इसी इतिहासजनित अरबी बटोरता के प्रतीक हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, इस्लाम जिन राजनैतिक परिस्थितियों में रहा, उनसे अरबीपन का प्राप्ताहन मिला जिसके कारण इस्लाम में अरबीपन की लहर बराबर उठेली होती रही है। इस्लाम का जहाँ भी प्रसार हुआ वहाँ वह राज्य धर्म के रूप में रहा और मसलमान शासक के रूप में, जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस समाज में इस्लाम का प्रवेश हुआ इस्लाम उस समाज में इस्लाम बनाने के लिये प्रेरित रहा। इस्लाम का उद्भव अम्पुन्य और प्रसार अरबीवादी (Arabicism) की प्रवृत्ति सहित मय्यता रहा है जिसके लिये न इस्लाम उत्तरदायी है न उसका प्रणेत और न मुसलमान। इस्लाम में अरबीवादी के लिये उत्तरदायी है वह ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जिनमें इस्लाम का जन्म बङ्कि और प्रसार हुआ है।

इस्लाम की अरबीवादी प्रवृत्ति का जन्म इतिहास में हुआ और निमित्त ही उसका विरोधी रहा है। इसी अरबीवादी प्रवृत्ति और उससे उत्पन्न समकालीन सामाजिक दमित के कारण अपन बङ्कि और विराम के शोरान में इस्लाम नहीं शक्तिशाली की प्रवृत्ति और शक्तिशाली करता रहा। यह एकीकरण इस्लाम के बौद्धिक जीवन (धर्म और विज्ञान) में प्रस्फुटित हुआ जिसमें मानव चिन्तन में इस्लाम का अमूल्य योगदान आया है। किन्तु इस्लामी एकीकरण पर अरबीवादी का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि उसका विरोध भी होता रहा है और उसके कारण इस्लाम में विषम

है कि इस्लाम का आविर्भाव मानव इतिहास की उस अवस्था में हुआ है जहाँ सत्वाणीय कोई भी धर्म मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा शांत करने में समर्थ न था। अमारअली जसे समीक्षकों ने इस्लाम के उद्भव और प्रसार को मानव विज्ञान की ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम माना है।

और विभिन्नी परिस्थितियाँ और परिवर्तन भी आत रह हैं। मिव के अनुसार, स्पष्ट और उत्तरी अफ्रीका से लेकर समस्त तब फैल प्रदग म इस्लामी प्रभाव ने अस्तित्व में आने धर्मविद्या के कट्टा म, इस्लामी साहित्य पर यनानी द्रवनी और भारतीय पान को जा प्रभाव पडा उनम अनक नया मायताम अस्तित्व म आयी । जसा नि मूफीवात क विकास और प्रसार स स्पष्ट ह इन मायतामा म न कुछ परलामी परम्परा म स्पष्ट थी और कुछ तम दक्खिनामो मायतामा क प्रति विद्राह का परिणाम थी । इरान म गियास य की उत्पत्ति आर एर विगिट इस्लामी मस्तिना का विकास इस्लाम क अरबीपन क प्रति विद्राह का हा प्रभाव है । वास्तव मे प्रारम्भ से ही, इस्लाम अपन अनुयायियों मे अरबीपन म रगन का माग करता रहा है और इस्लाम क अनुयायी, इस्लाम म अरबीपन का दग का क अनुमाग दातन की । ज । ऐति हासिक साहित्यिकता म थी जग अरबीवात विजयी हुआ किन्तु इरान और भारत जम दशा म जग ऐतिहासिक साहित्यिकता पहुँ ही न विद्यमान थी, अरबीवाद का अपन अस्तित्व के लिय मघप करना पडा ।

इस्लामी अरबीवात का भारत म जिनना सघप करना पडा उनना नाम नही और नही । भारत म, एक बार मस्लिम युगा क औरगपन मूफीमत सहित्नी मघप जम्मा करता की मुस्लिम कता तथा जिन ना पा हुना और दूसरी बार, अकबर, तारा निवाह समुदाय म ज्ञानन्ताना समन्त और राष्ट्रवादी मुगलमाना का हुना इस्लाम म अरबीपन क प्रति लगाव और मघप की ही अभिव्यक्ति है । पारासीय म प्रभाव विकास क माय-माय वधमान पान जिनान की वृद्धि न इस्लामी अरबीवाद का एक नयी जनीनी थी । इस्लाम का प्रारम्भिक गतिक राष्ट्र नी क सफलता और अरबीवात की प्रभुता ने इस्लाम म एक बार कट्टरता उत्पन्न की ता दूग । और एक प्रकार की सर्वोच्चता और जाति-अस्मयता (Lithocentrism) का भावना । इस्लाम म अरबीवात और दग-वात की अवधारणानुसार समय-समय पर उत्पन्न होत दात स्वतन्त्र विद्राह विचार साध-साध पनपन रहे हैं । इन निराशा प्रशिक्षा का घात प्रनिमान के कारण इस्लाम क माग म जा कुछ भी सगक विरुद्ध जादा इस्लाम न उमक प्रति द्वेष, मगम और इध्वा का नाय घण किया । घम निरप । बौद्धिक जिज्ञासा का क प्रति इस्लाम म उत्पन्न का भाव जगा और गारा बौद्धिकता मजहब के ही गहर म बग हा गयी । दस ऐतिहासिक विकास का मूल परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की आत्मा अरबी और गेग-अरबी क प्रान को नकर मघपमप हा गयी । आज भी इस्लाम की आत्मा इस मघप म अछूती नही है ।

भारत में इस्लाम का प्रवेश

भारतीय संस्कृति में इस्लाम का प्रवेश, पसार वृद्धि और अस्तित्व इस्लामी इतिहास के अपवाद रह हैं क्योंकि लगभग तरह ही वर्षों के सम्पर्क के बावजूद अन्य स्थानों के विपरीत भारत इस्लामी राष्ट्र नहीं बन सका, भारत में मुसलमान अल्प-संख्यक ही रहे और यहाँ इस्लाम का ज़रबी फ़ारसीपन सबसे अधिक बलवाही नहीं करने उस ज़माने अस्तित्व के लिये सबसे अधिक संघर्ष भी करना पड़ा। भारत में इस्लाम और हिंदुत्व का मिश्रण या ऐसे ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन या जिनमें विजातीय तत्वों का आत्मसात करने का विष्ण्वर्णक्षमता थी। किंतु इस्लाम और हिंदुत्व की इन क्षमताओं की प्रकृति में एक आधारभूत अंतर या जिनके कारण भारत में हिंदुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से जो ऐतिहासिक स्थिति अस्तित्व में आई वह इस्लाम के इतिहास में अपन ढंग की अनाड़ी थी। अपने प्रसार में इस्लाम ज्यों ज्यों अनेक प्रजातियाँ, गणजातियाँ और राष्ट्रों का आत्मसात करता रहा त्यों त्यों इस्लाम में साम्यीकरण का प्रवाह बढ़ता रहा क्योंकि स्वभावतः इस्लाम एक मिश्रकारी आस्था है¹। इस्लामी साम्यीकरण एक प्रवाह है जो अपने ससर्ग में अपने नाल का बहाव ले जाता है। इस्लामी साम्यीकरण की एक ही दिशा है और वह है उस इस्लामी आस्था में दीक्षित होना जो टॉरन मुहम्मद ने प्रतिपादित किया है और उस आस्था पर आधारित समुदाय का सदस्य बनना तथा उसका प्रसार करना। इस्लामी साम्यीकरण में रही है प्रसार की भावना और राजनितिक प्रभुत्व की महत्वाकांक्षा। यही कारण है कि इस्लामी समाज अनेक प्रजातियों, गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मगर्भण करते हुए और विजातीयतात्मक तथा मिश्रित होने पर भी एकत्रित रहा। साम्यीकृत व्यक्ति या समूह में इस्लामी साम्यीकरण की भाव है मौलिकता का परिवर्तन या इस्लाम की आस्था के अनुसार अपनी मौलिकता में आमतौर पर परिवर्तन।

इसके विपरीत हिंदू साम्यीकरण यह प्रक्रिया रही है जो एकमुखा है और बहुमुखी है और जिनमें बाहर से आया हुआ समूह आवश्यकताानुसार परिवर्तित होकर, अपनी मौलिकता बनाए रखता है तथा एक संस्कृति गंधार (Integration of Culture) से उसी प्रकार बंधा रहता है जिस प्रकार हम ग्रन्थादि के जीत रहे

1. इस्लाम में मंगोलों का प्रवेश (12-0-25) एक विजातीय और विरोधी प्रक्रिया के रूप में हुआ, किंतु कालांतर में चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दियों के आसपास भारत में ज़ेर ज़रब मंगोलों ही इस्लाम के प्रबल प्रनिष्ठा पोषक और प्रसारक सिद्ध हुए। भारत में जिन हिंदुओं ने इस्लाम की स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम के प्रसार का भरसक प्रयत्न किया। उदाहरणों के लिये दणिय दिग्गज कृत संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 70

भारतीया को इस्लाम में दीक्षित किया उनमें राजा और प्रजा तथा उच्च और निम्न वर्ण का योग सम्मिलित थे। दक्षिण में इस्लाम की जा पहली सामाजिक धार्मिक लहर पड़ी वह हिन्दुत्व और इस्लाम का गानि महान्य सम्पर्क का परिणाम थी और उसका उदगम या इस्लाम की मुमुक्षुपूषता (Paternalization) अरबी मुसलमानों की शांतिप्रिय मिशनरी भावना और उनके उत्साह तथा प्रयत्न में।

आठवीं शताब्दी में उत्तर पश्चिम से इस्लाम का आक्रमण साम्राज्यवादी और विध्वंसकारी रूप प्रकट हुआ और हिन्दुत्व तथा इस्लाम का शांतिमय सम्पर्क मध्यम हो गया। सान सा बारह में जब खलीफा की अनुमति से, मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया या और सिंध अरबी खलीफाई साम्राज्य का एक भाग हो गया था तबसे लेकर सन अठारह सौ मत्तावन तक, हिन्दू और हिन्दुत्व इस्लाम के आक्रमण रूप में गहरा लगे रहे। दक्षिण भारत में अरबों के बढ़ते हुए सामाजिक तथा राजनतिक प्रभाव के कारण ही खलीफा ने भारत पर चढ़ाई करने की अनुमति दी थी और उसी प्रभाव के ही कारण सिंध विजय भी सम्भव हुयी। किन्तु उत्तरी भारत में, इस्लामी प्रभाव सिंध के आगे तब तक न बढ़ सका जब तक पहले गजनी से तुर्कों का और बाद में दिल्ली में गजनामवगी नामको या राजनतिक प्रभुत्व का स्थापित हुआ। गुलामवगी राज्य की स्थापना के समय (1210 ई०) में लखनौ लानीया का राज्य का क्षेत्र होने तक (1250 ई०) मुसलमानों का एक रूप साम्राज्य सम्हालका नुदरा और जयरास्ती मुसलमान बनाने वालों का है, ती दूसरा रूप अहमदाबाद, माडू तीनपुर और लखौटी का गजरा का है जिन्होंने इस्लाम को समन्वयकारी तथा रचनात्मक प्रणाली की¹। मुगलकाल में भी यह मध्यमार्थिक तथा समन्वयकारी प्रक्रिया चलती रही। मुगलकाल में यदि एक ओर अबवर और दारा शिकोह की परम्परा है तो दूसरी ओर जहांगीर गजरा और औरंगजेब की। यही नहीं, भारतीय इस्लाम में, हिन्दुत्व का इस्लाम का उस रूप का भी परिणाम मिश्रित जा मुहम्मद गजनी मध्यमवगी तमूरलग गजरागठ और अहमदाबाद अजलाली की आक्रमण परम्पराओं में विद्यमान है।

आजों की भांति, मुसलमानों का भारत में स्थापनाकरण और इस्लाम का प्रसार बहुत गतिविधियों तक चला रहा जिसका प्रभाव, एक ओर, भारत का इस्लामी सामाजिक गठन पर पड़ा तो दूसरी ओर, हिन्दुत्व और भारत पर पड़ने वाला इस्लामी गठन की प्रकृति पर। भारतीय इस्लामी समाज में दो स्पष्ट वर्ग रहे हैं—एक बाहर विपन्नता जब इरान और मध्यएशिया, में आने वाले अभिजात्या (Nobles) का और दूसरा उन भारतीयों का जिन्होंने इस्लाम का स्वीकार कर लिया था। पहले वर्ग में विजना, सनानी प्रजासक और सामन्त नुआ बरतते थे और दूसरे में मुगल

कारीगर, कृषक और सबहारा वग के लाए। गजनी और दगाद के मुस्लिम शासकों ने, भारत के दाग निवा, निपुण प्रशासक, सनानिया और ज्ञान विज्ञान के ज्ञाताओं को विद्वत्साधन पर प्रोत्साहन दिये। किन्तु, भारत में मुसलमानों राज्य की स्थापना के बाद से, राज्य के निवासवासी पर बहुधा विद्वत् स आये या आकर्षित मुसलमानों को ही मिलत थे। जो मुसलमान यहां बस जात थे उनकी अपना विद्वत्ता जागृकों की अधिक विश्वमनीय समझा जाना था क्योंकि यहां बस और परल दूरे मुसलमानों की अपना, विद्वत् स आये दूरे मुसलमानों में परद्वय की कम सम्भावना रहती थी। कुछ अपवादों का छाहकर, मुसलमानों राज्य काल में दिवनी की बादागाह विद्वत् से आये दूरे अमीरा (उमरा) के ही हाथ में रही^१। मुलामवर्गी बादागाह का चुनाव दिल्ली के अमीर ही करने थे। जोगजद की मर्यु के बाद मुलाम बादागाह करतुन मयद भादवा के ही हाथ में रही। अकर के राज्य काल में भी राज्य की नौकरियों में हिन्दुओं की मख्या विद्वत्ता मुसलमानों की अपेक्षा कम थी^२। प्रत्येक मुसलमान बादागाह पर विद्वत् स आये दूरे उन माधु मन्ता का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है जो इस्लाम के अरवाहन रूप के हामी थे और जो हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों का दगादा दन के पक्ष में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राज्य काल में राज्य के उच्च पक्ष पर विद्वत् स आये दूरे मुसलमानों का ही रहन की प्रथा सी चल पड़ी थी जिसके फलस्वरूप भारत के इस्लामी समाज में एक ऐसा वग उत्पन्न हो गया जिसके सम्म्य मनानी तथा राजनतिक साहसिक (Military And Political Adventurers) के रूप में भारत में आये और भारत में उनकी वही तक दिलचस्पी रहा जहां तक कि जीविका समान का प्रश्न था। यह वग वस्तुतः उच्च नौकरगाही अभिजात्या का था जिनका राज्य की नौकरियों पर एकाधिकार सा हो गया था। हिन्दू अभिजात और सामन्तगाही वग में इस वग की कभी नहीं बनी क्योंकि दोनों के स्वार्थों में तमप था। इन वग के लोका ने भारत को विद्वत् समझा और सदक ईमान या अरब में प्रेरणा ग्रहण की। ऐसे ही लोग के लिये मुस्लिम तुलक ने यह आशा निकाली थी कि वे भारत का अपना दगा समझें और विद्वत् दापन जान वाले मुसलमानों के लिये दगा का विधान किया था। यही वग था जिसके भारतीयकरण का अकर ने प्रयास किया था। भारत में बघन और भारतीयकरण होने के साथजुद भी इस वग का इस्लाम के अरबीपन से रोगात्मक लगाव बना ही रहा^३।

उपर, जमा कि बड़ा के सम्मर्पों गुजरात के बीहरा, मायावा के मापलों

1 रामगाथात इतिहास मुस्लिम—ए.पोलीटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 13-14

2 मासीन, मोहम्मद ए. सोनल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 44
राम गोपात बहो अध्याय 2 और 3

और भारत की भुसभमान जातियों में स्पष्ट है, इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीय समूहों ने अपनी पुरातन परम्पराओं का न छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में इस्लामी समाज में एक बड़े वर्ग आया जिस पर अरबीपन की अधिक छाप थी और दूसरा वह जिसके हिंदू आधार पर अरबीपन की छाप पड़ी। भारत का इस्लामी समाज, एक प्रकार एक विशिष्ट सामाजिक इकाई पर एक मिश्रित तथा विजातीय समाज रहा। भारत के मुसलमानों में ही दली विदेशी की भावना घर कर गयी। नौकरशाही तथा विदेशी सामंती वर्ग ने देखा मुसलमानों के प्रति उपेक्षा और उच्चता का भाव प्रकट किया। जाग चलकर, जब अंग्रेजों ने राज्य की उच्च नौकरियों का हथिया लिया तो यही नौकरशाही वर्ग शिक्षित हो उठा और अपनी जड़ों को भारतीय भूमि से उखाड़ा हुआ पाकर इस्लाम खतर में है का नारा बुलंद किया। बंगाल में ही सबसे पहले अंग्रेजी राज्य का अभ्युदय और विकास हुआ और बंगाल में ही सबसे पहले उर्दू और मुस्लिम का गारा उठना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस्लाम हिन्दुत्व में अलग एक राष्ट्र है और भारत में इस्लाम खतर में है यह नारा नया नहीं प्राचीन है और इस्लामी समाज के नौकरशाही तथा अभिजात वर्ग के मस्तिष्क की उपज है^१।

यह कहना कि भारत में इस्लाम का प्रकार मुसलमानों की तलवार और राजनैतिक प्रभुत्व के ही बल पर हुआ है इतिहास के गम में छिपे समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवगति करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुस्लिम आक्रमणकारी विजया काता, धन लिप्ता और जिहाद (धर्म प्रचार) की भावना से अधिक प्रेरित थे जिसके कारण उन्होंने तलवार का अधिक आश्रय लिया^२। रामगोपाल के मत में पंजाब

१ रामगोपाल यदौ

२ इस्लाम तलवार के बल पर फैला है या नहीं इस पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इसे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम के प्रचार और प्रसार में तलवार का प्रयोग नहीं हुआ है। हुमाऊन बाबोर ने इस बात पर जोर दिया कि इस्लाम के नाम पर उन्होंने तलवार उठाई व सच्चे मुगलमान होने की अपेक्षा राजनैतिक सुदृढ़ अधिक थी, उन्होंने हाल ही में इस्लाम की टोपी पहनी थी और अपनी बुराईयों को उन्होंने इस्लाम की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया था। अफसर इलाहाबादी यथल इतना ही कह सके कि लोग यह कहते हैं कि तलवार से फैला इस्लाम, लोग यह नहीं कहते कि तोप से क्या फैला है'। इस्लाम के प्रसार में तलवार का जो प्रयोग हुआ है इससे त्रैलोक्य ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अधिक उत्तरदायी हैं न कि इस्लाम। फिर ना किसी ने इसे उचित और सुव्यवस्थित बनाने का कोशिश की है, तो किसी ने अनुचित। गिब के अनुसार, इस्लाम का जो प्रारम्भिक विरोध हुआ उसी कारण इस्लाम में उप, आश्रमिक प्रसार भावना आयी। इसका कारण

और सिंध में, बल प्रयोग से ही इस्लाम का प्रचार में प्रारम्भिक सफलता मिली।³ यह मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व का ही परिणाम था कि अनेक व्यक्ति तथा जातियाँ ने नौबरी धन, ऐश्वर्य और राज्य-रूपा पावे के लालच में इस्लाम का स्वीकार किया। फिर भी, यह कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं है जितने कि तत्कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था उसकी कमजोरियाँ तथा दोष। इस्लाम का सुधुविमूढ ताकिये आधार, इस्लाम में निहित समर्थों की भावना उसका मरलता और इहलौकिकता तथा इस्लाम और मुसलमानों का सहजसिद्ध मित्राशीपन का कारण है। जिस समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उस समय बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था यद्यपि वह अपने अन्तिम रूप में था और धीरे-धीरे प्राचल विनयी हो रहे थे। इस पराजय से, बौद्ध विनिष्ट, हताश और नाश्वर्यमान हो रहे थे और जो बाई भी ब्राह्मणों का विरोधी था, उसका स्वागत करने के लिए तत्पर थे। उधर हिन्दू समाज उच्च तथा निम्नवर्गी जनता में विभाजित था। बौद्धों ने इस विभाजन का विरोध किया था। अतः, विजयामत ब्राह्मण इसे धीरे भी दत्तर बनाने में लग हुए थे। उच्चवर्गों हिन्दू जनता की धार्मिक चेतना निश्चित थी। वह हिन्दुत्व की गहराई में परिचित थी। उस पर हिन्दू दान था वह रंग चड़ा था जिस पर न कोई और रंग चढ़ सकता था और न उसके आगे कोई जय रंग ठिक ही सत्यता था। इसके विपरीत, निम्नवर्गी जनता में न कोई निश्चित धार्मिक चेतना ही थी और न उन उच्चवर्गी जनता के समान सामाजिक धार्मिक अधिकार ही प्राप्त थे। जिस सामाजिक प्राप्ति का उच्चात बौद्धों ने उम्मीदें थी उसको लपट बिना स्वाह लूण ही बुझ गयी थी। अतः वह अन्तर ही अन्तर भुल गयी थी और निम्नवर्गी जनता उसकी सुभान में लपट रही थी। निम्नवर्गी जनता हिन्दुत्व और हिन्दू समाज में उगा अशुभिकरण की माग कर रही थी जो इस्लाम का आदर्श में समाया हुआ था।

जब और दारिद्र्य सन्तुष्टियाँ का सम्मिलन में हिन्दुकरण की जा प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी वह अभी पूरी न हो पायी थी कि बुद्धवाद ने उस निरंतर चिन्तन का निरा, दमोदरक जिस स्तर पर हिन्दुकरण पूरा हो चुका था वहाँ एक नए निश्चित धार्मिक चेतना प्रगुटित हो गयी थी और जहाँ हिन्दुकरण की प्रक्रिया अधरी थी वहाँ एक निश्चित धार्मिक चेतना का अभाव था। उच्चवर्गी हिन्दू विचारधारा प्राचल, और आदिवासी भारतीय सामाजिक धार्मिक संरचना के न किनारे रह हैं। हिन्दुकरण की प्रक्रिया का द्वारा धीरे धीरे, आदिवासी संरक्षात्मक हिन्दुत्व का प्रभाव दाय में मानो

मतानुसार, सभी धर्मग्रन्थों में, स्तर के नाम पर लपट घटाने और इस प्रकार जगती हुयी मान बनाने का योग इस्लाम का अनुपायी लुप्त के बड़े, मुसलमानों को ही है।

1. रामगोपाल बहरी पृष्ठ 4

रही हैं। इसी कारण, हिंदू और आदिवासी के बीच में प्रारम्भ से ही एक मजमूना सामाजिक क्षत्र रहा है जहाँ की जनता न तो पूणतया हिंदू होनी है और न आदिवासी। इसी मजमूना क्षेत्र की जनता पर किसी धर्म विशेष का लेबल नहीं रहता है। इस्लाम के प्रवर्ग के समय और उसके बाद भी इसी मजमूना सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम को स्थान मिलता रहा है। कालान्तर में, इसी सामाजिक क्षेत्र में ईसाइयत को भी सर्वाधिक स्थान मिला है। इस सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवर्ग मिलने के दो कारण हैं—एक इस सामाजिक क्षेत्र की जनता का निम्न सामाजिक स्तर और दूसरा इसकी धार्मिक अनिश्चितता। इस्लाम के प्रवर्ग के समय हिंदू समाज में बहुदेववाद का बोझ बाला था, पंचा को भरमार थी जिससे धार्मिक गणितिक जिनासायें तो उठनी थी और पारंपारिक भावना या पर उससे न ता धार्मिक गणितिक शांत हाती थी और न धर्मसम्बन्धी माननिक आवश्यकता हो। गहर के रूप में हिंदूत्व ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उममें तक और दार्शनिकता का इतना ऊंचा पुट था कि वह इस क्षेत्र के जनान्तर तक पहुंचा ही नहीं। इस्लाम एक सुयुक्तिवृत्त, एकराजवादी सरल पर रम्यवादी और इहलोकीकता पर जार देने वाला मिशनरी तथा मजहरी धर्म था। मिशनरी काम उमा सामाजिक स्थिति में सफल होता है जहाँ उम सुयुक्तिपूण ढंग से पग किया जा सके। हिंदू समाज के निम्न स्तरों में ही यह सम्भव था और वहीं इस्लाम का प्रसार हुआ।

भारत में एक ओर, इस्लाम का सामना हुआ उच्च तथा मध्यवर्गी हिंदुओं से जो हिंदुत्व की एक निश्चित धार्मिक चेतना में इतना रगे हुए थे कि उनका यह विश्वास था कि हिंदुत्व से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर कोई अन्य धर्म ही नहीं है। हिंदुत्व के समान इस्लाम उन्हें फीका लगा। इस्लाम के आक्रामक रूप का सम्भव होने पर उन्होंने हिंदुत्व का पुनर्मूल्यांकन करके उसके उन सामाजिक तथा दार्शनिक पक्षों को उभारा जिनसे इस्लाम को चुनौती निरयक हो पाय। दूसरी ओर इस्लाम का सामना हुआ उम निम्नवर्गी जनता से जो न हिंदू थी और न बौद्ध बल्कि जिसकी आत्मा बौद्धा के सम्पूर्ण मार्ग के अधिन निबट थी जिसकी धार्मिक चेतना जम्पट थी किंतु जो उस जनप्रिय धर्म को सलाह में थी जो उसे एक आदरपूण सामाजिक स्थिति प्रदान कर सके। मस्ये ॥ निम्नवर्गी जनता उम सुयुक्तिकरण (Rationalization) के लिए पहले ही से सालायित थी जो इस्लाम में निहित थी। समाज के जिन स्तरों पर हिंदूकरण पूण हा चुका था वहां इस्लाम का विरोध हुआ और जहां हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूण थी वहां इस्लाम का निविरोध प्रवर्ग मिला।

भारत में इस्लाम और ईसाइयत का सर्वाधिक प्रसार उन्नी क्षत्रों में हुआ है जहां आनिवागिया और अछूत बड़े जान वाला लोगों की अधिवर्ग सम्प्रा रही है जहां बुद्धवाद का सबसे अधिक जनप्रियता मिली है और जहां उच्च तथा निम्नवर्गी जातियों में ऊच-नाथ का बदभाव रहा है। मुसलमानों का राजनतिक गढ़ रहा है

दिल्ली विन्तु उनकी जन मर्यादा है बिहार, बंगाल, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतट-वर्ती प्रदेश, सिन्ध, बिलाचिस्तान और पंजाब में। आर्यावत कह जाने वाले प्रदेश में इस्लाम का उनका प्रवेश नहीं मिला जितना कि आर्यावत के तटवर्ती प्रदेश में। इस का सबसे बड़ा कारण यही है कि आर्यावत के तटवर्ती प्रदेश में हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है जिसके कारण इस प्रदेश में एक अनाम मंचरित जनसमूह (Anonymous Floating Mass) रहा है जिस पर इस्लाम और इसाईयन का लेवल बढ़ाने में कठिनाई नहीं हुयी है। यहां की सामाजिक परिस्थिति में इस्लाम का वस्तुतः स्वागत हुआ है क्योंकि इस प्रदेश का बौद्ध प्रभाव के अंतर्गत होने के कारण, ब्राह्मण अगुद्ध समझते थे। अग वग वल्लि सौराष्ट्र और मगध में जाने की धामिनीयता पर मनाही थी¹। बौद्ध और ब्राह्मण एक दूसरे का नष्ट करने के लिए मुसलमानों की सहायता के पीछे दौड़ते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि नालन्दा के कुछ बौद्ध पण्डितों की सहायता में बल्लिहार बिलजी न बिहार पर आक्रमण किया था। नालन्दा बंगाल के सन राजाओं के अधीन था। बौद्धधर्म का बटुट विराधी हान के कारण सन राजाओं ने नालन्दा के बचान का कोई भी उपाय नहीं किया। बंगाल में ही रमाई पंडित ने गुरुपुत्राण की रचना की थी (१४वीं सदी) जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्राह्मणों के शत्रुओं का अंत करने के लिए देवता, राजाओं के पक्ष में, मुसलमानों के रूप में, अवतरित हुए हैं। मिथ के हिंदू राजा बाहिर के समक्ष बड़ा धर्मों ने मुहम्मद बिन कासिम का साथ दिया था। इस प्रकार मुसलमानों की सहायता में श्रमण और बौद्ध एक दूसरे का सफाया करना चाहते थे किन्तु मुसलमानों तलवार खोना की गरदन पर पड़ी। अतएव पर तो वह इतने जार सफाई कि उका सफाया ही हो गया²।

इस प्रकार, हिंदू समाज में इस्लाम का प्रवेश भिन्न उस सामाजिक स्तर के जहां सच्चवर्णी हिंदू तथा आदिवासी के मध्य एक अतिदिव्य, प्रवाह्य और अतवर्ती सामाजिक क्षेत्र अस्तित्व में आ गया था। इस्लाम में सम्भव हान के समय, इस स्तर की जनता ने ना बौद्ध थी और न हिंदू यद्यपि यह बौद्धधर्म के अधिक समीप थी। इस कारण, उक्त इस्लाम अधिक प्रगतिवादी जान पड़ा। आगे चलकर लगभग स्पष्ट हो चली बात, उनीसवीं शताब्दी में इस स्तर का जनता अपने व्यावहारिक रूप में न ता निदिष्ट रूप में हिंदू थी और न मुस्लिम। उसमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की भावनाएँ पायी जाती थीं। उनीसवीं शताब्दी में, जब बहादुर शाह द्वितीय और अंग्रेजों का छत्रछाया में जानि तथा धर्म के आधार पर जनमता की जाने लगी

1. अग वग वल्लि, सौराष्ट्र मगधेषु च।

तीर्थयात्रा विनागत्या पुन सत्कारमर्हति। सिद्धान्त बीमदी

2. दिनकर रामधारीसिंह सत्सृति के चार अध्याय पृष्ठ 272-317

तो मुसलमानों ने अजुमनो को संगठित करने वतनिक धर्म प्रचारक रखे, जिन्होंने उही प्रदेशों में काम किया जहाँ निम्नस्तरीय जनसंख्या का बाहुल्य था और साधारण जनता हिंदू समाज के अन्तर्गत क्षेत्र में थी, यद्यपि अपने व्यावहारिक स्तर में वह हिंदू भी थी और मुसलमान भी क्योंकि उनमें हिंदुत्व और इस्लाम दोनों की मायतायें विद्यमान थीं। बंगाल और पंजाब की कृषक जातियाँ ऐसे ही अन्तर्गत समूह थे जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के आस पास जनगणनों में मुसलमान घोषित किया गया और इस्लाम के धर्म प्रचारकों ने उन्हें इस्लामी रंग में रंगने का प्रयास किया। सन अठारह सौ इस्लाम के जनगणना विवरण में लिखा है कि अठारह सौ बहत्तर के बाद से, प्रति एक लाख व्यक्ति के पीछे उत्तरी बंगाल में सौ व्यक्ति मुसलमान हुए हैं पूर्वी बंगाल में दो सौ आठ पश्चिमी बंगाल में एक सौ दस और सम्पूर्ण बंगाल में एक सौ सत्तावन। उसी विवरण के अनुसार, उन्नीस साल पहले, बंगाल में हिंदुओं की संख्या मुसलमानों से डेढ़ लाख अधिक थी किन्तु दो दशकों के दौरान में, मुसलमानों ने हिंदुओं को पीछे ही नहीं छोड़ा बरन उनसे डेढ़ लाख अधिक हो गए।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रसार उही क्षेत्रों में हुआ जहाँ उच्च और निम्न वर्ण का अंतर काफी प्रबल था, जहाँ उच्चवर्णियों की अपेक्षा निम्नवर्णों और मजदूर जनसंख्या अधिक थी तथा जहाँ जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग पहले ही से भड़क रही थी। ये भारत के वे प्रदेश हैं जहाँ उस समय क्षत्रिय वर्णों जाति या जातियों का अस्तित्व नहीं हो पाया था। पंजाब सिंधु केरल तामिलनाडु और बंगाल ऐसे प्रदेश हैं जहाँ की सामाजिक संरचना में ब्राह्मण वर्णों जातियाँ तो रहीं हैं किन्तु क्षत्रिय वर्णों जातियाँ अनुपस्थित रही हैं। महाराष्ट्र में शिवाजी मुस्लिम काल में ही क्षत्रिय बने। क्षत्रिय जातियाँ हिंदू सामाजिक संगठन में एक भार ब्राह्मणों के आदेश को लिय रही हैं तो, दूसरी ओर निम्नवर्णों जातियों के सम्पर्क में रहीं हैं और, इस कारण, क्षत्रिय वर्णों जातियाँ ब्राह्मणों और गर-ब्राह्मणों के बीच मध्यस्थ के रूप में रहकर, हिंदू समाज में उत्पन्न प्रवाह का आसपास करती रही हैं। क्षत्रिय जातियों की अनुपस्थिति में इन प्रदेशों में ब्राह्मण और गर-ब्राह्मण का मध्य बन रहा जिसमें इस्लाम को आसानी से प्रवेश मिला।

इतिहासकारों ने बहुधा इस बात पर जोर दिया है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था और उसके आधुनिक आधार इतने दोषपूर्ण हो गये थे कि वे इस्लाम के आक्रमण के लिए तैयार थे। किसी ने हिंदुत्व का दावा ठहराया है तो किसी ने इस्लाम के आक्रमण के रूप का। किन्तु ऐसी मायतायें न तो इतिहासपरक हैं और न तर्कमगत। इन मायताओं के पीछे जो तर्क हैं उनमें घातक विरोध है। उदाहरण के लिये, यदि इस्लाम अपेक्षाकृत अधिक आक्रमण और प्रगतिवादी होने के कारण भारतीय

समृद्धि में प्रविष्ट होकर फलाता सम्पूर्ण भारत क्या न इस्लामी राष्ट्र हो गया ? यदि जाति प्रथा न इस्लाम का भाग ग्रहण कर लिया तो जमाकि इतिहासकार बहुधा कहा करते हैं, जाति प्रथा इस्लाम के समग्र हिन्दुत्व के लिये रक्षा-कवचकम सिद्ध हुई ? किन्तु भी प्रलय के काय-कारण परस्पर विरोधी नहीं हुआ करते हैं । किन्तु, यदि जाति प्रथा का ही इस्लाम के प्रसार में सहायक और व्यवधान मान लिया जाय तो यह मायना तब तक नहीं रहती है क्योंकि इसमें काय कारण में, विरोध आ जाता है ।

भारत में, इस्लाम और हिन्दुत्व साधारणतया परस्पर अलग रह जिसके लिये न तो हिन्दुत्व ही धर्म का भागी है और न इस्लाम ही और न उनमें से किसी का स्पष्टतर या परस्पर अधिक दावी कहा जा सकता है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, हिन्दुत्व और इस्लाम दो प्रक्रियाएँ हैं जो अलग अलग देग-वालों में उत्पन्न होकर एक देग काल की स्थिति विशेष में परस्पर मिलती हैं—वह स्थिति जो अपने तत्कालीन रूप में न अच्छी है और न बुरी क्योंकि वह स्वयं एक प्रक्रिया है और प्रक्रिया से ही जन्मी है । हिन्दुत्व में बटुदेववाण तथा बटुपयवाण विषम दार्शनिक आधारों तथा विरोधी आत्म नियमों, जाति प्रथा के उच्च तथा निम्न स्तरों और मन्त्रमण सामाजिक क्षेत्र (Buffer Zone) का पाया जाना हिन्दुत्व को जन्म देने वाली एक विशेष देग-काठ-भात प्रक्रिया की देन है । उसी प्रकार, जिस इतिहासकार इस्लाम की प्रगतिवादिता करते हैं वह भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है । हाँ, इतिहासकारों ने यह भूल अवश्य की है कि उन्होंने, हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम का अधिगम्यारम्भ रूप में देखा और उसका विन्लेपण किया है । साधारणतया, इतिहासकार यह भूल रहे हैं कि एक समृद्धि के रूप में, हिन्दुत्व भी एक उच्च प्रक्रिया है जिसमें आधारभूत तत्व समयानुसार नियमित होकर बार-बार अवतरित होते रहे हैं । एक घम के रूप में नहीं बल्कि एक समृद्धि के रूप में हिन्दुत्व उतना ही प्रसारवादी रह है जितने कि इस्लाम और इसाईयन । समृद्धिमूलक हान के कारण, हिन्दुत्व का अधिगम्यारम्भ प्रभाव पड़ा है । हिन्दुत्व का गन्धीपन (Cumulativeness), घनान्तरण (Proselytization) और मिशनरीयन बन्तुन निम्न हैं उसी इतिहासप्रक्रिया में समन्वयकारी प्रक्रिया में जिसकी अभिव्यक्ति है जाति प्रथा उच्च-विषम तथा मन्त्रमण सामाजिक स्तर और हिन्दुत्व के विषम आत्म नियम तथा दार्शनिक आधारों हिन्दुत्व के मन्त्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश एक बार निभर है हिन्दुत्व का जन्म देने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया पर और दूसरी ओर पिछने तराफों क्योंकि म उत्पन्न हान वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों पर । जहाँ सभी कुछ एक घनान्तरण ऐतिहासिक प्रवाह के स्तरों के घटकों की उत्पन्न-मुक्त मन्त्रमण हुआ प्रतीति हो रहा है जहाँ यह कहना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है कि कौन किसका प्रभाव दोषी है । यहाँ बल्कि इतना ही कहना सम्भव है कि जिस घटकों की प्रक्रिया जन्मी है और जहाँ उसकी प्रक्रिया का मन्त्रमण पड़ा, वहाँ जन्मी प्रक्रिया-द्वयी ।

४

भारत के बाहर इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क

केवल यह मानकर चलना कि भारत में ही हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क तथा सम्मिलन हुआ ऐतिहासिक गति विधि की व्यवहेलना करना है। हिन्दुत्व एक वह धर्मांतरक (Proselytising) संस्कृति तथा धर्म है जिसमें एतरेय ब्राह्मण की आत्मा चरैवेति (निरंतर आगे बढ़ी) समाई हुई है। प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दुत्व नये देशों और जातियों का प्रभावित तथा अपने में समन्वित करता हुआ सदैव आगे बढ़ता रहा है। मुसलमानों को हिन्दुत्व में औपचारिक रूप से उस प्रकार नहीं दीक्षित किया गया जिस प्रकार हिन्दुओं को इस्लाम में किया गया। किंतु हिन्दू संस्कृति के आध्यात्मिक योगदानों का इस्लाम में समावेश हुआ है, यद्यपि इस समावेश पर इस्लाम के अरबीपन की छाप है। विनयकुमार मरवार के अनुसार सातवीं और आठवीं शताब्दियों के बीच हिन्दू संस्कृति महाद्वीपीय भारत में ही अहिन्दुओं का हिन्दूकरण नहीं कर रही थी बरन बहतर भारत के विजातीय जन (Heterogeneous Peoples) पर भी अपना प्रभाव डाल रही थी¹। इस्लाम पर हिन्दुत्व का एक प्रभाव पड़ा भारत के बाहर इस्लामी एशिया के माध्यम से और दूसरा भारत में एक और मुसलमान बनने वाला के द्वारा और दूसरी ओर अलबल्की सुसरा अक्बर अमुल पजल रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद आथसी जैसे उन मुसलमानों के द्वारा जो हिन्दुत्व की आध्यात्मिक दार्शनिकता से प्रभावित थे। इस्लाम की आध्यात्मिकता सामाजिक संगठन, प्रथाओं, आचार विचारों, रीति रिवाजों, नैतिकताओं, भावनाओं और ज्ञान विज्ञान पर हिन्दुत्व के प्रभाव के चिह्न काफी स्पष्ट हैं।

ऐतिहासिक उद्घाटन के सन्ध में इस्लामी एशिया अन्तुत बहतर भारत का ही एक भाग है। इस्लाम के संगमग सभी समीपता ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम के आधारभूत स्वरूप पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। इस्लाम के जन्म के बहुत पहले यूनान में भारतीय दर्शन और ज्ञान विज्ञान का समावेश हो गया था। अतः इस्लाम पर प्रथम हिन्दू प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। इस्लामी लीगों की संस्कृति का कुछ हिन्दुत्व (Hinduized) भी और उसका कारण भी वे संस्कृत ग्रन्थों जिनमें अरबी फारसी में अनुवृत्ति किया गया जिनके द्वारा हिन्दू ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया। पञ्चतन्त्र और धरम महिमा का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और बाद में फारसी के अनुवाद में उनका अनुवाद अरबी में हुआ। अन्य हिन्दू ग्रन्थों के अनेक अनुवाद सीधे संस्कृत पाठों से किये गये हैं। यन्त्रिका मयूर (७३-७४) के रात्रिका में, श्रद्धागुण के ज्ञानिण और गणित सम्बन्धी प्रथा श्रद्धागुण और गण्डसाहस्य का अरबी अनुवाद सिध्द और अरब-द नामक पुस्तकों

के रूप में हुआ। खलीफा हारुन अल्-रशीद (786-808 ई०) के मंत्री बरमक परिवार के भारतीय थे। उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था पर, मूलतः बौद्ध थे। इन्हीं मंत्रियों की देखरेख में अनक हिंदू विद्वान बगवान् बुलाये गये और उनका द्वारा मस्बूत के आयुर्वेद (Medicine), औषध्यशास्त्र (Pharmacology) विषयशास्त्र (Toxicology) दार्शन (Philosophy) और ज्योतिषशास्त्र (Astrology) सम्बन्धी ग्रन्थ अरबी में अनुवादित कराये गये। इसी कारण से, हिंदू ग्रन्थ बगदाद बुलाये गये और उनकी देखरेख में वहाँ औपचारिक खोल गये¹। यही वह काल है जब बगदाद की दार्शन सम्बन्धी कृति के द्वारा इस्लामी समार में बगदाद दार्शन का प्रचार हुआ जा बहुत सम्भव है आगे चलकर सूफीवाद की उत्पत्ति का एक कारण रहा हो। जैसा कि अलबल्की (1079-1048) की कृतियाँ स्पष्ट है मुसलमान लगाने में सम्मिलित के ग्रन्थों का अनुवाद किया उन पर दीर्घाय और भाष्य लिख तथा उनका सम्मिलित और स्वतंत्र अरबी फारसी सम्मिलित ग्रन्थ लिख। जिस समय गजनी का शासन महमूद भारत के मन्दिरों का नाशकर उनका धन लूटने में व्यस्त था उस समय उनकी छत्र छाया में चलने वाला एक दार्शनिक विचारक अलबल्की, जिस भारतीय गान्ता का मुस्लिम इंडोलॉजिस्ट (Indologist) बना जा सकता है हिंदू धर्म विधान का मनन करके और उस प्राक विचारधारा में लपट कर इस्लामी समार में सम्मिलित रख रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबल्की ने वही कार्य किया जा आगे चलकर सन्नीसवी शताब्दी में सर विलियम जॉन्स और ब्रह्मभूषण ने किया। इनके अन्तर्गत गान्ता उद्देश्य एक ही रहे हैं यद्यपि तरीक अलग अलग²।

1. किन्तु इस्लामी विचित्रता-पद्धति पर मूलभूत प्रभाव यूनान का पडा और, इतिहासकार, मुसलमानों ने जो विचित्रता पद्धति भारत में खोलाई उसका नाम यूनानी हिन्दुमत पडा।

2. सरकार, दिनपुष्पाकर वही पृष्ठ 49-51

तेरहवां अध्याय हिन्दू-सम्पक में इस्लामी सस्कृतिकरण

इस्लाम पर हिन्दू वैचारिक प्रभाव

हिन्दू ज्ञान विज्ञान का अरबी फारसी में अनूदित करने की जो परम्परा बगदाद के खलीफाओं और अल्फरन्नी जैसे विचारकों ने डाली थी वह सारे मध्य युगीन भारत में भी काममें रही और उसके द्वारा हिन्दू विचार और ज्ञान विज्ञान का इस्लाम में प्रवेश हुआ। विनयकुमार सरकार ने इस इस्लाम का हिन्दूकरण कहा है। किन्तु इस तथ्य को अस्वाकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अनेक हिन्दू, बौद्ध तथा आदिवासी विचारों और प्रभावों का समावेश इस्लाम में हुआ है और जिनके द्वारा इस्लाम का भारतीयकरण हुआ है। भारत में इस प्रक्रिया का श्रीगणेश ससृष्ट ग्रन्थों के अरबी फारसी अनुवाद से होता है। ससृष्ट ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद फीरोज़शाह तुगलक (1351-1388) के समय में प्रारम्भ हो गया था। दल्ल ए फीरोज़शाही नामक कविता में हिन्दू भौतिकशास्त्रों का अनुवाद है। अकबर की प्रेरणा में महाभारत, रामायण, गीता, अथर्ववेद योगवागिष्ठ हरिवंश और महेन्द्र महानन्द इत्यादि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। दारा शिकोह (1614-1659) की प्रेरणा से वेदा के फारसी अनुवाद का प्रयास किया गया। सर-उल-अमरार (1657) नामक शीषक के अन्तर्गत, दारा शिकोह ने उपनिषदों का उल्लेख किया

और मजीम-उल बहरीन (१६५४) नामक पुस्तक में भूकीवाद और हिंदुत्व के बहु देववाद को एक में मिलने का प्रयास किया। औरंगजेब (१६५४-१७०७) ने अपने पोत्र जहादारसाह के लिए हिंदू विद्याभ्यास का एक फारसी मसह तुहफातुलहिंद नामक पुस्तक के अंतर्गत करवाया था।

अबुलफजल (१५५१-१६०२) जिस जहागीर में हिन्दुस्तानी गल बहा था, नीतिशास्त्र रचयिताओं की श्रेणी में आता है। उसकी पुस्तक आइन ए अकबरी के लिखन की गली नीतिशास्त्रों की गली से इसनी मिलती जुलती है कि उस सरलता पूर्वक अकबर नीति बहुर नीतिशास्त्र की श्रेणी में रचना जा सकता है। आइन-ए अकबरी की परम्परा अंतर्गत हिंदू है और अंतर्गत मुस्लिम किंतु वस्तुतः वह हिंदू परम्परा के अधिक समीप है क्योंकि अबुलफजल के लिए अकबर, इतिहास, राजनीति और राज्य प्रबंध केवल नतिक और सामाजिक दान के निर्धारण का माध्यम है। आइन ए अकबरी का मुख्य विषय न ता अकबर है न उनका इतिहास और न राज्य। इसका मुख्य विषय है सम्राट के गुणों तथा कार्यों का निरूपण और हिंदू राजनीतिशास्त्र की प्रधान समस्या राजविवरण अथवा राजपि (अपि सम्राट) के व्यवहार के निर्धारण की समस्या। इस रूप में अबुलफजल की रचना कौटिल्य की परम्परा में आती है। जसा कि बहुर और उत्तर बहुर साहित्य के रचयिताओं की परम्परा रही है, अबुलफजल के लिए, इतिहास अथगाम्य साहित्यी, जीवनी लेखन और अकबर (सम्राट) का व्यक्तिगत नतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक प्रचार के सम्बन्ध मात्र हैं। आइन ए अकबरी की परम्परा मुना हनीम और सरिअत की परम्परा नहीं है। आइन ए अकबरी वस्तुतः मसूत में लिखे जाने वाले हिंदू नीतिशास्त्रों का फारसी संस्करण है और इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार सोमहरी गतानी के प्राप्त प्राप्त हिंदू विचारों का इस्लाम में समावेश हो रहा था। अबुलफजल के अनुसार, राजनतिक सगटन सभी स्थायी रह सकता है जब समाज का ठीक ठीक श्रेणी विभाजन हो। उसका अनुसार भी समाज में चार श्रेणियाँ हैं—बोद्धा, व्यापारी, विद्वान् और श्रमिक जिन्हें उचित स्थानों में रखकर उनका ठीक ठीक सम्बन्ध करना सम्राट का कर्तव्य है। अबुलफजल के इस निर्धारण में उसी धारणा और समस्या की शलक है जिसे हिंदू नीतिशास्त्रों के रचयिताओं ने सम्राट और समाज के सम्बन्धों को धानुष्य की धारणा के द्वारा हल करने का प्रयास किया है। गली में यदि आइन ए अकबरी कौटिल्य के अथगाम्य की परम्परा में है तो दान, मात्र और उद्देश्य के दृष्टिकोण में उसकी भाषा मनुस्मृति की भाषा के अधिक समीप है।

२

इस्लामी समाज और सस्कृति पर हिन्दू प्रभाव

इस प्रकार, एक घाट फारसी तथा अरबी में अनूदित मशहूर साहित्य के द्वारा तथा दूसरी ओर इस्लाम में दीया देने वाले हिंदुओं के द्वारा, भारत में इस्लामी दान समाज और रीति रिवाज पर हिंदुत्व का प्रभाव पड़ा। भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिंदू प्रथाओं और मान्यताओं का आत्मसात किया। इस हिंदूकरण के मुख्य माध्यम रहे हैं—मध्य युग के मुसलमानों का भारत में जन्म हो, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था और जिनके लिए, हिंदुस्तानी मुसलमानों की उपेक्षापूर्ण सजा का प्रयोग किया जाना था। वे भारतीय मुसलमानों का मूलतः हिंदू के अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन शैली और सामाजिक स्तर लेकर इस्लाम में प्रवृत्त हुए। भारत में इस्लामी समाज के हिंदूकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है मुसलमानों में पायी जाने वाली जाति व्यवस्था। पेशा, अंतर्वैवाहिकी उच्चाच्च परम्परा (Hierarchy) और कल्प शुद्धता (Ritual Purity) की भावना पर आधारित जाति प्रथा भारत के इस्लामी समाज में भी पायी जाती है। मुसलमानों के त्योहारों, रीति रिवाजों, विचारों, विश्वासों और धार्मिक जादुयी (Magico-Religious) अनुष्ठानों में हिंदू प्रभाव के अनन्य प्रमाण उपस्थित विद्यमान हैं। पीरी की कल्पना और उनमें विश्वास, दरगाह पर मत्था टेकना जय महावीर या हर हर महादेव की तरह या अली का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की प्रपक्षा संध्या या मुहागिन को गुम मानना मुहागिनो द्वारा सिद्धूर का प्रयोग तथा निम्न अनुष्ठानों में सोहागपूरा का प्रयोग हिंदू धर्म के ही अनुरूप मत व्यक्तियों के नाम पर तीजा भोज और सरत का आयोजन करना, छठका व्रत (सूय पूजा) केवल का प्रकोप शान्त करने के लिए नीतला माता में विश्वास और नीतला माता के सनक समझे जाने वाले माली जाति के सदस्यों द्वारा नीतला माता की पूजा करवाना, दीनली और हाली जस, त्याहार का मनाना और बगाल में सत्पनारायण की वधा के अनुकरण के आधार पर सत्यापीर की पूजा हिंदू प्रभाव के ही परिणाम हैं। मुसलमानों में पगड़ी का प्रयोग हिंदुओं से आया है। दिनकर का ऐसा विचार है कि सम्भवतः मुसलमानों का त्योहार शबेररा हिंदुओं के त्योहार गिररात्रि से प्रभावित है¹ ?

मोहम्मद यामीन के अनुसार भारत में ताजियों का शाटना और उन पर ताटकीय आक्रमण करना हिंदुओं की रामलीला का इस्लामी अनुकरण है। ग्रहण (सूय या चंद्र) के समय पर उपवास करने तथा प्रथिना में सीन रहने और ग्रहण के उपरान्त गुडि के लिए स्नान करने की प्रथा मुसलमानों में हिंदुओं से ही आयी है।

अभिवादन के लिए हिंदुओं की भाँति मुसलमान भी 'राम राम' शब्द का उच्चारण करने हुए पाये गये हैं। सुल्तान मोहम्मद तुग़लक की बहिन की विवाह का हमला देने हुए मोहम्मद यासीन ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में राजसम विवाह प्रचलित था जो एक घर इस्लामी प्रथा है^१। भारत में आज भी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो न तो पूजन हिंदू है और न मुसलमान और, मुसलमान होने पर भी उनके सदस्य हिंदुओं के समान रहते हैं। बंगाल के बाबल और अजमेर के हुमनो ग्राहण न तो पूजित हिंदू ही कहेंगे सक्त हैं और न पूजित मुसलमान। राजपूताना और आगरा जिले के मल्हाना राजपूत मुसलमान होते हुए भी 'राम नाम' जपते हैं और दरगाहा पर जाते हैं। गुजरात के खाना सम्प्रदाय के लोगों पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है^२।

गिब के अनुसार मुसलमानों में मुसलमानों में सनी प्रथा के प्रमाण पाये गये हैं। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों को दंडाक्रा न जोहर प्रथा का उन्नीस प्रकार अपनाया जिस प्रकार हिंदुओं ने। किसी समीपस्थ सम्बन्धी के मरण पर गिर दागी और मूछ मूढाने की प्रथा अक्सर न बर्ताई थी और किसी हल न के मुसलमानों ने उस अपनाया भी था। मरलासन व्यक्ति को लाट से उतार कर जमीन पर लिटान और विपवात्रा द्वारा कुट जाभूषण और रंगीन उस्त्रा का स्वागत की प्रथाएँ भी मुसलमानों में पायी गयी हैं। बाँव विवाह और स्त्री पर पुरुष के स्वामित्व का मान, यासीन के अनुसार मुसलमानों में हिंदुओं में आया है। फर्ग्यसन, साधु-मन्त्रों की श्रुति कि कौन जाना जाता और ताजीज में विरासत तीर्थ-यात्रा मूर्ति-पूजा का मानना और मादक द्रव्यों का मजबूत मुसलमानों में हिंदुओं और आदिवासियों के सम्पर्क में आया है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों के जीवन के आदम रहते हैं रजम (मुद्ध) बजम (भाज और दरबार) और इबादन (प्राधना)। इन आदमों पर इस्लाम की अपेक्षा हिंदुत्व के राजपूतीकरण की अधिक छाप है। सिद्धान्त इस्लाम में पुरोहितवाद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत में राजिया और मुस्लिमों ने पुरोहित की पदवी धारण की।

सूफीवाद में हिंदू प्रभाव

इस्लामी भाव मूल में सूफीवाद का स्वर भारत में इस्लाम के हिंदूकरण का एक अज माध्यम बनी। भारत के सूफियों की टीका करने हुए गिब ने लिखा है

१ यासीन, मोहम्मद ए मोहम्मद हिंदी आर इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ ४०-४९

२ दिनकर पट्टी पृष्ठ ३७५

कि भारत के सूफी पंथों का इस्लाम से नाममात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि इन पंथों में हिंदू और प्राक-हिंदू प्रथाओं तथा सिद्धांतों की भरमार है। वास्तव में है भी ऐसा ही क्योंकि इस्लाम का लोकप्रिय और रहस्यवादी रूप होने के कारण, भारत में, अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद ही अधिक जनप्रिय रहा। अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा अधिक सहिष्णु होने के कारण सूफीवाद अपेक्षाकृत अधिक समन्वयकारी भी रहा है। अपनी कट्टरवादिता के कारण, अरबीवादी इस्लाम ने जिन प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया उनका निराकरण सूफीवाद के ही द्वारा हुआ। इसी कारण, सूफीवाद और सूफियों के माध्यम से इस्लाम का अधिक प्रभावपूर्ण प्रचार भी हुआ। अपनी सहिष्णुता और समन्वयकारिता के कारण अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद हिंदुत्व की आत्मा के अधिक समीप रहा है और यह उस सामोप्य का ही परिणाम है कि भारत के अनिश्चित और अब मुस्लिम ग्रामीण मुसलमानों के धार्मिक जीवन में हिंदू प्रभावा का प्राधान्य है।

गिव के अनुसार, यह मानना कि सूफी शब्द यूनानी भाषा के सोफिया (Sophia) या सोफोस (Sophos) शब्द से निकला है एक निराधार अतिरिक्त कल्पना के प्रतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सूफी शब्द का साक्षणिक या ध्वज नात्मक अर्थ वह नहीं है जो 'सोफोस' या 'सोफिया' का है। साधारणतः, यह माना जाता है कि सूफी शब्द, 'सूफ' शब्द से निकला है। इस्लाम के सम्बुद्ध के प्रारम्भ में 'सूफ' शब्द का अर्थ लिया जाता था बिना रंग हुए ऊन के उस लबादे से जो ईराक के बरागी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। किन्तु उस समय सूफ वस्तुतः प्रतीक था समारम्भिक और पञ्चातापी ग्लानि का जिसके कारण सूफ धारण की भासना भी की गई है और सूफ धारण को ईसाइ धर्म के प्रवक्ता ईसा की नकल कहकर उसकी अपेक्षा भी की गयी है। फिर भी, यह निश्चित है कि इस्लामी सम्मत की दूसरी शताब्दी में कुफा के साधक और तपस्वी सूफ धारण करते थे और उन्हें 'सूफ-सूफिया' कहा जाता था और चौथी शताब्दी के आस पास ईराक के साधक में सूफ धारण करना एक साधारण प्रथा हो बन गयी थी। सूफी शब्द के इस ऐतिहासिक विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक, सूफीवाद की जड़ें रहस्यवादी सहजगान (तसब्बूफ) में गड़ी हैं और दूसरा, सूफीवाद की उत्पत्ति अरब में न होकर ईराक में हुयी है। अरब का सूफीवाद में केवल इतना ही योग है कि हजरत मुहम्मद का ऐतिहासिक अस्तित्व अरब में था और वही में वह अरबीकृत इस्लामी ज्ञान फला जिस सूफिया ने एक रहस्यवादी मनुष्यता के रूप में रखा।

सूफी शब्द वस्तुतः प्रतीक है रहस्यवादी साधक का और सूफीवाद (तसब्बूफ) उस तरीके या जीवन-साधन के ढंग का जिसमें बाह्य कल्याणकारको त्याग कर आंतरिक शुद्धता पर धार दिया जाता है ताकि स्थायी आध्यात्मिक सुखानन्द प्राप्त हो सके। सूफीवाद के मुख्य साधन हैं—इद्रिया को पबित्र करना, इच्छाओं को नियंत्रण में

रखकर वह ईश्वरच्छा के अधीन रहना और बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का इस प्रकार समन्वय करना कि शाश्वत ज्ञान-द की प्राप्ति हो। सूफीवाद, वैयक्तिक तथा सासारिक मुक्ति का परित्याग करके हक (सत्य) में लीन हो जाना का प्रयास है। खल्क (सत्कार) निस्तार है और हक (सत्य) का ज्ञान ही सूफी को ईश्वर का इस प्रकार आभास देता है कि, अपने स्वत्व के आभास का ज्ञान छाड़कर, सूफी अपने का ईश्वर के स्वत्व में लीन हो जाता है। अपने अन्तर भी और बाह्य भी, सूफी ईश्वर का अनुभव करता है। सूफी अपने स्वत्व में मत्प्राप्य सा रहकर, ईश्वर के स्वत्व में जीवित रहता है। इस प्रकार, सूफीवाद ईश्वर का समझन की एक रहस्यात्मक अनुभूति का माग है। मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित मत में ईश्वर और व्यक्ति का अलग अलग विराधी अस्तित्व है। किन्तु सूफीवाद में दोनों एक दूसरे में भिन्न नहीं हैं। ईश्वर और जीव मौलिक रूप से एक हैं। अतः जीव ईश्वर से मिलने के लिए बर्चन है। जीव ईश्वर का दास नहीं है बरन उसका सया है। त्याग तपस्या और ध्यान से जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। फना (समाप्त) होकर बका (निर्वाण) प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। ईश्वर में लीन होने के लिये डर नहीं, दया की भीषण नहीं, प्रेम की आवश्यकता है। प्रेम की ही अभिव्यक्ति के लिए सूफिया ने ईश्वर की सीढ़ी के रूप में कल्पना की है और जीव की प्रेम के उपासक के रूप में। सूफिया के लिए इह-लौकिक प्रेम ही पारलौकिक प्रेम की सीढ़ी है। इसी कारण, सूफिया की साधना में ध्यान, स्मरण (माला फरना) और रति तथा गादन का भाव आया।

इस प्रकार, सूफीवाद का मुख्य आधार है वैयक्तिक तथा रागात्मक रहस्यवादी अनुभूति और उससे द्वारा ईश्वरत्व (हक) का सहज ज्ञान प्राप्त करना। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद अधिक वैयक्तिक और आनुभूतिक है। अरबीकृत इस्लाम इहलीकियता और सुयुक्तिकरण पर ज्यादा जोर देता है जबकि सूफीवाद त्याग, तपस्या और रहस्यवादिता पर। अरबीकृत इस्लाम में खल्क (सत्कार) त्याग्य नहीं है परन्तु ईश्वरीय भय के माय प्रत्यक्ष है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अरबीकृत इस्लाम एक इलहामी ज्ञान है जिस बिना किसी गवा के अपनाता मान्य धर्म है। इसी कारण, इस्लाम के समीक्षकों का कहना है कि सूफीवाद इस्लाम की इहलीकियता तथा कट्टरता के विरुद्ध प्रतिजिया के रूप में उठा हुआ एक कदम है। इस्लाम का आधार है मिलान, उसका सामाजिक धार्मिक संगठन, पर सूफीवाद का उद्देश्य है व्यक्ति तथा समुदाय का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इस्लाम का जोर है ईश्वरत्व की गुणात्मक अनुभूति पर जबकि सूफीवाद का जोर है प्रयत्न और वैयक्तिक ज्ञान पर। इस्लाम के गुण गुणात्मक ज्ञान के प्रति, सूफीवाद एक प्रबल प्रतिक्रिया रहा है। बाह्य कलाचार और कट्टरवादिता से मुक्त होने के कारण, सूफीवाद अधिक सहिष्णु रहा है।

सूफीवादी ज्ञान प्रवेश का मुख्य है बताने कि उस उस ज्ञान मार्ग पर चलन

का तरीका आता ही। तरीका गुरु न मिल सकता है और इसी कारण, सूफीवाद के अम्युदय के साथ साथ गुरु शिष्य (पीर भुरीद) परम्परा का भी अम्युदय होता है। गुरु के बिना सूफीवादी अनुभूति सुलभ नहीं। ज्यो-ज्यो सूफीवाद का प्रचार बढ़ा, त्याग-त्याग जलम जलम गुरु उत्पन्न होत गये और उनके नाम पर अलग-अलग सूफी सम्प्रदाय बन। एक गुरु के चेल अपने गुरु के तरीके का जलम अलग प्रचार करने, उनका नाम पर मठों बना गढ़ियों की स्थापना करने लगे। जहाँ गुरु अविवाहित होता था वहाँ उसकी मृत्यु के बाद एक नया मठाधीश चुन लिया जाता था और अब गुरु अविवाहित होता था वहाँ मठ की गद्दी बैठे को उत्तराधिकार में आती थी। इस्लामी साम्राज्य के साथ साथ सूफीवाद और उसके प्रचारका की सहा भी बढ़ी और उसका परिणाम यह हुआ कि बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के समय में सूफीवादी सम्प्रदाय इस्लामी मसाले में फैलने लगे और उनका दरवेश सूफीवादी मत का प्रचार करने लग। सूफिया में एक आर के प्रशिक्षित मायक और प्रचारक तथा दूसरी आर के जन साधारण के स्तर के जिनासु। अरबीकृत इस्लाम की कट्टरवादिता के समय सूफीवाद अधिक सहज समुद्धिमय और जनसुलभ था। इस्लाम की अरबी कट्टरता के कारण जा प्रतिप्रिया हुयी सूफीवाद उसका विरोध का माध्यम और उसका उत्तर था। इसी कारण, यह कहा गया है कि सूफीवाद वस्तुतः एक जन-आन्दोलन के रूप में इस्लामी मसाले में फैला।

सूफीवाद के प्रचार का माध्यम दो प्रायः-समाज या मस्जिदों में होने वाले काम के भाषणा की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होनी थी। सूफीवादी गुराओ (पीर, खलीफा या मजदानगीन) और दरवेशों के यागिया जस आत्म-अन्माह्व (Auto hypnosis) तथा विविध तरीके अधिक जनाकषक सिद्ध हुए। कट्टरवादिता का विरोधी तथा जन रीतिरिवाज और विचारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु होने के कारण, सूफीवाद इस्लाम की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पात्क रहा। इसी कारणों से सूफी इस्लाम के प्रबल और प्रभावपूर्ण प्रचारक बन सके। खलीफाओं ने इस्लाम का राजनितिक प्रसार किया है तो सूफिया ने सामाजिक प्रसार। इस्लाम में दीक्षा लेने वाला सूफिया ने कभी भी आमूल परिवर्तन की मांग नहीं की। सूफीवाद ने केवल वही तत्त्व परिवर्तन की मांग की जहाँ तक आवश्यक था। इसी कारण, सूफीवाद के प्रसार के साथ-साथ एक आर इस्लामी समाज में विजातीय विचार और प्रथाओं का समावेश हुआ तो दूसरी ओर दिव्य पुरुषों में विद्वानों का। सूफिया के अनुसार समय समय पर इस्लाम के पुनः स्थापन और नवोत्थान के लिए दसों पुरुष इस पृथ्वी

1. यहाँ दिव्य का अर्थ अवतार के अर्थ में नहीं है। अवतार की धारणा इस्लामी परम्परा में नहीं है। यहाँ दिव्य का अर्थ असाधारण से है। इस्लामी परम्परा में इस सम्बन्ध में दो धारणाएँ मिलती हैं—एक मरदो और दूसरी मुहम्मद।

पर आयेंगे। सूफीवादी पंथा के अग्रिकर्तृ गुरु इन्हीं दवी पुष्पा की श्रेणी में गिन जाते हैं।

अरबोक्त इस्लाम की भांति, सूफीवाद् की उत्पत्ति एक अंतिम दिव्यात्मान के रूप में नहीं हुयी। सूफीवाद् का विकास धीरे धीरे हुआ है और स्थान स्थान पर दस-बाल की परिस्थितियों में उस पर काफी प्रभाव डाला है। सूफीवाद् का विकास, इस्लाम में निहित रहस्यवादी साधना और सयामीपन के विकास के साथ-साथ हुआ है। हिजरी सम्मत की दूसरी शताब्दी में कुछ उस्ताही बरागिमा न क्याजा का धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने क्याओ की विषय वस्तु अरबी, इसाई, जयुश्च और बौद्ध धर्मों में प्रचलित क्याओ यहूदी धर्म के मिश्रता और प्राचीन सीरिया (ईराक) तथा वेबोशान की जन-बानाओ में लिया और व्यवहार, विभिन्न उदगमों से ली हुई विषय वस्तु का इस्लामी भावे में ढालकर सूफीवाद् का रूप दिया। सूफीवाद इस्लामी मान्यता में हुआ एक ऐसा प्रमय है, जिसमें मुख्य आधार कई उदगमों में आये हैं। कुछ लोगों ने यह बात पर ज़ार दिया है कि रहस्यवादिता सूफीवाद का प्राण है और चूंकि रहस्यवादिता इस्लाम का स्वाभाविक गुण नहीं है इस्लाम में सूफीवाद एक विदेशी या विजातीय तत्त्व है। इस्लाम में सूफीवाद या यही अस्तित्व है जो जल में कमल का है। पर ऐसा दृष्टिकोण एराणी है। मुहम्मद साहब के द्वारा व्यवस्थित हुए इस्लाम की पारणाओं में इस्लामी रहस्यवाद की

महदी का अर्थ है पुनरुद्धारक और मुजहिद का पुनःजीवक। महदी का अन्युत्पत्तान तब होगा जब इस्लाम विश्व चलन की अंतिम अवस्था में होगा। मुजहिद वह है जो इस्लाम का पुनर्जनन (तजदीद) करे। इस्लाम में पुनर्जनन का अर्थ समर्थ और सुधार नहीं है। इस्लामी उत्सर्ग के अनुसार इस्लाम की पुनःस्थापना मुजहिद का काम है। महदी उद्धारक है और मुजहिद पुनःस्थापक। सूफी तत्त्व गत अहमद सरहदी, जो जहाँगीर के समयकालीन है और जिन्होंने जहाँगीर के द्वारा भारत में इस्लाम का पुनःस्थापन का प्रयाग किया भारत में इस्लाम के पहले मुजहिद है। बंगोप्रसाद ने सरहिदी की महदी कहा है जो यामीन के अनुसार तबमगत नहीं है। परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि हजारन महम्मद ने यह आशा व्यक्त की थी कि हर शताब्दी के बाद इस्लाम की नया जीवन् देने के लिए ईश्वर मुजहिद का अवतारणा करेगा। पगम्बर की मृत्यु के बाद में हर शताब्दी में एक व्यक्ति रहे है, जिन्होंने इस्लाम की पुनःस्थापना के लिए प्रयाग किया है और मुसलमानों ने उन्हें मुजहिद स्वीकार किया है —

दगिये यासीन, यही पृष्ठ 116

जड़ें हैं। कुरान में खुदा का वदू (प्रेमी) कहा गया है। मुहम्मद साहब के मरने के बाद ही गुलूब और तबसीर की धारणाएँ अस्तित्व में आ गयी थी। गुलूब की धारणा के अनुसार मनुष्य ईश्वर की कोटि तक पहुँच सकता है और तबसीर की धारणा के अनुसार यदि ईश्वर चाहे तो वह मनुष्य के रूप में प्रगट हो सकता है। प्रागे चलकर, जब अल हत्तीज ने अनसहब का गारा गगाया तो उसने गुलूब की धारणा को और भी दृष्टर कर दिया। मोतजली सम्प्रदाय के लोगो ने इस मत का खण्डन किया कि कुरान अपौरुषेय और अतिम सत्य का एकमात्र आख्यान है। भलगजाली (1051-1112) ने यह कहकर कि चामातीत निरपेक्ष सत्य का जानने का एकमात्र साधन मयुद्धि है, रहस्ययान्त्रिका की नीय डाली। इसप्रकार सूफीवाद इस्लाम के घेरे में ही पनपता रहा। इस्लामी पद्धतभूमि से अलग सूफीवाद वस्तुतः एक बन्द रहित परिधि है। किन्तु सूफीवाद का उद्गम इस्लाम में ही नयी है।

कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन के अन्तर्गत सूफीवाद के निर्माण में जिन कारणोंका याग रहा है वे हैं इसाई धर्म का सीरिया के सटवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित था, अभिनव अफलातूनी (Neoplatonic) विचार धारा हिन्दुत्व बुद्धवाद तथा ईरान में प्रचलित जराथुस्त्र धर्म। सूफिया में भिन्नरीषा की भावना तथा मर्दी और ईश्वर को प्रेम से पान की धारणा, गिव के अनुसार इसाई धर्म से आई हैं। ईश्वर के प्रति मान्य और रीति का भाव अभिनव अफलातूनी विचारों की देन है। इस्लाम के उदभव के पहले ही अभिनव अफलातूनी विचारों पर भारत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ चुका था। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि सूफी मत के विकास में योग दन वाले प्रभावों में हिन्दू-बौद्ध ज्ञान का ही अधिक प्रभाव है। जीव और ईश्वर (अथवा ब्रह्म) मौलिक रूप में एक हैं। जीव ब्रह्म की कोटि तक (अनसहब की अवस्था तक) पहुँच सकता है और जीव ब्रह्म का मिलन बना बका की अवस्था है। मोक्ष से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से मुक्ति और इन दोनों का समन्वय करने के लिए यतीवृत्ति कराग्य मान्य योग और नयम की आवश्यकता है। इन मायताओं की जड़ें भारत की वेदान्ती और योगिक परम्पराओं में हैं। सूफियों में भारत के योगियों जैसी निर्भीकता रही है। साधना के लिए गमीन और माता का प्राथम ज्ञान भारतीय गकीतन का माग है।

सूफी सम्प्रदायों का मटीय गगठन बौद्ध गधों से प्रेरित है क्योंकि मानव शक्ति हास में, गध मटा और भिन्नता की परम्परा सबप्रथम बौद्धों ने ही डाली थी। गुर्ग निष्प परम्परा के पीछे यदि एक ओर भारत मुहम्मद द्वारा निर्धारित पगम्बरी परम्परा में उत्पन्न प्रेरणा थी तो दूसरी ओर भारत में पनपने वाले पोषी परम्परा। निररर के अनुसार वेदान्तियों के मोक्ष और बौद्धों के निर्वाण के बजन पर ही सूफिया ने 'फा' की गलाग की और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही उनका 'तरीका या सजूक' हुआ। इसीप्रकार सूफियों ने भारतीय योग का 'मराकबा' कह कर अपनाया। भारतीय योगियों के समतवार ही सूफियों के यहाँ बरामात या 'मोत्रजा' कहा गया।

फैसो के बीच स्वच्छता पवित्रता, मृत्यु, अपरिग्रह पर जो इतना ज़ोर है तथा माला धारण की जा प्रथा है उन सबके पीछे गूढ़ भारतीय मन्धार का ही प्रभाव भाता जा सकता है। सर चार्ल्स इलियट का हवाला देकर निम्नकर ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सूफीवाद में पाये जाने वाले जीव-ब्रह्म सम्बन्धी विचारों और तन्त्रबुध (रहस्यवाद) का उदगम मध्यतः भारत में ही हुआ। पाणिनकर ने सूफीवाद का भारत का इस्लामी मन्धारण कहा है। इस्लाम के उन्मेष के पहले तथा प्रारम्भिक काल के आम पास अरब और यूनान तक बौद्ध तथा वज्रान्ता धर्म का प्रभाव रहा। इसी प्रभाव ने, अन्य प्रभावा के साथ इस्लाम में सूफीवाद का जन्म लिया ?।

अनुनाय इन्द्रिय निग्रह विरक्ति, अपरिग्रह मन्त्राय धैर्य ईश्वर और नीच मौलिक समानता, ईश्वर के प्रति जीव के स्वाभाविक प्रेम प्रेम द्वारा ईश्वर-जीव मिलन (पना) तथा समीन-मकीनन द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम की साधना में स्वाम और मसार को आध्यात्मिक चान द्वारा समपन का प्रयास सूफियाना जीवन मुख्य मंडात्मिक आधार रहे हैं। यही मिडगत सूफियाना तरीका है, जिसे प्रत्येक की पीर में अपने ढंग में अपनाया है। सूफीवाद का उन्मेष एक वैराक्तिक-आध्यात्मिक तरीके के रूप में हुआ था। कालांतर में इस्लामी इमार्ई और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव में सूफीवाद में मठायी परम्परा का जन्म लिया जिसकी भिन्नभिन्न इस्लामी मसार में फल हुए सूफी सम्प्रदाया (पन्थों) के रूप में हुई। प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी सूफी साधक की परम्पराओं पर आधारित है। कई सम्प्रदायों ने विभक्त होकर उपसम्प्रदायों का जन्म लिया। प्रत्येक सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय अपने मूल मन्धारण के परम्परा में, आध्यात्मिक साधना का एक तराका बनने बन गया और प्रत्येक तरीके का प्रसार गुप्त गिप्त परम्परा में हुआ। अरबीजन इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद का काफ़ी परिस्थितियाँ के अनुसार अधिक दृढ़ता से जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद अनेक पन्थों में फूट निकला। उनकी सूफी का सारकर इहानगिया तक पाये जाने वाले सूफी पन्थों में बचने आधारभूत ढाँचिक समानता है क्योंकि उनके सामाजिक संगठन और कल्याण परम्पर भिन्न। यह सूफीवादी इस्लामी विचारधारा के लब्धालपन का ही परिणाम है कि कुछ सूफी पन्थों में भारत में ही जन्म और भाग्य में उन सभी का ही मौलिक रह जिनमें उनका जन्म हुआ था। जिसप्रकार, इस काल में भारत के अनेक राजाजीवी और जट्टगण भारतीय समूह सुधारकारी पन्थों के माध्यम से हिन्दुत्व में प्रविष्ट हुए उसी प्रकार, अनेक समूह, सूफीवाद के द्वारा, इस्लाम में प्रविष्ट होकर इस्लाम में जानि प्रथा के समानता का कारण बने।

इस्लामी धार्मिक पन्था में भारतीयकरण¹

इस्लामी दर्शन और आध्यात्मिकता में अतर्निहित आत्म विच्छेद से उत्पन्न, सूफीयाना इस्लाम के लिए भारत का समव्यवहारी सांस्कृतिक वातावरण बड़ा ही अनुकूल रहा। इन पन्था के माध्यम में अनेक देशी समूहों ने, एक ओर, अपनी घर-परम्पराओं का इस्लामीकरण किया और दूसरी ओर उस इस्लामीकरण का भारतीयकरण। भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि इस्लाम में घर-परम्परा की उत्प्रेरक सिद्ध हुई जिसके कारण यहाँ जनकपन्था का आविर्भाव हुआ जिनमें कुछ सूफी थे और कुछ गैर सूफी। इन पन्था की विशेषता यह है कि इनके द्वारा घर-इस्लामी प्रथाओं का इस्लाम में समावेश हुआ।

मुल्तान प्रतापसिंह मलिकों के जमान में ऐसे पन्थे थे जो घर-इस्लामी घर-परम्पराओं को मानते थे। अशोक ए इबादत पन्थे के लोगों के बारे में समीर मुत्तरी ने न लिखा है कि उनमें समीपस्थ सम्प्रदायों (भाई बहिन पिता पुत्री, माता-पुत्र) में भी यौग सम्बन्ध पाये जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्खिनी उल मजलिह के लखन ने ऐसे ही पन्थे के बारे में लिखा है कि उनमें जनक घर-इस्लामी प्रथाएँ पायी जाती हैं। घर-परम्परावादी दृष्टिकोण से ये प्रथाएँ भारत में इस्लाम के अधःपतन का प्रतीक सी लगती हैं? इस्लामी एक शिवालय है जिसमें घर में दक्खिनी में लिखा हुआ है कि इस पन्थे के लोग गरिबों के अनुसार व्यवहार नहीं करते हैं और ये इस उद्घोष में नहीं पड़ते हैं कि ईश्वर है या नहीं समार वास्तविक है या नहीं। उनकी मान्यता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और उन पर यह ज़ारफ़ लगाया जाता है कि अपनी गुप्त सभाओं में वे अगम्यगमन यौग-सम्बन्ध (Incestuous Sex Relations) स्थापित करते हैं। भारत में सोदा और बाहरा, जो काठियावाड़ और गुजरात में पाये जाते हैं इस्लामी पन्थे के दो उपपन्थे हैं। सोदा हिंदू थे जिनको मैसूर इमामुद्दीन नामक एक सूफी मत ने इराक़ में परिवर्तित किया था। अहमदाबाद में तीसरी शताब्दी की दूरी पर स्थित इमामुद्दीन की दरगाह राजा लोधा का एक धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इस सोदा में पायी जान वाली गुरुपूजा में भूमि पूजा का भाव है क्योंकि इनका गुरु एक सम्राट की भाँति पड़े के पीछे बैठता है और मरने पर उसके पंखों के अण्डों को चूम कर, उसके घरों में सान और चादों को भेंट करता है। सोदा में भी भूमि पूजा का भाव नहीं मिला पन्थे को स्थापित किया और अपने विवाह, उत्तराधिकार तथा तलाक़ के नियमों में अनेक घर-मुन्ती प्रथाओं का स्थान दिया है।

1. यहाँ जिन सूफी पन्था का संदर्भ दिया गया है उनका वर्णन मासोन के अध्ययन ए सोशल हिस्ट्री आफ़ इस्लामिक इण्डिया पर आधारित है।

दक्खिना का हवाला देते हुए, यासोन ने लिखा है कि सन सोलह सौ पाच और सत्रह सौ अठ्ठातीस के बीच हिन्दुओं में एक ऐसा बग अस्तित्व में आ गया था, जिसके सन्ध्य अपने परम्परागत विश्वासों और व्यवहारों के साथ सूफी मुसलमानों की भांति रहते थे। अपने विचारों और व्यवहारों में, इन्होंने सूफीवादी मिथानों का आत्मसात अवश्य कर लिया था, पर मूलतः वे राग हिन्दू ही थे। इस बग के लोगों का यही एक दावा था कि उनकी भाषनाओं, विचारों और व्यवहारों का पैगम्बर के उपरान्त कोई सम्बंध नहीं था। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण में सूफीवाद का वह नयी दिशा मिली जिसके कारण वह इस्लाम के उत्तरोत्तर भारतीयकरण का माध्यम बना। यह भारत के समन्वयकारी सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव था कि भारत में कुछ ऐसे सूफीपथ उत्पन्न हुए जो भारत के बाहर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं और अपनी विचारधारा तथा कलाचार में अन्य स्थानों के सूफी पथों से भिन्न हैं। भारत के मुख्य सूफी पथ हैं—रौगनिया दानावा, इहो या तोहीदण इत्यादी मदरिया, जलालियान, बक़द या बेनवा, कानकी या कानवा और पियारावधी। ये पथ गिया भी थे और मुन्नी भी और भारतीय दानावा की समन्वयकारी परिधि से घिर रहने के कारण, इस्लामी आत्मविच्छेद के अधिक समापन थे।

रौगनिया पथ के प्रणेतृ धर्मिया बयाजिद अमारी जा मातहतो गानागी के मध्य में पञ्जाब में पैदा हुए थे। अरबीज़न इस्लाम के कलाचार के स्थान पर, इन्होंने तर, आचार विचारों का गूढ़ता और इस्तरफ़ा में गूढ़ विचारों पर अधिक ज़ोर दिया। इनका मन मजहबी गानागी न के चलता रहा। अपने मन का प्रचार करने के लिए इन्होंने अरबी, फारसी और पन्ना के माध-माध गिया (मन्तून) का भी आश्रय लिया। दीन ए इलाही के प्रणेतृ थे सय्याद अकबर जा इस्लाम और भारत के अन्य धर्मों के बीच, समन्वय स्तान के लिए प्रेरित थे। दान ए इलाही के मुख्य चार आधार हैं—मलीफ़ान उल अस्ताह का प्रगटहाना¹ सभी धर्मों पर विचार विमर्श, ग्रह विचार (फलिज ज्वातिप में विश्वास) और नया आगियाना जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के कथना पर एक आचार-महिता का निरूपण। यह पथ औरंगज़ेब के समय तक चलता रहा और हमरा मुन्त ध्यय था भारतीय सांस्कृतिक वातावरण के अनुसार एक ऐसी गान्ति तयार करना जो सभी धर्मावलम्बियों का माय हो। इस पथ की धारणा अरबीज़न इस्लाम के समीप न होकर, नागन की स्मृति का परम्परा के ही अधिक समीप है। यह पथ दानावा में प्रतीक है कि दानावा की दानिक पण्डितों और इस्लाम में समन्वय स्तान के प्रयोग का और, इमाकारण, औरों की अज्ञाना, इमान स्थापना की

1. तसवीफ़ात उल अस्ताह का अर्थ है अस्ताह (ईश्वर) के तसवीफ़ा की अप्रतिरक्षा।

भावना अधिक थी यद्यपि, एकवर व बात, इस भावना का उत्तरात्तर हाना हुआ गया।

मन्त्रिया पथ के अनुयायी अपने को मुन्ती कहते थे और गंग बन्धुर्दीन, जो शाहिमदार व नाम में प्रसिद्ध है, के अनुयायी थे। आज भी गाहमदार का हिंदू और मुसलमान दोनों पूजते हैं। आज भी मकनपुर (जिला बानपुर) में प्रतिवर्ष इनकी मजार पर मेला लगता है। इन्होंने 'मदार की गली' मन्त्रिया स्थापित की। इस पथ के अनुयायियों व अनुगार जब पैगम्बर स्वर्गद्वार पर पहुँचते तो उन्हें वहाँ द्वार मुई के छत के आकार का मिला। दबदूत जिवरीन ने उनसे मदार की सहायता का आवाहन करने का प्रिय वृत्त और जस ही उठावे दम मन्त्रिया गंगा का उच्चारण किया तथा द्वार खोला गया और तब पैगम्बर स्वर्ग में प्रवेश पा सके। स्वर्ग में मजिद उपवामा और प्राधना, पर जार दिया गया है उनका मन्त्रिया योगा न पात्र नही दिया। ये गंग में हमसी गोर मिर पर बाग साफा धारण करते थे और बाग शब्दों का चर्च करते थे। नटा रखना नग चर्च रहना ऐसी पर भस्म मन्त्रिया धनी रमाना और भाग का अत्यधिक प्रयोग उनकी साधना चर्चा में शामिल था। सूफीवाद के रूप में मन्त्रिया एक प्रकार का बाममार्गी पथ का प्रतीक होता है।

जलालिया सैयद जलालुद्दीन बुखारी (१३०७-१३७४ ई०) के अनुयायी थे और अपने को गिया मानते थे। जलालुद्दीन मुल्तान के सुल्तानों से सत् संबंध रखते थे। जलालिया पथिका में न तो उपवास और प्राधना की परवाह की और न सूफिया की आधारभूत मान्यताओं की ही। इस पथ के अनुयायी भाग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने साय बिच्छू और कीड़ मक्का की भाँज्य पदार्थों की श्रद्धा में रखी। मन्त्रियों की भाँति, जलालिया भी नये चर्च रखते थे और बात रमाने थे, लेकिन जटायें नही रखते थे। विभिन्न प्रमाणों का आधार पर यामीन में जलालिया का जग बणा बिना है वह इस प्रकार है— जलालिया गंग में गुल्लद बाधते हैं पश्म (ऊन) या बहुरगी धागा का हार तथा लगानी धारण करते हैं और माग लेकर चर्चते हैं। पथ में दी ता लन समय, उनका दाहिनी बाह का ऊपरी हिस्सा में लगे बिना जाता है। ब बाजारा में बिना माग रखते हैं और यदि उन्हें बिना नहीं मिलती है तो वह कपड़ा चोरी हूँगी लाह की गरम गलाव में अपने का दाग लगे हैं। पत्राउ उनका मुख्य गठ है जहाँ वे प्राधना पर चर्चते हैं वेम ध्यान देते हैं गाजा पान हैं बिना और माग लान हैं और सिर मछ तथा मोँग का मझान हैं बिना मिर पर दाहिना ओर चाली भी रखते हैं। ब सिर पर पन्नी बाध रखते हैं गल में ऊनी धागा पट्टा है और भुज्ज पर लोच व लात्री बाध रहते हैं। उनका मार्ग निश्चिन्त निशान-रखा नहीं होता है—वे गलानी हान है।

दखिना के अनुयायी जलालिया का 'गुर' (घोर) प्रतिदिन एक गये स्थी प्राग की टाह में रहता है। जब अपने किसी गिय के घर में उठा किसी मुद्दर लानी का

पता चलता है या वह नरमिह बजान की आवाज देता है या वह घर से बाहर हाकर गिरने के घर जाता है और नगी से मनमाना व्यवहार करता है। नरमिह का वह कभी-कभी अपने घर भी टूट जाता है पर उसमें बिनाह नहीं करता है। इस प्रथा का स्पष्ट करन दुये दक्खिना व हराण न लिया है कि सम्भवतः इसका सम्बन्ध अली ने है, क्योंकि अली प्रतिदिन सन्ध्या का दूता बनता था। दक्खिना व हराण द्वारा प्रदत्त किये जाने पर एक जहाजी ने उम्र बताया कि यह का यह दूत उसकी प्रान्ता का प्रतीक है और समुद्र के परिवार का एक विधायागार है। गुरु अली का प्रतीक है। अतः वह अली द्वारा प्रयुक्त विधायागार का प्रयोग कर सकता है।

वक्फ का मतलब है स्वतन्त्र और गंगा का निरीह। पण्डित दाना पण्डित एक ही घर दान में अलग अलग हुये। उक्त का दाना निरीह (कल्याणारी विधि Ritual Law) गम प्रकृति का नियम न कि उनका नियम जो मारिफत (इस्लाम का धर्म) प्राप्त कर चुके हैं। दाना पण्डित दान में गंगा विधानमाली (विधान) की श्रेणी में आता है। दान दाना पण्डित अनुदायी भिन्न मानन समय जिनमें निरीह मानन के समकालीन गंगा मिश्रित भाषा और अणुभाषा का प्रयोग करते थे। वे भिन्ना में पण्डित उतना ही लक्ष्य जितना कि उनका धर्म धर्म का काम कर जाय। उनका दान पण्डित विरक्तता रसित गुणों या अचला जा व इधर उधर से इकट्ठा किये हुये चीथड़ा से बनाया था। दान पण्डित अनुदायी के अनुसार मुस्लिम दान ईश्वर आत्मा और मगर उम्र आत्मा का प्राण। य नगीसी अनुदायी का प्रयोग करते थे। एकादशवादी का मानन थे और उनमें से कुछ धर्म का धार्मिक तत्त्वचर्चा में भी लगातार थे।

मनुष्य (Munshi) का अनुसार मुगल राज्य में अनेक प्रकार के पक्षीर कह जाये पाए गरीब लाय थे, किन्तु उनमें दो प्रकार के पक्षीर मुख्य थे—एक कैवली अथवा आजाद और दूसरे कैवली अथवा निरत। पहल प्रकार के पक्षीर कैवली ही अंगिष्ठ थे। सबके लिये गालियाँ अंगिष्ठ भाषा का प्रयोग सबके धर्म, विनोदतया अमीरा का धर्म में, पुस्तक रचना (लिखा) भाषा और न मिलन पर गालियाँ देना, उनका लिये साधारण धर्म था। उदात्त भाषा भी ईश्वर का नाम पर लिखा नहीं मागी क्योंकि उसमें ईश्वर का नाम होता था। अनेक नगा छरा हाथ में रखकर भिन्न मानन के और न मिलन पर अणुभाषा मिर या पेट में छुरा मार लय थे तथा भिन्ना न दान दान पर पक्षीर भाषा का भाषा मून छिड़ता था थे। ये वृद्धा बाजारों में, बच्चों की दूकानों पर भिन्ना भाषा में। वेगल अथवा निरत प्रकार के पक्षीर जाय भी बाजारों तथा माला में भिन्न जाते हैं। सबके में विधायागार लाने के लिये पास, दूध मूरचिरी या मूरचिरी (अर्थात् मूँह या मिर खीरने वाला भी) लाना दी जाती है।

कबल पक्षी जहाणार का समकालीन कहे जाने वाले कबल निवासी इस्लाम कबल का अनुदायी थे। पण्डित कहा जाता है कि इस्लाम कबल और उनका लिये वसाकरण में सिद्धि लय थे और किसी पर नजर हातन मान से ही उल्लास का म घर

लेते थे। इब्राहीम के शिष्य मुसलमान भी थे और हिंदू भी। इब्राहीम ने कभी भी अपने शिष्या में धर्म परिवर्तन की मांग नहीं की। अल्हाह जीर राम को छाड़कर वे न ता किसी पैगम्बर का नाम लेते थे और न किसी अवतार का। वे और उनके शिष्य रात में कभी नहीं साते थे बल्कि पीठ से पीठ जोड़े हुये, रात भर बठे रहते थे। वे सर्वोच्च दवी सत्ता का एक मानते थे, भग्न का अत्यधिक प्रयाग करते थे और ब्रह्मचर्य का नियमित रूप से पालन करते थे। पियारा पत्नी, बाबा पियारा जो बगाल के निवासी थे और सम्भवतः खेत सलाम चिन्ती के शिष्य थे से सम्बन्धित हैं। भिक्षा मागत समय ये किसी के घर या दूकान के सामने खड़े हो जाते थे और न ता किसी वस्तु की आद देयते थे न कुछ कहते थे और न किसी वस्तु की वाचना ही करते थे। जो कुछ मिल जाता था, वे स्वीकार कर लेते थे और यदि कुछ नहीं मिलता था तो चुपचाप चले जाते थे। अपने को मुसलमान कहते थे पर मुसलमानों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते थे।

भारत में उत्पन्न होने वाले तथा भारत में ही सीमित रहने वाले इन सूफी पंथा के माध्यम से इस्लाम पर हिंदू दशन हिंदुत्व की आपस परम्पराओं बौद्ध तांत्रिकों और आदिवासियों का प्रभाव पड़ा। यह पक्ष ही कहा जा चुका है कि जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहाँ इस्लाम का प्रवेश हुआ। ऐसा दावा था भारत का आश्विनी समाज। ऐसा लगता है कि जलम अन्य गणजातियों जलम-अलग स्थानों में, सूफी पंथों के रूप में, इस्लाम में प्रवेश कर गयी और अपनी परम्परागत प्रथाओं का इस्लाम के रूप में रखा। अब्दुर्रहमान का आधार पर, माहम्मद यागीन ने लिखा है कि वाकना पथ का मस्यापन सम्भवतः कश्मीर की वाक गणजाति का था। वास्तव में भारतीय सामाजिक मरचना के निम्नतर स्तरों पर हिंदूकरण और इस्लामीकरण का साथ-साथ सम्भावना हुआ है और चूँकि हिंदूकरण की प्रक्रिया में हिंदू और आश्विनी प्रथाओं का पटल ही से सम्बन्धित रहा था इस्लाम का प्रभाव का एक और हिंदूकरण हुआ तो दूसरी ओर आश्विनीकरण। पियारा पंथियों का भिक्षाटन का तरीका वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं और दंडियों का तरीका है। मदरिया और जलालियाँ पंथों का अनुयायी में यदि एक ओर, भारत के नागा साधुओं और साधवियों का सा विनयतापन मिलनी है ता, दूसरी ओर, औषधों और वाममार्गी बौद्ध तांत्रिकों की सी परम्पराएँ। भारत में साधवियों की न तो कोई जाति है और न कोई पालि। सम्भवतः इसी प्रभाव के अंतर्गत बरना की स्वतंत्र (आजाद) गाँवों में यह विचारित किया कि मारिपत की अवस्था में पहुँच जाने वाले पर धर्म (इस्लामी कल्पाचारों विधि) नहीं लागू होती है। मगर जसा देवी दक्कन की धारणा और मगर का गाँव टाटमवांति (Totemism) का अधिक विचार है न कि हिंदू या इस्लाम के।

दक्कन के ऐसक व अनमार जलालियाँ के गुरु का अपने शिष्यों के घर की

श्रिया के साथ स्नान, यौन सम्बन्ध स्थापित करने सम्भवतः उनका आध्यात्मिक नेता 'मल्ला' के जीवन का प्रभाव है। उसी लेखक के अनुसार हिंदुआ में बाल्याचार सम्प्रदाय के लोगों में भी, विवाहपरायन सवप्रथम वर्ष गुरु का अर्पित करके, बाद में पति द्वारा प्रार्थना करने में गणना जाती थी। योराप में मध्ययगीन कथार्थिक इसाइया में भी ऐसा प्रथाओं का उल्लेख है। वहाँ गुरु का स्थान पारसी के पास था। बमरा में पाय जान बगैर योरा का दण्डन करने हुए त्रिम (1900) ने मतनामी पत्र में ऐसी ही प्रथा का उल्लेख किया है। भारत के बामम गियाम गिव और भरवी की धारणा तथा उनमें सम्बन्धित योरा के कथाचार, मुसलमानों के पहले से ही अस्तित्व में था। ऐसा दावा में यह कहना बर्धन है कि जगज्जियान में यह प्रथा मोक्षे इस्लाम से आधी है या भारत के जगज्जियान या बाममगिया से। भारत में ऐसा प्रथाओं का वास्तविक रूप क्या था या क्या है और उनका वास्तविक उत्पत्ति क्या है? यह प्रश्न भारत के मास्तरित इतिहास का गठित गुणिया है।

अबवर द्वारा स्थापित गान ए दलाहा बस्तुन यह प्रवास है जिसके द्वारा इस्लाम और हिन्दू के दानिनि तथा व्यावहारिक पन्ना का सम्बन्ध करने की कागिनि की गयी थी। स्मतिधा और पुराणा में बर्णित धर्म राग्य की धारणा में गच्छा में दबत्व का प्रतिरापण करके उन धर्मराय माना गया है। इसी कारण भारत के सम्राटों ने सभी धर्मों का प्रार्थान दिया है और वण तथा जानि-वधस्या के लिए नियमा का नियारण किया है। सम्राटों ने आचार संहिताओं का मन्त्रन कराया है। अबवर का धार्मिक मामलों में उच्चतम सत्ता मानकर तीन एल्लाही द्वारा जहा, एक जार, इस्लाम बटूरता पर राज गान का प्रवास किया गया था वहाँ दूसरी धार उनमें हिन्दू परम्पराओं के अधिक समीप लान का प्रयास भी किया गया था। अबवर के बाद, बीनत इगली तो जिग रहा पर उसकी आमाबन्ध गयी जब कि जहागीर के समय से इस्लामी बटूरता ने एक नया रूप उठिया था जो धार धीरे बढ़ती रही। इस सन्ध में समझने की जगति तो यही है कि जहा एक धार सूफी पन्ना के द्वारा इस्लाम धार और गमजयों बना बना दूसरा धार इही पन्ना के प्रभाव से उसमें बटूरता का भी मनाया हुआ है। इस्लाम के अनुसार सूफीपन्ना साम्प्रदायिकता से पूर्णतया मुक्त न था। विस्लाम में बर्णित एक धर्म का अनुसार एक तीर्थ पान पर गन्धिया जगज्जिया और सगज्जिया के उमाय में जय गन्धिया और जगज्जिया ने दो बार गान बटूरता चाय तो दाना बाद गन्धिया न करने याय का गन्दी-लिया। इसमें प्रार्थानि हाकर गन्धिया और जगज्जिया ने एक तीर्थी गाय बटूर दी जिसका परिणाम यह था कि गन्धिया ने उन पर आक्रमण कर दिया।

बाद के में गन्धिया के इस्लाम का इतना भारतीकरण हुआ है कि प्रारम्भ में ही गन्धिया का गुधारन धार उन धर्मराय इस्लाम के अनुसार लान का प्रयास भी पन्ना रहा है। भारत के बाहर में बाध द्वय सूफीपन्ना और उनमें प्रथाओं ने

५

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था में इस्लाम का सबसे अधिक भारतीयकरण हुआ, क्योंकि भारत में इस्लामी राज्य शायद राजा और समाज का वही आधिकार आधार रहा जो पञ्चम्वरा में चला आया था और मुख्यतः दृष्टि पर आधारित था। इस बात में, व्यापार के साथ साथ भारत का गरीबकरण भी बढ़ा। इस्लाम वस्तुतः एक नगरीय सभ्यता थी। भारत में इस्लाम का कड़ गहरा मही रहा किन्तु पतला उन गहरा में जो इस्लामी राज्यां और जागीरदारियां के गये थे। मुसलमानों साथ बागव बगान, बगनों पर बगव बनने और जामानों बगवान जमानों तथा किमसात बगान के उद्योग भारत में गये किन्तु भारत का आर्थिक आधार दृष्टि ही रहा। मुसलमान बागव बगवान राजव पर ही जोर देने थे। जहां कि पारिवारिक न गिया है सम्भवतः मुस्लिम राज्य व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित थी कि राज्य का खर्च अन्य राज्यों से दूढ़ हुए धन से चलाया जाय। तबमानों पर जायमण करन के लिए मालिक बाजार का बिनाइ देने हुए जलाउद्दौल खिलजी ने यह बना था कि यदि वहां का राजा अपना खजाना जमाने, गरीब और धाड़ गमपिन करे या शेर बना स्त्रीपार करे तो लूट छाड़ देना।

भारत में मुसलमान मनानी-नाहसिका के रूप में आये। उन्होंने अपने राज्य और साम्राज्य कायम किए और धर्म का प्रचार किया। धर्म और सामाजिक न्याय के उचित प्रभाव पड़े। किन्तु राज की आर्थिक सरवतरी न उठती गती ही धर्म-धर्म। बागव का अपनी नाति में सम्पत्ति का पुत्र देने के लिए बांध दिया। निराना का लहर मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया था कि नीचे आधिकारिक राजा मरता था कि हिंदू राजाओं का गान कर मरता था पर यदि बागव बागव भी तो विस्मय भंगन भूमि पर मनी करता उनके लिए सम्भवतः राजा न इतना सत्ता में धर्म परिवर्तन है हा मरता था कि भारत हिंदू जमाने और दृष्टि मुसलमानों का जाय। सान भी धर्म तब मुस्लिम राज्य का धर्म रहने पर भी गमाव का दृष्टि जनता मुसलमान हिंदू की रनी। मुसलमान बागव भूमि का बगव मुसलमान धर्मियों का बगव जागीर में गाने गाने। जन जागीर तथा दृष्टि हिंदू की रहे। मुस्लिम राज्य-बगव में भूमि व्यवस्था उद्योग की रनी बनी र, जिसके सम्भवतः धर्मों में हिंदुओं का सामाजिक जीवन समाप्त रहा जाता कि पतन था। व्यापार में भी हिंदुओं का हा अधिक गये रहा। अपनी मनानी और राजनतिक-साहित्य मनावृत्ति के कारण, न तो मुसलमान व्यापार में सम्पत्ति लेने थे और न उन आर्थिक दृष्टि में ही देने थे। हिंदु और साता बनी मुसलमानों के लिये एक राज्य ही रहा। व्यापारी दग को सगाट तथा स्थानीय अधिकारियां का धन देना ही पड़ता था। सार मुस्लिम जाल में हिंदू-बनिया का व्यापार पर आधिकार्य रहा।

नोकरशाही के निम्न स्तर पर हिंदुओं को रखने के सिवा मुसलमानों के पास और कोई चारा ही नहीं था। मुसलमानों के भारत में आने के पहले ही भारत में मुनिश्चित नोकरशाही की परम्परा अस्तित्व में आ गयी थी। नोकरशाही के उच्च पक्ष का तो मुसलमानों ने हाथिया लिया किन्तु निम्न पक्ष पर हिंदुओं का रक्षणा आवश्यक था, क्योंकि पटवारी, मूनीम और खजांची का नाम यहाँ की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुसार हिंदू ही कर सकते थे। मुसलमान अपने साथ सना के अतिरिक्त केवल इस्लाम लाये थे। उनके पास न तो कोई व्यापारिक पद्धति थी न कोई आर्थिक तथा भूमि व्यवस्था। मुसलमानों के पास धर्म अपना था—पर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था या भारत की जिससे चलाने का न था हिंदू। इसी कारण, जिले के स्तर पर प्रशासन हुआ करता था मुसलमान किन्तु प्रशासन को चलाने वाला हाथ था हिंदू। इसी मुनिश्चित भारतीय नोकरशाही पर मुस्लिम सम्राट अपने साम्राज्य को सजा कर सबे और इसी के आधार पर प्रांतीय राज्यपाल भेजते हुए राज्यों की नींव डाल देते थे। आगे चल कर इसी नोकरशाही के बल पर अंग्रेजों ने भारतीय साम्राज्य सजा दिया। हाँ, यह प्रत्यक्ष है कि आर्थिक प्रशासन का मुसलमानों ने अपने आधिपत्य में रखा।

इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रवेश करने पर भी भारत की आर्थिक संरचना वही रही जिसका निर्माण हिंदुओं ने किया था। यहाँ की भूमि व्यवस्था का वही रूप रहा जो पहले से बना आया था¹। हाँ यह अवश्य था कि मुस्लिम सम्राट् अपना कर्ण लगाने की दर में परिवर्तन कर दिया करते थे। भारत की इस परम्परागत आर्थिक संरचना और भूमि-व्यवस्था पर मुसलमानों ने जागीरदारी की सामंती व्यवस्था कायम की, क्योंकि स्वयं मुस्लिम सम्राट् एक बड़ा सामंत था जिसकी रक्षा के लिए अनेक सामंतों की आवश्यकता थी। जागीरदार भूमि का मातृक न था बल्कि सम्राट् की दया पर निर्भर भूमि कर वसूल करने वाला एक अधिकारी था। भूमि का वैयक्तिक तथा सामूहिक आधिपत्य वस्तुतः गिर्नित था ग्रामीण समुदाय में जो सामंतवादी व्यवस्था का गणतन्त्रीय धरातल था। मुस्लिम आक्रमणों के काल में लिखी गयी तुर्की-निर्णय में यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक-

- 1 भूमि व्यवस्था को गिर्नित आधार पर लाने के लिए अकबर को भी टाइटलमल का अह्मरत पड़ी। किन्तु जब अकबर ने राजा टाइटलमल को नियुक्त किया तो मुस्लिमों ने इसका विरोध किया और अकबर के पास एक प्रतिनिधि भेजल गया। इस प्रतिनिधि भण्डल से अकबर ने पूछा, 'तुम्हारे भूमि और राजस्व का प्रबंध कौन करता है?' उनका उत्तर था हिंदू पदाधिकारी। इस पर अकबर ने कहा, 'तुमने भी अपनी भूमि का प्रबंध के लिए हिंदू को नियुक्त कराने की अनुमति दो—दिलिय, रामगोपाल वही पच्छ ॥'

आर्थिक व्यवस्था में ग्राम एक गणतन्त्रीय स्थापना है। इसी गणतन्त्रीय धरातल पर सम्प्रदायों ने मजहब पर आधारित एक सामंती व्यवस्था स्थापित की। मुस्लिमों और ब्राह्मणों ने हिंदू धर्म व्यवस्था का चलाव बालू में लिप्टूँ पर इन सभी का निमंत्रण करने वाला ये मस्जिदें सामंती। जिस व्यवस्था में सम्प्रदायों ने प्रवेश किया था वह भी सामंती व्यवस्था थी। हा यह अवश्य है कि इस्लाम के प्रवेश के साथ-साथ हिंदू सम्राट् या स्वामी ने दिया मस्जिदें मस्जिदें और लिप्टूँ सामंती का मस्जिदें नामन्ता न। अतः भारत की सामंती व्यवस्था में सामंती धर्म के नाम पर ही समूहों में बंट गया। मानव इतिहास में सम्भवतः और क्या ऐसा नहीं हुआ और इसी कारण भारत के सामंती धर्म का एक आरंभ पूजावादी व्यवस्था में लड़ना पड़ा ना, हमरी आरंभ स्वयं अपने में लिप्टूँ और सम्प्रदाय में। मुस्लिम सामंती ने लिप्टूँ सामंती धर्म का हटाया था। स्वतंत्रता पाना में पारस्परिक अमनता और संधि की आग मुग्ध उठी और तब तक मुस्लिमों की जय तक कि अंग्रेजों द्वारा लगी हुयी सामंतीवादी पूजावादी व्यवस्था में सम्प्रदायों का अंग्रेजों द्वारा न गंभीर हटाया। इस परिस्थिति में उन्नत अंग्रेजों का भावना के कारण, मुस्लिम सामंती में जो अमनता फल वह पहले ही से मुस्लिमों द्वारा आग के समय से सामंतीयिक ज्वाला के रूप में धधक उठा।

६

धर्मों के फारसी का भारतीयकरण

अंग्रेजी और फारसी यदि एक-दूसरे, सम्प्रदायों के गतिविधि वाला चाल, विचार-विमर्श और ज्ञान विज्ञान की भाषाएँ रही तो अंग्रेजी और भारत में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार का मुख्य माध्यम भी बनी। अरब में आये हुए सम्प्रदायों द्वारा अरबी का प्रचार हुआ तो ईरान और तुर्कस्तान में आये हुए मुस्लिमों के द्वारा फारसी का। इस्लामी मुस्लिमों द्वारा जोर देकर की गतिविधि में मिश्रित, फारसी भाषा भारत में पहुँचने के पश्चात् अपनी गतिविधि माध्यमों के द्वारा जोर ज्ञान विज्ञान का गतिविधि का जन्म दे चुका थी। अतः, भारत में फारसी भाषा का प्रचार हुआ एक सम्प्रदाय गतिविधि की भाषा के रूप में जिसका सत्तावादी अंग्रेजों के समारोह मानता था। फारसी यदि एक बार, फारसी का सम्प्रदाय इस्लामी गतिविधि की प्रभाव था तो अंग्रेजी और, वह इस्लामी आत्मविश्वास का जो अपने में समझे हुए थी। भारत में अंग्रेजों का प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म की भाषा के रूप में। नवाज और मुगल धर्म के लिए मात्र भाषा मुस्लिमों का अंग्रेजों को पटना है और आज भी धार्मिक शक्ति और अनुष्ठान के सम्प्रदाय के लिए अरबी भाषा का प्रयोग होता है। अतः,

भारत और उसके बाहर अरबी प्रभाव रही है अरबी शब्द इस्लाम की। धार्मिक कल्पाचार में, मुसलमानों के लिए अरबी का वही महत्व रहा है जो हिंदुओं के लिए संस्कृत का है।

उत्तरी भारत में तुर्कों के प्रवेश के साथ साथ फारसी का राज्य प्रभाव भी बढ़ा। मुगल काल में जब दरबार में ईरानिया का प्रभाव बढ़ गया तब यह कृपा और भी बढ़ती ही गयी। अतः, फारसी एक और राज्य भाषा बनी तो दूसरी ओर, का यह और माहिब की भाषा। भारतीय संस्कृति और समाज में ज्यादा स्लाम का प्रवेश होता गया तथा तथा फारसी का विद्वत्ता और पाठ्य की भाषा का स्तर मिला गया¹। सम्भवतः, यही कारण है कि अरबी का अपना हिंदुओं में फारसी अधिक सीखी और जिस अनुपात में हिंदुओं में फारसी और अरबी साक्षात् अनुपात में अनुमानों में सम्मिलित नहीं सीखी। क्या परिणाम यह हुआ कि हिंदू स्लाम की मायताओं में जिनका परिचित हुए उतना मुसलमानों हिंदुओं की मायताओं में परिचित न हो सकें। इसी कारण स्लाम और मायताओं के स्तर पर स्लाम का जिनका हिंदूकरण हुआ उनका हिंदुत्व का स्लामाकरण नहीं हुआ। भाषा सम्बन्धी यह स्थिति का एक यह भी परिणाम हुआ कि अरबी या अधिकतर पठन पाठन और प्रचार आ स्लाम के रूप में और एक अधिकतर मायवियों और मुत्ताओं में सामिल रही। फारसी का प्रचार हुआ राज्य तथा साहित्य का भाषा के रूप में जिस हिंदुओं और मुसलमानों ने व्यवसाय सीखा। अरबी फारसी के साथ साथ संस्कृत का भाषा पठन पाठन चारों में पर हिंदुओं की धार्मिक भाषा तथा हिंदू स्लाम और स्लाम विज्ञान की भाषा के रूप में और इस रूप में संस्कृत केवल धर्माचार्यों और दार्शनिकों में ही सामिल था। इस प्रकार स्लाम के प्रवेश के साथ साथ अरबी फारसी और संस्कृत भाषाओं के रूप में भारत में मान्यता प्राप्त हुई। धार्मिक प्रचार में अरबी फारसी और संस्कृत का यदि एक ओर अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया तो दूसरी ओर प्रादिक भाषाओं में। प्रादिक भाषाओं का माहिब

हिंदी फारसी और संस्कृत वास्तव में भारत के मायवियों और भिन्नता यह का भाषाओं में समाविष्ट जिस काल में स्लाम का प्रवेश हुआ था भारत में प्रादिक भाषाओं में अकुरित हो रही थी। यह प्रादिक भाषाओं भारत के जनमाया रूप की भाषाओं थी और स्लाम के स्लाम तथा स्लाम भाषाओं में। मुगलमानों को, विज्ञान तथा मुस्लिम वादवादी और प्रभावों का स्लाम भाषाओं की जानकारी आवश्यक थी। इसी कारण मुसलमानों का स्लामों ने प्रादिक भाषाओं की सरमाय और प्रा माहिर किया। संस्कृत के स्लामों का यदि एक ओर अरबी फारसी में अनुवाद कराया गया तो दूसरी ओर प्रादिक भाषाओं में। प्रादिक भाषाओं का माहिब

1. पंडे सिंग धर्मिकियों के बेशर रहने पर आज भी जब भी यह कहावत बनी जाती है—पंडे फारसी बोलें और ई देवी बुद्धरत के सेत।

लिखे लोग बसा करते हैं उसी प्रकार मुसलमान प्रगासक और अरबी फारसी भाषा भाषी लोग अरबी फारसी की सहायता और विशेषणों के साथ साथ स्थानीय भाषाओं की प्रियाया का प्रयोग करते रहे होंगे। सम्भवतः, ऐसे ही प्रयोगों से प्रभावित होकर अलाउद्दीन खिलजी ने दिन प्रति दिन प्रयोग में आने वाले खड़ी बोली के शब्दों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह कराया था जिनका प्रयोग दिल्ली के शाही महल के बाहर लगने वाले 'उद्-ए-मुअल्ला' (शाही सैनिक बाजार) में होता था। इसी उद्-ए-मुअल्ला की भाषा को शाहजहाँ के समय में उर्दू की सहायता का गयी और मुगल बादशाह जकर के राज्यकाल में इस, फारसी के साथ राज्य भाषा मान लिया गया। इसकी लिपि अरबी थी सहायों और विशेषण अरबी फारसी के और नियमों खड़ी बोली की।

इस प्रकार, भारतीय सभ्यता में इस्लाम के प्रवेश से भाषा सम्बन्धी दो विकास प्रक्रियाएँ उत्पन्न हुई। एक विकास प्रक्रिया में खड़ी बोली का आधार में, राज, व्यवस्था और भोजपुरी के मिश्रण से हिंदी का विकास हुआ जिसकी लिपि देवनागरी थी और जिसमें सभ्यता के सतत गमों की अधिकता थी क्योंकि जिन भाषाओं के मिश्रण से उसका जन्म हुआ था उनके उद्गम क्षेत्र सभ्यता में थे। दूसरी विकास प्रक्रिया में जन्म हुआ उर्दू का जिसमें अरबी फारसी के सतत गमों का अधिकता से प्रयोग होता था और जिसका भूवाक अरबी फारसीपन की ओर अधिक था। खड़ी बोली के आधार पर एक शब्द ने हिंदी का रूप लिया और दूसरी ने उर्दू का। हिंदी की अरबी फारसीयता शब्दों के कारण उर्दू सभ्यता प्रतीक है अरबी फारसी के भारतीयकरण का यद्यपि इस भारतीयकरण पर अरबी फारसीपन का एक जबर-दस्त आवरण पड़ा रहा है। कुछ भी हो हिंदी उर्दू के विकास का धीमे-धीमे संगमनाम के ही होना हुआ। उर्दू का जन्म उत्तर में उर्दू मुअल्ला की भाषा तथा जुना पक्षेत्रों की जिसमें खड़ी बोली, पंजाबी, मारवाड़ी और फारसी के शब्द थे, के रूप में हुआ, किन्तु उसका पासत पापन दक्षिण में हुआ। निम्न की ऐसी बात है कि उत्तर से गये हुए मुसलमानों के साथ खड़ी बोली दक्षिण गयी और उर्दू का रूप लिया। उनका यह मान्यता है कि उर्दू का जन्म उत्तर में न होकर दक्षिण में हुआ है। दक्षिण में उर्दू को प्रोत्साहन एक उस मुस्लिम भाषा के रूप में मिला जो उर्दू से गयी थी और निम्न माध्यम में उत्तर तथा दक्षिण के मुसलमानों के बीच का आदान प्रदान कर सकते थे। दक्षिण में विष्णो मुसलमानों के गमनाम में नहीं आते थे जिन गमनाम में उत्तर में जाते थे। दक्षिण में, उत्तर की प्रयोग, दृष्टांतों की कटुता कम थी। दंगलरन दक्षिण में उर्दू में वह अरबी फारसीपन नहीं था जो उत्तर में था। दक्षिण का उर्दू में उर्दू के अर्थों की अपेक्षा अधिकता थी। यह बात ही हुआ जो बंगाल में भाषा के माध्यम से मुसलमान सभ्यता भाषा के अधिक समीप रहे।

एक मत यह भी है कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से ससृष्ट और हिन्दी के शब्दों का निकाल कर हुआ है। प्रारम्भिक उर्दू में जब तक ससृष्ट शब्दों का प्रयोग होता रहा, तब तक उसका नाम हिन्दी हिन्दी या रेमता रहा। यह कहना कि उर्दू का जन्म खड़ी बोली में से ससृष्ट शब्दों का निकाल कर हुआ या हिन्दी का जन्म उर्दू की देवनागरी लिपि में लिखकर और उसमें ठूम ठूम कर ससृष्ट के तत्सम शब्दों के भजन में हुआ है भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया की सामाजिक परछाई की दृष्टि से करना है। वास्तविकता यह है कि जहाँ जहाँ असा कि सम्मान और रहीम स्तम्भाना की कविता में मिलता है भारतीय भाषा का आस्थान करना कविता का ध्येय रहा, व और उनको भाषा ससृष्ट और हिन्दी के अधिक समीप रहे है और जहाँ ध्येय यह था कि भाषा भारत की हो और नाव अरब या फारस के, बर्त, कवि चाहें वह हिन्दू हो या मुसलमान, भाषा भाषा प्रतीक स्थापना और स्मृति अरबी-फारसी के अधिक निकट रहे है। इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी हैं वे परिस्थितियाँ जिनमें उर्दू हिन्दी का जन्म हुआ।

उर्दू का जन्म देने वाली परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार थीं भारत में विजय तथा उत्तरी भारत में, विजयी मुसलमानों का आना जारी था। ये मुसलमान अक्सर फारस में जाते थे और इस कारण अरबी लिपि तथा अरबी फारसी भाषाओं से अधिक परिचित थे। अरबी इस्लाम की भाषा थी और उसमें हटन का मतलब था इस्लाम में हटना। फारसी उर्दू ससृष्ट की भाषा थी जो अपने का भारतीय नहीं मानता था और अपने मुस्लिम समूहों की अपात अपने का अधिक मुसलमान मानता था। जहाँ, उर्दू का अपनी भाषा फारसी में अधिक स्थापित था। दूसरी बात, राज भाषा हान के कारण फारसी अधिक भाषा थी और ग्रीष्मानी विचारों में आत-आत हान के कारण इस्लाम साहित्य विरोध तथा साम्य साहित्य अपवादित अधिक आवश्यक था। इस अरबी-फारसी भारत में इस्लाम का प्रतीक बन गयी और अरबी सेवा परम्परा इस्लाम की आत्मा। उधर, तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में, अरबी फारसी विरोधता फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता थी। जहाँ भारत में उर्दू का जन्म हुआ अरबी फारसी के भारतीयकरण के प्रयोग और भारत के मुसलमानों का एक भाषा के रूप में, किन्तु उर्दू मुसलमानों की उर्दू प्रसार भाषा न रहा जिस प्रकार फारसी भारत में मुसलमानों की ही भाषा थी। उर्दू हिन्दुओं ने भी उतना गंभीर जिनता कि मुसलमानों ने। फिर भी अपने भाषा, भाषा प्रतीकों तथा साहित्यिक शक्तियों के प्रयोग में उर्दू अरबी-फारसी, विरोधता फारसी, के अन्तर्गत से बाहर न निकल पायी। इसी कारण यह कहा गया है कि उर्दू बहुत भारतीयता फारसी का फारसीकरण हिन्दी है।

उर्दू हिन्दी की, एक शब्दों है जिसमें अरबी-फारसीपन का पूर्ण रूप है और जो भारत का सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में दृढ़तर होता रहा है

पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदू उद्गम का जन्म लगभग एक मास हुआ और उनका प्रारम्भिक पालन पाषाण युगमाना के ही हुआ हुआ। अरबी फारसी व भारतीय-करण की आवश्यकता के कारण ही उद्गम का जन्म हुआ। इसका सस्य बड़ा प्रमाण है प्रारम्भिक उद्गम सभ्यता का अपभ्रंशित अधिक होता। अरब के बाद उद्गम इस्लामी कट्टरता बढ़ती गयी उद्गम अरबी फारसीन बढ़ता गया। शास्त्रज्ञ के ही राज्यवात में अरबी लिपि में लिखी जाने वाली भाषा गली का उद्गम की प्रजाति की गयी। अरबों के राज्यवात में, इस्लामी कट्टरता के प्रभाव में अरबी-फारसी भाषाएँ इस्लाम का प्रतीक बन गईं और उद्गम पर उद्गम प्रभाव पड़ा। सम्भवतः उद्गम कट्टरता के विरुद्ध होने वाली प्रतिप्रिया के कारण, निवाजी न सत्वा-लीन प्रजासत्त में प्रयुक्त होने वाली फारसी के शास्त्र के सम्प्रति पयाथा का मग्न कर-वाया था। एक समय वह था जब अलाउद्दीन खिलजी न गयी वाली के दैनिक प्रयोग में आने वाली फारसी के अरबी फारसी पयाथा का मग्न करवाया था और उसका लगभग पाच मी यों का निवाजीन दैनिक प्रजासत्त में प्रयोग आने वाली फारसी के शास्त्र के सभ्यता पयाथा का मग्न करवाया था। अलाउद्दीन खिलजी और निवाजी के पास परस्पर विवाहात का पत्त है यद्यपि दोनों के प्रयासा का उद्गम है अरबी-फारसी का नारतायकृत करने का प्ररणा में। अलाउद्दीन खिलजी और निवाजी के प्रयास दस बात का भी प्रतीक है कि अरबी फारसी और सभ्यता का प्रास्तावक होने वाला व अभिजात वर्ग के लोग जा एक आर हिंदू व और दूसरी आर मुसलमान। सारे मध्ययुग में हिंदू और मुस्लिम अभिजात वर्गों में कभी नही गयी कयाति य राजनयिक सत्ता के लिए बराबर संपर्क करते रहे। इनमें से एक का प्ररणामात का इस्लाम और उसका प्रतीक अरबी फारसीन और दूसरे का हिंदुत्व तथा सभ्यता। एक की प्ररणामा का उद्गम था अरब और दूसरे का भारत की भूमि से उत्पन्न हिंदू सभ्यता में। ऐसी दशा में उद्गम का मुस्लिम तथा इस्लाम में सम्मिलित किया गया और हिंदू का हिंदू तथा हिंदुत्व से।

उद्गम का इस्लामी कट्टरता तथा फारसीवादी मरणा का श्रेय मुस्लिम अभिजात वर्ग का ही है। प्रारम्भ से ही मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपने अस्तित्व के लिये लड़ना पड़ा है। भारतीय सामाजिक संगठन में मुस्लिम अभिजात वर्ग का निराश करते हुये हिंदू अभिजात वर्ग का भी अपने अस्तित्व और मरणा के लिये मग्न करना पड़ा है। मुस्लिम शासक काल में यह मरक्षण राज्य में प्राप्त था और राज्य मरणा प्राप्त करने का मुख्य माध्यम था सनानी साह्यिकता। किन्तु भारत में अरबी राज्य की स्थापना के साथ-साथ भारत में अरब अभिजात तथा प्रजासत्त वर्ग का अस्तित्व

हुआ। मुस्लिम अभिजात तथा प्रभावक वर्ग के हाथ में राजनैतिक प्रभाव की जा मत्ता थी उस अंग्रेज अभिजात तथा प्रभावक वर्ग ने दियी गयी। गामन के विशेषी हून काय और दंग का व्यापार हिंदू अभिजात का के हाथ में रहा। अतएव, अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व की स्थापना ज्ञान के साथ साथ, हिंदू अभिजात वर्ग का ज्ञान बढ़ने का मौका मिला, क्योंकि गामन के जिन पक्ष पर हिंदू के व हिंदुओं के ही पास रहे और जिन पक्ष पर मुसलमान थे वे अंग्रेजों के हाथ में चले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम अभिजात वर्ग का अपना अस्तित्व खतर में लिया पड़ा और इस भय तथा नाराजगी से जा विनिवृत्तता उनी वह साहसी कटुता और भाषा के अरबी फारसी पर टिक गयी। सरकारी नौकरियों को पान के लिए उठी नयी प्रतिष्ठितता, स्वयंसेवक और हिंदुत्व तथा हिंदी और उर्दू के मध्य तथा दाद दिवाद में प्रस्तुति हा उठी। अंग्रेजों राज्य-काल का गामनय का ज्ञान भान हिंदू सरकारी नौकरियों में आगे बढ़ गये, गिना में वे मुसलमानों का पीछे छोड़ गये और व्यापार तथा पक्ष ही उनका हाथ में था। स्वयंसेवक गामनय में अंग्रेजों के प्रति बहिष्कार तथा हिंदुओं के प्रति विद्वेष का भाव आया जा हिंदू तन, हिंदी विरोधी विचारों और जा-राज्य में बदल गया।

इस बात के जेनक प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार अंग्रेजी गामनय में मुस्लिम अभिजात वर्ग ने जेनक लिए विन्यासिकता की मांग की, अपने का अंग्रेजों का प्रयत्न किया और स्वयं सफलता में मिलने पर हिंदू तथा हिंदी विरोधी नारा का बुद्ध किया। अंग्रेजों राज्य का स्थापना के पहले, अरबी फारसी और मस्तुत स्वयं अंग्रेज-अलम थे, जिनमें उच्च तथा मध्य वर्ग के लोग ही गिना पान थे। हिंदू मस्तुत तथा अरबी फारसी पक्ष पर और मुसलमान अधिकतर अरबी फारसी। मस्तुत की गिना हिंदू पक्ष द्वारा दी जाती थी और अरबी फारसी की गिना मोरविया या अरबी फारसी ज्ञान का हिंदुओं के द्वारा। जब अंग्रेजों ने जेन-माधारण के लिए स्कूल खाने तो उनका अधिक विराध उच्चरणी मुसलमानों ने ही किया। तब अंग्रेजों को बयामी में गिना कमीशन के समक्ष गवाही देना पड़ा कि अंग्रेजों ने इस बात पर जार दिया कि बंगाल के उच्च तथा मध्य वर्गों मुसलमानों के लिए एक अलग गिना पद्धति की आवश्यकता है क्योंकि इन वर्गों के मुसलमानों बंगाल के बाहर में आते हैं अभिजात वर्ग के मुसलमान हैं। तब अंग्रेजों को एवधान में, सर जेनक अंग्रेजों ने स्वयं बात पर जार दिया कि सरकारी नौकरियों में जेनमाधारण की, बाह्य के हिंदू हैं या मुसलमान न लिया जाय। सर जेनक ने फारसी का विराध किया और स्वयं विचार का विराध किया कि भारत एक राष्ट्र है। बंगाल के मास्मन गामनय में मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों को आरक्षण मान की मांग की और प्रतिपादितता के आधार पर नौकरियों देने का विरोध किया। मुस्लिम अभिजात वर्ग की इसी मांग के प्रवृद्ध में हिंदू मुस्लिम तथा हिंदी-उर्दू की

समस्याओं का जन्म हुआ और इस्लाम तथा उर्दू पर अरबी फारसी की कट्टरता का और भा गहरा रंग बढ गया।

जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो सारे उत्तरी भारत में उर्दू राज्य भाषा थी, जिसे अंग्रेजी में बनाए रखा। सन अठारह सौ तिहत्तर में, बिहार में हिन्दी को भी राज्य भाषा मान लिया गया किन्तु उसका हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने विरोध किया। सन अठारह सौ अठत्तर में जब यू०पी० में उर्दू का अनिवार्य द्वितीय भाषा का रूप दिया गया तो हिन्दुओं ने इसका विरोध किया। उधर बंगाल में अंग्रेजी राज्य का प्रारम्भ होने के बाद से ही, बंगाल का मुस्लिम अभिजात वर्ग अपने लिए बिनापा अधिकारों की मांग कर रहा था जिसमें फलस्वरूप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगाल में मुस्लिम के शब्दों का प्रयोग हो या फारसी के शब्दों का। सन अठारह सौ तिरासी में, जब यह राजधानी निकला कि दक्कनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाय तो मुसलमानों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिन्दी उर्दू की समस्या जार पकड़ गयी। आज समाज के अभ्युदय के साथ साथ, हिन्दी उर्दू की समस्या पचास में भी उठ खड़ी हुयी। मुसलमान राजनैतिक बिनापा अधिकार के इतने पीछे थे कि उन्होंने अपने का धर्म और भाषा के नाम पर एक अलग राष्ट्र समझा। जहाँ जहाँ हिन्दू मुस्लिम समस्या जार पकड़ता गयी, उर्दू पर इस्लामी कट्टरता का प्रभाव पड़ता गया और उर्दू का हिन्दी से अलग एक भाषा माना जान लगा। इस नाम की गणप में एक ओर भारतीय समाज धर्म के नाम पर सम्भवतः विभाजित हो गया तो दूसरी ओर हिन्दी के ही एक रूप पर अरबी फारसी का आभा पड़ता गया¹।

७

मुस्लिम बना और ग्राह्य का भारतीयकरण

मध्य युगीन भारत के कला और ग्राह्य में भी भाषा की भाँति, एक ओर, अरबी फारसी का प्रभाव रहा तो दूसरी ओर, अरबी फारसीकरण के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। मुगल राज्य की स्थापना के पहले के मुस्लिम काल में

1. स्वयं मुसलमानों में ही अरबी फारसीकरण तथा भारतीयकरण को लेकर एक नया आत्मविच्छेद उत्पन्न हो गया। वहाँ रहीम का यह कहना कि 'चित्रकूट में रहि रहूँ, रहिमान जयधनरेण, जा पर विपदा पड़त है सो आवत यदि दै' या हाजिज जालंधरी का यह कहना कि 'भारत माता है दुनियागी, दुनियादे हूँ सब नर नारी, तू ही उठाले मुरली सुबह, तू ही धन जा 'धाम मुरारी' और वहाँ सोदा का यह कहना कि 'पर हो बगिचे गार्ह सुरातान तो गोदा तिरदा न कट' हिंदू की भाषा के जमीन पर'।

हिंदू-वास्तुकला पर इस्लामी प्रभाव के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस काल के हिंदू-मन्दिर और इमारतें हिंदू शिल्पशास्त्र की परम्पराओं के ही अनुसार बनते रहे। सन बारह सौ पचासी में बन हुए कौणाक के मूल मन्दिर और जयपुर के चित्तोरगढ़ पर नाममात्र भी इस्लामी प्रभाव नहीं है। १०० एम० पानिकर की मायता में, इस काल में भारतीय मुस्लिम तथा हिंदू गलियां अलग-अलग विकसित होती रही¹। आग बत्तार, मुगलकाल में, भारत की वास्तुकला पर मुस्लिम ईरानी प्रभाव बढ़ा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में हिंदू वास्तुविद्या का लोप हो गया। विनयकुमार मरहवार के अनुसार अधिकांश शिल्पशास्त्रों की रचना सप्तहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हुई है। मुसलमानों ने भारत में जिन वास्तुकला का निर्माण किया उनका मुख्य आधार भारतीय या किन्तु उमरा नज्दत इरानी थी।

चित्रकला में भी जटिलतर धारणाएँ परम्परागत या यद्यपि उनका चित्रित करने में तथाक ईरानी व। भारतीय और ईरानी चित्र कलाओं के समावेश से, अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। मगोलों में एक जार शास्त्रीय संगीत की प्रणाली चलती रही और दूसरी ओर ईरानी तथा भारतीय संगीत के समावेश से कई राग रागिनियाँ का उत्पन्न हुआ। इस्लाम में संगीत का निषेध है किन्तु सूफियों ने उस साधना का एक माध्यम माना। संगीत का धार्मिक निषेध ज्ञान पर भी इस काल में, मुसलमानों ने संगीत साधना में कुशलता प्राप्त की और उसका व्यापक रूप को जटिल बनाए रखा। मुसलमानों ने भी शास्त्रीय संगीत का शास्त्रीयता और उससे भाव तथा भाषा का यम ही अपनाया जम के उद्देश्य किन्तु न मिले। दूसरी ओर, ईरानी और भारतीय संगीत के सम्मेलन से ब्याल कौत्रागी और गजल श्रव्यादि राग और छन्द निकले। कौत्रागी और गजल में फारसी भाषा का रागबद्ध करने की परम्परा बनी और शास्त्रीय संगीत में परम्परागत हिंदू भाषा का। एक ओर, रजाव मरोद, दिग्गज और ताउम जस बाद्ययंत्र मुसलमानों से आए तो दूसरी ओर, बाजा और मृग भी चलने रहे। मुसलमानों ने बोग्रा और मृग का भी यम ही अपनाया जैसा उन्हें हिंदुओं ने अपनाया था। बोग्रा के आधार पर, मुसलमानों ने तितार का आविष्कार किया और मदन के आधार पर तबल का। एक ओर शास्त्रीय राग और उनके प्रकारों की परम्परा चलती रही तो दूसरी ओर महफिजों में होने वाले नय की परम्परा अस्तित्व में आई। कलाओं के मध्य में एक ओर, शास्त्रीय परम्परा चल रही तो दूसरी ओर शास्त्रीयता पर आधारित भारतीय मुस्लिम परम्परा जिनमें बहुत हिंदू प्रभाव अधिक था और बहुत अरबी अथवा ईरानीपन का। तैसा कि विनय कुमार मरहवार ने वास्तुकला तथा हस्तकला के बारे में कहा है साधारणतया, मुसलमानों के विषय में यह कहा जा सकता है कि अरबी और ईरानी प्रभावों का आम सान औरनी हुयी कला विषयक हिंदू विचारधारा, मायतायें और परम्परायें पनपाएंगे तब खली जागी हैं²।

1 पानिकर, के० एम० सर्वे ऑफ इण्डिया हिस्ट्री पृष्ठ 124

2 मरहवार, विनयकुमार यही पृष्ठ 47-77

बीदहवा अध्याय इस्लामी सघात से हिन्दू-संस्कृति-करण

भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क का प्रथम ऐतिहासिक सम्बन्ध सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारावाहिका का सम्पर्क है—व धारायें जिनमें सात्मीकरण की क्षमता रही है। अपने ऐतिहासिक विकास में, दोनों, अलग-अलग सामन्त-मरचनाना सन्निहित होने के कारण, एक ओर, समानांतर रही और, दूसरी ओर, परस्पर सपर्क में आने पर भी, अपना-अपना संस्कृतिकरण करती रही। जसा कि पिछले वृत्त और विश्लेषण से स्पष्ट है भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व का सम्पर्क से संस्कृतिकरण की दो प्रक्रियाओं का साथ साथ जन्म हुआ—एक अरबीवादी तथा पुनरुत्थानवादी साम्प्रतिक कट्टरता की ओर दूसरी इस्लाम के भारतीयकरण का जिस पर हिन्दुत्व (आगम नियम) की छाव है। इस्लाम में भारतीयता का प्रस्फुटन घरातल में हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुत्व में भी दो प्रक्रियाएँ चली हैं—एक, साम्प्रतिक कट्टरता और पुनरुत्थान की ओर दूसरी इस्लामी प्रभावा का आत्मसात करत हुए हिन्दुत्व में इस्लामी संस्करण का जन्म देने की। हिन्दुत्व में भी इस्लामी संस्करण का प्रस्फुटन घरातल में हुआ है। हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क में भारत में संस्कृतिकरण का जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उसकी चार धारायें हैं—एक, इस्लामी अरबीवादी, पुनरुत्थान और कट्टरता की

दूसरी, इस्लाम के भारतीयकरण की, तीसरी हिंदू पुनरुत्थन और बटोरता की, और, चौथी, हिंदूत्व में उत्पन्न होने वाले इस्लामी सांस्कृतिक संस्करण की।

दूसरी और चौथी प्रक्रियाओं के स्तर पर, हिंदूत्व और इस्लाम का समन्वय हुआ है, जिसका एक रूप है इस्लाम में हिंदूत्व के समन्वय का, और दूसरा, हिंदूत्व में इस्लाम के समन्वय का। अतः, इन समन्वय से कोई एक भारतीय सांस्कृतिक-संस्करण न निकल सका क्योंकि हिंदूत्व और इस्लाम साथ ही साथ बटोर पुनरुत्थनवादी भी रहें हैं। राजनैतिक प्रभुता से सम्पन्न इस्लाम से प्राण पान के लिए, हिंदूत्व ने उद्विकासी पुनरुत्थन का आशय लिया जिससे हिंदूत्व के ऐतिहासिक उद्विकास की शृंखला में गहरी दगल, भविष्यवादी और पद्य-परम्परा के रूप में अनवरत बढ़ती चली गई। इस्लाम की उत्प्रेरणा से मध्ययुगीन भारत में हिंदूत्व का पुनरुत्थनवादी विकास हुआ। ताराचन्द्र जय इतिहासकार इस पुनरुत्थन की हिंदूत्व में इस्लाम की प्रतिरूपि मानते हैं और विनयकुमार सरकार जैसे विद्वान हिंदूत्व का सतत उद्विकास। किन्तु ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं। उत्प्रेरक की प्रतिरूपि नहीं हो सकती विरोधवादी कहा जहां पराजित संस्कृतिक अपन में अंतर्निहित स्रोतों के पुनरुत्थन का आशय ली है। पुनरुत्थनवादी उद्विपान बिना पराजित अवस्था और उत्प्रेरणा के नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन हिंदूत्व का मारा विकास पुनरुत्थनवादी ही है क्योंकि ऐसी भावना का अर्थ होगा कि इस काल का हिंदूत्व एक आवत संस्कृति रहा है। सारी समस्याएँ तब हल होती हुई जान पड़ती हैं जब सांस्कृतिक सम्पत्ति की परिस्थिति गत्यात्मकता पुनरुत्थन और उद्विकास पर एक साथ ध्यान दिया जाए। सारा प्रश्न इस्लाम बनाम हिंदूत्व का नहीं है। प्रश्न है हिंदूत्व और इस्लाम के सम्पर्क में उत्पन्न परिस्थिति में, हिंदूत्व में आविर्भूत संस्कृतिकरण का प्रक्रिया के योगदानों के विवेचन का।

२

हिंदू-संस्कृति में कुछ इस्लामी योगदान

बाग़मूरा में अवधन और पाजामा अंगरखा में शूरी और मुरया, हिंदू प्यजामा में शूरी और शूरी और बिरिवानी और मसाला और बज्रनों का बनाने की कला का हिंदू-संस्कृति में समावेश हुआ। मुस्लिम बादागाह का बाग़मूरा पर आधारित बाग़मूरा का हिंदूत्व में अनुष्ठातिक समावेश मिला। अवध में घर का पागार (कामगार जूत के साथ जामा और मोर) मुस्लिम बाग़मूरा की पागार की नक़ल की रूपता है। तालालान मनारजन के प्रकाशना में उत्तर, चौगान और ग़रीबा मुस्लिम माना के पागार हैं। हिंदूओं का शीर का खेत मुस्लिमों में पचासी हो गया।

अशात तथा देगातर की धारणायें, तमपत्री बनान की ताजत पद्धति ताजक और रमलगासत्र भारतीय ज्योतिष म मुगलमाना क यागता हैं । जरबी-पद्धति क ताघार पर, महाराजा ज्यसिंह न हिंदू पचांग का सुधार करव िली तथा जयपुर का वष सात्राओं का निर्माण कराया ।

हिंदुओं म परने की प्रथा का श्रीगणेश पठाना क प्रभाव क कारण हुआ । इस विषय म दा सम्भावनायें हैं । या ता हिंदुओं न परना प्रथा की मुगलमानों स यथावत लिया है या मुसलमानों र हिंदू नारिया की रक्षा करने क लिए परना प्रथा को अपनाया । यामीन क अनुसार तरालीन मुगलमानों म तारी स्रहरण एक उच्च प्रसार का जिहाद माना जाता था और इस अपराध म रणित योि का प्रम का सहोद समता जाता था^१ । हा सक्ता है कि इस जिहाद से श्राण पान के लिए ही हिंदुओं म परदा प्रथा का श्रीगणेश हुआ हा । इस सद्भ म एक विचारणीय तथ्य यह है कि परदा प्रथा उच्चवर्णी हिंदुओं म ही पायी जाती है और वठ भी उत्तर म । परना प्रथा, इस कारण हिंदुओं म सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक गानी जानी है । जा तानिया उच्च सामाजिक स्तर पान का प्रयास करनी हैं वे शास्त्रणारी समवाण्ड क साथ, परदा प्रथा को भी अपनाती ह । अत, हो सक्ता है कि उच्चवर्णी हिंदुओं ने, सामाजिक प्रतिष्ठा क पत्तीन क रूप म परना प्रथा का अपनाया हा ।

३

साहित्य मे इस्लामी उत्प्रेरणा

मध्ययुगीन भारत क साहित्य म अनक विगपतायें एा साथ उगड पडा जिह साधारणतया इस्लाम की उत्प्रेरणा का परिणाम माना जाता है ययपि इन विगपताओं म गायन ही काई ऐसी विगपता हा जो पढ़ने स विद्यमान न हा या जिन इस्लाम स हिंदूवृत्त करके न अपनाया गया हो । इस्लामी उत्प्रेरणा क प्रभाव म भारतीय साहित्य की इन सुप्त या गीण विगपताय पुन जाग्रत हुयी या प्राधाय पा गयी । सूफी त्रिचारधारा की उत्प्रेरणा से विर अनुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रतर हा गयी और दृष्टीकियता की प्रधानता मिली । यह सूफीवाद का ही प्रभाव ह कि हिंदी साहित्य की एक परम्परा म जिसक प्रणना सत महात्मा हैं, मत्यु की काम्य और विकास की सोढी माना जान लगा । सूफीया की द्रव मजाजी की धारणा ने पारिव प्रम की अभिव्यक्तियों को प्रात्माहन दिया ता स्व स्व हकीकी की धारणा ने सगुण क प्रति रस्यवानी अनुभूति की अभिव्यक्ति को । पारिव तथा रहस्यवानी

प्रम, जिसका मूल सान योग है, की अभिव्यक्ति की इही परम्पराओं ने, जागे चलकर
अपेक्षी काग म पलायनवादी मनावृत्ति व प्रभाव म छायावादी और रहस्यवादी
अभिव्यक्ति की परम्पराओं का जन्म दिया । किन्तु समादि कबीर की अभिव्यक्तियों
स स्पष्ट ह मूर्तीवादी अभिव्यक्तियों का दात, यम और उ य भारतीय
अभिव्यक्तियों म स्पष्ट व प्रस्तुत हुआ गया । कबीर न दूसर का पति और अन्त
का बहुविध माना है कदाचि भारतीय परम्परा म, प्रम की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति
नाम का माना गया है । कबीर म मूर्तीवाद की 'पता की अनुभूति का योग्यता की
अनुभूति म यवन किया है क्योंकि उनका पता पना की स्थिति व स्थिति है जहाँ
न व्यक्ति है, न दूसर न आत्मा और न परमात्मा—बड़ा बल जाग व अगारी के
समाप्त पान वृत्ति की गुप्ता है^१ जिसमें केवल 'साहम रह जाता है वम ही जहाँ
तप म सान का विचार नष्ट हा जाता है और बबल सारा सान ही गेप जाता है
यह हठयोग का मूर्तीवाद पर अभ्युदय का कारण है जिसका प्रभाव म मूर्तीवाद, मूर्तीवाद
न रहकर हठयोग और वृत्ति हा गया है ।

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य विवेचनका हिन्दी और बंगाल साहित्य, म
शृंगार की जा उत्तिगद्यता बनी उस विधी भी समा म समा मी प्रभाव का एकमात्र
परिणाम न माना जा सकता है । भारत का साहित्य म इस्लाम का प्रभाव का प्रवे
के पहले शृंगारिक अभिव्यक्तियों की परम्पराओं की जा कानिदास, जयदेव और
पद्मिनाराज जगन्नाथ का रचनाओं म विद्यमान है । शृंगारिक अभिव्यक्ति की
परम्पराएं इस्लामिक भी है और पारसीक भी । भारत म, इनकी इस्लामिक
पर पारसीकता का आवरण बना हुआ है । कुछ लोगो की यह भी मान्यता है
कि शृंगारिक अभिव्यक्ति की म परम्परामें मध्य-मध्य म पद्मिनाराज जगन्नाथ
की रचनाओं के माध्यम म, हिन्दी की रीतिकालीन साहित्य म आ गयी । इस कथन
की पुष्टि इस तथ्य म होती है कि हिन्दी की रीतिकालीन साहित्य म शृंगारिक अभिव्यक्ति
की जिन लक्ष्मियों का प्रभाव किया गया है व किन्ती ने समा में न ता अर्थात्
कही जा सकती हैं और न दुःख । व विगत भारतीय म और उम काव्य साहित्य

- १ यह परम्परा सतमा काग तक चलती रही है । पान में अन्त की वृत्तियों में
अपने की सारी जानकर ही उस विराट की प्रकृति में अनुभूति की है (देखिए
पल्लव में मोनिसमन्त्र) । अर्थात् 'हस्यवादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में
प्रसाद में भी इसी परम्परा की अपनाया है जहाँ गणि मय पर घुमट दाते
अक्षर में दीप छिपाए, जीवन की गायत्री में कीलूह से तुप आए, (प्राम्) ।

- २ भागिरथी साहज में हरि हरि परम अगार ।

बहिरा जरि बचन नदा बीच भया समार ।

में निर्धारित श्रमियों के माय माय लाव श्रमियों का प्रयोग हुआ है¹। इस काल में हिंदी और बंगाल में प्रस्फुटित होने वाली श्रृंगारिय अतिशयता में तीन बातें हैं— भागवत पुराण गिद्धा का वामाचार तथा सत्रवाच और मूफीवाच। हिंदी और बंगाल साहित्य में अतिशय श्रृंगारियता का नाम इस नाम का वही तब प्रभाव है जहाँ तब मूफीवाच के माध्यम से उसने एक उ प्रेरणा का काय किया और जिसके पत्ररूप तत्कालीन भारतीय साहित्य में श्रृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्परा सामान्य रूप से आयी। इहोक्ति और प्रवर्तिका की हान के कारण इस नाम में मुमामाना में इहोक्ति और प्रवर्तिका की गलायति का प्रात्याहित किंग जिसके पत्ररूप पारलौकिकता में परिवर्तित भारत का पारलौकिक श्रृंगारिक अभिव्यक्ति का परम्परा का मुसमाना में इहोक्ति का जोर माइ श्रिया और उस पत्रमनाजी (इहोक्ति प्रेम) के प्रतिशय पुट में भर दिया। हिंदी भाषा की साति श्रिगी-साहित्य की प्रारम्भिक श्रृंगारिक अभिव्यक्ति का चालन चालन मुमामाना के हाँ द्वारा हुआ। नायिका भद्र पर प्रथम पुस्तक रहीम न श्रिया और सबसे अधिक नायिका भद्र सयद गुलामनधी रसगान न ही बताए हैं।

यह इस नाम के उ प्रेरण प्रभाव का ही परिणाम है कि हिंदी साहित्य में एक साथ जनक भाव धारामें पत्र निकली। एक धारा है इहोक्ति जानक के अभिव्यक्ति की जिसके प्रतिनिधि गुगुरा और रसगीन हैं— दूसरी धारा है रगीन आलम

1 उदाहरण के लिए बलिष्ठ विहारों के दोहे —

आज मिले तो भली करी भले बन हो साज ।

पलन पीक जजन जघर धरे महाउर भाल ॥

और

नहि पराग नहि मधर रस नहि निवास यहि पाल ।

जली कली ही सा यध्या आग की हवाल ।

पहले दोहे में लात सम्बोधन है श्री कृष्ण के लिए और उनके पलक पर पीक अधरों पर जजन और भाल पर महाउर होने की अभिव्यक्ति भारतीय श्रृंगारिक साहित्य की रुढ़ि है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में जली और कली का सम्बोधन भी भारतीय साहित्य की रुढ़ि है। भारतीय साहित्य में पुष्प और भौर के प्रेम को एक जालम्बन रुढ़ि के रूप में प्रयोग किया गया है। ईरानी साहित्य में यही अभिव्यक्ति बलबल और गुलाब के जालम्बन से यवन की गयी है जिसका हिंदी की अपेक्षा उद्ग में अधिक प्रयोग किया गया है—दिनकर

2 गोरी सोव तेज पर, मुख पर डारे केस ।

चल खुसरो घर अपनी, रन भई सब देस । सुसरो

अमी हलाहल सब भरे श्वेन श्याम रतनार ।

जियत मरत शुकि शुकि परत जिहि चितवत इकवार । रसलीन

घोर रमयान के विरहानुभूति की^१, तीसरी है मानवतावादी निगुनिया सत्ता की धारा जिसके प्रतिनिधि हैं कबीर, दादू और नानक जीर चौथी है प्रभावमान पर प्रबंध काय लिखने वाले जायसी जस कवियों की। इन कवियों में अरबी फारसी के भाषा की अभि व्यक्त नहीं हुयी है। इनका कविरूप और कवित्व अरबी फारसी के भाषा में नहीं है। इनके द्वारा प्रयोग भलाय जान वाला छन्द जालम्बना, उद्दीपना और त्रिपय वस्तु की अभिव्यजना के ग्यान भारतीय परम्पराओं में हैं। जायसी सूफी कवि है पर उनका प्रभावमान भारतीय है और उद्दाल चौपाई और दादू का उसी प्रकार प्रयोग किया है जिस प्रकार तुलसीदास ने किया है। मत प्रचार के लिये प्रभावमान के लिये की परिपाटी जायसी में पहले उन कवियों में मिलता है। रमयान का श्रीकृष्ण प्रेम प्रसिद्ध है और श्रीकृष्ण का उद्गार विरह और शृंगार की अभिव्यक्ति का आश्रय बनाया है। रहीम ने हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं के माध्यम में अपने विचारों का अभिव्यक्ति की है^२। निगुनिया सत्ता पर, सूफीवाद के साथ साथ, भारतीय परम्पराओं की जबरदस्त छाप है। इस लिये में विशेष विचारणीय लक्ष्य यह है कि ये सभी कवि प्रेम और विरह की अनुभूति से सराबोर हैं जो सूफीवाद के उत्प्रेरक प्रभाव का परिणाम है। सम्भवतः यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि मध्ययुगीन भारत के साहित्य में विप्लव हिन्दी में एक गहन अभिलाषा के रूप में, अन्ततः प्रमानुभूति के रूप में विरहानुभूति का प्रायः पड़ा गया। अन्ततः प्रमानुभूति के रूप में विरहानुभूति और उनमें उत्पन्न गहन अभिलाषा की कवित्वमय अभिव्यक्ति ही रामायण काय परम्परा है जिसका लक्ष्य में श्रीगणेश सूफीवाद के प्रभाव में हुआ और जो, आगे चलकर, वर्तमान काल में, छायावादी रहस्यवादी और प्रयोगवादी अभिव्यक्तियों में प्रत्यक्षित हुआ।

हिन्दी लघु कथा में अहा, तब और शृंगारिकता की कथा, दूसरी बार, उनमें लघु भारत की अन्य वर्तमान भाषाओं में मानवतावादी अभिव्यक्तियों की बाढ़ का आगम। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में आत्म-याति का लक्ष्य किया गया, हिन्दु और इस्लाम की कट्टरवादिता की अंतना की गयी, एक-दूसरे की

१) मनोराज माली की उपज कहि रहीम नहि जाय ।

कह रघुभा के उर लगे, पूरु रघुभा उर आय ॥ रहीम

जा यल हो-हो प्रहार अनेक न ता यल फाँकरी दडि कुँदो कर ।

जा रगता सो करी बहुत मानन मा रसना सो खरित्र गुँदो कर ।

आलम जीन सो कृजन में करि बलि तहाँ अब सोय गुँदो करे ।

ननन में जे सदा बसत निनको अब बान कहानो गुँदो कर । आलम

२) कमला किर में रहीम कहि, यह जानन सब कोय ।

पुरुष पुरानन की सपू बयो में बबला होय ॥

विचारधारा का पुनर्स्थापन किया गया और भविष्य माग में ईश्वर तक पहुँचने पर जोर दिया गया। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में उम्मीद और आशा की लहरें उद्वेलित हो उठी, जिनका श्रीगणेश वदिवचन में ही हो गया था कि तु तिम महात्मा बुद्ध ने प्रणयता प्रदान की थी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में प्रणयता भी माग की जाति की रक्षा का निम्नतम स्तर में लक्ष्य था। नग्न म कामा, भराठी में मोक्षदर, गायत्री और तुम्हारा दयालु म चतुर्थ पत्र में मानव और हिंदी में फ्योद, दादू और रत्नाग इत्यादि सत्त रवि इन अनिव्यक्तियों का प्रणेता हैं। इन्होंने मानव मान की समता पर जोर दिया। ईश्वर का दया का आकार माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर सब समी पहुँच सान है। उपनिषद् में प्रतिपादित मान-माग का स्थान पर उद्धान भक्ति माग पर जोर दिया है। मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता सत्त रवियों ने जाति तथा वर्ण व्यवस्था का हिन्दू धार्मिक विचारों पर जोर दिया और हिन्दू समाज का यह रूप देने की माग की तो इस्लाम में मिलती है। इस कारण कि मुगलिया सत्त-रवियों द्वारा पया का समान इस समय का प्रमाण है।

ये मानवतावादी रवि बस्तुतः उस सामाजिक जाति का प्रणेता थे जिसका सत्त रिवुत्व में विद्यमान थे कि तु उन तत्वों का एक साथ उभारने वाली उत्प्रेरणायें इस्लाम में थीं। जसा कि पहले कहा जा चुका है इस्लाम का सम्पर्क न हिन्दू में दा प्रकार की प्रतिक्रिया का जन्म दिया—एक, समन्वय का और दूसरी समन्वय के साथ माग पुनर्गठन, पुनर्स्थापन और सुधार का। इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रवाह था, किन्तु हिन्दू एक समन्वयकारी और बार बार पुनर्गठित और सन्तुष्ट होने वाली ऐतिहासिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया। इस्लाम का प्रगतिवादी प्रवाह निहित था उसकी समता की भावना, निराकारा एकेश्वरवादिता और सरलता में। इस्लाम का मानववादिता ही उसकी शक्ति थी। यह भी कहा जा चुका है कि इस्लाम का सबसे अधिक प्रसार हुआ था हिन्दू समाज के निम्नस्तरीय में। सम्भवतः यही कारण है कि हिन्दू समाज के निम्न स्तरीय ही समता, निराकारा एकेश्वरवादिता, भक्ति माग और मानववादिता की माग आयी। इसी स्तर पर यह विचार पनपा कि न कोई उच्च है न निम्न, न कोई ब्राह्मण है न गूढ़, न कोई हिन्दू है न मुसलमान (यदि हैं भी तो वे एक हैं) और अल्ला तथा राम एक हैं—वे निराकार में समाए हुये हैं। प्रेम ही मान का माग है।

४

नविन प्रादोन्नत सामाजिक संस्कृति का आधार

अविन तथा प्रपत्ति की धारणा हिन्दू धर्म में पशु में विद्यमान थी। गीताकार नरक, ज्ञान और अविन का समाचार समस्त, निष्कामता और अविनवत निम्नवर्ण में करके, जिस जीवन ज्ञान का प्रतिपादन किया है उसमें अविन की प्रपत्ति का सहज भाग का रूप में प्रस्तुत किया गया है। विन्तु इस्लाम की उ प्रेरणा में अविन भाग का प्रस्फुटन एक सामाजिक आन्दोलन का रूप में हुआ जिसका एक ही प्रातिहार और सुधारवादी है और दूसरा कट्टर पनहनयनवादी तथा परम्परावादी। पहले का प्रणेता प्रसिद्धिवादी सत जिज्ञान का रूप में भजान्नी मण्डन का मिथ्यात्व का हिंदूकरण किया और दूसरे के योग अविन का प्रणेता त्रिनेत्र आगम निम्न परम्परा का यथावत पुनर्स्थापित करने पर जार दिया। विन्तु अविन का गालन के इन दोनों रूपों का आधार हिंदू परम्परा है। प्रातिहार सुधार की भाषा का दंग बाल के अनन्तर कार्यवित्त करने तथा ब्रह्म परम्परा का समयानुसार निर्वचन करने और आगम का उच्चम आत्मसात करके, ब्रह्म परम्परा को पुनर्स्थापन की परम्परामें हिन्दुत्व में पड़ ही आ चुका था। बुद्धवाद यदि एक बार सुधारवादी आन्दोलन है तो, दूसरी धारा, ब्रह्म परम्परा का 'पाप' और मृगयितृत्व नव निवचन का प्रयास भी। हिन्दुत्व में लौकिक अलौकिक का विभेद नहीं है। हिंदू परम्परामें गान्धावत है और गान्ध अतिवचनीय नहीं है। वण और जाति समानान्तर है परस्पर विभेद भी है और एक दूसरे के पूरक भी। गान्धि जहां वण नम पर आधारित है और जाति जम पर, वही वण जाति की कठोरता का समुनयन भी है। स्मृति परम्परा के पीछे समयानुसार हिंदू परम्परा का सुधार और पुनर्स्थापन का ही परम्परा है। हिन्दुत्व एक साथ कट्टरवादी भी है और सुधारवादी भी। गान्ध का उत्प्रेरणा स हिन्दुत्व में अविन आन्दोलन का जा प्रस्फुटन हुआ, वह कट्टरवादिता, पनहनयन तथा पुनर्स्थापन की ओर भी उन्मुख है और समाज-सुधार आन्दोलन की ओर भी।

सम्भवत इसी कारण अविन आन्दोलन के माध्यम से यदि एक ओर प्रातिहार सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रस्फुटन हुआ तो दूसरी ओर, हिंदू सामाजिक परम्परा का पुनर्निवचन करने और उच्च समयानुसार गान्धावन सामाजिकता प्रकाश करने के पुनर्स्थापन का प्रयास हुआ। प्रातिहार सामाजिक सुधार की भाषा के पीछे बौद्ध और मिथ्यात्व की परम्परा थी, तो हिंदू समाज के पुनर्स्थापन के पीछे सम्भवामि युगे युग और स्मृतियां तथा पुराण की परम्परा।

1. विभिन्न माध्यमों के लिए देगियों की ओर बतकर द्वारा रचित एन एन आन हिन्दुधर्म।

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान दिया गया कि जातिव्युत्पन्न व्यक्ति पुनः जाति में आ सकता है। वास्तव में इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू-समाज में जाति-राम में मानी गयी है और जातिव्युत्पन्न व्यक्ति के लिये शुद्धि का भी विधान रहा है और आज भी है। हा यह अयदय कहा जा सकता है कि इस्लाम में मिलन वाली उत्प्रेरण, व कारण, इस विधान का भी स्तर। के लिये गाम्भीर्यपूर्ण कर दिया गया। किन्तु इस बात में दृग्गम भी महत्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण व छायावादी। या इस प्रकार निश्चयन और यथन दिया गया कि उक्त माध्यम में समाजशास्त्रागुमार प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आचार्यों की शास्त्रगत प्रामाणिकता दूर उह पुन मर्यापित किया जा सक और तत्कालीन हिन्दुत्व का एकीकृत करके उसकी रक्षा की जा सक। राधा, गायी और कृष्ण व माध्यम में तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियाँ में परिणत हो गयी। राधा गायी और कृष्ण तत्कालीन जनराय से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उत्पत्तीकरण व प्रतीक हो गये। यही से राधा का महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतन्त्र विर अभिलाषा व प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काय में त मय कर दन मात्र गीता की प्रधानता बढ़ी तथाकि उनका उद्देश्य मत प्रचार में त, सामाजिक जादुता मात्रा पार्लोकि प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर लाना है। अपा सामाजिक सामूहिक सन्ध में राधा और गायिका की विरहानुभूतिमय कृष्ण काय बबल स्व मजाजा से इधर हकीकी की ओर वाली धारणा की प्रतिवृत्ति नह। है—यह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रपत्ति की भावना का एक रह रूप है जिसमें सामूहिक निररता उत्पन्न होता है¹। निराकार नानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोत्साह से उत्पन्न हुमानुभूति की वस्तु है। जन नायक वान का क्षमता साकार में है न कि निराकार में। तस बात की साकार। मुम प्रवृत्ति एक प्राणायाम

-
- 1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजों साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब जीवोक्ति काति और तज्जनित आर्थिक प्रति योगिता और व्यक्तिवादी प्रवर्धा के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाय में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुन इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी उसे विचारों से ओत प्रोत ह। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुम भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और धकात पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निम्न रहकर मानसिक मुरझा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

मुसलीमान ने रामायण के प्रबंध बाब्य द्वारा राम के जिस रूप का धारणा किया है वह जनारण और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के जिये सभी राममय हैं। चाहे काइ गव हा या शक्ति अन्तर्गतता उन राम तब ही पहुँचा है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मनि परित्यज मामक परण वज'। गीताकार ने सभी कुछ टूटणमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक प्रकार निराकार तथा पानपाय का दगा है ता दूसरी ओर, माकार विनयाग तथा कम माग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, पान तथा भक्ति और कम तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिन्दू समाज का पान तथा कम का स्तर। पर पकीकृत करने का। गीताकार ने पान, भक्ति और कम मागों का एक समन्वय में गाकर हिन्दू समाज के आधार का विस्तार कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने सभी परम्परा का पालन किया। अतः बचल कहना है कि उन्होंने गीता के धृष्टि के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और पानमार्गी हान पर भी उन्होंने भक्तिमाग का ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमाग जन मुक्त है। तुलसी दास ने पालन विचार और साम्प्रदायिकता की भूमना की। तथा कुछ राममय मानकर एक ओर हिन्दू समाज के पकीकरण पर धार दिया ता दूसरी ओर, राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार आत्म परिवारिक मन्त्र का, आत्म राज्य और राजा तथा वे व्यवस्था की मरणा के उन रूपों और पन्ना का प्रतिपादन किया जो आवश्यक हैं।

मुसलीमान उन समय हुए थे जब एक ओर धरदर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उठभिन हा रही थीं, दूसरी ओर आदर्श ही जहर द्रव्याधी कट्टरवादिता को रूढ़ि का गुण्य रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादीता पर। तुलसीदास ने न तो द्रव्याधी विचारों का खण्डन किया है न द्रव्याधी प्रणयों को है और न उन्की भूमना। ऐसा लगता है जग में उस युग के पैंग ही रही हूय में जिसमें भारत में द्रव्याधी प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मरणा की परम्परा पर ध्यान और समन्वयकारी आत्मों का प्रतिपादन करके, भक्ति के माध्यम से उन्होंने हिन्दू मान्यताओं के पुनरुत्थापन की आवश्यकता और आवश्यकता का जनना पर पहुँचाया। समय पर उन्होंने गाम्भीर्य, स्मरणा और पुराणा की दुर्द्विष्टी है। रामायण में निम्न आत्म 'जाना पुराणनिगमागत सम्मत' है। और, सभी कारण रामायण हिन्दू-समाज की परम्पराओं का दगा-बान को आवश्यकतानुसार सामूहिक करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनकी रामायण रचनाओं में प्रभावित हिन्दुत्व के उत्तरात्तर उद्भवित को एक अवस्था दिगों को उपनि ३।

आठवाँ पन्ना ३ के अनुसार म गहर के असुद्ध म लहर उन्की प्रती गताली

देवल स्मृति (ग्यारवी सती) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुन जाति में आ सकता है। वास्तव में, इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिंदू समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जाति-युक्त व्यक्ति के लिये शुद्धि का भी विधान रखा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम में मिलने वाले उत्प्रेरण, व कारण एक विधान को मानी स्तरों के लिये ग्राह्य बन कर लिया गया। किंतु इस काल में, इंग्लैंड भी महत्वपूर्ण शिक्षास ह्रासगुण भक्तिधारा का जन्म राम तथा कृष्ण के माध्यमों का एक प्रकार निवचन और प्रणय किया गया कि उनका माध्यम से धार्मिकतागुण प्रार्थना हिंदू परम्पराओं और जातियों का साक्ष्यसंगत प्रामाणिकता स्वर उद्घरण गृह्यादिन किया जा सके और तत्कालीन हिंदुत्व को मजबूत करके उनकी रक्षा की जा सके। राधा गापी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की जाकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियाँ में परिणत हो गयी। राधा गापी और कृष्ण तत्कालीन जननराश्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उत्पत्तीकरण के प्रतीक हो गये। यही से राधा की महिमा बनी—पद्म की एक अतल्ल चिर अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काय में समय कर देन या गीतो की प्रधाता बड़ी क्यानि उत्पन्न उद्देश्य मत प्रचार का स्वर, सामाजिक जाकुलताओं का स्तूलोक्ति प्रम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर ल जाना है। अतः सामाजिक सांस्कृतिक संभ में राधा और गापियों की विरहानुभूतिमय कृष्ण का यकबल रक्षा मजाजी से रक्षा इकीका का नार वाली धारणा की प्रतिगति गही है—वह तत्कालीन हिंदू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रपत्ति की भावना का एक बह रूप है जिसमें सामूहिक निररता उत्पन्न होता है¹। निराकार पानानुभूति का वस्तु है किंतु साकार जनाल्लास से उत्पन्न हृद्यानभूति का वस्तु है। जन नायक धान की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस बात का गाकारो मुग प्रसति एक गाननायक

- 1 सामाजिक असुरक्षा और जाकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब जीवोन्नतिक क्रांति और तत्प्रेरित नायिक प्रति योगिता और व्यक्तिवादों प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बनी। जंगल राजकाल में जंगल ऐसी स्थिति आयी तो पुन इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिंदी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने ले चत भुसे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और ध्यान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबंध काव्य द्वारा राम के जन्म रूप का आख्यान किया है वह जनार्दन और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के लिये सभी राममय हैं। चाहे कोई गैर ही या शायद, अनन्ततामत्वा उस राम तक ही पहुँचा है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मान् परियज्य मामक गणेशाय नमः'। गीताकार ने सभी कुछ दृष्टमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक भार निराकार तथा ज्ञानयोग का दान है ता दूसरी ओर साकार भक्तियोग तथा कम योग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, ज्ञान तथा भक्ति और कम तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिंदू समाज का गान तथा कम का स्वर। पर एकीकृत करने का। गीताकार ने ज्ञान, भक्ति और कम मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिंदू समाज के आधार को विस्तार कर दिया था। मध्यानुकूल मुत्सदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अतः नवल ज्ञान है कि उन्होंने गीता के उद्घरण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और ज्ञानमार्गी हान पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन मुक्त है। मुत्सदास ने 'पाण्डव विवाद' और 'साम्प्रदायिकता' की भयानक की। सभी कुछ राममय मानकर एक ओर हिंदू समाज के एकीकरण पर जोर दिया ता दूसरी ओर राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार आर्य पारिवारिक सम्बन्ध आर्य राज्य और राजा तथा वन व्यवस्था की मर्यादा के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो ग्राह्यता हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक ओर धर्म के समन्वयकारी प्रयासों का सन्तर्पण उद्घाटित हो रही थी तो दूसरी ओर, अन्तर ही अन्तर इस्लामी कट्टरवादिता का रुग्ण भी सुगम रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कट्टरवादिता पर। मुत्सदास ने न तो इस्लामी विचारों को खण्डित किया है न इस्लाम की प्रशंसा की है और न उसी भयानक। ऐसा लगता है जम से जग युग में गया ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में इस्लाम का प्रसार हो रहा था। उन्होंने बसल स्मृतियों की परम्परा पक्का और समानानुबल आर्यों का प्रतिपादन करके, भक्ति के माध्यम से, उन्होंने हिंदू मायताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आदेशों का जनता तक पहुँचाया। पण्डित पर उन्होंने ग्राह्यता तथा स्मृतियों और पुराणों को उद्घाटित है। रामायण में निहित आदर्श नाना पुराणनिगमात्मक सम्मत हैं। और सभी कारण रामायण हिंदू समाज की परम्पराओं का देवताओं की आस्थावानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनका रामायण इतिहास में प्रवाहित हिंदुत्व के उत्तरांतर उद्घाटन का एक अवस्था दिग्दर्शक की उपाति है।

राष्ट्रीय गीता की उत्तरांतर में गहराई के अन्वेषण में लेकर उनीयरी गता

के उस समय तक, जब तक आयसमाज श्रद्धासमाज और प्रायश्चित्तसमाज के रूप में हिंदुत्व की निराधारवादी सामाजिकता का पुनः प्रतिरोध नहीं हुआ, भारत में भक्ति मार्ग की ही प्रधानता रही है। उस काल में भक्ति-मार्ग का तात्पर्य यही रहा कि प्रायश्चित्त की परम्परा जिसमें मूर्खीयान् का प्रचलन निरन्तर अप्रामाण्य प्रमाण है और जो इस्लाम से भिन्न है। दूसरा निगमन यह कि परम्परा जिसमें, एक ओर निराधार और ज्ञान का भक्ति-करण में रम-रम किया गया और दूसरी ओर मनुष्य कुछ निराधारमय मात्रा और हिंदुत्व तथा इस्लाम के बीच का भिन्नता करके, मानवता-वादी विचारों का प्रचार किया गया और मजहबी सिद्धांतों की हिंदुत्व में काल्पनिकता करने हुए पंथों का संगठन किया गया। तीसरी गणना प्रायश्चित्त की परम्परा है जिसमें माध्यम में हिंदू समाज की परम्पराओं का पुनर्निर्माण करके उन्हें पुनः स्थापित किया गया और वर्णाश्रमधर्म के द्वारा मानवतावादी विचारों का प्रतिरोध किया गया। पहली परम्परा मूर्खीयान् के हिंदूकरण की प्रक्रिया की उत्पत्ति है और दूसरी तत्कालीन आवश्यकतानुसार हिंदुत्व में सुधार और परिवर्तन करने का आवश्यकता की। पहली और दूसरी परम्परायें इस्लाम के हिंदूकरण तथा हिंदुत्व के इस्लामीकरण के बीच की उत्पत्ति हैं और तीसरी हिंदुत्व के पुनर्स्थापन की। एक ओर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि हिंदुत्व के प्रतिरोध के इस्लाम की विनाशकारीता का हिंदुत्व के अनुसार हाथ लिया जाय और दूसरी ओर हिंदुत्व के आधारों को आवश्यकतानुसार बदल कर उन्हें अंतर-धर्मों का प्रयास किया जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन हिंदू समाज तथा संस्कृति में विराधी तत्वा और प्रतियोगिता का समावेश हुआ। एक ओर निराधार और ज्ञान का मार्ग दिया गया तो, दूसरी ओर साधारण और भक्ति का। एक ओर धर्म की निंदा की गयी तो दूसरी ओर, वर्णाश्रम धर्म का प्रतिरोध करने का प्रयास किया गया। एक ओर वर्णों की निंदा की गयी तो दूसरी ओर, उन्हें सामाजिक जीवन के आदर्श का पमाण माना गया। एक ओर जाति-पाति की भिन्नता की गयी तो दूसरी ओर जाति प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये और इस्लाम के समक्ष, जाति व्यवस्था एवं प्रकार का सामाजिक प्रतिरोध कवच सिद्ध हुआ।

इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति हिंदुत्व की उन परम्पराओं में से हुई है जो वैयक्तिक काल से चली आ रही थी। हिंदुत्व में एक ओर ज्ञानमार्ग की परम्परा है और दूसरी ओर, भक्तिमार्ग की। ज्ञानमार्ग का आधार है तर्क और विवेक और भक्तिमार्ग का सद्बुद्धि, रहस्यमयता, कमकाण्ड और कल्पाचार। ये परम्परायें समानांतर चलती रही हैं, यद्यपि किसी काल में ज्ञानमार्ग की प्रधानता दी गई है तो किसी काल में भक्तिमार्ग को। गीता में कम के माध्यम से, ज्ञान और भक्ति को एक-दूसरे का पूरक माना गया है। वर्णों की कमकाण्डी परम्परा के समक्ष उपनिषद् में ज्ञानमार्ग को प्रधानता मिली। महात्मा

बुद्ध ने ज्ञानमार्ग में सत्बुद्धि का पुट दिया जो ठागे चलकर रहस्यवाणी सत्बुद्धि में बण्ड गया। मोमासुता ने कमकाण्ड कलाचार, बहुश्रुति और साम्प्रदायिक मतमतांतरों का प्रचलन दी। हिन्दु गुरु ने उस निरधक वताकर अद्वैतवादी का समर्थन किया—यह अद्वैतवाद जिसमें व्यष्टि और समष्टि ज्ञान और कम जाति और वर्ण, ऊँच और नीच शिव वामन और गायत सभी ब्रह्ममय हैं और ब्रह्म म एकाकार है। जाति और वर्ण, गुरु के अद्वैतवादी दर्शन की आलाचना करके रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गाना की अनासक्ति ज्ञान और भक्ति की धारणाओं का अगवत में भक्ति और प्रपत्ति का रूप मिला। भागवत में भक्ति और प्रपत्ति की धारणाओं की अवतारणा रामानुज के दर्शन में हाकर मार भारत में फैली। इस्लाम की उपदेष्टा का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ज्ञानमार्ग की निराकारवाणी परम्परा में भी भक्ति का पुट निखरा यद्यपि इस विकास का बीजारोपण गाता में ही हुआ। इस्लाम का उपदेष्टा स निराकारवाणी तथा साकारवाणी भक्ति मार्गों का एक साथ प्रस्तुत और समर्थ हुआ। पदमपुराण में आए एक श्लोक में भक्ति के समय यह कहा गया है कि मैं द्राविड गुरु और रामानुज दण्ड म जमी कणाटक में बसा हुई माराष्ट्र में कुछ दिन टहरी और गुजरात में आकर बूनी में गई। भक्ति के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि भक्ति द्राविड उपजो लाए रामानुज जिसका अर्थ यह निरालता है कि भक्ति की उत्पत्ति तो दक्षिण (द्राविड) में हुई है और उत्तर में उसने प्रवर्तन रामानुज हैं। रामानुज रामानुज का शिष्य परम्परा में आते हैं और उनका द्वारा उत्तर में भक्ति का प्रचार एक एतिहासिक तथ्य है। कबीर जीर रहस्य रामानुज के शिष्य में हैं। रामानुज का जन्म सातहवीं शताब्दी में दक्षिण में हुआ था। रामानुज ने गुरु के अद्वैतवादी दर्शन का प्रचार किया। मध्यकालीन भारत में गुरु और रामानुज एक दूसरे से चार सौ वर्ष दूर हान हुए भी हिंदू सामाजिक गति का विकास में वे बड़े योगदान हैं। गुरु ज्ञान तथा गाना के दागनिष्ठ और रामानुज भक्तिमार्ग परम्परा के हिन्दु गुरु का शिष्य हैं। दाना का जन्म शिव में हुआ। ध्यान मन का प्रतिपादन करने के लिए गुरु और रामानुज दाना ने गाता पर भाष्य लिखे हैं। कुछ दृष्टिकोणों से गुरु और रामानुज एक ही हैं और दूसरे तथा रामानुज के मध्य में पत्तन का सम्बन्ध गथाव

उत्पत्ति द्राविडों वाले कर्णाट ब्रह्ममार्ग। स्थिति विचित्रताएँ गुजरे जागता गता।

न भक्ति आन्दोलन को प्रेरित किया है। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि गजर और रामानुज हिन्दुत्व के उत्थान के दा विधामस्यल हैं और भक्ति आन्दोलन का जन्म इन दोनों विधामस्यलो के बीच में चलने वाली दार्शनिक तथा जन परम्पराओं में है। रामानुज ने, गीता के आधार पर, दक्षिण में चलने वाली जन परम्पराओं को समायोजक व्यावहारिक दार्शनिक स्तर प्रदान किया है। भक्ति आन्दोलन के सामाजिक सांस्कृतिक आधारों का समर्थन के लिए इन विरासत कठियों की व्याख्या अपेक्षित है।

गजर की दार्शनिक परम्परा भक्तिमार्गी न होकर ज्ञानमार्गी है। किन्तु ज्ञानमार्गी होने पर भी, गजर ने विष्णु त्रिक शक्ति और सूर्य पर स्तुति लिये हैं और शक्ति के मंत्रों में बलि प्रथा का अवरोध किया है। गजर के दान का उद्घन करके रामानुज ने भक्तिमार्ग की नींव डाली और इसी कारण, गजर का मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का उत्प्रेरक माना जा सकता है। जिस दान के आधार पर रामानुज ने भक्ति आन्दोलन की नींव डाली उसकी परम्परा निश्चय ही गजर से भी प्राचीन है यद्यपि उसका प्रेरणा स्रोत गजर दान में हैं। एक दार्शनिक के रूप में, गजर वस्तुतः समाज सुधारक हैं। उनका अंततोगत्वा सद्देश्य था साम्प्रदायिकता (धर्मान् मतमतांतरा) के भवर में पड़ गए हिन्दू समाज को निराल कर उस एक एकीकृत दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रदान करना। गजर के दान का यदि उनके पापों के संहार में देखा जाए तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो उठता है। गजर ने अद्वैतवादी दशन का प्रतिपादन किया और सम्बुद्धि, तत्व तथा शास्त्र का गानजम के तीन प्रामाणिक आधार माने। गजर के लिए सत्ता निराकारमय है। उन्होंने निराकार की वस्तुता 'ब्रह्म' के रूप में की है। गजर के ब्रह्म में ईश्वरत्व नहीं है। वह शुद्ध, बुद्ध, चतुर्थ निराकार और निर्विकार है। उसे न तो भक्तों की चिन्ता है और न दुष्टों को दण्ड देने की। सत्ता मायामय ब्रह्म है। निराकार ब्रह्म और सत्ता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए गजर ने मायावाद का मत प्रतिपादित किया। गजर का मायावाद वस्तुतः रामानुज द्वारा प्रतिपादित बौद्धों का मू. मवाद है। इस प्रकार, बौद्धवाद पर ब्रह्मवादी दान की स्थापना करके, गजर ने बौद्धवाद का हिन्दुत्व में समेट लिया और भद्वत की धारणा के द्वारा मत मतांतरों की साम्प्रदायिकता को निमूल कर दिया। इसके साथ साथ, भारत के चार काता पर चार मठा की स्थापना करके उन्होंने हिन्दू समाज के व्यावहारिक तथा दार्शनिक पक्षों का एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया। गजर के प्रयासों में सुधार का अर्थ था समर्थ और उनके लिये समर्थ का अर्थ था परम्परा का व्यापक निवचन और सस्थापन।

गजर का दक्षिण में आविर्भूत होना एक ऐतिहासिक सयोग है। किन्तु, गजर-दशन का विकास ऐतिहासिक सयोग नहीं है। दिनकर के अनुसार, गजर दान की विकास रखा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त तक पहुँचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और

सृष्टि व विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाए थे उन्हीं प्रश्नों का समाधान साजत-सोजते पक्ष उपनिषद् का आविर्भाव हुआ, फिर बौद्ध-दगन का और फिर शंकर-दगन का। शंकर का तटस्थ ब्रह्म बौद्ध से आगे बढ़ा हुआ एक नदम अवश्य है लेकिन तटस्थ ब्रह्म की धारणा की जन्मे वस्तुतः उपनिषादिक दगन में हैं। जहां तक शंकर के बौद्धिक पूर्वजों का सम्बन्ध है वह दक्षिण में नहीं उत्पन्न हुए थे। गुरुवाणी दगन के प्रतिपादक नागार्जुन का जन्म ईसा के जन्म के सौ वर्ष बाद विदम्भ में हुआ था और दार्शनिक वसुवधु, जो शंकर के दूसरे बौद्धिक पूर्वज हैं का चौथी सताव्सी में पगावर में। शंकर के दार्शनिक भाष्य पर भामती-व्याख्या लिखकर दशमर में उस प्रतिष्ठ करन वाला विद्वान् बाचस्पति मिश्र मिथिला में जन्म थे। शंकर भारतीय सृष्टि की उन समझाया का दार्शनिक उत्तर थे जिन्हें लेकर शास्त्राण और बौद्ध जूझ रहे थे।

शंकर ने ब्रह्म की ब्रह्मवाणी व्याख्या की थी किन्तु रामानुज ने ब्रह्म की ईश्वरवाणी व्याख्या करके शंकर के तटस्थ ब्रह्म में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया— उस ईश्वरत्व का जो गुरु ब्रह्म निराकार और निर्विकार नहीं है जो विष्णु के रूप में साकार है भक्ता पर व्याप्त है और विश्व प्रपञ्च का प्रहरी तथा कर्ता है। शंकर ने ब्रह्म ब्रह्म का ही सर्वोपरि और अनादि माना किन्तु रामानुज ने ईश्वर के साथ-साथ, जीव और प्रकृति का भी अनादि माना यद्यपि शंकर और शंकर जल और लहर के समान थे अलग अलग नहीं किए जा सकते। रामानुज ने अद्वैत में द्वैत और द्वैत में त्रिगुणद्वैत का प्रतिरापण किया क्योंकि उनका अनुसार ईश्वर साकार भी है और ब्रह्म ईश्वर ही अनादि नहीं है। शंकर की परम्परा में ब्रह्म के इस वाक्य 'तत्त्वमसि' की यह व्याख्या हुई कि जीव भी ब्रह्म है किन्तु रामानुज की व्याख्या में यह प्रतिपादन किया गया कि 'तत्' अर्थात् सृष्टि का कारण स्वयं ईश्वर 'वम' है अर्थात् जीव में छिपी हुई आत्मा में एकाकार है। इसी कारण रामानुज की दान-पद्धति त्रिगुणद्वैत की पद्धति नहीं जाती है।

अद्वैत में द्वैत का प्रतिपादन करके रामानुज ने कम और जान के समर्थ भक्ति की महत्ता का ध्येयतर बताया। रामानुज के अनुसार पानदाय में आत्मा ब्रह्म इतना ही जान मक्ता है कि वह परमात्मा का भग्न है। किन्तु भक्ति की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध का जान अधिक प्रगल्भ हो उठता है। जीव भी अनादि है उसकी भी एक सना है, अतः न तो ईश्वर में विभक्त होना उसके लिए स्वाभाविक है और न उसका आवश्यकता ही है। भक्ति का नतीजा स्वयं चाहिए न सम और न भक्ति। उसका भुक्ति तो जान पपत्त और जावनापान धाराध्य

1 दिनकर, रामधारी सिंह पृष्ठ 251
2 पृष्ठ 300

यथा, उपवास तथा यात्रा और कभी कभी भूति-पूजा यात्रि प्रचलित थायों की निष्ठा करत है। आत्मारम्यता का परम्परा गहरा प्रभाव है और कुछ कुछ गहरा न समझा तर भी। गहरा म भाग्य की बोद्धिकता और गहरासीन दान का विषय हुआ है और आत्मचार गंगा की अविच्छिन्नता में रहस्यवादिता, समता, बंधुता और प्रवृत्तिमय भक्ति की सारता का। त्रिमय मय, उग्रमय सिद्ध सत्त, मुद्रा का प्रभाव म कलाचार और गार्हपत्य की विस्मयता सताकर, उनको निम्नी उठा रहूँ के उग्र मयम आत्मारम्यता प्रम और भक्ति का सात्विक म आति का विस्मयता का रहे ध और भगवात की सत्ता म सार का। सत्तो का बीज म समता का भाव सत्ता का प्रयत्न कर रहूँ ध। आत्मारम्यता तो जानि पाति साता धे और न ब बाना के विधि विषय का साधन ध। आत्मारम्यता की भक्तिमय प्रभावता का प्रभाव भाव का भक्ति का छाओ भक्ति का सांगी तम जग मुनी मुताबी। जग रि निरंतर का मत है जवा गंगा का म प्रवृत्ति (परमात्मि) आत्म मयमय और गंगा-मिलन म विमुक्ति भक्ति का सम्यक विकास और प्रसार निष्ठा की सामिल भावा प्रवृत्ति गमता म ही चुका था।

सत्री गताओं का उत्तराध म, जब नाव भूति न आत्मारम्यता का चारहवार पदों का समस्त प्रवृत्तिमय गमक चार धर्म म करजाया तब भक्ति का दान का स्वर पर लगे और भक्ति का दार्शनिक प्रभाव म बाधा का प्रयाग प्रारम्भ हुय। नावभूति के बाद वृष्णव विद्वाना ने इन्ही धर्म पर आप्य और टीकाये लिखी। महा प्रम 'सामिल प्रवृत्तिमय का नाम स विख्यात है और गीता के बाद तथा भागवत के सम कालीन भक्ति के आदिष्य है। प्रवृत्तिमय और भागवत म अंतर है तो केवल इतना कि प्रवृत्तिमय म भक्तिमय का समस्त है जबकि भागवत म भक्ति का वाग्विषय और दान का भावरेण म प्रस्तुत किया गया है। जूनि भागवत म सा सात का सकेत है कि भक्ति द्वाविष्ट देश म उत्पन्न हुयी यह माना जा सकता है कि भागवत के प्रस्ताव्योत प्रवृत्तिमय म है और गीता तथा रामानुज का बीत की कड़ी प्रम धर्म और भागवत हैं। रामानुज के विविष्टताद्वतवादा दान की जड़ें भी प्रवृत्तिमय म ही हैं क्योंकि विविष्टताद्वत का प्रथम विवचन मामुनाचाय (११६ ई० स १०४० ई०) ने किया है जो प्रवृत्तिमय के सम्पादन की नावभूति की दूसरी या तीसरी पीढ़ी म हुये हैं। इसके बाद रामानुजाचाय (१०२७-११३७ ई०) ने विविष्टताद्वत की व्याख्या की और यह मत प्रतिपादित किया कि गीता और पातञ्जल योग के अतिरिक्त भक्ति का मूल स्रोत आलवार सत्तो की परम्परा म है। रामानुज इन्ही आचार्यों की बोद्धिक सत्तान में।

आलवार सत्तो की वृष्णवी परम्परा के साथ साथ, दक्षिण म गायनार सत्तो की गव परम्परा भी खली। आलवार सत्तो की परम्परा विष्णु म बद्धोद्भूत की और गायनार सत्तो की परम्परा शिव में। आलवार परम्परा के आचार्य वृष्णवाचाय कहलाये और शिव परम्परा का शिवाचाय। गायनार सत्तो

के पदों में गिव के प्रति प्रपत्ति की अभिव्यक्ति थी। जिस प्रकार, प्रबोधम् व माध्यम म वृष्णबीजन परम्परा दानो-मुख हुई उसी प्रकार निम्बुरई नामक प्यारह भागों में मद्रहोत ग्रंथ के माध्यम में, गिव जन-परम्परा भी दानो-मुख हुई। जिस समय वृष्णवाचाय नाथमुनि ने आशारों के पत्र का मद्रह प्रबोधम् में करवाया था, उसी समय गवाचाय नाथि आदार-नम्बी ने निम्बुरई (पावन पुस्तक) नामक ग्रंथ में गिव पत्र का मद्रह करवाया। शक्ति की भक्ति धारा में प्रबोधम् का जो महत्व है वही निम्बुरई का भी है। वृष्णबी परम्परा में सृष्टि व परम अध्या है विष्णु, किन्तु गिव परम्परा में वह स्थान गिव का है। गिव प्रकृति और चेतन जीव सभी शिष्य हैं और गिव ही चेतना के आधार और ब्रह्माह में व्याप्त अनादि सत्य हैं।

गक्ति गिव व काय व्यापार का माध्यम है। अतः गक्ति गिव की पूरक है। सृष्टि गिव की कृति है और उसकी पांच प्रतियोग्यें (रचना पालन, विनाश, जीव की माहाच्छन्ता और भक्ति) गिव की कृपा और गक्ति व सहयोग से सम्पन्न होती हैं। गिव ही गिव व साथ साथ, सृष्टि भी अनादि है और उसका विनाश जाया के कल्याण के लिये होता है। गिव पद्धति में, शिव और सृष्टि व साथ साथ, आत्मा भी स्वभावतया अनादि, जात और चेतन है किन्तु ब्रह्म में पड़ जान व कारण, आत्मा अपने का सान्त गक्ति और अज्ञानी मानता है। अपने पूर्वजर्मों में मुक्त होकर तपा ज्ञ की अधीनता में बाहर आकर ही, आत्मा का अपनी अनादिता अनन्तता और चेतनता का भाव न सञ्जता है। आत्मा की भक्ति सिद्धान्तविधि साधना पद्धति व पालन तथा नियारण और गुरु ज्ञान तथा गिव की कृपा में ही हो सकती है। गिव परम्परा में प्रकार गकर के अर्द्ध और रामानन्द व विनिष्ठादन व बाध की परम्परा है^१। गिव तथा वृष्णबी परम्परा में जन और दान व इनमें पर, एक साथ, तपा व अलग-अलग भक्ति-मन्त्राया के रूप में प्रवर्तित हुए। गिव और वृष्णबी परम्पराओं का सम्बन्ध गुन्मीनास व हाथों द्वारा तथा बिठ्ठान इन दोनों के माध्यम में तथा इनका अन्त्य राम परम्परा का स्थापना का। प्रपत्ति, गुरु-महिमा इत इताद व और विनिष्ठादन की जा महत्ता इन परम्पराओं में है, उन्हें गुन्मीनास में ज्यों का स्थापना लिया।

भारतीय संस्कृति में प्रवाहित इस भक्ति धारा में जिनका नाम इस्लामी है और जिनका भारतीय यह एक विचार का विषय है। समाजा इस विषय पर उत्तम-वर्ग गतिशक्ति साहित्य में जिनमें मद्र प्रतियोग्य गिव गये हैं व उसी प्रकार सम्बन्ध विभाजित हैं जग हिन्दु और इस्लाम। एक बार है मागबन्द, इमाऊ कबीर और मुमुक्षु ज्ञान व मन

जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि ग़र की अड़तवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर है दिनकर तथा विमलकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवां शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधारायें, मुघारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्परामें, वास्तव में, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास का परिणाम हैं। कि इस्लाम के सघात का। विमलकुमार सरकार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी मुघार आन्दोलनों को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रथा भी रही है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास का और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकदमरवाने तथा मानवतावादी विचारधारायें प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों में बीच में सम्यक्मार्गी तथा सामाजिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी धारणा को हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उसे हिन्दू मुस्लिम समय का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सबसे प्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म और मुस्लिम (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने में लग गया। आठवीं शताब्दी से इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार ग़र के अभ्युदय के पहले ही आ इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। आठवीं शताब्दी ने ग़र को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपनी इस भावना की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, ग़र द्वारा अड़तवादी के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अड़तवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और वह अर्थात् यत्किन उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, ग़र का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का वही स्थान नहीं है। ग़र ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अंतर है तो माया के कारण। ग़र बौद्धिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। शंकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन् उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था और वहाँ उस नाश मिल रहा था। ग़र में बुद्धवाद और वेदांत का समय है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि ग़र इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रखते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करते। शाकरीय दान में सट्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मायताया के प्रतिकूल ही पड़ता है।

बैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, बा० ताराचन्द और उनके समान मत वाले अन्य इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका बलवर हिन्दू। इस मत का मुख्य आधार है—भक्ति का तथा भक्ति का प्रणेता वैष्णवाचार्यों तथा गैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (परमागति), एकात्म निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खडन-मडन, गुरु निन्द्य-परम्परा तथा गान प्राप्ति का लिए गुरु की ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना¹ और भक्ति आन्दोलन का माध्यम में फलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। किन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मायतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्भव होने का पहले नहीं थी। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की आगम परम्परा में एक जन परम्परा का रूप में उतनी ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उसमें भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गों याचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उन प्रक्रिया का परिणाम है जिसका कारण हिन्दुत्व दक्षिण में बंटीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु निन्द्य परम्परा का मूलमात्र यह आपत्त है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक बड़ी हैं²। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का जाप और उसके अपरूप में भगवान् कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति गरीब छोड़ता है, वह परमागति का प्राप्त होता है³। यही मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ यही स्थान है जो मुहम्मद का है। ईश्वर-वतराजनिपद के प्रतिम मान्य में यह कह कर कि 'यस्य दत्त परा भक्तिमया देवे तथा गुरो गुरु म दत्त की भावना का प्रतिराजण कर दिया गया है। कबीर, दादू और मानक का बोधित्व पूर्वक सिद्ध-विविध ने गुरु का उपदेश

1. कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दोनों एक ही बात सागू पाय
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताया।

अर्थात् गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द का परधान कराया। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु वन्दना से किया है। तत्पश्चात् रामदास ने मानस का माध्यम से गुरु की महिमा आई और यही तब बढ़ी कि यही 'गुरु गुरु का साक्षात्' पद का नारा हो गया। दक्षिण के चार गुरुओं ने भी गुरु की मान का माध्यम माना है। सूरियों में बिना पार के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2. साईनाह इतिमसाह मुहम्मदुरसूलिस्ताह।

3. ओमितकान्तर ब्रह्म व्याहृतासातनुस्मरण।

य प्रमाति त्यजदह ॥ याति परमां पतिम्। माना

जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि शक के अड़तवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिंदुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर हैं दिनकर तथा विनयकुमार सरदार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवां शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधाराओं सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्पराओं, वास्तव में, हिंदुत्व के उत्तरोत्तर उद्विग्नता का परिणाम हैं न कि इस्लाम के सघात का। विनयकुमार सरदार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिंदुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनों को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रयास रही है। किन्तु, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास को और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधाराओं प्रारम्भ में हिंदू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में मध्यममार्गी तथा सामाजिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी धारणा का हिंदुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिंदूकरण मानकर उस हिंदू मुस्लिम सम्बन्ध का प्रतीक मानते हैं।

गकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सबसे प्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिंदुइज्म और बुद्धिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात का सिद्ध करने में लग गया। डा० ताराचन्द इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार, गकर के अम्बुदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। डा० ताराचन्द ने गकर का इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपना इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, शक के अड़तवादी के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शक के दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शक का अड़तवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और वह व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, गकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का वही स्थान नहीं है। शक ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अन्तर है तो माया के कारण। गकर दक्षिण परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। गकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन् उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिंदुत्व सिमटकर दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया था और वहाँ उस प्राण मिल रहा था। गकर में बुद्धवाद और वेदात का सम्बन्ध है न कि इस्लाम और हिंदुत्व का। यदि गकर इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और सक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करत। शाकरीय दगान में सृष्टि के स्वरूप और उत्पत्ति का जो वर्णन है वह इस्लाम की मायताभा के प्रतिबिम्ब हो पड़ता है।

वष्णुव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, बा० ताराचंद और उनके समान यत्न बाल अथ इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका वल्लेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता बैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (‘गणनागति’), एवान्त निष्ठा और भक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खडन-मडन, गुरु गिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की इश्वर से भी बड़ा स्थान देना^१ और भक्ति आन्दोलन के माध्यम में फलन वाला मानवतावादी नैतिकान। किन्तु, यह मिथ्य करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मायतायें हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्पन्न होने में पहले नहीं थीं। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की जागम परम्परा में एक अनपेक्षित रूप में उभरना ही प्राचीन है जिसका भी स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवतः उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गों आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उक्त प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण में बड़ीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु गिष्य परम्परा का मूलस्रोत वह आयत है जिसमें यह कहा गया है कि महम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी हैं^२। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि आत्म का आप और उसके अक्षरूप में भगवान् कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो ध्यानि गरीर छोड़ता है, वह परमगति को प्राप्त होता है^३। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतथानिपद में अन्तिम मंत्र में यह कह कर कि ‘यस्य देव परा भक्तिरथवा दवे तथा गुरोः गुरु म देवत्व का मानना का प्रतिरापण कर दिया गया है। बबीर, दादू और नानक के बौद्धिक पूर्वज मिथ्य-कवियों ने गुरु के उत्पत्ति

१. बबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द दानीं लखे बावे लागू पाय
अतिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बनाय।

मर्णांत गुरु की अतिहारी ह जिन्होंने गोविन्द की पदचान करापो। तुलसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु-वन्दना से किया है। गिरधर-नाम्नराय ने नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ बाह गुरु का साक्षात् पाप का नारा हो गया। दक्षिण में भी गुरु गुरु ने भी गुरु की मान का माध्यम माना है। सूक्तियों में बिना पार के ज्ञान मिल हो गयी तबना।

२. साईंसाह इतिस्नाह मुहम्मदुरसूतिस्नाह।

३. ओमित्येकानर ब्रह्म व्यापार-मागनुरमरन।

॥ प्रपत्ति स्वयंसेवक से जाति परमां पत्तिम्। माना

को अमृत रस के समान मानने तथा गुण वचन में भक्ति रखने पर ज़ारिफ़ा है क्योंकि शास्त्राथ व मर्यादा में केवल गुण के अमृतपणी उपदेश से ही तथा गात होती है^४। उत्तरी भारत में सिद्धा की परम्परा इस्लाम के पहले की है।

वर्ण-प्रवस्था व विरुद्ध प्रतिप्रिया इस्लाम के पहले ही से भारत में विद्यमान है। 'आत्मवत् सव भूतेषु (सभी प्राणियों का अपने समान समझो) 'पठिता सम दानिना' (पानी समानों हान हैं) और 'वमुधैव कुटुम्बवम्' (वमुधा कुटुम्ब व समान है) की भावनाय बरिदा पाए से ही हिन्दू चिंतन का अंग रही है। इन्हीं का प्रस्फुटन बुद्धवाद, मध्ययुगीन भवन रविया और स्वामी दयानन्द राममोहनराय और महारमा गांधी जैसे समाज सुधारका के चिंतन तथा कायों में हुआ है। भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ में, प्रारम्भ में ही मानवतावादी विचार और काय यहाँ के चिंतन का एक अंग बन गये थे और आज भी हैं। शंकर का अद्वैतवाद और तुलसी के राम सम्भवतः इसी मानवतावाद की दार्शनिक तथा काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। विनय कुमार सरकार के अनुसार भारत में, विरोध तथा हिन्दुत्व में एक आर, वर्णाश्रम रहा है ता दूसरी ओर वर्णाश्रम व विरुद्ध उठने वाली प्रतिप्रियाएँ। एक आर, कानून और व्यवस्था पर जोर दिया गया है ता, दूसरी आर कानून और व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया है। एक ओर, जाति गुटता की भावना रही है ता, दूसरी ओर, वर्णसंकर की। इस प्रकार हिन्दुत्व में विरोधी शक्तियाँ प्रवाहित होती रही हैं और इन्हीं विरोधी शक्तियों का प्रवाह में हिन्दू संस्कृतिक उत्थिता व जादग नियम निहित हैं। इस्लामी वातावरण व हिन्दू भारत में प्रवाहित होने वाली समाजवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओं में इन्हीं परम्परागत समाज निर्मात्री प्रक्रियाओं का प्रवाह है, जिनके माध्यम से निम्नस्तरीय समूहों का उच्च स्तर की ओर सामाजिक आरोहण होता है। हिन्दू संस्कृति का प्रसार—इन गों में केवल एक ही अंग ध्वनित होता है और वह है हिन्दू समाज का उत्तरात्तर प्रजातन्त्रीकरण या हिन्दू संस्थाओं और प्रथाओं पर जनता का उत्तरात्तर सघात और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का मध्य वृद्धि तथा उत्थिता। मुस्लिम वातावरण में इस परम्परागत हिन्दू प्रवृत्ति का किसी भी प्रकार हतन नहीं हुआ। जत जिस डा० ताराचन्द इस्लाम का प्रभाव का परिणाम मानते हैं, उसे विनयकुमार सरकार हिन्दुत्व का स्वाभाविक विरास मानते हैं।

ताराचन्द व तनों में विरोध है और उनकी अध्ययन रीति दोषपूर्ण। एक ओर वे शंकर को इस्लाम का अनुकर्ता और गुरु द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का लाईलाह इल्लिलाह की प्रतिकृति मानते हैं तो दूसरी ओर मानते हैं कि इस्लाम ने चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में बौद्धिक उत्थरण का ही काय किया होगा। उत्थरेणा और प्रतिकृति के पीछे जो धारणाएँ हैं वे परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो

उत्प्रेरक है उसकी प्रतिवृत्ति नहीं आ सकती। ताराचन्द भक्ति और रहस्यवाद को मानव की भावभूमिक और सबकालीन धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उत्पन्न पटल ही से विद्यमान थे। फिर भी, वे भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उत्पन्न विकास का विवरण छोट दते हैं और भक्ति तथा रहस्यवाद को इस्लाम से आया हुआ मान लेते हैं। जमावि डा० ताराचन्द की पुस्तक के शीर्षक 'इस्लाम और इस्लाम मान्यता' में स्पष्ट है उनकी अध्ययन रीति का सबसे बड़ा दावा यह है कि उनका अध्ययन का विषय है भारत पर इस्लाम का प्रभाव न कि भारतीय सभ्यता में इस्लाम। उनका दृष्टि केवल इस्लाम पर है और मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता के उद्धार अथवा पर पड़ना है जहाँ उन्हें इस्लाम की प्रतिवृत्ति नजर आती है। यदि ऐसा न होता तो वह विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व का बिना नज्जाम अग़मरी और गज़ाली की प्रतिवृत्ति क्या लगता? इस्लाम में प्रवृत्ति है एक निराकार ईश्वर के प्रति जो दया का आगार है और प्रेम का भी किन्तु भारतीय भक्ति विचार में प्रवृत्ति है माँहार के प्रति जिसमें मनुष्य लीन नहीं होना चाहता। इस्लाम में प्रवृत्ति का कुछ और रूप है और हिन्दू में कुछ और। डा० ताराचन्द की दृष्टि केवल प्रवृत्ति पर है न कि इस्लाम तथा हिन्दू में पायी जाने वाली प्रवृत्ति विषयक सम्यक्ताओं के अन्तर पर। यदि वे इस आधारभूत अन्तर पर ध्यान दें और उस हिन्दूत्व की स्वाभाविक उत्पन्न विकास प्रक्रिया के मध्य में समानता का प्रयत्न करते तो वे बलवती और गहरे परम्पराओं के इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव न मानते। किन्तु, ताराचन्द की अध्ययन रीति में समानान्तर उत्पन्न विकास बद्धि का कोई स्थान ही नहीं है।

ताराचन्द के मत में, मध्ययुगीन रहस्यवादी धर्मग्रन्थों के रूप, प्रतीक, प्रकार और पश्चिमतन्त्रीय आध्यात्मिक बद्धि का प्रतीक न होकर बाल्य प्रभाव का प्रभाव है। यदि हम इस्लाम में पहले व्याख्यात का प्रभाव देखें तो डा० ताराचन्द इसाईमत का रहस्यवादी परम्पराओं का कारण नहीं मानते क्योंकि हिन्दूत्व और इसाईमत का सम्पर्क होने वाली आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ इस्लाम में नहीं थी। 'आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ का क्या अर्थ है, हम ताराचन्द को स्पष्ट नहीं किया है। ताराचन्द हमसे कहना चाहते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत के सामाजिक पक्ष सम्बन्धी विचारों तथा परम्पराओं में जो अन्तर है, उनका बहुत बड़ा अन्तर ताराचन्द सामाजिक उदय युद्धन धार्मिक मन्त्रों राजनैतिक आचार्यों और हिन्दूत्व के सामाजिक धार्मिक तथा औद्योगिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। फिर भी, ताराचन्द के मत में, इस पर इस्लाम का प्रभाव है क्योंकि धार्मिक आस्था का उत्तरा

1. नज्जाम अग़मरी और गज़ाली प्रसिद्ध सूफ़ी चिन्तक हुए हैं और विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्व बलवती दायन के प्रभाव हैं।

स्तर सरलीकरण और उसमें बढ़ती हुई भावुकता का पुट इस्लामी प्रभाव का ही परिणाम है। जसाकि ताराचन्द ने लिखा है, 'गंगा' लिखता है कि 'जस उत्तरात्तर सरलीकरण और बढ़ती हुई भावुकता के पीछे एक निश्चित धर्म और प्रवृत्ति काम कर रही हो। किन्तु, यह निश्चित धर्म और प्रवृत्ति हिन्दुत्व का आंतरिक विनाश नहीं है—वह इस्लाम से आयी है। महात्मा बुद्ध द्वारा सरलीकरण की मांग और वेदा की रहस्यवादों अभिव्यक्तिमा जस अस्तित्व में आकर समाप्त हो गयी है ? यह मानत हुये भी कि रहस्यवादों धार्मिक अनुभव का रूप में मुसलमानों ने हिन्दुओं को जो कुछ अपित किया वह हिन्दुओं के लिए नया नहीं था और हिन्दू मस्तिष्क में सारमीकरण तथा समन्वय की अपूर्व क्षमता है, वह रहस्यवाद का इस्लाम का ही योगदान मानत हैं क्योंकि उनका तब आधारित है परिस्थिति प्रमाण (Circumstantial Evidence) पर—यह प्रमाण जिसमें अनुमान का अधिष्ठान पुट रहता है। दमिण म, भक्ति तथा रहस्यवाद के अधिकतर तत्व, अपने व्यक्तिगत रूप में हिन्दुत्व के स्वाभाविक विकास का अलग-अलग परिणाम हैं। यह स्वीकार करते हुए भी ताराचन्द यह प्रतिपादित करते हैं कि ये सारे तत्व अपने सम्मिलित रूप में और अपने एक विशेष युक्तिक के कारण मुस्लिम आस्था (Muslim Faith) का आभास देते हैं और हिन्दुत्व पर मुस्लिम प्रभाव की सम्भावना के तब की ओर भी दृष्टा प्रदान करते हैं। हिन्दुत्व में इस्लाम की प्रतिष्ठित और प्रभाव ही बढ़ने वाला विज्ञान विरोधी तर्कों की इस भाँति में पड़ सकता है और एकतरफा मायताओं की प्रतिपादित कर सकता है।

यह दोष न तो डा० ताराचन्द का है और न उनके जस अर्थ इतिहासकारों का। वास्तव में, यह दोष है ऐतिहासिक विवेचन की उस पुरानी परम्परा का जिसमें इतिहासकार किसी प्रयोग विधि पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखता है और उस ही प्रधान मानकर और सभी कुछ गीण मान लेता है। डा० ताराचन्द के लिए भारत पर इस्लाम का प्रभाव प्रधान प्रयोग है और इस्लाम के पहले तथा बाद का हिन्दुत्व गीण। किन्तु जहाँ सतत अभ्युदय बढ़ि और उद्विकास है वहाँ इस्लाम वह प्रवाह है जो एक बड़े प्रवाह से मिलता है। हिन्दुत्व पर इस्लाम का क्या प्रभाव पड़ा यह एक विषयातिरिक्त प्रश्न है ? इस सदम में सही प्रश्न यह है कि भारत में इस्लाम के प्रवेश में हिन्दू संस्कृति की उद्विवासी प्रक्रिया में क्या परिवर्तन लहरें उठी और, उनके मध्य में हिन्दुत्व या 'प्रापक' अर्थ में भारतीय संस्कृति का किस प्रकार उद्विकास हुआ। सांस्कृतिक उद्विकास सदम समन्वयकारी होता है जिसमें प्रत्येक परिवर्तन एक उद्विवासी परिवर्तन शृंखला से सम्बद्ध रहता है। जहाँ परिवर्तन में स्थायित्व न हो और स्थायित्व में आधारभूत तत्व न बने रहें, वहाँ केवल परिवर्तन होता है, उद्विकास नहीं। इस्लाम के प्रवेश से हिन्दुत्व का परिवर्तन ही नहीं, उद्विकास भी हुआ।

इस्लाम और हिंदुत्व की तुलना करते समय अधिकतर लोग का ध्यान, एक ओर, मरबोदित इस्लाम पर रहता है तो, दूसरी ओर, हिंदुत्व के उस रूप पर जो निगम अथवा वैदिक है। किंतु वास्तव में, आगम (अवदिक) भी हिंदुत्व का उतना ही अंग है जितना कि निगम। आगम से निगम और आगम तथा निगम का उत्तरांतर समान्य हिंदुत्व की उदविकासी प्रक्रिया की मूलप्रवृत्ति रही है। जन-संस्कृति के तत्त्व तथा परम्परायें, आगम के माध्यम से, समयानुसार निगम में समन्वित होती रही हैं और इसी कारण समय समय पर मिलान वाली उत्प्रेरणाओं के कारण, हिंदुत्व में आगम का उभार होता रहा है। भारत में इस्लाम तथा पश्चिमी सभ्यता का प्रबल उत्प्रेरणायें रही हैं जिनके प्रभाव में आगम का उभार मिला तथा निगम में उसका समन्वय हुआ। मध्ययुग में रहस्यवाद अथवा मानवतावादी विचारों का उभार इसी उदविकासी प्रक्रिया का परिणाम है। भक्ति का एक ओर जन-आत्मार्पण के रूप में उभरना तथा दूसरी ओर उसका भारतीय दर्शन की परम्परा में समन्वित होना इसी तथ्य का प्रमाण है।



पञ्चम अध्याय सान्मिकरण, समन्वय, पुनरुत्थान, सुधार और सघटन

पञ्च परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के वातावरण में, भक्ति-आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निवचन तथा पुनः स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पञ्च परम्परा का, जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में नियमागम का स्थापन सम्भव हुआ पुनरुत्थानवादी सुधारवाद का आदोलन बना अनेक इस्लामी विरोधताओं का हिन्दुत्व में सात्विकभर और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुत्थान के द्वारा एश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करने का और जाति के अन्तर का निश्चय बनाया गया, ज्ञानमय भक्ति का सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियाओं एक साथ चलीं और उनके माध्यम से भक्त-सत्ताओं द्वारा संगठित पञ्च, जिनका आविर्भाव हम बाल के सार मारत में हुआ। ये पञ्च हिन्दुओं में मजहबों आस्था स्वरूप प्रकटित हुए। प्रत्येक पञ्च के प्रणेता न भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निवचन करने, अपने पञ्च का संगठन किया। पञ्च निर्गुनवादी, भक्तिमार्गी जाति-वादि विरोधी और सहजगानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, साम्राज्य का निरर्थक माना, गृहस्थ-साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत् भजन को मातृ प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी पंथों का निम्न स्तर की जनता में सगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिंदू जनता में भक्तिवादी पंथों का सगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का मुकाबल इल्लौकिकता की ओर था। हिंदू मुस्लिम संघर्ष बादशाहत के बाद हुए संघर्ष और निरंतर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने संभवतः पारलौकिकता के भाव का सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बदौती हुई कट्टरता ने अनेक पंथों (सिक्ख, मननामी, बैरागी) को उतना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने संघर्ष का जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अस्तित्व हुआ है उनमें से मुख्य हैं—बौद्ध, सिक्ख, बौद्ध, राधास्वामी, वीर शैव तथा त्रिगायन इत्यादि। यह परम्परा में पंथों की मठायी सगठन के रूप में विकसित हुई। प्रत्येक पंथ का एक महंत हुआ और कई पंथ कालांतर में कई महंतों में बंट गए। यह पंथ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महराजों के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर पुराने पंथ (जैसे कबाल, रदास और शिवनरायणी) स्थायी रह गए और दूसरी ओर नए पंथों की स्थापना हुई। भारतीय संस्कृति तथा इसाईयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आंदोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भगत आंदोलन जैसी हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आंदोलन का रूप लिया है।

निगुण पंथों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा साधुमार्गी गायत्रीवादी पंथ जैसे धर्मों, दानों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निगुण पंथों पर अतः उपनिषद् तथा वेदांत का, बौद्ध धर्म का, अतः भारत की योग-परम्परा का, और अतः इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण है वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के संघर्ष के कारण भारत में उत्पन्न हुई थी। ये पंथ व सुधारवादी आंदोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग-अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहते हैं, क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक-आर्थिक दान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आंदोलनों के सम्बंध में पंथ और सम्प्रदाय का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्ग) से जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निगुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय नहीं जा सकता है कि

पञ्चवा अध्याय सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और सघर्ष

पञ्च-परम्परा

इस्लामी सम्पत्त के वातावरण में भक्ति आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निश्चयन तथा पुनर्स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर पञ्च परम्परा का, जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागत का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ ओपनिषत्तिक बौद्धिकता के पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अंतर को नुस्मारक बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारापण हुआ। ये सारी प्रक्रियाएँ एक साथ चली और उनके माध्यम में भक्त-सत्ता द्वारा संगठित पञ्च, जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पञ्च हिंदुओं में भजहूबी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पञ्च के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिंदुत्व का निश्चयन करके, अपने पञ्च का संगठन किया। पञ्च निगुनवादी, भक्तिमार्गी, जातिपाति विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने भूतिपूजा का खण्डन किया, संयास का निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श का प्रतिपादन किया और भगवत् भजन को योग प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में मुफ्ती-पंथा का निम्न स्तर की जनता में सगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पंथा का सगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारमार्थिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का भुक्तावस्थैतिकता की धार था। हिन्दू मुस्लिम संपर्क, बादशाहत के बढ़ते हुए बर्भट और निरन्तर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारमार्थिकता के भाव का सामाजिक मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनन्त विद्वानी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने जनता में या (मिस्त्र सतनामा बैरागी) का उत्पन्न हो कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने मध्य का जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अस्तित्व हुआ है उनमें से मुख्य हैं—कबीर, सिक्ख, बण्णवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा त्रिपायत इत्यादि। यह परम्परा में ये पंथ मठों में समाज के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महत्त्व हुआ और कई पंथ बालासुर में कई महत्त्व में बंट गए। ये पंथ परम्परा जिनसे भी समाजों तक फैलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना जनामधी गताम्नी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महार बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक बार, पुराने पंथ (जैसे कबीर, रदास और विजयरायणी) स्थायी रहे हैं और, दूसरी ओर, नए पंथों की स्थापना हुई। आधुनिक सत्यता तथा इमाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इस परम्परा ने भीला में भगत जादालन जय हिन्दुव की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलन का रूप लिया है।

निगुण-पंथा का आविर्भाव उन आन्दोलनों के भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा यागमार्गी गोरखनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निर्गुण पंथों पर अनेक उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का अनेक भारत की याग-परम्परा का, और अनेक इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिवाद का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण है वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के आगमन के कारण भारत में उत्पन्न हुई थी। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग-अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का सगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक स्थान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में 'पंथ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक याग (अथवा मार्ग) में जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय सगठित हुआ है। निर्गुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि



५ ब्रह्मा अभ्यास सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुत्थान, सुधार और संघर्ष

पंच परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के शांतिवरण में भक्ति आ दालन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निषेधन तथा पुनः स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पंच परम्परा का जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमायम का 'यापन' समकालीन पुनरुत्थानवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ, औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुत्थान के द्वारा एकेश्वरवाद के मत को प्रतिपादित करने में और जाति के अंतर को निश्चार बताया गया ज्ञानमय भक्ति का सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम ने प्रति विद्रोह का बीजारापण हुआ। ये सारी प्रक्रियाएँ एक साथ चली और उनके माध्यम से भक्त सत्ता द्वारा संगठित पंच जिनका आविर्भाव इस काल में सार भारत में हुआ। ये पंच हिन्दुओं में मजहबों आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पंच के प्रणेताने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निवचन करके अपने पंच का संगठन किया। पंच निगुनवादी, भक्तिमार्गी जाति-मानि विरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेतानों ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया संयाम का निरसक माना, गृहस्थ साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत भजन का मार्ग प्राप्ति का

बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि धर्म शासकों का भी शासक है और दण्ड का आधार निरीह शक्ति नहीं, बरन धर्म है। बौद्धग्रन्थों में धर्म को वह परम्परा माना गया है जो 'याय, निष्पक्षता और परोपकारिता पर आधारित है। राजा का आधार अध, धर्म, काल, माना और परिपद हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजधर्म का उद्देश्य है इसकी साधना धर्मपालन समयानुसार उचित माना में दण्ड का प्रयोग और राजधर्म को लागू करने के लिए परिपद की आवश्यक मन्त्रणा का पालन। धर्म का बाढ़ा में सत्य का प्रतीक माना है। राजधर्म की धारणा में, इस प्रकार धर्म और दण्ड के मिश्रण में एक म मिल गए हैं जिससे कारण राजधर्म में, विनोदतया दण्ड के उपयोग में, नतिकता का समावेश हुआ है। इस कारण राजधर्म में दण्ड बरन निरीह राजनतिक शक्ति और राज्य एक निरुद्ध्य प्रशासक संगठन होने से बचे हैं और सम्राट की निरुक्तता पर राय लगी रही है। यही कारण है कि हिंदू राजनतिक विचारधारा में 'यचित का बर्हा राज्य तथा सम्राट के प्रति विद्रोह करने का अधिकार मिला हुआ है जहाँ राज्य तथा सम्राट धर्म के पथ से झिग चुके हैं। इसी कारण महाभारत का युद्ध धर्मयुद्ध है और कुम्भोध धर्मक्षेत्र है। गुरु रामनाथ ने शिवाजी का अधर्म के प्रति लड़ाई की सलाह दी थी न कि औरंगजेब के प्रति। दवागुर सम्राट की कल्पना का सम्बन्ध भी अधर्म के प्रति धर्म सम्राट और धर्म की अतसीगत्वा विजय से है। बाइ आख्य नहीं यदि वर्तमान भारत में, भारत चीनी युद्ध का देवागुर तथा अधर्म का प्रति धर्म का सम्राट बर्हा गया है।

राजधर्म का धर्मप्राण मानन व विचार से हिंदू राजनतिक संगठन में उन अनेक समाजशास्त्रीय तथ्यों का प्रस्तुतन हुआ है जो भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं। राजधर्म में धर्म के दिय तथा सामाजिक पक्षों के सम्बन्ध का प्रयास किया गया है। राजधर्म में धर्म के सामाजिक पक्ष का निवचन परिवार कुल, जाति वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्मोप प्रथाओं युग मर्यादाओं और मानवता व उन नियमों के रूप में किया गया है, जिनका निष्पक्ष श्रुतियों और स्मृतियों में दृष्टा है। श्रुतियों और स्मृतियों प्रथाओं पर आधारित रनी हैं। अतः राजधर्म में धर्म का आधार प्रथा रही है। यही कारण है कि धर्मग्रन्थों में विरोधी प्रथाओं का उल्लेख मिला है और इस बात का भी उल्लेख मिला है कि राज्यप्रणामन में प्रथा विधि सभी शक्तिशाली है। भारतीय समाज का सामाजिक शास्त्रात्मक विजातिता का ही इसका कारण माना जा सकता है। शास्त्र प्रारम्भ न ही जातियों और गणजातियों का रूप रहा है और प्रत्येक जाति तथा गणजाति व अनेक सामाजिक शास्त्रात्मक नियम रहें हैं। इसके अतिरिक्त धर्मोप शास्त्रात्मक आधार हैं। धर्मग्रन्थ इस विज्ञानीयता में सजातीयता स्ताने का प्रयास हैं और यही प्रयास हिंदू सामाजिक संगठन का आधार रहा है। लेकिन, यह गज्ञानीयता तो किसी मजहब द्वारा घोषी गई है और न किसी राज्य द्वारा। एभी दगा में,

सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम के रूप में, प्रथा ही ही प्रमाण मानने की परम्परा रही है। इस कारण भारत में उस राजनैतिक विचारधारा का अभ्युदय हुआ है जिसमें यह माना गया है कि प्रजा की प्रथाओं व अनुसार प्रशासन करना ही सभ्यता का धर्म है। जातिवाद और गणजातियों के नियमों व अनुसार प्रशासन करना और विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के नियमों का लागू करना राज्य का धर्म माना गया है। मुस्लिम तथा अंग्रेज शासकों ने भी इस नियम की अवहेलना नहीं की है। अंग्रेजी राज्यशास्त्र में जब स्वीय विधि (Personal Law) का महिमावद्ध करने का प्रसंग उत्पन्न तब यही नियम लागू ठहराया गया कि जहाँ धर्मग्रन्थों में मतभेद हो, वहाँ प्रथा ही निश्चित वैधिक प्रमाण है। भारत में सविधायिनी मता का श्रीगणेश अंग्रेजी राज्यकाल में हुआ है। प्रथा की सर्वोपरिता का ही यह परिणाम है कि भारतीय सामाजिक विधान प्रणाली, एक ओर जटिल है और दूसरी ओर, अधिकतर मामलों में विधान प्रणाली में प्रथा का सामान्यविधि का अपवाद माना गया है। प्रथाओं के वैधिक अपवाद को भी उतना ही वैधिक प्रमाण माना गया है जितना कि किसी निरूपित विधि को। हिंदू विवाह अधिनियम (1955) इसका प्रमाण है। इस अधिनियम के अनुसार बहुपत्नीत्व अनाद्य है लेकिन औनसारबाबर के बहुपत्नीत्व का अपवाद है क्योंकि वहाँ की प्रथा के अनुसार बहुपत्नीत्व वहाँ के सामाजिक जीवन का आधार है। इस अधिनियम के अनुसार सगाई विवाह वहाँ वैध है जहाँ प्रचलित प्रथा में इसका विरोध न हो।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विजयनगर के हिंदू राजाओं ने अपने लिए जातिरक्षणक (Maintainer of Castes) की उपाधि ग्रहण की थी¹। सम्राट के जातिरक्षणक हान का तात्पर्य है जातिगत प्रथाओं की रक्षा करना तथा उनको लागू करना। ऐसा वक्ता में जाति तथा गणजाति पंचायतों का महत्त्व स्वतः बत जाता है। जाति तथा गणजाति पंचायतों और सामन्तवायन, राज्य तथा व्यक्ति के बीच में, एक सर्वोच्च सामाजिक क्षेत्र (Buffer Social Zone) का स्थान रही हैं। विभिन्न जातियों तथा गणजातियों के बीच में व्यवस्था बनाय रखना और आर्थिक तथा वर्णों के नियमों का व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। इसका तात्पर्य यह निराल्पता है कि विभिन्न जातियों, गणजातियों तथा वर्णों के स्वधर्म की रक्षा करना और उन व्यवस्थित रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य रहा है। प्रथा का प्रमाण मानने हुए, राजधर्म की धारणा के अनुसार राज्य का मुख्य कर्तव्य² जावन व तीन धातुओं— धर्म, धन और धाम (जिसमें परिवार, जाति धर्म और वर्ण की व्यवस्था आ जाती है) का व्यवस्थित रखना है। हिंदू सामाजिक सभ्यता की धारणा में, राज्य का स्थान अराजकता और व्यवस्था के बीच में आता है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य अरा-

जकता को रोकना और वर्णाश्रमी व्यवस्था और व्यक्तिगत, साम्प्रतिक तथा सस्यामी सुरक्षा को बनाये रखना है। मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अतः, मोक्ष राजधर्म के क्षेत्र से बाहर है।

हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था की धारणा में राज्य तथा सम्राट के दा पटलू है— एक, पहलू है धर्म, अथ तथा काम की व्यवस्था के मरक्षक का, स्वधर्म के परिपोषक का और परोपकारी कृपालु का और दूसरा, जा वैवल व्यवस्था का माध्यम है और अराजकता का अवरोधक है, जिसका कर्तव्य उन प्रयत्नों को लागू करना है जिनका व्यक्ति परिवार जाति वंश, आश्रम, ग्रामीण सामाजिक समूहों और धनापाजन में पालन करता है। व्यक्ति का राज्य से वही तरह सम्बन्ध है जहाँ तक धर्म और काम की प्रवर्धित साधना का सम्बन्ध है। व्यक्तिगत जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही साथ, व्यक्ति का राज्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि राज्य का मुख्य कर्तव्य है—कुलधर्म जातिधर्म, वंशधर्म तथा संक्षेप में स्वधर्म को प्रवर्धित करना। व्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध परिवार, जाति तथा ग्राम से है क्योंकि वही उसके सामाजिक जीवन तथा अस्तित्व की परिसीमाएँ हैं। ऐसी दशा में राज्य व्यवस्था में दो प्रवर्तियों का परस्पर हाता है—एक राज्य समाज का वेद है और जनकल्याण का मुख्य माध्यम है। उसका अस्तित्व परांपरागत है अतः, उसके अधिकार असिमित हैं और दूसरे उससे अधिकार वही तक सीमित हैं जहाँ परिवार, जाति, वंश आश्रम व्यवस्था और ग्रामसमूहों के अधिकारों का अंत होता है। इसलिए राजतन्त्र में दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक आर राज्य का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव जीवन से है—सभी कुछ उससे कर्तव्य तथा अधिकारों में आता है। राजधर्म में परांपरागता का विचार न राज्य का व संस्था अधिकार तथा कर्तव्य दिये हैं जो जनकल्याण के लिए आवश्यक हैं लेकिन दूसरी और सामाजिक व्यवस्था (परिवार, जाति और ग्राम) के कारण उससे अधिकार सीमित हैं। अतः परांपरा और अपरिग्रह राज्यधर्म के दो मुख्य आधार हो जाते हैं लेकिन उनका विस्तार वही तक है जहाँ से परिवार, जाति, ग्राम, वंश तथा आश्रम की सीमाएँ प्रारम्भ होती हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि भारत में अनहिताय व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य ने, एक संस्था के रूप में व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के सभी अंगों को व्यवस्थित किया है और दूसरा हा व्यापक कार्यों के बावजूद भी राज्य सभी में निरस्त अधिकारकर्तृता का रूप न ले सका। बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि जहाँ राज्य संस्था है और इस कारण उसे असिमित अधिकार मिल जाते हैं क्या वही व्यक्ति स्वतंत्र रह सकता है? अन्तर्गत के मत में, प्राचीन भारत में राज्य समाज का वेद और जनकल्याण का मुख्य माध्यम समझा जाता था जिसके कारण राज्य काय क्षेत्र काफी विस्तृत था। लेकिन, इसमें व्यक्ति स्वतंत्र्य पर प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि राज्य के बहुमूर्ती नाय मुख्यतः राज्य की नीवरणादा द्वारा ही नहीं

हानि य¹ ।

धर्म के आधार पर प्रथा को राज्य-त्र और सामाजिक-व्यवस्था का आधार मानने का एक और परिणाम निकला । राजधर्म के निरूपण में जहाँ तक दण्ड और 'पाप' के छाँट करने का प्रश्न है, हिन्दू विचारका न समता सिद्धांत (The Principle of Equity) को स्वीकार किया है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य ने इन बातों पर जोर दिया है कि दण्ड अपराध के अनुकूल होना चाहिए । दण्ड का अपराध के अनुरूप बनाने का सिद्धांत में समता सिद्धांत निहित है । अतः, धर्म सिद्धांत का व्यावहारिक पर प्रथा पर आधारित था । इसलिए व्यवहार में समता सिद्धांत व्यवहार्य ही रहा । प्रथा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो रूप विकसित हुआ वह वर्ण-व्यवस्था के सैद्धांतिक रूप से भिन्न रहा है । जैसा कि वर्ण के विवरण के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है सिद्धांत में सभी वर्णों का समान माना गया है, यद्यपि व्यवहार में विभिन्न वर्ण असमान रहे हैं । वर्णव्यवस्था का अर्थ एक उच्च-चर परम्परा प्रणाली में ऐसे विभिन्न समूहों जिनका सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न है । राजधर्म का उद्देश्य माना गया है विभिन्न वर्णों और उनकी प्रथाओं व्यवस्था को बनाए रखना, जिसका व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है वर्ण व्यवस्था की उच्च-चर परम्परा में निहित प्रथाओं जसमानताओं का व्यवस्थित ही नहीं करना बरन उन्हें बनाए भी रखना । अतः कारण हिन्दू-धर्म विधान में विभिन्न वर्णों का समान अपराध के लिए जर्म जर्म दण्ड का विधान मिलता है । जिस प्रकार, धर्मशास्त्री 'पाप' व्यवस्था में भुक्तमान के प्रति कानून की मांग (गवाही) करता है उसी प्रकार प्रथाओं के व्यवस्था-व्यवस्था में शास्त्रों के सिद्धांतों की मांग करता है । इसी परम्परा का यह भाव परिणाम है कि परम्परानुसार हिन्दू राजनैतिक व्यवस्था में गद्द एक प्रकार का अधिपति नागरिक रहा है और गद्द का अनेक अधिकारों में वरित रहना गया है । रामायण में यह कहा आई है कि भगवान् रामचन्द्र ने उस गद्द का वध कर लिया था जो तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहा था क्योंकि परम्परानुसार तप उच्चवर्णियों के लिए शास्त्रों का अधिकार है न कि गद्दों का । यही तो गद्दों की उन तमाम नियमितताओं का अर्थ होता है जिन्हें धर्म सामाजिक विधान और सनातन-समाचार से दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

1. सल्लेखर ए० एम० स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एशियाटिक इण्डिया पृष्ठ 33, राज्य की यह परम्परा आज भी बनी हुई है । भारत के वर्तमान राजनैतिक संगठन में राज्य की जनकल्याण का मुख्य माध्यम माना गया है लेकिन माय-ही-साप यह भी स्वीकार किया गया है कि राज्य का निरंकुश अधिनायकत्व नहीं बनाना है और इसके लिए ग्राम पंचायतों और क्षेत्र पंचायतों के विकास का वायव्यम अपनाया गया है ।

समता का सिद्धांत नया नहीं, पुराना है, जो हिंदुत्व में ही नहीं वरन् अन्य सामाजिक-धार्मिक प्रणालियों में भी पाया गया है। लेकिन, उने व्यावहारिक जामा पहनाने का आ गोलन नया है, जिसकी उत्पत्ति योरोप के सुधार आ दोलन के युग में हुई है। इसी आन्दोलन के प्रभाव के परिणामस्वरूप वर्तमान भारत में समता सिद्धांत को स्वीकार करके, उस वैधिव्यवहारिक आधार प्रदान किया गया है।

राजधर्म का धारणा में, इस प्रकार, राजसत्ता का आधार प्रथा है। प्रथा से ही राजसत्ता की सीमाएँ और परिसीमायें निर्धारित होती हैं। महाभारत राज्योत्पत्ति स्मृतियों और नीतिशास्त्रों में प्रथा को ही प्रमाण मानकर राज के सिद्धांत सत्ता की सीमाओं का निर्धारित किया गया है। लेकिन, हिंदू विचारधारा में राज्य केवल प्रथा पर ही आधारित नहीं है।

राजसत्ता का एक अन्य आधार भी है और वह है राज्यात्पत्ति का दवी सिद्धांत (The Divine Theory of the Origin of State)। यहाँ राज्य एक दवी सजन है एक दिव्य प्रमय है और राज्य का अधिष्ठाता सम्राट एक पुरुष है—वह पुरुष जिसमें दवी गुणों का समावेश होता है। हिंदू विचारधारा में राज्यात्पत्ति के तीन सिद्धांत मिलते हैं—एक सनिक सिद्धांत, दूसरा सविदा सिद्धांत और तीसरा दवी सिद्धांत। सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत के प्रमाण दान्वि साहित्य में मिलते हैं। तृतीय ब्राह्मण में यह कहा आई है कि असुरों से बार बार हारने पर दवों ने इंद्र को अग्रिम सनि नेता चुना क्योंकि असुरों में सनिक नेतृत्व था और देवों में सनिक नेतृत्व नहीं था। युद्ध का सनिक नेता नाति काल में सम्राट हो गया। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेक का जी वणन मिलता है उसमें सम्राट द्वारा दया की दौड़ के खेल में भाग लेने का उल्लेख मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि उस काल में सम्राट में सनिक गुणों की अधिक अपेक्षा की जाती थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सतत युद्ध की आवश्यकताओं के कारण ही आयुष्मण के प्रारम्भिक काल में सम्राट के पद का आविर्भाव हुआ होगा। यह निश्चित है कि दान्वि काल में सम्राट मुख्यतः सैनिक नेता और सनाध्यक्ष ही है। उसका मुख्य कार्य सनिक नेतृत्व है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वदिककालीन सम्राट पुरोहित नहीं था। सम्राटत्व क्षत्रिय का कम और अधिकार था और पुरोहितत्व का अधिकार तथा धर्म। सम्राट अपने राज्य तथा प्रजा के लिए धन अवश्य करता था लेकिन धन यश में पुरोहित ब्राह्मण हुआ करता था न कि क्षत्रिय। भारत के इतिहास में ब्राह्मण सम्राटों के प्रमाण मिलने हैं लेकिन ये प्रमाण अपवाद को सिद्ध करते हैं न कि सामान्य नियम को। सैनिक नेता होने के कारण सम्राट पुरोहित तथा धन का रक्षण था। सम्राट तथा राज्य प्रजा के रक्षण हैं यह विचार दान्वि काल में अस्तित्व में आ गया था क्योंकि उग काल की सनिक आवश्यकताओं के कारण सम्राट का पद स्थायी हो गया था। गान्धर्व सम्राट है यह विचार पुरोहित वय की दन हो सकती

है। इसी विचार के आधार पर आगे चलकर शासक को देवी पुष्प माना गया। शासक में दैवत्व की स्थापना पुरोहित वर्ग द्वारा हुई है, ऐसा इतिहासकारों का मत है।

मविदा सिद्धांत (Contract Theory) का निरूपण बौद्धों ने किया है। महाभारत में राज्यात्मिकता के दैवी सिद्धांत का निरूपण हो चुका था, लेकिन बौद्धों ने इस सिद्धांत का अनुमरण नहीं किया क्योंकि बौद्ध विचारधारा दिव्यवादी नहीं है। बौद्ध विचारधारा में राज्य की उत्पत्ति उस समयोत्ते (मविदा Contract) से हुई है जो राजा और प्रजा के बीच में हुआ है। उस समयोत्ते के अनुसार राजा ने जब प्रजा की रक्षा की प्रतिज्ञा की तो प्रजा ने राजा का राजस्व देना स्वीकार किया। राजस्व बौद्ध विचारधारा में रक्षा और प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं के उपरान्त राजा को दिया हुआ प्रजा का योगदान है। इस सिद्धांत में यह भी निहित है कि जब कोई भी पक्ष समयोत्त का तात्ता है तो समयोत्त रद्द हो जाता है इसी आधार पर बौद्धों ने प्रजा की रक्षा और प्रशासन राजा का कर्तव्य माना और राजस्व द्वारा राजा के साथ सहयोग करना प्रजा का कर्तव्य। इस सिद्धांत के दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पक्ष न तो एकलपक्ष निरूपण है और न निरंकुश। इसी कारण, राजधर्म में, जमा कि पक्ष सिद्धांत हो चुका है बौद्धों ने परिष्कृत, जिसका तात्पर्य प्रजा की मजबूती पर्याप्त सन्तुष्टि जा सकती है का महत्वपूर्ण स्थान दिया है। बौद्धों की विचारधारा में राजा और राज्य की उत्पत्ति ही तब हुई जब मनुष्य उस स्वर्णिम युग में अद्ययन्तिन हो गया जहाँ न राजा की आवश्यकता थी न राज्य की और न प्रजा की रक्षा की। राज्यात्मिकता का यह सिद्धांत एक युक्तिमय कल्पना मात्र है, जिसे केवल बौद्ध धर्म में ही मान्यता मिली और बुद्धवाद के साधनायक बनने की राह में गया।

हिन्दू विचारधारा में राज्यात्मिकता के दैवी सिद्धांत का ही प्रधानता मिली है। वैदिक काल में ही मनुष्य सिद्धांत का विचार मनुष्य पद्धति के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद में सम्राट् की इन्द्र का सहचर और जयन्त कर्ता गया है। ऋग्वेद में सम्राट् परीणिन का एक दस्ता के रूप में वर्णन किया गया है और अथर्ववेद में सम्राट् का प्रजापति का प्रतिनिधि माना गया है। वैदिक युग के बाद इसी परम्परा का विस्तार मित्ता है जिसमें दैवी सिद्धांत के साथ धर्म की धारणा का समर्थन हुआ है। हिन्दू विचारधारा में राज्यात्मिकता के दैवी सिद्धांत का सार यह है कि जब पक्ष स्थिति है तो उस पर आधारित राज्य तथा उसका रक्षक सम्राट् भी दिव्य है। महाभारत में एक ब्रह्मर्षि के रूप में, राज्यात्मिकता के दैवी सिद्धांत के निरूपण

के काल में हुई है, शिवाजी को युगावतार कहा गया है—एसा युगावतार जो विष्णु का अंश है, जो आठ लोकपालों के अंगों से अन्तरित हुआ है और जो वस्तुतः विष्णु पुत्र है¹ ।

राजधर्म में राज्योत्पत्ति का दैवी सिद्धांत, इस प्रकार, राज्य को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए अस्तित्व में आया। लेकिन, इस सिद्धांत की विशेषता यह है कि इसमें राज्य दिव्य है न कि स्वयं सम्राट्। सम्राट् की सामाजिक दायित्वता व्यक्तिगत नहीं है, वह सत्त्वागत है। सम्राट् दिव्य नहीं है वरन् सम्राट्व दिव्य है। कोई भी व्यक्ति वही तब दिव्य है जहाँ तक वह सम्राट्व के कर्तव्य का पालन करता है। सम्राट्व के कर्तव्य-पालन का आधार धर्म है। अतः सम्राट् वही तक दिव्य है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजकाज में राजधर्म का पालन करता है। दैवी सिद्धांत से जसा कि स्वाभाविक या राजसत्ता के एकीकरण का प्रोत्साहन मिलता रहा जिसके कारण समय-समय पर, साम्राज्य को संगठित, एकीकृत और केंद्रीभूत करने में सहायता मिली। दैवी सिद्धांत वह माध्यम रहा है जिससे सम्राट् के प्रति प्रजा की निष्ठा प्रोत्साहित होती रही है। लेकिन साथ ही साथ, इस सिद्धांत में वह विचार भी निहित है कि जहाँ सम्राट् धर्म से गिर जाता है, वहाँ उसकी दायित्वता समाप्त हो जाती है। अतः सम्राट् की आज्ञा का पालन प्रजा का वही तक धर्म है जहाँ तक वह धर्मानुसार राजधर्म को करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सम्राट् को मिला हुआ दण्ड का अधिकार दैवी अधिकार है लेकिन सम्राट् उस अधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता है। सम्राट् के दिव्य अधिकार दण्ड के प्रयोग की बगैर धर्म भी दिव्य है। इस प्रकार, राज्योत्पत्ति के दैवी सिद्धांत में जहाँ राज्य को दिव्य माना गया है वहाँ धर्म को भी दिव्य मानकर, धर्म को दिव्य के आधार पर सत्त्वागत करने का प्रयास किया गया है। राजसत्ता एवं दिव्य समस्या है, जिसमें कार्यात्मक ढंग से सम्बंधित होने के कारण ही सम्राट् दिव्य है। इस सिद्धांत के दो परिणाम निकले—एक, राज्य सत्ता का आधार नैतिकता है न कि निरीह सैन्य और उसका निरंकुश प्रयोग और दूसरा, जहाँ सम्राट् धर्म से विमुख हो प्रजा को उनकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। हिंदू विचारधारा में निश्चित राजधर्म की धारणा जहाँ एक ओर, सामाजिक-एथिक परिस्थितियों की उत्पत्ति है वहाँ दूसरी ओर हमें राजतंत्र में नैतिकता का समावेश हुआ तथा उन अवस्थाओं में राज्य के प्रति विद्रोह करने का वैयक्तिक अधिकार बना रहा जहाँ राज्य और सम्राट् धर्म से विमुख हो।

सम्राट्व की धारणा भारत की सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों की

1 सरकार, विनयकुमार दि पाजिटिव ब्रह्माण्ड आफ हिंदू सोसियोलोजी

पट्टभूमि में विकसित हुई है। यहाँ सम्राट् क्षेत्रीय अधिनायकों को अपने शासन में रखकर साम्राज्य की स्थापना करते रहे हैं। भारत गणजातियों में बड़ा था और प्रत्येक गणजाति अपने में एक राष्ट्र थी। जैसा कि गाँडा के राजनैतिक प्रसार से स्पष्ट है, कुछ गणजातियाँ न क्षेत्रीय राज्यों का रूप ले लीं और इस प्रकार क्षेत्रीय राज्यों का विकास हुआ। भारत में एक बार, क्षेत्रीय राज्यों की स्थापना की परम्परा मिलती है और दूसरी ओर अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापन की। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अलाउद्दीन खिलजी अकबर और राजेश्वर और गिवाजी सम्राट् बनने की भावना से प्रेरित रहे हैं। यातायात के साधनों की अमुविधा के कारण प्रथम शासन की सम्भावना न होने से अन्तर्गत सम्राट्त्व का आदेश जाया। सम्राट् का काम दिग्विजय करके अखिल क्षेत्रीय शासक का अपने अधीन करके जीत लेना और लकर साम्राज्य की स्थापना करता रहा है। क्षेत्रीय सामक सम्राट् के नाम पर राज्य करते रहे हैं। इस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपने कुछ कम्पनी बहादुर का खिताब चुना और जहाँगीर भी मलायन तक मुगल सम्राट् के नाम पर राज्य किया। अंग्रेजी सरकार ने भी देशी रियासतों का कायम रखवा। इस विकास के कई परिणाम निकले पहला भारत में जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी की भावना का विकसित हुई किन्तु राष्ट्रीयता की भावना क्षीण रही। दूसरा, सम्राट् के स्तर का राजनैतिक संगठन अलग रहा और क्षेत्रीय तथा स्थानीय स्तर अलग। तीसरा, सम्राट् का सत्ता बँट रहे तक राजनैतिक गति रूढ़ि किन्तु उम सत्ता बँट क्षीण होने ही अराजकता फैली। यही कारण है कि भारत में एक बार जहाँगीर चन्द्रगुप्त और अकबर के राजनैतिक स्थापित के स्थिति युग रहे हैं और दूसरी ओर राजनैतिक अगति के कारण। चौथा सम्राट् ने सत्ता का भावना में शासन किया है और इस कारण उन्नति प्रजा के लिए सभी कुछ सम्भव करने का प्रयास किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में निश्चयता की भावना रही है। पाँचवा, सम्राट्त्व में दिव्यता की प्रतिपादन करने में उम इतना बलवान् बनाने की प्रेरणा मिली कि सम्राट् का समय उनकी दिव्यता का प्रतीक बन जाय। बल्लभ का सम्राट् के प्रभाव का माध्यम बताया गया। बड़ी बड़ी दमालन सवारी बेपभूषा और परासारी काम बल्लभ प्रमाण के माध्यम बन। किन्तु भारतीय इतिहास में सम्राट् के राज दरबारा के बल्लभ का जो वर्णन मिलता है, उसका भार जनता पर पड़ा। भारत की आर्थिक व्यवस्था का आधार जीवन निर्वाही कृषि रही है जिसका स्तर आन्विकी क्षेत्र में निम्न हो रहा है। इस परिणामस्वरूप, जनता का श्रम भारों पर दना गया है जिसके कारण एक बार जनदार्ढ्य बना रहा है और दूसरी ओर, आर्थिक प्रगति निष्प्रवाह रही है और इन सबका एक सम्मिश्रित परिणाम यह रहा है कि भारतीय विचारधारा, इतिहास के सभी युगों में, माध्यमवादिता तथा माध्यमिकता की ओर उन्मुख रही है। भारतीय विचारों की माध्यमवादिता आज की नयी दुर्गों की दन है।

अथ और काम की साधना करना। अथ और काम की साधना समाज और संस्कृति से होती है। अतः, इहलौकिक पूणत्व का अर्थ हुआ, समाज और संस्कृति के मादश नियमों के साथ व्यक्ति का पूण तादात्म्य जो तभी होता है जब व्यक्ति का पूण सामाजीकरण हो जाय। उत्तमपुरुष की धारणा उस पूण मनुष्य की धारणा है जो इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मध्य बिन्दु है। इसीलिये उत्तमपुरुष का एक पहलू सामाजिक और दूसरा आध्यात्मिक (Metaphysical) है। इहलौकिक जीवन का निष्पादन करते हुए जो पुरुष आत्मपरायण तथा ब्रह्मपरायण है, वही उत्तम पुरुष है।

वैदिक साहित्य में कई ऐसी धारणायें मिलती हैं जिनमें यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति का पूण सामाजीकरण पूणतः प्राप्ति का एक मुख्य आधार है। यह वेदों में पहले ही कहा जा चुका है कि पुत्रपाश में अथ और काम का उत्तम पुरुष समावेश व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी सामाजिक वृत्ति की तुष्टि की आवश्यकता की महत्ता का स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में पाई जाने वाली 'सम्प' तथा 'शिष्ट' की धारणायें इस महत्ता की ओर भी स्पष्ट करती हैं। ऋग्वेद में सम्प से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो सभा का सदस्य हान के योग्य है। सभा का वही सदस्य होने योग्य है जो वयस्क है, जिसमें सभा के नियमों का समझने तथा उनके अनुसार नियम लेने की क्षमता है। अनुभव वयस्कता, योग्यता और अवधारणा (Comprehension) साधने-समझने की क्षमता) 'सम्प' की मुख्य विशेषतायें हैं। जतः, सम्प वह है जो अपने अनुभव वयस्कता योग्यता और अवधारणा के कारण सभासद होकर गाँव वगैरे को उचित सलाह दे सके। सभा से तात्पर्य गणजातीय पंचायत (Tribal Panchayat) में है। इस शिष्ट कोण से, 'सम्प' वही है जिसका पूण और सुचारु सामाजीकरण हो गया हो। अथर्ववेद में शिष्ट शब्द का प्रयोग गिना गीता अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के अर्थ में किया गया है। अतः, यह कहा जा सकता है कि शिष्ट वह है जिसने सामाजीकरण में निहित गिना गीता, अनुशासन और आत्मनियन्त्रण के द्वारा संस्कृति के आदर्शों को पूणतः आत्मसात कर लिया है। समाज के आदर्शों (Ideals) और अर्थों (Values) के अनुसार व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। अतः शिष्ट वही है जिसमें समाज का आदर्श व्यवहार पाया जाता हो। जो सम्प और शिष्ट है, वही आदर्श नागरिक है।

लेकिन सम्प, शिष्ट और नागरिक पूण मनुष्य के परिचायक नहीं हैं। सम्प, शिष्ट और 'नागरिक' हाना समाज और संस्कृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना है। सामाजिक-सांस्कृतिक तादात्म्य पूणत्व का केवल एक इहलौकिक आधार है। पूणत्व का आधार केवल सामाजिक-सांस्कृतिक तादात्म्य नहीं है। ऋग्वेदिक विचार धारा के अनुसार पूणत्व का प्रतीक ऋतु है। 'ऋतु', जसा कि पहले कहा जा चुका है,

रहस्यमय साद्वत नियम है—वह नियम जिस पर सारी व्यवस्था आधारित है। इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों व्यवस्थाओं का आधार 'ऋत' है। ऋत ही सत्य है। अतः जो सत्य है वही नैतिक आत्मा है। सत्य इहलौकिक जीवन भी है और पारलौकिक जीवन भी। लेकिन इसमें भी बड़ा एक सत्य है और वह यह है कि इहलौकिक का आधार पारलौकिक है। पूणत्व न केवल इहलौकिकता है और न पारलौकिकता। पूणत्व पारलौकिकता पर आधारित इहलौकिकता है। इसीलिये वेदों में प्रतिपादित इहलौकिक जीवन देवा, उनकी कृपा कल्पों और लोकमण्ड के प्रति विराग की भावनाओं से बधा है। वृत्त में आये विचार के अनुसार पूण वह है जो मृत्यु के बाद देवान या पितृयान में निवास करने का अधिकारी है। यहाँ देवताओं को प्रमन करने के लिये विषय यथ प्राप्त करने और कल्प पूणत्व का आधार माने गए हैं। औपनिषदिक विचारधारा का प्रस्फुटन होते ही पूण मनुष्य और पूणत्व के आधार सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन आया। उपनिषदों में आत्मनिष्ठ दान और दया न तो एक साथ मिलकर और न अलग-अलग पूण हैं—ये तो केवल साधनमात्र हैं जिनके आधार पर पूणत्व को प्राप्त किया जा सकता है। औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार पूण है ज्ञान—वह ज्ञान जो विज्ञान से ऊपर है। यहाँ ज्ञान वह अनुभूति है जिससे पारलौकिक तत्त्व की वास्तविकता प्रगट होती है। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा व्याप्त है जिसका उत्पन्न और परिणति ब्रह्म में है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। इहलौकिक की भिन्नता में आत्मा तथा ब्रह्म की आधारभूत एकता समाई हुई है और सम्पूर्ण इहलौकिक पारलौकिक ब्रह्म का रहस्य है—यही ज्ञान वास्तविक ज्ञान है। इस ही आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की मना दी गई है। इसी ज्ञान में पारलौकिकता की अनुभूति होता है अतः इसी ज्ञान से मुक्ति मिलती है। इस कारण केवल ज्ञान ही पूण है। औपनिषदिक विचारधारा में ज्ञान पूणत्व का प्रतीक है और उत्तमपुरुष अर्थात् पूण मनुष्य वही है जो ज्ञानी है।

उपनिषद् में
उत्तमपुरुष

औपनिषदिक विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में योगी की धारणा उत्पन्न हुई है। यदि ज्ञान ही पूण है तो उस पूणता के प्राप्त करने का साधन क्या है। योगाचार की विचारधारा के अनुसार योग ज्ञान के साधन का उपकरण है। योग का प्रथम है ज्ञान मित्रता और सम्पर्क यत्ना इत्यादि। योग वही है जहाँ धर्मा और ब्रह्म का योग हो जहाँ इहलौकिक तथा पारलौकिक की द्विविधा समाप्त हो जाय और सत्ता का विभिन्नता में एकता (अविभक्त विभक्त्यु) का अनुभूति का अनुभूत हो। योगाचार का विचारधारा में योग अन्त्याम से आता है। योगाभ्यास के साधन हैं यम नियम आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। समाधि योग की अवस्था है क्योंकि समाधि की ही अवस्था में व्यक्ति के

ध्यान का धारण की हुई वस्तु से याग हो जाता है। यागाचार की विचारधारा का मूलधार यह है कि आत्मशक्ति और आत्मज्ञान के उद्वोधन के लिये शरीर को समय से रखना और अभ्यास द्वारा इन्द्रियनिग्रह आवश्यक है। योगी शरीर से हट कर आत्मा में रमण करता है। शरीरी एषणाओं तथा वासनाओं का उत्तम अंत हो जाता है। वह सासारिक शरीरी सुख का नहीं बरन परमानन्द का अनुभव करता है। आत्मगिद्धि के द्वारा उस जा आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, उससे उस प्रलौकिक सुख ही नहीं बरन् मनचाहे प्रसन्न्य की भी प्राप्ति हो जाती है^१। योग रहस्यवादिता से ओतप्रोत है। इस्लाम में सूफी सत भी इसी परम्परा में आते हैं। योग की ही विचारधारा से तप की धारणा उत्पन्न हुई है। तप का अर्थ है अभ्यास द्वारा शरीरी आवश्यकताओं को दबाना और आध्यात्मिक शक्ति को जगाना। शरीर में भस्म लगाना, जटाजूट रखना, सर्दों तथा गर्मों में नगे बहना रहना, गर्मिया में भी अग्नि तापना, उल्टा लटककर नीचे से धुआं सुलगाना, एक पर से या एक हाथ उठा कर यथो लड़े रहना, प्राणायाम रोककर समाधिस्थ होना याग के वे निरुद्ध रूप हैं जो तान्त्रिक विचारधारा के प्रभाव के कारण अस्तित्व में आये हैं। योगी के रूप में पूरा मनुष्य वस्तुतः वह है जो यागाम्बास द्वारा इहलौकिक शरीरी आधार से ऊपर उठ जाता है, जो पारलौकिक के समीप पहुँच जाता है और जिस ईश्वरीय प्रसाद मिल जाता है जिससे वह शरीरी याधिया—जरा भोगों और वासनाओं से मुक्त हो जाता है। योगी इस ससार में रहते हुए भी परमानन्द में स्थित रहता है।

वैदिक विचारधारा की औपनिषदिक विचारधारा में जा परिवर्तन मिला उससे वस्तुतः कई विचार प्रशस्त्राये अस्तित्व में आये। एक वैचारिक प्रशस्त्रा के अनुसार ज्ञान पूर्णत्व का प्रतीक है दूसरी के अनुसार योग और तीसरी के अनुसार भक्ति। अतः उपनिषदा की विचारधारा से उत्तमपुरुष के रूप में ज्ञानी, योगी और भक्त की धारणाओं का प्रस्तुटन हुआ। औपनिषदिक विचारधारा निवृत्तिमार्गी है। अतः, ज्ञानी, योगी और भक्त की 'निवृत्त पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है। ज्ञानी ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है, योगी योग द्वारा और भक्त प्रपत्ति के द्वारा। यहाँ ज्ञान

१. याममाग में जहाँ तन्त्र का प्रभाव रहा है, इस विचारधारा ने कापालिक, सिद्ध, भरव और ओषड इत्यादि की धारणाओं को जन्म दिया है। कापालिक, सिद्ध भरव और ओषड वे पुरुष हैं, जिनके लिये यह समझा जाता है कि उन्होंने शक्ति सिद्ध कर रखी है जिसके द्वारा वे अलौकिक कृत्यों को सम्पादित कर सकते हैं। तन्त्र में योगाचार की विचारधारा सज्जम शक्ति की साधना का रूप ले लेती है। किन्तु याममागी सिद्ध हो सकते हैं, उत्तम पुरुष नहीं।

पूणत्व का सर्वोत्कृष्ट आधार है। लेकिन उसके त्रिये अभ्यास की आवश्यकता है। योग और तप उस अभ्यास के आधार हैं। भक्ति उनके लिये है जो ज्ञान और योग के माग को नहीं अपना सकते हैं। लेकिन ज्ञान, योग और भक्ति वस्तुतः एक ही मनोन्मा तक पहुँचने के तीन माग हैं। पूणत्व वस्तुतः न तो ज्ञान है, न योग और भक्ति। पूणत्व तो वह मनोन्मा है जहाँ व्यक्ति ब्रह्मपरायण हो जाता है। उस मनोन्मा के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। ये साधन हैं नैतिकता, अहिंसा, सत्य-प्रियता, वायप्रियता करना और आत्मनिग्रह, जिन्हें महाभारत में पूण पुरुष के गुण माना गया है। पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा और ध्यान में इन गुणों के विकास का प्रोत्साहन मिलता है। सत विचार, सत्य भाषण और सतकाय से वह नैतिक शील विकसित होता है जिससे या तो निष्काम भक्ति द्वारा या आत्मज्ञान द्वारा निर्लिप्ति का अनुभव प्राप्त होता है। अतः पूणपुरुष का अंतिम रूप जानी का है। उत्तमपुरुष का दृष्टान्तिक जीवन समाप्त नहीं हो जाता है। सबकल्याण के लिये उत्तमपुरुष का अस्तित्व आवश्यक है क्योंकि उत्तमपुरुष का अपने लिये कुछ करना आवश्यक नहीं रह जाता है। वह समार के सुख दुःख में निवृत्त होकर सबकल्याणकारी भावों की पूर्ति में रत रहता है। उत्तमपुरुष वस्तुतः कल्याणकारी बल और ज्ञान का प्रकाशस्वरूप है^१।

गीता में, जसा कि पहले कहा जा चुका है, कम के आधार पर ज्ञान, भक्ति और योग का समन्वय हुआ है। गीता के अनुसार, कम, ज्ञान और भक्ति माग हैं जिनका आधार निष्कामता और स्थितप्रज्ञता है क्योंकि निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता के द्वारा ही आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता आती है। जो कम ज्ञान और भक्ति निष्कामता तथा स्थितप्रज्ञता पर आधारित है उसी के द्वारा आत्मा और ब्रह्म का माग हासिल है। गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ ही निष्काम कममाग, ज्ञानयोग और भक्तियोग है। वही कम, ज्ञान और भक्ति साधन है जो निष्काम है और ब्रह्मपरायण है। अतः, गीता के अनुसार, उत्तमपुरुष वही है जो स्थितप्रज्ञ है। गीताकार ने स्थितप्रज्ञ तथा समाधिस्थ में अन्तर नहीं किया है जिससे यह निष्पन्न निजाता जा सकता है कि समाधि का आधार स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञता की उत्पत्ति समत्वबुद्धि में होती है। समत्वबुद्धि का एक आधार निष्कामता है और दूसरा समभाव। इसीलिये, गीताकार ने उस स्थितप्रज्ञ कहा है जो मन की उठी हुई मयस्त कामनाओं का त्याग करता है, आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, राग, भय और धार रहित होता है, न तो दुःख से दुःखी होता है और न सुख की इच्छा रखता है गुण अणु के प्रति समभाव रखता है और सब इन्द्रियों को वा में रखकर ईश्वर में रत रहता

स्थितप्रज्ञ कछुवे की भाँति अपने सब अंगों को इंद्रिया के विषयो में से समेटे ता है। स्थितप्रज्ञ वह कमयोगी है जो केवल कम को कम समझकर कम करता और कमफलासक्ति से सगरहित होने के कारण शूभ अशूभ, दुःख सुख और राग तथा मोघ से विचलित नहीं होता। कम करते हुये स्थितप्रज्ञ वैसे ही शांत रहता जैसे नदियों के निरंतर प्रवेश करने पर भी समुद्र। योगी का स्थितप्रज्ञ ससार में त होते हुए भी ससार से वैसे ही निवृत्त रहता है जैसे पक्ष से पक्ष।

ना में उत्तमपुरुष की धारणा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के जीवन दर्शन पर आधारित है। लेकिन, बुद्धवाद तथा जैनवाद में उत्तमपुरुष की धारणा देववादी जन निवृत्तिवादी दर्शन के आधार पर निरूपित की गई है। उत्तमपुरुष की विचार में की धारणा के रूप में बुद्धवाद में 'अहत्' और वाधिसत्त्व की उत्तमपुरुष धारणाओं का तथा जैनवाद में 'केवलिन' की धारणा का विकास हुआ है। 'अहत्' अलौकिक नहीं लौकिक पुरुष है। नतिक्ता, व्यात्मिकता और पानपरायणता अहत् के मुख्य गुण हैं। अहत् वह है जो लोग धर्म का माग दिखाएँ, जिसका मस्तिष्क सत्यानुभव में डूबा हुआ और शांत है, आत्मनिग्रही है, जो सुख-दुःख में पत्थर की चट्टान के समान अविचलित रहता है, मानसतप्त है और इस ससार में रहते हुए भी ससार से विरक्त है। 'अहत्' अपने का प्रति सजग है और परछिद्रा-वेपथु से दूर, मस्तिष्क विचार, वाणी और हाथ से शांत तथा सभी दशाओं में अपने को शांत रखता हुआ, वह मदव जागरूकता है। शील, समाधि और ज्ञानानुभूति उसके वे उपकरण हैं, जिनसे उस मुक्ति पत्ती है। पशु की समान सहिष्णु रहते हुए वह सग्रह तथा विषयो के त्याग में का अनुभव करता है। वह ससार को वैसे ही ग्रहण करता है जैसे मधुमक्खी न के रंग या उसकी गंध को असुगुण रखते हुए उससे मधु ग्रहण करती है। 'अहत्' माग दुःखरहित और मुक्त है जिसके कारण उसमें कामनायें जल जाती हैं और ता उसकी स्वर्णा करते हैं। अहत् धर्म का मूर्तिमान रूप है और धर्मपथ प्रदर्शक। अहत् सम्यक्मार्गी है—वह न तो अत्यधिक विषयासक्त होता है और न योगियों भाँति अपने शरीर को तप के नाम पर अत्यधिक बर्ष देता है। वह अपने स्तब्ध को सत्यानुभूति और सत्यमोघ में लगाना है जिसके लिये उस अपने और और मस्तिष्क का अभ्यास द्वारा प्रशिक्षित करना पड़ता है।

सम्यक् दृष्टि सम्यक् सत्य सम्यक् वाणी सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका यव प्रयत्न, सम्यक् स्मृति वे सात साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति ससार में रहते भी सामारिक बंधनों से मुक्ति पाकर सम्यक् समाधि को प्राप्त होता है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् सत्य से ज्ञान आता है सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म और

चित्त की एकाग्रता सम्यक् समाधि है जिसके लिये सारी बुराइयों से दूर रहना

सम्यक् जीविका से शील और सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि में समाधि। अतः, अहत वह है जो अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करके, ज्ञानवान्, शीलवान् तथा समाधिरूप हो गया है। ज्ञान, शील और समाधि अहत के तीन स्वरूप हैं। अहत की धारणा हीनयानी बुद्धवाद की दृष्टि है। हीनयानी बुद्धवाद दो सम्प्रदायों में विभाजित है—एक स्थविरवाद और दूसरा जमायिक। स्थविर का मतलब है भानी या तत्त्वदर्शी। स्थविर विभज्यवादी सम्प्रदाय भी है। विभज्यवाद का अर्थ है विश्लेषण द्वारा प्रत्येक वस्तु के अन्तर्गत गुण का अलग कर देना। स्थविरवाद और विभज्यवाद का आधार तत्त्वज्ञान है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अहत मूलतः तत्त्वज्ञान है और जीवन की वह अवस्था है जिसे प्राप्ति कर जीव सामारिक क्रिया कलापों की ओर नहीं मुड़ता^१।

अवस्थाओं का भजन करना और चित्त को समय में रखना आवश्यक है। अष्टांगिक, बुद्ध के अनुसार, लाभ सत्कार, प्रसादा, सदाचार, समाधि और ज्ञान के लिये नहीं है। अष्टांगिक का मुख्य उद्देश्य है चित्त की मुक्ति। चित्त की मुक्ति ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है। इसीलिये, सम्यक् समाधि की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं—पहली, विरचित के अनुभव की अवस्था, दूसरी, विचारों और चित्तों का जगल समाप्त होने के साथ साथ शान्ति के अनुभव की अवस्था, तीसरी समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता की अवस्था, चौथी, 'पूण प्रज्ञा' अथवा निर्वाण की अवस्था जो बुल्ल सुख से परे होती है। सम्यक् समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिये सात सम्यक् मार्गों का अभ्यास आवश्यक है। शरीर, मन और वाणी में भले युरे कर्मों का प्रभाव ज्ञान प्राप्त करना सम्यक् दृष्टि है। बुल्ल, दुल्ल का कारण, बुल्ल का जन्म और बुल्लों के अन्त का उपाय—ये चार आय सत्य हैं जिनकी अनुभूति रखते हुए जीवन बिताने का सफल भी सम्यक् सफल है। बड़े वाणी सम्यक् है जो विद्या भाषण चुनलसोरी, कटुता और बकवास जैसे वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है। जो कम हिंसा, चोरी और ध्वंसिचार के वाचिक दुष्कर्मों से मुक्त है, वही कम सम्यक् कम है। प्राणिहिंसा, युद्ध और प्राणि मांस भक्षण-रिप ध्यापार पर निर्भर जीविका झूठी जीविका है। अतः, 'गुद्ध, निष्पट एव वास्तविक कर्मों द्वारा उपाजित जीविका ही सम्यक् जीविका है। जो प्रयत्न गुह्य विचारों से प्रेरित है, वे सम्यक् प्रयत्न बड़े जाते हैं। शरीर, चित्त, धन और मन के विषयों से निरन्तर मुक्ति पाने के उपाय की स्मृति सम्यक् स्मृति है क्योंकि शरीर, चित्त, धन और मन के विषयों से मुक्त होने के उपायों की ओर से विमुक्त होने पर, व्यक्ति इनमें फँस जाता है और उस दुःख भोगना पड़ता है—

गैरोला वाचस्पति भारतीय द्वाग पृष्ठ 186-188

‘अहत्’ की धारणा ज्ञानवादी तथा भक्तिवादी है। नितांत ज्ञानवादी होने के कारण ‘अहत्’ की धारणा गूढ़ और नीरस भी है। ‘अहत्’ जनसाधारण के दैनिक दुःख-सुख के जीवन की प्रेरणा न बन सका। उधर बुद्ध के निर्वाण के लगभग चार सौ साल बाद जब बुद्धवाद पर हिंदुत्व का प्रभाव पड़ा तो महायानी बौद्ध सम्प्रदाय का अम्युदय हुआ। महायानी सम्प्रदाय ज्ञानमार्गी न होकर भक्तिमार्गी था। इस सम्प्रदाय के अनुयाइया ने बुद्ध को मनुष्य के माय्य का शासक और नियंता स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप बुद्धवाद ईश्वरवादी तथा भक्तिप्रधान हो गया।

माध्यमिक और योगाचार, महायानी बुद्धवाद की दो उपशाखाएँ हैं। माध्यमिक विचारधारा गूढ़वादी थी। योगाचार का अर्थ है वह आचार जिसके द्वारा ‘योग’ अथवा ‘बोधि’ प्राप्त हो। ‘बाधि’ प्रबुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। अतः बुद्धवाद की महायानी विचारधारा के अनुसार उत्तमपुरुष वह है जो लौकिक आचारों का पालन करते हुए प्रबुद्धता को प्राप्त हो। प्रबुद्धता ज्ञानानुभूति की अवस्था है। ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—परिकल्पित (कल्पनाश्रित ज्ञान) परतत्र (सापेक्ष ज्ञान) और परिनिष्पन्न (सत्याश्रित ज्ञान)¹। सत्याश्रित ज्ञान का अनुभव बाधि प्राप्ति की उच्चतम अवस्था है जिसके लिये निरंतर प्रयास की आवश्यकता है, वस ही जैसे जीवात्मा को परमात्मा में मिलन के लिए निरंतर प्रयास की आवश्यकता है। अतः, महायानी विचारधारा के अनुसार, उत्तमपुरुष वह है जो ‘बाधिसत्त्व’ हो। ‘बाधिसत्त्व’ ज्ञान और कल्याण का मूर्तिमान् स्वरूप है। ‘बाधिसत्त्व’ सत्याश्रित ज्ञान की अनुभूति के कारण निर्वाण का अधिपति हो गया है, लेकिन जनहिताय कल्याण के कारण, इस ससार में तब तक बार-बार जन्म लेता है या लेता रहेगा, जब तक कि इस ससार के सभी प्राणी भुक्ति न पा जाय। बाधिसत्त्व वस्तुतः बाधि का सत्त्व है जो, ससार के कल्याण के लिये, युगानुसार युग युग में अवतरित होता रहता है। ‘बाधिसत्त्व’ प्रत्येक युग का वरप्रदान और उद्धारकर्ता है। बाधिसत्त्व की धारणा में वही निवार निहित है जो गीता का सम्भवामि युगे युगे की धारणा में निहित है। बाधिसत्त्व केवल ज्ञानी नहीं बल्कि समशील ज्ञानी है। निर्वाण प्राप्ति के लिये ‘बाधिसत्त्व’ का जितना कष्ट व्यपन्न प्रति है, उतना दूसरों के प्रति भी है क्योंकि ‘बाधिसत्त्व’ अपने तथा ससार के निर्वाण की प्रेरणा से प्रेरित है। ‘बाधिसत्त्व’ की धारणा ‘अहत्’ की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

जैनवाद में प्रादुर्भूत ‘वेवलिन्’ की धारणा बौद्धों की जहत का धारणा से मिलती जुलती है²। जैनवादी विचारधारा, बुद्धवादी विचारधारा की भाँति ब्रह्मवादी न होकर पुरुषार्थमूलक और धर्मप्रधान रही है। अतः, इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है और इसी कारण इस विचारधारा को नास्तिक भी कहा गया है।

1 गरीला, वाचस्पति वही पृष्ठ 150

2 गोतले धी० जी० वही पृष्ठ 205

जैनवादी विचारधारा में 'सम्यक्' ज्ञान, सम्यक् दान और सम्यक् चरित्र ही मोक्षसाधन के तीन स्तंभ या उद्देश्य बताए गए हैं¹। जिनियों के मतानुसार बोधि अर्थात् ज्ञान की पांच श्रेणियाँ हैं—एक मतिज्ञान (जो मन, इन्द्रिय, स्मृति प्रत्यभिज्ञा तथा तत्त्व से प्राप्त हो), दूसरा, श्रुतिज्ञान (जो शब्द एवं सवेता में प्राप्त हो), तीसरा अवधिज्ञान (जो त्रिकालजन्म वस्तुधा के प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त हो), चौथा मन-पययज्ञान (जो दूसरा के मन से प्राप्त हो), और पाचवा केवल ज्ञान (जो जीवमुक्ति का ज्ञान है)²। जब मनुष्य आत्मगत ज्ञानवाधक कर्मों का नष्ट कर डालता है, तब उसका दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है जो आन्तरिक ज्ञाती है और जिससे अनन्त ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही ज्ञान केवल ज्ञान है जो जीवमुक्त महत्तों का प्राप्त होता है³। केवल ज्ञान का प्राप्त करने वाला केवलिन है और केवलिन जीवमुक्त है। केवलिन के लिए सम्यक् दान और सम्यक् चरित्र आवश्यक है। सम्यक् चरित्र के लिए शरीर, मन तथा वाणी का वह योग आवश्यक है जो ज्ञान और नतिकता पर आधारित है। योग के लिए तप आवश्यक है। पूण तथा उत्तमपुरुष के रूप में केवलिन का वही प्रादुर्भाव होता है, जहाँ ज्ञान तथा नतिकता पर आधारित तप के द्वारा आत्मा तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का पूण ज्ञान अवतरित होता है।

महंत वेदान्त में उत्तमपुरुष की धारणा जीवमुक्त की धारणा के रूप में प्रतिपादित की गई है। अद्वैत वेदान्त की विचारधारा एकेश्वरवादी तथा बहुत वेदान्त ब्रह्मवादी है। इस विचारधारा में संसार ब्रह्म और माया के योग में उत्तमपुरुष बना है। माया मिथ्या है। अतः मायापरायणता अज्ञान है। आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अतः ज्ञान का आधार आत्मपरायणता तथा ब्रह्मपरायणता में है। अविद्या का नाश तत्त्वज्ञान में होता है और तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में ही ब्रह्म है (अहं ब्रह्मास्मि) की अनुभूति में होती है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही मुक्ति है क्योंकि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बाद न तो किसी प्रकार के कर्म करने की आवश्यकता है और न नाम्न तथा उपदेव के धारण की। वेदान्त की विचारधारा में तत्त्वज्ञान तथा आत्मज्ञान का एक माना गया है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण का शुद्धि आवश्यक है जिसके लिए नैतिक गुणा की वसतान बनाने की आवश्यकता है। अतः करण की शुद्धि के लिए व्रतों में प्रतिपन्नित कर्मों की भी आवश्यकता है। तत्त्वज्ञान का उदय ब्रह्मविहित कर्मों से परिशुद्ध अन्तःकरण में ही होता है। माया के लिए कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। जो पुरुष, कारणरूप ब्रह्म और कारणरूप जगत दोनों को जानता है, वह धर्ममूर्ति (मृत्यु) पर विजय प्राप्त करने सम्भूति (माया)

1 गरीला, वाचस्पति वही पृष्ठ 92

2 वही पृष्ठ 91

3 वही पृष्ठ 107

को प्राप्त करता है। वेदान्त में मोक्षप्राप्ति के नित्य साधनों को बहिरंग तथा अन्तरंग श्रेणियां में रक्खा गया है। विवेक, वराग्य, समाधि और मुमुक्षुत्व बहिरंग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि अन्तरंग साधन हैं¹।

जिस प्रकार, गीता में उत्तमपुरुष की कल्पना निष्काम कर्मसिद्धान्त के सद्ब्रह्म की गई है उसी प्रकार, वेदान्त में उत्तमपुरुष की कल्पना अद्वैतवादी सिद्धान्त के सद्ब्रह्म में की गई है। वेदान्त के अनुसार जीव-मुक्त वह है जो ब्रह्मनिष्ठ है। जीव-मुक्त वह अवस्था है जहां चेतन्य भावन्य तथा भोग (सुख दुःख) का बंधन नष्ट हो जाते हैं। यह अवस्था तब आती है जब गुरु के उपदेश, श्रुतिवाक्य तथा स्वानुभव से आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है और उस ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने से अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। ऐसी दशा में अज्ञान में उत्पन्न सारा और विषय नष्ट हो जाते हैं और आत्मा एवसाय ब्रह्मज्ञान में तत्पर हो जाती है। उस आत्मत्व से साक्षात्कार होने पर जीव-मुक्त पुरुष की बुद्धिस्थित वासनामय कामनाएँ (हृदय प्रणि) समाप्त हो जाती हैं और सम्पूर्ण निवृत्त सद्ब्रह्म विच्छिन्न हो जाते हैं। जिसके मक्षय नष्ट हो गए हैं जिसकी अधिष्ठा धीण हो चुकी है ऐसे मुक्त पुरुष के जन्मान्तर में तथा पानोत्पत्ति का समय इस जन्म में किए गए सारे कार्य भी नष्ट

1. नित्य वस्तु को नित्य और अनित्य वस्तु को अनित्य समझना विवेक है। इस लोक का भोग विलास और परलोक के कर्मजय धनयागादि दोनों प्रकार की वस्तुओं एवं फलों से सबंधा विमूल्य हो जाना ही वराग्य है। काम कर्म तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा को समाधि (वटसम्पत्ति) कहा गया है। इंद्रियों के विषयों को सममित करके आत्मवस्तु में धित्त लगाने का नाम ही काम है। इंद्रियों को उनके विषयों से हटाकर ब्रह्मसाक्षात्कार की ओर लगाना काम है। मान-अपमान, सुख दुःख और शीत ताप को समभाव से सहन करना तितिक्षा है। समस्त कर्मों में फलेच्छा शून्यता और कर्मों का भगवान् के प्रति समर्पण उपरति है। समाधान में गुड गुड परब्रह्म में तत्पर होना तथा गुरु-सुधूषा आती है। गुरुवाक्य तथा शास्त्रवाक्य में विश्वास करना श्रद्धा है। अज्ञान से मुक्त होकर मोक्ष की इच्छा को मुमुक्षुत्व कहते हैं। विवेक वराग्य को जन्म देता है, वराग्य मोक्ष की इच्छा को और मोक्ष की इच्छा ब्रह्मजिज्ञासा को जन्म देती है। सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का एक ही अद्वितीय ग्रन्थ में तात्पर्य समझना श्रवण, वेदान्त के अनुकूल युक्तियों द्वारा अद्वितीय ग्रन्थ का चिन्तन मनन, वेह से लेकर बुद्धि तथा फले हुए जड़ पदार्थों में एक ही ग्रन्थ को देखना निदिध्यासन और ज्ञाता, ज्ञय तथा ज्ञान के अन्तर को हटाकर ग्रन्थ में चित्तवृत्ति को एकाकार करना समाधि है।

हो जाते हैं। 'यह साक्षात् मैं ही हूँ (जय साक्षादहमेव) इस प्रकार जीवित रहत हुए भी वह भुक्त हो जाता है'^१।

गीता के उत्तमपुरुष (स्थितप्रज्ञ) के आध्यात्मिक पक्ष को वेदांत की जावमुक्त की धारणा में अधिक विस्तार दिया गया है। गीता का उत्तमपुरुष निष्काम कर्मयोगी है, संसार में उसके अस्तित्व का आधार कम है। स्थितप्रज्ञ के लिए निष्काम कम ही सब कुछ है। स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मानिष्ठा का आधार निष्काम कम में है। लेकिन, जावमुक्त कम से उतना भासन नहीं है, जितना कि वह ब्रह्म से है। स्थितप्रज्ञ के लिए पुरुष और प्रकृति का योग में बना संसार मूलतः निष्काम कम का भोग है। जावमुक्त के लिए ब्रह्म और माया के योग में उत्पन्न संसार मूलतः कम क्षेय नहीं है। संसार वही तक ग्रहणीय है जहां तक संसार में ब्रह्म का आभास होना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जावमुक्त के लिए 'अहं' सबम बड़ा अनिष्ट है। उसका अस्तित्व प्रेम और करुणा में है वह ईश्वर की इच्छा में प्रेरित है उसने जीवन का उद्देश्य जनकल्याण की भावना का जगाना तथा स्वाध्यायियों का दमन करना है लेकिन, साथ ही साथ, इसमें भी कोई संशय नहीं है कि जावमुक्त कम की अपना वैराग्य से अधिक प्रेरित है। स्थितप्रज्ञ की प्रेरणा है निवृत्तिवादी प्रवृत्ति और जावमुक्त की प्रेरणा है निवृत्ति तथा वैराग्य। स्थितप्रज्ञ के लिए कल्याणकार सारहीन है और वण तथा जाति के भक्षण बंवल त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति की लीन है। जावमुक्त के लिए ब्रह्मविहित कल्याणकार वण और आश्रम निर्दनीय नग तथा ग्रहणीय हैं यद्यपि निवृत्ति (वैराग्य) ध्येयस्वरूप है। ब्रह्म वेदान्त में सबसे बड़े प्रतिष्ठा पापक गबर ने जावमुक्त के साक्षात्कृत कम के दो स्तर माने हैं—एक, अल्पतम कम, निवृत्ति तथा वैराग्य का और दूसरा जावमुक्त (जनकल्याण) के लिए किए गए कम का^२। लेकिन, दोनों दशाओं में, जावमुक्त मूलतः निवृत्तिवादी है।

हिंदू सामाजिक जीवन-दणन की सरिता निवृत्ति तथा प्रवृत्ति के बीच में प्रवाहित होती हुई कहीं निवृत्ति की ओर और कहीं प्रवृत्ति का ओर तरंगित होती रही है। तटों का अस्तित्व सरिता से है न कि सरिता का तटा में। सरिता बहती हुई जलधारा है जो अपने तटा का स्पर्श करती हुई बहती रहती है। सरिता के तटा का धार में समाहित रहत है क्योंकि सरिता की जलधारा ही तटों का सायकना प्रदान करता है। जिस प्रकार सरिता के तटा का सरिता में घसग नहीं किया जा सकता और उन्हें सरिता से अलग करके अलग अलग नहीं आवा जा सकता, उसी प्रकार न ना निवृत्ति और प्रवृत्ति के विचारों का हिंदू सामाजिक जावमुक्तन का सरिता में अलग हो किया जा सकता है और न अलग-अलग करके उन्हें आवा न जा

१ गरीला, वाचस्पति बही पृष्ठ ११८

२ गोसते बही पृष्ठ २०७

कता है। निम्न प्रकार, सरिता के दोनों तट हर दशा में तट हैं और उनमें विभेद ही है, उसी प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति में विभेद नहीं किया जा सकता। प्रवृत्ति निवृत्ति की परिभाषा है और निवृत्ति प्रवृत्ति की। हिंदू विचारधारा में प्रवृत्ति कोरी आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्ति धर्म के लिए है, काम के लिए है और अर्थ के लिए है। धर्म, य और काम में प्रवृत्ति, एक ओर, मोक्ष के लिए है और दूसरी ओर, लोकमग्नह के लिए। मोक्ष और लोकमग्नह का विचार ही प्रवृत्ति को निवृत्तिवादी रूप देता है और मोक्ष तथा लोकमग्नह के विचार के मध्य में निवृत्ति प्रवृत्ति का विभेद वैसे ही समाप्त जाता है जैसे सरिता में प्रवाह में उसके दोनों तटों का विभेद। मोक्ष और लोकमग्नह का विचार हिंदू सामाजिक जीवन दर्शन की सरिता का मुख्य प्रवाह है। हा यह अवश्य है कि जहाँ मोक्ष प्रधान है वहाँ जीवन प्रवाह निवृत्ति की ओर अधिक ड गया है और जहाँ लोकमग्नह प्रधान है वहाँ प्रवृत्ति की ओर—उस प्रवृत्ति की ओर जिसका आधार लोकमग्नह है न कि व्यक्तिगत स्वाध्याय। उत्तमपुरुष न केवल निवृत्तिवादी है और न केवल प्रवृत्तिवादी। उत्तमपुरुष वह है जिसके जीवन में मोक्ष और लोकमग्नह के उद्देश्यों का समन्वय हुआ है। गीता में यह समन्वय निष्काम कर्म का द्वारा हुआ है और ब्रह्म में वरात्म्य के द्वारा। इन दोनों मार्गों का प्रतिपादन लग अलग युगों में हुआ है लेकिन दोनों लोकमग्नह से गुजरते हुए मोक्ष की ओर जाते हैं।

व्ययुगीन तथा वर्तमान भारत में उत्तमपुरुष की जो धारणाएँ विकसित हुई हैं उनमें एक आर आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी प्रवृत्ति के विचारों के युग से का समावेश हुआ है और, दूसरी ओर, ज्ञान भक्ति तथा कर्म के वर्तमान युग तक समन्वित रूप का समावेश। निगुण विचारधारा के ज्ञानप्रदीप कवियों ने कर्पाचार और मत्सर को मिथ्या कहा और निगुण के ज्ञान तथा भक्ति का मुक्ति का साधन माना, लेकिन सांसारिक जीवन तथा लोकमग्नह के विचार का नहीं छाड़ा। मूरदास तथा तुलसीदास जिन सगुण विचारधारा में भक्ति कवियों ने राम और कृष्ण के रूप में उत्तमपुरुष की धारणा का प्रतिपादन किया। इन्होंने, एक ओर, उत्तम पुरुष की अलौकिक मानवीकरण माना और दूसरी ओर, उन लोकमग्नहाय कर्मयोगी या लीलाधारी के रूप में प्रस्तुत किया। राम और कृष्ण 'सम्भवामि युग युग' की विचारधारा के सत्त्व में मर्यादापूरणोत्तम के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। राम और कृष्ण पुरुषोत्तम हैं जो युग-युग की आवश्यकताओं के अनुसार, मर्यादाओं की रक्षा तथा लोकमग्नह के लिए मानवी आकार में, उत्तमपुरुष के रूप धारण करते हैं। उत्तमपुरुष की यह धारणा पुरुषोत्तम की धारणा में लीन जाती है, और इस कारण, उत्तमपुरुष वस्तुतः वह अलौकिक पुरुष हो जाता है जो लोकमग्नह के लिए और सुमधर्म की रक्षा के लिए उत्तमपुरुष के रूप में इस मत्सर आता है। इस दृष्टिकोण में, उत्तमपुरुष एक अलौकिक आत्मा नहीं धरत युग की

भी आत्मा है। श्री अरविन्द ने उत्तमपुरुष का वह अलौकिक आत्मा माना है जो कृष्ण के रूप में प्रत्येक युग में कुम्भेश्वर रूपी धर्मसेन में अधम का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए अवतरित हुआ करती है। उत्तम दिव्य है अतः उत्तमपुरुष भी वह दिव्य पुरुष है जिसमें युग के आन्तरि सन्निहित रहते हैं।

आठवीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक भारत, एक ओर, राजनैतिक शक्ति का भारत रहा है और दूसरी ओर विजेता सभ्यताओं का सघन तथा उमस उत्पन्न होने वाला सांस्कृतिक और बौद्धिक कोलाहल का भारत। इस्लाम और ईसाई मजहब सहिष्णुता, स्वातंत्र्य और जनकायगर्भ के आधारभूत विचारों पर सीधे धावा करते रहे हैं क्योंकि ये मजहब मिसलरी मजहब हैं। इनका उद्देश्य रहा उन आध्यात्मिक तथा सामाजिक विधवाओं का प्रसार जिन्हें इनमें अन्तिम सत्य का रूप में प्रतिपादित किया गया है। पश्चिमी पूँजीवादी व्यवस्था का अजन भावना (The Idea of Acquisition) पर आधारित है पारलौकिकता, त्याग, दान, अस्तम आत्मनिष्ठ और लाभसंग्रहण कम से कम विचारों के विराध में आती है। यह बाल भारत के राजनैतिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक पराजय और पुनरुत्थान का काल रहा है। पराजय से नाश पान की नावात्मक चेष्टा ने अलौकिकता और प्रपत्ति का भाव का प्राप्तावधि किया जिस, जसाकि राम और कृष्ण के इस युग में प्रतिपादित स्वरूपों से स्पष्ट है उत्तमपुरुष की धारणा में आत्म सात किया गया। इस युग का उत्तमपुरुष जहाँ अलौकिक है वहाँ वह निष्काम ब्रह्म भी है। यह ब्रह्म में इसलिए लीन होता है कि धर्म की रक्षा हो सके और सत्य स्थापित हो सके। वह अधम और असत्य का विरोधी है। वह अधम और असत्य के प्रतीक राक्षस और कस का अधम है। वह एक दिव्य धर्मप्रदाता है, जिसका उद्देश्य है निगमागम सम्मत आदर्शों की प्रतिस्थापना करना। यहाँ पूर्णतः वह अलौकिक है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं के अनुसार मानव श्रिया कलाओं में पूर्णतः लीने के लिए हस्तक्षेप किया करता है।

पुनरुत्थान के इस काल में, बुद्धवादी, जनवादी और शीता तथा वृत्त के प्रतिपादित उत्तमपुरुष की धारणाओं ने, उत्तमपुरुष के विचार को प्रभावित किया है। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्वातंत्र्य के लिए अहिंसा सत्य और युग की आवश्यकता नुसार समाजसुधार, इस युग की दो आधारभूत आवश्यकताएँ रही हैं जिनमें इस युग की उत्तमपुरुष की धारणाएँ प्रभावित हुई हैं। स्वातंत्र्य-संग्राम ने निष्काम ब्रह्मत्व की माँग की, जिस जनवादी, बुद्धवादी और शीता के विचारों से प्रेरणा मिली। आवश्यक समाजसुधार से उत्पन्न परिवर्तनों की प्राप्ति के लिए, सामाजिक

1. रामायण के विषय में तुलसीदास ने कहा है 'राज्य पुराण निगमागम सम्मत पक्ष रामायणें निगमित बखिन्दयतोपि'

संगठन के पुनरुत्थान के विचार तथा आवश्यकता को आयसमाज तथा वेदांत से प्रेरणा मिली। सामाजिक सुधार और स्वातंत्र्य-संग्राम की आवश्यकता ने पूजोवाद के समक्ष भी लोकसंग्रह के विचार का सर्वोपरि रक्खा। साथ ही साथ, पश्चिमी विज्ञान से प्रकीर्ण होती हुई लौकिकता (Secularism) की विचारधारा से अलौकिकता की विचारधारा यदि खण्डित नहीं हुई तो, कूठित होकर, मृत अवश्य पड़ी। इन विभिन्न प्रभावों के परिणामस्वरूप, इस युग में उत्तमपुरुष की कई धारणायें प्रतिपादित हुईं, जो नई परिस्थितियों में, पुरानी धारणाओं का पुनरुत्थान हैं। तिलक ने गीता के निबन्धन के आधार पर उस उत्तमपुरुष का रूप जनमानस के सम्मुख प्रस्तुत किया जो निष्काम कामयाबी है और स्वतंत्रता जिसका जन्मसिद्ध अधिकार है। रामकृष्ण परमहंस के कार्यों और विचारों से जिस उत्तमपुरुष का रूप उभरता है वह सभी में एक ही मत्ता देखता है उसमें ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है वह दोनों के प्रति द्रवित है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वही धर्म उचित मानता है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः दीक्षित है। स्वामी विवेकानन्द का उत्तमपुरुष स्वतंत्रता प्राप्ति, सामाजिक दीनता और कुरीतियों को नष्ट करने तथा पश्चिमी विज्ञान और भारतीय आध्यात्मिकता के समन्वय के लिए यश और कामनील है। वह सयासी है, जीवमुक्त है किन्तु वह राजनैतिक आन्दोलन का प्रणेता तथा समाजसेवी है। लोकसंग्रह उसका मुख्य ध्येय है। वह ब्रह्मनिष्ठ है वह आत्मवत् सबभूतों की भावना से विभोर है। वह अपने प्रति निष्पक्ष है न कि लोकसंग्रह के प्रति। आयसमाजी विचारधारा का उत्तमपुरुष वेदा के प्रति फल हुए अज्ञान का नष्ट करने तथा वेदविहित आत्मा के आधार पर समाज के पुनर्गठन के प्रति वम ही तत्पर है जैसा कि युद्ध के लिए प्रेरित सेनानी। उसका लिए वही हिंदू है जो आर्यों की दन है और वेदविहित है।

गांधी का विचारधारा में उत्तमपुरुष की धारणा सत्याग्रही की धारणा के रूप में अवतरित हुई है। गांधी की विचारधारा पर पारलौकिकता का प्रभाव है। राम से उह प्रेरणा मिलनी है। लेकिन, गांधी की विचारधारा में प्रतिपादित उत्तमपुरुष अलौकिक नहीं है वह पूर्णतया लौकिक और इस ससार का पुरुष है। गांधी की विचारधारा अहिंसा, अपरिग्रह और निरन्तर सत्याग्रह के विचारों से प्रभावित है। लेकिन, गांधी का उत्तमपुरुष अलौकिक से उतना प्रेरित नहीं है जितना कि लोक-कल्याण की भावना से। (सत्याग्रह का अर्थ है सत्य के लिए अहिंसात्मक आग्रह और असत्य से निरन्तर अहिंसात्मक असहयोग।) ^१ , सत्यनिष्ठा, अहिंसा, अग्रह

और मन बचन तथा
यस्तुन जीवनदान
है। सत्याग्रह, सत्यनिष्ठा
आधारित है। गत्याग्रह
वही सत्याग्रह का अर्थ

कम को असंग तथा द्वेषरहित कर लिया है, जिसमें सत्यानुभूति के द्वारा सत्यनिष्ठा आ गई है, जो दृढ़ निश्चय से उत्पन्न होने वाले साहस तथा उत्साह से प्रेरित है और जिसमें अपरिग्रह, अस्तेय तथा अहिंसा को हृदयगम्य कर लिया है। सत्याग्रही में चार गुण आवश्यक हैं—पहला धृष्टद्योति जिसका अर्थ अविवाहित जीवन नहीं वरन मन, वचन तथा कर्म से द्विधियाँ पर पूरा नियंत्रण है दूसरा सत्यनिष्ठा सर्वात्मप्रेम और अहिंसा तीसरा 'निडरता' अर्थात् निश्चय और यह भाव की उसकी (सत्याग्रही के) सारे कार्य सत्य और ईश्वरचक्षा से प्रेरित है और चौथा, अपरिग्रही जीवन जो हरिद्वारायण का प्रतीक है।

अपरिग्रह का तात्पर्य सीनता या गरीबी से नहीं है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कम से कम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग क्योंकि स्वच्छिन्न त्याग से सम्भव दृष्टि का अभ्युदय होता है। सत्याग्रही में लाकमग्रह की प्रेरणा है। इसीलिए उसमें दया, करुणा और प्रेम के साथ-साथ कमठता भी है। सत्याग्रही में लाकमग्रह की प्रेरणा इतनी प्रबल है कि वह ससार का केवल एक मात्र मान नहीं है। समार में सत्य की स्थापना के लिए, वह निरन्तर क्रियाशील रहता है क्योंकि अहिंसा के द्वारा असत्य का विनाश उसका धर्म है और वह उसके लिए मरने तक तैयार रहता है। वह सत्य की स्थापना के लिए सब तक निरन्तर प्रयत्नशील और कष्ट सहन रहता है जबतक कि समाज का वांछित रूपान्तरण न हो जाय। सत्याग्रही का आदर्श उस समाज की स्थापना करना है जिसके सदस्य आध्यात्मिकता से प्रबुद्ध हो गये हों और इसकारण, अहिंसक अपरिग्रही सरल, शुद्ध और तपस्वी जीवन की ओर स्वतः प्रेरित हो। सत्याग्रही, इसप्रकार, एक आत्मा तथा समाजामुक्त उत्तमपुरुष है जो एक आदर्श समाज की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर लोकमग्रह के कार्य में लगे हुए है। गांधी का आदर्श समाज अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित वह समाज है जो मनीन, औद्योगिकता, पूँजीवाद और गंदरीकरण के दावों से मुक्त है।

अज्ञान वृद्धान्त की विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राधाकृष्णन के पूर्णतः सम्बन्धी विचारों पर जीवन-मुक्ति की धारणा का प्रभाव स्पष्ट है। राधाकृष्णन ने पूर्णपुरुष को मुक्तात्मा कहा है। वही व्यक्ति मुक्तात्मा है जिसमें आत्मसर्व के अनुभव के द्वारा, अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया एकीकृत कर लिया है, जिसका तब प्रकाश में परिणत हो गया है तथा हृदय प्रेम में और इच्छाशून्यता में जिसके प्रयत्न अनुशासित हैं जिसमें आत्मा के एकरूपता का भावना निदिष्ट रूप से चुकी है और जिसमें अविद्या, एषा, अहं, द्वेष तथा द्विधावपण का नाश हो गया है। मुक्तात्मा गाँवत के प्रति सदैव जागरूक रहता है और इसी जागरूकता के साथ समार के कर्मों का सम्पादन करता है। माधुशालता उसका सहजगुण है, जिसके समक्ष बौद्धिकता की उन्नति पायी गयी है। मुक्तात्मा विनम्र धर्मवान तथा कष्टसाध्य होता है। वह दूसरे के दोष का नहीं दस्तक क्योंकि वह दूसरों का पूरा

रूपेण जानने का दावा नहीं करता है। मुक्तात्मा के एगणरहित प्रेम से दुखी हृदयों को सात्वना मिलती है। मुक्तात्मा, वस्तुतः, रचनात्मक जीवन का बलाकार है। मुक्तात्मा, इसप्रकार, एक भार, शाश्वत के प्रति जाग्रदृक् है और, दूसरी ओर, अपने सत्य के प्रति असम्य रहित होकर, लोकसंग्रह के लिए कायशील है। मुक्तात्मा स्वपरक न होकर, शाश्वतपरक तथा समाजपरक होता है।

हिंदुत्व के वैचारिक आधार तथा आदर्श नियम, जसाकि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, धर्म, पुरुषार्थधर्म, वर्णाश्रमधर्म, कर्मधर्म, राजधर्म, कुलधर्म तथा उत्तमपुरुष की धारणाओं से प्रेरित हैं। हिंदू विचार लौकिकता और अलौकिकता से एक साथ प्रेरित है। हिंदू सामाजिक विचार वस्तुतः दार्शनिक विचार है। हिंदुत्व में व्यक्ति तथा समाजसम्बन्धी विचारों को दर्शन के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दर्शन का अर्थ केवल तर्काश्रित आदर्श विचार से नहीं है। महा दर्शन ज्ञान है और ज्ञान पारलौकिक सत्य की वह अनुभूति है जो विज्ञान से परे है। पारलौकिक सत्य की अनुभूति से मोक्ष प्राप्ति जीवन का उच्चतम उद्देश्य है। जीवन के दो पहलू हैं—व्यक्तिक और सामाजिक। व्यक्तिक और सामाजिक एक दूसरे के विरोधी नहीं बरन् पूरक हैं क्योंकि पारलौकिक सत्य की अनुभूति और मोक्ष के लिए व्यक्ति का सामाजीकरण आवश्यक है। समाज बंधन नहीं बरन् सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। इसीलिए वैयक्तिक स्वायत्त नहीं बरन् लोकसंग्रह महत्वपूर्ण है। पूणपुरुष का उद्भवस्थान और क्रिया क्षेत्र समाज है। व्यक्ति, समाज लौकिक है, वह पारलौकिक की छाया मात्र है। पूणत्व पारलौकिक की प्राप्ति में है। समाज पारलौकिक की प्राप्ति का साधन बना रहे, इसलिए समय समय पर समाज का सुधारने के लिए मानव रूप में स्वयं पारलौकिक अवतरित होता है। इस प्रकार, रहस्यविचार और पारलौकिकता हिंदू सामाजिक तथा व्यक्तिक जीवन के आधार हैं। प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है निवृत्ति सर्वोत्तम आवश्यक साधन और दोनों का आधार तथा माध्यम समाज है। हिंदुत्व में समाज को साधन और माध्यम माना गया है—वह साधन जिसमें जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य की प्राप्ति होती है। समाज, एक साधन के रूप में, सामाजिक आदर्श नियमों (Social Norms) या लोकाधारा से बंधा है। आदर्श नियमों की सामाजिक अभिव्यक्ति संस्थाएँ हैं। संस्थाएँ व्यक्ति के सामाजीकरण का माध्यम होती हैं और संस्थाओं के द्वारा व्यक्ति अपने समाज के सांस्कृतिक आदर्श के समीप पहुँचता है। हिंदू संस्थाएँ और हिंदू सांस्कृतिक आदर्श पारलौकिकता के विचार से प्रेरित हैं।

भारतीय संस्कृति में इस्लाम

बारहवाँ अध्याय भारत में इस्लाम

हिन्दुत्व और इस्लाम

भारत के सांस्कृतिक उत्थिकाम में गहरा वा अमूल्य और इस्लामी सांस्कृतिक धारा का प्रवाह माथ माथ प्रारम्भ हुआ है। जात्रा गतावली से लगे अठारहवीं शताब्दी तक का काल एक अर, हिन्दुआ और मुसलमानों में चलने वाले राजनतिक सघष का काल है तो दूसरी ओर, दानतिक उठावोट, सामाजिक सुधारों और विपलवों का। इसी काल की एक ओर मययुग कहा जाता है तो दूसरी ओर मुस्लिम-काल। सांस्कृतिक उत्थिकाम व इतिहास के दष्टिकाग से मुस्लिम काल की गता निरधन है कयाकि एम काल में मुसलमानों को भारत पर पूण राजनतिक प्रभुत्व कभी नहीं मिला। मात ही बारह इगवी में मुहम्मद बिन कासिम व द्वारा सिध के कुछ शहर जीत लगे का घष भारत में मुस्लिम काल का प्रारम्भ जेना गदी है और न उन समय से हिंदू मस्तानि व उत्तरानतर उत्थिकास की प्रथिया में बाद व्यकधान हो जाया है। मार मस्लिम बह जान काल काल में, भारत के जेमी न किली भाग में हिंदू राय रहे हे जिनका अधिष्ठाता हिंदू माताका व अनुसार धम राज्य स्थापित करी का प्रगहन करत रहे हे। काजुर, लाहौर, जिल्ली अजमेर काजुर मालवा और गुजरात व राजपूत नामक जाधमणकारी इस्लाम को राव कर हिंदू मायता व अनुसार धम राज्य की स्थापना करत हुए समाप्त हुए हैं। चौहवों शतावली में

तुगलक के पतन के बाद, राजपूता ने अपने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और अठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक भारत पर वस्तुतः हिंदुत्व का प्रभुत्व था¹। राजनैतिक सर्वोपरित्व के दृष्टिकोण से केवल तरहवी शताब्दी के अंत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक का काल ही मुस्लिम-काल कहा जा सकता है। किंतु, सांस्कृतिक विकास के तारतम्य में जहां आधारभूत धारा प्रवाहित होती रहती है इन कालों में अधिन महत्त्वपूर्ण हैं वे परिवर्तन प्रक्रियाएँ, जिनमें मुख्य साम्प्रतिक धारा के किनारे बंटा छूटता तो है, उसकी गति भी बदलती है, पर उसकी दिशा में परिवर्तन नहीं आता है।

भारत की हिंदू-सम्प्रति में इस्लामी धारा के मिलन के बाद से ही भारतीय सम्प्रति का रूप आता है। इस्लाम की उत्पत्ति ऐतिहासिक प्रक्रिया से हुई है। इस्लाम इतिहास में समाया हुआ है और इस्लाम में इतिहास। इस्लाम, एक आर, एक मजहबी आस्था है ता दूसरी ओर, एक सामाजिक ऐतिहासिक प्रवाह। हिंदुत्व और इस्लाम का मिलन वस्तुतः उन दो ऐतिहासिक प्रवाहों का मिलन है जिनमें मानव-जीवन में सभी पक्ष निहित हैं जिनका उत्पन्न और विकास अलग अलग स्थानों में हुआ और अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण जो एक दूसरे के विभेदक सिद्ध हुए। मध्ययुगीन भारत में इतिहासकार बहुधा हिंदुत्व पर इस्लाम के मघान की बात करते हैं क्योंकि उनका यह मान्यता है कि इस काल में हाल वाला सामाजिक साम्प्रतिक परिवर्तन इस्लाम के मघात के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम हैं²। समाज शास्त्रीय मन्त्र के यह दृष्टिकोण एकांगी है क्योंकि यहाँ यदि इस्लाम का सम्प्रति हिंदुत्व में हुआ तो हिंदुत्व का इस्लाम से। दोनों इतिहास की अन्त-अन्त प्रक्रियाएँ थी और दोनों का राजनैतिक महत्त्व प्राप्त था। अपनी-अपनी सामंजस्यकारी समताओं के कारण यदि इस्लाम ने हिंदुत्व के सम्प्रति उदयित किए तो हिंदुत्व ने इस्लाम के, और इन्होंने उत्तरणा के माध्यम से माना का भारतीयकरण हुआ। फिर भी, इस्लाम और हिंदुत्व के भारतीयकरण की प्रक्रियाओं के बीच इस्लाम ने इस्लाम का रहन का प्रदत्त किया और हिंदुत्व ने हिंदुत्व। इस्लाम ने औरगजब का जन्म दिया तो हिंदुत्व ने गिवाजी और मुस्लीबि-सिंह का और कालान्तर में, एक आर, पाकिस्तान बना तो, दूसरी ओर, इंडिया अथवा भारत।

1 भरनार दिनयुमार कि पोजिटिव ब्रिच उड आफ हिंदू सोसियोलॉजी प्रथम निष्कर्ष, पृष्ठ १०-१००

2 उदाहरण के लिए दण्डि डा० ताराचंद इन इन्फ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडिया।

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश से उत्पन्न परिवर्तन प्रक्रियाओं का समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनित विघटनताओं की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में अवगुह्य, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उस समय हुआ था जब अरब में भयंकर निवासी हजरत मुहम्मद (०७०-०३०) को इस बात का दिव्य अंतर्ज्ञान हुआ था कि वह ईश्वर का दूत है और उनके माध्यम से मानव मानव के कल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अकुरुित हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज गान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मकका में खिराब हुआ और उन्हें तापकर मर्तवा में शरण लेनी पड़ी जहाँ मुहम्मद के मत में, इस्लाम पालविन हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरंतर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जो मकरा विजय की तो इस्लाम का राजनतिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब में इस्लाम का भूत गढ़ गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद एक शताब्दी बीतने बीतते निधु से लेकर मोरक्का तक इस्लाम का झंडा लहराते लगा था। ईसा की तरहवी शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभवों ने एक सभ्यता विघटन का रूप ले लिया था। पिछले तरह सौ वर्षों के निरंतर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आर पार होना हुआ पामीर तक आता है और वहाँ से, पूर्व में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में विलीन हो जाता है। अपने इस व्यापक प्रसार में एक ओर, इस्लाम न अनेक प्रजातियों (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्र (Nations) का एक सामाजिक धार्मिक मूल में माधन का प्रयास किया तो, दूसरी ओर वह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति मिष्ट हुआ। इस्लाम के ही मघात से अरबी, बरबर ईरानी तूरानी, अफगाणी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

1. इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है, यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किंतु, भलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर कलिफ्पाइस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टगानिका और जजीवार वाले अफ्रीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किंतु दक्षिणी अफ्रीका के राज्य समूह में मुसलमानों की संख्या घटपट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानांतरित हुए हैं—गिब, मोहम्मदनिज्म पृष्ठ ३

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है इश्वर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। अतः इस्लाम एक आस्था है जिसके द्वारा मनुष्य अपने का इश्वर के प्रति समर्पित करके शान्तिप्रद की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्यों (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इस्लामी व्यवस्थाओं में कहा हैं और जिन्हें, ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद का समूह वाक्य कुरान नामक धार्मिक पुस्तक में संग्रह कर लिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में, ईश्वर एक ही और वह सर्वशक्तिमान, निराकार अवस्था में अजर, अमर और चेष्टाचारी पर दयालु है। अव्यक्त और अजन्मा होने के कारण न तो राम और कृष्ण की भांति ईश्वर अवतार ले सकता है और न इंसानों की मृत्यु की भांति नश्वर नारी के समान वह किसी का जन्म ही ले सकता है। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अंतिम दूत (रसूल, नबी, पैगम्बर) हैं। मुहम्मद के पक्ष परम्बर अवश्य हुए हैं पर उनके बाद नही हाव, ऐसा इस्लामी मानता है। हम आस्था से यह धारित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अंतिम है क्योंकि ऐसा ज्ञान न पटल मिला है और न मिथ्या। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ, रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि धर्मशास्त्र (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अंतिम दूत हैं न कि कोई मायारा धर्मविद (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी व्यवस्था का प्रस्तावना यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मानिक है और मनुष्य गुलाम है। ईश्वर और मनुष्य का जन्म अलग और किसी एक नव विराटी मतों हैं किन्तु ईश्वर के समान, सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्य एक जगत् तथा निरीह प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

1. कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक ओर, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को नियमित करने का उद्देश्य निहित है वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जैसे मादक वस्तुओं का सेवन न करना सुगर का मोल न पाना और मूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुन्ना हदीस और गरि अत नीन अन्य पुस्तक है। सुन्ना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का सङ्कलन। गरिजत इस्लामी विधि संहिता है जिस कुरान सुन्ना और हदीस के आधार पर संग्रहीत किया गया है। गरि अत उतनी ही पवित्र और ईश्वरीय है जितनी कि कुरान।
2. इसाई ईसा को ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वरीय रूप के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर अव्यक्त है। अतः यह ऐसा नहीं कर सकता।

इस्लाम

भारत में इस्लाम के प्रवेश में उत्पन्न परिवर्तन प्रनियाआ को समझने के लिए इस्लाम के स्वरूप और उसकी इतिहास जनिन विपत्तियों की व्याख्या आवश्यक है। रहस्यवादी अनुभूति में अवगुटित, इस्लाम इस प्रकार के मजहबी विचारों की अभिव्यक्ति है, जिसका बीजारोपण उम्र समय हुआ था जब अरब में मक्का निवासी हजरत मुहम्मद (570-630) का इस बात का दिव्य ज्ञान हुआ था कि वे ईश्वर के दूत हैं और उनके माध्यम से मानव मात्र के बल्याण के लिए ईश्वर के आदेश अवतरित हो रहे हैं। इस्लाम उस समय अव्युत्पन्न हुआ था जब अपने रहस्यवादी सहज ज्ञान का प्रचार करने के कारण हजरत मुहम्मद का मक्का में विरोध हुआ और उन्हें भागकर मदीना में गिरा ली पड़ी जहाँ मुहम्मद के नेतृत्व में, इस्लाम फैलता हुआ एक छोटे से मजहबी राष्ट्रवादी समुदाय के रूप में, जो निरंतर बढ़ता ही रहा है। इस्लाम की स्थापना के लिए इसी समुदाय ने जब मक्का विजय की तो इस्लाम का सामाजिक रूप उभरा। हजरत मुहम्मद के जीवन काल ही में पश्चिमी अरब पर इस्लाम का झंडा गढ़ गया था। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद, एक गतांगी वीरता धीरे-धीरे, सिंधु से लेकर मारवा तक इस्लाम का झंडा लहराने लगा था। ईसा की तरहवी शताब्दी के आस पास इस्लामी विचारों और अनुभूतियों ने एक सम्प्रदाय विरोध का रूप ले लिया था। पिछले तरह से उन्हीं के निरंतर प्रसार का परिणाम है कि आज इस्लाम उस बड़े भूभाग का प्रधान मजहब है जो उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के आस पास फैला हुआ पामीर तक आता है और वहाँ से, पूरब में मध्य एशिया तथा चीन और दक्षिण में पाकिस्तान में फैली हुई है। अपने इस व्यापक प्रसार में, एक ओर इस्लाम न केवल प्रजातियों (Races) गणजातियों (Tribes) और राष्ट्रों (Nations) का एक सामाजिक धार्मिक सूत्र में बाधन का प्रयास किया तो दूसरी ओर यह एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति सिद्ध हुआ। इस्लाम के ही मघात से अरबी, फारसी, ईरानी, तुर्कानी, अफगानी और अल्बानिया आदि के निवासियों का अलग अलग राष्ट्रीय पुनर्जन्म हुआ।

इस्लाम के अनुयाइयों का प्रसार क्षेत्र इतना ही नहीं है यद्यपि यह एक प्रमुख क्षेत्र है। भारत में इस्लाम प्रमुख मजहब नहीं है। किन्तु मलाया प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह से लेकर फिलिप्पाइंस तक इस्लाम एक प्रमुख मजहब है। टंगानिका और जम्बिया वाले अफ्रीकी क्षेत्र में भी इस्लाम प्रधान मजहब है किन्तु दक्षिणी अफ्रीका के राज्य तथा में मुसलमानों की संख्या घटपट है। उत्तरी तथा दक्षिणी अफ्रीका में पाए जाने वाले मुसलमान मध्य एशिया से स्थानांतरित हुए हैं—गिब, मोहम्मदनिज्म पृष्ठ 3

इस्लाम अरबी भाषा का शब्द है जिसका एक अर्थ है इन्दर के प्रति मनुष्य का आत्मसमर्पण और दूसरा गान्धि में प्रवेश करना। अतः, इस्लाम एक आस्था है जिसका द्वारा मनुष्य अपने का इन्दर के प्रति समर्पण करने का निश्चय की कामना करता है। यह आस्था निहित है उन वाक्या (आयतों) में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इस्लामी अवस्था में कहा है और जिन्हें ईश्वर वाक्य मानकर, हजरत मुहम्मद की आयतों का, कुरान में नामक धार्मिक पुस्तक में व्यवहृत कर दिया गया है। हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लामी आस्था में ईश्वर एक है और वह सर्वगणितमान, निराकार अश्वय, अजमा अजर अमर और बेच्छाचारी परमात्मा है। अश्वय और अजमा का कारण न तो समय और स्थान की भाँति ईश्वर अवतार में सकता है और न इमादिया की मृतता की भाँति नश्वर नारा के समान मरने की क्षमता की हो सकती है। इस्लाम ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम रूप (रसूल, नबी, पैगम्बर) है। मुहम्मद के पैगम्बर अवस्था हुए हैं पर उनके बाद भी हाथ, ऐसी इस्लामी मान्यता है। इस आस्था से यह दर्शित होता है कि मुहम्मद द्वारा दिया हुआ ईश्वरीय पालन भी अद्वितीय और अन्तिम है, क्योंकि ऐसा पालन न पहले मिला है और न मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक अद्वितीय सर्वव्यापक रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान (Revelation) है न कि अज्ञान (Theology) और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम रूप हैं न कि कोई साधारण धर्मविद (Theologian)। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी क़ुरान का प्रणायक यही आस्था है।

इस्लामी आस्था में ईश्वर मानिक है और मनुष्य गुनाह है। ईश्वर और मनुष्य का अन्त अन्त जो किसी रूप में विराधी माना है वह वस्तु ईश्वर के समान, सभी मनुष्य समान है। मनुष्य एक जलून तथा निराश प्राणी है जिसका न पुनर्जन्म

- 1 कुरान इस्लाम की मूल धार्मिक पुस्तक है जिसकी आयतों में जहाँ, एक बार, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धी को नियमित करने के उसूल निहित हैं वहाँ, दूसरी ओर, दैनिक जीवन को नियमित करने वाले ऐसे नियमों का भी प्रतिपादन किया गया है जस मादक वस्तुओं का सेवन न करना, सुवर का मास न पाना और सूद न लेना इत्यादि। कुरान के अलावा सुना हदीस और गरि अत तीन अर्थ पुस्तक है। सुना में हजरत मुहम्मद के कृत्यों का वर्णन है और हदीस में उनके उपदेशों का संकलन। गरिअत इस्लामी विधि नहिता है जिसे कुरान, सुना और हदीस के आधार पर संप्रोत किया गया है। गरि अत उत्तरी ही पवित्र और ईश्वरीय है जिनका कि कुरान।

- 2 इफाई ईमा की ईश्वर का पुत्र मानते हैं जो कुमारी मरियम के गर्भ से ईश्वराय हुआ के कारण उत्पन्न हुए थे। इस्लाम में ईश्वर व्यक्त है। अतः, वह एना नहीं कर सकता।

हाना है और न मोक्ष^१। प्रलय (क्यामत) के द्वारा एक दिन इस समार का नाश हाना है और जब तक प्रलय नहीं आती है, प्रत्येक मत मनुष्य का कर्म पड़ा रहना पड़ेगा। क्यामत के बाद, हर एक को, ईश्वर के नियम के अनुसार स्वर्ग या नर्क में जाना होगा। चूंकि समार का अंत है और व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं है मनुष्य का केवल एक ही धर्म है और वह है हजरत मुहम्मद द्वारा बनाए हुए ईश्वरीय आदेशों के अनुसार चलकर ईश्वरीय कृपा पाने का निरंतर प्रयास करना क्योंकि एहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए ईश्वरीय कृपा आवश्यक है। नमाज (प्रायश्चित्त) राजा (व्रत उत्प्राप्त) जहात (मिना गान) हज (तीर्थ यात्रा) और जिहाद^३ के माध्यम से मनुष्य ईश्वर की कृपा पा सकता है।

इस प्रकार इतिहास के मर्म से उत्पन्न इस्लाम एक दल आत्म विश्वासी और विनयावासी मजहबी आस्था है। यह आस्था केवल मानसिक (Psychical) नहीं है बल्कि यह व्यक्ति की समष्टि में समेटे हुए है और धर्म की राष्ट्र अनुशासन तथा सभ्यता में। इस्लामी आस्था का प्रथम प्रस्फुटन हुआ था एक समुदाय में जिसने अपने शासक और धर्मगुरु (हजरत मुहम्मद) को स्वयं चुना था। इसीलिए इस्लाम में मिलन (समुदाय) अधिक महत्वपूर्ण है न कि मलिक (शासक) या व्यक्ति। इस्लाम का जन्म हुआ था एक धार्मिक राष्ट्रीय चेतना के रूप में। इसीलिए इस्लाम में शासक और धर्म गुरु एक में मिल गए। इस्लाम ने सर्व राष्ट्र और मजहब को

१ जीव, आत्मा माया, मोक्ष या निर्वाण जैसी मायावायें इस्लाम में नहीं हैं। सूफीवाद में ऐसी मायावायें अनस्य मिलती हैं पर, वास्तव में सूफीवाद मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम का एक रिभव है। सूफीवाद की आत्मा इस्लाम की अवस्था वेदान्त के अधिक समीप है। इस्लाम में जीव अधिनामी और ईश्वर का जग नहीं है। ईश्वर का समक्ष मनुष्य केवल दया की भीष माग सकता है। हिंदुत्व में, ईश्वर की दया का बावजूद भी धर्म की छाप अभिष्ट रहती है। सम्भवतः इसी कारण हिंदुत्व की प्रायश्चित्त (इजाबत) में आराध्य में लीन हो जाने की प्रणाली है और इस्लाम में कृपा भीष मागन की सी है (मलहब) या 'लुगी को कर बल द इना'। हर तस्वीर से पहले, लुदा दने से फिर पूछें कि क्या तेरी रजा क्या है जसा कल्पनायें इस्लाम की माया का विरुद्ध हैं।

२ इस्लाम में हज का अर्थ है मक्का मदीना की यात्रा करना।

३ जिहाद का मूल अर्थ है हजरत मुहम्मद द्वारा मिले ईश्वरीय ज्ञान का प्रसार करना। किंतु इस्लाम के प्रसार के लिए स्वयं हजरत मुहम्मद ने तलवार उठाई थी। बाद में इस्लामी साम्राज्य का पतन का साथ जिहाद का अर्थ हो गया धर्मयुद्ध और आज जिहाद इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

एक मू मिलाने का प्रयत्न किया है और, इसी कारण इतिहास में इस्लाम एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रहा है। भारत में पाकिस्तान का निर्माण इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया में सम्मिलित है। इस्लाम शक्ति का एक राष्ट्रीय और सामाजिक अनुपासन में वाधन का प्रयोग है। मुसलमान बनने का अर्थ है उस मान में दीया तना जा अद्वितीय, अनिम, गुरुत्वमक और निष्ठा = उन मनाज और राष्ट्र का मध्य बनना जो इसी मान पर आधारित है नराला उर गया और अनुपासन का अपनाता जो पूर्वनिर्धारित है और जो पहले ही में उचित मान दिया गये हैं। निपासाओं के स्थान पर, मुहम्मद द्वारा मिले राष्ट्रीय जागृता का पालन ही इस्लाम की अपन अनुपादी स मुहम्मद मान है और मुसलमान का मध्य बड़ा काम है। इस्लाम मान का प्रचार (जिहाद) मुसलमान का कर्तव्य है। इसी कारण इस्लाम एक अनुपासक आस्था है और प्रत्येक मुसलमान एक सद्गति मित्र मित्रगी (यस प्रकार है)। अपन ऐतिहासिक मूल्य में इस्लाम एक सामाजिक जागृता का स्थानिक प्रयत्न का प्रयोग है जिसका एक आधार है इस्लामी शिष्टाचार और दूसरा इतिहास प्रमाण सामाजिक विरामन जो मनुष्यमित्रक न होकर मनुष्यनाशक है।

इस्लाम का अविभाज्य और अमर्यद्वेषा है जो मुसलमान (Rationalized) सामाजिक राजनितिक धार्मिक और शिष्टाचार का रूप में मानव्य के धार्मिक ऐतिहासिक विकास का एक पूर्वनिर्धारित धारणाबद्धता जो इतिहास माती गयी है। इस्लाम के प्रतिष्ठा पापका न इस आस्था का निरन्तर मुसुक्तिकरण (Rationalization) किया है। यह मुसुक्तिजन जागृता निम्न है बुरान मुता हनीम

1. इस्लाम के अनुपादी को फारसी में मुसलमान और अरबी में मुस्लिम की सजा दी जाती है। गिर न इस्लाम के लिये मुहम्मदवाद (Mohammadanism) की सजा का प्रयोग किया है जिससे जाघार पर मुसलमान को मुहम्मदवादी (Mohammadan) की कहा जाता है। किन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मुहम्मदवाद या मुहम्मदवाद स यह ध्वनित होता है कि जस मुहम्मद कोई देवता हों और इस्लाम मुहम्मद का धर्म हो। इस्लाम ईश्वर का धर्म है न कि मुहम्मद का। इस्लाम के विज्ञापियों का यह आपत्ति है कि मुहम्मदवाद इस्लाम के बल एव अग को ध्वनित करता है—यह अग तो मुहम्मद के प्रतिपादनों से ही सम्बन्धित है। गिरा और संपूर्ण सम्प्रदाय ही इस्लाम का अग है यद्यपि वे मुहम्मदवाद के अर्थ में नहीं आते हैं। इस्लाम गुरु, मुहम्मदवाद के स्थान पर, अधिक उपयुक्त और व्यापक है।

2. उदाहरण के लिये दिये गये द्वारा रचित 'मोहम्मदनिगम और अमीरअली कृत दि तिरिफि अफ इस्लाम'। अमीरअली ने इस्लाम के धार्मिक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें यह ध्वनित होता

और गरिबत में, जिनका अक्षरसः पालन ही नहीं करने जिहाद (प्रसार) भी आवश्यक है। इस्लाम की उत्पत्ति ही उस स्थिति में हुई थी जिसमें राजा, राज्य, विधिसंहिता, समाज और संस्कृति सभी कुछ मजहब के आधीन हो गये थे। राजा (मलीका) जो उस गुरु भी है, जिहाद का प्रतिष्ठापोषक बना और इम जानने वाले (उत्तम धर्मविद) मानव के रक्षक। कुरान, सुना हदीस और शरिअत की आत्मा ज़रबी है जिसके कारण इस्लाम का मूल आधार अरबीभाषी है। इस्लाम को ग्रहण करने वाला म इस्लाम इसी ज़रबीपन में रहने की मांग करना रहा है। इस पृथ्वी पर ईश्वर का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ अभिप्राय होने के कारण, सिद्धान्ततः इस्लाम परिवर्तन नहीं स्वीकार करता। ससार के मुस्लिम समाजों का एकसूत्र में बांधने तथा प्रथम महायुद्ध के बाद विलाफत का बनाये रखने के प्रयास और अठारहवीं शताब्दी में लेकर उनीसवीं शताब्दी के पूवाद्ध के बाद तक जबिल मुस्लिम समाज में इस्लाम की शुद्धता बनाये रखने के लिये चलने वाला बहाबी आन्दोलन इसी इतिहासजनित अरबी बट्टरता के प्रतीक हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, इस्लाम जिन राजनैतिक परिस्थितियों में रहा, उनसे ज़रबीपन का प्राप्ताह्न मिला जिसके कारण इस्लाम में अज़रबीपन की एहर बराबर उद्बलित होती रही है। इस्लाम का जहाँ भी प्रसार हुआ वहाँ वह राज्य धर्म के रूप में रहा और मसलमान शासक के रूप में, जिसका परिणाम यह हुआ कि जिस समाज में इस्लाम का प्रवेश हुआ इस्लाम उस समाज में इमाम बनाने के लिये प्रेरित रहा। इस्लाम का उद्भव अम्पुन्य और प्रसार अरबीवादी (Arabism) की प्रचलित धर में हुआ है जिसके लिये न इस्लाम उत्तरदायी है न उसका प्रणता और न मुसलमान। इस्लाम में अरबीवादी के लिये उत्तरदायी है वह ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जिनमें इस्लाम का जन्म बढ़ि और प्रसार हुआ है।

इस्लाम की अरबीवादी प्रवृत्ति का जन्म इतिहास में हुआ और निम्नलिखित ही उसका विराधी रहा है। इसी अरबीवादी प्रवृत्ति और उससे उत्पन्न सामंजस्यकारी सामाजिक धर्मिता के कारण अपन बढ़ि और विनाश के दौरान में इस्लाम नयी धर्मियों की प्रवृत्ति और तत्कीर्तन करता रहा। यह एकीकरण इस्लाम के बौद्धिक जीवा (धर्म और विज्ञान) में प्रस्फुटित हुआ जिसमें मानव धर्मिता में इस्लाम का अमूल्य योगदान आया है। कि तु इस्लामी एकीकरण पर अरबीवादी का इतना प्रबल प्रभाव रहा है कि उसका विराध भी जाना रहा है और उसके कारण इस्लाम में विषय

है कि इस्लाम का आविर्भाव मानव इतिहास की उस अवस्था में हुआ है जहाँ सत्वांगी कोई भी धर्म मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा शांत करने में समर्थ न था। अमारभली जैसे समीक्षकों ने इस्लाम के उद्भव और प्रसार को मानव विकास की ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम माना है।

और विभेदी परिस्थितियाँ और परिवर्तन भी आत रह हैं। शिव के अनुसार, सन और उत्तरी धफरीका से लेकर समरकन्द तक फैल प्रदेश में इस्लामी प्रभाव ने अस्तित्व में आये धर्मविज्ञा के कट्टा में, इस्लामी साहित्य पर यूनानी दृग्गती और भारतीय ज्ञान का जो प्रभाव पड़ा उसमें अनेक नया मायनाम अस्तित्व में आयी। जसा कि सूफीवाद के विकास और प्रसार से स्पष्ट है इन मायनाओं में कुछ इस्लामी परम्परा में स्थित थी और कुछ तब ईश्वरानुभूति भाष्यताओं के प्रति विद्रोह का परिणाम थी। इरान में गिद्यान्वय की उत्पत्ति जार एर विगिण्ट इस्लामी मस्जिद का विकास इस्लाम के अरबीपन के प्रति विद्रोह का ही प्रतीक है। वास्तव में प्रारम्भ से ही, इस्लाम अपने अनुयायियों के अरबीपन में रगन का भाग करता रहा है और इस्लाम के अनुयायी, इस्लाम में अरबीपन का दग काल के अनुसार ढालन की। ज। ऐतिहासिक साहित्यिकता न थी जग अरबीपन विजयी हुआ किन्तु इरान और भारत जग दशा में जग ऐतिहासिक साहित्यिकता पहल ही में विद्यमान थी, अरबीपन का अपने अस्तित्व के शिव मध्य करना पड़ा।

इस्लामी अरबीवाद का भारत में जिनता सपन करना पड़ा उनका नाम नहीं और नहीं। मान में, एक ओर मस्जिद मुगल औरगन सूफीमत मस्जिदी मध्य जम्मा बरकी मुस्लिम कला तथा जिनता का हाना और दूसरी ओर, अकबर, नारा शिवाह मुगल जाम ज्ञानजाना समान और राजबादी मुगलमाना का हाना इस्लाम में अरबीपन के प्रति लगाव और मध्य की ही अभिव्यक्ति है। पारापीर मप्रता के विकास के माय-माय बरमान ज्ञान जिनता की वृद्धि न इस्लामी अरबीवाद का एक नयी जतीनी थी। इस्लाम का प्रारम्भिक जिनता राजनीति के मध्यता और अरबीपन की प्रभुता ने इस्लाम में एक ओर कट्टरता उत्पन्न की ता हू। और एक प्रकार की सर्वोच्चता और जाति-अत्मयता (Lithaceonism) का भावना। इस्लाम में अरबीवाद और दग-जग की जावदगानामुसार समय-मध्य पर उत्पन्न होने वाला स्वतन्त्र विद्रोह विचार माय-माय पनपन रहे हैं। इन निराशा प्रक्रियाओं के घाते प्रतिघात के कारण इस्लाम के माग में जो कुछ भी दगक विद्रोह जाया इस्लाम ने उसमें प्रति द्रव्य, माय और इध्या का भाव ग्रहण किया। धर्म निरपेक्ष बौद्धिक जिज्ञासाओं के प्रति इस्लाम में उत्पन्न का भाव जग और नारा बौद्धिकता मजहद के ही गार में बग हा गयी। इस ऐतिहासिक विकास का मूल परिणाम यह हुआ कि इस्लाम की आत्मा अरबी और गेग-अरबी के प्रान की लेकर मध्यमय हा गयी। आज भी इस्लाम की आत्मा इस मध्यम में अछूती नहीं है।

भारत में इस्लाम का प्रवेश

भारतीय सस्कृति में इस्लाम का प्रवेश, प्रसार वृद्धि और अस्तित्व इस्लामी इतिहास के अन्वय में रहें हैं क्योंकि लगभग तरह की वृत्तों के सम्पर्क के द्वारा भाष्य स्थानों के विपरीत भारत इस्लामी राष्ट्र बना सका, भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक हो रहे और यहाँ इस्लाम का जबरन प्रसारण सबसे अधिक बर्लाना ही नहीं बरन उस अर्थ अस्तित्व के लिये सबसे अधिक संघर्ष भी करना पड़ा। भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व का मिश्रण या ऐस एतिहासिक प्रवाहों का मिश्रण या जिनमें विजातीय तत्वों का आत्मसात करने का विच्छेदन क्षमता थी। किन्तु इस्लाम और हिन्दुत्व की इन क्षमताओं की प्रकृति में एक आधारभूत अन्तर या जिनमें कारण भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क से जो ऐतिहासिक स्थिति अस्तित्व में आई यह इस्लाम के इतिहास में अन्तर्गत की अन्तर्गत थी। अपने प्रसार में इस्लाम ज्यादा अनक प्रजातियों, गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मसात करता रहा क्योंकि इस्लाम में सात्मीकरण का प्रवाह बर्लाना रहा क्योंकि स्वभावतः इस्लाम एक मिश्रकारी आस्था है। इस्लामी सात्मीकरण एक प्रवाह है जो अपने ससर्ग में अपने नाल का बर्लाना ले जाता है। इस्लामी सात्मीकरण की एक ही दिशा है और वह है उस इस्लामी आस्था में दीक्षित होना जो टारन मुहम्मद ने प्रतिपादित किया है और उस आस्था पर आधारित समुदाय का सदस्य बनना तथा उसका प्रसार करना। इस्लामी सात्मीकरण में रही है प्रसार की भावना और राजनितिक प्रयत्न की महत्वाकांक्षा। यही कारण है कि इस्लामी समाज अनेक प्रजातियों, गणजातियों और राष्ट्रों का आत्मसात करते हुए और विजातीयतात्मक तथा मिश्रकारी भावों पर आधारित रहा। सात्मीकरण व्यक्ति या समूह में इस्लामी सात्मीकरण की भाव है मौलिकता का परिवर्तन या इस्लाम की आस्था के अनुसार अपनी मौलिकता में आत्म-मूल परिवर्तन।

इसके विपरीत हिन्दू सात्मीकरण यह प्रक्रिया रही है जो एकमुखाता और बहुमुखी है और जिनमें बाहर से आया हुआ समूह आवश्यकताानुसार परिवर्तित हुआ, अपनी मौलिकता बनाए रखता है तथा एक सस्कृति गंधार (Ideation of Culture) से उसी प्रकार बर्लाना है जिस प्रकार हम प्रवाह के जीते प्रह

1. इस्लाम में मंगोलों का प्रवेश (12-0-25) एक विजातीय और विरोधी प्रकृति का रूप में हुआ, किन्तु कालांतर में चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के आसपास भारत में और जबरन बर्लाना ही इस्लाम का प्रबल प्रविष्टा पौरुष और प्रसारण सिद्ध हुआ। भारत में जिन हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार किया उन्होंने इस्लाम के प्रसार का भरपूर प्रयत्न किया। उदाहरणों के लिये दणिय दिनाकर वृत्त सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 270

और पप्रह है। अन्तर्गतवाणी समुच्चय की भाषा हिन्दू-सामाजिकता की मन प्रेरक रही है। इही विवेकी प्रत्यक्ष गतिविधि का यह परिणाम हुआ कि हिन्दुत्व और इस्लाम परस्पर विवेकी हो गये और नवा मध्यक मध्यममय हो गया। इस न ता हिन्दुत्व इस्लाम को आत्ममान कर गया और न इस्लाम हिन्दुत्व को दक्षिण भारत के बाहर इस्लाम न जनक समझा का न समझा कर लिया था और इस्लाम में समान स्थापित होने के पक्ष हिन्दुत्व न नर समझा का उपम मान्यता गिधान म लिया लिया था। हिन्दुत्व और इस्लाम का पिछला सम्बन्ध तब ही वर्षों में, सन्धक, सम्मिलन लकीकरण मध्य विचार और परिणत हो वह अनिवारिक प्रक्रिया जिसमें हिन्दुत्व मुस्लिम मकरिया का बनमान यह म भावोदयकर हुआ है। इसी भारतीयकरण का निमित्तकार माना मन्त्रि का हिन्दुत्वानी प्रकार (The Hinduism) बन है दक्षिण समानतास्थान म्पिस्की म यह कहना कठिन है कि वस्तुतः हिन्दुत्वानी प्रकार क्या है।

भारतीय मन्त्रि म इस्लाम का प्रदण और समान का भाषों का और नवसमाधों म हुआ है। भारत म हिन्दुत्व और इस्लाम का प्रथम सम्बन्ध हुआ था तब म और उन नगर निवासियों के द्वारा जो नयन प्राधान्यता के नीति तथा धारा के बीच एक न्यायिक माध्यम थे। ईसा की मानवी गतायी म हिन्दुत्व म अरब म इस्लाम का व्ययदय हो गया था मातामह-नट पर ऊपर निवासियों की बलिया अस्तित्व म आ चुका था। जिन्हे मन (इस्लामी मध्यक) की पृथ्वी भारतीय म अरब म समानता का एक अभिधान (Expression) भी मान आया था। तब क हिन्दुत्व अरबी मन्त्रिमाना का मन्त्रि तथा प्रामाह्न दन के कपोदि मन्त्र पर अरब का आधिपत्य था और मान नदा धारा के बीच का व्यापार नरक गय म मान के कारण आमान निर्माण म गजब मिला था। हाँ तात्कालिक अन्तर्गत यदि पावे नीति ना निश्चय ना जाटका मन्त्रि तब, पश्चिमी समुद्र तट पर और मन्त्रि गतायी एक पूर्वी समुद्र तट पर अरब का जायमान हो चुका था। ये अरब व्यापार का आधिपत्य बतुर्क विचार तथा नर अरब और धारा तब पावे रणध ना दूरी और भारत म इस्लाम का प्रचारकर था। मन्त्रि रोजगार और समान पर नर अरब व्यापारियों का कड़ी प्रभाव था। नर अरब व्यापारियों के नवा स्थानीय मन्त्रि म नर धारा, मन्त्रि नावादिनि (Admirals) राजदूत और राजमन्त्रिद्वय दन ना दूरी और मान इस्लामी मन्त्रि। विचारों का प्रचार किया जनक गय का इस्लाम म नीति, दन मन्त्रिमान बनाया जा उन मन्त्रि तथा मन्त्रि का निर्माण किया जा आता इस्लामी मान्यताओं और धन प्रचार का बाधों का कट दन मन्त्रि। नर अरब न जि

भारतीया को इस्लाम में दीक्षित किया उनमें राजा और प्रजा तथा उच्च और निम्न वर्ण के लोग सम्मिलित थे। दक्षिण में इस्लाम की जा पहली सामाजिक धार्मिक लहर पड़ी वह हिन्दुत्व और इस्लाम के गान्धि महोदय सम्पर्क का परिणाम थी और उसका उदगम या इस्लाम की सुयुक्तिपूर्णता (Patronalisation) अरबी मुसलमानों की शांतिप्रिय मिशनरी भावना और उनके उत्साह तथा प्रयत्न में।

आठवीं शताब्दी में उत्तर पश्चिम से इस्लाम का आनामक साम्राज्यवादी और विध्वंसकारी रूप प्रकट हुआ और हिन्दुत्व तथा इस्लाम का शांतिमय सम्पर्क मध्यम हो गया। सन्तों का वारह में जब खलीफा की अनुमति से, मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया था और सिन्ध अरबी खलीफाई साम्राज्य का एक अंग हो गया था तबसे लेकर सन् छठारह सौ मत्तावन तक, हिन्दू और हिन्दुत्व इस्लाम के आनामक रूप में गहरा लगे रहे। दक्षिण भारत में अरबों के बढ़ते हुए सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव के कारण ही खलीफा ने भारत पर चढ़ाई करने की अनुमति दी थी और उसी प्रभाव के ही कारण सिन्ध विजय भी सम्भव हुयी। किन्तु उत्तरी भारत में, इस्लामी प्रभाव सिन्ध के आगे तब तक न बढ़ सका जब तक पहलू गजनी ने सुबे का और गान्धि में सिन्धी में गानाभवर्गी नामको का राजनैतिक प्रभुत्व तथा स्थापित हुआ। गुताभवर्गी राज्य की स्थापना के समय (1210 ई०) में लखनौवा के राज्य का अन्त होने तक (1250 ई०) मुसलमानों का एक ही साम्राज्य सम्हालकर नुदरा और जमरुदनी मुसलमान बनाने वाले का है, तो दूसरा रूप अहमदशाह, माझू तीनपुर और लखौटी के गानावा का है जिन्होंने इस्लाम का समन्वयकारी तथा रचनात्मक प्रयोग की। मुगलकाल में भी यह मध्यमार्थक तथा समन्वयकारी प्रक्रिया चलती रही। मुगलकाल में यह एक बार अकबर और दारा शिवाह की परम्परा है तो दूसरी बार जहांगीर गानावा और औरंगजेब की। यही नहीं, भारतीय इस्लाम में, हिन्दुत्व का इस्लाम के उत रूप का भी परिणाम मिला जो मुहम्मद गजनी मन्त्रालयारी तमुरलग गान्धिगान्धि और अहमदशाह अहमदी की आनामक परम्पराओं में विद्यमान है।

आठवीं की भांति, मुसलमानों का भारत में स्थापनाकरण और इस्लाम का प्रसार बहुत गतिविधियों तक चला रहा जिसका प्रभाव, एक बार, भारत में इस्लामी सामाजिक गठन पर पड़ा तो दूसरी ओर, हिन्दुत्व और भारत पर गहन का इस्लामी गठन की प्रवृत्ति पर। भारतीय इस्लामी समाज में दो स्पष्ट वर्ग रहे हैं—एक बाहर विनियमन अरब इरान और मध्यएशिया, में आने वाले अभिजात्या (Patrons) का और दूसरा उन भारतीयों का जिन्होंने इस्लाम का स्वीकार कर लिया था। पहले वर्ग में विजना, सनानी प्रभाव और सामन्त द्वारा करत थे और दूसरे में गुल

कारीगर, कृषक और सवहारा वग के साथ। गजनी और दाराद के मुस्लिम शासकों ने, भारत के दार्शनिक, निपुण प्रशासक, मनानिया और ज्ञान विज्ञान के ज्ञानार्थी को विश्वासपात्र पत्र प्रदान किये। किन्तु, भारत में मुसलमानों राज्य की स्थापना के बाद से, राज्य के विश्वासपात्र पद बहुधा विद्वानों से आये या आश्रित मुसलमानों को ही मिलते थे। जो मुसलमान यहां बस जाते थे उनकी अपनी विद्वान्ता जागृत्तुओं को अधिक विश्वमनीय समझा जाता था क्योंकि यहां बस और पल दूये मुसलमानों की अपना, विद्वानों से आये दूये मुसलमानों में पड़पड़ की कम सम्भावना रहती थी। कुछ अपवादों का छाहकर, मुसलमानों राज्य काल में दिन्नी की आत्माहत विद्वानों से आये दूये अमीरा (उमरा) के ही हाथ में रही^१। मुलामकी बादशाह का चुनाव दिला के अमीर ही करन थे। जोरगजर की मर्यु के बाद मुलाम बादशाहत वस्तुतः मयद भाटिया के ही हाथ में रही। अकबर के राज्य काल में भी राज्य की नीकरिया में हिन्दुओं की मख्या विद्वान्ता मुसलमानों की अपना कम थी^२। प्रत्येक मुसलमान बादशाह पर विद्वानों से आये दूये उन माधु मन्ता के अग्रतम प्रभाव अवश्य रहा है जो इस्लाम के अरवाहन रूप के हामी थे और जो हिन्दुओं की अपना मुसलमानों के बनावा दन के पत्र में थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम राज्य काल में राज्य के उत्पन्न पत्र पर विद्वानों से आये दूये मुसलमानों के ही रखन की प्रथा सी चल पड़ी थी जिसके फलस्वरूप भारत के इस्लामी समाज में एक ऐसा वग उत्पन्न हो गया जिसके सम्पूर्ण मनानी मया राजनतिक साहमिरा (Military And Political Adventurers) के रूप में भारत में आये और भारत में उनकी जही तक दिलचस्पी रहा जहां तक कि जीविका कमान का प्रश्न था। यह वास्तव में उच्च नीकरगारी अभिजात्या का था जिनका राज्य की नीकरियों पर एकाधिकार सा हो गया था। हिन्दू अभिजात और सामन्तगारी वग में इस वग की कमी नहीं बनी क्योंकि दोनों के स्वार्थों में सम्य था। इस वग के सांगात ने भारत को विद्वानों समझा और सदक ईमान या अरब में प्रेरणा ग्रहण की। ऐसे ही सांगात के लिये मुस्लिम तुल्यक ने यह आशा निकाली थी कि वे भारत के अपना दान ममहों और विद्वानों दायन जान वाले मुसलमानों के लिये दान का विधान किया था। यही वग था जिसने भारतीयकरण का अकबर ने प्रयास किया था। भारत में बसने और भारतीयकरण होने के साथजुद भी इस वग का इस्लाम के अरबीपन से रागा मक लगाव बना ही रहा^३।

उपर, जमा कि वहां के मध्यमों गुजरात के बीहारा, मायावार के मायलों

१ रामगोपाल इन्डियन मुस्लिम—ए पोलिटिकल हिस्ट्री पृष्ठ 13-14

२ यासीन, मोहम्मद ए सोशल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 44
राम गोपाल बहो अध्याय 2 और 3

और भारत की भुमज्जमान जातियों में स्पष्ट है, इस्लाम को स्वीकार करने वाले भारतीय समूहों ने अपनी पुरातन परम्पराओं का न छोड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत ने इस्लामी समाज में एक बड़े बग आया जिस पर जरबीपन की अधिक छाप थी और दूसरा वह जिसके हिंदू आधार पर अरबीपन की छाप पड़ी। भारत का इस्लामी समाज, एक प्रकार एक विशिष्ट सामाजिक इकाई पर एक मिश्रित तथा विजातीय समाज रहा। भारत के मुसलमानों में ही दली विदेशी की भावना घर कर गयी। नौकरशाही तथा विदेशी सामंती उग न देना मुसलमानों ने प्रति उपना और उच्चता का भाव प्रकट किया। जाग चलकर, जब अंग्रेजों ने राज्य की उच्च नौकरियों का हथिया लिया तो यही नौकरशाही बग विक्षिप्त हो उठा और अपनी जड़ों को भारतीय भूमि से उखाड़ा हुआ पाकर इस्लाम खतर में है का नारा बुलंद किया। बंगाल में ही सबसे प्रथम अंग्रेजी राज्य का अग्रदूत और विकास हुआ और बंगाल में ही सबसे प्रथम उद्द और मस्लिम का गंगा उठना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इस्लाम हिन्दुत्व में अलग एक राष्ट्र है और भारत में इस्लाम खतर में है यह नारा नया नदी प्राचीन है और इस्लामी समाज के नौकरशाही तथा अभिमान बग के मस्तिष्क की उपज है^१।

यह कहना कि भारत में इस्लाम का प्रसार मुसलमानों की तलवार और राजनैतिक प्रभुत्व के ही बल पर हुआ है इतिहास के गम में छिपे समाजशास्त्रीय तथ्यों की अवगलना करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मस्लिम आक्रमणकारी विजया काता, धन लिप्ता और जिहाद (धर्म प्रचार) की भावना से अधिक प्रेरित थे जिसके कारण उन्होंने तलवार का अधिक आश्रय लिया^२। रामगोपाल के मत में पञ्जाब

- १ रामगोपाल यही
- २ इस्लाम तलवार के बल पर फैला है या नहीं इस पर विरोधी मत व्यक्त किए गए हैं। किन्तु इसे सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस्लाम के प्रचार और प्रसार में तलवार का प्रयोग नहीं हुआ है। हुमाऊन बख्श ने इस बात पर जोर दिया कि इस्लाम के नाम पर उन्होंने तलवार उठाई व सच्चे मुगलमान होने की अपेक्षा राजनैतिक लुटरे अधिक थे, उन्होंने हाल ही में इस्लाम की टीपो पहनी थी और अपनी बुराईयों को उठाने इस्लाम की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया था। अफसर इलाहाबादी बखल इतना ही कह सकते कि लोग यह कहते हैं कि तलवार से फैला इस्लाम, लोग यह नहीं कहते कि सोप से क्या फैला है^३। इस्लाम के प्रसार में तलवार का जो प्रयोग हुआ है इससे लिए ऐतिहासिक परिस्थितियाँ अधिक उत्तरदायी हैं न कि इस्लाम। फिर ना किसी ने इसे उचित और सुमुक्तिपूर्ण बताने का कोशिश की है, तो किसी ने अनुचित। गिब के अनुसार, इस्लाम का जो प्रारम्भिक विरोध हुआ उसी कारण इस्लाम में उग्र, आक्रामक प्रसार भावना आयी। इफ्ताल के

और सिंध में, बल प्रयोग से ही इस्लाम का प्रचार में प्रारम्भिक सफलता मिली।^१ यह मुसलमानों के राजनैतिक प्रभुत्व का ही परिणाम था कि अनेक व्यक्ति तथा जातियाँ ने नौबरी धन, ऐश्वर्य और राज्य-रूपा पाते के लालच में इस्लाम का स्वीकार किया। फिर भी, ये कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जिनने कि तत्कालीन हिन्दू सामाजिक व्यवस्था उसकी कमजोरियाँ तथा दोष। इस्लाम का सुमुखिपूण ताकिव आधार, इस्लाम में निहित समस्तों की भावना उसका मरलता और इहलौकिकता तथा इस्लाम और मुसलमानों का सहजसिद्ध मित्राशीपन के कारण है। जिस समय भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ, उस समय बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष समाप्त नहीं हुआ था यद्यपि वह अवन अन्तिम रूप में था और धीरे-धीरे प्राचल विजयी हो रहे थे। इस पराजय से, बौद्ध विनिष्क, हलाक और बाधामन हो रहे थे और जो बाई भी ब्राह्मणों का विराधी था, उसका स्वागत करने के लिए तत्पर थे। उधर हिन्दू समाज उच्च तथा निम्नवर्णी जनता में विभाजित था। बौद्धों ने इस विभाजन का विरोध किया था। अतः, विजयान्त ब्राह्मण इसे धीरे धीरे दन्तर बनाने में लग हुए थे। उच्च वर्गों हिन्दू जनता की धार्मिक चेतना निदिशत थी। वह हिन्दुत्व की महाराट में परिचित थी। उस पर हिन्दू दान का वह रंग चढ़ा था जिस पर न काई और रंग चढ़ सकता था और न उसके आगे काई जय रंग ठिक ही सरता था। इसके विपरीत, निम्नवर्णी जनता में न कोई निदिशत धार्मिक चेतना ही थी और न उन उच्चवर्णी जनता के समान सामाजिक धार्मिक अधिकार ही प्राप्त थे। जिस सामाजिक प्राप्ति का उच्चा भावना बौद्धों ने उड़ाई थी उसको लपट बिना स्वाह लूण ही बुझ गयी थी। अतः वह अन्तर ही अन्तर मुक्त रहि थी और निम्नवर्णी जनता उसी मुक्त मन में तत्पर रही थी। निम्नवर्णी जनता हिन्दुत्व और हिन्दू समाज में उगा अनुविनकरण की मांग कर रही थी जो इस्लाम के आदर्शों में मगसा हुआ था।

जब और दारिद्र सन्तुष्टि का सम्मिलन में हिन्दुकरण की जो प्रविष्ट प्रारम्भ हुयी थी वह धीरे धीरे न हो पायी थी कि बुद्धवाद ने उग नितर बितर कर दिया और, इसी कारण जिस स्तर पर हिन्दुकरण पूरा हो चुका था वहाँ एक नू निदिशत धार्मिक चेतना प्रभुति हो गयी थी और जहाँ हिन्दुकरण की प्रक्रिया अधरी थी वहाँ एक निदिशत धार्मिक चेतना का अभाव था। उच्चवर्णी हिन्दू विधानों ब्राह्मण, और आदिवासी भारतीय सामाजिक धार्मिक संगठन के न किनार रह हैं। हिन्दुकरण की प्रक्रिया के द्वारा धीरे धीरे, आदिवासी सभ्यता हिन्दुत्व का प्रभाव क्षेत्र में घानी

मतानुसार, सभी धर्मावलम्बियों में, ईश्वर के नाम पर दण्डार चलाने और इस प्रकार विगड़ी हुयी मान्यमानों का श्रेय इस्लाम के अनुयायी तुदा के बन्दे, मुसलमानों की ही है।

रही हैं। इसी कारण, हिंदू और आदिवासी के बीच में प्रारम्भ से ही एक सनमण सामाजिक क्षेत्र रहा है जहाँ की जनता न तो पूणतया हिंदू होनी है और न आदिवासी। इसी सनमण क्षेत्र की जनता पर किसी धर्म विशेष का लेबल नहीं रहना है। इस्लाम के प्रवर्ग के समय और उसके बाद भी इसी सनमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम को स्थान मिलता रहा है। बालान्तर में, इसी सामाजिक क्षेत्र में इसाइयत को भी सर्वाधिक स्थान मिला है। इस सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवर्ग मिलने के दो कारण हैं—एक इस सामाजिक क्षेत्र की जनता का निम्न सामाजिक स्तर और दूसरा इसकी धार्मिक अनिश्चितता। इस्लाम के प्रवर्ग के समय हिंदू समाज में बहूदेववाद का जोर वाला था, पंचा को भरमार थी जिससे धार्मिक नागनिक जिनासायें तो सठनी थी और पान्बाव भा हाता था पर उससे न ता धार्मिक गकार्ये शात हाती थी और न धर्मसम्बन्धी मानमिक आवश्यकता हो। गकर के रूप में हिंदूत्व ने जो उत्तर प्रस्तुत किया उसमें तब और दाननिकता का इतना ऊंचा पुन था कि वह इस क्षेत्र के जनान्तर तब पहुचा ही नही। इस्लाम एउ सुयुक्तिवृत्त, एनस्वरवादी सरल पर रन्म्यवादी और इहनीक्यता पर जार देने वाला मिशनरी तथा मजहरी धर्म था। मिशनरी काम उमा सामाजिक स्थिति में सफल होता है जहाँ उम सुयुक्तिपूण दग से पग किया जा सके। हिंदू समाज के निम्न स्तरों में ही यह सम्भव था और वहीं इस्लाम का प्रसार हुआ।

भारत में एक ओर, इस्लाम का सामना हुआ उच्च तथा मध्यवर्गी हिंदुओं से जो हिंदुत्व की एक निश्चित धार्मिक चेतना में इतना रगे हुए थे कि उनका यह विश्वास था कि हिंदुत्व से उच्चतर तथा श्रेष्ठतर कोई अन्य धर्म ही नहीं है। हिंदुत्व के समान इस्लाम उन्हें फीका लगा। इस्लाम के आक्रामक रूप का सम्भव होने पर उन्होंने हिंदुत्व का पुनर्मूल्यांकन करके उसके उन सामाजिक तथा दाननिक पक्षों को उमारा जिनसे इस्लाम की चुनौती निरर्थक हो जाय। दूसरी ओर इस्लाम का सामना हुआ उम निम्नवर्गी जनता से जो न हिंदू थी और न बौद्ध बल्लु जिसकी आत्मा बौद्धा में सम्भव गार्ग के अधिन निपट थी जिसकी धार्मिक चेतना जम्पट थी बल्लु जो उस जनप्रिय धर्म को सलग में थी जो उसे एक आदरपूण सामाजिक स्थिति प्रदान कर सके। मशेष में निम्नवर्गी जनता उम सुयुक्तिवरण (Rationalization) के लिए पहले ही से सालायित थी जो इस्लाम में निहित थी। समाज में जिन स्तरों पर हिंदूकरण पूण हो चुका था वहाँ इस्लाम का विरोध हुआ और जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूण थी वहाँ इस्लाम का निविरोध प्रवर्ग मिला।

भारत में इस्लाम और इसाइयत का सर्वाधिक प्रसार उनी क्षत्रों में हुआ है जहाँ आन्ध्रगिया और अछूत बहे जान वाल लार्गों की अधिवन्म सम्पा रही है जहाँ बुद्धवाद का सबसे अधिक जनप्रियता मिली है और जहाँ उच्च तथा निम्नवर्गी जातियों में ऊच-नाच का मदभाव रहा है। मुसलमानों का राजनतिक गठ रहा है

दिल्ली विन्तु उनकी जन मर्यादा है बिहार, बंगाल, पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रतट-वर्ती प्रदेश, सिन्ध, बिलाचिस्तान और पंजाब में। आर्यावत कह जाने वाले प्रदेश में इस्लाम का उनका प्रवेश नहीं मिला जितना कि आर्यावत के तटवर्ती प्रदेश में। इस का सबसे बड़ा कारण यही है कि आर्यावत के तटवर्ती प्रदेश में हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है जिसके कारण इस प्रदेश में एक अनाम संचरित जनसमूह (Anonymous Floating Mass) रहा है जिस पर इस्लाम और इसाईयन का लेवल बढ़ाने में बाधा नहीं दी गयी है। यहाँ की सामाजिक परिस्थिति में इस्लाम का वस्तुतः स्वागत हुआ है क्योंकि इस प्रदेश का बौद्ध प्रभाव के अंतर्गत होने के कारण, ब्राह्मण अंगुष्ठ समझते थे। अंग वंग बर्लिंग सौराष्ट्र और मगध में जाने की धामिनीतौर पर मनाही थी^१। बौद्ध और ब्राह्मण एक दूसरे का नष्ट करने के लिए मुसलमानों की सहायता के पीछे दौड़ते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि नालन्दा के कुछ बौद्ध एल्मस की सहायता में बलियाँ मिलीं न बिहार पर आक्रमण किया था। नालन्दा बंगाल के सन राजाओं के अधीन था। बौद्धधर्म का बटुआ विराधी हान के कारण सन राजाओं ने नालन्दा के बौद्धों का कोई भी उपाय नहीं किया। बंगाल में ही रमाई पहिले न गुरुपुण्य की रचना की थी (१४वीं शताब्दी) जिसमें उन्होंने लिखा था कि ब्राह्मणों के अत्याचारों का अंत करने के लिए देवता, पात्राया पहन कर, मुसलमानों के रूप में, अवतरित हुए हैं। निम्न हिंदू राजा दाहिर के समक्ष कहा कि धर्मों में मुल्हमद बिन आसिम का साथ दिया था। इस प्रकार मुसलमानों की सहायता में धर्म और बौद्ध एक दूसरे का सफाया करना चाहते थे किन्तु मुसलमानों तलवार होना की गरदन पर पड़ी। धर्मों पर तो वह इतने जार मपड़ी कि उनका सफाया ही हो गया^२।

इस प्रकार, हिंदू समाज में इस्लाम का प्रवेश भिन्ना उस सामाजिक स्तर में जहाँ सच्चवर्णी हिंदू तथा आर्यावर्णी के मध्य एक अनिश्चित, प्रवाह और अंतर्वर्ती सामाजिक क्षेत्र अस्तित्व में आ गया था। इस्लाम में सम्पन्न हान के समय, इस स्तर की जनता ने न बौद्ध थी और न हिंदू यद्यपि वह बौद्धधर्म के अधिक समीप थी। इस कारण, उन एल्मस अधिप प्रगतिवादी जान पड़ा। आगे चलकर लगभग स्पष्ट हो चली बात, उन्नीसवीं शताब्दी में इस स्तर का जनता अपने व्यावहारिक रूप में न तो निश्चित रूप में हिंदू थी और न मुस्लिम। उसमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की माँगें पायी जाती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब बहाबो आन्दोलन चला और अंग्रेजों का उपद्रव में जानि तथा धर्म के आधार पर जनसंख्या की जाने लगा

१. अंग वंग बर्लिंग, सौराष्ट्र मगधेषु च।

तीसवाया दिनगत्वा पुनः सहजामहति। सिद्धान्त बौद्धो

२. दिनकर रामधारीसिंह संहति के चार अध्याय पृष्ठ २७२-३१७

तो मुसलमानों ने अजुमनो को सगठित करने वतनिक धर्म प्रचारक रखे, जिन्होंने उन्हीं प्रदेशों में काम किया जहाँ निम्नस्तरीय जनसंख्या का बाहुल्य था और साधारण जमता हिन्दू समाज के अन्तर्वर्ती क्षेत्र में थी, यद्यपि अपने व्यावहारिक स्तर में वह हिन्दू भी थी और मुसलमान भी क्योंकि उनमें हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों की भावनाएँ विद्यमान थीं। बंगाल और पंजाब की कृषक जातियाँ ऐसे ही अन्तर्वर्ती समूह थे जिन्हें उन्नीसवीं सताब्दी के आस पास जनगणनाओं में मुसलमान घोषित किया गया और इस्लाम के धर्म प्रचारकों ने उन्हें इस्लामी रंग में रंगने का प्रयास किया। सन अठारह सौ इस्लाम के धर्म प्रचारकों की जनगणना विवरण में लिखा है कि अठारह सौ बहतर के बाद से, प्रति एक लाख व्यक्तियों के पीछे उत्तरी बंगाल में सौ व्यक्ति मुसलमान हुये हैं पूर्वी बंगाल में दो सौ बासठ पश्चिमी बंगाल में एक सौ दस और सम्पूर्ण बंगाल में एक सौ सत्तावन। उसी विवरण के अनुसार, उन्नीस साल पहले, बंगाल में हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से डेढ़ लाख अधिक थी किन्तु दो दसकों के दौरान में, मुसलमानों ने हिन्दुओं को पीछे ही नहीं छोड़ा बरन् उनसे डेढ़ लाख अधिक हो गए^१।

इस्लाम का सर्वाधिक प्रसार उन्हीं क्षेत्रों में हुआ जहाँ उच्च और निम्न वर्ण का अन्तर काफी प्रबल था, जहाँ उच्चवर्णियों की अपेक्षा निम्नवर्णों और मजदूर जनसंख्या अधिक थी तथा जहाँ जाति व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भाग पहले ही से भड़क रही थी। ये भारत के वे प्रदेश हैं जहाँ उस समय क्षत्रिय वर्णों जाति या जातियों का प्रभुत्व नहीं हो पाया था। पंजाब सिंध केरल तामिलनाडु और बंगाल ऐसे प्रदेश हैं जहाँ की सामाजिक मरचना में ब्राह्मण वर्णों जातियाँ तो रहीं हैं किन्तु क्षत्रिय वर्णों जातियाँ अनुपस्थित रही हैं। महाराष्ट्र में शिवाजी मुस्लिम काल में ही क्षत्रिय बने। क्षत्रिय जातियाँ हिन्दू सामाजिक मण्डल में एक ओर ब्राह्मणों के आदेश को लिये रही हैं तो, दूसरी ओर निम्नवर्णों जातियों के सम्पर्क में रहीं हैं और, इस कारण, क्षत्रिय वर्णों जातियाँ ब्राह्मणों और गर-ब्राह्मणों के बीच मध्यस्थ के रूप में रहकर, हिन्दू समाज में उत्पन्न प्रवाहों का आत्मसात करती रही हैं। क्षत्रिय जातियों की अनुपस्थिति में इन प्रदेशों में ब्राह्मण और गर-ब्राह्मण का मध्य बना रहा जिसमें इस्लाम को आसानी से प्रवेश मिला।

इतिहासकारों ने बहुधा इन बातों पर जोर दिया है कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था और उसके आध्यात्मिक आधार इतने दोषपूर्ण हो गये थे कि ये इस्लाम का आगमन टिक पाये। किसी ने हिन्दुत्व का दापो ठहराया है तो किसी ने इस्लाम के आक्रमक रूप का। किन्तु ऐसी भावनाएँ न तो इतिहासपरक हैं और न तर्कमगत। इन भावनाओं के पीछे जो तर्क है उनमें आंतरिक विरोध है। उदाहरण के लिये, यदि इस्लाम अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक और प्रगतिवादी होने का कारण भारतीय

सम्बन्धि में प्रविष्ट होकर फलांता सम्पूर्ण भारत क्या न इस्लामी राष्ट्र हो गया ? यदि जाति प्रथा न इस्लाम का भाग प्राप्त किया तो जमाकि इतिहासकार बहुधा कहा करने हैं, जाति प्रथा इस्लाम के समान हिन्दुत्व के लिये रक्षा-बचकम सिद्ध हुई ? बिना भी प्रलय के काय-कारण परस्पर विरोधी नहीं हुआ करने हैं। किन्तु, यदि जाति प्रथा का ही इस्लाम के प्रसार में सहायक और व्यवधान मान लिया जाय तो यह मायना तत्काल नही रहती है क्योंकि इसमें काय कारण में, विरोध आ जाता है।

भारत में, इस्लाम और हिन्दुत्व साधारणतया परस्पर अलग रह जिसके लिये न तो हिन्दुत्व ही श्रेय का भागी है और न इस्लाम ही और न उनमें से किसी का श्रेष्ठतर या परस्पर अधिक दावी कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण में, हिन्दुत्व और इस्लाम दो प्रक्रियाएँ हैं जो अलग अलग देग-वालों में उत्पन्न होकर एक देग काल की स्थिति विशेष में परस्पर मिलती हैं—वह स्थिति जो अपने तत्कालीन रूप में न अच्छी है और न बुरी क्योंकि वह स्वयं एक प्रक्रिया है और प्रक्रिया से ही जन्मी है। हिन्दुत्व में बहुदेवता तथा बहुपूजा तथा विषम दार्शनिक आधारों तथा विरोधी आत्म नियमों, जाति प्रथा के उच्च तथा निम्न स्तरों और मन्त्रमण सामाजिक क्षेत्र (Buffer Zone) का पाया जाना हिन्दुत्व को जन्म देने वाली एक विशेष देग-काठ-गत प्रक्रिया की देन है। उसी प्रकार, जिस इतिहासकार इस्लाम की प्रगतिवादिता करते हैं वह भी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की देन है। हा, इतिहासकारों ने यह भूल अवश्य की है कि उन्होंने, हिन्दुत्व की अपेक्षा इस्लाम का अधिक गायामक रूप में देखा और उसका विन्लेषण किया है। साधारणतया, इतिहासकार यह भूल रहे हैं कि एक सम्बन्धित रूप में, हिन्दुत्व भी एक गचयी प्रक्रिया है जिसके आधारभूत तत्व समयानुसार निश्चित होकर बार-बार अवतरित होने रहे हैं। एक घम के रूप में नहीं बरन् एक सम्बन्धित के रूप में हिन्दुत्व उतना ही प्रसारवादी रहा है जितने कि इस्लाम और इसाईयन। सम्बन्धितमूलक होने के कारण, हिन्दुत्व का अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा है। हिन्दुत्व का गचयीपन (Cumulativeness), प्रसारण (Proselytization) और मिश्रणीय वस्तु निम्न हैं उसी इतिहासजनिता उम्र समयवारों प्रक्रिया में जिसकी अनिवार्यता है जाति प्रथा उच्च-निम्न तथा मन्त्रमण सामाजिक स्तर और हिन्दुत्व के विषम आत्म नियम तथा दार्शनिक आधार। हिन्दुत्व में मन्त्रमण सामाजिक क्षेत्र में इस्लाम का प्रवेश एक द्वार निर्भर है हिन्दुत्व का जन्म देने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया पर और दूसरी ओर पिछले तरह की वनों में उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियों पर। उन्नीसवीं कुछ एक घनन् ऐतिहासिक प्रथा के स्तरों के थपड़ों की उपलब्ध-मुक्त सम्मया हुआ प्रवादिता हो रहा है यहाँ यह कहना बर्धन ही नहीं बरन् साधारणतया कि कौन किसके रूप में दोषी है। यहाँ कब-कबना ही कहना सम्भवतया होगा कि किस कदम प्रक्रिया की है और जहाँ उसकी विरा का मधान पड़ा, कहा कौन प्रतिक्रिया-द्वेषी।

४

भारत के बाहर इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क

केवल यह मानकर चलना कि भारत में ही हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क तथा सम्मिलन हुआ ऐतिहासिक गति विधि की व्यवहेलना करना है। हिन्दुत्व एवं यह धर्मांतरण (Proselytising) संस्कृति तथा धर्म है जिसमें एतरेय ब्राह्मण की आत्मा चरैवेति (निरंतर आगे बढ़ी) समाई हुई है। प्रारम्भ से लेकर आज तक हिन्दुत्व नये क्षेत्रों और जातियों का प्रभावित तथा अपने में समाहित करता हुआ सदैव आगे बढ़ता रहा है। मुसलमानों को हिन्दुत्व में औपचारिक रूप से उस प्रकार नहीं दीक्षित किया गया जिस प्रकार हिन्दुओं को इस्लाम में किया गया। किंतु हिन्दू संस्कृति के आध्यात्मिक योगदानों का इस्लाम में समावेश हुआ है, यद्यपि इस समावेश पर इस्लाम के जरबीपन की छाप है। विनयकुमार मरवार के अनुसार सातवीं और तरहूनी शताब्दियों के बीच हिन्दू संस्कृति महाद्वीपीय भारत में ही अहिन्दुओं का हिन्दूकरण नहीं कर रही थी जिनके बादतर भारत के विजातीय जन (Heterogeneous People) पर भी अपना प्रभाव डाल रही थी। इस्लाम पर हिन्दुत्व का एक प्रभाव पड़ा भारत के बाहर इस्लामी एशिया के माध्यम से और दूसरा भारत में एक और मुगलमान बनने वाला के द्वारा और दूसरी ओर अलबख्नी खुसरो अकबर अबुल फजल रहीम खानखाना और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे उन मुसलमानों के द्वारा जो हिन्दुत्व की आध्यात्मिक दार्शनिकता से प्रभावित थे। इस्लाम की आध्यात्मिकता सामाजिक संगठन, प्रथाओं आचार विचारों रीति रिवाजों नीर-नरीकों भावनाओं और नाम विज्ञान पर हिन्दुत्व के प्रभाव के चिह्न काफी स्पष्ट हैं।

ऐतिहासिक उद्बिकास के सन्दर्भ में इस्लामी एशिया अन्तुत बादतर भारत का ही एक भाग है। इस्लाम के संग्रह सभी समीपवा ने यह स्वीकार किया है कि इस्लाम के आधारभूत स्वरूप पर यूनानी दर्शन का प्रभाव पड़ा है। इस्लाम के जन्म के बहुत पहले यूनान में भारतीय दर्शन और ज्ञान विज्ञान का समावेश हो गया था। अतः इस्लाम पर प्रथम हिन्दू प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। इस्लामी एशिया की संस्कृति के कुछ हिन्दुत्व (Hinduised) थी और उसका कारण भी वे संस्कृत ग्रन्थों जिनका अरबी फारसी में अनुवृत्ति किया गया जिनके द्वारा हिन्दू ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया। पचतंत्र और चरक महिता का अनुवाद पहले फारसी में हुआ और बाद में फारसी के अनुवाद में उनका अनुवाद अरबी में हुआ। अथ हिन्दू पुस्तकों के अरब अनुवाद सीधे संस्कृत पाठ में किये गये हैं। यन्नीफा मयूर (७३-७७) के राशकान में, प्रत्यगुप्त के ज्योतिष और गणित सम्बन्धी प्रथा प्रत्यगुप्त और गण्डसाहयक का अरबी ग्रन्थाना सिधद और अरबद नामक पुस्तकों

क रूप में हुआ। खलीफा हारुन अल्-रशीद (786-808 २०) के मंत्री बरमक परिवार के भारतीय थे। उन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था पर, मुल्तान व बौद्ध थे। इन्हीं मंत्रियों की देखरेख में अनेक हिन्दू विद्वान वगैरह बुलाये गये और उनका द्वारा मन्त्र के आयुर्वेद (Medicine), भेषजशास्त्र (Pharmacology) विषशास्त्र (Toxicology) दान (Philosophy) और ज्योतिषशास्त्र (Astrology) सम्बन्धी ग्रन्थ अरबी में अनुवादित कराय गये। इसी कार्य में, हिन्दू ग्रन्थ वगैरह बुलाये गये और उनकी देखरेख में वहाँ औपचारिक स्कूल गये¹। यही वह काल है जब बदा'उल्लाह की दान सम्बन्धी कृति के द्वारा इस्लामी मजार में बदा'उल्लाह दान का प्रचार हुआ जो बहुत सम्भव है आगे चलकर सूफीवाद की उत्पत्ति का एक कारण रहा हो। जैसा कि अलबरूनी (1070-1048) की कृतियाँ स्पष्ट है मुसलमान लग्गना में मन्त्र के ग्रन्थों का अनुवाद किया उन पर टीकाय और भाष्य लिख तथा उनका मन्त्र और स्वतंत्र अरबी फारसी सम्मिलन प्रस्तुत किया। जिस समय गजनी का शासन महमूद भारत के सिन्धु के तटों पर उनके घन भूतन में स्थित था उस समय उनकी छत्र छाया में चलने वाला एक दार्शनिक विचारक अलबरूनी, जिस ग्यारहवीं शताब्दी का मुस्लिम इंडोलॉजिस्ट (Indologist) कहा जा सकता है हिन्दू ज्ञान विज्ञान का मनन करके और उसका विश्व विचारधारा में संप्रेषित कर इस्लामी मजार में सम्मुख रख रहा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने वही कार्य किया जो आगे चलकर चौबीसवीं शताब्दी में सर विलियम जोन्स और मकमूलसर ने किया। इनके अन्तर्गत गवा उद्देश्य एक ही रहे हैं यद्यपि तरीक अलग अलग²।

1 किन्तु इस्लामी विचित्रता-पद्धति पर मूलभूत प्रभाव यूनान का पश्चात् और, इसी कारण, मुसलमानों ने जो विचित्रता पद्धति भारत में अपनाई उसका नाम यूनानी हिस्सा पड़ा।

2 सरदार, विनयकुमार वही पृष्ठ 49-51

तेरहवाँ अध्याय हिन्दू-सम्पक में इस्लामी सस्कृतिकरण

इस्लाम पर हिन्दू वैचारिक प्रभाव

हिन्दू ज्ञान विधान का अरबी फारसी में अनूदित करने की जो परम्परा बगदाद के सलीफाभा और अत्यस्नी जैसे विचारकों ने डाली थी वह सारे मध्य युगीन भारत में भी काममें रही और उसके द्वारा हिन्दू विचार और ज्ञान विज्ञान का इस्लाम में प्रवेश हुआ। विनयचूमार सरखार ने इस इस्लाम का हिन्दूकरण कहा है। किन्तु इस तथ्य को अस्वाकार नहीं किया जा सकता कि भारत में अनेक हिन्दू, बौद्ध तथा आदिवासी विचारों और प्रभावों का समावेश इस्लाम में हुआ है और जिनके द्वारा इस्लाम का भारतीयकरण हुआ है। भारत में इस प्रक्रिया का श्रेष्ठोदाहरण ससूत ग्रन्थों में अरबी फारसी अनुवाद से होता है। ससूत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद फीरोज़शाह तुगलक (1351-1388) के समय में प्रारम्भ हो गया था। दल्ल ए फीरोज़शाही नामक कविता में हिन्दू 'भौतिकशास्त्रों' का अनुवाद है। अकबर की प्रेरणा ॥ महाभारत, रामायण, गीता, अथर्ववेद योगवासिष्ठ हरिवंश और महेन्द्र महानन्द इत्यादि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। दारा शिकोह (1614-1659) की प्रेरणा से वेदा के फारसी अनुवाद का प्रयास किया गया। सर-उल-अमरार (1657) नामक शीषक के अन्तर्गत, दारा शिकोह ने उपनिषदों का उल्था किया

और मजीम-उल बहरीन (१६५४) नामक पुस्तक में सूफीवाद और हिंदुत्व के बहु देववाद को एक में मिलने का प्रयास किया। औरंगजेब (१६५४-१७०७) ने अपने पोत्र जहादारशाह के लिए हिंदू विद्याओं का एक फारसी संग्रह तुहफातुलहिंद नामक पुस्तक का अंतर्गत करवाया था।

अबुलफजल (१५५१-१६०२) जिस जहागीर में हिन्दुस्तानी गल्ल कहा था, नीतिशास्त्र रचयिताओं की श्रेणी में आता है। उसकी पुस्तक आइन ए अकबरी का लिखन की गली नीतिशास्त्रों की गली से इतनी मिलती जुलती है कि उस सरसता पूर्वक अकबर नीति कहकर नीतिशास्त्र की श्रेणी में रखा जा सकता है। आइन-ए अकबरी की परम्परा अंतर्गत हिंदू है और अंतर्गत मुस्लिम किन्तु वस्तुतः वह हिंदू परम्परा के अधिक समीप है क्योंकि अबुलफजल के लिए अकबर, इतिहास, राजनीति और राज्य प्रबंध केवल नित्य और सामाजिक दान के निर्धारण का माध्यम है। आइन ए अकबरी का मुख्य विषय न तो अकबर है न उनका इतिहास और न राज्य। उसका मुख्य विषय है सम्राट के गुणों तथा कार्यो का निरूपण और हिंदू राजनीतिशास्त्र की प्रधान समस्या राजपिबन्धन अथवा राजपि (क्रिये सम्राट) के व्यवहार के निर्धारण की समस्या। इस रूप में अबुलफजल की रचना कौटिल्य की परम्परा में आती है। जसा कि यदि और उत्तर यदि साहित्य के रचयिताओं की परम्परा रही है, अबुलफजल के लिए, इतिहास अथवा शास्त्र साहित्यी, जीवनी लेखन और अकबर (सम्राट) का व्यक्तिगत नित्य, आर्थिक और भाषात्मक प्रचार के सम्बन्ध में हैं। आइन ए अकबरी की परम्परा मुना हनीम और सरिजत की परम्परा नहीं है। आइन ए अकबरी वस्तुतः मस्तुत में लिखे जाने वाले हिंदू नीतिशास्त्रों का फारसी संस्करण है और इस बात का प्रमाण है कि किन प्रकार सोनहवीं शताब्दी के पास पास हिंदू विचारों का इस्लाम में समावेश हो रहा था। अबुलफजल के अनुसार, राजनितिक संगठन सभी स्थायी रहे सरसता है जब समाज का ठीक ठीक धर्मो विभाजन हो। उसका अनुसार भी समाज में चार धर्मिया है—योद्धा, व्यापारी, विद्वान् और धर्मिक जिन्हें उचित स्थानों में रखकर उनका ठीक ठीक समय करना सम्राट का कर्तव्य है। अबुलफजल के इस निर्धारण में उसी धारणा और समस्या की झलक है जिसे हिंदू नीतिशास्त्रों के रचयिताओं ने सम्राट और समाज के सम्बन्धों को धानुष्य की धारणा के द्वारा हल करने का प्रयास किया है। गली में यदि आइन ए अकबरी कौटिल्य के अथवा नीतिशास्त्र की परम्परा में है तो दान, भाय और उद्देश्य के दृष्टिकोण में उसकी भाषा मनुस्मृति की भाषा के अधिक समीप है।

२

इस्लामी समाज और सस्कृति पर हिन्दू प्रभाव

इस प्रकार, एक घात फारसी तथा अरबी में अनुदित मस्कृत साहित्य के द्वारा तथा दूसरी ओर इस्लाम में दीया लेने वाले हिन्दुओं के द्वारा, भारत में इस्लामी दान समाज और रीति रिवाज पर हिन्दु का प्रभाव पड़ा। भारत में एक बड़ी सीमा तक इस्लाम ने हिन्दू प्रथाओं और मान्यताओं का आत्मसात किया। इस हिन्दूकरण के मुख्य माध्यम यह हैं—मध्य युग के मुसलमानों का भारत में जन्म लेना, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था और जिन्होंने लिए, हिन्दुस्तानी मुसलमानों की उपयोगितापूर्ण सजा का प्रयोग किया जाना था। वे भारतीय मुसलमानों का मूलतः हिन्दू के अपना मौलिक दृष्टिकोण, जीवन स्थान और सामाजिक स्तर लेकर इस्लाम में प्रवृत्त हुए। भारत में इस्लामी समाज के हिन्दूकरण का सबसे प्रबल प्रमाण है मुसलमानों में पायी जाने वाली जाति व्यवस्था। ऐसा, अतर्वैवाहिकी उच्चाच्च परम्परा (Hierarchy) और कल्प गुटता (Ritual Purity) की भावना पर आधारित जाति प्रथा भारत के इस्लामी समाज में भी पायी जाती है। मुसलमानों के त्योहारों, रीति रिवाजों, विचारों और धार्मिक जादुई (Magico-Religious) अनुष्ठानों में हिन्दू प्रभाव के अनेक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। पीरों की कल्पना और उनमें विश्वास, दरगाह पर मर्यादा देवता जय महावीर या हर हर महादेव की तरह या अली का नारा लगाना, सगुन विचारना, विधवा की भक्षण संध्या या मुहागिन को शुभ मानना मुहागिनों द्वारा सिद्ध का प्रयोग तथा विभिन्न अनुष्ठानों में सोहागपूरा का प्रयोग हिन्दू धर्म के ही अनुरूप मत व्यक्तियों के नाम पर लीजा भोज और सरसत का आयोजन करना, छठका श्रत (सूय पूजा) चेषक या प्रक्षेप श्रत करने के लिए गीतला माता से विश्वास और गीतला माता के साथ सम्बन्धित जाने वाले माली जाति के मध्यों द्वारा गीतला माता की पूजा करवाना, दीयाली और हाली जल, त्याहारों का मनाना और बंगाल में सत्यनारायण की पूजा का अनुकरण का आधार पर सत्यापीर की पूजा हिन्दू प्रभाव का ही परिणाम है। मुसलमानों में पगड़ी का प्रयोग हिन्दुओं से आया है। दिनकर का ऐसा विचार है कि सम्भवतः मुसलमानों का त्योहार सबेर का हिन्दुओं का त्योहार गिरात्रि से प्रभावित है¹ ?

मोहम्मद यामीन के अनुसार भारत में ताजियों का यादना और उन पर ताटकीय आक्रमण करना हिन्दुओं की रामलीला का इस्लामी अनुकरण है। ग्रहण (सूय या चन्द्र) के अवसर पर उपवास करना तथा ग्रहण में लीन रहना और ग्रहण के उपरान्त गुडि के लिए स्नान करने की प्रथा मुसलमानों में हिन्दुओं से ही आयी है।

1. दिनकर रामधारी सिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 393-94

अभिवादन के लिए हिंदुओं की भाँति मुसलमान भी 'राम राम' शब्द का उच्चारण करने हुए पाये गये हैं। सुल्तान मोहम्मद तुग़लक की बहिन की विवाह का हमला देने हुए मोहम्मद यासीन ने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में राक्षस विवाह प्रचलित था जो एक घर इस्लामी प्रथा है^१। भारत में आज भी ऐसी जातियाँ मिलती हैं जो न तो पूजन हिंदू हैं और न मुसलमान और, मुसलमान होने पर भी उनके सदस्य हिंदुओं के समान रहते हैं। बंगाल के बाङल और अजमेर के हुमनो ग्राहण न तो पूजन हिंदू ही कहेंगे सक्त हैं और न पूजन मुसलमान। राजपूताना और आगरा जिले के मल्काना राजपूत मुसलमान होते हुए भी 'राम' नाम जपते हैं और दरगाहों पर जाते हैं। गुजरात के खाना सम्प्रदाय के लोग पर वैष्णव धर्म की स्पष्ट छाप है^२।

गिब के अनुसार मुगल काल में मुसलमानों में सती प्रथा के प्रमाण पाये गये हैं। मध्ययुगीन भारत में मुसलमान बाँदाआ न जोहर प्रथा का उन्नी प्रकार प्रपन्नाया जिस प्रकार हिंदुओं में। किसी समीपस्थ सम्बन्धी के घर में मिर दानी और मूछ मुठाने की प्रथा अबवर न चलाई या और किसी हल नक मुसलमानों ने उम अपनाया भी था। मरणासन व्यक्ति को खाट से उतार कर जमीन पर लिटान और विषबाधा द्वारा कुछ अभूषण और रंगीन रस्सा का त्यागन की प्रथाएँ भी मुसलमानों में पायी गयी हैं। बाँदा विवाह और स्त्री पर पुण्य के स्वामित्व का मान, यासीन के अनुसार मुसलमानों में हिंदुओं में आया है। फ़ारसी चर्चाने, साधु-मन्त्रों की श्रद्धा कि कौन जादू टाला और नाजीज में चित्रास नीध-बाधा मूर्ति-पूजा का मानना और मादक द्रव्यों का भजन मुसलमानों में हिंदुओं और आदिवासियों के सम्पर्क में आया है। मध्ययुगीन भारत में मुसलमानों के जीवन के आदर्श रहे हैं रज्ज (मुद्ध) बज्ज (भाज और दरबार) और इबादन (प्रायश्चित्त)। इन आदर्शों पर इस्लाम की अपना हिंदुत्व के राजपूनीकरण की अधिक छाप है। सिद्धान्त इस्लाम में पुरोहितवाद का कोई स्थान नहीं है। किन्तु भारत में राजिया और मूल्काओं ने पुरोहित की पदवी धारण की।

३

सूफीवाद में हिन्दू प्रभाव

इस्लामी भाव मूलि में सूफीवाद का स्वर और म इस्लाम के हिन्दूकरण का एक अन्य माध्यम बनी। भारत के सूफा-गणों की टीका करने हुए गिब ने लिखा है

- १ यासीन, मोहम्मद ए गोगत हिंदी आफ इस्लामिक इण्डिया पृष्ठ 49-59
- २ दिनकर घरी पृष्ठ 397

के भारत के सूफी पंथों का इस्लाम से नाममात्र का सम्बन्ध है, क्योंकि इन पंथों में हिन्दू और प्राक् हिन्दू प्रथाओं तथा सिद्धांतों की भरमार है। वास्तव में है भी ऐसा ही क्योंकि इस्लाम का लोकप्रिय और रहस्यवादी रूप होने के कारण, भारत में, अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद ही अधिक जनप्रिय रहा। अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा अधिक सहिष्णु होने के कारण सूफीवाद अपेक्षाकृत अधिक समन्वयकारी भी रहा है। अपनी कट्टरवादिता के कारण, अरबीवादी इस्लाम ने जिन प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न किया उनका निराकरण सूफीवाद के ही द्वारा हुआ। इसी कारण, सूफीवाद और सुफियों के माध्यम से इस्लाम का अधिक प्रभावपूर्ण प्रचार भी हुआ। अपनी सहिष्णुता और समन्वयकारिता के कारण अरबीवादी इस्लाम की अपेक्षा, सूफीवाद बहुदुर्वर्त की आत्मा के अधिक समीप रहा है और यह उस सामौल्य का ही परिणाम है कि भारत के अशिक्षित और अब मुस्लिम ग्रामीण मुसलमानों के धार्मिक जीवन में हिन्दू प्रभाव का प्राधान्य है।

गिब के अनुसार, यह मानना कि सूफी शब्द यूनानी भाषा के सोफिया (Sophia) या सोफास (Sophos) शब्द से निवृत्त है एक निगधार अतिरिक्त उत्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सूफी शब्द का साक्षात्कार या व्यञ्जित अर्थ वह नहीं है जो 'सोफोस' या 'सोफिया' का है। साधारणतः, यह माना जाता है कि सूफी शब्द, 'सूफ' शब्द से निवृत्त है। इस्लाम के धर्मयुद्ध के प्रारम्भ में 'सूफ शब्द' का अर्थ लिया जाता था बिना रंग हुए ऊन के उस लबादे से जो ईराक में धरायी, साधक या तपस्वी धारण किया करते थे। किन्तु उस समय सूफ वस्तुतः शीत या समार-रोग और पश्चात्तापी ग्लानि का जिसके कारण सूफ धारण की आवश्यकता भी की गई है और सूफ धारण को ईसाइ धर्म के प्रवर्तक ईसा की नकल लेकर उसकी उपेक्षा भी की गयी है। फिर भी, यह निश्चित है कि इस्लामी सम्बन्ध में दूसरी शताब्दी में क़ुषा के साधक और तपस्वी सूफ धारण करते थे और उन्हें मल-सूफिया कहा जाता था और चौथी शताब्दी के आस पास ईराक के साधक में सूफ धारण करना एक साधारण प्रथा हो बन गयी थी। सूफी शब्द के इस ऐतिहासिक विवेचन से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं। एक, सूफीवाद की जड़ें रहस्यवादी गहनज्ञान (तसव्वुफ) में गड़ी हैं और दूसरा, सूफीवाद की उत्पत्ति अरब में न होकर ईराक में हुयी है। अरब का सूफीवाद में केवल इतना ही योग है कि हजरत मुहम्मद का ऐतिहासिक अस्तित्व अरब में था और वही न वह अरबीवादी इस्लामी ज्ञान फला जैसा सूफिया ने एक रहस्यवादी मनुष्यता के रूप में रखा।

सूफी शब्द वस्तुतः प्रयोग है रहस्यवादी साधक का और सूफीवाद (तसव्वुफ) उस तरीके या जीवन-प्राप्त के ढंग का जिसमें बाह्य कल्पाचार को त्याग कर आंतरिक मनुष्यता पर आरंभ किया जाता है ताकि स्थायी आध्यात्मिक सुखानन्द प्राप्त हो सके। सूफीवाद के मुख्य धारणा हैं—इन्द्रिया को यत्न करना, इच्छाओं को नियंत्रण में

रखकर उन्हें ईश्वरच्छा के अधीन रखना और बाह्य तथा आन्तरिक जीवन का इस प्रकार समन्वय करना कि शाश्वत जान-द की प्राप्ति हो। सूफीवाद, वैयक्तिक तथा सांसारिक सुखा का परित्याग करके हक (सत्य) में लीन हो जाना का प्रयास है। खल्क (सत्कार) निस्तार है और हक (सत्य) का ज्ञान ही सूफी को ईश्वर का इस प्रकार आभास देता है कि, अपने स्वत्व के आभास का ज्ञान छाड़कर, सूफी अपने का ईश्वर के स्वत्व में लीन हो जाता है। अपने अन्दर भी और बाहर भी, सूफी ईश्वर का अनुभव करता है। सूफी अपने स्वत्व में मत्प्रिय सा रहकर, ईश्वर के स्वत्व में जीवित रहता है। इस प्रकार, सूफीवाद ईश्वर का समझन की एक रहस्यात्मक अनुभूति का माग है। मुहम्मद द्वारा प्रवर्तित मत में ईश्वर और व्यक्ति का अलग अलग त्रिराशी अस्तित्व है। किन्तु सूफीवाद में दोनों एक दूसरे में भिन्न नहीं हैं। ईश्वर और जीव मौलिक रूप से एक हैं। अतः जीव ईश्वर से मिलने के लिए बचन है। जीव ईश्वर का दास नहीं है बरन उसका सया है। त्याग तपस्या और ध्यान से जीव ईश्वर में लीन हो सकता है। फना (समाप्त) होकर बका (निर्वाण) प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। ईश्वर में लीन होने के लिये डर नहीं, दया की भीषण नहीं, प्रेम की आवश्यकता है। प्रेम की ही अभिव्यक्ति के लिए सूफिया ने ईश्वर की सौंदर्य के रूप में कल्पना की है और जीव की प्रेम के उपासक के रूप में। सूफिया के लिए इहलौकिक प्रेम ही पारलौकिक प्रेम की सीढ़ी है। इसी कारण, सूफिया की साधना में ध्यान, स्मरण (माला करना) और रति तथा गान का भाव आया।

इस प्रकार, सूफीवाद का मुख्य आधार है वैयक्तिक तथा रागात्मक रहस्यवादी अनुभूति और उसके द्वारा ईश्वरत्व (हक) का सहज ज्ञान प्राप्त करना। अरबीकृत इस्लाम की अपेक्षा सूफीवाद अधिक वैयक्तिक और आनुभूतिक है। अरबीकृत इस्लाम इहलौकिकता और सुयुक्तिकरण पर ज्यादा जोर देता है जबकि सूफीवाद त्याग, तपस्या और रहस्यवादिता पर। अरबीकृत इस्लाम में खल्क (सत्कार) त्याग्य नहीं है परन्तु ईश्वरीय भय के माय शब्द है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है अरबीकृत इस्लाम एक इलहामी ज्ञान है जिस बिना किसी गवा के अपनाता मानव धर्म है। इसी कारण, इस्लाम के समीक्षकों का कहना है कि सूफीवाद इस्लाम की इहलौकिकता तथा कट्टरता के विरुद्ध प्रतिनियोग के रूप में उठा हुआ एक कदम है। इस्लाम का आधार है मिलाप, उसका सामाजिक धार्मिक संगठन, पर सूफीवाद का उद्देश्य है व्यक्ति तथा समुदाय का आध्यात्मिक पुनर्जागरण। इस्लाम का जोर है ईश्वरत्व की गुणात्मक अनुभूति पर जबकि सूफीवाद का जोर है प्रयत्न और वैयक्तिक ज्ञान पर। इस्लाम के गुण गुणात्मक ज्ञान के प्रति, सूफीवाद एक प्रबल प्रतिक्रिया रहा है। बाह्य कलाचार और कट्टरवादिता से मुक्त होने के कारण, सूफीवाद अधिक सहिष्णु रहा है।

सूफीवादी ज्ञान प्रयत्न का मुख्य है बताने कि उन उस ज्ञान माग पर बसने

का तरीका आता है। तरीका गुरु न मिल सकता है और इसी कारण, सूफीवाद के अम्युदय के साथ साथ गुरु शिष्य (पीर मुरीद) परम्परा का भी अम्युदय होता है। गुरु के बिना सूफीवादी अनुभूति सुलभ नहीं। ज्यों-ज्यों सूफीवाद का प्रचार बढ़ा, व्याख्या जलग जलग गुरु उत्पन्न होत गये और उनके नाम पर अलग-अलग सूफी सम्प्रदाय बन। एक गुरु के चेल अपने गुरु के तरीके का जलग अलग प्रचार करके, उनका नाम पर मठों बना गढ़ियों की स्थापना करने लगे। जहाँ गुरु जिविवाहित होता था वहाँ उसकी मरम्भ के बाद एक नया मठाधीश चुन लिया जाता था और जब गुरु विवाहित होता था वहाँ मठ की गद्दी बैठे को उत्तराधिकार में जाती थी। इस्लामी साम्राज्य के साथ साथ सूफीवाद और उसके प्रचारका की सझा भी बड़ी और उसका परिणाम यह हुआ कि बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के समय में सूफीवादी सम्प्रदाय इस्लामी मसाल मकानन लगे और उनका दरवेश सूफीवादी मत का प्रचार करने लग। सूफिया में एक आर के प्रशिक्षित मायक और प्रचारक तथा दूसरी आर के जन साधारण के स्तर के जिनासु। अरबीकृत इस्लाम की कट्टरवादिता के समय सूफीवाद अधिक सहज सवुद्धिमय और जनमुलभ था। इस्लाम की अरबी कट्टरता के कारण जा प्रतिनिधता हुयी सूफीवाद उसके विराकरण का माध्यम और उसका उत्तर था। इसी कारण, यह कहा गया है कि सूफीवाद वस्तुतः एक जन-आन्दोलन के रूप में इस्लामी मसाल में फैला।

सूफीवाद के प्रचार का माध्यम थी प्रायना-समाय जा महिजदों में होने वाले काम के भाषणा की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होती थी। सूफीवादी गुरुओं (पीर, खलीफा या मजदानगीन) और दरवेशों के यागिया जस आत्म-सम्मोहक (Auto hypnotic) तथा त्रिचिध तरीके अधिक जनावपक सिद्ध हुए। कट्टरवादिता का विरोधी तथा जन रीतिया और विचारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु होने के कारण, सूफीवाद इस्लाम की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पात्क रहा। इसी कारणों से सूफी इस्लाम के प्रबल और प्रभावपूर्ण प्रचारक बन सके। खलीफाआ न इस्लाम का राजनतिक प्रसार किया है तो सूफिया ने सामाजिक प्रसार। इस्लाम में दीशा लेने वाला तो सूफिया ने कभी भी आमूल परिवर्तन की माग न की। सूफीवाद ने केवल वही तन परिवर्तन की माग की जहाँ तक आवश्यक था। इसी कारण, सूफीवाद के प्रसार के साथ-साथ एक आर इस्लामी समाज में त्रिजातीय विचार और प्रथाओं का समाया हुआ तो दूसरी ओर दिव्य पुरुषों में विज्ञास का¹। सूफिया के अनुगार समय समय पर इस्लाम के पुन संस्थापन और नवोत्थान के लिए दबो पुरुष इन पथी

1. यहाँ दिव्य का अर्थ अवतार के अर्थ में नहीं है। अवतार की धारणा इस्लामी परम्परा में नहीं है। यहाँ दिव्य का अर्थ असाधारण से है। इस्लामी परम्परा में इस सन्दर्भ में दो धारणाएँ मिलती हैं—एक मजदी और दूसरी मुजद्दिक।

पर आयेंगे। सूफीवादी पंथा के अग्रजवर गुरु इंगी दबी पुरपा की श्रेणी में गिन जाते हैं। ✓

अरबीकृत इस्लाम की भांति, सूफीवाद् की उत्पत्ति एक अंतिम दिव्यज्ञान के रूप में नहीं हुयी। सूफीवाद् का विकास धीरे धीरे हुआ है और स्थान स्थान पर दस-बाल की परिस्थितियाँ न उम पर काफ़ी प्रभाव डाला है। सूफीवाद् का विकास, इस्लाम में निहित रहस्यवादी साधना और सामोपन के विकास के साथ-साथ हुआ है। हिजरी सन्तों की दूसरी गतांगी में कुछ उत्पाही वरागियों ने क्या-आ का धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। उन्होंने क्याओ की विषय वस्तु अरबी, इसाई, जैनधर्म और बौद्ध धर्मों में प्रचलित क्याआ यहूदी धर्म के मिश्रित और प्राचीन सीरिया (ईराक) तथा वेदों-गन की जन-बानाओं में लिया और अंगप्रकार, विभिन्न उद्गमों से ली हुई विषय वस्तु का इस्लामी भावे में ढालकर सूफीवाद् का रूप दिया। सूफीवाद इस्लामी मान्यता का एक ऐसा प्रभय है, जिसके मुख्य आधार कई उद्गमों में आये हैं। कुछ लोग न केवल यह जार दिया है कि रहस्यवादिता सूफीवाद का प्राण है और चूंकि रहस्यवादिता इस्लाम का स्वाभाविक गुण नहीं है इस्लाम में सूफीवाद एक विदेशी या विजातीय तत्त्व है। इस्लाम में सूफीवाद या यही अस्तित्व है जो जल में कमल का है। पर ऐसा दृष्टिकोण पुरानी है। मुहम्मद साहब के द्वारा व्यवस्था की गयी इस्लाम की धारणाओं में इस्लामी रहस्यवाद की

महदी का अर्थ है पुनरुद्धारक और मुजहिद का पुनरुज्जीवक। महदी का अनुसरण तब होगा जब इस्लाम विभूत करने की अंतिम अवस्था में होगा। मुजहिद वह है जो इस्लाम का पुनरुज्जीवन (तजदीद) करे। इस्लाम में पुनरुज्जीवन का अर्थ समर्थ और सुधार नहीं है। इस्लामी उलूख अनुसार इस्लाम की पुनरुत्थापना मुजहिद का काम है। महदी उद्धारक है और मुजहिद पुनरुत्थापक। सूफी सन्त गत अहमद सरहदी, जो जहाँगीर के समकालीन हैं और जिन्होंने जहाँगीर के द्वारा भारत में इस्लाम के पुनरुत्थापन का प्रयास किया भारत में इस्लाम के पहले मुजहिद हैं। योगेश्वर ने सरहिदी को महदी कहा है जो यामीन के अनुसार तत्कालीन नहीं है। परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि हजारन मुहम्मद ने यह आगा व्यवस्था की थी कि हर गतावदी के बाद इस्लाम की नया जीवन देने के लिए ईश्वर मुजहिद का अवतारणा करेगा। पगम्बर की मृत्यु के बाद से हर गतावदी में एक व्यक्ति रहे हैं, जिन्होंने इस्लाम की पुनरुत्थापना के लिए प्रयास किया है और मुसलमानों ने उन्हें मुजहिद स्वीकार किया है —

दण्डिपे यामीन, यही पृष्ठ 116

जड़े हैं। कुरान में खुदा का वदू (प्रेमी) कहा गया है। मुहम्मद साहब के मरने के बाद ही गुलूब और तवसीर की धारणायें अस्तित्व में आ गयी थी। गुलूब की धारणा के अनुसार मनुष्य ईश्वर की कोटि तक पहुँच सकता है और तवसीर की धारणा के अनुसार यदि ईश्वर चाहे तो वह मनुष्य के रूप में प्रगट हो सकता है। प्रागे चलकर, जब अल हत्लीज ने अनलहक का नारा ग्याया तो उसने गुलूब की धारणा को और भी दन्तर कर दिया। मोतजली सम्प्रदाय के लोगो ने इस मत का खण्डन किया कि कुरान अयोक्ष्येय और अन्तिम सत्य का एकमात्र आख्यान है। भत्तगजाली (1051-1112) ने यह कहकर कि जानातीत निरपेक्ष सत्य का जानने का एकमात्र साधन मयूद्धि है, रहस्ययान्त्रिका की नींव डाली। इसप्रकार सूफीवाद इस्लाम के घेरे में ही पनपता रहा। इस्लामी पद्धति से अलग सूफीवाद वस्तुतः एक बिल्कुल अलग परिधि है। किन्तु सूफीवाद का उद्गम इस्लाम में ही नहीं है।

कुरान और मुहम्मद साहब के जीवन के अज्ञात सूफीवाद के निर्माण में जिन कारणों का योग रहा है वे हैं इसाई धर्म का सीरिया के सटवर्ती क्षेत्रों में प्रचलित था, अभिनव अप्लानूनी (Neo Platonist) विचार धारा हिन्दु बुद्धवाद तथा ईरान में प्रचलित जश्नुस्त्र धर्म। सूफिया में मिगनरीषा की भावना तथा महदी और ईश्वर को प्रेम से पान की धारणा, गिव के अनुसार दुनाई धर्म से आई है। ईश्वर के प्रति मान्य और रीति का भाव अभिनव अप्लानूनी विचारों की श्रेणी है। इस्लाम के उदभव के पहले ही अभिनव अप्लानूनी विचारों पर भारत का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ चुका था। इसी कारण यह कहा जा सकता है कि सूफी मत के विकास में योग देने वाले प्रभावों में जश्नुस्त्र धर्म का ही अधिक प्रभाव है। जीव और ईश्वर (अथवा ब्रह्म) मौलिक रूप में एक हैं। जीव ब्रह्म की कोटि तक (अनलहक की अवस्था तक) पहुँच सकता है और जीव ब्रह्म का मिलन फना बका की अवस्था है। मौल्य से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से मुक्ति और इन दोनों का सम्मिलन करने के लिए मत्तौवृत्ति बराबर मान्य योग और गयम की आवश्यकता है। इन मायताओं की जड़ें भारत की वेदानी और योगिक परम्पराओं में हैं। सूफियों में भारत के योगियों जैसी निर्भयता रही है। साधना के लिए गमीन और माला का आश्रय लेना भारतीय मन्त्रोक्त का माग है।

सूफी सम्प्रदायों का मटीय संगठन बौद्ध मठों से प्रेरित है क्योंकि मानव चित्त हाथ में, गंध मटा और भिन्ना की परम्परा सवजनम बौद्ध न हो डाली थी। गुर्निय परम्परा के पीछे यदि एक ओर भारत में बुद्ध द्वारा निर्धारित पञ्चमयी परम्परा में उत्पन्न प्रेरणा थी तो दूसरी ओर भारत में पनपने वाली योगी परम्परा ! निरन्तर के अनुसार वेगानिया के मोक्ष और बौद्धों के निर्वाण के बजन पर ही सूफिया न 'पता की कला की ओर बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग ही उनका 'तरीका या सतूक' हुआ। इसीप्रकार सूफियों ने भारतीय योग का 'मराकबा कह कर अपनाया। भारतीय योगियों के चमत्कार ही सूफियों के यहाँ बरामात या 'मोजजा कहा जाने।

सूफियों के बीच स्वच्छता, पवित्रता, मत्स्य, अपरिग्रह पर जो इतना ज़ोर है तथा माला अपने की जा प्रथा है उन सबके पीछे गुढ़ भारतीय मस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। सर चाल्स इलियट का हवाला देकर निम्कर ने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सूफीवाद में पाये जाने वाले जीव-ग्रह सम्बंधी विचारों और सम्यक् (रहस्यवाद) का उदयम मुख्यतः भारत में ही है। पानिकर ने सूफीवाद का जगत का इस्लामी संस्करण कहा है। इस्लाम के उद्भव के पहले तथा प्रारम्भिक विकास के आम पास अरब और मुनाम तक बौद्ध तथा जैनता जगत का प्रभाव रहा है। इसी प्रभाव ने, अन्य प्रभावों के साथ इस्लाम में सूफीवाद का जन्म लिया है।

अनुनाय इन्द्रिय निग्रह विरक्ति, अपरिग्रह मन्नाय धैर्य ईश्वर और जीव की मौलिक समानता, ईश्वर के प्रति जीव के स्वाभाविक प्रेम प्रेम द्वारा ईश्वर-जीव के मिलन (फना) तथा मगीन-मकीनन द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम की साधना में विश्वास और नसार की आध्यात्मिक चान द्वारा सम्यक् का प्रयास सूफियाना जीवन के मुख्य मंडानिक आधार रहे हैं। यही मिडाल सूफियाना तरीका है, जिसे प्रत्येक सूफी पीढ़ी ने अपने ढंग से अपनाया है। सूफीवाद का उद्भव एक वैयक्तिक-आध्यात्मिक तरीके के रूप में हुआ था। बाद में इस्लामी इमाम और बौद्ध परम्पराओं के प्रभाव ने सूफीवाद में मठायी परम्परा का जन्म लिया जिसकी अभिव्यक्ति इस्लामी नसार में फैल गई सूफी सम्प्रदाया (पंथों) के रूप में हुई। प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी सूफी साधक की परम्पराओं पर आधारित है। कई सम्प्रदायों ने विभक्त होकर उपसम्प्रदायों का जन्म लिया। प्रत्येक सम्प्रदाय या उप सम्प्रदाय अपने मूल सम्पादक की परम्परा में, आध्यात्मिक साधना का एक तरिका विशेष बन गया और प्रत्येक तरीके का प्रसार गुप्त गिप्त परम्परा में हुआ। अरबीकृत इस्लाम की जपला सूफीवाद का जगत की परिस्थितियों के अनुसार अधिक ढलता रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद अनेक पंथों में फूट निकला। उत्तरी अफ्रीका से लेकर इटालीजिना तक पाये जाने वाले सूफी पंथों में बहुत आध्यात्मिक गढ़ात्मक समानता है क्योंकि उनके सामाजिक संगठन और कल्याण परम्पर भिन्न हैं। यह सूफीवादी इस्लामी विचारधारा के स्थापन का ही परिणाम है कि कुछ सूफी पंथ भारत में ही जन्म और भाग्य में उन सभी तक ही सीमित रहे जिनमें उनका जन्म हुआ था। जिसप्रकार, इस काल में भारत के अनेक गणजातीय और जटिल जनजातीय समूह सुधारवादी पंथों के माध्यम से हिन्दुत्व में प्रविष्ट हुए उसी प्रकार, अनेक ऐसे समूह, सूफीवाद के द्वारा, इस्लाम में प्रविष्ट होकर इस्लाम में ज्ञान प्रथा के समावेश का कारण बनें।

४

इस्लामी धार्मिक पंथा में भारतीयकरण^१

इस्लामी दशन और आध्यात्मिकता में अतर्निहित आत्म विच्छेद से उत्पन्न, सूफीयाना इस्लाम के लिए भारत का सम वयवारी सांस्कृतिक वातावरण बड़ा ही अनुकूल रहा। इन पंथा के माध्यम में अनेक देशज समूहों ने, एक ओर, अपनी गरम्पराओं परम्पराओं का इस्लामीकरण किया और दूसरी ओर उस इस्लामीकरण का भारतीयकरण। भारत की सामाजिक पृष्ठभूमि इस्लाम में पंथ परम्परा की उत्प्रेरक सिद्ध हुई जिसके कारण यहाँ जनक पंथा का आविर्भाव हुआ जिनमें कुछ सूफी थे और कुछ गैर सूफी। इन पंथा की विशेषता यह है कि इनके द्वारा गर इस्लामी प्रथाओं का इस्लाम में समावेश हुआ।

मुल्तान मल्लाहों ने मिलजोब जमान में ऐम पंथ में जो गर इस्लामी परम्पराओं को मानते थे। अशोक ए इबाहत पंथ के लोगों के बारे में मसीह मुसलमानों ने लिखा है कि उनमें समीपस्थ सम्प्रदायों (आई बहिन किता पुत्री, माना-मुन्न) में भी यौन सम्बन्ध पाये जाते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्खिनी उल मजहिब के लखन ने ऐसे ही पंथों के बारे में लिखा है कि उनमें अनेक गर इस्लामी प्रथाएँ पायी जाती हैं। परम्परावादी दृष्टिकोण से ये प्रथाएँ भारत में इस्लाम के अधःपतन का प्रतीक सी लगती हैं? इस्लामी एक शिवा-पंथ है जिसके बारे में दक्खिनी में लिखा हुआ है कि इस पंथ के लोग गरिमत के अनुसार व्यवहार नहीं करते हैं और वे इस उद्घोष में नहीं पड़ते हैं कि ईश्वर है या नहीं समार वास्तविक है या नहीं। उनकी यह मान्यता है कि ईश्वर सबशक्तिमान है और उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि अपनी गुप्त सभाओं में वे अशुद्धिपूर्ण (Incestuous sex relations) स्थापित करते हैं। भारत में सोमा और बाहरा, जो काठियावाड़ और गुजरात में पाये जाते हैं इस्लामी पंथ के दो उपपंथ हैं। सोमा हिंदू थे जिनको मयद इमामुद्दीन नामक एक सूफी मत ने इस्लाम में परिवर्तित किया था। अहमदाबाद में भी सोमा की दूरी पर स्थित इमामुद्दीन की दरगाह राजा लागा का एक धार्मिक स्थान है। ऐसा कहा जाता है कि इन सोमा में पायी जाने वाली गुरुपूजा में मूर्ति पूजा का भाव है क्योंकि इनका गुरु एक सम्राट की भाँति पत्नी के पीछे चलता है और उसके पास उसके पर के अंगूठे को चूम कर, समवे चरणों में सान और चादो को भेंट पदान है। सोमा की भाँति गुजरात के बाहरा में भी किया पंथ को स्थापित किया और अपने विवाह, उत्तराधिकार तथा तलाक के नियमों में अनेक गर-मुन्नी प्रथाओं का स्थान दिया है।

१ यहाँ जिन सूफी पंथा का संदर्भ दिया गया है उनका वर्णन मातोन के अध्ययन ए सोनल हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक इण्डिया पर आधारित है।

दक्खिना का हवाला देते हुए, यासीन ने लिखा है कि सन सोलह सौ पाच और सत्रह सौ अठ्ठातीस के बीच हिन्दुओं में एक ऐसा बग अस्तित्व में आ गया था, जिसके सन्तों अपने परम्परागत विद्वासा और व्यवहारों के साथ सूफी मुसलमानों की भाँति रहते थे। अपने विचारों और व्यवहारों में, इन्होंने सूफीवादी मिद्वाता का आत्मसात अवश्य कर लिया था, पर मूलतः वे लोग हिन्दू ही थे। इस बग के लोगों का यहाँ तक दावा था कि उनकी मायनाओं विचारों और व्यवहारों का पैगम्बर के उपमा से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह तथ्य इस बात का प्रतीक है कि भारत के समन्वयकारी साम्प्रदायिक वातावरण में सूफीवाद का वह नयी दिशा मिली जिसके कारण वह इस्लाम के उत्तरात्तर भारतीयकरण का माध्यम बना। यह भारत के समन्वयकारी साम्प्रदायिक वातावरण का प्रभाव था कि भारत में कुछ ऐसे सूफीपथ उत्पन्न हुए जो भारत के बाहर अवश्य नहीं पाये जाते हैं और अपनी विचारधारा तथा कलाचार में अन्य स्थानों के सूफी पथों से भिन्न हैं। भारत के मुख्य सूफी पथ हैं—रौनिय्या दान ए इलाही या तोहीद ए इलाही महरिया, जलालियान, बेकद या बेनवा, कानकी या कान्ना और पिशावरधी। ये पथ गिया भी थे और सुन्नी भी और भारतीय दंगवा की समन्वयकारी परिधि से घिर रहने के कारण, इस्लामी आत्मविच्छेद के अधिक समापन थे।

रौनिय्या पथ के प्रणेता धर्मिया जगजिन् अंसारी जो सातहरी गाना की मध्य में पञ्जाब में पैदा हुए थे। अरबीयत इस्लाम के कलाचार के स्थान पर, इन्होंने संत, आचार विचारों का गूढ़ता और इश्वरक्षा में गहुर विश्वास पर अधिक ज़ोर दिया। इनका मत मजहबी गानाओं तक चलता रहा। अपने मन का प्रचार करने के लिए इन्होंने अरबी, फारसी और पन्ना के माध-माध शिर् (मस्तूत) का भी आशय लिया। दोन ए इलाही के प्रणेतों से संग्रहित अवसर जो इस्लाम और भारत के अन्य धर्मों के बीच, समन्वय कान के लिए प्रेरित थे। दान ए इलाही के मुख्य चार आधार हैं—तलीफात उस अस्ताह का प्रगटहाना¹, सभी धर्मों पर विचार विमर्श, यह विचार (फलिज उजाति में विश्वास) और नया आगियाना जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर के कथना पर एक आचार-महिता का निष्पन्न। यह पथ औरंगजेब के समय तक चलता रहा और हमना मुन्त ध्यय था भारतीय साम्प्रदायिक वातावरण के अनुसार एक ऐसी गतिविधि तयार करती जो सभी धर्मावलम्बियों का मान्य हो। इस पथ की छात्रा अरबीयत इस्लाम के समीप न होकर, नागन की स्मृति का परम्परा के ही अधिक समीप है। यह पथ दानत में प्रतीक है किस्मत की दार्शनिक पण्डितों और इस्लाम में समन्वय लाने के प्रयास का और, समाकारण, औरों की अज्ञानता, इमाम हयादाद की

1 तलीफात उस अस्ताह का अर्थ है अस्ताह (ईश्वर) के तलीफा की अवतारणा।

भावना अधिक थी यद्यपि, एकवर व बाग, इस भावना का उत्तरात्तर ह्रास हुआ गया।

मरिया पथ के अनुयायी अपने को मुन्नी बहन थे और गग बन्धुन, जा शाहमदार व नाम में प्रसिद्ध है, के अनुयायी थे। आज भी गगमगर का हिंदू और मुसलमान दोनों पूजते हैं। आज भी मदनपुर (जिला बानपुर) में प्रतिवर्ष इनकी मजार पर मेला लगता है। इन्होंने 'मदार' की स्त्री मरिया स्थापित की। इस पथ के अनुयायियों के अनुसार जब पैगम्बर स्वर्ग-द्वार पर पहुँचता तो वह वहाँ द्वार मुई के छत्र के आशर का मिला। दबदूत जिवरीन ने उनसे मदार की सहायता का आग्रह करने का विधि कहा और जहाँ ही उन्होंने दम मगर गंगा का उच्चारण किया वहाँ द्वार खोजा गया और तत्पश्चात् स्वयं मरिया सब। स्वर्ग में जितने उपवासों और प्राथनाओं पर जार दिया गया है उनका मरिया योगों में पात्र नहीं किया। वे गग में हमली और मिर पर बाग साफा धारण करते थे और बाग झाड़ा-बग खान थे। नटा रखना नग बग रहना ऐसी पर भस्म मन्त्रा धनी रमाना और भाग का जयधिक प्रयोग उनकी साधना चर्चा में शामिल थे। सूफीवाद के रूप में मरिया एक प्रकार का वाममार्गी पथ सा प्रतीत होता है।

जलालियाँ सैयद जलालुद्दीन ब्रुवारी (1307-1374 ई०) के अनुयायी थे और अपने को गिया मानते थे। जलालुद्दीन मुल्तान के सुल्तानों से सत् संबंध रखते थे। जलालियाँ यह भी मानते थे कि उनका उपास और प्राथना की परवाह की और न सूफियों की आधारभूत मान्यताओं की ही। इस पथ के अनुयायी भाग का अत्यधिक प्रयोग करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने साय बिष्णू और कीड मनाड़ा को भाग्य पदार्थों की श्रेणी में रखता। मरियों की भाँति, जलालियाँ भी नगे बग रहते थे और दुआ रमाने थे, लेकिन जदार्थ नहीं रखते थे। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यागीन में जलालियाँ का जा वणा विज्ञा है वह इस प्रकार है— जलालियाँ गग में गुल्लद बाधते हैं पदम (ऊन) या बहुरंगी धागा का हार तथा लगायी धारण करते हैं और मांग लेकर चले हैं। पथ में दो या तीन समय, उनका दाहिनी बाह का ऊपरी हिस्सा में बाग किया जाता है। ब बाजारा में भिन्ना मान रहते हैं और यदि वह भिन्ना नहीं मिलती है तो वह कपड़ा की दृष्टी लाह की गरम गलाव में अपने का दाग लेंगे हैं। पत्र उनका मुख्य गड है जहाँ वे प्राथना पर बग ही कम ध्यान देते हैं गाजा पाते हैं जिन्हें और गाव मान हैं और सिर मछ तथा मोटा का मछान हैं जिन्हें मिर पर दाहिना और बायीं भी रखते हैं। ब सिर पर पत्रों बाध रहते हैं गल में ऊनी धागा पहना है और भुज पर सींग का ताशी बाध रहते हैं। उनका बाई निश्चित विभाग-स्थापना नहीं होता है—वे गलनी होते हैं।

दरिना के अनुसार जलालियाँ का 'गु' (पीर) प्रतिदिन एक गये स्त्री प्राग की टाह में रहता है। जब अपने किसी गिय के घर में उन किसी मुदर तानी का

पता चलता है ना वह नरमिह बजान की आता दता ह घाह पर सगार हावर गिय के घर जाता है और नगी स मनमाना व्यवहार करता है । नरमिह का वह कभी-कभी अपन घर भी ट छाता है पर उमन त्रिहाह नही करता है । इन प्रथा का स्पष्ट करन पुये दक्खिना व सराव न लिया है कि सम्भवत इसका सम्बन्ध अली ने है, क्योंकि अली प्रतिदिन सन्ध्या का दूहा बनत थ । दक्खिना व सराव द्वारा प्रस्त किया जान पर एक जगहो न उग बताया कि गर का गृह टुल्य उनकी प्रानुता का प्रतीक ह और पगम्बर के परिवार का एक विभाषाशिवार है । गुर अली का प्रतीक है । अतः वह अली द्वारा प्रमुख विभाषाशिवारा का प्रयोग कर सकता ।

बकह का मतलब ह स्वतन्त्र और गाय का निरीह । पत्त या दाता प य एक थ पर दात स अलग अलग हुय । उक्त का कन्ना सि गता (कत्पाकारी विधि Mithali Law) गम जनता के नियम न कि उनर गिय आ मारिफत (इस्तरतव का पान) प्राप्त कर सकत । जनता प य कन्नाम स गर विभाषाशिवारा (गैरा) की श्रेणी म आता है । इन दाता प यो व अनुयायी भि ता मानत समय जिनम गि ता मागत थ उसके गिय गाती मिश्रित भाषा और अपगता का प्रो । करत थ । वे भिन्ना म करत उतना ही रत थ जितन कि उनक गता पीन का काम कर जाय । उनका वस्त्र या विरथा रंगत गुन्ना या सचला जा व इधर उधर स इकटठा किय हुये चीसता से बनात थ । तस प य व अनुयायी के अनुसार मुत्तम दह ^५ इस्वर आत्मा और मगर उम दाता व प्राण । य नगीमी वस्तुआ का प्रयोग करत थ । एक्करवाद का मानत थे और उनम स कुछ अपन का धार्मिक तपस्वयोमा म भी लगात थ ।

मनुची (Manuchi) व अनुमार मुगल राज्यम अनक प्रकार व पकीर बह जाने यात्र करीब लग थ, किन्तु उनम दो प्रकार क फरीर मुख्य थे—एक शैव अथवा आजाद और दूसरे वेतन अधरा निहर । पहल प्रकार व प्रकार बचे ही अगिष्ट थे । सबर तिये गालिया अगिष्ट भाषा का प्रयोग सबक घरा, विनोदतया अमीरा व घरा म, पुस्तकर पमा (मिथा) मागला आर न मिलन पर गालिया दना, उनक तिय साधारण यात्रा । उहान यत्रा भी ईश्वर के नाम पर भिन्ना नहा मागी बयाकि उसम ईश्वर ताराज हला ^६ । वनर नगा छरा हाथ म गुर भि ता मागत थ और न मिलन पर सगी वाह मिर या पेटे म छुरा मार लव थे तथा भिन्ना न दन दात पर वनीर थाप व भाग मून छिडा ता थे । ये वस्तुआ बाजार म, वनियो की दूकाना पर भिन्ना मागत थ । बेरर असवा निरर प्रकार के पदार्थ जस जो बाजार म पदा मला म भिन्ना जान हैं । सबक म विभाषाशिवारा के गद्य पास, इह मूरचिरो या मूरचिरो (अर्थात् मूर या गिर चीरने वाला की) रंग दी जाती है ।

कवन पथी जहांगीर व समकालीन बहे जान वान कर्मोंर निवासी इलाहाबाद बकह व अनुयायी थे । एका कहा जाता है कि इलाहाबाद बकह और उनक गिय वसाकरण म सिद्धम्प थे और किसी पर नजर हासन मान स ही उसका बग म कर

लेते थे। इब्राहीम के शिष्य मुसलमान भी थे और हिंदू भी। इब्राहीम ने कभी भी अपने शिष्यों में धर्म परिवर्तन की मांग नहीं की। अल्लाह और राम को छाड़कर वे न तो किसी पैगम्बर का नाम लेते थे और न किसी अवतार का। वे और उनके शिष्य रात में कभी नहीं साते थे बल्कि पीठ से पीठ जोड़े हुये, रात भर बठे रहते थे। वे सर्वोच्च दवी सत्ता का एक मानते थे, भाग का अत्यधिक प्रयाग करते थे और दत्तचर्म का नियमित रूप से धारण करते थे। पियारा पत्नी, बाबा पियारा जो बगाल के निवासी थे और सम्भवतः खेत सलाम चिश्ती के शिष्य थे से सम्बन्धित हैं। भिक्षा मागत समय ये किसी के घर या दूकान के सामने खड़े हो जाते थे और न तो किसी वस्तु की आश देखते थे न कुछ कहते थे और न किसी वस्तु की माचना ही करते थे। जा कुछ मिल जाता था, वे स्वीकार कर लेते थे और यदि कुछ नहीं मिलता था तो चुपचाप चले जाते थे। अपने को मुसलमान कहते थे पर मुसलमानों की तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देते थे।

भारत में उत्पन्न होने वाले तथा भारत में ही सीमित रहने वाले इन सूफी पंथा के माध्यम से इस्लाम पर हिंदू दशन हिंदुत्व की जायम परम्पराओं बौद्ध तांत्रिकों और आदिवासियों का प्रभाव पड़ा। यह पक्ष ही कहा जा चुका है कि जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण थी वहाँ इस्लाम का प्रवेश हुआ। ऐसा क्षेत्र था भारत का आन्ध्रगोत्री समाज। ऐसा लगता है कि जलम अजय गणजातियाँ जलम-अलम स्थानों में, सूफी पंथों के रूप में, इस्लाम में प्रवेश कर गयीं और अपनी परम्परागत प्रथाओं का इस्लाम के रंग में रंगा। अवसरनामा के आधार पर, माहम्मद यामीन ने लिखा है कि वाकना पथ का मर्यादक सम्भवतः कश्मीर की वाद गणजाति का था। वास्तव में भारतीय सामाजिक संरचना के निम्नतर स्तरों पर हिंदूकरण और इस्लामीकरण का साध-साध समावेश हुआ है और चूँकि हिंदूकरण की प्रक्रिया में हिंदू और आन्ध्रगोत्री प्रथाओं का घुलन ही से सम्बन्धित रहा था इस्लाम का प्रभाव का एक और हिंदूकरण हुआ तो दूसरी ओर आन्ध्रगोत्रीकरण। पियारा पत्नियाँ का भिक्षाटन का तरीका वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं और दण्डियों का तरिका है। मदरिया और जलालियान पंथा के अनुयायियों में यदि एक ओर, भारत के नागा साधुओं और श्यामियों का सा विपत्तायें मिलनी हैं तो, दूसरी ओर, औषधों और वायुमार्गों बौद्ध तांत्रिकों की सी परम्पराएँ। भारत में साधुमार्गों की न तो कोई जाति है और न कोई पंथ। सम्भवतः इसी प्रभाव के अंतर्गत बरतों की स्वतंत्र (आजाद) गंगा न यह विचारित किया कि मारिफत की अवस्था में पहुँच जाने वाले पर दाग (इस्लामी कल्पाचारों विधि) नहीं लागू होती है। मगर जसा देवी शक्ति की धारणा और मंत्र का गाना टोटमवादिता (Totemism) का अधिक विचार है न कि हिंदू या इस्लाम के।

दक्खिना के अर्थ में अनुसार जगन्निधान के गुण का ध्यान किया गया था पर की

स्त्रियां व साथ स्नान, यौन सम्बन्ध स्थापित करने सम्भवतः उनका आध्यात्मिक नेता 'मल्ला' का जीवन का प्रभाव है। उनी स्त्रियों का अनुसार हिंदुओं में बहनाचाय सम्प्रदाय का नाशो में भी, विवाहापरात सबप्रथम बंधन का अंगित करके, बाद में पति द्वारा प्रार्थना का मन्त्र भी जाती था। यारोप में मध्ययुगीन कथाओं द्वारा इलाहाबाद में भी ऐसा प्रथा का उल्लेख है। वहाँ गुरु का स्थान पारसी के पास था। चमारा में पाय जान बंधन का दण्ड करने हुए विष्णु (19-0) ने मतनामो पत्र में ऐसी ही प्रथा का उल्लेख किया है। भारत के सामान्य विद्या में गिर और भरवी की धारणा तथा उमरा सम्बन्धित यौनिक कथाओं, मुसलमानों के पहले से ही अस्तित्व में था। मला दारा में यह कहना बहिन है कि जगन्निधान में यह प्रथा मोक्षे इस्लाम से आधी है या भारत के आध्यात्मिक या सामाजिक से। भारत में ऐसा प्रथा का वास्तविक रूप क्या था या क्या है और उन वास्तविक उत्पत्ति कात क्या है? य प्रश्न भारत के सांस्कृतिक इतिहास का गति मुक्तिया है।

अकबर द्वारा स्थापित तीन एंलाहा वस्तुतः बड़े प्रवास है जिसका द्वारा इस्लाम और हिन्दू के दार्शनिक तथा व्यावहारिक पन्था का सम्बन्ध करने की वांछित की गयी थी। स्मृतिवादी और पुराणा में वर्णित धर्म राज्य की धारणा में समझ में देवत्व का प्रतिरोध करके उम्र धर्मरूप माना गया है। इसी कारण भारत के सम्राटों ने सभी धर्मों का प्रामाण्य दिया है और वन तथा जानि-व्यवस्था के लिए नियमों का निधारण किया है। सम्राटों ने आचार संहिताओं का मन्त्रन कराया है। अकबर का धार्मिक मामलों में उच्चतम सत्ता मानकर तीन एंलाही द्वारा जहाँ, एक बार, इस्लाम कट्टरता पर राजा ज्ञान का प्रवास किया गया था वहाँ दूसरी बार उम्र हिन्दू परम्पराओं के अधिक समीप स्नान का प्रवास भी किया गया था। अकबर के बाद, बीन एंलाही ताजिग रहा पर उनकी आत्मा बन्द गयी कि जहाँगीर के समय से इस्लामी कट्टरता ने एक नया रूप उठिया था जो पार धीरे बढ़ती रही। इन सन्धियों में समझ की जितनी तो गयी है कि जहाँ एक बार मूर्खों पन्था के द्वारा इस्लाम दार और समझयोगी बना वहाँ दूसरा दार इहाँ पन्था के प्रभाव से उम्र कट्टरता का भी मनोबल है। इस्लाम के अनुसार भूत-प्रेत साम्प्रदायिकता से पूजाया मुक्त न था। विष्णु में वर्णित एक धर्मों के अनुसार एक तीर्थ यान पर मन्दिरों, जगन्निधान और सन्धियों के जमाव में जत्र मन्दिरों और जगन्निधान दो बार गाय बाटना चांग तो दानों दार मन्त्रागिना न करने बाग गाय का स्त्री-लिया। इसमें प्रार्थना द्वारा मन्त्रों और जगन्निधान एक तीसरी गाय बाट दी जिसका परिणाम था कि मन्त्रागिना ने उन पर आक्रमण कर दिया।

दारा शमस जहाँ में इस्लाम का इतना भारतीयकरण हुआ है कि प्रारम्भ में ही इस्लाम का गुपारन दार उत धरबाहण इस्लाम के अनुसृत स्नान का प्रथा भी पन्था रहा है। भारत के बाहर में बाध रूप मूर्खों पन्था और उनका प्रगताओं ने

इस प्रयास में काफी साधन दिया है। सारे इस्लामी भारत में मुजद्दि आगानों की भूमिका रही है। बदायूनी के अनुसार, जब स भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ है ईश्वर ने देखा उस बड़े बड़े राजा का उत्पन्न किया है जो धर्म निरपेक्ष सम्राटों के सिद्ध रहें। जबकि न प्रतिश्रिया की इस तरह वादवाय रचना किन्तु उसकी मृत्यु के बाद वह और भी प्रबल हो गयी। मजहिद अल्फ ए सानी नाम महमद सरहि दी जा पद्वी सौ तिरगठ सौ की न पैदा हुये थे और चिरिया बन्दिया जीर नागदा दिया पया से प्रभावित थे न इस्लाम की रक्षा के लिए सम्राट का सुधारन का प्रयत्न किया और दरबार के अमोरा में किया पत्नी की। उहागीर का भारत समाज की गद्दी पर बिठाने में इनका बड़ा हाथ था। वस्तु सम्भव है कि भारत के सिद्धान्त के बदले में इस्लाम की रक्षा की पत्नी जहागीर ने गेव अन्ध सरहिनी और उनके अनुयायियों का बतौर मध्य के नीचे।

सरहिनी ने सर्व इस राज पर गार दिया कि धर्मजन तत्वार की ही छत्र छाया में सुरक्षित है। अनवर की मृत्यु के बाद, उन्होंने इस्लाम स्वर में है का नारा लगाया और तटस्थता का प्रामाणिक किया जिसका प्रारम्भ जहागीर में होता है। नागदा का निष्पक्ष एवं पत्र में उहाने इस बात पर आगे किया कि बागदाह के सम्मुख अन्य धर्मों की निरासी जाय। सरहिनी ने धर्मांतरण (Proselytisation) के कार्य के लिए राजा का तयार किया। जहागीर के बाघों और नीति में निरुत्तराधीत राजा उन्मत्त जहागीर पर सरहिनी के प्रभाव में है। ऐसा कहा जाता है कि राजा का बालना जहागीर इस्लाम के लिए लाभमय था। धार्मिक के अनुसार, सरहिनी ने शासकत्व का दिया और मुक्ति में और विपन्नता सुगम्यता और गरमगम्यता में उत्तमोत्तम धर्म का प्रचार किया जिसके कारण प्रतिश्रिया अमरिद्वीप और नागदाह में उत्पन्न था। बागदाह पर बट्टिया का प्रभाव था पर उत्तम महमदी कट्टरता के समर्थन में राजा का जहाज में गया। औरगञ्ज गार धर्मोन्मत्त, किन्तु इन इस्लाम के पुनर्स्थापन के लिए इस्लाम प्रचार का भारत लाना था भारत में बाघों आगानों के प्रणय मध्य उत्तर भारत (1770-1831) उत्तरांचल और मुम्बई में किया उत्तम अन्ध आधुनिक धर्मों के उत्तर एक उत्तरांचल विभागों ऐलिहामिक भूमिका का बतिया है। उत्तम बाघ अतिशयानित उहागीर यदि यह कहा जाय कि भारतीय समाज में इस्लाम उत्तम उत्तरांचल में पति हुए एक जहाज के समान रहा है। इस्लाम का धार्मिक (Shi'ism) इस्लाम के प्रचार का उत्तर भारतीय संस्कृति का जामबि छ (Schi'ism) बन गया।

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक व्यवस्था में इस्लाम का सबसे अधिक भारतीयकरण हुआ, क्योंकि भारत में इस्लामी राज्य श्रवण शाय्या और समाज का वही आर्थिक आधार रहा जो पम्परा में चला आया था और मुख्यतः कृषि पर आधारित था। इस बात में, व्यापार के साथ-साथ भारत का भारतीयकरण भी बढ़ा। इस्लाम वस्तुतः एक नगरीय सभ्यता थी। भारत में इस्लाम का केंद्र गहरा नहीं रहा। विपत्तियों उन गहरा में जा इस्लामी राज्यां और जागीरदारियां बन गईं। मुसलमानों साथ-साथ बनाने, बनानों पर कब्जा करने और जामिनदारों के जमाती तथा किसानों के उत्थापन भारत में आये किन्तु भारत का आर्थिक आधार कृषि ही रहा। मुसलमानों का आहार बजल शाक्य पर ही जोर देने था। जमा कि यात्रिकर न गिना है मसबूत मस्लिम राज्य व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित थी कि राज्य का खर्च अन्य राज्यों से नूट हुए धन से चलाया जाय। सजमाना पर जायदख्ख करने के लिए मस्लिम काफर या विनाइ दन हुए अजाउहान तिलजी न पद बना था कि यदि वहां का राजा अपना सजाना जकातरान, गयी और घाइ मसपिन कर ले या कर लेता स्त्रीपार करे तो लम छाड़ देना।

भारत में मुसलमान मनानी-साहसिका के रूप में आये। उन्होंने अपने राज्य और साम्राज्य कायम किए और धर्म का प्रचार किया। धर्म और राजनितिक उतावे उनका प्रमुख ध्येय थे। किन्तु उनकी आर्थिक संरचना न उ गरीब गरीबी धर्म-श्रम। साम्राज्य का अपनी नाति में सन्निष्ठा का पुत्र देने के लिए बाध्य किया। किन्तु मनानी का लक्ष्य मुसलमानों ने भारत में प्रवेश किया था कि नी पर आधिपत्य जमा करता था कि हिंदू राजाओं का ताज कर सजना था पर यदि साम्राज्य साम्रा भी तो सिम्बन भागन भूमि पर खनी करता उनके लिए सम्भव। तः और न इतना सज्या में धर्म परिवर्तन हा हा सजता था कि मार हिंदू जमातार और कृषक मुसलमानों को आम। सान भी यथा तन मस्लिम राज्य का धर्म रहने पर भी साम्राज्य का कृषक जनता मुसलमानों हिंदू की रही। मुसलमानों साम्राज्य भूमि का कब्जा मुसलमान धर्मियों का कब्जा जागीर में था था। जन जमीनार तथा कृषक हिंदू की रहे। मुस्लिम राज्य-जान में भूमि व्यवस्था जमा की त्या बनी। तः, जिसके फलस्वरूप सामीय क्षेत्रों में हिंदुओं का साम्राज्य जावन जमा था रहा जाति पहन था। व्यापार में भी हिंदुओं का हा अधिक जग रहा। अपनी मनानी और राजनितिक-साहित्य सनावति के कारण, न तो मुसलमानों व्यापार में लिच्छवी लेन दे और न उन आन्तर का दृष्टि न हो देने थे। हिंदू और साता बनी मुसलमानों के लिये एक राज्य हा रहा। व्यापारी धर्म को सज्याट तथा स्थानीय अधिकारियां का धन देना ही पड़ता था। सार मुस्लिम जाल में हिंदू-बनिया का व्यापार पर आधिपत्य रहा।

नौकरगाही के निम्न स्तर पर हिंदुओं को रखने के सिवा मुसलमानों के पास और कोई चारा ही नहीं था। मुसलमानों के भारत में जाने के पहले ही भारत में मुनिश्चित नौकरशाही की परम्परा अस्तित्व में आ चुकी थी। नौकरगाही के उच्च पग का तो मुसलमानों ने हाथिया लिया किन्तु निम्न पग पर हिंदुओं का रखना आवश्यक था, क्योंकि पटवारी, मूनीम और खजांची का नाम यहाँ की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के अनुसार हिंदू ही रख सकते थे। मुसलमान अपने साथ सना के अतिरिक्त केवल इस्लाम लाये थे। उनके पास न तो कोई व्यापारिक पद्धति थी न कोई आर्थिक तथा भूमि व्यवस्था। मुसलमानों के पास धर्म प्रपना था—पर सामाजिक आर्थिक व्यवस्था था भारत की जिससे चलाने का उपाय ही हिंदू। इसी कारण, जिले के स्तर पर प्रशासन हुआ करता था मुसलमान किन्तु प्रशासन की चलाने वाला हाथ था हिंदू। इसी मुनिश्चित भारतीय नौकरशाही पर मुस्लिम सम्राट अपने साम्राज्य को खड़ा कर सके और इसी के आधार पर प्रांतीय राज्यपाल भीरा पाते हुए राज्यों की नींव डाल देते थे। आज चल रहा इसी नौकरशाही के चल पर अंग्रेजों ने भारतीय साम्राज्य खड़ा किया। हाँ, यह प्रत्यक्ष है कि आर्थिक प्रशासन का मुसलमानों ने अपने आधिपत्य में रखा।

इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रवेश करने पर भी भारत की आर्थिक संरचना वही रही जिसका निर्माण हिंदुओं ने किया था। यहाँ की भूमि व्यवस्था का वही रूप रहा जो पहले से चल रहा आया था। हाँ यह अवश्य था कि मुस्लिम सम्राट माला लगाव की दर में परिवर्तन कर दिया करते थे। भारत की इस परम्परागत आर्थिक संरचना और भूमि-व्यवस्था पर मुसलमानों ने जागीरदारी की सामंती व्यवस्था कायम की, क्योंकि स्वयं मुस्लिम सम्राट एक बड़ा सामंत था जिसकी रक्षा के लिए अनेक सामंतों की आवश्यकता थी। जागीरदार भूमि का मालिक न था बल्कि सम्राट की दया पर निर्भर भूमि कर संग्रह करने वाला एक अधिकारी था। भूमि का वैयक्तिक तथा सामूहिक आधिपत्य बस्तुन गिर्नित था ग्रामीण समुदाय में जो सामंतवादी व्यवस्था का गणतन्त्रीय धरातल था। मुस्लिम आक्रमणों के काल में लिखी गयी तुलसीनामा में यह पता चलता है कि तत्कालीन भारत की सामाजिक-

1. भूमि व्यवस्था की गिर्नित आधार पर लाने के लिए अवसर को भी टाटकर मत का जहरत पड़ी। किन्तु जब अवसर ने राजा टोडरमल को नियुक्त किया तो मुस्लिमों ने इसका विरोध किया और अवसर के पास एक प्रतिनिधि मण्डल भेजा। इस प्रतिनिधि मण्डल से अवसर ने पूछा, 'तुम्हारी भूमि और राजस्व का प्रबंध कौन करता है?' उनका उत्तर था हिंदू पंचायतियारी। इस पर अवसर ने कहा, 'तुम भी अपनी भूमि का प्रबंध कैसे करोगे?' हिंदू पंचायतियारी की अनुमति दो—दलिय, रामगोपाल यही पृष्ठ 11।

आदिक व्यवस्था में ग्राम एक गणतन्त्रीय स्वरूप था। इसी गणतन्त्रीय धरातल पर मसजिदों का न मजहब पर आधारित एक सामंती व्यवस्था खड़ी की। मुस्लिमों और कृषक या हिन्दू भूमि व्यवस्था का चलाना बाँट दिया। पर इन सभी का नियंत्रण करने वाला ये मस्जिदों सामंती। जिस व्यवस्था में मसजिदों न प्रवेश किया था वह भी सामंती व्यवस्था थी। हा यह अवश्य है कि इस्लाम के प्रवेश के साथ-साथ हिंदू सम्राट का स्थान न दिया मस्जिदों मसजिदों न और हिंदू सामंती का मस्जिदों नामन्ता न। अतः भारत की सामंती व्यवस्था में सामंती धर्म के नाम पर दा मसूदा में बंद गया। मानव इतिहास में सम्भवतः और क्या ऐसा नहीं हुआ और इसी कारण भारत के सामंती धर्म का एक आग पुजावादी व्यवस्था में लहना पड़ा ना, हमारी आर स्वयं अपने में हिंदू और मसजिदों में। मुस्लिम सामंती न हिंदू सामंती धर्म का हटाया था। स्वकारण जाना में पारस्परिक अमनता और संपर्क की आग मुग्ध उठी और तब तक मुस्लिमों की जय तक कि अंग्रेजों द्वारा लगी हुयी सामंती धर्म की पुजावादी व्यवस्था में मसजिदों सामंती का अंग्रेज प्रभाव का न गयी हटाया। इस परिस्थिति में अंग्रेज अमुग्यता का भावना के कारण, मुस्लिम सामंती में जो अमनता फल वह पहल ही स मुस्लिमों द्वारा आग के समय से सामंती धर्म ज्वाला के रूप में धकेल उठा।

६

धर्म की फारसी का भारतीयकरण

अरबी और फारसी यदि एक बात, मसजिदों का गतिविधि वाला धर्म, विचार-विमर्श और ज्ञान विज्ञान की भाषाएँ रही तो अरबी और भारत में इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार का मुख्य माध्यम भी बनी। अरब में आये हुए मसजिदों द्वारा अरबी का प्रचार हुआ तो ईरान और तुर्कस्तान में आये हुए मुस्लिमों के द्वारा फारसी का। इस्लामी पुस्तिकाएँ हुए और दुर्गम की मस्जिदों में मिखाई, फारसी भाषा भाषा में पहुँचने के पश्चात् अपनी गतिविधि सामंती धर्म की और ज्ञान विज्ञान का गतिविधि का जन्म दे चुका थी। अतः, भारत में फारसी भाषा का प्रवेश हुआ एक मजबूत मस्जिदों की भाषा के रूप में जिसका उत्तमोत्तम इस्लामी मजबूत भाषा मानता था। फारसी यदि एक बात, फारसी का मजबूत इस्लामी मजबूत की प्रभाव था तो अरबी और, वह इस्लामी आत्मविश्वास का जो अपने में मजबूत हुआ था। भारत में अरब का प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म की भाषा के रूप में। नफा और मुग्ध धर्म के लिए भारत में मुस्लिमों का अरब भाषा पढ़ना है और आगे भी धर्मिक इस्लाम और अनुष्ठान के मजबूत के लिए अरब भाषा का प्रभाव हुआ है। अतः,

भारत और उसके बाहर अरबी प्रभाव रही है। अरबी-इस्लाम की। धार्मिक कल्पाचार में, मुसलमानों के लिए अरबी का वही महत्व रहा है जो हिंदुओं के लिए संस्कृत का है।

उत्तरी भारत में तुर्कों के प्रवेश के साथ-साथ फारसी का राज्य-प्राप्त हुआ गया। मुगल काल में जब दरबार में ईरानियों का प्रभाव बढ़ गया तब यह कृपा और भी बढ़ती ही गयी। अतः, फारसी एक और राज्य-भाषा बनी ता दूसरी जगह, का यह और साहित्य की भाषा। भारतीय संस्कृति और समाज में क्या-क्या इस्लाम का प्रवेश होता गया तथा तथा फारसी का विद्वानों और पाठित्व की भाषा का स्तर मिलता गया। सम्भवतः, यही कारण है कि अरबी का अपना हिंदुओं में फारसी अधिक सीखी और जिस अनुपात में हिंदुओं में फारसी और अरबी साक्षात् सम अनुपात में मुसलमानों में सम्भव नहीं सीखी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू इस्लाम की भाषा-साक्षरता में जितना परिचित हुए उतना मुसलमानों हिंदुओं की भाषा-साक्षरता में परिचित नहीं हो सका। इसी कारण ज्ञान और साक्षरता का स्तर पर इस्लाम का जितना हिंदूकरण हुआ उतना हिंदुत्व का इस्लामाकरण नहीं हुआ। भाषा-सम्बन्धी यह स्थिति का एक यह भी परिणाम हुआ कि अरबी या अतिरिक्त पठन-पाठन और प्रचार-प्रसार इस्लाम का भाषा-रूप में और अधिक स्तर-साक्षरता और मुताजा-नय-साक्षरता रही। फारसी का प्रचार हुआ राज्य तथा साहित्य का भाषा-रूप में जिस हिंदुओं और मुसलमानों ने अपना सीखा। अरबी फारसी के साथ-साथ संस्कृत का भाषा-पाठन-चातुर्य पर हिंदुओं की धार्मिक भाषा तथा हिंदू ज्ञान और ज्ञान-विज्ञान की भाषा-रूप में और इस रूप में सम्भवतः केवल धर्माचार्यों और शास्त्रियों तक ही साक्षर था। इस प्रकार इस्लाम का प्रवेश के साथ-साथ अरबी फारसी और संस्कृत भाषाओं के रूप में भारत में मान-साक्षरता-प्रसारित हो गया तथा यही मिनी-किन्तु अधिकतर समानांतर ही बढ़ती-रही।

जहाँ फारसी और संस्कृत वास्तव में भारत के शासकों और अभिजात वर्ग का भाषा-यही यद्यपि जिस काल में इस्लाम का प्रवेश हुआ था भारत में प्रादेशिक भाषाओं में अकुलित हो रही थी। ये प्रादेशिक भाषाएँ भारत के जनभाषा-रूप की भाषाओं की ओर जाते-जाते थे संस्कृत तथा साहित्य-भाषाओं में। मुसलमानों की, विगलन-प्रमुख-बादशाहों और शासकों का इन भाषाओं की जानकारी-अभाव-था। इसका-परिणाम-मुसलमान-शासकों ने प्रादेशिक भाषाओं की सरा-सर-की ओर-प्रति-साक्षरता-का यदि-तब-आर-अरबी-फारसी-में-अनुवाद-कराया-गया-ता-दूसरी-छोर-प्रादेशिक-भाषाओं-में। प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य

१. पढ़े-लिखे व्यक्तियों के ब्योहार रहने पर आज भी जवब में यह कहायत-कही-जाती-है—पढ़े-फारसी-बे-बदर। ई-दे-बो-कुदरत-के-सेत।

लिखे लोग बसा करत हैं उसी प्रकार मुसलमान प्रवासक और अरबी फारसी भाषा भाष्य लाग अरबी फारसी की सगाआ और विशेषणों के साथ साथ स्थानीय भाषाओं के प्रियाया का प्रयोग करत रहे हागे । सम्भवतः, ऐसे ही प्रयाग में प्रभावित होकर अलाउद्दीन खिलजी ने दिन प्रति दिन प्रयाग में जान वाले खड़ी बोली के गानों के अरबी फारसी पर्यायों का संग्रह कराया था जिनका प्रयोग दिल्ली के गानों में मल्लू के बाहर लगन वाले 'उदू ए मु अल्ला' (गानों सनिक बाजार) में होता था । इसी उदू ए मु अल्ला की भाषा को साहजिहा के समय में उदू की सगा प्रदान की गयी जो मुगल बादशाह जकर के राज्यकाल में इस, फारसी के साथ राज्य भाषा मान लिया गया । इसकी लिपि अरबी थी सगायें और विशेषण अरबी फारसी के और प्रियाय खड़ी बोली की ।

इस प्रकार, भारतीय सस्कृति में इस्लाम के प्रवेश से भाषा सम्बन्धी दो विकास प्रक्रियायें उत्पन्न हुयी । एक विकास प्रक्रिया में खड़ी बोली के आधार में अज, अवधी और भोजपुरी के मिश्रण से हिंदी का विकास हुआ जिसकी लिपि देवनागरी थी और जिसमें सस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता था क्योंकि जिन भाषाओं के मिश्रण में उसका जन्म हुआ था उनके उदगम सात सस्कृत में थे । दूसरी विकास प्रक्रिया में जन्म हुआ उदू का जिसमें अरबी फारसी के तत्सम शब्दों की अधिकता से प्रयोग होता था और जिसका भूकान अरबी फारसीपन की ओर अधिक था । खड़ी बोली के आधार पर एक गली ने हिंदी का रूप लिया और दूसरी ने उदू का । हिंदी की अरबी फारसीपन गली हान के कारण उदू वस्तुतः प्रतीक है अरबी फारसी के भारतीयकरण का यद्यपि इस भारतीयकरण पर अरबी फारसीपन का एक जबर-दस्त आवरण पड़ा रहा है । कुछ भी हो हिंदी उदू के विकास का श्रीगणेश मंगनमानों के ही हाथों हुआ । उदू का जन्म उत्तर में उदू ए मु-अल्ला की भाषा तथा जुना ए देहली की जिसमें खड़ी बोली, पंजाबी मारवाड़ी और फारसी के शब्द, के रूप में हुआ, किन्तु उमका पालन पाषण दक्षिण में हुआ । निम्नर का ऐसा मत है कि उत्तर से गम हुए मुसलमानों के साथ खड़ी बोली दक्षिण गयी और उमका वंश उदू का रूप लिया । उनका यह मान्यता है कि उदू का जन्म उत्तर में न होकर दक्षिण में हुआ है । दक्षिण में उदू को प्रोत्साहन एवं उस मुस्लिम भाषा के रूप में मिला जा उत्तर से गयी थी और निम्न माध्यम में उत्तर तथा दक्षिण के मुसलमान निचारा का आदान प्रदान कर सकते थे । दक्षिण में विष्णो मुसलमान उम गन्ना में नहीं आते थे जिन गन्ना में वे उत्तर में जात थे । दक्षिण में, उत्तर की अथवा, दरवाजी बंदरता कम थी । इसकारण दक्षिण में उदू में यह अरबी फारसीपन नहीं था जो उत्तर में था । निम्न का उदू में उन्नत शब्दों की अपेक्षा अधिकता थी । यह बात ही हुआ जन्म बंगाल में भाषा के माध्यम में मुसलमान सस्कृत भाषा के अधिक प्रयोग रहे ।

एक मत यह भी है कि उर्दू का जन्म राही बाली में से ससृष्ट और हिन्दी के शब्दों का निकाल कर हुआ है। प्रारम्भिक उर्दू में जब तक ससृष्ट शब्दों का प्रयोग होता रहा, तब तक उसका नाम हिन्दी हिन्दी या रेखता रहा। यह कहना कि उर्दू का जन्म राही बाली में से ससृष्ट शब्दों का निकाल कर हुआ या हिन्दी का जन्म उर्दू की दवनागरी लिपि में लिखकर और उसमें ठूम ठूम कर ससृष्ट के तत्सम शब्दों के भ्रम में हुआ है भारत की एनिहासिक प्रविष्टा की सामाजिक पष्ठभूमि की दृष्टि से करना है। वास्तविकता यह है कि जहाँ जहाँ कि सम्मान और रहीम स्तानना की कविता में मिलता है भारतीय भाषा का आस्थान करना कविता का ध्येय रहा, व ओर उनकी भाषा ससृष्ट और हिन्दी के अधिक समीप रहे हैं और जहाँ ध्येय यह था कि भाषा भारत की हो और भाव अरब या फारसी के, वहाँ, कवि चाहते वह हिन्दू हो या मुसलमान, भाषा भाषा प्रतीक लक्षणा और व्यञ्जना अरबी-फारसी के अधिक निकट रहे हैं। इस परिस्थिति के निम्न उत्तरदायी हैं वे परिस्थितियाँ जिनमें उर्दू हिन्दी का जन्म हुआ।

उर्दू का जन्म देने वाली परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार थीं भारत में विनाश तथा उत्तरी भारत में, विशेषी मुसलमानों का आना जारी था। ये मुसलमान अधिकतर फारसी में जान थे और इस कारण अरबी लिपि तथा अरबी फारसी भाषाओं से वे अधिक परिचित थे। अरबी इस्लाम की भाषा थी जहाँ उसमें हटन का मतलब था इस्लाम में हटना। फारसी उम ससृष्ट की भाषा थी जो अपने का भारतीय नहीं मानता था और अल्प मुस्लिम समूहों की अपाता अपने का अधिक मुसलमान मानता था। जहाँ, उमका अपनी भाषा फारसी में छपित लगाव था। दूसरी ओर, राज भाषा हान के कारण फारसी अधिक भाषा थी और मूलीवाणी विचारों में आत-प्राप्त हान के कारण इगला साहित्य विरोधता काव्य साहित्य अपदातुत अधिक आवश्यक था। जहाँ अरबी-फारसी भारत में इस्लाम का प्रतीक बन गयी और अरबी तथा फारसी इस्लाम की आस्था। उधर, तत्कालीन एतिहासिक परिस्थितियों में, अरबी फारसी विरोधता फारसी के भारतीयकरण की आवश्यकता थी। जहाँ भारत में उर्दू का जन्म हुआ अरबी फारसी के भारतीयकरण के प्रयोग और भारत के मुसलमानों का जन्म भाषा के रूप में, किन्तु उर्दू मुसलमानों की उमा प्रकार भाषा न रहा जिन प्रकार फारसी भारत में मुसलमानों की ही भाषा थी। उर्दू हिन्दुओं ने भी उतना माना जितना कि मुसलमानों ने। फिर भी अपना भाषा, भाषा प्रतीकों तथा साहित्यिक शक्तियों के प्रयोग में उर्दू अरबी-फारसी, विनाशकारी फारसी, के अन्तर्गत से बाहर न निकल पायी। इसी कारण यह कहा गया है कि उर्दू अन्तर्गत भारतीय फारसी का फारसी हिन्दी है।

उर्दू हिन्दी की, एक शक्ती है जिसमें अरबी-फारसीयन का पुनरुत्थान है और जो भारत का सामाजिक-एतिहासिक परिस्थितियों में दृढ़तर होता रहा है।

पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदू उद्भूत का जन्म लगभग एक साथ हुआ और उनका प्रारम्भिक पालन पाषाण युगमाना के ही हाथ हुआ। अरबी फारसी व भारतीय-करण की आवश्यकता के कारण ही उद्भूत का जन्म हुआ। इसका सस बड़ा प्रमाण है प्रारम्भिक उद्भूत में सभ्यता का अपभ्रष्ट अतिक हास। अतएव व बाद जया जया इस्लामी कट्टरता बढ़ती गयी उद्भूत अरबी फारसीन बढ़ता गया। शासक के ही राज्यवात में अरबी लिपि में लिखी जान जाने माया गली का उद का सना प्रमाण भी गयी। ओरमात्र के राज्यवात में, इस्लामी कट्टरता के प्रभाव में अरबी-फारसी भाषाय इस्लाम का प्रतीक बन गई और उद पर उका प्रभाव पड़ा। सम्मेलन उना कट्टरता के विरुद्ध होने वाली प्रतिनिया के कारण, निवाजी न तत्वा-लीन प्रशासन में प्रयुक्त होने वाले फारसी के भाषा के समस्त पयाया का सग्रह कर-बाया था। एन समय वह था जब अलाउद्दीन खिलजी ने नदी वाली के दैनिक प्रयोग में आने वाले भाषा के अरबी फारसी पयाया का सग्रह करवाया था और उसके लगभग पांच सौ वर्षों बाद निवाजीन दैनिक प्रशासन में प्रयोग आने वाले फारसी के भाषा के सभ्य पयाया का सग्रह करवाया था। अलाउद्दीन खिलजी और निवाजी के कार्य परस्पर विरोधा स जा पत है यद्यपि दोनों के प्रयास का उद्गम है अरबी-फारसी का नारतायुक्त करने का प्रणाम। अलाउद्दीन खिलजी और निवाजी के प्रयास दस बात का भी प्रतीक हैं कि अरबी फारसी और सभ्यता का प्रास्तावक देने वाले व अभिजात वर्ग के लोग जा एन आर हिंदू व और दूसरी और मुसलमान। सारे मध्ययुग में हिंदू और मुस्लिम अभिजात वर्गों में कभी नहा उनी कदापि य राजनैतिक सत्ता के लिए बराबर संपर्क करते रहे। इनमें स सब का प्रणामात का इस्लाम और उसका प्रतीक अरबी फारसीन और दूसरे का हिंदुत्व तथा सभ्यता। एक की प्रणामा का उद्गम था अरब और दरान में और दूसरे का भारत की भूमि से उल्ला हिंदू सभ्यता में। ऐसी दशा में उद्भूत का मुस्लिम तथा इस्लाम में सम्मिलित किया गया और हिंदू का हिंदू तथा हिंदुत्व स।

उद्भूत का इस्लामी कट्टरता तथा फारसीपन मर्यादा का श्रेय मुस्लिम अभिजात वर्ग का ही है। प्रारम्भ स ही मुस्लिम अभिजात वर्ग को अपने अस्तित्व के लिये रुटना पड़ा है। भारतीय सामाजिक संगठन में मुस्लिम अभिजात वर्ग का निरास करते हुये हिंदू अभिजात वर्ग का भी अपने अस्तित्व और मरणा के लिये संपर्क करना पड़ा है। मुस्लिम राज्य काल में यह मरक्षण राज्य में प्राप्त था और राज्य मरणा प्राप्त करने का मुख्य माध्यम था सनानी साहित्यता। किन्तु भारत में अग्रणी राज्य की स्थापना के साथ-साथ भारत में अग्रज अभिजात तथा प्रमाण वर्ग का अग्र्युय

हूँ। मुस्लिम अभिज्ञान तथा प्रणाम वगैरे का हाथ में राजनतिक प्रणाम की जा सता थी उस अंग्रेज अभिज्ञान तथा प्रणाम वगैरे न दिया गया। तामन व विशेषों वृत्त काय और दंग का व्यापार हिन्दू अभिज्ञान का व हाथ में रहा। अतएव, अंग्रेजों व राजनतिक प्रणाम की स्थापना ज्ञान के साथ साथ, हिन्दू अभिज्ञान वगैरे का जामे बदले का मोका मिला, क्योंकि तामन व जिन पदा पर हिन्दू व हिन्दुओं व ही पाम रह और जिन पदा पर मुसलमान थे व अंग्रेजों व हाथ में चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम अभिज्ञान का व अपना अस्तित्व खतर में नियाई पड़ा और इस भय तथा नाराज्य न जा विनिवृत्तता उनी वह माहवी कटुता और भाषा व अरबी फारसी पर टिक गया। सरकारी नौकरियाँ को पान व लिय छठी नयी प्रतिष्ठितता, न्याय और हिन्दुत्व तथा हिंदी और उर्दू व मध्य तथा माद विवाद में प्रस्तुतित हा उनी। अंग्रेजों राज्य-काल का तामनय का ज्ञान ज्ञान हिन्दू सरकारी नौकरियाँ में जा व बढ़ गये, तामन व मुसलमानों का पीछा छाड़ गये और व्यापार ता पाल ही उनका हाथ में था। इसमें मुसलमानों व अंग्रेजों व प्रति बहिष्कार तथा हिन्दुता व प्रति बिद्वेष का भाव आया जा हिन्दू तथा हिंदी विरोधी विचारों और जा-ज्ञान में बदल गया।

इस बात व जनक प्रमाण मिलत है कि किस प्रकार अंग्रेजी तामन काल में मुस्लिम अभिज्ञान वगैरे न जमान लिए विन्यायिकता की माँग का, अपन का अंग्रेज गवर्नर का प्रयत्न किया और कम सफलता न मिलन पर हिन्दू तथा हिंदी विरोधी नारा का बुन्द किया। अंग्रेजों राज्य का स्थापना व पहल, अरबी फारसी और मस्कृत स्कूल अलग-अलग थे, जिनमें उच्च तथा मध्य वर्ग व लाग ही तामन पाल थे। हिन्दू मस्कृत तथा अरबी फारसी पाल थे और मुसलमान अधिस्तर अरबी फारसी। मस्कृत की तामन हिन्दू पाल द्वारा दी जाती थी और अरबी फारसी की तामन मोविदा या अरबी फारसी ज्ञान का हिन्दुता व द्वारा। जब अंग्रेजों न जन-माधारण व लिए स्कूल खोलने की उनका अधिक विराय उच्चरणी मुसलमानों न ही किया। सन अंग्रेजों मो बयामी में तामन कमोजन व समय गवाही दन तामन के अन्दर स्वीक ने दंग बात पर जा व तामन कि बगाल के उच्च तथा मध्य वर्गों मुसलमानों व लिए एक असंग तामन पद्धति की आवश्यकता है क्योंकि इन वर्गों व मुसलमानों वगैरे व बाहर में आल हल अभिज्ञान का व मुसलमान है। सन अंग्रेजों मो एवधान में, सर तामन छात्रों ने कम बात पर जा व तामन कि सरकारी नौकरियाँ में जनमाधारण की, बाह व हिन्दू हा व मुसलमान न लिया जाय। सर तामन न बाह का विराय किया और कम विचार का विराय किया कि नारन एक राष्ट्र है। बगाल के मास्मान तामनजन न मुसलमानों व लिए सरकारी नौकरियों को आरंभितमान की माग की और तामनतामन व आधार पर नौकरियाँ दन का विरोध किया। मुस्लिम अभिज्ञान वगैरे की इसी माग व प्रवृत्ति में हिन्दू मुस्लिम तथा हिंदी-उर्दू की

समस्याओं का जन्म हुआ और इस्लाम तथा उर्दू पर अरबी फारसी की कट्टरता का और भा गहरा रंग बढ़ गया।

जब अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो सारे उत्तरी भारत में उर्दू राज्य भाषा थी, जिसे अंग्रेजी ने बनाए रखता। सन अठारह सौ तिहत्तर में, बिहार में हिंदी को भी राज्य भाषा मान लिया गया किंतु उसका हिंदू तथा मुसलमान दोनों ने विरोध किया। सन अठारह सौ अठत्तर में जब यू०पी० में उर्दू का अनिवार्य द्वितीय भाषा का रूप दिया गया तो हिंदुओं ने इसका विरोध किया। उधर बंगाल में अंग्रेजी राज्य का प्रारम्भ होने के बाद से ही, बंगाल का मुस्लिम अभिजात वर्ग अपने लिए बिनापा अधिकारों की मांग कर रहा था जिसके फलस्वरूप यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि बंगाल में मुस्लिम के लिखने का प्रयोग है या फारसी के लिखने का। सन अठारह सौ तिरासी में, जब यह राजाणा निबला कि दखनागरी लिपि का ही प्रयोग किया जाय तो मुसलमानों ने इसका विरोध किया और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हिंदी उर्दू की समस्या उत्पन्न हुई। आय समाज के अभ्युदय के साथ साथ, हिंदी उर्दू की समस्या पजाब में भी उठ खड़ी हुई। मुसलमान राजनैतिक बिनापा अधिकार के इतने पीछे थे कि उन्होंने अपने का धर्म और भाषा के नाम पर एक अलग राष्ट्र समझा। जहाँ जहाँ हिंदू मुस्लिम समस्या उत्पन्न हुई, उर्दू पर इस्लामी कट्टरता का प्रभाव पड़ता गया और उर्दू के हिन्दी से अन्य एक भाषा माना जान लगा। इस नाम की वजह से एक ओर भारतीय समाज धर्म के नाम पर सम्भवतः विभाजित हो गया तो दूसरी ओर हिन्दी के ही एक रूप पर अरबी फारसी का जोड़ा जाता गया^१।

७

मुस्लिम बना और ग्राह्य का भारतीयकरण

मध्य युगीन भारत के बला और ग्राह्य में भी भाषा की भाँति, एक ओर, अरबी फारसी का प्रभाव रहा तो दूसरी ओर, अरबी फारसी के भारतीयकरण की प्रक्रिया भी चलती रही। मुगल राज्य की स्थापना के पहले के मुस्लिम शासकों में

- १ स्वयं मुसलमानों में ही अरबी फारसीकरण तथा भारतीयकरण को लेकर एक नया आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया। वहाँ रहीम का यह कहना कि 'विप्रवृत्त में रहि रह, रहिमन जवधनरे', जो पर विषदा पड़त है सो आवत यदि दंग' या हाजिज जालखरी का यह कहना कि 'भारत माता है दुनियाँ की, दुनियाँ है तब नर नारी तू ही उठाले मुरसी सुबर, तू ही धन जा 'धाम मुरारी' और वहाँ सोदा का यह कहना कि 'गर हो बगिचें गाह सुरासान तो मोदा सिद्धा न कर' हिंद की भाषा के जन्म पर^१।

हिंदू-वास्तुकला पर इस्लामी प्रभाव के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस काल के हिंदू-मन्दिर और इमारतें हिंदू शिल्पशास्त्र की परम्पराओं के ही अनुसार बनते रहे। सन बारहवीं सदी के बीच के बीच हुए कौणाक के मूल मन्दिर और सत्यपुर के चित्तोरगढ़ पर नाममात्र भी इस्लामी प्रभाव नहीं है। क० एम० पानिकर की मान्यता में, इस काल में भारतीय मुस्लिम तथा हिंदू शिल्पों अलग-अलग विकसित होती रही। आगे चलकर, मुगलकाल में, भारत की वास्तुकला पर मुस्लिम ईरानी प्रभाव बढ़ा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में हिंदू वास्तुविद्या का लोप हो गया। विनयकुमार मरहवार के अनुसार अधिकतर शिल्पशास्त्रों की रचना सप्तहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में हुई है। मुसलमानों ने भारत में जिस वास्तुकला का निर्माण किया उसका मुख्य आधार भारतीय या किन्तु उसका नजान्त ईरानी थी।

चित्रकला में भी अधिकतर धारणाय परम्परागत था यद्यपि उनका चित्रित करने के तरीके ईरानी थे। भारतीय और ईरानी चित्र कलाओं के समावर्ग से, अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आए। मगध में एक ओर शास्त्रीय संगीत की प्रणाली चलती रही और दूसरी ओर ईरानी तथा भारतीय संगीत के समावर्ग से कई राग रागिनिया का सम्मिश्रण हुआ। इस्लाम में संगीत का निषेध था किन्तु सूफियों ने उस साधना का एक माध्यम माना। संगीत का धार्मिक निषेध ज्ञान पर भी इस काल में, मुसलमानों ने संगीत साधना में कुशलता प्राप्त की और उसमें कलात्मक रूप को उत्कृष्ट बनाए रखा। मुसलमानों ने भी शास्त्रीय संगीत का शास्त्रीयता और उसके भाव तथा भाषा का सम ही अपनाया जैसा कि उन्होंने हिंदुओं में मिल था। दूसरी ओर, ईरानी और भारतीय संगीत के सम्मिश्रण से ब्याल की-वाली और गजल दस्तगादि राग और छन्द निकले। की-वाली और गजल में पारसी भावों का रागबद्ध करने की परम्परा बनी और शास्त्रीय संगीत में परम्परागत हिंदू भावों का। एक ओर, रसिक मरोद, दिग्गज और ताउम जैसी बाद्ययंत्र मुसलमानों में आए ता दूसरी ओर, वाणा और मंग भी चलने लगे। मुसलमानों ने बोगा और मंग का भी सम ही अपनाया जैसा कि उन्होंने हिंदुओं ने अपनाया था। संगीत के आधार पर, मुसलमानों ने गिटार का आविष्कार किया और मंग के आधार पर तबल का। एक ओर शास्त्रीय तबल और उसके प्रकारों की परम्परा चलती रही ता दूसरी ओर मङ्गियों में होने वाले तबल की परम्परा अस्तित्व में आई। कलात्मक क्षेत्र में एक ओर, शास्त्रीय परम्परा चल रही थी ता दूसरी ओर शास्त्रीयता पर आधारित भारतीय मुस्लिम परम्परा जन्म रहा किन्तु प्रभाव अधिक था और कला तरिका अथवा ईरानीपन का। ऐसा कि विनय कुमार मरहवार ने मान्यता दी कि ईरान के शहर में कहा है साधारणतया, मुसलमानों का विषय में यह कहा जा सकता है कि अरबी और ईरानी प्रभावों का आगमन करने पर ही हमें कला विषयक हिन्दू विचारधारा, मान्यताओं और परम्पराओं पर तात्पर्य रखनी पड़ी होगी है।

1 पानिकर, क० एम० सर्वे ऑफ इण्डिया हिस्ट्री पृष्ठ 124

2 मरहवार, विनयकुमार यही पृष्ठ 47-77

बीदहवा अध्याय इस्लामी सघात से हिन्दू-संस्कृति-करण

भारत में इस्लाम और हिन्दुत्व का सम्पर्क का प्रबल ऐतिहासिक सम्प्रदाय सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारामा का सम्पर्क है—व धारामें जिनमें सात्विकीकरण की दमता रही है। अपने ऐतिहासिक विकास में, दोनों, अलग अलग सामंजस्य मरचनाओं से सन्निहित होने के कारण, एक ओर, समानांतर रही और, दूसरी ओर, परस्पर सम्पर्क में आने पर भी, अपना-अपना संस्कृति-करण करती रही। जसा कि पिछले वृत्त और विवेचन से स्पष्ट है भारतीय इस्लाम में हिन्दुत्व के सम्पर्क से संस्कृति-करण की दो प्रक्रियाओं का साथ साथ जन्म हुआ—एक अरबीवादी तथा पुनरन्वयनवादी सांस्कृतिक कटटरता की और दूसरी इस्लाम के भारतीयकरण का जिस पर हिन्दुत्व (आगम नियम) की छाप है। इस्लाम में भारतीयता का प्रस्फुटन घरातल में हुआ है। इसी प्रकार हिन्दुत्व में भी दो प्रक्रियाएँ चली हैं—एक, सांस्कृतिक कटटरता और पुनरन्वयन की और दूसरी इस्लामी प्रभाव का आत्मसात करत हुए हिन्दुत्व में इस्लामी संस्करण का जन्म देने की। हिन्दुत्व में भी इस्लामी संस्करण का प्रस्फुटन घरातल से हो हुआ है। हिन्दुत्व और इस्लाम के सम्पर्क में भारत में संस्कृति-करण का जो प्रक्रिया उत्पन्न हुई उसकी चार धारामें हैं—एक, इस्लामी अरबीवादी, पुनरन्वयन और कटटरता की

दूसरी, इस्लाम के भारतीयकरण की, तीसरी हिंदू पुनरुत्थान और बटोरता की, और, चौथी, हिंदूत्व में उपलब्ध होने वाले इस्लामी सांस्कृतिक संस्करण की।

दूसरी और चौथी प्रक्रियाओं के स्तर पर, हिंदूत्व और इस्लाम का सम्बन्ध हुआ है, जिसका एक रूप है इस्लाम में हिंदूत्व के समावेश का, और दूसरा, हिंदूत्व में इस्लाम के समावेश का। अतः, इन समावेश से कोई एक भारतीय सांस्कृतिक-संस्करण नहीं निकल सका क्योंकि हिंदूत्व और इस्लाम साथ ही साथ बटोर पुनरुत्थानवादी भी रहें हैं। राजनैतिक प्रभुता से सम्पन्न इस्लाम से प्राण पान के लिए, हिंदूत्व ने उद्-विकासी पुनरुत्थान का आश्रय लिया जिससे हिंदूत्व के ऐतिहासिक उन्विकास की शृंखला में आवश्यक दान, भविष्यदाता और पथ-परम्परा के रूप में उनका बहिष्कार जड़ती चली गई। इस्लाम की उत्प्रेरणा से मध्ययुगीन भारत में हिंदूत्व का पुनरुत्थानवादी विकास हुआ। ताराचन्द्र जय इतिहासकार इस पुनरुत्थान की हिंदूत्व में इस्लाम की प्रतिरूपि मानते हैं और विनयकुमार सरदार उसे विद्वान हिंदूत्व का सतत उन्विकास। विनय कुमार उद्दिष्टा एसाही हैं। उत्प्रेरक की प्रतिरूपि नहीं हो सकती विशेषणों वहाँ जहाँ पराजित संस्कृतिक अपन में अतः निहित स्रोतों के पुनरुत्थान का आश्रय लेती है। पुनरुत्थानवादी उन्विकास विना पराजित अवस्था और उत्प्रेरणा के नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन हिंदूत्व का सारा विकास पुनरुत्थानवादी ही है क्योंकि ऐसी मायता का अर्थ होगा कि इस काल का हिंदूत्व एक छावनी संस्कृति रहा है। सारी समस्याएँ तब हल होनी हुईं जान पड़ती हैं जब सांस्कृतिक संघर्ष की परिस्थिति गत्यात्मकता पुनरुत्थान और उन्विकास पर एक साथ ध्यान दिया जाए। सारा प्रश्न इस्लाम बनाम हिंदूत्व का नहीं है। प्रश्न है हिंदूत्व और इस्लाम के सम्पर्क में उत्पन्न परिस्थिति में, हिंदूत्व में आविर्भूत संस्कृतिकरण का प्रक्रिया के योगदानों के विश्लेषण का।

२

हिंदू-संस्कृति में कुछ इस्लामी योगदान

बामूपा में अचकन और पाजामा जगगागा में इय और मुरगा, हिंदू व्यक्तियों में मय पण्डित के पुलाव और बिरियानी और मसालेदार व्यंजनों का बनाने की कला का हिंदू-संस्कृति में समावेश हुआ। मुस्लिम बादशाहों का बामूपा पर आधिकारिक बामूपा का हिंदूत्व में आनुष्ठातिक समावेश मिला। अवध में घर का पाजामा (बामूपा जूत के साथ जामा और मोर) मुगल बाग़ानों की पाजामा की नकल की लगता है। उदाहरण मजारजिन के प्रतापना में अंतरज, चौथान और मशीना मुगल भाषा के पाजामा हैं। हिंदूओं का चौराहा का सेतु मुगलानों में पञ्चासो हो गया।

अशांत तथा देशांतर की धारणायें, तमपत्री बनान की ताज्जु पद्धति ताज्जु और रमलशास्त्र भारतीय ज्योतिष में मुसलमानों के योगदान हैं। अरबी-पद्धति के आधार पर, महाराजा जयसिंह ने हिंदू पंचांग का सुधार करके दिल्ली तथा जयपुर के वस साधकों के निर्माण कराया।

हिंदुओं में परदे की प्रथा का श्रीगणेश पठानों के प्रभाव के कारण हुआ। इस विषय में दो सम्भावनायें हैं। या तो हिंदुओं ने परदा प्रथा को मुसलमानों से सीखा है या मुसलमानों ने हिंदू नारियाँ की रक्षा करने के लिए परदा प्रथा को अपनाया। यासोन के अनुसार तत्कालीन मुसलमानों में तारी अफ़हरण एक उच्च प्रकार का जिहाद माना जाता था और इस पराधीन स्थिति का प्रेम का शहीद सम्माना जाता था^१। हाँ सचता है कि इस जिहाद से प्राण पान के लिए ही हिंदुओं में परदा प्रथा का श्रीगणेश हुआ है। इस संबंध में एक विचारणीय तथ्य यह है कि परदा प्रथा उच्चवर्णी हिंदुओं में ही पायी जाती है और वहाँ भी उत्तर में। परदा प्रथा, इस कारण हिंदुओं में सामाजिक प्रतिष्ठा की प्रतीक मानी जाती है। जाँतनिया उच्च सामाजिक स्तर पान का प्रयास करती हैं वे ब्राह्मणों की समकक्ष के साथ, परदा प्रथा को भी अपनाती हैं। अतः, हो सचता है कि उच्चवर्णी हिंदुओं ने, सामाजिक प्रतिष्ठा के पक्षों के रूप में परदा प्रथा को अपनाया है।

३

साहित्य में इस्लामी उत्प्रेरणा

मध्ययुगीन भारत के साहित्य में अनेक विचित्रताएँ एक साथ उभर पड़ा जिन्हें साधारणतया इस्लाम की उत्प्रेरणा का परिणाम माना जाता है यद्यपि इन विशेषताओं में गायन ही कोई ऐसी विशेषता है जो पहले से विद्यमान न हो या जिस इस्लाम से हिंदूकरण करके न अपनाया गया हो। इस्लामी उत्प्रेरणा के प्रभाव में भारतीय साहित्य की अनेक सुष्ठु या गौण विचित्रताएँ पुनः जाग्रत हुईं या प्राधायक बनीं। सूफी विचारधारा की उत्प्रेरणा से विरानुभूति की अभिव्यक्ति तीव्रतर हो गयी और दृष्टीकृतता की प्रधानता मिली। यह सूफीवाद का ही प्रभाव है कि हिंदी साहित्य की एक परम्परा में जिसके प्रणेत सत् महात्मा हैं, मृत्यु को काव्य और विकास की सीढ़ी माना जान लगा। सूफीवाद की दृष्टि गजाओं की धारणा ने पार्थिव प्रेम की अभिव्यक्तियों को प्रतमाहन दिया तो अस्व दृष्टी की धारणा ने सगुण के प्रति रसमवाणी अनुभूति की अभिव्यक्ति को। पार्थिव तथा रहस्यवाणी

प्रम, जिसका मूल स्रोत योग है, की अभिव्यक्ति की इही परम्पराओं ने, जागे चलकर, अंग्रेजी काल में पलायनवादी मनावृत्ति का प्रभाव में छायावादी और रहस्यवादी अभिव्यक्ति की परम्पराओं का जन्म दिया। किन्तु उसी दि बकीर की अभिव्यक्तियों से स्पष्ट है मूर्खीवादी अभिव्यक्तियों का दावत, यम और उय भारतीय अभिव्यक्तियों में लपक कर प्रस्तुत हुआ गया। बकीर ने ददनर का पति और अउन का बहुरिदा माना है क्योंकि भारतीय परम्परा में, प्रम की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति नाग का माना गया है। बकीर ने मूर्खीवादी की 'पता की अनुभूति का योग्यता की अनुभूति में यकन किया है क्योंकि उनका पति पना की स्थिति का रिपति है जहा न व्यक्ति है, न ददनर न आत्मा और न परमत्मा—बड़ा बरत जाग का अगारी के समान गान पुजा की गुपता है^१ जिसमें केवल 'साहम रह जाता है बम ही जिस सपा में सान का विचार नष्ट हो जाता है और बबल सारा सना ही गेप जाता है। यह हठयोग का मूर्खीवादी पर अभय ठाकरण है जिसका प्रभाव में मूर्खीवाद, मूर्खीवाद न रहकर हठयोग और कान्त हो गया है।

मध्ययुगीन भारतीय साहित्य विनोदता हिन्दी और बंगाल साहित्य, म शृंगार की जो उत्तिगयता बनी उस विनी भी लपक म क्लामी प्रभाव का एकमात्र परिणाम नग माना जा सकता है। भारत का साहित्य में इस्लाम का प्रभाव का प्रवेग के पहल शृंगारिक अभिव्यक्तियों की परम्परामें भी जो कामिदास, जयदेव और पद्मिनाराज जगन्नाथ का रचनाओं में निक्षेप है। शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्पराएं इटलीविनी भी है और पारसीविनी भी। वास्तव में, इनकी इटलीविनी पर पारसीविनी का आवरण बना हुआ है। कुछ लोगो की यह भी मान्यता है कि शृंगारिक अभिव्यक्ति की ये परम्परामें संस्कृत-साहित्य में पद्मिनाराज जगन्नाथ की रचनाओं के माध्यम से, जिने का रीतिकालीन साहित्य में आ गयी। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य में होती है कि जिने का रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति की जिन लक्ष्मियों का प्रभाव किया गया है ये विनी ने दगा में न ता अरबी कही जा सकती हैं और न ईरानी। बकिन्द भारतीय हैं और उनका बाध्य गान

- १ यह परम्परा कतमा काल तक चलती रही है। पान में अपनी कविताओं में अपने को इसी मानकर ही उस विराट की प्रकृति में अनुभूति की है (देखिए पल्लव ॥ मोनार्गमन्त्र)। अपनी रहस्यवादी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में प्रसाद में भी इसी परम्परा की अपनाया है जिन गानि मूल पर घुमट दाते अक्षर में दीप छिना, 'गोपन की गायत्री में कीतूह से तुप आए, (प्राम्)।
- २ भांगारंगी साकान में हरि हरि परन अगार।
बकिरा जरि कथन नया बीच भया सनार।

में निर्धारित शक्तियों के माय माय लाव दिया या प्रयास हुआ है¹। इस काल में हिंदी और बंगाल में प्रस्फुटित होने वाली शृंगारिक अतिशयता में तीन बातें हैं— भाग्यन पुराण गिद्धा का वामाचार तथा सनवा और मूफीदा²। हिंदी और बंगाल साहित्य में अतिशय शृंगारिकता का यह इस्तेमाल का बड़ा सब प्रभाव है जहाँ सन मूफीदा के माध्यम से उमने एक उ प्रेरणा का काय किया और जिसके फलस्वरूप सत्त्वामीन भारतीय साहित्य में शृंगारिक अभिव्यक्ति की परम्परा साम्राज्य में आयी। इहलोक्ता और प्रवर्तिका की हान के कारण इस्तेमाल में मुसलमानों में इहलोक्ता और प्रवर्तिका की गनायति का प्रात्याहित किम किम फलस्वरूप पारलौकिकता में परिणतित भारत का पारलौकिक शृंगारिक अभिव्यक्ति का परंपरा का मुसलमानों में इहोक्ता की ओर मोड़ दिया और उम फलस्वरूप (इहोक्ता किम प्रेम) के अतिशय पुट में भर दिया। हिंदी भाषा की गति हिंदी-साहित्य की प्रारम्भिक शृंगारिक अभिव्यक्ति का चालन चालन मुसलमानों के हाँ द्वारा हुआ। नायिका भद पर प्रथम पुस्तक रहीम न किया और सबसे अधिक नायिका भद सयद गुलामनबी रसगान न ही बताए हैं।

यह इस्तेमाल का उ प्रेरण प्रभाव का ही परिणाम है कि हिंदी साहित्य में एक साथ जनक भाव धारण फल निकली। एक धारा है इहोक्ता जान का अभिव्यक्ति की जिसके प्रतिनिधि गुलाम और रसगीन हैं— दूसरी धारा है रहीम आलम

1 उदाहरण के लिए बसिष्ठ विहारी का दोहे —

आजु मिले सो भली करी भले बन ही लात ।

पलन पीक जजन जहर धरे महाउर भाल ॥

और

नहि पराग नहि मधर रस नहि त्रिनास यहि पाल ।

जली कली ही सा यध्यो आग दोन हवाल ।

पहले दोहे में लात सम्बोधन है श्री कृष्ण के लिए और उनके पलक पर पीक अधरों पर जजन और भाल पर महाउर होने की अभिव्यक्ति भारतीय शृंगारिक साहित्य की रुढ़ि है। उसी प्रकार दूसरे दोहे में अली और कली का सम्बन्ध भी भारतीय साहित्य की रुढ़ि है। भारतीय साहित्य में पुष्प और भरी के प्रेम को एक जालम्बन रुढ़ि के रूप में प्रयोग किया गया है। ईरानी साहित्य में यही अभिव्यक्ति बलबल और गुलाब के जालम्बन से व्यक्त की गयी है जिसका हिंदी की अपेक्षा उद्ग में अधिक प्रयोग किया गया है—दिनकर

2 गोरी सोव सेज पर, मुख पर डारे केस ।

चल खुसरो घर अपनी, रन भई सब देस । सुसरो

अमी हलाहल सब भरे श्वेत न्याम रतनार ।

जिपत मरत शुक्ति शुक्ति परत जिहि नितवत इकवार । रसलीन

और रसवान क विरहानुभूति की^१, तीसरी है मानवतावादी निगुनिया सत्ता की धारा जिनक प्रतिनिधि हैं कबीर, दादू और नानक और चौथी है प्रमादमान पर प्रबंध काय लिखन वाल जायसी जस कवियों की। इन कवियों में अरबी फारसी क भाषा की अभि यकिन नहीं हुयी है। इनका कविरूप और कवित्व अरबी फारसी के भाषा में नहीं है। इनक द्वारा प्रयोग म लाय जान वाल छन्द जाल्मना, उद्दीपना और त्रिपय वस्तु की अभिव्यजना क ग्यान भारतीय परम्पराओं में हैं। जायसी सूफी कवि है पर उनका प्रमादमान भारतीय है और उद्दीपन चौपाई और दाह का उसी प्रकार प्रयोग किया है जिस प्रकार तुलसीदास ने किया है। मत्त प्रचार क लिये प्रमादमानक लिखन की परिपाटी जायसी में पहले जग कवियों में मिलता है। रसवान का श्रीकृष्ण प्रेम प्रणित्रि^२ और श्रीकृष्ण का उद्दीपन विरह और शृंगार की अभिव्यक्ति का आश्रय बन गया है। रहीम ने हिंदुओं की पौराणिक कथाओं क माध्यम में अपने विचारों का अभिव्यक्ति की है^३। निगुनिया सत्ता पर, सूफीवाद क साथ साथ, भारतीय परम्पराओं की जबरदस्त छाप है। हम निष्ठा में विशेष विचारणीय तथ्य यह है कि ये सभी कवि प्रेम और विरह की अनुभूति से सराबोर हैं जो सूफीवाद क उत्प्रेरक प्रभाव का परिणाम है। सम्भवत यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि मध्ययुगीन भारत क साहित्य में लिखनया हिंदी में एक सत्य अभिलाषा के रूप में, अतस्त प्रमानुभूति का उदय न विरहानुभूति का प्राधान्य रहा गया। अतस्त प्रमानुभूति का उदय विरहानुभूति और उसमें उत्पन्न एक सत्य अभिलाषा की कवित्वमय अभिव्यक्ति ही रामादि काय परम्परा है जिसका लिखन और श्रवण सूफीवाद क प्रभाव म हुआ और जो, आगे चलकर, कलमान वाल में, छायावादी रहस्यवादी और प्रयोगवादी अभिव्यक्तियों में प्रकटित हुआ।

हिंदी तथा बंगाल में अहं, एक और शृंगारिकता की वजह, दूसरी ओर, उनमें तथा भारत की अन्य वर्तमान भाषाओं में मानवतावादी अभिव्यक्तियों की बाढ़ फैल गई। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों ने जाति-पाति का लुप्त किया गया, हिंदुओं और इस्लाम की कट्टरवादिता की भूलना की गयी, एक-दूसरे की

१ मनसाजग माली की उपज कहि रहीम नहि जाय ।

कह रयासा क उर लगे, धूम रयास उर आय ॥ रहीम

जा यल कीन्ह प्रियार अनेक न ता यल फाँकरी दडि चुपों कर ।

जा रयासा सो करो यह मानन ना रसना सों चरित्र मुचों कर ।

आत्म जोन सो बुजन में करि बलि तहाँ अब सोम मुचों करे ।

नवन में जे सदा बसत निनको अब बान बहानो मुचों कर । आत्म

२ कमला विर न रहीम कहि, यह जानन सब कोय ।

पूरप पुरानन की दूष क्यों न चबला होय ॥

विचारधारा का पुनर्स्थापन किया गया और भक्ति मार्ग में ईश्वर तक पहुँचने पर जोर दिया गया। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में उम्मीद थी कि यह नई राह उद्घोषित हो उठी, जिसका श्रीगणेश वंदन का भी हिस्सा हो गया था किन्तु जिस महात्मा बुद्ध ने प्रश्रुति प्रदान की थी। इन मानवतावादी अभिव्यक्तियों में प्रगति का मार्ग ब्रह्मविद्या का नाम जाति व्यवस्था का निम्नतम स्तर में रखा था। नरगुरु में ब्रह्मा, भगवद् गीता में श्रीगणेश, रामायण और महाभारत में ब्रह्मा और नानक जी के गुरु गुरु, दास और रत्न इत्यादि सत्त ब्रह्म इन अभिव्यक्तियों का प्रणेता हैं। ईश्वर मानव मान की समता पर जोर दिया। ईश्वर का दया का आगार माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर सब सभी पदों का सत्त है। उपनिषद् में प्रतिपादित आत्म-मात्र का स्थान पर उद्घोषित भक्ति मार्ग पर जोर दिया है। मानवतावादी अभिव्यक्तियों के प्रणेता सत्त ब्रह्मों ने जाति तथा वर्ण व्यवस्था का निम्न पातिका की विचारधारा पर जोर दिया और हिन्दू समाज का यह रूप देने की माग की जो इस्लाम में मिलती है। इस कारण ब्रह्मविद्या सत्त-ब्रह्मों द्वारा प्रेषित का समग्र इस सत्य का प्रमाण है।

ये मानवतावादी ब्रह्म वस्तुतः उस सामाजिक जाति का प्रणेता थे जिसका सत्त हिन्दुत्व में विद्यमान थे किन्तु उन लोगों का एक साथ उभारने का उद्देश्य इस्लाम में था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस्लाम का सम्पर्क न हिन्दुत्व में दास प्रणाली की प्रतिक्रिया का जन्म दिया—एक, सम-वय का और दूसरी सम-वय के साथ साथ पुनर्गठन, पुनर्स्थापन और सुधार का। इस्लाम एक ऐतिहासिक प्रणाली था, किन्तु हिन्दुत्व एक सम-वयकारी और बार-बार पुनर्गठित और सन्तुष्ट होने वाली ऐतिहासिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रणाली। इस्लाम का प्रगतिवादी प्रभाव निहित था उसकी समता की भावना, निराकारा एवम्बरवादिता और सरलता में। इस्लाम का मानववादिता ही उसकी शक्ति थी। यह भी कहा जा चुका है कि इस्लाम का सबसे अधिक प्रभाव रहा था हिन्दू समाज का निम्नस्तर में। सम्भवतः यही कारण है कि हिन्दू समाज के निम्न स्तरों में ही समता, निराकारा एवम्बरवादिता, भक्ति मार्ग और मानववादिता की भाग आयी। इसी स्तर पर यह विचार पनपा कि न कोई उच्च है न निम्न, न कोई ब्राह्मण है न गुरु, न कोई हिन्दू है न मुसलमान (यदि हैं भी तो वे एक हैं) और अल्लाह या राम एक हैं—वे निराकार में समाए हुये हैं। प्रेम ही मान का मार्ग है।

४

भक्ति आन्दोलन सामाजिक संस्कृति का आधार

भक्ति तथा प्रपत्ति की धारणा हिन्दू मूल मूल विद्यमान थी। गीतानार न कर्म, ज्ञान और भक्ति का समाहार स्मृत्य, निष्कामता और अविनाश भक्तिनय म करके, जिस जीवन ज्ञान का प्रतिपादन किया है उसमें भक्ति का प्रपत्ति व सहज माग का रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु इस्लाम की उ प्रेरणा में भक्ति माग का प्रस्तुत एक सामाजिक आन्दोलन का रूप में हुआ जिसका एक ही प्रतिनिधारी और सुधारवादी है और दूसरा कठोर पनपनयनवादी तथा परम्परावादी। पहले के प्रणेता विगुनिया से त ज्ञान का रूप में भक्ति की मगठन के सिद्धांत का हिंदूकरण किया और दूसरे के मगठन भक्ति के प्रणेता विगुनिया आगम विगम परम्परा का आधार पुन स्थापित करने पर जार दिया। किन्तु भक्ति का मूल के इन दोनों रूपों का आधार हिंदू परम्परा है। प्रतिनिधारी सुधार की माग का ही कारण के अनमर कार्यभार का रूप में तथा बहिष् परम्परा का समानुसार निर्वचन करके और आगम का उच्च आत्मसात करके, बहिष् परम्परा को व पुन स्थापना की परम्परामें हिंदूत्व में प्रवेश ही आ चुका था। बुद्धवाद यदि एक बार सुधारवादी आन्दोलन है तो, दूसरी ओर, बहिष् परम्परा का आधार और मूलनिष्ठ नय निवचन का प्रयास भी। हिंदूत्व में लौकिक अलौकिक का विभेद नहीं है। हिंदू परम्परामें साम्प्रदायिक और साम्प्रदायिक अनिवचनीय नहीं है। वन और जाति समानान्तर हैं परस्पर विभेद नहीं है और एक दूसरे के पूरक भा वधानि जहां वन मम पर आधारित है और जाति जन्म पर, वही वन जाति की कठोरता का समुत्पन्न भी है। समान परम्परा के पीछे समानानुसार हिंदू परम्परा का सुधार और पनपनयन का ही परम्परा है। हिंदूत्व एक साथ कठोरवादी भी है और सुधारवादी भी। साम्प्रदायिक उत्प्रेरणा से हिंदूत्व में भक्ति आन्दोलन का जो प्रस्तुत हुआ, वह कठोरवादिता, पनपनयन तथा पुन स्थापन की ओर भी उन्मुख है और सामाजिक सुधार आन्दोलन की ओर भी।

सम्भवत इसी कारण भक्ति आन्दोलन के माध्यम से यह एक और प्रतिनिधारी सामाजिक विचारों की अभिव्यक्ति का प्रस्तुत हुआ तो दूसरी ओर, हिंदू सामाजिक परम्परा का पुननिवचन करके और उच्च समानानुसार साम्प्रदायिक प्रभावित करके उनके पुन स्थापन का प्रयास हुआ। प्रतिनिधारी सामाजिक सुधार की माग के पीछे बौद्ध और सिद्धांतवादी की परम्परा थी, तो हिंदू सामाजिक पुनस्थापन के पीछे साम्प्रदायिक युग युग और स्मृतिया तथा पुराणों की परम्परा।

1. विभिन्न माध्यमों के लिए देवियों की ओर बतकर द्वारा रचित एक नये आत हिंदुत्वम्।

देवल स्मृति (ग्यारहवीं सदी) में यह विधान किया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुन जाति में आ सकता है। वास्तव में इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं रहा जा सकता है। हिन्दू-समाज में जाति तब तक मानी गयी है और जाति-युत व्यक्ति के लिये गुट्टि का भी निषाध रखा है और आज भी है। हा यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम में मिलन वाली उत्प्रेरणा, व कारण, इस विधान का भी स्तरों के लिये गाम्भीर्यपूर्ण कर दिया गया। किन्तु इस बात में इनमें भी महत्वपूर्ण विकास हुआ सगुण भक्तिधारा का जिसमें राम तथा कृष्ण के धारणों का एक प्रकार निरूपण और वर्णन किया गया कि उनके माध्यम से मानव-जातियों के प्राचीन हिन्दू परम्पराओं और आचार्यों की शास्त्रमूलक प्रामाणिकता द्वारा उन्हें पुन स्थापित किया जा सके और तत्कालीन हिन्दुत्व की एकता बनाए रखी जा सके। राधा, गायी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की आकुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियाँ में परिणत हो गयीं। राधा गायी और कृष्ण तत्कालीन जन-राज्य से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उत्पत्तीकरण के प्रतीक हो गये। यही से राधा का महिमा बढ़ी—प्रेम की एक अतृप्त विरह-अभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काय में तब तक इन मानव-जातियों की प्रधानता बनी क्योंकि उनका उद्देश्य प्रसारण और सामाजिक जागरूकता का सांस्कृतिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिकता की ओर लाना है। अतः सामाजिक सांस्कृतिक सम्बन्ध में राधा और गायी की विरहानुभूतिमय कृष्ण काय केवल एक समाज से इसके हकीकी की ओर वाली धारणा की प्रतिवृत्ति नहीं है—यह तत्कालीन हिन्दू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रपत्ति की भावना या एक रहस्य है जिसमें सामूहिक निरर्ता उत्पन्न होता है¹। निराकार मानानुभूति की वस्तु है किन्तु साकार जनोत्साह से उत्पन्न हृमानुभूति की वस्तु है। जन नायक ध्यान का क्षमता साकार में है न कि निराकार में। उस बात की माकार। गुण प्रपत्ति एक मानविक

- 1 सामाजिक असुरक्षा और व्याकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों की प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अतिव्यक्तियों की तभी प्रोत्साहन मिला जब औद्योगिक क्रांति और तत्जनित आर्थिक प्रति योगिता और व्यक्तिवादी प्रवर्धा के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बढ़ी। अंग्रेजी राज्यकाय में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुन इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों की प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिन्दी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने 'ले चल मुझ भुलाया देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और धकान पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निम्न रहकर मानसिक मुरझा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

मुल्सीदास ने रामायण के प्रबंध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का धारण किया है वह जनाना और जन नामक का ही रूप है। तुल्सी के जिये सभी राममय हैं। चाहे काइ गद्य हा या शायन अनन्तापत्वा उन राम सब ही पहुँचता ह। गीतावार न य प्रनिपादित किया था कि 'सब धर्मनि परित्यज मामक गच्छ वज'। गीतावार ने सभी कुछ टूटनमय मान लिया, जो साधारण का एक रूप है। गाँता, एक घर निराकार तथा जानमय का दंग है ता दूसरी घर, माँकार विनयाग तथा कम माग का। गाँता एक प्रयास है माँकार तथा निराकार, जान तथा भक्ति और कम तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय लाने का और हिंदू समाज का जान तथा कम के स्तर। पर पकीकृत करने का। गीतावार ने जान, भक्ति और कम भागों का एक समन्वय में गहर हिंदू समाज के आधार का विस्तार कर दिया था। समझानुसूल तुलसीदास ने सभी परम्परा का पालन किया। अंतर बचल जाना है कि उन्होंने गीता के कृष्ण के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और जानमार्गी हान पर भी उन्होंने अनित्यता का ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि अविश्रमाग जन मुन्म है। तुलसी दास ने पालन विचार और साम्प्रदायिकता की भूमना की। तथा कुछ राममय मानकर एक ओर हिंदू समाज के पकीकरण पर गहर दिया ता दूसरी ओर, राम के माध्यम में, उन्होंने आदर्श परिवार का पारिवारिक सम्बन्धों, आदर्श राज्य और राजा तथा धर्म व्यवस्था की भूमना के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो गायत्रीगत हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक घर घरकर के समन्वयकारी प्रयासों की लहरें उड़भिन हा रही थीं ता, दूसरी ओर आदर्श ही ओर दृष्टिभी बदरवागिता की लिंग का मुग्न रही थी। किन्तु उन्होंने न ता समन्वय पर ध्यान दिया और न बदरवागिता पर। तुलसीदास ने न ता दृष्टिभी विचार का धरकन किया है न समाज की प्रगति की है और न उाकी भूमना। एसा लगता है जग में उस युग में पैदा ही होत हुए थे जिसमें भारत में दृष्टिभी का प्रसार हो रहा था। उन्होंने केवल स्मृति का परम्परा पक्ष और समझानुसूल मार्गों का प्रतिपादन कर, अविश्रमाग माध्यम में जान हिंदू मायताओं के पुनरस्थापन की आवश्यकता और आलोचन का जनना का पचाया। पक्ष पर उन्होंने गाँता का, स्मृति और पुराणों की दुराई की है। रामायण में निम्न आर्ष 'जाना पुराणनिपादागम मयत' हैं। और, सभी कारण रामायण हिंदू-समाज की परम्पराओं का दंग-काट को आकर्षकानुसार सागूर करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनकी रामायण इतिहास में प्रभावित हिंदुत्व के उत्तरात्तर उद्भवित को एक अवस्था दिग को उपनि है।

आठवाँ पक्ष की के उत्तरात्तर में गहर के अस्मृदय में लकर उनीखी गायत्री

देवल स्मृति (ग्यारवीं सदी) में यह विधान दिया गया कि जातिच्युत व्यक्ति पुनः जाति में आ सकता है। वास्तव में, इस परम्परा को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं कहा जा सकता है। हिंदू समाज में जाति जन्म से मानी गयी है और जातिच्युत व्यक्ति के लिये पुनर्जाति का भी विधान रखा है और आज भी है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस्लाम में मिसल वाले उत्प्रेरण, व कारण एक विधान को मनी स्तरों के लिये सामान्य बन कर दिया गया। किंतु इस काल में, इसमें भी महत्वपूर्ण विकास हुआ तब भक्तिधारा का जन्म राम तथा कृष्ण के भावनात्मकता का एक प्रकार निवचन और भजन दिया गया कि उनके माध्यम से धार्मिकतानुसार प्राचीन हिंदू परम्पराओं और जातियों को सास्त्रसंगत प्रमाणित करने पर उन्हें ही गन्धर्वपुत्र दिया जा सके और तत्कालीन हिंदुत्व को मजबूत करके उनकी रक्षा की जा सके। राधा गापी और कृष्ण के माध्यम से तत्कालीन जनता की जाबुलता विरहानुभूति की अभिव्यक्तियाँ में परिणत हो गयीं। राधा गापी और कृष्ण तत्कालीन जन नराश्रय से उत्पन्न एक प्रकार के सामूहिक उत्प्रेरणा के प्रतीक हो गये। यही से राधा की महिमा बनी—यम की एक अतृप्त विरहभिलाषा के प्रतीक के रूप में। यही कारण है कि कृष्ण काय में समय कर देने वाले गीतों की प्रथा का बड़ी क्या नि उत्पन्न। उद्देश्य मत्त प्रचार का, सामाजिक आकुलताओं का दृष्टीकोण प्रमत्त माध्यम से पारलौकिकता की ओर रुखा होता है। अपने सामाजिक सांस्कृतिक संभ्रम में राधा और गापियों की विरहानुभूतिमय कृष्ण का यकबल स्वयं समाजी से उनके लकीरों को नार बाँकी धारणा की प्रतिष्ठति नहीं है—यह तत्कालीन हिंदू समाज के मानसिक जगत में उत्पन्न प्रवृत्ति की भावना का एक बड़ा रूप है जिसमें सामूहिक निरंतरता उत्पन्न होता है¹। निराकार चानानुभूति का वस्तु है किंतु साकार जनानुभूति से उत्पन्न हुआ मानभूति का वस्तु है। जन नायक वान की क्षमता साकार में है न कि निराकार में। इस बात का गाँवों में प्रचलित एक गानायक

- 1 सामाजिक असुरक्षा और आकुलता की स्थिति में ऐसी अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता रहा है। अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक अभिव्यक्तियों को तभी प्रोत्साहन मिला जब जीवोद्योगिक क्रान्ति और तत्पश्चात्त आर्थिक प्रति योगिता और व्यक्तिवादों प्रवाहों के कारण सामाजिक मानसिक असुरक्षा बनी। अंग्रेजी राज्यकाल में जब ऐसी स्थिति आयी तो पुनः इसी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान हिंदी साहित्य की छायावादी तथा रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ भी ऐसे विचारों से ओत प्रोत हैं। निराला ने लिखा है, 'हमें जाना है जग के पार', प्रसाद ने ले चले मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। यह पलायनवाद नहीं है बल्कि मानसिक अनिश्चितता और थकावट पर विजय पाने का एक जन माध्यम है।

जननायक पर निर्भर रहकर मानसिक सुरक्षा प्राप्त करने का एक माध्यम है।

तुलसीदास ने रामायण के प्रबंध काव्य द्वारा राम के जिस रूप का आख्यान किया है वह जननायक और जन नायक का ही रूप है। तुलसी के चित्रे सभी राममय हैं। चाहे कोई गैर हा या शाक्त, अज्ञतामत्वा उस राम तक ही पहुँचता है। गीताकार ने यह प्रतिपादित किया था कि 'सर्व धर्मानि परियज मामेकं शरणं वजः'। गीताकार ने सभी कुछ दृष्टमय मान लिया, जो साकार का एक रूप है। गीता, एक द्वार निराकार तथा पानयोग का दान है ता दूसरी द्वार साकार भक्तिपाग तथा ब्रह्म योग का। गीता एक प्रयास है साकार तथा निराकार, पान तथा भक्ति और ब्रह्म तथा सामाजिक व्यवस्था में समन्वय स्थापना का और हिंदू समाज का पान तथा ब्रह्म का स्तर पर एकीकृत करने का। गीताकार ने पान, भक्ति और ब्रह्म मार्गों का एक समन्वय में लाकर हिंदू समाज के आधार को विस्तृत कर दिया था। समयानुकूल तुलसीदास ने इसी परम्परा का पालन किया। अंतर बस इतना है कि उन्होंने गीता के दृष्टि के स्थान पर राम का प्रतिपादन किया और पानमार्गी हान पर भी उन्होंने भक्तिमार्ग को ही अधिक महत्ता दी, क्योंकि भक्तिमार्ग जन मुक्त है। तुलसीदास ने पाण्डव विवाद और साम्प्रदायिकता की भर्त्सना की। सभी कुछ राममय मानकर एक द्वार हिंदू समाज के एकीकरण पर धार दिया ता दूसरी ओर राम के माध्यम से, उन्होंने आदर्श परिवार आर्य पारिवारिक सम्बन्ध आर्य राज्य और राजा तथा ब्रह्म व्यवस्था की संस्था के उन रूपों और पक्षों का प्रतिपादन किया जो शास्त्रोक्त हैं।

तुलसीदास उस समय हुए थे जब एक द्वार धर्म के समन्वयकारी प्रयासों का उद्वेलित हो रही थी तो दूसरा द्वार, जहाँ ही जहाँ द्रष्टा की कटुता का अग्नि भी मृगत रही थी। किन्तु उन्होंने न तो समन्वय पर ध्यान दिया और न कटुता पर। तुलसीदास ने न तो द्रष्टा की विचारों को व्यक्त किया है न शास्त्र की प्रशंसा की है और न उसी भक्तता। एका लक्ष्य है जब वे एक युग में पक्ष ही नहीं हुए थे जिसमें भारत में द्रष्टा का प्रसार हो रहा था। उन्होंने बसल स्मृति की परम्परा पक्ष और समयानुकूल आर्यों का प्रतिपादन करके, भक्ति के माध्यम से, उन्होंने हिंदू मान्यताओं के पुनर्स्थापन की आवश्यकता और आदेशों के जननायक पक्ष पट्टावाही। पक्ष-पक्ष पर उन्होंने शास्त्रों, स्मृति और पुराणों की स्तुति दी है। रामायण में निम्न आदेश नाना पुराणनिगमात्मक सम्मत हैं। और सभी कारण रामायण हिंदू समाज की परम्पराओं का देश-नाश की आवश्यकतानुसार लागू करने का एक प्रयास है। तुलसीदास और उनका रामायण इतिहास में प्रवाहित हिंदूत्व का उत्तरांतर उद्विगम का एक अवस्था दिश्य की उपनि है।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत के अस्तित्व में लेकर उनीशरी शताब्दी

के उस समय तक, जब तक आयसमाज ब्रह्मसमाज और प्रायश्चित्तसमाज के रूप में हिंदुत्व की निराधारवादी पारमार्थी गाम्भीर्य का पुनः प्रतिरोध नहीं करी, भारत में भक्ति-माग की ही प्रधानता रही है। सत्काल में भक्ति-माग का तो पारंपरिक रहस्य ही है। एक गायत्री की परम्परा जिसमें सूफीवाद का प्रत्यक्ष निरूपण प्रमाण प्रमाण है और जो रहस्यमय है। दूसरी निगनिया सत्ता की परम्परा जिसमें, एक और निराधार और मानव का भक्ति-रस में रस दिया गया और दूसरी जो मनुष्य कुछ निराधारमय मानकर और हिंदुत्व तथा इस्लाम के बीच का भ्रमना करके, मानवता-वादी विचारों का प्रचार किया गया और मजहबी सिद्धांतों को हिंदुत्व में आत्मसात करने हुए पंथा का मंगल दिया गया। तीसरी मनुष्यतावादी की परम्परा है जिसमें माध्यम से हिंदू समाज की परम्पराओं का पुनर्निर्माण करके उन्हें पुनः स्थापित किया गया और वर्णाश्रमवाद के द्वारा मानवतावादी विचारों का प्रतिपादन किया गया। पहली परम्परा सूफीवाद के हिंदूकरण की प्रक्रिया की उत्पत्ति है और दूसरी तत्कालीन आवश्यकतानुसार हिंदुत्व में सुधार और परिवर्तन करने का आवश्यकता की। पहली और दूसरी परम्परायें इस्लाम के हिंदूकरण तथा हिंदुत्व के इस्लामीकरण के बीच की उत्पत्ति हैं और तीसरी हिंदुत्व के पुनर्स्थापन की। एक जोर इस बात का प्रयत्न किया जा रहा था कि हिंदुत्व के प्रतिष्ठा इस्लाम की विपरीतताओं का हिंदुत्व के अनुसार हटा लिया जाय और दूसरी ओर हिंदुत्व के आधारों को आवश्यकतानुसार बदल कर उन्हें अन्तर-धर्मों का प्रयास किया जा रहा था। यही कारण है कि तत्कालीन हिंदू समाज तथा संस्कृति में विराधी तत्वा और प्रतियोगिता का समावेश हुआ। एक जोर निराधार और मानव का माग दिया गया तो, दूसरी ओर साधारण और भक्ति का। एक ओर धर्म की निंदा की गयी तो दूसरी ओर, वर्णाश्रम धर्म का प्रतिरोध करने का प्रयास किया गया। एक जोर वर्णों की निंदा की गयी तो दूसरी ओर, उन्हें सामाजिक जीवन के आदर्श का पमाण माना गया। एक जोर जाति-पाति की भ्रमना की गयी तो दूसरी ओर जाति प्रथा के नियम और भी कठोर हो गये और इस्लाम के समक्ष, जाति व्यवस्था एक प्रकार का सामाजिक प्रतिरोधक बने सिद्ध हुआ।

इस्लाम की उत्प्रेरणा से भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति हिंदुत्व की उन परम्पराओं में से हुई है जो वैदिक काल से चली आ रही थी। हिंदुत्व में एक ओर मानमाग की परम्परा है और दूसरी ओर, भक्तिमाग की। मानमाग का आधार है तर्क और विवेक और भक्तिमाग का सबुद्धि, रहस्यमयता कमकाण्ड और कल्पाधार। ये परम्परायें समानांतर चलती रही हैं, यद्यपि किसी काल में मानमाग की प्रधानता दी गई है तो किसी काल में भक्तिमाग की। गीता में कम के माध्यम से, मान और भक्ति को एक दूसरे का पूरक माना गया है। वर्णों की कमकाण्ठी परम्परा के समक्ष उपनिषद् में मानमाग को प्रधानता मिली। महात्मा

बुद्ध ने ज्ञानमार्ग में सन्बुद्धि का पुट किया जा जागे चलकर रहस्यवादी सन्बुद्धि में बन्त गया। मोमासका न कमकाण्ड कलाचार, बहुधा और साम्प्रदायिक मतमतांतरों का प्रधानता दी। हिन्दु गुरु न उम निरधक वताकर अद्वैतवाद का समर्थन किया—यह अद्वैतवाद जिसमें व्यक्ति और समष्टि ज्ञान और ब्रह्म जाति और वर्ण, ऊँच और नीच शिव वंश और गायत सभी ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में एकाकार हो जाते हैं। गुरु क अद्वैतवादी दशन की आलाचना करके रामानुज ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। गाना की अनासक्ति ज्ञान और भक्ति की धारणाओं का गायत में न भक्ति और प्रपत्ति का रूप मिला। भागवत में भक्ति और प्रपत्ति की धारणाओं का अवतारणा रामानुज के दशन में होकर भार भारत में फैली। इस्लाम की उपेक्षा का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि ज्ञानमार्ग की निराकारवादी परम्परा में भी भक्ति का पुट निम्नरा यद्यपि इस विकास का बीजारोपण गाना में हो चुका था। इस्लाम का उपेक्षा से निराकारवादी तथा सकारवादी भक्ति मार्गों का एक साथ प्रस्तुत और समर्थन हुआ।

गुरु और
रामानुज

दश में जमी कणाटक में बसा हुई मराठ्ठ में कुछ दिन टहरी और गुजरात में आकर बूनी में गये। भक्ति के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि भक्ति द्राविड उपजाती लाए रामानुज जिसका अर्थ यह निराला है कि भक्ति की उत्पत्ति तो दक्षिण (द्राविड) में हुई है और उत्तर में उमर प्रवर्ध रामानुज हैं। रामानुज "रामानुज" का शिष्य परम्परा में आते हैं और उनका द्वारा उत्तर में भक्ति का प्रचार एक एति शक्ति सत्य है। बचीर और रत्ना रामानुज के शिष्यों में हैं। रामानुज का जन्म साठवीं शताब्दी में दक्षिण में हुआ था। रामानुज ने गुरु के अद्वैतवादी दशन का अपने तथा विविधवादी दशन का प्रतिपादन करके भक्तिमार्ग का गायन आधार प्रदान किया। मध्यकालीन भारत में गुरु और रामानुज एक दूसरे से चार सौ वर्ष दूर हो गए भी हिंदू सामाजिक गायन उन्विता में दो बड़े युग प्रवर्ध हैं। गुरु ज्ञान तथा गाना के दार्शनिक और रामानुज भक्तिमार्गों परम्परा में। हिन्दु शास्त्र में भक्ति ज्ञान तो रामानुज के प्रतीक्षा शिष्यों की गायत का आधार गुरु का गायन है। दाना का जन्म भक्ति में हुआ। दान मन्त्र का प्रतिपादन करने के लिए गुरु और रामानुज दाना ने गाना पर भाष्य किया है। कुछ इतिहासकारों का मत है, गुरु का अन्तर्गत और रामानुज का प्रतिपादन भक्तिमार्ग प्रवर्ध है। गुरु का प्रतिपादन है और गुरु तथा रामानुज के मध्य में पत्तन का इस्लामी सघात उत्पन्न द्राविडों को बर्बाद अस्तिमागता। शिष्या विचित्राचार्य गुरु उत्पन्न गाना।

न भक्ति आन्दोलन को प्रेरित किया है। इसने विपरीत दूसरा मत यह है कि गुरु और रामानुज हिन्दुत्व के उत्थान के दा विधामस्यल हैं और भक्ति आन्दोलन का जन्म इन दोनों विधामस्यलो के बीच में चलने वाली दार्शनिक तथा जन परम्पराओं में है। रामानुज न, भीता के आधार पर, दक्षिण में चलने वाली जन परम्पराओं को समयानुक्रमिक व्यावहारिक दार्शनिक स्तर प्रदान किया है। भक्ति आन्दोलन व सामाजिक सांस्कृतिक आधारों का समर्थन के लिए इन विचारसंस्थाओं की व्याख्या अपेक्षित है।

गुरु की दार्शनिक परम्परा भक्तिमार्गों न होकर ज्ञानमार्गों है। किन्तु ज्ञानमार्गों होने पर भी, गुरु न विष्णु त्रिव दक्षिण और मूल पर स्तम्भ स्थित हैं और भक्ति के माध्यम में भक्ति प्रथा का अवरोध किया है। गुरु के दार्शनिक का खंडन करके रामानुज न भक्तिमार्ग की नींव डाली और इसी कारण, गुरु का मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का उत्प्रेरक माना जा सकता है। जिस दार्शनिक आधार पर रामानुज न भक्ति आन्दोलन की नींव डाली उसकी परम्परा निश्चय ही गुरु से भी प्राचीन है यद्यपि उसका प्रेरणा स्रोत गुरु दार्शनिक में हैं। एक दार्शनिक के रूप में, गुरु वस्तुतः समाज सुधारक हैं। उनका उद्देश्य था साम्प्रदायिकता (अर्थात् मतमतांतर) के भवर में पड़ गए हिन्दू समाज को निश्चल कर उस एक ऐकीकृत दार्शनिक तथा सांस्कृतिक आधार प्रदान करना। गुरु के दार्शनिक का यदि उनके फार्मों के सन्दर्भ में देखा जाय तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो उठता है। गुरु ने अद्वैतवादी दशन का प्रतिपादन किया और सम्बुद्धि, तत्त्व तथा साधन का मानाजन के तीन प्रामाणिक आधार माने। गुरु के लिए सत्ता निराकारमय है। उन्होंने निराकार की वस्तुता 'ब्रह्म' के रूप में की है। गुरु के ब्रह्म में ईश्वरत्व नहीं है। वह शुद्ध, बुद्ध, चतुर्भुज निराकार और निर्विकार है। उसे न तो भक्तों की चिन्ता है और न मनुष्यों को बंधन की। सत्ता मायामय ब्रह्म है। निराकार ब्रह्म और सत्ता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए गुरु न मायावाद का मत प्रतिपादित किया। गुरु का मायावाद वस्तुतः नागाजुन द्वारा प्रतिपादित बौद्धों का मूलाधार है। इस प्रकार, बौद्धवाद पर ब्रह्मवादी दार्शनिक की स्थापना करके, गुरु न बौद्धवाद का हिन्दुत्व में समेट लिया और ब्रह्म की धारणा के द्वारा मत मतांतरों की साम्प्रदायिकता को निमूल नष्ट किया। इसके साथ साथ, भारत के चार काशी पर चार मठों की स्थापना करके उन्होंने हिन्दू समाज के व्यावहारिक तथा दार्शनिक पक्षों का एकता प्रदान करने का प्रयत्न किया। गुरु के प्रयासों में सुधार का अर्थ था समर्थ और उनके लिये समर्थ का अर्थ था परम्परा का व्यापक निवचन और संस्थापन।

गुरु का दक्षिण में आविर्भूत होना एक ऐतिहासिक सन्ध्या है। किन्तु, गुरु-दशन का विकास ऐतिहासिक सन्ध्या नहीं है। दिनकर के अनुसार, गुरु दार्शनिक की विकास तथा आवृद्ध के नासदीय स्वतः तक पहुँचती है। नासदीय स्वतः ने जीवन और

संस्कृत व विषय में जो मौलिक प्रश्न उठाए थे उन्हीं प्रश्नों का समाधान साजत-सोजते पहले उपनिषद् का आधिर्मवि हुआ, फिर बौद्ध-दगन का और फिर शंकर दगन का । शंकर का संस्कृत ब्रह्म बौद्ध संसार ब्रह्म एक वदम अवश्य है लेकिन संस्कृत ब्रह्म की पारणा की जल वस्तुन औपनिषादिक दगन में है । जहा तक शंकर के बौद्धन पूवका का सम्बन्ध है व दगन में नहीं उत्पन हुए थे । गूढवागी दगन के प्रतिपादक नागाजुन का जन्म ईसा व जन्म व सी वष वात विदम में हुआ था और दानिक वसुवधु, जो शंकर व दूसरे बौद्धन पूवक हैं का चौथी शताब्दी में पगावर म । शंकर व शारीरिक भाष्य पर मामती-व्याख्या लिखकर दशमर में उन प्रसिद्ध करन छाल विद्वान वाचस्पति मिश्र मिथिला में जन्म थे । शंकर भारतीय संस्कृति की उन समम्मासा का दानिक उत्तर थे जिन्हें लेकर ब्राह्मण और बौद्ध जूझ रहे थे ।

शंकर ने वगान की ब्रह्मवागी व्याख्या की थी किन्तु रामानुज ने वगान की ईश्वरवादी व्याख्या करके शंकर व संस्कृत ब्रह्म में ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया— उस ईश्वरत्व का जो गूढ बड़ निराकार और निर्विकार तहीं है जो विलु व रूप में साकार है भक्ता पर व्याप्त है और विश्व प्रपच का प्रहरी तथा कर्ता है । शंकर ने बवल ब्रह्म का ही सर्वोपरि और अनादि माना किन्तु रामानुज ने ईश्वर व साय-साय, जीव और प्रकृति का भी अनादि माना यद्यपि शंकर और शय तथा जल और लहर व समान थे शय अलग नहीं किए जा सकत । रामानुज ने अद्वैत में द्वैत और द्वैत में विगिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया क्योंकि उनका अनुमार ईश्वर साकार भी है और बवल ईश्वर ही अनादि नहीं है । शंकर की परम्परा में वगान व इस वाक्य 'तत्त्वमसि' की यह व्याख्या हुयी कि जाव भी ब्रह्म है किन्तु रामानुज की व्याख्या में यह प्रतिपादन किया गया कि 'तत्' अर्थात् संस्कृत का कारण स्वल्प ईश्वर 'त्वम' है अर्थात् जीव में छिपी हुयी आत्मा में एकाकार है । इसी कारण रामानुज की दगन-पद्धति विगिष्टाद्वैत की पद्धति कही जाती है ।

अद्वैत में द्वैत का प्रतिपादन करके रामानुज ने कम और ज्ञान व समान भक्ति की महत्ता का ध्येयतर बताया । रामानुज का अनुमार ज्ञानयोग में आत्मा बवल इतना हा ज्ञान मकनी है कि वह परमात्मा का शय है । किन्तु भक्ति की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा व सम्बन्ध का ज्ञान अधिक प्रगर हा उग्रा है । जीव भी अनादि है उमरी भी एक सना है, अन न ता ईश्वर में विगन हुना उमके लिए स्वाभाविक है और न उमरा आवश्यकता ही है । अना का नता शय चाहिए न सय और न भक्ति । उमका भक्ति ता ज्ञान पयत और ज्ञानागान आराध्य

के पदा में गिव के प्रति प्रपत्ति की अभिव्यक्ति थी। जिस प्रकार, प्रबोधम् व माध्यम में वैष्णवीजन परम्परा दानो-मुख हुई उसी प्रकार तिमुरई नामक पारह भाषों में मद्रहोत ग्रंथ के माध्यम में, गैब जन-परम्परा भी दानो-मुख हुई। जिस समय वल्लवाचाय नाथमुनि ने आशारों के पदा का मद्रह प्रबोधम् में बरवाया था, उसी समय गैवाचाय नाथि आदार-नम्बी ने तिमुरई (पावन पुस्तक) नामक ग्रंथ में गैब पदा का मद्रह बरवाया। दानि की भक्ति धारा में प्रबोधम् का जो महत्व है वही तिमुरई का भी है। बगवी परम्परा में सृष्टि व पाम अध्या हैं विष्णु, किंतु गैब परम्परा में वह स्थान गिव का है। गड प्रवृत्ति और चेतन जीव सभी सिद्धय हैं और गिव ही चेतना के आधार और ब्रह्माह में व्याप्त अनादि सत्य हैं।

गक्ति गिव व काय व्यापार का माध्यम है। अतः गक्ति गिव की पूरक है। मष्टि गिव की वृत्ति है जोर उसकी पांच प्रतियायें (रचना पालन, विनाय, जीव की माहाच्छतता और मक्ति) गिव की वृत्ता और गक्ति व सहयोग से सम्पन्न होती हैं। गिव भी गिव व साथ साथ, मृष्टि भी अनादि है और उसका विनाय जाया के बल्यण के लिये होता है। गिव पद्धति में, सिद्ध और मष्टि व साथ साथ, आत्मा भी स्वभावतया अनादि, अनात और चेतन है किंतु बंध में पड जान व कारण, जात्मा अपने का सान्त गक्ति और अजानी मानता है। अपने पूर्ववर्तों में मुक्त हाकर तथा ज्ञ की अधीनता में बाहर आकर ही, आत्मा का अपनी अनादिता अनन्तता और चेतनता का भान में सबूत है। आत्मा की मक्ति सिद्धान्तविधि साधना पद्धति व पालन तथा निधारण और गुरु ज्ञान तथा गिव की वृत्ता में ही हा सकती है। गैब परम्परा में प्रकार गैब के अद्वैत और रामानन्द व विनिष्ठाद्वैत व बाच की परम्परा है। गैब तथा बगवी परम्परा में जन और दान व तारों पर, एक साथ, तथा हा अलग-अलग भक्ति-मद्रगाया के रूप में प्रवर्तित हुए। गैब और बगवी परम्पराओं का समन्वय मुन्नीनास व हाथों द्वारा तथा कि ठाढ़ान इन दोनों के माध्यम में तथा इन अलग-अलग नाम परम्परा का स्थापना का। प्रपत्ति, गुरु-महिमा इत इताद्वैत और विनिष्ठाद्वैत की जा महत्ता इन परम्पराओं में है, उन्हें गुनगीशम न ज्यों का रया अपना लिया।

भारतीय संस्कृति में प्रवाहित इस भक्ति धारा में जिनका भाग इस्लामी है और जिनका भारतीय यह एक विधान का विषय है।
समाना इस विषय पर उक्त-य गतिविधि आशिय में जिनमें मद्र प्रतिपादित गिव गये हैं व उसी प्रकार सम्बन्ध विभाजित हैं जग हिंदु व और इस्लाम। एक मार है मागधद, न्याऊ बबीर और मुमुक्षु दान व मन

जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि ग़र की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिन्दुत्व पर इस्लाम के प्रत्यक्ष प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर है दिनकर तथा विमलकुमार सरदार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि आठवां शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधाराएँ, गुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्पराएँ, वास्तव में, हिन्दुत्व के उत्तरोत्तर उद्विकास का परिणाम हैं। कि इस्लाम के सघात का। विमलकुमार सरदार के अनुसार चौदहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के बीच में, हिन्दुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी गुधार आन्दोलनों को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रथा भी रही है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास का और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधाराएँ प्रारम्भ से हिन्दू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक अधिकांश परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों में बीच में सम्यक्मार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी धारणा को हिन्दुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिन्दूकरण मानकर उसे हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध का प्रतीक मानते हैं।

शंकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियट ने अपनी पुस्तक हिन्दुइज्म और मुस्लिमिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात को सिद्ध करने में लग गया। 10^{वां} शताब्दी ई. इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार ग़र के अम्बुदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फैल गया था। 8^{वां} शताब्दी ई. ने ग़र को इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपनी इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, ग़र द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादित्व है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और वह अर्थात् यत्किन उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, ग़र का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का कहीं स्थान नहीं है। ग़र ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अंतर है तो माया के कारण। ग़र वदिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। शंकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है वरन् उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिन्दुत्व सिमटकर दक्षिण में वेदोद्भूत हो गया था और वहाँ उस नाण मिल रहा था। ग़र में बुद्धवाद और वेदांत का सम्बन्ध है न कि इस्लाम और हिन्दुत्व का। यदि ग़र इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

वे चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करते। शाकरीय दान में सृष्टि के स्वरूप और उद्गम का जो वर्णन है वह इस्लाम की मायताया के प्रतिकूल ही पड़ता है।

बैष्णव धर्म और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचंद और उनके समान मत वाले अथ इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका बलवर हिंदू। इस मत का मुख्य आधार है—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता बैष्णवाचार्यों तथा गैवाचार्यों का दक्षिण में ही उत्पन्न होना, भक्तिवादी विचारधारा में प्रपत्ति (परमात्मता), एकात्म निष्ठा और व्यक्तिवादी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध तथा खडन-मर्दन, गुरु शिष्य-परम्परा तथा ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की ईश्वर से भी बड़ा स्थान देना¹ और भक्ति आन्दोलन का माध्यम में फलने वाला मानवतावादी दृष्टिकोण। निन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि ये विचार और मायताया हिन्दुत्व में इस्लाम से सम्भव होने का पहले नहीं थी। भक्ति की परम्परा हिंदुत्व की आगम परम्परा में एक अनपरम्परा का रूप में उतनी ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिंदुत्व और सम्भवतः उसमें भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिंदुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गों याचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उच्च प्रक्रिया का परिणाम है जिसका कारण हिंदुत्व दक्षिण में काशीभूत हो गया था। इस्लाम में गुरु शिष्य परम्परा का मूलमात वह आगत है जिसमें यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर के बीच की एक कड़ी हैं²। किन्तु गीता के एक श्लोक में यह कहा गया है कि ओम का ज्ञान और उसके अक्षरूप में भगवान् कृष्ण का ध्यान करता हुआ जो ध्याति गरीर छोड़ता है, वह परमगति का प्राप्त होता है³। यही मनुष्य नया ईश्वर के बीच में कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। स्वतंत्रतयापनिषद के अंतिम मंत्र में यह कहा है कि 'यस्य देव परा भक्तिमया देवे तथा गुरौ गुरु म देवता की भावना का प्रतिरापण कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक का बौद्धिक प्रवर्तन सिद्ध-नविषा ने गुरु का उपदेश

1 कबीर ने कहा है—गुरु गोविंद दोनों सबेरे बाएँ सांगू पाय

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताया।

अर्थात् गुरु की बलिहारी है जिन्होंने गोविन्द का पहचान कराया। मुनसीदास ने भी मानस का प्रारम्भ गुरु देवता से किया है। सिकन्दर गुरुदेव से नानक का माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि यहाँ 'याह गुरु का सारसा' पंथ का नारा हो गया। दक्षिण के चार गुरुओं ने भी गुरु की मान का माध्यम माना है। सुफियों में बिना पार के ज्ञान मिल ही नहीं सकता।

2 साईसाह इस्लामाह मुहम्मदुरसूलिस्ताह।

3 ओमिायकाह ब्रह्म व्याहृमासनुस्मरन।

य प्रमाति त्यजद्दह माति परमा गतिम्। माना

जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि शंकर की अद्वैतवादी परम्परा और उनके बाद से प्रवाहित होने वाली भक्ति धारा, हिंदुत्व पर इस्लाम के प्रथम प्रभाव का परिणाम है। दूसरी ओर हैं दिनकर तथा विनयकुमार सरकार के मत जो इस बात पर जोर देते हैं कि पाठवा सत्ताओं से लेकर अठारहवीं सताब्दी तक प्रवाहित होने वाली मानवतावादी विचारधाराओं सुधारवादी आन्दोलन तथा भक्तिमार्गी परम्पराओं, वास्तव में, हिंदुत्व के उत्तरोत्तर उद्विग्नता का परिणाम हैं न कि इस्लाम के सघात का। विनयकुमार सरकार के अनुसार चौहवीं तथा अठारहवीं सताब्दियों के बीच में, हिंदुत्व में चलने वाले मानवतावादी तथा एकेश्वरवादी सुधार आन्दोलनों को इस्लाम के सघात का परिणाम मानने की एक प्रथा सी रही है। किन्तु, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि इस परम्परा के आवरण को उठाकर, इतिहास को और भी गहराई से देखा जाय क्योंकि एकेश्वरवादी तथा मानवतावादी विचारधाराओं प्रारम्भ से हिंदू सामाजिक धार्मिक और सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में विद्यमान रही हैं। इन दोनों विभिन्न मतों के बीच में सम्पर्कमार्गी तथा सामासिकतावादी इतिहासकार हैं जो मध्ययुगीन भारत की भक्तिमार्गी धारणा का हिंदुत्व का इस्लामीकरण या इस्लाम का हिंदूकरण मानकर उस हिंदू मुस्लिम समय का प्रतीक मानते हैं।

गकर और रामानुज पर इस्लाम के प्रभाव की बात सर्वप्रथम सर चांस इलियट ने अपनी पुस्तक हिंदुइज्म और बुद्धिज्म (1921) में कही थी और तभी से इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय इस बात का सिद्ध करने में लग गया। डा० ताराचंद इस सम्प्रदाय के प्रमुख इतिहासकार हैं। उनके अनुसार, गकर के अम्युदय के पहले ही से इस्लाम का प्रभाव मालाबार के तट पर फल गया था। डा० ताराचंद ने गकर का इस्लाम का अनुकर्ता माना है और अपना इस मान्यता की पुष्टि के लिये उन्होंने दो बातों पर जोर दिया है—एक, शंकर द्वारा अद्वैतवाद के माध्यम से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और दूसरा शंकर का दक्षिण में ही उत्पन्न होना। किन्तु शंकर का अद्वैतवाद और इस्लाम का एकेश्वरवाद मूलतः भिन्न हैं। इस्लामी एकेश्वरवाद में ईश्वरवादिता है। इस्लाम में जिस ईश्वर की कल्पना की गई है वह दया और दण्ड दोनों देता है और बुरा अर्थात् व्यक्ति उसका दास है तथा उसकी दया पर निर्भर है। किन्तु, गकर का ब्रह्म तटस्थ, निराकार और निर्विकार है। इस्लाम में माया का वही स्थान नहीं है। शंकर ने जीव और ब्रह्म को मूलतः एक माना है। उनमें यदि अंतर है तो माया के कारण। गकर वैदिक परम्परा में है न कि इस्लामी परम्परा में। गकर का दक्षिण में उत्पन्न होना इस्लाम का प्रभाव नहीं है बरन उस ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है जिसमें हिंदुत्व सिमटकर दक्षिण में केंद्रीभूत हो गया था और वहाँ उस प्राण मिल रहा था। गकर में बुद्धवाद और वेदांत का सम्मेलन है न कि इस्लाम और हिंदुत्व का। यदि गकर इस्लाम के अर्थ में एकेश्वरवादी होते तो शिव, सूर्य और शक्ति पर स्तोत्र न रचते और न भारत

के चार कोनों पर मठों की ही स्थापना करत। शायरीय दगन में सभ्ति के स्वरूप और वर्णम का जा वणन है वह इस्लाम की मायताभा के प्रतिकूल हो पडता है।

वधूणव धम और भक्ति-आन्दोलन की आत्मा, डा० ताराचंद और उनके समान मत वाल अय इतिहासकारों के अनुसार, इस्लामी है जबकि उसका कलेवर हिन्दू। इस मत के मुख्य आधार हैं—भक्ति का तथा भक्ति के प्रणेता बैष्णवाचार्यों तथा शैवाचार्यों का दक्षिण म ही उत्पन्न होना, भक्तिवाणी विचारधारा म प्रपत्ति (‘गणगाति’), एवान्त्र निष्ठा और व्यक्तिवाणी भावना का पाया जाना, जातिप्रथा तथा वण व्यवस्था का विरोध तथा स्वदन-मदन, गुरु गिण्य-परम्परा तथा गान प्राप्ति के लिए गुरु की इस्वर से भी बड़ा स्थान देना और भक्ति आन्दोलन क माध्यम म फलन वाला मानवतावादी नृष्टिकान। किन्तु, यह मिथ्य करना बड़ा बठिन है कि य विचार और मायतायों हिन्दुत्व म इस्लाम से सम्पन्न होने क पहुँचे नहीं थी। भक्ति की परम्परा हिन्दुत्व की जागम परम्परा म एक जन परम्परा के रूप म उठना ही प्राचीन है जितना की स्वयं हिन्दुत्व और सम्भवत उससे भी अधिक। प्रपत्ति का भाव भी हिन्दुत्व के लिए नया नहीं है। भक्ति का और भक्ति मार्गों आचार्यों का दक्षिण में उत्पन्न होना उक्त प्रक्रिया का परिणाम है, जिसके कारण हिन्दुत्व दक्षिण म केंद्रीभूत हो गया था। इस्लाम म गुरु गिण्य परम्परा का मूलसात वह आद्यत है जिसम यह कहा गया है कि मुहम्मद मनुष्य तथा ईश्वर क बीच की एक कड़ी हैं^१। किन्तु गीता के एक श्लोक म यह कहा गया है कि आत्म का आप और उसके अव्यय रूप में भगवान् कृष्ण का स्थान करता हुआ जा व्यक्ति गरीर छाडता है, वह परमगति को प्राप्त होता है^२। यहाँ मनुष्य तथा ईश्वर क बीच म कृष्ण का बहुत कुछ वही स्थान है जो मुहम्मद का है। श्वेताश्वतरापनिषद् क अंतिम मंत्र म यह कह कर कि ‘यस्य दत्त परा भक्तिर्यथा दत्ते तथा गुरो गुरु म दत्तव का भावना का प्रतिरापण कर दिया गया है। कबीर, दादू और नानक क बीडिक पूवज मिथ्य-कवियों ने गुरु क उत्पत्ति

१ कबीर ने कहा है—गुरु गोविन्द शानो सहे बरवे लागू पाय
बलिहारो गुरु आपने जिन गोविन्द दिया बताय।

मर्थात गुरु की बलिहारो ह जिरोंन गोविन्द की परवान करापो। तुलसीदास ने भी भावना का प्रारम्भ गुरु-वन्दना से किया है। मिशन-मध्यराय ने नानक के माध्यम से गुरु की महिमा आई और यहाँ तक बढ़ी कि वहाँ बाह गुरु का सात्मा पाय का नारा हो गया। दक्षिण क बीर गुरु ने भी यह की भावना का माध्यम माना है। सूक्तियों में बिना पार के ज्ञान मिल हो नगी तबना।

२ साईंसाह इतिस्लाह मुहम्मदुरसूनिस्लाह।

३ ओमिण्येकान्तर ब्रह्म व्याप्तर-नगनुरमरन।

४ प्रपत्ति रयमन्दह ॥ याति परमो यनिम्। माना

को अमृत रस के समान मानने तथा गुरु वचन में पूर्ण भक्ति रखने पर जोर दिया है क्योंकि शास्त्राथ के सम्मुख में केवल गुरु के अमृतपणी उपदेश से ही तथा गात होती है। उत्तरी भारत में सिद्धा की परम्परा इस्लाम के पहले की है।

वर्ण-प्रवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया इस्लाम के पहले ही से भारत में विद्यमान है। 'आत्मवत् सब भूतपु' (सभी प्राणियों का अपने समान समझो) 'पठिता सप्त दर्शना' (पानी समझो हाथ हैं) और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (वसुधा कुटुम्ब के समान है) की भावनायें बहिष्कार से ही हिन्दू चिंतन का अंग रही हैं। इन्हीं का प्रस्फुटन बुद्धवाद, मध्ययुगीन भवन उदिया और स्वामी दयानन्द राममोहनराय और महात्मा गांधी जैसे समाज सुधारकों के चिंतन तथा कार्यों में हुआ है। भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ में प्रारम्भ में ही मानवतावादी विचार और कार्य यहाँ के चिंतन का एक अंग बन गये थे और आज भी हैं। संघर्ष का अद्वैतवाद और तुलसी के राम सम्भवतः इसी मानवतावाद की दार्शनिक तथा वाक्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। विनय कुमार सरकार के अनुसार भारत में, विरोध तथा हिंदुत्व में एक आर, वर्णाश्रम रहा है ता दूसरी ओर वर्णाश्रम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रियाएँ। एक आर, कानून और व्यवस्था पर जोर दिया गया है ता, दूसरी आर कानून और व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया गया है। एक ओर, जाति शुद्धता की भावना रही है ता, दूसरी ओर, वर्णसंघर्ष की। इस प्रकार हिंदुत्व में दो विरोधी शक्तियाँ प्रवाहित होती रही हैं और इन्हीं विरोधी शक्तियों का प्रवाह में हिन्दू संस्कृति का विकास का जादू निमग्न निहित है। इस्लामी बातावरण के हिन्दू भारत में प्रवाहित होने वाली समाजवादी तथा प्रजातन्त्रीय विचारधाराओं में इन्हीं परम्परागत समाज निर्मात्री प्रक्रियाओं का प्रवाह है, जिनके माध्यम से निम्नस्तरीय समूहों का उच्च स्तर की ओर सामाजिक आरोहण होता है। हिन्दू संस्कृति का प्रसार—इन ग०। स केवल एक ही अर्थ ध्वनित होता है और वह है हिन्दू समाज का उत्तरात्तर प्रजातन्त्रीकरण या हिंदू संस्थाओं और प्रथाओं पर जनता का उत्तरात्तर सघात और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के मध्य वृद्धि तथा उन्विकास। मुस्लिम बातावरण में इस परम्परागत हिन्दू प्रवृत्ति का किसी भी प्रकार हनन नहीं हुआ। अतः जिस डा० ताराचंद इस्लाम के प्रभाव का परिणाम मानते हैं, उसे विनयकुमार सरकार हिंदुत्व का स्वाभाविक विरोध मानते हैं।

ताराचंद के तर्कों में विरोध है और उनकी अध्ययन रीति दोषपूर्ण। एक ओर वे शर्कर को इस्लाम का अनुकर्ता और गहरा प्रतिकर्षित अद्वैतवाद का लाईलाह इल्लिलाह की प्रतिवृत्ति मानते हैं तो दूसरी ओर मानते हैं कि इस्लाम ने चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दियों में बौद्धिक उत्थरण का ही कार्य किया होगा। उत्प्रेरणा और प्रतिवृत्ति के पीछे जो धारणाएँ हैं वे परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो

उत्प्रेरक है उसकी प्रतिवृत्ति नहीं आ सकती। ताराचन्द भक्ति और रहस्यवाद को मानव की मानवीय और सार्वकालीन धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उत्पन्न होने से विद्यमान थे। फिर भी, वे भारत में भक्ति और रहस्यवाद के उत्पन्न होने का विवरण छाड़ देते हैं और भक्ति तथा रहस्यवाद को इस्लाम से धारित मान लेते हैं। जमाकिन डा० ताराचन्द की पुस्तक के शीर्षक 'द फुल्ल ऑफ इस्लाम इन इण्डिया' में स्पष्ट है उनकी अध्ययन रीति का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनके अध्ययन का विषय है भारत पर इस्लाम का प्रभाव न कि भारतीय संस्कृति में इस्लाम। उनका दृष्टि कबल इस्लाम पर है और मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के उद्धार के लिए। जहाँ उन्हें इस्लाम की प्रतिवृत्ति नजर आती है। यदि ऐसा न होता तो उन्हें विष्णुस्वामी, निम्बाक और मध्व का विचार नजर न आता और गजालों की प्रतिवृत्ति बराबर लगती? इस्लाम में प्रवृत्ति है एक निराकार ईश्वर के प्रति जो दया का सागर है और प्रेम का नीति। भारत में भक्ति विचार में प्रवृत्ति है साकार के प्रति जिसमें भक्त लीन नहीं होना चाहता। इस्लाम में प्रवृत्ति का कुछ और रूप है और हिन्दू में कुछ और। डा० ताराचन्द की दृष्टि कबल प्रवृत्ति पर है न कि इस्लाम तथा हिन्दू में पायी जाने वाली प्रवृत्ति विषयक मान्यताओं के अन्तर पर। यदि वे इस आधारभूत अन्तर पर ध्यान दें और उस हिन्दूत्व की स्वाभाविक उत्पत्ति का प्रमाण के समान के प्रमाण करते तो वे बलवी और गव परम्पराओं को इस्लाम का प्रत्यक्ष प्रभाव न मानें। किन्तु, ताराचन्द की अध्ययन रीति में समानान्तर उत्पत्ति का बड़ा ध्यान ही नहीं है।

ताराचन्द के मत में, मध्ययुगीन रहस्यवादी धर्मग्रन्थों के रूप, प्रतीक, प्रकार और परिचयन की शिष्टाई आधुनिक बौद्धिक प्रतीक न होकर बाह्य प्रभाव का प्रतीक है। डॉ० म इस्लाम में फलस्मात् प्रवृत्ति का प्रमाण है। पर डा० ताराचन्द इसाईयत का रहस्यवादी परम्पराओं का कारण नहीं मानते क्योंकि हिन्दूत्व और इसाईयत का सम्बन्ध होने वाली आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ दोनों में नहीं हैं। 'आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ' का क्या अर्थ है, यह ताराचन्द स्पष्ट नहीं किया है। ताराचन्द यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत के सामाजिक धर्म सम्बन्धी विचारों तथा परम्पराओं में जो अन्तर है, उनका बहुत बड़ा अंग ताराचन्द सामाजिक उदर दुष्ट धार्मिक संघर्षों राजनैतिक आन्दोलनों और हिन्दूत्व के सामाजिक धार्मिक तथा बौद्धिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। फिर भी, ताराचन्द के मत में, इन पर इस्लाम का प्रभाव है क्योंकि धार्मिक आस्था का उत्तरा

1. नज्जाम अगमरी और गजाली प्रसिद्ध मुफा विमल हुए हैं और विष्णुस्वामी, निम्बाक और मध्व बलवी उद्धार के प्रवृत्ति हैं।

तर सरलीकरण और उसमें बढ़ती हुयी भावुकता का पुट इस्लामी प्रभाव का ही परिणाम है। जसाकि ताराचन्दने लिखा है, 'यंग्वा ल्यता है कि जस उत्तरात्तर सरलीकरण और बढ़ती हुयी भावुकता के पीछे एक निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति काम कर रही हो। किन्तु, यह निश्चित शक्ति और प्रवृत्ति हिंदुत्व का आंतरिक विभाग नहीं है—वह इस्लाम से आयी है। महात्मा बुद्ध द्वारा सरलीकरण की मांग और वेदा की रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ जस अस्तित्व में आकर समाप्त हो गयी हैं? यह मानते हुये भी कि रहस्यवादी धार्मिक अनुभव का रूप में मुसलमानों ने हिंदुओं को जो कुछ अपित किया वह हिंदुओं के लिए नया नहीं था और हिंदू मस्तिष्क में सारमौकरण तथा समन्वय की अपूर्व क्षमता है, व रहस्यवाद का इस्लाम का ही योगदान मानते हैं क्याकि उनका तब आधारित है परिस्थिति प्रमाण (Circumstantial Evidence) पर—वह प्रमाण जिसमें अनुमान का अधिक पुट रहता है। दक्षिण में, भक्ति तथा रहस्यवाद के अधिकतर तत्व, अपने व्यक्तिगत रूप में हिंदुओं के स्वाभाविक विकास का झलक-अल्प परिणाम हैं। यह स्वीकार करते हुए भी ताराचन्द यह प्रतिपादित करते हैं कि ये सारे तत्व अपने सम्मिलित रूप में और अपने एक विशेष युग्म के कारण मुस्लिम आस्था (Muslim Faith) का आभास देते हैं और हिंदुत्व पर मुस्लिम प्रभाव की सम्भावना के तब का और भी दृष्टा प्रदान करते हैं। हिंदुत्व में इस्लाम की प्रतिष्ठित और प्रभाव ही डूढ़ने वाला विद्वान विरोधी तर्कों की इस भ्रांति में पड़ सकता है और एकरूपता मायताओं की प्रतिपादित कर सकता है।

यह दोष न तो डा० ताराचन्द का है और न उनके जस अन्य इतिहासकारों का। वास्तव में, यह दोष है ऐतिहासिक विवेचन की उस पुरानी परम्परा का जिसमें इतिहासकार किसी प्रमाण विधि पर ही अपना ध्यान केंद्रित रखना है और उस ही प्रधान मानकर और सभी कुछ गौण मान लेता है। डा० ताराचन्द के लिए भारत पर इस्लाम का प्रभाव प्रधान प्रमाण है और इस्लाम के पहले तथा बाद का हिंदुत्व गौण। किन्तु जहाँ सतत अभ्युदय बढ़ि और उत्थान है वहाँ इस्लाम वह प्रवाह है जो एक बड़े प्रवाह से मिलता है। हिंदुत्व पर इस्लाम का क्या प्रभाव पड़ा यह एक विषयातिरिक्त प्रश्न है? उस सन्दर्भ में सही प्रश्न यह है कि भारत में इस्लाम के प्रवेश से हिंदू संस्कृति की उद्विवासी प्रक्रिया में क्या परिवर्तन लहरें उठी और, उनके मध्य में हिंदुत्व या 'जायक' अथवा भारतीय संस्कृति का किस प्रकार उद्विवास हुआ। सांस्कृतिक उत्थान सदैव समन्वयकारी होता है जिसमें प्रत्येक परिवर्तन एक उद्विवासी परिवर्तन शृंखला से सम्बद्ध रहता है। जहाँ परिवर्तन में स्थायित्व न हो और स्थायित्व में आधारभूत तत्व न बने रहें, वहाँ केवल परिवर्तन होता है, उद्विवास नहीं। इस्लाम के प्रवेश से हिंदुत्व का परिवर्तन ही नहीं, उत्थान भी हुआ।

इस्लाम और हिन्दुत्व की तुलना करते समय अधिकतर लोग का ध्यान, एक ओर, मरबीकृत इस्लाम पर रहता है तो, दूसरी ओर, हिन्दुत्व के उस रूप पर जो निगम अथवा वैदिक है। किंतु वास्तव में, आगम (अवदिक) भी हिन्दुत्व का उतना ही अंग है जितना कि निगम। आगम से निगम और आगम तथा निगम का उत्तरांतर समस्त हिन्दुत्व की उदविकासी प्रक्रिया की मूलप्रवृत्ति रही है। जन-संस्कृति के तत्त्व तथा परम्परायें, आगम के माध्यम में, समयानुसार निगम में समन्वित होती रही हैं और इसी कारण समय समय पर मिलन वाली उत्प्रेरणाओं के कारण, हिन्दुत्व में आगम का उभार होता रहा है। भारत में इस्लाम तथा पश्चिमी साम्यता का प्रबल उत्प्रेरणाओं रही हैं जिनके प्रभाव में आगम का उभार मिला तथा निगम के उसका समन्वय हुआ। मध्ययुग में रहस्यवाद भक्ति तथा मानवतावादी विचारों का उभार इसी उदविकासी प्रक्रिया का परिणाम है। भक्ति का एक ओर जन-आत्मार्पण के रूप में उभरना तथा दूसरी ओर उग्र भागीय दंगन की परम्परा में मैदित होना इसी तथ्य का प्रमाण है।

पञ्चम अध्याय सान्मीकरण, समन्वय, पुनरुत्थान, सुधार और संध

पञ्च परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के वातावरण में, भक्ति-आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिना के दार्शनिक निवचन तथा पुनः स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पञ्च परम्परा का, जिसके माध्यम से हिन्दुत्व के निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुत्थानवादी सुधारवाद का आन्दोलन बढ़ा अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में साक्षात्करण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुत्थान के द्वारा एवेस्वरवाद के मत का प्रतिपादन करने के लिए और जाति के अन्तर का निस्सार बनाया गया, ज्ञानमय भक्ति का सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियाओं एक साथ चलीं और उनके माध्यम से भक्त-सत्तों द्वारा संगठित पञ्च, जिनका आविर्भाव हम बाल के सार भारत में हुआ। ये पञ्च हिन्दुओं में मजहबों आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पञ्च के प्रणेता न भक्तिमार्गी परम्परा के हिन्दुत्व का निवचन करेंगे, अपन पञ्च का संगठन किया। पञ्च निर्गुनवादी, भक्तिमार्गी जाति-पाति विरोधी और सहजानुभावी थे। इनके प्रणेताओं ने भूतिपूजा का खण्डन किया, सामाजिक का निरर्थक माना, गृहस्थ-साधु के आदर्श को प्रतिपादित किया और भगवत् भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिन प्रकार, इस्लाम में सूफी पंथ का निम्न स्तर की जनता में संगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पंथों का संगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का मुकाबल इहलौकिकता की ओर था। हिन्दू मुस्लिम सघर्ष बादशाहत के बर्त हुए बर्ष और निरन्तर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव का सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनेक विदेशी सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढती हुई कट्टरता ने अनन्त पंथों (सिक्ख, मननामी बैरागी) को उत्तना ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने सघर्ष का जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अस्तित्व हुआ है उनमें से मुख्य हैं—बहीर सिक्ख, ब्रह्मवी, राधास्वामी, वीर शैव तथा त्रिगायन इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पंथ मठायी संगठनों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महंत हुआ और कई पंथ कालांतर में कई महंतों में बँट गए। ये पंथ परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आनी है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उन्नागवी शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महर बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर पुराने पंथ (जैसे कबार, रदास और दिवनरायनी) स्थायी रहे हैं और दूसरी ओर नए पंथों की स्थापना हुई। पारसीय सम्प्रदाय तथा इसाईयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने शीलों में संगठन आन्दोलन जम हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलन का रूप लिया है।

निगुण पंथों का आविर्भाव उन आदर्शों व भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा योगमार्गी धर्मनाथी पंथ जैसे धर्मों, दानों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निगुण पंथों पर अगत उपनिषद् तथा वेदांत का, बौद्ध धर्म का, अगत भारत की योग-परम्परा का, और अगत इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण है वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के सघर्ष के कारण भारत में उत्पन्न हुई थी। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं, क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक दान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के मध्य में पंथ और सम्प्रदाय का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्ग) से जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निगुण पंथों में प्रत्येक पंथ के लिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

पञ्चब्रह्म अध्याय

सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुन्नयन, सुधार और सघर्ष

पथ-परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के वातावरण में भक्ति आंदोलन ने यदि एक ओर हिंदू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निश्चय तथा पुनर्स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर पथ परम्परा का, जिसके माध्यम से हिंदुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुन्नयनवादी सुधारवाद का आंदोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिंदुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता का पुनरुन्नयन के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपान्ति करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियाएँ एक साथ चली और उनके माध्यम से भक्त-सत्ता द्वारा संगठित पथ, अिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पथ हिंदुओं में भजहूवी आस्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा से हिंदुत्व का निवचन करके, अपने पथ का संगठन किया। पथ निगुनवादी, भक्तिमार्गी, जाति पाति निरोधी और सहजज्ञानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया, संयास का निरर्थक माना, गहस्थ साधु के आदेश का प्रतिपान्ति किया और भगवत् भजन को मोक्ष प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी-पंथा का निम्न स्तर की जनता में सगठन हो रहा था, उसी प्रकार निम्नस्तर की हिन्दू जनता में भक्तिवादी पंथा का सगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारंगतजनता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का भुकाव दृष्टीकृतिता की धार था। हिन्दू मुस्लिम सघर्ष, बादशाहत के बढ़ते हुए बमब और निरन्तर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उससे उत्पन्न होने वाली गरीबी ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव का सामाजिक मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। अनक विद्वानों सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल-राज की बढ़ती हुई कट्टरता ने अनक पंथा (मिस्त्र सतनामा बैरागी) का उत्पन्न ही कट्टर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कट्टरता ने सघर्ष का जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अस्तित्व हुआ है उनमें से मुख्य हैं—कबीर, सिक्ख ब्रह्मवी, राधास्वामी, और शैव तथा शिवायत इत्यादि। गुप्त परम्परा में ये पंथ मठाया संगठनों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महत्त हुआ और कई पंथ बालान्तर में कई महत्तों में बंट गए। ये पंथ परम्परा दोनोंसही क्षात्राणी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना उत्तमवी गताणी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा महर्षि बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक आर, पुरान पंथ (जिस कबीर, रदास और निवन्तराजनी) स्थायी रहें और, दूसरी धारा, नए पंथों की स्थापना हुई। यागरीय सभ्यता तथा इमाइयत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इस परम्परा ने भीला में भगत आन्दोलन जन्म हिन्दुत्व की ओर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलन का रूप लिया है।

निगुण-पंथा का आविर्भाव उन आदर्शों के भावनाओं के समावेश से हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, वैष्णव सम्प्रदाय, वेदान्त-दर्शन तथा यागमार्गी गोरखनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निगुण पंथों पर अतः उपनिषद तथा वेदान्त का, बौद्ध धर्म का अतः भारत की याग-परम्परा का, और अतः इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण हैं वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के समावेश के कारण भारत में उत्पन्न हुई थी। ये पंथ व सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग अलग सुधारवादी सम्प्रदायों का संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेताओं ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक स्थान प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बन्ध में पंथों और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है उस आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) में जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निगुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय कहा जा सकता है कि

५ इहया अभ्याय सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुत्थान, सुधार और सघर्ष

पथ परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के वातावरण में भक्ति आ दालन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरवादिता के दार्शनिक निवचन तथा पुनर्स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पथ परम्परा का जिसने माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुत्थानवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना अनेक इस्लामी विरोधताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ, औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुत्थान के द्वारा ऐश्वर्यवाद के मत को प्रतिपादित करके धर्म और जाति के अन्तर को निस्मारक बताया गया ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारापण हुआ। ये सारी प्रक्रियाएँ एक साथ चली और उनके माध्यम से भक्त सत्ता द्वारा संगठित पथ जिनका आविर्भाव इस काल के सार भारत में हुआ। ये पथ हिन्दुओं में मजहबों यास्था लेकर प्रस्फुटित हुए। प्रत्येक पथ के प्रणेता न भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निवचन करके अपने पथ का संगठन किया। पथ निगुनवादी, भक्तिमार्गी जाति-प्राति विरोधी और सहजमानवादी थे। इनके प्रणेताओं ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया सयास का निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आदेश को प्रतिपादित किया और भगवत भजन का माध्यम प्राप्ति का

साधन माना। जिस प्रकार, इस्लाम में सूफी पंथा का निम्न स्तर की जनता में सगठन हो रहा था, उसी प्रकार, निम्नस्तर की हिंदू जनता में भक्तिवादी पंथों का सगठन हो रहा था। पंथों की भक्तिवादी परम्परा पारलौकिकता की ओर उन्मुख थी यद्यपि इस्लाम का भुक्ताव इहलौकिकता की ओर था। हिंदू मुस्लिम संघर्ष, वादशाहों के बढ़ते हुए वैभव और निरंतर होने वाले युद्धों के कारण जनता पर पड़ने वाले भार और उन्मत्त उत्पन्न होने वाली शरीरों ने सम्भवतः पारलौकिकता के भाव को सामाजिक-मानसिक जीवन का एक अंग बना दिया। इनके विद्वानों सूफी सम्प्रदायों तथा मुगल राज की बढ़ती हुई कठोरता ने इनके पंथों (सिक्ख सतनामी वैरागी) को उतना ही कठोर बना दिया जितना कि इस्लाम था। इस कठोरता ने संघर्ष का जन्म दिया।

इस काल में जिन पंथों का अस्तित्व हुआ है उनमें से मुख्य हैं— वहीर सिक्ख बण्णवा, राधास्वामी, वीर शैव तथा लिंगायत इत्यादि। गुरु परम्परा में ये पंथ मठावासी सगठनों के रूप में विकसित हुए। प्रत्येक पंथ का एक महंत हुआ और कई पंथ कालांतर में कई महंतों में बंट गए। ये पंथ परम्परा जनीसवी शताब्दी तक चलती हुई वर्तमान तक आती है। राधास्वामी सम्प्रदाय की स्थापना जनीसवी शताब्दी में हुई थी और ब्रह्मकुमारी तथा मेहर बाबा के पंथों के रूप में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। एक ओर, पुनर्जागरण (जैसे कबीर रदास और शिवनरामजी) स्थायी रहे हैं और, दूसरी ओर नए पंथों की स्थापना हुई। भारतीय संस्कृति तथा इसाईमत के सम्पर्क में, इस परम्परा ने समाजों की परम्परा का रूप लेकर वर्तमान समाज सुधार-आन्दोलन का रूप ले लिया है। इसी परम्परा ने भीलों में भक्ति जादालन जैसे हिन्दुत्व का आर उन्मुख सुधारवादी आन्दोलन का रूप दिया है।

निगुण पंथों का आविर्भाव इन आदर्शों के भावनाओं के समावेश में हुआ है जिनके मूल स्रोत बौद्धधर्म, बण्ण सम्प्रदाय वेदांत दर्शन तथा योगमार्गी गारलनाथी पंथ जैसे धर्मों, दर्शनों व रहस्यवादी पंथों में हैं। सभी निगुण पंथों पर अज्ञात उपनिषद् तथा वेदांत का बौद्ध धर्म का, अज्ञात भारत की याग परम्परा का, और अज्ञात इस्लाम के सूफीवाद और भक्तिमार्ग का प्रभाव है। इनके आविर्भाव का कारण है वे परिस्थितियाँ जो इस्लाम के सघात के कारण भारत में उत्पन्न हुई थी। ये पंथ वे सुधारवादी आन्दोलन हैं जिनमें बौद्ध तथा इस्लामी मजहबों की परम्परा के आधार पर, अलग-अलग सुधारवादी सम्प्रदायों को संगठित करने का प्रयास किया है। अलग-अलग सम्प्रदाय होने पर भी ये पंथ साधारणतया सम्प्रदायवादी नहीं रहे हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर पंथों के प्रणेतृओं ने हिंदुत्व और इस्लाम के बीच में एक अलग सामाजिक धार्मिक आन प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इन सुधारवादी आन्दोलनों के सम्बंध में 'पंथ' और 'सम्प्रदाय' का अर्थ है— उन आध्यात्मिक मार्ग (अथवा मार्गों) में जिसके आधार पर प्रत्येक पंथ अथवा सम्प्रदाय संगठित हुआ है। निगुण पंथों में प्रत्येक पंथ इसलिए सम्प्रदाय बना जा सकता है कि

पञ्चम अध्याय सात्मीकरण, समन्वय, पुनरुत्थान, सुधार और सघर्ष

पथ-परम्परा

इस्लामी सम्प्रदाय के वातावरण में, भक्ति-आन्दोलन ने यदि एक ओर हिन्दू ईश्वरशक्ति के दानिक निवचन तथा पुनर्स्थापन का रूप लिया तो, दूसरी ओर, पथ परम्परा का जिसके माध्यम से हिन्दुत्व में निगमागम का व्यापक समन्वय हुआ पुनरुत्थानवादी सुधारवाद का आन्दोलन बना अनेक इस्लामी विशेषताओं का हिन्दुत्व में सात्मीकरण और समन्वय हुआ औपनिषदिक बौद्धिकता के पुनरुत्थान के द्वारा एकेश्वरवाद के मत का प्रतिपादन करके धर्म और जाति के अंतर को निस्सार बताया गया, ज्ञानमय भक्ति को सर्वोपरि माना गया तथा इस्लाम के प्रति विद्रोह का बीजारोपण हुआ। ये सारी प्रक्रियाएँ एक साथ चली और उनके माध्यम से भक्त सत्ता द्वारा संगठित पथ जिनका आविर्भाव इस काल के सारे भारत में हुआ। ये पथ हिन्दुओं में मजहबों की भाँति स्थापित हुए। प्रत्येक पथ के प्रणेता ने भक्तिमार्गी परम्परा में हिन्दुत्व का निवचन करके, अपने पथ का संगठन किया। पथ निगुनवादी भक्तिमार्गी जाति-पाति विरोधी और सहजानुवाद थे। इनके प्रणेताओं ने भक्तिपूजा का खण्डन किया, सदास का निरर्थक माना, गृहस्थ साधु के आश्रम को प्रतिपादित किया और भगवत् भजन को मोक्ष प्राप्ति का

पूर्व इस्लामी भारत में हैं और इस्लामी ऐतिहासिक वातावरण ने इसे एक नई अभिव्यक्ति दी जिसमें आगम, निगम और इस्लामी वैचारिक प्रभावों का समन्वय हुआ है। इस समन्वय से हिंदुत्व का उन्विकास पुनरुत्थान और रूपांतरण हुआ है तथा उसमें विभेद भी आए हैं। इस्लामी सम्पर्क से उत्पन्न हिंदू संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कुछ प्रयोगों का वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया है।

पाँच-परम्परा के बीच से संस्कृतिकरण की पुनरुत्थानवादी प्रक्रिया के रूप में, हिंदू राष्ट्रवादिता का विकास भी इमोजान में हुआ है। महाराष्ट्र धर्म और गिवाजी के प्रणेता गुरु रामदास पाँच परम्परा के हो सत से यद्यपि उन्होंने किसी पाँच विभेद का स्थापना नहीं की। सम्भवतः, महाराष्ट्र धर्म का रूप में, उनकी पाँच की धारणा धर्म राष्ट्र राज्य में वर्णन गई थी। धर्मराज्य के स्थान पर धर्म राष्ट्र की धारणा का विकास हिंदुत्व में एक महत्वपूर्ण विकास है जिसका प्रतिष्ठापापन हिंदू तथा मुस्लिम अभिजात वर्गों के धार्मिक राजनैतिक सघन में हुआ है और भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से इसे प्रोत्साहन मिला है। इस्लाम धर्म राष्ट्र राज्य का प्रतिष्ठापोषक रहा है और इसी की प्रतिप्रिया के कस्त्वरूप सम्भवतः यह विकास हुआ गया। एक ओर, औरंगजेब के साथ मुगल साम्राज्य का अपन वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचना और, दूसरी ओर, पाँच परम्परा का पारलौकिकता को छाटकर, हिंदुपुनरुत्थानवादी राष्ट्रवादिता में बदलना एक ऐसा विकास है जिसे हिंदू मुस्लिम कट्टरता का प्रतिफल ही कहकर नहीं टाला जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण कृषि व्यवस्था पर पड़ना हुआ दबाव, उत्पादन का निम्न स्तर, विदेशी व्यापार पर बढ़ता हुआ विदेशी अधिकार और विदेशी व्यापार के माध्यम से बढ़ता हुआ पूँजीवादी प्रभाव सम्भवतः उस सामाजिक जाति के कारण हैं जो पाँच परम्परा के माध्यम से तत्कालीन सामंती सम्राटवादी व्यवस्था में प्रस्फुटित हुई थी, किंतु जिने, यहां की सामाजिक संरचना में, हिंदू मुस्लिम सघन का तथा हिंदू राष्ट्रवादिता बनाम इस्लामी राष्ट्रवादिता का रूप मिला। ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजी राज का मगडन बड़ा यह प्रक्रिया और भी प्रखर होती गई और उसके परिणाम स्वरूप, एक ओर, हिंदूवादिता बढ़ी और दूसरी ओर, इस्लाम की अरबीवादिता। हिंदू राष्ट्रवादिता, मुस्लिम राष्ट्रवादिता और समन्वयकारी धर्म निरपेक्षिता हिंदू मुस्लिम सम्पर्क से उत्पन्न संस्कृतिकरण के तीन समानांतर विकास हैं, जिनका यहां वर्णन किया गया है।

प्रत्येक पक्ष के प्रणेता ने एक विशिष्ट आध्यात्मिक विचारधारा का प्रतिपादन किया है जिसके आधार पर उसके अनुयाइयों ने धर्म सामाजिक-आध्यात्मिक जीवन को संगठित किया। प्रत्येक पक्ष इस दृष्टिकोण से वस्तुतः एक विशिष्ट सामाजिक आध्यात्मिक संधि है।

इन पक्षों का प्रसार और प्रभाव निम्नवर्णी जातियों और उन गणजातीय समूहों में हुआ है जो आदिवासी स्तर से उठकर हिन्दुत्व के सीमांत क्षेत्र में आ गए थे। बुद्धवाद के द्वारा आदिवासी समूहों का जो ब्रह्म हिन्दूकरण हुआ था उसी ने इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन दिया क्योंकि भक्ति-आन्दोलन ने इसका लिए एक नया अवसर प्रदान किया और एक नई प्रेरणा दी। इस विषय में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस आन्दोलन का धार्मिक वैधता ब्राह्मणों ने प्रदान की क्योंकि भक्ति-आन्दोलन के दार्शनिक प्रणाली ब्राह्मण ही थे यद्यपि बाद में यह आन्दोलन गर-ब्राह्मणों के हाथ में रहा। आगम के साथ निगम का सम्मेलन का धार्मिक वैधता ब्राह्मणों से ही मिलती रही है। अपनी कल्पाचारी सामाजिक प्रतिष्ठा को व्यापक सामाजिक वैधता प्रदान करने के लिए और उसके आधार पर नासक वग की नजरों में अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए ही सम्भवतः ब्राह्मण इन मुधारवादी आन्दोलनों और समयानुसार हिन्दुत्व के नवनिर्वाचन की ओर प्रेरित रहे हैं। कुछ भी हो इस प्रक्रिया ने हिन्दुत्व के उद्विकासी नरतय का बनाए रखा है, जिसका वर्णन इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में किया गया है। वग संरचना के दृष्टिकोण से यदि इस प्रक्रिया पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि भक्ति का सामाजिक आन्दोलन निम्न तथा मध्यवर्गीय जनता का आन्दोलन था। इस स्तर की जनता, एक छोटे इस्लामी साम्राज्य के भार से दबी थी ता दूसरी ओर हिन्दू तथा मुस्लिम अनिजात वग के बोझ से। ऐसी दशा में, भक्ति आन्दोलन पारस्परिकता तथा प्रगति का संदेश लेकर एक नई आशा के रूप में अवतरित हुआ। इस दृष्टिकोण से, मध्यकालीन पक्ष परम्परा का सामाजिक ऐतिहासिक अध्ययन अभी भी होता है।

इन पक्षों के अलग अलग वर्णनात्मक अध्ययन ता मिलते हैं किन्तु इनके तुलनात्मक अध्ययनों की कमी है। स्वर्गीय पीताम्बरदत्त बड़ध्वार ने इन पक्षों का एक अध्ययन प्रस्तुत किया है¹। किन्तु यह अध्ययन साहित्यिक है और निगुण पक्षों की दार्शनिक पृष्ठभूमि के तुलनात्मक विश्लेषण तक ही सीमित है। मध्यकालीन पक्ष परम्परा निगुण भी है और सगुण भी यद्यपि इसमें निगुण परम्परा का प्राधान्य है। हा, बड़ध्वार के अध्ययन से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि पक्ष परम्परा की जड़ें

1 देखिए पीताम्बरदत्त बड़ध्वार द्वारा रचित 'निरगुन स्कूल आफ हिन्दी प्वेटरी जिसका हिन्दी अनुवाद 'हिन्दी काव्य में निगुण सम्प्रदाय', के नाम से प्रकाशित हुआ है।

पूर्व इस्लामी भारत में हैं और इस्लामी ऐतिहासिक वातावरण ने इसे एक नई नमि व्यक्ति दी जिसमें आगम, निगम और इस्लामी वैचारिक प्रभाव का समन्वय हुआ है। इस समन्वय से हिंदुत्व का उद्विकास, पुनर्जनन और स्थापना हुआ है तथा उसमें विभेद भी आए हैं। इस्लामी सम्पर्क से उत्पन्न हिंदू संहतिकरण की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कुछ पक्षों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पाँच-परम्परा के बीच से संहतिकरण की पुनर्जननवादी प्रक्रिया के रूप में, हिंदू राष्ट्रवादिता का विकास भी इसीनाल में हुआ है। महाराष्ट्र धर्म और शिवाजी के प्रणेता गुरु रामदास पाँच परम्परा के ही सन्त थे यद्यपि उन्होंने किसी पाँच विधेय की स्थापना नहीं की। सम्भवतः, महाराष्ट्र धर्म के रूप में, उनकी पाँच की धारणा धर्म राष्ट्र राज्य में बदल गई थी। धर्मराज के स्थान पर, धर्म राष्ट्र की धारणा का विकास हिंदुत्व में एक महत्वपूर्ण विकास है जिसका प्रतिष्ठापण हिंदू तथा मुस्लिम अभिजात वर्गों के सामाजिक राजनैतिक सघन में हुआ है और भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से इसे प्रोत्साहन मिला है। इस्लाम धर्म राष्ट्र राज्य का प्रतिष्ठापक रहा है और इसी की प्रतिनिया के पञ्चम्वर्ष सम्भवतः यह विकास हुआ होगा। एक ओर, औद्योगिक कलाय मुगल साम्राज्य का जपन वैभव की पराकाष्ठा पर पहुँचना और, दूसरी ओर, पाँच परम्परा का पारलौकिकता की छाँटकर, हिंदू पुनर्जननवादी राष्ट्रवादिता में बदलना एक ऐसा विकास है जिस हिंदू मुस्लिम कटकरता का प्रतिफल ही कहकर नहीं टाला जा सकता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण ज़मीन व्यवस्था पर पड़ता हुआ दबाव, उत्पादन का निम्न स्तर विदेशी व्यापार पर बढ़ता हुआ विदेशी अधिकार और विदेशी व्यापार के माध्यम में बढ़ता हुआ पंजीवादी प्रभाव सम्भवतः उस सामाजिक जाति के कारण हैं जो पाँच परम्परा के माध्यम से तत्कालीन सामन्ती-मजदूरवादी व्यवस्था में प्रस्फुटित हुई थी, किन्तु जिस, यहाँ की सामाजिक संरचना में, हिंदू मुस्लिम सघन का तथा हिंदू राष्ट्रवादिता बनाम इस्लामी राष्ट्रवादिता का रूप मिला। ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजी राज का सघन बढ़ा यह प्रक्रिया और भी प्रबल होती गई और उसके परिणाम स्वरूप, एक ओर, हिंदूवादिता बढ़ा और, दूसरी ओर, इस्लाम की अरबीवादिता। हिंदू राष्ट्रवादिता, मुस्लिम राष्ट्रवादिता और समन्वयकारी धर्म निरूपिता हिंदू-मुस्लिम सम्पर्क से उत्पन्न संहतिकरण की तीन समानान्तर विकास हैं, जिनका यहाँ वर्णन किया गया है।

पथ परम्परा के कुछ उदाहरण

इस्लाम की उत्प्रेरणा से आगम का उभार और निगम से उसका समन्वय न ता रहस्यवान् म उतना स्पष्ट है और न मानवतावादी धीरे धीरे समाज भक्तिवादी आत्मतन म जितना कि वह गीर्वाण समाज, सत्य सम्प्रदाय राधास्वामी सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धर्म की धारणा म निहित हिंदू राष्ट्रवादिता के अभिव्यक्ति म स्पष्ट है। इनमें यन्त्रि, एक आर, जनवादी परम्परा का उभारन का प्रयास है ता दूसरी आर, दम्पत्य स लिये सत्वा की जनवादी परम्परा का साथ मिलाकर, उनका निगमसम्मत निवचन करके, हिंदुत्व क पुन संस्थापन का प्रयास है। गीर्वाण समाज, जब भक्तिधारा का सामाजिक गम्भीरण है। इसकी स्थापना बालाचरि बग के राजा विजयन (11०0-117) के मंत्री वासन न की थी। वीरगवा की प्रधानता देवगान बीजापुर पारवार जिला तथा मैसूर जीर बालापुर गाँवों में है। वासन क समकालीन अरुण प्रभु इस सम्प्रदाय क सत्य बड़े सत थे और वे ही वास्तव में इस सम्प्रदाय क प्रणेता थे। कन्नड भाषा म वीरगव साहित्य का परम्परा ग्यारहवीं सदी तक पक्षचली है। जब हान के नाते इस सम्प्रदाय क लग परनिष्ठ का ईश्वर मानत हैं और अल्लम प्रभु की उनका अवतार। कन्नड भाषा म अल्लम का अर्थ अल्ला का अनुचर नहीं है। उसका अर्थ है लिगायत भक्त। वीरगव लिगायत सम्प्रदाय क है और लघुलिग की भूति अपन साथ यनोपवीत की भाँति रखते हैं। ये लग मंदिरों म भी पूजा करते हैं। इनका अंतिम उद्देश्य है परनिष्ठ क साथ आत्म मिलन। इस मिलन के लिये लीला लेन बाल का पुनर्जन्म नहीं हाता है। वीरगव-सम्प्रदाय क अनुमार, पुनर्जन्म उ ही का होना है जो भावी है अर्थात् जो भाव अथवा सत्ता म फल हूये है। दिनकर के अनुसार वीरगव सम्प्रदाय शक्ति विनिष्ट जड़ सत्वा की सम्प्रदाय है¹। डा० ताराचंद के अनुसार, वीरगव अपन गवा का ग्राहक हैं। श्राद्ध म उनका विवाह नहीं है। वीरगव भक्त सत्यामी तथा युद्धप्रिय होत हैं। इनमें बाल विवाह का विषय है और सत्य तथा विधवा विवाह जायज है। इनमें जाति का महत्व नहीं है क्योंकि इनके यहाँ अत्यंत भी नीति हाकर ब्राह्मण के समान हा जाता है। इनमें यन्त्र, उपवास और तीर्थयात्रा का महत्व नहीं है। वीरगव म मंदिरों और आमिष का निषेध है। वीरगव समाज इस्लाम का अनुकरणमात्र नहीं है। वीरगव एक उग्र गव सम्प्रदाय है जिसमें सत्य और गृहस्थ धर्म की परम्परा का समन्वय किया गया है।

सिक्ख पंथ के प्रणेता थे नानक जिन्होंने जमा कि 'रहटनामा' से स्पष्ट है, सात्मा धम (गुद्ध धम) की, इस्लाम और हिंदुत्व से अलग स्थापना की। सिक्ख पंथ कबीर की तरह वह एक और, हिंदुत्व से असंतुष्ट थे और दूसरी ओर, इस्लाम से। जिस प्रकार, धार्मिक सत्ता के पदा के समग्र से बगवत पद्धति का निहार हुआ और नाथनार सत्ता के पदा से शैव पद्धति का, वैसे ही, नानक ने पन्थ के समग्र से सिक्ख सम्प्रदाय की नींव पड़ी। यह समग्र सिक्ख सम्प्रदाय के पाचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन मोल्हत्ती चार ईसवी में ग्रंथ साहिब के नाम से करवाया¹। गुरु नानक वेदान्त की निराकारी परम्परा के मानने वाले थे। नानक का सूफी सत्ता से सम्पर्क था। अल फरीद और गुरु नानक की गाढी मंत्री के भी प्रमाण मिलते हैं। गुरु नानक बगदाद गये थे और वहाँ उनकी यादगार म जो मन्दिर बनाया गया था, वह आज भी उनके मर्मदवनी चला की सरभता में है²। विद्वानों का ऐसा मत है कि उन पर सूफीवाद का विरोधतया इराना तसब्बुफ का प्रभाव है। कि तु इतना हान पर भी उन्होंने जिस पंथ की स्थापना की वह निराकार-यादी है और उसमें ईश्वर की कल्पना इस्लाम की ईश्वर की कल्पना से भिन्न है। गुरु नानक का ईश्वर निराकार पुरुष है, परमात्मा है और विद्वानों के कण कण में व्याप्त है। सृष्टि ईश्वर का प्रतीक है वह ब्रह्ममय है। वह ब्रह्मा विष्णु, महेश, विदेव का मानते हैं। कम, पुनजम, निवाण और माया में उनका विश्वास है। बराबर साधना में उनकी आस्था थी जिस पौराणिक प्रभाव रहा जा सकता है और सूफी प्रभाव भी। नानक गुरु गिण्य परम्परा के मानने वाले थे। अतः, वह सिक्ख पंथ के भादि गुरु हुये हैं³। यह नानक के द्वारा चलाई हुई परम्परा का परिणाम है कि

- 1 यह समग्र गुरुमुखी लिपि में किया गया था और तभी से गुरुमुखी और सिक्ख सम्प्रदाय का गठबन्धन हो गया। वैसे नानक और अय गुरुओं ने अधिकतर हिन्दी के ही शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये सिक्ख धम ग्रंथ में लिखा हुआ दोहा देखिये

राम कथा जग जग अटल, जो कोई गावे नेत ।

स्वगवास रघुवर कियो सपनी पुरी समेत ।

- 2 सैन, क्षितिमोहन दि मेडिकल मिस्टिजिन्म आफ इण्डिया (दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 319)
- 3 सिक्ख पंथ में कुल मिलाकर दस गुरु हुए हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं — नानक, अंगद अमरदास, रामदास, अर्जुनदेव, हरनामिन्द, हरराय, हरकृष्णराय तेगबहादुर और गोविन्दसिंह। प्रत्येक गुरु अपने जीवनकाल में ही अपने गिण्य को चुनकर मनोनीत करता था। किन्तु, गोविन्दसिंह को जब सोते समय

सामरिकता का हिंदूत्व रूप है। सिवय पथ हिंदू मस्मृतिकरण की प्रक्रिया का एक वह रूप है जिसमें सात्मीकरण, पुनरनयन, प्रतिनिया और सधप एक साथ समा गये।

चनीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो चुकी थी, भारत पर योरोपीय प्रोधागिकी तथा पूजीवा राधास्वामी पथ का संघात दबतर होता जा रहा था, बंगाल में ब्रह्मसमाज का दालन के रूप में आधुनिक भारत का प्रस्तुत हो रहा था, एक अभिनव मार्ग की तलाश में स्वामी दयानंद अपने गुरु विरजान के पास निगम परम्पराओं का नव निवचन सींग रहे थे इसाईयत का हिंदुत्व पर आक्रमण हो रहा था और शिक्षित वर्ग में यारोपवादिता बढ़ रही थी, उस समय, आगरे में, राधास्वामी सम्प्रदाय के रूप में मध्यकालीन भारत की निगुण पथ परम्परा का अन्वुत्थान, पथ परम्परा का विकास की एक चरम परिणति है। राधास्वामी पथ का नाम भी पथ का संगठन हुआ है किन्तु उनमें पथ परम्परा का उन्विनास का वह रूप नहीं है जो राधास्वामी सम्प्रदाय में है। जिस सामाजिक आध्यात्मिक दशन का लेकर पथ के प्रणेता चले थे उसका गहनतम रहस्यवादी विनाम राधा स्वामी सम्प्रदाय में हुआ। बबीर की आनुभूतिक सरलता यहाँ जटिल हो गई है। राधास्वामी सम्प्रदाय पथ-परम्परा में विकसित सम्प्रदायों में दो रूपों में भिन्न है— एक, मध्ययुगीन आध्यात्मिक दशन की पण्टभूमि में यह सम्प्रदाय आधुनिकता की ओर उ मुख हुआ है और, दूसरा राधास्वामी सम्प्रदाय का अधिकतम प्रभाव मध्यवर्गी जनता पर हुआ है—वह जनता जो मध्यवर्गी है और जिसने अंग्रेजी राज्यकाल में, सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन का आगे बढ़ाया है। अंग्रेजी राज का माध्यम से पूजीवादी प्रभाव ने यहाँ एक ओर मध्यवर्ग का सामाजिक निगार दिया तो दूसरी ओर, मध्यवर्ग के लिये सामाजिक आर्थिक विपन्नता की स्थिति भी उत्पन्न की। राधास्वामी सम्प्रदाय भी उतना ही परलोकवादी है जितना कि अन्य निगुण पथ। किन्तु यहाँ परलोकवादिता का अर्थ सत्तार-त्याग और विनाम की अवहलना नहीं है। जहाँगीर के समय से ही आगरे में इसाईयत का प्रभाव पड़ने लगा था। समाजों (ब्रह्मसमाज, आमसमाज इत्यादि) की परम्परा इसाईयत तथा योरोपवादिता से हिंदुत्व की रक्षा करने के प्रयास में विकसित हुई जिसके प्रणेता मध्यवर्ग से आये हैं। इसी परिस्थिति में, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यवर्गी जनता में मध्ययुगीन पथ परम्परा के पुनरनयन के रूप में आया। राधास्वामी सम्प्रदाय का गहरा में ही केन्द्रित रहता इस तथ्य की ओर भी पुष्टि करता है। अन्य पथों के धर्मगुरु अधिकतर अशिक्षित वर्ग से आये हैं जबकि इस पथ के गुरु शिक्षित वर्ग से।

राधास्वामी सम्प्रदाय के आदि प्रवक्तृ हुजूर राधास्वामी दयालु उर्फ स्वामीजी महाराज, जिनका जन्म का नाम शिवदयालसिंह था, आगरे के एक सत्री परिवार

मं सन अठारह सौ अठारह मं जम ये । श्री शिवयोगीश्वर लखमण पात्रह साल तक 'धुरत शब्द योग' की साधना करते रहे और सन् अठारह सौ साठ, विनमी सम्मत उन्नीस सौ सत्रह मं, वसंत पंचमी के दिन उन्होंने एक सावजनिक सभा मं भाषण करके अपने सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया । सन अठारह सौ अठारह मं, श्री शिवयोगीश्वर की मृत्यु के बाद से, उस सम्प्रदाय की उत्तरी भारत मं प्रत्यक्ष अलग गढ़िया स्थापित होती रहा । सन अठारह सौ अठारह मं, जब इस सम्प्रदाय के दूसरे गुरु राम गालिग्राम बहादुर की मृत्यु हुई, तब इस सम्प्रदाय की यास, तरनतारन और दिल्ली मं तीन अलग-अलग गढ़िया स्थापित हो चुकी थी । सन उन्नीस सौ सात मं, जागरे मं ही दयालबाग की एक अलग गढ़ी स्थापित हुई । उसी साल बगाल के पटना जिले मं ठाकुर अनुबुलचंद्र चनवर्ती ने एक अलग गढ़ी की स्थापना की और सन उन्नीस सौ तेरह मं भीयाजी पंडित यामेगचंद्र मिश्र तिवारी ने बनारस मं एक अलग राधास्वामी सम्प्रदाय की गढ़ी की स्थापना की । उस समय इस सम्प्रदाय की, अमली गढ़ी के सिवा, सात अलग अलग गढ़िया हैं ।¹

राधास्वामी सम्प्रदाय एक सामाजिक आध्यात्मिक सध है, जिसका विकास मध्यकालीन भारत की निगुण भक्ति परम्परा की विचारधारा की पृष्ठभूमि मं हुआ है । राधास्वामी सम्प्रदाय का एक आधार मध्यकालीन भारत के सामाजिक सुधार आंदोलन की विचार प्रनिया है, और दूसरा वह आध्यात्मिक दान प्रणाली, जिसका प्रणयन इस सम्प्रदाय कं प्रणेता श्री निवदयालसिंह ने किया है । जनाकि सभी निगुण सम्प्रदाया मे पाया गया है राधास्वामी सम्प्रदाय मं भी जाति पाति के सामाजिक बंधना का निस्तार बनाया गया है और तीर्थाटन, व्रत मंदिर मूर्ति पूजा और जप का निषेध किया गया है । राधास्वामी सम्प्रदाय के सायाजिक सगठन का मूलाधार गुरु परम्परा है । आध्यात्मिक ज्ञान गुरु कं द्वारा ही प्राप्त होता है² । इसीलिय

1 गौड़, रामदास हिंदुत्व

बडम्बाल, पीताम्बर दत्त हिंदी काव्य में निगुण सम्प्रदाय पृष्ठ ३०३

- 2 राधास्वामी मत के प्रणेता निवदयाल का कहना है कि 'निघ्य' को चाहिये कि गुरु के घरणों का दबावे, उसे पला करे, उसका आटा पोसे, पानी भरे, नाबदान साफ करे, चौके के लिये मिटटी लाये, उसे दातून करावे, हाथ धुलावे, उसके पैगाब के पात्र को धोवे, नहलावे, शरीर पोंछे, धोती पहनावे, धोती-अगोछा साफ करे, घाल झाड़ दे, कपड़े पिहा दे, ललाट पर टीका कर दे, रसाई बनाकर परस दे, हुक्का भर दे, सेज लगा दे, पीकदान लेकर उसे पीक करावे, उसका किया हुआ पीक स्वयं पी जाय, ससेप में, उसे चाहिये कि अपने गुरु की सेवा सभी प्रकार से करे । अपने गुरु कं लिये नीच मे नीच काम भी बिना विलम्ब करे और उसकी आज्ञा का पालन करे । तन, धन और धन से गुरु की सेवा, निघ्य का परम कर्तव्य है—बडम्बाल वही पृष्ठ ३१०

इसमें सत्सग पर जोर दिया गया है। सत्सग ने प्रकार का माना गया है—एक, बाप और दूसरा अत्तमुखी। बाप सत्सग में गुरु के साथ सत्सग और निगुण का नाम सक्तीतन पर जोर दिया गया है और अत्तमुखी सत्सग में अभ्यास (योगाभ्यास) तथा ध्यान द्वारा परमात्मा में समाधिस्थ होने पर।

निगुण पण्डितों ने निगुण परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप में की है और उसी के प्रति भक्ति की प्रेरणा दी है। निगुण पण्डित सृष्टि ज्ञान की परम्परा के आधार पर विकसित हुए हैं। सृष्टि ज्ञान की परम्परा दान से पर अनुभव और साधना द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने की परम्परा है। अनुभव के द्वारा ब्रह्म ध्येय पुरुष तक पहुँचने के विचार ने भक्ति ध्यान और नाम मन्त्रोत्तन की परम्परामा को जन्म दिया और साधना के विचार ने यागिक विचारों तथा अभ्यासों का। सृष्टि ज्ञान की परम्परा पर आधारित राधास्वामी सम्प्रदाय एक जोर गूढ़ भक्ति मार्ग है और, दूसरी ओर एक प्रकार का सुधारवादी पथ जिसमें मध्यकालीन भारत की समाज सुधार परम्परा का साध-साध, प्राचीन यागमत का सुधार तथा सरलीकरण हुआ है। परमात्मा (पुरुष) की भक्ति और उसमें लय हान की शालसा राधास्वामी मत का आध्यात्मिक दान का निचाड़ है।

बडध्वाल के अनुसार, निगुण पण्डितों में पहला परमात्मा की कल्पना पुरुष के रूप में की गई और उग निरञ्जन की धारणा प्रदान की गई। किन्तु कालांतर में, परमात्मा को निरञ्जन से ऊपर समझा जाने लगा और परमात्मा को काल पुरुष की सजा दी गई। शिवनारायणी सम्प्रदाय (जिसका प्रभाव पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले के पास पाया अधिका है) के प्रणेता शिवनारायण के अनुसार 'गढ़' में निरञ्जन का जन्म हुआ जिसने ब्रह्मांड और जीवा की रचना की और उह माह की फास से बाधा¹। राधास्वामी सम्प्रदाय में भी 'निरञ्जन' का सृष्टि का कर्ता माना गया है लेकिन स्वयं निरञ्जन ही सृष्टि का कारण नहीं है। यहाँ सर्वोत्तम सत्ता राधास्वामी दयानु की है जिनकी मौज का कारण और माया के मत्स्य से सृष्टि का निर्माण 'निरञ्जन' करता है। बडध्वाल के मत में, निगुण सम्प्रदायों में परमात्मा को परे से परे ले जाकर रखने की प्रवृत्ति रही है। राधास्वामी सम्प्रदाय के प्रणेता शिवदयाल ने परमात्मा को 'राधास्वामी' के नाम से अभिहित किया किन्तु उनके अनुयायियों ने उस काफ़ी ऊपर पहुँचा दिया और उसके नीचे अनेक पुरुषों की कल्पना की। निरञ्जन और राधास्वामी के बीच अमल ब्रह्म परब्रह्म सोहग (मोहम), पुरुष सत्य पुरुष, अलस पुरुष और अगम पुरुष (अनामी पुरुष) है। निरञ्जन इस लोक का सृष्टिकर्ता और मात्तिक है तथा उसके ऊपर के अथ पुरुष अमल अलग

1 बडध्वाल वही पृष्ठ 102

2 वही पृष्ठ 143

अन्य लोका के मालिक हैं। राधास्वामी का लोक परमधाम है और राधास्वामी सबका मानिक है। शिवदयाल ने एक स्थान पर राधास्वामी दयाल स कहलाया भी है कि 'अगम, अलख और सत्य पुरुष मरा ही पूण रूप है। यह विचारधारा परमतत्व की कल्पना का प्रयास है जो निगुण परमात्मा की एक विशेषता रही है और जिसका राधास्वामी सम्प्रदाय में चरम विकास हुआ है।

राधास्वामी सम्प्रदाय में, 'राधास्वामी' शब्द निगुण परमात्मा का प्रतीक है और परमात्मा के नामस्मरण का माध्यम है। इस मत में नामस्मरण की जावन में प्राणा के समान महत्ता है। अधिकतर निगुनियों ने स्मरण के लिये 'राम' शब्द को पसन्द किया किन्तु शिवदयाल ने राधास्वामी शब्द का प्रसंग किया। राधास्वामिनी के अनुसार, राधास्वामी शब्द कबीर से ग्रहण किया गया है। इसका प्रमाण में कबीर की वह साखी^१ उद्धृत की जाती है जिसका अर्थ यह किया जाता है कि 'सद्गुरु ने अगम से आती हुई धारा का प्रत्यक्ष कर दिया उस उलटकर स्वामी के साथ मिला था और उसी का सुमिरन करा। जसाकि राधास्वामिनी का मत है, 'धारा' को उलट देने से राधा शब्द बना उसको स्वामी के साथ जोड़ देने से 'राधास्वामी' शब्द बना जिसका सुमिरन की प्रेरणा कबीर की साखी में की गई है।

राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दशन परम्परा में, जिसमें सहज योग का भी पट है राधास्वामी शब्द और उससे सम्बन्धित धारणा का और भी महत्व है। इस सम्प्रदाय के प्रख्यात शिवदयाल के मत में शब्द ही सबका आदि और अन्त है। जहाँ परमात्मा सगुण नहीं निगुण है, वहाँ शब्द से ही परमात्मा का आभास होता है और इसाकारण सभी निगुण पण्डितों ने शब्द की महिमा पर जोर दिया है। राधास्वामी सम्प्रदाय में 'राधास्वामी' शब्द ही परमात्मा और उसके विभिन्न रूपों का प्रतीक है। राधास्वामी का निवास 'अगमपुरुष' से भी ऊपर है। अतः, राधास्वामी कुल का मालिक था है किन्तु वहाँ शब्द निहायत गुप्त है। इसी आदि शब्द से सत्य-पुरुष तथा 'साहम' के शब्द प्रगट हुए। इसीमें नन्दोक्त सन्धि के आधार परब्रह्म शब्द की उत्पत्ति हुई। उसी से उत्पन्न होने वाला चौथा शब्द ब्रह्म शब्द है जिसमें सूक्ष्म ब्रह्मांड और ईश्वरी माया प्रगट हुई। उसी आदि ब्रह्म शब्द से नमो माया, विराट पुरुष जीव और मन के शब्द प्रगट हुये। इसप्रकार, राधास्वामी विचारधारा में आदिसत्ता अगम से भी पर है और शब्द ही उसका प्रतीक है। आत्मिता और आदि शब्द 'राधास्वामी' है। सन्धि की रचना में प्रवाह स्थूल से सूक्ष्म का और हुआ है। इसी धारा को उलटकर जब साधक स्वामी तक पहुँच जाता है तब वह राधास्वामी का प्राप्त होता है।

१ कबीर धारा अगम की, सतगुरु दी लखाय।

उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी सग सगाय ॥

रामदास गौड़¹ ने राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचार धारा का जो निबन्धन प्रस्तुत किया है, उसमें राधास्वामी-शास्त्र का एक और अथ स्पष्ट होता है। राधास्वामी सम्प्रदाय में, 'राधास्वामी' परमात्मा का प्रतीक है और 'गुरु' राधास्वामी का प्रतीक। जीवात्मा के लिये राधास्वामी साहित्य में 'गुरु' का प्रयोग हुआ है। गुरु (जीवात्मा) और राधास्वामी (परमात्मा) मूलतः एक ही हैं किन्तु विस्तार अथवा महत्ता में नहीं। 'गुरु' प्रत्यक्ष है किन्तु 'राधास्वामी' प्रेम का भण्डार है। 'राधास्वामी' (परमात्मा) गुरु (जीवात्मा) का अपना ही विद्युत् बन कर 'बालपुत्र' (यम) का सोप दत्ता है ताकि राधास्वामी दयालु की दयानुता का उस पता चल जाय। प्रत्यक्ष हान के कारण गुरु (जीवात्मा), प्रत्यक्ष दयानुता के भण्डार राधास्वामी गिनवा प्रतीक बनस गुरु के की धार उभूत है। 'गुरु' को 'शब्द' की आर प्रवृत्त करने में साधक का कल्याण है। रामदास गौड़ के अनुसार, आदि 'गुरु' कुल का कर्ता और स्वामी है और आदि गुरु का जीव का नाम राधा है। इसी का नाम गुरु और 'गुरु' है और जब इनकी धारा नीचे आई तब इसी आदि 'गुरु' में और शब्द, तथा आदि गुरु से और 'गुरु' और 'गुरु' में 'गुरु' तथा 'गुरु' से 'गुरु' बराबर प्रगट होते आय और अपनी अपनी जगह पर स्थिर हुए। इस दृष्टिकोण से राधास्वामी उस अवस्था का प्रतीक है जिसमें राधा (आदि गुरु) और स्वामी (परमात्मा, आदि शब्द) एक में मिल जाते हैं।

'राधास्वामी' 'गुरु' का कुछ भी प्रतीकात्मक अर्थ किया जाय, यह निर्विवाद है कि राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक दार्शनिक विचारधारा में एक और गुरु-शास्त्र योग का पुट है और दूसरी ओर, विनिष्ठाद्वय का। वह योग जिसके द्वारा गुरु एक गुरु का संयोग सिद्ध होता है और उनके सीमाय 'गुरु' में फिर लीन हो जाती है 'गुरु' योग अथवा गुरु शब्द योग कहलाता है और वह शब्द सब प्रथम भगवत् नाम के रूप में मुह से निकलता है और अंत में स्वयं शब्द रूप ग्रहण हो जाता है। इसे सहजयोग भी कहा जाता है क्योंकि इसका सहायता से भी प्रत्यभिज्ञान का उत्पन्न होता है। राधास्वामिना की साधना में हठयोगिया की सी आध्यात्मिक आरोहण की अवधि पाई जाती है। राधास्वामी साहित्य में शून्य और महाशून्य शब्दों के प्रयोग आये हैं। बडधवाल के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग उन स्थानों के लिये किया गया है जहाँ किसी का निवास-स्थान नहीं है और जिनसे प्रत्येक साधक का अपनी यात्रा में अग्रसर होना पड़ता है। ये विचार, जैसी कि सम्भावना है एकात्मिक धर्म और बौद्ध धर्म से आये हैं।

1 गौड़, रामदास हिंदुत्व पृष्ठ 717

2 बडधवाल वही पृष्ठ 229

राधास्वामी सम्प्रदाय का दार्शनिक आधार विणिष्टाद्वयी है^१। इस दशन में, जगत के उपादान में परमात्मा (राधास्वामी) को अलग रक्खा गया है और 'राधास्वामी', 'मुरत' और मृष्टि की मूल आधार 'माया', तीनों को अनादि माना गया है। राधास्वामी की मौल्य स उत्पन्न तथा काल के बनीभूत होकर, 'मुरत' (जीवात्मा) राधास्वामी से भिन्न होता है और राधास्वामी की दमालुता का भान होने ही, 'मुरत' परमात्मा के मानिष्य में पहुँच जाता है। शिवदयाल इस बात को मानने हैं कि जीवात्मा का अन्नन परमात्मा में निवास है लेकिन वह यह नहीं मानने कि जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म है। उनके अनुसार, जीवात्मा भी परमात्मा है अवश्य किन्तु पूर्ण नहीं। जीवात्मा भगी है और परमात्मा अन्न, वस ही जैसे बूद और समुद्र। शिवदयाल के अनुसार, बूद (आत्मा मुरत), समुद्र (परमात्मा, राधास्वामी) में समाकर एक नहीं हो जाती। सागर में जलराशि का वह परिमाण, जो भाप होकर कभी नहीं उठता, राधास्वामी है और जो बूद प्रतिफल उसमें उठती तथा उसमें मिलती रहती है, वह 'मुरत' है। मुरत रूपी बूदें दम्बन में तो अवश्य सागर की जल राशि (राधास्वामी) से मिल जाती हैं किन्तु वे रहती वहा ही हैं चाहे हम उन्हें देख पावें या न देख पावें। मुक्त मुरत (जीवात्मा) की अलग सत्ता विन्कुल नष्ट नहीं होती। शिवदयाल के अनुसार, मुरत भी अनादि है और इसीकारण भुवन मुरत राधास्वामी के साथ साधुज्य सुख भोग करते हैं और अनन्तकाल तक उनकी गरण में विश्राम पाते हैं^२। इसीप्रकार, राधास्वामी विचार में माया भी अनादि है। राधास्वामी लाक से लेकर अनन्त लाक तक माया का निवास नहीं है। माया के दो रूप हैं—एक 'गुड' अथवा सूक्ष्म और दूसरा, प्रबल अथवा स्थूल। माया के 'गुड' रूप की मालिक की शक्ति उस इतना सूक्ष्म तथा 'गुड' बना देती है कि वह भी सत्य लाक में निवास करती है वन् प्रलय^३ की पहुँच नहीं है। सत्य लाक से नमन नीचे आने-आते, निम्नजन् लाक में पहुँच कर माया अत्यन्त स्थूल हो जाता है और नीचे के लाकों में उसका स्थूलता बढ़ती जाती है। नीचे के लाक क्रमशः ऊपर के लाकों के धरे में हैं वमकि बिना सूक्ष्म चेतन-भाव के माया भी नहीं रह सकती^४।

१ जीव और परमात्मा की अलग-अलग सत्ता का प्रतिपादन और मोक्ष को साधुज्य में भान करके सानिष्य की अवस्था मानना विणिष्टाद्वयी दशन का मूलआधार है। विणिष्टाद्वयी के आधार हिन्दुत्व में है किन्तु उसका उदभव इस्लामी उत्प्रेरणा में है।

२ ब्रह्माल, पोनाम्बरदत्त वही पृष्ठ १२३

३ राधास्वामी सम्प्रदाय के विचार में प्रलय स्थूल का सूक्ष्म में प्रविष्ट होना है।

४ वही पृष्ठ १४९

राधास्वामियों का आध्यात्मिक उद्देश्य है परमपद का प्राप्ति । वहाँ केवल सत्यनाम है, वहाँ विचार का बाढ़ काम नहीं । शिवदयाल के अनुसार तिन लोग न विचार किया उन्होंने घावा खाया और सागर को छोड़कर बूढ़ म गया गये^१ । यहाँ विचार और तक नहीं करने प्रपत्तिमयी आस्था की आवश्यकता है जिसकी ली को निरन्तर प्रखलित रखने के लिये सत्यनाम के निरन्तर स्मरण की आवश्यकता है । यहाँ स्मरण जब नहीं करने मुरत द्वारा राधास्वामी की आर प्रवक्तृ होने का निरन्तर ध्यान है जिसके लिए मुरत शब्द-योग सर्वमुल्लभ सत्य नाम है । यही म राधास्वामियों में कीर्तन की महत्ता का अभ्युत्थ होता है । निगुण एवं चरवाणी हान के कारण, राधास्वामी सम्प्रदाय अवतार विरोधी है और जसाकि सभी निगुण सम्प्रदायवादियों ने माना है, शिवदयाल भी मनुष्य को परमात्मा मानने के पक्ष में नहीं है । बड़ध्याल के अनुसार, राधास्वामी सम्प्रदाय मध्यममार्गी सम्प्रदाय है । यहाँ जगत का अस्तित्व केवल सापक्षिक दृष्टि से है और यह सापक्षिक अस्तित्व तब नष्ट हो जाता है, जब अन्तिम सत्य का आभास हो जाता है । सभी निगुण सम्प्रदायों की भाँति, राधास्वामी सम्प्रदाय की आध्यात्मिक आध्यात्मिक विचारधारा में मसार में ऊपर उठने की भावना की अभिव्यक्ति मिलती है और सामाजिक एवम् एव वगैरह जातिगत समानता का विचार पाया जाता है । कबीर की भाँति शिवदयाल भी सत्यास तथा मसार त्याग के विरोधी हैं । जसाकि बड़ध्याल ने लिखा है शिवदयाल आधुनिक साधुओं की उनके परिवार, उद्योग धंधादि त्याग करने तथा ब्रह्म घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करने के कारण भ्रष्टता बिया करने थे । शिवदयाल के अनुसार श्रम के साथ नीचता का कोई सम्बन्ध नहीं और उद्योग में कोई दाप नहीं यदि उम कोई करना जान जाय । उस श्रम में उत्साह भरा रहता है जो ईश्वर के लिए किया जाता है^२ । वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिक नियमों के प्रतिपादन तथा उनके आधार पर सघ मगठन की प्रवृत्ति राधास्वामी सम्प्रदाय में ही नहीं बरन् सभी निगुण सम्प्रदायों में पाई जाती है जिसके प्रेरणास्त्रोत सम्भवतः बुद्धवाद तथा वस्तुतः म है ।

१ बड़ध्याल वही पृष्ठ १५४

२ वही पृष्ठ २९७

३

महाराष्ट्र धर्म

महाराष्ट्र धर्म के प्रणता थे गुरु रामदास और उसका व्यावहारिक रूप देने वाले थे शिवाजी जिन्होंने शास्त्रों की भाषनाओं के अनुसार, हिंदुवा पृथ्वी स्वराज्य स्थापित करने का प्रयास किया। महाराष्ट्र में गुरु रामदास और शिवाजी का अमृत्यु उस सामाजिक सामूहिक प्रतिया की परिणति है जो भारत में मुसलमानों के राजनतिक उत्थान और प्रसार के साथ साथ चलती रही। भारत में ज्यों ज्यों मुसलमानों का राजनतिक प्रसार हुआ त्यों त्यों मुसलमानों का विरोध और हिंदुत्व के पुनरुत्थन का प्रयास करते हुए हिंदुत्व के प्रतिष्ठापायक पून और वणिग की ओर मितट गए। पञ्चराज चौहान की हार के बाद देवगिरि के बादलों की वगाल के मन राजाओं ने इस्लाम के प्रसार का रास्ता का प्रयास किया। उसका बाद विजयनगर के गया (1346-1440) ने इस्लाम के प्रसार का रोकत हुए हिंदू राज्य के पुनरुद्धार का प्रयास किया। माना की और स देवगिरि के बादलों और पिता की ओर स विजयनगर के हिंदू शासकों की परम्पराओं शिवाजी में सन्निहित होगई थी। ज्यों ज्यों इस्लामी कट्टरता बढ़ी त्यों त्यों हिंदुत्व के भी भाषामय मस्करण प्रादुर्भूत होने लगे। पञ्जाब में सिक्खधर्म का अमृत्यु हुआ जिसमें इस्लामी कट्टरता के प्रति प्रतिक्रिया थी। इसी प्रतिक्रिया ने, आगे चलकर, पञ्जाब में जाय ममाज का जन प्रियता दी। बंगाल में अकित-आदोलन अकित की उपासना में लीन हो गया, जिसकी पृष्ठभूमि ने आगे चलकर वणिग में बदलाव में

" का रूप लिया तथा रामकृष्ण परमहंस और रवीन्द्र ने मानवतावादी हिंदू पुनरुत्थन का। ज्यों ज्यों भारत में इस्लाम का प्रसार बढ़ा मुसलमानों की राजनतिक प्रभुता और कट्टरता बढ़ी, भारत में विरोधतया हिंदुओं में भीता के संदेश 'ममबामि युगे युगे' और 'अमृत्युत्थान अधमम्य तदारमान सजाय्यह' में विश्वास बढ़ा। तुलसीदास ने इस विश्वास की काव्य प्रबन्ध के रूप में व्यक्त किया। रामायण से यह आस्था बनी कि जब जब धर्म का ह्रास होता है, धर्म की मस्थापना के लिए अवतार आता है और अवतार के द्वारा निगमागम सम्मत हिंदू धर्म की पुन स्थापना होती है। राम तथा कृष्ण की अकित से ओत प्राप्त इस काल की कविता युगावतार के माध्यम से उद्धार पाने की जन प्राप्ता का प्रतिबिम्ब है। निगुण भक्ति धारा की कविता में ईश्वर की कृपा से कष्ट से पाण पाने का विश्वास है। इस्लाम से लोहा लेने वाले राजाओं में, इस काल की हिंदू जनता ने देवत्व और युगावतार का आभास देता। विजयनगर राज्य के मस्थापक युवका प्रथम का धनन एक उस दिव्य पुरुष के रूप में किया गया है जिसमें मसार का 'मच्छा' में उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतरित हुआ है। विजयनगर राज्य का तत्कालीन जनकाव्य युगावतार की कल्पनाओं और अभिव्यक्तियों से ओतप्रोत है। गुरु रामदास ने भी युगावतार की कल्पना की और

उसे शिवाजी ने मर्यादित किया¹। घतनोत्तवा युगावतार के द्वारा धर्म (हिंदू धर्म) की विजय होती है, हिंदू जनता इस विद्वान्त से चिपटी रही।

चाणक्य तथा मौर्यों के समय से चली आने वाली धर्म विजय की यह भावना जिससे हिंदुत्व सराबोर है और जो हिंदुत्व में निहित समाज तथा मस्तिष्क को अपने में समेटे हुए है इस्लाम के विरुद्ध उठने वाली प्रतिक्रिया के कारण, शिवाजी के माध्यम से, महाराष्ट्र में हिंदू राष्ट्रवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुई। जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया ने सिख सम्प्रदाय का जन्म दिया उसी ने महाराष्ट्र धर्म को भी जन्म दिया। सिक्ख धर्म के प्रणेता थे गुरु नानक और महाराष्ट्र धर्म के प्रणेता थे गुरु रामदास। सिक्ख धर्म के त्रियात्मक रूप से गुरु गोविन्दसिंह और महाराष्ट्रधर्म के छत्रपति शिवाजी। दोनों हिंदुत्व की प्रेरक 'अवर्ति' की धारणा से प्रेरित थे। सिक्ख सम्प्रदाय का आधार था हिंदुत्व में इस्लाम का सम्मेलन और लोहे से लाला काटने तथा विष से विष दूर करने का प्रयत्न। किंतु महाराष्ट्र धर्म हिंदुत्व के सनातन पराक्रमी और दिग्विजयी रूप का एक विकास था। शिवाजी इस्लाम की बटोरना के विरुद्ध उठने वाली किसी प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हैं। शिवाजी का उद्देश्य था 'धर्म राज्य तथा हिंदवी स्वराज्य की स्थापना—वह धर्म तथा स्वराज्य जो वनों स्मृतियाँ और नीति शास्त्रों में प्रतिपादित है जिससे ब्राह्मण वर्गों तथा गुरु की रक्षा हो जो पराक्रम और दिग्विजय की भावना पर आधारित है, जिसके लिए चंद्रगुप्त तथा स्वर्दगुप्त ने प्रयत्न किया तथा जो सनातन हिंदुत्व का आत्मा है। शिवाजी उस परम्परागत सनातन धर्म के पुनर्संस्थापक थे जो बाह्य प्रभावों से पराजित नहीं होता है बरन उह आत्मसात करता है या उनके समान अपने 'बड़े बला बने बला' के रूप को लेकर समयानुकूल पुन अवतरित होता है।

मुगल कालीन भारत की परिस्थितियों में शिवाजी हिंदुत्व के सनातन विकास का एक माध्यम थे। इस्लाम के प्रवेश के समय में हिंदुत्व के प्रथम विकास का जो प्रतिपादन प्रारम्भ हुई थी वह शकर रामानुज और तुलसी में होती हुई गुरु रामदास में केन्द्रित होकर शिवाजी के कार्यों में प्रस्फुटित हुई। शिवाजी ने जो लक्ष्य लड़ी उनका उद्देश्य था धर्म विजय। वे इस्लाम और मुसलमानों के वही तक विरोधी थे जहाँ तक वे धर्म विजय और धर्म राज्य की स्थापना में बाधक थे। शिवाजी की धर्म विजय वही धर्म विजय है जिसका वर्णन नातिशास्त्रों में है। शिवाजी मानवतावादी तथा हिंदूराष्ट्रवादी थे। उनकी भाषा मनुस्मृति और नीतिशास्त्र की भाषा थी। वे हिंदूकरण के हामी थे पर साम्प्रदायिक नहीं थे जाति तथा वर्णाश्रम धर्मों के प्रतिष्ठा पायक थे समदर्शी की भावना से प्रेरित थे तथा सामाजिक चलिधनुता (Social Mobility) के हामी थे। शिवाजी ने गोबध का विरोध किया, राज-यवहारकोश—

जिसमें प्रजासत्ता में काम आने वाले फारसी के शब्दों का संस्कृत पर्याय है—का संग्रह करवाया पुराने काल के संस्कृत नाम रक्ख^१ मराठी में फारसी के प्रभाव का दूर करने का प्रयत्न किया, प्राचीन हिंदू-परम्पराओं का प्रोत्साहित किया और वन व्यवस्था के सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक चरित्रगुणों का प्रोत्साहित किया। महात्मा बुद्ध ने जिस परम्परा का चलाया था, वह शिवाजी के समय में भी चलेती रही। सना के माध्यम में अनेक निम्नस्तर की जानियाँ को उच्चतर सामाजिक स्तर प्राप्त हो गया। राज्याभिषेक के समय स्वयं शिवाजी का क्षत्रिय घोषित किया गया यद्यपि वह क्षत्रिय नहीं थे।

जिस सामाजिक पृष्ठभूमि में शिवाजी जन्म थे उसके प्रणेता थे गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अग्रणी कवि जिन्होंने जनभाषा में धर्मोपनिषद् के लिए जन आवाहन किया। उन्होंने जनता का मन इस विश्वास से भर दिया कि तत्कालीन समाज धर्म में दूर था उस धर्मोपनिषद् बनाने के लिए युगावतार होने वाला था और बाद में शिवाजी ने तत्कालीन युगावतार का प्रतिरूपण किया। इस दिशा में गुरु रामदास अग्रणी है। उन्हें शिवाजी का प्रेरक माना जाता है। गुरु रामदास ने, एक ओर, दास बाघ (1608-1681) की रचना की तो दूसरी ओर अपनी रचनाओं में आनन्द-वन-भुवन की कल्पना के द्वारा एक नयी जाति-समाज की धारणा रक्खी। आनन्द-वन-भुवन रामदास का एक स्वप्नित संसार है, जहाँ जनता श्लेच्छ दल से पीड़ित है। इस संसार का सहार करने के लिए सुरा का ज्वनार होता है। श्लेच्छ दल के मर्त्य हो जाने पर, आनन्द-वन-भुवन में पापियों और नास्तिकों का भी नाश हो जाता है और स्नान संध्या, जप-तप स्वयं प्रेम और आनन्द की गौरवमयी प्रथाएँ स्थापित होती हैं। आनन्द-वन-भुवन हिंदुत्व के पुनर्निर्माण के आवाहन में रचा गया एक ऐसा रूप है जिसके द्वारा शिवाजी के कृत्यों के लिए एक सामाजिक मानसिक पृष्ठभूमि तैयार की गई थी। आनन्द-वन-भुवन भविष्यतः पुराण का तत्कालीन संस्करण है और शिवाजी की युगावतार मनबान का एक प्रवास।

गुरु रामदास ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि श्लेच्छ राज्य की प्रचलता के कारण द्विजकुल का पीडा हो रही है^२। अतः, उनका अंत होना चाहिए। अधम के प्रतीक श्लेच्छ राज्य के विनाश और धर्म के उत्थान पर उन्होंने जोर दिया है। उनके अनुसार, शिवाजी अधम का विनाश तथा धर्म का उत्थान करने के लिए उत्पन्न एक अवतार है^३। गुरु रामदास और महाराष्ट्र के अग्रणी गणना ने तत्कालीन

१ सरदार, विनयकुमार वही पृष्ठ 508-509

२ श्लेच्छ राज्य हूँ तो प्रचल, पीडा पावेतो द्विजकुल।

३ यह गुरु रामदास का ही प्रभाव था कि शिवाजी को बार-बार अवतार कहा गया है। कबीर प्रेमचंद ने अपने 'शिव भारत' नामक महाकाव्य में शिवजी

समाज को बलियुग कहा है और औरगजेव के राज्य को पाप तथा अधम का प्रतीक माना है। सम्भवतः, यही कारण है कि अपनी भाषाभिव्यक्तियों में गुरु रामदास ने औरगजेव को 'औरग्यापापी' कहकर सम्बाधित किया है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि उनका विद्वेष औरगजेव, उसका राज्य और उसका द्वारा चलाए हुए जरबी फारसीकृत इस्लाम के प्रति है न कि इस्लाम का आधारभूत सिद्धांत का प्रति। गांधी, धर्म, व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था का परित्याग को उद्घाटन बलियुगी प्रभाव माना और उनके पुनः स्थापन की आवश्यकता को और लगावा का ध्यान आवेपित किया। गुरु रामदास ने एक आर, हिंदू राज्य का शत्रुओं का नष्ट करने का आवाह्न किया ता, दूसरी ओर हिंदू संस्कृति को दिव्यीय पर जोर दिया। किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में, इन दो उद्देश्यों का पूर्ति का अर्थ था हिंदू राज्य का प्रसार क्योंकि उस काल की विचारधारा में, धर्म संस्कृति और राज्य एक ही में समाप्त हुए थे। जानद वन भुवन और सुरेगावतार की कथा इसी उद्देश्य की पूर्ति की काव्यात्मक तथा प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी। शिवाजी ने सुरेगावतार की धारणा का प्रतिरोपण का भी इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास है। गुरु रामदास ने जिस पुनर्जागरण का गुरु फूला उसका एक रूप है जानद वन भुवन में और दूसरा गुरु रामदास के दूसरे शिष्य 'दास बोध' में जिसमें भक्ति राजयोग समागुण दुख मृत्यु, ब्रह्म, माया, आत्मा अनात्मा और युगधर्म का वर्णन है। दास बोध वस्तुतः ज्ञान भक्ति व्रतयोग का उपदेश है। यदि जानद वन भुवन भविष्यतः पुराण का एक संस्करण है तो दास बोध भीता का एक मराठी संस्करण। ऐसा कहा जाता है कि दास बोध उस उग्र हिंदू राष्ट्रवादिता का दर्शन है जिसका उपदेश गुरु रामदास ने दिया है और शिवाजी के कृत्य जिसके व्यवहारिक रूप हैं। गुरु रामदास और शिवाजी ने हिंदुत्व को पुनः शास्त्रावन पुनः संगठन की ओर मोड़ा।

को विष्णुपुत्र कहकर, उनका देव, ब्राह्मण तथा गोरक्षक और यमना का अंत करने वाले (देवद्विजमवामगेप्ता, बुरदा यवना तक) का रूप में उनका वर्णन किया है। शिवाजी को क्षत्रिय वर्ण में लाने वाले और उनका रीत्याभिवेक कराने वाले गंगा भट्ट के अनुसार, शिवाजी यवनाधिपति औरगजेव से नरत सिप्रो का उपार करने वाले, एक नए अवतार हैं (औरगजेव यवनाधिपतिभीता विप्रतारण्य य परिग्रहीत नवावतार)। उन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार कहा और यह प्रतिपादित किया कि जिस प्रकार विष्णु ने कूर्मावतार में वेदों की रक्षा की थी उसी प्रकार शिवाजी के रूप में विष्णु ने ब्राह्मणों और घेदों की रक्षा की। यह निश्चित है कि ये मत शिवाजी को छत्रछाया में पलने वाले विद्वानों के हैं। पर, साथ ही साथ, यह भी निश्चित है कि इनके द्वारा रचित साहित्य तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है—विनयकुमार सरकार का आधार पर।

गुरु रामदास का आह्वान था, 'मराठा ! संगठित हो और महाराष्ट्र धर्म का प्रसार करा !' महाराष्ट्र धर्म की 'याम्या' अनेक प्रकार से की गई है। एक ओर, महाराष्ट्र धर्म से अथ लगाया जाता है मराठी भाषा भाषी प्रदेश के धर्म से और, दूसरी ओर उसका अर्थ लिखा जाता है मराठी भाषा भाषी प्रदेश में गुरु रामदास और ठाकुर द्वारा प्रसारित तथा पुनर्जागरित हिंदू धर्म से। किंतु, महाराष्ट्र धर्म का अर्थ मराठी भाषा भाषी प्रदेश के धर्म से ही नहीं है और न गुरु रामदास ने इस रूप में उसकी कल्पना ही की है। उसमें उग्र राष्ट्रवादिता अवश्य थी किंतु वह धर्म एक महाराष्ट्र (सारित्वाली राष्ट्र) के लिए था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदुत्व का केन्द्र, उत्तर में मुस्लिम राज्य के प्रसार के साथ साथ, दक्षिण की ओर बढ़ता गया था और इस कारण दक्षिण से ही हिंदुत्व के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पुनर्जागरण की प्रतियाय उत्पन्न हुई। गुरु रामदास और शिवाजी ने इन प्रतियायों का एक साथ 'सारित्वाली प्रस्फुटन' हुआ। इस सभ में, महाराष्ट्र धर्म की एक क्षेत्र विभाज (मराठी भाषा भाषी प्रांत) का था उस क्षेत्र में रहने वाली मराठा जातियों का धर्म कहना अनुपयुक्त है। विनयकुमार सरकार द्वारा उद्धृत सार्वसाई के मतानुसार महाराष्ट्र धर्म के चार स्तम्भ हैं—स्व साम्नाचार, दशाचार (स्थानीय प्रथाएं) कुलाचार और जात्याचार। इस प्रकार महाराष्ट्र धर्म का मुख्य आधार है दश शास्त्र सम्मत तथा कुल जाति और देश द्वारा निर्धारित धाचार। इसी आधार पर विनयकुमार सरकार ने महाराष्ट्र धर्म का हिंदुत्व और राष्ट्र धर्म का योग कहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र धर्म हिंदुत्व पर आधारित राष्ट्रवादिता है। यह राष्ट्रवादिता तत्कालीन परिस्थितियों में पुनर्जागरण और हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का एक राजनैतिक जन आन्दोलन बन गया। यह ठाकुर उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अखीरत इस्लाम का पुनर्स्थापन और गजेब के हाथों राजनैतिक आन्दोलन बन गया। इस राष्ट्रवादिता का प्रभाव है कि मराठी न, एक ओर, हिंदू राज्य का प्रसार किया हिंदुत्व के शास्त्रात्मक अंगों की पुनर्स्थापना की ओर दूसरी ओर ईसाई धर्म से प्रेरित विदेशी जातियों से लड़ा लिया। इस राष्ट्रवादिता की लहर अंग्रेजी राज्य में भी उद्देष्टित होती रही और आज भी हो रही है। यह इसी विकास प्रक्रिया का परिणाम है कि मराठी भाषा भाषी प्रदेश में लोकमान्य तिलक के हाथों गीता का पुनर्निबन्धन हुआ और स्वतंत्रता को जम्मिद्ध अधिकार घोषित किया गया। महाराष्ट्र में ही सब प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हिंदू राष्ट्रवादिता के पुनर्जागरण के पुट से एक जन आन्दोलन बना और यही राष्ट्रीय स्वयंसेवक सभ का जन्म हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के बाद

अठारहवीं शताब्दी में हिन्दुत्व का उग्र राष्ट्रवादी विकास हो रहा था, मुस्लिम साम्राज्य के पतन लक्ष्य रहे थे और भारत में यारानीय राजनितिक सत्ता का धीरे धीरे प्रसार हो रहा था। एक ओर हिन्दुत्व में इस्लाम के प्रति प्रतिस्पर्धा की भावना हो रही थी और हिन्दुत्व में इस्लाम के कुछ मूल्यवर्णन उत्पन्न हो रहे थे, दूसरी ओर कुछ हिन्दुत्व के पुनर्स्थापन पर जोर दिया जा रहा था। उसी प्रकार, इस्लाम में, एक ओर, अरबीपन की विचारधारा बल रही थी और दूसरी ओर, हिन्दुत्व के समीप जाकर उसमें मिलन की विचारधारा। भारत की सामाजिक संरचना के उच्च स्तर पर इस्लाम और हिन्दुत्व सम्बन्ध (Vertical) विभाजित थे किन्तु निम्न स्तर पर बनी इस्लाम में हिन्दुत्व के सम्बन्ध विद्यमान थे तो वही हिन्दुत्व में इस्लाम के संस्करण। तत्कालीन परिस्थितियों में धर्म, समाज, सभ्यता और राज्य एक में मिल गए थे और इसी कारण हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क मुख्यतया राजनितिक सम्पर्क था। तत्कालीन राजनितिक परम्परा सामन्तवादी थी जिसमें हिन्दुत्व और इस्लाम, राजनितिक प्रभुता के लिए लड़ने वाले सामन्तों के लिए अलग-अलग सामाजिक टुकड़ों की जिनकी आदतें हिन्दू मुसलमान सामन्त एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। यह अवश्य है कि कुछ पूर्वनिर्धारित नियमों पर आधारित होने के कारण इस्लाम में कट्टरवादिता अपनावृत्त अवश्य थी। फ्रांसीसी दार्शनिक रेनान का कहना है कि इस्लाम में सुधार का स्थान नहीं है क्योंकि सुधार हुआ इस्लाम वस्तुतः इस्लाम नहीं रह जाता है। वह कुछ और हो जाता है। अठारहवीं शताब्दी के हिन्दुत्व में पायी जाने वाली कट्टरवादिता इस्लाम की इसी कट्टरवादी विरासत के प्रति प्रतिनिधिता है।

अठारहवीं शताब्दी में, भारत और उसके बाहर यारानीय शक्तियों का अभ्युदय हुआ। अठारहवीं शताब्दी के योरोप का राजनितिक प्रसार वहाँ विकसित होने वाली पूँजीवादी तथा औद्योगिक व्यवस्था पर आधारित है। विज्ञान के विकास ने योरोप में धर्मनिरपेक्षता का जन्म दिया और पूँजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवाद को। पूर्वी द्वीप समूह से लेकर योरोप तक मुसलमानों का प्रभुत्व छाया हुआ था। योरोप और अफ्रीका के बीच मुसलमान ही सामुद्रिक व्यापार का मुख्य माध्यम थे। योरोप के औद्योगिक अभ्युदय के साथ साथ, योरोप की राज्य शक्तियों और मुस्लिम राज्यों का संघर्ष बढ़ा। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार है बाजार। योरोप निवासियों ने मुसलमानों को हटाकर सत्ता के बाजार पर अधिकार करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। भारत में पुर्तगाल का सेनानायक अल्बुकर्क मुसलमानों के हाथ से मराठों का व्यापार छीनने के लिए ही ज्यादा उत्सुक था और इसी कारण मुसलमान ही उसके कोप के शिकार

हुए¹। अंग्रेजों ने भी भारत में मुसलमानों के हाथ में राजनैतिक प्रभुत्व छीनने के लिए हिंदुधर्म में गतिविधि की। उधर मध्य एशिया में टर्की साम्राज्य का योरोप के राज्या में मध्य चलाता हुआ हुआ। उत्तरी अफ्रीका भारत और पूर्वी द्वीप समूह में योरोपीय गतिविधि ने धीरे धीरे ममनमाना के राजनैतिक प्रभुत्व का समाप्त कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद टर्की का राजनैतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया और मध्य एशिया का गायब हो गई था। जो योरोप की किसी न किसी राजनैतिक गतिविधि का प्रभाव में न आया था। उधर, जिज्ञान के युक्त हुए प्रभाव ने मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित अरबीकृत इस्लाम में परिवर्तन का मार्ग की जिसके प्रति इस्लाम में परम्परावाद प्रतिनिधित्व हुई। जब टर्की के मुस्तफा कमालपाशा ने विनाशपूर्ण समाप्त कर दी और योरोपीय जावन-यावन के तराका का उपनाम पर जोर दिया तो यह प्रतिनिधित्व और न बनी। भारत में लन्दन टर्की तक का मुस्लिम पदार्थ अटारहवी गता दी में लेकर जान तक इस प्रतिनिधित्व का गिकार रहा है। एक बार अरबीकृत इस्लाम का उपा का रती बनाए रखने की मांग रही है और दूसरी ओर समयानुसार उभय परिवर्तन करने की मांग। इस परिस्थिति में सन सन् १९०५ में समाज के लगभग अरब में (नज्द में) बहाबी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन अरबीकृत इस्लाम के पुनर्स्थापन का आन्दोलन था। यह आन्दोलन बन्तुत पुनर्गठनवादी था क्योंकि इस आन्दोलन के प्रणेताओं ने इस्लाम की अरब परम्पराओं का पुनर्स्थापन पर जोर दिया, सुन्नी परम्परा में कुरान का अर्थ ग्यार का प्रयोग किया, सगात का बहिष्कार किया, राम माना, चाँनी और हीर के प्रयोग पर रोक लगायी और सूफ़ीयन का निषेध किया। बहाबी इनने उग्र थे कि उग्रान मन्मद साहब की कन्न ताँ डाली क्योंकि लोगों में कन्न की पूजा की भावना आ गयी थी जब क जरी कागज का सूट लिया और हज के लिए जान वाले यात्रियों का राशन के लिए उन्हें भी नूट दिया। जब नज्द के शासक, सऊदी साम्राज्य के मरहूम माहम्मद ने बहाबी पंथ में दीक्षा ला ता बहाबी आन्दोलन एक राजनैतिक आन्दोलन बन गया। मरहूम माहम्मद का खलीफा बनाकर सार मुस्लिम सत्तार पर पुन खिलाफत के पुनर्स्थापन का प्रयोग किया गया। उस समय खिलाफत का आहदा टर्की के सुल्तान के पास था। अब उसने बहाबियों का विरोध किया जिसका परिणाम यह हुआ कि बहाबी आन्दोलन धीरे धीरे उग्र अरबी चारी हो गया। नयी उग्रता का परिणामस्वरूप सार मुस्लिम सत्तार में बहाबी आन्दोलन की लहरें प्रवाहित हुयीं। बहाबी आन्दोलन के कारण, इस्लाम में विहित आत्मविच्छेद और भी प्रचलित हुआ।

भारत में मुसलमानों का राजनैतिक पतन, अंग्रेजी राज्य का प्रसार और बहाबी आन्दोलन का प्रचार एक साथ हुआ। मक्का सत्तार के मुसलमानों का तीर्थ-

सम्पना का विरोधी और पान इस्लामिज्म (Pan Islamism) का हामी था। सर समयद अहमद खाँ ने इस्लाम को यूरोपीयसम्पता के सम्पक म लान का प्रयान किया, यूरोपीय मायताआ से इस्लाम का सामान्य किया और ब्रिटिश भारत का दाखल इस्लाम (इस्लाम का दग) मानने पर जोर दिया। सर समयद के पहले, सरकारी नौकरिया म हिंदुआ का अधिक मायता मिली हुयी थी। किन्तु, जब भारतीय राष्ट्र वांतिता का सम्पदय हुआ और उसके मुख्य प्रणेता हिन्दू हुये, तो सरकारी नौकरिया के गि मुसलमानो को अधिक पसंद किया जाने लगा। सर समयद के प्रभाव म, इस्लामी समाज को, भारत म, एक अलग इकाई बनान का प्रयत्न किया गया—वह इकाई जिमका सम्बन्ध न अरबीवाद से है और न पान इस्लामिज्म से। जैसाकि सर समयद क लख और अमीरअली की पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ इस्लाम' से स्पष्ट है, इस काल म, इस्लाम की सुधुविनपूण (Rationalized) बुद्धिवादी व्याख्यायें की गई जिसम इस्लाम का हिन्दूत्व और इसाइयत स श्रेष्ठ बताया गया। एक बार, उसका पश्चिम की बौद्धिक परम्परा मे विवचन किया गया तो दसरी बार, पश्चिम की मायताओ के अनुसार उसम मुघार की आवश्यकताओ को अस्वीकार किया गया^१। इस्लाम का सुधुविनपूण (Rationalized) और रणाकारी (Defensive) तर्कों स भर दिया गया।

जसा कि पहले लिखा जा चुका है इस्लाम और राष्ट्र प्रारम्भ से ही एक मे ममायें हुए हैं। इस्लामी राष्ट्रीयता धम मे समायी रही है। मुस्लिम बादशाहा क राज्यकाल म ही इस्लाम के प्ररणा खात भारत मे न होकर अरब और ईरान मे थे। शिक्क-सम्प्रदाय और महाराष्ट्र धम के विकास क कारण, इस्लाम 'मलेच्छ' और 'मक्क' धर्मों का प्रतीक बन गया। उधर इस्लाम म हिन्दू 'काफिर और भारत हिंदुस्तान' बना रहा। बहाबियो ने भारत की दाखल हरव कहा था। सर समयद के प्रभाव मे भारत का दाखल इस्लाम ता मान लिया गया किन्तु भारत को मुसलमानो ने राष्ट्र नहीं माना। प्रथम महायुद्ध म, जब यूनान और टर्की म युद्ध हुआ और अग्नेजा ने यूनान का साथ दिया तो, भारत म, मुसलमान अग्नेजा के खिलाफ हो गए। तभी महात्मा गांधी के मतत्व म स्वराज्य और गिलाफन आंदोलन^२ साथ-साथ चले। रूस आंदोलन म मुसलमानो ने भारत के स्वदेशी आंदोलन का साथ तो दिया पर के

- १ अमीरअली ने इस्लाम को प्रजातन्त्रवादी बताया, इस्लाम में स्त्रियों की स्थिति को उच्चतम प्रतिपादित किया और यह विचार रखवा कि इस्लाम में आध्यात्मिक मुष्टिकरण की समता अथ धर्मों की अपेक्षा अधिक है। सर समयद ने इस्लाम में स्वीकृत बहुविवाह का उचित ठहराया।
- २ टर्की में सलीफा को पुन स्थापित करने के आंदोलन का खिलाफत आंदोलन कहते हैं।

खिलाफत आंदोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सयद के समकालीन थे स्वामी दयानंदसरस्वती जिन्होंने आय समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयास किया। जिस प्रकार बहावी-आंदोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आय समाज वेदों की ओर उन्मुख था। बहावी आंदोलन में अरबी बटटरता थी और आय समाज आंदोलन में विपुल वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की बटटरता थी। जिस प्रकार अमीर अली जैसे लखन पश्चिमी विचारधारा के सादर में, इस्लाम का सुशुक्तिपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ ठेका रहे थे उसी प्रकार आय समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सादर में वैदिक हिंदुत्व (जिगम) का सर्वश्रेष्ठ ठेका कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में बहावी-आंदोलन और आय समाज का सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहाँ सधप भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और ब्रह्ममुलर ने जिस भारत का दृष्टि निकाश था और जिसके वंश गुण गा रहे थे, वह पश्चिमी तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामानिर्गमन नहीं था। दूसरी ओर, भारत में पूजावाद का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे सामंतवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामंत वगैराहों का अधिकार हटाने लगा जिससे वह क्षिणित हुआ। भारत में पूजावादी प्रभाव के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की भावना का श्रीगणेश हुआ उसका प्रणेत हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूजावादी सामंतवाद का जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूजावादी वगैराहों ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामंतवादी वगैराहों ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानांतर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारह सौ सत्तावन के आस पास ही बहावी-आंदोलन की प्रखरता फली और उम जहाँ आंदोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारह सौ सत्तावन की क्रांति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की पुनर्गठित स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सयद अहमद खाँ की परम्परा आई तो दूसरी ओर उसी से मिलती जुलती

मोताना शिबली, हाली और इक्बाल की परम्परा । सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत । शिबली सर मयद के विरोधी थे । हाली भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आंदोलन के प्रणेता थे । हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेड़ा साता समुद्र पार कर गया, वह गंगा के दहान में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे ससार में एक है, वह भारत में आकर बल गया' ।^१ इक्बाल का अभ्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ । किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि हान के स्थान पर इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-ममयक हो गये । हाली तरह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर शोध प्रगट किया^२ और उग्र अरबी-वादी इस्लाम के कवि हो गये । जिस इस्लाम को सर सैयद और अमीर अली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उस इक्बाल ने सुशुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया । अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इक्बाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका नाम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने मनक जहा (मसार) है, इश्क की कई परीक्षाएँ (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आस्मान हैं^३ । इक्बाल के मत में, इस्लाम एक प्रचंड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि तू समुद्र को भी तड़प कर बदल जा और समल जा । तरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा । इक्बाल ने इस्लाम को इत्तौकिकता की आर मोटा और उसे दण्ड उरता और कमठता के आवरण से लपेट दिया । एक ओर उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद को अवमण्य बताया । इस्लाम को उन्होंने आग का मे भर दिया क्योंकि उनके अनुसार खतर पक्ष-द तबीयत को सोजगार नहीं, वो गुलिस्ता कि जहा घात में न हो सयाद । इक्बाल के लिए तलवार लोहीद का प्रतीक है । उनके लिए

१ उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पक्तियाँ

वो दीने हुजाजी का बेबाक बेड़ा, निगा जिसका अक्साये आलम में पहुँचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में मिशका ।
किये थे सिर पर जिसने साता समन्दर, वो डूबा दहाने में गया के आकर ।
वो दी जिससे तोहीद फला जहाँ में हुआ जलवापर हक जहाँ-आसमा में,
रहा निक बाकी न वहमो-जमा में, वो बदला गया आके हिंदोस्ता में—मुकद्दस

२ ये मुसलमा हैं, जिन्हें देख के गरमाये यहूद ।

बूते हिंदी की मूहम्वत में बिरहमन भी हुये । (जवाबे शिक्वा)

३ सितारों के आगे जहा और भी है, अभी इश्क के इम्तिहाँ और भी है ।

कनाअत न कर आलमे रंगों बू पर, चमन और भी, आगियाँ और भी है ।

तू गार्ही है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमा और भी है ।

खिलाफत आन्दोलन से जिता प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानंदसरस्वती जिन्होंने आय समाज की स्थापना करके वदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनर्स्थापन का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उभरा था उमा प्रकार आय समाज वेदों की ओर उभरा था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आय समाज आन्दोलन में विरुद्ध वदिक हिंदुत्व के पुनर्स्थापन की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लखन पश्चिमी विचारधारा के सद्भक्त, इस्लाम को सुपुष्किल और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आय समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सद्भक्त, वदिक हिंदुत्व (निगम) का सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनर्स्थापन का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में वहाबी-आन्दोलन और आय समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहाँ नफथ भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनर्जागरण (Rediscovery) हुआ। विलियम जॉन्स और मक्समूलर ने जिस भारत को ढूँढ निकाला था और जिसके व गुण गा रहे थे, वह वदिक तथा उत्तर पश्चिम काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामानिर्णान तक न था। दूसरी ओर, भारत में पूजावादी का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में, पूजावादी प्रभावों के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की भावना का आगर्जन हुआ उसका प्रणेत हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अग्रणी शिक्षा में जागे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-अगुरुता की भावना का उदय हुआ और वह भारत में इस्लाम खतरे में दिखी। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोन्मिता पूजावादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूजावादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसत्तेय राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर, एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानांतर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किन्तु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास की ओर भी प्रोत्साहन मिला। अठारहवीं सत्तावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारहवीं सत्तावन की नाति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खाँ की परम्परा आई तो दूसरी ओर उसी से मिलती जुलती

मोल्ताना गिबली, हाली और इक्वाल की परम्परा । सर सयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत । शिबली सर सयद के विरोधी थे । हाली भारत में इस्लाम के हिद्वकरण से उतना ही विभिन्न थे जितना कि बहावी आन्दोलन के प्रणेता थे । हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का वेडा सातो समुद्र पार कर गया, वह गंगा के दहान में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे ससार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया' । इक्वाल का अम्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ । किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के बहि होन के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समर्थक हो गये । हाजी तइह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर जोर प्रगट किया^१ और उग्र जरबी चादी इस्लाम के बहि हो गये । जिस इस्लाम को सर सयद और अमीर अली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उसे इक्वाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तरीके से भरना प्रारम्भ किया । अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इक्वाल ने इस्लाम को वह शाही (बाज) माना, जिसका काम उठाना (परवाज) है जिसके सामने घने क जहाँ (ससार) हैं, इक्व की कई परीक्षाएँ (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आस-मान नहीं बल्कि कई आस्मा हैं^२ । इक्वाल के मत में, इस्लाम एक प्रचंड लहर है, जिसका सम्बोधित करने के कहते हैं कि तू समुद्र खोकर भी, तडप कर बदल जा और समल जा । तेरी किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा' । इक्वाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उने दप, उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया । एक और, उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद का अवमण्य बताया । इस्लाम को उन्होंने आसका से भर दिया क्योंकि उसके अनुसार खतर पसन्द तबीअत को सौजगार नहीं, वो मुलिस्ता कि जहा घात में न हो सयाद । इक्वाल के लिए तल्बार तीहीद का प्रतीक है । उनके लिए

१ उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पक्तियाँ

वो दीने हेजाजी का बेबाक बेडा, निना जिसका अक्साये आलम में पहुचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में झिझका ।
किये प सिपर जिसने साता सम दर, वो डूबा वहाने में गंगा के आकर ।
वो दी जिससे तीहीद फला जहा में, हुआ जलवागर हक जर्मी-आसमा में,
रहा निक बाकी न यहमो-जमा में, वो बदला गया आके हि-दोस्ता में—मुकद्दस

२ ये मुसल्मा ह, जिन्हें देख के गरमाये यहूद ।

बूते हि दी की मुहबत में बिरहमन भी हुये । (जवाबे शिबवा)

३ सितारों के जाने जहाँ और भी ह, अभी इक्व के इम्तिहा जोर भी ह ।
बनाअत न कर आलमे रगों नूपर, धमन और भी, आगिया और भी ह ।
तू शाही है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमा और भी ह ।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादितों से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आय समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार बहाबी आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आय समाज वेदों की ओर उन्मुख था। बहाबी आन्दोलन में अरबी बटटरता थी और आय समाज आन्दोलन में विगूढ़ वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की बटटरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सम्पर्क में, इस्लाम का सुशुद्ध और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार आय समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सम्पर्क में, वैदिक हिंदुत्व (निगम) का सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पंजाब में बहाबी-आन्दोलन और आय समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहाँ सघन भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनः आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मक्समूलर ने जिस भारत को दृढ़ निकाला था और जिसके बंधन रह गये, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामानिर्गमन नहीं था। दूसरी ओर, भारत में पूँजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का अधिक हानि होने लगा जिसमें वह विक्षिप्त हुआ। भारत में पूँजीवादी प्रभावों के कारण, जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की भावना का श्रीमण्डल हुआ उसके प्रणेत हिंदू के क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन जगत् की शिक्षा में आगे होने के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम क्षतरे में दिखता। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूँजीवादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूँजीवादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानांतर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किन्तु भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारहवीं सत्तावन के आस पास ही बहाबी आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारहवीं सत्तावन की शक्ति हिंदुत्व के पुनरुत्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद ग्रहमद खाँ की परम्परा आई तो, दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मोलाणा शिवली, हाली और इक्बाल का परम्परा । सर संयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत । शिवली सन्मय के विरोधी थे । हाजी भारत में इस्लाम के हिंदुकरण में उतना ही विनिष्ट थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे । हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बड़ा साता समुद्र पारकर गया, वह गया के दहान में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारससार में एक है वह भारत में आकर बदल गया' । इक्बाल का अम्युदय भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ । किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिवली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के प्रति हान के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रवर्तन के समर्थक हो गये । हाली तब उहाने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर दोष प्रगट किया^१ और उग्र अंग्रेजी वादी इस्लाम के बर्क हो गये । जिस इस्लाम का सरसयद और अमीरगली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था, उस इक्बाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तरीके से भरना प्रारम्भ किया । अपना कवित्वमय अभिव्यक्तिमा में इक्बाल ने इस्लाम को वह छाही (बाज) माना, जिसका नाम उदानी (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहा (सतार) हैं इक्ब की कई परीक्षाओं (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आस्मा हैं^२ । इक्बाल के मत में, इस्लाम एक प्रचंड लहर है, जिसको सम्बोधित करके वे कहते हैं कि 'तू समुद्र त्वाकर भी तडप कर बगल जा और सगल जा । तेरा किस्मत में किनारा नहीं है तू जिस तरफ चाह निकल जा' । इक्बाल ने इस्लाम का इस्लामिकता की ओर मोड़ा और उस रूप उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया । एक ओर उहान पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया ता, दूसरी ओर सूफीवाद को अकमथ्य बताया । इस्लाम का उहान आशका से भर दिया क्योंकि उसके अनुसार 'खतर पसन्द तबीअत को खोजगार नहीं, वो मुलिस्ता कि जहा घात में न हो समाद ।' इक्बाल के लिए सत्वार तीही का प्रतीक है । उनके लिए

- १ उदाहरण के लिए देखिये, हाली की ये पंक्तियाँ
 वो बीम हेजाजी का येवाक बेडा निशा जिसका अक्साये आलम में पहुचा
 मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका न अम्मा में ठठका, न कुलजम में सितका ।
 किये ॥ सितर जिसने साता समन्दर, वो डूबा दहाने में गया के आकर ।
 वो बी जिससे तोहीद फला जहा में, हुआ जलवागर हक जमी-आसमा में,
 रहा गिक बाकी न बहुमोजमा में, वो बदला गया आके हिंदोस्ता में—मुकद्दस
- २ ये मुसलमा ह, जिहें देख के गरमाये पृद ।
 बुत हि दी की मुहम्बत में बिरहमन भी हुये । (जवाबे शिक्वा)
- ३ सितारों के आग जहा और भी ह, अभी इक्ब क इम्तिहान और भी ह ।
 कनाअत न कर आलमे रगों बू पर, चमन और भी आगिया और भी ह ।
 तू गार्ही है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमा और भी ह ।

खिलाफन आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादिता से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्दसरस्वती जिन्होंने आय समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनर्स्थापन का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आय समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कटकरता थी और आय समाज आन्दोलन में विगुह वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कटकरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे सेलक पश्चिमी विचारधारा के सादर, इस्लाम का सुशुक्लपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे उसी प्रकार, आय समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सादर थे वैदिक हिंदुत्व (निगम) का। सर्वश्रेष्ठ बता कर उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पञ्जाब में वहाबी-आन्दोलन और आय समाज की सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहाँ सघन भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनर्आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मक्समूलर ने जिस भारत को ढूँढ़ निकाला था और जिसके वंश गुण गा रहे थे, वह वही तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामानिधान तक नहीं था। दूसरी ओर, भारत में पूँजीवाद का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे सामन्तवाणी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्तव्यवस्था का आविर्भाव होने लगा जिससे वह विक्षिप्त हुआ। भारत में, पूँजीवादी प्रभावा के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की माँग का आगमन हुआ उसके प्रणेत हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन अंग्रेजी शिक्षा में जागे हान के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादिता का। दोनों के विकास के पाछे नवीन पूँजीवादी सामन्तव्यवस्था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूँजीवादी वग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादिता का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वग ने इस्लामी राष्ट्रवादिता तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्र का। यही प्रक्रिया, आगे चल कर, एक ओर हिंदी, हिंदू और हिंदुस्तान के नारे में प्रस्फुटित हुई तो, दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नारे में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानांतर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु, भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारहवीं सतावन के आस पास ही वहाबी आन्दोलन की प्रसरता फैली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारहवीं सतावन की शक्ति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की लुप्त गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही एक ओर सर सैयद अहमद खाँ की परम्परा आई तो दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मौलाना गिबली, हाली और इकबाल का परम्परा । सर सैयद के लिए दारुल इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत । गिबली सर सैयद के विरोधी थे । हानो भारत में इस्लाम के हिंदूकरण से उतना ही विनिम्न थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे । हाली के अनुसार, जिस इस्लाम का वेठासातो समुद्र पारकर गया, वह गंगा के दहान में आकर डूब गया और जिस मजहब का रूप सारे मसार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया^१ । इकबाल का अन्तर्मुख भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ । किन्तु बाद में उन्होंने हाली और गिबली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि हान के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-अमयक हो गये । हाली तबू उठाने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर सौभ प्रगट किया^२ और उग्र अरबी यादी इस्लाम के कवि हो गये । जिस इस्लाम का सर सैयद और अमीरअल्ला ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उस इकबाल ने सुयुक्तिपूर्ण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया । अपनी कविस्वमय अभिव्यक्तियाँ में इकबाल ने इस्लाम को वह शाही (काज) माना, जिसका काम उठाना (परवाज) है जिसके सामने प्रत्येक जहाँ (सतार) है इक की कई परीक्षाएँ (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आस्मान हैं^३ । इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचंड लहर है, जिसका सम्भावित करण व बहते हैं कि तू समुद्र खोकर भी तड़प कर बदल जा और समन जा । तेरी निरुत्तम में बिनारा नहीं है तू जिस तरफ चाह निकल जा । इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे दय, उग्रता और कमठता के आवरण से लपेट दिया । एक ओर, उन्होंने परिचित सम्प्रदाय का विरोध किया तो दूसरी ओर, सूफीवाद को अक्षमण्य बताया । इस्लाम को उन्होंने आसमा में भर दिया क्योंकि उसके अनुसार 'सतार पस'द तबीअत को मौजगार नहीं, वो गुलिस्ता कि जहाँ घात में न हा सयाद । इकबाल ने लिए तलवार तोहीद का प्रतीक है । उनका लिए

- १ उदाहरण के लिए देखिये, हाली का ये पंक्तियाँ
 वो दीने हेजाजी का खेवाक बेडा, निशा जिसका अबसाये आलम में पहुचा
 मजाहिम हुआ कोई सतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में सिलका ।
 किये प सियर जिसने साता समन्दर, वो डूबा दहाने में गंगा के आकर ।
 वो भी जिससे तोहीद फला जहाँ में, हुआ जलवागर हक जमों-आसमा में,
 रहा निक बाकी न बहमो जमा में, वो बदला गया जाके हि दोस्ता में—मुकद्दस
- २ ये मुसलमा है, जि हैं देख के शरमाये यहूद ।
 बुते हि दो की मुहब्बत में बिरहमन भी हुय । (जवाबे शिक्वा)
- ३ सितारों के आगे जहाँ और भी है, अभी इक के इम्तिहाँ और भा है ।
 बनाअत न कर आलमे रंगो बू पर, चमन और भी, आगियाँ और भी है ।
 तू गार्ही है, परवाज है काम तेरा, तेरे सामने आसमा और भी है ।

खिलाफत आन्दोलन से जितना प्रभावित थे उतना भारतीय राष्ट्रवादितों से नहीं। सर सैयद के समकालीन थे स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आय समाज की स्थापना करके वैदिक धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया और हिंदुत्व में उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। जिस प्रकार वहाबी-आन्दोलन अरबीवाद की ओर उन्मुख था उसी प्रकार आय समाज वेदों की ओर उन्मुख था। वहाबी आन्दोलन में अरबी कट्टरता थी और आय समाज आन्दोलन में विगूढ़ वैदिक हिंदुत्व के पुनरुत्थान की कट्टरता थी। जिस प्रकार, अमीर अली जैसे लेखक पश्चिमी विचारधारा के सद्भक्त थे, इस्लाम का सुदुष्प्रिय और सर्वश्रेष्ठ बता रहे थे, उसी प्रकार, आय समाज के प्रणेता पश्चिम की विचारधारा के सद्भक्त थे, वैदिक हिंदुत्व (निगम) का सर्वश्रेष्ठ बता कर, उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे थे। पञ्जाब में वहाबी-आन्दोलन और आय समाज को सर्वाधिक जनप्रियता मिली, क्योंकि वहाँ सघन भी सबसे अधिक था। यही वह काल है जब भारत का पुनर्आविष्कार (Rediscovery) हुआ। विलियम जोन्स और मक्समूलर ने जिस भारत को ढूँढ़ निकाला था और जिसके गुण गा रहे थे, वह वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल का हिंदू भारत था। उसमें मुसलमानों का नामानिर्गन्त स्थान था। दूसरी ओर, भारत में पूजावाद का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे सामन्तवादी व्यवस्था ढहने लगी। मुस्लिम सामन्त-वर्ग का आर्थिक ह्रास होने लगा जिससे वह विभ्रष्ट हुआ। भारत में पूजावादी प्रभावों के कारण जिस आधुनिक राष्ट्रीयता और स्वदेशी की भावना का श्रीगणेश हुआ उसका प्रणेता हिंदू थे क्योंकि व्यापार में तथा तत्कालीन जयजी शिक्षा में आगे हान के कारण, उसका अधिकतर लाभ भी हिंदुओं को ही मिलने वाला था। अतः, मुसलमानों में मानसिक-असुरक्षा की भावना का उदय हुआ और उन्हें भारत में इस्लाम खतरे में दिखा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर, भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो, दूसरी ओर इस्लामी राष्ट्रवादितों का। दोनों के विकास के पीछे नवोदित पूजावादी सामन्तवर्ग था जो धर्म के नाम पर विभाजित था। हिंदू पूजावादी वर्ग ने स्वराज्य तथा राष्ट्रवादितों का नारा लगाया तो मुस्लिम सामन्तवादी वर्ग ने इस्लामी राष्ट्रवादितों तथा धर्मसाधक राष्ट्र का। मही प्रतिभा, आगे चल कर, एक ओर हिंदी हिंदू और हिंदुस्तान के नार में प्रसफुटित हुई तो दूसरी ओर, उर्दू, मुस्लिम और पाकिस्तान के नार में।

हिंदुत्व और इस्लाम का अलग-अलग समानान्तर विकास सारे मुस्लिम काल में चलता रहा। किंतु भारत में अंग्रेजी सत्ता के प्रवेश से इस विकास को और भी प्रोत्साहन मिला। अठारहवीं सत्तावन के घास पास ही वहाबी-आन्दोलन की प्रखरता फली और उस आन्दोलन के पीछे राष्ट्रीय भावना कम थी। हिंदुओं के लिए अठारहवीं सत्तावन की नाति हिंदुत्व के पुनर्स्थापन का माध्यम थी और मुसलमानों के लिए इस्लाम की तुल्य गरिमा स्थापित करने का माध्यम। इसके बाद से ही, एक ओर सर सैयद अहमद खाँ की परम्परा आई तो दूसरी ओर, उसी से मिलती जुलती

मोलाणा गिबली, हाली और इकबाल की परम्परा । सर मयद के लिए दाफ् इस्लाम अंग्रेजी राज्य था न कि स्वतन्त्र भारत । शिवली सर समद के विराधी थे । हाली भारत में इस्लाम के हिद्वकरण से उतना ही विक्षिप्त थे जितना कि वहाबी आन्दोलन के प्रणेता थे । हाली के अनुसार, 'जिस इस्लाम का बेडा सातो समुद्र पारकर गया, वह गया क दहान में आकर डूब गया और जिस मजदूब का रूप मारे ममार में एक है, वह भारत में आकर बदल गया।' इकबाल का अम्युत्य भारतीय राष्ट्रवादिता में हुआ । किन्तु बाद में उन्होंने हाली और शिवली की परम्परा पकड़ी और, भारतीय राष्ट्रवादिता के कवि होने के स्थान पर, इस्लामी राष्ट्रवादिता के प्रबल कवि-समपक्ष हो गये । हाली तबूह उन्होंने भी इस्लाम के भारतीयकरण पर क्षोभ प्रगट किया और उग्र अरबी-बाणी इस्लाम के कवि हो गये । जिस इस्लाम को सरसंयद और अनौरधली ने बौद्धिकता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया था उस इकबाल ने सुमुक्तिपूण पर उग्र तर्कों से भरना प्रारम्भ किया । अपनी कवित्वमय अभिव्यक्तियों में इकबाल ने इस्लाम को वह धाही (बाज) माना, जिसका काम उड़ाना (परवाज) है जिसके सामने अनेक जहाँ (सत्तार) हैं, एक की कई परीक्षाएँ (इम्तिहान) हैं और जिसके सामने एक आसमान नहीं बल्कि कई आस्मा हैं^१ । इकबाल के मत में, इस्लाम एक प्रचंड लहर है, जिसको सम्बाधित करने के कहत है कि 'तू समुद्र खोकर भी, तड़प कर बदल जा और समल जा । तेरी किस्मत में विनारा नहीं है तू जिस तरफ चाहे निकल जा । इकबाल ने इस्लाम को इहलौकिकता की ओर मोड़ा और उसे दण्ड उग्रता और कमठता के आवरण से लपट दिया । एक धीरे, उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया तो, दूसरी ओर, सूफीवाद को अवमध्य बताया । इस्लाम का उन्होंने धासका से भर दिया क्योंकि उसके अनुसार खतर पसंद तबीयत का मौजगार नहीं, वो गुलिस्ता कि जहाँ पात में न हो संवाद । इकबाल के लिए तलवार तोहीद का प्रतीक है । उनके लिए

१ उदाहरण के लिए देखिये हाली की ये पक्तियाँ

वो दीने हेजाजो का बँसाक बेडा, निशा जिसका अवसाये आलम में पहुँचा
मजाहिम हुआ कोई खतरा न जिसका, न अम्मा में ठिठका, न कुलजम में सिसका ।
किये मैं सिपर जिसने सातो समन्दर, वो डूबा दहाने में गया के आकर ।
वो दा जिससे तोहीद फला जहाँ में, हुआ जलवागर हक जमी-आसमा में,
रहा कि बाकी न बहमो जमा में, वो बदला गया आके हिदोमतां में—मुकद्दस

२ ये मुसलमान हैं, जिन्हें देख के गरमाये यहूद ।

बुने हि दो की मुहम्बत में बिरहमन भी हुये । (जवाबे गिफवा)

- मितागों के आगे जहाँ और भी ह, अभी इक के इम्तिहान और भी ह ।
कनाअन न कर आलमे रगा बू पर, जमन और भी, आगियाँ और भी ह ।
तू नाहीं है, परवाज है काम तेरा तेरे सामने आममा और भी ह ।

कबूतर पर झपटने में जो मजा है वह घायल कबूतर के चुन में नहीं है और झपटना पलटना और पलट कर झपटना लहू गम रखने का एक बहाना है। इब्राल को समझना इस्लाम में एक आतंकित, आत्रामय भावना को जगाना या और सम्भवतः इसी कारण उन्होंने इस्लाम का सम्बाधित करके लिखा है, कि 'खुदा तुम्हें किसी सूफा से घासना कर दे बयाकि 'तेरे बहर की मौजो में इज्तराय नहीं।

इब्राल ने इस्लाम के प्रति अभी भक्ति की मांग की। उनका आवाहन था 'जो अकल का गुलाम हो वो दिल न कर बमूस। प्रजातन्त्र के वे विरोधी थे^१। इसी कारण विद्वानों का मत है कि इब्राल ने जमन दानिब नीत्स के तानाशाहवाद (फासिज्म) का प्रचार किया है। किन्तु, जब हम उनके मत को उनके कर्म में बहते हुये खुली का बुलन्द करने के विचारों के सन्दर्भ में देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस्लाम में राष्ट्र और धर्म को एकाकार करने के पक्ष में और यह चाहते थे कि इस्लामी समाज की सामूहिक खुदी का विकास हो क्योंकि, उनके अनुसार, 'मुसलमान सबसे विरत होकर ईश्वर में अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य जाति में हमसे आगे और कोई नहीं है। वे भारत के इस्लामी समाज को ही नहीं बरन ससार-यापी इस्लामी समाज को एकाकार देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नहीं है। हमारी शराब की तेजी किसी एक प्याले में मट्ठकूद नहीं है। हमारी सुराही की मिटटी चीनी भी है और हिंदुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्कों की भी है और सीरिया की भी। मगर हमारा दिल न ता हिंदुस्तान में है, न सीरिया और न रुम में। इस्लाम का छोड़कर हम किसी भी पितृदेश में विश्वास नहीं करते^२ जैसाकि उनका मत है 'हिजरत^३ मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन में स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है सकीणता को छोड़ कर विशालता में पहुँचना। दाबनम को छाड़कर समुद्र पर विजय पाना। अतः, इब्राल ने भारतीय मुसलमानों को हिजरत का आवाहन किया जिससे उन्हें भारत से बाहर अलग जाने की प्रेरणा मिली। इस्लाम का भारतीयकरण उन्हें यह धान्द प्रश्रिया संगी जिसके माध्यम से पराजित राष्ट्र विजिता से बाला लेता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय इस्लाम में एवता (Organic Unity) की कमी है क्योंकि इस्लाम जातियों और सम्प्रदायों में बंटा हुआ है। जाति प्रथा में, उनके अनुसार, भारत में इस्लाम हिंदुओं से भी आगे बढ़ा हुआ है और उसका एक ही इलाज है और वह है इस्लाम का भारत से बाहर ले जाना और वहाँ इस्लामी मायताओं के अनुसार

१ जमहूरियत एक तखे हुकूमन है कि जिसमें, वंदा को गिना करते हैं तोला नहीं करते।

२ दिनकर, रामधारीसिंह सत्सृष्टि के चार अध्याय पृष्ठ 621-622

३ हिजरत मुहम्मद का मक्का से भागकर मदीने जाने को हिजरत कहते हैं।

इस्लामी समाज की स्थापना करना । इक्बाल पाकिस्तान बनाने की भावना के मुख्य प्रणेता बन^१ ।

जैसा कि अक्सर इलाहाबादी जाग मल्लिवाणी, जमील मजहरी, सागर निजामी और सीमाव अकरराबाणी की कविताओं में स्पष्ट है, इस काल में इक्बाल के विरुद्ध, इस्लाम का भारतीयता के रंग में रंगन का भी प्रयत्न किया गया । इक्बाल मुसलमानों का ध्यान भ्रमों की ओर ले गये ता जाश न भारत की ही मुसलमानों का भाराध्य बताया और इस बात पर ज़ोर दिया कि अगर धर्म राष्ट्रीयता के माग में बाधक है तो धर्म को छोड़ दो^२ । उन्होंने इस्लाम की मानसना की ओर ल जान का प्रयत्न किया । अथ कविया न भारतीय राष्ट्रवाद से प्रेरणा ली और इस्लाम का राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न किया^३ । बंगाल के कवि श्री नजदल इस्लाम ने भी इस्लाम को राष्ट्रीयता का आर उन्मुख करने का प्रयत्न किया । बामनव में, इस्लाम के नवाचान में इस्लाम के दो रूप विवक्षित हुये—एक इस्लामी राष्ट्र-वादिता का, और दूसरा भारतीय राष्ट्रवादिता का । भारतीय राष्ट्रवादिता का रूप कुछ कमजोर ही रहा क्योंकि इस्लाम की आत्मा वस्तुतः मजहरी राष्ट्रवादिता की आत्मा थी । इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम मजहरी राष्ट्रवादिता की ओर उन्मुख हुआ और उसमें एक प्रकार का द्वन्द्व भी आ गया । ठीक यही दगा हिन्दुत्व की हुई । इस्लाम की भाति हिन्दुत्व में भी राष्ट्र और धर्म स्पष्टतः भिन्न न थे । यदि ऐसा न होता तो शिवाजी का महाराष्ट्र धर्म के लिये मजबूत का आश्रय न लेता पड़ता । राष्ट्रवादिता का असफल रूप क्या हुआ इसका निश्चय हिन्दुत्व भी न कर सका । राष्ट्रवादी मुसलमान या तो कबारा राष्ट्रवादी हुआ या उनमें अपने राष्ट्रवाद

१ गिब, एच० ए० आर० मोहम्मद निजम पृष्ठ १६१

२ सर झूठे फुफ्फो ईमा का मिटा डालूंगा मैं,
हडिडया इस फुफ्फा ईमा की चत्रा डालूंगा मैं।
काल दूंगा तू नी अजभर और प्रमाण में,
काल दूंगा फुफ्फो ईमा का दहकणी आग में ।

३ उदाहरण के लिये देखिये जमील मजहरी का यह गीत
विरादराने नोजवा बढे चला बढे चलो ।
झुके न हिन्द का निगा, बढे चलो बढे चलो ।
जा अकल राह रोक दे तो बामन उमका छोट दी,
ओ मजहब आके टोक दे तो उसकी बंद तोड़ दो ।
जया हो दर से जग लो सलामे भोजे जग ला,
भजर फिरा लो तूर से, चुला रहो ह दूर से
हिमालया की चोटिया, बढे चलो, बढे चलो ।

कबूतर पर भपटने में जा मजा है वह शायद कबूतर के खून में नहीं है और झपटना, पलटना और पलट कर झपटना एक ही मर्म रखने का एक महाना है। इब्राल को समझना इस्लाम में एक आतंकित, आतमात्मक भावना को जगाना था और सम्भवतः इसी कारण उन्होंने इस्लाम का सम्बोधित करने लिखा है, कि 'खुदा तुम्हें किसी तूफान से घासना कर दे क्योंकि तेरे बहर की मौजों में झूट रहा नहीं।

इब्राल ने इस्लाम के प्रति अधी भक्ति की मांग की। उनका आवाहन था 'जो अफल का गुलाम हो वो दिल न कर बयूस। प्रजातन्त्र के वे विरोधी थे^१। इसी कारण विद्वानों का मत है कि इब्राल ने जर्मन दार्शनिक नीत्से के तानाशाहवाद (फासिज्म) का प्रचार किया है। किन्तु जब हम उनके मत को उनके कर्म में बहते हुये खुली की खुल दे करने का विचारों के सम्बन्ध में देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे इस्लाम में राष्ट्र और धर्म को एकाकार करने के पक्ष में और यह चाहते थे कि इस्लामी समाज की सामुहिक खुदी का विचार हो क्योंकि, उनके अनुसार, मुसलमान सबने विरत होकर ईश्वर में अनुरक्त रहता है और एलान करता है कि मनुष्य जाति में हमसे आगे और कोई नहीं है। वे भारत के इस्लामी समाज को ही नहीं धरन सत्कारव्यापी इस्लामी समाज को एकाकार देखना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है हमारा अस्तित्व किसी एक स्थान के घेरे में नहीं है। हमारी धराव की तेजी किसी एक प्याले में महदूद नहीं है। हमारी गुराही की मिटटी चीनी भी है और हि दुस्तानी भी। हमारे शरीर की धूल टर्फी की भी है और सीरिया की भी। मगर हमारा दिल न तो हि दुस्तान में है न सीरिया और न रूम में। इस्लाम को छोड़कर हम किसी भी पितृदेव में विश्वास नहीं करते^२ जसाकि उनका मत है 'हिजरत^३ मुसलमान का ईमान है। हिजरत उसके जीवन में स्थायित्व भरती है। इसका अर्थ है सकीणता का छोड़ कर विशालता में पहुँचना। सबनम को छोड़कर समुद्र पर विजय पाना। अतः, इब्राल ने भारतीय मुसलमानों को हिजरत का आवाहन दिया जिससे उन्हें भारत से बाहर अलग जाने की प्रेरणा मिली। इस्लाम का भारतीयकरण उन्हें बड़े शान्त प्रक्रिया लगी जिसके माध्यम से पराजित राष्ट्र विजितो से बचला लेता है। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारतीय इस्लाम में एकता (Organic Unity) की कमी है क्योंकि इस्लाम जातियों और सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। जाति प्रथा में, उनके अनुसार, भारत में इस्लाम हि दुजों से भी आगे बढ़ा हुआ है और उसका एक ही इलाज है और वह है इस्लाम को भारत से बाहर ले जाना और वहाँ इस्लामी मान्यताओं के अनुसार

१ जमहूरियत एक सच्चे हुक्मरत है कि जिसमें, वन्दो को गिना करते हैं तोला नहीं करते।

■ दिनकर, रामधारीसिंह सस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 621-622

■ हिजरत मुहम्मद का भक्ता से भागकर मदीने जाने की हिजरत कहते हैं।

इस्लामी समाज की स्थापना करना । इक्बाल पाकिस्तान बनाने की भावना के मुख्य प्रणेता बन^१ ।

जसा कि अखबर इलाहाबादी जाग भलिवाणी, जमील मजहरी, सागर निजामी और मोमाव अब्दुराबानी का कथिताना म स्पष्ट है, इस काल में, इक्बाल का विरुद्ध, इस्लाम का भारतीयता का रंग म रंगन का भी प्रयत्न किया गया । इक्बाल मुसलमानों का ध्यान मक्का की ओर ल गय ता जाय न भारत का ही मुसलमानों का आराध्य बनाया और इस बात पर जार दिया कि अगर धर्म राष्ट्रीयता के मांग म बाधक है ता धर्म का छोड़ दो^२ । उन्होंने इस्लाम की मान्यताओं की ओर ल जान का प्रयत्न किया । अथ कवियों ने भारतीय राष्ट्रवाद से प्रेरणा ली और इस्लाम का राष्ट्रवाद की ओर ल गय करने का प्रयत्न किया^३ । अन्त में कवि श्री नजहुल इस्लाम ने भी इस्लाम को राष्ट्रीयता की ओर ल गय करने का प्रयत्न किया । वास्तव में, इस्लाम का नवातथान म इस्लाम के दो रूप विकसित हुये—एक इस्लामी राष्ट्रवादिता का, और दूसरा, भारतीय राष्ट्रवादिता का । भारतीय राष्ट्रवादिता का रूप कुछ कमजोर ही रहा क्याकि इस्लाम की आत्मा वस्तुतः मजहबी राष्ट्रवादिता की आत्मा थी । इसका परिणाम यह हुआ कि इस्लाम मजहबी राष्ट्रवादिता की ओर ल गय हुआ और उसमें एक प्रकार का द्वन्द्व भी आ गया । ठीक यही दशा हिंदुत्व की हुई । इस्लाम की भांति हिंदुत्व में भी राष्ट्र और धर्म स्पष्ट न थे । यदि ऐसा न होता ता शिवाजी का महाराष्ट्र धर्म का लिये सैन्य का आश्रय न लेता पड़ता । राष्ट्रवादिता का असली रूप क्या होगा इसका निणय हिंदुत्व भी न कर सका । राष्ट्रवादी मुसलमान या तो कौरा राष्ट्रवादी हुआ या उनमें अपने राष्ट्रवाद

१ गिब, एच० ए० आर० मोहम्मद निजम पृष्ठ 161

२ तरे झूठे फुफ्फू ईमा का मिटा डालूंगा मैं,
हडिडया इस फुफ्फू ईमा की चला डालूंगा मैं।
डालूंगा तज नी अजमेर और प्रयाग में,
झोंक दूंगा फुफ्फू ईमा को देहली आग में।

३ उदाहरण के लिये देखिये जमील मजहरी का यह गीत
मिरादराने नोजवा बड़े चला, बड़े चलो ।
मुके न हिंद का निगा बड़े चलो, बड़े चलो ।
जो अबल राह राक दे तो दामन उसका छोड़ दो,
जो मजहूज आके टोक दे तो उसकी बंद तोड़ दो ।
जहां हो दर से अग लो सलामे भोजे अग लो,
नजर फिरा लो तूर से, घूला रही है दूर से,
हिमालया की चाटिया, बड़े चलो, बड़े चलो ।

को मानववाद में मिला दिया। राष्ट्रवादी हिंदू राष्ट्रवादी भी हुआ और साथ ही साथ समानांतर या आयसमाजी भी। संशेप यह कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवादिता की जो लहर दोड़ी उमने, एक ओर हिंदुत्व तथा इस्लाम में घातक द्वंद्व उत्पन्न किया तो दूसरी ओर हिंदुत्व और इस्लाम का समानांतर विवसित होने के लिये प्रेरित किया। इसका सबब बड़ा प्रमाण है कविवर रवींद्र जो, इकबाल के विपरीत, नवादित हिंदुत्व के कवि है यद्यपि उनकी चेतना की अभिव्यक्ति पर मानवतावादो विचारों का आवरण बना हुआ है। इकबाल और रवींद्र भारतीय मस्कृति के अद्वितीय श्वर हैं। भारत और पाकिस्तान का अलग अलग होना भी इसी समानान्तर विकास का परिचायक है। विल्सन या दालन वं साथ म्बदेगी आंदोलन का जोड़ना ही इस बात का प्रतीक है कि भारतीय राष्ट्रवादिता का इस्लामी राष्ट्रवादिता से जोड़न का प्रयत्न किया गया था। उन दोनों का समन्वय न हो सका। हिंदुत्व और इस्लाम के समानान्तर विकास को गांधी भी न रोक सके। वे केवल इतना ही कह सके ईश्वर अलग तरह नाम सबका सम्मति दे भगवान्।

भारत में पाकिस्तान का निर्माण भारत में इस्लाम के समानांतर विकास, उसके अरबीपन और उसकी कट्टरता का प्रतीक है। पाकिस्तान के बनने से इस्लाम और राष्ट्र एक में समा गये। किंतु भारत में अब भी दम कराइ मुसलमान हैं जिनके सामने इस्लाम है और पीछे पिछा तरह सौ वर्षों का इस्लामी इतिहास। उनकी धार्मिक सस्कृति उह भारत के चार पार की सस्कृतियों के पास ला बिठाती है और भारतीय राष्ट्रवादिता की भाग उह भारत में ही सीमित करती है। उधर, भारत में जठारही शताब्दी में जा प्रश्न उठ ये उनका अभी तक सतोपजनक उत्तर नहीं मिला है क्योंकि हिंदुत्व भी एक ओर नवोन्नि राष्ट्रवादिता से सम्बंधित है तो दूसरी ओर अपनी एतिहासिकता से। अंतर है तो केवल इतना कि हिंदुत्व में उविकासी समन्वय की प्रक्रिया है जबकि इस्लाम में पुनर्स्थापन की प्रेरणा। आज भारतीय सस्कृति में इस्लाम तथा हिंदुत्व का गैर जा द्वंद्व चल रहा है, क्या कोरा राष्ट्रवाद उसका निराकरण कर सकगा? जीवन दान से परे राष्ट्रवाद निरर्थक है क्योंकि शायद ही कहीं कोरा राष्ट्रवाद सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण का कारक बना हो। योरोप में विवसित होने वाला राष्ट्रवाद पूजीवादी साम्राज्यवाद से उत्पन्न एक शक्ति थी। ऐसी शक्ति भारत में नहीं है और न उसके पुन उत्पन्न होने के लिये अब अवसर ही है। और फिर, आज का भारत उतना प्रबल राष्ट्रवादी हो भी नहीं सकता है जितना कि योरोप के देश थे या रहे हैं। आज मानवतावाद का युग है जो राष्ट्रवाद का स्वतन्त्र निषेध है। सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंदुत्व और इस्लाम का सम्पर्क दो सस्कृतियों के रूप में कम, दो राजनैतिक शक्तियों के रूप में ही अधिक हुआ है और इसी कारण, उनमें परस्पर द्वंद्व और टकराव रहा है। जब तक उन पर राजनीति का दबाव रहेगा, तब तक उनका द्वंद्व बना रहेगा।

भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता

सोलहवा अध्याय भारत और योरोपीय सभ्यता

योरोपीय सभ्यता कुछ पहलू

भारत के सांस्कृतिक उन्विनास म, एक ओर, मुगल और मराठा का उत्थान और पतन भारत भूमि पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालण्ड और पुनगाल इत्यादि योरोपीय देशों के बीच भारत की राजनितिक सत्ता हथियाने के लिये चलने वाला सघष और उसमे ग्रेट ब्रिटेन की विजय, भारत म अंग्रेजी राज की स्थापना भारत का स्वतन्त्र संप्राम छड़ना और धीरे धीरे उसमे विनयी होकर स्वतन्त्र होना तथा दूसरी ओर भारतीय संस्कृति म पश्चिमी सभ्यता का धीरे धीरे समावेश भारतीय संस्कृति म सभ्यता संस्कृति-संघात की अवस्था का उत्पन्न होना और उसस संस्कृतिकरण की बहुमुखी प्रक्रियाओं का प्रादुर्भूत होना एक माय हुआ है। वर्तमान भारतीय संस्कृति निश्चय ही वेदों तथा उपनिषदों मे निरूपित हिंदुत्व बुद्धवाद इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के समन्वय से उत्पन्न एक प्रक्रिया है यद्यपि उस प्रक्रिया का वर्तमान स्वरूप योरोपीय सभ्यता से अधिक प्रभावित है। भारत मे परम्परा तथा जाबुनिकता साम्प्रवाद तथा संसदीय प्रजातन्त्रवाद, नियोजित और नियन्त्रित तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी सामाजिक आर्थिक अवस्था सम्बन्धी बाद विवाद तथा मत मतान्तरों का सघष, पश्चिमी सभ्यता के ही योगदान है। भारतीय संस्कृति म, पश्चिमी सभ्यता के

प्रवेश ने, जहाँ सत्पात्रों में परिवर्तन उत्पन्न किया, भारत के राजनतिक एकीकरण और राष्ट्रीयता को जन्म दिया, सुधारवादी तथा पुनर्जननवादी जादूनों को उभारा, वहाँ उन परस्पर विरोधी विचारधाराओं को भी जन्म दिया तिनका कि वह स्वयं शिकार रही है और आज भी है। भारत में, समय-समय पर उठने वाला धर्मसापक्षिता तथा धर्मनिषेधिता का प्रश्न पश्चिमी सघात से उत्पन्न परिस्थितियाँ की ही उपज है।

भारत में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण ससार में पश्चिमी मस्त्रुति के प्रभुत्वमय प्रसार न एसी विरोधात्मक सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। पिछले चार सौ वर्षों में मानव मस्त्रुति के ऐतिहासिक उदविकासी प्रवाह न, याराप में जिन सभ्यताओं सत्पा और तत्त्व सन्तुतों को जन्म दिया, उह याराप निवासी ससार के कोने कोने में ले गये हैं। आज शायद ही काइ एसा महादीप या सांस्कृतिक समूह हो जो पश्चिमी सभ्यता के प्रभुत्वमय सघात से अछूता हो। औद्योगिक विकास के जिस स्तर में वर्तमान याराप की जन्म दिया है और जो योरोप तथा ससार का परिवर्तन कर रहा है, उसका केद्रीकरण योरोप में ही है। औद्योगिक नाति (Industrial Revolution) से उत्पन्न, ससार-यापी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का गढ योरोप ही है। वर्तमान ससार की अव्यवस्था पर योरोप का ही प्रभुत्व है और अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के अधिकतर भाग और साधन योरोपीय राष्ट्रों के नियन्त्रण में हैं। पश्चिमी देशों के जहाज अधिकतरम माल ढोत हैं और अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय यात्रियों को ले जाते हैं। याराप के हवाई जहाज समुद्रों और महाद्वीपों को सघत हुए ससार के द्वार पार उडत हैं और योरोप का अर्थ देशों से सम्पक स्थापित करते हैं। रेल, तार, टेलीफोन, बिजली मशीन द्वारा स्रेती, रेडियो सिनमा, मोटर, टांक करने तथा सीन की मशीन कमरा, फाउटेनपेन और अग्रेजी चिक्त्ता-पद्धति योरोप के ही योगदान हैं और ससार के सभी देशों में इनका प्रयोग होता है।

योरोप का यह ससार-यापी प्रभुत्वमय प्रसार वस्तुतः उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की दन है जो पिछले चार सौ सालों में उत्पन्न हुयी हैं। याराप का यह प्रसार वस्तुतः निभर रहा है उस औद्योगिकी (Technology) पर जो पिछले चार सौ सालों में याराप में विकसित हुयी है। इसी औद्योगिकी की दन, यातायात के साधन, यारापियों को अर्थ महाद्वीपों के निवासियों के सम्पक में लाए। औद्योगिक नाति में उत्पन्न पूजीवादी व्यवस्था न विश्व-यापी व्यापार के लिए प्रेरित किया। योरोपीय सभ्यता स पहले फर वहाँ के व्यापारी और जहाँ-जहाँ ये व्यापार गए वहाँ वहाँ उन्होंने पहले कारखाने किले और नौ सना की चौकियों का कायम किया और, इसप्रकार, बाद में आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनतिक प्रभुत्व का कायम किया। वहीं उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया और वहीं उपनिवेश। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के साथ-साथ, एक ओर उन्होंने योरोपीय सामाजिक सभ्यताओं

सोलहवीं अध्याय भारत और योरोपीय सभ्यता

योरोपीय सभ्यता कुछ पहलू

भारत के सांस्कृतिक उद्विग्नता में एक और मुगला और मराठा का उत्थान और पतन, भारत भूमि पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड और पुनगाल इत्यादि योरोपीय देशों के बीच भारत की राजनतिक सत्ता हथियाने के लिये चलने वाला सघष और उसमें ग्रेट ब्रिटेन की विजय भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना भारत का स्वातन्त्र्य संग्राम छेड़ना और धीरे धीरे उसमें विजयी होकर स्वतन्त्र होना तथा, दूसरा और भारतीय संस्कृति में पश्चिमी सभ्यता का धीरे धीरे समावेश, भारतीय संस्कृति में सभ्यता संस्कृति-संघात की अवस्था का उत्पन्न होना और उसमें संस्कृतिकरण की बहुमुखी प्रक्रियाओं का प्रादुर्भूत होना एक साथ हुआ है। वर्तमान भारतीय संस्कृति निश्चय ही वेदा तथा उपनिषदा में निरूपित हिंदुत्व बुद्धवाद इस्लाम और पश्चिमी सभ्यता के समन्वय से उत्पन्न एक प्रक्रिया है यद्यपि उस प्रक्रिया का वर्तमान स्वरूप योरोपीय सभ्यता से अधिक प्रभावित है। भारत में परम्परा तथा आधुनिकता, साम्यवाद तथा सत्ताधीन प्रजातन्त्रवाद, नियोजित और नियन्त्रित तथा स्वतन्त्र प्रतियोगी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी वाद विवाद तथा मत मतान्तर का सघष, पश्चिमी सभ्यता के ही योगदान है। भारतीय संस्कृति में, पश्चिमी सभ्यता के

प्रवेग ने, जहाँ मस्थात्रा में परिवर्तन उत्पन्न किया, भारत में राजनैतिक एकीकरण और राष्ट्रीयता को जन्म दिया, सुधारवादी तथा पुनर्जननवादी आन्दोलनों को जन्म दिया, वहाँ उन परम्पर विराधी विचारधाराओं को भी जन्म दिया जिनका वि वह स्वयं गिकार रही है और आज भी है। भारत में समय-समय पर उठने वाला धर्मसंशोधिता तथा धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न पश्चिमी मघात से उत्पन्न परिस्थितियों की ही उपज है।

भारत में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण मसार में पश्चिमी मस्कृति का प्रभुत्वमय प्रसार ने ऐसा विराधारमक सांस्कृतिक परिम्वनितया उत्पन्न कर दी है। पिछले चार सौ वर्षों में, मानव मस्कृति के ऐतिहासिक उदविकासी प्रवाह न, याराप में जिन सभ्यतायी तरवा और तत्व सन्तुला का जन्म दिया उन्हें याराप निवासी ससार के कान कौन म ल गये हैं। आज गायद ही कोई ऐसा महाद्वीप या सांस्कृतिक समूह हो जा पश्चिमी सभ्यता के प्रभुत्वमय मघात से अछूता हो। प्रौद्योगिक विकास के जिस स्तर न वतमान याराप का जन्म दिया है और जा योरोप तथा मसार का परिवर्तन कर रहा है, उसका कत्रीकरण योरोप में ही है। औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) में उत्पन्न, मसारव्यापी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का गट योरोप ही है। वतमान ससार की अव्यवस्था पर याराप का ही प्रभुत्व है और अंतराष्ट्रीय यातायात का अधिकतर माग और साधन योरोपीय राष्ट्रों के नियन्त्रण में हैं। पश्चिमी दगा का जहाँ अधिकतम माल डोट है और अधिकतम अंतराष्ट्रीय यात्रियों का ले जान है। याराप के हवाई जहाँ समुद्री और महाद्वीपी को लाघत हुए, मसार का आर पार उठन है और याराप का अव्य दगा से सम्पक स्थापित करत है। रेल, तार टेलीफोन विजली मशीन द्वारा खेती, रडियो, मिनेमा, माटर टाइप करन तथा मीन की मशीन कमरा, फाउन्टेनपेन और अग्रेजी किरात्मामडनि याराप का ही योगदान है और मसार के सभी दगो में इनका प्रयोग होता है।

याराप का यह ससारव्यापी, प्रभुत्वमय प्रसार वस्तुन उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की दन है जा पिछले चार सौ साला में उत्पन्न हुयी है। याराप का यह प्रसार वस्तुन निम्न रहा है उस प्रौद्योगिकी (Technology) पर जा पिछले चार सौ साला में योरोप में विकसित हुयी है। इसी प्रौद्योगिकी की देन, यातायात के साधन, यारापियों को अन्य महाद्वीपों का निवासिया के सम्पक में साए। औद्योगिक क्रांति में उत्पन्न पूजीवाणी व्यवस्था न विद्वयापी व्यापार का लिए प्रेरित किया। योरोपीय सभ्यता से पहले का वहाँ के व्यापारी और जहाँ-जहाँ ये व्यापारी गए वहाँ वहाँ उन्होंने पहले बारखान किले और नौ सेना की चौकियों का कायम किया और, इसप्रकार दग में आर्थिक प्रभुत्व के साथ-साथ राजनैतिक प्रभुत्व का कायम किया। कहीं उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया और कहीं उपनिवग। अपना प्रभुत्व स्थापित करन के साथ-साथ, एक बार उन्होंने योरोपीय सामाजिक मस्याओं

की स्थापना की तो, दूसरी ओर, ईसाई धर्म का प्रचार किया। जब म योरोपियना ने अमरीकी महाद्वीप और गुडहोप अतरीप के माग से भारत क सामुद्रिक माग का आविष्कार किया है, व ससार पर राजनतिक-आधिक प्रभुत्व कायम करने के लिय परस्पर लड़ने रहे हैं। जनीस सौ चौदह मे योरोप न जो विवध्यापी महापुद्ध गुरु किया था वह सम्भवत आज भी समाप्त नही नही हुआ है। एक ज्वालामुखी की भांति वह रह रह कर भडक उठता है।

पिछले चार सौ वर्षों के ससारव्यापी योरोप के राजनतिक-आधिक प्रभुत्व ने ससार की अ य प्राचीन सस्कृतियों म उनकी सोयी हुयी आत्म-वित्त को जाग्रत किया है जिनके माध्यम स उनम राष्ट्रीयता जगी है और उनम उन कौशलता तथा सस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ है जिन्होंने उनम, एक ओर आत्मसम्यता की भावना जगायी है ता दूसरी ओर, उह पश्चिमी सम्यता के विरोध म ला खड़ा किया है। इंग्लण्ड म माना कार्टा की घटना अमरीका का स्वातन्त्र्य सप्राप्त ओर वहा की स्वातन्त्र्य घोषणा (Declaration of Independence) फ्रांस तथा रूस की राज्य प्रातियाँ और उनक पीछे पनपने वाली अर्हाय (Values), अटलांटिक चाटर (The Atlantic Charter) और सयुक्त राष्ट्रमण के चाटर की प्रस्तावना ने कराइया व्यक्तियों को सामाजिक आधिक और राजनतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करा के लिये प्रेरित किया है और आज भी कर रहे हैं। अमेरिका मिथ पाकिस्तान भारत, लवा बमा और जापान का राष्ट्रीय गतियों के रूप म निखरना बहुत कुछ पश्चिमी सम्यता क प्रभाव का ही परिणाम है।

इस्लाम की भांति पश्चिमी सम्यता भी एक प्रबल राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति रही है। आधुनिक जापान का अम्युन्त्र ओर विकास, वस्तुतः, पश्चिमीकरण (Westernization) का एक एशियायी राष्ट्रीय रूप है। किंतु, साथ ही साथ पश्चिमी सम्यता के ससग स प्राचीन सस्कृतिमा मे उसका विराध करने वाली शक्तियों का भी प्रस्फुटन हुआ। साम्यवादी और उदार तथा ससदीय प्रजातन्त्रवादी विचारधाराओं के कारण दो गुटा म बंटा हुआ वर्तमान ससार, यारोपीय सम्यता के ससारव्यापी प्रभुत्व का ही परिणाम है क्योंकि साम्यवाद तथा उदार मसनीय प्रज तन्त्रवाद और राष्ट्रवादिता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता योरोप की ही देन हैं। राष्ट्राङ्गणन ने ठीक ही कहा है कि यारोपीय प्रभुत्व से ही योरोपीय सम्यता के विश्व सखन की शक्तिया उत्पन्न हुयी हैं^१। माधारणतया, अग्रजी भाषा भाषी ससार मे, पश्चिम (The West) और पश्चिमी (Western), अथवा योरोपीय सम्यता (European Civilization), एक दूसरे के पर्याय के रूप म प्रयुक्त किये जाते हैं। आमतौर पर, पश्चिमी सम्यता योरोप और यारोपीय सस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रतीक माने जात है और एशिया तथा

एशियायी सभ्यता का पूर्व का प्रतीक माना जाता है। इसकारण पूर्व (The East) और पश्चिम (The West) में आभार दिया जाता है वह योरोप तथा एशिया में पाये जाने वाले विभागों के आधार पर किया जाता है। किन्तु, योरोप और एशिया राजनैतिक इकाइयाँ हैं और न तो योरोप में कोई प्रधान सत्तावीय सभ्यता है और न एशिया में। और फिर, भौगोलिक क्षेत्र और सांस्कृतिक इकाइयों परस्पर समानांतर नहीं होते हैं। योरोप और एशिया वस्तुतः एक ही भूभाग के अंग हैं। दुनिया के नक्के में, योरोप एशिया से जाने वाले भूभाग का एक अनुबद्ध अंग सा लगता है जिसका उत्तरी समुद्रतट एशिया में समाया हुआ है। गंगा के तट से लेकर स्कॉटलैंड (Scotland) तथा आयरलैंड तक फैली हुयी भारतीय (Indo-European) परिवार की भाषाएँ, एक ओर योरोप और एशिया की समान ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की प्रतीक हैं और, दूसरी ओर पूर्व और पश्चिम में जाने वाले अन्तर की गण्यता की द्योतक हैं। इतिहास के दीर्घकालीन सन्दर्भ में 'पूर्व और पश्चिम' का भेद स्वतः सम्पाद्य हो जाता है क्योंकि मानव सभ्यता के उपाकाल में दोनों एक समान हैं और वस्तुतः समान आधारों पर विकसित हुये हैं। मानव सभ्यता की ऐतिहासिक प्रक्रिया में, एशिया न योरोप की प्रभावित किया है और योरोप न एशिया को। इसाईयत जो योरोप का प्रधान मन्त्र है एशिया की योरोप को एक भेंट है यद्यपि आज वही भेंट योरोप एशिया का दे रहा है।

जिम पश्चिमी सभ्यता कहा जाता है उसका केन्द्रिकरण आज योरोप में ही नहीं है यद्यपि उसका उद्भव और विकास योरोप में ही हुआ है। आज अमरीका में पश्चिमी सभ्यता उतनी ही केन्द्रित है, जितनी कि योरोप में। इसीकारण, अमरीकी मानवशास्त्री 'पश्चिम' या 'पश्चिमी के स्थान पर, अधिकतर योरोप-अमरीकी (Euro American) शब्द का प्रयोग करते हैं। और वास्तव में यह है भी सही क्योंकि वर्तमान संसार में जिस हम पश्चिमी सभ्यता कहते हैं, उसका विकास और प्रसरण योरोप तथा अमरीका दोनों से हो रहा है। लेकिन, अगर ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में देखा जाय तो अमरीका योरोप का एक विस्तार और प्रतिष्ठा मात्र मंगता है यद्यपि, उस प्रतिष्ठा में, यहाँ वहाँ कुछ बदलाव अवश्य नजर आता है। अमरीका का सांस्कृतिक तथा बौद्धिक गठन वस्तुतः योरोपीय है।

जिम प्रमेय को 'पश्चिम' (The West) अथवा 'पश्चिमी सभ्यता' कहा जाता है वह मानव-सभ्यता की उदविकासी प्रक्रिया का वह रूप और स्तर है जो योरोप की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है यद्यपि न तो वह एकमात्र योरोप का ही उपज है और न वह योरोप तक ही सीमित है। उसका इतिहास समाया है यूनान और रोम की विचारधाराओं में। इसाईयत, योरोप में ईसाईयत के प्रवेश और प्रसार के बाद चलने वाले धर्मयुद्ध (Crusades), योरोप का पुनर्जागरण योरोप के ज्ञान विज्ञान तथा बौद्धिक प्रयोगिकता का विकास, औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution),

फ्रांस और रूस की राज्य क्रान्तियाँ और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से अवतरित होने वाला सामाजिक सांस्कृतिक रूपांतरण पश्चिमी सभ्यता के अग्रगण्य आधार हैं। पश्चिमी सभ्यता वस्तुतः योरोप में होने वाले सांस्कृतिक सामाजिक रूपांतरण की विभूषताओं में उस सकुल में समायी है जो योरोपीय सस्कृतियों में समाया होने पर भी उनसे भिन्न है और जो आज विश्व-यापी हो रहा है। यह सकुल बारा पापियव नहीं है। एक सामाजिक-आर्थिक प्रौद्योगिक सकुल के रूप में पश्चिमी सभ्यता पापियव भी है और अपापियव भी क्योंकि उसे उन आदर्शों और जर्हाओं से भ्रमण नहीं किया जा सकता जो उसको अब प्रदान करती हैं। अतः पश्चिमी सभ्यता के सकुल की विमर्शा के पक्ष में उन पापियव तथा अपापियव ऐतिहासिक प्रवाहों का विश्लेषण आवश्यक है जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता को जन्म दिया है।

२

योरोपीय सभ्यता के आधार ऐतिहासिक विवेचन

राधाकृष्णन के अनुसार मानव सस्कृति के प्रारम्भिक विकास का मूल पश्चिम तथा पूर्व के विकास स्तरों में काफी समानता है। वास्तव में वर्तमान योरोप का आधार है यूनान, फिलिस्तीन और रोम की बौद्धिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक परम्परायें। वर्तमान योरोप का आधारभूत 'मूल्य' (Values) और सस्थाएँ यूनान, फिलिस्तीन और रोम की देन हैं। यूनान ने योरोप को आलोचनात्मक चिन्तना निरीक्षण रीतियाँ और राजनैतिक धारणायें प्रदान कीं। रोम ने धर्मनिरपेक्ष विधि पणाली और सामाजिक संगठन के सिद्धांत और फिलिस्तीन ने एकेश्वरवाद तथा मनुष्य के नैतिक अस्तित्व की वह धारणा प्रदान की जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व केवल एक नैतिक अस्तित्व (Moral Being) है वह अस्तित्व जो ईश्वर के आदेशों के अधीन है। ईश्वर और व्यक्ति एक दूसरे से पर हैं। ईश्वर अवतार नहीं लेता है। बरन इच्छा होने पर, किसी चुने हुए व्यक्ति के समक्ष प्रकट होकर उसके द्वारा नैतिकता के आदेशों को मनुष्य तक पहुँचना है जिसका उदाहरण ईसा द्वारा दिया हुआ संदेश है। इसी कारण मनन (Thought), क्रिया (Action) और निष्ठा (Faith) पश्चिमी परम्परा के तीन तत्व हैं। किंतु योरोपीय ऐतिहासिक विकास में ये तत्व कभी भी एक सामञ्जस्य में नहीं आये हैं—वे सर्व परस्पर अलग ही रहे हैं। सम्भवतः इसी कारण योरोपीय विचारधारा में विराधी तथा विजातीय तत्वों का समावेश हुआ है।

योरोपीय बौद्धिकता मूलतः यूनानी बौद्धिक परम्पराओं से प्रभावित है। यूनानी बौद्धिकता की एक धारा प्लेटो से प्रवाहित हुई है और दूसरी यूनान तथा रोम पैथागोरस से। युक्तियुक्त विज्ञान पर आधारित और प्लेटो द्वारा के योगदान प्रतिस्थापित बौद्धिक परम्परा, प्रकृतिवादिता (Naturalism) में विकसित होती हुई एक ओर, डेमोक्रीटस की परमाणुवाद (Atomism) बौद्धिक परम्परा में विकसित हुई और, दूसरी ओर इपिक्यूरस की, सुखानुवादी विचारधारा में जा, आगे चलकर, मनाविज्ञान में सुखदुःखवादी सम्प्रदाय (Hedonistic School) के सिद्धान्तों में प्रस्फुटित हुई। पैथागोरस की बौद्धिक परम्परा, सुन्दरत, अरस्तू और प्लेटो की बौद्धिक परम्पराओं में विकसित होता हुई एक ओर इसाईयत की विचारधारा में लीन हो जाती है और, दूसरी ओर, योरोपीय सामाजिक ज्ञान और विज्ञानवादिता में—बहु विज्ञानवादिता जिसे योरोप के वर्तमान नीतिक तथा सामाजिक गाम्भीर्य को जन्म दिया है। इसी बौद्धिक परम्पराओं के फल-स्वरूप, योरोप की यह बौद्धिक परम्परा विकसित हुई है जो एक ओर, विज्ञानवादी है और, दूसरी ओर युक्तियुक्तवादी जा, एक ओर, मानव विवेक में आस्था के विचार पर आधारित है और, दूसरी ओर, वास्तविक का युक्तियुक्त मानने पर जा एक ओर प्रत्यक्षवादी तथा वैज्ञानिक है और, दूसरी ओर, दार्शनिक आध्यात्मिक। अरस्तू ने युक्तियुक्तवादी बौद्धिक परम्परा में 'आत्मा की धारणा प्रतिपादित की। प्लेटो ने आदमवादी प्रत्यक्षवादी विवेक्षण पद्धति का और अरस्तू ने प्रकृतिवादी प्रत्यक्षवाद की बौद्धिक परम्पराओं को जन्म दिया। योरोप में अरस्तू को सभी विज्ञानों का जनक माना जाता है। किन्तु यूनानी बौद्धिक परम्परा की एक और विशेषता है जो योरोप की बौद्धिक परम्परा में लीन हो गई है और वह है, विज्ञान तथा दार्शनिक विचार करने की जिसकी आधारभूत प्लेटो ने रखी थी। प्लेटो की प्रत्यक्षवादी विज्ञानवादिता आदमवादिता तथा आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख है और सुन्दरत की प्रत्यक्षवादी प्रकृतिवादिता आनुभूतिकता की ओर। ज्ञान की विज्ञान में सीमित रहने की योरोपीय परम्परा का आधार यूनानी है, जिसके कारण योरोपीय बौद्धिक परम्परा, एक ओर, युक्तियुक्त की ओर उन्मुख है और दूसरी ओर, दृष्टान्तात्मकता की ओर। दृष्टान्तात्मकता ही आगे चलकर ऐतिहासिक कारणवादिता तथा ऐतिहासिक दार्शनिक की बौद्धिक परम्पराओं में प्रस्फुटित हुई।

विवेक का सर्वोपरि मानकर, युक्तियुक्त विचार तथा विज्ञानवादी दार्शनिक के समन्वय से मानव मस्तिष्क का विश्लेषण करते हुए, यूनानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव मस्तिष्क की गति वस्तुतः निहित है व्यक्ति में—बहु व्यक्ति जो ममत्ति का अग्रगण्य नहीं है वरन् जो युक्तियुक्त है। इसके फलस्वरूप, पहले यूनान में और बाद में योरोप में व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहन मिला। यूनानी अपनी ही विचारधारा से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने केवल यूनानियों को ही सभ्य माना और सब सभ्य

को असम्य। यही वह विचारधारा है जो आगे चलकर, आधुनिक याराप के उन्मूलन में, इस विचार में परिवर्तित हुयी कि याराप ही विश्व में सभ्यता और प्रगति का प्रतीक है। आगे चलकर, जब योरोप का ससार के अन्य देशों से सम्पर्क हुआ तो यही विचारधारा मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र के उदयवासी गिट्टातो में प्रस्फुटित हुई। इस सिद्धांत के अनुसार, योरोप विकास की चरम सीमा और हितवादी का मत है। जैसा की गिट्टातो ने योरोपियनों में जा बण भेद और उच्चता का भाव आया और जिसके रूप धात्र अफीका और अमरीका में दलन का मिलन है उनका एक ग्रात यूनान की सभ्यतासम्य सम्बन्धी वह विचारधारा भी है जो योरोपीय विचार में व्याप्त है। यूनानियों ने ससार को सभ्य प्रसम्य में बाँटा तो इसाईया ने धार्मिक-अधार्मिक तथा इसाई और गर इसाई में। यारापीय विचारधारा, इसकारण द्वैतात्मक भी है और विमदात्मक भी।

यूनानी विचारधारा और यूनानी समाज संगठन परस्पर विरोधी स रहे। मानवतावादी और 'व्यक्तिवादी' होने पर भी यूनानियों ने अपने आर्थिक संगठन का आधार गुलामी प्रथा की ही रक्खा। 'व्यक्तिवादी' को वे इतनी पराकाष्ठा तक ले गये कि उठाने उन सभी संस्थाओं का विरोध किया जो व्यक्तिवादी के विरोध में आती हैं और। राजनतिक संगठन में उस सहवासी समुदाय (Community) का ही वाञ्छित ठहराया गया जो अपनी विधि प्रणाली का निर्माण करने में स्वतंत्र हो। इसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी समाज का धार्मिक और राजनतिक संगठन पालिस (polis, नगर अथवा शहर) में ही केन्द्रित रहा। यूनान सदैव शहर राज्यों (City States) में बँटा रहा और ये शहर राज्य तब तक परस्पर युद्धरत रहे जब तक कि यूनान रोम साम्राज्य का एक भाग नहीं हो गया। इन्हीं राज्यों के परस्पर मध्य से उग्र तथा जावारमक राष्ट्रवादिता का जन्म हुआ जो, आगे चलकर योरोप के राजनतिक जीवन का अग वन गई। योरोप में छिन्ने वाले दो विश्व-यापी महायुद्धों का एक महत्वपूर्ण कारण उग्र राष्ट्रवादिता भी है, यद्यपि यहाँ वह पूँजीवादी साम्राज्यवादिता में अवगुठित है।

यूनान की धार्मिक परम्पराओं में इहलौकिकता और पारलौकिकता का वह मिश्रण मिलता है जिसमें एक ओर, भारतीय परम्पराओं का आभास मिलता है और, दूसरी ओर, इसाईयत की पूर्ववर्ती परम्पराओं का। राधाकृष्णन के अनुसार, यूनान के प्रारम्भिक धार्मिक विचारों में वेदों की सी परम्पराएँ मिलती हैं। प्लेटो ने यूनान की स्वीकार किया है और तपस्वी जीवन को मायता दी है। प्लेटो में अहंश सत्ता में लीन होने तथा उसकी उपासना का रक्षकवाद विचार मिलता है जो औपनिषदिक विचारधारा के समान है। साथ ही साथ, यूनान में कई पूजा पद्धतियाँ (Cults) भी मिलती हैं जिनमें कुछ यूनानी हैं और कुछ यूनान के बाहर की क्योंकि यूनान पर भारत, मिथ और फिलिस्तीन की परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। मसाल, मदिरा,

नृत्य और गीत के बातावरण में, अपने म दिव्य की अनुभूति करने की परम्परा डायनस्टिक पद्धति (Dionysiac Cult) में मिलती है, ज्ञान और वाक में ही ईश्वरत्व का दर्शन करने की लोगोस पद्धति (The Cult of the Logos) में और पगम्बरी परम्परा ऑर्फिक पद्धति (Orphic Cult) में। आरफिक पद्धति की परम्परा में आरफ्यूज का पगम्बर माना गया है और तापसत्रियाओ निरामयता तथा दीक्षा (Initiation) द्वारा मुक्ति प्राप्त करने पर जोर देकर इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि 'यापी तथा नतिक का ही आनन्द का दान मिलता है और अयाइया तथा अनतिको का दण्ड। इसाइयत में निहित ईश्वरी याप का विचार रहस्यवादिता आयात्मिकता और पगम्बरी धारणा, इस प्रकार, इसाइयत के पहले यूनान में विकसित हो चुके थे।

रोम केवल एक साम्राज्य रहा। रोम में न तो किसी विधिपट्ट सञ्ज्ञति का रूप धारण किया, न किसी समाज का और न राष्ट्र का। यूनान की विधिपट्टता थी वहाँ की दार्शनिक परम्परा और रोम की धर्मनिर्पेक्ष विधि प्रणाली, 'तासन प्रणाली तथा सामाजिक राजनैतिक संगठन के सिद्धान्त और विधि (Law) की सर्वोपरिता के विचार। रोम की परम्परा में इस बात पर जोर दिया गया कि विधि निर्माण में समुदाय के सभी सदस्यों का बराबर सहयोग होना चाहिये और एक बार जब विधि का निर्माण हो गया तो विधि ही सर्वोच्च है। विधि के समक्ष समुदाय के सभी सदस्य समान हैं किन्तु व्यक्ति की तुलना में विधि ही प्रधान और सर्वोपरि है। यूनानियों ने जोर दिया विचार का स्वतन्त्रता पर जब कि रोम में जोर दिया गया कर्मकृता (Will to Action) के सम्बन्धन पर। रोम में पञ्चित नतिकता की माग थी सामाजिक क्रिया (Social Action) का सचेष्ट नियन्त्रण और व्यक्ति द्वारा समुदाय की आवश्यकताओं के प्रति एच्छिक तमन। रोम वस्तुतः, वकीलों का साम्राज्य था जबकि यूनान दार्शनिकों का देश। सभी समाज में यूनानी, सभी और इमाई परम्पराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही थी। रोम और यूनान न योरोप का विज्ञानवादी दार्शनिकता, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, युक्तियुक्तवाद (Rationalism) नगरीय जीवन के सद्गुण (Virtues of Civic Life), उग्र राष्ट्रवादिता, रहस्यवादी तथा पगम्बरी मजहब, धर्मनिर्पेक्ष विधि प्रणाली, सामाजिक राजनैतिक संगठन के सिद्धांत, साम्राज्यवादिता, विधि की सर्वोपरिता और विधि के समक्ष व्यक्ति-व्यक्ति की समानता सम्बन्धी विचार और निद्रांत प्रदान किये हैं। मध्यकालीन योरोप में यूनान को जैसे ही पुनः खोज निकाला गया था जिन प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्राचीन भारत को। वर्तमान योरोप के निर्माण में इसाइयत का लगभग उत्तना ही हाथ है जितना कि यूनान और रोम का। इसाइयत का जन्म हुआ था फिलिस्तीन में। अतः इसाइयत एशिया का योरोप की एक भेंट है। अपने आधारभूत रूप में, इसाइयत, वस्तुतः, एक ऐसा पहलू मजहब है जिसकी आत्मा योरोपीय न होकर एशियाई है। इसाइयत इस्लाम में प्राचीन है।

दीक्षा लिए रहस्यवादी आस्था से मिश्रिते वाली ईश्वरच्छा का ज्ञान नहीं हो सकता । यही स इसाइयत में वपतिस्मा (Baptism) की प्रथा प्रारम्भ होती है और यही से इसाइयत का प्रसार और प्रचार करने का आन्दोलन (Pro ely tization) । स्वयं ईसा ने ईश्वरीय ज्ञान के प्रचार के लिए अपने निष्या को आदस दिया । कोई आचय नहीं यदि इसाइयत में ईसा द्वारा लिए गए निष्य ज्ञान का निश्चित, विगुद्ध और अन्तिम (Infallible) माना जाता है । इसी का परिणाम है कि इसाइयत एक जवरदस्त राढात (Dogma) बन गयी जबकि स्वयं ईसा राढात विरोधी थे ।

इसाइयत इस्लाम और बुद्धवाद की भांति एक अधिराष्ट्रीय (Super-national) मजहब है जिसका उत्गम और विकास अनेक प्रभावा के अतगत हुआ है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि इसाइयत का आधारभूत रूप यहूदी है और इस कारण, इसका आधार ईसा के पहले प्रचलित यहूदी धर्म में है । यकित से परे दयावान, यायी, साधु और विधानकर्त्ता ईश्वर की कल्पना ससार में नतिष अहाआ (Values) और नियमा की सर्वोच्चता तथा एकेइश्वरवाद, इसाइयत में यहूदी धर्म से आय है । ईसा में दो हजार वष से लेकर पाच सौ वष तक बबीलोन (Babylon) और एशिया माइनर (Asia Minor) के माध्यम से भारतीय प्रभाव यहूदिया पर पड चुका था । मिस्र भी इस प्रभाव का माध्यम था । राधाकृष्णन के अनुसार ईसा के पूव फिलिस्तीन पर बुद्धवाद का प्रभाव पड चुका था और यही कारण है कि इसाइयत की आत्मा बुद्धवाद का अधिक समीप है । बौद्धा का मघ मगठन ही रोम के प्रभाव में चच-सगठन के प्रभाव में अवतरित हुआ । इसाइयत में गतान की कल्पना इसाइयत का जरधुम्न धर्म की दन है । यहूदिया ने यूनानी विचारधारा का प्रभावित किया और बाद में यूनानी विचार और दान ने इसाइयत को । यहूदिया के एकेइश्वरवाद का यूनानियों ने अशत दाधनिक और अशत रहस्यवादी जामा पहनाया और बाद में यहूदी प्रदेश में उत्पन होने वाले ईसाई मजहब को अपित कर दिया । इसाइयत का उसके बौद्धिक आधार यूनान में ही मिले—व बौद्धिक आधार जिनकी सहायता से इसाइयत योरोपीय सामाजिक विरासन का एक अण बन गयी । यकित की गरिमा, युक्तियुक्त विचारधारा पर जार मानवतावाज और स्वतंत्रता, समता तथा व धुता के विचार इसाइयत को यूनान के ही योगदान हैं । इ ही योगदान ने, कालांतर में, फ्रांस की राज्याति को प्रेरणा देकर व्यक्ति स्वातंत्र्य के लिए एक अभिनव माग खोल दिया । राधाकृष्णन के शब्दों में 'इसाइयत का हृदय एशियाई है, उसका मस्तिष्क (धर्म विद्या) यूनानी और उसकी नेह (चच सगठन) रोमन है' ।

ईसा की प्रथम साल गतादिया में योरोप में इसाइयत का प्रचार हुआ जिससे योरोप के विकास में एक निश्चित परिवर्तन हुआ । इसाइयत में निहित रहस्यवाद तथा अन्तिम आशा के सिद्धांत (I schatology) और सोहाद समता और मानवता की भावनायें, इसाइयत के प्रचार में सहायक बने । यूनान से मिले हुए बौद्धिक आधार

ने विचारको को प्रभावित किया तो उसमें निहित धर्मकारी तत्वों ने अधविश्वासियों को। यूनानियों के सभ्य असभ्य विषयक विचारों के प्रभाव में जीर वपतिस्मा की प्रथा के कारण, इसाईयत ने ससार को ईसाई (Christian) और गैर इसाई (Heathen) में बांट दिया और गैरइसाई के प्रति वही रस आख्यार किया जो यूनानियों ने गैरयूनानियों के प्रति आख्यार किया था। इस्लाम के उदभव का इसाईयत एक मुख्य प्रेरणास्रोत था किन्तु, बाद में, जब इस्लाम का प्रचार योरोप पहुँचा तो दोनों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हो गए। इसाईयत के तीर्थस्थान मस्जिद पर मुसलमानों का अधिकार हात ही योरोप का इसाई समाज रोष से उबल पड़ा। ग्यारहवीं सताब्दी से लेकर बारहवीं सताब्दी तक योरोप में धर्म युद्धों की जाग सुलगती रही। इसके परिणामस्वरूप, इस्लाम और इसाईयत, दोनों में धर्माधता असहिष्णुता और आक्रामकता की भावना बढ़ी। आगे चलकर, औद्योगिक क्रांति के बाद, जब योरोप का ससार में राजनैतिक आधिक्य प्रभुत्व बढ़ा और यूनान की सभ्य-असभ्य विषयक भावना के फलस्वरूप योरोप के लोग योरोप की ही मानव सभ्यता तथा प्रगति का चरमतम प्रतीक मानने लगे तो इसाईयत ससार को सभ्य बनाने का एक मिशनरी माध्यम बनो। इसाईयत को लोग पहले ही से अमोघ (Infallible) मानते आए थे किन्तु धर्म और भी मानने लगे। इसाईयत के समक्ष अन्य धर्मों को तुच्छ समझा जाने लगा। और, इन सबका परिणाम यह हुआ कि योरोप ने इसाईयत को साम्राज्यवाद का एक साधन बनाया। योरोपीय साम्राज्यवाद व्यापारियों और धर्म प्रचारकों के ही माध्यम से पनपा और प्रसारित हुआ।

योरोप में इस्लाम के प्रवेश से एक ओर धर्माधता और धर्मयुद्ध का जन्म हुआ तो, दूसरी ओर अरबों की कला और विज्ञान का योरोप में प्रचार बलानिष्कता हुआ। अरबों ने गणित (Mathematics), ज्योतिष (Astronomy) औषधिशास्त्र (medicine), रसायनशास्त्र (Chemistry), प्राणिशास्त्र (Zoology) और बड़ी सार्वभौमिक सम्बन्धी अपना ज्ञान योरोप को अर्पित किया। अपने ज्ञान विज्ञान का एक बड़ा अक्ष अरबों ने भारत से लिया था। सिक्न्दर के बाद और अरबों के उत्थान के पहले भारतीय ज्ञान विज्ञान की छाप यूनान पर पड़ चुकी थी। अतः, योरोप में अरबों और यूनानियों के माध्यम से आने वाली ज्ञान विज्ञान की धाराधारा का मिलन वस्तुतः उन दो धाराओं का मिलन था जो एक ही स्रोत से निकलकर और अलग अलग मार्गों से बहकर पुनः एक स्थान पर आकर मिलती हैं। किन्तु, दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच योरोप में अरबों से मिले ज्ञान विज्ञान को, अस्तित्व की परम्परा और इसाईयत के सिद्धांतों के साथ मिलाने का प्रयत्न किया गया जिसके कारण इस काल के ज्ञान विज्ञान के प्रवाह में धर्मविद्या (Theology) का स्थान प्रधान हो गया। इसी परिस्थितियों में चर्च अधिराष्ट्रीय (Supernatural) हो गया और विगत योरोप का मुख्य प्रेरणास्रोत हो

गया। इसी काल में, योरोप में वह विचारधारा चली जिसने बारण सभ्यता तक लागू का यह विश्वास रहा की जान की खान वस्तुतः विगत में है। इसी युग में योरोप के बौद्धिक जीवन में एक आर, पाणिन्यपन (Scholasticism) की परम्परा उत्पन्न होती है तो, दूसरी ओर उसमें इतिहाससामुपता (Historicity) का समावेश होता है। आगे चलकर, यही इतिहासो मुखता सेंट आगस्टाइन (St Augustine) कोम्ट (Comte), हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) हीगल (Hegel) और मार्क्स (Marks) में एक ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा (Historical Deterministic Thought) में अन्तर्गत होती है। सम्भवतः यही कारण है कि योरोप में जन्मने वाले सभी सामाजिक शास्त्रों का उदगम दार्शनिक धर्मविद्या (Philosophical Theology) में हुआ, इतिहाससामुपता हो गया है। ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism) की विचारधारा, आज भी योरोप के बौद्धिक जीवन में विद्यमान है और उसमें प्रमाण हैं, एक आर टोम्बे (Toynbee) और साराकिन (Sarokin) की कृतियाँ तथा दूसरी ओर कम में चलने वाली साम्यवादी विचारधारा में। इस ऐतिहासिक नियतिवादी विचारधारा की सबसे बड़ा निष्पत्ति यह रही है कि हममें सत्कार की भूत और वर्तमान गतिविधियों का निर्वाचन योरोपीय इतिहास की गतिविधियों के आधार पर दिया गया है। मार्क्स (Marks) में यह एक एकान्ता दृष्टिकोण अपनी परीक्षा पर पहुँचा हुआ है।

बारहवीं शताब्दी के बाद, योरोप में उम्र नवजागरण की लहर दौड़ी जिसने वर्तमान वैज्ञानिक युग के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्जागरण में, एक ओर, बौद्धिकता बढ़ी तो दूसरी ओर, यूनानी रोमन (Graeco Roman) ज्ञान को प्रत्यक्ष प्राप्त करने की प्रवृत्ति लालसा। इस लालसा का प्रज्वलित करने का धर्म धरवा और बइजंटाइन (Byzantine) साम्राज्य के विद्वानों का है। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोप में यूनानियों की बौद्धिक साहसिकता और समवेपण (Exploration) की भावना का प्रभाव बना। चर्च इस नवजागरण का प्रणत था। अतएव इसके प्रारम्भिक रूप पर चर्च और धार्मिकता की छाप है। किन्तु, जब योरोप के धर्मविदों ने इल्लहामी मजहब (Revealed Religion) और प्रकृति (Nature) का अलग अलग प्रमय मानकर, प्रकृति में अध्ययन में युक्तियुक्त कार्य कारण विचार को स्थान दे दिया तो अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने वर्तमान वैज्ञानिक विचारधारा के विकास के लिए मार्ग उन्मुख कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि योरोपीय विचार ने एक आर सद्धाता (Dogmas) के प्रति मनाय और विरोध का दृष्टिकोण अपना कर उनका विरोध और उनकी अवहेलना करनी प्रारम्भ कर दी तो दूसरी ओर प्रकृति की स्वचलित मान कर उसमें पाई जाने वाली अनुभवगम्य व्यवस्था में निहित कार्य कारणों के सम्बद्ध आधार पर उन आवश्यक नियमों की खोज करनी प्रारम्भ की जो सभी स्थान और कालों में एक जैसे हैं। न्यूटन (Newton) के सिद्धांत इसका

प्रमाण हैं। न्यूटन (Newton) ने अपने गुस्त्वान्तरण व सिद्धान्त का प्रतिपादन पेट से गिरते हुए फल को देखकर किया था। यही स यारोप म मजहबी राइटा तो (Religious Dogmas) और कल्पवादिता (Ritualism) के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है और आगे चलकर जिसका परिणाम हुआ इसाईयत का कथालिक (Catholic) तथा प्रोटेस्टेंट (Protestant) सम्प्रदायो म विभाजन। चौन्हवीं शताब्दी के सातवें दशक म, इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप सुधारवादी आन्दोलन की लहर दौड़ी। सुधारवादी आन्दोलन के प्रभाव मे प्राचीन चर्च सगठन की तीव्र आलोचना तथा राष्ट्रीय चर्चों (National Churches) की स्थापना की गयी धार मानव व सम्पूर्ण विकास के लिए युक्तियुक्त मादगों की तलाश की गयी। यारोप म विश्वविद्यालया की स्थापना इसी काल मे हुयी। विश्वविद्यालया क माध्यम से उस ज्ञान विज्ञान का प्रसार किया गया जा पुनर्जागरण का प्रेरणास्रोत था।

वैज्ञानिक दृष्टिकान के प्रादुर्भाव के साथ-साथ, यारोप मे वैज्ञानिक युग का प्रारम्भ हुआ। योरोप की वैज्ञानिक विचारधारा जसा कि पहले कहा जा चुका है, उस दृष्टिकान और मायता से उत्पन्न हुयी जिसमे इल्हामी ज्ञान और प्रकृति का पलग अलग मान लिया था। प्रकृति को स्वामाविक मानकर, उसके अनुभवगम्य प्रमेयो का निमाण करने वाला नियमा के काय कारण निधारित करने व प्रयास मे ही उस परम्परा का प्रारम्भ हुआ जिस अनुभूतिवाद (Empiricism) की सत्ता दी गयी है और जिसका स्रोत आरस्तू (Aristotle) की परम्पराभा म है। यही से विज्ञान की वह परिभाषा प्रारम्भ हुयी जिसमे निरीक्षण और वर्गीकरण तथा आयमन और निगमन की अध्ययन रीतियो द्वारा साक्षरत नियमा को दूढ निकालने का भाव निहित है। योरोप म ज म और विकसित सार भौतिक विज्ञान (Physical Sciences) इसी प्रयास म जन्म हैं और लगभग सभी का इतिहास आरस्तू (Aristotle) तक जोडा जाता है। इस दृष्टिकान से विज्ञान क क्षेत्र म वही विषय जा सकता है जा अनुभव गम्य है और जिन पर उपरोक्त अध्ययन रीतियो का प्रयाग करके काय कारण मकधी सावकालिक तथा सावभौमिक नियमा का निधारण किया जा सकता है। यही परंपरा वह परम्परा है जिन विज्ञान की प्रकृतिवादी परम्परा (Naturalism) कहते हैं। भौतिक-संसार मे इस परम्परा की सफलता देखकर, इसका प्रयोग समाज और उसके विभिन्न पहलूआ के अध्ययन पर किया गया और जिस दिन से यह मायता धर कर गयी कि सामाजिक प्रमयो का उसी प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है जिस प्रकार भौतिक प्रमयो का उसी दिन से यारोप के सामाजिक गान्स, धर्मविधा दान और ऐतिहासिक नियतिवाद के प्रभाव से निकल कर अनुभूतिवाद के प्रभाव म आ गए। यारोप के विद्वानो ने सामाजिक प्रमयो को भी उसी प्रकार से सावकालिक तथा साव-भौमिक नियमा के आधार पर स्वचालित माना है जिस प्रकार से प्राकृतिक प्रमयो हैं। भौतिक और सामाजिक प्रमयो का समान मानत ही सावयवी (Organic) और

मशीनवादी (Mechanistic) सिद्धांता के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया और इन सिद्धांतों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया कि सामाजिक वास्तविकता वस्तुतः समष्टि में समाप्ती है न कि व्यक्ति में और व्यक्ति समष्टि में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्राणियों में कोष्ठ या मशीन में पुर्जें। व्यक्ति और समष्टि को लेकर योरोप में जो समस्या है उसका मूल इमी परम्परा में है।

इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक ऐसा यूटन (Newton) के लिए लालापित हो उठा जो समाज विषयक भावनात्मक तथा भावभौतिक नियमों को ढूँढ निकाले। किंतु यह लालमा केवल सालसामान्य रही क्योंकि सामाजिक और भौतिक प्रमेय वगैरह भी भिन्न हैं जस चीनी और गन्ना। योरोप में इस विभाग के दो परिणाम हुए—एक ओर इसमें वनानिब और युक्तियुक्त (Rational) बौद्धिकता का जन्म हुआ जिससे योरोपीय विचार सिद्धांत (Logics) के प्रभाव से मुरत हो गया और दूसरी ओर, इसमें आध्यात्मिकता का प्रभाव कम हुआ, ज्ञान और धर्म में विरोधाभास उत्पन्न हुआ। धर्म का स्थान शून्य हो गया और मानव जीवन का आगमन के प्रति एक अधिक गन्धर्वमय दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। सामाजिक नियोजन और नियंत्रण का विचार और भी प्रबल हो गया। इसाइयत द्वारा जिस स्वर्ग साम्राज्य की कल्पना की गयी थी वह समाज-कल्याण समाज सेवा और कल्याणकारी राज्य में बदल गया। सामाजिक और भौतिक ज्ञानों का एक स्तर पर ज्ञान के प्रयास तथा उनमें निहित विरोधाभास ने योरोप के मानव विषयक चिन्तन में विरोध उत्पन्न किया। इसमें योरोपीय चिन्तन में उस नैराश्य का समावेश हुआ जिस योरोपीय सभ्यता की गोज्म (Schism) कहा जाता है। सामाजिक ज्ञानों में तरंगित भौतिक ज्ञानों की परम्परा में मनुष्य केवल भौतिक या प्राकृतिक माना गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वनानिब स्पष्टीकरण में मानव की भौतिक प्रवृत्तियों पर ही जोर दिया गया। इसाइ योरोप यह भूल गया कि मानव में भौतिक तथा आध्यात्मिक और पार्थिव तथा अपार्थिव का संगम है।

सुधारवादी आंदोलन, ज्ञानवादिता और सत्कार पर योरोप का आधुनिक राजनैतिक प्रभुत्व वनानिब प्रौद्योगिकी के योगदान है। वनानिब प्रौद्योगिकी के प्रारम्भ उस समय से होता है जब से योरोप में विजली, भाप प्रौद्योगिकी और तेल जैसी प्राकृतिक वस्तुओं से शक्ति उत्पन्न करने में मनुष्य ने उसका प्रयोग प्रौद्योगिकी के रूप में करना प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक युग के पहले की प्रौद्योगिकी धर्म सापेक्ष थी और उसके विकास की गति धीमी थी। चौदहवीं शताब्दी के पहले मनुष्य प्रौद्योगिकी में या तो अपने शरीर की शक्ति का प्रयोग करता था या पालतू जानवरों की शारीरिक शक्ति का। हवा का प्रयोग वह करता था किंतु केवल जहाज चलाने में या हवा चक्की चलाने में। चौदहवीं शताब्दी के बाद से भाप, विजली, आयल इंजिन और परमाणु शक्ति के आविष्कार

के साथ साथ योरोप में होने वाले प्रौद्योगिक विकास के द्वारा धीरे धीरे, योरोप का रूपांतरण होता रहा है। छापेखाने का आविष्कार और प्रयोग इसका उदाहरण है। छापेखाने से जनसाधारण में पान का प्रसार और सन्देशवाहकता बढ़ी। योरोप में बाइबिल का अनुवाद कई भाषाओं के माध्यम से जनमुत्तम हुआ। मुद्रित पुस्तकों से ही योरोप में उस जिनासावादी तथा विवेकी भावना का प्रसार हुआ जो सोलहवीं शताब्दी में प्रोटस्टेंट सुधार के लिए उत्तरदायी हुई। समाचार पत्र आधुनिक प्रौद्योगिकी का दिया हुआ एक सबल सन्देशवाहक उपकरण, छापेखाने पर ही निर्भर है।

भौतिक प्रयोगों के काय कारण का पता लगाने के प्रयास में, भाप, बिजली और परमाणु जसी भौतिक शक्तियों को सनद करने से प्रौद्योगिकी के प्रयोग के वे साधन निकले जिनसे योरोप में प्रौद्योगिकी और उसके प्रयोग में ग्रामूल चूस परिवर्तन ही नहीं हुए बल्कि योरोप में प्रौद्योगिकी का प्रभाव सर्वोपरि हो गया। भाप और बिजली के प्रयोग से, यातायात और उत्पादन के साधनों का मशीनीकरण हुआ जिससे उनकी गति और भी बढ़ गयी। यातायात के द्रुतगामी साधनों के कारण, योरोप का ससार के अन्य भागों से सम्बन्ध स्थापित हुआ। उत्पादन के साधनों की गति बढ़ने से उत्पादन बढ़ा जिसके लिए बाजार और खरीदारों की आवश्यकता हुयी। मशीनों से बने माल के अपेक्षाकृत अधिक सस्ता होने के कारण बाजार और खरीदार मिलने में सुविधा हुयी। उत्पादन, उपभोग के लिए न होकर लाभ के लिए होने लगा। बाजार, खरीदार और कच्चे माल की तलाश में योरोपीयनों ने अपने उपनिवेश और साम्राज्य स्थापित किए। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि योरोप एक कारखाना बन गया और ससार के अन्य देश एक बड़े बाजार का अंग। कारखानों में मजदूरों की आवश्यकता हुयी जिसके परिणामस्वरूप प्रजातन्त्र और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' के नाम पर सामन्तवाद के विरुद्ध आन्दोलन चला। जहाँ कारखाने थे, वहाँ की सख्या बढ़ने लगी और वर्तमान शहर का जन्म हुआ। इसप्रकार, प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ पारंपरिक जीविकीकरण, शहरीकरण और पूँजीवाद का विकास हुआ।

पूँजीवाद विकास की वह अवस्था है जिसमें उत्पादन लाभ और विपणन के लिए किया जाता है और जिसमें श्रम का क्रय विक्रय पारिष्व वस्तु के समान होता है। प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण स्त्री स्वातन्त्र्य का आन्दोलन छिड़ा क्योंकि एक ओर, गम निरोधक तरीकों ने स्त्री को प्रजनन के भार से मुक्ति दी तो दूसरी ओर प्रौद्योगिकी के प्रयोग के कारण ऐसे पेशे अस्तित्व में आए जिन्हें बरके स्त्रियाँ अधिक स्वातन्त्र्य भी पा सकती थीं। योरोप की वर्तमान वर्ग प्रथा प्रौद्योगिकी और पूँजीवाद की ही देन है। प्रौद्योगिकी ने एक ओर विभेदीकरण तथा घमनिर्प्रेक्षिता का प्रोत्साहित किया तो, दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर 'यापारीकरण' के प्रभाव को।

सिनेमा, टेलीविजन, रेडियो, टेल्सीफोन और तार बिजली की देन हैं। प्रौद्योगिकी के ये उपकरण वे सन्देशवाहक साधन हैं जिनसे, एक ओर योरोपीय साम्राज्य

वाद का प्राप्ताह्न और बल मिला राष्ट्र राज्य (Nation State) का सर्वोच्च प्रभुता का उदय हुआ तथा उस राष्ट्रवादिता का प्रेरणा मित्र और दूसरा भार, ज्ञान विज्ञान के विकास और प्रसार में सहायता मिली। दूरबीन, सुन्बीन पथारे और सिनेमा के प्रयोग में औपधिशास्त्र (Science of Medicine), जीव विज्ञान (Biology) और ज्योतिषशास्त्र (Astronomy) का प्राप्ताह्न विकास हुआ। शहरीकरण और पूजीवाद के प्रभाव के अंतर्गत सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से परम्परागत मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ। शहरीकरण व्यापारीकरण औद्योगिकीकरण तथा यातायात के साधनों ने जहाँ एक ओर व्यक्तिवाद का प्राप्ताह्न करके सामाजिक आधिपत्य सगठन में प्रतिष्ठापित का समावेश किया वहाँ, दूसरी ओर, सामाजिक सगठन में द्वितीयक समूहों का प्रधानता दबकर तथा राष्ट्र राज्य (Nation State) का सर्वोच्च प्रधानता प्रदान करके उस समष्टिवादी समाज को जन्म दिया जिस काल में हीम ने पुंज समाज (Mass Society) कहा है—वह समाज जो सना की भाँति सत्ताग्रस्त वर्गीकृत समाज है जिसमें व्यक्ति की भूमिका मजिद न होकर निष्क्रिय रहती है।

इस विकास प्रक्रिया में संस्थाओं का भी स्थापित कर दिया। परिवार का उपभाग की इकाई बनाकर तथा उसके अनेक कार्यों का राज्य समाज के कार्य क्षेत्र में लाकर एक ओर उसके जावार का स्त्री, पुरुष और बच्चा में निहित कर दिया तो, दूसरी ओर परिवार में व्यक्तिवादिता का समावेश किया। विवाह का धार्मिक प्रभाव से निकाल कर उस एक सविदा (Contract) का रूप प्रदान किया गया। जायिक संस्थाओं में औद्योगिकीकरण तथा व्यापारीकरण का समावेश हुआ। जायिक संस्थाएँ पूजीवादी तथा साम्यवादी प्रकारों में बँट गयीं। धर्म आस्थापना रह गया—वह आस्था जो बस व्यक्तिगत मान्यता की वस्तु है। अशौचिक में विश्वास का अधिक युक्तियुक्त ज्ञान का परिणाम यह हुआ कि धर्म बस धर्मविद्या (Theology) मात्र रह गया। सम्बंधिता (Rites) के स्थान में व्यक्ति पर औपचारिक (Formal) तथा अनौपचारिक (Informal) समूहों का नियंत्रण अधिक व्यापक हो गया। कला धर्म के प्रभाव से निष्काट कर, व्यापारिकता के प्रभाव में आ गयी। प्रवृत्तिवादिता के प्रभाव में कला बस कला के लिये रह गयी जबकि युक्तियुक्त विचारधारा के प्रभाव ने कला में उपादेयता के विचार का प्राप्ताह्न किया।

प्रौद्योगिकी के उत्तरात्तर विकास से याराप का सामाजिक आर्थिक स्थापना तरण हुआ, उसके वर्तमान आदर्शों का जन्मदय हुआ और उसके सत्कार-पात्री विकास के साथ साथ उसमें सम्मेलनीयता का विकास हुआ। पूजीवादी तथा साम्यवादी आदर्श और रंगलण्ड, फ्रांस तथा रूस की जन जातियाँ प्रौद्योगिकी के सतत विकास की पल्लभूमि में सम्मेलन हुई हैं। फ्रांस की सार्वभौमता (1789) का समता (Equality), स्वतंत्रता (Liberty) और बंधुता (Fraternity) का नारा यदि, एक

भारत और योरोपीय सभ्यता

भार, इंग्लैण्ड की मँगना कार्टा तथा रक्तहीन राज्यशांति वाली घटनाओं वित है ता दूसरी ओर इसादयत के गुषारवादी आन्दान और पूजीवादी संभाजक आदर्शों स । याराप म तथा योराप के बाहर निरन्तर बढ़ती हुई जनतन्त्र की माग और उसकी पूर्ति म प्रौद्योगिकी एक बड़ा हाथ है । समता, स्वतन्त्रता और वायुता के आदस इसादयत क यागदान हैं किन्तु उनकी प्राप्ति धीर धीर प्रौद्योगिकी की सहायता स सम्भव हुद है । व्यक्तिगत पर आधारित जनसत्तात्मक जनतन्त्र पूजीवाणी विचार पारा की दन है । किन्तु पूजीवाद स ही एक ओर योरापीय साम्राज्यवांति का विकास हुआ और दूसरी ओर लाननत्रीय राष्ट्रवादिता का । योरोपीय साम्राज्य वांति न योरोपीय साम्राज्यवाद का जन्म लिया और लाननत्रीय राष्ट्रवादिता न योराप के देता तथा योरापीय साम्राज्यवाद का जन्म लिया और लाननत्रीय राष्ट्रवादिता का जन्म दिया । जिसके परिणामस्वरूप योराप म ही योराप का निम्न उत्पन्न हुआ और योरापीय सभ्यता का प्रसार सघनमय हा गया । जनतन्त्र क आन्ध्र और पूजीवाणी साम्राज्यवां स्वत विराधी हा गए जिसके परिणामस्वरूप योरोपीय सभ्यता का प्रसार म कम ही मघप का कारण बनी जन्म कि मध्ययुग म इस्लाम का वनमान सत्तार म कम ही मघप का कारण बनी जन्म कि मध्ययुग म इस्लाम का प्रचार । इसी विकास की पष्ठभूमि म साम्यवां का जन्म हुआ जा योरापीय सभ्यता की एक कम ही विरोधता है तस पूजीवां ।

साम्यवां (Communism) योरापीय सभ्यता की दन है । साम्यवाद जठारहवीं और उनीसवीं शताब्दी क प्रारम्भ म योराप म चलन वाली विचार धाराका की एक उत्पत्ति है । साम्यवां योराप के बौद्धिक विकास की एक स्वाभाविक उपज है । साम्यवां क प्रणेता हैं कार्ल मार्क्स

(Karl Marks 1818 1883) जिनका जन्म जर्मनी म हुआ था । साम्यवाद वस्तुत एक दान है और इसकारण साम्यवां का मानववाद (Marxism) भी कहा जाता है । मानववाणी दशन के आधार हैं समाज और मानव-व्यवहार का ऐतिहासिक अधिक विवचन मानवतावाद और समाजवाद । मानव क अनुसार, मानव व्यवहार और समाज के कारण तत्त अपाधित न होकर पार्थिव और भौतिक है । जागिक उपविकास की प्रक्रिया म, जब मानव नाम क जीवधारी ने पार्थिव पदार्थों स जीवन निर्वाह का वस्तुआ का उत्पादन करना प्रारम्भ किया तभी से वह अय प्राणियों से भिन्न हाकर मनुष्य कहलाया । अत मानव म जा चेतन क वह जाच्यात्मिक (Spiritual) न हाकर पार्थिव (Material) है कयाकि मानव चतन पार्थिव परिस्थि तथा स ही उत्पन्न हाता है । प्रत्येक परिस्थिति (Thesis) अपनी विरोधी परिस्थिति (Anti Thesis) का जन्म दती है और दानो क सघप स एक नयी सतुलित और समचित परिस्थिति उत्पन्न हाती है जा कालांतर म एक नयी परिस्थिति बनकर और पुन विराणी परिस्थिति की जन्म दकर, एक नई परिस्थिति का जन्म दती है । इस प्रकार, सत्तार की विकास प्रक्रिया चला करती है । मानव व्यवहार और समाज इसी

द्वन्द्वात्मक विरास प्रक्रिया की उत्पत्ति है। इस विरास प्रक्रिया का कारण प्रौद्योगिकी है क्योंकि प्रौद्योगिकी के परिवर्तित होने से एक परिस्थिति की विराधी परिस्थिति उत्पन्न होती है। अतः, मार्क्स ने अपन ऐतिहासिक निवचन का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की मता देकर, वचानिक होने का दावा किया है। मार्क्स की इस वचानिकता का दावा का तात्पर्य यह निधारित करना है कि उसका ऐतिहासिक निवचन एक आदृत सिद्धांत पर आधारित है। वह सिद्धांत है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जो सभी स्था और काल में वैसे ही लागू होता है जैसे भौतिक विज्ञान के नियम।

मार्क्स का ऐतिहासिक निवचन उन्विवासी (Evolutionary) है क्योंकि मार्क्स की अध्ययन रीति में यह मान्यता स्पष्टमान्य मान ली गयी है कि मानव इतिहास आदि में अन्त की ओर उन्विवासित (Evolved) हो रहा है। मानव इतिहास का आदि समाया है उस अवस्था में जब मानव ने पारिव्य उपकरणों का द्वारा जीवन निर्वाह की वस्तुओं का उत्पादन करना सीखा। उस अवस्था से सामन्तवादी और पूँजीवादी अवस्थाओं में विवसित हुयी हैं। पूँजीवाद केवल एक गन्धमन्धाल है क्योंकि इतिहास की निदिष्ट अवस्था है समाजवादी सम्यवाद। समाजवाद मानव इतिहास के विकास की वह सामाजिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति का विकास पूर्णत्व का पट्टव आह्वा किया कि उस समाज में सभी व्यक्ति और सभी ऐसे समान होंगे, विभिन्न सामाजिक कार्य (Social Functions) सामाजिक क्रिया के विभिन्न वकल्पिक रूप (Alternative Forms) होंगे जिनमें से व्यक्ति अपना योग्यता और आवश्यकतानुसार धपते कार्य का चुनाव करेगा। उत्पादन के सभी साधन समाज के नियन्त्रण में होंगे। व्यक्ति के पूर्ण विकास और योग्यता तथा आवश्यकतानुसार जीवन धापन करने का स्वाभाविक परिणाम होगा राज्य (State) की अनावश्यकता। अन्त धीरे धीरे राज्य (State) लुप्त हो जायगा। दूसरे पक्ष में तथा मोरोप की मार्क्स की पूर्ववर्ती विचार के सम्प्रभ में रहा जाय तो इसका निष्पत्ति यह होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित काल्पनिक समाजवादी अवस्था इस पृथ्वी पर स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) की स्वतः अवतरण होगी। उससे बाद इतिहास की गतिविधि क्या होगी? मार्क्स ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं। यही उसकी वचानिकता का दावा समाप्त हो जाता है। यही उसका दशन बारा आदस (Utopia) मान रह जाता है—वसा ही आदस जसा कि इसाई मत में प्रतिपादित किया गया था। इसी कारण, मारटिंडेल ने मार्क्स की विचारधारा को रहस्यवादी कहा है और राधाकृष्णन ने मार्क्स द्वारा प्ररित साम्यवाद का एक प्रकार की घमनिरूपेण इसाईयत कहा है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) की अध्ययन रीति द्वारा मार्क्स ने यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रत्येक उदविकासी अवस्था में उसका प्रति द्वन्द्वाकारकों की उत्पत्ति होती है जिसमें उस अवस्था में के उदविकासी परिवर्तन होते

हैं जो इतिहास को उसकी पूर्वनिर्धारित दिशा की ओर ले जाते हैं। चूंकि जीवन निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य ही पार्थिव उपकरणों का प्रयोग करता है, अतः उत्पादन के पार्थिव उपकरण ही सभ्यताओं के कारक हैं। उत्पादन के पार्थिव उपकरणों में परिवर्तन आते ही सामाजिक सम्बन्धों और संस्थाओं में परिवर्तन आता है। जिस जीवन निर्वाह की अवस्था में मनुष्य आखेट और कंदमूल पर ही निर्भर था, उस अवस्था में सभी मनुष्य समान थे और समाज तथा संस्थाओं का संगठन व्यक्तिवार्त्ता न होकर समष्टिवादी था। कृषि के अनुसंधान ने सामंतवाद को जन्म दिया और वर्तमान प्रौद्योगिकी ने पूँजीवाद को। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि मानव-समाज निरंतर वर्गों में बँटता गया और पूँजीवादी अवस्था में आकर तीन वर्ग हो गये—पूँजीपति मध्यमवर्ग और सर्वहारा वर्ग। प्रत्येक अवस्था के पार्थिव उपकरणों और उनके परस्पर सम्बन्ध से उस अवस्था की आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होती है जो अपने से सम्बन्धित सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक चेतना को जन्म देती है। सामाजिक व्यवस्था का उद्विकास वर्ग-व्यवस्था के उत्तरांतर विकास और समाप्ति की ओर रहा है। सामंतवादी व्यवस्था में दो वर्ग थे—मालिक और गुलाम। किंतु, जब वर्तमान प्रौद्योगिकी का विकास हुआ तो उत्पादन के पार्थिव उपकरणों पर पूँजीपतियों का आधिपत्य हुआ और ऐसे नए अस्तित्व में आये जिनके कारण मध्यवर्ग का विकास हुआ। समाज का वर्गव्यवस्था के विभिन्न वर्ग सभी परस्पर सहयोगी नहीं रहे। उनमें निरंतर संघर्ष चलता रहता है और जब एक अवस्था विरोध की प्रतिद्वंद्वी अवस्था आती है तो यह वर्गसंघर्ष तीव्रतम हो जाता है। वर्तमान प्रौद्योगिकी के विकास के साथ साथ पूँजीवादी प्रजातन्त्रीय आन्दोलन का बढ़ना तथा संकट होना इसका उदाहरण है।

माकस के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में ही उसका प्रतिद्वंद्वी तत्त्व निहित है। इसका प्रतिपादित करने के लिये माकस ने राजनैतिक अर्थ व्यवस्था (Political Economy) के प्रतिष्ठित सिद्धांतों (Classical Theories) का आश्रय लेकर, प्रतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) का सिद्धांत प्रतिपादित किया। इस आर्थिक सिद्धांत के अनुसार, श्रमिक का जो धन मजदूरी के रूप में मिलता है वह उस धन से कम होता है जो वह अपने धर्म के द्वारा उत्पादित करता है। यही प्रतिरिक्त मूल्य पूँजीपति का भुताफा है और वह उतना ही बढ़ता जाता है जितना कि उत्पादन बढ़ता जाता है। इसका एक परिणाम यह होता है कि श्रमिक वर्ग दिन पर दिन निधन होता जाता है और पूँजीपति वर्ग धनवान्। निदान पूँजीपति और श्रमिकों के बीच संघर्ष बढ़ता जाता है। इस संघर्ष में मध्यम वर्ग के लोग पूँजीपति के साथ रहने का प्रयास करते हैं किंतु जसा कि इतिहास का पूर्वनिर्धारित विधान है, वे यह नहीं सकते हैं क्योंकि एक ओर, वे स्वयं निधन होकर सर्वहारा वर्ग में मिलते जाते हैं और दूसरी ओर, उनका वर्ग इतना विजातीय होता है कि उसका उत्तरांतर विध्वंस करने की आवश्यकता ही हो जाती है। अतः अंततः

उच्च मध्य-वर्ग के लोग पूजीपतियों में मिल जायेंगे और निम्न मध्यमवर्ग के लोग सवहारा वर्ग में। और इसका परिणाम यह होगा कि पूजीवादी व्यवस्था के अन्त में केवल दो ही वर्ग रह जायेंगे और उनमें सघर्ष इतना ताव होगा कि पूजीवादी व्यवस्था समाप्त हो जायगी और समाज पर सवहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी। इस तानाशाही की स्थापना ही समाजवादी व्यवस्था का प्रारम्भ है। इसीलिये, मार्क्सवाद का नारा है 'मजदूर के श्रमिकों संगठित हो'। इस प्रकार मार्क्सवाद एक ओर एक पगम्बरी भविष्यवाणी और आवाहन है तो, दूसरी ओर, ऐतिहासिक प्रक्रिया में सघर्ष का अवश्यभावी मानन वाला एक आशय। मार्क्सवादी विचारधारा का अनुसार इतिहास समाजवाद का ओर जायगा ही कि तु यदि उस व्यवस्था का जल्दी खाना है तो ऐतिहासिक प्रक्रिया का दुसरा ही बनाना होगा और उसका सबसे सरल उपाय है पूजीपति और सवहारा वर्ग का सघर्ष को प्रोत्साहित करना। अर्थात्, समाजवाद का मर्मद्वार है। समाजवाद से पहले अभीसिद्ध है अर्थात्। युद्ध सघर्ष और विनाश पुनर्निर्माण के प्रथम चरण है।

मार्क्सवाद का जन्म हुआ था जर्मनी में किन्तु उसको बार्माचित किया गया उनीसवीं सत्रह के आरम्भ ही कम में। लुनिन के नेतृत्व में अक्टूबर में उनीसवीं सत्रह में रूस में राज्यप्राप्ति हुयी जिसमें आरम्भ ही को हटाकर साम्यवादी समाज की स्थापना की गयी और मार्क्सवाद के सिद्धांतों को नियामक रूप देने का प्रयास किया गया है। इस प्राप्ति की सफलता के बाद से मार्क्स (Bolsheviks) मार्क्सवाद और साम्यवाद का उसी प्रकार से गढ़ हुआ गया है जिस प्रकार से रोम पाप की छत्रछाया में, इसाईयत का गढ़ रहा है। रूस में कहीं तक मार्क्सवादी सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप दिया गया है यह एक विवादप्रस्त विषय है। किन्तु, यह अवश्य है कि इस राज्यप्राप्ति की सफलता ने अनेक देशों के मार्क्सवादीयों को यह प्रेरणा अवश्य दी है कि सत्तार में एकछत्र साम्यवादी राज्य की स्थापना हो सकती है और व इसी दिशा में प्रयत्नशील भी हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि प्राप्ति ही इसका एकमात्र आधार है। रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना के बाद से साम्यवादी आन्दोलन का सम्प्रदाय में बंट गया - एक सम्प्रदाय के लोगो का यह विचार था कि सत्तार में प्राप्ति को प्रोत्साहन दिया जाय और दूसरे सम्प्रदाय का लाला का यह विचार था कि पहले साम्यवाद का संगठित किया जाय और बाद में प्राप्ति के लिये प्रयत्न। साम्यवाद का संगठित और मजबूत करके, उसको सवहारा वर्ग की तानाशाही का रूप देने का प्रयास में ही साम्यवाद में अधिकारप्रस्त समाज और तानाशाही का समावेश हुआ। साम्यवादी सत्तार में साम्यवाद के प्रसार में बैसे ही लगे हुए हैं जस इसाई इसाईयत के प्रचार में। तृतीय महायुद्ध के बाद तुर्की और यूनानास्लाविया का छोड़कर, आज पूर्वी जर्मनी बंटे जाने वाले प्रदेश तक रूसी साम्यवाद का आधिपत्य है। रूस की ही महायत्ना से चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार ने उत्तरी

कारिवा, विद्यतनाम, लाओस और तिब्बत तब अपने अधिकारक्षेत्र को बढ़ाया है। भारत पर चीन का आक्रमण भी इसी आदर्शवादी प्रसार का परिणाम है। साम्यवादी आदर्श में दूसरे देशों पर साम्यवादी देश का आक्रमण और प्रसार पूँजीवाद के विरुद्ध युद्ध है, एक प्रकार का जिहाद है और सत्तार के पुनर्निर्माण का यह आधार प्रयास है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि महात्मा गान्धी के विचारों में साम्यवाद एक उत्तेजक आवाहन है, किन्तु साथ ही साथ, स्वतंत्रता के एक अधिकारप्रस्तुत तब में बाधन का यह एक माध्यम भी है। प्राफेसर हलेची (Prof Halecki) ने अपनी पुस्तक, दि लिमिट्स एण्ड डिमोज़स ऑफ़ योरापियन हिस्ट्री में रूस का पश्चिम का अग्रिम मानकर, पूँजी का अग्रिम माना है। अतः, उनकी मान्यता में साम्यवाद पूँजी की देन है न कि पश्चिम की। किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार, साम्यवाद का वगानुक्रम वस्तुतः प्लेटो, इसाईयत के यूटेसामेंट सोल्ह से गैतालीस के इग्लैण्ड की संसदीय सत्ता के लवेल्लर (Lovell) वह जाने वाले लोग के कानों और विचार धारा, रिकार्डों और आइडल मिथजस प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियों डाविन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डाविनवाद, हीगल, मार्क्स, एंजल्स और एनिन के विचारों में हैं और उसकी बहुत सी विषयतायें निश्चय ही योराप की हैं। अधिकारवादी आदर्श समाज की धारणा प्लेटो का देन है और द्वातात्मक विचार यूनान के माध्यम से हीगल (Hegel) की। जिस प्रकार यूनानियों ने सत्तार का सम्प्रदाय अन्त्य में बाँटा था और बाद में इसाईयों ने इसाईयों तथा गैर इसाईयों (Heathens) में उसी प्रकार साम्यवादियों ने सत्तार को समदाय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) तथा लाकतन्त्रीय प्रजातन्त्र (People's Democracy) में बाँट दिया है। सत्तार का दो गुटों में बाँटन चाहे इन आदर्शों का वर्तमान सघष वस ही है जम एथेंस और स्पार्टा, रोम और कारथेज, यूनानी और गैर यूनानी यूनानी और गैर इसाई और इसाई आस्ट्रेटेंट और कम्युनिज्म के सघष। द्विभाजन (Dichotomy) पश्चिमी मन्त्रिज्म की एक विषयता रही है और वर्तमान समाज के साम्यवादी तथा पूँजीवादी आदर्श उसी विषयता का एक स्वाभाविक उत्पत्ति है।

साम्यवाद का विकास इसाईयत की पच्छिम में हुआ है और इस कारण साम्यवाद में इसाईयत की कई विषयताओं का समावेश हुआ है। जिस प्रकार, इसाईयत में इसाई द्वारा प्रतिपादित धर्म सिद्धांतों को धर्म और श्रमाय माना गया है, उसी प्रकार साम्यवाद में मार्क्स के सिद्धांतों का वैज्ञानिक समाजवाद की परा वाप्य माना जाता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास का निवचन, सत्ति की अनिवार्यता और अन्ततोगत्वा समाजवाद की स्थापना उसी प्रकार की अविवर्धनी है जिस इसाईयत में कथामत और निणय दिवस (Day of Judgment) के अन्त्यमय आने

की कल्पना है। इसाइयत व विवास ने पाप मगटन को जन्म दिया और साम्यवाद ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का। जिस प्रकार, इसाइयत के सिद्धांतों के अंतिम निबंधन का अधिकार पाप और उमदी पवित्रता को रहा है उसी प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांतों के अंतिम निबंधन का विशेषाधिकार कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के अधिनायक का रहा है। साम्यवाद का समारम्भायी प्रसार करने के पीछे वही भावना है जो मिशनरियों के द्वारा मसारम इसाई धर्म का प्रसार करने के पीछे रही है। जिस प्रकार, अठारहवीं और उनीसवीं शताब्दी में इसाइयत के प्रचार और प्रसार ने साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया, उसी प्रकार आज साम्यवाद साम्राज्यवाद का आधार बन रहा है। साम्यवाद वस्तुतः इसाइयत का वह रूप लगता है जिसमें ईसा का स्थान मार्क्स ने लिया है, पादरियों का साम्यवादी देहा के तानाशाही अधिनायकों ने, मिशनरियों का साम्यवाद का धर्म भरने वाले आत्मागतकारी कम्युनिस्ट राजनीतिज्ञों ने आध्यात्मिकता (Spiritualism) का पार्थिवता (Materialism) ने और स्वर्ग साम्राज्य (Kingdom of Heaven) का आदर्श समाजवाद ने।

यह समझना मूल हांगी कि केवल इसाइयत ने ही साम्यवाद का जन्म दिया है। साम्यवाद यद्यपि के गौडिक चिंतन और अठारहवीं शताब्दी तथा उनीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ चले वाली विचारधाराओं का एक सहज परिणाम है। साम्यवाद को नवियुग और व्यावहारिकता का जन्म पट्टनाने वाले लनिन (Lenin) के मत में मार्क्स की प्रतिभा में उनीसवीं शताब्दी की विचार प्रवृत्ति की तीन मुख्य धाराओं का प्रसार और पूर्ण सम्मिलन है। वे धारायें हैं — प्रतिष्ठित जर्मन दार्शन (Classical German Philosophy) प्रतिष्ठित अंग्रेजी राज्याध्यवस्था (Classical English Political Economy) और फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों से मिश्रित फ्रांसीसी समाजवाद। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरवादी और नातिकारी आंदोलनों ने एक और सामाजिक सुधारवाद का रूप लिया तो दूसरी ओर उनीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में काल्पनिक, अव्यवहार्य, आदर्श निर्माण (Utopia Building) का रूप दिया। मार्क्सवाद एक काल्पनिक, अव्यवहार्य आदर्श है। अठारहवीं शताब्दी में, भौतिक विज्ञानों के विकास द्वारा, विज्ञानवादिता (Positivism) और वैज्ञानिक अध्ययन रीति (Scientific Method) का विकास हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी के समाजवाद में विज्ञानवादिता वैज्ञानिक अध्ययन रीति और समाज सुधारवाद का एक विशिष्ट मिश्रण हो चुका था जिसे आगे चलकर मार्क्स ने अपनाया। मार्क्स का निबंधन इतिहास का एकतत्वीय (Monistic) निबंधन है। एकतत्वीय निबंधन अर्थात् एक ही कारण के आधार पर किसी प्रमेय का निबंधन तत्कालीन तत्त्वशास्त्र और विज्ञानवादी दृष्टिकोणों की देन है। एकतत्वीयता के कारण ही मार्क्सवाद पर नियतिवाद (Determinism) की जबरदस्त छाप है।

मार्क्सवाद के अन्वय के पहले योरोप में तीन मुख्य विचारधाराएँ चल रही

पी। वे हे विज्ञानवाद (Positivism), युक्तियुक्तवाद (Rationalism) और रामानुवाद (Romanticism)। मार्क्सवाद का उदभव निश्चय ही जर्मन रामानुवाद (German Romanticism) को पठभूमि में हुआ है। रामानुवाद युक्तियुक्तवाद का विभेद है क्योंकि युक्तियुक्तवादियां न जा कुछ भी कहा रोमानुवादियों ने उसके विभेद द्वंद्व निकाल। उदाहरणार्थ, युक्तियुक्तवादियां का मानव प्रकृति (Human Nature) का आधार मिला भीमासा (Person) में तो रामानुवादियों को आत्मा (Spirit) में। युक्तियुक्तवादियों के लिये इतिहास भूला और गलतियों का एक लेखा है जब कि रामानुवादियों के लिये इतिहास की गहराई में गहराई में सिद्धांत और तत्व छिपे हैं। यही रोमानुवाद मार्क्सवाद की आत्मा है। किन्तु मार्क्सवाद के वास्तविक बौद्धिक आधार निहित है डार्विन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक डार्विनवाद और हीगल द्वारा प्रतिपादित द्वंद्वत्मक (Dialectical) निवचन पद्धति में। हीगल की द्वंद्वत्मकता पर कमानी आदर्शवादियों की छाप है जबकि मार्क्सवाद में अपनायी गयी द्वंद्वत्मकता पर पारिवर्तता (Materialism) की। आगिक उदविकास (Organic Evolution) के सिद्धान्त के माध्यम में डार्विन ने यह प्रतिपादित किया है कि मत्स्य के सभी प्राणियों का उदविकास आधारभूत आगिक तत्व (Organic Matter) से हुआ है। इस उदविकास में विचरणशीलता (Variation) और प्राकृतिक प्रवरण (Natural Selection) का मुख्य हाथ है। डार्विन के अनुसार इस मत्स्य में वही जीवित रहने में सफल होता है जो जीवित रहने के लिये सबसे अधिक फिट है। अतः सारी प्रकृति एक निरीह मध्यम में रहती है और उसी मध्यम में प्रकृति सर्वोत्तम का चुनाव करती है। मानव-समाज आगिक तत्व की भांति उदविकासोन्मुख है और उसका भी उदविकास मध्यम और प्रतियोगिता के माध्यम से हो रहा है। मार्क्स का वग मध्यम का सिद्धांत इसी विचारधारा की दृष्टि है। मार्क्सवाद वस्तुतः एक वैज्ञानिक सिद्धांत न होकर एक समाजवादी मध्यम विचार पद्धति (Conflict Ideology) है¹।

३

योरोपीय सभ्यता के तत्व

इस प्रकार, योरोप का ऐतिहासिक विवचन करने पर योरोपीय सभ्यता-मकुल के विभिन्न पहलू स्पष्ट हो जाते हैं। योरोपीय सभ्यता-मकुल के मुख्य आधार हैं वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) औद्योगिकीकरण (Industrialization)

tion) और सहोपकरण (Organization)। य योरोपीय सम्मता के पारिव पटलू हे। केवल इही तन योरोपीय सम्मता का समिति रचना योरोपीय सम्मता की धारणा की सकीण करता है ययानि जहाँ जहाँ य तत्व गय हैं वहाँ वहाँ व विचार पद्धतियाँ भी गयी हैं जिन्होंने इस सम्मता का जन्म दिया है या जो उसकी उत्पत्ति है। योरोपीय सम्मता, वस्तुतः, जमा कि पहलू पहलू का धुका है माधव मन्त्रि की एक विनिय विवास अवस्था है। अतः, उग विवास अवस्था का सामाजिक मानमिय पटनुषा के सन्दर्भ म ही उसके पारिव तन्त्र अभिव माधव लयन हैं। दम दक्षिणायन स योरोपीय सम्मता की अन्य विनियतार्य हैं यनानिक विचार पद्धति धमनिरपमिता, इमाध्यत पूजीवाद, राष्ट्रवादिता नमनीय प्रजातन्त्र तथा माधवानी प्रजातन्त्र और गहरी सामाजिक-नगठन जिसके आधार उद्योग पूजी प्रनियोगिता और पवित हैं। यह अवश्य है कि दम गभी विनियतामा म मिल्कर जा सकुट बनता है उसक मूल म पारिवता की माया ही अधिव है। यह विकास अवस्था वस्तुतः गहरी संस्कृति है। इसकी विकास प्रक्रिया के आधार द्वितीयक (Secondary) हैं न कि प्राथमिक।

४

भारत और योरोप

ऐतिहासिकता म भारतीय संस्कृति यादव स प्राचीन है। जब वतमान राज नतिक योरोप का जन्म भी नहीं हुआ था भारत एक सांस्कृतिक राजनतिक इकाई का रूप ले चुका था और भारतीय संस्कृति का सम्प्रतिपा का प्रभावित कर रही थी जिन्होंने वतमान योरोपीय सम्मता के निर्माण मे सहायग किया है। मिस्र यूनान, फिलिस्तीन और इसाइयत पर पन्न वात् भारतीय प्रभावो का पहलू ही वणन किया जा चुका है। सिक् दर की विजय के पश्चात्, भारत और यूनान का प्रत्यक्ष राजनतिक सांस्कृतिक तथा धौदिक सम्बन्ध स्थापित हुआ और यह सम्बन्ध तब तक बना रहा जब तक एक ओर, यूनान राम साम्राज्य का अग नहीं हा गया और दूसरी ओर यूनान तथा भारत के बीच ॥ अरबी दृष्टामी साम्राज्य का अभ्युदय नहीं हुआ। सिक् दर द्वारा स्थापित विषय दृष्ट ब्रिटिश साम्राज्य का नामका और भारत के मीय संधाटा के माध्यम स भारत और यूनान म सांस्कृतिक आदान प्रदान लगभग तीन सौ साल तक चलत रहे। मेगास्थनीज जैम राजदूता ने भारतीय सामाजिक जीवा और ज्ञान विज्ञान का यूनानियों के समान रचना। तसगिला क विदयविद्यालय म, एक ओर यूनानी पठन पाठन करत थे ता, दूसरी ओर, वहा ऐस भारतीय भी थ जो यूनानी भाषा बोलत थ और यूनानी साहित्य का अध्ययन करत थे^१।

केरल और नासिक की बौद्ध गुफाओं में मिलने वाले यूनानी नामों से पता चलता है कि अनेक यवना (यूनानियों) ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था। सस्त्रुत और हिंदी में प्रयुक्त होने वाला यवन शब्द ही यूनानी भाषा में आया है। विद्वानों का ऐसा मत है कि भारतीय रंगमंच में यवनिका (Drop Curtain) का प्रयोग भारत की यूनानी नाट्यशास्त्र की श्रद्धा है? सिकंदर के आक्रमण के लगभग एक सौ साठ साल बाद, जब मन्नांडर (Menander) गंगा की घाटी वाले प्रदेश में आया तो उसने बौद्ध दार्शनिकों के साथ द्वात्मक (Dialectical) शास्त्राध्यय में भाग लिया। इस शास्त्राध्यय पर आधारित मिलिन्द पथ नामक ग्रंथ बौद्धशास्त्रों में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। ओ. हार्ले (O. Haralloy) के अनुसार, प्राचीन भारत के ज्योतिष और औपनिषद्शास्त्रों पर यूनानी प्रभाव पड़ा गया है। भारत की गांधार मूर्तिकला यूनानी और भारतीय कला परम्पराओं का एक समन्वित संगम है। गांधार कला की मूर्तिकला में, एक ओर, यूनानी परम्परा के अनुसार बाह्याकार को विराट रूप देने की प्रवृत्ति है तो, दूसरी ओर उसमें भारतीय परम्परा के अनुसार विराट में एक आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति का अभिव्यक्ति देने की परम्परा भी विद्यमान है। गांधार मूर्तिकला अत्युत्तम शिल्प और आध्यात्मिकता का मिलन है। महात्मा बुद्ध का प्रतिष्ठित प्रतिमा इसी समन्वित कला का एक पुष्प है^१।

पश्चिमी भारत में पश्चिमी घाट में स्थित आदित्यनगूर नामक स्थाग की खुदाई में से प्राप्त रोमन सिक्कों से यह पता चलता है ईसा की पहली शताब्दी के आस पास दक्षिणी भारत और रोम साम्राज्य का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में, दक्षिणी भारत में इसाईयत का प्रवेश हो चुका था। किंतु योरोप और भारत के सम्पर्क उसने शक्तिकारी नहीं थे जितने कि बाद के सम्पर्क क्योंकि ये सम्पर्क उस उदविकासी पृष्ठभूमि में स्थापित हुए थे जिनमें भारत तथा योरोप के प्रौद्योगिक विकास स्तर लगभग समान थे। इस्लाम का प्रचलन और प्रसार होने के समय तक, यूनान, रोम और इसाईयत तथा भारत और हिन्दुत्व एक दूसरे का बस ही प्रभावित करते रहते जैसे साधारणतया सम्पर्क में आने वाली सभ्यतायाँ आदान प्रदान के माध्यम से, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं।

योरोपीय सम्मता के सघात से भारतीय सभ्यता में होने वाले शक्तिकारी परिवर्तनों का सिद्धमिल उस समय से प्रारम्भ होता है जब सन चौदह सौ अठ्ठावनवें के मई महीने की छठीय या सत्ताइस तारीख को, किसी अरब नाविक के पथ प्रदर्शन में, एक साहसिक पुतलाजी नाविक वास्काडिगामा, का जहाजी बेड़ा, पश्चिमी घाट में स्थित, कालीवट नामक स्थान पर आ गया था और वहाँ के राजा जमोरिन ने

उसे भारत के साथ व्यापार करने की अनुमति दे दी थी। सन चोदह सौ अठ्ठावनवे का योराप वह योराप था जिसमें धर्म-युद्ध की ज्वाला दान्त होकर सुलग रही थी, इसाइयत और इस्लाम का द्वेष योरापियनो के मस्तिष्क से निबत्ता नहीं था, विज्ञान की फूटती हुयी किरण व साथ, धूप के समान, औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) का प्रसार बढ़ रहा था तथा उससे उत्पन्न पूँजीवादी समाज के प्रभाव में आश्रमक राष्ट्रवादिता बढ़ रही थी और जिसके दार्शनिक तथा विचारक योरोप की ही, प्राचीनतम तथा मानव की प्राधुनिकतम प्रगति का प्रतीक मानते थे। यह इन्हीं परिस्थितियों का प्रभाव था कि तत्कालीन पुर्तगाली सम्राट ने भारत को अपना उपनिवेश मान लिया और व्यापार के साथ साथ वहाँ इसाइयत के प्रचार की आशा दी।

तत्कालीन भारत में, एक ओर, इस्लाम का प्रसार बढ़ रहा था दिल्ली में मुसलमान शासकों के यगो का उत्थान और पतन हो रहा था और, दूसरी ओर, भारत में सामन्तवादी समाज का एक नये निरे से निर्माण हो रहा था और हिन्दुत्व इस्लाम के प्रसार के कारण, सिमट सिमट कर दक्षिण में बंदीभूत हो रहा था। यह वह भारत था जिसका सामन्त वंश धर्म व व्यापार पर विभाजित था और, इस कारण, धर्म की आड़ लेकर अपने स्वत्व के लिये आपस में लड़ रहा था। पुर्तगाली भारत में आये थे मसाला का व्यापार करने के लिये और मोहम्मद व अनुयाइयों अर्थात् मुसलमानों के हाथ से मसाला का व्यापार और सामुद्रिक मणिक शक्ति छीन लेने के लिये। इस्लाम विरोधी होने के कारण, दक्षिण के हिंदू सम्राटों ने उनका स्वागत किया। किंतु, वास्तव में, इस स्वागत का पीछे वही भावना थी जो इस्लाम के अभ्युदय और प्रसार के पहले अरबों का स्वागत करने का पीछे थी। यह भावना थी विदेशी व्यापार को बढ़ाकर राजस्व बढ़ाने की।

भारत में पुर्तगालियों का प्रभाव समुद्र तट पर ही सीमित रहा, यद्यपि लगभग डेढ़ सौ साल तक, अतलांतिक तथा हिंद महासागर पर पुर्तगालियों का एकछत्र राजनतिक प्रभाव रहा। पुर्तगाली सदैव बंदरगाहों में ही रहे और उन्होंने हमेशा समुद्र तथा समुद्रतट पर अपना प्रभाव जमाये रखने का प्रयत्न किया। सन ५ दश सौ दस में, गुजरात के सुल्तान महुमूद बगना को हराकर पुर्तगालियों ने गोवा का किला कायम किया और कालांतर में बम्बई और हुगली में भी अपने किले बनाये। भारत तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया में पुर्तगालियों की नीति थी गोवा में पुर्तगाल का प्रत्यक्ष शासन स्थापित करना, गोवा को वणसकरा का उपनिवेश बनाना, समुद्रतट पर युद्धावस्थक (Strategic) स्थानों में सैनिक अड्डे कायम करना और जहाँ सैनिक अड्डे कायम हो सकें वहाँ पुर्तगाल का राजनतिक प्रभाव बढ़ाना। भारत के राजाओं पर राजनतिक प्रभाव बढ़ाकर व्यापार सुरक्षित करने की नीति की नींव पुर्तगालियों ने डाली थी, जिसका आगे चलकर, अथ योरोपीय राष्ट्रों ने भी अनुसरण

किया। अपनी इस नीति से पुर्तगाली भारत के समुद्र तट पर व्यापारिक साम्राज्य कायम कर सके। उस समय इसमें अधिक सम्भव माना जा सकता कि तत्कालीन भारत में केंद्रीय शक्ति संगठित थी।

वास्कोडिगामा द्वारा भारत और योरोप के बीच समुद्री मार्ग को दृढ़ निकालने के बाद, योरोप के राजनैतिक जीवन में जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहीं हैं उनका प्रसार और प्रभाव हिंद महासागर, भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया पर पड़ता रहा है। योरोप में औद्योगिक क्रांति के प्रस्फुटन के बाद अन्तराष्ट्रिय महासागर पर जब जिन राष्ट्र अथवा शक्तियों का अधिकार रहा है सब उस राष्ट्र का अधिकार हिंद महासागर पर भी रहा है। जब तक अन्तराष्ट्रिय महासागर पर पुर्तगालियों का एकछत्र राज्य रहा हिंद महासागर पर भी उनकी प्रभुता कायम रही और भारत से लेकर अफ्रीका-पूर्वी एशिया तक उनका एकमात्र व्यापारी साम्राज्य कायम रहा। किन्तु योरोप में स्पेन और इंग्लैंड के युद्ध में, स्पेनिश आरमडा (Spanish Armada) की पराजय (1588) के पश्चात्, अन्य देशों ने भी पुर्तगाल की प्रतियोगिता में अपने-अपने व्यापारिक क्षेत्र बढ़ाने का प्रयास किया। इससे परिणामस्वरूप, सोलहवीं शताब्दी के अन्त में (सन 1571 में पोर्तुगाल के बाद से) इंग्लैंड नेवासीयो, डचों, ने हिंद महासागर में पदापण किया और धीरे-धीरे पुर्तगाली सत्ता का नाश करने लगे। सन 1600 में जीवन में कालम्बा पर अधिकार करके, सन 1612 में तिरुचनूर के पास-पास उन्होंने मलाबार के तट पर अपने बंदर कायम किये। डचों और पुर्तगालियों के बीच हुई एक संधि (1648) के अनुसार पुर्तगालियों का सैनिक तथा राजनैतिक प्रभाव गोवा के पास एक हजार तीन सौ वर्गमील क्षेत्र में ही सीमित हो गया और दिसम्बर सन 1705 में एकसठ तक बढ़ा उनका राज्य रहा। जब भारत में कोई साम्राज्य स्थापित न कर सक जिनके सम्भव दो कारण हैं—पहला व्यापार में अधिक दिलचस्पी रखने के कारण उनका ध्यान इण्डो-नेशिया की ओर अधिक था और वही उन्होंने अपना साम्राज्य भी कायम किया और दूसरे अन्तराष्ट्रिय महासागर पर बढ़ती हुई अंग्रेजों की सैनिकशक्ति के कारण उन्हें हिंद महासागर से हटना पड़ा।

सत्रहवीं शताब्दी में, अंग्रेजों ने हिंद महासागर में पदापण किया और फ्रांसिसियों ने अठारहवीं शताब्दी में। अंग्रेजों की सबसे पहली व्यापारी वाड़ी सुरत में खुली और इसी कोटी के आधारे पर भारत में सम्बाहु का एक नाम सुरती भी पड़ा। फ्रांसिसियों ने अपना सबसे पहला बंदरगाह पाण्डुचरी में कायम किया। भारत को एक राजनैतिक इकाई का रूप देने के प्रयास में निरंतर लड़त लड़ते सन 1757 में जब औरंगजेब की मृत्यु हुई तो उस समय, एक ओर, भारत का एक राजनैतिक इकाई का रूप देने की अकबर की कल्पना समाप्त हुई तो, दूसरी ओर, मराठा, सिक्खों और सैनिक शक्ति से सशक्त सत्ताशक्तियों के रूप में हिन्दू राष्ट्रवादिता

प्रबल बग से फूट निकली और भारत के समुद्रतटों पर योरोपीय राष्ट्रों के सैनिक अड्डे मजबूत होने लगे। सन सत्रह सौ पञ्चोस में, औरंगजेब के मरने के अठारह साल बाद, मूरत, बम्बई, मद्रास, मछलीपट्टनम और कलकत्ते फाटविलियम म अंग्रेजों के सैनिक व्यापारी अड्डे थे, पाण्डुचरी और चन्ननगर में फ्रांसीसियों के और कोचीन, ट्रिचुवार और मछलीपट्टनम में डचों के। ये व्यापारी अड्डे वस्तुतः सैनिक किलों के समान थे और उनमें रहने वाले विदेशी व्यापारी केवल अपने व्यापार से ही सरोकार रखते थे। भारत के राजनैतिक जीवन से उनका वही तक सम्बन्ध था जहाँ तक उनके व्यापार की सुरक्षा का प्रश्न था। उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भारत के उस धनी, व्यापारी मध्यम बग से था जिसके माध्यम से वे भारत में व्यापार करते थे। यह मध्यम बग भारत में योरोप के बढ़त हुए व्यापार की उपज था। यह बग भारत के वर्तमान पूँजीवादी बग का अग्रिम रूप था। यह बग भी योरोपीय व्यापार की सुरक्षा का उतना ही हामी था जितने कि योरोपीय व्यापारी। तत्कालीन भारत का छिन्न होती हुयी केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता में प्रादेशिक सत्ताये उभर रही थी और समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में उभरने वाली स्थानीय सत्ताओं पर इस धनी बग का प्रभाव बढ़ रहा था। यह बग अधिकतर हिंदू बग था। कलकत्ते का यह बग मारवाड़ी या मूरत का गुजराती और मद्रास का चेन्नई। अतः, तत्कालीन परिस्थितियों में हिंदूवादिता और योरोपीय प्रभावा से उत्पन्न होनी हुयी पूँजीवादिता का गठन धन हो गया। इसी हिंदू राष्ट्रवादी तथा पूँजीवादी बग से इंग्लैण्ड के पूँजीवादी बग ने कंधे से कंधा मिला कर भारत में अपने व्यापार को सुरक्षित रखने के लिये, धीरे धीरे अपना राजनैतिक प्रभुत्व कायम किया¹।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना का ऐतिहासिक बगन विषयान्तरित होया। हाँ, उसकी मुख्य मुख्य ऐतिहासिक अवस्थाओं का बगन ऐसा सम्बन्ध है जिससे प्रस्तुत विषय अधिक स्पष्ट हो उठता है। सन सोलह सौ उन्हत्तर में मुगल बान्गाह से कलकत्ते की किल्लेवादी करने की अनुमति तथा एक छाटी सी जमींदारी लेकर अंग्रेजों की व्यापारिक संस्था, ईस्ट इण्डिया कम्पनी, एक साथ गायस व्यापारी और जमीन्दार हो गयी। योरोप में चलने वाले अंग्रेज और फ्रांसीसी संध के कारण जब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने अरकाट के युद्ध में अप्रत्यक्ष भाग लिया और उसमें अंग्रेज विजयी हुए तो यह स्पष्ट हो गया कि व्यापार की सुरक्षा के लिये भारत के राज

1 प्लासी के युद्ध में जगत सेठ और अमीर खान ने अंग्रेजों की जो सहायता की थी, वह इतिहास प्रसिद्ध है। अफगान युद्ध में विजयी होने पर जब अंग्रेजी सेना गजनी से सोमनाथ के मंदिर का द्वार वापस लाई तो तत्कालीन गवर्नर जनरल ने यह गर्वोक्ति की थी कि अंग्रेजों ने मुसलमानों से सोमनाथ की खड़ाई का बदला लिया है—परिनिवर

नतिक जीवन में देखने देकर राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ाना आवश्यक है। प्लासी (1757) और बक्सर (1764) के युद्धों के द्वारा बंगाल बिहार और उड़ीसा की दोबानी प्राप्त करना इसी प्रयास की ओर उठा हुआ चरण है। भारत में अंग्रेजी राज का प्रारम्भिक रूप अनिया राज था और यह इसी का परिणाम है कि भारत में अंग्रेजों ने धीरे धीरे परिवर्तन किया और वही परिवर्तन किये जा आवश्यक थे। नानबालिम के समय से अनिया राज समाप्त होने लगा। सन अठारह सौ बारह में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत और इंग्लैंड के बीच प्रशासन का एक माध्यम थी। यही वह समय है जब इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने भारत में एक सभ्य सरकार (Civilized Govt) स्थापित करने का भार अपने ऊपर लिया और इंग्लैंड को भारत का ट्रस्टी (Trustee प्रयोगी) करार दिया। सम्भवतः इसी भावना का यह परिणाम है कि अंग्रेजों ने भारत को एक राजनैतिक सत्ता में बनाने का प्रयास किया। अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रांति के पहले जब तक भारत अंग्रेजी साम्राज्य का एक अंग नहीं हो गया था और पार्लियामेंट में उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनैतिक शक्ति मुगल बादशाह के फरमान पर आधारित थी और कम्पनी कम्पनी में बहला कर कम्पनी बहादुर कहलाती थी। मुगल बादशाह से राजनैतिक शक्ति ग्रहण करने के कारण मुगलों में भिन्न हुए देश के ट्रस्टी के लिए यह सान्त्वना थी कि वह उस राजनैतिक दबाई को बनाये राखे जिसकी बलपूर्वक हिटू शास्त्रों में की गयी थी, जिस सत्ता अंग्रेजों और अफगानों ने कायम करने का प्रयास किया था जिसके लिये औरगजेब बराबर उठता रहा और जो प्रत्यक्ष रूप से मराठा उत्थान की प्रेरक थी¹।

कुछ भी हो अठारह सौ सत्तावन की राज्यक्रांति के समय ब्रह्मपुत्र से लेकर सिंध तक और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक अंग्रेजों का झंडा सहारा रहा था। जिस काय का अधाक और अकबर ने कर पाये थे वह अंग्रेजों के शासन की सहायता में उनीसवीं शताब्दी में पूरा हुआ। भारत के इतिहास में प्रस्तावित उद्दिकामी सांस्कृतिक एकता ने प्रथम बार राजनैतिक एकता का रूप ग्रहण किया और भारत ने एक राष्ट्र राज्य (Nation State) का रूप ग्रहण किया। इसी राज्या का रक्त कर, अंग्रेजों ने उस राष्ट्र राज्य का जन्म न दे सका जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास का मांग थी। इसी राज्यों में अंग्रेजों का प्रभाव अप्रत्यक्ष था और, इस कारण, भारत के सभी भागों में योरोपीय प्रभाव समान मात्रा में नहीं पड़ा। कहीं वह पहुँचे छाया और कहीं बाद में, कहीं वह कम हुआ, नहीं ज्यादा। इसी कारण, भारत के विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों में विभिन्न प्रक्रियाएँ उत्पन्न हुईं। फिर भी सारे प्रभाव राष्ट्र

राज्य की ओर ही प्रवाहित होते रहें। सन् उन्नीसवीं सताब्दी में भारत की स्वतन्त्रता उन्हीं प्रवाहों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम है। स्वतन्त्रता के बाद से, योरोप और भारत प्रत्यक्ष सम्बन्ध में आये हैं और इन सभी सचची प्रक्रियाओं का एक परिणाम है भारत का उत्तरोत्तर पश्चिमीकरण और दूसरा राष्ट्र राज्य का उत्तरोत्तर एकीकरण।

५

पुर्तगाली प्रभाव

भारतीय सभ्यता में योरोप के सम्बन्धी प्रभावों का प्रवेश पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के माध्यम से हुआ है। इनमें अंग्रेजों का प्रभाव सर्वाधिक है किन्तु पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों के प्रभावों को उतना नगण्य नहीं कहा जा सकता है जितना कि अंग्रेजों के इतिहासकारों ने उम्र दिवाने का प्रयास किया है। यह अवश्य है कि अंग्रेजों के माध्यम से ही भारत का अधिकतम पश्चिमीकरण हुआ है किन्तु, साथ ही साथ यह भी सही है कि इस पश्चिमीकरण का प्रारम्भ पुर्तगालियों से हुआ था। सन् चार गे सत्र सत्राधिक समय तक पुर्तगालियों के प्रभाव में रहने वाला गाँवा वस्तुतः पुर्तगाली भारत का एक रूप है। पुर्तगाल के माध्यम से गाँवा में गया सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हुआ है, उनकी समाजशास्त्रीय विवेचना होना अभी बानी है।

पुर्तगाली, पाँचवीं शताब्दी के बाद से भारत और योरोप के बीच बढ़ते हुए सम्बन्ध की पहली कड़ी थी। पुर्तगालियों ने ही भारत और योरोप के बीच घटने वाले सम्बन्धों का मार्ग प्रशस्त किया। अपने व्यापार की सुरक्षा के लिये पुर्तगालियों ने जिन सैनिक तथा राजनैतिक उपायों का काम में लिया, जाग चल्कर, योरोप के अन्य राष्ट्रों ने उन्हीं का अनुसरण किया। भारत में पुर्तगाली प्रभाव ने यह मिट्टी कर दिया था कि भारत के व्यापार पर उसी योरोपीय राष्ट्र का अधिकार रहेगा जिसके हाथ में हिन्दमहासागर की राजनैतिक प्रभुता होगी। पुर्तगालियों ने समुद्र के मार्ग से भारत के वदेशिक व्यापार का बन्नावा किया और इस बढ़ावे का परिणाम यह हुआ कि योरोप में भारत की वस्तुओं का, विनपतया मसालों और मत्स्य का उतना प्रचार हुआ जितना पहले कभी भी नहीं हुआ था। दूसरी ओर पुर्तगालियों ने भारत में योरोप तथा चीन की बनी वस्तुओं का व्यापारिक प्रचार किया। वर्तमान भारत को वर्तमान योरोप ही नहीं बरन वर्तमान संसार के सम्पर्क में लाने वाले पुर्तगाली ही थे।

पुर्तगाली सभ्यता तत्कालीन योरोपीय सभ्यता के उपकरणों से मिश्रित एक

जटिल सकुल थी जिसमें पूजोवाद, साम्राज्यवाद, प्रजासिद्धान्त, जाति महिमयता (Ethnocentrism) और इसाई धर्मोन्मत्तता का प्रचुर समावेश था। पूजोवाद तथा साम्राज्यवाद ने उन्हीं व्यापारी साम्राज्य स्थापित करने के लिये प्रेरित किया यद्यपि उनका साम्राज्य गाँवा के आग न बढ़ सका। यह पुतगालियों की जाति-अहमयता और प्रजातिवादी मनावृत्ति का प्रतीक है कि, एक ओर, उन्होंने गाँवा का पुतगाली बणमकरों का उपनिवेश बनाने का प्रयत्न किया, भारत की जनसङ्ख्या में यूरोपियन (European) बड़े जाने वाला का योगदान दिया और, दूसरी ओर, भारतीयों को गुलाम बनाकर बेचा और भारत में जबरदस्ती ईसाईयत का प्रचार किया। पुतगालियों ने इसाई धर्म के प्रसार का जितना प्रयास किया, सम्भवतः, जय किसी योरोपीय राष्ट्र ने उतना नहीं किया। पुतगाली मिशनरियों में फ्रांसिस जेवियर (Francis Xavier) और अलेक्सिस डी मंजीज (Alexis de Menzes) के प्रधान इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। जेवियर ने भारतीयों को इसाई धर्म में दीक्षित करने का अथक प्रयास किया और इसमें उसे सफलता भी मिली। मंजीज ने दक्षिण भारत के सीरियाई (Syrian) इसाईयों का सामाजिक सांस्कृतिक व्यवहार में स हिन्दू परम्पराओं को निरालन का प्रयास किया। यह बहुत कुछ पुतगाली मिशनरियों के प्रयत्नों का परिणाम है कि वर्तमान भारत की ईसाई जनसङ्ख्या में कथालिक सम्प्रदाय के अनुयायियों का संख्या सङ्गम अधिक है। भारत में, प्रथम राज की स्थापना के बाद से, लगभग पिछले सौ वर्षों में प्रोटेस्टेंट (Protestant) सम्प्रदाय का ईसाईयत के प्रचार की खुली छूट रही है और उन्हें अपने प्रचार के लिये राज्य कृपा भी प्राप्त रही फिर भी, भारत में कथालिक सम्प्रदाय की ही प्रधानता बनी रही। हाँ मकना है कि यह भारतीयों की परम्परावादी प्रवृत्ति का परिणाम हो। पुतगाली साम्राज्य के प्रारम्भिक काल में पुतगालिया ने इसाई धर्म का प्रचार एक हाथ में नास (Cross, ईसाई धर्मचिह्न) और दूसरे हाथ में तलवार लेकर किया। इस बबर धर्म प्रसार में उन्होंने हिन्दुओं का छाडा और न भूलमाना का। इसी का परिणाम है कि वर्तमान युग के प्रारम्भ से ही इस्लाम और हिन्दुत्व ईसाईयत के प्रति शङ्कित रह रहे हैं और उमक आक्रमण से बचने के लिए उन्होंने भी धर्मोन्मत्त कट्टरवादिता का आश्रय लिया है। भारत में आश्रमिक चर्च के संस्थापक पुतगाली ही थे। किन्तु इसके साथ ही साथ पुतगालियों ने भारतीय पादरियों की प्रशिक्षण के लिये धर्मविद्या-केन्द्र खोल जिनसे भारत में उन्नीस शताब्दी के विचारवादी का प्रसार होना प्रारम्भ हुआ जिसका प्रसार योरोप में पहले हो चुका था।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पुतगालिया के सौ साल से भी अधिक एकछत्र अधिकार के कारण तत्कालीन भारत की समुद्रतटवर्ती मण्डियों में, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में पुतगाली भाषा का प्रचार हुआ और यह प्रचार यहाँ तक गया कि

प्रारम्भम अंग्रेजों को भी पुर्तगाली का ही आश्रय लेना पड़ता था¹। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी और भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में कमरा, नीलाम, पादरी, मारतोल, मज, कुओ, कमाज और तम्बाबू जैसे पुर्तगाली भाषा के शब्दों का प्रवेश हुआ। भारत की पाश्चिमी संस्कृति में पुर्तगालियों के अनेक योगदान हैं। भारत में हुक्के और तम्बाबू का प्रचार पुर्तगालियों से ही हुआ है और यह प्रचार भारतीय साम्प्रदायिक जीवन में इतना प्रविष्ट हो गया कि, एक ओर, हुक्का पीसना आदित्य सत्कार का प्रतीक हो गया तो, दूसरी ओर, जाति एकीकरण का माध्यम। जिन जातियों में हुक्का पीने की प्रथा है उनमें एक जाति को सभी सदस्य एक ही हुक्क से धूम्रपान करने हैं और जिस व्यक्ति का जाति से निकाल लिया जाता है उसका सम्मिलित हुक्का पान की मनाही रहती है। पचासवीं हुक्का पीना ही जाति अत्यंत सदस्य का पुनर्जाति में दाखिल किया जाता है। आज हिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों में हुक्का पीनी बंद करना एक मुहाविर के रूप में प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है विरादरी से निकालना।

घननाम, पपीता अमरुद, कल्मी आम, गाभी और झालू भी पुर्तगालियों के साथे हुए हैं। कहा जाता है कि बम्बई का प्रसिद्ध आम अल्फांको पुर्तगालियों का ही विकसित किया हुआ है। योरोपीय सभ्यता के उपकरणों में से पुर्तगालियों ने भारत को भूदण्ड-यन्त्र और छापाखाना प्रदान किया है। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर पायी जान वाली गोथिक (Gothic) शैली की इमारत और बंगला शैली का भवन पुर्तगाली प्रभाव के प्रतीक हैं। पार्निवर के अनुसार दक्षिणी भारत के गिरजाघरों का निर्माण निरन्तर ही पुर्तगाली शिल्पशैली पर आधारित है और मडिलापुर का चर्च इसका प्रमाण है²। गोवा के गवर्नर अल्बुकर्क ने जब से सती प्रथा का निरोध किया तब से यह विचार पनपा कि सामाजिक कानून द्वारा सामाजिक सुधार हो सकता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुर्तगालियों का माध्यम से भारत का सम्पर्क उत्तर के अन्य देशों से बना। वास्तव में, योरोप को भारत का प्रथम प्रत्यक्ष परिचय पुर्तगालियों का ही माध्यम से मिला। आधुनिक योरोपीय भाषाओं में भारतीय शब्द फूला का सबसे पहला वर्णन पुर्तगाली भाषा में ही मिलता है। जेकब ने गोवा की भाषाओं और वहाँ के निवासियों का वर्णन पुर्तगाली भाषा में प्रकाशित किया। गारसिया दा ओरटा (Garcia da Orta) ने भारत की जड़ी-बूटियों का एक व्योरेवार अध्ययन प्रस्तुत किया। किन्तु, इतना सब कुछ होने पर भी, पुर्तगालियों का प्रभाव सीमित रहा। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान भारत के अन्धुदय का प्रारम्भ भारत और पुर्तगाल के सम्बन्ध के साथ-साथ प्रारम्भ होता है।

1 दिमकर, रामनारीसह संस्कृति के चार अध्याय।

2 पार्निवर, के० एम० ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

६

फ्रांसीसी प्रभाव

पुतगालिया ने योरोप को भारत से परिचित कराया^१। फ्रांसीसियों ने उस परिचय को प्रगाढ़ बनाया और अंग्रेजों ने भारत में योरोपीय सम्मता का प्रवेश करके, सम्मता सस्टूति मण्डल की वह स्थिति उत्पन्न की जिससे भारत की संस्कृति में सर्वांगीण क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। भारत में फ्रांसीसियों का यागदान सांस्कृतिक न होकर राजनैतिक अधिक था जिसका लाभ प्रायः चलकर, अंग्रेजों ने उठाया। पुतगालिया की नीति का अनुसरण करने लगे फ्रांसीसी पहले योरोपीय थे जिन्होंने भारत में तत्कालीन राजनैतिक जीवन में हस्तक्षेप करके, भारत में राजनैतिक प्रभाव जमाने का नीति का श्रियोगेन किया। फ्रांसीसी गवर्नर डूपल ने ही सबसे प्रथम पाण्डेरी में जागीर कायम की थी। डूपल ने ही सबसे प्रथम भारतीयों का योरोपीय ढंग की नैतिक शिक्षा देकर भारत में, योरोपीय ढंग से सेवा-मण्डल प्रारम्भ किया। भारत में बाका दिनों तक फ्रांसीसी सैन्य विधेयकों को नियुक्त करने की प्रथा रही। बरकाट के युद्ध के बाद, फ्रांसीसियों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था किन्तु, फिर भी दक्षिण राज्यों में सैन्य विधेयक के रूप में फ्रांसीसियों को नियुक्त किया जाता रहा। अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव ने फ्रांसीसियों के राजनैतिक महत्त्व को भी बर्बाद दिया क्योंकि योरोप तथा भारत में फ्रांसीसी ही अंग्रेजों के राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी थे। फ्रांसीसी राज्यक्रांति और अंग्रेजों के विरुद्ध नेपोलियन के अभ्युदय ने फ्रांसीसियों का राजनैतिक स्वतन्त्रता का पेरक बना दिया। टीपू सुल्तान ने इसी प्रेरणा से फ्रांसीसियों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता मांगी थी। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के आदर्श स्वतन्त्रता (Liberty), समता (Equality) और बंधुता (Fraternity) प्रारम्भ से ही भारतीय स्वतन्त्रता मण्डल का प्रभावित करते रहें हैं।

भारतीय विचारधारा से योरोप को परिचित कराने में फ्रांसीसियों का योगदान काफी महत्वपूर्ण है। मैक्समुलर (Max Muller) के बहुत पहले फ्रांसीसियों ने भारत के दार्शनिक विचारों का प्रचार योरोप में कर दिया था। योरोप के नव-जागरण काल के जर्मन दार्शनिकों में भारतीय दार्शनिक विचारधारा की जो झलक मिलती है वह फ्रांस में ही माध्यम से जयनी पहुँची। पाण्डेरी के मिशनरियों ने एडमंड डेविस (L. Edzardam) के नाम से फ्रांसीसी भाषा में एडमंड पर जो

१ भारत में आने वाला पहला अंग्रेज जमुवाइट निगमरी थामस स्टीवंस सन १५२१ में उनाली में गोवा में ही आवर ठहरा था। उसने अपने पिता को जो पत्र लिखा था उसके प्रकाशन से ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थापित करने की प्रेरणा मिली ओ' गेले

पुस्तक प्रकाशित की थी उसका फ्रांसीसी विचारक वात्तेयर (Voltaire) पर काफी प्रभाव पड़ा। सत्र अठारह सौ सत्रह में फ्रांसीसी मिशनरी एबे डुबाय (Abbe Dubois) की हिंदू मैनस, कस्टम्स और सेरीमनीज नामक पुस्तक प्रकाशित हुयी जिसमें तत्कालीन भारत के रीति रिवाजों का विस्तृत वर्णन है। किंतु इन सभी प्रकाशनों में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकाशन है दुप्रा (Duperron) नामक फ्रांसीसी द्वारा एक साथ फ्रांसीसी तथा लैटिन भाषाओं में प्रकाशित ओपनिखन (Oupnekhah) नामक ग्रंथ। यह ग्रंथ सत्र अठारह सौ एक और दो में प्रकाशित हुआ था। दुप्रा (Duperron) पारसियों के जरदुस्त्र धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा से फारसी सीखने तथा पारसियों के मूल ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए भारत आया था। उस यही वह हस्तलिखित फारसी ग्रंथ मिला जिसे दारा शिवाह ने ओपनिखत के नाम से लिखावाया था और जिसमें उपनिषदों का निबोध था। दुप्रा (Duperron) द्वारा प्रकाशित ग्रंथ ओपनिखत के ही माध्यम से हमनी के दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhaur) को भारतीय दर्शन का परिचय हुआ। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जर्मनी में भारतीय दर्शन के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुयी जिसकी अभिव्यक्ति का चरमांकण मक्समूलर द्वारा कर्नो के अध्यापन और नव संस्करण में हुआ। मक्समूलर की पुस्तक 'सर्वरथ युक्त धर्म दि ईस्ट, व' द्वारा योरोप में भारतीय दर्शन का प्रचार हुआ।

७

अंग्रेजी राज का प्रभाव

यह निर्विवाद है कि भारतीय संस्कृति में योरोपीय सभ्यता का 'मापक' प्रभाव अंग्रेज अंग्रेजी राज की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में हुआ है और अतः भारतीयों के उस प्रयास से हुआ है जिसके द्वारा उन्होंने, योरोपीय सभ्यता के उपकरणों का आवश्यकतानुसार अपना कर, अंग्रेजी राज स्थापित तथा योरोपीय प्रौद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत चुनौती में लाह लाने का प्रयास किया है¹। भारत में अंग्रेजी राज के

- 1 भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले ही भारत का पश्चिमीकरण होना प्रारम्भ हो चुका था। योरोपीय सैनिक संगठन और शस्त्रों का प्रयोग कच्छ में योरोपीय दम के भवनो का निर्माण, यहां के नवाबों और राजाओं द्वारा योरोपीय दम की छोटी गाड़ियों सजावट के उपकरणों और फर्नीचर (Furniture) का प्रयोग इसके प्रमाण हैं। लखनऊ के आसफुद्दौला ने गोथिक

प्रशासक का तीन श्रेणियों में रखता जा सकता है—पहली श्रेणी में आते हैं मलाइव (Malve) जम प्रशासक जिन्होंने घोलाघड़ी का आश्रय लिया भारत में लूट-पाट का राज्य स्थापित किया और भारत में घोलाघड़ी से कमया हुए धन को इंगलण्ड में नवाबों की भाँति खर्च करने तथा भारतीय नवाबों का सा विलासी जीवन बिताकर इंगलण्ड के नागरिक जीवन का दूषित किया, दूसरी श्रेणी में आते हैं कानवालिम, वारेन हेस्टिंग्स, विलियम बेंटिक विलेजली इसहौजी और कजन जम प्रशासक जिन्होंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को बढ़ाने के साथ साथ भारत का रत्न-सार और हाथ जैसे सभ्यतायी उपकरण प्रदान किए, भारत में धर्मनिरपेक्ष ठोस प्रशासन की नींव डाली और विधिगत शासन (Rule of Law) की स्थापना की और तीसरी श्रेणी में आते हैं एडमण्ड बक, विलियम जोन्स मेकाले काल्डवेल और चार्ल्स विलिक्स जस लोग जिनके सन्तानुभूतिक प्रयत्नों से भारत में एक नए उदारवादी परम्परा का श्रीगणेश हुआ तो दूसरी ओर भारत की पुनर्जागरण (Pederogery) प्रारम्भ हुई और भारत ने अपने राष्ट्र हुए स्वत्व को पुन प्राप्त कर अपने को पुन जागत और स्थापित किया ।

इन प्रशासकों के प्रयत्नों का खासा और खार वणन वर्तमान भारत की सांस्कृतिक प्रगति का समान में काफी महत्त्वपूर्ण प्रमाण करता है । कानवालिम ने ही भारत में उस तृतीय श्रेणी के जन्म दिया जिन्होंने पहले अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत बनायीं किन्तु बाद में पूँजीवादिता की ओर मुड़कर अंग्रेजी राज का विरोधी किया । वारेन हेस्टिंग्स ने ही यह नीति निवारित की थी कि भारत का शासन भारत के धर्मशास्त्रों के अनुसार होगा और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने पहले धर्मशास्त्रों का अनुवाद फारसी में करवाया और बाद में अंग्रेजी में । इसी नीति का परिणाम था कि पहले भारत के जजों को मस्लूम और फारसी शौकती पढ़नी थी और इसके लिए वे श्रद्धा से मस्लूम और बनारस में मस्लूम शास्त्रों की स्थापना की गयी थी । किन्तु विलियम बेंटिक के समय में यह पता चला कि धर्मशास्त्रों में किसी भी विषय का लक्ष्य एकरूपता नहीं है । अतः मेकाले के प्रयत्नों में भारतीय दण्ड संहिता (Indian Penal Code) का संग्रह करवाया गया । इसी समय में, भारत में, अंग्रेजी का उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया गया । विलियम बेंटिक के समय से सामाजिक

शरी में इमारतें बनवाई, योरोपीय फर्नीचर और गिडकी तथा दरवाजों में लगने वाले गीर्गों और फर्नीचर (Furniture) को एकत्र किया । पंजाब के राजा रणजीतसिंह ने स्टामर बनवान का असफल प्रयत्न किया । भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद में विधेयतया सन् अठारह सौ अठारह के बाद से, भारतीयों ने योरोपीय विज्ञान, प्रौद्योगिकी और शिक्षा को उत्तरोत्तर माँग की है और वह माँग आज भी जारी है—ओमेले ।

विधान (Social Legislation) के द्वारा सामाजिक समस्याओं के निराकरण का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। वलजली न बनिया राज के स्थान पर, अग्रजी ढग व प्रणामन को लाने का प्रयास किया। डल्हौजी व ममय म रेल, तार और डाक का संगठन किया गया। वजन पहलू प्रणामन के विधान भारत के पुरावस्था की सुरक्षा का प्रबंध करके भारतीय इतिहास व मुनियोजित अध्ययन की आर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

यद्यपि भारत नहीं जाय थे आर न वे भारत के प्रशंसक ही रहे थे। वे इंग्लैंड में उदारवादी राजनैतिक विचारों के प्रणेता थे। इंग्लैंड की पार्लियामेंट में भारत के अग्रज प्रणामन के भ्रष्टाचार व व तीव्र आलोचना थी। यह उन्हीं के विचारों के प्रभावों का परिणाम है कि इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने भारत में, धीरे धीरे, सभ्य सरकार स्थापित करने के प्रयास को अपने अधिकार क्षेत्र में लिया। इसी प्रयास का परिणाम है कि धीरे धीरे, भारत में एक संविधान का विकास हुआ। वरुं भारत के राजनैतिक जीवन में उदार परम्पराओं के जनक हैं। धर्मशास्त्रों में निहित विधि प्रणाली के अनुसार शासन कायम करने की जिस नीति का निर्धारण वारन हेस्टिंग्स ने किया था उसका स्वनात्मक प्रतिफलन हुआ विलियम जोस काल्बुग्न और चार्ल्स विलियम के बायो और श्रुतिओं तथा उनसे उत्पन्न प्रभावशाली परिणामों में। जोस कल्बुग्न हाईकोर्ट के जज होकर आए थे किन्तु वे वस्तुतः भारत के पुनर्जागरण के सिद्धांत हैं। उन्हीं के प्रयत्नों में, सन सत्रह सौ चौरासों में बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुयी जिसमें भारतीय संस्कृति की तुलनात्मक (Ethnological) विवेचना प्रारम्भ हुयी। यही स इण्डोलॉजी (Indology) का विधिवत अध्ययन प्रारम्भ होता है। जाय ही पहलू व्यक्ति थे जिन्होंने उत्तरी भारत में लकर आयरलैंड तक फैली हुयी भाषाओं की समान आनुवंशिकता की आर विद्वत समाज का ध्यान आकर्षित करके, एक प्रकार, भारतीय संस्कृति की प्राचीनता की आर ध्यान दिलाया तो, दूसरी ओर, तुलनात्मक भाषा विज्ञान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। जोस द्वारा किए हुए शकुंतला व अग्रजी अनुवाद का अध्ययन करके ही गेटे ने शकुंतला पर अपनी प्रसिद्ध कविता लिखी थी। यह जोस के ही प्रयत्नों का परिणाम था कि भारत विद्विष्य में गीता का अग्रजी अनुवाद किया, सत्रह सौ चौरासों में मनुस्मृति का अग्रजी अनुवाद प्रकाशित हुआ और सन अठारह सौ पाँच में कोल्ब्रुक ने थे। व अग्रजी में प्रामाणिक विवरण प्रकाशित किया। मकमूलर इन सारे अग्रज विद्वानों की शोधिक परम्परा के चर्मोत्पन्न के रूप में आये।

भारत में अग्रजों का राज लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक रहा। इस राज्य-काल में अग्रजों और भारतीयों का पारस्परिक सम्बन्ध, वस्तुतः, नहीं के बराबर रहा। भारत में अग्रज शासन अज, मिशनरी, शिक्षक और व्यापारी के रूप में रहे और जहाँ भी वे रहे उन्होंने अपने सामाजिक जीवन को बनाये रखा। मुसलमानों की भाँति वे

भारतीय सामाजिक जीवन के पारस्परिक स्तरपरकभी भी नहीं आये। जिन भारतीयों ने इसाई धर्म को स्वीकार भी किया वे भा अंग्रेजी मिशनरियों से चर्चों और सभाओं में ही मिलते थे। एंग्लो इण्डियनों को अंग्रेजों ने कभी भी अपने सामाजिक जीवन का अंग नहीं माना। इंग्लैंड का बौद्धिक प्रभाव भी प्रत्यक्ष न पड़ कर अप्रत्यक्ष रूप में पड़ा। इसी कारण, अंग्रेजों और भारतीयों में पारस्परिक सामंजस्यपूर्ण आदान प्रदान बहुत ही कम हुआ। भारत में जो कुछ भी योरोपीय प्रभाव अंग्रेजों के माध्यम से आया वह, भारत में, अंग्रेजी राज को बनाए रखने की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में आया। यही कारण है कि अंग्रेजों के राज्यकाल में भारत का पश्चिमोन्मुख धीरे-धीरे हुआ। फिर भी अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए। इस्लाम के सघात से भारत का सामाजिक आर्थिक ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं आया था और, इस कारण, मुसलमानों का प्रभाव में भारत के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों में अधिकतर परिवर्तन हुए। किंतु अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर जो सभ्यताओं के सघात पड़ा उसमें भारत का सामाजिक आर्थिक जीवन में आधारभूत परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों ने समाज और संस्कृति का अर्थ भ्रमों का परिवर्तित किया।

अंग्रेजी राज के माध्यम से भारतीय समाज और संस्कृति पर योरोपीय सभ्यता का जो सघात पड़ा उसके स्वरूप का भूमांस्न करते हुए गांधीजी ने कहा था कि भारत का बाह्य के दशा और पश्चिम में जो सम्पर्क स्थापित हुआ है वह बवल ऊपरी सम्पर्क है किन्तु भारत में पश्चिम (The West) का प्रभाव भारत की हृदयों की मज्जा तक में घुस गया है¹। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत की दशा तथा स्थिर संस्कृति, एक ब्राह्म तथा प्रगतिशील सभ्यता का सम्पर्क में आयी। अंग्रेजी राज के ही माध्यम से भारत में पश्चिमी प्रणाली पर विधि और राज्य का संगठन किया गया, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से उस शिक्षा प्रणाली का संगठन किया गया जिसके आदर्श और अंश (Values) एकदम भिन्न थे राजनैतिक जीवन की योरोपीय धारणाओं का भारतीय जीवन में प्रवेश हुआ योरोपीय ज्ञान तथा ज्ञान विज्ञान का प्रचार हुआ, यातायात और उत्पादन के नये साधनों से आर्थिक जीवन का एक नया स्फूर्तिपूर्ण हुआ और नये तथा द्रुतगामी संचारधन के साधनों से नये विचारों का संचार हुआ और इन सबका सम्मिलित प्रभाव हुआ सामाजिक परिवर्तन की उस गति और दिशा का जन्म जो भारत के लिए एकदम नई थी।

प्रारम्भ से ही अंग्रेज प्रशासक दो मतों के रहते हैं। एक श्रेणी में वे लागू करते हैं जो भारतीय ज्ञान विज्ञान और दर्शन से उत्पन्न प्रभावित थे कि वे भारत के

की भाषाओं दशन, गणित मजहब और प्रजातन्त्र की वास्तविक जननी भारत ही है¹।

इसप्रकार योराप की द्विभाजित विचारधारा में भारत का वास्तविक मूल्यांकन न हो सका। इसकारण भारत के धर्मग्रंथ प्रशासक भी यह निष्कर्षन कर पाये कि भारत और योराप का कसा सम्बन्ध हो। दूसरी ओर, इसका परिणाम यह हुआ कि स्वयं भारत की विचारधारा में योराप को लेकर द्विभाजिता का समावेश हुआ और परम्परा बनाम आधुनिकता का विवाद चल पड़ा। इसमें कोई शक नहीं कि योरोप का प्रभाव एक सभावात के समान धाया जिसके झरोखा में भारतीय बौद्धिकता वसे सचेष्ट हुयी जैसे गम्भीर निद्रा में खोया हुआ व्यक्ति सहसा उठ कर जोर तवतरे का अनुभव कर सचेष्ट हो उठता है। भारत ने, अपनी बौद्धिक परम्पराओं में योरापीय सम्प्रदाय का मूल्यांकन करके, उस अपने सम्बन्ध में लाने का प्रयास किया। इसके दो परिणाम हुए—एक ओर भारत ने अपने का कूट निष्कर्ष और, दूसरी ओर, योराप का प्रभाव से उत्पन्न पुनर्जागरण की रासनी में अपनी संस्कृति को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। योराप से आने वाले दसाइयत के आश्रमिक प्रहारा योराप की शिरीषाविवता और उससे उत्पन्न समस्याओं तथा योराप में उठने वाले दो महापुद्गा की भीषणता को देख कर, भारतीय विचार योरापीय सम्प्रदाय के प्रति सन्निकित हो उठा। पर, साथ ही साथ, योरापीय सम्प्रदाय के लाभदायक और मानवीय उपादयों का हृदयगत करने का लोभ भी भारत में व्याप्त रहा। जिस प्रकार, भारत का लेकर योरापीय विचारधारा में द्विभाजिता का समावेश हुआ उसी प्रकार योरापीय संस्कृति का लेकर भारत में द्विभाजित विचारधारा का जन्म हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि, एक ओर, भारतीय संस्कृति का पुनर्मूल्यांकन शुरू हुआ तो दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति में योरापीय सम्प्रदाय का समावेश करके, उसके पुनर्स्थापन का प्रयास शुरू हुआ। इसी द्विभाजिता का एक अन्य परिणाम हुआ भारत में कटटर पुरातन पथी विचारधारा का अभ्युदय। पश्चिमी सम्प्रदाय के सघात में, भारतीय संस्कृति को भ्रमणकार दिया, भारत में एक नए बौद्धिक कोलाहल का जन्म दिया और भारतीय समाज तथा संस्कृति सम्बन्धी अनेक वैकल्य प्रश्नों को जन्म दिया। किन्तु, फिर भी यह सघात भारतीय संस्कृति को परम्परात्मक अभिरुचि का न बदल सका। यह सघात, वस्तुतः, समुद्र की उत्ताल तरंगों के समान्तर है जिसमें भारतीय संस्कृति उस चट्टान के समान सिद्ध हुयी जिससे समुद्र का लहरें टक्करी हो रही और उस हिला न सकी²।

1 राधाकृष्णन, एस० ईस्ट एण्ड वेस्ट सम रेफ्लेक्शंस पृष्ठ 79

2 पानिकर, के० एम० ए सर्व आफ इण्डियन हिस्ट्री अध्याय 20 ओर 21

3 व्यास, के० सी० दि सोशल रिनासा इन इण्डिया पृष्ठ 9

ए० आर० देसाई^१ के अनुसार, जिस समय भारत में अंग्रेजी राज की जड़ें जमनी प्रारम्भ हुयी थी उस समय इङ्गलैंड की सामन्तवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था में बदल चुकी थी। वहाँ, एक ओर, मुद्रा, बाजार और मशीनीकृत औद्योगीकरण पर आधारित आर्थिक व्यवस्था तथा दूसरी ओर, इस अव्यवस्था पर आधारित प्रतियोगी (Competitive), व्यक्तिवादी, चलियु (Mobile) और बड़े बड़े सामाजिक व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आ चुकी थी। इङ्गलैंड की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के आधार थे धननिरेपेक्षता, प्रतियोगिता (Competition) और संपादित सामाजिक प्रतिष्ठा (Achieved Social Status)। इन विशेषताओं के कारण अंग्रेजी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था भारत की अपेक्षा कहीं अधिक गत्यात्मक थी। इस गत्यात्मकता का एक अन्य कारण था अंग्रेजी व्यवस्था पर वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का प्रभुत्वमय प्रभाव। भारत की अपेक्षा, इङ्गलैंड का प्रौद्योगिक स्तर अधिक विकसित था और पूँजीवादी प्रवाह में पूँज्यता निर्माणित होने के कारण इङ्गलैंड की राष्ट्रवादी भावना अधिक स्पष्ट गत्यात्मक और पुष्ट थी।

इसके विपरीत भारत एक सेतिहूर देश था। यहाँ की आर्थिक व्यवस्था उस कृषि पर आधारित थी जिसमें उत्पादन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था जीवन निर्वाह से न कि मुनाफा और बाजार से। प्रौद्योगिकी का स्तर इङ्गलैंड की अपेक्षा निम्न था। कृषि पर आधारित भारतीय आर्थिक व्यवस्था का सामाजिक पहलू, एक ओर, भारतीय सामन्तवाद में निहित था तो, दूसरी ओर, संयुक्त परिवार, जाति ग्राम सगठन और इन आर्थिक धारणाओं में जो अपरिवर्तनशीलता तथा समष्टिवादिता की प्रेरक थी। भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था समष्टिवादी थी और अभिरक्षित सामाजिक प्रतिष्ठा (Ascribed Social Status) पर आधारित थी। भारत का औद्योगीकरण उस प्रौद्योगिकी पर आधारित था जिसमें प्राणिक शक्ति (Organic Power) का प्रयोग होता था। औद्योगीकरण सीधे निम्न था कृषि पर न कि लाभ और बाजार पर। विभिन्न उद्योगों में लगे हुए कारीगर उत्पादन करते थे केवल स्थानीय उपभोग के लिए और यही कारण है कि जाति-व्यवस्था के रूप में श्रमिकों और कारीगरों को पारिभ्रमिक मुद्रा में न मिला कर धातु (Kind) के रूप में मिलता था। मुद्रा के स्थान पर बदस्तोर का प्राधान्य था। गरीब सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था की धुरी था प्रचलित ग्राम (Isolated Village) और, इस कारण, भारत की राष्ट्रवादी भावना इङ्गलैंड की अपेक्षा अत्यधिक दलील थी। भारत उस समय एक संस्कृति राष्ट्र था न कि राज्य राष्ट्र (Nation State) जो पूँजीवादी व्यवस्था की उत्पत्ति है और संस्कृति निरपेक्ष तथा धन निरेपेक्ष राष्ट्रवादिता की जननी है। मनुष्य में, भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था अनाम्य (Rigid) अवस्थात्मक और मशीनीकृत थी।

१ देसाई, ए० आर० सोशल बयप्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म।

इस प्रकार, भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना में सम्प्रदाय-संस्कृति मथात की जा गत्यात्मक परिस्थिति उत्पन्न हुई जसमें, वस्तुतः, इङ्गलैंड की पूजोवादी व्यवस्था का भारत की सामतवादी-व्यवस्था पर संघात पड़ा। इस संघात में एक आर थी अपेक्षाकृत कम परिवर्तनशील और स्थायी सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था और, दूसरी ओर, थी एक व्यापारी, साम्राज्यवादी, गत्यात्मक, चलिष्णु और सैनिक व्यवस्था, एक आर थी आविर्भूत तथा मद प्रौद्योगिकी और, दूसरी ओर थी एक उत्तरोत्तर विकसित प्रौद्योगिकी। भारतीय व्यवस्था समष्टिवादी, अभिराषित, अनाम्य, अप्रतिपायी और धर्मोन्मुख थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था व्यक्तिवादी, प्रतिपायी और धर्मनिरपेक्ष थी। भारतीय व्यवस्था संस्कृतिमूलक, रहस्यवादी और माध्यात्मिक थी जबकि अंग्रेजी व्यवस्था सम्प्रदायमूलक, पार्थिव इटलीक और नितान्त प्रौद्योगिक थी। दोनों व्यवस्थाएँ अलग अलग इतिहासिक परिस्थितियों की उपज थी। अंग्रेजी व्यवस्था उपज थी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी और पूजोवाद की—बहु पूजोवाद का वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभावा के कारण, इङ्गलैंड के सामतवाद का एक सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण था और जिसकी आधारभूत आवश्यकताएँ थी व्यक्तिवाद, राष्ट्रवादिता और साम्राज्यवाद। भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना इसी पूजोवाद की एक आवश्यकता मात्र थी और इसीकारण, अंग्रेजी राज के माध्यम से, भारत में यही परिवर्तन हुए जो अंग्रेजी पूजोवाद के अस्तित्व के लिए आवश्यक थे।

अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद भारत में, सम्प्रदाय संस्कृति सथात की परिस्थिति से उत्पन्न परिवर्तनों का निबचन मुख्यतया तीन दृष्टिकोणों से किया गया है। एक वह दृष्टिकोण है जो मानववाद पर नहीं बल्कि मानववादी अध्ययन रीति पर आधारित है। इस दृष्टिकोण से, आधुनिक भारत के सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों को प्राथमिक सामाजिक-परिवर्तन भू-सला के एक सिलसिले में आने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण को मानने वाले यह मान्यता लेकर चले हैं कि भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अंग्रेजी राज का काल वह काल है जब भारत की प्राथमिक व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन हुए और आर्थिक परिवर्तनों ने सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों का जन्म दिया। इस मान्यता के मानने वालों के मत में अंग्रेजी के अधीन भारत का इतिहास वस्तुतः, एक सामतवादी व्यवस्था का धीरे धीरे एक अपूर्ण पूजोवादी व्यवस्था में परिणत होना का इतिहास है¹।

दूसरा दृष्टिकोण उन अध्ययन-कर्ताओं का है जिनके अध्ययन भारत के आविष्कार (Discovery of India) या भारतीय संस्कृति की एक महान समुत्थान

1 विशय अध्ययन के लिए देखिय सवधी ए० आर० देसाई कृत सोनल बकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, नजमुल करीम कृत चीनिंग सोसायटी आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, डी०पी० मुकर्जी कृत, माडन इण्डियन कल्चर, और एच०डी० मालविया कृत, विलेज पचायत।

(A Great Recovery) की भावना से आत प्रेरित है। यह दृष्टिकोण इस मायता पर आधारित है कि पश्चिमी राज के माध्यम से पढ़ने वाले सघात के प्रभाव से, भारत तथा भारतीय सभ्यता ने, वस्तुतः, अपने को पुनः दूब निकाला है। इसी को नेहरू ने 'भारत का आविष्कार' कहा है और पात्रिकर ने एक महान समुत्थान। पात्रिकर के अनुसार, अथवा राज का काल ही वह काल है जब भारत की प्राचीन नौकरशाही की परम्पराओं के आधार पर, एक नयी प्रशासन-व्यवस्था कायम की गयी, जब यातायात के साधनों के विकास के कारण भारत का सर्वांगीण एकीकरण हुआ, जब भारत में राष्ट्रीयता का विकास हुआ तथा हिन्दुत्व सभ्यता का आधार और भारतीय कला का पुनरुत्थान हुआ, जब भारत के प्राचीन इतिहास के नवनिर्वाचन के प्रयत्न प्रारम्भ हुए और इतिहास के गत में से अगोक तथा बुद्धवाद का निकाल कर मसार के समान रखा गया और जब इन सभी विकासों के सम्मिलित प्रभाव के कारण, धीरे धीरे भारत में एक सामूहिक गति की चेतना जगी¹। यही विकास पात्रिकर के अनुसार, वह महान समुत्थान है जिसने आधुनिक भारत का सांस्कृतिक इतिहास ओत प्रान है।

जिस प्रकार इस्लामी सभ्यता के सघात से भारत के सामाजिक विचार में कालाहल हुआ था और उससे सामाजिक नवजागृति (Social Renaissance) का मिलसिला प्रारम्भ हुआ था—वह मिलसिला जिनमें शंकर, रामानुज, रामानंद, कबीर, तुलसी और रामदास को उत्पन्न किया था और भारत में उन सुधारवादी पथों को जन्म दिया था जिनकी परम्परा वर्तमान समय तक आता है—उसी प्रकार पश्चिमी सभ्यता के सघात ने भी एक बार फिर एक नए बौद्धिक कोलाहल का जन्म दिया। इसी बौद्धिक कोलाहल से एक नयी सामाजिक नवजागृति उत्पन्न हुयी जिसमें अनेक सुधारवादी आन्दोलनों को जन्म दिया। यह समाजसुधारवादी सामाजिक नवजागृति वस्तुतः, भारतीय सामाजिक विचार का गत्यात्मक विकास है। अतः, अध्ययन का एक सीसरा दृष्टिकोण है आधुनिक भारत के सामाजिक विचार का गत्यात्मक निरवचन। यह अध्ययन रीति दर्शन की परम्परा में है और इसके अग्रणी हैं राधाकृष्णन।

इस प्रकार जसा कि पिछले समिप्त, परिचयात्मक संबंधों से स्पष्ट है भारतीय सभ्यता पर पश्चिमी सभ्यता के सघात को विद्वानों ने कई पहलुओं से देखा है। एक सर्वांगीण विवेचन के लिए दो बातों की आवश्यकता है। एक ओर, इस बात की आवश्यकता है कि पहले पश्चिमी सभ्यता के सघात के विभिन्न पहलुओं और उनसे उत्पन्न होने वाले संस्थापिक रूपांतरणों का और, फिर, इस सघात में उभरने वाली सामाजिक नवजागृति तथा सामाजिक विचार का विवेचन किया जाय। संस्थाओं में परिवर्तन, सुधार की आवश्यकता और सुधारवादी आन्दोलन एक दूसरे में सम्मिलित हैं। अतः, जगला वर्णन दो भागों में विभाजित है—एक संस्थाओं में परिवर्तन और दूसरा सामाजिक नवजागृति का आन्दोलन।

1 देखिये जवाहरलाल नेहरू द्वारा रचित हिस्किन्सरी आफ इण्डिया और के० एम० पात्रिकर द्वारा ए० सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री।

संग्रहवा अध्याय सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण

आर्थिक व्यवस्था

जसा कि पहले कहा जा चुका है योरोपीय सभ्यता का सबसे बड़ा और आधारभूत परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर । इस्लाम के सघात से भारत की आर्थिक व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं आया था । मुस्लिम विजेता भारत के सामाजिक आर्थिक जीवन का एक अंग बन कर रह गये और उन्होंने यहाँ की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था को ही अपना लिया था । लेकिन भारत में अग्रजी राज की स्थापना ने एक नयी परिस्थिति का जन्म दिया । यह वह परिस्थिति थी जिसमें भारत में स्थापित अग्रजी राज्य इंग्लैण्ड की बढ़ती हुयी पूँजीवादी व्यवस्था का एक आधारमान था । यही कारण है कि अग्रजी राज के सघात से एक ओर, पूँजीवादी व्यवस्था का भारत में श्रीगणेश और शन गन विकास हुआ तो दूसरी ओर पूँजीवाद की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इंग्लैण्ड के पूँजीवादी वर्ग ने भारत के प्राचीन सामन्तवादी वर्ग को नष्ट करके, एक नये सामन्तवादी वर्ग को जन्म दिया । ए० आर० देसाई के अनुसार, जिनको वे राज्य बाल में भारत का इतिहास वस्तुतः, यहाँ की सामन्तवादी व्यवस्था के एक अपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था

म बदलने का इतिहास है। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। अंग्रेजी राज्य-पाल म भारत म अंग्रेजी पूँजीवाद सदैव यहाँ क सामंतवाणी वग का ही स्थायी रखने की ओर उमुख रहा जबकि भारत का पंजीवाणी वग जो स्थल योरापीय सघात की उपज था एक अर भारतीय सामंतवग का मिटान की ओर उमुख हुआ था, दूसरी ओर अंग्रेजी पंजीवाणी क विरुद्ध मजबूत रना। कायस क तन्त्र म चलन वाला स्वतंत्रता मशाम "मम मितन वाणी जाँ क सहायता क सात अर स्वदेशी अंग्रेजी जमरीकी पूँजीवाणी स दुन जाश्रय पान क लिय उमुख ह क्यानि आन उसका ही स्वतंत्र खन म ह।

भारत की म सामाजिक आर्थिक गत्यात्मकता का ममभन क लिय भारत की परम्परागत जाँ क यवस्था म हान गत उन परिवर्तना क समनन की आवश्यकता है जा अंग्रेजी राज क माध्यम म प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे घटित हुये। भारत की परम्परागत आर्थिक यवस्था क मरन जागर व कृषि की प्रगतिता, तत्कालीन कृषि प्रौद्योगिकी कृषि पर जाधारित औद्योगीकरण और इन सबन सम्बन्धित तथा इनका स्थापित प्रगति करन वाणी सामाजिक यवस्था। याराप स सम्पत्क स्थापित हान पर पहन भारत क उद्योगा का प्रास्ताहन मिला क्यानि यारापीय सम्पत्क की प्रथम अस्था म भारत विदेशी जापारियों का एक बडा बाजार हा गया। यिन्गी जापारा भारत की बनी वस्तुओं की खरातत व और विदेशा स लायी हुयी वस्तुओं का यन वचन थे। मी बाजार न भारत क उम मध्यम वग का जम लिया जिसक अस्तित्व या मध्य आधार था यिन्गी जापार और याराप म पनपने वाला पूँजीवाद।

भारत म अंग्रेजी राज का स्थापना हान क साथ साथ एर और भारत क बाजार म भारतीय माँ की बिनी वम हानी प्रारम्भ हुयी क्यानि मसीना का बना माल भारत क वन माल की अस्था मस्ता पडता था और दूसरी ओर यिन्गी माल की खपन वन गी। यही वृहति की जिसका अंग्रेजी पूँजीवाणी न बनाप रतने का प्रयत्न किया। उसन यिन्गी अंग्रेजी राज को माध्यम बनाया गया और उसक द्वारा भारत की परम्परागत आर्थिक यवस्था म कवल वही परिवर्तन किये गये जा आवश्यक थ। अंग्रेजी राज म भारत की सामंतवादी वृह अस्था पूणतया पूँजीवाणी व्यवस्था म नहा वली। भारत म पूँजीवाणी वृह अस्था आई ही नही जा अठारहवीं और उनीसवीं गता की क इगलण्ड और याराप म थी। वतमान भारत की आर्थिक यवस्थाकी गत्यात्मकता पूँजीवाणी का छाटकर समाजवाद की ओर प्रवाहित हा रही है? यह याराप क सघात का ही प्रभाव ह कि वतमान भारत पूँजीवाद तथा समाजवाद के धपडा म है। इन धपडों में उल्ला हुआ भारत पूँजीवाणी तथा समाजवाणी का वसा ही समन्वय करने म प्रयत्नशील है जैसा कि उमने

इस्लाम और हिन्दुत्व का तथा आय और द्राविड का समन्वय किया है।

इंग्लैण्ड की आर्थिक व्यवस्था औद्योगिकृत पूँजीवादी व्यवस्था थी और इस कारण उसका प्रत्यक्ष प्रभाव भारत की कृषि व्यवस्था पर पड़ा। योरोप से सम्पर्क स्थापित होन ही, भारतीय कृषि व्यवस्था का आर्थिक सम्बन्ध आधुनिक मशीनाकृत और पूँजीवादी औद्योगीकरण से हो गया था क्योंकि योरोप के लोगों ने भारत में उन्हीं वस्तुओं का अधिकतर खरीदा या प्राप्त करने पर ज़ोर दिया जिनका उपयोग कच्चे माल की तरह विभिन्न उद्योगों में हो सकता था। पहले योरोप के लोगों की दिलचस्पी भारत में बड़ी उपभोग की वस्तुओं में थी किन्तु जब योरोप में मशीनीकरण बढ़ा तो उनकी दिलचस्पी उपभोग की वस्तुओं में न रह कर कच्चे माल में अधिक हो गयी। अंग्रेजी राज के स्थापित होते ही, यह दिलचस्पी और भी बढ़ गयी। अतः भारत के किसान न उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करना प्रारम्भ किया जिनकी विभिन्न उद्योगों में आवश्यकता थी और जिनसे फौरन ही नफ़ा रूप में मिल सकता था। पहले किसान अपनी भूमि से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करता था और कृषि उसके लिये जीवन निर्वाह का एक साधनमात्र थी। किन्तु योरोप से सम्पर्क स्थापित होने पर भारतीय किसान न कपास, गन्ना, तिलहन जूट और लकड़ों का निर्यात करने लगे कि उनकी बाजार में माँग थी और उनका उत्पादन लाभ होता था। फलतः भारतीय कृषि में राज सस्या (Cash Crops) का समावेश हुआ। नारंग व जिन क्षेत्रों में जिन वस्तु के उत्पादन में अनुकूल साधन थे उस क्षेत्र में उसी वस्तु का उत्पादन बढ़ा और उन्हीं उद्योगों में प्रत्यागन मिला। बंगाल में जूट की रोती बढ़ी, उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ना की पैदाईश और मिथान पालन व दक्षिण में कपास की और आंध्र प्रदेश तथा मद्रास में तम्बाकू की। यही नहीं भारत के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अलग-अलग क्षेत्रों की विशेषताओं का उत्पादन होने लगा। इस प्रकार, कृषि में एक आर, विशेषीकरण (Specialization) बढ़ता दूसरी ओर कृषि का

- 1 योरोप के प्रभाव से भारत में जो सामाजिक नवजाति पली उसकी दिशाधारण समाजवादी रही है। स्वतन्त्र भारत का जादस समाजवादी समाज की स्थापना है—वह समाज जिसमें राज्य जावत्याण का मुख्य माध्यम है किन्तु उसे अधिनायकत्व नहीं बनाना है। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा किन्तु वह तब जहाँ तक ऐतिहासिक परिस्थिति की आवश्यकता है। समाजवादी समाज व्यक्तिगत साम्प्रतिक अधिकारों तथा मिलिक्रियत और सामूहिक मिलिक्रियत का समन्वय है जो न योरोप के पूँजीवादी मद्रासों से ही प्रभावित है और न साम्प्रदायी आदर्शों से ही। समाजवादी समाज पूँजीवाद और साम्प्रदायी का समन्वय है—देखिए पक्ष चर्चा में योजना की भूमिकाएँ।

व्यापारीकरण (Commercialization)

भारतीय कृषि का उत्तरोत्तर निसेपीकरण और व्यापारीकरण उस सम्पन्न की परिस्थिति का परिणाम है जिसमें छोटे-छोटे, उसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और औद्योगिककरण से स्थापित हुआ। यह इसी प्रक्रिया का परिणाम है कि भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते भारतीय किसान का अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसी प्रक्रिया का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के उतार-चढ़ाव का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय किसान की आर्थिक परिस्थिति पर पड़ने लगा। अंग्रेजी कृषि की आर्थिक व्यवस्था में भारतीय किसान का सम्बन्ध केवल अपने गांव और उस क्षेत्र तक सीमित था जहां से उसके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। किन्तु, अंग्रेजी राज भारतीय कृषि और किसान का राष्ट्र और समार के सघात में ल जाया। यह इसका प्रभाव का परिणाम है कि वर्तमान भारत में कृषि और किसान की समस्याएँ राष्ट्रीय महत्व की हैं।

भारत की भूमि व्यवस्था में परिवर्तन एक अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन है। अंग्रेजी कृषि की भूमि-व्यवस्था में भू-स्वामित्व अस्पष्ट भी था और सामूहिक भी। प्रत्येक परिवार की अपनी भूमि होती थी और परिवार के विमानित हान पर, परम्परागत 'सर्वांगिकार' के नियमों के अनुसार भूमि का बंटवारा भी होता था। किन्तु अंग्रेजी कृषि में भूमि का जीवन निवास का प्रधान माध्यम थी, भूमि विभाजन की प्रवृत्ति भी अस्पष्ट बन गई थी। गांव के जंगल और चरागाहों पर गांव का सामूहिक अधिकार रहता था। गांव वह अधिकार गांव पंचायत में निहित रहता था। राजस्व नकद धन में बदलने काय के रूप में पदावार के उस अंग में लिया जाता था जो राज्य समय-समय पर निधारित करता था। राजस्व पदावार के अनुपात में लिया जाता था। पदावार के घटने बढ़ने के साथ-साथ किसान का राजस्व भी घटता-बढ़ता रहता था। राज्य को राजस्व देने का प्रत्येक उत्तरदायित्व गांव-पंचायत पर था न कि किसान पर। किसान राज्य के प्रति उत्तरदायी था पर केवल अप्रत्यक्ष रूप में।

अंग्रेजी राज में यह स्थिति बन गई। पदावार पर निम्न राजस्व परिचयनात्मक है क्योंकि वह पदावार की मात्रा के साथ घटता बढ़ता रहता है। भारत में एक व्यापारी कम्पनी द्वारा स्थापित राज्य के 'व्यापार' के लिये राजस्व की अनिवार्यता का दूर करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। कम्पनी राज का प्रथम आर्थिक काम 'राज' बनाने के प्रयत्न का आसान बनाना और भी स्वाभाविक था। दूसरी ओर जिस समय तक तथा नव विकसित मध्यम वर्ग के आधार पर कम्पनी के राज्य कायम किया था, उसका भी प्रोत्साहन देने का आवश्यकता थी ताकि अंग्रेजी राज के समर्थन का एक बड़ा कायम किया जा सके। इसने अन्तर्गत अंग्रेजी की आर्थिक तथा सामाजिक पद्धति की धारणाएँ भारत की परम्परागत धारणाओं से भिन्न

थी। इन सरका सम्मिलित परिणाम हुआ भूमि-व्यवस्था सम्बन्धी वे सुधार जिनका प्रारम्भ सन मन्त्रह सौ तिरानवे में लाड वानवालिस् वं द्वारा सम्पन्न हुआ। लाड वानवालिस् ने ही सबसे पहले स्थायी बन्दोबस्त करके, एक आर, सम्मिलित भू-स्वामित्व के स्थान पर व्यक्तिगत भू-स्वामित्व स्थापित किया। सगान की दर नवद रुपया में निश्चित की और जमींदारों को लगान वसूल करने का ठेका दिया। जहाँ रयतवारी प्रथा लागू की गयी वहीं वहीं भी सगान की दर निश्चित की गयी। समय समय पर भूमि का बन्दोबस्त करके लगान का दर का घटाने बढ़ाने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ में रखा।

इस व्यवस्था के कई सामाजिक आर्थिक परिणाम हुए। व्यक्तिगत भू-स्वामित्व के कानूनी सिद्धांत का मान लेने से परिवार तथा भूमि विभाजन अधिक बढ़ गया। बढ़ते हुये औद्योगीकरण, नयी औद्योगिक पेशा संरचना (New Industrial Occupational Structure), गृहीकरण और यातायात के साधनों ने व्यक्तिवाद का प्रातःसाहित किया और उसने व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की प्रगति को। इसका परिणाम हुआ भूमि का छोटे टोटे, अल्प दुकड़ा में बटना। दूसरा परिणाम यह हुआ कि भू-स्वामित्व और कृषि-बाय अलग अलग हो गये और कृषक तथा भू-स्वामी अलग अलग व्यक्ति हो गये। इसी विभाजन से भारतीय समाज में जमींदार और ताल्लुकेदार नामक एक विनिष्ट सामंजस्य की उत्पत्ति हुयी—यह वगणा, वास्तव में भू-स्वामी नहीं था किन्तु जिस लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त था। भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण से यह वग अंग्रेजों की कृति या किन्तु अंग्रेज विद्वानों के मत में यह वग अंग्रेजों के पहले में चला आ रहा था और भारतीय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का पहले ही से एक अंग था¹। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह वग अंग्रेजों की ही कृति या यद्यपि यह भारतीय परम्परा पर आधारित था। मुगलों के समय में जमींदारी प्रथा थी और जमींदारों को बादशाह की छार से लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व मिला रहता था। इसी परम्परा का अनुसरण करते हुये अंग्रेजों ने भी जमींदारों को लगान वसूल करने का ठेका सौंपा था। किन्तु, यदि अंतर था तो केवल एक। जमींदारी प्रथा में भूमि पर गांव का सम्मिलित स्वामित्व रहता था जबकि जमींदारी प्रथा में भूमि पर तो गांव का सम्मिलित स्वामित्व रहा और न कृषक का। जिस प्रकार सरकार जमींदार को एक निश्चित रकम के आधार पर लगान वसूल करने का ठेका देती थी उसी प्रकार जमींदार किसान का भूमि का एक निश्चित रखवा एक निश्चित लगान की दर पर एक निश्चित अवधि के लिये देता था। परती भूमि, चरागाह, बागा, चालावा और जंगल पर जमींदार का अधिकार रहता था न कि गांव का। इसप्रकार, जमींदारों का

वग वस्तुतः उन ठेकेदारों का वग था जो सरकार का एक निश्चित धार्मिक रकम लगान के रूप में देने के उत्तरदायी थे। उनके जीवन निर्गत का आधार था वह कमीशन जो वह कृषक से लेते थे और जिसके जिन सरकार को आर से उन्हें जानूनी अधिकार मिला हुआ था। इस पथा में कृषक और भूमि का सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया क्योंकि कोई भी कृषक किसी समय अपना भूमि अधिकार बिक्री या माला में साध ही साध इस प्रथा में गार का सम्बन्ध जो जीवन भी समाप्त हो गया क्योंकि भूमि और गार के जिन, गांव पचायत के स्थान पर विमान उत्तरदायी हो गया जमींदार और सरकारों अफसरों के प्रति।

इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेजी राज में निष्ठाई के साधना तथा टुपि के साधना लोगों का सुधार करके, कृषि का अधिक लाभकारी बनाने का प्रयत्न किया गया। किंतु साथ ही साथ यह भी मही है कि जितनी सभाएं सरकार ने भूमि की उत्तर लिये सरकार ने विमान में एक निश्चित रकम भी ली। इसका परिणाम यह हुआ कि टुपि पर नकल गलत बढ़ता गया। लगान और निष्ठाई की धार्मिक रकम विमान का नया आवश्यकता न गया और इन रकमों का पचायत का मात्रा से कोई सम्बन्ध न था। उदाहरण के लिये यदि एक खेत में दस मन पदा हो या एक मन लगान और निष्ठाई का रकम जितनी ही लगानी जिनकी कि वह पटल से निश्चित हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि पचायत नया होने ही उस बचत विमान के जिन आवश्यकता हो गया क्योंकि जिन पचायत अब विमान के लिये लगान चुकाना सम्भव न था। इस कारण, भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में मध्यजनों (Middlemen) के रूप में उस वग का अस्तित्व न था जो नया लोग ही कमल सराफ ल। विमान के जिन इसका मतलब हुआ कमल को समीचीन बचना क्योंकि कमल तयार हो ही बाजार में माल की गिरना न भाव गिर जाता है।

दूसरी ओर बहुत बड़े औद्योगिकीकरण के प्रभाव के कारण किसानों के असाधनी गरीबी निष्ठाई की जिन वस्तुओं के लिये बाजार और उन उद्योगों पर निर्भर होना गया जिनकी गति विविध पर उसका नियंत्रण न था। जमींदारों प्रथा के कारण किसान की आर्थिक स्थिति अनिश्चित हुयी क्योंकि भूमि उनमें हाथ से कभी ली जा सकती थी। उद्योगों वगों के ह्रास के कारण भूमि पर जनमस्या का दबाव भी साथ ही साथ गया। इन सभी कारणों का सम्मिलित प्रभाव हुआ विमान की बढ़ती हुयी गरीबी और भूमि के लिये एक सीधगत प्रतिमानिता। विमान की बढ़ती हुयी गरीबी के ही कारण भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में अत्यधिक दखनाम महाजनों वग का अस्तित्व हुआ। बढ़ती हुयी गरीबी के कारण विमान का उधार लेने की आवश्यकता हुयी और उसे उधार मिला महाजनों से। यद्यपि स सम्भव स्थापित होने पर अंग्रेजी राज के माध्यम से जिन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का अस्तित्व हुआ उसमें महाजन और मध्यजन, वस्तुतः एक दूसरे के पूरक होकर, एक-

ऐसा मध्यम वर्ग बन गये जिनका सामाजिक आर्थिक अस्तित्व व्याज मुनाफा और कमीशन पर निर्भर है। योरोप के मघात सृष्टि का ही नतीजा बल्कि सामाजिक व्यवस्था का ही व्यापारीकरण हो गया।

यूरोप के मघात से, भारत की परम्परागत औद्योगिक व्यवस्था का, एक ओर, ह्रास हुआ और दूसरी ओर, एक नयी औद्योगिक व्यवस्था का अन्वुदय हुआ। योरोपीय पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की भारतीय औद्योगिक व्यवस्था एक ओर, भारत की सृष्टि व्यवस्था पर आधारित थी और, दूसरी ओर भारत की सामाजिक संरचना पर। कृषक का पन्ना प्रधान पन्ना था और सभी जातियों के सदस्य खेती को बतौर पेशा के अपना सकते थे। फिर भी, भारत की संरचना में शिल्पी जातियों (Artisan Castes) के रूप में विशेषीकृत अंतर्विवाही समूह (Specialized Endogamous Groups) भी थे जो भारत के विभिन्न उद्योगों में भी लागू हुये थे और खेती जितने लिये प्रधान नहीं बल्कि गौण पेशा था। इस प्रकार, भारत की संरचना यद्यपि व्यवस्था पर आधारित थी, फिर भी, उच्च जातियों के लिए कृषक नहीं थे। वे वस्तुतः सामान्य वर्ग के थे और खेती नहीं करते थे बल्कि खेती से मिलने वाली आय निर्भर थे। जाति संरचना की मध्यम श्रेणी में कुछ जातियाँ उन श्रेणी की थी जिन्हें कुछ जातियाँ (Class Castes) कहा गया है जो कि जिनके सदस्य कृषक का ही काम करते थे। ऐसा भूमि में, पत्थर सानार, कुम्हार, चर्म, नार्द इत्यादि ऐसी जातियाँ भी थी जिनके सदस्य कारीगर भी थे और कृषक भी। किन्तु वे कारीगर पढ़ते थे और कृषक बाद में। निम्न स्तर की जातियों में वे जातियाँ थी जिनके सदस्य अश्विन कह जाते बाल पत्नी को करके वे और साथ ही साथ बेनिह्वर मजदूर का काम भी करते थे। इस प्रकार भारत का उत्पादन बड़े पैमाने पर व्यवस्था में संघटित था और उत्पादन की सीमा सृष्टि और कृषक की सामाजिक आर्थिक आवश्यकताओं तक ही सीमित थी। ये कारीगर उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते थे जिनकी खपत उस क्षेत्र में हो जाती थी जिसके कि वे निवासी थे।

इस संरचनात्मक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का आधार थी यजमानी प्रथा जो परम्परागत विधि प्रणाली द्वारा माय थी। प्रत्येक गाँव में या बड़े गाँवों का मिलाकर, एक कारीगर परिवार का कुछ परिवारों की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कारीगर को कुछ यजमान परम्परा मिलते रहते थे और कारीगर का महत्व, जातिक्रान्त के साथ साथ सामाजिक भी था। जसा कि वर्तमान गाँव व्यवस्था में आज भी होता है जम विवाह और मृत्यु तथा धार्मिक उत्सवों के अवसर पर, इन कारीगर जातियों का कमकाण्डी (Ritualistic) महत्व भी था। ऐसी दशा में उद्योगों का उत्पादन वही तक सीमित था जहाँ तक उनकी स्थानीय खपत थी। इन कारीगर जातियों के सदस्यों द्वारा अधिकतर उत्पादन स्थानीय खपत के ही लिये होता था। पारिश्रमिक वष में दो बार धान के

रूप में ही दिया जाता था और वह भी परम्परा से निर्धारित था। इस प्रथा के अन्तर्गत आज भी ग्रामीण समाज में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के राज्यकाल में भारत का व्यापार बढ़ने के साथ साथ, भारत का औद्योगीकरण भी बढ़ा और उसने पारम्परिक व्यापारी गहरों में व्यापारी मण्डियाँ भी अस्तित्व में लाई जिनमें उस अतिरिक्त माल की खपत होती थी जो कारीगर जातियों के मन्दिर अपने अतिरिक्त समय में स्थानीय खपत के अतिरिक्त बनाते थे। भारत के आदिम मण्डल में धार्मिक मेल साप्ताहिक पेटें और व्यापारी मण्डियाँ ऐसे ही अतिरिक्त माल के आदान प्रदान के साधन रहे हैं और आज भी हैं। हर धार्मिक मेल का एक व्यापारी पक्ष भी है जो यातायात के साधन के विकास के साथ साथ और भी विस्तृत हुआ है। मुसलमानों के राज्यकाल में बढ़ते हुए औद्योगीकरण के कारण, भारत के विभिन्न भागों में औद्योगिक क्षेत्र भी अस्तित्व में आ गये थे जहाँ निश्चय ही उत्पादन बाजार के जिये जाता था। मन्मथ के जिये प्रसिद्ध नाका एक ऐसा ही क्षेत्र था। किन्तु इस औद्योगिक व्यवस्था में कारीगरों का घर की कारखाना था और कारीगर स्वयं अपना मानिक भी था। वह पूँजीपति भी था और मजदूर भी।

यूरोप के सम्पर्क से यह व्यवस्था उस समय में दृढ़तया प्रारम्भ हुई जवने यूरोप में प्राकृतिक गन्विषों से बढ़ने वाली श्रमिकों का आविष्कार हुआ और मनाफे के लिये वह पमाने पर कारखानों का संगठन हुआ जिसका परिणाम हुआ उत्पादन की अधिक मर्यादा उपमायता वस्तुओं का उत्पादन। वह पमाने पर उत्पादन का परिणाम हुआ यारों के विविध बाजार का प्रसरण जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत तक आ पहुँचा। मर्यादा उदात्तता वस्तुओं का माग बढ़ी जिसके परिणाम स्वरूप भारत के परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास हुआ प्रारम्भ हुआ। इसी तथा उपमायता वस्तुओं के व्यापारीकरण का स्वाभाविक परिणाम हुआ परम्परागत मजदूरी प्रथा के आधार का हिलना। यूरोप के सम्पर्क में और अंग्रेजी राज के माध्यम में फलने वाला व्यापारीकरण मुद्रा की व्यवस्था (Monetary Economy) पर आधारित था। मूल आर्थिक आदान प्रदान (Exchange) में मुद्रा का महत्व पहले का अपेक्षा और भी बढ़ गया। किसान की नाति, कारीगर की जीवन निर्वाह की वस्तुओं के लिये मुद्रा और बाजार पर निर्भर हो गये। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर कारीगरों के उत्थान से था का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ उनकी गरीबी उनी के कृषि पर ही निर्भर हो गये, जिससे कृषि पर जनसंख्या का दबाव बना और, दूसरी ओर, धन्य के स्थान पर, व मुद्रा के रूप में पारिस्थितिक लेव के लिए धन्य हुए। वर्तमान भारत की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में धन्य के स्थान पर मुद्रा के रूप में पारिस्थितिक लेव की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का कारीगरत्व याता अति कमाले वाला (Wage Earner) कुल कारीगर हा गया या छोटे पमाने का मध्यमवर्गीय व्यापारी।

ऐसा मध्यम वर्ग बन गये जिसका सामाजिक आर्थिक अस्तित्व राज मुनाफा और कमीशन पर निर्भर है। योरोप के संघात से कृषि का ही नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था का ही विपरीतकरण हो गया।

योरोप के संघात से भारत की परम्परागत औद्योगिक व्यवस्था का, एक ओर, ह्रास हुआ और दूसरी ओर, एक नयी औद्योगिक व्यवस्था का अभ्युदय हुआ। योरोपीय पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की भारतीय औद्योगिक व्यवस्था, एक ओर, भारत की कृषि व्यवस्था पर आधारित थी और दूसरी ओर भारत की सामाजिक संरचना पर। कृषक का पैसा प्रधान पैसा था और सभी जातियों के सदस्य खेती की बतौर पेश के समता सकते थे। फिर भी भारत की संरचना में शिल्पी जातियों (Artisan Caste) का रूप में विभक्तित अंतर्विवाही समूह (Specialized Endogamous Group) भी था जो भारत के विभिन्न उद्योग व घरेलू मजदूरों से और खेती जितने लिये प्रधान नहीं बल्कि भौण पैसा था। इस प्रकार, भारत की संरचना यद्यपि कृषि-व्यवस्था पर आधारित थी फिर भी उच्च जातियों के लोग कृषक नहीं थे। वे वस्तुतः सामान्य वर्ग के थे और खेती नहीं करते थे बल्कि खेती से मिलन वाली आय निर्भर थे। जाति संरचना की मध्यम श्रेणी में कुछ जातियाँ उस श्रेणी की थीं जिन्हें गुल्म जातियाँ (Class Castes) कहा गया है और जिनके सदस्य कृषक का ही काम करते थे। इसी श्रेणी में लानार, सानार, कुम्हार, चट्ट नाई, दस्तादि ऐसी जातियाँ भी हैं जिनका महसूस कारीगर भी था और कृषक भी। वि. तु., वे कारीगर पढ़ते थे और कृषक बाइस। निम्न स्तर की जातियों में वे जातियाँ हैं जिनके सदस्य अपवित्र बने जाने वाले पशुओं को बरतने और साथ ही साथ खेतिहर मजदूर का काम भी करते थे। इस प्रकार, भारत के उद्योग व कृषि व्यवस्था में सर्वाधिक वे और उत्पादन की सीमा कृषि और कृषक की सामाजिक आर्थिक जाय स्थिति का ही सीमित थी। ये कारीगर उही वस्तुओं का उत्पादन करते थे जिनकी खपत उच्च स्तर में होती जाती थी जिससे कि वे निराश थे।

इन संरचनात्मक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का आधार थी यजमान प्रथा जो परम्परागत विधि प्रणाली द्वारा मान्य थी। प्रत्येक गाँव में या बड़े गाँवों का मिलाकर, एक कारीगर परिवार का कुछ परिवारों की सेवा करने का अधिकार प्राप्त था। दूसरे शब्दों में प्रत्येक कारीगर को कुछ यजमान परम्परा मिलते रहते थे और कारीगर का महत्व, आर्थिक ज्ञान के साथ साथ सामाजिक भी था। जसा कि वनमाला गाँव व्यवस्था में आज भी होता है जहाँ विवाह और मृत्यु तथा धार्मिक उत्सवों के अवसर पर, इन कारीगर जातियों का कमकाण्डी (Paternalistic) महत्व भी था। ऐसी दशा में उद्योगों का उत्थान वही तक सीमित था जहाँ तक उनकी स्थानीय खपत थी। इन कारीगर जातियों के सदस्यों द्वारा अधिकतर उत्पादन स्थानीय खपत के ही लिये होता था। पारिस्थितिक रूप में दो बार धान्य के

रूप में ही दिया जाता था और वह भी परम्परा से निर्धारित था। इस प्रथा के अन्तर्गत आज भी ग्रामीण समाज में पाये जाते हैं।

मुसलमानों के राज्यकाल में, भारत का व्यापार बढ़ने के साथ साथ, भारत का औद्योगीकरण भी बढ़ा और समस्त फलस्वरूप व्यापारी गहरो में व्यापारी मण्डिया भी अस्तित्व में आई जिनमें उस अतिरिक्त माल की खपत होती थी जो कारीगरों की मजदूरी देने के अतिरिक्त अपने अतिरिक्त समय में स्थानीय खपत के अतिरिक्त बनाते थे। भारत का औद्योगिक समकाल में औद्योगिक मूल साम्राज्यिक पैटर्न और व्यापारी मण्डिया ऐसे ही अतिरिक्त माल के आदान प्रदान के साधन रहे हैं और आज भी हैं। हर औद्योगिक मूल का एक व्यापारी पक्ष भी है जो वास्तविकता के साधनों के विकास के साथ साथ और भी विस्तृत हुआ है। मुसलमानों के राज्यकाल में बढ़ते हुए औद्योगीकरण का कारण भारत का विभिन्न भागों में औद्योगिक क्षेत्र भी अस्तित्व में आ गये थे जहाँ निश्चय ही उत्पादन बाजार के लिये होता था। मूलतः के लिये प्रसिद्ध ताँबा एक ऐसा ही क्षेत्र था। किन्तु इस औद्योगिक व्यवस्था में कारीगरों का घर ही कारखाना था और कारीगर स्वयं अपना मालिक भी था। वह पञ्जीपति भी था और मजदूर भी।

यूरोप के सम्पर्क में यह व्यवस्था उस समय से बदलनी प्रारम्भ होगी जबसे यूरोप में प्राकृतिक विनिमयों का चक्रवाती मशीन का आविष्कार हुआ और मुनाफे के लिये बड़े पैमाने पर कारखानों का संगठन हुआ जिसका परिणाम हुआ उत्पादन के अतिरिक्त सस्ता उपभोग्यता वस्तुओं का उत्पादन। बड़े पैमाने पर उत्पादन का परिणाम हुआ पारिवारिक विनिमय प्रणाली का प्रसरण जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में आ पहुँचा। मशीन उद्योगिता वस्तुओं का माप बड़ी जिसके परिणाम स्वरूप भारत का परम्परागत औद्योगीकरण का ह्रास हुआ प्रारम्भ हुआ। इसी तथा उपभोग्यता वस्तुओं का व्यापारीकरण का स्वभाविक परिणाम हुआ परम्परागत मजदूरी प्रथा का आधार का हिलना। यूरोप के सम्पर्क से और अंग्रेजी राज के माध्यम से कृषि के उत्पादों का व्यापारीकरण मुद्राही व्यवस्था (Monetary Economy) पर आधारित था। अन्तः, आर्थिक आदान प्रदान (Exchange) में मुद्रा का महत्व पड़ने से अब तो और भी बढ़ गया। किसान की शक्ति, कारीगर भी जीवन निर्वाह की वस्तुओं के लिये मुद्रा और बाजार पर निर्भर हो गये। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि एक ओर कारीगरों के उत्थापन का उत्तरांतर हुआ, उनकी गरिबी बढ़ने के कृषि पर ही निर्भर होने लगे, जिससे कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा और, दूसरी ओर धान्य के स्थान पर वे मुद्रा के रूप में पारिधमिक लेन देन के लिये बाध्य हुए। वर्तमान भारत की ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में धान्य के स्थान पर मुद्रा के रूप में पारिधमिक लेन देन की प्रवृत्ति बढ़ रही है। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का कारीगरत्व याता भूमि कमाने वाला (Wage Earner) कुशल कारीगर हो गया था छोटे पैमाने का मध्यमवर्गीय व्यापारी।

भारत में योरापीय ढंग के आधुनिक औद्योगीकरण का श्रीगणेश मुख्यतया अंग्रेजी पूँजी से हुआ। इस औद्योगीकरण की प्रथम अवस्था थी भारत के बच्चे माल को उत्पादन के योग्य बना कर योराप विपणितया इंग्लण्ड भेजना। किन्तु धीरे धीरे विदेशी पूँजी ने ही द्वारा उपभाषा वस्तुओं के बनाने के कारखाने मुलने लगे। बंबई, गवर्नर और जूट उद्योग सब प्रमाण है। विदेशी पूँजीपतियों के सम्पर्क से धीरे धीरे भारत के पूँजीपतियों ने इस ओर वृत्त उठाया। अंग्रेजी साम्राज्य में उन्मुख व्यापार की नीति अपना कर अंग्रेजी ने भारतीय औद्योगीकरण को रोकना का प्रयास किया क्योंकि इंग्लण्ड का प्रतिस्पर्धिता में भारतीय औद्योगीकरण को प्रगु की संरक्षण (Tariff Protection) की आवश्यकता थी। प्रथम महायुद्ध ने भारत को इस आवश्यकता का पूरा किया क्योंकि इस महायुद्ध में अंग्रेजी यह महसूस हुआ कि आधुनिक ढंग से औद्योगीकृत भारत अंग्रेजी साम्राज्य के लिये लाभदायक ही होगा। प्रथम महायुद्ध में जिस भारतीय पूँजीपतियों की गठ पनी थी उसने, युद्ध समाप्ति के बाद स्वदेशी आंदोलन का आश्रय लेकर अपने का और जागे बढ़ाया। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच का ही समय वह समय था जब भारत का औद्योगीकरण जाग बड़ा। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं ने भारतीय औद्योगीकरण का और भी जागे बढ़ाया और मजबूत किया। स्वतंत्रता के बाद में योरापीय ढंग के औद्योगीकरण की गति और भा बढ़ गयी है। वर्तमान भारत पूँजीवादी तथा समानवादी ढंग से अपना औद्योगीकरण कर रहा है।

भारत में वर्तमान हुआ औद्योगीकरण के कई सामाजिक आर्थिक परिणाम निकले। पहला, गांव का परम्परागत सामाजिक-आर्थिक महत्व समाप्त हो गया और कृषि के स्थान पर औद्योगीकरण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार बन गया। कृषि का सम्बन्ध जीवन निर्वाह में आवश्यकतामान से न रहकर उत्तरात्तर प्रवृत्ति औद्योगीकरण में हो गया। औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों ने भारत में शहरीकरण को जन्म दिया और प्राचीन सड़कों राजनितिक यापारी और धार्मिक शहरों के स्थान पर बड़े बड़े औद्योगिक शहरों का विकास हुआ। बम्बई, कलकत्ता मद्रास, कलकत्ता, कानपुर जहमदाबाद, और जमशेदपुर जस शहरों का विकास पिछले दो सौ वर्षों में ही हुआ है। भारत की नयी औद्योगिक-आर्थिक व्यवस्था के जाधारा का केंद्रीकरण दो ही शहरों में हुआ। भारत की अर्थ व्यवस्था को चलाने वाली समस्याएँ (धन, पूँजीपतियों यापारियों और मजदूरों के संगठन स्टाक एक्सचेंज और मण्डियाँ) वहीं शहरों में केंद्रित हैं। भारत का राजनितिक शक्ति का केंद्र भी यही शहर है। आग योरापीय विचारों का वह स्फुरण जो भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन ला रहा है इस ही शहरों से हो रहा है। भारत के नये सामाजिक-सांस्कृतिक मापदण्डों का निर्धारण भी इसी शहरों में होता है। शहरों के द्रुतगामी जीवन में और शहरों सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अनामकता (Anonymity)

और द्वितीयक समूह संगठन (Secondary Group Organization) से किसी सीमा तक समुक्त परिवार तथा जाति जसी समष्टिवादी संस्थाओं में लचीलापन आ रहा है और व्यक्तिवाद का प्रोत्साहन मिल रहा है।

यूरोपीय पूँजीवादी औद्योगिकीकरण को भारत में लाने के लिये यूरोपीय औद्योगिकी, यूरोपीय औद्योगिक संगठन और आर्थिक संस्थाओं का अनुकरण किया गया। यूरोप की ही भाँति भारत में भी उत्पादन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण (Technological Specialization) को प्रोत्साहन दिया गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में पेशागत विशेषीकरण (Occupational Specialization) जाति प्रथा के रूप में सामाजिक विरासत पर आधारित था। किंतु इस नयी व्यवस्था में पेशागत विशेषीकरण का आधार बना व्यक्ति और उसके द्वारा प्राप्त किया जाना वाला विशेष ज्ञान। औद्योगिकीकरण के दृष्टे औद्योगिक गृह इस कारण गाँव में बढ़ती हुई आर्थिक बकारी ने कृषकों और कारीगरों को शहर में आकर जीविका कमाने के लिये प्रेरित किया। इसका परिणाम हुआ भारत की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में औद्योगिक सबहारा का अग्रगण्य और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि। किसान की भाँति मजदूर भी राष्ट्र की आर्थिक समस्या का एक अंग बन गया। यूरोप की भाँति भारत में भी धूम्रिका तथा बेरोजगारी वर्गों ने टूट यूनियन आन्दोलन को अपना प्रारम्भ किया। जिस प्रकार यूरोप में औद्योगिकीकरण तथा उससे उत्पन्न वृद्ध व्यवस्था ने राजनैतिक गति विधि और विचारधारा को प्रभावित किया, वैसे ही भारत में भी औद्योगिकीकरण के प्रभावों से उत्पन्न होने वाली वृद्ध व्यवस्था ने राजनीति को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। भारत की राजनैतिक पाटियों पर यूरोप के ही राजनैतिक आर्थिक आदर्शों की छाप है यद्यपि उन आदर्शों को भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के सम्प्रभ में लाने का प्रयास भी सभी दलों में विद्यमान है।

इस प्रकार अंग्रेजी राज में भारत की अग्रगतिशील, परम्परावादी और स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था पर यूरोप की प्रगतिशील और गत्यात्मक व्यवस्था का प्रभाव पड़ा और उसका परिणाम हुआ भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था का अधिक प्राधुनिक आर्थिक व्यवस्था में धीरे धीरे रूपान्तरण, जिसकी विगलताय है पूँजीवादी उत्पादन और संगठन द्वारा अर्थ व्यवस्था की प्रमुखता। यह रूपान्तरण वस्तुतः एक शांत और आर्थिक जीवन का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण। यह रूपान्तरण वस्तुतः एक शांत प्रक्रिया है जिसमें सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रथा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था धीरे धीरे सखिया (Contract), उत्तरोत्तर विशेषीकरण और बड़े पैमाने का उत्पादन पर आधारित एक गतिशील और गत्यात्मक आर्थिक व्यवस्था में बदल गयी। वेरा

1 लतीफ सैयद अब्दुल एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ 25

आस्टे (Vera Anstey) ने मत में भारत की आर्थिक व्यवस्था का यह रूपांतरण एक आर्थिक व्यवस्था का दूसरी आर्थिक व्यवस्था में वह रूपांतरण नहीं है जिसका वर्णन माराप के आर्थिक विकास के इतिहासकार पूंजीवाद व्यवस्था के विकास के वर्णन में करते हैं क्योंकि अंग्रेजों ने आने के पहले ही भारत में आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की विपत्तियाँ आ चुकी थी। यह रूपांतरण वस्तुतः वह रूपांतर है जिसमें प्रयत्न और आत्मनिर्भर गाँव पर आधारित आर्थिक व्यवस्था (जिसमें उच्चतर उत्पादन और संगठन केवल कुछ विशेष वर्गों और क्षेत्रों में निहित था) धीरे धीरे उस आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तित होती है जिसमें अधिकतर उत्पादन का व्यापारीकरण हुआ है मुद्रा की प्रधानता बढ़ी है और जिसमें आर्थिक व्यवस्था का लगभग एकीकरण हो गया है¹। यह रूपांतरण अब भी जारी है और ज्यादा ज्यों यह रूपांतरण बढ़ता जाता है परम्परा का स्थान विधि (Law) लेती जाती है। जैसा कि अंग्रेजी राज में था वैसे ही आज भी इस रूपांतरण का ध्येय है पार्थक्य विकास (Material Development), आर्थिक एकीकरण (Economic Unification) को बढ़ाना तथा आवश्यक व्यापारीकरण और देश के आधुनिककरण की अवधि का जल्दा तन हो सके कम करना। इसका परिणाम हुआ है नयी और पुरानी व्यवस्थाओं में विरोधात्मक संघर्ष और वह मानसिक असुरक्षा जो आर्थिक व्यवस्था के सहसा परिवर्तनों से होती है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वदेशी आन्दोलन और परम्परागत कुटीर उद्योगों पर जोर इसका प्रमाण है। वर्तमान भारत में एक ओर, मारापीय ढग के औद्योगिकरण पर और, दूसरी ओर, प्राचीन ढग के कुटीर उद्योगों पर जोर सम्भवतः इसी परिस्थिति की देन है।

मारापीय तथा अंग्रेजी राज के संघर्ष से उत्पन्न होने वाला सामाजिक आर्थिक रूपांतरण धीरे धीरे हुआ है। मत, वह भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का वह रूपांतरित अन्विकार है जिसमें योरोप, विशेषतया इंग्लैंड, और भारत का संघर्ष इस प्रकार हुआ है कि आधारभूत देशज तत्त्व एक नयी व्यवस्था में सन्निहित हो गये हैं। भारत की भूमि व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक किया गया किन्तु उसका आधार वही व्यवस्था रही जो मुगलों के पहले से चली आ रही थी। भूमि की पैमाइश के वही तरीके काम में लाये गये और स्वीकार किए गए जिनका प्रयोग टाडरमल ने किया था। भूमि अभिलेखों की पुस्तकें (Books of Land Records), खसरा और खतौनी वैसे ही अपना लिए गए जैसे कि पहले से चल आ रहे थे। अंग्रेजी गवर्नर ने पटवारियों की काम विधि लगभग वही ही रखी जैसी कि वह पहले से चली आ रही थी और पटवारियों को बढ़ावा उसी जाति के संस्था में से भरती किया गया जिसमें से वे मुगलकाल में भरती किए जाते थे। जाति प्रथा के साथ

साथ, जैसा कि पिछले वंश स स्पष्ट है, एक नयी वग-व्यवस्था का आसुदय हुआ किन्तु नयी आर्थिक व्यवस्था स उत्पन्न वग व्यवस्था का आधार भारत की परम्परागत जाति-व्यवस्था ही बना। भारत का बढ़ता हुआ व्यापारीकरण एक आर, योरापीय आधार पर विकसित हुआ ता दूसरी आर परम्परागत आधार पर। अंग्रेजों ने नाप-तोला के पुराने तरीके को जसे का तसा चलन दिया और उसके साथ साथ योरापीय तरीके भी लागू किया। अंग्रेजी शासन ने अपनी मुद्रा चलाई अवश्य किन्तु पहले म चल आते हुए रुपिया आना पाई का जस का तसा अपना लिया। हा यह अवश्य है कि सोने व सिक्के के रूप म यदि एक और गिनी चली तो दूसरी और अदरकी भी चलती रही। इसी प्रकार आधुनिक भारत म शहरीकरण का प्रारम्भ ही नारका से मिला जि हाने आधुनिक याराप व शहरीकरण का जन्म दिया। किन्तु भारत का शहरीकरण भारत की सामाजिक व्यवस्था म उत्तम जातिकारी परिवर्तन न कर सका जितन कि योरापीय सामाजिक व्यवस्था म बढ़ा के शहरीकरण न किया है। भारत व शहरा म योरापीय प्रयोगिनी और गाव व्यवस्था का एक ऐसा समन्वय हुआ है जो भारत का ही विपत्ता है। भारत व अधिकतर शहर प्रयोगिकी के दृष्टि काण स ता शहर लाते हैं कि तु सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण स गाव। भारत मे स्थायी शहरी जनसंख्या का अनुपात योरापीय देशों की अपना नगण्य सा है और गाव तथा शहर की जनसंख्याओं म निरंतर चलने वाला दुर्तरफा स्थानांतरण शहर म ग्रामीण प्रभाव का संस्थापित किया करता है। शहर म सयुक्त परिवार और जाति के बंधन ढील अवश्य हुए हैं पर व टूटे नहीं हैं। शहर के अनामक और गत्यात्मक बातावरण म जाज भी व्यक्त का सर्वाधिक सुरक्षा परिवार और जाति से ही मिलती है और इसीलिए शहर के अनामक बातावरण म जो गत्यात्मक और द्वितीयक समूहों की प्रधानता से उत्पन्न होता है, जाति, एक विशेष प्रकार क प्राथमिक समूह के रूप म रूपान्तरित होकर और भी मजबूत हो गयी है।

प्रयोगिकी और विज्ञान,

२

योरापीय प्रयोगिकी और विज्ञान एक दूसरे स चाली गमन की तरह संबंधित है क्योंकि वतमान योराप को जन्म देने वाली प्रयोगिकी का विकास, विज्ञानों के सिद्धांतों का मानव-जीवन क लिए उपयोग बनाने व प्रयास म हुआ है। योराप म

1 भट्ट गौरीशंकर ट्रेड्स एण्ड मेजस आफ स्टेट्स मोबिलिटी एमाग दि चमासं आफ देहरादून इस्टन एषियालीजिस्ट बाल्यून 14 न० 3

भौतिक विज्ञानादी विचारधारा का प्रसार पहले हुआ और प्रौद्योगिकी का विकास और प्रसार उसके बाद। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना होते होते, योरोप में प्रौद्योगिकी का विकास काफी आगे बढ़ चुका था और भारत को, अंग्रेजों के माध्यम से प्रौद्योगिकी के प्रयोग का वह अनुभव मिला जो योरोप तथा इंग्लैंड में प्रौद्योगिकी के सफल प्रयोग पर आधारित था। भारत में योरोप की सैनिक प्रौद्योगिकी का प्रसार अंग्रेजों के पहले ही स प्रारम्भ हो गया था। अंग्रेजी राज के फलते फलते उसका प्रयोग सम्पूर्ण भारत में फैल गया। दो विश्व व्यापी महायुद्धों ने भारत में योरोप की समुन्नत सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता को और भी बढ़ा दिया क्योंकि, अंग्रेजी साम्राज्य का एक प्रधान अंग हान के कारण भारत पर उन युद्धों का प्रभाव पड़ा और भारत की सेनाओं का इनमें युद्धरत होना पड़ा। भारत का योरोपीय ढंग की सैनिक व्यवस्था अंग्रेजों की ही देन है। भारत पर चीन के घातमण ने योरोपीय सैनिक प्रौद्योगिकी की महत्ता की आवश्यकता और भी बढ़ा दिया है और आज का भारत उस अपनाते के लिए आगे बढ़ रहा है। भारत ही नहीं सारा एशिया 'स आगे बढ़ रहा है। भारत तथा एशिया में इसका क्या परिणाम होगा यह अभी कहना बठिन है।

सना की भाँति, श्रृष्टि, ध्वनि, उद्योग, उत्पादन और यातायात के साधनों में योरोपीय प्रौद्योगिकी का प्रयोग निरन्तर बढ़ता ही रहा है। किन्तु इन सभी में सबसे महत्वपूर्ण रहे हैं यातायात के साधन, मुद्रण-यन्त्र और भाप तथा बिजली से चलने वाली मशीनें। भारत में यातायात के आधुनिक साधनों का प्रयोग सबसे पहले उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में किया गया और इनके प्रयोग का प्रार्थमिक प्रयोजन था भारत में बढ़ते हुए अंग्रेजी साम्राज्य का मण्डल और सुरक्षा। डल्हौजी के समय में, एक साथ डाक, तार और रेल का प्रयोग भारतीय इतिहास की कोई जनहानी घटना नहीं है—यह उस ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम है जो उन्नीसवीं शताब्दी के भारत पर एक तत्कालीन योरोपीय साम्राज्य के स्थापित होने के साथ साक्षर अस्तित्व में आयी थी। मुद्रणयन्त्र का सबसे प्रथम प्रयोग गोवा में सोल्हवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था और भारत की सबसे प्रथम मुद्रित पुस्तक गोगा में ही प्रकाशित हुई थी। भारत में मुद्रणयन्त्र का सबसे प्रथम प्रयोग मिशनरियों ने किया था क्योंकि इसाई धर्म के प्रसार के लिए प्रचार साहित्य का एक बड़े पैमाने पर उत्पादन उनकी मुख्य आवश्यकता थी। भारत का समाचार-पत्र और उद्योग योरोपीय परम्परा तथा मुद्रणयन्त्र का ही योगदान है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में रेल के साथ साथ, भारत में भाप से चलने वाली मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और बाला तर में भाप बिजली और तेल से चलने वाली मशीनों का, उत्पादन के लिए, उत्तरोत्तर प्रयोग बढ़ा जिससे भारतीय औद्योगिकीकरण को प्रोत्साहन मिला।

भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के जिस रूपांतरण का वर्णन किया जा चुका है उसका प्रधान कारक प्रौद्योगिकी ही रही है। इस रूपांतरण में प्रौद्योगिकी

दो प्रकार से सहायक हुयी है—एक, भाप बिजली तथा तेल द्वारा चलने वाली मशीना व रूप में और दूसरे, यातायात व मशीनीकृत साधनों के रूप में जिसमें रेल, मोटर और हवाई जहाज का प्रभाव मुख्य है। भाप, बिजली और तेल द्वारा चलने वाली मशीना की सहायता से बड़े-बड़े कारखाने खुले और बड़े पैमाने पर मशीनीकृत उत्पादन का प्रचार पड़ा। यातायात व साधना से जिसमें सबके मोटर, रेल और हवाई जहाज मुख्य हैं, गांव का आर्थिक-सामाजिक पथवकरण समाप्त हुआ आधुनिक बाजार का क्षेत्र अधिक व्यापक होकर और मार दंग में फलकर अंतर्राष्ट्रीय बाजार से मिल गया, बच्चों माल और उत्पादित उपभाग की वस्तुओं को जल्दी-जल्दी दान की सुविधा से औद्योगीकरण तथा गहराकरण को प्रोत्साहन मिला और मार भारत का आर्थिक, राजनतिक और सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण बना। यातायात व साधनों की सुविधा के हो कारण अनेक सना व व्यापक प्रभाव स्थापित करके, भारत का एक राष्ट्र राष्ट्र (Nation State) का रूप देने में सफल हुए। डाक तार, बनार का तार समाचार पत्र और निनमा जम सद्गवाहक साधना न यातायात व प्रभाव का और भी प्रभावपूर्ण बना दिया क्योंकि यातायात व साधना व परिणाम का वास्तविक, स्थायी रूप सद्गवाहक साधना में ही मिला है। डाक और तार न, एक बार, अंतर्राष्ट्रीयकरण को प्रोत्साहित किया बाजार का व्यापक बनाया, पत्र-पत्रिकाओं को राष्ट्रीय विचार विमर्श का माध्यम बनाया स्थानांतरण का प्रोत्साहित करके औद्योगीकरण तथा गहराकरण को प्रोत्साहित किया तार, दूसरी और यातायात व साधनों व सन्ध्या न भारत के राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक एकीकरण में योगदान दिया। भारत का एक एकीकृत राजनतिक इकाई बनाय रखने के लिए ही अग्रजा न डाक तार रेल और रडिया की सेवाओं का वैश्वीकरण किया।

यातायात तथा सद्गवाहक साधना के सहाय व अनेक सामाजिक-आर्थिक परिणाम निकले। इंग्लैण्ड में वस्तु हुये औद्योगीकरण के कारण, यातायात के साधनों का विकास हुआ किन्तु भारत में बढ़त हुए यातायात व साधनों के कारण औद्योगीकरण का विकास हुआ। यह मुख्यतया रेल रोड के प्रसार का ही परिणाम है कि भारत कृषि पर आधारित एक मरले आर्थिक-पारस्था के स्तर से उठकर, आज आर्थिक विकास की उस अवस्था में पहुँच गया है जिसमें भारत का आर्थिक जीवन सक्रिय उद्योग पर निर्भर है न कि कृषि पर। भारत में खेती का प्रसार, विविध फसलों का बोया जाना कृषि में राक-मस्य (Cash Crops) का समावेश, कृषि का उत्तरोत्तर व्यापारीकरण तथा उनका गहन क्षेत्र का प्रसार और कृषि से उत्पन्न माल के भाया में गीत गीत हान वानी घटी-वनी के स्थान पर अस्वाहत अधिक स्थायित्व का आना रेल व उत्तरोत्तर प्रभाव के ही कारण सम्भव हुआ है। भारत के सामाजिक आर्थिक सन्तुलन में, गांव के परम्परागत सन्तुलन का अस्तित्व हाना गांव का बाह्य ससार से सम्पर्क बढ़ना गहरा की बढ़ि और गांव के सामाजिक-आर्थिक

जीवन पर बढ़ता हुआ शहरी प्रभाव भी रेल और राड के कारण हुआ है। रेल रोड के सम्मिलित प्रभाव के ही कारण सयुक्त परिवार के आकार और संरचना में परिवर्तन आये तथा जाति के परम्परागत बंधन में गिरावट आयी। भारत के राजनैतिक आर्थिक एकीकरण में रेल का योगदान प्रमुख है। रेल के कारण भारत में तीर्थ यात्रा पहले की अपेक्षा अधिक सरल और सुविधाजनक हो गयी जिससे हिन्दुत्व के पुनरुत्थान को एक नयी प्रेरणा मिली¹।

रेडियो और सिनेमा, पारंपरिक प्रौद्योगिकी में उत्पन्न, दो प्रभावपूर्ण साधन बाह्य साधन हैं। भारत में रेडियो का प्रवेश अंग्रेज सरकार के प्रयत्नों द्वारा हुआ और उसका उद्देश्य था मनोरंजन के साथ-साथ जनसम्पर्क बढ़ाना, अंग्रेज सरकार के पक्ष में व्यापक प्रचार करना। किंतु रेडियो जन शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हुआ। स्वतंत्र भारत में रेडियो का प्रयोग मनोरंजन और जन शिक्षा के ही लिये हो रहा है। किंतु रेडियो के सामाजिक सांस्कृतिक परिणाम इससे कहीं अधिक व्यापक रहे हैं। रेडियो के माध्यम से भारत अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आया। इसने अतिरिक्त, रेडियो के माध्यम से भारत के विभिन्न प्रदेशों में सम्पर्क स्थापित हुआ जिससे भारत के एकीकरण को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान भारत में, रेडियो भारत के एकीकरण को प्रोत्साहित करने का एक मुख्य माध्यम बन गया है। भारत की प्रादेशिक भाषाओं की प्रगति तथा भारत में अंग्रेजी भाषा के प्रसार में रेडियो भी एक मुख्य माध्यम रहा है। अंग्रेजी राज काल में और आज भी अंग्रेजी रेडियो की मुख्य भाषा रही है। किंतु, साथ ही साथ, भारत की जनता से सम्पर्क बढ़ाने के लिये तथा अधिकाधिक जनता के लिये रेडियो को उपयोगी बनाने के लिये प्रादेशिक भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों का भी रेडियो की भाषा बनाने की आवश्यकता रही है। यह इसी आवश्यकता का परिणाम है कि भारत के प्रादेशिक भाषा क्षेत्रों में रेडियो स्टेशन खोले गये और प्रत्येक भाषा क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों में भी कार्यक्रम प्रसारित होना प्रारम्भ हुआ। इसके दो परिणाम निकले। एक ओर, प्रादेशिक भाषाओं को उत्तरोत्तर साहित्यिक रूप मिला और, दूसरी ओर स्थानीय बातिया प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यिक प्रवाह में आयी और उनका शब्द भण्डार बढ़ा। अंग्रेजी के मुख्य भाषा होने के कारण और अंग्रेजी से ही मिलित भारतीय कार्यक्रमों का अनुवाद होने के कारण प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों पर अंग्रेजी भाषा के व्याकरण प्रवाह और अभिव्यक्ति का प्रभाव बढ़ा। इससे भारत की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों में आदान प्रदान भी बढ़ा। आज रेडियो में प्रयुक्त होने वाली पंजाबी अधिक संस्कृत गमित है, अतः, वह हिन्दी के अधिक समीप है। लखनऊ से प्रसारित होने वाला अवधी और भोजपुरी का मिश्रित कार्यक्रम और दिल्ली से प्रसारित होने वाला

वज्रभाषा खड़ी बोली और हरियाणी का मिश्रित वायव्यम इन बोलियों को अधिक समीप लग रहा है। अंग्रेजी और हिंदी के माध्यम से भारत के भाषावार एकीकरण में रेडियो का योगदान रहा है।

रेडियो के माध्यम से पढ़ने वाले सघात के और दो परिणाम निकले हैं। आज रेडियो के माध्यम से भारतीय सभ्यता के प्रतिष्ठित (Classical) और लोक तत्वों का एक ओर एकीकरण हो रहा है और दूसरी ओर इस एकीकरण का योरोप से प्रसारित होने वाला विचारों के साथ समन्वय हो रहा है। रेडियो से प्रसारित होने वाले संगीत और नाटकों पर इस द्वैतात्मक ऐतिहासिक परिस्थिति का प्रभाव स्पष्ट है। बढ़ते हुए पूजावादी औद्योगीकरण जिसका मुख्य आधार है उत्तरोत्तर व्यापक व्यापारीकरण तथा शहरीकरण के प्रभावों के अंतर्गत रेडियो भारतीय संगीत नाटक, कविता और कहानी साहित्य के 'व्यापारीकरण' का माध्यम रहा है। कवि सम्मेलन और मुसायरा की साहित्यिक परम्पराओं को रेडियो ने आज एक नया रूप दे दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय कला और साहित्य के इन पक्षों को रेडियो ने जन सुलभ बना दिया है कि तु साथ ही-साथ प्रचार का माध्यम होने के कारण रेडियो ने कला और साहित्य में प्रयोजनवादिता को भी जन्म दिया है। भारत में रूपक तथा श्रृंगार नाटकों की परम्परा रेडियो की ही देन है। रेडियो कलाकार तथा साहित्यकार की आज एक अलग श्रेणी ही बन गयी है।

भारत में ही नहीं बरन सारे ससार में रेडियो जनमत के निर्माण का एक प्रभावपूर्ण साधन है। भारत में भी रेडियो का प्रयोग जनमत के निर्माण के लिए किया गया है। इस कारण यदि एक ओर रेडियो प्रचार का माध्यम रहा है तो, दूसरी ओर, सामाजिक राजनतिक जागृति के प्रसार का माध्यम भी। पत्र पत्रिकाओं की भाँति रेडियो भी सामाजिक सांस्कृतिक विचार विमर्श का एक आधुनिक मंच रहा है यद्यपि उसका प्रभाव उतना व्यापक नहीं रहा है जितना कि पत्र पत्रिकाओं का। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ, कृपि एक राष्ट्रीय समस्या बन गयी और जब से भारत में रेडियो का प्रवेश हुआ है रेडियो को कृपि पुनर्निर्माण के लिये जनमत तयार करने का एक माध्यम बनाया गया है। आज रेडियो वह मंच बन गया है जहाँ सामाजिक सांस्कृतिक और राजनतिक समस्याओं का एक नया मूल्यांकन हो रहा है और भारतीय जन इस मूल्यांकन के पक्ष विपक्ष में अवगत हो रहे हैं।

रेडियो की भाँति, सिनेमा भी एक सदेगवाहन साधन है जिसका प्रयोग मनोरंजन के लिये होता है और जनशिक्षा तथा जनमत के निर्माण के लिये भी। वास्तव में रेडियो की भाँति, सिनेमा भी प्रचार का एक सबल प्रौद्योगिक साधन है। पश्चिम में औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव में सिनेमा प्रचार और व्यापारीकृत मनोरंजन का एक प्रधान आधुनिक साधन है। भारत में सिनेमा का प्रवेश

व्यापारीकृत मनोरंजन के लिये ही हुआ था और आज भी उसका प्रयोग उसी के लिये हो रहा है। रेडियो की भांति सिनेमा से भी नया, मगीत और नाटक जनमुलभ हो गये हैं किंतु व्यापारीकरण के माध्यम से। रेडियो, सिनेमा और प्रेस के प्रभाव के कारण बला की 'स्वातन्त्र' सुलाय सवा करने की भारतीय परम्परा आज व्यापारिक प्रयोजनवादिता में बदल रही है। पारलौकिकता के स्थान पर, आज उसमें पार्थिव झूलौकिकता का प्राधान्य बढ़ रहा है। रेडियो की भांति, सिनेमा से भी, भारतीय बला के सिनेमा में सर्वाधिकतम पला के प्रतिष्ठित (Classical) तथा लोकतत्व साथ साथ निरंतर एकीकृत हुये हैं और पश्चिमी विचारधारा से समन्वित हुये हैं। सामाजिक विद्वत्करण (Social Sophistication) का प्रसार रेडियो की अपेक्षा, सिनेमा से अधिक हुआ है। यद्यपि के सघात से भारतीय समाज तथा संस्कृति में जिन समस्यात्मक परिस्थितियाँ का जन्म हुआ उनको सिनेमा ने अधिक उभार कर भारतीयों के समक्ष रखा और भारत का विचारधारा उस ओर आकर्षित की। अस्पृश्यता, विवाह, दहेज जाति और अपराध में सम्बद्ध सामाजिक समस्याओं पर बनने वाले चित्रों की अधिपतता इसका प्रमाण है। जसा कि पश्चिम में हुआ है एक ओर सिनेमा जानता है अनन्त मन की भावनाओं और प्रतिष्ठितियों की प्रतिच्छाया रहा है और, दूसरी ओर, सामाजिक मूल्यधन का एक व्यापारीकृत साधन जिसका मुख्य उद्देश्य है मनोरंजन। इसी कारण, सिनेमा का सामाजिक प्रभाव सामित ही रहा है यद्यपि उसका मानसिक प्रभाव काफी प्रबल रहा है। दूसरी ओर, यद्यपि की भांति, भारत में भी सिनेमा का व्यापारिक प्रचार का साधन बनाया गया है और सरकार ने सिनेमा का राजनतिक तथा सामाजिक शिक्षा का साधन बनाया है। सिनेमा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम है भारत की अपने प्रति जागरूकता।

डाक तार व्यवस्था भी सदृशवाहक साधनों की श्रेणी में आती है और भारत में उसका प्रचार योरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रवेश के साथ साथ हुआ है। रोज, मोटर रेल और हवाई जहाज ने डाक व्यवस्था को उत्तरात्तर व्यापक तथा द्रुतगामी बनाया है। डाक तार व्यवस्था ने अन्तर्-यातायात तथा से देशवहन के साधनों के साथ साथ, एक ओर भारत के एकीकरण में सहायता दी है तो दूसरी ओर भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क में आने में सहायता दी है। अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय डाक व्यवस्थाओं के ही माध्यम से आज अनेक भारतीय विदेशियों के सम्पर्क में हैं और भारत के बाहर बसने वाले भारतीयों का भारत से सम्पर्क बना हुआ है। एक ओर, विचारकों अध्यापकों तथा वनानिर्वो के यह सम्पर्क विचार आदान प्रदान का एक माध्यम होने के साथ साथ, भारत में आधुनिक विचारधारा फैलने का भी माध्यम है। डाक तार व्यवस्था के माध्यम से भारत में अन्तर्राष्ट्रीय यापार बढ़ा है और इसी माध्यम से योरोप तथा अमरीका की अनेक पत्र पत्रिकाओं और पुस्तकों भारत में योरोपीय विचार और भावनाओं के प्रचार और प्रसार का माध्यम बन रही है।

भारत का राष्ट्रीय जीवन में डाक-तार व्यवस्था के अनेक व्यापक योगदान हैं। भारत में मुगल अंग्रेजी राज की स्थापना और उसके माध्यम से भारत के राज-नैतिक सामाजिक तथा आर्थिक एकीकरण में डाक-तार का भी महत्वपूर्ण हाथ है। रेल-राज के जन्मवा 'डाक-तार एक बड़ा मूल्यपूर्ण साधन है जिसे अंग्रेजी राज में, भारत की आर्थिक व्यवस्था के उत्तरांतर व्यापारीकरण तथा औद्योगिकीकरण में सहायता मिली है। डाक-तार के साथ-साथ यातायात के अन्य साधनों का सम्मिश्रित प्रभाव ने भारत की सामाजिक व्यवस्था के इस महत्वपूर्ण आधार पर मजबूत परिवार तथा जाति का प्रभावित किया है। यातायात के साधनों तथा बढती हुई आर्थिक व्यवस्था से स्थानांतरण को प्रोत्साहन मिला। किंतु साथ ही साथ डाक-तार के माध्यम से परम्परागत सामाजिक सम्बंध भी बने रहे। परिवार से अलग रहकर भी व्यक्ति परम्परागत मूल्यवत्त परिवार का अंग बना रहा। प्राकसर श्रीनिवास के कहना है सड़क और रेल के निर्माण डाक-तार, प्रादेशिक भाषाओं में छापेखानों की सुविधाओं और सस्ते काफ़े की उपलब्धि ने जातियों को कम स्तर पर संगठित होने के लिये प्रेरित किया जिस स्तर पर वे कभी भी संगठित नहीं हुये थे। डाक की सुविधा के कारण, जाति सभा की बैठक की सूचना पोस्टकार्ड द्वारा जाने लगी और रेल दूर-दूर तक फैल चुकी जाति सदस्यों का एक निश्चित स्थान में कम समय में पहुँचने में सहायता करने लगी। डाक की सुविधा ने कुछ जातियों के परम्परागत कार्यों का निष्फल कर दिया। गाँव तथा जाति के सूचनावाटक का स्थान पोस्टकार्ड ने ले लिया और विवाह की सूचना से जाने वाले नाई के स्थान डाक द्वारा भेजे जाने वाले निमन्त्रण पत्र ने।

अपेक्षितवाहक साधनों की भाँति छापेखाने का प्रभाव भी काफी व्यापक हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सबसे प्रथम छापेखाने का प्रयोग मोना में इसाई धर्म का प्रचार करने के लिए किया गया था क्योंकि, इसाई धर्म के प्रचार के लिए इसाई धर्म प्रचार साहित्य का प्रादेशिक भाषाओं में एक बड़े पैमाने पर उत्पादन, इसाई मिशनरियों की एक आधारभूत आवश्यकता थी। किंतु कालांतर में, छापेखाने का प्रयोग इससे भी अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। यूरोप की भाँति, भारत में भी छापेखाना सामाजिक नवजागरण का एक माध्यम बन गया। छापेखाने के माध्यम से भारत की धार्मिक पुस्तकों का एक बड़े पैमाने पर उत्पादन आरम्भ हुआ और वे जनसाधारण को बड़ी ही सुलभ हुयीं जसे सोलहवीं शताब्दी के यूरोप में अंग्रेजी में अनुज्ञित बाइबिल। इससे धार्मिक पुस्तकों के पठन पाठन तथा उनके निबन्धन पर साक्षात्कार का एकाधिकार समाप्त हो गया जिसके कारण यदि उत्तर में नहीं, तो कम

1 श्रीनिवास एम.एन. इण्डियन साइसकापेस (कलकत्ता 1957) के चर्चालिसवें सम्मेलन में एन्थ्यापालाजी तथा आरव्यालोजी विभाग के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

से कम दक्षिण में, परम्परागत ब्राह्मणविराधी सामाजिक आन्दोलन को, बौद्धिक प्रसरता मिली और, बदलती हुई आर्थिक राजनतिक व्यवस्था में, उस राजनतिक आर्थिक आधार प्राप्त हुआ¹। भारत के परम्परागत साहित्य की एक बड़े पमाने पर उपलब्धि है, जसा कि गाथा प्रेस, गोरखपुर, के प्रयत्न से स्पष्ट है, एक ओर, परम्परावादी साहित्य के प्रचार में सहायता कर, परम्परावादी (सनातन) हिंदुत्व का प्रोत्साहन दिया और, दूसरी ओर धार्मिक पुस्तक की जनमुलभता ने हिंदुत्व के पुनर्मूल्यांकन की प्रेरणा दी। इस पुनर्मूल्यांकन का एक मुख्य कारण रही है निम्न स्तर की जातियों के सदस्यों में आर्थिक सामाजिक चलिष्णुता के लिए उत्पन्न होने वाली प्रेरणा जिसके लिए अंग्रेजी राज में उत्पन्न परिवर्तन ने अवसर प्रदान किये। अंग्रेजी राज ही वह काल है जब निम्नस्तर की जातियों ने धर्म ग्रन्थों के आधार पर अपने सामाजिक स्तर के उच्च होने का दावा किया, और पौराणिक कथाओं का आश्रय लेकर अपने तर्कों का पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाया। प्राक्सर घुरे के आधार पर, प्रोफेसर श्रीनिवास ने यह प्रतिपादित किया है कि छापेखाने ने भी जातियों को संगठित होने में सहायता दी। सन्ते कागज की उपलब्धि से जाति के नियमों को लेखबद्ध करके प्रकाशित करवाया गया और जातीय मण्डनों के संविधान प्रकाशित करवाये गये। जाति मण्डनों में अलग अलग अलग पत्र पत्रिकाएँ निकाली गिन्से, एक ओर सुधारवादी विचारों का प्रचार हुआ तो, दूसरी ओर, जाति के सामाजिक आधारों का और भी दृढ़ता मिली क्योंकि गायद ही बाई ऐसी जातीय पत्रिका अथवा पुस्तक हो जिसमें उस जाति के निम्न कि वह सम्बन्धित है, ऐतिहासिक गौरव का वर्णन हो।

- 1 भारत में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन वस्तुतः उस समय से चला आ रहा है जब से हिंदू समाज में जाति प्रथा का संगठन हुआ। बुद्धवाद इसको प्रथम, संगठित, सामाजिक अभिव्यक्ति थी। इस्लाम के सघात में, जाति प्रथा विरोधी आन्दोलनों को निस्तार कर ब्राह्मण विवादाधिकारों के प्रति एक प्रकार के बौद्धिक विरोध को जन्म दिया। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले यह विरोध केवल मौखिक तथा बौद्धिक था। केवल निम्न स्तर की जातियाँ ही, निगण पक्षों के माध्यम से जाति प्रथा का मौखिक विरोध करती थीं। किंतु अंग्रेजी राज की स्थापना से एक ओर, नये आर्थिक अवसर आय तो दूसरी ओर, मतदान के अधिकार के माध्यम से नये राजनतिक अवसर मिले। इसके परिणाम स्वरूप, ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन में एक नयी सामाजिक राजनतिक सक्रियता का जन्म हुआ। इस नये आन्दोलन का शीर्षक उस समय हुआ जब 1873 में पूना के ज्योतिराव फुले ने सत्य गोपक समाज की स्थापना की थी और इस बात पर जोर दिया था कि सभी जातियों के सदस्य परस्पर समान हैं। फुले

छापेखाने व ही माध्यम से भारत में सस्ती पुस्तकों का उत्पादन सम्भव हुआ जिससे शिक्षा को प्रोत्साहन मिला और अंग्रेजी राज के माध्यम से स्थापित नयी सामाजिक राजनतिक व्यवस्था में शिक्षा का जन-मुलम बनाने का आन्दोलन चला। छात्रोत्थान के ही माध्यम से भारत में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिससे भारत में नये विचार फैले और सामाजिक नये जागृति की प्रोत्साहन मिला। चित्र-कला और साहित्य के उत्तरात्तर व्यापारीकरण का एक महत्वपूर्ण कारण छापाखाना भी है। आधुनिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ साथ आधुनिक भारतीय समाचार पत्र भी छापेखाने की ही देन है। भारत में आधुनिक पत्रकारिता के जन्म मदाता अंग्रेज और योरोपियन ही थे। भारत में आधुनिक समाचार पत्र का जन्म ग्रेटब्रिटेन तथा भारत और पूर्व (The East) तथा पश्चिम (The West) को सम्पर्क मलाने वाली श्रृंखला की एक कड़ी के रूप में हुआ। कम्पनी के राज्यकाल में सम्पादक की सदेह और अनुनास की दृष्टि से देखा जाता था। भारतीय पत्रकारिता का जन्म ही स्वातन्त्र्य (Freedom) और नियन्त्रण (Control) के सिद्धांत के अन्वागत में हुआ, जिसका प्रभाव आज भी बना हुआ है किन्तु प्रस (Press) की स्वतन्त्रता और उन पर नियन्त्रण की समस्या भारत की ही समस्या नहीं है।

भारत के सामाजिक सम्पन्न में सम्पादकीय नेतृत्व का अम्युदय पत्रकारिता की मुख्य देन है। सम्पादकीय नेतृत्व राजनतिक नेतृत्व तथा परम्परागत जाति नेतृत्व दोनों से भिन्न रहा है। सम्पादकीय नेतृत्व जाति पर निर्भर न होकर साम्यता पर

न अन्वाहणों की शिक्षा पर जोर दिया और अन्वाहणों से इस बात का अनुरोध किया कि वे अन्वाहण पुरोहितों की सेवाओं को स्वीकार न करें। फुले ने सरकारी नौकरियों तथा स्वायत्त शासन व संगठनों में सभी जातियों के समान प्रतिनिधित्व की मांग की। महाराष्ट्र में श्री अम्बेदकर फुले की ही परम्परा में आय। महास का अन्वाहण विरोधी आन्दोलन तथा आ ६४ में दो पुरानी प्रतिद्वन्द्वी जातियों, ब्रह्मा और रेड्डी, का अन्वाहणों के विच्छेद संगठित होना, पूना में फुले द्वारा चलाय हुए आन्दोलन के प्रसार मान है श्रीनिवास एन० एन० वही।

अंग्रेजी राज की स्थापना पहले भारत में सदेशवहन के मुख्य साधन थे शिला लेख, चित्र और घटनाओं की लेख बद्ध करने की मुगलकालीन परम्परा। औरंगाब के राज्यकाल में प्रादेशिक राजधानियों में वाक्या नवीत रखे जाते थे कहीं-कहीं व्यापारी समाचार पत्रों (News Letters) के लिखने के लिए समाचार-लेखकों को नौकर रखते थे—ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट पृष्ठ 188।

निभर रहा है। यही कारण है कि सम्प्राप्तवीय नेतृत्व, एक बार, भारत की सामाजिक नवजागृति की द्विआत्मकता की उत्पत्ति रहा है ता, दूसरी ओर उसी द्विआत्मकता का प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक भी है। सम्भवतः यह इसी परिस्थिति का प्रभाव है कि भारतीय सम्पादक, जहाँ शिव और सुधारक रहा है वहाँ वह राजनैतिक आन्दोलन, (Political Agitator) भी रहा है। भारतीय पत्रकारिता के ज्येष्ठतम आधुनिक सामाजिक नवजागृति के प्रणेतार राजा राम मोहनराय जिन्होंने पत्रकारिता को धार्मिक सामाजिक नवजागृति का माध्यम बनाया। किंतु बाद में, कांग्रेस आन्दोलन के साथ साथ भारतीय पत्रकारिता राजनैतिक आन्दोलन का माध्यम बन गई। इसीलिए एक ओर यह कहा जाता है कि आन्दोलन (Agitation) भारतीय पत्रकारिता की विशेषता रही है और, दूसरी ओर यह कहा जाता है कि भारतीय पत्रकार, एक ही साथ, भाषा विद, दार्शनिक धर्म सुधारक सामाजिक दुरादमा को दूर करने के लिए आन्दोलनकर्ता, लेखक और शिक्षक भी रहा है। भारत के मुख्य मुख्य आधुनिक आन्दोलनों की जाधारशिलानों भारतीय पत्रकारिता ने ही रखी है¹।

भारत के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में पत्रकारिता के इस व्यापक प्रभाव के कई परिणाम निकले। पत्रकारिता, अंग्रेजी भाषा के प्रचार और प्रसार का प्रादेशिक भाषाओं के विकास का माध्यम बनी। बंगला, हिन्दी और मराठी के आधुनिक विकास का सूत्रपात पत्रकारिता ने माध्यम से हुआ। आधुनिक हिन्दी के जनक, भारते दुर्हरिचन्द्र एक ओर, कवि और नाटककार थे तो, दूसरी ओर पत्रकार भी। जैसे रेडियो के माध्यम से अंग्रेजी का प्रभाव प्रादेशिक भाषाओं पर पड़ा, वैसे ही पत्रकारिता के माध्यम से प्रादेशिक भाषाओं पर अंग्रेजी का और भी व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय पत्रकारिता की आन्दोलनता ने अंग्रेजी और प्रादेशिक भाषाओं में आन्दोलक शैली को जन्म दिया। भारत में प्रवासित होने वाले तथा भारत में बाहर से आने वाले पत्र पत्रिकाएँ, भारतीय तथा यारोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार का माध्यम बनी। अन्तःसदेशवाहक साधना की भाँति, समाचार पत्र भी भारत के एक ही करण और व्यापारीकरण में सहायक हुआ। समाचार पत्र वह मंच बन गया है जहाँ सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं का मत्पार्कन चलता रहता है—वह मूल्यांकन जो समालोचनात्मक दृष्टिकोण के विकास में सहायक है। प्रारम्भ से ही भारतीय पत्रकारिता का दार्शनिक राष्ट्रीय होने के साथ साथ, अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। पत्रकारिता के माध्यम से, आधुनिक भारत का सामाजिक दृष्टिकोण विस्तृत और व्यापक हुआ है जिसकी शक्ति सामाजिक नवजागृति के आधुनिक आन्दोलन में मिलती है।

यूरोपीय प्रौद्योगिकी के प्रयोग के साथ साथ, भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी

का भी प्रयोग चलता रहा। एक ओर रत्न माटर और वायुयान का प्रयोग वगैरह, दूसरी ओर, बल्गाडी का भी प्रयोग चलता रहा। बड़े-बड़े गहर यारापीय प्रौद्योगिकी के आधार पर बन किन्तु उम्र या वतमान यारापीय प्रौद्योगिकी के माध्य-माध्य, परम्परागत जीवन चलता रहा। एक ओर उद्योग में मशीनों का प्रयोग वगैरह तो दूसरी ओर, परम्परागत कुटीर उद्योग भी चलन रह। वास्तव में, स्वदेशी-आन्दोलन के माध्यम से, भारत ने यारापीय प्रौद्योगिकी और भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी के सम्बन्ध का प्रयास किया। एक ओर यारापीय प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण मशीनीकरण बढ़ा ता दूसरी ओर जता कि बुनियादी शिक्षा स्वदेशी-उद्योग और अन्य कुटीर उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों में स्पष्ट है। भारत की परम्परागत प्रौद्योगिकी का भी बढ़ाये रखने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास आज भी चल रहा है और भारतीय नियोजन के आधारभूत सिद्धान्तों में यह प्रयास शामिल है। योरोपीय औद्योगिकीकरण में भारत के परम्परागत कुटीर उद्योगों का क्या स्थान है। सक्ता है और किस प्रकार उनका सम्बन्ध हो सकता है, इसका म्यामी सद्धान्तिक उत्तर भारत के वतमान नियोजन कार्यक्रम का सफलता और असफलता पर निर्भर है।

प्रौद्योगिकी के माध्य-माध्य, भारत में वह यारापीय ज्ञान विज्ञान भी फला जिसने यारापीय प्रौद्योगिकी का जन्म दिया था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ एक ओर, भौतिक विज्ञान के पठन पाठन का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर सामाजिक शास्त्रों का। याराप के भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान, विज्ञानवादी और प्रगतिवादी विचारधारा पर आधारित थे। अतः भारत में प्रगतिवादी और विज्ञानवादी विचारधारा का समावेश हुआ। इससे विपरीत भारत की विचारधारा रत्नवादी और आध्यात्मिक थी। भारत के भौतिक विज्ञान भी इस विचारधारा से अलग थे। भारतीय सामाजिक शास्त्रों का प्राण था भारत का रहस्यवादी दान। योरोपीय भौतिक विज्ञान के परिणाम प्रत्यक्षत उपयोगी थे। अतः, भारत में, उनकी ओर झुकाव बढ़ा। यारापीय सामाजिक शास्त्रों और मार्क्सवादी विचारों के प्रसार के कारण, प्रगतिवादी विज्ञानवादिता का प्रभाव बढ़ा जिससे परिणाम हुआ नूतन और प्राचीन का संघर्ष। यारापीय प्रौद्योगिकी और ज्ञान विज्ञान के सघन से भारतीय समाज तथा संस्कृति में भारतीय तथा यारापीय की प्रवर्णात्मक सम्बन्ध प्रतियोगिता चल रही है और नूतन तथा प्राचीन के संघर्ष के रूप में योरोपीय बनाम भारत का संघर्ष भी चल रहा है।

प्रशासन तथा विधि-प्रणाली

भारत में अंग्रेजी राज की मुख्य धुरी थी वह प्रशासन जिसका निर्माण अंग्रेजों ने किया था और जो अंग्रेजी राज के साथ साथ बढ़ता और विकसित होता रहा था। वर्तमान भारत की राज्य व्यवस्था भी उसी प्रशासकीय आधार पर खड़ी हुयी है। भारत में अंग्रेजी राज और उसके प्रशासन के दो मुख्य ऐतिहासिक काल हैं—एक, अठारहवीं सतावन की राज्यशासित के पहले का काल और दूसरा उसके बाद का अर्थात् अठारहवीं सतावन के पहले का काल कम्पनी का राज्यकाल था जिसमें प्रारम्भ में, प्रशासन व्यापारी भी हुआ करते थे। भारत में स्थायी प्रशासन की समस्या वस्तुतः लाइ वानवालिस के समय से प्रारम्भ हुयी और तभी से ही वर्तमान प्रशासन का प्रारम्भ भी होता है। भारत में अंग्रेजी प्रशासन का जनक वानवालिस का ही कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारत में उच्च अंग्रेज प्रशासक दो विचारों के रहें हैं—एक योंनी में वे लोग हैं जिन्होंने भारत को भारतीय परम्पराओं के अनुसार प्रशासित करने का प्रयास किया और दूसरी श्रेणी में वे आते हैं जिन्होंने भारत में योरोपीय, विशेषतया इंगलैण्ड की परम्पराओं का प्रवेश किया। वानवालिस दूसरी श्रेणी के प्रशासक थे और उन्होंने भारत की नौकरशाही को इंगलैण्ड की नौकरशाही के आधार पर संगठित करने का प्रयास का जन्म दिया। राजकीय प्रशासन के साथ साथ सेना का प्रशासन भी इंगलैण्ड की परम्पराओं और नियमों के आधार पर संगठित किया गया।

वानवालिस ने जिस प्रशासन की आधारगिला रखी थी उसका मुख्य आधार था तत्कालीन व्यापार की आवश्यकतायें क्योंकि उस काल में अंग्रेजों प्रशासकों के सामने केवल दो आदर्श थे—एक भारत में अंग्रेजी राज को बढाना और दूसरे अंग्रेजी व्यापार का सुरक्षित रखकर उस अधिकाधिक लाभदायक बनाना। उस समय का अंग्रेजी राज एक कल्याणकारी राज्य न था। यही कारण है कि अंग्रेजी प्रशासन का जन्म एक व्यापारी प्रशासन की परम्परा-जा में हुआ। जैसा कि बल्जली की उक्ति¹ से स्पष्ट है भारत का अंग्रेजी प्रशासन बनिया राज की दल है। कम्पनी का प्रधान अधिकारी प्रेसीडेंट (President) कहलाता था और इसी कारण बंगाल मद्रास और बम्बई के प्रांत प्रांत न कहला कर प्रेसीडेंसी (Presidency) कहलायें। व्यापारी

1 लाइ बेल्लेजली (1798-1805) ने इस बात की शिकायत की थी कि 'भारत पर राज्य राजधानी से नहीं बल्कि, पसा गिनने वाले दफ्तर से चलाया जा रहा है। यहाँ राज्य राजें नहीं, बल्कि, वे लोग चल रहे हैं जो मलमल और नील की सुदरा बिन्नी का काम करते हैं'—दिनकर वही पृष्ठ 412

संगठन में विरानी (Wanter) का प्रधान स्थान होता है। इसी आधार पर बंगाल के सचिवालय का नाम राइटर बिल्डिंग (Wanter Building) पड़ा। इंडियन सिविल सर्विस का विभाजित ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरशाही से हुआ है। अंग्रेजों का व्यापारिक संगठन में उच्च अधिकारी व्यापारी भी होता था और साथ ही साथ राजनैतिक प्रशासक भी। इसी परम्परा का परिणाम है कि इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी सभी विषयों और मामलों के विनोद माने जाने लगे और आज भी माने जाते हैं¹। इसी कारण इंडियन सिविल सर्विस के अधिकारी उस साधारण ज्ञान के आधार पर कार्य करते हैं जो उन्हें प्रशिक्षण और अनुभव से मिलता है। किसी भी विभाग के विनोद ज्ञान में उनका कोई भरोसा नहीं है क्योंकि किसी विभाग में उनको स्याही रूप से नहीं रखा जाता है।

कम्पनी के प्रधान कार्यालय में और भारतीय कार्यालय में काफी दूरी थी। अतः सारा प्रशासनिक विवरण (Report) बत (Minutes) और टिप्पणियों (Notes) के आधार पर चलता था। इसका परिणाम यह हुआ कि विवरण बत और टिप्पणी ही प्रशासन की मुख्य धुरी बन गये। इससे एक प्रकार का प्रशासन में महत्व मिला और दूसरी ओर सबके ध्यान अकसर वहाँ समा जान लगे जा विवरण, बत और टिप्पणी लिखने में लगने लगे। प्रशासन का भारी कुशलता, सिमट कर बत में समा गया। कोई आश्चर्य नहीं यदि इंडियन सिविल सर्विस के संस्था के चुनाव का आधार बनी वह परीक्षा पद्धति जिसका प्रयोग स्कूल और कॉलेज में किया जाता है और जिसमें उम्मीदवार की लेखन-कुशलता का ही अधिक पता चलता है। माहितीयक कुशलता ही इंडियन सिविल सर्विस में स्थान पान का मुख्य आधार बन गया। भारत में नौकरशाही की परम्परा मीमांसा से चली आ रही थी और आगे बढ़ते-बढ़ते अकसर ने जिस प्रशासन के आधार पर अपने साम्राज्य को खड़ा किया था उसका आधार जानिगत नौकरशाही थी। सिद्ध ज्ञान पर आधारित होने के कारण वह नौकरशाही कायमक विशेषीकरण (Functional Specialization) पर आधारित थी। प्रशासन के एक विभाग विषय का कार्य करने वाले व्यक्ति उस विभाग विशेष चलाने के लिये आवश्यक विषय ज्ञान, अपनी ज्ञान परम्परा के अनुसार, प्राप्त करते थे। अंग्रेजों ने भी इस परम्परा का उपयोग किया। अंग्रेजों ने भारत में

- 1 प्राचीन सेवाभा और अखिल भारतीय सेवाओं में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। कुछ विभागों के छोड़कर गण विभागों में विशेषीकरण की आवश्यकता की महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसी कारण यह देखने में आता है कि जो अधिकारी आज बिट्टी मजिस्ट्रेट है, वह बल को नियोजन-अधिकारी हो जाता है। जो अधिकारी आज जिलाधीश है वह कल को उद्योग विभाग का संचालक हो जाता है।

सिद्धान्त निर्धारित किया था कि उन मुस्लिमों में जिनमें पारिवारिक सम्बन्धों और धार्मिक मन्थनों का मामला है, यायालय आवश्यकतानुसार हिंदू और इस्लामी स्वीय विधि को लागू करेंगे। वारेन हेस्टिंज द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के दो आधार थे—पहला, हिंदू और मुसलमानों में स्वीय विधि पहल ही से विद्यमान थी और दूसरा, वारेन हेस्टिंज का यह मत था कि भारत में अंग्रेजी सत्ता निश्चय ही एक भारतीय सत्ता होगी—वह सत्ता जो भारत की प्रचलित प्रथाओं में उतना ही फैल पड़ेगी जितना नितान्त आवश्यक होगा और जिसका आधार देश की प्राचीन विधि प्रणाली होगा।

भारतीय विधि प्रणाली के विद्यार्थियों के मत में वस्तुस्थिति इतनी सरल नहीं होती कि हेस्टिंज ने कल्पना की थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में स्वीय विधि पहल ही से विद्यमान थी किन्तु उसके यथार्थ तथा व्यावहारिक स्तरों में इतना अमान्यत्व था कि दोनों परस्पर निमूल लगते थे। हिंदू स्वीय विधि के स्वरूप और उसके नियंत्रणों पर मतभेद न था जिसमें परिणामस्वरूप हिंदू धर्मशास्त्रों में स्वीय विधि का जो रूप निखरता था वह नितान्त अनिश्चित था। दूसरी ओर हिंदू सामाजिक तथा वैयक्तिक व्यवहार में प्रथाओं का प्रभाव था—उन प्रथाओं का जो स्वतन्त्र-स्वतन्त्र पर भिन्न थी और जो बहुधा शास्त्रप्रणीत सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ती थी। हिंदू दण्ड तथा नायिक विधान भी एक ओर, अनिश्चित था और, दूसरी ओर, उस प्रकार के व्यक्तिवादी समता सिद्धान्त पर आधारित नहीं था जो नयी व्यवस्था की आवश्यकता थी। परम्परागत दण्ड विधान में जहाँ, एक ओर, यह विधान था कि गुरु के शास्त्र के आधार पर ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिये वहाँ, दूसरी ओर, अलग अलग अपराधों के लिये अलग अलग जातियों को अलग अलग दण्ड देने का विधान था। नयी पूँजीवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के लिये आवश्यक सविदा विधि का हिंदू विधि प्रणाली में पूर्णतया अभाव था^१। जिनका पालन उचित माना गया है किन्तु जिनका वास्तविक विविक्त प्रशासन नहीं किया गया है।

इसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली में भी सविदा विधि का अभाव था। इस्लामी स्वीय विधि (Personal Law) हिंदू स्वीय विधि की अपेक्षा अधिक निश्चित थी किन्तु योरोपीय मापदण्डों के अनुसार वह आधुनिक नहीं थी। दूसरी ओर, हिंदुओं की भाँति मुसलमानों पर प्रथाओं का अधिक प्रभाव था और उनकी प्रथाएँ

- १ सर बेंजमिन लिंडसे के अनुसार, हिंदू विधि प्रणाली का जान कुछ उन धार्मिक पुस्तकों से होता है जिनको ईश्वरीय मान कर उन पर लम्ब-लम्बे काल्पनिक भाष्य लिख गये हैं। हिंदू विधि प्रणाली वस्तुतः धार्मिक नगरीय और औपचारिक आदेशों का संग्रह है जो भेले।

हिंदुओं के ही अधिक समीप थी। मुसलमानों से मिलन वाली व्यवस्था में इस्लामी दण्ड विधान का प्रचलन था किन्तु वह दण्ड विधान बर और पक्षपात पूर्ण था, क्योंकि जिस प्रकार हिंदू विधान में शत्रु के साक्ष्य पर ब्राह्मण के दण्ड न देने का विधान था, उसी प्रकार इस्लामी दण्ड विधान में मुसलमानों के विरुद्ध ग़र मुसलमान का अभिसाक्ष्य (Testimony) न स्वीकार करने का विधान था। इन परिस्थितियों में जसा कि पवित्र का मत है यह सिद्धांत लागू करना कि विधि के समक्ष सभी समान हैं, वास्तव में एक कानूनी क्रांति (Legal Revolution) से कम नहीं है।

अंग्रेजों के पहले की 'यायिक व्यवस्था में 'याय प्रशासन के तीन स्तर थे—एक, बादशाह या उसके प्रतिनिधि और काजी का दूसरा गांव पंचायत का और तीसरा जाति पंचायत का। इन तीनों स्तरों में दूसरे और तीसरे ही प्रधान थे और इन स्तरों पर पाए जाने वाले सगठनों, (गांव-पंचायत तथा जाति पंचायत) में 'कायपातक' (Executive), 'यायिक' (Judicial) और 'प्रधानी' (Legislative) काय तथा अधिकार निहित थे। किन्तु इन सगठनों में, भी जाति पंचायत का स्थान मुख्य था क्योंकि व्यक्ति पर, परिवार के बाद प्रत्यक्ष नियंत्रण जाति पंचायत का ही था। इन सगठनों द्वारा लागू की जाने वाली सारी विधि प्रणाली प्रथाओं पर आधारित थी और वह बाइबिल वाले उम सिद्धांत पर आधारित थी जिसमें यह कहा गया है कि दांत के लिए दांत और आँख के लिए आँख। सारा दण्ड विधान निदर्शनात्मक और प्रतिरोधक (Exemplary & Deterrent) था¹। इसमें कोई संदेह नहीं कि राज्य और उसके प्रतिनिधि, सम्राट अथवा बादशाह को, धर्मनिरपेक्ष अधिकार प्राप्त थे और वह जाति पंचायत अथवा ग्राम पंचायत के विधि विधान को आवश्यकतानुसार बदल सकता था क्योंकि वही राज्य का सर्वोच्च पुनर्विचार-न्यायालय हुआ करता था। किन्तु भारतीय 'यायिक प्रशासन की परम्परा का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि प्रथा पर उसकी प्रथाओं के अनुसार शासन करना राजा का कर्तव्य है और सम्भवतः इसी कारण जहाँ, एक ओर, स्मृतिकारों ने समय-समय पर विधि विधान का निष्पन्न किया और वही से निरूपित विधि विधान पर आप्य लिख कर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयास किया वहाँ, दूसरी ओर राज्य ने स्मृतिकारों की वैधिक मान्यताओं को तो माना किन्तु, वैधिक तथा 'यायिक प्रशासन में, जहाँ तक हो सका प्रथाओं को ही सर्वोपरि रखा। इसी परम्परा का परिणाम यह हुआ कि एक ओर, धर्मशास्त्रीय विधि प्रणाली चलती रही तो दूसरी ओर, प्रथा पर आधारित व्यावहारिक विधि-प्रणाली। जहाँ शास्त्रीय विधि तथा प्रथायी विधि में असामंजस्य हो वहाँ स्मृतिकारों ने भी प्रथा को ही महत्व देने की सलाह दी है।

अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, अखिल भारतीय विधि प्रणाली के निरूपण की आवश्यकता नहीं पड़ी थी क्योंकि उससे पहले ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत का ही राजनैतिक तथा 'यायिक' प्रशासन का आधार माना जाता था। किंतु जसा कि पहले कहा जा चुका है, अंग्रेजी राज के सघात से जा व्यवस्था उत्पन्न हो रही थी उमम गाँव तथा जाति का परम्परागत महत्व समाप्त हो रहा था। दूसरी ओर, अंग्रेजी की 'मध्य सरकार' की कल्पना भिन्न थी। अंग्रेजी राज के द्रोप सत्तावादी राजातिर विधा था और जिस समय भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना हुयी थी उस समय तक इंग्लड में पार्लियामेंट इतनी सबल हा चुकी थी कि उसकी अनुमति ने सरकार सामाजिक सुधारों के लिए भी विधि का निर्माण कर सकती थी। भारत में विधि का ईन्द्रीय समझा जाता था जबकि इंग्लड में विधि की मनुष्य की अच्छाई के लिए मनुष्य द्वारा बनाया हुआ एक ऐसा साधन माना जाता था जो आवश्यकता अनुसार बदला जा सकता था। योरोप से सम्पन्न स्थापित हान पर सती मांग विवाह और बहुविवाह जसी प्रथाएँ जगामाजिक प्रतीत हान लगी और उनका विधि द्वारा दूर करने की मांग भारतवासियों ने की। इस मांग पर दो प्रकार की विचारधाराएँ चली— एक नवजागृतिवादी और दूसरी परम्परावादी। जिसे नवजागृतिवादियों ने असामाजिक कहकर दूर करने की मांग की उस परम्परावादियों ने शास्त्रप्रणीत सिद्ध किया। वास्तव में दोनों मतों के मानने वालों ने अपने अपने तर्कों को शास्त्र प्रणीत सिद्ध करने का प्रयास किया और ऐसी ही दंगा में यह स्पष्ट हान लगा कि परम्परागत विधि प्रणाली विराधात्मक तथा अनिश्चित है। साथ ही साथ, अंग्रेजी राज के माध्यम से जिस सामाजिक धार्मिक व्यवस्था का ज न हा रहा था उसमें सविदात्मक सम्बन्धों (Contractual Relations) का नियमित करने का कोई भी वैध विधान न था। अतः सन १८५७ से सन १९०० के आस पास की परिस्थितियों में भारत के अंग्रेज प्रशासकों का भारत की परम्परागत विधि प्रणाली, असमान, अस्पष्ट और अनिश्चित लगी^१।

भारत की आधुनिक विधि प्रणाली के इतिहास के दृष्टिकोण से सन १८५७ से सन १९०० का साल एक महत्वपूर्ण साल है क्योंकि इसी साल में गवर्नर जनरल की परिषद में विधि-सदस्य (Law Member) को नियुक्त किया गया विनियमन (Regulation) द्वारा विधि निमाण रचना की रीति को समाप्त कर दिया गया और उस साल के गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट (Govt of India Act of 1833) के द्वारा यह निर्धारित किया गया कि जो विधियाँ भारत के सभी वर्गों पर लागू हों वे अधिनियमित की जायें। इसी साल से अखिल भारतीय विधि को अधिनियमित करने

का प्रयास प्रारम्भ होता है और वर्तमान भारत की विधि प्रणाली इसी प्रयास का परिणाम है। गवर्नर जनरल की परिषद के प्रथम विधि-मदस्य ने विधि निरूपण के लिए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि जहाँ हो सके समानता लाई जाय, जहाँ अत्यन्त आवश्यक हो और कोई चारा न हो वहाँ विभिन्नता बनी रहने दी जाय किन्तु प्रत्येक दशा में निश्चिन्ता अवश्य लायी जाय। निश्चिन्ता लाने के लिए विधि के संहिताकरण (Codification of Law) की आवश्यकता पड़ी जिसके लिए समय-समय पर विधि आयोग (Law Commissions) के संगठन का विधान किया गया। सन अठारह सौ चालीस में प्रथम विधि-आयोग ने यह सिफारिश की कि हिन्दू और मुसलमानों की स्वीय विधि (Personal Law) को ज्यों का त्यों रहने दिया जाय और अन्य अंग्रेज भारतीय विधि की रचना अंग्रेजी विधि के आधार पर हो। दूसरे विधि आयोग ने भी उसी प्रकार, हिन्दू तथा मुस्लिम विधियों का छांट कर, सम्पूर्ण भारत के लिए मौलिक विधि (Substantive Law) की रचना करने की सिफारिश की। तीसरे विधि आयोग (1961) ने इसी दिशा में प्रयास प्रारम्भ किया। इसी प्रयत्न के परिणाम हैं दि कोड आफ सिविल प्रोसीजर (The Code of Civil Procedure 1859), दि पिनल कोड (The Penal Code 1860), दि क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (The Criminal Procedure Code 1861), दि इण्डियन सक्सेशन एक्ट (The Indian Succession Act 1865), दि इवीडन्स एक्ट (The Evidence Act of 1872) और दि इण्डियन कंट्रैक्ट एक्ट (The Indian Contract Act 1872)।

जिन सिद्धांतों पर भारतीय विधि प्रणाली की रचना की गयी है उनके कारण वर्तमान भारत की विधि प्रणाली न तो अंग्रेजी ही है और न भारतीय ही। मेकाल के सिद्धांत में सबसे ज्यादा जोर निश्चिन्ता पर था। निश्चिन्ता के आगे मेकाल ने समानता (Uniformity) को उतना महत्व नहीं दिया था। यह कह कर कि जहाँ विभिन्नता टाली न जा सके, वहाँ उसका रहना अनिवार्य है, मेकाले ने वस्तुतः प्रयायी विधि और प्रयायी वैधिक विभिन्नता का अपरिहार मान्यता दे दी थी। जब, म^१ अठारह सौ अड़सठ में इंग्लैंड की प्रिवी काउंसिल (The Privy Council) ने यह निर्धारित कर दिया कि हिन्दू विधि में शास्त्र की अपेक्षा प्रथा का प्रमाण (Proof of Usage) अधिक माननीय है तो अपरिहार रूप से, एक ओर प्रथा का वैधिक (Legal) मान्यता प्राप्त हुयी और, दूसरी ओर, भारत की विधि प्रणाली में प्रायी जान वाली भिन्नता का भी मान्यता मिली। सामान्य मौलिक विधि का अंग्रेजी विधि पर आधारित है सम्पूर्ण भारतवर्ष में अवश्य समान है किन्तु अन्य विधि असमान है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है भूमि विधि (Land Law) जो आज भी सम्पूर्ण भारत में समान नहीं है।

भारत में विधि के संहिताकरण की आवश्यकता पर जोर देने हुए मेकाले ने

कहा था, "मेरे विचार में भारत के अलावा कदापि ही कोई ऐसा देश है जिस विधि संहिता (Code of Laws) की इतनी आवश्यकता है जितनी कि भारत की है और भारत के अलावा कदापि ही कोई ऐसा देश हो जहाँ यह आवश्यकता इतनी आसान से पूर्ण हो सकती है जितनी आसानी से वह भारत में पूर्ण हो सकती है"। किंतु साथ ही साथ, उसने यह भी कहा था "भारत में समान विधि प्रणाली का उद्देश्य वाछनीय अवश्य है किंतु वह अप्राप्य है"। अठारह सौ पचपन के पहले के विधि आयोग ने भी इसी बात पर जोर दिया था कि हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधियों का अधिनियमन (Enactment) की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक ओर ये समाज ही विषम और विजातीय हैं और दूसरी ओर हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधियों का आधार धर्म है और चूंकि अंग्रेजी विधान सभा हिंदू और मुस्लिम धर्मों का निर्माण नहीं कर सकती है, वह हिंदू और मुस्लिम विधियों का अधिनियमन नहीं कर सकती है¹। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् अठारह सौ अठ्ठावन के घोषणापत्र में स्वीन विक्टोरिया ने यह नीति निर्धारित की कि विधियों के अधिनियमन और प्रशासन में हिंदुओं की प्राचीन रूढ़ियों, रीति रिवाजों और प्रथाओं का ध्यान रखा जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वीय विधि का अधिनियमन तो किया गया किंतु उमम स्थानीय प्रथाओं का धपवाद माना गया। उनीस सौ पचपन का हिंदू विवाह अधिनियम (The Hindu Marriage Act) ऐम उदाहरणों में भरा पड़ा है। हिंदू विवाह के आधारों का निर्धारित करते हुए, सपिण्ड विवाह का निषेध किया गया है किंतु जहाँ प्रथा से सपिण्ड विवाह जायज है वहाँ उसकी अनुमति दे दी गयी है। सपिण्ड की परिभाषा भी हिंदू प्रथा पर आधारित है न कि शास्त्रों पर। इसी प्रकार विवाह कमकाण्ड के विषय में यह निर्धारित किया गया है कि बर या बधू में से किसी के यहाँ प्रचलित कमकाण्ड के आधार पर विवाह सम्पन्न हो सकता है और यदि अपनाने जाने वाले कमकाण्ड में सप्तपदी का विधान है तो अधिक रूप से विवाह तभी सम्पन्न माना जायगा जब सप्तपदी का कमकाण्ड पूर्ण हो जायगा²।

अंग्रेजों द्वारा अपनायी जाने वाली इस विधि प्रणाली के दो परिणाम निकले। एक, भारत में अंग्रेजी विधि प्रणाली के लागू करने पर भी भारतीय सस्कृति का ऊर्ध्वगामी विकास होता रहा। सर बेंजमिन लिंडस ने यह स्वीकार किया है कि भारत में हिंदू और मुस्लिम विधियों का सहितान्वरण एक दुस्तरकाय रहा है और इस कारण भारत में अंग्रेजी विधि प्रणाली का उस रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में वह भारत में लागू की जा सके। किंतु वास्तविकता यह है कि भारत की स्वीय विधियां

1 भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिस्लेशंस पृष्ठ 18

2 सक्सेना काशी प्रसाद दि कमेंटरीज ऑन हिंदू मरिज एक्ट 1955 पृष्ठ 67

के संहिताकरण (Codification) में प्रथाओं का, अंग्रेजी विधि प्रणाली के अनुसार, अधिनियमन किया गया है। इसका परिणाम हुआ है भारतीय विधि का ऋग्वगमन और भारतीय संस्कृति में अंग्रेजी विधि प्रणाली का सम्मेलन। इसका दूसरा परिणाम हुआ है भारतीय विधि प्रणाली की विषमता। अपने वर्तमान रूप और आधार में भारतीय विधि प्रणाली उस यमान की तरह है जिसकी यहाँ-वहाँ मरम्मत कर दी गयी है और, यहाँ वहाँ इतनी मरम्मत के बाद भी, जिसमें मूलख बाकी है¹। वर्तमान भारत की स्वीय विधि प्रणाली पूर्वोक्तान्तरण (Precedent) रूढ़ि (Custom) और परम्परा (Tradition) का एक वह विविध जमघट है जो पिछले सौ वर्षों से अनियमित रूप से एकत्र होता रहा है, जो हमारा वर्तमान प्रथाओं के अनुसूप भी नहीं पड़ता है और समता (Equality), सामाजिक न्याय (Social Justice) या समानता (Uniformity) के सिद्धांत पर चला ही उठता है²। इसी विकास परम्परा का परिणाम है कि विराधी प्रथाओं में चलती रहती हैं क्योंकि जिस प्रथा पर विधि आधारित है उसका अपवाद भी उतना ही बंध है जितनी कि प्रथायी विधि। जीवनसार के निवासी अपना परम्परामो और प्रथाओं से हिन्दू हैं किन्तु उनमें बहुपत्नित्व वैध है जबकि ईंग्लैंड मैरिज एक्ट (1905) के अनुसार हिन्दुओं में बहुपत्नित्व अवैध है।

अंग्रेजी राज के माध्यम से, यूरोप के सम्पर्क में आने पर भारत में भी यूरोप की ही राजनैतिक जागृति फैली। यूरोप की भाँति भारत में भी कम्पानकारी राज्य की स्थापना की भावना का प्रचार हुआ। इसके परिणामस्वरूप भारत में भी सामाजिक विधान द्वारा सामाजिक सुधार की माँग बनी। उधर, अंग्रेजी सरकार ने अनेक सुधारों के लिए सामाजिक विधान का आश्रय लिया। इसका परिणाम हुआ भारत में सामाजिक विधान की उत्तरात्तर रचना। स्वीय विधि के समान सामाजिक विधान का निर्माण भी धीरे धीरे और अलग अलग हुआ है और, इसी कारण, भारत का सामाजिक विधान भी समय-समय पर पास किए गए अधिनियमों का एक जमघट है। सामाजिक विधान भी सामाजिक समस्याओं का दूर करने के लिए बनाया गया है न कि नागरिकों की उस सामूहिक चेतना की माँग के रूप में जिसका उद्देश्य है सामाजिक समस्याओं के निवारण व्यक्तियों को उचित और वांछित जीवन के योग्य बनाना। अंग्रेजी राज में सामाजिक विधान का उद्देश्य रहा है सामाजिक समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों से समाज की रक्षा करना न कि सामाजिक समस्याओं का निराकरण। इसी कारण, अंग्रेजी विधि-प्रणाली पर आधारित सामाजिक विधान और प्रथाओं में वहाँ-वहीं विरोध भी पैदा हुआ और उससे कारण परम्परागत प्रथाओं सामाजिक अपराध का कारण

1. मनुस, एम० सलाहूदीन वही

2. विश्वास, सी०सी० भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सोशल लेजिस्लेशन में पृष्ठ V

घनी¹ । भारत का अधिकतर सामाजिक विधान मुख्यतया दण्डक (Punitive) रहा है और, इसकारण, पुलीस व्यवस्था ही समाज सुधार का मुख्य माध्यम रही है क्योंकि दण्डक विधान के अनुसार बाध न करने वाले को पुलीस ही दण्ड दिल्वाती है फिर भी अंग्रेजी राज-काल में जो भी सामाजिक विधान बना उसमें उन समस्याओं के प्रति जागरूकता फली जिनके लिए सामाजिक विधान का निर्माण किया गया । नारियों के सम्पत्ति अधिकार, बाल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह विधवा विवाह, जस्पश्यता और व्यवसायिक तथा प्रवासी धार्मिक बश्यावृत्ति ऐसी समस्याएँ हैं जिनका सामाजिक विधान से निराकरण तो नहीं हो सका किन्तु उनके प्रति, सामाजिक विधान के कारण सामाजिक चेतना अवश्य फैली । सामाजिक विधान रचने के सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयत्नों के कारण भारत में कल्याणकारी राज्य और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी आधुनिक विचारों का प्रसार हुआ और उनका परिणाम हुआ स्वतन्त्र भारत में संविधान में बुनियादी अधिकारों और कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए राज्य नीति के नैदेशिक सिद्धांतों का निरूपण ।

भारत में सावधानिक विधि (Constitutional Law) का विकास, इंग्लैंड तथा योरोप की सावधानिक विधियों और प्रथाओं से प्रेरित रहा है । भारत की सावधानिक विधि पर इंग्लैंड का प्रत्यक्षतम प्रभाव है क्योंकि भारत में सावधानिक विधि की रचना का शीर्गणेश ही अंग्रेजों के हाथों हुआ है । भारत में सावधानिक विधि का प्रवेश उन्नीसवीं सदी के मितो मालों के सावधानिक सुधारों के साथ-साथ प्रारम्भ होता है और उसकी पराकाष्ठा उन्नीसवीं सदी के गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट में होती है । अंग्रेजी राज में चलने वाला स्वतन्त्रता-मन्त्राम्बुत सावधानिक सुधारों और मांगों का इतिहास है और वह इंग्लैंड के राजनैतिक दार्शनिकों और वहाँ की सावधानिक प्रथाओं से प्रेरित रहा है । भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति के प्रणेता राजा राममोहन राय ने यही मांग की थी कि जैसा राजनैतिक विधान इंग्लैंड में है वसा ही भारत में हो ।

वर्तमान भारत का संविधान अंग्रेजों द्वारा निर्मित उन्नीसवीं सदी के

1 (अ) हैकरवाल, विजय शंकर सोनिया-इकनामिक आस्पेक्ट्स आफ लाइम इन इण्डिया

(ब) इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण है सन उन्नीसवीं सदी का चाइल्ड मरिज रेस्ट्रेंट एक्ट जो जनसाधारण में गारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध है । यह एक्ट केवल दण्डक (Punitive) है । अतः, इसमें बाल विवाह करने वालों के लिए दण्ड का तो विधान है पर बाल विवाह की प्रथा को रोकने का कोई विधान नहीं है । ऐसी ही अधिक परिस्थितियों में प्रथा अपराध का कारण बन जाती है ।

गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट की वस्तुतः एक प्रतिवृत्ति है। इंग्लैंड का संविधान अलिखित है किन्तु अंग्रेजों ने भारत में लिखित संविधान बनाने की प्रथा डाली। वर्तमान भारत का संविधान को लिखित बनाने की प्रेरणा अतः भारत में अंग्रेजों की। भारतीय संविधान में निहित बुनियादी अधिकार और संघानुयता (Federalism) अमरीकी संविधान से लिये गये हैं और राज्य नीतिक निदेशात्मक नियम (Directive Principles of State Policy) आयरलैंड के संविधान से। भारतीय संविधान एक व्यक्तिवादी है और दूसरी ओर समष्टिवादी। यह पश्चिम के ही प्रभाव का परिणाम है कि भारत का संविधान में पारस्परिक विरोधी व्यक्तिवाद तथा समष्टिवादी धारणाओं का समावेश हुआ है। व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों योरोप की देन हैं। सर आइवर जेनिंग्स का उद्धरण देते हुए सलाहूदीन युनुस ने लिखा है कि भारतीय संविधान वस्तुतः एक व्यक्तिवादी प्रत्यक्ष (Individualistic Document) है जिसका प्रेरक है बर्क (Burke) मिल (Mill) और डीसी (Dicey) जैसे अंग्रेज विचारक। किन्तु साथ ही साथ जहाँ उसमें एक ओर उनीसवीं शताब्दी की व्यक्तिवादी धारणा के प्रभाव में घोर स्वतंत्रता (Liberty) के स्वत्व के हित में राज्य के अधिकारों का सीमित करने का विधान किया गया है वहाँ दूसरी ओर, बीसवीं शदी की समष्टिवादी विचारधारा का प्रभाव में राज्य का अधिकारों को पचाकर रखने का प्रयास किया गया है ताकि राज्य आर्थिक जीवन का नियमन भी करता है। भारतीय संविधान में द्वैतता (Dichotomy) है। यह द्वैतता वस्तुतः, वर्तमान योरोपीय जीवन की द्वैतता (Dichotomy) है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज की स्थापना के पूर्व भारत की विधि प्रणाली का वास्तविक रूप ग्रामीण था और उसका एक बहुत बड़ा अंश गांव और जाति में निहित था। भारत के परम्परागत सामाजिक आर्थिक संगठन में गांव (ग्राम) और जाति दो ऐसी इकाइयाँ रही हैं जिनमें सामाजिक सांस्कृतिक, आर्थिक राजनैतिक तथा वैधिक (Legal) तत्वों का समावेश हुआ है। ग्राम का आधार सहवासी समुदायिक होने का साथ-साथ राजनैतिक भी था क्योंकि ग्राम संगठन, ग्राम-पंचायत, निष्पादक (Executive) यायिक (Judicial) और विधायी (Legislative) अधिकार और साथ निहित थे। इसी प्रकार जाति भी अतः आर्थिक, सामाजिक अतः सांस्कृतिक अतः आर्थिक अतः राजनैतिक और वैधिक आधारों में निहित थी और ग्राम पंचायत की भाँति जाति पंचायत में भी यायिक (Judicial) निष्पादक (Executive) और विधायी (Legislative) अधिकार और

1 युनुस एम० सलाहूदीन वही

काय निहित थे। ग्राम और जाति दोनों परम्परागत राजनतिक संगठन के दो मुख्य अंग थे और प्रशासन के मुख्य माध्यम भी।

अंग्रेजी राज में, भारत में, ज़िम विधि प्रणाली का रचना की गयी उससे ग्राम तथा जाति से उनके विधायी तथा यायिक अधिकार और काय ले लिए गये ज़िमस उनके सामाजिक आधार हिले और, उनका व्यक्ति पर से प्रभाव कम होने लगा। अंग्रेजी राज्य में विधि रचना का अधिकार और काय राज्य के हाथ में चला गया, निष्पादक काय सरकार के हाथ में और याय प्रशासन का काय यायालया के हाथ में। इण्डियन पेनल कोड (Indian Penal Code), कोड ऑफ सिविल एण्ड क्रिमिनल प्रोसीजर (Codes of Civil and Criminal Procedure) और अठारह सौ बहत्तर के इवीडेंस एक्ट (Evidence Act 1872) के द्वारा ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत के यायिक और विधायी काय ग्राम तथा जाति पंचायतों से लेकर राज्य के विभिन्न विभागों को सौंप दिए गये। नयी यायिक व्यवस्था ने ग्राम के यायिक महत्व को पहल ही समाप्त कर दिया था। नयी विधि प्रणाली ने ग्राम के राजनतिक, यायिक तथा विधायी महत्व को समाप्त कर लिया। इसका परिणाम हुआ ग्राम पंचायत का स्वतंत्र विभूत खलन। जाति पंचायत का महत्व कम अवश्य हुआ किन्तु उसका विभूत खलन न हो सका और उसका सदस्य महत्वपूर्ण कारण है कि जाति के मुख्य आधार अतिविवाह का बना रहना। हा यह अवश्य हुआ कि नयी यायिक और यायिक व्यवस्था में जाति पंचायत का ही निगम अन्तिम न रहा। जाति के सभी यायिक और इण्डिक नियम समाप्त हो गये जो राज्य द्वारा निर्मित विधि प्रणाली के विरोध में जाते हैं¹।

- 1 दण्ड के रूप में अपराधी का सिर मुड़ा देना उसे जूतों से पिटवाना या सारे पक्षों के जूतों को कपड़ों में बांध कर अपराधी के सिर पर रखवा कर उसे अपमानित करना एक साधारण बात थी। किन्तु आज ये दण्ड कम हो गये हैं और अधिकतर दण्ड जर्मनी के रूप में दिया जाता है। पहले अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिए तथाकथित अपराधी को उबलते हुए तेल या घी में हाथ डालने की बात भी सुनी जाती है। यह भी सुना जाता है कि अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए अपराधी हाथ में जलना हुआ पगारा रख लेता था। इसके पीछे यह भावना थी कि निर्दोष न तो पगारा लेकर जलेगा और न उबलते हुए तेल या घी में हाथ डाल कर। अठारह सौ बहत्तर के इवीडेंस एक्ट में ऐसे साक्ष्यों का कोई महत्व नहीं है। और फिर, आज जाति पंचायत के निगम के विरुद्ध यायालय में अपील हो सकती है। नयी विधि प्रणाली पर आधारित दण्ड विधान के समस्त परम्परागत दण्ड विधान कि हों कि हों अवस्थाओं में अपराध हो गया है। मध्यप्रदेश की कलबलिया नामक गणजाति में प्लात्कार के अपराध के लिए डाय लगाने की प्रथा सुनी जाती है। डाय लगाने का अर्थ है लाल गम लोहे से अपराधी पुरुष के मस्तक या गन्ताग पर निगान लगाना। किन्तु वर्तमान इण्डियन पेनल कोड के अनुसार, ऐस दण्ड का देने वाला ही दण्ड का भागी होगा।

शिक्षा

अंग्रेजी राज काल में भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का भी यारापीय रूपांतरण हुआ। भारत की वर्तमान शिक्षा-पद्धति इसी रूपांतरण की दन है। भारतीय शिक्षा पद्धति का यारापीय रूपांतरण, भारतीय विधि प्रणाली और आर्थिक व्यवस्था के रूपांतरण की भांति, एक मुख्य समाजशास्त्रात्मक तथ्य माना जाना है क्योंकि इस रूपांतरण ने धनक नातिकारी सामाजिक परवर्तना और प्रतियोगिता का जन्म दिया। अंग्रेजी राज काल में ही सर्वप्रथम यह सिद्धांत तत् निश्चित किया गया कि शिक्षा के समूहों का उत्तरदायित्व राज्य पर है और शिक्षा जन-साधारण के लिये मुक्त होनी चाहिए। स्वतंत्र भारत के संविधान में, राज्य को शिक्षा का जो उत्तरदायित्व सौंपा गया है उसका मर्दांत तक बीज-वपन अंग्रेजी राज्य-काल में हुआ था। अंग्रेजी न, भारत में जो शिक्षा प्रणाली संगठित की उसमें द्वारा भारत में यारापीय दशन, विज्ञान, साहित्य और प्रौद्योगिकी का प्रसार हुआ। वास्तव में, अंग्रेजी राज्य काल में शिक्षा यारापीय सम्यता के मर्दांत का एक मुख्य माध्यम रही है और आज भी है। इस शिक्षा के माध्यम से एक ओर भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रचार हुआ, उनकी गरिमा बढ़ी तथा अंग्रेजी भाषा का भारतीय भाषाओं पर प्रभाव पड़ा और, दूसरी ओर योरोपीय ज्ञान विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ, भारत की परम्परा वांछित धीरे धीरे कम हुई।

अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम में भारत में योरोप के 'यदिन श्रात-न्य, प्रमात-न, समता और साम्यवा' सम्बंधी राजनैतिक-सामाजिक विचारों का समावेश हुआ और उसमें फलस्वरूप भारत की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के मुख्य आधारों समुक्त परिवार और जाति, मपरिवर्तन आया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा को वह माध्यम समझ कर लागू किया गया था जिसके द्वारा भारतीयों का योरोपीय विचारों के एक नये समार में प्रवेश करने का अवसर मिला और भारतीयों का सांस्कृतिक जीवन उच्चतर रनगा ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजी द्वारा लागू की हुयी शिक्षा में भारत योरोपीय ज्ञान विज्ञान के मर्दांत में आया और उससे, कुछ समय के लिए, भारत के बौद्धिक चिंतन में एक कोलाहल और स्यावात का प्रवेश हुआ। किन्तु, इस नमावात के समाप्त होने से, एक ओर साम्यनिक राष्ट्रवांछिता और भारतवाद की विचारधारा बननी और दूसरी ओर यारापवाद की। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का जन्म और संगठन ही भारतवाद बनाम यारापवाद की मर्दांतमक विचारधाराओं में हुआ है। भारतीय शिक्षा के व्याप्त यह द्विभाजिता अंग्रेजी यारापीय विचारधारा की दन है और अंग्रेजी याराप के मर्दांत से भारतीय मस्कृति में उत्पन्न होने वाली द्विभाजिता और आत्मविच्छेद की। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव है कि एक ओर भारत याराप में परिवर्तित हुआ और, दूसरी ओर अपने से, एक ओर, भारत ने योरोप को

अपनाने की कोशिश की तो, दूसरी ओर, अपने पुनरुत्थान की। इन्हीं द्विभाजक प्रवृत्तियों में उन्नीसवीं शताब्दी में उस सामाजिक नवजागृति की गत्यात्मकता को जन्म दिया, जो एक ओर योरोपवादी रही है और दूसरी ओर भारतवादी, तथा जिसने सघात से भारत में उन अभिनवमार्गी महापुरुषों की अवतारणा हुई है जिन्होंने योरोपीय सामाजिक संगठन और भारतीय आध्यात्मिकता के सम्बन्ध का प्रयोग किया है।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का संगठन उतना नातिकारी नहीं रहा है जितना कि उसका सघात और उससे उत्पन्न होने वाले प्रभाव। भारत में अंग्रेजी शिक्षा का विकास एक ऐसा उपरोपित (Grafted) विकास है जिसमें योरोपीय अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति पर उपरोपण किया गया है। जिस आधार पर उपरोपण किया जाता है उसके तत्त्व उपरोपित विकास में आ जाते हैं। यही कारण है कि भारत की शिक्षा पद्धति के योरोपीय रूपांतरण में उसके मुख्य परम्परागत आधार बने रहे और अंग्रेजी प्रशासन के कारण बहली हुई परिस्थितियों में वह नये ढंग से लागू किया गया। भारत में जिस हम अंग्रेजी या योरोपीय शिक्षा-पद्धति कहते हैं उसने तत्त्व और उपकरण तो योरोपीय-अंग्रेजी रहे हैं किन्तु उसका संगठन और कलेवर परम्परागत भारतीय। शिक्षा की आत्मा न तो भारतीय रही है और न योरोपीय—वह भारतवाद और योरोपवाद के सघात से उत्पन्न आत्मविच्छेद से ओत प्रोत रही है। प्रारम्भ से ही, भारत में, एक ओर, शिक्षा के योरोपीयकरण की मांग रही है और, दूसरी ओर उत्तरात्तर योरोपीयकरण के भारतीयकरण की। भारत में योरोपीय शिक्षा का शीघ्रता अशक्त मिशनरियाँ अशक्त भारतीयों और अशक्त भारत में योरोपीयकरण का प्रोत्साहित करके अंग्रेजी राज को मजबूत करने वाले अंग्रेज प्रशासकों की मांग के कारण हुआ। इसी कारण, भारतीय शिक्षा न तो योरोपीय ही सकी और न भारतीय और न वह कोई सुसंगठित रूप ही ले सकी। शिक्षा के विकास में परम्परागत शिक्षा पद्धति के संगठन के आधारों का नये ढंग से समावेश हुआ।

भारतीयों ने, एक ओर अंग्रेजी शिक्षा को आभार और अनुग्रह के साथ ग्रहण किया तो, दूसरी ओर, वे उसने तीव्र आलापक भी रहे हैं। हिंदुओं और मुसलमानों ने अलग अलग इस शिक्षा की आलोचना की किन्तु वे उसे त्याग न सके। भारतीय सामाजिक नवजागृति के नेताओं ने इस शिक्षा की तीव्र आलोचना की है। ग्राम समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने इसे अश्वत्थीय कहा और वेद तथा संहिता भाषा के अध्ययन और गुरुकुल पद्धति के पुनरुत्थान पर जोर दिया। किन्तु ग्रामसमाज के तत्वावधान में भी यदि एक ओर, गुरुकुल की परम्परा चलायी गयी तो दूसरी ओर एंग्लो-वेदिक कालेजों की परम्परा जहाँ 'वेदिक' की अपेक्षा 'एंग्लो' प्रभाव ही अधिक रहा है। राष्ट्रवादिता के प्रचार के साथ-साथ, इस शिक्षा का विरोध बढ़ा और इस बलकों तथा गुलाम मनोवृत्ति को जन्म देने वाली शिक्षा कहा गया। इसका परिणाम यह

हुआ कि, एक ओर, हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी और दूसरी ओर मुस्लिम विश्वविद्यालय को एक ओर काशी विद्यापीठ जसी संस्थाएँ संगठित की गयीं ता, दूसरी ओर जामिया मिलिया जमी मस्थाय । इन मस्थायों में एक ओर, यारापीय शिक्षा पद्धति का धर्म में गठबन्धन किया गया तो दूसरी ओर राष्ट्रवादिता में । जिस भारतीय शिक्षा का प्रतिवारा स्थापत्य कहा जाता है वह वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति का अंग यारापीय स्थापत्य है । अंग्रेजी राज्य-काल में, शिक्षा पद्धति का स्थापत्य भारतीय संस्कृति की शिक्षा-सम्बन्धी परम्पराओं के ऊर्ध्वगामी स्थापत्य में प्रभावित हुआ है ।

भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् शिक्षा-पद्धति चलती थी उसमें राज्य शिक्षा के प्रामाह्य के लिए उत्तरदायी अवश्य समझा जाता था किन्तु, राज्य ने कभी भी जनसाधारण की शिक्षा का उत्तरदायित्व नहीं लिया था । शिक्षा प्राप्त करना उत्तम धर्म समझा जाता था किन्तु जनसाधारण के लिए शिक्षा का कोई प्रबंध न था । शिक्षा हिंदू और मुसलमान दोनों समाजों में केवल एक वर्ग विशेष के लिए ही थी । इस वर्ग में परम्परा से पढ़न पाठन के बाय में लगे तथा समाज के धनीमानी वर्ग के लोग आते थे । शिक्षा कोई सामाजिक-आर्थिक आवश्यकता न थी—वह एक वर्ग विशेष का विरासतगत सम्पत्ति जाती थी । नारियाँ के लिए शिक्षा अना-वश्यक समझी जाती थी । हिंदुओं में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ग के लोग शिक्षा के अधिकारी समझे जाते थे । गुरु अपनी परम्परागत आर्थिक स्थिति के कारण, न तो कभी शिक्षा पान का प्रयास ही करते थे और न वे शिक्षा के अधिकारी हों समझे जाते थे ।

अंग्रेजी शासन के पूर्व चलन वाली शिक्षा प्रणाली में, जसा कि पहले कहा गया है, राज्य शिक्षा संरक्षक की भूमिका अदा करती थी और इसी कारण राज्य की ओर से यहाँ वहाँ और वह भी उच्च शिक्षा के लिए, आदर्श विद्यालय खोल दिये जाते थे । भारतीय इतिहास में हिंदू तथा मुस्लिम दोनों कालों में गाय, व्याकरण, दण्डन साहित्य और आयुर्वेद की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यापीठों के स्थापित किये जाने की परम्परा मिलती है¹ । किन्तु मुसलमानों के राज्य काल में इस परम्परा के दाय्य मिलते हैं—एक, हिंदू परम्परा और दूसरी इस्लामी परम्परा । हिंदू परम्परा में पठन पाठन की भाषा थी संस्कृत और शिक्षा के विषयवस्तु थे वेद पुराण, व्याकरण, गाय, दण्डन और साहित्य । इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम अरबी फारसी था और पठन-पाठन के मुख्य विषय थे इस्लाम धर्म विज्ञान (Islamic Theology) और अरबी-फारसी साहित्य । दोनों परम्पराओं में शिक्षा-वृत्ति में न तो नौकरगारी मगटन का समावेश था और न व्यावसायिकता का । शिक्षण-बाय का आधार वैयक्तिक स्वाध-

साधना न थी। शिक्षण काय के पीछे विद्यादान की भावना थी और विद्यार्थी द्वारा विद्याजन के पीछे शिक्षक द्वारा मिले हुए दान को ग्रहण करने की भावना। इस कारण, शिक्षण काय एक सामाजिक उत्तरदायित्व था और राज्य की प्रवृत्ति, समाज उस उत्तरदायित्व का निभाने वाला की अधिक चिन्ता करता था। चूँकि, शिक्षण काय विद्यादान था, शिक्षण संस्थाएँ भी दान की आय से चलती थीं। किन्तु उस व्यवस्था में, संगठित शिक्षण संस्थाएँ की अधिनता न थी। सारा पठन पाठन गुरु शिष्य की परम्परा में चलता था—उस परम्परा में जिसमें केवल जीवन धारण और व्यक्तिगत सफलता के लिए अध्यापन करने का बंधन न था जिसमें शिक्षण-काय और विद्यार्थी जीवन स्वातन्त्र्यपूर्ण ग्रहण किये जाते थे और शिक्षक का यह विद्यापाधिकार मिला हुआ था कि वह चाहे तो केवल उसे ही विद्यालाभ दे जिसे वह योग्य पात्र समझता हो।

अब सामाजिक आर्थिक पहलुओं की भाँति शिक्षा संगठन भी विकेंद्रीकृत था और शिक्षा का आधार थे साहित्य, भाषा और धर्म। इस कारण, विद्यालयों का संगठन और नियंत्रण जनता के हाथ में था और जहाँ की जैसी जनता होती थी, वहाँ का विद्यालय भी उसी ढंग से संगठित किया जाता था। ऐसी दशा में शिक्षा का विषयवस्तु अध्यापक के दृष्टिकोण, धर्म और सम्प्रदाय पर अधिक निर्भर था। पठन पाठन की भाषा बाल बाल की भाषा न थी। अरबी फारसी और संस्कृत भाषाएँ बोल चाल की भाषाएँ न थीं। अतः उनके माध्यम से दिया जाने वाला ज्ञान, समुचित होने के साथ साथ परम्परावादी और अधविज्ञासी भी था। जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में शिक्षा न मिलने के कारण और पुस्तक का अभाव होने के कारण, शिक्षा वस्तुतः एक रहस्य थी जिसका नाम गुरु की कृपा ही से मिल सकता था। बाल बाल की भाषा में शिक्षा न होने के कारण शिक्षा के द्वारा पूर्ण मानसिक विकास न हो पाता था और शिक्षा जिन जीवन में उपयोगी न होकर, केवल दार्शनिक तथा वैयक्तिक विद्वत्ता का एक माध्यममान थी। कठम्यता (Cramming) शिक्षा पद्धति का मुख्य आधार थी। प्रौद्योगिक शिक्षा का कोई संगठन न था। वह अलग अलग पेशों का करन वाली जातियों के समस्या के अपने अपने पंगु सम्बन्धी ज्ञान के रूप में विकेंद्रीकृत थी और व्यक्ति को एक सामाजिक विरासत के रूप में मिलती थी। प्रौद्योगिक शिक्षा अभ्यास और अनुभव से मिलती थी न कि पठन पाठन के माध्यम से।

अंग्रेजी प्रशासन ने जो शिक्षा पद्धति विकसित की उसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक सात माच सन अठारह सौ पत्तीस के पहले की जो दूसरी, उनमें बाद की क्योंकि सात माच सन अठारह सौ पत्तीस ही वह तिथि है जिस दिन अंग्रेजी शासन ने भारत में यूरोपीय ढंग की शिक्षण संस्थाओं और अंग्रेजी भाषा के माध्यम में यूरोपीय विज्ञान और साहित्य के शिक्षण को संगठित करने का निश्चय किया था।

पहली अवस्था अंग्रेजी राज के प्रशासकों की शिक्षा मन्त्राली दलमुल और अनि-
श्चित नीति का काल है जिसमें परम्परागत शिक्षा-पद्धति को एक राजकीय प्रशासकीय
स्तर में लाने का ज बोना विषम प्रयास (Trial and Error Attempt) है। इस
प्रयास का प्रारम्भ चार्ल्स हस्टिन्ग्स के शासन काल में उस समय से होता है जब मन
समूह से इक्यासी में मुसलमानों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये एक मदरसा खोला
गया था और इसी प्रशासकीय परम्परा में मन समूह से इक्यावन में, कानवालिम
के शासनकाल में बनारस में हिंदुओं के लिये संस्कृत कालेज की स्थापना की गई
थी। भारतीय शिक्षा को राजकीय स्तर पर संगठित करने के प्रयास में पहले
अंग्रेजों ने अरबी, फारसी और संस्कृत के पठन पाठन के साथ साथ, धार्मिक शिक्षा
को उसी प्रकार संगठित करने का प्रयास किया जैसी भारतीय शिक्षा-पद्धति की
प्राचीन परम्परा थी। किन्तु अरबी, फारसी और संस्कृत जन भाषाएँ न थी—व
केवल विद्वत्ता ग्रहण करने की भाषाएँ थीं। मुसलमानों के राज्य-काल में प्रादेशिक
भाषाओं में साहित्यिक अभिव्यक्ति की क्षमता विकसित हो चुकी थी और जन-
साधारण में प्रादेशिक भाषाओं का प्रसार भी हो रहा था। जिस प्रकार जन सम्पर्क
बनाये रखने के लिये, मुसलमान शासन प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना न कर पाये
थे उसी प्रकार अंग्रेजों के लिये भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना करना कठिन हो
गया। मन समूह अठारहवीं सदी के अन्त में, फाट विविधता में अंग्रेजों को देगी
भाषाओं की शिक्षा देने के लिये एक कालेज की स्थापना की गयी। इस काल की
स्थापना से भारत में देश भाषा शिक्षा-पद्धति की परम्परा (The System of
Vernacular Education) का जन्म हुआ।

मन अठारहवीं सदी से लेकर सन् अठारहवीं सदी तक एक आर, भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली का राजकीय प्रशासकीय आधार पर संगठित करने का प्रयास किया गया था दूसरी आर मन समूहों पर विद्वान् बनाना था कि भारत में यारापीय शिक्षा को संगठित किया जाय या नहीं। भारतीय साहित्य के मुद्धार और पुनरुत्थान, भारतीयों में शिक्षा का प्रस्ताव देने तथा भारत में यारापीय विज्ञान के प्रसार और प्रवर्धन के लिये, मन अठारहवीं सदी के अन्त में अंग्रेजी सरकार ने पहली बार एक लाख रुपये का अनुदान निर्धारित किया। सन् अठारहवीं सदी के अन्त और पचीस के बीच में सरकार ने, एक आर प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने के लिये ग्राम पाठशालाओं और दूसरी ओर, जनकता तथा शिक्षा में, उच्च शिक्षा के लिये अरबी और संस्कृत के कालेजों की स्थापना की। अंग्रेजी सरकार का, इस प्रकार पहला प्रयास पहिला और मीठियों द्वारा दी जाने वाली परम्परागत शिक्षा प्रणाली को संगठित करना था। भारत में यारापीय शिक्षा के संगठन के प्रश्न का लेकर, अंग्रेज प्रशासकों में दो प्रकार के मत थे। जैसा कि जे० आर० कनिंघम ने लिखा है, उस काल के अंग्रेज

प्रशासक भारत को परम्परागत शिक्षा पद्धति को संगठित करके, उस पर योरोपीय विज्ञानी ज्ञान के उपरोपण के हामी थे। लेकिन, इसका बावजूद, सन अठारह सौ तेइस में नियुक्त शिक्षा समिति ने, लगातार दस वर्षों तक भारत में योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोध किया। योरोपीय शिक्षा को लागू करने का विरोधी मत लाड म्वरा के निरीक्षणों से स्पष्ट है। लाड म्वरा ने लिखा था 'भारत में योरोपीय विज्ञानों की शिक्षा दास बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि भारतीयों को उसकी चाह नहीं है। दूसरी ओर प्राचीन शिक्षा प्रणाली को संगठित करने के लिये पुस्तकों व्यापकी और धन की कमी है'।

इसी बीच में कई और विकास हुए जिनके कारण सन अठारह सौ पत्तीस में, भारत में योरोपीय शिक्षा के संगठन का नियोजन किया गया। लाड म्वराले को भारत में योरोपीय शिक्षा का जनक माना जाता है किन्तु वास्तविकता यह है कि मेकाले उन नई सामाजिक संस्कृतिक दार्शनिकों के अधिवक्ता थे जो भारत और इंग्लैण्ड में उत्पन्न हो रही थी। भारत में अंग्रेजी शिक्षा लाने में मेकाले का दो उद्देश्य था—एक, मेकाले का ही दावा था, 'यह सम्भव है कि एक उत्तम सरकार द्वारा हम अपने शासितों का उत्तमतर सरकार के लिये प्रशिक्षित कर सकें। यह भी सम्भव है कि योरोपीय ज्ञान में दक्षिण होने पर, भविष्य में हमारे गणित योरोपीय संस्थाओं की मति कर जब कभी ऐसा दिन आया, वह इंग्लैण्ड के इतिहास में सर्वोत्तम दिन होगा और उस दिन की सम्भावना को रोकने का प्रयास मैं नहीं करूंगा¹ और दूसरे यादों की पारिचात्म शिक्षा से बगल में मूर्ति पूजन वाला नहीं रह जायगा²। इस प्रकार मेकाले का उद्देश्य था योरोपीय शिक्षा के द्वारा भारत का उत्तरोत्तर योरोपीयकरण, जिसके पीछे भारतीयों का योरोपीय ढंग से सम्बन्ध बनाने की प्रेरणा थी। इस विचार के पीछे जहाँ इंग्लैण्ड की उदारवादी विचारधारा है वहीं इसमें तत्कालीन साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का भी पुट है। उधर जिलियम बेटिक तत्कालीन गवर्नर जनरल ने शिक्षा समिति से यह सिफारिश की कि राज्य-भाषा अंग्रेजी को सब प्रकार से प्रोत्साहन देना आवश्यक था। अंग्रेजी भाषा के द्वारा राज-काज चलाने की आवश्यकता के कारण, अंग्रेज प्रशासक वर्ग में यह विचार पनपने लगा था कि जिस वर्ग का प्रशासन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, उसको अरबी फारसी और संस्कृत की अपेक्षा, अंग्रेजी के माध्यम से योरोपीय ज्ञान की शिक्षा देना अधिक श्रेयस्कर होगा³।

1 मेकाले द्वारा इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट के समक्ष दिए गए भाषण का एक अंश—
देखिय ओ मेले इण्डिया एण्ड दि वेस्ट

2 दिनकर वही पृष्ठ 434

3 कनिंघम, जे० आर०, ओ मेले की पुस्तक इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में

भारत में ऐसा वर्ग उत्पन्न भी हुआ रहा था—वह वर्ग जो सामान्यतः हिन्दू या और सरकारी नौकरियों तथा योरोपीय व्यापार से लाभ उठा रहा था। यह वर्ग, एक बार, योरोपीय शिक्षा तथा योरोपीयकरण की ओर उन्मुख था तो दूसरी ओर, भारत के नवपुनरन्वयन की प्रेरणा से भी प्रेरित था। यह वर्ग योरोप और भारत के समय से नये भारत के नवनिर्माण का हामी था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये विजिता को उही के तक संकाटना तब तक भारत की विशेषता बन चुकी थी। जिस वर्ग में मूलमानों के राज्यपाल में अरबी फारसी सीख कर इस्लाम का सैद्धांतिक विरोध किया था वहीं वर्ग अंग्रेजी के माध्यम से इसाईयत और अंग्रेजी सामाजिक आत्मसात करके राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पुनरन्वयन की ओर प्रेरित हुआ। राजा राममोहनराय इस वर्ग के अनुयायी थे। उन्होंने अरबी फारसी सराहृत हिन्दू और अंग्रेजी सीखी ईसा के उपदेशों की मराठना की किन्तु इसाई मिशनरियों और ईसा के जीवन से सम्बन्धित चमत्कारों की आलोचना की अंग्रेजी की उदारवादिता तथा दायप्रियता की दुहाई देकर भारतीयों के लिये अधिकाधिक अधिकारों की मांग की और सामाजिक विधान द्वारा समाज-सुधार के लिये आन्दोलन किया। राजा राममोहनराय योरोपीयकरण नहीं नवजागृति और पुनरन्वयन चाहते थे जिसके लिये उन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा की मांग की। राजा राममोहनराय के साथ-साथ इसाई मिशनरी जिनमें डफ और कैरी मुख्य हैं, भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा की मांग कर रहे थे। किन्तु उनके उद्देश्य भिन्न थे। डफ के शब्दों में जिस जिस देश में पाश्चात्य शिक्षा प्रगति करगी, उस-उस देश में हिन्दुत्व के अंग टूटते जायेंगे। और अन्त में जाकर ऐसा होगा कि हिन्दुत्व का कोई भी अंग साबित नहीं रहेगा¹। मिशनरियों के दृष्टिकोण में, इस प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा इसाईयत के लिये माय प्रशस्त करने का एक माध्यम थी।

सरकार द्वारा अंग्रेजी शिक्षा को सगठित करने की नीति अपनाने के बहुत पहले से ही अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा देने के प्रयोग चलने लगे थे। इन प्रयोगों के पीछे भारत में योरोपीय शिक्षा के समर्थक अंग्रेज प्रशासकों मध्यवर्गीय हिन्दुओं और इसाई मिशनरियों ने प्रयास थे। इसाई मिशनरी इसाई विद्यालयों में इसाई धर्मविद्या की शिक्षा में अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा पद्धति का प्रयोग करते थे। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर माउण्ट स्टुवर्ट एल्फिंस्टोन ने भी अंग्रेजी भाषा के माध्यम से योरोपीय शिक्षा देने के प्रयोग का प्रारम्भ किया और इस निष्कर्ष पर पहुँच कि भारत में जिस वर्ग के पास पठन पाठन का समय है

1 दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 435

उसका यदि अंग्रेजी के माध्यम से योरोपीय शिक्षा दी जाय तो भारत में ज्ञान का प्रसार दस गुना बढ़ सकता है। राजा राममोहनराय ने डफ और अय लागा की सहायता से बलुक्ता में हिन्दू कॉलेज (1816) की स्थापना की जो प्रागे चलकर प्रेसीडेंसी कॉलेज कहलाया।

इस विकास क्रम का परिणाम हुआ सन अठारह सौ पत्तीस का वह ऐतिहासिक निणय जिसका आधार पर अंग्रेजी सरकार ने यह तय किया कि भारत का सभी वर्गों में योरोपीय ज्ञान का प्रसार करना भारतीय शिक्षा का उद्देश्य होगा और इस उद्देश्य का पूरा करने के लिये उच्चस्तरीय शिक्षा का पाठ्यक्रम योरोपीय और माध्यम अंग्रेजी भाषा होगी और जन साधारण की शिक्षा का माध्यम होगी स्थानीय भाषाएँ। इसप्रकार, अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के दो स्तर विवक्षित हुए—एक उच्च-स्तरीय (विश्वविद्यालयी) का पूर्णतया अंग्रेजी-योरोपीय था और दूसरा, प्राथमिक-माध्यमिक जो अर्थात् अंग्रेजी योरोपीय और अर्थात् योरोपीय भारतीय था। केम्ब्रिज स्कूल पद्धति के माध्यम से प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को अंग्रेजी-योरोपीय ढंग पर संगठित किया गया और ग्राम पाठशालाओं तथा बर्नार्डसूलर माध्यमिक पाठशालाओं द्वारा योरोपीय और भारतीय विषय वस्तु के पठन पाठन में स्थानीय भाषाओं का प्रयोग शुरू किया गया। हाई स्कूलों और इंटरमिडियेट कालों में स्थानीय भाषाओं को भी स्थान दिया गया और अंग्रेजी का भी यद्यपि यहाँ अंग्रेजी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम की ही प्रधानता रही। उच्चस्तरीय शिक्षा उस वर्ग विशेष के लिए थी जिसके पास उस शिक्षा को प्राप्त करने का साधन था। यह योजना इस मायता पर आधारित थी कि उच्च वर्ग को मिला हुआ योरोपीय ज्ञान, क्षत्रीय भाषाओं के माध्यम से, जनता में प्रसारित होगा।

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के विकास में, इसप्रकार, भारतीय शिक्षा प्रणाली की अनेक परम्परायें सन्निहित हो गईं। भारत में उच्च शिक्षा का बोलचाल की भाषा में न देने की परम्परा बन गई थी। संस्कृत, धरवी और फारसी सभी भी बोलचाल की जन भाषाएँ नहीं रही हैं। उक्त राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप में अपनाएँ की परम्परा थी। इसी परम्परा में अंग्रेजी राज्य भाषा और पाण्डित्य की भाषा के रूप में आई। इसका परिणाम यह हुआ है कि भारतीय विद्वान और प्रशासक जो साधारण से अलग एक विशेष वर्ग रहे हैं। अंग्रेजी भाषा और योरोपीय शिक्षा ने इसी वर्ग को एक नये विवेकाधिकारी वर्ग के रूप में जन्म दिया क्योंकि अंग्रेजी काल में भी उच्च ज्ञान बस एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रहा। मुसलमान शासक भी प्रादेशिक भाषाओं की अवहेलना नहीं कर पाय थे और अंग्रेज भी ऐसा न कर सके। फलतः एक ओर, अंग्रेजों ने भी अपनी भाषा और योरोपीय पाठ्यक्रम पर जोर दिया और दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने पर। परम्परानुसार अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में जहाँ

राष्ट्रीय उद्देश्य का अभाव था, वहाँ उच्चस्तरीय शिक्षा और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में असामञ्जस्य था। राष्ट्रीय आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया में, जब सम्प्रदायों (जैसे आयसमाज) और जातियों के अलग-अलग स्कूल खुले तो यह असामञ्जस्य और राष्ट्रीय निर्द्वैधता और बढ़े। भारतीय शिक्षा प्रणाली में न तो पहले से एकरूपता थी और न वह अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में घनी बनी है। यह कभी पहले भी महसूस की जाती थी। अंग्रेजों के पहले के शासकों ने शिक्षा का प्रोत्साहन अवश्य दिया था किन्तु एक जन-आवश्यकता के रूप में नहीं। अधिकतर शिक्षा दान से चलती थी। सिद्धा राज्य का उत्तरदायित्व न थी। अंग्रेजों ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। अंग्रेजी राज ने शिक्षा के उत्तरदायित्व को अंशतः ग्रहण किया जिसका परिणाम निकल सहायक अनुदान-पद्धति (Grants in aid System) की नीति जो अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।

कनिष्क के अनुसार, भारतीय आर्थिक साधनों के आधार पर शिक्षा सम्बन्ध योरोपीय स्वप्ना का साकार करने का प्रयत्न अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की एक आधारभूत कमजोरी रही है¹। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। पूँजीवादी साम्राज्यवादिता से प्रेरित अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय को बड़ा तक लाभप्रद समझा जहाँ तक प्रसासन चलाने की समस्या का हल निकालना था। दुर्गला की परम्परा का अनुसरण करते हुए अंग्रेजी सरकार ने शिक्षा का उत्तरदायित्व वही तक लिया जहाँ तक आवश्यक था। भारत में जसा कि भारतीय शासन की परम्परा थी राज्य ने व्यापक जन शिक्षा का उत्तरदायित्व को लिया ही कब था। परम्परानुसार राज्य तो केवल शिक्षा का संरक्षक था और, माग निर्देष्टा के लिये यहाँ वहाँ आदेश विद्यालयों की स्थापना करता था। अपनी शिक्षा का प्रबंध जनता अपने आप करती आई थी। जसा कि राजा राममोहनराय के प्रयत्न से स्पष्ट है अंग्रेजी शासनकाल में भी भारतीय जनता ने अपने प्रयत्नों से नई शिक्षा-प्रणाली का संगठन प्रारम्भ कर दिया था जिसे, आगे चलकर अंग्रेजी सरकार ने अपनाया। भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए अंग्रेजी सरकार ने भी यहाँ-वहाँ आदेश विद्यालयों की स्थापना करना शुरू किया—वह आदेश विद्यालय जो जनता के लिये नमूने बन सकें। उधर सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने के लिये जनता में शिक्षा की माग बढ़ रही थी। इस परिस्थिति ने दो परिणाम निकले—एक ओर अंग्रेजी सरकार ने सहायक अनुदान प्रणाली का माध्यम लेकर शिक्षण संस्थाओं का आंशिक भार उठाया शुरू किया और इस प्रकार सरकारी शिक्षण संस्थाओं के

1 कनिष्क जे० आर० ओ मेल्ले द्वारा सम्पादित इन्डिया एण्ड दि वेस्ट में

अलावा प्राइवट विद्यालयों के संगठन को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर, शिक्षा के संरक्षण तथा अविभाजन के रूप में शिक्षा संगठन को नियमित करने के लिये शिक्षा विभाग और उसकी नौकरशाही को संगठित किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रशासन की जा परम्परा विकसित हुई, वही वर्तमान शिक्षा पद्धति का सबसे बड़ा अभिज्ञाप बन गई।

अंग्रेजी राज्य काल में, एक ओर यारपीय आदर्श के अनुसार शिक्षा को अधिकाधिक राज्य के नियंत्रण और नियमन में लाने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर, भारत में अपनाये गये अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा में उसे सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण से दूर भी रखा गया। यह इसी परम्परा का परिणाम है कि सन् उन्नीसवीं शताब्दी से, शिक्षा को प्रादेशिक सरकारों के उत्तरदायित्व में रखा गया किन्तु यहाँ वहाँ, जहाँ बि. डिस्ली अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालयों के संगठन में हुआ, केन्द्रीय सरकार ने उच्च शिक्षा के संगठन का सहायता भी दी। आज भारतीय शिक्षा इसी अप्रत्यक्ष प्रशासन चक्र में है। प्राथमिक शिक्षा मन्त्रालय को स्थापित और संगठित करने का उत्तरदायित्व अन्तरिम जिला परिषदों और म्यूनिसिपैलिटीयों पर है किन्तु उस स्तर के पाठ्यक्रम का उत्तरदायित्व सरकार के शिक्षा विभाग पर है। प्राइमरी पाठशालाओं के जायिक पन्थ और अध्यापक की नौकरी का नियंत्रण होता है जिला अन्तरिम परिषदों और म्यूनिसिपैलिटीयों द्वारा और उनकी सहायता तथा अध्यापन कार्य की देखभाल की जाती है शिक्षा विभाग द्वारा। प्रादेशिक भाषाओं में चलने वाले अध. सरकारी प्राइमरी पाठशालाओं के साथ साथ, कावे टस के रूप में इंग्लैण्ड की कमिज़न पद्धति की प्राइमरी शिक्षा का भी रखा गया और साथ ही साथ, मौलवियों के इस्नामिया प्राइमरी स्कूल और पण्डितों की संस्कृत पाठशालाएँ भी चलती रही जिनकी सरकार का उतना ही संरक्षण प्राप्त था जितना कि अन्य पाठशालाओं की।

यही हाल माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का हुआ। एक ओर सरकार ने अपने विद्यालय खोले किन्तु उनकी संख्या पर्याप्त न थी। अतः जनता को अपने विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे दी गयी। सामाजिक नवजागृति के साथ साथ, उदा-उदा राष्ट्रीय आन्दोलन से जन चेतना बढ़ी तथा अंग्रेजी शिक्षा की तीव्र आलोचना की गयी और सरकारी विद्यालयों का संगठित करने का प्रयास किया गया। भारत की सामाजिक नवजागृति में एक साथ कई धाराएँ प्रवाहित हो रही थी—एक ओर, धार्मिक धारा थी दूसरी ओर सनातनी हिंदू धारा, तीसरी ओर इस्लामी धारा और चौथी ओर बम निरपेक्ष धारा। उधर, जहाँ कि पहले कहा जा चुका है अंग्रेजी राज्य के सघात से जखिल भारतीय जाति संगठनों का प्रेरणा मिली और जाति चेतना जाग्रत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शासनेतर विद्यालयों की भरमार हो गयी। अंग्रेजी सरकार, पहले ही से, इसाईयों का

नामनवर विद्यालय मण्डित करने की अनुमति दे चुकी थी। अतः, जनता की इस भाँति का रास्ता कठिन था। शासनेतर विद्यालयों में एकरूपता लाने के लिये, सरकार ने विश्वविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा-परिषद् द्वारा पाठ्यक्रम में तथा परीक्षा प्रणाली में एकरूपता लाने का तथा सरकारी और गैर-सरकारी विद्यालयों के लिये समान धनतम पाठ्यक्रम रखने का अग्रणी सरकार ने प्रयास किया। किन्तु, विभिन्न जानियों, सम्प्रदायों और धर्म-मण्डलों के सत्वावधान में चलने वाले विद्यालयों में यह अनुक्रम पाठ्यक्रम धर्मसापेक्षी और सम्प्रदायवादी विचारधाराओं के साथ मिला दिया गया। अतः, एक ओर सरकारी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष होगी तो गैर-सरकारी शिक्षा सम्प्रदायवादी। अठारहवीं शताब्दी के नियमानुसार यह निर्धारित किया गया था कि प्रादिक भाषाओं में, जनशिक्षा दी जायगी और वह राष्ट्रीय शिक्षा होगी। किन्तु वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा का काइ रूप न निकल सका और अंग्रेजी सरकार की शिक्षा प्रणाली में उसी प्रकार जातीय और धार्मिक साम्प्रदायिकता घुस गयी जहाँ कि वह पहले से घली जा रही थी।

विश्वविद्यालयों शिक्षा का भी यही हाल हुआ। बलकला महास और बम्बई के जिन विश्वविद्यालयों की सरकार ने सन अठारहवीं शताब्दी में स्थापना की थी वे सघानीय (Federal) विश्वविद्यालय के और सदन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप (Pattern) पर आधारित थे। बाद में अधिकतर विश्वविद्यालय भी इसी प्रतिरूप पर मण्डित हुए। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षण-अस्थायी थी जिनका उच्च शिक्षा से कोई एक सम्बंध था और रहा है जहाँ तक पाठ्यक्रम के निर्धारण और परीक्षा लेकर डिग्री देना का सम्बंध है। इन विश्वविद्यालयों के अंतर्गत जिन कॉलेजों में उच्च शिक्षा दी जाती रही है उनका प्रबंध तथा उनमें कार्य करने वाले अध्यापकों की सेवा परिस्थिति पर इन विश्वविद्यालयों का धन्यतम नियंत्रण रहा है। उच्च शिक्षा देने वाले कॉलेज सरकारी अनुदान पर निर्भर रहे हैं किन्तु उनका प्रबंध पर सरकार का अप्रत्यक्ष नियंत्रण रहा है। ये कॉलेज भी उसी प्रकार जातीय और साम्प्रदायिक रहे हैं जिन प्रकार माध्यमिक शिक्षा देने वाले कॉलेज। इन कॉलेजों में दी जाने वाली शिक्षा का मापदण्ड पर विश्वविद्यालयों का नियंत्रण केवल पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली के ही माध्यम से रहा है। इसके साथ-साथ, कुछ निवास विश्वविद्यालय (Residential Universities) भी खले गये जिनका शिक्षा-स्तर निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छा रहा है। इसी परिस्थिति में सघानीय विश्वविद्यालयों के अंतर्गत उच्च शिक्षा देने वाले कॉलेजों का स्तर निम्न समाना जाने लगा और वे उच्च स्तरीय शिक्षा के पश्चजल (Back Waters) माने रह गये और आज भी हैं। उधर, बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के शरापीय स्वरूप में बस ही साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ जैसे उसका प्रबंध माध्यमिक शिक्षा में हुआ था।

अंग्रेजी राज्यकाल की शक्तिकारी नहीं जाने वाली शिक्षा का

अलावा प्राइवेट विद्यालयों के संगठन को प्रोत्साहित किया और, दूसरी ओर शिक्षा के संरक्षक तथा अविभाजक के रूप में शिक्षा संगठन को नियमित करने के लिए शिक्षा विभाग और उसकी नीकरशाही को संगठित किया जिसके फलस्वरूप शिक्षा पर अप्रत्यक्ष प्रशासन की जा परम्परा विकसित हुई, वही वर्तमान शिक्षा पद्धति का मूल बन गया अभिग्राह्य बन गई।

अंग्रेजी राज्य काल में, एक ओर, योरापीय आदर्श के अनुसार शिक्षा की अधिकाधिक राज्य के नियंत्रण और नियमन में लाने का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर, भारत में अपनाये गये अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा में उसे सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण से दूर भी रखा गया। यह इसी परम्परा का परिणाम है कि, सन् उन्नीस सौ इक्कीस से शिक्षा की प्रादेशिक सरकारों के उत्तरदायित्व में रखा गया कि तु यहाँ यहाँ, जसा कि दिल्ली, अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालयों के संगठन में हुआ, केन्द्रीय सरकार ने उच्च शिक्षा के संगठन को सहायता भी दी। आज भारतीय शिक्षा इसी अप्रत्यक्ष प्रशासन चक्र में है। प्राथमिक शिक्षा मस्यामा को स्थापित और संगठित करने का उत्तरदायित्व अन्तरिम जिला परिषदों और म्यूनिसिपलिटियाँ पर है कि तु उस स्तर के पाठ्यक्रम का उत्तरदायित्व सरकार के शिक्षा विभाग पर है। प्राइमरी पाठशालाओं के आर्थिक पक्ष और अध्यापक की नौकरी का नियंत्रण होता है जिला अन्तरिम परिषद और म्यूनिसिपलिटियों द्वारा और उनकी योग्यता तथा अध्यापन कार्य की देखभाल की जाती है शिक्षा विभाग द्वारा। प्रादेशिक भाषाओं में चलने वाले अध सरकारी प्राइमरी पाठशालाओं के साथ साथ, कावे टस के रूप में इंग्लैण्ड की कमिज पद्धति की प्राइमरी शिक्षा को भी रखा गया और साथ ही साथ, मीलवियों के इस्लामिया प्राइमरी स्कूल और पण्डितों की सदृष्ट पाठशालाओं भी चलती रही जिनको सरकार का उतना ही संरक्षण प्राप्त था जितना कि अन्य पाठशालाओं को।

यही हाल माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का हुआ। एक ओर, सरकार ने अपने विद्यालय खोले किंतु उनकी संख्या पर्याप्त न थी। अतः, जनता को अपने विद्यालय संगठित करने की अनुमति दे दी गयी। सामाजिक नवजागृति के साथ साथ, ज्यो-ज्यो राष्ट्रीय आंदोलन से जन चेतना बढ़ी त्यों-त्यों अंग्रेजी शिक्षा की तीव्र आलोचना की गयी और सरकारी विद्यालयों का संगठित करने का प्रयास किया गया। भारत की सामाजिक नवजागृति में एक साथ कई धाराएँ प्रवाहित हो रही थी—एक ओर आयसमाजी धारा थी, दूसरी ओर सनातनी हिंदू धारा, तीसरी ओर इस्लामी धारा और चौथी ओर धर्म निरपेक्ष धारा। उधर, जसा कि पहले कहा जा चुका है अंग्रेजी राज्य के सघात से अखिल भारतीय जाति संगठनों को प्रेरणा मिली और जाति चेतना जागृत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि शासनेतर विद्यालयों की भरमार हो गयी। अंग्रेजी सरकार पहले ही से, इसाईया की

नामनंतर विद्यालय मगठित करने की अनुमति दे चुकी थी। अतः, जनता की इस मांग को राखना कठिन था। शासननंतर विद्यालयों में एकरूपता लाने के लिये, सरकार ने विश्वविद्यालयों और माध्यमिक शिक्षा परिषदों द्वारा पाठ्यक्रम में तथा परीक्षा प्रणाली में एकरूपता लाने का तथा सरकारी और गैर सरकारी विद्यालयों के लिये समान यूनित पाठ्यक्रम रखने का अग्रणी सरकार ने प्रयास किया। किन्तु, विभिन्न जातियों सम्प्रदायों और धर्म-मगठनों के तत्वावधान में चलने वाले विद्यालयों में यह यूनित पाठ्यक्रम धर्मसापेक्षी और सम्प्रदायवादी विचारधाराओं के साथ मिला दिया गया। अतः एक छोटी सरकारी शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हूँ तो गैर-सरकारी शिक्षा सम्प्रदायवादी। अतः ही पतीस के निष्पत्तानुसार यह निर्धारित किया गया था कि प्रादेशिक भाषाओं में जनशिक्षा की आवश्यकता और वह राष्ट्रीय शिक्षा होगी। किन्तु, वास्तव में, राष्ट्रीय शिक्षा का कोई रूप न निकल सका और अंग्रेजी सरकार का शिक्षा प्रणाली में उसी प्रकार जातीय और धार्मिक साम्प्रदायिकता घुस गयी जैसी कि वह पहले से चली आ रही थी।

विश्वविद्यालयी शिक्षा का भी यही हाल हुआ। कलकत्ता मद्रास और बम्बई के जिन विश्वविद्यालयों का सरकार ने सन अठारह सौ चौवन में स्थापना की थी वह सघनीय (Federal) विश्वविद्यालय थे और सदन विश्वविद्यालय के प्रतिरूप (Pattern) पर आधारित थे। बाद में अधिकतर विश्वविद्यालय भी इसी प्रतिरूप पर मगठित हुए। ये विश्वविद्यालय केवल परीक्षण मन्थाय थीं जिनका उच्च शिक्षा से बड़ा तर्क सम्बन्ध था और रहा है अतः तक पाठ्यक्रम के निर्धारण और परीक्षा लेकर शिक्षा देने का सम्बन्ध है। इन विश्वविद्यालयों के अंतर्गत जिन कॉलेजों में उच्च शिक्षा दी जाती रही है उनके प्रवेश तथा उनमें काम करने वाले अध्यापकों की सेवा परिस्थिति पर इन विश्वविद्यालयों का अल्पतम नियंत्रण रहा है। उच्च शिक्षा देने वाले कॉलेज सरकारी अनुदान पर निर्भर रहे हैं किन्तु उनके प्रवेश पर सरकार का अल्पतम नियंत्रण रहा है। ये कॉलेज भी उसी प्रकार जातीय और साम्प्रदायिक रहे हैं जिस प्रकार माध्यमिक शिक्षा देने वाले कॉलेज। इन कॉलेजों में ही आज वाली शिक्षा के मापदण्ड पर विश्वविद्यालयों का नियंत्रण केवल पाठ्यक्रम और परीक्षा प्रणाली के ही माध्यम से रहा है। इसके साथ-साथ कुछ निवास विश्वविद्यालय (Residential Universities) भी खोले गये जिनका शिक्षा-स्तर निश्चय ही अपेक्षाकृत अच्छा रहा है। ऐसी परिस्थिति में सघनीय विश्वविद्यालयों के अंतर्गत उच्च शिक्षा देने वाले कॉलेजों का स्तर निम्न समान जान लगा और वे उच्च स्तरीय शिक्षा के पश्चज (Back Waters) माने रह गये और आज भी हैं। उधर बनारस और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षा के योरोपीय स्वरूप में बस ही साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ जसे उसका प्रवेश माध्यमिक शिक्षा में हुआ था।

अंग्रेजी राज्यकाल की आतिथारी बहो जाने वाली शिक्षा का

संगठन वही तब प्रातिकारी था जहाँ तब योरोपीय पाठ्यक्रम व उपरापण का सम्बन्ध है। अंग्रेजी राज में विवसित हान वाले शिक्षा प्रवर्ध का संगठन वही तब प्रातिकारी था जहाँ तब उसका पहले से अधिक मिलन वाले सरकारी सरक्षण और आर्थिक सहायता का सम्बन्ध है। अंग्रेजी सामलो में, अंग्रेजी द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति वस्तुतः भारत की परम्परागत शिक्षा पद्धति की मुख्य मुख्य विशेषताओं का एक बड़े पैमाने पर रूपांतरणमान थी। अंग्रेजी राज के पहले की शिक्षा, एक जार, धर्मसापेक्ष थी और, दूसरी आग, साम्प्रदायिक। अंग्रेजी शिक्षा भी धर्मसापेक्ष और साम्प्रदायिक रही। वास्तव में, अंग्रेजी द्वारा लागू की हुई शिक्षा पद्धति में साम्प्रदायिकता का संगठित सामाजीकरण हुआ गया। अंग्रेजी के पहले की शिक्षा जनता के प्रयत्नों से पहले चलती थी। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली भी अधिकतर नासनेतर मस्याओं द्वारा चलती रही। अंग्रेजी के पहले की सामाजिक व्यवस्था में, राज्य और शिक्षक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में राज्य और अध्यापक का कभी भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ और न आज है। अंग्रेजी राज्यकाल में, राष्ट्रीयता के प्रभाव में, अध्यापक राज्य तथा समाज का प्रबल आलोचक बना।

जब में मस्कृत भाषा बोलचाल की भाषा न रह कर केवल विद्वत्ता और पाण्डित्य की भाषा रह गयी थी तब से मस्कृत द्वारा मिलन वाले शिक्षा का जाधार था कठस्थ करने की परम्परा। इस परम्परा के कारण, भारत में जनव्यापी मौलिकता और रचनात्मकता का अभाव रहा है। इस्लामी परम्परा में शिक्षा का माध्यम बोलचाल की भाषा न थी। जत उसमें भी वही दोष था जो मस्कृत द्वारा दी जान वाली हिंदू शिक्षा में था। भारत में अंग्रेजी भाषा के द्वारा योरोपीय शिक्षा की जनप्रियता का एक यह भी कारण हुआ सकता है कि भारत में बोलचाल की भाषा में शिक्षा न देने की परम्परा से बन गयी थी और आज भी अंग्रेजी से चिपटे रहने के पीछे सम्भवतः उसी परम्परा का प्रभाव है। कुछ भी हो, विदेशी भाषा और विषयवस्तु में शिक्षा न देने के कारण, रटना ही पठन पाठन का मूलमंत्र रहा। जिस प्रकार मस्कृत फारसी और अरबी के माध्यम में मिलन वाली शिक्षा अमौलिकता को जन्म देती रही थी उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के माध्यम से मिलने वाली शिक्षा ने भी अमौलिकता को ही प्रेरित किया। भारत की सारी शिक्षा योरोपीय विद्वानों की जूठन मान रहा है। जिस प्रकार, अंग्रेजी के पहले शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु थे, साहित्य और दर्शन। उसी प्रकार, अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य विषय वस्तु बन अंग्रेजी साहित्य, योरोपीय दर्शन और वे विषय जिन्हें कला के विषय कहा जाता है। अंग्रेजी शिक्षा उतनी ही अव्यवहारिक रही जितनी कि पहले की शिक्षा थी। विद्वत्ता प्राप्ति आर अंग्रेजी भाषा के पठन पाठन का नाम अंग्रेजी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य था।

सारी शिक्षा पद्धति पर सरकार के अग्रत्यन्त नियंत्रण ने शिक्षा और शिक्षक का सामाजीकरण तो किया किन्तु सारी व्यवस्था का उस सामाजिक परिस्थिति में

ढाल दिया जहाँ शिक्षा की सांस्कृतिक प्रभाव प्रवणता समाप्त हो गयी। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति में शिक्षा और शिक्षक पर एक प्रकार का तिरपटल नियंत्रण प्रारम्भ हुआ—एक ओर सरकार का नियंत्रण दूसरी ओर विद्यालय के सस्थापक अथवा सस्थापक सभ का नियंत्रण और तीसरी ओर पाठ्यक्रम और परीक्षा का नियंत्रित करने वाले संगठन का नियंत्रण। सघानीय विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में चलने वाले सम्बन्ध-महाविद्यालय (Affiliated Colleges) इसका प्रमाण है। इन महाविद्यालयों पर सरकार का वही सब नियंत्रण है जहाँ तक सम्बन्धित अधिनियम सरकार को नियंत्रण का अधिकार देता है। किन्तु, जैसी परम्परा रही है यह नियंत्रण केवल नियमन का नियंत्रण है। सरकार के नियमन नियंत्रण को अगत विश्वविद्यालय लागू करता है और अगत महाविद्यालय का प्रबन्धक। इस परिस्थिति में प्रबन्धक की ही प्रभुता बढ़ जाती है। सरकार द्वारा लागू किए जाने वाले नियमन नियंत्रण की विधियाँ जितनी अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष होंगी उतना ही प्रबन्धक की सर्वोपरिता बढ़ जाती है और ऐसी दशा में कानून सरकार के नियंत्रण में, एक प्रकार की ज़िम्मेदारी मात्र रह जाता है। अतः ग़ासनेतर विद्यालय न तो सरकारी रहें और न सार्वजनिक। उनमें दी जाने वाली ग़ारापीय शिक्षा न एक ओर, समौलिकता और सामान्य बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित किया तो दूसरी ओर जातीय, धार्मिक तथा राजनैतिक साम्प्रदायिकता को। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा में न तो कोई धार्मिक उद्देश्य विकसित हुआ और न राष्ट्रीय। शिक्षा केवल परीक्षा की तयारी का माध्यम मात्र रह गयी और अध्यापक एक उद्देश्य विहीन मध्यजन—वह मध्यजन जिसका एक मान उद्देश्य था ग़ारापीय विद्वता का प्रचार।

सहायक अनुदान पद्धति के बड़े ही दिलचस्प परिणाम निकले। सहायक अनुदान पद्धति (Grants in aid System) स्व-सेवा (Self Help) का सिद्धांत पर आधारित है। ग़ासनेतर विद्यालयों का संगठित करने वाला का तभी सरकारी अनुदान मिलता है जब वह कुछ धन अपनी ओर से खर्च करके विद्यालय का संगठन करे। विद्यालय के चलने के बान, एक ओर, आमदनी होनी है विद्याधियों से मिलने वाले शिक्षा शुल्क से और दूसरी ओर विद्याधियों की सख्या के अनुपात से मिलने वाले सरकारी अनुदान से। इस परिस्थिति में शिक्षा में व्यापारीकरण का अन्वय्य हुआ क्योंकि जिस विद्यालय में जितने विद्यार्थी होंगे उसकी आय उतनी ही बढ़ेगी और जिस कालेज में जितने अधिक विद्यार्थी होंगे सरकार से उतना ही अधिक अनुदान मिलेगा। केवल परीक्षा के लिए ही संगठित विश्वविद्यालयों का आय की ही समस्या न शिक्षा का बड़े पैमाने पर प्रसारित करने के लिए प्रेरित किया। ग़ासनेतर महाविद्यालयों (Degree Colleges) और माध्यमिक कागज़ों में उसका यह परिणाम हुआ कि विद्याधियों की मख्या में बढ़ने पर ही ओर दिया जाना लगा। इसमें एक ओर, शिक्षा का स्तर गिरा तो दूसरी ओर, शिक्षा में, शिक्षा के अतिरिक्त अन्य

स्वार्थों का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति व्यापारीकरण के दुष्परिणामों से पीड़ित रही है। शिक्षा विज्ञान न होकर लाभ का माध्यम हो गया। कोई आश्चर्य नहीं यदि गतिनंतर-संस्थाओं के प्रबंधकों को उसी प्रकार से शिक्षा संस्थाओं को चालने की प्रेरणा मिली जिस प्रकार व्यापारी का दुकानें या मिल खोल कर अपना व्यापार बढ़ाने की प्रेरणा मिली है।

अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति के मध्यम से शिक्षण कम और शिक्षक तथा विद्यार्थी के सम्बन्धों में आतिशारी परिवर्तन हुए हैं। शिक्षण-कार्य स्वातंत्र्य सुवाय न होकर एक चेतनभूत नौकरगारी संवायति हो गया। शिक्षण का मुख्य ध्येय हो गया शिक्षार्थी का परीक्षाओं में बताना क्योंकि शिक्षार्थी की सफलता का मापदण्ड परीक्षा में मिलने वाली सफलता हो गयी। शिक्षा को उसी प्रकार ढाला गया जैसी सरकारी नौकरियों की आवश्यकता थी। सरकारी नौकरियों के चुनाव के लिए लिखित परीक्षाओं का संगठन किया गया। अतः, शिक्षा में भाषा (यह भी अंग्रेजी भाषा) और साहित्यिकता में प्रतीणता पाने पर अग्रणी जोर दिया जाना लगा। शिक्षा की विषय-वस्तु योरापीय हो गयी जिसका भारतीय जीवन में सम्बन्ध न था। दूसरी ओर, शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा थी। इन दोनों विकासो का परिणाम यह हुआ कि शिक्षालयों का वातावरण एक गूच्छ एवं नीरस विदेशी वातावरण में भर गया। ऐसी दशा में शिक्षार्थी न शिक्षार्थी रहा और न विद्यार्थी—वह एक दम परीक्षार्थी हो गया। विषय-वस्तु और शिक्षा माध्यम के विदेशी होने के कारण शिक्षा ग्रहण करने में कठिनायता ही प्रधान हो गयी। शिक्षाविदों की शिक्षा में बड़ा तन दिलचस्पी बढ़ा जहाँ तक परीक्षा पास करने का सम्बन्ध था। ऐसी परिस्थिति के दो परिणाम निकले—एक, शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थी का कुछ नीरस तथ्यों के अलावा और कुछ नहीं मिला और, इसकारण, उसमें रचनात्मक विचारों का प्रवाह न कर सका। रचनात्मक विचारों की कमी के कारण, मस्तिष्क की उच्च उल्लेख का आना स्वाभाविक ही था। दूसरे, शिक्षा साधनों तथा प्रयासों में क्षय (Wastage) की मात्रा बढ़ी। शिक्षा में दिव्यत्वी न लेना या कुछ दिन तक शिक्षा ग्रहण करके उसे छोड़ देना या जिस विषय की शिक्षा ग्रहण का काम, बाद में उस विषय को छोड़ कर अन्य कार्य करना या शिक्षा और शिक्षा साधनों के क्षय और अप्रयय के ही परिणाम हैं। शिक्षार्थी न शिक्षक से केवल उत्तरे ही की मांग की तो परीक्षा और पाठ्यक्रम की पूर्ति के लिए आवश्यक था और शिक्षक भी शिक्षार्थी का केवल उत्तर ही देने के लिए विवश हो गया। इस परिस्थिति में, एक ओर, शिक्षक की बौद्धिक रचनात्मकता भीत हुयी तो, दूसरी ओर, शिक्षाविदों के लिए शिक्षण बौद्धिक प्रेरणा का प्रतीक न होकर केवल एक चेतनभोगी सबक हो गया।

ऐसी दशा में, शिक्षा के स्तर का गिरना स्वाभाविक ही था। शिक्षालयों को चलाने के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से, शिक्षार्थियों की बढ़ती हुयी संख्या आवश्यक

हो गयी और सभी स्तरों पर उस बढ़ती हुई सभ्यता का प्रात्यान्ति करने के लिए विद्यार्थियों के अधिकाधिक पास होने की आवश्यकता बढ़ी। शिक्षक की सफलता का भी यही मापदण्ड हो गया कि उसका द्वारा निर्मित विद्यार्थी परीक्षा में सफलता प्राप्त करें। परीक्षण मन्त्रालयों के द्वारा परीक्षा का नियमित तथा संचालित करने के कारण, शिक्षक का न तो विद्यार्थियों पर नियंत्रण रहा और न उसके पास अपने विद्यार्थियों को योग्यता मापन का कोई साधन। शिक्षा और शिक्षा-व्यवस्था एक प्रकार के अव्यक्त वातावरण से भर गए जिसमें न तो बात पर जोर दिया गया कि परीक्षा का मापदण्ड जीवन विद्यार्थी की योग्यता पर निर्धारित होना चाहिए और जहाँ तक हा मक अधिकाधिक विद्यार्थी पास हो। ऐसी दशा में शिक्षक भी अधिकाधिक विद्यार्थियों का पास करने के लिए प्रेरित हुआ। जोसत पर आधारित परीक्षा माप दण्ड में पास होने वाले विद्यार्थियों में अधिक की योग्यता भीतर थी और जब उन्होंने शिक्षण कार्य समाप्त किया तो जिस भीतर के आधार पर उन्होंने पास किया था उसका भीतर और भी गिरा। इस प्रकार एक बार शिक्षा की सफलता का मापदण्ड मर्यादित हो गया और दूसरी बार भीतर मापदण्ड गिरता ही रहा और आज भी गिर रहा है। इसका प्रमाण है व प्रशिक्षण मन्त्रालयों या अध्यापकों के प्रशिक्षण देने के लिए लोभी गयी। इन प्रशिक्षण-मन्त्रालयों में अध्यापन कार्य के दशा और अध्यापन कार्य के अध्ययन पर उतना जोर नहीं दिया जाता है जितना कि उस विषय वस्तु को पढ़ाने पर जो प्रशिक्षण देने वाले पढ़ कर आए हैं। सारा ध्यान प्रशिक्षण देने वालों के सामान्य ज्ञान का बढ़ाने की ओर रहता है। यह इस बात का प्रतीक है कि हम यह मानते हैं कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है हम उसे रोक नहीं सकते हैं यहाँ रहा उसका मुधा अव्यक्त कर सकते हैं।

अंग्रेजी राज का मे विभिन्न वर्गों और सत्तावर्तियों की जो उच्चाच्च परम्परा विकसित हुई उसमें शिक्षण कार्य को एक निम्न अप्रतिष्ठित स्तर मिला क्योंकि, सरकारी नौकरों और व्यापारियों की अपेक्षा, शिक्षक का आर्थिक स्तर निम्न रहा है। जिस प्रकार प्राइमरी माध्यमिक और उच्च शिक्षा में अंतर रहा है इसी प्रकार, इन स्तरों में कार्य करने वाले अध्यापकों की योग्यता और धन में भी बड़ी अंतरा का अंतर रहा है। इसका परिणाम निकलता है—एक, सरकारी नौकरियों व्यापार और वकालत जैसे उन वर्गों का जोर, जहाँ धनापाजन की अधिक गुंतागुंती थी, लाना का ध्यान आकर्षित हुआ। अध्यापन कार्य की ओर नहीं प्रवृत्त हुआ या धनापाजन के अन्य साधनों का अपनाने में सफल हुआ। दूसरे अध्यापन कार्य के लिए जाने वाले लोगों की प्रवृत्ति उन स्तरों में पहुँचने की रही है जहाँ अधिक धन प्राप्त हो सक। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक हो या कि प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षण के लिए योग्य धन न मिल सकें। अंग्रेजों द्वारा लागू की हुयी शिक्षा पद्धति में प्राइमरी तथा माध्यमिक शिक्षा स्वतः उपनिहित हो गयी।

अंग्रेजी राज के माध्यम से पढ़ने वाले योरोपीय सघात के कारण भारतीय जीवन में मास्टरनिव पुनरुत्थान की जा पड़िया जाई उसका भारतीय सस्कृति पर व्यापक प्रभाव पड़ा और शिक्षा भी उससे मुक्त न रह सकी। शिक्षा का, एक आर पुनरुत्थान का माध्यम बनाया गया और दूसरी ओर भारतीय शिक्षा के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से भारतीय शिक्षा के विकास में दो विचार प्रवाह अस्तित्व में आए—एक भारतीय शिक्षा का योरोपीय बनाया जाए और दूसरा भारतीय शिक्षा को भारतीय पद्धति के अनुसार ढालकर, उसमें भारतीय तथा योरोपीय विषय उस्तु का समन्वय किया जाए। दूसरे विचार प्रवाह को ही प्रधानता मिली और वर्तमान भारत में शिक्षा प्रयास इसी शिक्षा में प्रवृत्ति हो रहे हैं यद्यपि इस समन्वय का स्थायी आधार नहीं तैयार हो पाये है और सम्भवतः अब तक नहीं तैयार हो पायेंगे जब तक भारत में शिक्षा का माध्यम भाषा अंग्रेजी है और भारतीय ज्ञान विज्ञान के प्ररणास्त्रोत अंग्रेजी भाषा भाषी मस्तर में है। किन्तु साथ ही साथ, भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के पुनरुत्थान का प्रयास भी चलता रहा है। शिक्षा पुनरुत्थान का यह प्रयास स्वामी दयानन्द के समय से प्रारम्भ होता है। आर्य समाज के तत्वाधान में गुरुकुल की स्थापना इसी दिशा में एक प्रयास है। मुसलमानों में इस प्रयास ने अरबी में धर्म से दी ज्ञान वाला धार्मिक शिक्षा का रूप लिया। जिस प्रकार आज समाज के तत्वाधान में चलने वाले एंग्लो-वर्ल्ड कालेजों में योरोपीय शिक्षा का वर्धित हिन्दुत्व के साथ मिलाया गया उसी प्रकार इस्लामिय, कालेजों और अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी में योरोपीय शिक्षा को इस्लाम के साथ मिलाया गया।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से चलने वाले स्वदेशी आन्दोलन में इस पुनरुत्थान में एक नयी दिशा ग्रहण की। भारत में विदेशी का बहिष्कार कारखानों के स्थान पर कूटीर उद्योगों को प्रात्माहन और हिंदी उर् को मिलाकर हिन्दुस्तानी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयास इस नए पुनरुत्थान के ह्रा परिचायक है। शिक्षा के क्षेत्र में इस पुनरुत्थान ने बुनियादी शिक्षा का रूप ग्रहण किया। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भारत में उस शिक्षा का स्थापित करना था जिसमें साहित्यिकता के स्थान पर कला कौशल का भी प्रवेश हो ताकि शिक्षा जायिक दक्षिणाएँ से भी उपयोगी हो सके। किन्तु इस प्रयास ने एक विविध द्विभाजिता को जन्म लिया। श्रौतानिकी के चढते हुए प्रयासों ने मशीनीकरण, औद्योगीकरण और आर्थिक केंद्रीकरण का प्रात्माहित किया। कूटीर उद्योगों पर आधारित उस त्रिकेंद्रीकृत आर्थिक समाज का अभ्युदय न हो पाया जिसकी उत्पत्ती की गयी थी। अतः बुनियादी शिक्षा भी अर्थव्यवहारिक हो गयी। बुनियादी शिक्षा के अध्यापक का वह कार्य करना पड़ा जिसमें उसका आदम विरवास न विकसित हो सका। उसका परिणाम यह हुआ कि बाला कौशल की शिक्षा केवल एक मनोरंजनमात्र रह गयी।

यह निर्विवाद है कि भारत में अग्रजी शिक्षा का आधार मुख्यतः साहित्यिक रहा है न कि वैज्ञानिक। प्रौद्योगिकी बढ़ते हुए प्रयाग और याराप से मिलन वाली प्रेरणा से भारत में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा की मांग बढ़ती रही है। घनाभाव और योग्य शिक्षा की कमी के कारण उसका आवश्यक संगठन नहीं हो सका। सरकार ने उत्पादक तथा प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में प्रौद्योगिक शिक्षा का समर्थन करने का प्रयास किया। किन्तु, ऐसी शिक्षा भी व्यावहारिक नहीं पायी क्योंकि प्रशिक्षण प्राप्त हुये लोगों को न तो वे साधन उपलब्ध हो सके जिससे माध्यम से उच्च शिक्षा पायी थी, न उनको लाभप्रद काम ही मिल सका और यद्यपि किसी ने प्रयास भी किया तो उसके उत्पादन का विनी का प्रबन्ध नहीं हो सका। प्रौद्योगिक शिक्षा का सीधा सम्बन्ध समाज के जातिगत औद्योगिक संगठन से है। ज्यों ज्यों हम इस विषय में स्पष्ट हो जायेंगे कि भारत का आधिक औद्योगिक संगठन क्या है प्रौद्योगिक शिक्षा को रूपरेखा भी स्पष्ट होती जायगी। कुछ भी हो, अग्रजी राज के सप्तात से यह विचार पर करत गया है कि यदि भारतीय समाज को योरोपीय औद्योगिक ढांचे में लाना है तो प्रौद्योगिक शिक्षा के एक व्यापक संगठन की आवश्यकता है। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि शिक्षा के गिरते हुए स्तर का प्रधान कारण यह है कि समयानुसार शिक्षा का बहुमुखीकरण (Diversification) नहीं होने के कारण, शिक्षालयों में उन छात्रों की भीड़ बढ़ती जाती है जो उच्च शिक्षा के योग्य नहीं हैं किन्तु उच्चशिक्षा के लिए इसलिए जाते हैं कि वह सरकारी नौकरी में जाने का एक साधन है और उच्चशिक्षा में जाने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं है।

भारत में योरोपीय शिक्षा का स्वागत भी हुआ और विरोध भी। स्वागत के दा प्रेरणा स्रोत थे—एक, भारत के पश्चिमीकरण की भावना और दूसरे सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाने की प्रेरणा। यही कारण है कि अग्रजी शिक्षा का प्रसार शहरों में और उन जातियों में अधिक हुआ जो परम्परा से बुद्धिजीवी थी और जिनके सदस्य भारत की नौकरशाही परम्परा की रीढ़ थे। जिन जातियों का यद्यपि वर्णों के संस्था के पास साम्प्रतिक आर्थिक साधन थे वे इस शिक्षा की ओर कम आकर्षित हुए। सम्भवतः यही कारण है कि अग्रजी शिक्षा का प्रसार नारियों में कम हुआ क्योंकि भारतीय परम्परा में नारियाँ द्वारा नौकरी करने की परम्परा नहीं रही है नारा आर्थिक स्वातन्त्र्य की धारणा योरोप को देन है और आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा औद्योगिकीकरण की उत्पत्ति है¹। नारीशर-जातियों के सदस्यों में भी इस शिक्षा का अपेक्षाकृत कम प्रसार हुआ क्योंकि पता लिखा जातिगत वर्णों का अपना ही व्यवसाय रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि गांवों में आज भी ऐसे उदाहरण मिल

1 पान्निकर, के० एम० यही

जाते हैं जहाँ परिवार के एक ही व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति मिली है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारत के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक संगठन ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का प्रोत्साहित भी किया है और उसके व्यापक प्रसार का विरोध भी। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था है। जहाँ अनिवार्य शिक्षा है वहाँ भी फसल की बटाई और बुवाई के दिनों में पाठशाला में बालकों की उपस्थिति कम हो जाती है क्योंकि उन दिनों खेतों में बालकों की उपस्थिति अधिक लाभदायक होती है और जब जून के महीने में ग्रीष्म ऋतु आरंभ होता है तब बालकों को न तो खेती का काम करना पड़ता है और न पढ़ने का हा। निम्न स्तर की जातियों के बालक इसीलिए स्कूल नहीं गए कि वे उच्चस्तर की जाति के बालकों के साथ बैठने के अयोग्य थे और उनके अभिभावकों का यही विचार रहा है कि यदि खेती मजदूरी और घर का ही काम करना है तो शिक्षा की क्या आवश्यकता ?

यूरोपीय सघात के भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भ में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति वरदान भी सिद्ध हुई। अंग्रेजी भाषा और यूरोपीय शिक्षा के कारण उच्चशिक्षा प्राप्त लोगों में यदि पश्चिमीकरण बढ़ा तो उनमें भारत के प्रति जागरूकता भी विकसित हुई। अंग्रेजी शिक्षा के ही माध्यम से भारत में यूरोपीय विचार का सघात बढ़ा जिससे भारतीय सामाजिक विचार में एक तीव्र गत्यात्मकता आयी जिसने भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति का जन्म दिया। भारत की आधुनिक सामाजिक नवजागृति के नेता अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की उपज थे। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत में उस ज्ञान विज्ञान का विकास हुआ है जिसकी उत्पत्ति आज का भारत है। इसी शिक्षा के माध्यम से, भारत में प्रजातन्त्र समाजवाद, पूँजीवाद साम्यवाद सम्बन्धी विचारों का समावेश हुआ और भारत में एक साथ राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता की लहर दौड़ी। इसी शिक्षा के माध्यम से व्यक्तिवादी विचारों का प्रसार हुआ और सामाजिक संगठन के अप्रजातंत्रिक आधारों के प्रति विद्रोही विचार फैले। इसी शिक्षा के माध्यम से प्रादेशिक भाषाओं का विकास के अवसर अस्तित्व में आए और उनके साहित्य पर योरोप तथा अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसी शिक्षा के माध्यम से भारत के पुनरुत्थान का और भारत तथा योरोप के सम्बन्ध का विचार बनपा। किंतु यह सब कम किस प्रकार हो, यही वर्तमान भारत और शिक्षा की समस्या है।

बला माहित्य और भाषा

५

संस्कृति के अर्थ पण्णे की भांति भारतीय संस्कृति के बला पण पर भी योरोप का मघात पड़ा। इस मघात से कि-ही कि-ही क्षेत्रों में बला का पुनरुत्थन हुआ और कि-ही कि-ही में भारतीय कला का यारापीयकरण और कि-ही में यारापीय टक्कीय प्रतीक और प्रवाहों का भारतीयकरण हुआ। संगीत में एक ओर शास्त्रीय संगीत का पुनरुत्थन हुआ और दूसरी ओर यारापीय प्रभावों तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थन के प्रवाह में मुगल संगीत की उत्पत्ति हुयी और उसमें लाकनरवा का समावेश हुआ। बंगाल में देगार संगीत एक ऐसा ही विकास है। योरोपाय संगीत के प्रभाव में संगीत के छंद बंध और काव्य नत्व भी बदल और सिनेमा के माध्यम से एक ऐसे संगीत का अभ्युत्थन हुआ जिसकी जात्वा और कन्वर दाना हा यारापीय है। इसाई मिशनरियों ने चर्चों में योरोपीय आधार पर भारतीय भाषाओं में वदगान (Chorus) का समावेश किया। वास्तव में वदगान और वदवाद्य-संगीत (Archestra) योरोप की ही दन हैं और आज इन दाना का भारतीय संगीत और बाद्य में समावेश हो रहा है। एक ओर शास्त्रीय संगीत के वद धरान और गलियाँ चलती रही जा मुस्लिम काल में अस्ति व में आयी थी और दूसरी ओर योरोपीय शास्त्रीय और लाक-संगीत के समावेश से एक नयी नवमुलभ संगीत परम्परा का प्रारम्भ हुआ। योरोपीय प्रभाव ने शास्त्रीय और लोक तत्वा का परस्पर समीप कर दिया है। न य बला का भी यही हाल हुआ है। एक ओर, प्रतिष्ठित शास्त्रीय गलियाँ (कल्पक कथकली भरत-नाट्यम और मणिपुरी) चलती रही हैं तो दूसरी ओर इन गलियों का लाक-गलियाँ में समावेश किया गया है और उसमें यारापीय शली का पुनः निया गया है। सिनेमा में बल गली के नत्व इनी नवीन परम्परा के प्रतीक हैं।

चित्रकला पर यारापीय प्रभाव का विदलपण करत हुए बालकृष्ण राव ने लिखा है अग्र जी गिना के फनस्वरूप चित्रकला की राजपूत और मुगल शलिया समाप्त हो गयी। भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का प्रारम्भ उस समय होता है जब भारतीय चित्रकारों ने (जसा कि राजा रवि वर्मा ने किया) यारा शला का जगत अनुकरण करना प्रारम्भ किया और (जसा कि बाग चल अकनीन्द्रनाथ देगार ने लाल बाग मुरद्रनाथ कागुली अस्तिकुमार हल्पर के मसूर के वकल्पिया ने किया) यारापीय प्रभावों का अजता मुगल और राज शलियों के साथ समन्वय करना प्रारम्भ किया। कलकत्ता बम्बई और आ ध्र आधुनिक गली के सम्प्रदाय दमी समन्वय प्रवाह की उत्पत्ति है। चित्रकारों द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले रंगों और अर्थ उपकरणों का निर्माण आज योरोपीय प्रौद्योगिक का ही सहायता से होता है जिसके कारण चित्रकला की विषय वस्तु का अपेक्षा

उपकरणों का अधिक योरोपीयकरण हुआ है। एक समय था जब चित्रकार स्वयं अपने रंगों का उत्पादन करता था किन्तु आज उनका उत्पादन कारखाना में होता है। यह योरोपीय प्रभाव का ही परिणाम है कि चित्रकला में अमूर्त और अपरम्परावादी प्रतीकात्मकता का अभ्युदय हुआ। चित्रकला के विषय वस्तु में दिग्गज उच्च और असाधारण के स्थान पर, साधारण, सामान्य, इहलौकिक और वास्तविक का समावेश हुआ। यारोप की सामाजिक नवजागृति (Social Renaissance) और प्रकृतिवादी तथा विज्ञानवादी दृष्टान्त का प्रभाव से उत्पन्न यथायवादिता का सबसे अधिक प्रभाव, साहित्य के अलावा चित्रकला पर ही पड़ा। यह यथायवादिता का ही प्रभाव है कि चित्रकार, एक ओर नग्न शरीरी चित्रण की ओर उन्मुख हुआ और, दूसरी ओर, इहलौकिक मानवी जीवन और उसके प्रकारों के चित्रण की ओर। आधुनिक भारतीय चित्रकला में एक ओर उद्देश्यरहित यथायवादिता का प्रभाव है और दूसरी ओर यथाय मानवतावाद के अवगुठन में लिपटा हुआ है। ये दोनों प्रभाव योरोपीय हैं—प्रथम उस वाद का उत्पत्ति है जिसमें कला को कला के लिये ही माना जाता है, और दूसरा, उस वाद की जिसमें कला को वह उपादय माध्यम माना जाता है जिसका प्रयोग जीवन के अभिन्न मार्गों का सज्जन करने के लिये किया जाता है।

नाट्यकला जिसमें अभिनय और रंगमंच दोनों शामिल हैं भी उसी प्रकार योरोपीय प्रभाव में आय। नाट्यकला के दो पक्ष हैं—एक अभिनय और रंगमंच का और दूसरा साहित्य का। नाट्यकला के साहित्यिक पक्ष का वर्णन ध्यान दिया जायेगा। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि संगीत की भाँति भारतीय नाट्यकला के भी दो स्तर रहें हैं—एक, शास्त्रीय और दूसरा लोकतत्वीय। रामलीला, रासलीला स्वांग और नौ नौ लाख नाट्य परम्परा की श्रेणी में आते हैं। शास्त्रीय नाट्यकला और रंगमंच, प्राचीन तथा मध्यकालीन योरोपीय नाटक की भाँति, भारत में भी राजमहलों के मनोरंजन का साधन रहें हैं। सम्भवतः यही कारण है कि संस्कृत के नाटक सुखात हैं और उनके कथानक या तो राजपुरुषों से सम्बन्धित हैं या नित्य पुरुषों से और पदों के माध्यम से भारतीय नाटकों में भय तथा पारलौकिक दृष्टि की प्रधानता रही है तथा हास्य दरबारी हान के कारण बनावटी है। ऐसी परिस्थिति में अभिनय मनाटवीयता का अधिक होना स्वाभाविक है और अभिनय में जितनी ही नाटकीयता होगी यथाय से वह उतना ही दूर होगा। मुस्लिम काल में भारतीय रंगमंच में कोई खास परिवर्तन नहीं आया क्योंकि इस काल में जसा कि लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के समय में रचित इन्दिरा सभा से स्पष्ट है नाट्यकला का प्रवाह संगीत नाटिका (Opera) की ओर रहा है।

नौटंकी संगीत नाटिका की एक निम्न लोकप्रिय परम्परा है। यारोप के प्रभाव से नाट्य कला और रंगमंच का पुनरन्वयन हुआ। भारत का प्रापरीकृत पारसी रंगमंच इसी पुनरन्वयन की प्रथम अभिव्यक्ति था। पारसी रंगमंच से भारतीय और

यागपीय प्रभाव का सम्मिलन है यद्यपि इस सम्मिलन में भारतीय प्रभाव और परम्परा ही प्रधान हैं। भारत की अभिनय और नाट्य-कलाओं पर यागपीय प्रभाव सिनमा और कला सम्बंधी वादों (Issues) की विचारधाराओं के प्रभाव के माध्यम से आया है। जैसा कि कला के जन्म तथा मृत्पाट, अभिनय और नाट्यकला के क्षेत्र में भी यथाय की माय बढ़ा और व्यस्त जीवन के कारण सरल और छाट छाटे कथानकों की माँग बढ़ी। एकांकी नाटक इनो माँग की उत्पत्ति है। यथायकी प्रभाव की माँग के कारण, हम बान की आवश्यकता बनी कि कथानक में जितनी ही कम दृश्य हों उतनी ही अच्छा। नाट्यक में नगान निकालन की माँग यीरापीय प्रभाव की ही दन है। पात्रा द्वारा माय जान बाग मगीन की अग्या, पात्रा बाद्य-मगीत को सदेवावाहक और भाव मचारी मायम के रूप में अधिक प्रधानता मिली। बिजली तथा माइक्रोफोन के प्रयोग से रगमच तथा अभिनय में अपग्राहक अधिक यथायता आनी। श्रम्य नाटक, जो दृश्य प्रधान में हाकर खनि प्रदान हैं यारोप से आइ हुपी रडियो प्रीधामिनी की देन हैं।

कला की भांति साहित्य भी यारापीय परम्पराओं से प्रभावित हुआ है। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा इस प्रभाव का मुख्य मायम है। काव्य में बा परम्पराओं का अम्युदय हुआ—एक प्रपतिमय निराकारी और रहस्यवादी परम्परा का आ मध्यकालीन भूषीवादी पुट के साथ, एक बार राधास्वामी पथी जैसे निगु निधा पथों में अपने प्राचीन रूप में चलती रही और डूमरी और टगीर, पत पमाण, निराना और म देवी की कविताओं के रूप में, वह एक नवीन रूप सबर अवतरित हुआ जो समयानुसार प्राचीन की अपक्षा अधिक साफिस्टीकेट था। हिन्दी और बग्या की आधुनिक रहस्यवादी काव्य शैली को अंग्रेजी साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव मानना वस्तुतः इतिहास की अवहेलना करना है। इस प्रकार इस्लाम के प्रभाव ने रहस्यवादी काव्याभिव्यक्तियों में भावुकता का पुट दिया था। उन्नी प्रकार यीरापीय प्रभाव ने उसमें सोफिस्टीकेशन का एक गहरा पुट दिया। त्रिमकी अभिव्यक्ति हुयी टगीर की गीतावली में। हिन्दी में एक अन्य गैली उत्पन्न हुणी त्रिम छायावाद की मन्ना दी गई है जो अपनी मावानुभूति में रहस्यवाद का एक निनस्तरीय इहलौकिक ऐंद्रिक बिन्दु घोडा उगाली रूप है और अपनी अभिव्यक्ति गैली में अपरम्परागत छंदा और प्रतीकों म्मानी विचार और प्रकृति के आगम्यन उदीरन प्रयोग से बंधी हुयी है। छायावाद का वास्तविक आधार म्मानीपन (Pessimism) है जिसे पश्चिम के समाजशास्त्रा सामाजिक व्यवस्था के ओद्यागीकरण और गहरीकरण की उत्पत्ति मानते हैं।

- 1 जागी निबलात रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पुठभूमि
- 2 राइमर माइन सिटी

यदि फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के सभ्य संचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि एक उत्तम, सतत अभिलाषा के रूप में समान विचार सभी समाजों में स्वाभाविक रूप से व्याप्त है और उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न समाजों की सांस्कृतिक मायताओं और अर्थों के अनुसार होती है^१। नाट्य की एक वाच्य परम्परा में समान विचार थे और यहाँ की रीतिरिवाजों में प्रगति का आलम्बन उद्दीपन के रूप में प्रयोग करने की परम्परा भी थी। वास्तव में रहस्यवाद और छायावाद के विकास के दो मुख्य आधार रहे हैं एक भारत की मायवादी रहस्यवादी परम्परा और दूसरा वह हठसाहस मानवता का धारण के प्रभुत्वपूर्ण सघात के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न हुयी था। छायावाद का मानसिक प्रेरणा स्रोत पलायनवाद है न कि अंग्रेजी साहित्य की समान परम्परा। हा यह अवश्य है कि योरोप का प्रभाव ने उसे निखरने का परिस्थिति प्रदान की। साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में जिस प्रयोजनवादी साहित्य का सृजन हुआ उस प्रगतिवाद की सत्ता दी जाती है। प्रगतिवादी रचना का माध्यम बनाया जाता है उस बौद्धिक उद्बोधन का जिसके माध्यम से वर्तमान की मायताय नष्ट होकर, एक नये समाज की मायताओं में विकसित होगी। वर्तमान भारतीय काव्य साहित्य के मुख्य आधार रहे हैं राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, पलायनवाद, काव्यवाद और साम्यवाद। ये आधार योरोप की दन हैं और योरोप के सघात से उत्पन्न हुए हैं।

गद्य और गद्य साहित्य का विकास निश्चय ही अंग्रेजी भाषा का प्रत्यक्ष प्रभाव है। भारत में गद्य की परम्परा प्राच्य शास्त्रों में निहित थी। अंग्रेजी राज की स्थापना के समय, जसा कि दिनकर का मत है हिन्दी गद्य अस्तित्व में आ चुका था किन्तु वह इतना सुगठित और विकसित नहीं था जितना कि वर्तमान गद्य है। गद्य साहित्य में, कहानी, उपन्यास और नाटक का विकास मुख्य है। कहानी और उपन्यास की परम्परा भारत में थी। बाणभट्ट का काव्यमयी भारत का पहला उपन्यास है। सहामन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी जसी कहानियाँ भी भारत में थी। किन्तु गद्य के उपन्यास और कहानी में यथाथ जीवन का चित्रण और भाव प्रवणता उस योरोपीय परम्परा से आग है जो यथाथवादी परम्परा के रूप में सामाजिक नव जागृति के प्रभाव से योरोप में जन्म ले चुकी थी। यह योरोपीय प्रभाव का परिणाम कहा जा सकता है कि वर्तमान भारत के उपन्यास और कहानी वास्तविक जीवन के अधिक यथार्थ ज्ञान में। नाटक सम्राटों और दैवताओं के सत्कार से निष्कल कर इन्डो-यूरोपीय जीवन के अधिक समीप आ गया। राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान और सामाजिक समस्याओं का निराकरण और नव निर्माण कहानी और उपन्यास के मुख्य प्रेरक हो

गये। प्रेमचन्द के उपन्यास राष्ट्रीयता, पुनर्जनन, और सामाजिक नवनिर्माण की भावनाओं में प्रेरित हैं जबकि द्विजदलाल गद्य और प्रसाद के नाटक राष्ट्रीयता की भावना का उद्वाचित करने की प्रेरणा से। इनके नाटकों के कथानक, भारतीय इतिहास की उही परिस्थितियाँ और घटनाओं से सम्बंधित हैं जिनमें राष्ट्र स्वतंत्रता और राष्ट्रीय जागरण तथा गव को जगान की ध्यातयता थी। द्विजदलाल गद्य तथा प्रसाद के नाटकों में भारतीय रंगमंच की परम्पराओं के प्रभाव का भारतीय रंगमंच की परम्पराओं से सम्बंधित भारतीय रूप-रंग का मिश्रण है। जिस प्रकार, याराय में मायड के सिद्धांतों की बर्तौ हुई लाक्षणिकता के प्रभाव के कारण, उपन्यासकारों तथा नाटककारों का अपने पात्रों के मानसतल में बैठ कर उनमें अंतर्निहित मानसिक द्वंद्व तथा संघर्ष का चित्रित करने की प्रेरणा मिली, उसी प्रकार भारत में भी ऐसी चित्रण का प्रेरणा मिली। किंतु, जिस प्रकार, सत्त्व का के मायड के सिद्धांतों और उनकी समिया से परिचित न होने के कारण याराय के साहित्य सृजन में अंधकार का नाम पर एडिथता का समावेश हुआ, वही भारत में भी हुआ। जिस प्रकार, चित्रकला के क्षेत्र में कला के लिये कला वाल योरापीय सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा, वही नाटक, उपन्यास और कहानी पर इस सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा किन्तु जसा कि याराय से जायी हुयी मानवतावादी विचारधारा की माँग थी, नाटक उपन्यास और कहानी प्रयाजनवादिता में अछूते न रह सके। याराय की भांति, भारत में भी कला और साहित्य का मजबूत वाद (Issue) के चर्चा-पह में समा गया।

काव्य के क्षेत्र में सबसे आन्विकारी प्रभाव पड़ा छंदों, उपमा-उपमय के प्रतीका और अभिप्राय की गती पर। हिंदी काव्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास के पक्ष की अवस्था की रीतिकाल का मन्ता दे जाती है और उस रीतिकाल इसलिए कहा जाता है कि उस काल में काव्य-अभिव्यक्ति के माध्यम, प्रतीक उपमा-उपमय और विषय वस्तु परम्परागत थे और जहाँ वे नहीं थे वहाँ उनका किसी-न-किसी रीति में वापस का प्रयास किया जाता था। उदाहरणार्थ, उस काल का सारा अर्थ और शृंगारिक काव्य राधा और कृष्ण के माध्यम से वर्णित होता था। नायिका-भेद और नायिका के नय-गिह का वर्णन भी इसी माध्यम से होता था। कमल, चंद्र, पुष्प और ममर ही सौंदर्य के मुख्य उपमान थे। सारी काव्य-अभिव्यक्ति रुढ़िगत होने के कारण, पहचान-ही थी और इसकारण, समय-प्रसाद गुण और स्वाभाविकता (Spontaneity) और जन-मुलभता का अभाव था। याराय सघात का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि साहित्यिक रुढ़ियों के प्रति एक प्रकार का विद्रोह मा उठ खड़ा हुआ। जिस प्रकार, तत्कालीन समाज में रुढ़ि के प्रति विद्रोह की भावना पनपी उसी प्रकार काव्य में भी हुआ। छायावादी कविता का जन्म इसी विद्रोह में हुआ था और छायावादी कवि न प्रतीक, छंद, उपमाओं और उपमान का नये सिरे से

गढ़ा^१। किंतु छायावादी कविता स्वयं अपने द्वारा निर्मित रूढ़ियों में प्रसिद्ध हो गयी। दूसरी ओर, यदि परम्परागत काव्य आलम्बनों का प्रयोग भी किया गया तो वह नये सामाजिक सन्तर्भों में ढाला गया। उदाहरणार्थ, मधिलीशरण गुप्त ने, साकेत प्रबन्ध-काव्य में, परम्परागत रामकथा के आधार पर नयी मानवतावादी सामाजिक अर्थों को प्रतिपादित करने का प्रयास किया। भाव प्रवण छोटे छोटे गीत और अतुकान्त छन्द लिखने की परम्परा इसी बाल में विकसित हुयी है और वह अग्रजी भाषा की रूमान्ती परम्परा की लिरिकल प्बटरी (Lyrical Poetry) और लक वस (Blank Verse) से प्रेरित है। काव्याभिव्यक्ति में व्यक्तिवादिता और परम्परा के प्रतिरूपण की भावना का चरम विकास उस शायी में हुआ है जिसे प्रयोगवाद कहा जाता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि अग्रजी राजकाल में शिक्षा का माध्यम अग्रजी भाषा हो गयी थी। अग्रजी भाषा के माध्यम से, योरोपीय ज्ञान विज्ञान का भारत में प्रसार करने का प्रयास किया गया। किंतु साथ ही साथ, ज्ञान विज्ञान की जन-मुलभ बनाने की समस्या बनी रही। यह अवश्य है कि संस्कृत ग्रन्था का अग्रजी में अनुवाद होने के कारण अग्रजी भाषा भाषी लोगों का भारत का प्राचीन ज्ञान विज्ञान मुलभ हो गया। किंतु फिर भी समस्या बनी ही रही। उधर, इसाई मिशनरियों के सामने बोल चाल की भाषा में इसाई धर्म का प्रसार करने की समस्या थी। अतः, जिस प्रकार मुसलमानों ने (बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के स्तर पर लाने का प्रयास किया था, उसी प्रकार इसाई मिशनरियों ने बोल चाल की प्रादेशिक भाषाओं को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किये। सन १८२१ में जेम्स स्कॉट नामक मिशनरी ने काकणी में ईसा-पुराण लिखा। मद्रास मिशन का बेन्ची नामक मिशनरी तमिल का पण्डित था। बिशप काडवेल को द्राविड भाषाओं का उद्धारक माना जाता है। मिरामपुर (बंगाल) के मिशनरी हिंदी, उर्दू और बंगला में इसाई धर्म का प्रचार करते थे। मिशनरियों ने प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण लिखे उनकी लिपियों को निर्धारित किया, टाइप बनाकर प्रसन्न खोले और अखबार निकाल कर गद्य को विकसित किया^२। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रादेशिक भाषाओं का गद्य और व्याकरण अग्रजी के गद्य और व्याकरण से प्रभावित हुआ। भारत में योरोपीय ज्ञान-विज्ञान अग्रजी भाषा के माध्यम से आया और जब उस ज्ञान विज्ञान का प्रादेशिक भाषाओं में लाने का प्रयास किया गया तो अग्रजी भाषा के गद्य और काव्य विकास का प्रभाव और भी बढ़ा। दूसरी ओर अग्रजी भाषा के मुहावरों का प्रादेशिक

१ देखिये सुमित्रानन्दन पंत द्वारा रचित पल्लव की भूमिका और प्रसाद की कविता, विनोद उनका आसू नामक खण्ड काव्य।

२ दिनकर रामधारीसिंह संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ ४१०

भाषाभाषा में भारतीयकरण हुआ है। भारत में अंग्रेजी, विद्वता और पाण्डित्य की भाषा रही है जिसके कारण भारत में अंग्रेजी की अलंकारिक और वाक्पिण्ड शैली का विकास हुआ। अंग्रेजी की इस शैली का प्रवाह ने भारतीय भाषाभाषा, विशेषतया हिंदी में अलंकारिक और वाक्पिण्ड शैली का जन्म दिया। अंग्रेजी में वाक्पिण्ड शैली का विकास का एक अन्य कारण भी है। आज हिंदी का प्रयोग यारापय विषय-वस्तु का अभिव्यक्ति करने के लिए किया जा रहा है—वह विषय वस्तु जो अंग्रेजी में है और जिसके लिये हिंदी में शब्द नहीं है। ऐसी दशा में सारा अभिव्यक्ति विधान, अंग्रेजी के प्रतिष्ठापक अनुसार इतर गली का वाक्पिण्ड बना देना है। यारोपीय विषय-वस्तु का अंग्रेजी में हिंदी और प्रादिक भाषाभाषा में गकर जन मुन बनाते का समस्या यारोपीय सघात से जमी है और इसी सघात ने अंग्रेजी बनाम हिंदी के प्रश्न का जन्म लिया है। यारोपीय सघात का कारण आज यह समस्या उठ खड़ी हुई है कि हिंदी का कितना अंग्रेजीकरण हो और कितना उस स्थानीय बागी या शालिया के समीप लाया जाय तथा कितना सस्कृत के समीप।

६

धर्म हिंदुत्व और इसाईयत

जिस प्रकार भारत में मुसलमानों के प्रवेश और उनकी राजनतिक सत्ता स्थापित होने के साथ-साथ हिंदुत्व पर इस्लाम का सघात पड़ा उसी प्रकार, ज्या-ज्या भारत का यारोप में सम्पर्क बढ़ा और ज्या-ज्या भारत पर याराप का राजनतिक-आर्थिक प्रभुत्व बढ़ता गया, त्यो-त्यो भारत में इसाईयत का प्रचार किया गया और उसका फलस्वरूप, भारत इसाईयत के सघात में आया। इस्लाम की भांति, इसाईयत भी मिशनरी मजहब था और उन लोगों का मजहब था जिनका भारत पर राजनतिक प्रभुत्व था। जिस प्रकार, मुसलमानों का राज्य-काल में इस्लाम का राजनतिक सारण मिला हुआ था, उसी प्रकार, पुनर्गालियों और अंग्रेजों के गमन में इसाईयत का भी राजनतिक सारण मिला हुआ था। जिस प्रकार मुसलमानों का राजनतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पछल भारत का इस्लाम से सम्पर्क स्थापित हो चुका था, उसी प्रकार भारत पर यारोपीय राष्ट्रा का राजनतिक प्रभुत्व स्थापित होने के पछल, भारत में इसाईयत का आममन हो चुका था। जिस प्रकार, मुसलमानों की राजनतिक सत्ता स्थापित होने के पछल इस्लाम एक गान्तिप्रिय रहस्यवादी, मजहबी आस्था के रूप में भारत आया था, उसी प्रकार, इसाईयत भी एक सघास्युक्त रहस्यवादी, अहिंसक विन्तु मजहबी तथा महायी आस्था के रूप में भारत आया था। जिस प्रकार मुसलमानों की राजनतिक सत्ता स्थापित होने के बाद, इस्लाम ने एक आनामक धर्म-

परिवर्तन का आ दाला का रूप ग्रहण किया, ज्यों ज्यों भारत में यारापीय सत्ताओं का राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ा, इसाइयत ने भी एक आत्मात्मक धर्म परिवर्तन का रूप ग्रहण किया। आसका का धर्म हान के कारण, इसाइयत ने भारतीय धर्मों, जिनमें हिंदुत्व प्रसाम और आदिवासी धर्म मुख्य हैं वे प्रति अनादर और तिरस्कार का रूप अस्तित्वार किया जिसका परिणाम हुआ वह बौद्धिक बोलाहल जिसमें हिंदुत्व में स्व आलाचना, पुनर्निवचन, पुनर्र नयन और सुधार की उस प्रक्रिया का जन्म दिया जिस आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागृति की प्राप्ति का सपना दी जाती है।

यह कहना कि आधुनिक भारत की सामाजिक नवजागृति का एकमात्र कारण इसाइयत ही है वस्तुतः, एक जटिल बहुकारकी प्रक्रम के प्रति एकांगी दृष्टि का अग्रपक्ष है। वास्तविकता यह है कि जसाकि इस अध्याय में प्रारम्भ में कहा जा चुका है यारापीय सभ्यता का बौद्धिक पक्ष इसाइयत के ही पक्ष में पला है और इसकारण जहाँ जहाँ यारापीय सभ्यता का सघातकारी प्रभाव पड़ा है इसाइयत का भी प्रभाव पड़ा है। इसाइयत योरोपीय सभ्यता के प्रसार का एक मुख्य माध्यम और अग्रदूत रही है। इसीकारण, ज्यों ज्यों भारत में योरोपीय सभ्यता का सघातकारी प्रभाव बढ़ा इसाइयत का भी सघात बढ़ता गया। भारत में वर्तमान सुधारवादी आन्दोलन एकमात्र इसाइयत के प्रभाव की ही उत्पत्ति नहीं है। इसाइयत ने अपने युक्तियुक्त और मानवतावादी विचारों के कारण, सुधार के लिए बौद्धिक प्रेरणा दी और पूँजीवाद तथा प्रौद्योगिकी के प्रभाव ने इसाइयत द्वारा प्रेरित सुधारों के लिए मार्ग प्रशस्त किये। भारतीय समाज और सस्कृति के जिन रूपांतरणों का वर्णन किया जा चुका है, वे भी उतने सगन्त परिवर्तनकारी कारक थे जितना कि इसाइयत थी।

इसाइयत के सघात से धर्म में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या के लिए भारत में इसाइयत के संक्षिप्त इतिहास और सघात का विश्लेषण आवश्यक है। भारत में इसाइयत के दो रूप रहे हैं—एक ईसा मसीह द्वारा प्रतिपादित और उनके जीवन में निहित अहिंसावादी, सत्यासयुक्त पारलौकिक मनुष्य में देवत्व का दर्शन करने वाला, भक्ति मार्गी रूप जिस एशियायी इसाइयत कहा जाता है। यह रूप भारत में ईसा की पहली शताब्दी में आ गया था और इसके लाने वाले थे सीरिया के इसाई जा केरल में आ बसे थे¹। भारत के लिए यह एक आतिथ्रिय मजहबों मार्ग था उसी

- 1 ईसा की पहली शताब्दी में इसाइयत का जो रूप भारत में आया था, उसके प्रणेता सेंट टामस थे और वह सेंट पीटर तथा सेंट पाल द्वारा प्रतिपादित रूपों से भिन्न था। योरोप वाली को भारत में प्रतिपादित इसाई धर्म का पता था। कहते हैं इङ्गलैंड वालों को मद्रास के मलयापुर के सेंट टामस के गिरजाघर का पता था और वहाँ के राजा अल्फ्रेड ने इस गिरजाघर में उपहार चढ़ाने के लिए अपना दूत भी भेजा था—दिनकर

प्रकार से जस हिंदुत्व के अर्थ माग थे। यही कारण है भारत में उसे स्वीकार किया गया और उसके प्रति आदरपूर्ण सहनशील दृष्टिकांश अपनाया गया। जैसा कि केरल के सीरियाई ईसाई (Syrian Christian) कहे जाने वाले ईसाईयों के सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन से स्पष्ट है, उनमें ईसाइयत का काफी भारतीयकरण हुआ है। इन ईसाइयों में पांच सम्प्रदाय हैं जो उसी प्रकार के अंतर्विवाही समूह हैं जसे हिंदू जातियाँ^१।

ईसाइयत का दूसरा वह रूप है जो आचार धर्मविद्यायुक्त (Ethical Theological), इहलौकिक और मिशनरी है और जो यूनानी और रोमन प्रभावों के अंतर्गत पश्चिम में विकसित हुआ है। यही वह रूप है जिस पर रामन सामाजिक संगठन और साम्राज्यवादिता का प्रभाव रहा है जिसका प्रतीक है पाप अथवा महान धर्माधिकारी। इसी रूप पर उस यूनानी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है जो ससार की सम्य अस्म्य (ईसाइयत के सन्दर्भ में ईसाई और गर ईसाई) की द्विभाजिता में बांटती रही है। पूँजीवादी, योरोपीय सम्यता सम्बद्ध ईसाइयत का यह रूप उसी प्रकार से आश्रयित रहा है जिस प्रकार से योरोपीय सम्यता। ईसाइयत का यही वह रूप है जिसे इसके प्रतिष्ठा-भोगियों ने ससार में फैलाने का प्रयास किया है। जिस मध्यकालीन तथा अर्धवर्षीय योरोप में इसका जन्म हुआ है, वह अपने को ससार में सर्वश्रेष्ठ मानता रहा है क्योंकि ससार पर उसका राजनैतिक-आर्थिक प्रभुत्व रहा है और आज भी है। ईसाइयत का यह रूप मुख्यतः योरोपवादी रहा है और इस कारण सम्यता संहति के सघर्ष का कारण भी। भारत में ईसाइयत के इस रूप का प्रवेश पुर्तगालियों के साथ-साथ हुआ है। भारत में सोलहवीं सदी में पुर्तगाली मिशन आया। मद्रास में स्थापित और मद्रास मिशन के नाम से विख्यात इटली का मिशन सत्रहवीं शताब्दी में और डेमाक का मिशन अठारहवीं शताब्दी में।

पुर्तगाली मिशनरियों के कार्यों और प्रभावों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। यहाँ पर यही कहना पर्याप्त होगा कि पुर्तगाली मिशनरियों ने एक ओर, केरल के ईसाइयों में स भारतीय विश्वास और प्रभावों का हटाने तथा, दूसरी ओर, जबर-दस्ती धर्म परिवर्तन करके धर्म प्रचार का प्रयास किया। इसमें उनका सफलता मिली किन्तु भारत में ईसाई धर्म तथा मिशनरी बदनाम भी हुए^२। जेमुवान्ट

१ क्रोवर, ए० एल० एन्सापलोजी पृष्ठ ४३३

२ ओ मेले के अनुसार, सन सोलहवीं सदी में एक अंग्रेज पादरी श्री टैरी को यह बताया गया था कि ईसाई धर्म गतान का धर्म है, ईसाई अत्यधिक गराब पीते हैं, बुरे कार्य करते हैं, दूसरों को सताते हैं और बुरा भला कहते हैं। उसी पादरी के अनुसार, भाव-भाव करते समय दुकानदार अपने ग्राहक से अक्सर यह कह देता था कि 'म ईसाई नहीं हूँ जो तुम्हें धोखा दूँ'।

पादरिया का जकबर और जहांगीर से सरक्षण मिला और इस कारण उनका प्रचार अधिक प्रभावपूर्ण रहा। जहांगीर के राज्य काल में जेसुवाइट पादरिया ने जागरे में एक कालेज और गिरजाघर की स्थापना की थी। जेसुवाइट मिशनरियों का प्रभाव का एक कारण यह भी है कि उन्होंने, धर्म को छोड़ कर, अथवा वाता में भारतीय बाने को अपना लिया था। यह जेसुवाइट पादरियों की ही धारणा थी कि जब तक किसी देश में वही के पादरी इसाईयत का प्रचार नहीं करेंगे तब तक वहाँ इसाईयत का प्रचार नहीं होगा। मदुरा मिशन के लक्षणों, भारतीय जाति प्रथा के आधार पर, अलग अलग जातियों के लिए अलग अलग चर्चों को संगठित करने का प्रयास किया। इन लोगों ने इसाई धर्म में दीक्षा लेने वालों को अपनी अपनी जाति की प्रथाओं को बनाये रखने के लिए प्रोत्साहित किया। इस मिशन के मिशनरियों ने अपने को दो श्रेणियाँ में बाँटा—एक ओर, वे मिशनरी थे जो ब्राह्मणों में इसाईयत का प्रचार करते थे ब्राह्मणों की भाँति जनक धारण करते थे ब्राह्मणों के अलावा किसी अन्य का अभिवादन नहीं करते थे और न तो किसी को छूने थे और न किसी का हुआ हुआ भोजन करते थे। दूसरी ओर, वे मिशनरी थे जो निम्न जातियों में धर्म प्रचार करते थे उन्हीं की भाँति फटे कपड़े पहनते थे और वही जसा सादा भोजन करते थे। ब्राह्मणों से धर्म प्रचार करने वाला मिशनरी निम्न जातियों में काम करने वाले मिशनरी से बसे ही दूर रहता था जस ब्राह्मण निम्न जाति के लोगों से दूर रहता था। डेमाक के मिशन के मिशनरियों ने भी मदुरा मिशन के मिशनरियों की भाँति इसाईयत का परम्परावादी हिंदू सामाजिक संरचना के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया किन्तु उसमें उन्हीं सफलता नहीं मिली। इसाई सिद्धांतों के विरुद्ध होने के कारण, आगे चलकर पोप ने ऐसी कियाओं का रोक दिया।

ज्यो ज्यो योरोप का संसार पर प्रभुत्व बना और योरोप में मिशनरीवाद युक्तियुक्त और प्रसारवादी इसाईयत के रूप में, विभिन्न राष्ट्रवादी प्राटेस्टेंट सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ, इसाईयत का मिशनरीवादी रूप भी फैलता रहा। लॉड विलियम बटिक के समय के भारत में अनेक कथोलिक (Catholic) और प्राटेस्टेंट चर्च संगठित होकर इसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। यह इसाईयत का आश्रमिक रूप था और भारत में उसके प्रचारात्मक और मिशनरी आक्रमण का मुख्य निशाना था हिंदुत्व। यह प्रचारात्मक आक्रमण इतना उग्र हो रहा था कि लॉड मिंटो का विवश होकर, हिंदुत्व के विरुद्ध मिशनरी प्रचार पर रोक लगानी पड़ी। किन्तु सन् १७८४ से ही तेरह में इसाईयों का धर्म प्रचार की धुन छूट मिल गयी क्योंकि इस काल के अंग्रेज शासकों और मिशनरियों का यह विश्वास था कि अंग्रेजी शिक्षा और इसाईयत के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक योरोपीयकरण होगा और उससे योरोप का राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रभाव भी स्थायी रहेगा।

भारत दो प्रकार से इसाईयत के सम्पर्क में आया—एक इसाई मिशनरों (Christian Missions) के सम्पर्क से और दूसरे अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शिक्षा, योरोपीय साहित्य और योरोपीय जीवन धारण के तरीकों के बढ़ते हुए प्रभाव से। योरोपीय सभ्यता का एक बड़ा अंश इसाई विचार और सिद्धांतों से प्रेरित रहा है और उन्हीं के आधार पर निर्मित भी हुआ है। पहले प्रकार का सम्पर्क प्रत्यक्ष रहा है जबकि दूसरे प्रकार का अप्रत्यक्ष। भारत में इसाई मजहबी भावना के दो पहलू रह हैं—एक गतानुगतिक और मिशनरी और दूसरा विवेकी, उदारवादी और मानवतावादी^१। इसाईयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप ने कभी भी हिंदुत्व का उस उदार दृष्टि से नहीं देखा जिस रूप से हिंदुत्व ने अन्य धर्मों को देखा। यह इसाईयत के गतानुगतिक और मिशनरी रूप का परिणाम था कि सन अठारहवीं सदी के बाद से, इसाई मिशनरियों ने कभी कभी हिंदू मतांगण और संस्कृति के व्यावहारिक पक्ष की एक तीव्र, अनुदार आलोचना प्रारम्भ कर दी^२। बहुदेववाद, अवतारवाद, कमवाद और अनेक रीति रिवाजों की इसाईयों ने निरीह आलोचना प्रारम्भ की और यह दिखाने का प्रयत्न किया कि इसाईयत हिंदुत्व से अछूट है और हिंदुत्व की अपना अधिक सुनिश्चित है। योरोप के सुधारवादी या दोलन के प्रभाव में, इसाईयत में उदार मानवतावादी दृष्टिकोण का भी समावेश हुआ था। इस दृष्टिकोण के आधार पर, इसाईयों ने, एक ओर, समतावादी विचारों का प्रचार किया और दूसरी ओर उन

१ महेड, ए० आई० ओमेले द्वारा सम्पादित माइन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 305

२ श्री लक्ष्मी सागर चार्ण्य ने अपनी पुस्तक आधुनिक साहित्य में इसाई मिशनरियों द्वारा की जाने वाली ऐसी आलोचना के कुछ उदाहरण दिए हैं जो इस प्रकार हैं —

‘यह (ईसा मसीह) तुम्हारे देवताओं के समान नहीं हैं जो मरमिटे हैं। रामचंद्र लक्ष्मण के शोक में सरयू नदी में डूब गया। कृष्ण प्रभास-स्तोत्र के वन में भील के शर से मारा गया। ब्रह्मा का सिर शिव ने काटा। विष्णु को शिव, जो उससे बड़े बाल का अवतार था, निगल गया। शिव ने भीमसेन के शर से मारे हिमालय में प्राण त्यागा। इस रीति से सब देवता जिन पर तुम श्रुति की आज्ञा रखते हो मरमिटे हैं। बुरा तो है, परंतु, देवताओं से बुरा नहीं है। वरन उनसे कहीं भला है। शिव के समान जाति से अनादरित और अप्रतिष्ठित नहीं हुआ और ब्रह्मा की नाई कामातुर होके अपनी श्रम से कुछ नहीं किया और विष्णु की नाई पराई स्त्री को नहीं ठगा और उनके अवतारों की भांति रीति प्रतिज्ञा भजक और निर्दोषियों का घातक और नास्तिक मत और अधम का उपजायक नहीं हुआ और इंद्र के समान गुरु की पत्नी को मृष्ट नहीं किया’— दिनकर से उद्धृत पृष्ठ 436

धार्मिक भावनाओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जो बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा की समथक समझी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत ने सुधारक सत्त कर चुके थे और जो हिंदुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म वैदिक काल में हो चुका था और जिसके आधार पर हिंदुत्व में पुनरीक्षण, पुनर्विचन, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय में प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया हिंदुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विस्मय, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के संपात से हुआ था। हिंदुत्व इसाईयत की भार आकषित हुआ और उसके प्रति क्षुब्ध भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिंदुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असंतोष और विद्रोह है, उतना किसी अन्य धर्म के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिंदुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य में लाने का प्रयास है जबकि इसाईयत और इस्लाम जीवन का अलग अलग पूर्वनिर्धारित, जटिल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य में डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिंदुत्व ने इसाईयत को अपनाया किन्तु वही तक जहाँ तक सामञ्जस्य सम्भव था¹।

इसाईयत का जितना प्रभाव हिंदुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिंदुत्व में इसाईयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिंदुत्व में

- 1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किन्तु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गांधी का उत्तर था, “मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्त भाग दर्शन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पैर और द्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूँ। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभ्यास न होता तो सम्भवतः बहुत पहले ही मेरा दृष्टिस्थान गगजाल में होता। आप चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं”। राधाकृष्णन के अनुसार, महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिंदू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेले द्वारा सम्पादित माइन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 318)।

इसाइयत के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जितना समावेश किया गया, उतना किया अन्य धर्म में नहीं हुआ। मेठड के अनुसार ईसा की शिक्षाओं का जितना हिंदूओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा¹। निबु, हिंदुत्व में इसाई राइटा (Christian Dogmas) का निबधित करने अपनाया गया। हिंदुत्व एक सना रूपांतरण प्रक्रिया रहा है। इसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपांतरण प्रक्रिया को प्रात्साहित किया। पश्चिम के साथ साथ इसाइयत के मघात के फलस्वरूप, हिंदुत्व में नारी शिभा पर जोर दिया गया जाति प्रथा के विरुद्ध आत्मानुज्ञा, युक्तियुक्त विचारनारा फनी अस्त्रध्या और आदिवातिया को आदरपूज सामाजिक प्रविष्ठा प्रदान करने के आ दालन और प्रयास हुए तथा हिंदुत्व का उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदाया में बाधन का प्रयास किया गया जसा कि इसाइयत में है। इसाइयत के मघात से निराकारी एकस्वरवाद की एक बार फिर प्रात्साहन मिला। ब्रह्मसमाज प्राथना समाज और आयसमाज उसी प्रकार में निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदाया के रूप में आय जिस प्रकार इसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों का, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, पथ न कह कर समाज की सना दी गई जो इसाइयत के मजहबी संगठन का प्रभाव है। आयसमाज मंदिर और ब्रह्मसमाज के प्राथना मन्दिर हिंदुत्व के आवरण में प्राटेन्स्ट चर्च की प्रविष्ठा सी लगते हैं। इसाइयत में धमनिरपन और धमसापन में अंतर किया जाता है। इसकारण इसाइयत के प्रभाव से हिंदुत्व में भी धमनिरपेक्षिता तथा धमसापनता की समस्या उत्पन्न हुई। इस्लाम और इसाइयत के सम्मिलित सघात ने हिंदू राष्ट्रवादिता की जन्म लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू समाज धमनिरपन तथा धमसापन राष्ट्रवादिता के प्रवाहा में बढ गया। इसाई मिशनरियों ने हिंदुत्व के दामनिक आधारों की विरुद्ध ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिंदू कल्पाचार ब्राह्मगवा अवतारवा और हिंदू की बहुमुखापनता। इन आलोचना के फलस्वरूप हिंदुत्व में कल्पाचार का भरल बनाने पर जोर दिया गया, ब्राह्मण विराधी आंदोलन चला और पुराहितवाद की आलोचना की जान लगी। ब्रह्मसमाज और आयसमाज में कल्पा (Pitfalls) को सरल और मरिप्त जनान पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उसमें सफरता भी मिली। आयसमाज के द्वारा पहली बार यह वादी वत किया गया कि पौराहित्य काय किसी भी जाति के सम्प्य द्वाग सना न किया जा सकता है बगते कि उस पौराहित्य-काय की विधि आती है।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिंदुत्व में अभिनव विचार धाराओं के माग प्रगस्त हुए, उसके माननिक शिनिज का क्षेत्र और भी बढा और हिंदुत्व में मानवीय विचारों-मुधता बढी। राज्य-भरणण से विहीन हान में, हिंदुत्व

धार्मिक भावनाओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जा बाल विवाह विधवा विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा की समयब समझी जाती थी। यह आलोचना वैसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत के सुधारक सन्त कर चुके थे और जो हिंदुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म बौद्धिक काल में हो चुका था और जिसके आधार पर हिंदुत्व में पुनरीक्षण, पुनर्निर्वाचन, सुधार और गत्यात्मक समाज की प्रक्रिया का अभ्युदय हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया हिंदुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किंतु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विस्मय, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता को उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के सघात से हुआ था। हिंदुत्व इसाईयत की ओर आकर्षित हुआ और उसके प्रति दुःख भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिंदुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असंतोष और विरोध है उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिंदुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामंजस्य में लाने का प्रयास है जबकि इसाईयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग धर्मनिर्धारित, अलग और अलग-अलग समझने वाले सत्य में डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामंजस्य के लिए हिंदुत्व ने इसाईयत को अपनाया किंतु वही तक जहां तक सामंजस्य सम्भव था¹।

इसाईयत का जितना प्रभाव हिंदुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिंदुत्व में इसाईयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिंदुत्व में

- 1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी ने कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किंतु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गांधी का उत्तर था, "मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्त भाग दान कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पैर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूँ। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभास न होता तो सम्भवतः बहुत पहले ही मेरा इष्टस्थान गंगाजल में होता। अगर चाहे उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिंदू से आज्ञा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेले द्वारा सम्पादित माइन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 348)।

इसाइयत के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जितना समावेश किया गया, उतना किसी अन्य धर्म में नहीं हुआ। मेहेर के अनुसार ईसा की शिक्षाओं का जितना हिंदुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा¹। किंतु, हिन्दुत्व में ईसाई सिद्धांतों (Christian Dogmas) का निवर्धित करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सनत रूपांतरण प्रक्रिया रहा है। इसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपांतरण प्रक्रिया का प्रोत्साहित किया। पश्चिम के साथ साथ, इसाइयत के सघात के फलस्वरूप, हिन्दुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया जाति प्रथा के विरुद्ध आंदोलन चला युवकियुवक विचारधारा की अस्वरथा और आदिवासियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आंदोलन और प्रयास हुए तथा हिन्दुत्व का उसी प्रकार का सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाधन का प्रयास किया गया जसा कि इसाइयत में है। इसाइयत के सघात से निराकारी एक-वरवाद का एक बार फिर प्रोत्साहन मिला। ब्रह्मसमाज प्रायना समाज और आयसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आय जिस प्रकार इसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों का, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, 'धर्म न कह कर समाज को सना दी गई जो इसाइयत के मजहबी मगठन का प्रभाव है। आयसमाज मंदिर और ब्रह्मसमाज के प्रायना मंदिर हिन्दुत्व के आन्दोलन में प्राटेस्टेंट चर्च की प्रतिवृत्ति से लगते हैं। इसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अंतर किया जाता है। इनकारण, इसाइयत के प्रभाव से हिन्दुत्व में भी धर्मनिरपेक्षता तथा धर्मसापेक्षता की समस्या उत्पन्न हुयी। इस्लाम और इसाइयत के सम्मिलित सघात ने हिंदू राष्ट्रवादिता का जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बंट गया। इसाई मिशनरियों ने हिन्दुत्व के दार्शनिक आधारों की विरुद्ध ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य बिषय रहे हैं हिंदू कल्पवृक्ष शास्त्रगवा अवतारवाद और हिन्दुत्व की बहुमुखापेक्षता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिन्दुत्व में कल्पवृक्ष का सरल बनाने पर जोर दिया गया, ब्राह्मण विराधी आन्दोलन चला और पुराहितवाद की आलोचना की जान लगी। ब्रह्मसमाज और आयसमाज में कल्याण (Pitfalls) को सरल और मरिष्ट बनाने पर जोर दिया गया और एक सीमा तक उमम सफ़ाता भी मिली। आयसमाज के द्वारा पहली बार यह कार्यवित्त किया गया कि पौराणिक काल किसी भी जाति के सम्पत्ति द्वारा नहीं किया जा सकता है बल्कि कि उम पौराणिक-काल की विधि आती है।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिन्दुत्व में अभिनव विचार धाराओं के माग प्राप्त हुए, उसके मानसिक क्षितिज का क्षेत्र और भी बढ़ा और हिन्दुत्व में सामाजिक विचारों मुखता बड़ी। राज्य-भरक्षण से विहीन होन से, हिन्दुत्व

धार्मिक मायताओं की आलोचना करना प्रारम्भ कर दी जो बाल विवाह, विधवा-विवाह निषेध, स्त्री अधिकार निषेध और जाति प्रथा की समयक समझी जाती थी। यह आलोचना वसी ही थी जैसी कि बुद्ध और मध्यकालीन भारत में सुधारक सत्त कर चुके थे और जो हिंदुत्व की उस गत्यात्मकता में निहित थी जिसका जन्म वादक काल में हो चुका था और जिसके आधार पर हिंदुत्व में पुनपरीक्षण, पुनर्निर्माण, सुधार और गत्यात्मक समन्वय की प्रक्रिया का अभ्युत्थ हुआ था। राजाराम मोहन राय से प्रारम्भ होने वाली सामाजिक नवजागृति की प्रक्रिया हिंदुत्व में निहित इसी प्रक्रिया का आधुनिक ऊर्ध्वगामी विकास है। किन्तु, इस प्रकार की आलोचना ने पहले प्रतिक्रिया, विक्षुब्धता, कट्टरवादिता और गतानुगतिकता का उसी प्रकार जन्म दिया जैसा कि इस्लाम के सघात से हुआ था। हिंदुत्व इसाइयत की आर आकर्षित हुआ और उसके प्रति झुंझ भी। राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि हिंदुत्व में धार्मिक राष्ट्रीयता के प्रति जितना असंतोष और विद्रोह है उतना किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। धर्म के रूप में, हिंदुत्व जीवन को एक स्वस्थ सामञ्जस्य में लाने का प्रयास है जबकि इसाइयत और इस्लाम जीवन को अलग अलग पूर्वनिर्धारित, अटल और शाश्वत समझे जाने वाले सत्य में डालने के प्रयास। एक स्वस्थ सामञ्जस्य के लिए हिंदुत्व ने इसाइयत को अपनाया किन्तु वही तक जहां तक सामञ्जस्य सम्भव था¹।

इसाइयत का जितना प्रभाव हिंदुत्व पर पड़ा, उतना किसी अन्य धर्म पर नहीं पड़ा। हिंदुत्व में इसाइयत की जितनी उदार समालोचना हुई तथा हिंदुत्व में

- 1 एक बार कलकत्ते के एक मिशनरी सम्मेलन में जब महात्मा गांधी से कहा गया कि ईसा की शिक्षाओं का कोई कितनी ही तत्परता से पालन क्यों न करे किन्तु वह तब तक इसाई नहीं है जब तक वह ईसा के अमरत्व का अनुभव न करे, तो, महात्मा गांधी का उत्तर था "मैं नहीं कह सकता कि ईसा से आपका क्या तात्पर्य है। यदि आपका तात्पर्य ऐतिहासिक पुरुष ईसा से है, तो मुझे उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं होता है। यदि आपका तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो मुक्त भाग दशन कराती है, जिसका अस्तित्व मेरे हाथ, पर और श्वास की अपेक्षा मेरे अधिक समीप है तो, मैं उसके अस्तित्व का अवश्य अनुभव करता हूँ। अगर उसके अस्तित्व का मुझे अभास न होता तो सम्भवत बहुत पहले ही मेरा इष्टस्थान गंगाजल में होता। आप चाहें उसे ईसा कहें या कृष्ण मुझे कोई सरोकार नहीं"। राधाकृष्णन के अनुसार महात्मा गांधी का उत्तर वही उत्तर है जिसकी एक हिंदू से आशा की जा सकती है (राधाकृष्णन ओ मेले द्वारा सम्पादित माइन इण्डिया एण्ड दि वेस्ट में पृष्ठ 348)।

इसाइयत के सिद्धांतों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जितना समावेश किया गया, उतना किमी अथ धर्म में नहीं हुआ। महंत के अनुसार ईसा की शिक्षाओं को जितना हिंदुओं ने सराहा उतना मुसलमानों ने नहीं सराहा¹। किंतु, हिन्दुत्व में इसाई राक्षता (Christian Dogmas) का निबचन करके अपनाया गया। हिन्दुत्व एक सतन रूपांतरण प्रक्रिया रहा है। इसाइयत के प्रभाव ने इसी रूपांतरण प्रक्रिया का प्राप्ताहित किया। पश्चिम के माथ-माथ, इसाइयत के मघात के फलस्वरूप, हिंदुत्व में नारी शिक्षा पर जोर दिया गया जाति प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चला, युक्तियुक्त विचारधारा फूटी अस्वस्थ और जादिवामियों को आदरपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के आन्दोलन और प्रयास हुए तथा हिंदुत्व का उसी प्रकार के सामाजिक मजहबी सम्प्रदायों में बाधन का प्रयास किया गया जसा कि इसाइयत में है। इमादमात के मघात से निराकारी एकेश्वरवाद का एक बार फिर प्राप्ताहित मिला। ब्रह्ममंज और प्राथना मंज और आयसमाज उसी प्रकार से निराकार एकेश्वरवादी सम्प्रदायों के रूप में आय जिस प्रकार इसाइयत के सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों को, मध्यकालीन भारत की परम्परा में, पथ न कह कर समाज की सना दी गई जो इसाइयत के मजहबी संगठन का प्रभाव है। आयसमाज मंदिर और ब्रह्ममंज के प्राथना मंदिर हिंदुत्व के आवागमन में प्रोटेस्टेंट चर्च की प्रतिवृत्ति से लगते हैं। इसाइयत में धर्मनिरपेक्ष और धर्मसापेक्ष में अंतर किया जाता है। इस कारण, इसाइयत के प्रभाव से हिंदुत्व में भी धर्मनिरपेक्षता तथा धर्मसापेक्षता की समस्या उत्पन्न हुई। इस्लाम और इसाइयत के सम्मिलित सघात ने हिंदू राष्ट्रवादिता का जन्म दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदू समाज धर्मनिरपेक्ष तथा धर्मसापेक्ष राष्ट्रवादिता के प्रवाहों में बंट गया। इसाई मिशनरियां ने हिंदुत्व के दार्शनिक आधारों की विरुद्ध ही आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य विषय रहे हैं हिंदू कल्पाचार ब्रह्मगवा अवतारवाद और हिंदू की बहुमुखापमिता। इस आलोचना के फलस्वरूप हिंदुत्व में कल्पाचार का सरल बनाने पर जोर दिया गया ब्रह्मण विराधी आन्दोलन चला और पुरातनवाद की आलोचना की जान लगी। ब्रह्ममंज और आयसमाज में कल्पा (Pitfalls) का सरल और सुनिश्चित बनाने पर जोर दिया गया और एक मोमा तक उमम सफरता भी मिली। आयसमाज के द्वारा पहली बार यह कार्योचित किया गया कि पौराणिक काल किमी भी जाति के सम्बन्ध द्वारा से न किया जा सकता है बल्कि कि उस पौराणिक-काल की विधि जाती है।

राधाकृष्णन ने लिखा है कि पश्चिम के प्रभाव से हिंदुत्व में अभिन्न विचार धाराओं के माथ प्रगस्त हुए उसके मानविक गतिविधि का क्षेत्र और भी बड़ा और हिंदुत्व में सावभौमिक विचारों-मुक्तता बनी। राज्य-सरण से विहीन होन से हिंदुत्व

अपनी शक्ति सम्पन्नता और सुरक्षा के लिए अपने में निहित सत्य तथा सनातन सामाजिक संरचना पर आधारित होना पड़ा। जसाकि इस्लाम के सघात से हुआ था, पश्चिम के सघात से भी, हिंदुत्व में जाति प्रथा को सुरक्षावादी व्यवस्था के रूप में अपनाया गया। हिंदुत्व में, प्राचीन के प्रति शत्रुांशु दृष्टिकोण विकसित हुआ तो अर्वाचीन के प्रति निवृत्तात्मक और शान्तात्मक दृष्टिकोण। इसी कारण, पश्चिम के सघात में, हिंदुत्व की गत्यात्मकता, प्राचीन और अर्वाचीन के समन्वय की गत्यात्मकता है। पश्चिम के सघात के प्रभाव में हिंदुत्व के आधारभूत तत्वों को सांख्यिक विचार के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया जिसका प्रमाण है गुणधर्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के रूप में, जाति व्यवस्था को सुयुक्तिपूर्व सिद्ध करके, उस संसारव्यापी स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करना।

जसाकि तन्त्रसमाज आयसमाज और प्रायनासमाज के विकास से स्पष्ट है पश्चिम के सघात के प्रभाव में, हिंदुत्व को एक ऐसे मजहब का रूप देने का प्रयास किया गया, जिसका आधार, इसाईयत की भांति, कुछ आचार नियमों के माध्यम से, एक सामाजिक धार्मिक सिद्धांत हो। चिन्तु ये प्रयास सफल न सके। हिंदुत्व का सामाजिक-धार्मिक सिद्धांत तभी लाने के साथ-साथ एक आचारी मजहब (Ethical Religion) बनाने की मांग और प्रयास अब भी जारी है। हिंदुत्व किसी एक ऐसे मजहब का रूप ले सकेगा या नहीं, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य है कि किसी एक शास्त्र के समर्थन के लिए सत्य के आधार पर, एक आचारी मजहब का रूप लेना हिंदुत्व के स्वभाव के प्रतिकूल है। पर साथ ही साथ, हिंदुत्व के आदर्श और व्यवहार में अंतर रहा है। हिंदुत्व में, एक ओर समदर्शी का आदर्श रहा है तो, दूसरी ओर, जातिगत ऊँच नीच के भेदभाव पर आधारित व्यवहार। जसाकि राधाकृष्णन ने लिखा है हिंदुत्व, राष्ट्र राज्य पर आधारित एक स्वस्थ नागरिक जीवन यापन को ढालने में असफल रहा है। हिंदुत्व की यही कमजोरियाँ इस्लाम, इसाईयत और पश्चिमी सभ्यता से मिलने वाली चुनौतियों का आधार रही हैं। हिंदुत्व की ये कमजोरियाँ अप्राचीन नहीं प्राचीन हैं। हिंदुत्व की वृद्धि और विकास में इन्हीं कमजोरियों को समयानुसार दूर करने का प्रयास है। यही कारण है कि इसाईयत और पश्चिम के सघात से, हिंदुत्व में नवनिर्माण की जिन समस्याओं और प्रक्रियाओं का जन्म हुआ है, हिंदुत्व उनसे प्रति सजग हुआ, जिसके फलस्वरूप हिंदुत्व में परिवर्तन के स्थान पर पुनरुत्थान हो अधिक हुआ है।

इसाईयत के सघात से हिंदुत्व को इस प्रश्न का सामना करना पड़ा कि आखिर हिंदू धर्म और हिंदुत्व है क्या? न तो हिंदुत्व के दार्शनिक स्तर समान रहे हैं और न व्यावहारिक स्तर। हिंदुत्व के सामाजिक अधिक आधारों का निरूपित करने वाले धर्मशास्त्र भी एकमत नहीं हैं। दार्शनिक हिंदुत्व पर आधारित व्यवहार तथा प्रथाएँ और आदिवासी प्रथाएँ भारतीय समाज की दो सीमाएँ रही हैं और उनके

बीच में चलने वाली उत्तरोत्तर हिंदूकरण की प्रक्रिया के कारण जातियाँ और गण-जातियों के रूप में अनेक समूह हैं जिनमें हिंदू विश्वास और प्रथाओं का सम्बन्ध हुआ है और हाँ रहा है जिसके कारण ये सभी एक ऊँचगामी सामाजिक सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया में रह रहे हैं। हिंदूकरण की यह प्रक्रिया अभी सुगठित नहीं पायी थी कि बुद्धवादी सुधार आन्दोलन ने उसे एक द्विभाजक विचार में बाँध दिया। इस द्विभाजक विचार का जो सम्बन्ध हो रहा था कि उसे इस्लाम ने ज़ब्त कर लिया और इस्लाम के धर्म के से हिंदुत्व अभी सम्भव में पाया था कि इसाइयत के ज़मावात ने उस ज़ब्त लिया। इन सभी मताओं का परिणाम यह हुआ कि यह प्रश्न किया जाना लगा कि हिंदुत्व है क्या? इसी मिशनरियों ने सदैव हिंदू समाज को निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी हिंदुओं में विभाजित किया और निम्नवर्णी हिंदुओं को एक अलग सामाजिक समूह माना। उसी प्रकार हिंदू-समाज के सीमावर्ती समाज, आदिवासी समाज को भी उन्होंने हिंदू समाज से अलग करने की कोशिश की। अतः इसाइयत के संपात में हिंदुत्व के सामने एकीकरण की समस्या आई। बौद्धिक स्तर पर इसी समस्या ने हिंदुत्व को पुनः परिभाषित करने की समस्या का रूप दिया। यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि आर्यसमाज के रूप में, हिंदुत्व ने इस्लाम और इसाइयत के मिशनरीपन का अपनाई की कोशिश की। दूसरी ओर हिंदुत्व क्या है यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न बन गया। इस प्रश्न के उत्तर दो रूपों में दिए जा रहे हैं—एक, धर्मशास्त्र में निहित हिंदुत्व का निवचन करने और दूसरा सामाजिक मानवशास्त्र की परम्परा में हिंदू प्रथाओं का निरीक्षणार्थक विश्लेषण करने¹।

इस्लाम की भाँति, भारत में इसाइयत का प्रवेश भी उसी सामाजिक स्तरों और प्रदेशों में हुआ जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया अपूर्ण रही है। उच्चवर्णी जातियों के सामाजिक स्तर की अपेक्षा निम्नवर्णी जातियों के सामाजिक स्तर में ही इसाइयत का अधिक प्रसार हुआ है। जिन प्रदेशों और स्थानों में निम्नवर्णी जातियाँ और आदिवासियों की संख्या अधिक रही है उसी प्रदेशों और स्थानों में इसाइयत का अधिकतम प्रवेश हुआ है। आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, जाध, मद्रास और केरल में

1. पहली अध्ययन प्रणाली में किए गए अध्ययनों में प्रमुख हैं वे० एम० क्वाट्रिया द्वारा रचित हिंदू मिनिंगिप स्ट्रक्चर, मरिज एण्ड फमिली इन इण्डिया पी० एच० प्रभ द्वारा रचित हिंदू सोशल ऑरगनाइजेशन और हरीदत्त वेदालकार द्वारा रचित हिंदू परिवार भोमासा। दूसरी परम्परा के प्रमुख अध्ययन हैं एम० एन० श्रीनिवास द्वारा रचित रिलीजन एण्ड सोसाइटी इन इण्डिया, ललिता प्रसाद विद्यार्थी द्वारा रचित सक्सेड कम्प्लेक्स आफ हिंदू गया। इरावती कर्वे में इन दोनों प्रणालियों का सम्बन्ध हुआ है जो उनकी पुस्तक हिंदू सोसाइटी से स्पष्ट है।

इसाइयों का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहाँ और जिस स्तर पर हिंदुत्व का दार्शनिक-सामाजिक आधार मगठित था वहाँ इसाइयत को प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भाँति, इसाइयत का भी वही प्रवेश मिला जहाँ हिंदुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नहीं हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुआ था तो वह कमजोर थी।

भारत में इसाइयत की अनेक कमजोरियाँ और कठिनाइयाँ रही हैं जिनके कारण, भारत में, इसाइयत का उनका प्रावचपुष्प और यापक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि भारत के बाहर अथ वेना में पड़ा है। इसाई मिशनरों योरोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक रूढ़ि के रूप में आए और, इसकारण न तो उन्हें हिंदुओं में जनप्रियता मिली और न मुसलमानों में। इसाई मिशनरियों ने अथ धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखाने का प्रयास किया कि इसाई धर्म अथ धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसाइयत की पृष्ठभूमि और उससे प्रादुर्भूत असंतोष से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह अमहनीय था। अथ धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिंदुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योंकि हिंदुत्व के लिए धर्म के नाम एक नहीं अनेक हैं। यही कारण है कि इस्लाम में इसाइयत का दूर रक्ता गया और हिंदुत्व में उसे वहाँ तक अपनाया गया जहाँ तक जीवन के स्वस्थ समर्थन की माँग थी। इसाइयत का केवल एक शाश्वत सत्य पर जोर देना, ईसा को अमर स्वयं मानना इसाई मिशनरियों का एक नौकरगाही परम्परा में मगठित होना मिशनरियों द्वारा अथ धर्मों की विदा और इसाई मिशनरियों की सांसारिकता व्यक्तित्वों की धर्मप्राण हिंदुओं का कभी नहीं भाये।

हिंदू के लिए धर्म और दान का अर्थ है आत्मज्ञान किन्तु इसाइयत एक धर्मविद्या के रूप में, सांसारिक भावों और अनुभूतियों पर आधारित है। अतः हिंदू की उन शाश्वत जिज्ञासाओं की पूर्ति इसाइयत से नहीं हो पाई। समाज में व्यक्ति विषय तथा उसके द्वारा निर्देशित आचारी नियमों पर आधारित है न कि जीवन की शाश्वत समस्याओं पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांतों पर। अनेक विद्वानों पर आधारित मतभेदों के असामञ्जस्य में सामञ्जस्य ढूँढना और यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य को सत् करने का संस्कार परम्परागत हिंदू आदर्श के सम्मुख, यह इसाई आदर्श कि संगठन में अत्यधिक सत्यानुभव

- 1 यह सम्भव है कि आज मारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बड़ा अंग इसाइयत का धरण कर चुकता यदि भारत में जान वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भाँति अपना जीवन डाल सकते। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी मसालों की जो दशा रही है उसके कारण अनेक भारतीयों ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—भेदेव

या एक ही मांग है कहा तक ठहर सकता है ? सम्भवतः इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि ससार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिंदुत्व में अलौकिक सत्ता के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अतः, जहाँ मानव मस्तिष्क ने दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहाँ उस धर्म प्रणाली का महत्व स्वतः समझा जा सकता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव को ही अंतिम मान कर दूसरों को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है।

मैहड (Mayhew) के अनुसार हिंदू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सटिण्डू दृष्टिकोण जिसमें सिद्धांतों (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक घमटाप निहित है, हिंदू सिद्धांतों की अस्पष्टता और हिंदू सत्ताओं की स्पष्ट सुनिश्चिता के कारण, हिंदू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उस आत्मज्ञान पर लगे हैं। हिंदू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धांत से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिंदुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केन्द्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूरक-निधारित उच्चाच्च परम्परा है—हिंदू विचार गत्यात्मक और लचीला है और इस कारण आगमन प्रतिपादकों सहित हुए हिंदू विचार मरचना अभूषण बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण हिंदुत्व ने तो अपने ढंग के इसाईयत का वर्ण किया किन्तु इसाईयत भारतीयता का वर्णन नहीं कर सकी। मैहड (Mayhew) के ही अनुसार अभी तक भारत में जब इसाईयत का कोई ऐसा भारतीय निवचन उस प्रकार नहीं कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लटिन फ्रांसीसी और अंग्रेजी चर्चों ने इसाईयत का अलग-अलग निवचन करके इसाईयत को प्रभावित किया है। हिंदू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाईयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मैहड (Mayhew) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिंदुत्व की कमजोरियाँ ही इसाईयत के सघात में उसकी सहजोरियाँ सिद्ध हुईं। हिंदू विचार का बहुमुखीपन यदि एक ओर उसकी आलोचना का आधार बनाता, दूसरी ओर उसकी सक्षमता का कारक भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाईयत ने हिंदुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाईयत का भी अपने पक्ष में खड़ा किया। चूंकि निम्न जातियाँ इसाईयत की ओर उन्मुख हुईं उच्च जाति के लोग इसाईयत से विमुख हो नहीं पाए वरन् निम्नजातियों का हिंदूकरण करने उनमें जाति-संगठन का इतना मजबूत बना दिया कि इसाईयत उनमें भी प्रवेश नहीं कर पाई^१। इस्लाम की भांति इसाईयत का भी

१. आर्य समाज आंदोलन के द्वारा उच्चवर्णों हिंदुओं ने निम्नवर्णों हिंदुओं में धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिंदुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

इसाइयों का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहाँ और जिस स्तर पर हिन्दुत्व का दार्शनिक-सामाजिक आधार संगठित था वहाँ इसाइयत का प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भाँति, इसाइयत का भी वही प्रवेश मिला जहाँ हिन्दुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नहीं हुई थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी।

भारत में इसाइयत की अनक कमजोरियाँ और कठिनाइयाँ रही हैं जिनके कारण भारत में इसाइयत का उतना प्रान्वयपूर्ण और यापक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि भारत के बाहर अथवा दक्षिण में पड़ा है। इसाई मिशनरी योरोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक रूढ़ि का रूप में आये और, इसकारण न तो वह हिन्दुओं में जनप्रियता मिली और न मुसलमानों में। इसाई मिशनरियों ने अथवा धर्मों की कटु आलोचना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया कि इसाई धर्म अथवा धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसाइयत की पट्टभूमि और उससे प्रादुर्भूत असंतोष से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था। अथवा धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिन्दुत्व की आधारभूत मान्यता के विरुद्ध था क्योंकि हिन्दुत्व के लिए धर्म के भाग एक नहीं जनक हैं। यही कारण है कि इस्लाम ने इसाइयत को दूर रख दिया गया और हिन्दुत्व में उस वहाँ तक अपनाया गया जहाँ तक जीवन के स्वस्थ समकाल की मांग थी। इसाइयत का केवल एक शास्त्र सत्य पर जोर देना इसाई धर्म के अमर त्रेकपुत्र मानना इसाई मिशनरियों का एक नीकरगाही परम्परा में संगठित होना मिशनरियों द्वारा अथवा धर्मों की निंदा और इसाई मिशनरियों की सांसारिकता यथार्थवादी धर्मप्राण हिन्दुओं का कभी नहीं भागे।

हिंदू के लिए धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मज्ञान किन्तु इसाइयत, एक धर्मविद्या के रूप में सांसारिक भावों और अनुभूतियों पर आधारित है। अतः हिंदू की उन शास्त्रित विज्ञानासाओं की पूर्ति इसाइयत से नहीं हो पाई। 'सांख्यिक' यथार्थ विज्ञाप तथा उसके द्वारा निर्देशित आचार्य नियमों पर आधारित है न कि जीवन की शास्त्रित समस्याओं पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांतों पर। अनेक विज्ञानों पर आधारित मतमता तथा व असामञ्जस्य में सामञ्जस्य बूझना और, यदि सामञ्जस्य न मिले तो असामञ्जस्य को सत्य करना—स परम्परागत हिंदू जादू के सम्मुख यह इसाई आदेश कि संगार में अलार्मिक सत्यानुभव

- 1 यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बड़ा अंश इसाइयत का वरण कर चुका है यदि भारत में जाने वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भाँति अपना जीवन डाल सकते हैं। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी संसार की जो दगा रही है उसके कारण अनेक भारतीयों ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—मेहेड

वा एक ही माग है, कहा तक ठहर सकता है ? सम्भवतः इसी परंपरा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि ससार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर हासिल की जा सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिंदुत्व में अलौकिक मत्ता के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अतः जहां मानव मस्तिष्क ने दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहां उस धर्म प्रणाली का महत्व स्वतः समाप्त हो जाता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक सत्यानुभव की ही अंतिम मान्यता है, दूसरों को उसका अनुभव कराने का प्रयास निहित है।

मेहड (Mayhew) के अनुसार हिंदू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसमें सिद्धांत (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असंतोष निहित है, हिंदू सिद्धांतों की अस्पष्टता और हिंदू सत्याभा की स्पष्ट सुनिश्चितता के कारण, हिंदू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात कर लेने की हिंदू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धांत से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिंदुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केन्द्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूर्व-निर्धारित उच्चावच परम्परा है—हिंदू विचार मत्वात्मक और शून्यता है और इस कारण आघात प्रतिघात को सहते हुए हिंदू विचार संरचना अक्षुण्ण बनी रहती है। अपनी इसी विनोदता के कारण हिंदुत्व ने तो अपने ढंग के इसाईयत का वर्णन किया किंतु इसाईयत भारतीयता का वर्णन नहीं कर सकी। मेहड (Mayhew) के ही अनुसार, अभी तक भारत में यह इसाईयत का कोई ऐसा भारतीय निवचन उस प्रकार नहीं कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लैटिन फ्रांसीसी और अंग्रेजी लोगों ने इसाईयत का जलग अलग निवचन करके, इसाईयत को प्रभावित किया है। हिंदू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाईयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेहड (Mayhew) के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि हिंदुत्व की कमजोरियां ही इसाईयत के सघात में उसकी सहजोरियां सिद्ध हुईं। हिंदू विचार का बहुमुखीपन यानि, एक ओर, उसकी आलाचना का आधार बनाता दूसरी ओर, उसकी सबलता का कारण भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाईयत ने हिंदुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाईयत को भी अपने पक्ष में जकड़ लिया। चूंकि निम्न जातियां इसाईयत की ओर उन्मुख हुईं उच्च जाति के लोग इसाईयत से विमुख ही नहीं हो गए बरन् निम्नजातियों का हिंदूकरण करते-करते उन-जाति मगडन को इतना मजबूत बना दिया कि इसाईयत उनमें भी प्रवेश नहीं कर पाई¹। इस्लाम की भांति इसाईयत का भी

1 आधुनिक आंदोलनों के द्वारा उच्चवर्णों हिंदुओं ने निम्नवर्णों हिंदुओं में धार्मिक चेतना जगाई और उन्हें हिंदुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति

इसाइयो का अधिक पाया जाना इसका प्रमाण है। जहाँ और जिस स्तर पर हिंदुत्व का दार्शनिक सामाजिक आधार मगठित था वहाँ इसाइयत का प्रवेश न मिल सका। इस्लाम की भाँति, इसाइयत का भी वही प्रवेश मिला जहाँ हिंदुत्व की धार्मिक चेतना अस्पष्ट थी और जहाँ हिंदूकरण की प्रक्रिया या तो प्रारम्भ ही नहीं हुयी थी या यदि प्रारम्भ भी हुई थी तो वह कमजोर थी।

भारत में इसाइयत की अनेक कमजोरियाँ और कठिनाइयाँ रही हैं जिनके कारण, भारत में इसाइयत का उतना प्राप्तिपूर्ण और व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि भारत के बाहर अथवा देश में पड़ा है। इसाई मिशनरी यारोपीय साम्राज्यवाद की धार्मिक रूढ़ि का रूप में आए और, इसकारण न तो उन्हें हिंदुओं में जनप्रियता मिली और न मुसलमानों में। इसाई मिशनरियों ने अथवा धर्मों की बहुत आलोचना करके यह दिखाने का प्रयास किया कि इस ई धर्म अथवा धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इसाइयत की पट्टभूमि और उससे प्राप्त भूत अस्तित्व से उत्पन्न इस्लाम जैसे राष्ट्रवादी मजहब के लिए यह असहनीय था। अथवा धर्मों की अपेक्षा केवल एक ही धर्म की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना हिंदुत्व की आधारभूत भावना के विरुद्ध था क्योंकि हिंदुत्व के लिए धर्म के माग एक नहीं अनन्य हैं। यही कारण है कि इस्लाम में इसाइयत को दूर रखना और हिंदुत्व में उस वहाँ तक अपनाया गया जहाँ तक जीवन के स्वस्थ समर्थन की माग थी। इसाइयत का केवल एक ग्राह्यत्व सत्य पर जोर देना इसाई धर्म के अमर तत्व मानना इसाई मिशनरियों का एक नौकराही परम्परा में मगठित होना मिशनरियों द्वारा अथवा धर्मों की निंदा और इसाई मिशनरियों की सांसारिकता व्यक्तिगत धर्मप्राप्ति हिंदुओं को कभी नहीं भायी।

हिंदू के लिए धर्म और दर्शन का उद्देश्य है आत्मदान किंतु इसाइयत एक धर्मविद्या के रूप में सांसारिक भावों और जनभूतिधा पर आधारित है। अतः हिंदू की उन दार्शनिक जिज्ञासाओं की पूर्ति इसाइयत से नहीं हो पाई। इसाइयत व्यक्ति विचार तथा उसके द्वारा निर्देशित आचारी नियमों पर आधारित है न कि जीवन की सादृश्य समस्याओं पर प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांतों पर। अनेक विश्वासों पर आधारित मतमतांतरों के असामंजस्य में सामंजस्यपूर्ण और यन्त्रि सामंजस्य न मिले तो असामंजस्य का स्तन करना स्व परम्परागत हिंदू आदर्श के सम्मुख यह इसाई धार्मिक सिद्धांत कि सगार में भौतिक सत्यानभव

1 यह सम्भव है कि आज सारा भारत नहीं तो कम से कम उसका एक बड़ा अंश इसाइयत का वरण कर चुकता यदि भारत में जान वाले इसाई अपने प्रभु ईसा मसीह की भाँति अपना जीवन डाल सकते। यह निश्चित है कि पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी संसार की जो बसा रही है उससे कारण अनेक भारतीयों ने ईसा के नाम में इसाइयत को ठुकराया है—मेहेर

का एक ही माग है, कदा तक ठहर सकता है ? सम्भवतः इसी परम्परा से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि संसार की धार्मिक एकता धार्मिक सिद्धांतों के आधार पर हो सकती है न कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा किसी विशेष स्थान और काल में निर्देशित जीवन-यापन के नियमों से। हिंदुत्व में अलौकिक सत्य के अनुभव का माध्यम है विचार और दर्शन। अतः जहाँ मानव मस्तिष्क न दर्शन के आधार पर अलौकिक सत्य के अनुभव का प्रयास किया है वहाँ उस धर्म प्रणाली का मूल्य स्वतः समाप्त हो जाता है जिसमें किसी व्यक्ति विशेष के अलौकिक अनुभव का ही अंतिम मान कर दूसरा को उसका अनुभव कराने का प्रयास निरर्थक है।

मेहड (Mabehn) के अनुसार हिंदू मस्तिष्क की परम्परानिष्ठा सहिष्णु दृष्टिकोण जिसमें सद्धाता (Dogmas) के विरुद्ध स्वाभाविक असंतोष निहित है हिंदू सिद्धांतों की अस्पष्टता और हिंदू संस्थाओं की स्पष्ट सुनिश्चिता के कारण हिंदू विचार आक्रमण के परे हैं। समयानुसार जो आवश्यक हो उसे आत्मसात करने की हिंदू मस्तिष्क की क्षमता के कारण वह किसी भी विरोधी अथवा अत्यधिक सुनिश्चित विचार अथवा सिद्धांत से अपनी रक्षा करने में सफल होता है। हिंदुत्व की शक्ति किसी एक विचार में केंद्रित नहीं है और न उसमें कोई विचारों की पूर्व निर्धारित उच्चाच्च परम्परा है—हिंदू विचार मत्प्राप्तक और लचीला है और इस कारण आगत प्रतिघात को सहते हुए हिंदू विचार संरचना अभुष्य बनी रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण, हिंदुत्व न तो अपने ढंग के इसाईयत का वर्णन किया किन्तु इसाईयत भारतीयता का वर्णन न कर सकी। मेहड (Mayhew) के ही अनुसार, अभी तक भारत में चर्च इसाईयत का कोई ऐसा भारतीय निवचन उस प्रकार नहीं कर सका है जिस प्रकार यूनानी, लैटिन फ्रांसीसी और अंग्रेजी चर्चों में इसाईयत का अलग-अलग निवचन करके इसाईयत को प्रभावित किया है। हिंदू और मुस्लिम विचार पर भारतीय इसाईयत का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है।

मेहड (Mabehn) के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि हिंदुत्व की कमजोरियाँ ही इसाईयत के महात में उसकी सहजोरियाँ सिद्ध हुयीं। हिंदू विचार का बहुमुखीपन यदि, एक ओर, उसकी आलोचना का आधार बना ला, दूसरी ओर, उसकी सफलता का कारण भी। जिस जाति प्रथा के आधार पर इसाईयत ने हिंदुत्व की आलोचना की उसी जाति प्रथा ने इसाईयत को भी अपने पजे मजबूत किया। चूंकि निम्न जातियों इसाईयत की ओर उन्मुख हुयीं उच्च जाति के लोग इसाईयत से विमुख हो नही जा गये वरन् निम्नजातियों का हिंदूकरण करके उनमें जाति-भेद का इतना मजबूत बना दिया कि इसाईयत उनमें भी प्रवेश न कर पाई¹। इस्लाम की शक्ति, इसाईयत की भी

1 आपसमाज आन्दोलन के द्वारा उच्चवर्णी हिंदुओं ने निम्नवर्णी हिंदुओं में धार्मिक जेना जगाई और उन्हें हिंदुत्व के समीप लाए तथा उनमें यह

भारत में बदलना पड़ा और किसी सीमा तक उसके मिशनरीपन को चुनौती भी मिली। पुतगाली मिशन के प्रसिद्ध मिशनरी फ्रांसिज जेवियर ने, जिसने पुतगाल के राजा का यह सलाह दी थी कि वह भारत में पुतगाल के शासक की योग्यता इस आधार पर निर्धारित कर कि किस शासक ने कितने इसाइ बनाए हैं, अतः यह कहा कि उस देश में तो ईसा की गरण में जाने के उपदेश को लोग मृत्यु की गरण में जाने का उपदेश मानते हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी मिशनरी एबे डुवाय ने लिखा है, मैं आसू तो बहुत बहाए, बिन्दु के नग पत्थरो पर गिरे हैं। आलोग इमाई हुआ, उनमें से दो तिहाई धर्म का छाड़ कर आनन मूलवत्त में वापस चले गये हैं उच्चवर्णी हिंदुओं पर हमारा कोई प्रभाव नहीं पड़ा है हिंदुओं का धर्म बदलना आसान नहीं है। इनके बीच में प्रचलित किसी भी रिवाज को छूते ही, सारी जनता विरोध में खड़ी हो जाती है¹।

इसाइयत के प्रभाव से हिंदू धर्म बदला तो नहीं, हा उसमें परिवर्तन अवश्य हुए। पश्चिम और इसाइयत के सम्मिलित सघात से ही हिंदुत्व में पहला धार्मिक-सामाजिक और, बाद में, सामाजिक धार्मिक नवजागृति की वह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है जो आज भी चल रही है इस्लाम इसाइयत के प्रभाव और पठभूमि में उत्पन्न हुआ था और यारोपीय परिस्थितियों में दोनों परस्पर विरोधी भी हो गए थे। अतः, इस्लाम भी इसाइयत से दूर ही रहा। हा पश्चिम के प्रभाव का इस्लाम न रोक सका। जिन प्रकार हिंदुत्व में पश्चिम के प्रभाव ने परम्परा और पश्चिम के समन्वय के प्रश्न को जन्म दिया, उसी प्रकार इस्लाम में भी हुआ। इस्लाम में, विशेषतः भारतीय इस्लाम में, अरबीवाद और धर्मनिरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद की द्विभाजिता पश्चिम के सघात से ही निखरी थी आदिवासी सस्कृति में इसाइयत का प्रवेश सबसे अधिक हुआ है। इसमें आदिवासी सस्कृति में परिवर्तन भी आए हैं और समस्याएँ भी उठ खड़ी हुई हैं। इन परिवर्तनों और समस्याओं का वर्णन यथास्थान आगे दिया जायगा।

भारत में इसाइयत केवल धर्मपरिवर्तन का ही माध्यम नहीं रही है। एक ओर इसाइयत भारत के योरोपीयकरण का माध्यम रही है तो, दूसरी ओर भारत के पुनर्नयन, पुनः आविष्कार (Re Discovery) और ऊँचगामी सांस्कृतिक विकास में भी सहायक रही है। ईसाई मिशनरियों ने धर्मप्रचार के साथ साथ, समाज सेवा कार्य का भी प्रणयनाया। शिक्षा का प्रसार, शिक्षा के माध्यम से योरोपीय ज्ञान विज्ञान का प्रसार अस्पतालों के माध्यम से योरोपीय चिकित्सापद्धति का विकास और ग्राम-

भावना भर दी कि यदि वे साफ रहें, मांस मदिरा का सेवन त्याग दें और शिक्षा ग्रहण करें तो वे भी उतने उच्च और मायवर्ग हो सकते हैं, जितने कि उच्चवर्णी हिंदू हैं।

समाज सेवा इनके मुख्य सेवा काय रहे हैं। आदिमजाति सबक सघ और हरीजन-सबक-सघ की स्थापना मिशनरी काय के ही आधार पर की गयी थी। इन समाज-सेवा कार्यों के साथ साथ मिशनरियों ने भारत की प्रादेशिक भाषाओं के व्याकरण तयार किए, उनकी लिपियों का निर्धारित करके छापसान के यन्त्र बनाया और भारत के धर्मग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में किया। यह इसाईयत के ही चुनौतीमय सघात का प्रभाव था कि हिन्दुत्व की सामाजिक कमियाँ और शक्तियाँ निश्चर कर सतह पर आ गई और हिन्दुत्व में उनका पुनर्परीक्षण किया गया। यह पड़ते ही कहा जा चुका है कि इसाई मिशनरी अंग्रेजी प्रशासकों की अपेक्षा पारंपरिक गिना और अंग्रेजी भाषा के अधिक पक्ष में थे और उनका लाने में सहायक भी हुए। इस्लाम की अपेक्षा भारतीय इसाईयत अधिक राष्ट्रवादी रही है क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता को लेकर इस्लाम में आदिमजाति उठ खड़ी हुयी थी वह भारतीय इसाईयत में नहीं आयी किन्तु, फिर भी इसाईयत को लेकर भारत के सामने एक आधारभूत प्रश्न है और वह यह है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य में जहाँ का मुख्य धर्म मिशनरी धर्म नहीं है, उस मिशनरी धर्म को क्या और कहाँ तक अनुमति दी जाए जो विद्वानों पक्ष से और मूल्यवत् विचारियों द्वारा संचालित होता है? केवल धर्म प्रचार के लिए धर्म-प्रचार कहाँ तक जायज है?

७

राष्ट्रवादिता

राष्ट्रवादिता केवल राष्ट्रनिष्ठा या दानमस्ति नहीं है। राष्ट्रवादिता वह राष्ट्रनिष्ठा या दानमस्ति है जिसकी अभिव्यक्ति उग्र अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में होती है। राष्ट्रवादिता एक सामूहिक आक्रामक सामाजिक मानसिक प्रमय है जिसका आधार राष्ट्र और राष्ट्र राज्य में है। जहाँ जहाँ राष्ट्र का एकीकृत तथा राष्ट्र राज्य का महावत् बनाने के उपकरण तथा गतिधर्म अस्तित्व में आती रहते हैं, राष्ट्रवादिता का प्राप्ताह्न होता रहा है। मजहबी सम्प्रदायों (जैसे बुद्धवाद और इस्लाम) मानव इतिहास में राष्ट्र-निर्मात्री ऐतिहासिक गतिधर्म रही हैं। अरब, इराक, ईरान और पार्थिया में राष्ट्र हैं जिनका निर्माण इस्लामी सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण हुआ है। पार्थिया की वतमान प्रौद्योगिकीय सम्प्रदाय, जिसका विकास और प्रसार पार्थिया की सनाथी के बाद होने प्रारम्भ हुआ, इस्लाम से अधिक गतिधर्मानी राष्ट्र निर्मात्री गतिधर्म रही है। राष्ट्रवादिता का इस्लाम ने उतना प्राप्ताह्न नहीं किया जितना कि पार्थियाय सम्प्रदाय ने। रत्न, तार, डाक रत्निय सिनमा टेलीविजन और छापाखाना यन्त्र पातायात और सदावहन के प्रौद्योगिक उपकरणों से, एक भार, राष्ट्र का गन्त निस्तरा और,

दूसरी ओर, राष्ट्र राज्य अधिक संगठित और शक्तिशाली हुआ। यारापीय सम्यता में जिस आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ उसने राष्ट्रवादिता को प्रासाहित किया। योरोपीय आर्थिक व्यवस्था उड़े पैमाने के उत्पादन, लाभ और विप्रे पर आधारित है। यही कारण है कि योरोप में, जब वर्तमान सम्यता के प्रभाव के कारण, राष्ट्र-राज्य सबल होने लगे तब आर्थिक प्रतिद्वंद्विता ने राजनतिक प्रतिद्वंद्विता का रूप ले लिया। राजनतिक आर्थिक प्रतिद्वंद्विता ने एक ओर, यारापीय साम्राज्यवादिता को जन्म दिया और दूसरी ओर, राष्ट्रवादिता को प्रोत्साहित किया। यारापीय सम्यता के गम से उत्पन्न, पूजीवाद तथा साम्यवाद न, एक साथ, साम्राज्यवादिता तथा राष्ट्रवादिता का प्रासाहित किया। योरोपीय साम्राज्यवादिता चाहे वह पूजीवादी हो या साम्यवादी एक ओर, शोषणकारी तथा परिजीवी रही है और, दूसरी ओर अनेक राष्ट्रों को संगठित करने वाली तथा राष्ट्रवादिता का जन्म देने वाली। वर्तमान अफ्रीका में जन्म लेने वाले राष्ट्र इन्हीं परिस्थितियों की उत्पत्ति है। पाकिस्तान तथा भारत, चीन, जापान, मलेशिया, इण्डोनेशिया, बर्मा और मिस्र जैसे अनेक राष्ट्र योरोपीय सम्यता के सघात के प्रभाव से ही जन्म है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत पहले राष्ट्र नहीं था और न यहाँ राष्ट्रीय भावना पाई जाती थी। भारत तो उस समय एक स्वाभाविक भौगोलिक इकाई का रूप ले चुका था जब आज से लगभग सात कराड वर्ष पूर्व, टथीज नामक समुद्र में स्थान पर हिमालय अस्तित्व में आया था और दक्षिणी भारत अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के महाद्वीपों से अलग हो गया था। आय द्राविड संस्कृतियों के संगम के समय भारत विभिन्न जनपदों में बँटा हुआ था। लेकिन ज्यों ज्यों आर्यों का भारत में प्रसार हुआ, यहाँ का आदिवासी समाज विभू खलित होता गया और 'आसि' या 'मि' वृण्यता का विचार भी दृष्टर होता गया। आय द्राविड संस्कृतियों के सम वय से उत्पन्न संस्कृति (हिंदुत्व) ने भारत की भौगोलिक एकता में सांस्कृतिक एकता का फुट दिया। एक ओर, हिंदूकरण की प्रक्रिया के द्वारा आधारभूत सांस्कृतिक एकता को प्रोत्साहन मिलता रहा और दूसरी ओर उत्तरात्तर बढ़ती ज्यों सांस्कृतिक एकता को एक राष्ट्र राज्य में संगठित करने के प्रयास भी चलते रहे। आर्यों के उत्तरात्तर प्रसार और प्रभाव से विभू खलित आदिवासी संस्कृति की पृष्ठ भूमि में बुद्धवाद का विकास हुआ। बुद्धवाद यदि एक ओर महान पुनरुत्थानवादी आंदोलन था तो दूसरी ओर वह हिंदुत्व की भाँति, भारत के विजातीय समाज में एकता लाने का प्रयास भी था। बुद्धवाद और जनवर्ती सम्राट की धारणा का अभ्युदय भारत में लगभग साथ साथ होता है। प्रत्येक सम्राट ने विविजय और अश्वमेध यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण भारत पर एक राष्ट्र राज्य का स्थापित करने का प्रयास किया है। चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, चंद्रगुप्त विजयनादित्य, अलाउद्दीन खिलजी अकबर और औरंगजेब जैसे सम्राटों ने सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र राज्य में बाँधने

का प्रयास किया है। यद्यपि वे अपने प्रयासों में सफल न रह सके क्योंकि उस काल की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थी कि सम्पूर्ण भारत पर एक दीर्घकालिक, सबल केंद्रीय सत्ता स्थापित की जा सकती।

असोक ने बौद्धवाद को राज्य धर्म घोषित करके अपने साम्राज्य की नाव नात्मक एकता प्रदान करने की भाषिण अवश्य की लेकिन बौद्ध ब्राह्मण संप्रदाय में यह प्रयास सफल न हो सका। अकबर ने दीन ए इलाही के द्वारा भारत के राज्य-राष्ट्र का सुदृढ़ आधार प्रदान करने की कल्पना की। औरंगजेब के राज्यकाल में, मराठा अभ्युत्थान के साथ-साथ, राष्ट्रीय भावना से आतप्रान्त महाराष्ट्र धर्म की धारणा अस्तित्व में आई। सारे मुस्लिम काल में, एक ओर, इस्लाम की अरबीवादी विचारधारा प्रवाहित होती रही और, दूसरी ओर हिन्दू पुनरुत्थान से आतप्रान्त राष्ट्रीय विचारधारा। भारत में एक राष्ट्र राज्य का संगठन न तो हिन्दू-काल में हुआ और न मुस्लिम काल में क्योंकि कोई भी हिन्दू मन्त्राट या मुस्लिम शाहशाह कभी भी सम्पूर्ण भारत पर अधिकार न कर पाया। भारत में जो भी केंद्रीय सत्ता विकसित हुई वह विभिन्न क्षेत्रीय राज्यों को मिटाकर नहीं बरन उनका अपने अधीन करके विकसित हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी राज्यों में केंद्रीय सत्ता के होते हुए भी क्षेत्रीय शासक बने रहते थे जो मौका पाते ही स्वतंत्र हो जाते थे। यही कारण है कि भारत के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में भाषा धर्म विचार, आदर्श, अदाशा तथा सामाजिक संगठन के आधार पर ही आदान प्रदान और सम्बन्ध अधिक हुआ है। राष्ट्रीय भावना के आधार पर, विभिन्न सांस्कृतिक समूहों का आदान प्रदान तब तक नहीं हो सका जब तक कि अंग्रेजी राज और योरोपीय सभ्यता के सघात के फलस्वरूप भारत में राष्ट्र निर्माणकारी तथा राष्ट्रवादिता का जन्म देने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं हुई। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद ही, हिन्दुओं और मुसलमानों को राष्ट्रीयता के आधार पर संगठित होने की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में केवल अज्ञान ही पूरा हो पाई।

उपरान्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भारत को एक राष्ट्र राज्य का रूप देने तथा भारत में राष्ट्रवादिता के प्रादुर्भाव का एकमात्र श्रेय अंग्रेजों तथा अंग्रेजी राज्य का है। वास्तविकता यह है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ उन अनेक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा शक्तियों का प्रकटन हुआ जिनसे, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में, भारत एक राष्ट्र राज्य में ढला और यही एक जन-दोलन तथा जन विचार के रूप में राष्ट्रवादिता का विकास हुआ। यह प्रक्रिया अभी भी समाप्त नहीं हुई है और न पूरा ही हुई है। भारत में राष्ट्रवादिता का अभ्युदय और विकास तो युग-युग से चलने वाली एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसका पूरा समाहार होना अभी भी बाकी है। सन उन्नीसवीं सताब्दी से, जब से भारत स्वतंत्र हुआ है, इस प्रक्रिया ने एक नयी महत्ता तथा

गत्यात्मकता धारण कर ली है। भारत पर चीन के आक्रमण तथा भारत के प्रति पाकिस्तान की स्पर्धा ने इस प्रक्रिया की महत्ता और गत्यात्मकता को और भी तीव्र-तर कर दिया है। भावनात्मक एकीकरण भारत का आदर्श रहा है और आज भी उसी पर जोर दिया जाता है। अंग्रेजी राज की स्थापना के माध्यम से, भारत तथा योरोपीय सभ्यता में जा सघातित सम्बन्ध स्थापित हुआ और उससे जो ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा शक्तियाँ अस्तित्व में आई, उनसे भारत के भावनात्मक एकीकरण के विचार की सम्भावना और भी बलवती होकर एक सामाजिक शक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई।

एक मानसिक प्रमेय के रूप में, राष्ट्रवादिता एक और, राष्ट्र चेतना में निहित है और दूसरी ओर राष्ट्रीय गर्व (National Pride) में जिसका एक स्रोत स्वयं राष्ट्र चेतना है और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा। राष्ट्र एक वह स्वाभाविक, सिलसिलेदार तथा सस्पेंसी भौगोलिक क्षेत्र माना गया है, जिसके निवासियों में अपने प्रकार के प्रति चेतना (Consciousness of Kind) की भावना पाई जाती है जिनका एक समान सांस्कृतिक जीवन यापन होता है और जो एक राष्ट्र राज्य में संगठित रहते हैं। नये राष्ट्रों में पाकिस्तान और मलेशिया स्वाभाविक सस्पेंसी भौगोलिक क्षेत्र नहीं हैं जो इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण में सस्पेंसी भौगोलिक क्षेत्र उनका महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि राष्ट्र राज्य, राष्ट्र चेतना और समान सांस्कृतिक जीवन यापन। अमरीका जैसा राष्ट्र जहाँ सांस्कृतिक विजातीयता (Cultural Heterogeneity) पाई जाती है इस तथ्य का प्रमाण है कि राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्र राज्य तथा राष्ट्र चेतना का अस्तित्व ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्र राज्य ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारक माना जा सकता है क्योंकि राष्ट्र चेतना को विवक्षित करने में राष्ट्र राज्य एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्तमान परिस्थितियों में, राष्ट्र राज्य का सबल तथा स्थायी अस्तित्व उन अनक सदेववाहक तथा यातायात के उपकरणों पर निर्भर है जो योरोपीय सभ्यता को देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा योरोपीय सभ्यता की आर्थिक-व्यवस्था की देन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा की परिस्थितियों में, राष्ट्र चेतना राष्ट्रीय गर्व का रूप ले लेती है जिसे, एक और, विभिन्न राष्ट्रों की सांस्कृतिक ऐतिहासिकता से प्रेरणा मिलती रही है और, दूसरी ओर साम्राज्यवादी परिस्थितियों में साम्राज्यवादिता के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया और उनसे उत्पन्न होने वाली सामाजिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया से। भारत के एक राष्ट्र में ढलने तथा भारत में राष्ट्र चेतना और राष्ट्रीय गर्व के विकास में इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रक्रियाओं का समावेश हुआ है। भारत में राष्ट्रीयता का विकास पूँजीवादी साम्राज्यवादिता की परिस्थितियों में हुआ है, जिसके फलस्वरूप भारत की राष्ट्रवादिता में, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवादी आर्थिक शोषण, साम्राज्य

वादिता और याराप की मशीनीकृत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया और भारतीय सांस्कृतिक पुनरन्वयन की भावना का समावेश हुआ है।

जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया से भारतीय राष्ट्रवादिता का उदभव हुआ है, उसे पानिकर^१ ने महान पुनरन्वयन (The Great Pecoreny) की प्रक्रिया कहा है। राष्ट्रीय गव को जन्म देने वाली पुनरन्वयन की यह महान प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रही है। सन् अठारह सौ अठतीस में सी० ई० ट्रिबुलिन ने यह लिखा था—“हमारा साहित्य से परिचित होना व कारण, भारतीय नौजवान हमको विदेशी नहीं समझते। व हमारा महान पुराण की उतन ही उत्साह से चर्चा करते हैं, जितने उत्साह से हम लोग करते हैं। हमारे ही ढंग की शिक्षा पाये हुए, उन्हीं विषयों में रुचि रखते हुए जिनमें कि हम रखते हैं और उन्हीं उद्योगों का अनुसरण करते हुए जिनका कि हम करते हैं, हिन्दू नौजवान हिन्दू होने की अपेक्षा उसी प्रकार घबिष अश्वेज हो गए हैं जिस प्रकार राम साम्राज्य के प्रभाव से, इटली के निवासियों इटलियन बन किन्तु रामन अधिक हा गए थे। किन्तु, सन अठारह सौ बयासी में जसा कि मर गिब्रिट टेम्पल के एक उद्धरण में स्पष्ट है स्थिति कुछ और ही हो गई थी। टेम्पल के अनुसार व (भारतीय) किसी मजहबी या धर्म-निरपेक्ष सिद्धांत को केवल इसीलिए नहीं स्वीकार करते कि वह योरापीय सम्प्रदाय की देन है। व योरापीय तरीकों और याराप से असंग, जीवन के नये मापदण्डों की संज्ञा में लग हुए हैं। पश्चिम से प्रभावित होना पर भी उनकी दृष्टि उनकी दृष्टि परम्पराओं की ओर है। शेक्सपियर मिस्टन बेचन और लाक के अध्ययनों के बावजूद भी एशियाई नायकों, कवियों, महात्माओं और प्राचीन धर्मग्रन्थों के रचयिताओं के प्रति उनके आदरपूर्ण लगाव में कमी नहीं आती।

ज्या-ज्या भारत पर अंग्रेजी राज और योरोप का सघन बहा, स्पर्धों-यों यह विचार जोर पकड़ता गया कि भारत का याराप की प्रतिकृति नहीं होना है बल्कि उस अपनी प्रा-यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत में प्रेरणा लेते हुए आगे बढ़ना है। इसी विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रवादिता एक ओर राष्ट्रीय गव में तथा सांस्कृतिक पुनरन्वयन में परिणत हुई तो, दूसरी ओर, जो कुछ योरोपीय या उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया में। योरोप के प्रजातन्त्रवादी विचारों के आधार पर, भारत ने योराप की साम्राज्यवादी लिप्सा का चुनौती दी और अपने राष्ट्रीय गव तथा राष्ट्रवादिता में मानवतावादी विचारों तथा अन्तराष्ट्रीयता का समावेश किया। इसी तथा इसलामा मजहबों के मिशनरीपन से आका त हाने पर, भारत ने सभी धर्मों की समानता तथा अनेकान्तवादी विचारधारा को अपनाया जिसका प्रमाण भारत में ब्रह्मसमाजी विचारधारा का अम्युदय है। लेकिन साथ ही साथ, जसा

भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और सत्कृति

कि आयसमान के सम्मुख, विकास और प्रसार से स्पष्ट है, भारत ने इसाई और इस्लामी मजहबों के मिशनरीपन तथा उनकी प्रसारवादी कट्टरता को अपनाकर अपने उस रूप का पुनरुत्थान किया जो इन मजहबों से टकराते सत्ता था। सत्याग्रहप्रकाश सम्भवतः पहला ग्रन्थ है जिसमें अथ मजहबों का स्पष्टन मण्डन करके वदिन धर्म की सर्वोपरिता को स्थापित करने का प्रयास किया गया है। आयसमान का मुडि-आन्दा सन उसी राष्ट्रीय गव से प्ररित रहा है जो इसाई और इस्लामी मजहबों के आनान्त मिशनरीपन व कारण अस्तित्व में आया। योरोपीय व्यवस्था पूजीवादी, शोषक और साम्यवादी थी। भारत ने स्वदेशी आन्दोलन को अपनाया और योरोपीय वस्तुओं का बहिष्कार किया तथा पूजीवाद और साम्यवाद का एक साथ विरोध किया। गांधीवादी विचारधारा में उस आर्थिक व्यवस्था का निरूपण किया गया जो एक ओर, भारत की प्राचीन श्रमीण आर्थिक व्यवस्था का पुनरुत्थान थी और दूसरी ओर पूजीवादी व्यवस्था का पुनरुत्थान थी। योरोपीय सभ्यता भौतिकतावादी थी। भारत ने आध्यात्मिकतावादी विचारों को बल द दिया। योरोप की सत्तार-विजय का नारा लगाया। आध्यात्मिकता से सत्तार विजय के विचार का उदभव राजा राममोहन के बाल में ही हो चुका था लेकिन उसका चर्मोत्पल स्वामी विवेकानन्द में हुआ। भारतीय विचार से सत्तार विजय की कल्पना को स्वामी विवेकानन्द भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक आधार बनाने का प्रयास किया। इसप्रकार भारतीय राष्ट्रवादिता यदि, एक ओर, पुनरुत्थानवादी रही तो दूसरी ओर, उसमें निहित राष्ट्रीय गव इस भावना से प्रेरित रहा है कि भारत को योरोप से नहीं बरन् योरोप को भारत से बहुत कुछ सीखना है। अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का धीरे धीरे राजनैतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक

राजनैतिक

एकीकरण

एकीकरण और पुनरुत्थान दो ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रियायें हैं जिनसे भारतीय राष्ट्रवादिता की भावना निमित्त हुई है। भारत की एक राजनैतिक सगठन में लाने का विचार मुगलों ने पहले से ही रचा आ रहा था और मुगल काल में, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इस विचार को वास्तविक रूप देने का भरसक प्रयास होता रहा। लकिन भारत को राजनैतिक एकता में बांधने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। यह श्रेय वस्तुतः अंग्रेजों

- 1 सम्भवतः, भारत ही एक ऐसा देश है जो साम्यवाद तथा पूँजीवाद से एक साथ सघट और सहयोग कर रहा है। भारत में समाजवादी समान की स्थापना का आकांक्षी प्रक्रिया की उत्पत्ति है। भारत की योजनायें न तो साम्यवादी हैं और न पूँजीवादी यद्यपि उनमें पूँजीवादी तथा साम्यवादी विचारों और सिद्धांतों का समावेश और समन्वय अवश्य है।
- 2 देखिय विवेकानन्द के भाषण

को नहीं बरत या राघोष प्रोचोगिकी का है जिसकी सहायता से अंग्रेज भारत का एक राजनतिक मूत्र म बाधने में सफल हुए । उन अठारह सौ सत्तावन के बाद, जब इंग्लैण्ड की सम्राज्ञी ने भारत के सम्राटत्व का ग्रहण किया तो यह सत्ता और भी दन्तर हुई और उसके बाद में दिल्ली में हान वाले तीन दरबारों से भारत की राजनैतिक एकता का एक दन्तर अभिव्यक्ति और प्राप्ताह्न मिले । इंग्लैण्ड के एकछत्र सम्राट की प्रजा होने की भावना ने, भारतवासियों में एक राष्ट्र और एक राज्य के विचार को और भी दन्तर किया जा, आगे चलकर, राजनतिक स्वतन्त्रता-संग्राम के जनजादालन के रूप में घूट निकला ।

अपनी राजसत्ता को दृढ़तर बनाने के लिये अंग्रेजों ने जिन प्रौद्योगिक उपकरणों का प्रयोग किया उनसे भारत में अंग्रेजों की राजनतिक सत्ता दृढ़तर अवश्य हुई लेकिन साथ ही साथ उनसे भारत की राष्ट्रीय एकता भी बढ़ी । अंग्रेजों द्वारा लागू की हुई प्रशासन प्रणाली, रेल, तार, मठक डाक-व्यवस्था और रडियो से यदि, एक ओर अंग्रेजों की केंद्रीय राजनतिक सत्ता का दृढ़तर होने में सहायता मिली तो, दूसरी ओर, उनसे भारत की एकता को प्राप्ताह्न मिला । यातायात के साधनों से भारतीयों में सम्पर्क बढ़ा और सदस्यबहुन के साधनों से विचार विमर्श के लिये अवसर । छापाखाना और अखबार से भारतीयों में वचारिक सम्पर्क बना जिससे एकता की भावना को बराबर बल मिलता रहा । अंग्रेजों ने भारत को एक राज्य-सूत्र में बांधने के लिये मुगलों की ही परम्परा का अनुसरण किया जिसका प्रमाण है देशी रियासतें जिनका अंग्रेजों ने मुगलों की भांति कायम रक्खा । अंग्रेजी राज्य-काल में, भारत का लगभग एक तिहाई भाग देशी रियासतों और नरेशों के अधिकार में रहा है । जिस प्रकार, मुगलों के अधीनस्थ राजे मुगल सम्राट की अधीनता में राज्य करते थे, उसी प्रकार अंग्रेजी राज्यकाल के देशी नरेश अंग्रेजों की अधीनता में राज्य करते रहे और अंग्रेज सम्राट उनका उसी प्रकार पदों से सुशोभित करता तथा छत्रछाया प्रदान करता रहा जिस प्रकार मुगल सम्राट करता था । किन्तु, मुगलों और अंग्रेजों की राजनैतिक परम्पराओं में एक अंतर था । अंग्रेजी राज्य में यातायात रेल, तार, और मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था केंद्रीय सत्ता के हाथ में थी जिससे देशी नरेशों की स्वतन्त्रता केवल अछूत प्रशासन की ही स्वतन्त्रता रही । भारत का एक राजनतिक पक्ति में बाध रखने की अंग्रेजों की भावना और अंग्रेजों की सख्त सैनिक शक्ति के कारण देशी नरेशों पर अंग्रेजों का अधिक व्यापक प्रभाव था । देशी नरेशों के द्वारा देशी रियासतों में अच्छा प्रशासन लाने का उत्तरदायित्व अंग्रेजी सम्राट तथा उसकी सरकार का था । अंग्रेजी सरकार द्वारा कई देशी नरेशों का गद्दी से उतार देने के कारण जनता पर देशी नरेशों की जघम्या, अंग्रेजी सरकार की प्रभुता के विचार का प्रभाव रहा ।

प्रथम महायुद्ध के बाद, जब राजनतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन अंग्रेजों

भारत में समाजशास्त्र, प्रजाति और संस्कृति

भारत और देशी रियासतों में एक साथ चलने लगा तब अंग्रेज प्रशासकों को अनुभव हुआ कि भारत का एक दृढ़ राजनैतिक एकता में बाधना मूल थी। भारत की बढ़ती हुई राजनैतिक एकता का रोकने के लिए यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया कि देशी नरेशों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अंग्रेजी सम्राट से है न कि भारत की अंग्रेजी सरकार से। इसी अवस्था में अंग्रेज मानवशास्त्री, एक ओर, मछुतों को हिंदू समाज से अलग एक सामाजिक इकाई सिद्ध करने की ओर प्रयत्नशील हुए और, दूसरी ओर यह सिद्ध करने में कि भारत के आदिवासी हिंदुओं से भिन्न हैं उनकी एक अलग सत्ता है और उनकी समस्याएँ सारे भारत से अलग विनिष्ट समस्याएँ हैं जिसके लिये आदिवासी प्रथमकरण (Tribal Isolation) की नीति को शास्त्रीय तथा सहायक नामा पहनाने का प्रयास किया गया। भारत के बढ़त हुए एकीकरण को रोकने के लिये ही सन उन्नीस सौ पचीस के सविधान में आदिवासियों तथा मछुतों के कल्याण का उत्तरदायित्व सीधे गवर्नर और गवर्नर जनरल के अधिकार में रखता गया। लेकिन यह वधिष (Legal) तथा मानवशास्त्रीय सिद्धांत भारत के उस एकीकरण को न रोक सके जो अंग्रेजी राज की वैदेशीय सत्ता की स्थापना के बाद से, भारत में उत्पन्न हो चुका था। अंग्रेजों द्वारा स्थापित वैदेशीय सत्ता का प्रशासकीय, आर्थिक और मुद्राई (Fiscal) जाल इतना विस्तृत हो चुका था, और यातायात तथा संचारवहन के साधनों से भारतीय एकता इतनी बढ़ गई थी कि प्रयत्न करने पर भी अंग्रेज भारत को एक राष्ट्र में ढलाने और उसकी स्वदेशी स्वतंत्र राष्ट्र राज्य की स्थापना को न रोक सके।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित राजनैतिक एकता से ही भारत के राजनैतिक पुनर्रचनायन के आन्दोलन को प्रेरणा मिली। भारत एक राष्ट्र राज्य है इस विचार की व्यावहारिक अभिव्यक्ति सबसे पहले अंग्रेजों द्वारा स्थापित सबसे वैदेशीय राजसत्ता तथा राजनैतिक एकता के रूप में ही प्रत्यक्ष हुई। इसी राजसत्ता तथा राजनैतिक पुनर्रचनायन की कहानी है। अंग्रेजों के आगमन के बाद राष्ट्रवादिता की भावना से प्रेरित जिस स्वतंत्रता आन्दोलन का भारत में जन्म हुआ है उसके दो पहलू हैं—एक अठारह सौ सत्तावन के पहले का और दूसरा उसके बाद का। अठारह सौ सत्तावन के पहले का आन्दोलन सैनिक आन्दोलन था और अठारह सौ सत्तावन के बाद का सवधानिक सुधारों की मांग का आन्दोलन। भारत के स्वतंत्रता-सत्ता छिन भिन्न न होने पाय। भारत के राजनैतिक पुनर्रचनायन के पीछे जो राष्ट्रवादिता की भावना थी वह एक ओर, योरोप के राजनैतिक तथा राष्ट्रवादी प्रेरित थी और, दूसरी ओर अंग्रेजों की दासता से मुक्ति पाने की प्रेरणा से।

इस काल के याराप के राजनतिक विचार प्रजातन्त्रवादी तथा राष्ट्रवादी रह हैं। भारत में भी उन्ही विचारों का अपनाया गया और उन्ही यारोपीय संस्थाओं की भाग की गई जिनसे भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना हो सक। भारत में योरोपीय, विद्यपतया अग्रजी दग की राजनतिक संस्थाये विधि प्रणाली, राजनतिक दला का संगठन और संविधान, भारत के राजनतिक एकीकरण से उत्पन्न राष्ट्रवादिता से प्रेरित राजनतिक पुनरन्वयन की प्रक्रिया के परिणाम हैं।

आर्थिक एकीकरण तथा पुनरन्वयन की भांति अग्रजी राज्यकाल में भारत के आर्थिक एकीकरण तथा पुनरन्वयन से भी राष्ट्रवादिता को प्रारंभित मिल है। भारत में ज्या-ज्यो अग्रजी राज और उसकी केन्द्रीय सत्ता का विकास हुआ भारत इंग्लैंड के पूँजीवादी उद्योग तथा व्यापार का एक बड़ा बाजार बनता गया। सन्त ही उत्तर से स्वर सेन अटारह सौ आठ के बीच में भारत की प्रोद्योगिकी तथा यहाँ के उद्योग-धंधा का ह्रास हुआ। भारत में अग्रजी राज की स्थापना ह्रास के साथ-साथ, भारत याराप की पूँजीवादी-औद्योगिक व्यवस्था का एक भाग हो गया जिसमें भारत की औद्योगिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आधार ग्राम प्रणाली का आर्थिक महत्व समाप्त हो गया। भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था के दो आधार थे—एक ग्राम और दूसरा, जाति। ग्राम की आर्थिक महत्ता समाप्त होने के बाद, जाति-व्यवस्था में निहित अचरित्र्यता के कारण भारत की औद्योगिक व्यवस्था का नई परिस्थितिया से संतुलन न स्थापित हो पाया जिससे एक बार भारत के उद्योग धंधा का ह्रास हुआ और दूसरी बार भारत की निधनता बढ़ी। उधर, यातायात तथा संचारबहन के साधनों से भारत के विभिन्न भागों में व्यापारिक सम्पर्क बढ़ा जिससे, भारत की आर्थिक समस्याओं के प्रति भारत के व्यापारी वर्ग में चेतना तथा विचार विमर्श बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत की बढ़ती हुई निधनता के प्रति ध्यान आकषित हुआ उसके कारणों का विमर्श किया जाने लगा। दादा भाई नौरोजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत का निधनता के लिए अग्रजों की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का दोषी ठहराया।

आधुनिक भारत के अर्थ-शास्त्रियों की पहली पीढ़ी के लोग न इसी बात पर जोर दिया कि भारत की गरीबी का प्रधान कारण रहे हैं भारत में औद्योगिकरण का ह्रास तथा भारत से सस्ता बच्चा माल लेकर और उससे बनी हुई उपभाग की वस्तुओं की भागत ही में बेच कर मुनाफा कमान की अग्रजा की नीति। भारत का औद्योगिकरण इन दगाओं में एक राष्ट्रीय समस्या बन गई। भागत के अर्थ-शास्त्रियों ने इन बात पर जोर दिया कि भारत के पास यारोपीय दग के औद्योगिकरण के आधार उपलब्ध हैं जिनका उपयोग करके भारत के औद्योगिक स्तर का बढ़ाया जा सकता है और निधनता दूर की जा सकती है। लेकिन, यह तब तक

पूँजीवादी बग के स्वार्थों की रक्षा के लिये भारतीय कृषि तथा उद्योग का पुनरुत्थान राष्ट्रवादी आन्दोलन के दो मुख्य आधार बन गया। भारत के आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या जो योरोप, विश्वपतया इंग्लैंड की औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था के सघान और भारत के नये आर्थिक एकीकरण से उत्पन्न हुई थी राष्ट्रीय पुनरुत्थान का आधार बन गई। राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया जो अंग्रेजी राज्यकाल में प्रारम्भ हुई थी, आज भी चल रही है। यह इसी प्रक्रिया का प्रभाव है कि भारत का औद्योगीकरण और कृषि का नई व्यवस्था के अनुसार आर्थिक उद्धार राष्ट्रीय समस्याएँ मानी जाती है और आज भी राष्ट्रीय स्तर पर उनके समाधान का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत में नियाज का प्रयोग इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए किया जा रहा है।

भारत के राष्ट्रवादी आर्थिक पुनरुत्थान के दो मुख्य प्रेरणा स्रोत रहे हैं— एक, भारत का औद्योगिक तथा पूँजीवादी या साम्यवादी आर्थिक प्रणाली और दूसरी, भारत में आन्दोलन के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया से उत्पन्न पुनरुत्थानवादी विचार-धारा। भारत के पूँजीवादी बग के प्रभाव के अंतर्गत राष्ट्रवादी आन्दोलन में जहाँ, एक ओर स्वदेशी आन्दोलन का समावेश हुआ वहाँ दूसरी ओर भारत में योरोपीय बग के उद्योगों के लिए आर्थिक रक्षण (Economic Protection) की भी माँग हुई। दो महायुद्धों के बीच में, विदेशी सरकार का भी औद्योगीकृत भारत की सैनिक महत्ता का अनुभव हुआ जिससे भारत का औद्योगीकरण बढ़ा और भारत के आर्थिक पुनरुत्थान का समुत्थान हुआ। मन उन्नीसवीं सदी के अन्त में साम्यवादी राजनैतिकी की सफलता और उससे प्रतिक्रिया होने वाले कम के आर्थिक तथा राजनैतिक समुत्थान से, जहाँ भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को किसानों और मजदूरों का आन्दोलन बनाने की प्रेरणा मिली वहाँ भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में साम्यवादी विचारों का समावेश भी हुआ। लेकिन, अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन पक्षाध्व तथा साम्यवाद के उग्र धारणात्मक विरोध से बचा रहा क्योंकि भारत की ऐतिहासिक परिस्थिति उस ऐतिहासिक परिस्थिति में भिन्न थी जिसमें साम्यवाद का कमो राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप मिला था। भारत में स्वदेशी आन्दोलन के प्रसार के साथ साथ इंग्लैंड के अधःशास्त्रियों ने इस बात पर जोर देना प्रारम्भ किया कि भारत एक खेतिहर गामीण देश है। अतः भारत का उत्थान सत्ता और ग्राम व्यवस्था के पुनर्निर्माण में है। उपर, इसी धारा तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के आक्रामक प्रभावों तथा इंग्लैंड की राजनैतिक दामनता के कारण भारत में योगादीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जिस दो महायुद्धों की विभीषिका ने और भी तीव्र कर दिया।

अतः, भारत में यह विचार बनया कि योगादीय व्यवस्था मानव के लिए उत्थानकारी नहीं है जिसके फलस्वरूप भारत में, सांस्कृतिक-आर्थिक पुनरुत्थान की वह

प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसका चर्मोत्पन्न महात्मा गांधी के विचारों और कार्यों में हुआ। गांधी ने योरोपीय व्यवस्था का विरोध किया और भारत की परम्परागत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के पुनरुत्थान को राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारत के आर्थिक पुनरुत्थान का आधार बनाया। गांधी के आंदोलनकारी कार्यक्रम से, ग्राम तथा कृषक की समस्याओं की ओर राष्ट्र का ध्यान आकर्षित हुआ, राष्ट्रीय आंदोलन को दश-पापा जनान्दोलन का रूप मिला और राष्ट्रीय-गव की भावना की प्रोत्साहन मिला लेकिन उसमें भारत के आर्थिक पुनरुत्थान की वह ऐतिहासिक प्रक्रिया न रुक सकी जिसका श्रीगणेश अंग्रेजी राज और योरोपीय सघात से हो चुका था। यही कारण है कि भारत के स्वतंत्र होते ही गांधीवादी आर्थिक कार्यक्रम में विघटितता आ गई। योरोप में जमीनी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी का उत्पन्न औद्योगीकरण की आवश्यकतायें ही कुछ और और हैं। लेकिन, अंग्रेजी राज्यकाल में समन्वयकारी पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, उसका प्रभाव भारत की राष्ट्रवादिता पर बना रहा। चलन उद्योग धर्मों और योरोपीय ढंग के औद्योगीकरण तथा पूँजीवादी और साम्यवादी सामाजिक आर्थिक व्यवस्थाओं के आधारभूत सिद्धांतों का समाजवादी समाज की धारणा के द्वारा समन्वय करने की प्रवृत्ति और प्रेरणा स्वतंत्र भारत की आर्थिक राष्ट्रवादिता का आधारभूत स्वरूप हैं जिनका उदगम उसी समन्वयकारी पुनरुत्थान की राष्ट्रवादी प्रक्रिया में है जो अंग्रेजी राज्यकाल में अस्तित्व में आ गई थी। योरोप में बढ़ते हुए सघात के कारण जहाँ, एक ओर, समन्वयवादी विचार पनप रहा है वहाँ दूसरी ओर, आर्थिक पुनरुत्थान की राष्ट्रवादी विचारधारा में पूँजीवादी तथा साम्यवादी विभेद का वह वैचारिक सघात भी पनप रहा है जिसका प्रसरण योरोप में हुआ है।

अंग्रेजी राज्यकाल में भारत का सांस्कृतिक एकीकरण तथा पुनरुत्थान भारतीय राष्ट्रवादिता का तीसरा आधार रहा है। हिंदुत्व के आधारभूत सांस्कृतिक वैचारिक आधार जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है एकीकरण हिंदुत्व के प्रसार के साथ साथ, भारत के विजातीय समाज को सांस्कृतिक एकीकरण प्रदान करते रहे हैं। हिंदू संस्कृति में बनारस और गया जैसे तीर्थस्थान व गहरी केन्द्र रहे हैं जहाँ से हिंदुत्व की आधारभूत सांस्कृतिक अर्हता का प्रसरण होता रहा है। लेकिन हिंदुत्व में इतने विजातीय तत्वों का समन्वय होता रहा है कि, भारत में हिंदुत्व के बहुमुखी प्रसार के बावजूद भी क्षेत्रीय जातीय तथा गणजातीय भिन्नतायें बनी ही रहीं। अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले, प्रत्येक काल में विभिन्न राज्यों में बंट रहे थे वे कारण भारत की सांस्कृतिक भिन्नता बनी रही। जन तथा बौद्धिक हिंदुत्व से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी एकीकरण के स्वप्न पर, सांस्कृतिक भिन्नता के ही कारण बने। इस्लाम और हिंदुत्व के बीच में चलने वाली समन्वयकारी प्रक्रिया के बावजूद भी इस्लाम और उसके प्रभाव में उत्पन्न होने वाले या के कारण भी सांस्कृतिक भिन्नता को प्राप्ताहन

मिला। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इसाई मिशनरियां न सांस्कृतिक भिन्नता को ही अधिक प्रथम दिया। फ्रांसिस जेवियर ने दक्षिण के इसाईयों की प्रयासों में से हिंदू प्रभाव का हटाने का काम अंग्रेजी राज की स्थापना के बहुत पहले प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार भारत में अंग्रेजों का राज्य की स्थापना के पहले, यहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रही थीं कि जनता में मुद्रावाद, इस्लाम और इसाई धर्मों द्वारा उस सांस्कृतिक एकीकरण का बग़ल धक्का पहुँचता रहा जिसका धीरे-धीरे आर्य द्राविड नस्लतियाँ व समग्र सभ्यता, उत्तरात्तर विकसित हिंदूकरण की प्रक्रिया में हुआ था।

अंग्रेजों राज की स्थापना के समय भारत की सांस्कृतिक भिन्नता में अनेक भूत एकता अन्तर्ग थी, लेकिन उन एकता की चेतना अस्पष्ट तथा विकीर्ण थी। मुस्लिम राज्यकाल में हिन्दूकरण की प्रक्रिया लुप्त नहीं हुई थी हा, मंद अवस्था में थी। इस्लामी राज्यकाल में, इस्लाम के साथ समन्वय होने तथा इस्लाम के आध्यात्मिक सघात के कारण सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया एक ओर कई घाटा में प्रवृत्त हो उठी और दूसरी ओर सांस्कृतिक एकता की चेतना निश्चेष्ट होने के साथ साथ क्षीण हो गई। आधुनिक गणतन्त्र में भारत के चार कानों में चार मठा की स्थापना तथा अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिपादन करने वाले न सांस्कृतिक एकता का संचय करने का प्रयास किया। यह प्रयास सफल भी हुआ किन्तु इस्लामी सघात के सामने टिक न सका। मराठा अस्तित्व के साथ साथ महाराष्ट्र धर्म की धारणा के रूप में एक राष्ट्र, एक राज्य और एक सभ्यता की धारणा का अग्रगण्य अवयव हुआ लेकिन यूरोप के राजनैतिक तथा आर्थिक सघात के कारण यह धारणा सामाजिक रूप में तेज नहीं। जिस समय भारत में अंग्रेजों का राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ रहा था, उस समय, एक ओर हिन्दुत्व की अविवर्धन विभक्तियों, एक ओर बहुधर्म, 'मातृभक्त सवभूत' और 'पश्चिमा समर्पणा' जमी धारणाएँ थीं जो अग्रगण्य रूप से भावनात्मक एकता की प्रतीक थी तथा उन पर और भी दती थी और, दूसरी ओर भारतीय समाज हिंदू मुसलमान और आधुनिकीय समाजों में बँटा हुआ था। स्वयं हिंदू-समाज आपाव प्रान्तों की उपनस्त्रितियों और उपसंस्कृतियों विभिन्न जातियों में बँटी हुई थी। हिंदुत्व के वंचित आचार ही सांस्कृतिक एकता के एकमात्र आधार थे किन्तु उनका प्रति जनसाधारण की चेतना अस्पष्ट, विकीर्ण और निश्चेष्ट थी।

अंग्रेजों राज की स्थापना में एक नई ऐतिहासिक परिस्थिति प्रसिद्ध में आई। भारत के राजनैतिक तथा आर्थिक एकीकरण से, सामाजिक सांस्कृतिक एकीकरण के विचार का बल मिलना प्रारम्भ हुआ। यातायात के साधनों के विकास तथा गान्धी जी के सुरक्षा की स्थापना में हिन्दुओं का उन नगरीय लीग्समानों से सम्पर्क बना रहा, अत्यंत प्राचीन काल में हिंदू सांस्कृतिक अर्थों का प्रसरण होता आया

या। छापाखाना तथा प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, जनसाधारण उन धर्म ग्रंथों से परिवर्तित होन लग जा एन वग विसय तक ही सीमित थे। अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से यदि एक ओर, योरोपीय विचारों का प्रसार हुआ तो, दूसरी ओर, अंग्रेजी में अनुवादित प्राचीन ग्रंथों से अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों का भारत, विशेषतया हिंदुत्व की प्राचीनता उसके ज्ञान भण्डार और उसकी गरिमा का परिचय मिला। सर विलियम जोस मानियर विलियम्स और मक्समूलर जैसे विद्वानों के प्रयत्नों से संस्कृत भाषा प्राचीन साहित्य और संस्कृति का पुनर्जागर हुआ। इसी काल में अंग्रेज, योरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के प्रयत्नों से भारत के इतिहास का अध्ययन प्रारम्भ हुआ जिससे एक ओर भारत की ऐतिहासिकता प्रकाश में आई और, दूसरी ओर, भारत ने अपने को पुनः बूझ निकाला। ऐसी परिस्थिति में निःस्रावण हिंदुत्व में एक नयी चेतना और जागरण का किरण पड़ा। धर्मग्रंथों में निहित ज्ञान का प्रसार भारत का ऐतिहासिक प्राचीनता और यहां के प्राचीन साहित्य तथा कला की गरिमा के प्रकाश में आने के कारण हिंदुओं में राष्ट्रीय गौरव तथा सांस्कृतिक चेतना की भावना फैल निकली। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण एक नया परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें हिंदुओं का राष्ट्रीय गौरव और सांस्कृतिक चेतना की भावना को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से मुख्यतः नए अपने राजनतिक प्रभुत्व से अपदस्थ हुए जिसके कारण इस्लाम का प्रभुता का विचार भी घटपड़ गया। अंग्रेज केवल राजनतिक प्रभुता और आर्थिक शोषण का इच्छुक थे। उनका कोई राजधर्म न था। दूसरे, प्रारम्भ में वे मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे, जिसका दो कारण थे—एक, योरोप में ईसाइयत तथा इस्लाम का स्थापण सम्पन्न और सघन तथा दूसरा यह विचार कि मुसलमान अंग्रेजों के स्वाभाविक दुश्मन थे क्योंकि अंग्रेजों ने मुसलमानों का अपमान करके, उनसे भारत का राज्य छीना था। ऐसी दशा में लगभग पाँच सौ वर्षों के बाद अंग्रेजी राज्य में, हिंदुत्व को पुनः बड़े स्वतन्त्रता प्राप्त हुई जिसका फलस्वरूप हिंदुत्व को अन्य धर्मों के समक्ष समाज का अनुभव हुआ।

अंग्रेजी राज्यकाल में, एक ओर हिंदुत्व का स्वतन्त्रता मिली तो, दूसरी ओर उस पर, ईसाइयत तथा अंग्रेजी शिक्षा का मायम से योरोपीय सघात का प्रहार भी होन लगा। एक ओर विलियम जोस और मक्समूलर जैसे विद्वानों का हिंदु साहित्य और दर्शन की गरिमा का गुण गा रहे थे तो दूसरी ओर, ईसाई मिशनरी हिंदुत्व को गिरती उड़ा रहे थे। भवतारवाण, पूजा पाठ मूर्ति पूजा कमकाण्ड, छुआछन और जातिभेद इनका जागरण के मुख्य बंध थे। योरोप की व्यक्तिवादी, प्रजातन्त्रात्मक तथा धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के समक्ष, समुक्त परिवार तथा जाति जैसी समष्टिवादी संस्थाएँ प्राथमिकता (Primitiveness) का प्रतीक मानी जाती थी। ईसाई

मिश्रनरिया तथा राज्यसेवा में लगे अंग्रेज मानवशास्त्रियों¹ ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस बात पर ज़ोर देना प्रारम्भ किया कि भारत में तो एक मस्त्रुति है, न एक राष्ट्र और न एक समाज। आदिवासियों को एक अलग विजातीय साम्प्रतिक समूह माना गया, मुसलमानों का एक अलग सांस्कृतिक राष्ट्र-समूह और हिन्दुओं का एक ऐसा समूह जिसमें न तो सांस्कृतिक एकीकरण था, न सामाजिक। भारत के आदिवासी अलग अलग विविष्ट सांस्कृतिक समूहों में बँटे हुए हैं। इस उद्घाटन भावना के आधार पर, आदिवासियों के लिए पृथक्करण की नीति अपनाई गई। अंग्रेजों मिशनरियाँ तथा अंग्रेज प्रशासकों ने अलग जातियों को एक अलग सामाजिक इकाई माना। मुसलमानों को विविष्ट राजनैतिक अधिकार प्रदान किए गए।

अंग्रेजी राज के माध्यम से, योरोपीय सभ्यता तथा हिन्दुत्व में सम्पर्क की जो स्थिति आई वह इस प्रकार थी। एक ओर हिन्दुत्व की सांस्कृतिक साम्प्रतिक पराधीनता से मुक्ति हुई थी और दूसरी ओर उस पर मजहबी राष्ट्रवादिता (इसाइयो के) सांस्कृतिक तथा राजनैतिक प्रहार हो रहे थे। जैसा कि बलवत्ता के हिन्दू-वालेज के प्रारम्भिक इतिहास से स्पष्ट है, अंग्रेजी शासन के द्वारा जहाँ, एक ओर योरोपीय विचार फैल रहे थे वहाँ, दूसरी ओर, नवगठित लोगों की हिन्दुत्व पर न आस्था भी उठती जा रही थी। अंग्रेजों मिशनरी खुले आम हिन्दू देवताओं, प्रथाओं विचारा और पूजा पद्धतियों की आलोचना किया करते थे। भारत राजनैतिक तथा धार्मिक एकता का स्थापना के लक्ष्य था किन्तु उसी सामाजिक विजातीयता की तह में छिपी साम्प्रतिक एकता अब भी प्रच्छन्न थी। ऐसी दशा में, भारत में मस्त्रुतिकरण की अनेक प्रक्रियाएँ फूट निकलीं। इनमें सबसे प्रधान है हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की प्रक्रिया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से हिन्दुओं का धार्मिक स्वतन्त्रता मिली और इतिहास की छाया से उनमें राष्ट्रीय भाव का अभ्युदय हुआ। सरकारी नौकरियों, व्यापार तथा राजनीति के क्षेत्र में हिन्दुओं को आगे बढ़ने का मौका मिला जिससे उनका राष्ट्रीय चेतना का और भी प्रोत्साहन मिला। भारत के राजनैतिक एकीकरण से हिन्दुओं में राष्ट्रराज्य की भावना का अभ्युदय हुआ। किन्तु योरोपीय सभ्यता तथा इसाईयत का प्रत्यक्ष प्रहार परम्परागत हिन्दू समाज धर्म और मस्त्रुति पर था। इस प्रकार की स्थिति में, जाति प्रथा में निहित ऊँच नीच की भावना, यति-पूजा, गोबी, अशिषा और कर्मकाण्ड की रक्षा बल्वि हो रही थी। इसी दशा में राष्ट्रवादिता नम्रवय, सुधार और पुनरुत्थान के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की एक प्रक्रिया सुधारवादी तथा समन्वयकारी रही

1. देखिए जे० एच० हटन द्वारा रचित कास्ट इन इण्डिया में परिगणित की, हिन्दुधर्म इन इटल रिलीजन टु प्रिमिटिव रिलीज से इन इण्डिया।

है और दूसरी आक्रामक तथा प्राचीनतावादी। मिशनरी मजहबों में समष्टिवादित्व और सामाजिक नतिकता प्रधान रही है। इस्लाम के मिशनरी तथा मजहबी सघात के उत्तर में हिन्दुत्व में पंथ-संगठन की परम्पराओं का विकास हुआ और इसाईयत के सघात से समाज संगठनों की प्रक्रिया का। समाज संगठनों की प्रक्रिया पर, एक ओर सुधारवादी तथा सम बयकारी प्रक्रिया का प्रभाव रहा है और, दूसरी ओर, आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया का। ब्रह्मसमाज, प्राथमिक समाज और गांधीवाद सुधारवादी तथा सम बयकारी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं और रामकृष्ण मिशन आयसमाज, हिंदू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ तथा जनसंघ आक्रामक तथा प्राचीनतावादी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया के। लेकिन इन दोनों प्रक्रियाओं का प्रेरणास्रोत भारतीय सामाजिक विचार तथा सस्कृति ही रहे हैं। ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन का प्रेरणास्रोत वेदान्त है, गांधीवाद का गीता जनवाद तथा बौद्धवाद और आयसमाज का बौद्ध। इन दोनों प्रक्रियाओं से जो आन्दोलन उत्पन्न हुए, उनमें उस सांस्कृतिक पुनरुत्थान पर जोर दिया गया है जिसमें योरापीय विज्ञानवाद, नतिकता प्रजातंत्र और सामाजिक संगठन के जीवन मीष्टव के सिद्धान्तों के भारतीय स्वरूप का समावेश हो। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की इन प्रक्रियाओं का एक अर्थ यह भी है। यह इन्हीं प्रक्रियाओं के प्रभाव का परिणाम है कि भारत के इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों का ध्यान भारतीय सस्कृति की आधारभूत एकता को स्पष्ट करने की ओर गया। हिन्दुत्व तथा 'हिन्दु' के सम्बन्ध से बनी सामाजिक सस्कृति को इतिहासकारों ने पुनः खोज निकाला। भारत का मानवशास्त्रिया तथा समाजशास्त्रिया न, हिन्दू समाज के बहुमुखी सांस्कृतिक आधारों का स्पष्ट करने के लिए भारतीय समाज का बहुमुखी समाज (Plural Society) की और सांस्कृतिक विजातीयता को, सस्कृति-संघान (Federation of Cultures) की धारणाओं में बांटा। सस्कृति जातियों तथा आदिवासियों का हिन्दू समाज तथा सस्कृति का अभिन्न अंग माना।

इन्हीं प्रक्रियाओं का फलस्वरूप, इतिहास में, एक ओर, हिन्दुत्व का सतत विकास की शृंखला चढ़िया की जाड़न का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर यह दिखाने का कि किस प्रकार, विभिन्न ऐतिहासिक युगों में भारतीय, विशेषतया हिन्दू सस्कृति का, भारत में तथा भारत के बाहर की जयसस्कृतियों तथा सभ्यताओं पर प्रभाव पड़ा है। इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप वेद, उपनिषद वेदान्त और गीता के माध्यम से हिन्दू आध्यात्मिक तथा सामाजिक विचार का इस ढंग से प्रस्तुत किया गया कि हिन्दुत्व इसाईयत तथा योरापीय समाजिक प्रहारों से बचा जा सक। दूसरी ओर इसी प्रभाव के अंतर्गत हिन्दू विश्वासों प्रथाओं और सभ्यता का युनिवर्सल आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया। इसका प्रारम्भ रामकृष्ण परमहंस के द्वारा हुआ था। स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द गांधी, अरविन्द और रामकृष्ण ने

मलय प्रलय तथा से इसी आन्दोलन में योगदान दिया है। जहाँ सभ्यता-सम्पर्क में विजय और पराजय का सम्पर्क होता है वहाँ पराजित में विजयी व प्रति-प्रतिक्रिया, पराजित में पुनरुत्थान तथा अतन्त्रतावाद उद्धार के लिए मसीहा के अवतार की कल्पना का अभ्युदय होता है। हिन्दू पुनरुत्थान की प्रक्रिया में, एक ओर, धारण के प्रति प्रतिक्रिया रही है और दूसरी ओर अवतारी पुरुष के द्वारा अतन्त्रतावाद उद्धार पाने की कल्पना। अंग्रेजी राज्य बान की परिस्थितियों में कल्पित अवतार के विचार का प्रसार हुआ। गांधी का वसूही सुमावतार माना गया जैन सिंहाजी का माना गया था।

भारत के राष्ट्रवादी सांस्कृतिक पुनरुत्थान में दो विभागीय प्रक्रियाओं का अभ्युदय और समावेश हुआ। इस काल में एक ओर, भारत की सामाजिक सभ्यता और उनमें निहित राष्ट्रीय एकीकरण के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया गया है ता-दूमरी ओर, हिन्दू, मुस्लिम तथा आदिवासी सभ्यताओं की अलग अलग एकीकृत तथा संगठित होने का अवसर भी मिला है। प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण, भाषावार क्षेत्रों की सभ्यताओं का भी एकीकरण हुआ और अनेक भाषावार प्रांत एक अन्य विशिष्ट सांस्कृतिक क्षेत्र बन गया। अंग्रेजी भाषा तथा शिक्षा ने भारत को एकता प्रदान की ता प्रादेशिक भाषाओं ने विभिन्न तथा क्षेत्रीय व्यवकरण का भावना का प्रास्तावित किया। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से इस्लाम की सभी प्रकार पुनरुत्थान की प्रेरणा मिली, जिस प्रकार हिन्दुत्व को। इसका परिणाम यह हुआ कि यदि, एक ओर, राज-नैतिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण की प्रक्रिया उत्पन्न हुई ता दूसरी ओर, व्यवकरण का प्रक्रिया भी अस्तित्व में आई। इस्लाम का द्विराष्ट्रीय सिद्धांत और पाकिस्तान का निर्माण बिहार के आदिवासियों द्वारा आरक्षण प्राप्त, नागा। द्वारा नामासण्ड और असम के आदिवासियों द्वारा एक अलग राज्य की मांग तथा तामिलनाडु का डी० एम० के० आन्दोलन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

भारत की राष्ट्रवादियों में सन्निहित इन दो प्रक्रियाओं के अतिरिक्त भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में ही पनपे हैं। भारतीय समाज में दो प्रकार की परम्पराएँ पाई जाती हैं—एक, महान परम्परा (Great Tradition) और दूसरी लघु परम्परा (Little Tradition)। महान परम्पराएँ जलिल भारतीय परम्पराएँ हैं। उनमें सावभौमिकता (Universalization) की प्रक्रियात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। सावभौमिकता का सम्बन्ध जलिल भारतीय परम्परा की प्रवृत्ति से है। लघु परम्परा प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर पाई जाता है और उसका सम्बन्ध उस प्रक्रिया से है जिस मरियट (Marriot) ने प्रादेशीकरण (Prochualization) की परम्परा कहा है। महान परम्परा का उदगम हिन्दू-परम्पराओं के वैचारिक निरूपण की परम्परा में रहा है। धर्म, पुरुषार्थ, वर्णधर्म, सत्कार, बड़ बड़ हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा महान परम्पराओं के कुछ रूप हैं। इनका प्रसरण, एक ओर, भारत:

की साहित्य परम्पराओं के माध्यम से होता रहा है और, दूसरी ओर, भारत के पवित्र तीर्थों से। लघु परम्परायें महान के स्तर पर जाती रही हैं और मगन लघु के स्तर पर। इस्लाम और इसाईयत तथा योराणीय संस्कृति न सघात से लघु और महान परम्पराओं का सामंजस्य और आदान प्रदान असंतुलित हो गया। अंग्रेजी राज्य काल में, हिंदुत्व और इस्लाम का तथा हिंदुत्व और आदिवासी संस्कृतियों का सम्पर्क बढ़ा लेकिन साथ ही साथ, स्थानीय बोलियों और प्रादेशिक भाषाओं के विकास के कारण प्रादेशीकरण की प्रक्रिया का भी प्राप्ताह मिला। इसाईयत तथा अंग्रेजी काल की राजनतिक परिस्थितियों के प्रभाव से भारत के आदिवासियों में उसी प्रकार से आदिवासीकरण की प्रतिनिधात्मक प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिस प्रकार हिंदुत्व में हिंदूकरण का और इस्लाम में इस्लामीकरण का। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, एक ओर, राष्ट्रीयकरण की राजनतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों का प्रभाव बढ़ा और दूसरी ओर भाषा, संस्कृति तथा मजहब के आधार पर प्रादेशीकरण की शक्तियों का। एक ओर, राष्ट्रवादिता में समन्वयकारी दृष्टिकोण का समावेश हुआ तो, दूसरी ओर, प्रांशिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का। भारतीय राष्ट्रवादिता, एक ओर प्रादेशिक तथा साम्प्रदायिक सांस्कृतिक पुनरन्वयन और सुधार के मर्म दित रही है तो, दूसरी ओर धर्म निरपन्न राष्ट्रवादी राजनतिक आन्दोलन में—वह आन्दोलन जिसका उद्देश्य रहा है भारत का राजनतिक तथा भावात्मक एकीकरण।

जसाकि राजा राम मोहनराय, स्वामी विवेकानन्द स्वामी दयानन्द सरस्वती और गांधीजी आदि ने कार्य किया तथा उनके द्वारा चलाए हुए आन्दोलनों से स्पष्ट है भारतीय राष्ट्रवादिता का उदगम हिंदुत्व के पुनरन्वयन तथा सुधार आन्दोलन में हुआ था। इसाईयत के विरुद्ध हिंदुत्व की प्रतिनिधा से ही भारतीय राष्ट्रवादिता की प्रथम विरण शुरू की। ब्रह्मसमाजियों ने हिंदू समाज, संस्कृति तथा धर्म में उन सुधारों की मांग की जिसमें हिंदुत्व इसाईयत के सघात को आत्मसात करके अपने अस्तित्व को बनाये रख सके और हिंदू समाज एकीकृत हो सके। ब्रह्मसमाज तथा आयनासमाज सुधारवादी हिंदू पुनरन्वयन के राष्ट्रवादी आन्दोलन थे। स्वामी विवेकानन्द ने देशभक्ति का सावधानीपूर्ण धर्म और स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म का ही सर्वश्रेष्ठ आधुनिक प्रतिपादित करके पुनरन्वयनवादी हिंदू राष्ट्रवादिता का प्राप्ताह किया। मन अठारह सौ अठारह से लेकर अठारह सौ पचासी तक भारतीय राष्ट्रवादिता हिंदू सांस्कृतिक पुनरन्वयन तथा सुधार का आन्दोलन मान रही है। मन अठारह सौ पचास के आसपास जब कलकत्ता की इण्डियन एसोसियेशन तथा पूना की सावजनिक सभा असा संस्थाओं का संगठन हुआ तो हिंदू-पुनरन्वयन का प्रवाह भारत की सुपुत्र राजनतिक राष्ट्रवादिता में प्रतिबिम्बित होने लगा।

हिंदू-पुनरनयन के अनिवार्य, भारतीय राष्ट्रवादिता के अत्यंत प्रेरणाश्रोत भी है। इनमें सबसे प्रमुख है अंग्रेजी शिक्षा। अंग्रेजी भाषा के द्वारा राष्ट्रवादिता के अखिल भारतीय सदस्यवहन तथा विचार विमर्श का एक प्रभावपूर्ण माध्यम अस्तित्व में आया। अंग्रेजी शिक्षा से यारोप व राष्ट्रवादी तथा उत्तर प्रजातन्त्रवादी विचारों का भारत के शिक्षित वर्ग में प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय समाज में सदाय आया तथा विचारों वाला एक वर्ग का अस्तित्व हुआ। भारतीय समाज के सघात में भारत का जो आर्थिक रूपान्तरण हुआ उसमें वह मध्य वर्गीय व्यापारी वर्ग अस्तित्व में आया जो आधुनिक भारत के पूँजीपति वर्ग का अग्रज था और जिसने भारत के आर्थिक स्वातंत्र्य, औद्योगिकरण तथा आर्थिक पुनरनयन के आंदोलन को जन्म दिया। शिक्षा के माध्यम से जिस वर्ग का अस्तित्व हुआ वह भी एक मध्य वर्ग ही था जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मण, कायस्थ और खत्री इत्यादि जनजातियों में से हुई थी थी, परम्परानुसार, भारत के नौकरशाही वर्ग में आती थी। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में यह वर्ग सामन्त-सैनिकी वर्ग के अधीन रहता था। अंग्रेजी राज की स्थापना से, सत्ता के उच्चपद अंग्रेजों के हाथ में चले गए जिससे सामन्त-सैनिकी वर्ग की सामाजिक राजनैतिक प्रभुता का ह्रास हुआ। अंग्रेजी राज में भी नौकरशाही के सदस्य उही जातियों से लिए गए जो परम्परानुसार राज्य-नौकरशाही के पेशों में लगे हुए थे। ऐसी दशा में, अंग्रेजों के अधीन भारतीय समाज की राजनैतिक सत्ता वस्तुतः उन जातियों के हाथ में चली गई जिनके सदस्यों में से नौकरशाही के अधिकारी का चुनाव होता था। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी उही जातियों के सदस्य सबसे अधिक झुके क्योंकि बुद्धिजीवी जातियों के सदस्यों के लिए सरकारी नौकरी ही एकमात्र अवसर रह गया था। अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ-साथ, भारत में बकायत, डाकटरी शिक्षण और पत्रकारिता जैसे बुद्धिजीवी पेशे भी अस्तित्व में आये जिनकी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के लोग अग्रसर हुये। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ, प्रशासकीय क्लर्को, डाकटरी, शिक्षकों और पत्रकारों से बना बुद्धिजीवी मध्य वर्ग भी बढ़ता गया।

अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी राज के द्वारा बढ़ने वाले यारायाय सघात से प्रादुर्भूत सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण की प्रक्रिया से उत्पन्न यह मध्य वर्ग उस नई राशनी, नयी चेतना तथा नवजागृति का प्रतीक था जो योरोपीय सघात से भारत में उत्पन्न हुई थी। अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और अधिक जाग्रत, इस वर्ग के लोगों को देश की वर्तमान आवश्यकताओं की अधिक अनुभूति थी। इन वर्ग के लोग देश की एकता के प्रति अधिक चेतना थे। ये एक ओर, योरोपीय आधुनिकता विज्ञानवाद तथा उदारवादी सामाजिक दृष्टिकोण से प्रभावित थे तो, दूसरी ओर, देश की राजनैतिक पराधीनता की कठिनाइयों और सर्वांगीण सामाजिक सुधार

की आवश्यकताओं के प्रति सजग थे। यही वह बग है जिसके लाग आधुनिकता के अग्रज य और जिन्होंने राजनतिक राष्ट्रवादिता तथा सुधार आन्दोलन को जन्म दिया। राजा राममोहन राय केशव चन्द्रसेन, विवेकानन्द, दयानन्द ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, मोहनदास कमचन्द गांधी और जवाहरलाल नेहरू इसी मध्य बग से उत्पन्न हुए हैं। इस बग के लगभग सभी लेखक पत्रकार, सुधारक और राजनतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यकर्ता इसी मध्य बग से आये हैं। यह मध्यबग ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता का हमी हाता गया त्यों त्यों अग्रजी सरकार ने निरंतर विभूत खनित हाते हुए सामन्त बग का आग बढ़ाने का प्रयास किया। यही प्रयास आग चल कर, भारत में अंग्रेजी राज के पतन का एक मुख्य कारण बना। प्राचीन अभिजात तथा सामन्तबग के लोग अंग्रेजी साम्राज्यवादिता तथा प्राचीनता के हमी हुए और नव विकसित मध्य बग के लोग राष्ट्रवादिता तथा स्वतन्त्रता के हमी। नव विकसित मध्य बग में भी दो प्रकार के लोग थे—एक थली में बलाग थे जो उदारवाद तथा धर्मनिरपेक्षता से प्रेरित थे और दूसरी श्रेणी में वे लोग जिनका प्रेरणास्रोत हिंदू पुनरुत्थान में था। इस्लाम भी, इसी प्रकार, प्राचीन सामन्त बग और, नव विकसित मध्यबग में विभाजित था। सरकारी नौकरियों के लिए चलने वाली होड़ के कारण मुस्लिम समाज का एक बग जिसमें प्राचीन सामन्त तथा नव मध्य बग के साथ थे, साम्प्रदायिकता की ओर उन्मुख हुआ और दूसरा बग धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादिता तथा साम्राज्य विरोध की ओर। इन परिस्थितियों में, भारत के पुनरुत्थान में, हिंदू राष्ट्रवादिता तथा मुस्लिम राष्ट्रवादिता का समावेश हुआ।

आधुनिक भारत की राष्ट्रवादिता का अन्वय, इस प्रकार, एक साथ कई प्रेरणास्रोतों से हुआ। राष्ट्रवादिता का एक प्रेरणास्रोत था हिंदू पुनरुत्थान तथा हिंदू राष्ट्रवादिता का विचार जिसका प्रभाव सन अठारह सौ पचाहत्तर के आस पास भारत की राजनतिक गतिविधियों पर पड़ने लगा था। दूसरा प्रेरणास्रोत था योरोप का उदारवादी तथा राष्ट्रवादी-पूँजीवादी दृष्टिकोण जिसकी अभिव्यक्ति सन अठारह सौ पचासों में इडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के द्वारा हुई। इस्लाम के पुनरुत्थान और इस्लामी राष्ट्रवादिता के अप्रदूत सर सयद अहमद खां थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी अंग्रेजी सरकार के प्रशंसक और उत्तरोत्तर सवधानिक सुधारों में पक्षपाती थे। पहली पीढ़ी के कांग्रेसी उदारवादी विचारों के पक्षपाती थे और वे इस तथ्य के प्रति सजग न थे कि वे हिंदू विचार के प्रतिनिधि थे। किन्तु, कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन के बाद से, जब से मदनमोहन मालवीय का प्रभाव बना और बंगाल तथा महाराष्ट्र में हिंदू पुनरुत्थान का आन्दोलन बढ़ा, कांग्रेस द्वारा प्रेरित राष्ट्रवादी आन्दोलन हिंदू राष्ट्रवादिता और हिन्दू पुनरुत्थान से प्रेरित होने लगा और धरावर उससे प्रेरित होता रहा। महाराष्ट्र का हिंदू पुनरुत्थानवादी तथा

राष्ट्रवादी आंदोलन एक ओर, शिवाजी के आन्दोलन से प्रेरित या और दूसरी ओर, मुघारवाद से। पहले प्रकार के प्रणना य लोकमाय बालगंगाधर तिलक और दूसरी ओर जमिन्दारों, गापालकृष्ण गोखले तथा महादेव गाविन्द रानाडे। तिलक ने एक ओर जमिन्दारों के स्वराज्य अधिकार की धारणा रखी और दूसरी ओर गीता रहस्य नामक गीता पर भाष्य लिख कर उस समयों की धारणा भारतीयों विरोध तथा हिन्दुओं व सम्मुख रखी जिसका कठम्य या निस्पृह कम करना। तिलक के लिए निस्पृह कम का अर्थ था स्वतंत्रता के लिए निरंतर निस्पृह युद्ध। राष्ट्रवादी स्वातन्त्र्य आन्दोलन को व्यापक जनान्दोलन बनाने के लिए तिलक ने एक ओर, शिवाजी के आन्दोलन का आदर्श सामने रखा और दूसरी ओर गणपति पूजा का प्रचार किया। जब महाराष्ट्र में गणपति पूजा का प्रचार बढ़ रहा था तब बंगाल में दुर्गा (शक्ति)-पूजा का राष्ट्रवादी प्रचार बढ़ रहा था। महाराष्ट्र में शिवाजी राष्ट्रीय उदवाधन की उद्घोषण के प्रेरक बने और बंगाल में असुर सहायिणी दुर्गा राष्ट्रीय उदवाधन की प्रेरक। राष्ट्रीय उद्घोषण का बकिम चन्द्र चटर्जी का प्रसिद्ध गीत बंद मातरम वही आन्दोलन से प्रेरित है। लाल (लाल लाजपत राय) बाल (बाल गंगाधर तिलक) और पाल (विनोद चन्द्र पाल) के प्रभाव में कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन, अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दू पुनरुत्थान तथा हिन्दू राष्ट्रवादिता से प्रेरित था।

बीसवीं शताब्दी की अनेक राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने भारतीय राष्ट्रवादिता के विचार तथा आंदोलन का सबल बनाया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, एक ओर पुनरुत्थानवादिता का ज्वार था और, दूसरी ओर उग्र हिमावादी आतिशारी आन्दोलन का। उस समय कांग्रेस का राष्ट्रवादी आंदोलन छिन भिन और निष्प्राण था। सन १९०३ सी में लाह कजन ने इन्वेन्ट को भेजी गई अपनी रिपोर्ट में यह लिखा था कि उनकी सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा कांग्रेस और उसके आंदोलन का शांतिपूर्ण दाह मस्कार करने की थी। किन्तु जब लाह कजन ने बंगाल के दो हिस्से

1. के० एम० पानिकर के मत में, कांग्रेस के तत्वाधान में चलने वाले, राष्ट्रीय आंदोलन का दूसरा दौर निश्चय ही हिन्दू राष्ट्रवादिता तथा पुनरुत्थान से प्रेरित था। तिलक कट्टर परम्परावादी थे और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन को गीता के दशन की पद्धतिप्रदान की थी। लाल लाजपत राय, एक ओर, कट्टर आपसमाजी थे और दूसरी ओर, राष्ट्रवादी कांग्रेसी नेता। लाजपतराय, तिलक और मोतीलाल घोष को अपनी रुढ़िवादिता पर गव था। नयी पीढ़ी के उग्र विचार वाले लोगों ने, जिनमें अरविन्द का स्थान मुख्य है राष्ट्रवादिता को धार्मिक तथा रहस्यवादी रंग में रंग दिया और इस विचार का परिणाम यह हुआ कि, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, भारतीय राष्ट्रवादिता विविष्ट रूप से हिन्दूवादी हो गई—पानिकर वही पृष्ठ 218

कर दिये तो राष्ट्रवादिता की आग प्रज्ज्वलित हो उठी। बंगाल के विभिन्न वर्गों तथा धर्मों के लोग राष्ट्रवादी विचारों से प्रेरित हो उठ और उसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार, स्वदेशी तथा स्वराज्य आंदोलन का जन्म हुआ। सन उन्नीस सौ पांच में, जब जापान ने रूस को तुशूमा (Tushuma) के युद्ध में पराजित किया तो भारतीय राष्ट्रवादिता ने आंदोलन को एक नई परंपरा मिली। जापान की विजय से यह विचार जार पकड़ने लगा कि 'काई भी एशियाई देश अपनी प्राचीन संस्कृति को अशुभ्य बनाये रख कर भी, राजनैतिक तथा सामरिक दृष्टि से किसी भी यारोपीय राष्ट्र से अधिक संभवतः हासिल कर सकता है बसतें कि वह योरोपीय तौर तरीका को अपनाये। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया कि स्वतंत्रता के लिए भारत को योरोपीय राजनैतिक, व्यापारिक तथा शिक्षण पद्धतियों को अपनाने की आवश्यकता है न कि अपनी प्राचीन संस्कृति और सामाजिक तथा धार्मिक आदर्शों को छोड़ने की।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक के मध्य में जब प्रथम महायुद्ध छिड़ा तो भारत के सिपाहियों का अग्र दलों से सम्पर्क बड़ा और भारत की ओर अग्र देशों का ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योंकि इस युद्ध में सबसे बड़ा योगदान भारतीयों का था। इस युद्ध के पश्चात्, कांग्रेस का नेतृत्व महारमा गांधी के हाथ में आया। महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह, दांडी यात्रा, चम्पारन के किसान तथा अहमदाबाद के मजदूर आंदोलनों, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा खादी चरखा और ग्रामोद्योग के विकास के आंदोलनों के द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन को, एक मध्यवर्गीय आंदोलन के स्थान पर एक जन आंदोलन बना दिया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व-काल में भारतीय राष्ट्रवादिता में जनवादी तथा समवयकारी प्रवाह चले तो साथ ही साथ हिन्दू तथा मुस्लिम राष्ट्रवादी विचारों का समानांतर विकास भी हुआ। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के बीच में भारतीय राष्ट्रवादिता का चरम विकास हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय जनमत उसके पक्ष में आया। इसकाल में भारत ने, एक ओर राष्ट्रवादिता के नारे को बुलंद किया तो, दूसरी ओर, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज उठाकर, अन्तर्राष्ट्रीय भाई-भ्रातृ के विचार को प्रोत्साहित किया। इसकाल में, बहुधर्म कुटुम्बक में 'आत्मवत सबभूतेषु, 'अविभक्त विभक्तेषु' पंडिता समदर्शिना, अनेकान्तवाद तथा 'स्याद्वाद जसी भारतीय धारणाओं ने भारत के राष्ट्रवादी विचारों का इतना प्रभावित किया कि भारतीय राष्ट्रवादिता में अन्तर्राष्ट्रीयता का वह पुट आया जो आज भी विद्यमान है। उग्र मुस्लिम राष्ट्रवादिता से निरन्तर समझौता करने की ऐतिहासिक प्रक्रिया इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उत्पत्ति है। इस्लाम का जन्म और प्रसार ही उग्र राष्ट्रेतर (Supernational) मजहबी राष्ट्रवादिता में हुआ था। इस्लाम के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में खिलाफत का महत्वपूर्ण स्थान, इसका एक ऐतिहासिक प्रमाण रहा है। खिलाफत के ही प्रश्न को लेकर, कुछ काल के लिए, हिंदुओं तथा मुसल-

मानों का राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग भी हुआ। लेकिन यह सहयोग स्थायी न रह सका। हिन्दुत्व और इस्लाम ने राष्ट्रवादिता को अलग अलग प्रेरित किया जिसका परिणाम हुआ भारत का हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान नामक नौ राष्ट्रा में विभाजन।

भारतीय राष्ट्रवादिता के कुछ सांस्कृतिक ऐतिहासिक सद्म रह हैं जिन पर यह विचार करना आवश्यक है क्योंकि बिना उनका विस्तारण व भारतीय राष्ट्रवादिता के सामाजिक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता है। अंग्रेजी राज में भारत का राज नैतिक एकीकरण तथा औद्योगिक पूँजीवादी सामाजिक स्थापितरण से जो एकीकरण तथा मध्यवर्गीय आन्दोलन उत्पन्न हुआ था उसमें राष्ट्रवादिता के उत्थान का प्रेरणा मिली। लेकिन यह सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया वस्तुतः उस प्रक्रिया से उत्पन्न हुई थी जो अंग्रेजी राज के पहले ही भारत में उत्पन्न हो चुकी थी। हिन्दुत्व की उत्पत्ति ही इस राष्ट्रवादी ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुई थी जिसका अन्ततोगत्वा उद्देश्य था भारत का एक राजनैतिक संगठन एक मस्तिष्क और एक समाज। यह पहले ही कहा जा चुका है कि, अपने सांस्कृतिक ऐतिहासिक सद्म में हिन्दुत्व वस्तुतः वह सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन रहा है जिसका उद्देश्य रहा है भारत के विजातीय समाज का सामाजिक सांस्कृतिक एकता प्रदान करना। असाक द्वारा बुद्धवाद को राजधर्म के रूप में अपनाए जाने पर जो हिन्दू-बौद्ध संघर्ष उठ खड़ा हुआ वह वस्तुतः दो विभिन्न राष्ट्रवादी तरीकों का संघर्ष था। बौद्धों ने, पराजित हान पर, इस्लाम का स्वागत किया जिसके पम्परस हिन्दुत्व, एक ओर प्रबल बौद्ध-विराधी हुआ और, दूसरी ओर, इस्लाम विरोधी। इस्लाम के कट्टर अरबीपन में हिन्दुत्व में कट्टर राष्ट्रवादिता आई जिसकी परिणति, शिवाजी के तथा गुरु गोविन्द सिंह के आन्दोलनों में हुई।

अंग्रेजी राज की स्थापना से हिन्दू-राष्ट्रवादिता का पनपन का अवसर मिला और वह पनपी भी। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद, राष्ट्रवादिता की पहली लहर हिन्दुओं में ही आई और हिन्दू ही राष्ट्रवादिता के जन्मदूत हुए। खिलाफत आन्दोलन के कुछ वर्षों का छाड़ कर कांग्रेस के तत्वावधान में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन की सजीवनी गति मुख्यतः हिन्दू जनता तथा हिन्दू पुनर्जन्मन के आन्दोलन में रही है और भारतीय राष्ट्रवादिता का हिन्दू-मस्तिष्क से प्रेरणा मिलता रहता है। शिवाजी और गुरु गोविन्द सिंह दोनों ने गति (दर्शन) में प्रेरणा ली थी। भारत का इतिहास में जब-जब राष्ट्रीय मकद का काल आया है, तब-तब रणचण्डी, भवान्नी और दुर्गा से प्रेरणा ली गई है। चीन के आक्रमण से जो राष्ट्रीय मकद का स्थिति आठ है, वह भी इसका प्रसवादन नहीं है। अरबि ने इसी सक्ति परम्परा का प्राधिकारी राष्ट्रवादी आन्दोलन में समावेश किया। प्राधिकारी दल के लोग देवी भगवती की प्रतिमा के सामने दस का आजाद करन का व्रत लिया करते थे¹। प्राधिकारी आन्दोलन का प्रचार बंगाल, महाराष्ट्र

और पंजाब में ही अधिक हुआ क्योंकि वहाँ हिन्दू राष्ट्रवादी आन्दोलन पहले ही से विद्यमान था। तिलक और गांधी दोनों ने गीता की नम्रयोगी की धारणा से प्रेरणा ली है। गांधी की स्वराज्य की कल्पना रामराज्य से प्रेरित थी और मुस्लिम राष्ट्रवादिता के प्रति उनका दृष्टिकोण अनेकानुवादों के भावना से प्रेरित था। महात्मा गांधी के राष्ट्रवाद का एक प्रेरणास्रोत हिन्दू आध्यात्मिकता थी और दूसरा, वर्णश्रम व्यवस्था जो गांधी के जाति समाज का आधार है। यदि तिलक ने गणशपूजा को अपने राजनैतिक आन्दोलन का आधार बताया तो महात्मा गांधी ने कीर्तन, भजन और प्रायश्चित्त का अपने राष्ट्रवादी विचारों का ध्येय करने का माध्यम बनाया।

अंग्रेजी राज्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ और प्रादेशिक भाषाओं में प्रकाशित साहित्य तथा समाचारपत्रों से राष्ट्रवादी विचारों का काफी प्रचार हुआ। प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भी भारतीय राष्ट्रवादिता के विभिन्न प्रवाहों का प्रभाव पड़ा। इसका एक ऐसा बलि और लेखक उत्पन्न हुए जिन्होंने राष्ट्रवादी विचारों को व्यक्त करने के लिए हिन्दू जीवन तथा हिन्दू काल की ऐतिहासिक घटनाओं से प्रेरणा ली। बंगाल में द्विजेन्द्रलाल राय और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों ने मुख्यतः हिन्दूकाल के राष्ट्रीय संकट की उन्हीं विपन्न परिस्थितियों को अपने कथानकों का विषय चुना जिनमें, भारतीयों ने अपनी राष्ट्रीय एकता को प्राप्ति के लिए किसी बाह्य शत्रु का सामना किया है। जयशंकर प्रसाद के चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त नामक नाटकों में ऐसी ही संकटकालीन परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। चंद्रगुप्त का काल यूनानियों के साथ संघर्ष का काल है और स्कंदगुप्त का काल हूणों से संघर्ष का। यह सतत विकसित हिन्दू राष्ट्रवादिता का ही प्रभाव कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद तथा द्विजेन्द्रलाल राय ने अलग अलग चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त नामक नाटकों द्वारा राष्ट्रवादिता के विचारों का प्रवाह का मार्ग बढ़ाया। द्विजेन्द्रलाल राय ने एक और विकास मिलता है। एक ओर उन्होंने चंद्रगुप्त पर नाटक लिखा तो, दूसरी ओर, भवाड पतन पर। सम्राट चंद्रगुप्त जो चंद्रगुप्त नाटक का नायक है सम्पूर्ण देश को एक साम्राज्य में बांधने का इच्छुक और यूनानियों की पराजय का प्रतीक है। चंद्रगुप्त प्रेरणा है उस राष्ट्रवादिता की जो यूनानियों की भाँति अंग्रेजों को हरा कर, भारत को एकमूर्त में बांधने की प्रेरणा देती है। किंतु भवाड पतन का नायक राणा अमरसिंह मुगलों से युद्ध करने में रत है और मुगल भवाड का तहस नहस करने के लिए तत्पर है। भवाड पतन हिन्दू मुस्लिम संघर्ष का प्रतीक है। इसका एक अक्षर को हिन्दू मुस्लिम एकता का राष्ट्रीय आदर्श माना गया तो अक्षरों के विरोधी महाराणा प्रताप का देश के लिए मर मिटने वालों का आदर्श माना गया। एक ओर, हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयास किया गया और, दूसरी ओर मुगल साम्राज्य के विरुद्ध लड़ने वाले शिवाजी को राष्ट्रनायक के रूप में प्रस्तुत किया गया। जय सोमनाथ में कहेयालाल

माणिकलाल मुशी ने एक ओर यह चित्रित किया कि हिंदुओं में एकता की कमी के कारण महमूद के आक्रमणों के समक्ष उनकी हार होती रही और, दूसरी ओर, उहाने मुस्लिम आक्रमणकारियों की नश्वरता तथा हिंदू शीश्यों को चित्रित किया। उन् साहित्य भी हिंदू राष्ट्रवादी तथा मुस्लिम राष्ट्रवादी अभियन्तियों से भर गया। हिंदू राष्ट्रवादिता ने टंगोर को जन्म दिया और मुस्लिम राष्ट्रवादिता ने इक्बाल को। इक्बाल का, एक ओर यह लिखना कि 'मजहब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना, हिंदी हैं हम नतन है हिन्दोस्ता हमारा और, दूसरी ओर भारतीयतावादी मुसलमानों को यह कह कर लताडना कि कुते हिंदी कि मुहम्बत में बिरहमन भी हुए तुम उस सधर्पात्मक राष्ट्रवादी विभद का परिचायक है जो भारतीय समाज में समा चुका था।

प्रादेशिक भाषाओं में लिखा जाने वाला साहित्य, एक ओर, भारतीय राष्ट्रवादिता का प्रतिविम्ब और प्रेरक बना तथा दूसरी ओर हिंदू राष्ट्रवादिता तथा मुस्लिम राष्ट्रवादिता का प्ररक। इसीके फलस्वरूप एक ओर सरकार द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्ष स्कूल तथा कालेजों का संगठन हुआ और, दूसरी ओर, आयसमाजी सनातनधर्मी तथा इस्लामिया स्कूलों और कालेजों के संगठन का प्रास्ताहन मिला। साम्प्रदायिक शिक्षा-संस्थाओं ने साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता को ही बढ़ावा दिया। साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता ने एक ओर, हिंदू कट्टरता तथा पुनरुत्थान को जन्म दिया तथा दूसरी ओर, इस्लामी कट्टरता तथा पुनरुत्थान को। उदारवादी और अशक्त हिंदूवादी आन्दोलन में एक ओर इण्डियन नेशनल काँग्रेस का अशक्त महासभा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जनसंघ तथा मुस्लिम लीग जसी राष्ट्रवादी साम्प्रदायिक संस्थाएँ अस्तित्व में आईं। राजनतिक तथा सांस्कृतिक साम्प्रदायिक राष्ट्रवादिता ने उन्हें एक साथ प्रेरणा दी है। इसीकारण भारतीय राष्ट्रवादिता तिवादी रही है और, साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धावादी भी।

भठारहवा अध्याय विवाह, परिवार और जाति

यूरोपीय सभ्यता और अंग्रेजी राज के सघात से जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई, उनका परिवर्तनकारी प्रभाव विवाह, परिवार और जाति पर पड़ा और उसके फलस्वरूप उनमें परिवर्तन आए। धार्मिक रूपांतरण ने उन नई परिस्थितियों को जन्म दिया, जिनमें पहले विवाह, परिवार और जाति के परम्परागत धार्मिक आधार बदले और फिर उन आधारों के बदलने से, विवाह, परिवार और जाति में परिवर्तन आए। शहरीकरण और औद्योगीकरण ने नए व्यक्तिवादी सामाजिक आन्दोलनों को जन्म दिया। अंग्रेजी शिक्षा तथा इसाईया के प्रचार के द्वारा, नई यूरोपीय मान्यताओं का प्रचार हुआ जिनके प्रभाव में विवाह, परिवार और जाति से सम्बन्धित आधारभूत मान्यताओं और आदर्शों की समालोचना और पुनरीक्षण किया गया। रूमानी प्रेम, विवाह में व्यक्तिगत स्वच्छन्दता, यौन-अन्तुष्टि के प्रति प्रवृत्तिवादी दृष्टिकान, नारी अधिकार, पारिवारिक सम्बन्धों में प्रजातन्त्रवादी विचारों की मांग के विचार इसी काल में फैले। इन विचारों का प्रसरण यूरोप से हुआ है—उस यूरोप से जिसमें वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी, शहरीकरण औद्योगीकरण, पूँजीवाद उदारवाद, साम्यवाद, इसाईयत और रोमन विधिप्रणाली ने, इन विचारों को जन्म दिया था। यह पहले

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, रोमन विधि प्रणाली के मूल सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए, इस काल के भारत में, हिन्दू और मुस्लिम स्वीय विधि प्रणालियों का महिमावद्ध करने तथा उन्हें निश्चित ढंग से निवृत्त करने का प्रयास किया गया। अंगालों के स्थापित होने ही यह प्रश्न उठा कि अधिक दृष्टिकोण से हिन्दू कानून है मुसलमान कानून है और विभिन्न हिन्दू मुस्लिम-परम्पराओं के अधिक आधार क्या हैं ?

शरिअत के कारण इस्लामी परम्पराओं में हिन्दू परम्पराओं की अपेक्षा, अधिक निश्चितता थी। उधर, नई मायताओं के कारण, अनेक मुद्दों को कामाक्षित करने तथा उनको बंध आधार पदान करने की समस्या उठ खड़ी हुई, जिसके कारण नए अधिनियमों को पास करने की आवश्यकता पड़ी। उदाहरणार्थ, जब ब्रह्मसमाजियों ने वैवाहिक सम्बन्धों को सम्भल करने के लिए, एक अलग अनुष्ठान पद्धति की रचना की तब यह प्रश्न उठा कि अनुष्ठान पद्धति का आधार पर सम्पूर्ण विवाह बंध है या नहीं। सरकार की ओर से यह कह जान पर कि हिन्दू विधि प्रणाली का अनुसार ब्रह्मसमाजी अनुष्ठान-पद्धति का आधार पर किया हुआ विवाह बंध नहीं है, ब्रह्मविवाह का वैधता प्रदान करने के लिए एक नए कानून की आवश्यकता पड़ी। किन्तु, जब सरकार ने ब्रह्म विवाह अधिनियम पारित किया, तो उसका विरोध किया गया और उसके फलस्वरूप स्पेशल मरिज एक्ट (1872) का जन्म हुआ, जिसमें अन्तर्जातीय तथा अन्तर्मात्रप्रदायिक विवाहों की मायता दफ्तर, बाल्य नवयुवक और नवयुवतियों का अपना जीवन साथी स्वयं चुनने का अधिकार दफ्तर और तलाक के लिए विधान बनाकर, विवाह की जाति, परिवार, सम्प्रदाय और सम्बन्धों के अधिकार में मुक्त करके संस्कार के स्थान पर समझौता बना लिया गया। यही कदम आमसमाजी तथा शिक्कसमाजी विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए उठाया गया।

परम्परागत हिन्दू विधि प्रणाली में, नारी की सम्पत्ति, तलाक और विधवा होम पर पुनर्विवाह करने का अधिकार न था। विधवा-पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर हिन्दू शास्त्रकारों ने नियोग का विधान रखवा था जो वास्तविक काम पर आदण अधिक था। उसी प्रकार निम्नस्तर की जाति के सम्बन्ध अनेक सामाजिक-आर्थिक नियोगनाओं के गिकार थे। अंग्रेजी राज के सघात से जो नई सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ अस्तित्व में आईं और समतावादी बंधुतावादी स्वतन्त्रतावादी और राष्ट्रवादी जो आदर्श भारत में फैले, उनका सदन में के व्यावहारिक मायनाय सामाजिक समस्याओं बन गईं। इसाई मिशनरियों ने ऐसा ही समस्याओं को लेकर हिन्दुत्व का आलोचना करनी शुरू की। फलतः, हिन्दुओं ने अपना पुनरीक्षण प्रारम्भ किया। धर्मशास्त्रों का मथन और निवचन शुरू किया गया और इस निवचन के द्वारा यह निश्चित किया जान लगा कि शास्त्रों में सती, विधवा-पुनर्विवाह न करने,

नारी को सम्पत्ति और तलाक का अधिकार न देने, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा को न अपनाने तथा अस्पृश्यता और ऊँच नीच के भेदभाव का अनुमोदन नहीं है। एक-एक प्रगतिशील तथा नई परिस्थितियों के अनुसार सुयुक्तिपूर्ण समाज की स्थापना के लिये, स्वयं हिन्दुओं ने सुधारों की माँग की और सामाजिक विधान द्वारा, समाज और संस्थाओं के सुधार के लिए आन्दोलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे उन अनेक अधिनियमों¹ को पास किया गया, जिनसे विवाह परिवार और जाति में परिवर्तन आए।

विवाह, परिवार और जाति में परिवर्तन लाने वाले कारकों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—पहली श्रेणी में आर्थिक सामाजिक कारक आते हैं दूसरी में धार्मिक या धार्मिक कारक और तीसरी में नई सामाजिक सांस्कृतिक मर्यादों का आदम, ग्रहण और उत्प्रेरण। जिनका अभ्युदय पश्चिम के सघात से हुआ। किंतु इन सभी कारकों का अभ्युदय धीरे-धीरे हुआ है, जिसके कारण विवाह, परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन निश्चलक न होकर उद्विग्न रही हैं। योरोप के सघात से भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन पुनर्जननवादी रहा है। विवाह, परिवार और जाति में होने वाले परिवर्तन भी पुनर्जननवादी विचारधारा से प्रभावित रह है और, इसकारण, अंग्रेजी राजकाल में विवाह, परिवार और जाति में सम्बन्धित अनेक परम्पराओं और परम्परागत विचारों को, अस्पष्ट धार्मिक वृद्धता में स्थान पर निश्चित सामाजिक वृद्धता मिली है।

विवाह का मूल अर्थ, कपाडिया के अनुसार घर द्वारा वधू का अपने घर ले जाने से है किंतु अपन दृष्टिगत अर्थ में विवाह प्रतीक है उन सभी समारोहों और समारोहों का जो बरीच्छा से लेकर सोहागरात और मीने तक किए जाते हैं और जिनके द्वारा घर नारी समाज द्वारा माय पति पत्नी के सम्बन्धों में बंधकर माना पिता की भूमिना ग्रहण करते हैं और परस्पर सामाजिक आभारों तथा अधिकारों का निभान हैं। विवाह का यह मूलक्य भारत की विभिन्न जातियों गणजातियों सामाजिक सांस्कृतिक समूहों (हिन्दू मुस्लिम आदिवासी) और क्षेत्रों (जस जौनसार बाबर, नीलगिरि केरल और खासी पदम) में विभिन्न रूप में पाया जाता है।

- 1 हिन्दू संस्थाओं में परिवर्तन और स्थायित्व लाने वाले मुख्य अधिनियम ये हैं — दि कास्ट डिजेनिलिटीज रिमूवल एक्ट (18५०), हिन्दू विडोज रिमरिज एक्ट (18७०), हिन्दू डिस्पोजीशन आफ प्रापर्टी एक्ट (191६), हिन्दू नेस आफ लनिंग एक्ट (1930), दि हिन्दू ला आफ इनहरिटेंस एक्ट (1929), हिन्दू वम स राइटस टू प्रापर्टी एक्ट (1937), दि स्पन्ल मरिज एक्ट (19५1), दि हिन्दू मरिज एक्ट (195५), दि हिन्दू सबसेशन एक्ट (19५6), दि हिन्दू मईनारिटी एण्ड गार्जियनशिप एक्ट (19५6) दि हिन्दू एडाप्स एण्ड भेटनेस एक्ट (19५6)—देविए शावयाग एन० एच० कृत प्रिस्तिप्स आफ हिन्दू लॉ।

विवाह, परिवार और जाति

६७

सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों के सन्दर्भ में विवाह के तीन मुख्य प्रकार—हिंदू, मुस्लिम और आदिवासी—पाए जाते हैं। पश्चिमी सभ्यता के सघात से इन तीनों प्रकारों में परिवर्तन आया है। आदिवासी विवाह का वर्णन आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया जायगा। यहाँ हिंदू और मुस्लिम विवाहों पर यारोपीय सभ्यता का सघात और उससे उत्पन्न परिवर्तन का वर्णन किया जाता है।

हिंदू विवाह

२

हिंदू विवाह के दो रूप रहते हैं—एक शास्त्रीय जिसका प्रतिपादन शास्त्रों में किया गया है और दूसरा 'गृह्यकारिक' अर्थात् जाति-विभिन्न जातियों और क्षेत्रों में मिलता है। हिंदू विवाह का व्यावहारिक रूप विचरणशील रहा है और विवाह का शास्त्रीय प्रतिपादन में एवमता नहीं रही है। उदाहरणार्थ शास्त्रों में विधवा विवाह का अनुमति नहीं है किन्तु हिंदू सामाजिक संरचना के मध्य तथा निम्नस्तरों में पाई जाने वाली अनेक जातियों में विधवा विवाह होता रहा है। शास्त्रों में सामान्यतः विवाह-विच्छेद का अनुमति नहीं है किन्तु मध्य तथा निम्नस्तर की जातियों में विवाह विच्छेद का विधान रहा है। जिन कमकाण्डों का शास्त्रों में वर्णन है उनका प्रयोग उन्हीं जातियों में होता रहा है जिनमें ब्राह्मण-पुरोहित विवाह सम्पन्न करवाता रहा है। कन्यादान की धारणा ने विवाह में कन्यादान लेने वाले का दक्षिणा देने की आवश्यकता को जन्म दिया जिसने मुद्राधी आर्थिक व्यवस्था में दहेज का रूप लिया। किन्तु दहेज केवल उच्चवर्गीय जातियों में ही सीमित रहा। मध्य तथा निम्नवर्गीय जातियों में वधू धन की प्रथा चलती रही। अवध की उच्च जातियों में वर की वारात जाती है किन्तु निम्न स्तर की जातियों में वधू की वारात (पयपुज्जी) जाती है। यारोपीय सभ्यता के सघात से बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ में जब निम्नस्तर की जातियों की आर्थिक स्थिति समली और नय आदर्शों के कारण जब निम्नस्तर की जातियों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का उठाने का प्रयास किया तो उन्होंने शास्त्रीय विधि विधान ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न कमकाण्ड कन्यादान वारात में दहेज विधवा पुनर्विवाह—तथा तलाक़ निषेध अपनाना प्रारम्भ किया। पश्चिमी सभ्यता के सघात से उत्पन्न परिस्थितियाँ में उच्चवर्गीय जातियाँ विवाह-संस्कारों में कमकाण्डों के सरलीकरण तथा पश्चिमीकरण की ओर अग्रसर हुईं और निम्नवर्गीय जातियाँ शास्त्रीय कमकाण्डों की जटिलता का भार।

पश्चिमी सभ्यता के सघात में इस प्रकार हिंदू समाज में एक स्तर पर विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय विधि विधान और कमकाण्डों का अपनाना पर जोर दिया

गया तो दूसरे स्तर पर नास्त्रीय विवि विधान के पुनर्परीक्षण, पुनर्निर्वाचन, सरलीकरण सुधार और उस अधिक बनाने पर जोर दिया गया। इसके फलस्वरूप परम्परा के पुनरुत्थान और सुधार पर एक साथ जोर दिया गया। योरोपीय मापदण्डों और नई परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार ज्यादा प्रचलित विवाह परम्पराओं की आलोचना की गई तथा साम्प्रदायिक द्वारा प्रतिपादित वैवाहिक मर्यादाओं और परम्पराओं के सुधार और पुनरुत्थान पर जोर दिया गया और शास्त्रों का प्रमाणों पर नये सुधारों और पुनरुत्थान की मांग की गई। सुधारवादी पुनरुत्थान प्रगतिवादी विचार बना और यथावत पुनरुत्थान सनातनी विचार। इसी कारण एक ओर ब्रह्मसमाजी तथा जायसमाजी विवाह पद्धतियों का सम्युद्ध हुआ और दूसरी ओर, परम्परागत सनातनी पद्धति का। किन्तु साथ ही साथ विवाह को अधिक आधार प्रदान करने का विचार भी चलता रहा जिसका परिणामस्वरूप सिविल मरिज (मदालती विवाह) के रूप में एक तीसरी पद्धति अस्तित्व में आई। यह पद्धति अशत हिंदू है और अशत मदालती। हिंदू मरिज एक्ट (19०5) उन विवाहों पर लागू होता है जो सजातीय हैं और परम्परानुसार सगाई सप्रवर और सपिण्ड नहीं हैं। यदि परम्परा सगाई सप्रवर और सपिण्ड विवाह की अनुमति देती है तो हिंदू मरिज एक्ट के अनुसार ऐसा विवाह वैध है। विवाह संस्कार और कमकाण्ड वर या वध या दोनों पक्षों की सम्मिलित प्रधानाङ्ग जनुमार सम्पन्न किए जा सकते हैं किन्तु जन्म परम्परानुसार सप्तपदी वैवाहिक कमकाण्ड का एक भाग है वहां बिना सप्तपदी के, विवाह वैध नहीं समझा जायगा। साधारणतः हिंदू मरिज एक्ट के अनुसार, विवाह नाम और सप्तपदी हिंदू विवाह की वधता के दो कमकाण्डों का आधार हैं। किन्तु स्पेनल मरिज एक्ट (19०4) में जिसका उद्देश्य अन्तर्जातीय और अन्तःसम्प्रदाय विवाहों की वधता प्रदान करना है विवाह नाम सप्तपदी और ब्राह्मण पुराहित के ध्यान पर तीन गवाहों और विवाह-अफसर का उपस्थिति में वर वधू से एक दूसरे की पति पत्नी बनने की प्रतिज्ञा करवाने तथा विवाह के निर्वहन (Registration) का विधान है। पति पत्नी विवाह अपसर से अपने विवाह का सर्टीफिकेट ले सकते हैं। यह विवाह-पद्धति उस विवाह पद्धति की प्रतिकृति है जो इसाईयत के प्रभाव से यूरोप में विकसित हुई है।

हिन्दू विवाह का विधिकरण और उससे उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, यूरोपीय संभ्यता के सघात के मुख्य योगदान हैं। किन्तु इन योगदानों का समझने परम्परागत कलियुग हिंदू विवाह की नास्त्र्य प्रतिपादित सामाजिक साम्प्रदायिक विशेषताओं का समझना आवश्यक है। हिंदू विवाह नर नारी के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने अथवा और काम की साधना का मुख्य माध्यम है। विवाह के बिना पुरुषाय की साधना सम्भव नहीं है। अतः, विवाह धर्म साधना आत्मोन्नति और दैव, पितृ श्रद्धा तथा समाज के कल्याण का चूबाने का

एक आवश्यक माध्यम है, जिसकी अवहेलना व्यक्ति नहीं कर सकता है। विवाह एक संस्कार है जिससे घम प्रजा (सत्ता) और रति (आनंद) की साधना होती है। विवाह के उद्देश्यों में रति का स्थान निम्नतम है। हिंदू के लिए पत्नी पुरुषाधम और गृहस्थाधम का मूलधार है। विवाह से पितृव्य में उत्कृष्टता मिलती है, नर-नारी के सम्बंध नियमित होते हैं अत्येष्टि क्रिया सम्पन्न करने के लिए पुत्र की प्राप्ति होती है, समाज में व्यवस्था आती है और व्यक्ति का घम तथा मोक्ष की साधना में सहायता मिलती है। पुत्र प्राप्ति और प्रजनन क्रिया हिंदू के लिए धार्मिक क्रियाएँ हैं। विवाह शरीर-संस्कार भी है और धार्मिक संस्कार भी। केवल गृह विवाह में ही द्वितीय सुख की प्रधानता दी जाती है। नर-नारी का पति-पत्नी के रूप में मिलन आदि पुरुष और मादा प्रकृति के दो इहलौकिक प्रतीकों का मिलन है और इसलिए यह मिलन शरीरी भी है और रहस्यात्मक भी। यह मित्रता, इसकारण, अविच्छेद्य है, शाश्वत है जिस कमकांडों द्वारा सम्पन्न करके, पति-पत्नी के रूप में मिलने वाले नर-नारी का उच्च अविच्छेद्य और शाश्वत मिलन की गरिमा का अनुभव कराया जाता है। विवाह अलौकिक बंधन है जिस कमकाण्डों द्वारा और भी अलौकिक रूप देने का प्रयास किया गया है। वैवाहिक कमकांडों में देव पित्रा का आवाहन कायादान विवाह होम के द्वारा अग्नि को मांसी बनाना और सप्तपदी, विवाह में अलौकिक पट दत्त हैं। विवाह पति-पत्नी के बीच एक अलौकिक, अविच्छेद्य और शाश्वत गठबन्ध है। पत्नी सहघमिणी है क्योंकि बिना पत्नी के गृहस्थ का कोई भी धार्मिक कर्तव्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। घम अथ, काम और गृहस्थाधम के आधारों का निभाने के लिए पत्नी आवश्यक है। पुरुष गृहपति है तो नारी गृहस्थी और गृहपत्नी।

संस्कार के रूप में विवाह एक सामाजिक धार्मिक कृत्य है। इसकारण, विवाह सूत्र में बचने वाले नर-नारी नहीं बरन विवाह के सामाजिक पहलू महत्वपूर्ण हैं। व्यक्ति पितृ का 'कृणी' है, इसलिए विवाह में पितृ का और पितृ का माध्यम से परिवार का महत्व बढ़ जाता है। विवाह, पति-पत्नी के सम्बंध में बंधन वाले नर-नारी में सममानता नहीं है बरन उनकी आ-मोक्षति अमृत्यु और तिथयस् के लिए एक विज्ञान है। अतः, विवाह में नर-नारी के अभिभावक का महत्व बढ़ जाता है। ऐसी दशा में व्यक्ति के स्थान पर कुल और परिवार की महत्ता बढ़ जाती है। विवाह केवल संज्ञान नहीं बरन सामाजिक कृत्य संचालन है। व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण है मवसन की सामाजिक वचना जो संवेदन नियमों के द्वारा प्रतिपादित होती है। हिंदू अगम्यगमन की धारणा में सपिण्ड, सप्रवर और सगाव विवाह अवैध हैं। अतः कर्तव्य के अनुसार बधू न तो घर की सपिण्ड होनी चाहिए और न घर के गात्र और प्रवर का हानी चाहिए। बधू का घर की माता की पाँच पीढ़ियों और पिता की सात

पीढ़ियों के उस पार की होना चाहिए^१। मिताक्षरा के अनुसार, जिन व्यक्तियों में एक ही पूज्य का स्वतन्त्र है, वे सपिण्ड हैं। दायमात्र के अनुसार, जो पिङ्गल की अत्येष्टि त्रिया से बंधे हैं, वे सपिण्ड हैं। एक ही पूज्य की सत्तान पिङ्गल की अत्येष्टि त्रिया से बंधते हैं। मिताक्षरा विधान के अनुसार, वे सपिण्ड जा एक ही पूज्य की सत्तान है और माता की ओर से पाँच पीढ़ी तथा पिता की ओर से सात पीढ़ी में आते हैं विवाह के अधिकारी नहीं हैं। साधारण नियम यह है कि वर और वधू एक ही कुल के न हों, क्योंकि कुल एक विस्तृत परिवार है जिसकी एकाता बनाए रखने के लिए सपिण्ड, सगोन और सप्रवर विवाह का निषेध बाध्यकारी है।

सपिण्ड सप्रवर और सगोन विवाह निषेध एक ऐसा आदर्श शास्त्र नियम है जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य जातियाँ में सामान्यतः पाया जाता रहा है यद्यपि इन जातियों में भी इसके अपवाद मिल जाते हैं। हटन के अनुसार बिहार के सारनलीपी ब्राह्मणों में सगोन विवाह का नहीं बल्कि 'सुपुत्र विवाह' का निषेध है। तृदवर्णी जातियों में साधारणतः सपिण्ड संबंधों और माँ की पाँच पीढ़ियों और पिता की सात पीढ़ियों में संबंधों का निषेध का 'मातृहारीक' विधान मिलता है। सपिण्ड, सप्रवर और सगोन तथा माँ की ओर से पाँच पीढ़ियाँ तथा पिता की ओर से सात पीढ़ियाँ में विवाह निषेध करने के कारण, भाई बहिन और पिता के भाई-बहिन, माँ के भाई बहिन और सौतेली माताओं के लड़के लड़कियों में विवाह स्वतः अप्रामाण्य की श्रेणी में आ जाता है यद्यपि भाई बहिन के विवाह निषेध का छोड़कर, मन्त्र इस आदर्श विधान को नहीं अपनाया गया है। माँ के भाई और पिता की बहिन के लड़के या लड़की से विवाह दक्षिण के हिंदुओं में उत्तम माना जाता है। शास्त्र की मायताओं के अनुसार विवाह सपिण्ड के संबंधों तथा एकौकरण का आधार है। अतः तनाव नहीं निमोग

- १ गोत्र का तात्पर्य उस समूह से है जिसके व्यक्ति अठारह गोत्रधार ऋषियों में से किसी एक को अपना पूज्य मानकर, आपस में विवाह नहीं करते हैं। यद्यपि परम्परा के अनुसार गोत्र अठारह है किन्तु, वास्तविक व्यवहार में गोत्रों की संख्या अठारह से अधिक है। सभी गोत्र यद्यपि ऋषियों पर ही आधारित नहीं हैं—कुछ स्थानवाची हैं और कुछ टोटमवादी। यद्यपि गोत्र बहुधा उच्चवर्णी जातियों में पाये जाते हैं और स्थानवाची तथा टोटमवादी गोत्र निम्नवर्णी जातियों में। सगोन विवाह का आदर्श केवल उच्चवर्णी जातियों ही मानती है क्योंकि निम्नवर्णी जातियों में इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। बंगाल के राजवंशी सगोन विवाह करते हैं। एक गोत्र कई जातियों में पाया जाता है। प्रवर का तात्पर्य उन ऋषियों से है जो विभिन्न गोत्रों में उत्पन्न हुए हैं और जिनसे प्रत्येक गोत्र की गरिमा बढ़ी है। हर गोत्र के अलग-अलग प्रवर हैं।

महान्पूण है क्योंकि तन्नाक से सपिण्ड सन्धित होता है जबकि निमोग से बढ़ता है । इसी दृष्टिकोण से दवर और साली के साथ विवाह वाछनीय माना गया है ।

सपिण्ड, सगोन और सप्रवर विवाह अवाछनीय है किन्तु सवण विवाह वाछनीय और उत्तम । अतवण का भी विधान है पर एक दात के साथ । पुरुष अपने से निम्न वर्ण की नारी से विवाह कर सकता है किन्तु नारी अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती है । इसी आधार पर अनुलाम और प्रतिलाम विवाहों में अंतर बरके, अनुलाम का वाछनीय और प्रतिलाम का अवाछनीय माना गया है । किसी भी पुरुष का अपने या अपने से निम्नवर्ण की नारी या नारियों से विवाह करना अनुलोम विवाह है और किसी नारी का अपने से निम्नवर्ण के पुरुष के साथ विवाह करना प्रतिलाम विवाह । अनुलाम विवाह के नियमानुसार, ब्राह्मण, अपने वर्ण के क्षत्रिया क्षत्रिय वर्य और छद्र वर्णों क्षत्रिय अपने वर्ण के अलवा वश्य तथा गूद्र वर्णों वर्य अपने वर्ण के अलवा गूद्र वर्ण और शूद्र वर्य गूद्र वर्ण में ही विवाह कर सकता है । इस नियम के अनुसार, जिस वर्ण का सामाजिक स्तर जितना ऊँचा है उसके पुरुषों के विवाह का क्षेत्र उतना ही बड़ा है और जिसका स्तर जितना कम, उसका पुरुषों के विवाह का सामाजिक क्षेत्र उतना ही कम । उसके प्रतिकूल उच्चतम वर्ण की नारियों के विवाह का सामाजिक क्षेत्र, सबसे कम और निम्नतम वर्ण की नारियों का सबसे अधिक है । निम्नतम वर्ण के नारियों को अधिक माँग के कारण और अधिकतम पुरुषों के अविवाहित रहने की सम्भावना के डर से यथुयन का प्रवेश होता है तो उच्चतम वर्ण में विवाह माँग लम्बा की माँग के बड़ रहने से दहेज का प्रवेश होता है । उच्चतम वर्ण की नारियों के लिये विवाह की सीमा बरक अपने ही वर्ण तक सीमित रह जानी है यद्यपि उच्च वर्ण के पुरुष अपने ही वर्ण तक सीमित नहीं है । फलतः उच्चतम वर्ण में दहेज के साथ साथ मती, मती २, पतिव्रत, विधवा विवाह विपथ तथा बहुपत्नीत्व का समावेश होता है । धर्मासना में बहुपत्नीत्व माय है उस दशा में जब पत्नी म्नी बाध हो या उसमें पुत्र न होकर पुत्रियाँ ही हों । किन्तु, साथ ही साथ, बहुपत्नीत्व सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा में भी सम्बन्धित रहा है । ब्राह्मण और क्षत्रियों में ही अधिकतर बहुपत्नीत्व का अपनाया है । वास्तव में जिस व्यक्ति या समूह का वर्ण जितना उच्च रहा है वह उतना ही बहुपत्नीत्व की ओर प्रवृत्त रहा है । बगल के कुलीन ब्राह्मणों की पुत्र बहुपत्नीवानी प्रथा इसका प्रमाण है । बहुपत्नीत्व का हिन्दू शास्त्र-कारों ने मान्यता नहीं दी है यद्यपि कपाटिया का मत है कि सम्भवतः आर्यों के कुछ समूहों में यह प्रथा थी । फिर भी, अपवादा रूप में, जानमर बाहर के हिन्दू समाज में बहुपत्नीत्व की प्रथा आज भी विद्यमान है । यह शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध है किन्तु स्थानीय प्रथाओं की मर्यादा के अनुकूल ।

वास्तविक सामाजिक व्यवहार में, वर्ण एक आत्म सिद्धान्त रहा है । हिन्दू-

समाज वर्ण समूहों के जादस सिद्धांत पर समर्थित जानियो में विभक्त रहा है। हिंदू समाज ब्राह्मण जातियाँ क्षत्रिय जातियाँ, वश्य जातियाँ तथा शूद्र जातियों में समर्थित रहा है। एक वर्ण में कई अंतर्विवाही समूह रहें हैं और प्रत्येक अंतर्विवाही समूह बहिर्विवाही गात्रों और कुलों में बँटा रहा है। कुलों में सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चाञ्च परम्परा पाई गई है। उग्राहरणाय, ब्राह्मणों में सारस्वत, कायकुब्ज गौड उत्कल, मथिल (पंचगौड) तथा कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा द्रविड़ और गुजरात (पंच द्राविड़) समूह हैं, जिनमें से अधिकतर अंतर्विवाही हैं। कायकुब्ज गोत्रों में बँट है और प्रत्येक गोत्र कमकाण्ड पर आधारित समूहों (मिश्र गुल्ल बाजपेई उपाध्याय इत्यादि) और प्रत्येक समूह अलग अलग सामाजिक प्रतिष्ठा वाले कुलों में^१। प्रत्येक कायकुब्ज अपने समान या उच्च कुल में लड़का देता है और अपने से नीचे कुल की लड़की ले लेता है। इस प्रकार वास्तविक व्यवहार में वर्ण विवाह समाज विवाह के रूप में रहा है और अनुक्रम प्रतिलोम विवाह जाति अंतर्विवाहिकी के अन्तर्गत अंतर्कुल विवाहों के रूप में। शास्त्रीय प्रतिपादन कुछ और रहा है और वास्तविकता कुछ और।

वर्ण की भिन्नता के आधार पर हिंदू शास्त्रकारों ने आठ प्रकार के विवाह माने हैं—ब्राह्म, क्षत्र, आर्य, प्राजापत्य, ऊसुर, याग्य, राक्षस और पशुचर। इनमें पहले चार प्रकार ब्राह्मणीय हैं और दूसरे चार प्रकार अंब्राह्मणीय। इन प्रकारों की ब्राह्मणीयता और अंब्राह्मणीयता का आधार बंधन भी है। शास्त्रकारों के अनुसार पहल चार प्रकारों में नारी का पति का गोत्र मिलता है अतः, नारी के स्त्रीपन का आधारकारी पति होता है। तब तो दूसरे चार प्रकारों में चूँकि नारी को पति का गोत्र नहीं मिलता है, अतः उसका स्त्रीपन उसके माता पिता के परिवार का जाता है। इस परम्परागत बंधन अन्तर्गत का यायाग्यो ने नहीं स्वीकार किया है। किन्तु फिर भी, यह अन्तर्गत चल रहा है। वास्तविक व्यवहार में हिंदुओं में ब्राह्म और आसुर प्रकार की प्रचलित है। ब्राह्म का मुख्य आधार वर का चुनाव वर के वंशजान करना है और आसुर का वध धन। वधूदान प्रथा पर आधारित है न कि किसी वंश सविदा पर। इन आठ प्रकार के विवाहों का शास्त्रीय मान्यता के अनुसार सभी प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान का सामाजिक वर्ण प्रदान करना है।

वर और वधू का शास्त्र द्वारा निर्धारित मंगानाओं के अनुसार ब्रह्मचारी होना अवशेषित है। वर का अविलुप्त ब्रह्मचारी, धृतवान (बो) का पिता) वधू के और पुत्र होना चाहिये। वधू रामी न हो उसका बाल और आधा का रंग रक्तम न हो उसकी गरीर पर बालों की अधिकता न हो और उसकी चाल-चल

१ विवेक विवरण के लिये देखिये मिश्र में नीलाल की वस्तु कायकुब्ज समावली।

तथा रूप रंग पुरुषा का सा न हा । जिस प्रकार वर के लिये अविलुप्त ब्रह्मचारी होना आवश्यक है उसी प्रकार कन्या के लिये यह आवश्यक है कि वह परपरिगृहीता न हा । जिस परिवार में शास्त्र और वेदा का निरादर हो, जिसमें कन्यायें ही हों, जिसके सदस्या के गरीर पर अत्यधिक बाल हा तथा जिसके सन्त्य रक्तसाव, तपेदिक अपाचन मिरगी और सफेद या काला नाड इत्यादि बीमारियों के शिकार हा, वहाँ विवाह नहीं करना चाहिये ।

संस्कार गणपति के अनुसार ब्राह्मविवाह पंचांग होता है । बाग्दान, वरण, प्रदान (कन्यादान) पाणिग्रहण और सप्तपदी उसके पांच अंग हैं । बाग्दान और वरण अभिभावकों और गुरुजनों द्वारा सम्पन्न होता है । कन्यादान भी अभिभावक द्वारा सम्पन्न किया जाता है । कन्यादान का अर्थ यह नहीं है कि कन्या पर उसका पिता माता या किसी अभिभावक का वैसा ही अधिकार है जैसे कि किसी चल या अचल सम्पत्ति पर । कन्यादान स न किसी स्वत्व का सजन होता है न विसजन और न हस्तांतरण का । यह अवश्य है कि कन्यादान में कन्या वर को सौंपी जाती है । कन्या का पिता दाता होता है और उसके न हान पर जैसा कि दानवत्क्य न विधान किया है, कन्या पितामह बड़ा भाई माता या कोई बड़ा सम्बन्धी कन्या वर को सौंपने का काम सम्पन्न कर सकता है । दाता कोई हा सकता है पर आदाता हर दशा में वर ही होता है । गीता में निष्काम दान को सात्त्विक माना गया है । इस दृष्टिवाण से कन्यादान दान का प्रयाग उचित ठहराया जा सकता है । किंतु दान की यह परिभाषा वैधानिक नहीं है । दानकिया कीमुदी में गोविन्दानन्द ने यह कहा है कि दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामाङ्कित) व्यक्ति में स्वामित्व उत्पन्न करता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वामित्व दाता से आदाता में चला जाता है । तो फिर क्या जामाता दान में ली हुई परनी का दान कर सकता है ? स्मृतिकारों का उत्तर है नहीं । नत्र कन्या में पिता का स्वामित्व नहीं ठहरता है । वनिष्ठ स्मृति में माता पिता को सत्तान बेचने, दान करने और त्यागने का अधिकार है किंतु मनु के अनुसार विद्वान पिता कन्या के लिये धाढा-सा भी गुल्फ न ले । लोभवा गुल्फ लेने से मनुष्य अपत्य विप्रयी—सत्तान बेचने वाला—हा जाता है । कन्यादान विवाह का एक अंग है अवश्य पर कन्यादान उतना वैधानिक नहीं है जितना सप्तपदी है । कन्यादान के द्वारा पति स्वत्व नहीं कतय प्राप्त करता है । फिर कन्या को वर को सौंपने की क्रिया के लिये दान दण्ड क्या प्रयुक्त हुआ ? यह सम्भवत भाषा की वैसी ही गलती है जमी 'मूरज उगता है या दूबता है की अभिव्यक्ति में व्याप्त है ।

- 1 विशेष वर्णन के लिये देखिये—पी० एच० प्रभू कृत हिन्दू सोशल आगनाइजेशन
- श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दू विवाह में कन्यादान का स्थान ।

तब प्रश्न उठता है कि क्या परम्परा के रूप में कन्यादान एक कानूनीक (Legal Fiction) मात्र है ? इस प्रश्न पर दो मत हो सकते हैं। किन्तु, यह एक प्रकार से निश्चित है कि चाग्दान, वरण और प्रदान (कन्यादान) से सम्बंधित कमकाण्ड और मर्यादाय विवाह में कन्या के अभिभावक की अनुमति का कानूनीकता प्रमाण करती है और पाणिग्रहण तथा सप्तपदी से सम्बंधित कमकाण्ड कन्या की अनुमति का। किन्तु, किस आयु में कन्या को यह अधिकार मिलता है और कन्या विवाह के योग्य होती है, इस पर शास्त्रकारों में मत विपरीत है। इस कारण, जब भारत पर योरोप का सघात हुआ और भारत में व्यक्तिवादी तथा समतावादी कानूनीक विचारधारा का प्रसार हुआ तो इस प्रश्न का लेकर दो मत अस्तित्व में आए— एक, उन परम्परावादियों का जिन्होंने दशवर्षा भवेत् भार्या वाले स्मृति के वचन को लेकर दस वर्ष की आयु को विवाह की आयु मानकर, बाल विवाह का पक्ष लिया और दूसरा उन लोगों का जिन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शास्त्रों में बाल विवाह का अनुमोदन नहीं है और इस बात पर ज़ोर दिया कि आनमणकारियों से लड़कियों की रक्षा करने के लिये ईसवी सन् की पहली पांच या छह शताब्दियों में स्मृतिकारों में कन्या की विवाह आयु को कम से कम करने की प्रवृत्ति रही है। स्मृतिकारों का यह मत है कि रजोन्शन के बाद यदि कन्या पिता के घर रहती है तो वह त्रिवला व ब्रह्मा हो जाती है और ऐसी कन्या का विवाह न करने वाला पिता को भ्रूण हत्या का पाप लगता है। मनु ने यह विधान किया है कि शतुमती हान के बाद, कन्या के अभिभावक यदि उसका तीन साल तक विवाह नहीं करते हैं तो उसे स्वयं प्रपन्ना पति चुनने का अधिकार है। मनु ने चार की आयु तीस वर्ष और कन्या की आयु बारह वर्ष रखी है। विवाह योग्य कन्या के लिये 'नग्निक' और प्राप्तयोग्यता विशेषणों का भी प्रमाण किया गया है जिनका अर्थ पाइसी लगाया गया है अर्थात् वह आयु जब कन्या शरीर से पत्नीत्व और मातृत्व का भार उठाने योग्य हो। वर की आयु के विषय में शास्त्रकार चुप हैं। हाँ, एक यह साधारण नियम अवश्य पाया जाता है कि पुरुष का विवाह समावर्तन संस्कार के बाद होना चाहिये जो पचीस वर्ष के करीब आता है। हर दशा में इस बात का विधान अवश्य है कि वर की आयु कन्या से अधिक होनी चाहिये।

योरोप के सम्पर्क में आने के बाद जब बाल विवाह और बाल विधवाओं को लेकर हिन्दुओं की योरोपियनों ने आलाचना शुरू की तब, एक ओर, इस बात पर ज़ोर दिया गया कि सामाजिक विधान द्वारा विवाह की आयु निर्धारित कर दी जाय और, दूसरी ओर, यह सिद्ध करने पर कि शास्त्रों में बाल विवाह का पहले ही से विधान है। डाक्टरों की राय के आधार पर केसबचरसन ने कन्या की विवाह आयु चौदह साल और वर की आयु अठारह साल निर्धारित की जिसे सन् अठारहवीं शताब्दी में स्पेशल मैरिज एक्ट द्वारा, कानून प्रदान की गई। दयानंद ने धर्मतत्त्व के

आधार पर यह निर्धारित किया कि कया की आयु कम-से कम सालह और अधिक-से-अधिक चौबीस बष और वर की कम से-कम पचीस और अधिक में अधिक रहना चीस बष हानी चाहिये । स्पेसल मैरिज एक्ट (1872) का सम्बन्ध हिन्दू विवाह से न था—उसका उद्देश्य ब्रह्म समाजी विवाह को वैधता प्रदान करना था । अतः इस काल में, हिन्दू विवाह में आयु का कानूनी निर्धारित बन्क बाल विवाह का रोकने का प्रयास किया गया । यह प्रयास ईश्वरचन्द विद्याभागर के प्रयत्नों से शुरू हुआ । अठारह सौ माठ में विवाह की आयु दस साल रखी गई, अठारह सौ इक्क्यानवे में कया की तरह साल और वर की चौदह साल और अठारह सौ उतीस में शारदा एक्ट द्वारा कया की चौदह साल और वर की अठारह साल । इस एक्ट में बाल-विवाह को रोकने का कोई विधान न था । अतः, यह एक्ट पुलिस एक्ट ही रहा । ग्रामीण में बाल विवाह चलते रह और शहरों में जहां जहां शिक्षा का प्रसार हुआ विवाह की आयु बढ़ती रही । अन्तर्जातीय विवाहों में कया को अठारह और वर को इक्कीस साल का होना आवश्यक है क्योंकि इस आयु में अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नहीं है । कृपि पर आधारित ग्रामीण व्यवस्था में बाल विवाहों को प्रोत्साहन मिला है तो शहरी, औद्योगिक व्यवस्था में वयस्क विवाह को, जो धीरे-धीरे सेट विवाह का रूप ले रहा है । आज एक ओर यदि बाल विवाह की समस्या है तो, दूसरी ओर, सेट विवाह और बिरकुमारित्व की ।

पुनर्विवाह सम्बन्धी मायताओं में भी एकमतता नहीं है जिसके कारण अंग्रेजी राजकाल में, एक ओर यह निश्चित करने का प्रयास किया गया कि शास्त्रों में पुनर्विवाह का विधान है और, दूसरी ओर, पुनर्विवाह सम्बन्धी शास्त्रीय और प्रयायी मायताओं को वैधता प्रदान की गई । पुनर्विवाह के कई रूप हैं—एक, जब एक पत्नी के रहते हुए पुरुष दूसरा विवाह करता है । ऐसा विवाह बहुपत्नीत्व को जन्म देता है जिसे शास्त्रकारों ने मायता प्रदान दी है¹ । दूसरा, विधुर पुनर्विवाह जो शास्त्रों द्वारा माय है । तीसरा, पति को तलाक देकर पुनर्विवाह और चौथा विधवा पुनर्विवाह । इन दोनों विवाहों को लेकर शास्त्रकारों में मतभेद है । शास्त्रकार

- 1 उदाहरणार्थ, कौटिल्य के अनुसार पुत्र की कामना करने वाला एक पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है यदि पहले विवाह के आठ से लेकर बारह सालों के बीच में उसकी पत्नी से पुत्र न हुआ है । मनु ने यह विधान किया है कि यदि किसी की पत्नी रोगी है तो वह उसका त्याग न करे वरन उसकी इच्छा से दूसरा विवाह कर ले—कपाडिया मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, पृष्ठ 172 और मनुस्मृति (9/82) । स्त्री के शराबी, बदचलन, रोगी, मगडालू, सर्बाली और बास होने पर भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है (मनु० 9/80, 81) ।

यदि एक मत है तो इस बात पर कि एक पति के रहते हुए, कोई भी स्त्री विसा भी दशा में दूसरा विवाह नहीं कर सकती है। साधारणतः, यह माना जाता है कि शास्त्रों में तलाक का विधान नहीं है। किंतु, यह भाष्यता निमूल है। वास्तव में शास्त्रों में तलाक पर कम, उन परिस्थितियों पर अधिक ध्यान दिया गया है जिनमें स्त्री को दूसरा विवाह करने की आवश्यकता उत्पन्न हो सकती है और इसकारण पुनर्विवाह की वधता का प्रश्न उठ सकता है। अपहरण की हुई ऐसी स्त्री जिसका विवाह ब्रह्मचारी द्वारा न सम्पन्न हुआ हो पुनः विवाह कर सकती है। कौटिल्य ने ऐसी स्त्रियों का पुनर्विवाह का अधिकार दिया है, जिनका पति काफी भ्रष्ट से बाहर चला गया हो या ससार त्यागकर संन्यासी हो गया हो। धर्मसूत्रों में भी दीधवाला से बाहर गए हुए पुरुष की पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार है। नारद और पाराशर ने खोये हुए (नास्त) प्रसूत, बच्ची (नपुंसक) और पतित (जातिच्युत) पुरुष की पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है। नारद के अनुसार, इन अवस्थाओं में, नारी के सम्बन्धों से पुनर्विवाह के लिये जोर दें चाहे नारी इसके लिये अनिच्छुक हो क्यों न हो। पाराशर स्मृति पर किये भाष्य में, मनु का हवाला देते हुए, माध्वाचम ने यह विधान किया है कि पति के नास्त (खो जाने) होने पर, निस्तान ब्राह्मण-स्त्री को पति के वापस आने का चार साल, क्षत्रिय-स्त्री को तीन साल और वश्य स्त्री को दो साल तक इंतजार करके पुनर्विवाह करना चाहिये। सतानवती नारी को इतना अवधि दोहरी कर देनी चाहिये। गौतम ने इतना अवधि छ साल रखी है¹। इस प्रकार, जिन अवस्थाओं में पुनर्विवाह का विधान किया गया है, उनमें इंतजार अवधि (Waiting Period) भी रखी गई है, जिसे अंग्रेजी राज में वधता मिली।

किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में विवाह विच्छेद का भी विधान मिलता है। यदि विवाह के समय पुरुष अपने शारीरिक तथा नैतिक दोषों को छिपाता है और यदि पुरुष बलीबल है, तो स्त्री को विवाह विच्छेद का अधिकार है (नारद, पाराशर)। कौटिल्य के अनुसार, अपने शारीरिक तथा नैतिक दोषों को छिपा कर विवाह करने वाला पुरुष दण्ड का भागी है—वह गुलन और स्त्रीघन का अधिकारी नहीं रहता है और उसी अपराध के लिए नारी और उसके अभिभावक पर जो जुर्माना लगता, उससे दुगुने जुर्माना का भागी हो जाता है। इसीप्रकार, यदि स्त्री में कामुकता और स्पष्टता है और उसमें ऐसे नैतिक या शारीरिक दोष हैं जो विवाह के पहले छिपाये गये थे तो पुरुष का विवाह विच्छेद करने का अधिकार है। ब्या के 'शारीरिक' तथा नैतिक दोषों को छिपाने वाले अभिभावक दण्ड के भागी हो जाते हैं। लेकिन यदि अभिभावक, विवाह से पहले, ब्या के दोषों को स्पष्ट कर देते हैं तो काढ़ जैसी

बीमारियों और कौमार्यमग्न जस गम्भीर दोषों के लिए भी न तो वे उत्तरदायी हैं और न दण्ड के भागी हों हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट और हिंदू मैरिज एक्ट में, दांडे परिवर्तन के साथ आज इन माताओं का संबंध मिट गया है।

मनु के अनुसार धर्मग्रन्थों में जला नहीं भी विवाह का प्रसंग आया है वहाँ, न तो विधवा पुनर्विवाह के नियमों का निरूपण हुआ है और न विधवा का नियोग के लिए नियुक्त करने का उल्लेख है (मनु० १०४-१०५)। किन्तु मनु के द्वारा प्रतिपादित मत में विरोध है। एक धारा के विधवा नियाम की अनुमति देते हैं (१०६०) और, दूसरी धारा यह प्रतिपादित करती है कि द्विजा में विधवा से नियाम नहीं करवाना चाहिए (१०६४)। विधवा का मतानुपत्ति के लिए मनु नियाम की अनुमति देते हैं (१०७०) किन्तु विधवा के प्रश्न पर वे अपने ही मत का खण्डन करने हैं। याज्ञवल्क्य भी विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं है। कौटिल्य पाराशर और नारद विधवा-पुनर्विवाह का अनुमोदन करने हैं^१। दयानन्द ने भी धर्तयानि तथा तत्वीय द्विज स्त्री पुरुषों का पुनर्विवाह की अनुमति नहीं दी है और नियाम का मायता प्रदान की है।

इसप्रकार विधवा पुनर्विवाह का प्रश्न दो प्रकार के मत मिलता है। प्रभू के अनुसार, सामारणतः विधवा पुनर्विवाह का पक्ष नहीं लिया गया है। विवाहित विधवा के लिए 'पुनर्भू' की संज्ञा का प्रयोग किया गया है। किन्तु विधवा-पुनर्विवाह को सत्कार नहीं माना गया है। सच्ची स्त्री का पति की मृत्यु के बाद वस ही अपन सतीत्व को मजबूती रखना चाहिए जस कि वह पति के जीवनकाल में करती है। मनु और याज्ञवल्क्य के अनुसार, विधवा का दूसरे पति का नाम तक नहीं लेना चाहिए। वात्स्यायन पुनर्विवाहित विधवा का कामासुख कहते हैं और यह मानते हैं कि 'पुनर्भू' और वधवा से स्थापित किए गए यौन सम्बंध में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों का उद्देश्य केवल नियम-आमना की तुष्टि है। ब्रह्मचारिणी विधवा का निस्संतान होने पर भी स्वर्ग मिलता है। जो विधवा अपने पति के प्रति वफादार नहीं रहती वह पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं है और न वह अपने पति के परिवार से भरण पोषण की ही अधिकारिणी है। जिस स्त्री का पति बिना यौन सम्बंध स्थापित किए ही मर जाता है वह विवाह सत्कार की अधिकारिणी है। ऐसे विचार 'सती' और 'पतिव्रता' की धारणाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। सती की धारणा हमरी तासरी गतांगी से मिलती है। पुराणों के काल में पतिव्रता की धारणा का प्रतिपादन जोरों से मिलता है—यह धारणा, जो अनुसूच्या के माध्यम से सुलभीयता में रखी है। पाराशर स्मृति (छठी-सातवीं गतांगी) में विधवा पुनर्विवाह का विधान है। भरव-पठाना के आश्रमण के काल की स्मृतियों में नारी पुनर्विवाह का निषेध मिलता है और साथ ही-साथ बाल विवाह का प्रतिपादन। कणादिया के मत में, मातवी शताब्दी

के पास पास विधवा पुनर्विवाह के पक्ष का सामाजिक लोप छा हो गया क्योंकि उस काल में वैधव्य को अपनाने तथा सती हान पर जोर है न कि विधवा पुनर्विवाह पर। कपाडिया के अनुसार, यह अवस्था, एक ओर, पतिव्रता की धारणा के प्रति और दूसरी ओर तांत्रिक प्रथाओं में पाई जाने वाली यौन उच्छेदलना के प्रति होने वाली प्रतिप्रियाया का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है^१।

विधवा को पुनर्विवाह की यदि अनुमति मिली भी है तो सीमित अर्थ में। जैसा कि कौटिल्य, पाराशर और नारद की मायताओं में मिलता है यदि विधवा-पुनर्विवाह की अनुमति दी भी गई है तो साथ ही साथ इस बात का भी विधान किया गया है कि विधवा का मत पति के छोटे भाई (देवर) या किसी सपिण्ड के साथ पुनर्भू बनना वाछनीय है। वास्तव में जिस अवस्था में भी स्मृतिकारों ने नारी का पुनर्विवाह की अनुमति दी है उसमें उन्होंने देवर या पति के किसी सपिण्ड के साथ पुनर्विवाह करने पर जोर दिया है। पुनर्विवाह और तलाक के स्थान पर अधिकतर नियोग का ही पक्ष लिया गया है। नियोग का उद्देश्य काम सुख नहीं है। नियोग का उद्देश्य है प्रजा अथवा सत्तान की प्राप्ति। मनु ने नियोग के द्वारा दो से अधिक सत्तान उत्पन्न करने की आज्ञा नहीं दी है। नियोग या पुनर्विवाह उसी के साथ हो सकता है जो सपिण्ड है और जिसका पद देवर का है। तलाक और पुनर्विवाह यदि स्त्री को सपिण्ड के बाहर ले जाते हैं तो स्त्री को अपने पति के कुल से विच्छेद करना पड़ता है जो स्मृतिकारों को भाव नहीं है क्योंकि इससे जहाँ पति के परिवार में स्त्री के अधिकार समाप्त होते हैं वहाँ कुछ क नरतय में बाधा पड़ती है। वृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में परिवार से बाहर न तो पुरुष का अधिक स्वेत्त्व रहता है और न नारी का और, इसी कारण सम्भवतः पुनर्विवाह की समस्या पर कुल की समष्टिवादिता के दृष्टिकोण से विचार करने पर जोर दिया गया है। यारोपाय सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के संघात ने इस स्थिति को बदल दिया जिसके कारण विवाह, तलाक और पुनर्विवाह पर व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विचार करने पर जोर दिया जाने लगा, जिसका परिणाम हुआ बहुपत्नीत्व का अवैध करार देना और तलाक तथा विधवा पुनर्विवाह का वैधता प्रदान करना।

हिंदू वैवाहिक प्रथाओं और उनमें समयानुसार आवश्यक सुधारों की वधा बनावे के प्रयास में, अंग्रेजी राज के सत्त्वावधान में विधि निर्माण की जो प्रथाओं का प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी उसका वर्तमान समाहार एक ओर विशेषतः मरिज एक्ट (19५५) और दूसरी ओर हिंदू मरिज एक्ट (1955) में हुआ है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब ब्रह्मसमाज में वैवाहिक समझौते के लिए एक ऐसी

अनुष्ठान पद्धति रची गई जिसमें उन सनातनी वैवाहिक धर्मकाण्डों को निकाल दिया गया जिसमें मनुष्य का मूर्तिपूजा का आभास मिलता था और अन्तर्जातीय विवाहों को प्राप्ताहृत दिया गया तो ब्रह्मसमाजी अनुष्ठानपद्धति के आधार पर सम्पन्न और ब्रह्मसमाज के सत्वावधान में होने वाले अन्तर्जातीय विवाहों को वधता प्रदान करने के लिए सन् अठारहवीं सदी के अन्त में स्पेशल मैरिज एक्ट पास किया गया था। यह एक्ट वही पर लागू होता था जो ब्रह्मसमाजी थे या जो हिन्दू नहीं थे। ऐसी दशा में, इस एक्ट के सत्वावधान में विवाह करने वालों का हिन्दुत्व में बाहर जाना आवश्यक था। किन्तु, वर्तमान एक्ट में ऐसा नहीं है। इसीप्रकार, आय समाज के सत्वावधान में होने वाले अन्तर्जातीय विवाहों का वधता प्रदान करने के लिए आय मैरिज बैनिडिशन एक्ट (1937) पास किया गया था जिसके अनुसार दो भिन्न जातियों के स्त्री पुरुषों का विवाह सभी वैध होता था जब पहले वे आय समाजी हों। इसप्रकार अंग्रेजी राज में, एक ओर पारंपरिक विचारधारा और दूसरी ओर हिन्दू-समाज में चलन वाला सुधारवादी विचारधारा के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को वैधता प्रदान करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। यह नहीं माना जा सकता कि अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले अन्तर्जातीय विवाह होते ही नहीं थे। हाँ यह अवश्य है कि पहले स्त्री पुरुषों का इतनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं थी जितनी की अंग्रेजी राज्य-काल में मिली और, इसकारण, यदि अन्तर्जातीय विवाह होते भी थे तो उनकी संख्या कम होती थी। यदि ऐसे विवाह हात भी थे तो उनका निषेध जाति-पंचायतों द्वारा होता था। जाति-अन्तर्वैवाहिकी के नियमों की अवहेलना करने वाले जाति पंचायतों द्वारा लगाया हुआ दण्ड दकर पुनः अपनी जाति में शामिल हो जाते थे। जाति के नियमों को भंग करने वालों की जाति से हमेशा के लिए निकाल दान की प्रथा नहीं रही है। एक ही जाति के दो अन्तर्विवाही समूहों (उपजाति) के स्त्री पुरुषों के विवाहों को भी अधिकतर अन्तर्जातीय विवाह मान कर जाति पंचायतें उनके लिए भी वसा नियम करती थी जैसा कि अन्तर्जातीय विवाहों के लिए। यह प्रथा आज भी विद्यमान है यद्यपि धीरे-धीरे यह टूट रही है। उदाहरणार्थ लखनऊ के चमारों में यदि दुरील चमार जसवारा चमारों में विवाह करता है तो वह अपनी पंचायत के समक्ष दंड का भागी होता है। पंचायत का नियम दोनों ओर लागू होना रहा है। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर की ओर से विवाह करता है तो वह पंचायत के समक्ष दंड का भागी है और यदि कोई व्यक्ति अपनी लड़की को अपने अन्तर्विवाही समूह के बाहर के व्यक्ति को देता है या उसकी लड़की किसी अपने ही जाति के सदस्य या दूसरी जाति के सदस्य के साथ भाग जाती है, तो भी वह पंचायत के समक्ष दण्ड का भागी है। किन्तु, अंग्रेजी राज्य-काल के पायालयों में एक ही जाति के अन्तर्विवाही समूहों का, एक ही जाति का उपजातिमान मानकर उनके स्त्री पुरुषों के विवाह को वैध माना जाने लगा और अन्तर्जातीय विवाहों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह सिद्धांतों के

आधार पर, उन विवाहों को बंध माना जाने लगा जिनमें वर उच्च जाति का और क या निम्न जाति की थी और उन विवाहों को अवैध माना-जाने लगा जिनमें वर निम्न जाति का और क या उच्च जाति की थी।

इसमें कोई शक नहीं कि हिंदू विधान में अतर्जतीय विवाहों का निषेध नहीं है किंतु हिंदू सामाजिक व्यवस्था में उपजाति के नाम की कोई चीज भी तो नहीं है। हिंदू सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक अतर्जिताही समूह जाति है। उपजाति की अवधारणा विदेशियों का प्रतिरापण है। अनुलौम प्रतिलौम का सम्बन्ध वण-यव का से रहा है न कि जाति व्यवस्था में। हिंदू शास्त्रकारों ने प्रतिलौम का दावी माना है न कि अवध। अनुलौम भी हिंदू शास्त्रकारों के अनुसार मातृदाय का जन्म होता है। हिंदू शास्त्रकारों की मान्यता में प्रतिलौम अवाच्छनीय रहा है न कि अवध। किंतु, अंग्रेजी विधिप्रणाली के आधार पर संगठित यायालयों ने इस नियम को दूसरे ढंग से लागू किया। यायालयों ने एक ओर यह नियम प्रतिपादित किया कि ब्राह्मण कया और राजपूत (क्षत्रिय) वर का विवाह अवध है (दलिये एडमी बनाम कल्याणसिंह ३ बम्बई एल० आर० १२६) और, दूसरी ओर यह कि एक ब्राह्मण-स्त्री "म"-पुरुष से वैध विवाह नहीं कर सकती है (दलिये बाइ काशी बनाम जमनादाम १४ बम्बई एल० आर० ५४७)। इसप्रकार अतर्जतीय विवाहों की वैधता के प्रश्न का लेकर विवाह सम्बन्धी हिंदू विधि का जहाँ निश्चय यायालयों में प्रस्तुत किया गया उसमें विरोध जा गया जिसके फलस्वरूप अतर्जतीय तथा अतत्सम्प्रदाय विवाहों को वैधता प्रदान करने के लिए एक अखिल भारतीय अधिनियम की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उधर यारापीय शिक्षा, नई व्यवस्था की आर्थिक व्यवस्था और शहरी में बढ़ती हुई व्यक्तिवादित ने अतर्जतीय विवाहों को प्रोत्साहित किया जिससे अतर्जतीय विवाहों की वैधता प्रदान करने की आवश्यकता और भी बढ़ी। स्पेन्गल मरिज एक्ट (१९५४) इसी सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है। स्पेन्गल मरिज एक्ट की प्रस्तावना में यह कहा गया है कि "स एक्ट का उद्देश्य विधेय अस्थापना में, विशेष विवाह प्रकार उसके निबधन और तत्साक का वैधता मान्यता प्रदान करना है। ये विधेय अवस्थाय उस समय उत्पन्न होती हैं जब दो जातियाँ सम्प्रदायों और धर्मों के पक्षित विवाह बंधन में बंधते हैं। इस एक्ट द्वारा मान्य विवाह प्रकार संस्कार नहीं समझीता है। उसमें बन्धकाह का कोई स्थान नहीं है। यह योरापीय सघात में उत्पन्न सामाजिक आवश्यकता का प्रतिफल है।

हिंदू मरिज एक्ट (१९५५) एक विपरीत हिंदू विवाह परम्पराओं का सामाजिक परिवर्तन में उत्पन्न मर्यादाओं के अनुसार विविष्ट करने की आवश्यकता का प्रतिफल है। इससे जहाँ इन बातों के हिंदू सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा सामाजिक नवजागृति की आकांक्षा की तुष्टि होती है वहाँ इससे शास्त्रीय तथा लोक परम्पराओं को वैधता मिलती है। यह एक्ट शास्त्रीय तथा लोक परम्पराओं के

वधिक सम वय का प्रयास सा लगता है। ऐसा लगता है कि मानो यह ब्रह्मसमाज तथा आमसमाज द्वारा चलाये गए उस आन्दोलन का भाग का प्रतिफल हो जिसका उद्देश्य रहा है हिंदू समाज का उत्तरात्तर निर्दिष्ट करीकरण। यह एक्ट भी एक वैधानिक विवास प्रक्रिया का परिणाम है जिसका प्रारम्भ उस समय हुआ था जब अग्रणी प्रयासका ने हिंदू स्त्रीय विधि पणाली का रखवद्ध करने के लिए यह मिड्रात निर्धारित किया था कि जहां शास्त्राय मायताओं में विराध हो वहां प्रया का विरि माना जाय और हर दशा में वैधानिक निश्चितता लाने का प्रयास किया जाय किन्तु उस शास्त्रीय मायता या प्रया को वय न माना जाय तो राज्य-नीति (Public Policy) के विरुद्ध है। यह पहला अतिरिक्त भारतीय एक्ट है जिसके पीछे एक वैधानिक विनाम प्रम है। इसके पहले बम्बई में दो अधिनियम पास किए गए थे—एक, दि हिंदू मैरिज रिजिस्ट्रेशन रिमूवल एक्ट (1946) जिसमें सगोत्र, सप्रवर और अत उपजाताय विवाहा का वयता प्रदान की गई थी और दूसरा, दि हिंदू मैरिज रजिस्ट्रेशन एक्ट (1949) जिसमें हिंदुओं जना और सिक्खों तथा उनकी उपजातियों में हाने वाल विवाहा का वय मान लिया गया था। पहला एक्ट शास्त्रीय मायताओं के विराध में पड़ता था और दूसरा नई सामाजिक मायताओं के अनुकूल था। वास्तव में आवश्यकताएं एम विधान की थीं ता शास्त्रीय मायताओं को भी बंधता प्रदान कर और उन परम्पराओं का भी जो हिंदू तो हैं किन्तु शास्त्रीय नहीं है। हिंदू मैरिज एक्ट इसी दिशा में उठा हुआ एक कदम है।

हिंदू मैरिज एक्ट (1955) और स्पेशल मैरिज एक्ट (1954) की उत्पत्ति भारतीय समाज का गह्वारमकता में हुई है। हिंदू मैरिज एक्ट का उद्देश्य परम्परागत हिंदू विवाह प्रथाओं को तथा हिंदू-नारी को नई परिस्थितियों में उच्चतर वय सामाजिक स्तर प्रदान करना है जबकि स्पेशल मैरिज एक्ट का उद्देश्य उन विवाहों को वयता प्रदान करना है जो दा विपमलिंगी व्यक्ति में और जाति से परे, स्वतंत्र रूप से स्थापित करते हैं। स्पेशल मैरिज एक्ट के रूप में, भारत के नगर-नारियों को विवाह में पहले की अपेक्षा अधिक व्यक्तिगत स्वतंत्रता मिल गई है जो लाभप्रद भी हो सकती है और हानिकारक भी। स्पेशल मैरिज एक्ट उन नई सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है जो गारापाय सभ्यता के सघात से उत्पन्न हुए हैं और जिनके कारण व्यक्ति की धार्मिक जातीय और साम्प्रदायिक परम्परावादिता से स्वतंत्रता देने का विचार अस्तित्व में आया है। स्पेशल मैरिज एक्ट उन सभी भारतीय नर नारियों पर लागू होता है जो इस एक्ट के तत्वावधान में विवाह करते हैं। हिंदू मैरिज एक्ट हिंदू विवाह पर लागू होता है। इसकारण, हिंदू मैरिज एक्ट में सबसे पहले हिंदू की परिभाषा की गई है। यह परिभाषा एक दृष्टिकोण से व्यापक है और दूसरे दृष्टिकोण से सीमित। उदाहरणार्थ, इस एक्ट के अनुसार हिंदू वह है जो धर्म में हिंदू हो या किसी भी हिंदू-सम्प्रदाय (जिस वारंश

लिंगायत, ब्रह्मसमाज, प्रायश्चित्तसमाज, आयसमाज, बौद्ध, जैन और सिख) का मानने वाला हो। दूसरे शब्दों में, जो भी अपने का हिंदू कहता है या हिंदुत्व में विवक्षित किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी है, वह हिंदू है। इस एक्ट के अनुसार वह सत्तान हिंदू है जिसके माता पिता हिंदू बौद्ध जैन या सिख हैं चाहे वह सत्तान बंध हो या अबंध। यदि माता पिता में से कोई भी हिंदू हो तो उनकी वध या अवैध सत्तान हिंदू है बशर्ते कि सत्तान का पालन पोषण उस गणजाति (Tribe) समुदाय (Community), समूह (Group) या परिवार में हुआ हो जिसके कि हिंदू माता या पिता सदस्य है। हिंदू धर्म में दीक्षित होने वाले और हिंदू धर्म का त्यागकर पुनः उसमें दीक्षा लेने वाले भी हिंदू हैं। किंतु साथ ही साथ यह एक्ट उन पर लागू नहीं होता है जो धर्म से मुसलमान इसाई पारसी और यहूदी हैं या जो यह सिद्ध कर दें कि हिंदू विधि या परम्परा या इस एक्ट की कोई भी धारा उन पर लागू नहीं होती है। यह एक्ट अनुसूचित गणजातियों पर भी लागू होता है। इस प्रकार, इस एक्ट में हिंदू और आदिवासियों में अंतर किया गया है। यह अंतर वर्तमान युग की उपज है। शास्त्रकारों ने ऐसा अंतर नहीं किया है। शास्त्रकारों ने, समय समय पर, हिंदू प्रथाओं का इस ढंग से निवचन किया है कि स्थानीय प्रथाओं का शास्त्रीय प्रथाओं के साथ समन्वय हो सके। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने प्रथाओं का महत्व दिया है। इन मायताओं के बावजूद भी इस एक्ट में यह कहा गया है कि इसके क्षेत्र में वे व्यक्ति या समूह भी आते हैं जो चाहे धर्म से हिंदू न हों, किंतु जिनपर इस एक्ट की धाराएँ स्वतः लागू होती हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि जहाँ एक ओर यह निश्चित करने का प्रयास किया गया है कि हिंदू कौन हैं वहाँ दूसरी ओर इस बात पर भी ज़ोर दिया गया है कि हिंदू समाज के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग भी हिंदू हैं। अतएव एक समूह या अनुसूचित गणजाति नहीं है और न पूर्णतया हिंदू ही है भी इस एक्ट के अंतर्गत आता है। यह वैधानिक व्यवस्था हिंदू समाज के विकास का स्वाभाविक परिणाम सा लगती है।

हिंदू मैरिज एक्ट का अभिभूतक वैधानिक प्रभाव पड़ा है क्योंकि इस एक्ट में कहा गया है कि इस एक्ट में जिन नियमों का विधान किया गया है उनसे सम्बंधित हिंदू विधि के मूलपाठ नियम और निवचन जो इस एक्ट के पहले लागू थे की वधता समाप्त हो जायगी और जो विधि इस एक्ट के पहले लागू थी और जो इस एक्ट में प्रतिपादित मायताओं के विराध में है वध नहीं रहगी। इस प्रकार, हिंदू मैरिज एक्ट में जिन नियमों को प्रतिपादित किया गया है उनसे विराध में आने वाली पूर्व विधियाँ को समाप्त कर दिया गया है। किंतु साथ ही साथ इसमें यह भी निम्न निवचना है कि इस एक्ट में हिंदू विवाह सम्बंधी जिन परम्पराओं का समावेश नहीं है और जो इस एक्ट की धाराओं के विराध में नहीं हैं वे परम्परागत हिंदू विधि के अनुसार चलेगी, बशर्ते कि वे राज्यनीति के विराध

मे न हो। इसप्रकार इस एक्ट के द्वारा हिंदू विवाह सम्बन्धी उन अनेक परम्पराओं का वध मान लिया गया है जो अनेक जातियों के स्तर पर पाई जाती हैं और जो इस एक्ट की धाराओं व विरोध में नहीं हैं। यह पहले ही कहा गया है कि हिंदू मरिज एक्ट एक लिखित अधिनियम होने के बावजूद भी, अनेक शास्त्रीय तथा जन परम्पराओं को एक साथ मायता देता है। उदाहरणार्थ इस एक्ट के अनुसार, जसा कि शास्त्रकारों की मायता है, भगान सप्रवर और माता की ओर से पांच पीढ़ियां तथा पिता की सात पीढ़ियां के व्यक्तियों में हान वाले विवाह अवैध है किन्तु जहां परम्परानुसार एस विवाह माय है व अवैध नहीं हैं। इस एक्ट में केवल विवाह हान और सप्तपदी को वध कमकाण्ड माना गया है किंतु साथ ही साथ परम्परागत कमकाण्डों की भी अनुमति दी गई है। सप्तपदी वहीं वध है जहां परम्परानुसार उसका हाना आवश्यक है। इसप्रकार कयादान परम्परानुसार किया जा सकता है किंतु, उसकी धार्मिक महत्ता कुछ भी नहीं है। इस एक्ट के अंतर्गत मेकान की दूसरी धारा में यह विधान किया गया है कि हिंदू समाज में जहां प्रथा के द्वारा या किसी विनियम अधिनियम द्वारा तलाक का अधिकार मिला हुआ है वह इस एक्ट द्वारा प्रभावित नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जहां जातीय प्रथाओं में पारस्परिक अनुमति द्वारा पति पत्नी को एक दूसरे को तलाक देने का अधिकार है वहां यह अधिकार बसा ही बना रहगा यद्यपि इस एक्ट में पारस्परिक अनुमति (Mutual Consent) द्वारा पति पत्नी का तलाक देने का अधिकार नहीं है।

हिंदू विवाह सम्बन्धी सभी प्रथाओं को इस एक्ट के अधिकार क्षेत्र में लाने के लिये प्रथा की व्यापक परिभाषा की गई है। प्रथा इस एक्ट के अनुसार, वह नियम है जो समानरूप से लगातार काफी दिनों तक व्यवहार में आने के कारण, किसी क्षेत्र, गणजाति समुदाय, समूह या परिवार के हिंदुओं में विधि की मत्ता ग्रहण कर लता है। किन्तु इस एक्ट के अनुसार वही प्रथा वध है जो राज्य जाति के विरोध में न हो और जिस प्रथा का सम्बन्ध केवल परिवार से है तथा परिवार के सदस्यों द्वारा वह कभी ताडी न गई हो। यहां प्रथा की वही परिभाषा अपनाई गई है जो परम्परागत हिंदू विधि में माय रही है। प्रथा का ही वैधता प्रदान करने के दृष्टिकोण में दोनों एक्टों में अल्प अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। हिंदू शास्त्रकारों ने पूवन की श्रृंखला में पिता और उसके वंशज का ही स्वीकार किया है किन्तु इन नये विधानों में माता और पिता दोनों को वंशज मान लिया गया है। नये विधान के अनुसार, वंशदा व्यक्ति पूज्य रक्त सम्बन्धी हैं जो एक ही पुण्य और स्त्री की सन्तान हैं किन्तु, जो एक पुरुष और उसकी भिन्न भिन्न स्त्रियों की सन्तान हैं व अल्प रक्त सम्बन्धी हैं। जो अलग अलग पतियों में उत्पन्न एक स्त्री की सन्तान हैं, व मातृ-रक्त-सम्बन्धी हैं। इसप्रकार, इन एक्टों में तीन प्रकार के रक्त सम्बन्धी मान गये हैं। मा की ओर से तीन पीढ़ी और पिता की ओर से पांच पीढ़ी में आने वाले

व्यक्ति सपिण्ड सम्बन्धी मान गये हैं। जा स्त्री पुरुष एक दमने की पूजन शास्त्रा में आता है, जा स्त्री और पुरुष एक दूसरे की ऊपर या नीचे की पूजन शास्त्रा में किसी के पति या पत्नी रहें जो स्त्री किसी पुरुष के भाई पिता माता पितामह या दादी के भाई की पत्नी रही हो भाई बहिन चाचा और भतीजी, चाची और भतीजा तथा भाई बन्नों की सत्तान प्रतिपक्षी सम्बन्धी श्रेणी (Prohibited Degrees of Relationship) में आते हैं।

हिन्दू मन्त्रि एक्ट के अनुसार एक पुरुष और एक नारी का विवाह तभी सम्पन्न हो सकता है जब विवाह के समय पुरुष की कोई जावित पत्नी न हो और नारी का कोई जीवित पति न हो। दाना में से कोई भी हतबुद्धि (Idiot) या पागल (Lunatic) न हो वर की आयु अठारह साल की हो गई हो और ब्या की पन्द्रह साल की (जहां ब्या की आयु अठारह साल की न हुई हो) यहाँ उसके अभिभावक की अनुमति ले ली गई हो) और दोनों प्रतिपक्षी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी में न आते हों या जब तक कि प्रचलित प्रथा द्वारा प्रतिपक्षी तथा सपिण्ड सम्बन्धी श्रेणी के व्यक्ति का विवाह माय न हो। इस प्रकार, इस एक्ट के अनुसार, वर ब्या कुवार भी हो सकते हैं विधुर और विधवा भी तथा तलाक़ दिये हुए भी। इस एक्ट में धर्मपत्नीत्व तथा बहुपत्नीत्व जमाय है। एक पुरुष अपना दूसरा विवाह तभी कर सकता है जब उसकी पत्नी मर जाय या वह अपनी पत्नी का तलाक़ दे दे या उसकी पत्नी उस तलाक़ दे दे। स्त्री भी इसी प्रकार अपने पति के जीवित रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकती है। विवाह में वर ब्या की अनुमति और उम्र यौन सम्बन्ध की क्षमता का होना आवश्यक है। यह पट्टे की कटा जा चुका है कि शास्त्रकारों ने वर ब्या का अनुमति की आवश्यकता पर प्रत्यक्ष जार नहीं दिया है। शास्त्रा में ब्या की अनुमति की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है यद्यपि शास्त्राकारों की मान्यताओं से यह अन्वय ध्वनित होता है कि ब्या पर उसके पिता या अभिभावक का वसा स्वत्व नहीं है जसा कि किसी व्यक्ति का उसकी भौतिक वस्तुओं पर होता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ब्यादान से ही हिंदू विवाह संपन्न और बंधन होता है¹। अभिभावक ब्या का संरक्षक है और जहां ब्या का वांछित नहीं है, अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता आती है। हिन्दू मन्त्रि एक्ट में दोनों प्रकार का विधान किया गया है। जहां ब्या अठारह वर्ष की है उसका अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता नहीं है किन्तु जहां उसकी आयु अठारह वर्ष से कम है अभिभावक की अनुमति की आवश्यकता है। यह नई परिस्थितियाँ और परम्परा का समन्वय है²।

1 श्री सम्पूर्णानन्द हिन्दू विवाह में ब्यादान

2 ब्या का मूल अभिभावक पिता है। उसके बाद क्रम में पितामह, भाई, चाचा

म्येगन मरिज एक्ट में विवाह के बंध जाधारा का खान बंद कर रक्खा गया है, क्योंकि इसका उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष विवाह का वप्रता प्रणन करना है। इस एक्ट के अनुसार उसी वर और कन्या का विवाह वैध है तिनके विवाह के समय, प्रमन जाया या भता जावित न हो जिनमें स वाड भी नवद्वि या पाण न हो, दानो परस्पर प्रतिवधी सम्बन्धो धेणी म न आते हा और विवाह के समय वर कन्या प्रमन दकौम और अठरह साल की आयु न हो गय न। भारत के बाहर जहा यह एक्ट लागू नाना है, वहाँ इस एक्ट के अतगत तभी विवाह हो सकता है, जब वर और कन्या दाना भारतीय नागरिक है। इस एक्ट का उद्देश्य अतन्तीय अतधम और अतमम्प्रणय विवाहो को वधानिक भादता दना है जिसके कारण हममे अभिभावक की अनुमति आवश्यक नहीं है। इस एक्ट के अनुसार, विवाह की वधकिक स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जब वर और कन्या वयस्क है। यहां प्रया का वैध अपवान के रूप में नही रक्खा गया है। इस एक्ट के अनुसार विवाह में अभिभावक की अनुमति नहीं वरन विवाह-अधिकारी की अनुमति अनस्यक है। विवाह सम्बन्ध में वधन के द्रष्टुव वर और कन्या के लिये यह आवश्यक है कि व उन क्षेत्र के विवाह अधिकारी के पास अनुमति प्राप्त करन के लिये प्राथना पत्र भर्जे, जिसमें वर या कन्या प्राथना पत्र देने के तीस दिन पहले तक निवास कर चुका हा। प्राथना-पत्र विवाह का नाटिम है जिस विवाह अधिकारी मरिज नाटिम बुक में दर्ज करके अपने दफ्तर में एसी जगह टागने के लिये बाध्य है जहा सशसाधारण की पहुच हा। प्रस्तावित विवाह की नाटिम मिलन के तीस दिन बाद विवाह हो सकता है उसके पहले नहीं। प्रस्तावित विवाह के प्रति कोई भी हम बात पर एतराज कर सकता है कि प्रस्तावित विवाह स एवं या कई वैध आधार भग होते हैं। किसी के एतराज उठान पर विवाह-अधिकारी के लिये जाच करना आवश्यक हो जाता है और जबतक कि वह हम बात स सन्तुष्ट न हो जाय कि एतराज निराधार है या जब तक कि एतराज वापस न हो लिया जाय यह एक्ट विवाह-अधिकारी का विवाह का अनुमति देने का अधिकार नहीं दता है। विवाह-अधिकारी का निविल काट के अधिकार दिये गये हैं। विवाह अधिकारी के अनुमति न देने पर, जिस क्षेत्र में विवाह अधिकारी जाता है, उस क्षेत्र के जिला अधिकारी के न्यायालय में विवाह अधिकारी के निणय के प्रति अपील का जा सकती है। जिला-अधिकारी का निणय अतिम माना गया है। यदि एतराज निराधार भावित होता है तो एतराज करन बाग हर्जे तब के दफ्तर का भागा है। इस प्रकार, विरोध विवाह आवनियम स एवं विणय प्रकार का विवाह

और मामा इत्यादि आते हैं। यह तालिका लगभग सही है जो शास्त्रकारों ने दी है। इसमें एक अंतर है। इस एक्ट में मा को भी विवाह में कन्या देने का अधिकार है।

अस्तित्व में आया है जिसमें विवाह की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो है किन्तु अभिभावक का स्थान अदालत में ले लिया है।

हिंदू मैरिज एक्ट (1955) से हिंदू-विवाह को वधता प्रदान की गई है और इसकारण उसमें वैवाहिक कमकाण्ड को भी वध स्तर प्रदान किया गया है। हिंदू मैरिज एक्ट के अनुसार वर या ब्या में से किसी भी एक पक्ष की वैवाहिक प्रथाओं के अनुसार विवाह सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु, जहां वैवाहिक प्रथा के कमकाण्ड में सप्तपदी का विधान है, वहां विवाह तभी वैध समझा जायगा, जब सप्तपदी का कमकाण्ड पूरा हो जाय। साथ ही साथ, इस एक्ट में यह भी विधान है कि जहां कोई जातीय कमकाण्ड, जाति के अनुसार, विवाह के लिए आवश्यक हो वहां वही कमकाण्ड विवाह को वध बनाने के लिए काफी है बगलें कि अन्य बातें एक्ट के अनुसार हों। इस एक्ट में विवाह के बाद यौन सम्बंधों के आधार पर विवाह को वैधता प्रदान करने के स्थान पर, सप्तपदी को अधिक महत्ता दी गई है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस एक्ट में विवाहापरात यौन सम्बंध आवश्यक नहीं माने गए हैं। वास्तविकता यह है कि हिंदू विधिप्रणाली की परम्पराओं के अनुसार, सप्तपदी से ही विवाह पूरा समझा जाता रहा है¹ और इसी परम्परा को इस एक्ट के द्वारा बलता मिली है।

जसा कि हिंदू विवाह विधान की परम्परा रही है, नये विधान में भी विधवा-पुनर्विवाह के लिए किसी कमकाण्ड का विधान नहीं किया गया है। स्पेशल मैरिज एक्ट के अंतर्गत होने वाले विवाह धार्मिक नहीं अदालती विवाह है। अतः उसमें कमकाण्ड का स्थान ही नहीं है, यद्यपि एक्ट में इस बात का विधान किया गया है कि वर या ब्या अपनी मर्जी से किसी भी प्रकार के कमकाण्ड से अपना विवाह सम्पन्न कर सकते हैं। किन्तु, स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार, विवाह तभी वध होगा जब विवाह अधिकारी और तीन गवाहों की उपस्थिति में वर और ब्या लिखित रूप से एक दूसरे के पति पत्नी बनने की घोषणा करें² और उस घोषणापत्र पर गवाहों के साथ साथ विवाह-अधिकारी के भी हस्ताक्षर हों। विवाह-अधिकारी द्वारा मिलने वाला सर्टिफिकेट जिस पर वर ब्या और गवाहों के हस्ताक्षर हों और जिसकी नकल मैरिज सर्टिफिकेट बुक में नथी कर दी गई हो, विवाह का प्रमाण है। हिंदू मैरिज एक्ट के अनुसार होने वाले विवाह के लिये सर्टिफिकेट (प्रमाणपत्र) की आवश्यकता नहीं है। इसप्रकार हिंदू विवाह अधिनियम के अनुसार होने वाला विवाह समझौता मुस्कार है जबकि विशेष विवाह अधिनियम के अनुसार होने वाला विवाह बल एव समझौता है। किन्तु नये विधान के अनुसार जसा कि

1 सम्पूर्णानंद वही।

2 घोषणापत्र का फारम भी एक्ट द्वारा निर्धारित है।

यायालयों के निष्पत्ति से स्पष्ट है हिंदू विवाह मूलतः समझौता माना जाता है। वधानिक दृष्टिकोण से, यायालयों में यह माना गया है कि हिंदू विवाह, सस्कार और सत्था हान के साथ साथ एक सविदा भी है जो पति पत्नी उस सविदा से सम्बंधित अधिकार और कर्तव्यों के दृष्टिकोण में निर्धारित करने है। सस्कार होने के साथ साथ, हिंदू विवाह एक व्यावहारिक कानूनी समझौता भी है। एक कानूनी सविदा के रूप में विवाह की धारणा का सम्मुख यारोपीय विधि प्रणाली के प्रभाव का परिणाम है। हिन्दू सामाजिक आदर्शों में विवाह आज भी एक अविच्छेद्य सस्कार है किंतु हिंदू विधान में विवाह एक सविदा पहले है सस्कार बाद में।

दोनों एक्टों में विवाह के नियमन (Registration) का विधान है। किंतु, हिंदू विवाह बिना निबन्धन के भी वैध है। विशेष विवाह (Special Marriage) भी जो स्पेशल मरिज एक्ट के अनुसार होता है निर्बाधत करवाया जा सकता है। दोनों एक्टों में इस बात का भी विधान है कि यदि विवाह के बाद ऐसा पाया जाय कि विवाह स वैध वैवाहिक आधारों की अवहानना हुई है, तो अदालत द्वारा विवाह अन्त करवाया जा सकता है। यदि पति पत्नी के सहवास से या पत्नी पति के सहवास से अकारण अलग हो जाते हैं तो परिवर्तित पति या पत्नी को इस बात का अधिकार है कि वह अदालत द्वारा अपने सहवासी अधिकारों की मांग करे और यदि अदालत इस बात से संतुष्ट है कि परिवर्तित व्यक्ति (पति या पत्नी) अकारण ही अपने सहवासी अधिकारों से वंचित है तो अदालत को सहवासी अधिकारों को पुनः स्थापित करने की आज्ञा देने का अधिकार है। सहवासी अधिकारों की मांग करने वाले प्राथमिक पक्ष के उत्तर में, विरोधी पार्टी का व्यक्ति केवल उही तथ्यों का सहारा लेकर सहवास से अलग रहने की मांग कर सकता है जो इन दोनों अधिनियमों में यायिक पृथक्करण (Judicial Separation) और तलाक के आधार के रूप में स्वीकार किए गए हैं।

दोनों अधिनियमों में तलाक का भी विधान किया गया है और साथ ही साथ, इस बात की भी कोशिश की गई है कि जहां तक हो सके तलाक को हसी खेल की वस्तु बनने से रोक कर विवाह की पवित्रता का बनाए रखा जाय। दोनों अधिनियमों में एकदम तलाक मांगने का विधान नहीं है। सहवासी अधिकारों की पुनः स्थापना के विधान के आधार पर, परिवर्तित पति या पत्नी अपने सहवासी अधिकारों की मांग कर सकता है और उसमें असफल हान पर, यायिक पृथक्करण की मांग कर सकता है। दोनों अधिनियमों के अनुसार यायिक पृथक्करण तलाक की भूमिका है। यायिक पृथक्करण, तलाक के पहले का वह काल है जिसमें पति पत्नी का तलाक नहीं होता है, किंतु अदालत की अनुमति लेकर दोनों एक दूसरे के सहवास से अलग रहते हैं। यह वह काल है जिसमें पति पत्नी का अपनी समस्या पर सोचने का और यदि वे चाहें तो परस्पर समझौता करने का मौका भी मिलता है। जाति-परायणता में भी ऐसे ही नियम का अनुसरण किया जाता रहा है क्योंकि जाति पंचायतों

में एकदम तलाक़ नहीं मिलता है। पहले पति पत्नी एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और बाद में पचायत द्वारा तलाक़ का फ़सला चलता रहता है। क़ानून इसी बीच में पति पत्नी में समझौता भी हो जाता है। यायिक पृथक्करण का विधान भारतीय परम्परा का दन है।

हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार, पति पत्नी में सवाइ भी सब यायिक पृथक्करण की मांग करने का अधिकारी है जब प्रार्थी के जीवन साथी न, प्राथनापन देने के समय तक, लगातार दो वर्षों से उसका परित्याग किया हो, जब प्रार्थी के साथ उसने इस प्रकार निदयता से व्यवहार किया हो कि प्रार्थी के मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई हो कि प्रार्थी का अपने जीवन साथी के साथ और भी अधिक रहना, प्रार्थी के लिए नुक़सानदाह या ख़तरनाक है, जब प्रार्थी का जीवन साथी, प्राथनापन देने के समय तक, एक साल से सघातक काह की बीमारी का शिकार रहा हो जब प्रार्थी का जीवन साथी गुप्त सन्नामक योनिज रोग का शिकार रहा है और वह राग उस प्रार्थी से न लगा हो जब प्रार्थी का जीवन साथी, प्राथनापन देने के समय तक कम से कम दो साल तक पागल रहा है और जब प्रार्थी के जीवन साथी ने विवाह के बाद प्रार्थी के अलावा किसी अन्य से यौन सम्बन्ध स्थापित किया है। हिन्दू मरिज एक्ट के अनुसार इसप्रकार, विवाह के कम-से-कम एक साल बाद ही यायिक पृथक्करण की मांग की जा सकती है।

स्पेशल मरिज एक्ट के अन्तर्गत, पति या पत्नी द्वारा सहवासी अधिकारी के पुनर्स्थापन का मांग तभी की जा सकती है जब उनका विवाह इस एक्ट के ही अन्तर्गत हुआ हो और प्रार्थी के जीवन साथी न बिना किसी सगत कारण के उसके सहवासका त्याग दिया हो। स्पेशल मरिज एक्ट में यायिक पृथक्करण के आधार हिन्दू मरिज एक्ट की अपेक्षा अधिक ज्यादा और बढित हैं। इस एक्ट के अन्तर्गत पति या पत्नी के द्वारा सहवासी अधिकारी के पुनर्स्थापन की अवहत्या करने विवाह के बाद परस्पर से स्थापित करने, प्राथनापन देने के पहले तीन साल तक जीवन साथी का परित्याग करने, जिस अवस्था में सात साल की सजा हो जान पर ज़िम्मे प्राथनापन देने के समय तीन साल की सजा भगती हो चुकी हो नियम पदवार करने प्राथनापन देने के समय तक तीन साल तक पागल रहने या काट या गुप्त सन्नामक योनिज रोग का शिकार होने पर तथा सात साल तक लापता रहने पर यायिक पृथक्करण की मांग की जा सकती है। ये नियम पति पर भी लागू होते हैं और पत्नी पर भी। यदि यायिक पृथक्करण की मांग का आधार काह या सन्नामक गुप्त योनिज रोग है तो के तभी यायिक पृथक्करण का आधार बन सकते हैं जब ये प्रतिवादी को प्रार्थी से न लगे हो। इसप्रकार स्पेशल मरिज एक्ट में विवाह के तीन साल के बाद ही यायिक पृथक्करण की मांग की जा सकती है। इसमें अतिरिक्त, यदि विवाह के बाद पति से बलात्कार, गुदा मथुन या पुमथुन का अपराध हो गया

हो तो पत्नी का 'याचिक' पदव्यकरण की मांग करने का अधिकार है।

दाना अधिनियम में तलाक का बंध कर दिया गया है किन्तु तलाक के लिए प्राथमिक विवाह के तान सात बाद ही किया जा सकता है। हिंदू मरिज एक्ट के अनुसार तलाक के आधार हैं परमस्वयं घम परिवर्तन तलाक के लिए प्राथमिक देने के समय मक कम म कम तीन साल तक पति या पत्नी का पागल रूना मध्यात्मिक तथा दुस्साध्य का या गुण्य योन रागो मे पीडित रहना विरखन हाकर मयामा ज्ञाना भात साल तक लापता रहना याचिक पदव्यकरण की डिगरी के बाद सात तक योन सम्बन्ध न रखना और सा साल तक मद्रवामी अधिकारा के पुन मस्थापन की विधी की जव लना करना। दा आधार पर पत्नी का तलाक मागन का अधिकार मिते दुसरा है—एक, विवाह के पहल या बाद म यदि पति न दूसरा मिराह किया या जोर तानम के लिए प्राथमिक देने के समय यदि दूसरी पत्नी जीवन हा आर, दूसरा यदि विवाह के बाद पति बगलकार गुणमयन या परमथून का अपराधी हुआ हा। स्पेन मरिज एक्ट म हा आधारों के अलावा सा और आधारों का विधान किया गया है—एक, क्रूरता और दूसरा आपसी सममता (Mutual Consent) द्वारा तलाक की मांग। क्रूरता क्या है? इसकी विवेचना स्पेन मरिज एक्ट म नही का गर है जो इस एक्ट की कमजोरी है। इस एक्ट म विवाह म बयविक स्वतन्त्रता मेट विवाह और हमानी विवाह का प्रात्याहन मिसन की सम्भावना है। ऐसे ही विवाहो म विवाह बिच्छेद की भी सम्भावना अधिक है। ऐसे दशा म कवल क्रूरता शब्द की लिएकर उसका निबधन गायालया और वकील पर छोडना एक ऐसी बधानिक कमी है जिससे हानि ही अधिक हो सकती है।

आपसी सममते द्वारा विवाह बिच्छेद का अधिकार देने के कारण स्पेन मरिज एक्ट की आलाचना भी की गई है। इस विधान का दुस्प्रयोग न हो, इसकारण, उसपर कुछ बधानिक शर्तें भी लगाई गई हैं। पति-पत्नी आपसी सममते द्वारा तभी तलाक की मांग कर सकते हैं जब उनका विवाह इस एक्ट के अंतर्गत हुआ हो जब विवाह सम्पन्न या निबधित होने के तीन साल बाद तलाक के लिए प्राथमिक दिया गया हो, जब प्राथमिक देने के समय पति पत्नी एक साथ स अनग अलग रहते आए हा और प्राथमिक देने के समय के तकर उसका निणय होने तक अलग पलग रहें। इस अधिनियम में दिए गए विधान के अनुसार आपसी सममते के आधार पर मागे गए तलाक के वेत की मुनवाइ प्राथमिक देने की तारीख के एक साल बाद शानो और इस बीच म आपसी फमल द्वारा तलाक लेने का निणय पति-पत्नी के बीच मे बना रहना चाहिय। अधिनियम के अनुसार, अगलत तभी तलाक की अनुमति दोगी जब अगलत का यह निबध हो जाय कि आपसी सममते द्वारा तलाक लेने का निणय पति-पत्नी ने अपने अपने सही राय से किया है।

परम्परागत हिंदू विधि प्रणाली मे, पति या पत्नी मे स किसी एक के द्वारा

धर्मपरिवर्तन करने में उनका विवाह का स्वतंत्र बंध विच्छेद नहीं हो जाता है। यदि पति या पत्नी में से कोई भी धर्म परिवर्तन कर ले तो नये विधान के अनुसार, हिंदू विवाह अधिनियम के आधार पर विवाह विच्छेद की मांग की जा सकती है। उनमें से यदि कोई भी इसाई हो जाता है और दूसरा हिंदू रहता है, तो इसाई धर्म ग्रहण करने वाला नेटिव क्वार्टर मैरिज डिमोन्स्ट्रेशन एक्ट के आधार पर अपने जीवन साथी को तलाक दे सकता है क्योंकि इस एक्ट का उद्देश्य उसी अवस्था में तलाक का विधान करना है जहां पति या पत्नी में से कोई भी इसाई हो जाए। अदालत से तलाक की डिग्री मिलने के बाद, वादी प्रतिवादी को, पुनर्विवाह करने का अधिकार मिल जाता है।

विधवा विवाह को बधता मिलना योरोपीय सघात से उत्पन्न एक विशेष जातिव्यवस्था का सांस्कृतिक विकास है। यह पटले हो चला चुका है कि हिंदू शास्त्रकार हर दशा में विधवा पुनर्विवाह के विरोधी नहीं रहे हैं यद्यपि उन्होंने इसकी खुली छूट नहीं दी है। शास्त्रकार नियोग के पक्ष में रहे हैं और नियोग के लिए उन्होंने देवर और सपिण्ड का उत्तम माना है। शास्त्रीय मायतामा में देवर से नियोग उत्तम माना गया है और निम्नवर्णी जातियों में विधवा का देवर से पुनर्विवाह अधिक मान्य माना गया है। दोना दशाओं का आधार एक ही मान्यता रही है और वह यह है कि विधवा और उसके पहले पति से उत्पन्न बच्चे पति के परिवार में ही रहे और विधवा का अपने पति के परिवार से भरण पोषण चलता रहे। पुनर्विवाह करने पर विधवा का अपने मृत पति के परिवार से भरण पोषण का अधिकार समाप्त हो जाता है। किंतु औरों से सम्पर्क स्थापित होने के समय उच्चवर्णी जातियों में विधवा-पुनर्विवाह प्रभावित हो गया था। भारत के समाज सुधारकों ने शास्त्रों का हवाला देकर यह साबित किया कि शास्त्रों में विधवा-पुनर्विवाह का एकदम निषेध नहीं है और सामाजिक विधान द्वारा विधवा पुनर्विवाह का बंध बनाने की मांग की। इसके फलस्वरूप, हिंदू विधवा रिमरिज एक्ट (1856) पास हुआ जिससे विधवा पुनर्विवाह और उससे उत्पन्न सन्तान को बंध बरार दिया गया।

हिंदू विधवा रिमरिज एक्ट (1856) के द्वारा बालिग हिंदू विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है। यदि विधवा बालिग नहीं है तो पुनर्विवाह के लिए उसके अभिभावक की अनुमति आवश्यक है। अभिभावक वही सम्बन्धी हैं जिनका उल्लेख हिंदू रिमरिज एक्ट में हुआ है। विवाह की इच्छुक विधवा के माम में कानूनी दायित्व के लिए इस एक्ट में दण्ड का विधान किया गया है। विधवा के पहले विवाह में किए गए कर्मकाण्डों का फिर से किया जा सकता है या बिना उनमें ही विवाह का सम्पन्न किया जा सकता है। यदि विधवा बालिग है तो उसकी अनुमति ही विवाह को बंध बनाने के लिए काफी है। इस एक्ट से जहाँ विधवा का पुनर्विवाह का अधिकार मिलता है वहाँ जहाँ कि हिंदू परम्परा रही है, पुनर्विवाह से विधवा

के कुछ अधिकार समाप्त भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, पुनर्विवाह करने पर मत पति की सम्पत्ति में विधवा का उत्तराधिकार या मत पति के परिवार से विधवा का भरण-पोषण अधिकार समाप्त हो जाता है। पुनर्विवाहित विधवा अपने मत पति के नाम पर दत्तक पुत्र नहीं ले सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि पुनर्विवाह के बाद, विधवा के जो अधिकार बनते हैं वे इस एक्ट से प्रभावित नहीं हैं। पुनर्विवाहित विधवा अपने पहले पति के पुत्र की सम्पत्ति की तब उत्तराधिकारिणी है जब उसका पुत्र उसके पुनर्विवाह के बाद लावारिस मर जाता है। इस विषय पर वधानिक मतव्यवस्था नहीं है कि यदि पुनर्विवाह से पहले विधवा धर्म परिवर्तन करे और बाद में पुनर्विवाह करे तो वह मत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी रहती है या नहीं। इलाहाबाद हाईकोर्ट के अनुसार धर्म परिवर्तन के बाद यदि विधवा पुनर्विवाह करती है तो मत पति की सम्पत्ति में उसका जो भी अधिकार था वह अशुभ्य रहता है क्योंकि धर्म परिवर्तन के बाद पुनर्विवाह इस एक्ट के अंतर्गत पुनर्विवाह नहीं है। किंतु अग्रे हाई कोर्टों के अनुसार धर्म परिवर्तन करने पर पुनर्विवाह करने वाली विधवा का अपने मत पति की सम्पत्ति पर स बसे ही अधिकार समाप्त हो जाता है जमे कि पुनर्विवाह स होता है।

नए विधान में बहुपत्नीत्व तो समाप्त हो गया है किंतु जालता का नियमों में अवच्छेद स्त्री को भरण पोषण का बस ही अधिकार दिया गया जिस कि विधवा का है। अवच्छेद स्त्री दासी है जो रखैल के स्तर पर आती है। रजवाडों में ऐसी स्त्रियाँ की संख्या अधिक रही है। अवच्छेद स्त्री वह स्त्री है जो हिंदू हो जो अपने हिंदू श्रेणी के जीवन पथ से लगातार उसके साथ रहे और उसके तथा उसके प्रेमी के यौन-सम्बन्धों में तो परस्पर-प्रेम की श्रेणी में आते हो और न अगम्यगमन की श्रेणी में। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रखैल और उसका स्वामी दोनों हिंदू हो और स्वामी के मरने तक दोनों का सम्बन्ध बना रहा हो तथा रखैल कभी भी किसी दूसरे के पास न रही हो। रजवाडों में भी हो सकती है और अविविवाहित भी। उसकी सत्तान का दासी पुत्र की सत्ता दी गई है। रखैल, अपने स्वामी के जीवन-काल में, भरण पोषण की आय के लिए बंध अधिकार का प्रश्न नहीं उठा सकती है। स्वामी की मृत्यु के बाद ही उसे भरण पोषण का अधिकार मिलता है बशर्ते कि उसमें वे बंध आधार हो जिन का उत्तर वणन किया गया है। दासी पुत्रों का भी अपनी माता के स्वामी की सम्पत्ति से भरण पोषण का अधिकार मिलता है। किन्तु यदि स्वामी मृत है तो रखैल और उसके पुत्र को स्वामी के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। इस प्रकार इस काल में, दासी रखैल की हिन्दू-परम्पराओं का वैध माना गया है। उत्तराधिकार की संशोधित विधि से यदि मरुक्क मृत्यु की वा ठस पहुंची है तो अवच्छेद स्त्री की वैधता ने संयुक्त गृहस्थी को अर्थ दिया है। हाँ, यह अवश्य है कि इस एक्ट द्वारा रखैल की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि रखैल के लिए सामाजिक स्थान कम हो गया है। इस एक्ट के अनुसार, रखैल वह है जिसके साथ

अधिकार में आ गए हैं। विवाह और तलाक के प्रश्न धीरे धीरे व्यक्तिगत बनते जा रहे हैं।

यारोपीय सघान के कारण हिंदू विवाह परम्पराओं का जो विधिकरण हुआ है उसमें अनेक परंपरायें अपने परम्परागत रूप में या परिवर्तित रूप में बंध मान ली गई हैं और ओंख परम्परायें अवश हो गई हैं। इन परम्पराओं में शास्त्रीय, जातीय तथा स्थानीय परम्परायें शामिल हैं। शास्त्रीय परम्पराओं के साथ साथ अनेक प्रचलित परम्पराओं का वधता मिलना इस काल का एक प्रमुख सांस्कृतिक विकास है। हिंदू मरिज एक्ट से अनेक प्रचलित जातीय और स्थानीय परम्परायें वध अपवाद के रूप में स्वीकार कर ली गई हैं बशर्ते कि वे राज्य नीति के विरोध में न हों। इस दृष्टिकोण से यह विधान हिंदू समाज में एकीकरण के विरुद्ध पड़ता है। लेकिन साथ ही साथ, इससे किसी दशा तक हिंदू समाज के एकीकरण का प्रोत्साहन भी मिलता है। नये विधान में सभी वर्गों और सभी जातियों के लिए बहुविवाह अवैध है। नये विधान के दृष्टिकोण से जीवनसार बाबर की बहुपत्नित्व की प्रथा एक वधानिक अपवाद ही नहीं बरन एक वधानिक पहली बन गई है। एक स्त्री के रहने हुए दूसरा विवाह करने वाला, हिंदू मरिज एक्ट के अनुसार, दण्ड का भागी है। हिंदू विवाह के आठ प्रकारों में हिंदू मरिज एक्ट ब्रह्म विवाह को मान्यता प्रदान करता है। इस एक्ट की मायता में सभी हिंदू विवाह ब्राह्म हैं जब तक कि यह प्रमाणित न किया जाय कि अमुक विवाह ब्राह्म नहीं है। आसुर विवाह मान्य है पर एक वध प्रमाणी अपवाद के रूप में। वधू धन लिया जा सकता है पर वह विवाह सविदा का वध भंग नहीं है। उसी प्रकार स दहज भी विवाह सविदा का वध भंग नहीं है। इस एक्ट से विवाह व्यक्तिगत हो गया है कि तु 'सवहार में विवाह अब भी कर और नया के परिवारों के बीच में एक समझौता है। दहज और वधूधन अवध हाते हुए भी तब तक चलते रहेंगे जब तक विवाह पूणतया कर और नया के बीच में स्वतंत्र समझौता नहीं बन जाता है। ब्राह्म और दहज विवाह वस्तुतः एक ही हैं। जाय और प्राजापत्य समयातिरेक हाकर त्रिलीन हो गए हैं तथा गांधव, राक्षस और पश्चाच्च आज सामाजिक अपराध बन गए हैं और भारतीय दण्ड संहिता के नियमानुसार दण्डनीय हो गए हैं।

स्पेशल मरिज एक्ट के द्वारा गांधव विवाहों को वधानिक आधार प्रदान किया गया है। गांधव विवाह बड़ा अपराध है जहां नया नाबालिग है क्याकि नाबालिग नया से विवाह करने वाल बर पर नया अपहरण का अपराध लगाया जा सकता है। नये विधान के अनुसार गठारह वष की नया और इक्कीस वष का बर ही गांधव विवाह कर सकते हैं। कि तु स्पेशल मरिज एक्ट ने गांधव विवाह के परम्परागत रूप को बरल दिया है। परम्परागत गांधव विवाह में बर और नया परस्पर सम्मति से ववाहिक बंधन में बधकर बाद में अभिभावकों या समाज का अनुमोदन प्राप्त करत थे। किन्तु, स्पेशल मरिज एक्ट में बालिग बर और नया को

विवाह स पटल अदालत की अनुमति लेना आवश्यक है। हिंदू परम्परा के अनुसार गांधव विवाह व्यक्तिगत रहा है। स्पेशल मरिज एक्ट के अनुसार भी वह वैयक्तिक है किन्तु, वस्तुतः वह एक विशेष विवाह बन गया है—वह विवाह जिसमें विवाह के लिए कमकाठा का विधान नहीं है, वर-ब्या के अभिभावकों की अनुमति की आवश्यकता नहीं है, जो पूणतया व्यक्तिगत है दो परिवारों के बीच में समझौता नहीं है और जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय के प्रभावों से मुक्त है। यह विवाह वर-ब्या के बीच में वैवाहिक बंधन में बंधन का समझौता है। इसीलिए, विशेष विवाह प्रेम विवाह होता है और वर तथा ब्या के बीच में वैयक्तिक समझौता होने के कारण दहेज और वधूधन की समस्याओं से मुक्त होता है। अतः, स्पेशल मरिज एक्ट को नये भारत के नये समाज का वैवाहिक विधान कहा जा सकता है। किन्तु, नये पुराने के संघर्ष के कारण बहो-बही विशेष विवाह व्यक्ति और परिवार तथा जाति और सम्प्रदाय के संघर्ष का कारण बन जाता है। यदि वर और ब्या बालिग है और एक ही जाति के हैं तो वह हिंदू विवाह अधिनियम के अंतर्गत विवाह सम्पन्न कर सकते हैं यदि वे भिन्न भिन्न जातियों के हैं तो उन्हें इस बात की छूट है कि चाहे वे हिंदू मरिज एक्ट के अंतर्गत अपना विवाह सम्पन्न करें या स्पेशल मरिज एक्ट के अंतर्गत। यदि वे भिन्न धर्मों या सम्प्रदायों के हैं तो स्पेशल मरिज एक्ट का आश्रय लेना आवश्यक है। धर्मगत विधि प्रणाली (जैसे हिंदू या मुस्लिम या इसाई) का सभी आश्रय लिया जा सकता है जब वर और ब्या जन्मत या धर्मपरिवर्तन से एक ही धर्म के हों। जिस प्रकार, स्पेशल मरिज एक्ट वर-ब्या को वैवाहिक बंधन में बंधने का व्यक्तिगत अधिकार प्रदान करता है, उसी प्रकार यह एक्ट पति पत्नी को पारस्परिक स्वेच्छा से विवाह विच्छेद का भी अवसर प्रदान करता है बशर्ते कि उनका विवाह इसी एक्ट के आधार पर हुआ हो। यह विधान वर्तमान भारत में एक विशेष विकास है।

स्पेशल मरिज एक्ट के चौथे अध्याय की उन्नीस से लेकर इक्कीस धाराओं का परिवार के परम्परागत गठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन धाराओं के अनुसार जब कोई हिंदू बौद्ध, सिक्ख और जन, जो अपने संयुक्त परिवार का सदस्य है, इस एक्ट के अंतर्गत विवाह सम्पन्न करके अपने विवाह का निबंधन करता है तो उसका अपने परिवार से सम्बंध विच्छेद हो जाता है किन्तु परिवार में उसका उत्तराधिकार जमा का ल्यो बना रहता है। हा, यह अवश्य है कि उसका तथा उसकी सत्तान का उत्तराधिकार हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम से नियंत्रित न होकर, भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम से नियंत्रित होता है।

मुस्लिम विवाह

जिस प्रकार हिंदू वैवाहिक परम्पराओं के निश्चित विधिकरण और उनके अदायगी निवचनों से हिंदू वैवाहिक परम्पराओं में परिवर्तन भी आया और उनका पुनरुत्थान भी हुआ, उसी प्रकार, मुस्लिम विवाह परम्पराओं का, इस वाक्य में सहिताकरण हुआ, वह वैधता मिली अनेक गौण परम्परायें वध मानकर निश्चित बनाई गई (जैसे दिसोत्पन्न आफ मुस्लिम मरिजज एक्ट 19०9 के द्वारा स्त्री को तलाक देने के वध अधिकारों को मिलना) और अदायगी निवचनों के द्वारा अनेक मुस्लिम परम्पराओं में परिवर्तन आया। जमैजी राजकास में, जसा कि पहले कहा जा चुका है, हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधियों को लेखबद्ध करके सहिताबद्ध किया गया जिसके कारण हिंदू मुस्लिम विधि परम्पराओं का समयानुसार परिवर्तित पुनरुत्थान हुआ। उदाहरणार्थ, जिम्मायूशन आफ मुस्लिम मरिजज एक्ट (19०9) का उद्देश्य मुस्लिम विधि के अंतर्गत विवाहित पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद करने तथा पत्नी द्वारा इस्लाम के परित्याग करने पर उसके वैवाहिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभावों से सम्बन्धित मुस्लिम विधि परम्पराओं को एकत्र तथा स्पष्ट करना है। इस एक्ट की भूमिका में कहा गया है कि यह एक्ट एकत्र होने के साथ-साथ घोषणात्मक है। किंतु इस पर, मुल्ला की यह टिप्पणी है कि इससे मुस्लिम विवाह सम्बन्धी विधि में सारगर्भित परिवर्तन होता है¹। अतः, इस एक्ट को केवल घोषणात्मक ही नहीं कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस्लाम की परम्परागत विधि प्रणाली में स्त्री को तलाक देने का अधिकार नहीं है। हनाफी विधि सम्प्रदाय में नहीं किन्तु मालिकी विधि सम्प्रदाय में स्त्री का यह अधिकार है। ऐसी दशा में यह एक तलाक सम्बन्धी गौण विधि परम्परा का प्रधान बनाता है और परम्परा के एक नये निवचन के लिए अवसर प्रदान करता है। लेकिन साथ ही साथ, यह अवश्य है कि हिंदू वैवाहिक विधि प्रणाली की अपेक्षा, मुस्लिम वैवाहिक विधि प्रणाली में परिवर्तन कम पुनरुत्थान अधिक हुआ है क्योंकि मुस्लिम वैवाहिक प्रणाली घमगत और हिंदू विधि प्रणाली की अपेक्षा अधिक निश्चित रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यारोपीय सघात के अंतर्गत इस्लामीयत दर्जा परम्पराओं के विधिकरण के स्थान पर अरबी इस्लामी परम्पराओं का ही विधिकरण हुआ है। यारोपीय सघात से मुस्लिम विवाह परम्पराओं में जो परिवर्तन आए हैं, वे इस्लामी विवाह विधि के अदायगी निवचना में आय हैं क्योंकि इस्लामी विधि में स्वतंत्र विधान की रचना नहीं के बराबर हुई है²।

1 मुल्ला, डी० एफ० प्रिंसिपल्स आफ मोहम्मडन ला पृष्ठ 269

2 सक्सेना, कान्हीप्रसाद आपरेशन आफ मुस्लिम ला इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान पृष्ठ 72

अंग्रेजी राजकाल में मुस्लिम स्वीय विधि का पथानन लागू करने की नीति रही है। किंतु साथ ही साथ मुस्लिम स्वीय विधि का निश्चय करत समय यायिक वाछनापता और समता पर भी ध्यान दिया गया है जिसके कारण मुस्लिम विधि में अंग्रेजी याय प्रणाली के तत्वा का भी समावेश हुआ। इस काम में हिंदू विधि प्रणाली के अनुसार मस्लिम विधि प्रणाली अंग्रेजी मुस्लिम विधि-प्रणाली बनी। एक बार मुस्लिम परसनल ला (गरिअत) एप्लीकेशन एक्ट (1937) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि में निश्चयना लान का प्रयास किया गया तो, हमरी ओर, दि मुस्लिम मरिजज निमात्यूगन एक्ट (1929) पास करके मुस्लिम स्वीय विधि के इन पक्षों का विकास किया गया जो समानाधिकार और जो अंग्रेजी की बचानिर्माति ज्यादािक वाछनीयता तथा समता की नमोटी पर तर उतरा है। अंग्रेजी ने भारत में जो विधि प्रणाली विकसित की वह एक बार, हिंदू और मुस्लिम विधि प्रणाली भी और, हमरी ओर बड़ा अखिल भारतीय होवानी और फौजदारी की विधि प्रणाली पर आधारित थी। अंग्रेजी विधि प्रणाली ने मुस्लिम विधि प्रणाली का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार में प्रभावित किया। उदाहरणार्थ, उनीस सौ बत्तीस के कांस्टीट्यूट एक्ट में मुसलमानों में भी शादी विवाह पर प्रभाव पड़ा। किंतु मजूम अधिक परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा यायालयों के नियमों का क्योंकि यायालयों के नियम धीरे धीरे बधानिक नज़ीर बनत गए और उनसे अनवरत अरबी परम्पराओं में परिवर्तन आये। इन नियमों में जो अलाम-जस्यता उत्पन्न हुई, उस दूर करने में और परिवर्तन हुए। इस प्रकार अंग्रेजी राजकाल में जहाँ एक ओर, मुस्लिमों की अरबी वैवाहिक परम्पराओं का बंध आधार मिला वहाँ, दूसरी ओर, उनमें परिवर्तन भी आये। किंतु ये परिवर्तन उतने अधिक नहीं हैं जितना कि अरबी परम्पराओं का पुनर्जनन।

भारत की मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं में दशज परम्पराओं का समावेश हुआ है किंतु यह समावेश वैवाहिक कपोतन ही सीमित है। मुस्लिम विवाह के मूल्य और अरबी परम्पराओं में हैं—व परम्पराओं जिनका एक आधार इस्लाम के विकास के पहले ही अरबी परम्पराओं में है और दूसरा, मुहम्मद और उनके आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के सम्पादन द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं में। जिस प्रकार हिंदू वैवाहिक परम्पराओं का लेकर शास्त्रकारों ने मतभेद रहा है उसी प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली के विभिन्न सम्प्रदायों में इस्लामी वैवाहिक परम्पराओं को लेकर मतभेद रहा है। मुन्नी सम्प्रदाय में 'मुना विवाह' बंध नहीं है जबकि गिया सम्प्रदाय में 'मना विवाह' बंध है। भारतीय मुस्लिम स्वीय विधि में यह परम्परा साम्य है। इस परम्परा का स्रोत इस्लाम के पहले की अरबी परम्परा में है। इस प्रकार, भारतीय मुसलमानों की विवाह परम्पराएँ मूलतः अरबी हैं और अतः भारतीय। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और मुस्लिम विधि प्रणाली के अध्ययनकारों की यह भावना है कि मुस्लिम वैवाहिक परम्पराएँ इस्लाम के पहले की अरबी परम्पराओं

के आधार पर विकसित हुई है। इस्लाम के द्वारा अनेक अरबी परम्पराओं का ह्रास हुआ और अनेक परम्पराओं का इस्लामीकृत उदविकास¹।

लेवी की यह मायता है कि शरीअत में प्रतिपादित परम्पराओं और विभिन्न देशों के मुसलमानों की स्थानीय परम्पराओं में अंतर रहा है। यह अंतर किसी न किसी रूप में सभी देशों में पाया गया है। विवाह, तलाक और उत्तराधिकार में कहीं-कहीं शरा की परम्पराओं की अवहेलना सी प्रतीत होती है। हिमालय के दक्षिण में बसने वाले मुसलमान (इससे लेवी का तात्पर्य भारत के मुसलमानों से है, पृष्ठ 244) इस्लाम के अनुयायी होते हुए भी उन अनेक परम्पराओं को अपनाने लगे हैं जो वहाँ के गर मुसलमानों से भिन्न नहीं है। इस्लाम में मूर्तिपूजक स्त्री से विवाह करने का विधान नहीं है फिर भी मुस्लिम पुरुषों और हिन्दू स्त्रियों का विवाह होता है जिसमें स्त्री विवाह के पहले इस्लाम स्वीकार करती है। मुसलमान स्त्रियाँ सिक्खों से विवाह कर लेती हैं जो ग़राबे के विरुद्ध है क्योंकि इस्लाम के नियमानुसार मुस्लिम स्त्री को मुसलमान में ही विवाह करना चाहिये। इस्लाम में विधवा विवाह जायज है किन्तु, उन मुस्लिम सम्प्रदायों में, जिनकी उत्पत्ति हिन्दुत्व में हुई है विधवा विवाह शराहीन नहीं माना जाता है। उसी प्रकार हिन्दू प्रभाव के कारण कुछ मुस्लिम सम्प्रदायों में तलाक विरल ही होता है। लेवी के इस वर्णन का आधार के विवरण हैं जो उनसेवी शताब्दी के अंत या बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिख गये थे। इस बीच में मुस्लिम स्वीय विधि का जो सहिताकरण हुआ है उसमें वेगज परम्पराओं के समक्ष, अरबी परम्पराओं का प्रधानता ही गई है जिसके फलस्वरूप देशज परम्पराओं पर, धीरे धीरे शरीअत की परम्पराओं का प्रतिगणन हुआ है और उससे मुस्लिम विवाह का जो रूप उभरा है वह अरबी परम्पराओं में ही निहित है। मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं का विकास, विवाह सम्बन्धी उन अरबी परम्पराओं के आधार पर हुआ है जो इस्लाम के अभ्युदय के पहले अरब में पूव इस्लामी प्रचलित थी। उस काल का अरबी सामाजिक संगठन गणजातीय अरबी परम्परों या। गणजातियों में परम्परागत कुल पर और सघन, पूव इस्लामी अरबी समाज की विपरीत था। इन गणजातियों में मातृसत्तात्मकता की प्रधानता थी। गुस्तेरी के अनुसार पितृवशीयता की भी प्रथाएँ थी यद्यपि मातृ सत्तात्मकता और मानवशीयता का पाया जाना अधिक निश्चित है। मातृसत्तात्मकता

- 1 देखिए नं० एम० कपाडिया कृत भरिज एण्ड फमिली इन इण्डिया अध्याय 9, गाडीप्रबाम डिमाम्बोस कृत मुस्लिम इस्टीट यूग स, अध्याय 8, रिचर्ड लेवी कृत दि सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम, अध्याय 2, गुस्तेरी ए० एम० ए० कृत आउट लाइव्स आफ इस्लामिक कल्चर अध्याय 14 और अमोर अली कृत दि स्प्रिट आफ इस्लाम, भाग 2, अध्याय 5

तथा मातृवशीयता के साथ-साथ बहुविवाह के दोनों रूप बहुपत्नीत्व तथा बहुपतित्व, पाये जाते थे। इस्लाम के पहले के अरबी समाज में, एक धार न'यरा जस मातृ-सन्तानकृता बहुपतित्व की प्रथा थी ता नूमगी आर आतक बहुपतित्व की परम्परा¹। नारी का अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी। वह या तो स्वयं या अपने पिता, भाई या अन्य सम्बन्धियों द्वारा अपना पति चुनती थी। पति और पत्नी दोनों को विवाह विच्छेद करने का अधिकार था। नारी अपनी इच्छानुसार जब चाह नब पति का परित्याग कर सकती थी। किन्तिप एण्ड मरिज इन अली अरबिया के लेखक इस्लाम राइट्स इन स्त्रियों के आधार पर, कपाटिया न यह लिखता है कि अपने सम्बन्ध का रंग बदलकर पत्नी पति से विवाह विच्छेद करती थी और पति के कहने मात्र से ही पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता था। विवाह धार्मिक संस्कार न होकर सविनाश मात्र था जिसका प्रमाण है महर की प्रथा जो इस्लामी वैवाहिक परम्परा में प्रथा थी। मेहर का रूप वधू धन का रूप था—वधू धन जो घर-काम के पिता या दाता था। विवाह विच्छेद के समय पति को वह धन पत्नी के पिता या सम्बन्धियों को वापस करना पड़ता था। लवा के अनुसार, वधू धन के दो पहलू थे—एक वह धन (महर) जो घर-काम के पिता या उसके अभिभावक को दाता था और दूसरा वह धन (मिनाक) जो घर-काम का दाता था और जिसके बिना वह पत्नी न मौत-सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता था। आगे चलकर महर की ही प्रथा रह गई और इस्लाम में वैध विवाह का एक आधार बन गई।

इस्लाम के पहले के अरबी समाज में जनक प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है। तत्कालीन महर की प्रथा का विद्वानों ने पत्नी को वधू के रूप में प्रतिपादित किया है कि वधू विवाह तत्कालीन समाज की प्रधान वैवाहिक परम्परा थी। इसका साथ-साथ अपहरण विवाह की भी परम्परा थी जिसका कारण था तत्कालीन धर्म की गणजातियों में चलने वाला कुल-वैर। महर अपहरण का वह नारी को दासी के रूप में रखने तथा उस रखल बनाने की प्रथाओं के कारण, यह कहा गया है कि तत्कालीन अरबी समाज में नारी सम्पत्ति समझी जाती थी। कई भी अरब विवाहों अपनी दासी का वधू बनना था या दमर का न सकता था। हमारे जतिरिक्त, बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की आम प्रथा थी। सौतेली माँ, पिता के मरने पर पुत्र का उत्तराधिकार में मिलती थी। नान भी व्यक्ति अपनी सौतेली माँ से विवाह कर सकता था या महर लेकर किसी दूसरे के साथ उसका विवाह कर सकता था।

1. यूनानी लेखक स्ट्रबो का हवाना रते हुए गुतरा ने यह लिखा है कि वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मृगिया होता था और कई भाइयों को एक ही सम्मिलित पत्नी होती थी। जब एक भाई पत्नी के पास होता था तो वह दरवाजे पर अपनी छड़ी गाड़ देता था ताकि दूसरा न आ सके।

इस परम्परा में भी तारी की सम्पत्ति मानने का विचार का प्रमाण माना गया है। निरोग जसी प्रथा भी तत्कालीन अरबी समाज में पाई जाती थी। जब कोई व्यक्ति बुद्धिमान तथा गौरवान् या साहसवान पुत्र की कामना करता था तो वह अपनी पत्नी को बुद्धि गौरव और साहस के लिये प्रसिद्ध व्यक्ति का साथ सहवास करने के लिये भेज देता था और सहवास से उत्पन्न सन्तान पति की वंश-सन्तान समझी जाती थी। मिनता का नाम, मित्र को पत्नी से सहवास करने का अधिकार देना भी एक आम प्रथा थी। विदग्ध जान वाला व्यक्ति अपनी पत्नी का अपने मित्र या किसी अन्य व्यक्ति को सौंप जाता था और वापस आकर पुनः अपनी पत्नी को वापस ले लेता था। अल्पकालीन विवाहों का भी वर्णन मिलता है। विदग्ध में जाकर अल्पकाल के लिये विवाह करना (यह विवाह जो केवल यौन सुख के लिये मविदा-मात्र होता था) एक साधारण अरबी रिवाज था। इस्लाम में मुता विवाह की धारणा और परम्परा इसी अरबी आधार पर विकसित हुई है।

राबट सन स्मिथ के अनुसार¹ इस्लाम के अभ्युदय के पहले, अरब में जो बहुविवाह प्रथा प्रचलित थी, उसकी तीन विशेषताएँ थी—एक, तारी का अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी, दो पति अपनी पत्नी के तम्बू में रहता था और पत्नी अपनी मर्जी के अनुसार कभी भी पति परित्याग कर सकती थी और तीन सन्तान पर तारी के सम्बन्धियों का अधिकार रहता था और वच्च उन्नी के संरक्षण में पलते थे। राबट सन ने इस विवाह प्रकार की तत्कालीन अरबी परम्परा के आधार पर 'बीना' विवाह कहा है। इस्लाम के अभ्युदय के प्रारम्भिक काल में, इसी विवाह परम्परा का आधार पर जो पितृसत्तारमक तथा पितृवर्गीय परम्परा विकसित उमे राबट सन ने 'ब' प्रल विवाह की संज्ञा दी है। ब' प्रल विवाह में पत्नी के स्थान पर पति का प्रभुत्व बढ़ गया और मातृवर्गीयता के स्थान पर पितृवर्गीयता का अभ्युदय हुआ जिसके फलस्वरूप सन्तान पर माता और उसके सम्बन्धियों के स्थान पर पिता और उसके सम्बन्धियों का अधिकार और प्रभुता की स्थापना हुई। ब' प्रल विवाह में, अपनी मर्जी के अनुसार जब चाह तब पति को तलाक़ देने के लिये का अधिकार कायम हुआ और तलाक़ में पति का स्वच्छाचारिता का अधिकार मिला। ब' अत विवाह में

- 1 अरबी में यह शब्द पति का पर्याय है कि तु पिता का पर्याय है अब (ab) जिसका अर्थ सरलक या जनक न होकर पालक शब्द है। यह इस बात का प्रमाण माना जा सकता है कि इस्लाम के पहले के अरबी समाज में पिता की जनक की भूमिका पर उतना जोर नहीं था जितना कि उसकी पालन पोषण कर्ता की भूमिका पर—ग़न्तरी चहो पृष्ठ 512
- 2 कपाडिया की पुस्तक भरिज एण्ड कमिली इन इंडिया में उद्धृत राबट सन के मत के आधार पर पृष्ठ 185

मेहर की प्रथा का समावेश हुआ और मेहर नारी के पिता का सम्पत्ति हो गई। नारी का परसम्बन्धों से बचाव रखना पति का उत्तरदायित्व हो गया^१। परसम्बन्धों से अपने को बचाना नारी का अपना उत्तरदायित्व न था। गणजाति में ही परसम्बन्ध धर्म के किन्तु गणजाति के बाहर होने वाले परसम्बन्ध सधय का कारण। नारी, एक आर, पिता की सम्पत्ति हो गई और दूसरी आर पति की। विवाह में 'वस्ती' (अभिभावक) की मर्यादा का अन्वय हुआ जो मानमत्ता मर्यादा पर पितृसत्तात्मकता के प्रतिरोध का प्रतीक है। विवाह हान पर, अपना पति स्वयं चुनने की प्रथा के रूप में, नारी का प्राचीन अधिकार बना रहा। नारी में विवाह विच्छेद का अधिकार छिन गया किन्तु मानमत्ता मर्यादा परम्परा के अन्वय के रूप में नारी का पति से भरण पोषण का अधिकार मिला। मेहर इस्लाम में स्वीकृत हो गया। पुत्री हनन^२ की प्रथा का निषेध हुआ किन्तु पुत्री पर पिता का बली का अधिकार मिला। अन्तर्विवाह में नारी की यौन स्वच्छता का निषेध हुआ किन्तु माधुरी साथ नारी प्रपहरण और सतीत्व हरण भी चलता रहा। सतीत्वहत्या आदर का पाप बन गया। कपाडिया और लक्ष्मी के अनुसार मुहम्मद के समय में यदि, एक आर, व मूल विवाह के रूप में पितृसत्तात्मक परम्पराओं उभर रही थीं तो दूसरी आर भुता विवाह के रूप में प्राचीन परम्परायें चल रही थीं।

मुस्लिम विवाह परम्पराओं का उत्थान और विकास इन्हीं पितृसत्तात्मक तथा मानमत्तात्मक परम्पराओं के संघर्ष और मानमत्तात्मक परम्पराओं के पितृसत्तात्मक परम्पराओं के संक्रमण में हुआ है। इस्लाम का अन्वय एक सुधारवादी, राजनैतिक, मजहबी आन्दोलन के रूप में हुआ—उम आन्दोलन के रूप में जिसमें पति की पत्नी पर प्रभुत्व मिला किन्तु पति पर मेहर का बंधन लगा जिससे विवाह एक पवित्र बना नारी के स्थान पर पति की विवाह विच्छेद में अधिक अधिकार मिले तलाक की वज्र मारा गया पर अनेक बंधन के साथ, रक्षण की परम्परा का निषेध किया गया बहुपत्नीत्व को एक सीमा प्रदान की गई और कुवारी लड़की में विवाह उत्थान माना गया। लेवी के अनुसार कुरान में मुहम्मद साहब ने जिन बहादुर परम्पराओं का प्रतिपादित किया है, उनसे यह प्रतीत होता है कि मुहम्मद

१ लेवी, रिबन वही पृष्ठ ७१

२ इस्लाम के पहले के अरब में लड़कियों की प्रथा हाथों ही मार डालने या गाड़ देने की प्रथा थी। लेवी के अनुसार इसके कारण हैं परोखी बलि का विचार, अपहरण तथा पद्ध में बली बनाये जाने पर लड़कियों की दूसरी की दासो या रक्त हो जाने की आशंका और उच्च तपस्वी में दूसरों की लड़की देने से मानहानि होने का विचार। पुत्री-जन्म अपने ही मानहानि और आग का प्रतीक था, जसा कि हाल तक हिन्दुओं में रहा है (लेवी वही पृष्ठ ७१-७२)। मुहम्मद साहब ने पुत्री हनन की प्रथा का निषेध किया।

साहब ने इस्लामी ब्याहिक परम्पराओं को वहाँ तक इसाई परम्पराओं के अनुसार ढालने का प्रयास किया, जहाँ तक वे स्वयं इसाई परम्पराओं से परिचित थे^१। किंतु, लवी ने ही अनुसार, जहाँ इसाई विवाह एक धार्मिक कृत्य है, वहाँ मुस्लिम विवाह एक कानूनी सविदा है। यह न तर एक महत्वपूर्ण अन्तर है जो यह एकतरफा राय कायम करने के विरोध में पड़ता है कि मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित विवाह तथा स्त्री-प्रतिष्ठा सम्बन्धी मायताय इसाईयत से प्रेरित हैं। यह हो सकता है कि मुहम्मद साहब पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष इसाई प्रभाव रहा हो। मुहम्मद साहब द्वारा प्रतिपादित ब्याहिक मायताय और परम्पराओं पर तत्कालीन अरबी परम्पराओं के प्रति होने वाली उनकी प्रतिनिया का अधिक प्रभाव है। यही कारण है कि जसा कि कपानिया ने प्रतिपादित करने का प्रयास किया है मुस्लिम वैवाहिक परम्पराओं का विकास उन विवाह परम्पराओं और मायताओं के आधार पर हुआ है, जो मुहम्मद साहब के पाले और उनके जीवन-काल में अरब में प्रचलित थी और जिनको उन्होंने सुधारने का प्रयत्न किया। मुहम्मद साहब के बाद मुहम्मद साहब के कृत्यों और कथनों के आधार पर मुस्लिम विधि प्रणाली के निवचकों ने उन परम्पराओं का निश्चित रूप देने का प्रयास किया। मुस्लिम विवाह मातसत्तात्मक तथा पितसत्तात्मक परम्पराओं के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। जब सुधार की आवश्यकता पड़ी, मुहम्मद साहब के कथनों का निवचित करके ही सुधार का आशय रिया गया—वस ही उसे हिंदू विवाह में सुधार का पक्ष शास्त्रीय मायताओं का निवचन करके लिया गया। हिंदू विवाह की भाँति मुस्लिम विवाह भी एक सतत सांस्कृतिक विकास का परिणाम है—वह विकास जो एक साथ पुनरुत्थानवादी और सुधारवादी रहा है।

मुसलमानों में अरबी भाषा का शब्द 'निकाह' विवाह के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। मुस्लिम विधि प्रणाली में 'निकाह' से विवाह का अर्थ निकाह लिया जाता है। वस, निकाह का शाब्दिक अर्थ है नर नारी का विषयी समागम। निकाह के शाब्दिक और अधिक अर्थों में जो अन्तर है उससे यह स्पष्ट होता है कि एक वैध विवाह की व्यवस्था का रूप में निकाह का वर्तमान रूप, इस्लाम के प्रभाव में उन परम्पराओं से उत्पन्न हुआ है, जो इस्लाम के पहले के अरब में चिन्तमान थी। निकाह के तीन उद्देश्य माने गये हैं—एक यौनिक सामुग्य की वैधता दूसरा, सत्ताव्यक्ति और सत्तान की वैधता तीसरा, पति पत्नी के रूप में नर-नारी तथा उनकी सत्तान के मध्य अधिकार और कर्तव्यों का निश्चित करके समाज के हित में सामाजिक जीवन को नियमित करना। इस दृष्टिकोण से, निकाह एक प्रकार का सविन्य है जिसमें दोगे नर नारी पति

पत्नी के सम्बन्ध में बंधने का प्रस्ताव करने, उसे स्वीकार करते ही, परस्पर अनेक अधिकार और कर्तव्यों में बंध जाते हैं। इसीसामी वैधानिक मायताओं के अनुसार निकाह एक कानूनी सविदा है जिसका उद्देश्य पति पत्नी के सम्बन्ध में बंधन-नारी के यौन-सम्बन्ध, उनकी सत्तानों, उनके तथा उनकी सत्तान के सम्बन्धों और उनके पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का ब्यवस्था प्रदान करना है। विधानों और सत्तानों-पति निकाह सविदा के दो आधारभूत उद्देश्य हैं। निकाह के बाहर यौन-सम्बन्ध पर सम्बन्धों की श्रेणी में आते हैं जिन्हें इस्लाम में जिना कहा गया है। जिना अवैध है। अतः जिना से उत्पन्न सत्तान भी अवैध है।

मुस्ला¹ के अनुसार निकाह की परिभाषा एक सविदा के रूप में की जाती है जिसका उद्देश्य सत्तानों-पति और सत्तानों को बंधता प्रदान करना है। अमीरअली के अनुसार, मुस्लिम विवाह एक कानूनी सविदा है, जिसके लिये न तो किसी पुाहित (मुस्ला) की आवश्यकता है और न किसी वामिक कमकाण्ड की²। निकाह सविदा से पुत्र का नारी की प्रतिष्ठा और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं मिलता है। इस सविदा से पुत्र को नारी पर अधिकार अवश्य मिलता है किन्तु वहीं तक जहाँ तक मुस्लिम विधि में इस अधिकार की परिभाषा की गई है। सविदा होने के नाते निकाह अविच्छेद्य नहीं है। जिनाह विच्छेद के लिये अरबी में तलाक़ ग़द आता है जिसका अर्थ है हिसमिस करना या निकाह देना। निकाह सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता प्रत्येक उस मुसलमान का है जिसका दिमाग सही है और जो वयस्य की अवस्था पार कर चुका है क्योंकि इस्लामी विधि प्रणाली में निकाह सभी वयस माना जाता है जब वयस ने उसने लिये अनुमति दी हो। जिसका दिमाग सही न हो और जिसने वयस्य न पार किया हो, वह निकाह के लिये अश्वय है³।

निकाह में निकाह प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति, यही अल निकाह की

1 मुस्ला, डी० एफ० प्रिंसिपल्स आफ मुस्लिम ला पृष्ठ 223

2 अमीर अली दि स्प्रिट आफ इस्लाम (पृष्ठ 257) में और अब्दुल नबी बनाम सम्मद अजमत हुसेन (193), नागपुर 1-3 नामक मुकदमे के फसले में।

3 एतवा ए आलमगारी के अनुसार निकाह सविदा के बन्धन में बंधन वाले वयस्य होने चाहिये उन्हें निकाह सविदा स्थापित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, उन पर किसी प्रकार का जोर दबाव नहीं होना चाहिये और उनमें इतनी बौद्धिक स्वतन्त्रता तथा क्षमता होनी चाहिये कि वे निकाह सविदा के ठीक-ठीक स्वरूप और उसमें निहित उत्तरदायित्व को समझ सकें। अगर किसी धर्मित में ये क्षमताएँ हों तो वह बिना किसी दूसरे की सलाह या स्वीकृति के स्वयं निकाह सविदा को तय कर सकता है—सकमेना, काशी प्रसाद यही : पृष्ठ 151

अनुमति निकाह के इकरारनाम पर दो गवाहा के हस्ताक्षरों की आवश्यकता, महर, जीर तलाक होने पर 'फारखती' लिखने की आवश्यकता या मरता पर सामाजिक वैधानिक जारूनन से निकाह का जो रूप निखरा है, उसमें बयानिक सभिदा का हो अधिक घुट है। मुस्लिम परम्परा में निकाह तय्यी बय होता है, जब एक पक्ष की ओर से प्रस्ताव किया जाता है और दूसरा पक्ष उस स्वीकार करके उसकी अनुमति हो नहीं देता है बरन स्वीकृति की इस प्रकार से घोषणा करता है कि दूसरे, विशेषतया निकाह के साक्षी, उस सुन लें। प्रस्ताव, स्वीकृति और उसकी घोषणा एक ही साथ एक मीटिंग में होना आवश्यक है। वयस्क के लिये प्रस्ताव स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा नितांत आवश्यक है। इस्लामी विधि इतनी छट अवश्य देती है कि वयस्क व्यक्तित्व निकाह व प्रस्ताव, स्वीकृति और स्वीकृति की घोषणा के लिये एजेंट नियुक्त कर सकत है। निकाह व प्रस्ताव, स्वीकृति और घोषणा का न तो लेखबद्ध करन की आवश्यकता है और न उसके लिये किसी कमराण्ड और समारोह की। यदि निकाह का प्रस्ताव और उसकी स्वीकृति एक साथ और एक ही मीटिंग में नहीं किये जाते हैं तो निकाह अवैध है। इस्लामी विधि सम्प्रदाय के प्रतिपादकों के अनुसार यदि निकाह का प्रस्ताव और दवाव के कारण किया गया हो और बिना निकाह के दवाव के भी प्रस्ताव की स्वीकृति दे दी गई हो तो भी निकाह सविना जायज है। यह मायता मुहम्मद साहब के इस बयन पर आधारित है कि बिनाह तलाक और तलाक की हुई स्था की वापस लाना हर दशा में बध है चाहे वह हसी मजाक में किया जाय या साच समझ कर^१। किन्तु, यारापीय प्रभाव में मुस्लिम विधि का भारतीय अजायबता में जो निवचन हुआ है उसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जालसाजी और भ्रष्टाचार से दवाव से किया निकाह अवैध है। किन्तु एम निकाह में भी, यदि निकाह व मात योनिसम्बध स्थापित हो गए हो तो निकाह बध है और पत्नी महर का अधिकारिणी है।

यह अवश्य है कि मुस्लिम कानून में निकाह का एक सविना का रूप दान का प्रयास किया गया है। भारत के अंग्रेजी मुस्लिम कानून में भी बिवाह को सविना के ही रूप में स्वीकार किया गया है। निकाह मस्कार नहीं है। बिवाह में बिवाह सम्बन्धित कमराण्डा व कारण, आधिपत्य का भाव निहित रहता है जो निकाह में नहीं है। निकाह यन्त्रिमस्कार नहीं है तो वह एक सामान्य कानूनी सविदा भी गही है। निकाह में इशारेत का भी पुन है और सुवामलात (मानव सम्बन्ध) का भी। मुहम्मद साहब व एम कथनानुसार किया निकाह मरी सुनत है और जो इसकी आवाज पालन नहीं करत है व बेर अनुपायी नहीं है किसी भी नागी का बिवाह उसकी चार विशेषताओं के कारण हाता है—एक उसकी सम्पत्ति दो उसके धर्म की

उच्चता, तीन, उसका सौदय और चार उसकी धमनिष्ठा। तुम धमनिष्ठा से निकाह करो'। धन, निकाह एक ऐसी सविदा है जो एक सामाजिक-मध्यगत धार्मिक कृत्य है। साधारण सविदा कोई भी ११ वयस्क व्यक्ति कर सकते हैं। किन्तु निकाह ऐसी सविदा है जिसके साक्षी दो मुस्लिम (वयस्क मुस्लिम) ही हो सकते हैं, जिसमें बली-अल निकाह और मुत्ता का परम्परागत महत्व है और जिसके द्वारा नर-नारी पति-पत्नी तथा माता पिता की वह सामाजिक भूमिका में प्रवेश करन हैं। 'निकाह' कानून के दृष्टिकोण से एक विधेय सविदा है मजहब के दृष्टिकोण से एक मजहबी (मुन्तही) कृत्य है और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक समस्या का परिवार का आधार है।

हिमाच्छीस के अनुसार निकाह के लिये पति पत्नी की सहमति आवश्यक है। यदि पति वयस्क है तो उस स्वयं या किसी अपन प्रतिनिधि द्वारा अनुमति देना अधिकार है। हिमाच्छीस का यह मत है कि इस्लाम में नारी हमेशा अपन निकाह की अनुमति देने के लिये अग्रिम मानी गई है। इस्लामी कानून की परम्परा के अनुसार, नारा बली-अल निकाह^१ द्वारा ही अपनी अनुमति दे सकती है^२। बली अनुमति देना है और ब्या मोन स्वीकृति देनी है। बली का ब्या का ज़र निकाह करन का अधिकार है अर्थात् बली ब्या की अनुमति लिये बिना ही उसका विवाह कर सकता है लेकिन तभी तक जब तक ब्या वयस्क नहीं है। इतबुद्धि (Lunatic) पुष्प हान आन पर निकाह के लिये या तो स्वयं अनुमति दे सकता है या किसी अपने प्रतिनिधि द्वारा किन्तु अवयस्क ब्या का निकाह की अनुमति देने के लिये अपना प्रतिनिधि या वकील नियुक्त करने की ज़रूरत होती है। ब्या की ज़रूरत से वैध अभिभावक ही अनुमति दे सकता है। किन्तु यदि ब्या वयस्क या विधवा या तलाक दी हुई है तो, बली की अनुमति ही वैध नहीं है। जहां ब्या वयस्क है वहां निकाह की बधता के लिये उनकी स्वतन्त्र अनुमति आवश्यक ही नहीं बरन् निनात आवश्यक है। वहां बली की अनुमति ब्या की अनुमति का स्थान नहीं ले सकती है^३। ब्या का अपने निकाह की अनुमति देने का अधिकार है या नहीं इस्लाम में इस प्रश्न पर मतभेद है। भारत के इस्लामी कानून में बली की भूमिका को दो पहलुओं में देखा गया है—एक, यदि बली न अल्पवयस्क का निकाह कर दिया है तो

१ बली का अर्थ है अभिभावक या सरक्षक। पिता, पितामह, भाई, पिता की ओर के अर्थ सम्बन्धी, माता, मातुल और माता की ओर के अर्थ प्रत्यक्ष सम्बन्धी प्रथम अभिभावक की श्रेणी में आते हैं। यदि किसी ब्या का कोई भी अभिभावक न हो तो शासक उसका अभिभावक हो सकता है।

२ हिमाच्छीस शाहीफ़ायज़ वही पृष्ठ 129

३ सक्सेना, शान्तिप्रसाद वही पृष्ठ 151

वयस्क होने पर क़या उस निकाह को अस्वीकार नहीं कर सकती। दो, जहा बली ने छल स निकाह किया हो, या जो निकाह क़या के लिय स्पष्टत अमुविधानक हो या निकाह किसी पागल (हतबुद्धि) स हो गया हो बहा वयस्क होने पर क़या को बली द्वारा किया हुआ निकाह अस्वीकार करने का अधिकार है। किंतु जहा निकाह क़ बाद बर क़या के यौन सम्बंध स्थापित हो जाते है बहा क़या का यह अधिकार समाप्त हो जाता है। दि डिसान्यूशन आफ मुस्लिम मरिजेज एक्ट के अंतगत, वयस्क हान पर क़या का बली द्वारा किए हुए निकाह को समाप्त करने का अधिकार दिया गया है यदि क़या यह सिद्ध कर सके कि (अ) निकाह के बाद बर क़या ने यौन सम्बंध नहीं हुए हैं, (ब) यदि निकाह क़या की पंद्रह साल की आयु पूण होने के पहले हुआ है (स) यदि क़या अठारह साल की आयु पूण होने के पहले बली द्वारा सम्पन्न निकाह को अस्वीकार करती है। कुछ अंगलतों का राय है कि ऐसे निकाह का अस्वीकार करने के लिय अंगलत की अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं है और कुछ की राय है कि अंगलत की अनुमति लेने की आवश्यकता है। किंतु, विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस एक्ट द्वारा अवयस्क क़या का वयस्क होने पर बली द्वारा सम्पन्न अपने निकाह को अस्वीकार करने का अधिकार रिया गया है और इस अधिकार पर जा रोक थी, उसे दूर कर दिया गया है¹। अ य इस्लामी दशा में भी इस प्रकार के वर्णानक परिवर्तन किये गए हैं जिनका उदगम याराय क़ प्रभाव में है।

निकाह एक सविदा है जिसकी वधता के लिय बर क़या की स्वीकृति आवश्यक है यदि दोनों वयस्क ह। वना वध बली की अनुमति स किया हुआ निकाह वध है। इंडियन मेजोरिटी एक्ट के अनुसार, अठारह वध की आयु पूण हो जाने पर ही कोई व्यक्ति किसी सविदा में पार्टी बन सकता है। किंतु, निकाह-सविदा पर यह नियम नहीं लागू होता है। निकाह के साथ महर और तलाक़ में निहित सविदा पर भी यह एक्ट लागू नहीं होता है। इस विषय पर इस्लामी विधि के अपने नियम हैं जिन्हें अंग्रेजी राज में वर्तमान कानूनी स्तर मिला है। इस्लामी विधि के अनुसार वयस्क बर-क़या सभी निकाह के वधन में वध सकते हैं जबकि उनमें निषेध बुद्धि का विकास हो चुका हो और व निकाह प्रस्ताव को स्पष्टतया स्वीकार करने में समर्थ हो। जिस स्त्री का एक बार विवाह हो चुका है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह निकाह प्रस्ताव का स्पष्ट ग़म में स्वीकार करे किंतु जिसका निकाह पहली बार हो रहा है, निकाह प्रस्ताव पर उसका हसना, मुस्माना या चुप रहना स्वीकृति

का प्रतीक माना जायगा¹। किंतु, यहाँ प्रश्न उठता है कि किस आयु में वर-कन्या विवाह की स्वीकृति देने के बंध अधिकारी हैं। मुस्लिम विधि के अनुसार वयसंधि की आयु प्राप्त होना पर, वर और कन्या विवाह के बंध अधिकारी हो जाते हैं। पंद्रह वर्ष की आयु के पूर्ण होने पर, साधारणतः, वयसंधि की आयु की पूर्णता मानी जाती है।

पंद्रह वर्ष की आयु वयसंधि की अधिकतम सीमा मानी गई है। सुन्नी विधि-प्रणाली में यह माना गया है कि वर बारह साल के बाद और कन्या नौ साल के बाद वयसंधि को प्राप्त होते हैं। शिया विधि-प्रणाली में वर पंद्रह वर्ष की आयु में और कन्या नौ वर्ष की आयु में वयसंधि का प्राप्त हुये माने जाते हैं। इस प्रकार मुस्लिम विधि प्रणाली के दृष्टिकोण से वयसंधि की आयु प्राप्त होने पर वर कन्या विवाह सविदा में बंधने के अधिकारी हो जाते हैं। जहाँ अब कोई प्रमाण न हो वहाँ वयसंधि पंद्रह वर्ष पर मानी जाती है। इस दृष्टिकोण से यदि कोई लड़की वयसंधि को प्राप्त कर चुकी है और उसकी आयु पंद्रह वर्ष से कम है वह विवाह करने के लिए सक्षम है। आगे चलकर, यदि यह पाया जाय कि कन्या में वयसंधि की आयु की न होने के कारण उसे विवाह करने की क्षमता न थी तो ऐसा विवाह अनियमित माना जायगा न कि अवध। लेकिन विवाह की वधता के लिये वयसंधि की आयु ही एकमात्र आवश्यकता नहीं है। विवाह की वधता के लिये, निकाह प्रस्ताव और निकाह स्वीकृति देने के अर्थ को समझने की मानसिक क्षमता भी आवश्यक है। यदि वर और कन्या वयसंधि का प्राप्त हो गए हों और उनमें निजय बुद्धि की क्षमता न हो या निजय बुद्धि की क्षमता हो और वयसंधि की आयु पूर्ण न हुई हो तो दोनों अवस्थाओं में, विवाह तभी बंध है जब बंध बली की स्वीकृति से विवाह सम्पन्न हुआ हो। इस प्रकार, जहाँ हिंदू विवाह में वर कन्या को त्रयश इक्कीस और अठारह वर्ष की आयु पूर्ण करने पर विवाह सविदा करने का अधिकार है वहाँ निकाह में उसके पहले

- 1 इस्लामी विधि के एक सम्प्रदाय (अफी, मालिकी) के अनुसार निकाह सविदा की पूर्ति के लिये वयस्क कुमारी की स्वीकृति ही काफी नहीं है। शिया और सुन्नी विधि सम्प्रदायों के अनुसार स्वस्थचित और वयस्क तथा कुमारी या विधवा नारी को वयसंधि निकाह सविदा करने का अधिकार है। किंतु साथ ही साथ, वयस्क कुमारी के निकाह में उसकी स्वीकृति तथा उसके बली की स्वीकृति पर एक साथ जोर दिया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि कुमारी के निकाह में बली की स्वीकृति एक आवश्यक आधार है। कानून के दृष्टिकोण से बलात्कार से जिसका कुमारित्व नष्ट हुआ है वह कन्या भी कुमारी ही है।

वधार्थ कि जिस आयु में निकाह किया जाय, उसमें वर कया वय संधि का प्राप्त होने के साथ-साथ निम्न बुद्धि की क्षमता को भी प्राप्त हो गए हो ।

मुस्लिम विधि परम्परा के अनुसार निकाह दो गवाहों की उपस्थिति में तथा उनको सुनाई देते हुए प्रस्ताव और स्वीकृति के रूप में होना चाहिये ।

निकाह साक्षी बिना साक्षी के किया हुआ निकाह अवैध है । जो निकाह मस्मि-भावक द्वारा सम्पन्न होता है, उसके लिये भी दो गवाहों की आवश्यकता है । गवाहों का स्थिरचित्त, वयस्क और मुसलमान होना आवश्यक है । गैर मुसलमान निकाह का साक्षी नहीं हो सकता है । हनाफी विधि सम्प्रदाय के अनुसार, दो गवाहों में एक का पुरुष होना आवश्यक है । गवाहों के मामले में, इस्लाम में दो स्त्रियाँ एक पुरुष के बराबर मानी गई हैं । अतः, जहाँ दाना गवाह पुरुष नहीं हैं वहाँ गवाहों में एक पुरुष और दो स्त्रियों का होना आवश्यक है । शफी विधि सम्प्रदाय में स्त्रियों को निकाह की साक्षी बनने की अधिकारिणी नहीं माना गया है । शिया सम्प्रदाय में निकाह सविन्य की वधता के लिये साक्षियों का होना आवश्यक नहीं है । अमीर अली ने यह मत प्रतिपादित किया है कि निकाह के अवसर पर मुल्ला या काजी की उपस्थिति आवश्यक नहीं है क्योंकि निकाह न तो सत्कार है और न धार्मिक कर्मकाण्ड । किंतु, भारत में मुसलमानों की ब्रह्महृद परम्पराओं में 'मुल्ला' या 'काजी' न पुरोहित का रूप ले लिया है । ऐसी दशा में, मुल्ला अपने आप विवाह का साक्षी बन जाता है । उन्नीसवीं शताब्दी में, भारत में विभिन्न भागों में मुल्ला की स्थिति का अधिक नियमित और नियंत्रित बनाने के लिये अनेक अभिनियमों¹ को पास किया गया किंतु उनमें भी इस प्रश्न पर एकमतता नहीं है । बहुमत इसी पक्ष में है कि निकाह सम्पन्न करने के लिये काजी या मुल्ला की आवश्यकता नहीं है ।

मेहर की परम्परा निकाह का आवश्यक अंग है । मेहर वह निश्चित रकम है जो निकाह और उसके बाद पति की सम्मोग का अधिकार देने के कारण पत्नी को पति से मिलती है । मेहर पति तथा बली के बीच समझौता है क्योंकि पति और बली ही मेहर की रकम निश्चित करते हैं । मेहर की रकम निकाह के पहले या निकाह के समय या निकाह के बाद निश्चित की जा सकती है । निकाह के बाद, यदि पति पत्नी में तलाक़ टूटता है, तो पहले से निश्चित की हुई मेहर की रकम बढ़ाई भी जा सकती है । मेहर निकाह का एक आधारभूत अंग है क्योंकि मेहर निकाह में निहित है । मुस्लिम कानून में बिना मेहर के निकाह की सम्भावना ही नहीं है । निकाह के बाद कोई स्त्री मेहर की रकम अपने पति को दे सकती है या मेहर की सारी रकम उसे अपित

कर सकती है किन्तु निकाह के पहले या निकाह के समय नहीं क्योंकि उस समय वह मेहर की अधिकारिणी नहीं है। मेहर निकाह मविदा से उत्पन्न पति का उत्तरदायित्व है जिसे निकाह सविदा की रक्षा के लिए निभाना पति के लिए आवश्यक है। यदि निकाह के समय मेहर तय न की गई हो तो इस्लामी कानून के अनुसार काजी या न्यायाधीश का पति पत्नी की हैसियत के अनुसार, मेहर की रक्कम तय करने का अधिकार है। मेहर के बिना निकाह अवैध नहीं अनियमित है क्योंकि इस्लामी कानून में जहाँ निकाह है वहाँ मेहर है चाहे वह निकाह के समय निर्दिष्ट की जाय या बाद में।

मुस्लिम नारी का मेहर का अधिकार निकाह में निहित है। किन्तु, मेहर पाने का अधिकार केवल निकाह पर ही निर्भर नहीं है। पति का सम्भोग की अनुमति देने के बाद ही नारी मेहर की अधिकारिणी होती है। दूसरी ओर बिना मेहर के अधिकार के पत्नी पति को सम्भोग में अचित्त रख सकती है। मेहर का अधिकार पाने के बाद पति का सम्भोग की अनुमति देने की प्रथा, वस्तुतः नारी को उस अधिकार का स्वीकृति है जिसका सम्बन्ध नारी की सामाजिक-प्राणिक सुरक्षा से है। पत्नी के लिए दातव्य के रूप में, पति द्वारा स्वीकृति धन राशि (मेहर) उन परिस्थितियों में नारी का सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है जो पति द्वारा पत्नी का अस्वीकृत करने, तलाक़ देना, एक से अधिक विवाह करने और पति के मरने की अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकती हैं। इस्लाम में पुरुष का मिल एकतरफा अधिकार और उससे उत्पन्न होने वाली सम्भव विपन्नताओं के प्रति, मेहर एक प्रकार का सुरक्षा साधन है। मेहर की परम्परा इस्लाम के पहले के अरबी समाज से आई है। इस्लाम के पहले अरबी समाज में घर का पति ही धन देता था और उसके पिता का भी घर जो धन देता था वह उस पति का एक अंश हुआ करता था जो वह भविष्य में अपनी पत्नी के तलाक़ करने पर देने का वादा किया करता था। पति पत्नी कभी भी एक दूसरे को तलाक़ दे सकते थे। यदि पति तलाक़ देता था तो वह प्रतिभा की हुई धन राशि का दाय पत्नी के सम्बन्धियों को देता था और यदि पत्नी विवाह-विच्छेद करती थी तो उसके सम्बन्धी पति से प्राप्त धन, पति को वापस किया करते थे। मेहर का कुछ अंश निकाह के अवसर पर दिया जाता था और कुछ पत्नी का तलाक़ करने की अवस्था में या उसके विधवा होने की अवस्था में। इस्लाम में मेहर की परम्परा इसी अरबी परम्परा से आई है।

इस्लाम के प्रादुर्भाव से, मेहर की अरबी परम्परा, छोटे पवित्रता के साथ इस्लाम में एक वध परम्परा बन गई। कुरान (2/299) में यह कहा गया है कि 'यदि तुम अपनी पत्नियों से विवाह विच्छेद करते हो तो उदारतापूर्वक करो। तुमने जो कुछ उन्हें दिया है, उस वापस लेने की तुम्हें आजाज़ नहीं है।' शम्बर की इस अनुज्ञा का परिणाम यह हुआ कि मेहर नारी के सम्बन्धियों की सम्पत्ति न होकर, नारी की

सम्पत्ति हो गई। पैगम्बर ने यदि पति का विवाह विच्छेद का असीमित अधिकार दिया तो पत्नी को मेहर की धन राशि पर एवमात्र अधिकार दिया। इस्लाम के प्रभाव से, मेहर निकाह की वधानिवृत्ता का एक आवश्यक अंग बन गई। कुरान में निहित अनुज्ञा के द्वारा मेहर स्त्री की सम्पत्ति बनी किन्तु वास्तविक व्यवहार में जसा कि इस्लाम के पहले मेहर सम्बन्धी अरबी प्रथा थी, मेहर पर वली का अधिकार बना रहा। यह प्राचीन अरबी परम्परा का ही परिणाम है कि निकाह में वली कया की अनुमति का माध्यम बना। मेहर पर अधिकार होने के साथ साथ, वली के कुछ विशेषाधिकार भी बने रहे। मेहर की धन राशि तय करने में वली का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। वली का यह विशेषाधिकार है कि वह यह देखे कि निकाह में दानो पक्षों की समानता बनी रहे और कया अपने लिए अनुपयुक्त या अप्रवाञ्छनीय पति का चुनाव न करे। निश्चित मेहर की धनराशि में से कुछ अंश के मिलने पर ही वली कया वर को सौंपता है। इसी परम्परा से जन्म निकाह की धारणा का विकास हुआ है। इसप्रकार, मेहर पर वली का अधिकार उन विशेषाधिकारों के कारण मिलता है जो प्राचीन अरबी समाज से इस्लाम में आकर बंध हुए हैं। मेहर पर वली का अधिकार प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष अधिकार कया का है। मेहर पर वली का अधिकार उसके मरक्षक अधिकार से सम्बन्धित है¹।

मेहर के भुगतान के प्रकारों के आधार पर मेहर के कई रूप पाये जाते हैं। भुगतान की अवधि के आधार पर दो प्रकार की मेहर पाई जाती है—एक, तत्कालीन और दूसरी स्थगित। तत्कालीन मेहर निकाह सविदा के बाद, मांग बिध जाने पर, फौरन भुगतान की जाती है। सम्भाग के बाद भी तत्काल मेहर को स्थगित नहीं किया जा सकता है जब तक कि इकरारनामो में तत्काल मेहर को स्थगित करने का विधान न हो। स्थगित मेहर, मेहर की वह धनराशि है जिसका भुगतान तलाक या पति-पत्नी की मृत्यु के बाद होता है। मेहर की धनराशि का नियम

-
- 1 निकाह में वली का क्या स्थान है इस पर इस्लाम में मतभेद है। वली की अनुमति के बिना निकाह बध है या नहीं इस पर दो मत हैं—एक मत यह है कि अवश्य कया के लिए ही वली की अनुमति की आवश्यकता है और दूसरा यह कि बिना वली की अनुमति के निकाह बध ही नहीं है। आधुनिक ईरान में नियमानुसार प्रथम विवाह बिना वली की अनुमति में नहीं हो सकता है चाहे कया बयस्क हो क्या न हो। हाँ, यदि उसे अनुमति नहीं मिलती है तो वह उस सगठन के माध्यम से विवाह कर सकती है जो इसके लिए राज्य द्वारा सगठित किया गया है। हर देश में यह अवस्था है कि निकाह के बाद वली की आवश्यकता तभी पड़ती है जब किसी स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न जाता है—लेखी वही पृष्ठ 111

बहुधा मौखिक समझौते द्वारा होता है। कुरान और हदीस में इस तथ्य का उल्लेख नहीं है कि मेहर की धनराशि का भुगतान कब हो। अतः, मेहर के कुछ अंश को तत्काल और कुछ का स्थगित करने की परम्परा चल पड़ी है। मेहर की धन राशि का निश्चय करने के आधार पर मेहर को दो श्रेणियाँ में बाँटा गया है—एक, निश्चित या पारस्परिक समझौते द्वारा पहले ही से निश्चित कर दी जाती है और दूसरी उचित या परम्परागत (मेहर उल मिसल) जो पहले से निश्चित नहीं रहती है किन्तु मोवा पढ़ने पर, पति पत्नी की योग्यता या सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार निर्धारित की जाती है। मेहर उल मिसल का वही आर्थ्य लेना पड़ता है जहाँ निकाह में मेहर पूर्वनिर्धारित नहीं रहती है। परम्परानुसार कम से-कम दस दीनार की मेहर होना चाहिए। किन्तु शिया सम्प्रदाय में इस परम्परा को नहीं माना जाता है।

सुन्नी सम्प्रदाय की विधि प्रणाली में पत्नी को मेहर का अधिकार तीन धन स्थावरो में मिलता है—एक निकाह के बाद सम्भोग होने पर, या दो, वध एकात प्रवण (Valid Retirement) से अर्थात् पति पत्नी के इसप्रकार एकात सेवन से जिनसे सम्भोग की सम्भावना की पुष्टि होती हो और तीसरे पति पत्नी में से किसी की भी मृत्यु होने पर। शिया विधि प्रणाली में वध एकात सेवन से मेहर अधिकार मिलने का विधान नहीं है। शिया विधि प्रणाली में पाँच प्रकार की मेहर मिलती है—एक परम्परागत (मेहर ए मुनस) जो वैगम्बर की परम्परानुसार पाँच सौ दिरम आती है दूसरी उचित या बाजिब (मेहर उल मिसल) जो पत्नी को हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाय तीसरी पूर्वनिर्धारित (मेहर ए मुसम्मा) चौथी जो पति पत्नी के द्वारा निकाह के बाद तय की जाय (मेहर ए-तफवीज) और पाँचवी जो जज द्वारा निर्धारित की जाय (मेहर ए-तलीम)। सुन्नी विधि प्रणाली में कम-से-कम धनराशि का विधान किया गया है और शिया प्रणाली में अधिक से अधिक का (पाँच सौ दिरम)। किन्तु ऐसे भी उदाहरण आते हैं जहाँ पति अपनी आर्थिक हैसियत से अधिक मेहर देने का वादा करता है। यह वादा बंध है और पत्नी को मेहर की धनराशि पाने का अधिकार है चाहे वह पति की समता से बाहर ही क्यों न हो। किन्तु इस्लामी विधि परम्परा में जहाँ मेहर की धनराशि अत्यधिक हो और पति की हैसियत के बाहर हो वहाँ काजी को उस घटाने का अधिकार है। अश्वजी राजकाल में अवध और भजनर मेरवाड़ा की दीवानी अदालतों को यह अधिकार मिला था।

मेहर की धनराशि का आधार क्या है ? एक आधार है परम्परा का जिसमें दस दिरम से लेकर पाँच सौ दिरम की धनराशि का उचित मेहर माना गया है और दूसरा पत्नी का कुलराशन या विधवापन, उसकी सुदरता उसकी योग्यता और पत्नी के पिता की सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिष्ठा। इन्हीं के अनुसार, साधारणतया

कुंवारी का मिलने वाली मेहर की धनराशि विधवा और तलाक दी हुई स्त्री की अपेक्षा अधिक होती है। किन्तु साथ ही साथ, चाहे मक्का हो या चीनी तुर्किस्तान, सभी जगह उस औरत को अधिक पसंद किया जाता है जिसे निकाह का अनुभव रहा हो और जो सुंदरता और चतुराई में साधारण नारी से बढ कर हो। अतः, ऐसी औरत के लिए मेहर की धनराशि निश्चय ही अधिक होती है। कुंवारेपन का, यह कहा जा सकता है, अधिक पसंद किया जा सकता है। निकाह सविदा में बहुधा यह धारणा की जाती है कि बूढ़ कुंवारी है या नहीं। मारबको में, यदि घर काया को कुंवारी नहीं पाता है तो वह उसे उसके पिता के घर वापस भज देता है। किन्तु, यह तभी होता है जब निकाह सविदा में यह कहा गया हो कि काया कुंवारी है और पति को वह कुंवारी न लगे¹। काशी प्रसाद सक्सेना का अनुसार मेहर की धनराशि क्या हो, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है यद्यपि इस्लामी विधि के निबन्धनों ने मेहर की निम्नतम राशि (दस दिरम) निर्धारित करने की कोशिश की है क्योंकि मुहम्मद साहब ने अपनी पत्नियाँ में से प्रत्येक को इतनी ही धनराशि वसूल मेहर के दी थी। किन्तु, आज, मेहर की धनराशि, अन्य विचारों और तथ्यों पर निर्भर करती है। ये विचार और तथ्य हैं पति पत्नी की परिस्थितियाँ, तलाक विषयक मिले हुए पति के विगप अधिकारों पर रोक लगाने की आवश्यकता पत्नी के पितृ परिवार की सामाजिक स्थिति उसकी सुंदरता और बौद्धिक तथा व्यक्तिगत योग्यताएँ पति की आर्थिक दशा, पत्नी की सामाजिक परिस्थितियाँ और उसके पितृ सम्बंधियों में ऐश्वर्य प्रश्रान्त की भावना की मात्रा²।

मेहर का धनराशि की मात्रा घर की स्थिति और काया की भाग पर निर्भर करती है। कहीं कहीं यह धनराशि साधारण होती है और कहीं कहीं हिंदू दहेज की भाँति देने वाले की सामर्थ्य के बाहर और ऐश्वर्य तथा वभव के दिखावे का प्रतीक होती है। जिन दिनों अरबी सत्ता अपने ज़रम विकास पर थी उस समय मेहर की धनराशि की मात्रा काफी बढ गई थी। मुगल सम्राटों और ज़मीनदारों में मेहर की धनराशि काफी बढी चढ़ी थी। आज भी हैदराबाद और उत्तरी भारत में मुस्लिम उच्च वर्गों में मेहर की धनराशि की मात्रा दिखावटी उपभाग (Conspicuous Consumption) का प्रतीक है। ईरान में गाँवों में मेहर का अलावा, घर का काया की माँ को एक निश्चित धनराशि देनी पड़ती है जिसे शीर-बहा (माँ के दूध का मोल) कहा जाता है³। ईरान में गिगा (अर्ध मुता) विवाह में मूट्टी भर मक्का में ही मेहर का काम चल जाता है⁴। गुजरात में राजा मुसलमानों में जो तरीका पाया

1 लेखी वही पृष्ठ 114-15

2 सक्सेना, काशी प्रसाद वही पृष्ठ 22

3 गुजराती भाषा में 'शिर-बहा' का अर्थ 'माँ के दूध का मोल' है।

4 लेखी वही पृष्ठ 117

जाता है वह प्रतिष्ठित इस्लामी परम्परा से भिन्न है। यहाँ वर का पिता कन्या के पिता को पाच रुपये और चार आने (Rs 5 25) देना है जो कन्या का पिता एक सम्मिलित पण्ड (जमाअत खाना) में जमा कर देता है¹।

मुस्लिम समाज और सभ्यता के अधिकतर विद्वानों के अनुसार, निकाह में मेहर का जो स्थान है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि माना निकाह पत्नी के बली से पत्नी पर सम्भोग अधिकार का नया विन्य हो और पत्नी सम्पत्ति हो। मुस्लिम शरीय विधि का निश्चय करने वाले अनेक जजों ने, मेहर के कारण, विवाह को एक ऐसा सविदा माना है जिसमें नया विन्य का भाव आता है। उदाहरणार्थ, जस्टिस महमूद के अनुसार विन्य सविदा की उपमा के आधार पर, मेहर को दाम्पतिक सम्भोग के लिये दिया हुआ धन माना जा सकता है²। निकाह, एक दृष्टिकोण से, एक प्रकार का विन्य सविदा है जिसमें पत्नी सम्पत्ति है मेहर उसका मूल्य है और मूल्य दकर पत्नी का हस्तांतरण किया जाता है। तब क्या मेहर को बंधूधन माना जा सकता है? प्राचीन अरब की बवाहिक परम्पराओं में क्रय विन्य का भाव था जो निकाह में केवल अप्रत्यक्षत विद्यमान है। मेहर, बली की नहीं पत्नी की सम्पत्ति है। निकाह में कन्या की अनुमति आवश्यक है। अतः मेहर कन्या मूल्य नहीं है और न कन्या सम्पत्ति। किंतु साथ ही साथ मेहर से पति को अपनी पत्नी पर सम्भोग अधिकार मिलता है और मेहर वापस करके पत्नी अपने को पति से अलग कर सकती है। इन परम्पराओं से यह प्रतिभासित होता है कि मानो पत्नी पति की सम्पत्ति हो।

मेहर को बंधूधन या कन्यामूल्य मानना अनुपयुक्त है क्योंकि मेहर कन्या के बदल में दिया हुआ मुआवजा नहीं है। निकाह विन्य भी नहीं है क्योंकि मेहर निकाह का प्रतिद्वय नहीं है। मेहर का सम्बन्ध, निकाह से प्रतिफलित होने वाला पति के पत्नी पर सम्भोग अधिकार से है—वे अधिकार जो खरीदे नहीं जाते हैं बरन निकाह से उत्पन्न होते हैं। मेहर के बिना निकाह का प्रवर्धन होना और बिना मेहर के निकाह में, मेहर को निर्धारित करने की वध गुजायग का होना इस धारणा का प्रतीक है कि मेहर केवल सम्भोग अधिकार का मूल्य नहीं है। इस्लामी परम्परा में सम्भोग और मेहर परस्पर कई प्रकार से सम्बन्धित हैं। सम्भोग की अनुमति देने से पहले पत्नी मेहर का अंश माग सकती है किंतु उसकी अधिकारिणी वह सम्भोग के ही बाद होती है। यदि स्त्री के किसी दोष के कारण विवाह विच्छेद होता है और उसके पति पत्नी से सम्भोग (इक़्त) कर लेता है तो पत्नी मेहर की अधिकारिणी हो जाती है। किंतु यदि पति के किसी दोष के कारण बिना सम्भोग हुए ही तलाक़ हो जाता है तो पत्नी निश्चित मेहर की धनराशि के आधे की अधिकारिणी

1 गुलेरी वही पृष्ठ 517

2 काशी प्रसाद सप्तना से उद्धृत पृष्ठ 219

हा जाती है^१। इसप्रकार, जसा कि कपाडिया का मत है मेहर मूलतः पत्नी पर सम्भोग अधिकारी से सम्बन्धित रहा है और ब्याधन के काफी समीप रहा है। किन्तु इस्लाम के प्रभाव के साथ-साथ मेहर सिदाक (पत्नी धन) में मिल गया जिसके परिणामस्वरूप निकाह के समय मेहर की धन राशि निश्चित न करने से भी निकाह अवध नहीं होता है। इस दृष्टिकोण से, मेहर बुत्रा (रति) का प्रतिदेय है— वह प्रतिदेय जो न तो निकाह सविदा का मुआवजा है, जो न पति से उत्पन्न होता है और न बुत्रा का पतिदान है। मेहर, निकाह के बदले में प्रतिदेय नहीं, बरन निकाह से उत्पन्न एक उत्तरदायित्व है जो नारी सम्मान की रक्षा के प्रतीक के रूप में मुस्लिम विधि प्रणाली में स्वीकार किया गया है^२।

निकाह एक ऐसा सविदा है जिसमें निर्धारित मेहर की अदायगी हा जाने के बाद, पति पत्नी को अनेक वध अधिकार और कृतव्य मिलते हैं। पति को परमो पर सम्भाग अधिकार मिलता है। स्वास्थ्य धारीरिक् दत्ता नतिकता और मर्यादा का ध्यान रखते हुए, पति को, उसकी इच्छानुसार सम्भोग का अवसर देना पत्नी का धर्म है। बिना पति की आज्ञा के अजनबियों से न मिलना, बच्चा का लालन पालन और गृहस्थी की देखभाल पत्नी का कृत्य है। पत्नी की आवश्यकता पड़ने पर मेहर की धनराशि देना पत्नी की देखभाल करना यदि एक से अधिक पत्नियां हा तो प्रत्येक पत्नी को अलग अलग रहने का स्थान देकर सबका समान भ्रान्तर करना, पत्नी के चालचरन पर नियन्त्रण रखना, यदि पत्नी पति की आज्ञा का उल्लंघन करे तो उस धारीरिक् दंड देना और पत्नी से दाम्पतिक सेवाओं को पाना पति के अधिकारों और कृतव्यों में आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार, पति पत्नी की जीविका कमाने, बच्चा के पालन पोषण के साधन जुटाने तथा मेहमानों के लिये खाना बनाने के लिये बाध्य नहीं कर सकता है। इस्लामी विधि में बच्चा की देखभाल तथा उनसे पालन पोषण के लिये धाय या आया रखना और गृहस्थी के मामूली काम के लिये सबक रखना पति का कृतव्य माना गया है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार, पति से भरण पोषण का खर्चा पाना पत्नी का अधिकार है जो उसे निकाह-सविदा से प्राप्त होता है।

इस्लाम के प्रभाव से, प्राचीन अरबी परम्पराओं का जो रूपांतरण हुआ उसमें, नारी को जहां अनेक अधिकार मिले, वहां उसे अनेक सामाजिक निकाह और नियोग्यताओं का भी गिवार होता पड़ा। इस्लाम में नारा को नारी पिता और पति दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार मिला। मेहर की धनराशि, उसका मिले उपहारों और उसके द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर, उसे एकाधिकार मिला। मेहर की धनराशि के अलावा, पत्नी का पति

१ कपाडिया, पृ० एम० यही पृष्ठ १०३

२ सक्सेना, काशी प्रसाद यही पृष्ठ २१०

से भरण पापण का अधिकार भी मिला। यदि पति एक से अधिक विवाह करता है तो प्रत्येक नारी को पति से उचित भरण पोषण पान का अधिकार है। इस्लाम न, यदि सीमित बहुपत्नीत्व का जायज माना तो साथ ही साथ, प्रत्येक पत्नी के लिये मेहर और भरण पापण का विधान करके, बहुपत्नीत्व पर रोक भी लगाई। इस्लाम ने नारी को दहे आधिक सुरक्षा दी जो प्राचीन अरब में नहीं। किंतु, साथ ही साथ, इस्लामी परम्पराओं ने पुरुष के प्रभुत्व को भी सर्वोपरित्व दी। बली का कुमारी का संरक्षण बनाया। पत्नी को उचित भरण पापण देना यदि पति का कर्तव्य निर्धारित किया तो, साथ ही साथ, पति को पत्नी पर असीमित अधिकार भी दिये। पत्नी पर सम्भाग-अधिकारों की धारणा आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को पीटने का अधिकार पत्नी का पद में रक्तन की प्रथा, बिना पति की आज्ञा के पत्नी का किसी अर्थ में सम्भाग नहीं करने का विचार, इच्छानुसार विवाह विच्छेद करने तथा एक से अधिक विवाह करने का पति का अधिकार और नारी के शरीर पर पति के एकछत्र अधिकार की धारणा, जसा कि विद्वानों का मत है नारी पर पुरुष की प्रभुता का परिचायक हैं। सतोषा जीवन, पति का निष्ठा अनुसरण पति भक्ति और गुह्य जीवन इस्लामी परम्परा के अनुसार गहिरी व आग हैं। अपने अधिकारों के साथ पति के निरपेक्ष अधिकारों के प्रति समर्पण पत्नी का कर्तव्य है।

निकाह पत्नी पर पति को निरपेक्ष अधिकार प्रदान करता है। मगर नारी के प्राधिकारों की रक्षा करते हुए पति के अधिकारों की निरपेक्षता को और भी बढ़ावा देता है। विवाह विच्छेद का निरंकुश अधिकार, वैवाहिक जीवन में पत्नी को गौण स्थान प्रदान करता है। कपाडिया¹ के अनुसार इस्लामी समाज में तलाक का कानून नारी पर पुरुष की प्रभुता को प्रतिपादित करता है। कपाडिया का यह भी मत है कि पुरुष का पत्नी को अकारण ही तलाक देने का अधिकार मुस्लिम नारी की प्रतिष्ठा का नकारात्मक ढंग से प्रभावित करता है क्योंकि जहाँ नारी को अनेक अधिकार मिले हैं, वहाँ उस तलाक की निरंतर आशंका भी मिली है। मुहम्मद के बाद से सामाजिक पुरुष के कम विशेषाधिकारों का कम करने का प्रयत्न रहा है किन्तु उसमें सफलता नहीं मिली। कुरान में नारी को पुरुष के आगे व बराबर माना गया है। इस्लाम में पति पत्नी सम्पत्ति नहीं करने नर नारी को दो अलग अलग इकाइयाँ हैं जो पति पत्नी के रूप में अपने अपने अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करने के लिये मजबूत हैं। इस दृष्टिकोण से, मुस्लिम नारी का पति की दासी सम्पत्ति और गुलाम तक कहा गया है। किन्तु मुस्लिम नारी की अपेक्षाकृत उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा मिटने लगने वाला न नारी के मेहर अधिकार भरण-पापण के अधिकार और उत्तराधिकार पर जार दिया है। इस्लाम न मजहबी

मामलो में नारी और पुरुष को समान माना किंतु वैवाहिक तथा पारिवारिक मामलों में असमान। इसमें इस्लाम का दोष नहीं है क्योंकि इस्लाम का विकास ही इस्लामेतर प्राचीन अरबी परम्पराओं के प्रति सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर हुआ था। इस्लाम में नारी को बहुत से अधिकार पहले ही से मिल चुके हैं जिनको भारत में लाने के लिये नई विधि का निमाण करना पड़ा। इस्लाम में नारी की प्रतिष्ठा उच्च है या निम्न या हिन्दू नारी की प्रतिष्ठा उच्च है या मुस्लिम नारी की यह प्रश्न समाजशास्त्रीय है क्योंकि नर नारी की भूमिकाएँ उनके पारस्परिक अधिकार और कर्तव्य भिन्न भिन्न समाजों में भिन्न हैं और प्रत्येक समाज के सांस्कृतिक परिवर्तन तथा विकास का परिणाम है। अनेक वर्ष अविनारो के दावजूद भी पत्नी की प्रतिष्ठा हम सामंजस्य पर निर्भर करती है जो वह पुरुष के साथ स्थापित करती है। इस्लाम के इतिहास में अनेक ऐसी नारियाँ का उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने सामाजिक राजनैतिक जीवन को प्रभावित किया है। इस्लाम ने यदि नारी को अधिक अधिकार दिये और पुरुष का नारा पर निरुत्तम प्रभुता प्रदान की तो इस्लाम में यह भी कहा गया है कि ससार और इसके आनंद मूल्यवान हैं किंतु पतिव्रता पत्नी इन सबसे कहीं अधिक मूल्यवान है। खुश की निगाह में वही सर्वोत्तम है जो अपनी पत्नी के साथ उत्तम व्यवहार करता है¹।

इस्लामी परम्पराओं में दो भाइयों की सत्ता में विवाह अधिक पसंद किया जाता है। पिता के भाई की कन्या प्रत्येक नौजवान की प्रथम भावी निकाह नियम पत्नी मानी जाती है यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि विवाह उसी के साथ हो। इस प्रथा का उद्भव इस्लामेतर अरब में हुआ था और आज भी इस्लाम में पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह प्रथा का ही रूप में विद्यमान है। इस प्रथा के पीछे किसी कानून की गति नहीं है। प्राचीन अरब की परम्परा में, यदि किसी स्त्री का उसका पिता के भाई के पुत्र से प्रथम विवाह होना था तो वह अपने पति के घर की तब भी स्वाभिनी बनी रहती थी जब उसका पति दूसरा विवाह करता था। पिता के भाई की कन्या के साथ विवाह के दो कारण थे—प्रत्येक नारी का पति उसकी गणजाति (Tribe) में से होता था और प्रत्येक नारी के वंश उसकी गणजाति के ही सदस्य होते थे जिससे कारण गणजाति की एकराशी प्राप्ति मिलता था। अतः, दो भाइयों की सत्ता में विवाह की परम्परा इस्लामेतर अरबी समाज की गणजाति प्रणाली की दृष्टि से जो इस्लाम में प्रथा के रूप में स्थायी हो गई और कालांतर में उस प्रथाई विधि का अनुमान मिल गया। इस्लामी कानून के हनाफी सम्प्रदाय के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी अवयस्क कन्या का विवाह अपने भाई के लड़के के साथ करता है तो अवयस्क होने पर

वह क्या उम्र विवाह को अस्वीकार नहीं कर सकती है। पिता व भाई को क्या के साथ विवाह करने की प्रथा चीन के मुसलमानों को छाड़ कर सारे मुस्लिम समाज में पाई जाती है। चीनी मुसलमानों की स्थानीय प्रथा सही इस प्रथा का निषेध दिया है।

सामान्यतः, मुसलमान पुरुष का मुसलमान नारी से ही विवाह करने की अनुमति दी गई है। किन्तु कुरान की एक परम्परा में किनबिशा (घराना जिम्मा मजहब इस्लाम की भाति किताबी है) नारी से विवाह करने की अनुमति हान व कारण यही और इमाद स्त्रियों से विवाह नायज माना गया है। बौद्ध स्त्री कितबिया है या नहीं यह प्रश्न अनिश्चित है¹। मूर्तिपूजक तथा अग्निपूजक स्त्री व साथ मुसलमान का विवाह इस्लामी विधि में अवध नहीं बल्कि नियमविरुद्ध है क्योंकि मूर्ति या अग्निपूजक स्त्री का मुसलमान बनाकर विवाह का बंध बनाया जा सकता है। रगून व एक वम में यह निष्पत्ति दिया गया था कि एक शिया किसी बौद्ध वर्मी स्त्री से तभी वध विवाह कर सकता है जब पहले स्त्री को इस्लाम में दीक्षित किया जाय। मुस्लिम पुरुष गर-मुस्लिम स्त्री से विवाह कर सकता है या नहीं इस पर मतभेद है—हनाफी कानूनी सम्प्रदाय में कितबिया के साथ विवाह की अनुमति है किन्तु शाफी सम्प्रदाय में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह करने की बिल्कुल अनुमति नहीं है क्योंकि उनके अनुसार मुहम्मद ने मुस्लिम और गर मुस्लिम दोनों प्रकार की निषेध किया है²। किन्तु मुहम्मद ने मुस्लिम पर अधिकार रखने का स्त्रियां से विवाह किया है। वास्तविक व्यवहार में गैर मुस्लिम स्त्री से विवाह की वधता की समस्या तभी तक बनी रहती है जब तक कि गैर मुस्लिम स्त्री इस्लाम को स्वीकार नहीं करती।

मुस्लिम नारी को हर दगा में मुस्लिम पुरुष से ही विवाह करने का आदेश है। कुरान (220) में इस बात की हिदायत दी गई है कि मुस्लिम नारी का मूर्तिपूजक से विवाह नहीं करना चाहिए। यह हिदायत यहां तक की गई है कि उन मुस्लिम स्त्रियां का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये जो गैर मुस्लिम पतिव्रता का त्याग कर आई हों वरन् उन्हें उनके पतियों के पास वापस कर देना चाहिए। यह परम्परा लगभग सारे मुस्लिम समाज में है। मुर्बा के सिविल कोड में मुस्लिम नारी को गैर मुस्लिम के साथ विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु वहां की प्रथा में विवाह के पहले वर का इस्लाम में दीक्षित करने पर ज़ोर दिया जाता है³। भारत में भी इसी

- 1 कांगी प्रसाद सक्सेना के अनुसार प्रिवी काउंसिल में यह प्रश्न उठाया गया था किन्तु अनिर्णीत हो रहा वहीं पृष्ठ 166
- 2 सबसेना कांगी प्रसाद वहीं पृष्ठ 166
- 3 लेवी वहीं पृष्ठ 103

परम्परागत अधिक प्रणाली को माना जाता है। भारतीय मुसलमान परम्परागत मुस्लिम प्रणाली के ही अंतर्गत विवाह कर सकते हैं। स्पेशल मरिज एक्ट (1934) मुसलमानों पर नहीं लागू होता है।

प्राचीन अरब की अनेक वैवाहिक परम्परायें या तो इस्लाम के प्रभाव में अवध हो गई या भ्रम्यगमन की श्रेणी में आ गई। प्राचीन अरब में पिता के मरने पर पुत्र को अपनी सीतेली माँ से विवाह करने या उसका किसी दूसरे के साथ विवाह कर देने का अधिकार था किन्तु कुरान ने इस प्रथा को अनियमित घोषित कर दिया। इसी नियम के अनुसार इस्लाम में पिता द्वारा तलाक दी हुई या पिता की विधवा से विवाह करना भी भ्रम्यगमन माना गया। किन्तु, जहाँ ऐसे विवाह हो जाय और विवाह के बाद सम्भोग भी हो जाय कुरान की एक परम्परा के आधार पर ऐसे विवाहों को जायज मानने का भी विधान है यद्यपि इस नियम को साधारणतया, पालन करने का विधान नहीं है। इस्लाम में ऐसे विवाहों को अपवाद के ही रूप में जायज मानने की अनुमति दी गई है। दो बहनों से एक ही साथ विवाह (Soral Polygny) का इस्लाम में निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में ऐसे विवाहों का प्रचलन था। पुत्री, भगिनी माँ की तथा पिता की बहिन माई तथा बहिन की पुत्री पुत्र की पत्नी आदी (Grand Mother) और प्रपौड़ी के साथ यौन सम्बन्ध भ्रम्यगमन माने गए हैं। अतः, इन सबधियों के साथ विवाह वर्जित है। सीतेली माँ का सब ध भी इस्लाम में रक्त सब ध माना गया है और, इसकारण, जिन व्यक्तियों में एक ही सीतेली माँ के स्तन से दुग्धपान किया है उनमें विवाह वर्जित है। जिस स्त्री का बचपन में स्तन पान किया गया है वह माँ के समान है, इसकारण वह पत्नी नहीं बनाई जा सकती चाहे स्तनपान करने वाला व्यक्ति उस स्त्री के पति का किसी अन्य स्त्री से ही सतान क्या न हो।

जिसप्रकार दो बहनां से एक ही साथ विवाह करने का निषेध है, उसीप्रकार एक स्त्री और उसकी भतीजी से भी एक साथ विवाह करने का निषेध है। इस्लामी विधि प्रणाली में विनिमय विवाह (निगार) का निषेध है यद्यपि इस्लामेतर अरब में इसका प्रचलन था। निगार विवाह वह विवाह है जिसमें आवश्यक एक दूसरे की कमाओ से विवाह करते हैं और मेहर का विधान नहीं करते हैं क्योंकि यहाँ कमा के बदले में दी हुई कमा मेहर समझी जाती है। इस्लामी परम्परा में ऐसा विवाह तब तक नाजायज है जब तक कि प्रत्येक कमा के लिए अलग अलग मेहर नहीं निश्चित की जाती है। दूसरे शब्दों में, यदि मेहर को तय किए बिना, दो व्यक्ति एक दूसरे की कमाओं का विनिमय करके उनसे विवाह करते हैं तो उनका विवाह अनियमित है। इसीप्रकार किसी अन्य व्यक्ति की वध पत्नी से विवाह करना भी इस्लाम में वर्जित है। तलाक दी हुई स्त्री और विधवा से विवाह किया जा सकता है किन्तु तलाक होने या विधवा होने के फौरन बाद नहीं। पुरुष विधुर होने और तलाक दे

बाद फौरन विवाह कर सकता है किन्तु स्त्री नहीं। इस्लामेतर अरब में पति के मरने या तलाक के बाद स्त्री फौरन दूसरा विवाह कर सकती थी जिस पर इस्लाम ने रोक लगाई। इस्लाम में विधवा होने वाली या तलाक दी हुई स्त्री पर इद्दत की कद लगाई गई। इद्दत वह निर्धारित काल है जिसमें विधवा हुई या तलाक दी हुई स्त्री को दूसरे विवाह के लिए इंतजार करना पड़ता है। तलाक दी हुई स्त्री के लिए दूसरा विवाह करने के पहले, तीन मासिबधर्मों तक इंतजार करने का विधान है और विधवा हुई स्त्री को चार महीने दस दिन तक। इस्लाम में गुलाम-स्त्री सम्भोग करने की अनुमति है किन्तु साथ ही-साथ यह बात का भी विधान है कि किसी गुलाम स्त्री पर अधिकार पाने पर पुरुष का यह कत'य है कि सम्भोग स पहले वह यह निश्चिन करले कि गुलाम स्त्री गभवती तो नहीं है और यदि वह गभवती है तो पुरुष को तब तक इंतजार करना चाहिए जब तक कि उसे सतान न हो जाय। इद्दत के दौरान में, इद्दती स्त्री से विवाह प्रस्ताव किया जा सकता है किन्तु गुप्त रूप से। विवाह इद्दत के समाप्त होने पर ही हो सकता है। तलाक दी हुई पत्नी से पति तब तक पुन विवाह नहीं कर सकता है जब तक कि कोई दूसरा पुरुष उससे विवाह और सम्भोग करके पुन उसे तलाक न दे और वह पुन इद्दत का समय काट न ले।

पुराने मुसलमानों को गुलाम स्त्रियों से विवाह करने का अधिकार दिया गया है किन्तु बाद के विधिवेत्ताओं (Legists) ने उन पर नियन्त्रण लगाने का प्रयास किया है। इस परम्परा का उत्पन्न इस्लामेतर अरबी समाज की गुलामी प्रथा से हुआ है। इस्लाम के नियमानुसार, अविवाहित स्त्रियों को चाह वे मुसलमान हों या यहूदी या इसाई, गुलाम रखलिया की भाँति रखी जा सकती हैं। गुलाम रखलियों के साथ सम्भोग की अनुमति है। स्त्री भी पुरुष गुलामों को रख सकती है। गुलाम का सम्पत्ति माना गया है। किन्तु हनाफी विधि परम्परा में अपनी गुलाम स्त्री या अपने पुत्र की गुलाम-स्त्री या अपने गुलाम पुरुष से विवाह करने का जाना नहीं है। गुलाम के साथ निजाह तभी हो सकता है जब वह स्वतंत्र कर दिया जाय। अधि-तर विधि शास्त्रियों के अनुसार एक पुरुष दूसरी गुलाम स्त्री से तभी विवाह कर सकता है जब (अ) वह अविवाहित हो और उसका पास कोई गुलाम रखल न हो (ब) मुस्लिम स्त्री से विवाह करने के लिए उसका पास महर न हो (स) यदि अविवाहित रहने से उसे पर सब'यी के दाप में फसने की आशंका हो और (द) यदि गुलाम-स्त्री मुसलमान हो। गुलामी प्रथा को दूर करने के सत्कारणाधी आन्दोलन का इस्लाम पर भी प्रभाव पड़ा है। गुलामी अधिनियम (Slavery Act 1843) ने मुस्लिम विधि के उस अंश को प्रभावित किया है जिसमें गुलाम स्त्री का रखली बना कर रखन या उससे शादी करने का विधान है।

इस प्रकार निजाह पर अनुरूप प्रतिपक्ष लगे हुए हैं जिनकी अवहलना से निजाह में वय निर्योग्यता (अस्वाभाव उत तहरीम) उत्पन्न होती है। इन प्रतिपक्षों का चार

श्रेणियों में रखी जा सकती है एक, निरपेक्ष प्रतिषेध, दो, सापेक्ष प्रतिषेध, तीन निषेधात्मक प्रतिषेध और चार जादेशात्मक प्रतिषेध। निरपेक्ष प्रतिषेध स्वतन्त्र सम्बन्धता (Consanguinity) दो परिवारों में विवाह से उत्पन्न सम्बन्धियों में विवाह निषेध के नियम (Affinity) और धात्रेयपालन (Fosterage) के सिद्धांतों से उत्पन्न होते हैं क्योंकि स्वतन्त्र सम्बन्धिता पत्नी के स्वतन्त्र सम्बन्धियों तथा धात्रेय से सम्बन्धित सम्बन्धियों में विवाह का निषेध है। सापेक्ष प्रतिषेध एक साथ दो बहनें इत्यादी स्त्री तथा दूसरे मजबूत की स्त्री के साथ विवाह करने और बहुपत्नित्व तथा निकाह में साक्षी के नियमों से सम्बन्धित है। बहुपत्नित्व और गर मुस्लिम के साथ विवाह करने के निषेध नियम निषेधात्मक प्रतिषेधों का जन्म देते हैं। दूसरे में गम्भवती स्त्री में विवाह न करने का आदेश तथा तलाक दो हुई स्त्री से तब तक विवाह न करने का आदेश जब तक कि दूसरा उससे विवाह करके उसे तलाक न दे दे शिया विधि के अनुसार भक्ता की तीसरी या चौथी शादी के दौरान में मुता विवाह करने वालों का कोई निकाह न करने का आदेश तथा जहाँ पति पत्नी में धात्रेय सम्बन्ध स्थापित किए जाय या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन करे वहाँ विवाह के निर्योग्य हो जाने का आदेश—ये आदेश जादेशात्मक प्रतिषेधों की श्रेणी में आते हैं। इन प्रतिषेधों के कारण, मुस्लिम विधिशालिग्राम ने तीन प्रकार के विवाह निर्धारित किए हैं—एक वध (सहीह) दूसरा अनियमित (फासिद) और तीसरा अवध (बातिल)। जो निकाह वध नहीं है वह या तो अनियमित है या अवध। जहाँ निरपेक्ष प्रतिषेध या प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है वह निकाह अवध है और जहाँ सापेक्ष, निषेधात्मक तथा जादेशात्मक प्रतिषेधों का उल्लंघन होता है, वह निकाह अनियमित है क्योंकि उसमें एक नियम का उल्लंघन किया गया है जो अस्पाई और घन्नाविग हान के कारण सुधारा जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति चार पत्नियों के रहने हुए पाचवी पत्नी से निकाह करता है तो उसका पाचवा निकाह अवध नहीं बनने अनियमित है क्योंकि किसी भी एक पत्नी का तलाक

1. इस्लाम में माँ और धात्रेय माँ को समान माना गया है। स्तन पान कराकर पालन करना तथा धर्मधारण करके जन्म देना एक समान माना गया है। किन्तु साथ ही साथ, अनेक धात्रेय सम्बन्धों को अपवाद माने कर उनके साथ विवाह की अनुमति भी दी गई है। ऐसे धात्रेय सम्बन्धों की तालिका के लिए देखिये फांगी प्रसाद सक्सेना द्वारा मुस्लिम ला. पृष्ठ 160
2. इस्लामी विधि के अनुसार, जहाँ पति पत्नी धात्रेय सम्बन्ध स्थापित कर लें या उनमें से कोई धर्मपरिवर्तन कर ले वहाँ विवाह अवध हो जाता है। इस नियम पर भारत के कास्ट डिजबिलिटीज रिमूवल एक्ट (1850) का प्रभाव पड़ता है क्योंकि इस एक्ट के अनुसार स्वधर्म त्याग, स्वधर्म से निष्कासन या धर्म परिवर्तन से किसी भी व्यक्ति के धार्मिक, साम्प्रतिक तथा उत्तराधिकार नियम ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

दकर वह अपने पाचवें निकाह का वध कर सकता है। अनियमित विवाह में प्रतिपेघ या प्रतिपेघा का उत्पन्न संयोगवश होना है। मुस्ला न अनियमित विवाह का पाच प्रकार बताए हैं—एक, वह विवाह जिसमें साक्षी न हों, दो, चार पत्नियाँ के रहते हुए पाँचवीं पत्नी में विवाह, तीन, दूसरी स्त्री के साथ विवाह चार, दूसरे मजहब की स्त्री से विवाह और पाच वह विवाह जिसमें अवैध संयोग (Unlawful Conjunction) का समावेश हो अर्थात् पत्नी में सम्प्रविष्ट किसी ऐसी स्त्री में विवाह, जिसमें और पत्नी में वैध विवाह न हो मबना यदि उन दोनों में से कोई भी पुरुष होता^१। बहुपत्नीत्व और मुता विवाह इस्लाम में इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज से आए हैं।

यह कहना गलत होगा कि इस्लाम में बहुपत्नी का प्रवेश मुहम्मद बहुपत्नीत्व के द्वारा हुआ है। जा लोग मुहम्मद साहब का इस्लाम में बहुपत्नीत्व

लाने का उल्लेख भी मानते हैं, वे एक बार कुरान की उस आयत पर जोर देने हैं जिसमें यह कहा गया है कि मुसलमान चार पत्नियाँ रख सकता है और दूसरी ओर मुहम्मद साहब के इस कथन पर कि जो मुस्लिम स्त्री अपने ना पैगम्बर का सौपती है वह पैगम्बर के लिए स्वीकृत है। स्वयं मुहम्मद साहब ने चार से अधिक विवाह किए थे और इस कारण, एक मत यह भी है कि पैगम्बर के उदाहरण में बहुपत्नीत्व को प्रोत्साहन मिला। लेकिन, साथ ही-साथ यह भी कहा जा सकता है कि मुहम्मद साहब के अधिकतर विवाह राजनितिक थे और बहुत सम्भव है कि पुत्र की प्राप्ति के लिए पैगम्बर ने एक से अधिक विवाह किए थे। लेवी का यह मत है कि इस तथ्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मुहम्मद ने स्वयं अपने द्वारा निर्धारित वैवाहिक मर्यादाओं का उल्लंघन किया और अपने उल्लंघन का अपवाद माना^२। अमीरअली के अनुसार, इमाई लेखकों का यह मत कि मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व को स्वीकार करके उस वनानिव बनाया गलत है क्योंकि मुहम्मद साहब ने यदि, एक ओर यह कहा कि मुसलमान चार पत्नियाँ तक रख सकता है तो, दूसरी ओर, इस पर भी जोर दिया कि यदि मुसलमान एक से अधिक स्त्री का 'यायाचित' दंग में नहीं रख सकता है तो उसके लिए एक ही स्त्री से विवाह करना श्रेयस्कर है।

इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का विकास इस्लामेतर अरबी समाज के घरातल से विकसित हुआ है। गणजातीय युद्ध से पुरुषों की जनमस्या का निरन्तर ह्रास होने के कारण युद्ध में स्त्रियाँ का अपहरण करके उनसे विवाह करने या उन्हें दासी बनाकर रखने की प्रथा के कारण और नारी का नय वित्त की सम्पत्ति समझने के कारण, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में बहुपत्नीत्व का धीमधम विकास हुआ था। बहुपत्नीत्व और रखने की प्रथाएँ साथ साथ पाई जाती थी। पत्नियाँ और रखलियो

१ मुस्ला डी० एफ० वही पृष्ठ २२७

२ लेवी वही पृष्ठ १००

की सभ्यता पुरुष की आर्थिक दशा पर निर्भर करती थी। इसी परिस्थिति का सुधार करने का प्रयास में, इस्लाम में बहुपत्नीत्व की प्रथा का समावेश हुआ जिस, मुहम्मद के बाद, वैधानिक आधार प्रदान किया गया। अमीरअली न ठीक ही कहा है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का अनुमोदन उन आदिम परिस्थितियों की देन है जिनमें इस्लाम का अम्युदय हुआ है।

मुहम्मद ने बहुपत्नीत्व का निषेध किया और बहुपत्नीत्व को सीमित किया। कुरान की एक आयत के अनुसार, तुम उन दो, तीन या चार स्त्रियों से विवाह करो, जो तुम्हें अच्छी राग बिन्दु, यदि तुम्हें यह लग कि तुम उनके साथ पाप नहीं कर सकोगे तो केवल एक ही पत्नी से विवाह करो या उससे जो तुम्हारे दाहिने हाथ के अधिकार में है (यहां युद्ध में अपहृत स्त्रियों की ओर संकेत है)। इस प्रकार मुहम्मद ने अरब की बहुपत्नीत्व परम्परा को स्वीकार तो किया किंतु उसे सीमित भी किया। स्त्री को मेहर का अधिकार दिया और साथ ही साथ, इस बात का भी विधान किया कि जहां एक से अधिक पत्नी से विवाह होगा, वहां पहली पत्नी का दर्जा बड़ा होगा और प्रत्येक के लिए अलग निवास स्थान तथा भरण पोषण का प्रबंध करना होगा। प्रत्येक पत्नी का समान सम्बन्ध और प्रत्येक का साथ समानता का व्यवहार करना मुसलमान का फज निर्धारित किया। मुहम्मद ने, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की मानसतात्मक प्रथा के स्थान पर, पितृसत्तात्मक प्रथा का प्रतिरोध किया और सम्भवतः यही कारण है कि इस्लाम में, एक ओर, पुरुष को प्रभुत्वपूर्ण स्थान देने का प्रयास है और दूसरी ओर, नारी को बड़ा तक अधिकार देने का प्रयास जहां तक पितृसत्तात्मकता की मर्यादा बनी रहे। इस्लाम में सीमित बहुपत्नीत्व का अनुमोदन और बहुपत्नीत्व का निषेध मातृसत्तात्मकता के स्थान पर पितृसत्तात्मकता का प्रतिरोध करने से उत्पन्न संघर्ष को दूर करने के प्रयास में, मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित एक समझौता सा लगता है।

मुहम्मद साहब के कथनी के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इस्लाम में बहुपत्नीत्व का भी अनुमोदन है और एकपत्नीत्व का भी। लेवी के अनुसार, कुछ हदों से के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुहम्मद ने एक से अधिक कुंवारी मुस्लिम स्त्रियों से विवाह करने का अनुमोदन किया है। लेवी का यह भी मत है कि कुरान में जहां एक से अधिक पत्नियों से विवाह करने का पक्ष लिया गया है वहां, सम्भवतः, पत्नियों का सदम मुस्लिम स्त्रियां हैं क्योंकि वहां यह भी कहा गया है कि जहां एक में अधिक मुस्लिम स्त्री से विवाह करने में कठिनाई हो गई या तो एक स्त्री से विवाह करना चाहिए या मुलाम स्त्रियों को रखली बनाकर रख लेना चाहिए। मुस्लिम पत्नियों के अलावा, मुलाम स्त्रियों का भरण पोषण और मेहर पर अपेक्षाकृत कम सर्चा हाता है। दूसरी ओर, कुरान की एक आयत (43/128), जिसमें यह कहा गया है कि एक से अधिक पत्नियों के होने से सब का साथ निष्पत्ति

व्यवहार सम्भव नहीं है, के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि स्वयं पगम्बर एक पत्नीत्व के पक्ष में थे¹। इस्लाम में यदि, एक जोर बहु-पत्नीत्व के आदेश प्रतिपादन की परम्परा मिलती है तो, दूसरी ओर, एकपत्नीत्व के आदेश प्रतिपादन की। मुताजिला-सम्प्रदाय में, एक पत्नीत्व के आदेश का सर्वोत्तम मानकर, यह प्रतिपादित किया गया है कि एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी से विवाह करना अवैध है। अमीरअली का यह मत है कि बहुपत्नीत्व की वधता का प्रश्न पर इस्लाम के अनुयाइयों में काफी मतभेद है किन्तु, एक बड़े प्रभावशाली सबके की यह धारणा है कि बहुपत्नीत्व एकदम अवैध है। इस्लाम के आदिमकाल में, जिन परिस्थितियों से बहुपत्नीत्व का प्रथम मिला या धराया समाप्त हो गई है या वर्तमान समय में उनका अस्तित्व ही नहीं है²। कुरान में सभी पत्नियों के साथ समता का व्यवहार करने के सन्दर्भ में 'अदल' शब्द का प्रयोग हुआ है। अमीरअली के अनुसार, 'अदल' से तात्पर्य भ्रूण, बच्चा और भरण पोषण की समानता नहीं करने सभी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावनात्मक समानता है, जिसका वास्तविक व्यवहार में लाना सम्भव नहीं है। अतः कुरान अप्रत्यक्षत एकपत्नीत्व के पक्ष में है। इस्लामी सम्मत की तीसरी शताब्दी में इस विचार का अभ्युदय हो चुका था कि मुहम्मद के उपदेशों में बहुपत्नीत्व का स्थान नहीं है, यद्यपि इस विचार का प्रसार न हो सका। अमीरअली के मत में, बहुपत्नीत्व मुहम्मद के उपदेशों के उतना ही विरोध में पड़ता है जितना कि वह सम्य समाज तथा सच्ची संस्कृति की सामान्य प्रगति के मार्ग में रुकावट है³।

इस्लामी संसार में, बहुपत्नीत्व बनाम एकपत्नीत्व के विचार आज भी चल रहे हैं। इस्लामी समाज में एकपत्नीत्व का आदेश पूर्णरूपेण नहीं स्वीकृत हो पाया है यद्यपि उसके प्रतिष्ठापोषकों की संख्या बढ़ती रही है। यदि इस्लाम ने बहुपत्नीत्व का प्रतिरोध किया तो इस्लाम ने ही उस पर रुकावटें भी लगाईं। मेहर तथा प्रत्येक पत्नी को अलग अलग भूकानों में रखकर भरण पोषण प्रदान करने के आदेश से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं के कारण समाज द्वारा स्वीकृत हान पर भी, बहुपत्नीत्व एक सामान्य प्रथा बनने से बचा रहा। बड़ी गृहस्थी के आर्थिक बाधों के कारण बहुपत्नीत्व एक ऐसा भोग रहा है जिसका उपभोग घनी और अभिजातवर्ग के ही लोग करते रहे हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों और प्रथाओं ने एकपत्नीत्व का आदेश उन पर प्रतिरोधित किया है जो स्याई जीवन व्यतीत करते हैं और विशेषतया सहारा के निवासी हैं। योरोपीय शिक्षा तथा योरोपीय आदर्शों ने एकपत्नीत्व के

1 लेवी यही 100-101

2 बानीप्रसाद सबसेना की पुस्तक मुस्लिम ला से उद्धृत पृष्ठ 162

3 अमीर अली यही पृष्ठ 230

आदेश की आगे बढ़ाया। योरोपीय सम्मता के सघात से, जैसा सवत्र हुआ, इस्लाम में भी एकपत्नीत्व के आदेश की प्रतिस्थापना की माग की गई। अमोरअली के विचार, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है योरोपीय विचारधारा से प्रभावित हैं। मुस्लिम स्त्रियों में शिक्षा का जितना प्रसार होगा, नयी विचारधारा और नये शसार के सम्पर्क में वह जितना जायेगी और एकपत्नीत्व के आदेश की वह जितनी माग करेगी इस्लाम में बहुपत्नीत्व के प्रति उतना ही विरोध बढ़ेगा। मुस्लिम नारी को सीमित बहुपत्नीत्व मुहम्मद साहब की देन है। उस सीमित बहुपत्नीत्व को समाप्त करना, अब मुस्लिम नारी का उत्तरदायित्व और कर्तव्य है।

मुस्लिम देशों में, उनीसवीं शताब्दी से बहुपत्नीत्व को दूर करने या उसे और भी सीमित करने का कष्ट उठाए गए हैं। सन उनीसवीं शताब्दी में स्विट्स सिविल कोड (Swiss Civil Code) लागू करके, तुर्की में बहुपत्नीत्व की प्रथा का कानूनन बंद कर दिया गया। मिस्र सीरिया और ईरान में ऐसा विधान बनाया गया जिससे बहुपत्नीत्व और भी सीमित हो गया। रूस और चीन में बहुपत्नीत्व अवध है यद्यपि, जैसा कि लेबी का मत है, मध्य एशिया के इस्लामी राज्यों में इस कानून की बहुधा अवहेलना होती रहती है। जिन देशों में इस्लामी मजहबी कानून का परम्परागत पालन किया जाता है वहाँ बहुपत्नीत्व वैध है। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों में बहुपत्नीत्व वैध है क्योंकि जहाँ पाकिस्तान में मजहबी शाय की स्थापना करके परम्परागत इस्लाम को बनाए रखने का प्रयास किया गया है, वहाँ भारत में मुस्लिम कानून को इसलिए यथावत रहन दिया गया है कि मुस्लिम कानून ईश्वरीय आदेश है और उसे बदलना मनुष्य के अधिकार के बाहर है। भारत में यह मान लिया गया कि बहुपत्नीत्व लाजनीति (Public Policy) के विरुद्ध है किन्तु, इस दृष्टिकोण से, कोई भी कस अभी तक भारतीय अदालतों के सामने नहीं आया है। दूसरी ओर, इंडियन कट्टर कट्टर एक्ट की छ बीसवीं धारा में यह कहा गया है कि व्यवस्था के अलावा किसी अन्य का साथ दिया हुआ ऐसा समझौता जिसमें समझौता करने वाले पक्षियों में से, किसी भी के विवाह का प्रतिरोध होता हो, अवध है। इस आधार पर, यदि पति के दूसरा विवाह करने पर, पत्नी पति का तलाक देती है तो वह अवध नहीं है क्योंकि पति का दूसरी पत्नी से विवाह करना एक ऐसा सविधान है जिससे पहली पत्नी के विवाह में प्रतिग्राह उत्पन्न होता है¹। इस प्रकार, इंडियन कट्टर कट्टर एक्ट अप्रत्यक्षतः इस्लामी बहुपत्नीत्व को और भी सामंजस्य करता है²।

1 सपरीना, काशी प्रसाद पृष्ठ 162-163

2 अमोरअली अनुसार बहुपत्नीत्व के विरुद्ध विचार धीरे धीरे एक सामान्य भावना बनता जा रहा है और अनेक बाह्य परिस्थितियों के साथ मिल कर, भारतीय मुसलमानों के बीच से इस प्रथा को दूर कर रहा है। भारतीय

मुता विवाह परम्परा, इस्लाम में, इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज की परम्पराओं में शामिल है। इस्लाम के प्रारम्भिक काल में, जसा कि राबर्ट्सन का मत है, एक ओर पितृसत्तात्मक व असल विवाह की प्रथा थी और, दूसरी ओर बीना विवाह प्रथा, जिसमें विवाह अस्थाई होता था, जिसमें स्त्री पति के पास केवल उतने समय के लिए रहती थी जितनी धनधि के लिए पति पत्नी साथ रहने का वादा करते थे। मुता विवाह-परम्परा अस्थाई विवाह परम्परा के रूप में विकसित हुई और पगम्बर के समय में प्रचलित थी। मुता विवाह अस्थाई विवाह होता था, जिसका उद्देश्य केवल रति का आनन्द लेना था। व असल विवाह का उद्देश्य परिवार की स्थापना था किन्तु मुता का केवल काम-सुख प्राप्ति। मुता विवाह का उद्देश्य उस अवस्था में कामसुख प्राप्त करना था जब पुरुष सैनिक सेवाओं के लिए या अन्य किसी उद्देश्य के लिए घर से बाहर रहता था। मुता विवाह केवल एक अवधि विशेष के लिए समझौतामय होता था। इसमें भी मेहर का समझौता होता था। मुता विवाह केवल वयवित्त समझौता होता था—उसमें वस्ती की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। निश्चित अवधि के समाप्त होने पर, पति पत्नी अलग हो जाते थे और पत्नी को ठहराई हुई मेहर की धनराशि मिल जाती थी। इस विवाह से उत्पन्न सम्मान वैध होने की ओर बहुधा अपनी मा के सम्बन्धियों के पास रहती थी। इसी अरबी प्रथा की पृष्ठभूमि में इस्लाम में मुता विवाह की वैध परम्परा का विकास हुआ है¹।

मुसलमानों में यह प्रथा उत्पन्न हुई है कि निकाह सविदा में पति इस बात का वादा करता है कि वह, पहली पत्नी के जीवित रहते, दूसरा निकाह नहीं करेगा। भारतीय मुसलमानों में पचास फीसदी, या तो एकपत्नीत्व में आस्था रखने के कारण या परिस्थितिवश एकविवाही हैं। भारतीय मुसलमानों के निश्चित वर्ग में जो अपने पुत्रों के इतिहास से परिचित हैं और जो अजराखा से अपनी तुलना करते हैं, वे बहुपत्नीत्व के पक्ष में नहीं हैं। अमीर अली का यह आग्रह है कि वह समय दूर नहीं है जब इस्लाम के विधिशास्त्री, गुलामी प्रथा की भांति, बहुपत्नीत्व की प्रथा को अवैधानिक घोषित करेंगे (वही पृष्ठ 232)। भारतीय अदालतों के सामने ऐसे कस आये हैं जिनमें पति ने दूसरा विवाह न करने के समझौते को तोड़ा है। भारतीय अदालतों ने कुछ केसों में इस समझौते का कि पहली पत्नी के रहते हुए पति दूसरा विवाह नहा करेगा इस प्रामी विधि के अनुसार अनुपयुक्त माना है और कुछ में उसे उचित मानकर पत्नी को तलाक़ की इजाजत दी है। इन केसों के लिए देखिये काशीप्रसाद सक्सेना कृत मुस्लिम लॉ, पृष्ठ 268-269।

वर्तमान भारत की मुस्लिम विधि प्रणाली में मुता विवाह बंध भी है और अवैध भी। मुनी विधि प्रणाली में मुता विवाह अवैध है किंतु, शिया विधि प्रणाली में वैध। शिया विधि प्रणाली के आधार पर, काशी प्रसाद सक्सेना ने मुता विवाह के आधारों को इस प्रकार निर्धारित किया है इसमें अवधि (कुछ घंटों से एक वर्ष जीवनपर्यंत तक¹) और महर का निश्चय आवश्यक है। जहां अवधि का निश्चय नहीं है वहां मुता विवाह स्याही विवाह माना जाता है। विवाह में महर की अनुरागि का निवारण आवश्यक नहीं है क्योंकि विवाह में, इस्लामी प्रथा के अनुसार महर का निश्चय बाद में भी किया जा सकता है। किंतु, मुता सविदा में महर का निश्चित निवारण आवश्यक है क्योंकि अन्यथा बिना मुता-सविदा बंध नहीं है। निश्चित महर की अनुरागि और विवाह की निश्चित अवधि मुता सविदा के दो बंध आधार हैं जिनके बिना मुता विवाह अवैध है। बिना निश्चित अवधि का मुता और स्याही विवाह में कोई अंतर नहीं है। मुता विवाह में पत्निया की सत्या निर्धारित नहीं है। अतः मुता में पत्निया की संख्या पुष्प की आधिक्यता पर निर्भर है। स्त्री पुरुष का मजहबों के अंतर मुता विवाह के भाग में घटकर है। शिया यहूदी इसाई तथा अग्निपूजक पारसियों का विवाह मान्य है। अतः भारत में, शिया पुरुष पारसी स्त्री के साथ मुता विवाह कर सकता है। मुता सविदा में तलाक का स्थान नहीं है क्योंकि मुता की अवधि समाप्त होने ही मुता विवाह अपने आप समाप्त हो जाता है। यदि कोई पति चाहे तो अवधि का समाप्ति के पहले ही, पत्नी को छोड़ सकता है। पारम्परिक समग्रोत से, पति पत्नी मुता विवाह की अवधि का बढ़ा सकते हैं। मुता विवाह की अवधि के समाप्त होने के बाद भी, यदि दा स्त्री पुरुष पति पत्नी की तरफ रहने हैं और उस बात में यदि पति की मृत्यु हो जाती है तो यह सम्पत्ति जायगी कि मुता का अवधि बंध दो गद्दी थी। लेकिन यह तभी माना

- 1 ईरान में मुता विवाह कुछ घंटों से लेकर कई सालों तक का किया जाता है। इज्जतदार व्यक्ति ने नामने वषों तक का मुता विवाह करत हुए पाए जाते हैं। इतनी अवधि का मुता विवाह अस्याही न होकर स्याही विवाह हो जाता है। ईरान में मुता विवाह में ली गई बीबी को गिरा कहते हैं यद्यपि जसा कि स्त्री का मन है, गिरा वस्तुन प्रतीत है मुता सविदा का जिसे मुल्ता तयार करता है। ईरानी मुता में मेहर का निर्धारण आवश्यक है किंतु सविदा में कहीं भी इस बात का बयान नहीं होना चाहिए कि स्त्री किसी धन या भेंट के बदले में पुरुष को दी गई है। किसी ऐसी अभिव्यक्ति के आगमन से मुता-सविदा अनियमित हो जाता है और उससे पति की पत्नी को इच्छानुसार तलाक देने की स्थिति प्राप्त हो जाती है क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति के आगमन से ईरानी प्रथा के अनुसार, तलाक पारम्परिक अनुमति से होना चाहिये—लेखी यही पृष्ठ 117

जायगा जब उपलब्ध प्रमाणा से यह न सिद्ध हो कि निश्चित अवधि के बाद मुता समाप्त कर दिया गया था।

निवाह की भाँति, मुता भी एक वैध विधि है जिसमें पति पत्नी का अनन्त बंधनमय और अधिकार मिलता है। मुता विवाह स्त्री का वेवमहत्वा का अनुराग का अधिकार होता है। मुता विवाह में पत्नी का पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार नहीं मिलता है। जहाँ मुता विवाह में सम्भाग नहीं होता है, वहाँ पत्नी केवल आजी मेहर की अधिकारिणी है। मुता विवाह में सम्भाग हो जाने के बाद, पत्नी मेहर की पूरी धनराशि की उत्तराधिकारिणी हो जाती, अवधि की समाप्ति के पहले ही, पति मुता विवाह का समाप्त क्यों न करे। मुता विवाह में, साधारणतः, पत्नी का पति को छानने का अधिकार नहीं है किन्तु यदि वह ऐसा करती है तो पति को मेहर की धनराशि कम करने का अधिकार है। निश्चित अवधि के समाप्त होने ही मुता विवाह स्वयं समाप्त हो जाता है लेकिन, यदि पति चाहता है कि निश्चित अवधि के बीच में ही गोप अवधि को वह पत्नी का वतीर उपहार (हिवा-ए मुहत) के देकर, मुता विवाह का समाप्त कर सकता है। ऐसी दशा में पत्नी का पूरी मेहर का अधिकार है। मुता विवाह स्याई विवाह (निवाह) में बदला जा सकता है किन्तु तभी जब या तो अवधि समाप्त हो गई हो या गोप अवधि पत्नी का उपहार में देकर, नये सिर से निकाह-मविश किया जाय। विवाहित नारी के साथ किया हुआ मुता-विवाह अवध है। निवाह में पत्नी का मेहर भी मिलता है, भरण-पोषण का अधिकार भी और पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकार भी। किन्तु मुता विवाह में स्त्री का केवल मेहर का ही अधिकार मिलता है। मुता विवाह से उत्पन्न सत्तान वैध है। सत्तान का माता पिता दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिलता है। सत्तान की वैधता ही मुता विवाह का वैधत्व है। निश्चित अवधि में निश्चित करने वाली मुता विवाह और वैधत्व एक दूसरे की भगिनी के समान लगता है। इस्लामी प्रथा के अनुसार मुता विवाह में पत्नी का भरण पोषण का अधिकार नहीं है किन्तु गिनिनल प्रोसीजर कोड (The Criminal Procedure Code) की धारा ४७० (अ) द्वारा के अनुसार, कलकत्ता के हाइकोर्ट ने एक केस में मुता पत्नी का भरण पोषण का अधिकार दिया है।

बहुपत्नीत्व की भाँति, मुता विवाह का लेकर, इस्लाम में विरागी विचारों का समावेश हुआ है। कुरान की परम्परा के आधार पर मुता का वैध माना गया है और कुरान की ही परम्परा के आधार पर मुता का अवैध और अवाञ्छनीय माना गया है। मुता प्राचीन अरबी समाज की एक परम्परा के रूप में आया जिस, अन्य परम्पराओं की भाँति, इस्लाम सहसा अस्वीकार न कर सका। वरन् उसे उस मुता-वादी दृष्टिकोण के साथ, अपनाते वा प्रयास किया जिसका लक्ष्य इस्लाम का धर्मोदय हुआ था। जो सम्प्रदाय मुता का समर्थन रहा है उसने कुरान की उस परम्परा पर

जोर दिया है जिसमें यह कहा गया है कि जिन स्त्रियों के साथ तुमने सम्भोग किया है उन्हें उनका वध पुरस्कार दो क्योंकि, पारस्परिक सलाह से, पुरस्कार तय करके निश्चित सम्भोग करने में कोई अपराध नहीं है^१। किंतु, इस प्रथा की इतनी बुराईयाँ थीं कि मुहम्मद ने इसे अवैध भी घोषित किया। एक अन्य परम्परा के अनुसार इस्लाम में मुता को वध्यावृत्ति की भूमिनी कहा गया है। सम्भावना इस बात की है कि यदि मुहम्मद ने इसकी धाना दी भी है तो अनिच्छा से। हो सकता है कि इसकी अनुमति वध्याओं के साथ सम्भोग करने के लिए दी गई हो क्योंकि वध्याओं का वग सब्र और सब्र कालो में पाया गया है। मुता से वध्या की भी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। प्रत्येक वग की नारी की दशा सुधारने के लिए हो सकता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में, मुहम्मद ने एक ओर, मुता विवाह का अप्रत्यक्ष पक्ष लिया किन्तु दूसरी ओर, उस प्रत्यक्षत अवैध घोषित किया। मुहम्मद के बाद, शिया सम्प्रदाय में मुता को वध माना गया और सुन्नियों में अवध। खलीफा मामून ने इस वध घोषित किया किन्तु जनविरोध के कारण उन्हें अपने हुक्म को वापस लेना पड़ा। खलीफा उमर ने मुता विवाह को समाप्त किया और सभी में यह सुन्नियों में अवध है^२।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस्लाम के एक बड़े तबके में मुता का विरोध क्यों किया गया? कपाडिया के अनुसार, इसके कई कारण हैं। एक, इस्लाम तत्कालीन अरबी समाज में विकसित पितृसत्तात्मक तथा पितृवशी परिवार का प्रतिष्ठापोषक था जिसमें मुता विवाह असामयिक प्रतीत हुआ। दो, इस्लाम ने पत्नी-व का जा आदेश प्रतिपादित किया मुता विवाह उस आदेश के विरोध में पड़ा क्योंकि मुता में नारी को यौनिक स्वतंत्रता अधिक थी। तीसरा पगम्बर विवाह का स्याई बनाने के पक्ष में थे जिसके कारण उठाने मुता विवाह को भस्मना की। चौथा, मुता मिल्लत की धारणा से मेल न खाता था क्योंकि मुता एक व्यक्ति-समशीलता था और गैर मुस्लिम पुरुष के साथ भी स्थापित किया जा सकता था। पाचवाँ मुता विवाह में पति पत्नी का आदेश उस आदेश में मेल न खाता था जिसका प्रतिपादन इस्लाम में हुआ था। इसप्रकार जसा कि कपाडिया का मत है तत्कालीन अरबी समाज की परिस्थितियों में, इस्लाम में मुता के प्रति जो दृष्टिकोण विकसित हुआ, उसमें इस्लाम के हितों की रक्षा का भाव अधिक प्रधान था।

हिमाम्बीम के अनुसार इस्लाम में आध्यात्मिकता और सांसारिकता के एक में मिल जाने के कारण मुसलमानों में विवाह-नविद्धा का कोई विशेष निषेध के धार्मिक सांसारिक महत्व नहीं है। अमोर अली ने भी इस बात पर जोर दिया है कि निषेध एक वानुनी समशीलता है जिसमें धार्मिक समकाल का कोई विशेष महत्व नहीं है। फिर भी, निषेध का सम्बन्ध मिल्लत में है। जसाकि सभी समाजों में है, मुसलमानों में

भी विवाह का व्यक्तियों के बीच में एक ऐसा कानूनी समझौता है जिससे दो व्यक्तियों में ही नहीं बरन दो परिवारों में भी सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों से अनेक रस्म रिवाज ब्रज गए हैं—जिनमें से कुछ अरबी समाज से प्रायः हैं और कुछ उन स्थानों से समाजा से जहाँ इस्लाम का प्रसार हुआ है। भारत के मुसलमानों में पाये जाने वाले बर्वाहिक रस्म रिवाज अरात अरबी हैं और अरात भारतीय। इन्हीं रस्म रिवाजों के द्वारा निकाह को सामाजिक मान्यता मिलती है। बर्वाहिक रस्म रिवाजों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है—एक, मगनी में लेकर निकाह तक के रस्म रिवाज और दूसरे निकाह के बाद से लेकर कुछ (सोहागरात) तक के रस्म रिवाज।

मगनी को रस्म से निकाह का सूनपात होता है। मगनी का प्रायः मान से है। इसमें वर पक्ष की ओर में कन्या मांगी जाती है अर्थात् वर पक्ष की ओर से निकाह का प्रस्ताव किया जाता है। प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर कन्या का वर की ओर में अगूठी या कड भंग किये जाते हैं। माझा रस्म में कन्या की अपनी सहेलियाँ के साथ एकान्तर में छोड़ दिया जाता है। इसी रस्म के बाद से कन्या को अर्थात् में दुल्हन समझी जान लगी है। इस रस्म के बाद में वर और कन्या को अधिकतर घर के अन्दर ही रखा जाता है। साबिक रस्म में कन्या का महदी की पत्ता और प्रायः उपहार दिये जाते हैं। अहली की रस्म में कन्या के हाथ परो में महदी रखी जाती है। यह प्रायः अरबी है और मुहम्मद के काल में चली जाती है। बरात की रस्म में कन्या के साथ आभूषण वस्त्र और अन्य भेंट की वस्तुएँ ले जाई जाती हैं। कहीं कहीं साबिक और बरात एक ही में मिला लिये जाते हैं। रस्ते में घुरामी की रस्म में कन्या के लिये वस्त्र तयार किये जाते हैं। सबेरे ईरानी रस्म है जिसमें वर जलूम में कन्या के घर से जाया जाता है। हली और चौथी की अन्तिम रस्म है जिसमें वर और कन्या एक दूसरे के साथ चलते हैं।

निकाह मुस्लिम विवाह की प्रधान रस्म है। निकाह में वर कन्या पति पत्नी के बंधन में बंधन की अनुमति देते हैं। दो गवाह इस अनुमति के साथी हात हैं और मेहर की रकम निश्चित की जाती है। यह रस्म वर-कन्या के माता पिता तथा सम्बन्धियों की उपस्थिति में होती है। वर-कन्या की पारस्परिक अनुमति, साक्षी और मेहर के अलावा फातिहा और खुत्वा निकाह रस्म के दो और प्रधान आधार हैं। निकाह की गतें तय हो जाने के बाद काजी वर-कन्या की उद्दमति प्राप्त करता है। उससे बाद फातिहा पढ़ा जाता है। फातिहा कुरान का पन्ना मुरा है जिसमें इस्लामी जीवन की प्रत्येक क्रिया का वर्णन है। खुत्वा के द्वारा बर्वाहिक जीवन की महत्ता का परिचय दिया जाता है। इससे साथ निकाह सम्पन्न हो जाता है। निकाह के बाद विवाह भाज (बलीमा) की रस्म अरबी परम्परा से आई है।

किसी न किसी रूप में विवाह-भाज सबत्र पाया जाता है। मुस्लिम विवाह में स्नान की रस्म का महत्वपूर्ण हाथ है। निकाह के पहले वर और कन्या अपने अपने घरों में स्नान करते हैं और उसके बाद महदी रवाना की रस्म होती है।

निकाह के बाद दूसरे दिन जिल्वा (अरबी में ज्यादातर अल्लुस) की रस्म होती है जिसमें नव विवाहित पति पत्नी का परिचय कराकर, कन्या की बिनाई कराता है। इस रस्म की अंग के लिये वर कन्या के घर जाता है जहाँ पहले वर कन्या का गोश में दखता है और बाद में दाना का परिचय कराया जाता है। कन्या की मुन्नरता के वार में पूजे जान पर वर का यह फज हाता है कि वह कन्या की सुंदरता का स्वीकार कर और उस रस्म की याद में उसे काई भेंट दे। उसके बाद कन्या अपने सम्बन्धियों में विदा लेने वर के साथ बिना हा जाती है। शस्त्री के अनुसार भारत के मुसलमानों में, कन्या के विदा होने के बाद, वर का कन्या को अपनी गोद में उठाकर सवागी तन ले जाना आवश्यक है जबकि अन्य देशों में वर कन्या का केवल हाथ का सहारा देकर ले जाता है। डिमांडीस के अनुसार निकाह की मारी रस्मों में दुल्ह (सोहागरात) की रस्म सबसे अधिक महत्वपूर्ण है¹। दुल्ह के बाद प्रीतिभाज दन की प्रथा पाई गई है। निकाह के बाद के सात दिन शुभ दिन समझे जाते हैं और उन दिनों वर वधू पर अनेक प्रतिबंध लगे रहते हैं। विधवा या तलाक की हुई स्त्री का निकाह सादा होता है। उसमें ये रस्में नहीं मनाई जाती हैं।

इस्लामेतर प्राचीन अरबी समाज में निकाह अविच्छेद्य संस्कार न था। पति को, अपनी इच्छानुसार निकाह-संभोग समाप्त करने का अधिकार तलाक था। अरबी में तलाक का अर्थ है विवाह विच्छेद करना। किंतु विवाह विच्छेद का अधिकार पति का था न कि पत्नी का। पति का तलाक का एकतरफा अधिकार मिटा हुआ था। हा यह अवश्य था कि विवाह विच्छेद करने पर पति को मर की गप रकम पत्नी का दानी पड़नी थी। पति स हूनबारा पान के लिये पत्नी अपने सम्बन्धियों का कारण में जा सकती थी और पति से मिली हुई हुई महर का वापस करने का वातावरण पति में अपने उद्धार की

1 ईरानी प्रथा के अनुसार कन्या को माँ या अन्य कोई नजदीकी स्त्री कन्या के साथ उसकी समुराल जाती है। यह उस कमरे के पड़ोस में सोती है जिसमें वर वधू सोते हैं। वर वधू के पलंग पर एक सफेद चादर बिछा दी जाती है जिसके आधार पर वह दूसरे दिन, वधू के कुबारेपन का सबूत देती है। वर को इस बात की संतुष्टि होना आवश्यक है कि वधू कुबारी है या नहीं क्योंकि वर या उसके घर के लोग यदि यह पाते हैं कि वधू कुबारी नहीं है तो वे उसे वापस कर देते हैं--गुन्तेरी वही पृष्ठ 622

अनुमति प्राप्त कर सकती थी। किन्तु पत्नी को पति की प्रभुता से तभी उद्धार मिल सकता था जब, पत्नी का ही हूँ मेहर वापस लेकर पति पत्नी को छुटकारा दन के लिये राजी रहा। अतः, एक ओर, विवाह विच्छेद का तरीका था 'तलाक' और दूसरी ओर खुश भवति पति से मिली हुई मेहर पति को वापस करके पति की अनुमति से पत्नी द्वारा पति से उद्धार पान का तरीका। निम्नलिखित मरिहिन नारी के वय विषय का भाव विवाह विच्छेद में भी निहित था। इस्लाम में यही जाधारभूत अरबी परम्परा अपनाई गई किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार, सुधारकारी परिवर्तन के साथ।

पगम्बर न निकाह का समझौता ता माना किन्तु उसका उद्देश्य केवल यौनसुख ही नहीं माना। निकाह का उद्देश्य मिलन का एक आवश्यकता माना। कुरान में यह एक आयत के अनुसार सुकून प्रेम (मो अहत) रहमत और सत्ता नात्पनि निकाह के उद्देश्य हैं¹। निकाह को स्थाई बनाने के लिये तथा पति की निरकुशता पर रोक लगाने के लिये पगम्बर ने यह भी आया है कि 'या तो उह (पत्निया को) 'मानुता के साथ अपनाओ या सहृदयता के साथ उन्हें तलाक दे दो'²। किन्तु साथ ही साथ, पगम्बर ने यह भी माना कि एक बहु वस्तु जा वय है किन्तु अल्लाह को नापसन्द है तलाक है। इसप्रकार पगम्बर न तलाक की परम्परा का वय ता माना किन्तु साथ ही साथ उसकी अवाधनीयता का भी स्वीकार किया। सम्भवतः यह अरबी-परम्परा के विरुद्ध उठने वाला प्रतिनिधिया का परिणाम है क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य निकाह का स्थाई बनाना था और नारी को उस स्थिति से नाग दिलाता था जिसमें उसका बर्हातिक जीवन केवल पति को दया पर निर्भर था। अतः जमा कि अमीर अली का मत है, कुरान में निहित तलाक की अनुमति का पगम्बर के उद्देश्यों के मन्त्र में सम्मिलन की आवश्यकता है। इस्लाम में, तलाक के प्रति जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह प्राचीन अरबी प्रथाओं तथा इस्लाम के उद्देश्यों में एक समन्वयपूर्ण समझौता है। इस तत्त्व की पुष्टि अमीर अली के इस कथन से होती है कि पगम्बर ने पति के तलाक दन के अधिकार का कायम रखा, कुछ उचित जाधारा पर पत्नी को पति से अलग होने की अनुमति दी और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में पति की तलाक देने की निरकुशता पर पाबनी लगाने के पक्ष में राजी हो गए कि उन्होंने जिना राजी का बीच में डाले, तलाक न दन तक ना विधान किया³।

तबी के अनुसार तलाक के बार में, कुरान में सामान्यतः काफी कुछ कहा

1 सक्सेगा, कासीप्रसाद वहीं पृष्ठ 281

2 वहीं

3 वहीं पृष्ठ 260

किसी न किसी रूप में विवाह भाज सबसे पाया जाता है। मुस्लिम विवाह में स्नान की रस्म का महत्वपूर्ण हाथ है। निकाह के पहले वर और कन्या अपने-अपने घरों में स्नान करते हैं और उसके बाद महुँदी रचान की रस्म होती है।

निकाह के बाद दूसरे दिन, जिल्वा (अरबी में ज्यादा अल अल्ल) की रस्म होती है जिसमें नव विवाहित पति पत्नी का परिचय कराकर, कन्या की विदाई होती है। इस रस्म की अदाइ के लिये वर कन्या के घर जाता है जहाँ पहले वर कन्या का शीर्ष में दस्तता है और बाद में, नाना का परिचय कराया जाता है। कन्या की सुदरता के धारे में पूछे जाने पर वर का यह फज होता है कि वह कन्या की सुदरता को स्वीकार कर और उस रस्म की याद में उग काई भट दे। उसके बाद कन्या अपने सम्बन्धियों से विदा लेकर वर के साथ विदा हो जाती है। गुजराती के अनुसार, भारत के मुसलमानों में कन्या के विदा होने के बाद वर का कन्या की अपनी गीत में उठाकर सवारी तक ले जाना आवश्यक है जबकि अन्य देशों में वर कन्या का केवल हाथ का सहारा देकर ले जाता है। डिमांधीस के अनुसार निकाह की मारी रस्म में दुहल (मोहगरात) की रस्म सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। दुहल के बाद प्रीतिभाज देने की प्रथा पाई गई है। निकाह के बाद के सात दिन शुभ दिन समझे जाते हैं और उन दिनों वर वधू पर अनेक प्रतिबंध लागे रहते हैं। विधवा या तलाक की हुई स्त्री का निकाह सादा होता है। उसमें ये रस्म नहीं मनाई जाती हैं।

इस्लामतर प्राचीन अरबी समाज में निकाह अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं था। पति का अपनी इच्छानुसार निकाह-असम्भोता समाप्त करने का अधिकार तलाक था। अरबी में तलाक का अर्थ है विवाह विच्छेद करना। किन्तु विवाह विच्छेद का अधिकार पति का था न कि पत्नी का। पति का तलाक का एकतरफा अधिकार मिला हुआ था। हा यह अवश्य था कि विवाह विच्छेद करने पर पति का मूल की गण रकम पत्नी को दनी पड़ती थी। पति से शून्कारा पान के लिये पत्नी अपने सम्बन्धियों का कारण में आ सकती थी और पति से मिली हुई हुई महर का वापस करने का वातावरण, पति से अपने उधार की

- 1 ईरानी प्रथा के अनुसार कन्या को माया अथवा कोई नजदीकी स्त्री कन्या के साथ उसकी समुराल जाती है। वह उस कमरे में पड़ाव में सोती है जिसमें वर वधू सोते हैं। वर वधू के पलंग पर एक सफेद चादर बिछा दी जाती है जिसके आधार पर वह दूसरे दिन, वधू के कुचारेपन का सूचक देती है। वर को इस बात की मनुष्य होना आवश्यक है कि वधू कुचारी है या नहीं क्योंकि वर या उसके घर के लोग यदि यह पाते हैं कि वधू कुचारी नहीं है तो वे उसे वापस कर देते हैं—गुजराती पृष्ठ 522

अनुमति प्राप्त कर सकती थी। किन्तु पत्नी का पति की प्रभुता से तभी उद्धार मिल सकता था जब पत्नी का दो हईं महर वापस लेकर पति पत्नी को छुटकारा देने के लिये राजी हो। अतः एक आर, विवाह निच्छेद का तरीका था 'तलाक' और दूसरी आर खुला अथवा पति में मिली हुई महर पति का वापस करके पति की अनुमति से पत्नी द्वारा पति से उद्धार पान का तरीका। निनाह में निहित नारी के तब त्रिजय का भाव विवाह विच्छेद में भी निहित था। इस्लाम में यही आधारभूत अरबी परम्परा अपनाई गई किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार सुधारवादी परिवर्तन के साथ।

पगम्बर ने निकाह का समझौता तो माना किन्तु उसका उद्देश्य केवल यौगम्य ही नहीं माना। निनाह का उद्देश्य भित्तल की एक आवश्यकता माना। कुरान में आई एक आयत के अनुसार मुकून प्रेम (मा अहत) रहमत और सन्तानोत्पत्ति निकाह के उद्देश्य हैं¹। निकाह का स्थाई बनाने के लिये मद्य पति की निरकुण्ठाता पत्नी का सगान के लिये पगम्बर ने यह भी आगा दी कि 'या तो उह (पत्निया का) श्यानुता के साथ अपनाया या सहृदयता के साथ उह तलाक दे दो'²। किन्तु साथ ही साथ पगम्बर ने यह भी माना कि एक वह वस्तु जो बंध है किन्तु अल्लाह को नापसंद है तलाक है। इस प्रकार पगम्बर ने तलाक की परम्परा का बंध तो माना किन्तु साथ ही साथ उसकी अवाछनीयता का भी स्वाकार किया। सम्भवतः यह अरबी-परम्परा के विरुद्ध उठने वाली प्रतिप्रिया का परिणाम है क्योंकि इस्लाम का उद्देश्य निकाह का स्थाई बनाना था और नारी का उस स्थिति में नाण स्थाना था जिसमें उसका वैवाहिक जीवन केवल पति की दया पर निर्भर था। अतः जसा कि अमीर अली का मत है, कुरान में निहित तलाक की अनुमति का पगम्बर के उद्देश्यों के सन्दर्भ में समझने की आवश्यकता है। इस्लाम में, तलाक के प्रति जिस दृष्टिकोण का विकास हुआ वह प्राचीन अरबी प्रथाओं तथा इस्लाम के उद्देश्यों में एक समन्वयपूर्ण समझौता है। यह तथ्य भी पुष्टि अमीर अली के इस कथन से होती है कि पगम्बर ने पति के तलाक देने के अधिकार को वापस रखता, कुछ उचित आधारे पर पत्नी को पति से उलग होान की अनुमति दी और अपने जीवन के प्रतिम दिन में पति की तलाक देने की निरकुण्ठाता पर पावनी लगाने के यत्न तब हमी हो गए कि उद्देश्य विना काजी का बीच में आना, तलाक न देने तक का ना विधान किया³।

उसी के अनुसार तलाक के बारे में कुरान में आमायत काफी कुछ कहा

1 सक्सेना, काशीप्रसाद वही पृष्ठ 231

2 वही

3 वही पृष्ठ 260

गया है किंतु कुरान में जो कुछ कहा गया है उसका अधिकांश तलाक देने के तरीके और पत्नी तथा बच्चों के प्रति पति के अधिक तथा अन्य उत्तरदायित्वों में सम्बंधित है¹। तलाक के क्या आधार हैं, इस पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसी कारण, इस्लाम में प्राचीन अरबी प्रथा का समावेश हो गया है और पति का तलाक सम्बंधी एकतरफा अधिकार बना रहा है। यही कारण है कि विवाह विच्छेद में मायाधीन के स्थान, विवाह विच्छेद के तरीका की बंधनिक महत्ता तथा गवाहों के स्थान के बारे में मतभेद है। शिया विधि प्रणाली में विवाह विच्छेद के भी गवाह होने चाहिये जबकि सुन्नी विधि प्रणाली में विवाह विच्छेद में गवाहों की आवश्यकता नहीं है। भारत में, अंग्रेजी राज की स्थापना होने के बाद, किन्हीं अवस्थाओं में तलाक देने के पति के परम्परागत अधिकार को कायम रखा गया, किन्हीं अवस्थाओं में पत्नी को विवाह विच्छेद का अधिकार मिला और किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में विवाह विच्छेद का नियंत्रण करने में अदालतों को अधिकार मिला। सबसे मुख्य विकास यह हुआ कि विवाह विच्छेद सम्बंधी इस्लामी कानून अंग्रेजी इस्लामी हो गया और विवाह विच्छेद सम्बंधी सारे कानून के निश्चय का अधिकार अदालतों का मिला। आज काजी के बहुत कुछ अधिकार भारतीय अदालतों के पास हैं।

इस्लाम के प्रभाव में विवाह विच्छेद सम्बंधी प्राचीन अरबी परम्पराओं में तलाक का सीमित बरक पत्नी का अधिक आर्थिक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया गया ताकि इस्लाम द्वारा पतिपादित पितृसत्तात्मक परिवार की मरचनात्मक एकता और उसकी मर्यादाएँ सुरक्षित रह सकें। तलाक के साथ साथ बच्चा का पितृ-सत्तात्मक परिवार का सदस्य मानकर वह द्विपक्षी उत्तराधिकार का अधिकार दिया गया। तलाक के साथ इद्दत का जोड़ दिया गया। इद्दत में तात्पर्य है तीन मासिक घमों की अवधि से। तलाक के बाद इद्दत का मानना आवश्यक कर दिया गया ताकि यह निश्चित हो सके कि तलाक दी जान वाली पत्नी को पहले व्यक्ति में कोई गम तो नहीं है। इद्दत वह अवस्था है जिसमें नारी न तो किसी की पत्नी है और न वह तलाक दी हुई स्त्री है। इद्दत में नारी परित्यक्ता भी नहीं है क्योंकि इस्लामी विधान के अनुसार इद्दत के दौरान में नारी को अपने पहले पति से भरण पोषण मिलता है। इद्दत में नारी दूसरा विवाह नहीं कर सकती है यद्यपि गुप्त रूप से वह किसी अन्य पुरुष से विवाह का प्रस्ताव कर सकती है या दूसरे का विवाह प्रस्ताव स्वीकार कर सकती है। इद्दत के दौरान में पति पत्नी में सम्मान्य अवधि है बगते कि पत्नी पति के लिये हराम न बन गई हो। पत्नी पति के लिये तब हराम बनती है उस तत्काल पूरा हो जाता है और उस हटाने के लिये पुनर्विचार की गुंजायमान नहीं रह जाती है। इस्लामी परम्परा में तलाक तब पूरा होता है जब या तो पति पत्नी

से तीन बार यह कह दे कि उसने उसे तलाक दिया या अनालत तलाक की हिद्दी द
द। इस्लाम में यह विधान किया गया है कि पति या तो एक ही साथ तीन बार
तलाक कहकर तलाक का पूण कर सकता है या वह अपनी इच्छानुसार कुछ समय
का अंतर देकर, अलग-अलग समयों पर तीन बार तलाक देने का यह सकता है
सातवां बार तलाक कहने पर विवाह विच्छेद पूण होता है। एक सामान्य नियम
यह है कि पति पत्नी का तलाक देने के लिये उस समय कहे जब वह मासिक धर्म में
गुद हो अथवा दो मासिक धर्मों के बीच में हो। दो बार तलाक कहने से पत्नी
हराम नहीं जाती है। अतः उस पुनः वापस लिया जा सकता है। तलाक के एक
बार पूण हो जाने पर पत्नी का रहना आवश्यक हो जाता है और एक बार
तलाक दो हुई पत्नी से पति इच्छा रहते हुए भी तब तक पुनर्विवाह नहीं कर
सकता है जब तक कि काइ इमरा पुनः उससे विवाह करके पुनः उसे तलाक न दे
और वह पुनः इहत की अवधि का जान न ल। इसप्रकार इहत तलाक के पहले,
तलाक की आवश्यकता पर पुनः विचार करने का अवसर प्रदान करता है। यदि
पत्नी पहले पति से सम्बन्धित है तो उस समय में छुटकारा पाने तक इन्तजार करना
पड़ता है। तलाक के पूण होने ही पत्नी अपना मेहर की अधिकारिणी हो जाती है।
जसा कि प्राचीन अरबी परम्परा या पत्नी का तलाक दत्त समय पति का न ता
तलाक का कारण बताने की आवश्यकता है और न अपने इरादे को ही स्पष्ट करने
का। किंतु पति का यह अधिकार निरस्त हो नही है। इहत के काल में वह पत्नी
का खाना, कपड़ा देने का उत्तरदायी है।

इस्लामी कानून के अनुसार, काइ भी वह मुमकिन है, जिसका दिमाग मही
है जिनसे बय मी घ की आयु प्राप्त कर ली है अपनी इच्छानुसार जब भी चाह-
बिना कोई कारण बताये हुए अपनी पत्नी का तलाक दे सकता है। भारतीय
मुसलमानों में विवाह विच्छेद करने के तीन तरीके पाये जाते हैं—एक बिना
अदालत की कारण लिये पति द्वारा विवाह विच्छेद (तलाक), दो बिना अदालत
का बीच में लिये पति पत्नी की पारस्परिक अनुमति द्वारा विवाह विच्छेद (मुला और
मुबरत) और तीसरा, अदालत की हिद्दी द्वारा। इस्लामी कानून में लिखित और
मौखिक दोनों प्रकार के तलाक का विधान है। मासिक तलाक में पति उन पाँचों
का प्रयोग करता है जिनसे पत्नी का यह स्पष्ट हो जाय कि उसे तलाक दिया गया
है जस में (पति) तुल (पत्नी का) तलाक देता है। जहाँ तलाक की भाषा मही है
वहाँ पति का अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक नहीं किन्तु जहाँ भाषा जस्पट है,
वहाँ पति का अपने इरादे का प्रमाण देना आवश्यक हो जाता है। तुहर (दो मासिक
धर्मों के बीच का समय) में तलाक की एकबार घोषणा करके पत्नी के साथ सम्बन्ध
बन्द किया जा सकता है (तलाक अहसन) या तीन तुरों में तीन बार तलाक का
पापला की जा सकती है (तलाक हसन) या एक ही तुहर में तीन बार तलाक की

घोषणा की जा सकती है या एक ही तुहर में एक ही बार पूरा तलाक की घोषणा की जा सकती है (तलाक उल बिद्दत या तलाक ए वनी) यह आवश्यक नहीं कि तलाक की घोषणा पत्नी की उपस्थिति में की जाय। शिया विधि प्रणाली के अनुसार तलाक की घोषणा के समय नौ गवाहों का होना आवश्यक है। आवश्यक यह है कि तलाक की घोषणा पत्नी के प्रति सम्बोधित हो। पत्नी के महूर के अधिकार के दृष्टि से शीघ्र से तलाक की घोषणा का समाचार पत्नी तक पहुंचाना जरूरी है। जब तक पत्नी का तलाक की सूचना नहीं मिलती है उसका निर्वाह-योग्य का अधिकार प्रयोज्य रहता है। महूर के स्वयंसेवक जश का पान का अधिकार पत्नी का तभी से मिलता है जब उस तलाक का सूचना मिलती है। तलाकनामा लिखित तलाक का प्रतीक है। तलाकनामा में मौखिक तलाक का लेखबद्ध किया जा सकता है या उस दस्तावेज के रूप में लिखा जा सकता है। दस्तावेज काजी या पत्नी के पिता की या दो गवाहों की उपस्थिति में लिखा जा सकता है। यदि दस्तावेज पत्नी के नाम सम्बोधित होता है उसकी भाषा स्पष्ट होती है और दस्तावेज रखने के उस पर दस्तखत होता है तो पति के लिए तलाक की मंशा का स्पष्ट करना आवश्यक नहीं होता है और तलाकनामा यह फौरन लागू हो जाता है। जहां तलाकनामा केवल तलाक का घोषणापत्र होता है वहां पति के लिए तलाक की मंशा स्पष्ट करना जरूरी है और मंशा स्पष्ट करने पर ही वह लागू होता है। स्पष्ट तलाकनामा अगर हाथ में लागू हो जाता है चाहे पत्नी को उसकी सूचना न हो या बाद में मिले।

तलाक, मुला मुजरत इला जहर लि घान और फिम्न—ये सात प्रकार के विवाह विच्छेद इस्लामी विधि प्रणाली में मान्य हैं। साधारणतया तलाक विवाह विच्छेद का पर्याय माना जाता है किंतु इस्लामी विधि प्रणाली में तलाक एक विधायक प्रकार के विवाह विच्छेद का प्रतीक है—वह विवाह विच्छेद जिसमें पति का निवाह लाइन का और पत्नी को इसमें बरन का एकतरफा वैधानिक अधिकार मिलता हुआ है। इस्लामी समाज में पति का यह अधिकार इस्लामनगर प्राचीन अरबी समाज से आया है। जमाने पहले कहा जा चुका है तलाक मौखिक भी हो सकता है और लिखित भी। तलाक के मुख्य तरीके हैं तलाक अहसन, तलाक असन तलाक उल बिद्दत तलाक ए तफ्जीज और तलाक ए तालीक। पहले तीन प्रकार के तलाक मौखिक हैं यद्यपि उन्हें लिखित में बतला जा सकता है। इन तलाकों में पति को स्पष्ट रूप से पत्नी से यह कहना पड़ता है कि पति ने पत्नी का तलाक दे दिया है। तलाक ए तगन में, जब पत्नी सुन्नत होती है तो पति तलाक की घोषणा करके पत्नी से सम्भाग बंद कर देता है और उमर बांटे हुए की अवधि समाप्त होने पर तलाक पूरा हो जाता है। जिस मासिक धर्म के बाद पति तलाक की घोषणा करता

है, उसके बाद से सम्भोग नहीं होना चाहिए क्योंकि सम्भोग हान ए तलाक पूरा हुआ नहीं माना जाता है। किंतु यदि निकाह के बाद सम्भोग ही नहीं हुआ होता तलाक अहसन की घोषणा किसी भी समय, यहाँ तक कि मासिक धर्म के दिनांक भी की जा सकती है। यदि पत्नी तुहर में न हो तो सम्भोग के बाद भी तलाक अहसन की घोषणा की जा सकती है। तलाक अहसन के बाद पुन निकाह का विधान है किंतु शिया विधि में तलाक अहसन को नहीं ताड़ा जा सकता है यदि तलाक अहसन की घोषणा एसी पत्नी के विरुद्ध की गई हो जिसके साथ विवाह के बाद पति ने सम्भोग न किया हो या जिसकी प्रजनन की आयु समाप्त हो गई हो या जिसने वयसत्रि की प्राप्त न किया हो।

तलाक हसन में, तीन तुहरों में तलाक की तीन बार घोषणा करनी पड़ती है। तीसरी घोषणा के बाद तलाक पूरा हो जाता है वस्तुतः कि पट्टे तुहर के समय से जब से तलाक की घोषणा की गई है और तीसरे तुहर तक पति न पत्नी के साथ सम्भोग न किया हो। तलाक उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद से ही तलाक पूरा हो जाता है और प्रत्यावर्तनीय (Revocable) नहीं रहता है। तलाक हसन में जब तक तीसरी घोषणा नहीं हो जाती तलाक पूरा नहीं होता है जिसके कारण तीसरी घोषणा के करने तक पति को अपने तलाक के इरादे पर पुन विचार करने और पत्नी के पुन वापस लाने का अधिकार रहता है। किंतु तलाक उल बिद्दत में तलाक की घोषणा के बाद ही पत्नी हराम हो जाती है चाहे घोषणा तलाक के इरादे की स्पष्ट अवगत करती हुई एक बार या एक ही साथ तीन बार की जाय या एक ही अवसर में तीन बार की जाय। तलाक उल बिद्दत को उर्मयद सन्नाही न, हिजरी सन की दूसरी गताब्दी में लागू किया था। तलाक उल बिद्दत का ही भारत में सबसे अधिक प्रयोग होता है। काशीप्रसाद भक्षन्ना के अनुसार, तलाक उल बिद्दत कानून के दृष्टिकोण से तलाक का सर्वोत्तम तरीका है किंतु इस्लामी धर्मविद्या में निरुपेक्ष माना जाता है क्योंकि इसमें तलाक के प्रत्यावर्तन का विधान नहीं है। तलाक अहसन में, घोषणा के बाद भी और तलाक हसन में दो घोषणाओं तथा तीसरी घोषणा के पक्ष तक, पति का तलाक प्रत्यावर्तन का अधिकार है। किंतु तलाक उल बिद्दत में पति का यह अधिकार नहीं है क्योंकि घोषणा के तुरंत बाद ही तलाक पूरा हो जाता है। तलाक हसन में तीसरी घोषणा के बाद तलाक अप्रत्यावर्तित होता है किंतु, तलाक

1. तीनों प्रकार की घोषणाओं की इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है — एक, कलकत्ता के एक केस में इस लिखित बयान को ध्यान में लिया गया था— मैं तुम्हें तीन बार तलाक देकर निकाह बंधन से मुक्त करता हूँ। दो, जैसे मैं तुम्हें तलाक देता हूँ मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ। तीन, जैसे मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ।

उल बिहृत म तलाक की घोषणा के साथ-साथ, तलाक अप्रत्यावर्तित हो जाता है। तलाक उल बिहृत, हर दशा म अप्रत्यावर्तनीय है चाहे उसकी घोषणा उस समय की गई हो जब पत्नी मासिक धर्म में हो या चाहे पति ने जोर दबाव से या मजाक से ही तलाक की घोषणा क्या न की हो। इराद की स्पष्ट अभिव्यक्ति ही तलाक उल बिहृत की वैधता के लिए काफी है।

शिया विधि में तलाक उल बिहृत का स्थान भरी है। मुनियों में यह बंध है किन्तु, मजहबी दृष्टिकोण से इस हीन माना जाता है। मजहबी दृष्टिकोण में तलाक-उल बिहृत पक्षभ्रष्टता का प्रतीक माना गया है। इसीलिए, तलाक में, एक ओर, तलाक उल बिहृत है तो दूसरा ओर तलाक उस मुनत। तलाक उस मुनत व तलाक है जो मुना के अनुसार हो। तलाक-प्रहसन और तलाक हसन तलाक उस मुनत की श्रेणी में आते हैं। तलाक प्रत्यावर्तन और अप्रत्यावर्तन के दृष्टिकोण से तलाक को दो श्रेणियाँ में बाँटा गया है—एक तलाक उल रजाई और दूसरी तलाक उल-बन। तलाक उल रजाई की श्रेणी में वे तलाक आते हैं जिनमें प्रत्यावर्तन के लिए स्थान रहता है जैसे तलाक ग्रहमन और तलाक हसन। तलाक उल बन वह तलाक है जो अप्रत्यावर्तनीय है। जहाँ तलाक पूर्ण और अप्रत्यावर्तनीय हो जाता है वहाँ प्रत्येक तलाक तलाक उल बन है।

तलाक ए-तफवीज में पति अपना तलाक का अधिकार किसी तीसरे पक्ष का दे सकता है। तीसरा पक्ष पत्नी का पिता या भाई या स्वयं पत्नी ही हो सकता है। तलाक ए-तफवीज में अधिकृत व्यक्ति तलाक के अधिकार का उपयोग करता है न कि पति। एक बार दिया हुआ अधिकार पुनः वापस नहीं हो सकता। मुस्लिम विधि शास्त्रियों ने इस वच परम्परा का उपयोग पत्नी के अधिकारों की रक्षा के लिये किया है। विवाह के समय, सम्झौते के रूप में तलाक का अधिकार पत्नी का दान की आम प्रथा रही है। एक बार तलाक का अधिकार मिल जाने में पत्नी अपनी इच्छानुसार उसका प्रयोग कर सकती है। जहाँ तलाक ए-तफवीज में पत्नी का तलाक का अधिकार मिल जाता है वहाँ पत्नी स्वयं अपने को तलाक दान की अधिकारिणी हो जाती है। पत्नी को यह अधिकार सम्भाव्य घटनाओं (Contingencies) की शर्त पर मिलता है। वही सम्भाव्य घटनाएँ वच हैं जो मुस्लिम विधि और राज्यनीति के विरुद्ध न हों। तलाक ए-तफवीज में शायस्य की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। तलाक ए-तफवीज का इस्तेमाल निकाह के पहले भी किया जा सकता है और बाद में भी। तलाक ए-तलीक में जमा कि हाफ़ी विधि में शाय है तलाक की घोषणा फौरन लागू हो सकती है या किसी भावी तारीख या घटना में जो तलाक की शर्त के रूप में स्वीकार की गई हो। तलाक ए-तलीक का इस्तेमाल निकाह के पहले भी हो सकता है और बाद में भी। किन्तु शिया विधि प्रणाली में तलाक का न तो किसी शर्त पर आधारित किया जा सकता है और न उसे सम्भाव्य ही बनाया जा सकता है।

तलाक का अधिकार पति का है पत्नी का नहीं। इस्लामेतर प्राचीन धरती समाज में पत्नी को तलाक का अधिकार नहीं था। इस्लाम ने पति को इस अधिकार का बजाए रक्बा किन्तु, साथ ही साथ, आवश्यकता पड़ने पर पत्नी को पति से उद्धार पाने के उपायों को भी बँध कर दिया। खुला और मुवरत विवाह विच्छेद का दावेस तरीका है जिनसे पत्नी आवश्यकता पड़ने पर पति से छुटकारा पा सकती है। किन्तु, तलाक में मिले पति के अधिकार की भाँति पत्नी का यह अधिकार एकतरफा नहीं है। पत्नी को तभी उद्धार मिल सकता है अर्थात् वह तभी विवाह विच्छेद कर सकती है जब पति की अनुमति हो। खुला का अर्थ है त्यागना। विवाह विच्छेद के सन्दर्भ में, खुला का अर्थ है उस विवाह विच्छेद में जिसमें पत्नी के अनुमति में और पत्नी से मेहर की धनराशि वापस लेकर पति पत्नी को निकाह-बन्धन से मुक्त करता है। खुला में, पत्नी अपने अधिकारों को त्यागती है और पति उस त्याग के बदले, पत्नी को निकाह-बन्धन से मुक्त करता है। खुला का सूरपात पत्नी से होता है और अपने अन्तिम रूप में वह तलाक का रूप ले लेता है। पत्नी तलाक के उपलक्ष्य में पति का क्या दोगी, यह पति पत्नी के बीच में हुए समझौते पर निर्भर करता है। यदि पत्नी, अपने समझौते के अनुसार पति का स्वीकृत धनराशि न दे तो तलाक अवध नहीं होता है यद्यपि पति का यह अधिकार है कि पहल से निश्चित धनराशि पाने के लिये वह पत्नी पर दावा करे। यदि पत्नी यह कहें कि उसने अपना मेहर का अधिकार नहीं छोड़ा है और पत्नी के इस कथन के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं तो पतवा ए-काजी या और पतवा ए-आलमगीरी के अनुसार पत्नी का कथन बंध है और इद्दत के काल में पत्नी निर्राह-व्यय की अधिकारिणी नहीं है। इद्दत के बाद खुला तलाक में प्रत्यावर्तन नहीं हो सकता है और न इद्दत के बाद पति पत्नी एक दूसरे से मिलने वाला प्रणिभ्य का ही दावा कर सकते हैं। पति पत्नी को पारस्परिक अनुमति और खुला का 'एवज' या सामान्यतः पति का पत्नी से मिलता है खुला तलाक का मुख्य आधार है।

इस प्रकार, खुला वह विवाह विच्छेद है जिसमें पत्नी निकाह से अपनी स्वतन्त्रता खींचती है। पत्नी खरीदार है और पति बेचने वाला। खरीद और फरोस्त एवज (प्रतिदेय) के आधार पर होती है। किन्तु खुला में अन्तिम निणय पति का ही हाथ में रहता है। खुला में विवाह विच्छेद का आधार नानक ही है यद्यपि उसका सोच बदल जाता है। मुवरत में विवाह विच्छेद पति पत्नी दोनों की सहमति से होता है अर्थात् दोनों साथ-साथ विवाह विच्छेद करना तय करते हैं। मुवरत का अर्थ है छुटकारा। इसमें पति पत्नी अपनी सहमति से निकाह से छुटकारा लेते हैं। अतः मुवरत में 'एवज' (प्रतिदेय) का प्रश्न नहीं उठता है। जब, पत्नी के अनुरोध से, पति प्रतिदेय लेकर विवाह विच्छेद करता है तो विवाह विच्छेद खुला प्रकार का होता है। किन्तु, जब दोनों अपनी सहमति से विवाह विच्छेद करना तय करते हैं

और पति तलाक देता है, तो विवाह विच्छेद का प्रकार मुबरत होता है। खुला और मुबरत दोनों तलाक के साथ पूण होकर अप्रत्यावतनीय हो जाते हैं। दोनों में इहत का पालन आवश्यक है और दोनों में बाजी या अदालत की आवश्यकता नहीं है। खुला और मुबरत या तो पति द्वारा घोषित किए जाते हैं या पति द्वारा अधिकृत पत्नी के द्वारा। सुनी विधि प्रणाली में खुला और मुबरत में, तलाक की घोषणा की आवश्यकता नहीं है। विवाह विच्छेद का प्रस्ताव और स्वीकृति तथा इकरारनामा ही विवाह विच्छेद के लिए पर्याप्त हैं। शिया विधि प्रणाली के अनुसार खुला प्रकार के विवाह विच्छेद में पत्नी तुहर में होनी चाहिए और खुला की साधी दो गवाही द्वारा हानी चाहिए। यदि पति पत्नी में सम्भोग नहीं हुआ है तो तुहर की वद की आवश्यकता नहीं है। खुला का प्रस्ताव जरूरी भाषा में हाना चाहिए। किन्तु मुबरत में तलाक की घोषणामात्र से ही काम चल जाता है। अवयस्क और असन्तुलित मस्तिष्क के व्यक्ति खुला समझौता नहीं कर सकते हैं। हनाफी विधि प्रणाली में, दवाव और अपने ही द्वारा की हुई बात की हालत में भी किया हुआ खुला समझौता वैध है। किन्तु शिया विधि प्रणाली में यह अमान्य है। सुनी विधि प्रणाली में अवयस्क के अविभावक द्वारा किया हुआ खुला-समझौता वैध है वशत कि वह प्रतिदेय का उत्तरदायी है। अविभावक के इस अधिकार और उत्तरदायित्व पर शिया विधि प्रणाली में एकमतता नहीं है।

इला प्रकार का तलाक तब होता है जब कोई वयस्क और सही दिमाग का व्यक्ति पत्नी में सम्भोग न करने का दृढ़ लक्ष्य, लगातार चार मास तक उससे साथ सम्भोग नहीं करता है। इस तलाक उत्पन्न विधुत के प्रकार का सा अप्रत्यावतनीय तलाक होता है। इला के प्रकार का तलाक का आदेश कुरान में है। यदि कोई पति निदान के बाद कया की रक्षणी के समय यह प्रतिज्ञा करे कि उसकी पत्नी केवल नाममात्र की ही पत्नी हानी तो उसकी प्रतिज्ञा इला का आधार नहीं बनती है। इला तलाक का सिद्ध करने का कानूनी भार पति के ऊपर होता है।

जेहर पति द्वारा उत्पन्न की हुई वह परिस्थिति है जो विवाह विच्छेद का आधार बन जाती है। यदि कोई पति अपनी पत्नी को उस सम्बन्ध में सुख्य मान ले जिसके साथ सम्भोग अगम्यगम्य है और विवाह अवैध है तो पति का यह कार्य जेहर कहलाता है। जेहर की परिस्थिति में मुस्लिम विधि में पत्नी का यह अधिकार है कि वह पति की सम्भोग की मांग को तब तक अस्वीकार करे जब तक कि पति विधि द्वारा निधारित प्रायश्चित्त में से एक का पूरा न करे। जेहर से छुटकारा पाने के लिए तीन प्रायश्चित्त को इस्लामी विधि में रक्का गया है—एक, एक गुणम का स्वतंत्र करना दो, दो मास तक उपवास रखना, और तीन साठ दीना को खाना खिलाना। पति द्वारा जेहर की परिस्थिति उत्पन्न करने पर, पत्नी या तो पति से कोई एक प्रायश्चित्त करवा कर उसे सम्भोग की अनुमति दे

सकती है या अदालत में पति का प्रायश्चित्त करवाने की या नियमित विवाह विच्छेद की मांग कर सकती है। गिया विधि प्रणाली में जहर के समय दा गवाहा का हाना आवश्यक माना गया है। पति तभी जहर कर सकता है जब पत्नी तुहर में हो या पति पर से बाहर हो और जहर के पहले के मासिक घम के बाद में पत्नी के साथ सहवास न किया हो। मुना विवाह का विच्छेद जहर द्वारा हो सकता है। जहर के बाद का सम्भाग मुस्लिम विधि में अवध है।

जब पति सौगंध लाकर इन्वर के अभिगाप का आवाहन करता हुआ पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है तो पति का यह कृत्य लि'आन कहलाता है। इस्लामी परम्परा के अनुसार पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध तभी माहित होगा जब पति चार गवाह प्रस्तुत करे। चार गवाहों का मिलना कठिन है। इसलिए, इस्लाम में यह भी विधान है कि यदि पति चार बार ईन्वर का माथी धरके पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी चुप रहती है तो उस पर परपुरुषगमन का अपराध सिद्ध हो जाता है। लि'आन की वैधानिकता का आधार यही परम्परा है। इस्लामी परम्परा के अनुसार परपुरुषगमन के अपराध के सिद्ध होने पर पत्नी सौ कोड़ा के दंड की भागी है और न सिद्ध होने पर पति अस्सी कोड़ा के दंड का। किन्तु, वर्तमान 'साधारण' विधि में, कोड़ा की मार के दंड का विधान निकाल दिया गया है जो पारंपरिक 'साधारण' के सिद्धांतों का प्रभाव है। अपराध के सिद्ध होने पर वर्तमान भारत में पत्नी का कोई दंड नहीं मिलता है और अपराध के न सिद्ध होने पर पत्नी का पति पर मानहानि का दावा करने का अधिकार मिलता है। जहां पति सौगंध लाकर पत्नी पर परपुरुषगमन का अपराध लगाता है और पत्नी सौगंध लाकर इस अपराध का उत्स्वीकार करती है वहां पति-पत्नी में विवाह विच्छेद आवश्यक हो जाता है चाहे विच्छेद के प्रति उनमें अनिच्छा ही क्यों न हो। किन्तु विवाह विच्छेद तभी बंध जाता है जब सौगंध की रस्म पूरी हो जाय। ऐसी दशा में, विच्छेद हो जाने से, पति-पत्नी दोनों विचारित रूप से बंध जाते हैं और उनमें सहवास जन्य हो जाता है। लि'आन' इस प्रकार विवाह विच्छेद का आधार है न कि तलाक़ है।

लि'आन' सही निकाहों पर लागू होता है न कि फासिद निकाहों पर। लि'आन का उपयोग तभी हो सकता है जब पति पत्नी वयस में, पार कर चुके हो और उनमें दिमाग सही हो। लि'आन के अधिकार के प्रयोग में प्रतिनिधि का कोई स्थान नहीं है। लि'आन के प्रयोग के लिये, कानून के दृष्टिकोण से पत्नी के अच्छे चाल चलन की गारंटी आवश्यक है। लि'आन के कारण होने वाला विवाह-विच्छेद अप्रत्याशनीय है। जब तक कि पति पत्नी एक दूसरे में खल्ल नहीं होता है, उनका पारस्परिक अधिकार तथा उत्तराधिकार के अधिकार बन रहते हैं। लि'आन के आधार पर होने वाले विवाह विच्छेद में न तो पारस्परिक समझौते का भाव

और न क्षमा का। शिमा कानून में लि-आन में जिनका विच्छेद होता है, व पुन आपस में विवाह नहीं कर सकते। किंतु सुनी-कानून के अनुसार, यदि दार में कोई ऐसा तथ्य नजर आए जिसके कारण लि-आन रद्द सकता था तो लि-आन के कारण अलग हुए पति पत्नी के पुन आपस में विवाह करने में कोई वधानिक रुकावट नहीं है। जहां पत्नी अवयस्क, कितबिया या पागल है, वहां लि-आन नहीं लागू होता।

विवाह का यायिक निराकरण (Judicial Rescission) फिख्ख है। इस्लामी विधि प्रणाली में तलाक पति का एकमात्र अधिकार है। सुन्ना मुबरात, जेहर और लि-आन वह परिस्थितियां अवश्य उत्पन्न करते हैं, जिसमें पत्नी विवाह विच्छेद की माग कर सकती है। पति पत्नी में स्वभाव की प्रतिकूलता एक दूसरे का न चाहना और एक दूसरे के प्रति घृणा इस्लामी विधि प्रणाली में विवाह विच्छेद का आधार नहीं बन सकते हैं। कापीप्रसाद सक्मना के अनुसार भारत में विकमिन एल्गे मुस्लिम विधि में लि-आन और नपुसकता (पति की नपुसकता) ही दो ऐसे आधार हैं जिन पर पत्नी पति से विवाह विच्छेद का मुकदमा चला सकती है। पति के नपुसक होने पर, पत्नी तभी यायिक निराकरण की माग कर सकती है जब पति की नपुसकता आज्ञात्मक हो और विवाह के पहले ही संविधान में विवाह के समय पत्नी को यह मालूम न हो कि उसका पति नपुसक है और विवाह के बाद पति ने पत्नी से सम्भोग न किया हो। इस्लामी विधि के अनुसार, यदि पत्नी पति के नपुसक होने पर विवाह विच्छेद की माग करती है तो पति का एक साल का समय यह सिद्ध करने के लिए मिलता है कि वह नपुसक नहीं है। पति नपुसक नहीं है, यह सिद्ध करने का उत्तराधिकार पति का है।

इस्लामी विधि में यदि पत्नी का तलाक का अधिकार नहीं है तो किसी विगप परिस्थितियों में उसे विवाह के यायिक निराकरण के लिए अनुरोध करने का अधिकार अवश्य है¹। सुन्ना, मुबरात लि-आन पति की नपुसकता तलाक ए

-
- 1 कुरान के पाचवें भाग, चौथे अध्याय, छठे सेक्शन की पतीसवीं आयत में मनमुटाव पैदा होन पर पति-पत्नी में पुन मझी करवान की काययाही का उल्लेख है। इस आयत में बाजी की आज्ञा दी गई है कि जब कभी पति पत्नी के बीच में मनमस्य की सम्भावना हो तो वह दो मध्यस्थों को नियुक्त करे—एक, पति के सम्बन्धियों में से और दूसरा पत्नी के सम्बन्धियों में से। यदि ये मध्यस्थ पति-पत्नी में पुन मझी न करवा सकें तो क्या वह विवाह विच्छेद करवा सकते हैं? यदि य मान भी लें कि विवाह विच्छेद होना चाहिए तो क्या बिना पति की अनुमति लिये य विवाह विच्छेद करवा सकते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर कुरान में नहीं है। यदि बाजी इस बात से निश्चित है कि

तफवीज और तलाक ए तालीक तथा निकाह-सविदा में पत्नी को पति द्वारा दिया हुआ विवाह विच्छेद का अधिकार, पत्नी का विवाह विच्छेद के लिए अनुरोध करने का अवसर प्रदान करते हैं। निकाह सविदा में यदि पति विवाह विच्छेद की कोई ऐसी भावी शर्त रख देता है जिसका टूटना पत्नी को तलाक का अवसर प्रदान करता है तो वह यथासमय तलाक के लिए अनुरोध कर सकती है। दि डिसेल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिज एक्ट (1939) में, मुस्लिम नारी का जिन आधारों पर विवाह विच्छेद का मुकद्दमा करने का अधिकार दिया गया है, वे हैं पति का इसप्रकार लापता होना कि उसे छह निकाहना मस्किन हा, पति का पागल होना या भयंकर कांड से पीड़ित होना, पति का पत्नी के भरण पोषण की अवहेलना करना या भरण-पोषण अस्वीकार करना पति का पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार करना, पति के दीर्घकाल तक बाहर रहने या कारावास में रहने के कारण पत्नी के सतीत्व को सतरा उत्पन्न होना, यमस्क होने पर, पत्नी द्वारा निकाह को अस्वीकार करना किसी घटना के कारण निकाह का अवयव होना पति की नपुंसकता पति द्वारा पत्नी पर परपुरुषगमन का अनुचित दाव लगाना, और अन्य कोई कारण जो मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद का आधार बन सकता हो।

इस एक्ट के अन्तर्गत अदालत का वही स्थान है जो इस्लाम की 'याय-प्रशासन' व्यवस्था में नाजी का है। अपना यह अधिकार अदालत किसी दूसरे को नहीं दे सकती है। अदालत का जिन आधारों पर विवाह विच्छेद की डिग्री देने का अधिकार है, वे हैं पति का चार साल तक लापता रहना पति का दो साल तक पत्नी के भरण पोषण में असफल होना पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास की सजा होना, अकारण ही पति का, तीन साल तक, अपने क्वाहिज उत्तरदायित्व को निभाने में असफल होना, पति का विवाह के पहले ही से नपुंसक होना और बाय

पति-पत्नी में मनमुटाव नहीं हुआ है, यदि वह मध्यस्थ न नियुक्त करे और यदि उसके द्वारा नियुक्त मध्यस्थ एक राय न हो, तो विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है। कुछ 'यायशास्त्रियों का मत है कि यदि मध्यस्थ विवाह विच्छेद के लिए एकमत भी हों तो भी बिना पति की अनुमति के, विवाह विच्छेद नहीं हो सकता है (कासीप्रसाद सक्सेना वही पृष्ठ 282)। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि इस्लामी विधि में विवाह विच्छेद के मुकद्दमे में 'यायिक' मध्यस्थता का स्थान है। यदि पति का तलाक का अधिकार निरकुण है तो पत्नी का इस्लामी विधि के अन्तर्गत 'यायिक' मध्यस्थता का महारा देने का अधिकार है। दि डिसेल्यूशन आफ मुस्लिम मैरिज एक्ट में, इस्लामी विधि की आत्मा को बनाये रखते हुए, नारी के इसी अधिकार को और भी अधिक यथानिष्ठ बनाया गया है।

मे भी नपुंसक बना रहना पति का दो साल तक पामन रहना या काँ या गुप्त रोग (गर्मी सूजाक) से पीड़ित रहना पंद्रह साल की आयु के पहले विवाह हो जाने पर, वयस्क होन पर पत्नी द्वारा अपने विवाह को अस्वीकार करना¹ पति का पत्नी के साथ नृगसता का व्यवहार करना² और अन्य कारण जो इस्लामी विधि के धर्तगत विवाह विच्छेद का आधार बन सकते हैं। यदि पत्नी का इस आधार पर विवाह विच्छेद करने की अनुमति मिलती है कि उसके पति को सात साल या उससे अधिक की कारावास की सजा हुई है तो अदालत की डिगरी इस आधार पर होगी कि पति को कारावास की सजा अंतिम रूप से हुई है और उसके बदलन की सम्भावना नहीं है। यदि पति के लपता होन पर अदालत विवाह विच्छेद की डिगरी देती है तो वह डिगरी पाम होन का तारीख से छ महीने बाद लागू होगी और यदि पति उस बीच म आ जाता है तो डिगरी रद्द समझी जायगी। पति स्वयं जा सकता है या किसी अपने अधिकृत व्यक्ति को भेज सकता है। अदालत सभी डिगरी की रद्द करेगी जब उसे पति की ठीक ठीक पहचान का सतोष हो जाय। यदि पति की नपुंसकता का आधार पर पत्नी विवाह विच्छेद की माग करती है और यदि पति पत्नी के दाव का पृठा साबित करने की माहलत चाहता है तो अदालत उस एक साल का समय लगी और इस बीच में यदि पति अदालत का मनुष्य कर देता है कि पत्नी का दावा झग है तो विवाह विच्छेद की डिगरी नहीं दी जायगी।

दि डिसाल्यूशन आफ मुस्लिम मरिजज एक्ट से मुस्लिम विवाह में दो मुख्य परिवर्तन हुए हैं। इस एक्ट के पहले विवाहित व्यक्ति का धर्म परिवर्तन करने से स्वतः विवाह विच्छेद हो जाता था। किंतु आज धर्म परिवर्तन से विवाह विच्छेद नहीं होता है बरन विवाह विच्छेद का आधार उत्पन्न होता है। पति ऐसी दगा म तलाक का आशय ले सकता है। इस एक्ट के पहले अवयस्क बच्चा का वयस्क होने

- 1 इस आधार पर विवाह विच्छेद की सभी डिगरी मित्र सकती है जब विवाह का दाव सम्भोग में हुआ हो।
- 2 पति की पत्नी को पीटने की आदत पति का निंदय आचरण पति का बदनाम नारियों के साथ सहवास या बदनामी का जीवन व्यतीत करना, पति का पत्नी को अनतिक जीवन जपनाने के लिय बाध्य करना पति का अपनी जायदाद बेचना या अपनी जायदाद पर पत्नी के वध अधिकारों का हनन करना, पति का पत्नी की मजहबो आस्थाओं और क्रियाओं में खलल डालना और एक से अधिक पत्नियों के होने पर, कुरान की आज्ञा अनुसार, पति का पत्नी से समानता का व्यवहार न करना, इस एक्ट के अनुसार, नृगस व्यवहार की श्रणी में आते हैं और पत्नी के अनुरोध पर, यदि अदालत सन्तुष्ट हो तो, विवाह विच्छेद का आधार बन सकते हैं।

विवाह परिवार और जाति

पर अपने अभिभावक द्वारा सम्पन्न किए हुए विवाह में तलाक का अधिकार न था कि तु, इस एक्ट के अंतर्गत अवयस्क बनाया वयस्क होने पर तलाक दे सकती है बशर्ते कि वह यह सिद्ध कर सके कि उसका साथ पति न सम्मोग नहीं किया है उसका विवाह अभिभावक ने पंद्रह साल के पहले ही कर दिया था और अठारह वर्ष की आयु पूर्ण होने के पहले ही उसने विवाह का जस्वीकार कर लिया था। इस प्रकार पारोधीय प्रभाव में मुस्लिम नारी को तलाक का सीमित अधिकार मिला है।

संयुक्त परिवार

४

समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने इस संसार में पाए जाने वाले परिवारों का वर्गीकरण करते हुए मुख्यतः दो प्रकार की परिवार-श्रेणियाँ निर्धारित की हैं यद्यपि उनका लिए अलग अलग नामों का प्रयोग किया गया है। बर्गिस (Burgess) के वर्गीकरण के अनुसार परिवार के दो प्रकार हैं—एक सहायक प्रकार (The Institutional Type) और दूसरा साहचर्य प्रकार (The Companionship Type)। पहला प्रकार वह प्रकार है जो प्राचीन समाजों में पाया जाता था और अर्वाचीन समय में उन समाजों में पाया जाता है जो योरोप की औद्योगिक संस्कृति के व्यापक प्रभाव के बाहर हैं। यह वह प्रकार है जिसमें कई पीढ़ियों के परिवार एक साथ रहते हैं जिसमें विवाह का आधार घम है, जिसमें तलाक का अनुचित माना जाता है जिसमें परिवार के वयोवृद्ध अथवा वयावृद्ध पुरुषों का प्रभुत्व रहता है, जिसमें व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा परिवार की ही सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है जिसमें सम्मिलित सम्पत्ति, सम्मिलित आय सम्मिलित वास्तव्याय और सम्मिलित उत्पन्न की भावना का प्राधान्य रहता है और जो अपने सामाजिक-आर्थिक पक्ष में उत्पादन उपभोग की एक सुगठित इकाई होता है। साहचर्य प्रकार में परिवार का सम्बन्धी संगठन (Kin Organization) का व्यापक प्रभाव पति पत्नी और उनकी सत्ता तक ही सीमित रहता है, जिसमें पति पत्नी के सम्बन्ध में, पति पत्नी की प्रभुता के स्थान पर साहचर्य का भाव अधिक रहता है, जिसमें पति पत्नी के पारस्परिक अवगुणन नहीं रहता है और जो अपने आर्थिक सामाजिक पक्ष में केवल उपभोग की ही इकाई है। बर्गिस के अनुसार, औद्योगिकरण और शहरीकरण ने सहायक परिवार का साहचर्य-परिवार में परिणत किया है। मानवशास्त्रियों ने भी परिवार प्रकारों को दो श्रेणियों में रखा है—एक श्रेणी में उन्होंने रखा है उस परिवार का जो एक विवाह पर आधारित है जो पति-पत्नी सत्ता के कलाप (Pattern) से बनता है और जो वस्तुतः सवर्त्मिक और सावर्त्मिक प्राथमिक परिवार है। दूसरी श्रेणी में उन्होंने रखा है उन परिवार प्रकारों का जो प्राथमिक

परिवार के विस्तार से बनते हैं। दूसरी श्रेणी में बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व पर आधारित परिवारों के अतिरिक्त वे अन्य सभी प्रकार के परिवार जात हैं जिसमें कई प्राथमिक परिवार, कई एकवर्ती पीढ़ियों के माध्यम से, एक विस्तृत परिवार में बंधे रहते हैं। इसी कारण दूसरी श्रेणी के परिवारों को विस्तृत परिवार की मंजा दी गयी है। समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने अलग-अलग वर्गीकरण अवश्य किए हैं किंतु उनके द्वारा निर्धारित श्रेणियां वस्तुतः समान हैं। सस्थायिक प्रकार और विस्तृत प्रकार में काफी साम्य है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि परिवार की गत्यात्मकता केवल सस्थायिक प्रकार से साहचर्य प्रकार में परिणत होने की ओर रही है क्योंकि विभिन्न सामाजिक संदर्भों में समान परिवर्तनकारी शक्तियां परिवर्तन की एक ही गति और दिशा को जन्म नहीं देती हैं।

अपने आधारभूत तथा अखिल भारतीय रूप में, भारतीय परिवार सामान्यतः संयुक्त परिवार है। संयुक्त परिवार के रूप में भारतीय परिवार उन परिवार प्रकारों की श्रेणी में आता है जिसे सस्थायिक और विस्तृत परिवार कहा गया है। ग्राम, जाति और गणजाति के साथ, संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक जीवन की आत्मा में व्याप्त सा रहा है। भारतीय सामाजिक जीवन में संयुक्त परिवार का प्रमाण उस समय से मिलते हैं जब से भारतीय सामाजिक इतिहास के लिखित प्रमाण मिलते हैं। महाभारत के युद्ध के समय (जिसका काल ईसा के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व माना जाता है) संयुक्त परिवार उसी प्रकार से भारतीय जीवन का एक अंग था, जैसा कि वह आज है। भारत की इस प्राचीन संस्था की संरचना में तो मुस्लिम शासन से बदली और न अंग्रेजी शासन से। हा, यह अवश्य है कि औद्योगिक क्रांति तथा वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के प्रभाव संयुक्त परिवार की संरचना में प्रविष्ट हुए हैं जिसके कारण भारत में पश्चिमी प्रकार के परिवार के कुछ उन्मूलन मिल जाते हैं। भारतीय जनता का एक बड़ा भाग अब भी संयुक्त-परिवार प्रणाली की परम्परा से चिपका हुआ है¹। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में भारतीय परिवार में परिवर्तन अवश्य आए हैं किंतु उनका आधारभूत रूप अब भी वसा ही है। इस परिवर्तन प्रक्रिया को समझने के लिए भारत में संयुक्त परिवार के प्रकारों उसके स्वरूप काय और परिवर्तित रूप को समझना आवश्यक है। भारत में संयुक्त परिवार के कई रूप पाए जाते हैं जिनमें से कुछ पितृमत्तात्मक और पितृवशी हैं और कुछ मातृमत्तात्मक तथा मातृवशी। पितृमिताश्रय सत्तात्मक पितृवशी परिवारों में मुख्य हैं 'मिताश्रय', 'दायभाग', दायभाग स्वतंत्र परिवार इस्लाम और 'ओक्का'। मिताश्रय और दायभाग वस्तुतः वे संयुक्त परिवार प्रणालियां हैं जिनका निरूपण स्मृतिशास्त्रों

विवाह, परिवार और जाति

ने ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में किया है और अंग्रेजी राज के काल में जिन्हें वैधानिक आधार प्रदान किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विधान-धर द्वारा लिखित टीका मिताक्षरा प्रणाली का आधार है और दायभाग आधारित है। जामूनवाटन द्वारा लिखित जनक महिम्नाओं के साथ सप्तह पर। दायभाग प्रणाली बंगाल और आसाम की पारिवारिक परम्पराओं में समायोजित है और मिताक्षरा प्रणाली शेष भारत की पारिवारिक परम्पराओं में। किन्तु साथ ही साथ स्मृतिकारों तथा आधुनिक विधि के निर्माताओं ने स्थानीय व्यवहारिक प्रथाओं का भी वाछनीय अवधान मान लिया है। इसी कारण इन प्रणालियों के साथ-साथ अल्प व्यवहारिक प्रणालियाँ भी पायी जाती रही हैं। मिताक्षरा और दायभाग के प्रणालियों में जाहिन्दा शास्त्रकारों के प्रतिपादना के फलस्वरूप विरसित हुयी हैं।

यह दोनो प्रणालियाँ पितृसत्तात्मक और पितृवशी हैं। इनमें निहित परिवार-समूह की धारणा में कई दोषों की आती हैं और परिवार की धारणा द्विपक्षीय सम्बन्ध वर्ग (Bilateral Kin Group) पर आधारित है। इन दोनो प्रणालियों में परिवार के ब्यावहारीक व्यक्तियों की कर्तव्य का स्थान दिया गया है। कर्तव्य ब्यावहारीक व्यक्तियों का ब्यावहारीक पुरुष होगा और परिवार में सबसे कम आयु वाला पौढ़ों के सम्बन्ध में वह पिता उनका पिता हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार में दाही पाटिमा हो), या पितामह हो सकता है (यह तब होगा जब परिवार में तीन पौढ़ियाँ हों) या यदि परिवार में केवल एक ही पौढ़ी के व्यक्ति है तो वह अल्प सदस्या का उद्वेग भाई हो सकता है। इन दोनो प्रणालियों में कर्तव्य का सर्वोपरि स्थान मिला हुआ है। किन्तु, मिताक्षरा प्रणाली में कर्तव्य उतना सबकुछ और सफल नहीं है जितना कि वह दायभाग प्रणाली में है। क्योंकि मिताक्षरा प्रणाली में कर्तव्य का पैतृक सम्पत्ति को सममान हक से स्वयं करन का अधिकार नहीं है और कर्तव्य के जीवन काल में ही परिवार का कोई सदस्य अपने सहभाग का लेकर परिवार में अलग हो सकता है। दायभाग-प्रणाली में, कर्तव्य के जीवन काल में पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा नहीं हो सकता है। अतः, पैतृक सम्पत्ति कर्तव्य की पारिवारिक सम्पत्ति में मिल जाती है और वह उसका उसी प्रकार से स्वामी हो जाता है जैसे कि वह अपना सम्पत्ति का है। दायभाग प्रणाली में 'कर्तव्य' की मृत्यु के पश्चात् जमागताधिकार नियम के अनुसार, उसका सभी पुत्र उसकी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं और तब के बाद तो सम्पत्ति का बंटवारा भी कर सकते हैं। दोनो प्रणालियों में व्यक्ति का परिवार में जन्मजात अधिकार माना गया है किन्तु उत्तर है तो केवल इतना कि दायभाग प्रणाली में अतिरिक्त अपने उस जन्मजात अधिकार की माँग कर्तव्य के जीवन काल में नहीं कर सकता है। मिताक्षरा प्रणाली में उत्तराधिकार चलता है जीवित से उत्तराधिकार (Survivorship Succession) के नियमानुसार, जिसके आधार पर कर्तव्य की मृत्यु के बाद, उसके लड़के, पान, नानी, भाई और भतीजा, जमाग, उसका सम्पत्ति के अधिकारी हान है। इन दोनो प्रणालियों में, परि-

वार म रहने और भरण पोषण का अधिकार जन्मजात है और कोई भी 'कर्ता' किसी भी सदस्य के इस अधिकार का अस्वीकार नहीं कर सकता है। इन दोनों प्रणालियों में, विशेषतः मिताक्षरा प्रणाली में परिवार की धारणा वस्तुतः एक निगम (Corporation) की भी धारणा है जिसमें उस-के सदस्यों का समान अधिकार रहता है।

इस परिवार से तात्पर्य है उस परिवार से जो देहरादून जिले की चकराता तहसील में जीनसार बाबर में रहने वाले और भ्रातृक बहुपतित्व वाले परिवार (Paternal Polyandry) की प्रथा का पालन करने वाले उस

राजपूतों में पाया जाता है। जीनसार बाबर भारत का वह भौगोलिक साम्प्रतिक क्षेत्र है जो देहरादून जिले के पहाड़ी क्षेत्र में यमुना और तीस नदियों के बीच में जाता है। इस क्षेत्र में ब्राह्मण राजपूत, बाजगी और काल्टा इत्यादि जातियाँ पायी जाती हैं किन्तु, इनमें राजपूतों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ के राजपूत अपने को स्वयं राजपूत कहते हैं और, संभवतः डा० मजूमदार और कपाडिया ने यहाँ के परिवार प्रकार का उस परिवार की संज्ञा दी है जो वस्तुतः भ्रातृक है। यहाँ बहुपति प्रथा की अधिकतम बारम्बारता (Frequency) राजपूतों और ब्राह्मणों में ही पायी जाती है। फिर भी, यहाँ के परिवार प्रकार को उस परिवार की संज्ञा देना सावधान और तर्कमूलक नहीं है। इस प्रश्न में वह संयुक्त परिवार पाया जाता है जिसका एक आधार पितृवशी पितृसत्तात्मकता है और दूसरा भ्रातृक बहुपतित्व तथा मातृवशी मातृसत्तात्मकता।

जीनसार बाबर के परिवार प्रकार को समझने के लिए हम प्रश्न में पायी जाने वाली भ्रातृक बहुपतित्व की प्रथा का समझना आवश्यक है। यह निश्चित है कि मध्य एशिया में बहुपतित्व की प्रथा प्राचीन काल में पायी गई है और आज भी यह प्रथा हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में आज भी तिब्बत में पायी जाती है। संभवतः आधार पर, कुछ लोगका ने यह मत प्रतिपादित किया है कि संभवतः, आर्यों में बहुपतित्व की प्रथा थी। इसी मद्द्दे में गन्धर्व भी है कि, प्राचीनतम आर्यों की जो दुर्बलियाँ हिन्दुओं के विनाश के लिए उत्तर में प्रस्थापित की गईं वे बहुपतित्व का पालन करती थीं। महाभारत में यह पता चलता है कि पाण्डवों ने सम्मिलित रूप से द्रौपदी से विवाह किया था। जब सम्मिलित रूप में पाँच भाइयों द्वारा द्रौपदी से विवाह करने पर युधिष्ठिर का मन माना की गया था तो युधिष्ठिर ने अपने इस काम का औचित्य सिद्ध करने के लिए यह कहा था कि उन जिन मांग का अनुसरण किया गया है वह उनके पूर्वजों का मांग है। एवं और यह कहते सरना कहते हैं कि पाण्डवों की मांग और दूसरी शरीर नीलिगिरि की पत्नी के रहने वाले दादा गणजाति के लोगों और माला वार निवासी नायरा में बहुपतित्व पाया गया है। नीलिगिरि और माला वार निवासियों का अधिकतर प्रश्न है। डा० मजूमदार के अनुसार इस प्रश्न का भ्रातृक बहुपतित्व आर्यों की

1. रावसेना, पृष्ठ १००. सोमल इचानधी आफ ए पालिमाइस पोपुल।

पितृवशी पितृसत्तात्मक और इस क्षेत्र की दशजमातवशीयान सत्तात्मक परिवार प्रथाओं के पारस्परिक सघात और सामंजस्य का परिणाम है। इसके अनेक प्रमाण इस प्रदेश की संहिता में पाये जाते हैं। एक ओर, इस प्रदेश में, परिवार में पुरुषों का प्रभुत्व है, स्त्री का न तो पिता के घर में सम्पत्ति का अधिकार है और न पति के घर में, स्त्री का पति के घर में कठिन परिश्रम करना पड़ता है स्त्री वन की धारणा एकदम अनुपस्थित है देवताओं के पूजा अनुष्ठान में पुरुष ही करते हैं और, दूसरी ओर, यह विश्वास है कि स्त्रियाँ पति या पुरुषों का सुपके में विषय देती हैं और अपने पिता के घर में नागी का रोमांटिक और यौनिक निबधता का जीवन व्यपनान का विशेषाधिकार भी मिला हुआ है। नारी के दो रूप हैं—एक गण्डी अथवा पनी का जो कठिन परिश्रम और पुरुषों का दासता का जीवन है और दूसरा 'ध्याण्टी' अथवा 'ध्याण' का जो एक हमानी हाम परिवर्तन का जीवन है। पहला जीवन समुदाय से सम्बंधित है और दूसरा मायके में। यहाँ के हमानी लाचरीता से इसकी पुष्टि होती है।

इस प्रदेश की बहुपति प्रथा का एक ओर पक्ष है। एक ओर यह प्रदेश, पहाड़ी होने के कारण कठिन कृषि कार्य का प्रदेश है, यहाँ भूमि की कमी है, कृषि कार्य में मानव श्रम (Human Labour) की आवश्यकता रहती है और इसी कारण, जो पुष्प परिवार में अनेक होता है, वन आवश्यक मानव श्रम एकत्र करने के लिए बहुपत्नीत्व का आश्रय लेता है और दूसरी ओर इस प्रदेश में, स्त्री पुरुषों के अनुपात में स्त्रियाँ की कमी है। ऐसा लगता है कि जीवनभर बाहर की स्थानीय भौगोलिक आर्थिक परिस्थिति में, संयुक्त परिवार एक आधारभूत सामाजिक आवश्यकता है जिसके फलस्वरूप स्त्रियों की कमी का कारण, इस क्षेत्र के संयुक्त परिवार में यहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों में, प्राप्त बहुपत्नित्व की प्रथा का अग्रगण्य हुआ है। इस क्षेत्र का सबसे बड़ा प्रमाण यह तथ्य है कि निम्नजाति के सदस्यों की अपेक्षा उच्चजाति के सदस्यों में, जिनमें राजपूत और ब्राह्मण आते हैं, बहुपत्नित्व और बड़े बड़े परिवार अधिक पाये जाते हैं। यहाँ की कृषियोग्य भूमि का अधिकतम भाग राजपूतों और ब्राह्मणों के स्वामित्व में है और उनमें परिवार विभाजन का अर्थ होगा भूमि का बंटवारा और यदि पौड़ी दर पौड़ी परिवार बढ़ता चला गया तो इसका अर्थ होगा एक ऐसी स्थिति का आना जहाँ परिवार का आर्थिक आधार ही समाप्त हो जायगा इससे विपरीत, निम्नस्तर की जानियाँ हैं, जिनमें कोल्हा मुख्य है न तो परिवार ही बड़े हैं और न उनमें परिवार का समुक्त धनार्पण करने की वह भावना है जो उच्च जाति का भाग, विशेषतः राजपूतों में पाई जाती है। यहाँ के लोकगीतों में सास बहू, चबराही बेटाओं तनू भोजाई तथा भाई-भाई के संघर्षों और तनाव से सम्बंधित विषय वस्तु का वर्णन नहीं के बराबर है। जो स्त्री भाइयों से बचनस्प या बटवारा लाने का प्रयास करती है उसे अवसर उत्तान दे दिया जाता है। यहाँ की नारी साध है नहीं सकती है कि वह एक पति उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

जीनसारी परिवार पूणत पितृसत्तात्मक और पितृवशी है। कर्ता परिवार की वयावद्ध पुरुष पीढ़ी का वयावद्ध पुरुष होता है और बाल विवाह प्रथा के कारण एक साथ तीन पीढ़ियों का पाया जाना साधारण बात है। कर्ता का स्थान सर्वोपरि है और वही परिवार का मंचालक है। वयावद्ध पुरुष पीढ़ी का वयावद्ध पुरुष बहुधा उस पीढ़ी के पुत्रों का ज्येष्ठ भाई होता है। यहां के परिवारों में ज्येष्ठ भाई का ही उच्चतम स्थान मिला हुआ है। परिवार के सभी विषयों में, उसका मत सर्वोच्च माना जाता है। यही एक या एक से अधिक स्त्री में विवाह करता है और जिस स्त्री या जिन स्त्रियों से वह विवाह करता है, वह स्त्री या वे स्त्रियां उसके भाइयों की पत्नी या पत्नियां हो जाती हैं। स्त्री के साथ सहवास में भी बड़े भाई की प्राथमिकता मिलती है और इस प्रथा से समस्या इसलिए नहीं उत्पन्न होती है कि यहाँ स्त्री जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नतिकता के दोहरा मापदण्ड (Double Standard of Morality) का पालन करती है। छमाष्टी के रूप में, अपने पिता के गांव में वह अपनी इच्छानुसार गांव के उन तरंगों के साथ, जो उसकी रक्षित सम्बन्धी सीमा में नहीं आते हैं, यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। जो पुरुष जितना ही तरंग होता है उसके लिए मानीषन के जीवन की उतनी ही गुंजाइश रहती है। यहाँ के सामाजिक जीवन में अनेक ऐसे पक्ष और त्योहार आते हैं जब तरंग स्त्रियां अपने मायक चली जाती हैं और वहाँ महीना रहती हैं। सम्मिलित स्त्रियों से उत्पन्न सन्तान भी सम्मिलित समझी जाती है। अतः सन्तान को लेकर उठने वाले वमनस्थ का भी यहां के पारिवारिक सम्बन्धों में अभाव है। यहां की पारिवारिक अर्थात् परिवार विभाजन अवाञ्छनीय समझा जाता है। धनक बन्धुपतिव और उनमें निहित लविरेट विवाह (Levirate Marriage) के कारण, स्त्री के लिए वनाय का प्रश्न ही नहीं उठता है और यदि कोई स्त्री कर्ता के मरण पर उसके छोटे भाई के साथ नहीं रहना चाहती है तो वह तरंग के दूसरी जगह अपना विवाह कर लेती है।

कर्ता परिवार का स्वामी अवश्य है किंतु वह निरकुश नहीं है क्योंकि एक ओर, परिवार में जहाँ पुरुषों अविवाहित लड़कियों और परिवार की विधवा भ्रमण परित्यक्ता लड़कियों का भरण पोषण पालन का अधिकार है और दूसरी ओर यदि कर्ता की पीढ़ी के सहभागी सब सम्मति से चाहता परिवार का बंटवारा हासिल करता है। यहां बंटवारा न तो मिताशरी प्रणाली के अनुसार होता है और न दायभाग प्रणाली के अनुसार ही। यहाँ बंटवारा होता है सीतिया बाट की प्रथा के अनुसार। इस प्रथा के अनुसार यदि कर्ता की पीढ़ी में पांच भाई हैं और उनमें से तीन एक या की सन्तान हैं और दो दूसरी या की तो परिवार की सम्पत्ति जिसमें उन पांच पुरुषों की सम्मिलित स्त्रियां भी शामिल हैं, दो बराबर बराबर हिस्सा में बंट जायगा। उगम से एक हिस्सा उन या पुरुषों को मिलेगा जो एक स्त्री की सन्तान हैं और दूसरा उन तीन पुरुषों का जो दूसरी या की सन्तान हैं। इस प्रकार

यहाँ एक समुक्त परिवार बटवारा होने पर, कई समुक्त परिवारों में बट जाता है। यहाँ जीवित शय उत्तराधिकार नियम (The Rule of Survivorship Succession) और परिवार में अमृतजित हितधिकार का नियम एक और पितृवशी क्रमागताधिकार नियम और दूसरी ओर, मातृवशी परम्पराओं में समाया हुआ है। किन्तु, फिर भी, पारिवारिक अविभाज्यता का आन्ध्र और आवश्यकता महा का पारिवारिक जीवन का एक अभिन्न अंग है।

प्राक्सर एम० एन० श्रीनिवास के अध्ययन के अनुसार कुछ निवासियों में जा पितृवशी (Patrilineal) और पितृस्थानी (Patrilocal) समुक्त-ओक्का परिवार पाया जाता है उस स्थानीय भाषा में ओक्का (Okka) कहते हैं। कुछ समाज में, जो व्यक्ति किसी ओक्का से सम्बन्धित नहीं होता है उसका कोई सामाजिक अस्तित्व ही नहीं है। अवध विवाह से उत्पन्न सन्तान के लिए यह आवश्यक होता है और उससे यह आशा की जाती है, कि वह अपनी मा या पिता का ओक्का की सदस्यता प्राप्त कर ले। समाज का बंधोबद्ध पुरुष इस दिशा में उसकी सहायता भी करते हैं। पहले एक ओक्का में, एक ही पितृवशी से सम्बन्धित पुरुषों के लड़के साथ साथ जानवर चराते थे चिड़ियों का शिकार करते थे और मत्तन या तवा त्रयस्व हान पर ओक्का का मुखिया का नेतृत्व में साथ-साथ पतक जायदाद की दल भात और उसका उपयोग करते थे क्योंकि पहले ओक्का की स्थिर पतक सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी। किन्तु आज ओक्का की सम्पत्ति अविभाज्य नहीं मानी जाती है। फिर भी पतक गह और जायदाद पवित्र माने जाते हैं और आज भी विवाह और अत्यन्त क्रिया जस सामाजिक कृत्यों का पतक गह में सम्पन्न करना शुभ माना जाता है। आज भी, बाबरी स्नान जस कापिक स्नाना का अवसर पर, एक ओक्का का सम्पन्न एक साथ एकत्र हान है।

विवाह का बाद, स्त्रियाँ अपने पतक ओक्का को छोड़ कर, पति के ओक्का की सम्पत्ति हा जाती हैं किन्तु फिर भी विधवा भ्रष्टा परिस्थितता हान पर, उन्हें अपने पतक ओक्का में गरण मिलता है। यदि कोई स्त्री किसी निम्नजाति के सदस्य से यौन-सम्बन्ध स्थापित कर ता उस पतक ओक्का में गरण नहीं मिलती है। एक ओक्का का सम्पन्न एक भ्रष्टा रहते हैं और सत्कारिता से काय करते हैं। ओक्का, वस्तुतः, काल के नरतम में निहित एक सन्तति (Continuum) है और किसी भी समय विवेक में उनमें पाये जाने वाले व्यक्ति कवन उस सन्तति पर विदुमान हैं। ओक्का की, अनन्त स्थानीय कारणों से सन्तति का रूप मिलता रहा है। स्नान सबसे प्रधान कारण रह है सम्पत्ति और स्थानीय दाम प्रथा। प्रत्येक ओक्का का मुख्य आधार है पतक भू सम्पत्ति और प्रत्येक ओक्का में निम्नजाति का सदस्य वस ही दास का समान काम करन रह है जस सब परिवार में कोल्टा। ओक्का का पवित्र मान

कर उस अविभाज्य रखने की सामाजिक भावना दूसरा वाक्य है। जीवका को अविभाज्य और स्थायी रखने के लिए दो संरचनात्मक साधना का आश्रय लिया गया है। लविरेट विवाह (Loverate Unions) के द्वारा भक्त पुरुष की विधवा और उसकी सत्त न का आका ही में रखने का विधान किया गया है और मा के भाई की कन्या (मातुल कन्या) और पिता की बहिन की कन्या से विवाह का प्राथमिकता देकर एक ओर, आका का संगठन को मजबूत करने का विधान किया गया है और, दूसरी ओर सास बहू में स्वभावतः उत्पन्न होने वाले तनाव को रोकने का प्रयास। सास बहिन मैरिज के कारण, पति पत्नी में, सामञ्जस्य की सम्भावना बन जाती है क्योंकि सास बहिन (Cross Cousins) एक दूसरे में बचपन से ही परिचित होते हैं। इस विवाह प्रकार में जो आज भाई की या पति की बहिन की कन्या है वह एक भाभी बहू भी है। अतः, इस विवाह प्रकार के द्वारा सास बहू के सम्बन्धों को अधिक सामञ्जस्य मिलता है और उससे आका को अधिक स्थायित्व और संगठन मिलता है। आका में व्याह कर जान वाली स्त्रियाँ अलग अलग घरों में जाती हैं और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के सम्बन्ध में सामञ्जस्य की अधिक आवश्यकता है। प्रत्येक आका में एक दलस्थान (नात) होता है जहाँ एक छोट से वृद्धरे पर नाग दलना के प्रतीक कुछ पत्थर रखे रहते हैं। यह दलस्थान आका की एकता का प्रतीक है।

मालाधार निवासी नम्बूद्री ब्राह्मणों में जो परिवार प्रकार पाया जाता है उसे स्थानीय भाषा में इल्लम की संज्ञा दी जाती है। इल्लम भी एक पितृवर्गी इल्लम (Patrilineal) पितृसत्तात्मक (Patriarchal) और पितृस्थानी (Patrilocal) समुक्त परिवार है। अनेक संरचनात्मक साधना और प्रथाओं का माध्यम से इल्लम की समुक्त बनाये रखने की प्रवृत्ति रही है। इल्लम भी वैधानिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से एक हिन्दू समुक्त परिवार है किन्तु मिताक्षरा और दायभाग प्रणालियों से बहुत ही बातों में भिन्न है—एक मिताक्षरा और दायभाग की श्रवणा, इल्लम अधिक अविभाज्य और स्थायी है और दूसरे इल्लम में स्त्री का अपमानित अधिक अधिकार मिल रहा है। कई कारणों से इस साधना की अविभाज्यता को प्रोत्साहन दिया है। मिताक्षरा और दायभाग परिवारों की भाँति

- 1 स्त्रियों के सम्बन्ध में सामञ्जस्य आका की एक आधारभूत आवश्यकता है। आका की एकता स्त्रियों के ही कारण नष्ट हो सकती है। कुछ की एक स्थानीय बह्विध के अनुसार, 'एक हजार मूँछें एक साथ रह सकती हैं किन्तु चार स्तन (Breasts) नहीं'।
- 2 श्रीनिवास एम० एन० रिलीजन एण्ड सोसायटी एमाग दि कुम्भ आफ साउथ इण्डिया अध्याय 5

इस्लाम में भी वयोवृद्ध पुत्र-पौढ़ी का वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का वर्ता होता है जिससे परिवार के अन्य सन्स्था को भरण पोषण का अधिकार मिला हुआ है। बिना सभी सन्स्था की संवत्समिति के वर्ता न तो परिवार की सम्पत्ति या उसका किसी अंग का बेच सकता है और न गिरवी रख सकता है। इस्लाम के किसी सदस्य का अंग का भार उसकी सत्ता पर न पड़ कर इस्लाम पर सम्मिलित रूप से पड़ता है जिससे इस्लाम की संयुक्तता को प्रोत्साहन मिला है।

नम्बूद्री विवाह प्रणाली इस्लाम की संयुक्तता का एक मुख्य आधार रही है। नम्बूद्री के परिवार में एक पीढ़ी के भाइयों में बचल बह भाई को ही नम्बूद्री के सन्स्था करने की अनुमति रही है और शेष भाइयों का नागरा में। नागरा मातृवशी (Matrilocal) मातृसत्तात्मक (Matrilineal) और मातृस्थानी (Matrilocal) रह है। उनमें, विवाह के पश्चात् स्त्री अपने पति के घर न जाकर अपनी मा के ही घर में रहती है। अतः इस्लाम में उत्तराधिकार की समस्या उत्तरी जटिल नहीं रही है जितनी कि मिताक्षरा प्रणाली में रही है क्योंकि इस्लाम में केवल वर्ता की ही सत्ता रहती है और उसमें भी ज्येष्ठ भाई ही उत्तराधिकार का अधिकारी रहता है। अनेक भाइयों की पत्नियों और उनकी सत्ताओं के कारण जो वयस्क स्त्रियाँ उत्पन्न होकर परिवार की संयुक्तता का नष्ट करती हैं उनकी इस्लाम में कम सम्भावना रहती है। औनसारी परिवार में, मातृवशी और पितृवशी परम्परा का सम्मिलन हुआ है किन्तु इस्लाम मातृवशी और मातृसत्तात्मक सामाजिक पद्धति में एक विनिष्ट पितृवशी और पितृसत्तात्मक परिवार प्रणाली है। औनसारी की परिस्थितियों में घातक बहुपतित्व और स्त्री नतिकता के दोहरे माप-दण्ड (Double Standard of Morality for Woman) ने परिवार की संयुक्तता में घात दिया है ता मालाबार में, नम्बूद्री नामक विवाह प्रणाली ने इस्लाम को संयुक्त रहने में सहायता दी है।

इस्लाम में जसा पटल कहा जा चुका है, वर्ता पारिवारिक सम्पत्ति को न बेच सकता है और न बंधक रख सकता है और यदि वह ऐसा करता है तो पत्नी उसका सम्पत्ति का नानुमन रद्द कर सकती है और उसे प्रबन्धक के पद से भी हटा सकती है। किन्तु यदि परिवार में, विधवा का अतिरिक्त अंग कोई पुत्र-सदस्य जातिन न बचता विधवा को परिवार की सम्पत्ति बचाने या गिरवी रखने का अधिकार है। निम्नस्तान विधवा को शादतन का अधिकार है। सर्वसम्पत्ति की प्रथा के अनुसार नम्बूद्री विधवा किसी भी नम्बूद्री का सम्पत्ति पर विवाह सम्पन्न करवा सकती है कि उसमें उत्पन्न पुत्र उसका इस्लाम का अधिकारी और प्रबन्धक होगा। सर्वसम्पत्ति, वस्तुतः दत्तक पुत्र लेने का एक धर्म रूप है। कुछ भी हो इस्लाम में स्त्री का अधिकार न इस्लाम की अविभाज्यता और संयुक्तता का प्रोत्साहन मिला है।

पितृवशी और पितृसत्तात्मक समुक्त परिवार प्रकारों के साथ-साथ भारत में मातृवशी और मातृसत्तात्मक समुक्त परिवार प्रकार भी पाये गये हैं। जसा मातृसत्तात्मक वि लगभग सार समार में पाया गया है भारत में भी मातृवशी-समुक्त परिवार मानसत्तात्मक परिवारों के साथ मातृस्थानी (Matrilocal) प्रथा पायी गयी है जिसके अनुसार, विवाह के बाद स्त्री का अपन पिता या माता का घर में रहने का अधिकार मिला जाता है और उसका पति या तो उसके साथ रहता है या सहवास के लिये समय-समय पर उसके साथ आकर रहता है। भारत में तीन प्रकार के मातृवशी और मातृसत्तात्मक परिवारों का अध्ययन किया गया है—वेह मालावार का नायरपरिवार (धारवाड), खामी-परिवार और गारो परिवार। नायर परिवार मालावार में पाया जाता है और खामी तथा गारो परिवार आसाम में।

जिसप्रकार पितृवशी पितृसत्तात्मक और पितृस्थानी (Patrilocal) समुक्त परिवार में कर्ता का भाई, बड़े माता पिता कर्ता तथा उसके भाई का लड़के और अविवाहित कन्याएँ तथा लड़की के लड़के रहते हैं उसीप्रकार धारवाद में कर्ता-स्त्री उसके बहिन भाई, बहिनो के लड़के लड़कियाँ, कर्ता स्त्री के लड़के लड़कियाँ कर्ता स्त्री तथा उनकी बहिनो की लड़कियों के लड़के-लड़कियाँ और उन लड़कियों का लड़के-लड़कियाँ रहते हैं। उत्तराधिकार कर्ता स्त्री की ज्येष्ठ लड़की को मिला हुआ होता है। इसकारण, धारवाद में उत्तराधिकार मा से लड़की का मिलता है। धारवाद में कर्ता स्त्री का ज्येष्ठ भाई, या उसकी मृत्यु के बाद उसका कनिष्ठ भाई परिवार का प्रबन्धक (वानवान) होता है। धारवाद की सम्पत्ति पर बंध अधिकार कर्ता-स्त्री का होता है किन्तु वास्तविक अधिकार प्रबन्धक के हाथ में रहता है। यह सही है कि धारवाद में सभी सदस्य धारवाद की सम्पत्ति में भरण पोषण के अधिकारी होते हैं किन्तु यह अधिकार अभी तक रहता है जब तक कि वे धारवाद में रहते हैं। धारवाद से बाहर रहकर, भरण पोषण का अधिकार अभी मिल सकता है जब यह निर्दिष्ट हो गया हो कि वानवान का व्यवहार अनुचित है। धारवाद की सम्पत्ति से धारवाद के सदस्यों का भरण पोषण करने का कर्तव्य वे सादभ में, वानवान के अधिकार और स्थिति सर्वोपरि हो जाते हैं। धारवाद में वानवान की भूमिका बल्लुत, एवं निरकुण शासक की भूमिका रही है। जसा कि मिताक्षरा प्रणाली में है कोई एक सदस्य धारवाद की सम्पत्ति से अपने हिस्से को अलग करने की मांग नहीं कर सकता है। धारवाद की सम्पत्ति का, सिद्धांततः, बंटवारा हो सकता है किन्तु सभी सम्पत्ति का सम्पत्ति में। वानवान धारवाद की अविभाज्यता की ओर प्रेरित रहता है और, अनारण्य बहूधा धारवाद में सर्वसम्पत्ति से विभाजन की मांग नहीं आती है क्योंकि कोई भी एक सदस्य, या वानवान के पास में है, विभाजन की मांग की शक्ति नहीं है। साथ ही साथ, एक प्रबन्धक के रूप में बिना सभी सम्पत्ति की

निश्चित अथवा अलिखित अनुमति के बिना कानवान न तो धारवाद की सम्पत्ति का बेच सकता है, न उस गिरवी रख सकता है और न दान कर सकता है। इस नियम का उल्लंघन करने पर, कानवान को उसके पद से पदच्युत किया जा सकता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि कानवान के पर उसके व्यवहार तथा अधिकारों पर लगी दृष्टी रक्षाकृत न धारवाद की मर्यादता का बनाये रक्खा है।

वास्तव में, धारवाद की समुक्तता को बल मिलता रहा है धारवाद की मरचना से। धारवाद की संरचना में सास-बहू, देवरानी जिठानी स्वर भोजार्थ मनद भोजार्थ जैसे तनावकारी और परिवार विभाजन सम्बन्ध और सम्बन्ध ही नहीं पाए जाते हैं क्योंकि विवाह के पश्चात् प्रत्येक स्त्री अपने मा के ही घर में रहती है और प्रत्येक पुत्र को अपनी सत्ता के स्थान पर, अपनी बहिन अथवा बहिनो की सत्ता की देखभाल करनी पड़ती है। धारवाद के सदस्यों में भाईबहिन, मामा (मा का भाई) — भानजा (बहिन का लड़का) — भानजी (बहिन की लड़की) भौसी (मा की बहिन) — भानजा भानजी (बहिन के लड़के लड़की), नानी (मा की मा) — नाती (लड़की का लड़का) — नातिन (लड़की की लड़की) के दो सम्बन्ध पाए जाते हैं। इन सम्बन्धों में तनाव का कम स्थान होता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो धारवाद का मुख्य आधार है प्रथम बढतम पीढ़ी के जीवित भाई-बहिन जिनके सम्बन्धों में अधिक सामंजस्य पाया जाता है और जिससे धारवाद की मर्यादता बनी रहती है।

धारवाद अपस्रावित एक अधिक शक्तिशाली मर्याद परिवार रहा है किन्तु, फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि यह विभाजन प्रक्रिया से पर रहा है। परंपराानुसार, जाकार में आवश्यकता से अधिक बढ़कर दुवाहा होने पर, धारवाद तावजी (Tarazhi) कही जाने वाली छाटी छाटी इकाइयों में बंट जाता है। तावजी उन्नीस सौ बत्तीस के दि मद्रास मर्यादकथम एवम् के अनुसार एक स्त्री से सम्बन्धित है और, इस दृष्टिकोण से, तावजी एक स्त्री उसकी सत्ता और उसकी मातृवशी शाखा के प्रमाणित वंशजों से मिलकर बना हुआ एक मातृवशी परिवार है। धारवाद तावजियों में बंटत रहे हैं और तावजिया कालांतर में बढ़कर धारवाद का रूप लेती रही हैं। पहले तावजी का अपने जनक धारवाद से सम्बन्ध बना रहता था क्योंकि प्रत्येक तावजी अपने जनक धारवाद से निर्भर करती थी। इधर हाल में बने कानून धारवाद में तावजी की उत्पत्ति और विलगाव में सहायक हो रहे हैं। पहले धारवाद का कोई भी सदस्य अपनी स्वोर्जाजित सम्पत्ति का अपने जीवनकाल में इच्छानुसार खर्च कर सकता था किन्तु उसकी मृत्यु के बाद, उसकी गैर सम्पत्ति धारवाद की सम्पत्ति में मिल जाती थी। किन्तु आज, वर्तमान विधि के अनुसार, एक धारवाद के किसी भी सदस्य की स्वोर्जाजित सम्पत्ति उसके समीपस्थ वंशजों को मिलनी है जिसके कारण तावजी की नींव दृढ़ हो गयी है और उसके संगठन तथा विलगाव की सम्भावना पहले की अपेक्षा बड़ी गुरी बढ़ गयी है। तावजी के

अस्तित्व में आने पर पतक थारवान से उसके सदस्यों के वंशज सम्बंध बन रहते हैं किंतु साम्प्रतिक सम्बंध और अविकार समाप्त हो जाते हैं। वंशज सम्बंधों के ही कारण एक ताबजी के सदस्य अपने को पतक थारवाद का सत्य मानते हैं और उसके बाहर विवाह करते हैं। जैसी कि परम्परा रही है आज भी अपने पतक थारवान के किसी सदस्य के निधन पर, ताबजी के सदस्य चौदह दिन तक अपने का अगुद मानते हैं।

खासी और गारो मातवशी परिवार संगठन भारत के उत्तरी पूर्वी भाग (आसाम) में पाये जाते हैं और वे भारत के दक्षिण पश्चिम (मालाबार) में पाये जाने वाले मातवशी परिवार संगठन से भिन्न हैं। खासी परिवार तान या चार पीढ़ी के सदस्यों का एक छोटा समुक्त परिवार होता है। खासी परिवार मातवशी और मातृस्थानी (Matrilocal) है और उसमें मातवशी उत्तराधिकार के नियम का पालन होता है। खासी परिवार में मातवशी उत्तराधिकार की प्रमाणितता उल्टी चलती है क्योंकि खासी परिवार में सबसे छोटी लड़की परिवार का अभिरक्षक (Custodian) समझी जाती है। इस कारण बच्चे प्रथम उत्तराधिकारिणी समझी जाती हैं। यदि कर्ता स्त्री के सतान न हो तो उत्तराधिकार उनसे छोटी बहिन का मिलता है और यदि वह भी निम्नमान मर जाय तो उत्तराधिकार उससे छोटी बहिन का मिलता है। यदि कर्ता स्त्री की बहिन मर चुकी हो कर्ता स्त्री निस्संतान हो और यदि उसका बहिन की सतान हो तो उत्तराधिकार कर्ता-स्त्री की बहिन की लड़की का मिलना है। बटवार की स्थिति में परिवार गृह (Family House) सबसे छोटी लड़की का मिलता है और परिवार के रत्नाभूषणों के साथ साथ पारिवारिक सम्पत्ति का एक बड़ा भाग भी मिलता है क्योंकि खासी परिवार प्रणाली में गृह, परिवार के सदस्यों का वास्तविक स्थान होने के साथ साथ एक सम्मिलित पूजा स्थान और परिवार के सन सदस्यों की अस्थियां को गाड़ने का स्थान (Common Sepulchre) भी है। वास्तव में परिवार धर्म (The Family Religion) में भाग लेना और सम्मिलित गाड़ने के स्थान (Common Sepulchre) में परिवार-सदस्यों की अस्थियों का गाड़ा जाना दो ऐसे कृत्य हैं जो परिवार की समुक्तता को बनाये रखते हैं। स्त्री-कर्ता के मरने पर उनकी सबसे छोटी पुत्री ही उसका दाह संस्कार करती है और उसकी अस्थियां को परिवार के कब्र-स्थान (Sepulchre) में गाड़ देती है। खासी परिवार पर मातृमतत्वता का यहां तक प्राधान्य है कि पुरुष जो कुछ भी कमाता है वह या तो उसकी मा का मिलना है या उसकी बहिन का या उसकी मा के स्त्री भाजा का।

गारो परिवार भी मातवशी (Matrilinal) है और गारो लोगो में भी मातृस्थानीयता (Matrilocal Residence) की प्रथा है। उत्तराधिकार स्त्री से स्त्री को चलता है किन्तु, गारो परिवार खासी तथा नायर परिवार से भिन्न है।

माता परिवार में, माता पिता अपनी पुत्रियाँ में से उत्तराधिकारिणी पुत्री को चुनकर उसे नामजद करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उत्तराधिकारिणी स्त्री सबसे छोटी या सबसे बड़ा पुत्री हो। वह कोई भी हो सकती है यद्यपि, साधारणतः, बड़ी पुत्री का उत्तराधिकारिणी नहीं घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुयी पुत्री के जलाया अथ पुत्रियाँ तब तक परिवार गृह में रहती हैं जब तक कि उनका विवाह नहीं हो जाता है। विवाह होने पर अपने मायके के ही गाँव में वे माता-पिता द्वारा दी हुयी भूमि पर अलग घर बसाती हैं। उत्तराधिकारिणी पुत्री को माता पिता के दाह संस्कार का सारा भार उठाना पड़ता है। यदि किसी परिवार में पुत्रियाँ न हों तो कर्त्ता स्त्री अपनी बहिन की किसी लटका का गाना पढ़ती है और यदि बहिन न हो या बहिन की कोई पुत्री न हो तो विस्तृत परिवार (Extended Family) के किसी भी सम्बन्धी की पुत्री का गाना पढ़ती है।

जैसा कि हम सर्वेक्षण से ज्ञात होता है भारत में परिवार की या ग़रभूत सामाजिक संरचना मधुवन परिवार की है, यद्यपि जैसा कि दायभाग और पिताक्षर सामान्य प्रणालियों में है वहीं परिवार की संयुक्तता द्विपक्षीय सम्बन्धपद (Bilateral Kinship) की स्वीकृति पर आधारित है और वहीं एकपक्षीय सम्बन्धपद (Unilateral Kinship) पर। अपने आधारभूत प्रकारों में एक ओर, संयुक्त परिवार मातवशी है और, दूसरी ओर, पितवशी। श्रीमती बर्बे ने पितवशी मधुवन परिवार को उत्तरी प्रकार (The Northern Type) कहा जाता है और मातवशी परिवार को दक्षिणी प्रकार (The Southern Type)।¹ किन्तु उत्तरी प्रकार तथा दक्षिणी प्रकार की समझों से ऐसा दृष्टि होता है कि माना उत्तरी भारत में पितवशी प्रकार हा पाया जाता है और दक्षिणी भारत में केवल मातवशी प्रकार। यह निर्विवाद है कि भारत में संयुक्त परिवार का एक रूप मातवशी है और दूसरा पितवशी और उत्तरी भारत में केवल पितवशी प्रणाली ही नहीं पायी जाती है और न दक्षिणी भारत में केवल मातवशी प्रणाली।

भारत के परिवार प्रकारों के हम सर्वेक्षण में यह भी स्पष्ट होता है कि पितवशी परिवार प्रणाली में परिवार का कर्त्ता ब्यावहारी पुरुष पीढ़ी का सबसे ब्यावहारी पुरुष होता है। उत्तराधिकार पुरुष में पुरुष को चल्ता है बसावली पिता की वंश-परम्परा में चलती है और विवाह हो जाने के बाद स्त्री का अपने पिता का घर छोड़ कर पति के घर में जाकर रहना पड़ता है। पितवशी परिवार सामान्यतः, लेनिस्ट-विवाहों से सम्बन्धित है क्योंकि उसमें परिवार के किसी पुरुष मरम्भ की मृत्यु के बाद उसकी विधवा का उसका पति वंश में ही रहने का अवसर मिलता है और उसकी सम्पत्ति की पितवशी बसावली का ह्रास नहीं होता है। पितवशी मधुवन परिवार में

1 कपाडिया के० एम० भरिज एण्ड कमिली इन इंडिया पृष्ठ 239-243

2 बर्बे, इरावती किनशिप आगनाइजेशन इन इंडिया पृष्ठ 12

दो प्रवृत्तियाँ पायी गई हैं—एक, परिवार का संयुक्त बनाए रखने की ओर, दूसरी, संयुक्त परिवार में विभाजन (Fission) और पुनर्संगठन (Formation) की। पितृवशी परिवार की अर्द्धांगी परिवार को संयुक्त बनाए रखने पर जोर देती हैं। पौराणिक कथाओं द्वारा प्रतिपादित आदर्श भी इसी पर जोर देते हैं। पुत्र के लिए पिता (कर्ता) ही सर्वोपरि है। अपने पिता के लिए और परिवार की रक्षा के लिए भीष्म अविवाहित रहे और राम ने चौदह वर्ष तक वनवास किया। जैसा कि महाभारत में युधिष्ठिर के प्रति उनके भाइयों के और रामायण में राम के प्रति उनके भाइयों के व्यवहार से स्पष्ट है यदि बड़ा भाई परिवार का कर्ता है तो वह पितृ-मुख्य है। बड़ा भाई जनसाधारण की मान्यतानुसार पितृवत् माना जाता है और खेवर 'कस्मात् द्वितीयो वर'। किन्तु जिन पौराणिक कथाओं के आधार पर परिवार की संयुक्तता बनाए रखने के आदर्श का प्रतिपादन किया गया है, उन्हीं से यह भी स्पष्ट होता है कि एक ही वातावरण में पत्नी पितृवशी पुरुषों के लिए संयुक्तता बनाए रखना आसान है और विभिन्न परिवारों स्थानों तथा विभिन्न पर्यावरणों में पत्नी स्त्रियों के लिए परिवार की संयुक्तता बनाए रखना कठिन है। पितृवशी संयुक्त परिवार की यही कहानी रही है। पुरुषों ने समान पर्यावरण और पितृवश के कारण, परिवार की संयुक्तता को बनाए रखने का प्रयास किया है जबकि विभिन्न स्थानों, पर्यावरणों तथा परिवारों से आई हुयी उनकी स्त्रियाँ परस्पर सामंजस्य में रख पाने के कारण, संयुक्तता के विभाजन का कारण रही हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि पितृवशी परिवार वाले क्षेत्रों में पाए जाने वाले लाकगीता और कहावतों में सीत सीत सास बहू, नन्द भीभाई और देवराणी-जेठानी के सम्बन्धों में पायी जाने वाली प्रतिस्पर्धा, मानसिक संघर्ष तथा तनाव की विषयवस्तु का अधिक वर्णन मिलता है। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन का कारण है। स्त्री संयुक्त परिवार के विभाजन और पुनर्संगठन दोनों का कारण रही है। बहू के रूप में स्त्री संयुक्त परिवार का प्रति विद्रोह करती रही है किन्तु वयोवृद्ध माँ और सामु के रूप में एक नए संयुक्त परिवार का संयोजन क्योंकि कोई भी वृद्धा नहीं चाहती कि स्वसका पुत्र अपनी पत्नी के साथ एक असंग परिवार बनाए¹।

मातृवशी परिवारों में बच्चा का अधिक पद परिवार की जीवित वयोवृद्ध पाँती की स्त्री में निहित होता है किन्तु बच्चा के अधिकारों का वास्तविक प्रयोग उम्र पुरुष के हाथ में होता है जो परम्परानुसार परिवार प्रबंधक के पद पर कार्य करता है। मातृवशी परिवार में, बच्चावली माता का नाम पर चलती है और सामान्यतः विवाह के बाद स्त्री अपने पति के साथ नहीं रह कर अपनी माँ के ही घर में रहती है। इस कारण, मातृवशी परिवार में, पिता माता सत्तान प्रकार का परिवार बसाए (Family

Pattern) नहीं पाया जाता है। परिवार के सदस्यों के पालन पोषण का भार प्रबन्धक का कार्य करने वाले पुरुष के ऊपर रहता है। प्रबन्धक का पद, सामान्यतः, बर्ता स्त्री के भाई का मिलता है। उत्तराधिकार पिता से पुत्र के स्थान पर मा से पुत्री को चलाता है। यही कारण है कि मातवशी परिवार की संरचना सामान्यतः मातृमतात्मक होती है। पिता पुत्र भाई भाई साम बहू, देवर भोजाई ननद भोजाई और देवरानी जिठानी जन्म तनावकारी और प्रतिस्पर्धी सम्बन्ध मातवशी परिवार में नहीं पाए जाते हैं जिसके कारण मातवशी परिवारों की समुक्तता अधिक स्थायी होती है। श्रीमती कर्वे के अनुसार, पितृवशी परिवार की अपेक्षा मातृवशी परिवार अधिक सुगठित और अविभाज्य रहा है क्योंकि मातृवशी परिवार में वे आन्तरिक संघर्ष, तनाव और दबाव नहीं रहते हैं जो साधारणतः पितृवशी परिवार-संरचना में पाए जाते हैं जिनके कारण पितृवशी परिवार एक सतत विभाजन-संयोजन प्रक्रिया में रहा है। जहाँ मातृवशी परिवार संरचना पायी जाती है वहाँ की बहावशीलता और लचीलगी में भाई भाई, सौत, सौत, साम बहू ननद भोजाई और देवरानी जिठानी के प्रतिस्पर्धी व्यवहार दृष्टिकोण और सम्बन्धों के वर्णन अनुपस्थित हैं जो इस बात का द्योतक है कि पितृवशी परिवार की अपेक्षा मातृवशी परिवार की संरचना अधिक समुक्त तथा सुगठित रही है।

पिछले सर्वेक्षण तथा विवेचन से भारतीय समुक्त परिवार की मुख्य-मुख्य विशेषताओं भी स्पष्ट होती है। समुक्त परिवार एक विशेष प्रकार का सम्बन्धी समूह (Kin Group) है जिसके सदस्य या तो मातृवशावली में होते हैं या पितृवशावली में। समुक्त परिवार एक कालगत मत्तति (Continuum in Time) है। क्योंकि भारतीय परिवार सम्बन्धी अर्थात् के अनुसार, परिवार पित और पुत्र दोनों से मिलकर बनता है। भारतीय परम्परा में परिवार जीवन का एक साधन मात्र है। साध्य है धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में मिलने वाला माध्य। गृहस्थाश्रम केवल एक संक्रमण अवस्था (Phase of Transition) है। व्यक्ति गृहस्थाश्रम में इसीलिए प्रवेश करता है कि वह उन सारी विधियों का पालन कर सके जिनके द्वारा कुल का परिरक्षण हो सके और उसका नरन्तय बना रहे। पञ्चमहायज्ञों को सम्पन्न करना ग्रही का मुख्य धर्म है। अतः, परिवार सम्बन्धी समूह होने का साथ-साथ, पञ्चमहायज्ञों को सम्पन्न करने तथा कुल परिरक्षण और कुल नरन्तय को बनाए रखने का एक साधन है। इसी कारण पञ्चमहायज्ञों की विधियाँ (Rites) परिवार का एक अंग बन गयी हैं। किन्तु, पञ्च महायज्ञों की विधियों में से केवल पितृ-यज्ञ और देव यज्ञ की विधियाँ ही समुक्त परिवार का मुख्य आधार रही हैं। प्रत्येक समुक्त परिवार में, एक देव पितृ स्थान होता है जहाँ, जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों पर, परिवार कल्याण की

कामना के लिए देव पित्रा का आवाहन किया जाता है। इस परम्परा का परिणाम यह हुआ कि समुक्त परिवार सभी दगाओ में एक पतक स्थान से सम्बंधित रहा है। पतक स्थान से सम्बंध उस दशा में भी बना रहता है जब एक परिवार के सदस्य पतक स्थान का छाड़कर वही अथवा जा बसत है। अक्सर पतक स्थान के देवताओं के नाम मनोतिया मानी जाती हैं और उन्हें पूरा करने के लिए लोग पतक स्थान को जात रहत है। यदि कोई समुक्त परिवार बंट जाता है तो देव पित स्थान तब तक मूल परिवार में रहता है जब तक कि उसकी कही किसी अन्य परिवार में स्थापना न की जाय। प्रत्येक समुक्त परिवार का अपना एक आसन (Seat) होता है।

समुक्त परिवार के आसन (Seat) में सम्बंधित रहने का कारण रही है कृषि-व्यवस्था। कृषि व्यवस्था में भूमि ही जीवन यापन का मुख्य आधार होती है। कृषि व्यवस्था के कारण ही भूमि परिवार की समुक्तता बनाये रखने का मुख्य माध्यम बनी। जसाकि जौनसारी परिवार (सस परिवार) के वंश में स्पष्ट है, आज भी, भूमि परिवार की समुक्तता का कारण है। ज्यों ज्यों औद्योगिक व्यवस्था विकसित हो रही है और भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति के अन्य साधन विकसित हो रहे हैं परिवार की समुक्तता बनाए रखने में भूमि का महत्व भी समाप्त हो रहा है। चूंकि परिवार की समुक्तता भूमि पर आधारित रही है पारिवारिक सम्पत्ति का सम्मिलित स्वामित्व और उपभाग समुक्त परिवार की एक विशेषता बन गई है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार चूल्हा, चक्की, झण्डू, आंवली मूसल और पानी का घड़ा परिवार के मुख्य पांच उपकरण (Tools) हैं। किंतु, इन सभी में चूल्हा परिवार की समुक्तता को बनाये रखने का एक मुख्य माध्यम रहा है। चूल्हे के ही कारण, समुक्त परिवार की इन विशेषताओं का अम्युदय हुआ है जिन्हें सम्मिलित रसोई और सम्मिलित वास स्थान कहा गया है। आज भी, भारत की जनगणना में, एक चूल्हे और एक रसोई को एक परिवार का आधार माना जाता है यद्यपि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, यह तर्कसंगत नहीं है। आज भी, अवध में सम्पूर्ण परिवार के सदस्यों का किसी भाग में आमंत्रित करने का चूल्हा यातन कहा जाता है और परिवार विभाजन को 'चूल्हा बटना'।

पिछले विद्वेषण में समुक्त परिवार की जिन विशेषताओं का वर्णन किया गया है, उनके आधार पर समुक्त परिवार का परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—समुक्त परिवार एक विशेष प्रकार का सनातनीय (kindred) समूह है जिसके सदस्य सामान्यतः एक ही दशा वली से सम्बंधित रहते हैं, एक ही गृह या निवास-स्थान में रहते हैं एक ही रसोई में भाजन करते हैं सम्मिलित रूप से समान सम्पत्ति के स्वामी होते हैं और अपने परिवार की समान पूजा विधियाँ सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। किन्तु समुक्त परिवार को यह परिभाषा आदर्श समुक्त परिवार की परिभाषा है। इस परिभाषा

समुक्त परिवार का जा रूप उभरता है वह एक ऐतिहासिक आदर्श है। समुक्त परिवार में, सम्मिलित रूप में केवल वही मध्यम रहते आए हैं जो कृषक रहे हैं। समा और व्यापार में लग लग, हमारा में, आवश्यकतानुसार स्थानान्तरित होते रहे हैं और अपने साथ समुक्त परिवार प्रणाली के साथ जाते रहे हैं। यदि ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक समुक्त परिवार एक बड़े समुक्त परिवार में निबला है। गाँव और गाँव दोनों जगह ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें दस या बारह समुक्त परिवारों के साथ, अलग अलग तो रहते हैं किन्तु वे एक ही दश के होते हैं। इन घरों में ऐसा ही मनना है कि एक घर अत्यन्त प्राचीन समझा जाता है और उमा में दस पित्रों का स्थापना है। समुक्त परिवार की आत्मा में अविभाज्य समझा गया है किन्तु वास्तविक व्यवहार में समुक्त परिवार अविभाज्य नहीं रहा है। हा यह अवश्य है कि विभाजित होकर एक समुक्त परिवार कई समुक्त परिवारों में बँटता रहा है।

समुक्त परिवार, भारतीय सभ्यता के परिरक्षण (Preservation) का एक प्रधान साधन रहा है। भारतीय सभ्यता का नैरेतय भी समुक्त परिवार के सामाजिक योगदान का परिणाम है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारतीय सभ्यता और समाज का स्थायी बनाने का श्रेय केवल समुक्त परिवार का ही है। स्वयं समुक्त परिवार भारत की परम्परागत जाति संरचना और ग्राम संगठन प्रणाली पर आधारित रहा है। भारत का परम्परागत ग्राम-संगठन प्रणाली का मुख्य आधार नहीं है कृषि व्यवस्था। समुक्त परिवार का, एक ओर परिरक्षण मिला है जाति में और दूसरी ओर, कृषि-व्यवस्था तथा ग्राम-संगठन प्रणाली से। समुक्त परिवार के नियमन की सत्ता जाति और ग्राम के पास रही है। जाति समुक्त परिवार के चारों ओर घिरा हुआ और अन्तर्वैवाहिकी पर आधारित एक बड़ा सामाजिक घेरा रहा है जिस पर, अपने अस्तित्व के लिए समुक्त परिवार निर्भर रहा है। किन्तु समुक्त परिवार का आर्थिक आधार ग्राम-समूह में ममाया रहा है। अकाला दुर्घटना और राजनैतिक संघर्ष पुनः के अवसरों पर गाँवों के स्थानान्तरण हुए हैं न कि जातियों के और इन प्रवृत्तियों में समुक्त परिवार ग्राम से बँटा रहा है न कि जाति से। जाति अन्तर्वैवाहिकी से बँचे हुए, उन समुक्त परिवारों का एक समूह है जो एक क्षेत्र विशेष के कई गाँवों में फैला रहता है और गाँव, एक सीमा विशेष में घिरा हुआ, कई उन समुक्त परिवारों से मिलकर बना हुआ समूह है जो कई जानियाँ में विभक्त रहते हैं। जहाँ किसी गाँव या कई पड़ोसी गाँवों में एक ही जाति के सदस्य रहते हैं वहाँ स्थिति निम्न रहती है। कुछ भी हो, ग्राम और जाति समुक्त परिवार के दो मुख्य आधार रहे हैं। ग्राम और जाति के सन्दर्भ में समुक्त परिवार एक छोटा-सा नमूना रहा है—यह मसाला जो अनेक दशावासों में आत्मनिर्भर रहा है और अनेक दशावस्थाओं में, सामाजिक

आर्थिक आदान प्रदान की परम्परा के द्वारा, उन समूहों में मिला रहा है जिन्हें ग्राम और जाति की सजा दी गई है¹।

भारतीय जीवन में समुक्त परिवार एक प्रकार का विशिष्ट सहवासी समुदाय रहा है जिससे व्यक्ति की लगभग सभी शारीरी और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रही है। समुक्त परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति को अपनी ही पीढ़ी के साथी मिल जाते हैं क्योंकि समुक्त परिवार में भाइयों या बहिनो के बच्चे एक साथ पलते हैं। शिशु अपनी माता पर ही नहीं निर्भर रहता है। शिशु के पिता की मा, बहिन और भाई की स्त्री भी उसकी देखभाल करती हैं। समुक्त परिवार में, शिशु बहुधा अपनी दादी (पिता की मा) या बाबा (पिता का पिता) द्वारा पाला पोसा जाता है, विशेषतया उस समय, जब उसके अग्र भाई या बहिन हो जाते हैं। उत्तरी भारत में, परिवार में, अपने बच्चे का ही लाड प्यार करना ठीक नहीं समझा जाता है और आज भी एम. तरुण पिताओं की कमी नहीं है जो अपने माता, पिता और बड़े भाई के सामने अपने बच्चे का लाड प्यार करते शरमाते हैं। समुक्त परिवार में शिशु या बालक अपने ही मा-बाप पर नहीं निर्भर रहता है। परिवार के अग्र बच्चों के साथ उसका मुण्डन और जनेऊ होता है। समुक्त परिवार में, बड़ों का भी बड़ा बरतना दूसरों में नहीं लगती है।

समुक्त परिवार स्त्री सहवासी समुदाय में दो अलग अलग संसार हैं—एक पुरुषों का संसार और दूसरा स्त्रियों का संसार। व्याहृत करने पर, पितृवशी समुक्त परिवार में स्त्री का एक नया सामञ्जस्य स्थापित करना पड़ता है पर वह सामञ्जस्य जसाकि आधुनिक योरोपीय परिवार में होता है, पति के प्रति एक रागात्मक सामञ्जस्य मात्र नहीं है। इस सामञ्जस्य का एक रूप है सास के साथ सामञ्जस्य, दूसरा ननद (पति की बहिन) के साथ सामञ्जस्य, तीसरा, पति के भाइयों की स्त्रियों के साथ सामञ्जस्य चौथा पति के पिता और उसके भाइयों के साथ सामञ्जस्य और, पाँचवा, पति के भाइयों के साथ सामञ्जस्य। स्त्री का अधिकतर समय परिवार की स्त्रियों के ही साथ बीतता है। बीमारी और प्रसव के समय परिवार की स्त्रियाँ ही उसकी देखभाल करती हैं। पति-पत्नी मिलते हैं पर केवल रात्रि में थोड़े समय के लिए। पति पत्नी के सहवास पर भी परिवार का नियंत्रण रहता है। पति का अधिकतर समय पुरुष-संसार में व्यतीत होता है। पितृवशी समुक्त परिवार में पति पत्नी का सम्बन्ध ही प्राथमिक नहीं है। मातृवशी परिवार में पति पत्नी का सम्बन्ध तो एकलव्य गौण रहता है।

समुक्त परिवार में आयु की प्राथमिकता और मर्यादा मिलती है। समुक्त परिवार की मर्यादा प्राधिकारवादी (Authoritarian) रही है। इस कारण, समुक्त

परिवार में समतोल जटिलता और कटुता भी रही है। बल्कि, साथ ही साथ उसमें आकर्षक तत्व भी रहे हैं। पितृवशी समुक्त परिवार में दवर भोजाई, ननद भोजाई, देवरानी जेठानी और सास बहनवाई के परिहास सम्भव (Joking Relationships) भी रहे हैं। समुक्त परिवार में हमारा कुछ न कुछ होता रहता है। आज यदि विवाह है तो कल उपनयन-सम्कार। आज यदि किसी का जन्म हुआ है तो कल किसी की मृत्यु। आज यदि परिवार की स्त्रियाँ के भाई उन्हें उनके मामक लड़कानों के लिए आए हैं तो कल परिवार की विवाहित सदस्यियाँ अपनी सुमराली में आ रही हैं। आज यदि कोई पक्ष है तो कल कोई त्योहार। समुक्त परिवार का जीवन, एक ओर, सत्ता और अनुशासन का जीवन है तो दूसरी ओर, सुमुक्तता और आशाओं का। उसमें एक ओर हास परिहास है तो, दूसरी ओर सघर्ष एक ओर, वाद विवाद का जीवन है तो दूसरी ओर नयी नयी योजनाओं का।

समयगत परिवार में व्यक्ति परिवाररूपी समष्टि का एक अंग रहा है। समुक्त परिवार और पश्चिमी व्यक्तिवाद (Western Individualism) दो विरोधी सामाजिक मानसिक प्रमेय रहते हैं। समुक्त परिवार में व्यक्ति की सत्ता स्वतन्त्र न होकर समष्टि का एक अंग रही है। प्राधिकारवादी (Authoritarian) हान व कारण, समुक्त परिवार व्यक्तिगत उपनयन (Individual Initiative) का विरोधी-सा रहा है। भारतीय समाज में जन्मजात सत्ता और विषयाधिकारों का सामाजिक सूत्रपात समुक्त परिवार से ही होता है और जिसका चरम विकास जाति संरचना प्रणाली में हुआ है। परिवार की समयवत्ता बनाए रखने के कारण ही, समयगत परिवार संरचना में एक ओर, सत्ता अनुशासन और आधुनिकता का प्राथमिकता देने की प्रयास तथा विभिन्न सदस्यों के जन्मजात विषयाधिकारों के विचार का समावेश हुआ और, दूसरी ओर, एकवशी उत्तराधिकार प्रणाली का। पितृवशी परिवार में समान पितृवशी पुरुष का उत्तराधिकार में प्राथमिकता मिली और मातृवशी परिवार में, मातृवशी स्त्रियाँ का। उत्तराधिकार में भी, पितृवशी पुरुष पीढ़ी में आधुनिक अनुसार ज्येष्ठ पुरुष का प्राथमिकता मिली और मातृवशी परिवार में एक पीढ़ी की स्त्रियाँ में ज्येष्ठ स्त्री की। पितृवशी परिवार में स्त्रियाँ का स्थान गौण हो गया। स्त्री का न तो पिता की सम्पत्ति में अधिक उत्तराधिकार मिला और न पति के परिवार की सम्पत्ति में—उन्हें केवल भरण पोषण का अधिकार मिला। उन्नी प्रकार, मातृवशी परिवार में, पुरुष का स्थान गौण हो गया। इस परिस्थिति के वर्द्ध परिणाम निकले। इसमें स्त्री पुरुष की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा में जन्मजात अमानता की भावना का समुदय हुआ समाज में जन्मजात विषयाधिकारों के प्रति लाला उत्पन्न हुई और चूँकि जन्मजात विषयाधिकार नहीं का नष्टा मिल सका, इस कारण आधुनिक दृष्टिकोण

का अभ्युदय हुआ। इसके दो परिणाम निकल। अधिकार सम्पन्न व्यक्ति की भूमिका में शासन और अधिकार लिप्सा के सामाजिक मनावृत्ति का समावेश हुआ और अधिकार विहीन व्यक्ति की भूमिका में परितोषी (Parasitic) उत्तरदायित्वहीन और पराधिन मनावृत्ति का। संयुक्त परिवार सामाजिक सुरक्षा का कवच रहा है उसमें सामाजिक बीमा का स्वरूप समाए रह है किंतु, साथ ही साथ उसने अकर्मण्यता को भी प्रोत्साहित किया है। संयुक्त परिवार में मिलन वाली सुरक्षा ने यदि, असुरक्षा के भय में उत्पन्न होने वाली चिंता से व्यक्ति की रक्षा की है तो उसने उस सतपोष को भी प्रोत्साहित किया है जो व्यक्ति का निर्लज्ज बना देता है।

अंग्रेजी राज के माध्यम में पड़ने वाले योरोपीय मघात के प्रभाव से जैसे अन्य संस्थाओं का रूपान्तरण हुआ है वैसे ही संयुक्त परिवार का भी रूपान्तरण संयुक्त परिवार हुआ है। पिछले दो सौ वर्षों में संयुक्त परिवार की गत्यात्मकता बन गई है। अंग्रेजी राज में होने वाले सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के कारण एक ओर, संयुक्त परिवार का परम्परागत सामाजिक आर्थिक आधार बदला और दूसरी ओर उसके कई पहलुओं में परिवर्तन आए। संयुक्त परिवार संरचना में प्रविष्ट होने वाली गत्यात्मकता और उसके अनेक कार्यों (Functions) में होने वाले परिवर्तनों के कारण संयुक्त परिवार के वर्तमान स्वरूप का विषय में दो प्रकार के मतों का अभ्युदय हुआ है। एक ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि आज संयुक्त परिवार विघटन और विभ्रम चल रही प्रक्रिया में है जिसके कारण, एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ रही है और दूसरी ओर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि संयुक्त परिवार की संरचना में विभ्रम चल रही रूपान्तरण हुआ है जिसके कारण परिवर्तित होकर भी संयुक्त परिवार वगैरह भारतीय सामाजिक संरचना का एक अंग है जम कि वह कभी था। हा यह अवश्य है कि आज संयुक्त परिवार की ऐतिहासिक गत्यात्मकता में निहित विभाजन प्रक्रिया (The Process of Division & Formation) अधिक तीव्र हो गई है और, अतः ही कारण से हुआ है योरोपीय संस्कृति का प्रभाव में परिवार के अनेक कार्य राज्य के हाथ में चले गए हैं और संयुक्त परिवार का नियमन जाति तथा ग्राम के हाथ में निकल कर राज्य के हाथ में चला गया है। विवाह उत्तराधिकार और तलाक सम्पत्ति अधिनियम जो भारत में राज्य द्वारा पारित किए गए हैं और राज्य द्वारा अपनाया जाने वाला परिवार-कल्याण कार्यक्रम (The Programme of Family and Child Welfare) सब प्रमाण हैं।

अंग्रेजी राज्य का यह जिन परिवर्तनकारी तत्वों ने संयुक्त परिवार को प्रभावित किया है वह हैं भारत की वर्तमान स्थिति, सामाजिक-व्यवस्था, औद्योगिकरण, सहरीकरण, प्रौद्योगिकी, पश्चिमी शिक्षा, परिवार का प्रभावित करने वाला विधि प्रणाली और पश्चिम के व्यक्तिवादी उत्तरवादी विचार तथा चरणारण्य। यह

पहल ही लिखा जा चुका है कि अंग्रेजी राज का सबसे व्यापक प्रभाव भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा जिसके कारण भारत में औद्योगिकीकृत, पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था का विकास हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था, जो अंग्रेजी राज के माध्यम से भारत में आई समष्टिवादी न होकर व्यक्तिवादी है। उसका आधार है व्यक्तिवादी प्रतियोगिता (Individualistic Competition) और वह सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) का जमजात न होकर अर्जित होती है। पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था में भूमि के स्थान पर, मद्रा का महत्व बढ़ा और कृषि के स्थान पर उद्योग और व्यापार का। साथ ही साथ, औद्योगीकरण के कारण नये नये बुद्धिजीवी वर्ग अस्तित्व में आये जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपना सकता है। कृषि-व्यवस्था में परिवार का एकमात्र आधार भूमि थी। मारी पग-भरचना कृषि व्यवस्था अभिराजित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Ascribed Status System) और जाति-भरचना की उच्चोच्च परम्परा (The Hierarchy of Caste Structure) का अधीन थी। ऐसी दशा में, व्यक्ति का आर्थिक-सामाजिक अस्तित्व का एकमात्र साधन परिवार ही रह जाता था। पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में, भूमि के आर्थिक महत्व के कम होने का तात्पर्य हुआ समुक्त परिवार के एक मुख्य आधार का कमजोर होना। अभिराजित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली के स्थान पर अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Achieved Social Status System) के विकास का अर्थ हुआ व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व का उस नये आधार का अस्तित्व जिस पर समुक्त परिवार और जाति का एकाधिकार न था। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जाति और परिवार पर आधारित थी किन्तु नयी सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में, व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार अपने प्रयत्नों के द्वारा अपना विनिष्ट स्थान बना सकता था। परम्परागत व्यवस्था में व्यक्ति को पेशे का चुनाव व्यक्ति का हाथ में न होकर परिवार और जाति के हाथ में था। किन्तु पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था में पेशे का चुनाव के व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता मिल गयी। इस प्रकार, अंग्रेजी राज के सघात से भारत की बरलती हुई आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति को जाति और परिवार के अधिकार से अपसृष्ट अधिक स्वतंत्रता मिली जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को अपनी इच्छा और योग्यतानुसार अपना सामाजिक आर्थिक जीवन ढालने की प्रेरणा मिली।

पश्चिमी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Western Scientific Technology) ने समुक्त परिवार का बड़े तरह से प्रभावित किया। प्रौद्योगिकी ने ही औद्योगीकरण बना जिसने भारत की नयी आर्थिक पग संरचना को जन्म दिया। प्रौद्योगिकी के ही प्रभाव से, भारत में औद्योगिक नगरों का विकास हुआ। औद्योगिक नगरों में सामाजिक आर्थिक जीवन का आधार कृषि न होकर व्यापार, उद्योग धंधे और वे वेने हैं जो कृषि पर ही आधारित न होकर उद्योग, नौकरियों (Services) और बस्तियों

(Professions) पर आधारित है। यातायात के साधनों ने, एक ओर, औद्योगिक शहरों के विकास को प्रोत्साहन दिया था, दूसरी ओर, औद्योगिक शहरों में मिलने वाले सामाजिक आर्थिक अवसरों से लाभ उठाने के लिए गांव से शहर की ओर के स्थानांतरण का उत्तेजना दी। स्थानांतरण का परिणाम होता है व्यक्ति पर स परिवार के अधिकार का कम होना और व्यक्ति को परिवार के अनुशासन से अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता मिलना। स्थानांतरण से बहुओं को भी सास के अधिकारपूर्ण अनुशासन से मुक्ति मिलती है। नौकरा पेशा लाया के लिए, विरोध या सरकारी नौकरियां में है स्थानांतरण स्वाभाविक सा हो गया है। बढ़ते हुए व्यवसाय और औद्योगिकीकरण के कारण गांव में बढ़ती हुई बेरोजगारी ने भी शहर की ओर स्थानांतरण का बड़ा हाथ दिया है। शहरी सामाजिक आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है और शहरी सामाजिक आर्थिक संरचना जाति तथा परिवार की ओर उन्मुख न होकर, व्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख है। शहरी सामाजिक पर्यावरण में अनामकता (Anonymity) का व्यापक प्रभाव रहता है जिससे, एक ओर, प्रभावों के कठिन अनुशासन में ढीलापन आता है और दूसरी ओर, व्यक्तिवाद का प्रोत्साहन मिलता है। शहरी पर्यावरण में व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक प्रभाव क्षेत्र के बाहर व्यतीत है जिससे व्यक्ति स्वातंत्र्य का भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

भारतीय विधि प्रणाली पर अंग्रेजी राज के सघात का वजन धरत हुए इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि अंग्रेजी राज में, एक ओर स्वीय विधि (Personal Law) को लक्ष्य बना दिया गया और, दूसरी ओर इंग्लैंड की विधि प्रणाली के आधार पर, भारत में सामान्य विधि (General Law) का निर्माण किया गया। जैसा कि इंग्लैंड का ठर्रा था भारत में भी सामान्य विधि को यथासंभव लागू बनाया गया और स्वीय विधि के निवचन में समष्टि के स्थान पर व्यक्ति और प्रथा को प्रधानता दी गई। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेज यायाधीशों ने विधानसभा और जीमूतवाहन के परिवार सम्बन्धी विधिविनिर्वाह का हिन्दू-परिवार का आधार मान लिया, यद्यपि ये विधिविनिर्वाह कई सी वषण के थे। इन दोनों विद्वानों ने दाहिने-बाहिने दृष्टिकोण से, हिन्दू परिवार का विधिक निवचन किया था, और दोनों का उद्देश्य था पारिवारिक समुक्तता और समष्टि के साथ व्यक्ति के मानसिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता का सामंजस्य बनाये रखना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दोनों विद्वानों ने पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्ति के अधिकार को माना है और यह भी माना है कि व्यक्ति अपने अधिकार (भाग) को परिवार की सम्पत्ति में से ले सकता है। किन्तु यह मानना उस समय की थी जब व्यक्ति ही जीवन का मुख्य आधार थी, जब एंगी पेशा संरचना (Occupational Structure) और सामाजिक चरित्रता होती थी जो जानि और परिवार के स्थान पर व्यक्ति का अर्थ बनती थी, जब स्थानांतरण की सम्भावना, वस्तुतः, नहीं बराबर थी और जब परिवार जीव जानि से

अलग व्यक्ति का सामाजिक अधिकार अस्तित्व ही नहीं था और यदि वही था भी तो स्यासत में। व्यक्ति के अधिकारों के रहत हुए थे, व्यक्ति में परिवार से बाहर रहने की प्रेरणा की कमी थी। किन्तु नया परिस्थिति में म पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्ति के अधिकारों के व्यक्तिवाद की निष्कर्षना से एक ओर परिवार विषयक मर्यादता की भावना का विकास हुआ उसकी समझौतावादी क्षीण हुई और दूसरी ओर, सम्पत्ति स्वामित्व और उपयोग के स्थान पर, पैतृक तथा पिता का सम्पत्ति में, पुत्र और बच्चा के निहित स्वार्थ (Vested Interest) की भावना का अभ्युदय हुआ। अंग्रेजी राज्य काल में, और उसके बाद भी दीवानी के मुकदमों की वृद्धि हुई तथा इसी का परिणाम है।

कपाडिया के अनुसार अंग्रेजों द्वारा स्थापित अदालतों में, हिन्दू विधि प्रणाली का जित रूप में प्रयोजन किया गया उसका ही परिणाम निकल—एक ओर व्यक्ति ने समुक्त परिवार में निहित अपने उत्तराधिकारों की उत्तरोत्तर भाग (Ascension) की जिम्मेदारी समुक्त परिवार की विभाजन प्रक्रिया तीव्रतर हुई और, दूसरी ओर अन्य परिस्थितियों के साथ साथ ऐसी परिस्थिति अस्तित्व में आई जिसने समुक्त परिवार के विभूतलन का प्राप्ताधिकार किया यद्यपि, भारत की आधारभूत सामाजिक व्यवस्थात्मकता की पृष्ठभूमि में, यह विभूतलन अधिक दूर न जा सका और समुक्त परिवार इसके आघात का सहता हुआ नयी परिस्थिति में अनुसार अपने को रूपांतरित कर सका। भारत में परिवार सम्बन्धी जिनकी विधियाँ का निर्माण अंग्रेजी राज्य काल और उसके बाद हुआ है उनमें, एक ओर, समुक्त परिवार के विभूतलन का और दूसरी ओर उसकी अतिजीवना और रूपांतरण को प्राप्ताधिकार मिला है। कपाडिया के अनुसार हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम (1929) और हिन्दू स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिनियम न समुक्त परिवार के विभूतलन की उस प्रक्रिया का पूरा करने में योग्य दिया है जो अंग्रेजी राज्य प्रणाली और नयी परिस्थितियों में, व्यक्तिगत भावनाओं की भाग के कारण अस्तित्व में आई थी। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम में वर्तों का सम्पत्ति में वर्तों के पितृवशी सम्पत्ति के अधिकार के समान उसकी पुत्री की पुत्री या उसकी पुत्री का पुत्री का अधिक प्राथमिक उत्तराधिकार मान लिया गया है। इसका फलस्वरूप यदि किसी वर्तों के पुत्र न हों तो उसकी सम्पत्ति उसकी पितृवशी सम्पत्ति के अन्तर्गत प्रयोजन या उसकी अनुपस्थिति में उसकी प्रपौत्री (पुत्र की पुत्री) या पुत्र या उसकी लड़की या लड़की का मिलती है।

हिन्दू स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिनियम (The Hindu woman's Right to Property Act 1937) का मुख्य उद्देश्य है निम्नलिखित पर हिन्दू स्त्री का उत्तराधिकार की सम्पत्ति में, अन्य उत्तराधिकारियों के समान, उत्तराधिकार का प्राथमिक अधिकार देना। सिद्धांततः, हिन्दू परिवार की मुख्य विशेषता की जीवित-

शप का सिद्धांत (The Theory of Survivorship) जिसका व्यावहारिक रूप यह था कि व्यक्ति परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति में से अपना भाग अलग कर सकता था यद्यपि कर्ता के साथ साथ, अथवा पितृवशी वंशज भी पारिवारिक सम्पत्ति का अधिकारी समझे जाते थे। किंतु हिंदू स्त्री को उसके पति का बराबर ही उत्तराधिकार का अधिकार देने से, परिवार का परम्परागत पितृवशी संयुक्त आधार समाप्त हो गया। वास्तव में यदि देखा जाय तो हिंदू स्त्री के वधानिक अधिकारों की मायता ने परिवार का परम्परागत संयुक्तता का बदलने में काफी योग दिया है। आज हिंदू स्त्री का पति और पिता दोनों की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है जिससे परिवार की परम्परागत पितृवशी संयुक्तता का ठम पड़ रहा है। आज, हिंदू स्त्री को तलाक का अधिकार प्राप्त हुआ है और तलाक के पहले अधिक पृथक्करण (Judicial Separation) की अवस्था में उस अपने पति की सम्पत्ति और आय में से भरण पोषण पान का अधिकार है जो संयुक्त परिवार की संयुक्तता के पितृवशी आधार का सैद्धांतिक निषेध है।

अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा योरोपीय संस्कृति के अनेक तत्वों ने भारतीय परिवार सम्बन्धी भावनाओं को प्रभावित किया जिससे भारतीय संयुक्त परिवार का रूपांतरण हुआ। उनमें सबसे मुख्य है स्त्री-पुरुष की समता का सिद्धांत। जिस काल में भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई उसी काल में इंग्लैंड में बालिग-मताधिकार का आन्दोलन चला। इस आन्दोलन में नारियाँ का मतानधिकार दिलाने का आन्दोलन काफी महत्वपूर्ण है। इस आन्दोलन के पत्र-स्वरूप जब भारत में सबधानिक सुधार आगे बढ़े तो नारियों का मतानधिकार दिया गया जिससे भारत की नारियाँ का वे राजनैतिक अधिकार अपने आन में मिल गये जिससे उन्हें योग्य की नारियों का आन्दोलन करना पड़ा था। शिक्षण कार्य करने वाली डाक्टरी स्टेनोग्राफी (Stenotyping) और वर्कर्स जैसे अनेक नारियाँ और नारी-मुक्ति पत्र-अस्तित्व में आए जिनके कारण नारियाँ के लिए उसी प्रकार वतनभागी सवालों के अवसर मिले जिनके द्वारा पुरुषों के लिये हुए थे। और नारियों को राजनैतिक तथा वधानिक अधिकार और दूसरी ओर उच्च जाति के स्वतंत्रता के अवसर मिले। तर्जित प्रियमन के उपकरणों में नारा का मातृत्व का मत भारती में सृष्टिवारा मिला जिसमें नारी का घर की चहारदीवारी के बाहर आन में मुक्ति हुई। जिस समय भारत का योग्य संप्रदाय प्रभावपूर्ण सम्पन्न स्थिति हुआ उस समय योरोप में स्थापना अंग्रेजी साहित्य में एक नार प्रवृत्ति की दृष्टि की विचारधारा चल रहा था और दूसरी ओर उत्तराधारी विचारधारा उत्तरवादी विचारधारा ने समता और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की भावना को प्रोत्साहित किया और प्रवृत्ति की दृष्टि ने उस स्वाभाविक और निबंध जीवन का अपना पर जो प्रवृत्ति में पाया जाता है। उत्तरवादी विचारधारा ने नर-नारी की समता की धारणा

का जन्म दिया और जीवन के प्रति प्रकृतितानी दृष्टिकोण न स्वतन्त्र स्वाभाविक और व्यक्तिगत प्रेम की धारणा को। इसी विचारधारा के प्रभाव में, यौन-तृप्ति का नर-नारी को उसी प्रकार की स्वाभाविक आवश्यकता बताया गया जस भूख और प्यास। विवाह का सामाजिक बंधन न कह कर स्त्री-पुरुष के बीच के स्वाभाविक प्रेम पर आधारित समन्वयता कहा गया। इन सभी विचारधाराओं का सम्मिलित प्रभाव हुआ नारी द्वारा स्वाभाविक प्रेम पर आधारित विवाह की मांग जिसने प्रेम विवाह और सिविल मरिज (Civil Marriage) की धारणा का जन्म दिया। उत्पन्न होने तथा प्रजातन्त्रवादी विचारों पर आधारित नर-नारी की समता और प्रेम विवाह सम्बन्धी विचार जितनी तेजी से बढ़े उतनी तेजी से परम्परागत सामाजिक मान्यताएँ नहीं बदली। परन्तु हमानी विचारधारा का जन्म हुआ जिससे उन्नीसवीं शताब्दी का अंग्रेजी साहित्य भरा पड़ा है और जो एक ओर, सामाजिक बंधन का प्रति विद्रोह की भावना है और दूसरी ओर एक सतत अतन्त्र अभिलाषा की अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी साहित्य विशेषतः कविता और उपन्यास से यही विचारधारा भारत में फैली। इस विचारधारा के प्रभाव में, भारत में जिस साहित्य की रचना हुई उसमें परिवार और जाति के बंधन से मुक्त व्यक्तिगत तथा स्वाभाविक प्रेम और नारी-स्वातन्त्र्य का ही मुख्य विषय बनाया गया। "सप्रकार" मध्य की शिक्षा के प्रभाव से, भारतीय नारी ने अपने सामाजिक जीवन और उसके आधारों का पुनरीक्षण किया और नयी व्यवस्था में मिलने वाली सुविधाओं के कारण समुक्त परिवार का नारी-सभार का छाड़कर, उस सभार में पदावली किया जहाँ नारी और पुरुष दोनों के और जहाँ परिवार में पति पत्नी के सम्बन्धों की प्राथमिकता दी गयी।

पारंपरिक मर्यादा के अनन्त सामाजिक जीवन के नियमों के पुनरीक्षण ने नर-नारी के सम्बन्धों का प्रभावित किया है और उसमें समुक्त परिवार की रचना में अन्तर आया है। सामाजिक जीवन के नियमों का पुनरीक्षण, एक ओर स्वयं नारियाँ न किया है और, दूसरी ओर सामाजिक नवजागरण के प्रणेतारों ने। इन पुनरीक्षणों और उनमें उत्पन्न हुए नए सुधारों का प्रारम्भ उस समय से होता है जब राजाराम माहन राय ने सती प्रथा का रोकना का आन्दोलन किया था। तब से विधवा विवाह विवाह विच्छेद बाल विवाह विरोध, प्रेम विवाह, अतन्त्रात्मक विवाह और देशव्यक्ति के निराकरण को एक ओर, बर्धनिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर इन समस्याओं के प्रति मनुष्य तथा जागतिक जनमत अनान का प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा फैलने वाली जागरूकता और नयी व्यवस्था में मिलने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता के कारण, नारियाँ न भी स्वातन्त्र्य ग्राम में बस ही भाग लिया जैसे कि पुरुषों ने। इन सभी प्रभावों के अनन्त नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती तथा उस परम्परागत मान्यता का सन्दर्भ हुआ जिसके अनुसार यह कहा जाता था कि बीमाय अवस्था में, नारी की रक्षा पितृ

की देखभाल और उनकी शिक्षा जीवन की एक मुख्य आवश्यकता हो गई जिससे, पारवाद की मातसत्तात्मक व्यवस्था के स्थान पर, पितसत्तात्मक एकाकी परिवार की मरचना को प्रोत्साहन मिला। नयी परिस्थितियों ने नायरो में पितसत्तात्मकता को प्रोत्साहित किया है। स्थानांतरण (Migration) से पितसत्तात्मकता की वृद्धि हुई है। आज यदि कोई नायर, नौकरी के कारण, किसी बड़े शहर में जाकर बसता है तो वहाँ वह अपनी स्त्री और बच्चा के साथ पितवशी एकाकी परिवार की स्थापना करता है और धीरे धीरे पति पत्नी दोनों अपने पक्के पारवा से दूर हो जाते हैं। आधुनिक समय में मातसत्तात्मक परिवार इसलिये विभाजित होता है कि नायरो में पितवशी एकाकी परिवारों को स्थापित करने की भावना का प्रभुत्व हुआ है और नयी परिस्थितियों ने इस भावना की व्यावहारिक सम्भावना को बढ़ा दिया है¹।

जिस प्रकार हिन्दू परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने व्यक्ति के अधिकारों का प्राथमिकता को परिवार में व्यक्ति का जन्मजात अधिकार मानकर उस विभाजन द्वारा अपने हिस्से का अलग करने की अनुमति दी वर्तमान अधिकारों पर रोक लगाई और नारी को अधिक अधिकार देकर उसकी पत्नीत्व की अधिक शक्ति और स्थायी बनाया, उसी प्रकार, भद्रास और मालावार में, नायर परिवार तथा विवाह सम्बन्धी अधिनियमों ने नायर-नारी के वैवाहिक अधिकारों का वैधिक मान्यता प्रदान की जिससे नारी का व्यक्तिगत व्यक्तित्व उभरा और उसकी पत्नीत्व अधिक वास्तविक और स्थायी हुआ कानदान के अधिकारों को कम किया और पारवाद को मिटाने में अविभाज्य न मानकर उसे तावजियों में विभाजित होने के लिये प्रोत्साहित किया। तावजी के बच्चों को कानदान की तावजी में उसी प्रकार उत्तराधिकारी माना गया जिस प्रकार पितवशी परिवार में किसी वर्तमान पिता की सम्पत्ति में उसकी लड़की और प्रपौत्रा का अधिकार रहता है। इसप्रकार नायर-परिवार में समुन्नत परिवार की उस भावना का उदय हो रहा है जो पितवशी परिवार में आज भी पायी जाती है। नम्बूद्री ब्राह्मणों की विवाह पद्धति में आने वाले परिवर्तनों से भी पारवाद में परिवर्तन आया है। पहले की भाँति आज एक नम्बूद्री परिवार का बड़ा भाई ही नम्बूद्री स्त्री से विवाह नहीं करता है। आज अब भाई भी नम्बूद्री स्त्री से विवाह करते हैं और यदि वे नायर नारी से विवाह भी करते हैं तो उस अपने साथ रखना पसन्द करते हैं। इस परिवर्तन से नायर-परिवार के मातवशी आधार में परिवर्तन आया है और उनमें पायी जाने वाली प्रभुत्व बहुपत्नित्व की प्रथा भी समाप्त हो गयी है। हाँ, नायर विवाह और परिवार में मातस्थानीयता (Matrilocality) की प्रथा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया

है¹ जिसका कारण निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता है कि नजदीक भविष्य में नगर परिवार वैसे ही पितृसत्तात्मक हो जायगा जैसा कि उत्तर भारत का परिवार है² ।

वर्तमान परिस्थितियाँ न मध्यम परिवार में विघटित पितृव्यी मध्यम परिवार में, दो प्रकार के सघनों का जन्म लिया है जिनके कारण मध्यम परिवार में विभाजन और विभूषण की प्रवृत्ति बढ़ गयी है। इन दो प्रकार के सघनों में एक का आधार आर्थिक (Economic) है और दूसरा का वैचारिक (Ideological)। शहर में रहने वाले लोग ने नये गाँव में रहने वाले सम्बन्धों की आर्थिक आवश्यकता को पूरा करना बटल गया है और यदि उन्हें ऐसा करना पड़ता है तो उन्हें माँगवार लगना है। लेकिन यह दया प्रवृत्ति उच्चवर्गीय मध्यमवर्ग के लोगों में है। भारत के शहरों में कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का एक बड़ा भाग परिवार की सहायता करने या पारिवारिक कृषि के आर्थिक धन का समालोचन के लिये हो, शहर में नौकरा करने आता है। अनेक शोध कार्यों से यह पता चला है कि आर्थिक सघन न अभी तक वह गम्भीर रूप नहीं लिया है जितना कि साधारणतः समझा जाता है। कपाड़िया के 'गोपकाय' में सतालीस प्रतिशत एम स्लोग मिले जो अपने मध्यम परिवार का आर्थिक भार वहन करते हैं और उस सतालीस प्रतिशत में, दो तिहाई लोग एम हैं जो इस उत्तरदायित्व के प्रति निराश्रित नहीं करते हैं³। हाँ, यह अवश्य है कि अपनी कमाई हमी सम्पत्ति का तन्त्र अपने इच्छानुसार खर्च करना पसन्द करता है। वैचारिक सघन की समस्या, समयानुसार अवश्य गम्भीर हो गयी है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य विचार, दबदबा होता हुआ एकान्ती परिवार का आर्थिक आधार तथा पश्चिमी शिक्षा और उससे उत्पन्न जीवन शैलियों ने इस सघन के बढ़ाने में योग दिया है।

नयी परिस्थितियाँ में, तन्त्राई और बाधक का सघन गुरु हुआ और नयी परिस्थितियाँ में निहित व्यक्तिवादी प्रवाहों के कारण, तन्त्राई का प्राथमिकता मिली। नयी पीढ़ी के लोग ने पुरानी पीढ़ी के लोगों से उदारवादी व्यवहार का माँग की। शिक्षा और आर्थिक स्वातन्त्र्य मिलने के कारण नारी ने उदारवादी व्यवहार की अधिक माँग की। पुरुष का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक उदारवादी हो गया

1 कपाड़िया, के० एम० मरिज एण्ड फेमिला इन इण्डिया पृष्ठ 273-275

2 जहाँ तक कि पारिवारिक सत्ता के प्रयोग और उपयोग का सम्बन्ध है, कान्दान की अब भी वही प्रतीक्षा है। पिता ने बानवान का स्थान न तो सिद्धान्त-लिया है और न व्यवहार में—कपाड़िया वही पृष्ठ 279

■ वही पृष्ठ 270

है किंतु नारी का नहीं हो पाया जिसके कारण सास बहू के रूप में नारियों में वैचारिक संघर्ष अधिक पाया जाता है। कपाडिया द्वारा उद्धृत वे० टी० मर्चेण्ट के अध्ययन से यह विदित होता है कि पुरुषों की अपेक्षा नारियाँ संयुक्त परिवार प्रथा में अधिक विरोध में हैं।

संयुक्त परिवार में होने वाले इन अनेक परिवर्तनों के कारण, वर्तमान भारत के शिक्षित वर्ग में साधारणतः यह माना जाता है कि घमण्जी राज तथा विधवाटनवादी योरोपीय प्रभाव के सघात से, भारत में, संयुक्त परिवार का मत की समीक्षा विघटन हो गया है और शीघ्र ही वह भारतीय सामाजिक मण्डल से लुप्त हो जायगा। इसी वर्ग के अधिकतर लोगों की यह भी मान्यता है कि संयुक्त परिवार प्रथा आयु को प्राथमिकता देने तथा व्यक्ति को व्यक्तिगत विचार तथा व्यवहार स्वातंत्र्य न देने के कारण, अप्रजातन्त्रीय है। अतः, उसकी समाप्ति होनी ही चाहिये। पानिकर के अनुसार, नारियाँ द्वारा सामाजिक जीवन के मिठावता का पुनरीक्षण वर्तमान हिंदू समाज के लिये एक महान्तम चुनौती है जिसका परिणाम है संयुक्त परिवार, जाति और ग्राम जसी समष्टिवादी संस्थाओं का स्वाभाविक विघटन। संयुक्त परिवार का विघटन पुच्छ के अनुसार, वर्तमान भारत के सांस्कृतिक इतिहास में, पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न गत्यात्मक परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रारम्भ है और किसी के अनुसार भारतीय संयुक्त परिवार एक चक्रिक मण्डल विघटन प्रक्रिया में होता हुआ आज पुनः विघटन की ओर उन्मुख हो रहा है¹।

उनीसवीं शताब्दी के जनगणना विवरण में प्रस्तुत आंकड़ा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारत में छोट आकार की गृहस्थियों (Households) का अधिकतम अनुपात का पाया जाता इस बात का प्रमाण है कि आज भारतीय परिवार उस रूप में संयुक्त परिवार नहीं रहा जिस रूप में वह परम्परागत रूप से पाया जाता रहा है और आज, संयुक्त परिवार से अलग होकर एक अलग गृहस्थी संरचना की प्रवृत्ति अधिक है। जनगणना विवरण के इस निष्कर्ष को समझने के लिये उसमें प्रस्तुत आंकड़ा की व्याख्या आवश्यक है। जनगणना में गृह (House) और गृहस्थी (Household) को अलग अलग इकाइयाँ माना गया है। गृह में तात्पर्य है उस भवन का जिसमें लोग रहते हैं और यदि एक भवन कई भागों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक भाग का एक अलग प्रवेश द्वार है तो एक भवन का कई स्वतंत्र गृहों में बाँटा हुआ मान लिया गया है। गृहस्थी में तात्पर्य है उस मानव-समूह से जिसके सम्पूर्ण एक साथ रहने हैं और एक ही रसोई में भोजन करते हैं। इस प्रकार, जनगणना के लिये गृह और गृहस्थी की अलग अलग परिभाषायें की गई हैं। इस

दृष्टिकोण से, एक भवन में, कई गृह हो सकते हैं और एक गृह में कई गृहस्थियाँ बनाई गई हैं। गृहस्थी का आधार रसाई (चूल्हा) और सम्मिश्रित वासस्थान है न कि पारिवारिक सम्बन्ध।

सदस्य-संख्या (आकार) के आधार पर गृहस्थियों को चार श्रेणियों में बांटा गया है—लघु (Small जिनकी सदस्य संख्या तीन तक है) मध्यम (Medium जिनकी संख्या चार से लेकर छ तक है) बृहत् (Large जिनकी सदस्य-संख्या सात से लेकर नौ तक है) और अति बृहत् (Very Large जिनकी संख्या नौ से अधिक है)¹। जनगणना के विवरण में दिए आँकड़ों के अनुसार, एक सामान्य भारतीय ग्राम में तत्सीय प्रतिजन और शहर में अत्यन्त प्रतिशत गृहस्थियाँ लघु आकार की हैं जो इस बात का प्रमाण है कि भारतीय परिवार की संयुक्तता समाप्त हो रही है। किन्तु उसी जनगणना में ही दो हज़ार एक सौ सारिणी² से इस निष्कर्ष का खण्डन होना

1 सम्पूर्ण सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 6

गृहस्थियों की संख्या

	सामान्य ग्राम में	सामान्य शहर में
लघु (Small)	33	38
मध्यम (Medium)	44	41
बृहत् (Large)	17	18
अतिबृहत् (Very Large)	6	5
	100	100

2 यह सारिणी इस प्रकार है —

सारिणी 7

	गृहस्थों में पाए जाने वाले सम्बन्ध	सभी गृहस्थियों की संख्या
अ	गृहस्थियों के प्रमुख { पुरुष (विवाहित) पुरुष (विधुर) नारी	71
		19
		10
		71
	गृहस्थियों के प्रमुखों की पत्नियाँ	171
ब	गृहस्थियों के प्रमुखों के पुत्र	108
	गृहस्थियों के प्रमुखों की पुत्रियाँ	81
		189
स	गृहस्थियों के प्रमुखों के पुरुष सम्बन्धी (पुत्री के अलावा)	18
	गृहस्थियों के प्रमुखों के नारी सम्बन्धी (पुत्रियों के अलावा)	72
		120

है। दूसरी सारिणी में सौ गृहस्थियों के कुल सदस्यों के पारिवारिक सम्बन्धों का वर्गीकरण किया गया है। सौ गृहस्थियों की कुल सदस्य संख्या है चार सौ सत्तासी जिसमें सात ऐसे सदस्य हैं जिनका गृहस्थी के प्रमुख से सम्बन्ध अज्ञात है। शेष चार सौ अस्सी में एक सौ इकहत्तर गृहस्थियों के प्रमुख (Heads) और उनकी पत्नियाँ हैं, एक सौ सदस्य नवामी प्रमुखों के पुत्र और पुत्रियाँ हैं और एक सौ बीस ऐसे पुरुष तथा स्त्री हैं जो प्रमुख के सम्बन्धों से हैं किन्तु वे प्रमुख की पुत्रियाँ हैं और न उनके पुत्र। इस सारिणी से यह स्पष्ट होता है कि सौ गृहस्थियों में लगभग एक चौथाई ऐसे सदस्य हैं जो गृहस्थी के प्रमुख पर निर्भर हैं किन्तु वे उसका पुत्र या पुत्रियाँ नहीं हैं। यह एक चौथाई सदस्य निश्चय ही के सम्बन्धों में हैं जो समुक्त परिवार के भीत में आते हैं। इस प्रकार, जनगणना विवरण (19०1) में समुक्त परिवार के वर्तमान स्वरूप के विषय में निकाले गये निष्कर्षों में विरोध है। जनगणना विवरण (19०1) में जहाँ इस निष्कर्ष का उल्लेख किया गया है कि भारत में समुक्त परिवार समाप्त हो रहा है वहीं इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि दुर्भाग्यवश पिछली जनगणनाओं में ऐसी सूचना नहीं है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि लघु गृहस्थियों का अनुपात बड़ा है या नहीं। भारत के विभिन्न भागों में लघु आकार की गृहस्थियाँ किस अनुपात में हैं यह भी निर्धारित नहीं किया जा सकता है¹। इससे यह स्पष्ट है कि स्वयं जनगणना विवरण का लक्ष्य जनगणना में निकाल गए निष्कर्ष के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता है। केवल गृहस्थियों के आकार के आधार पर यह नहीं निर्धारित किया जा सकता है कि भारत में परिवार की समुक्तता समाप्त हो रही है या नहीं।

उत्तम सौ इक्यावन के जनगणना विवरण में जो आंकड़े दिए गए हैं उनमें कई कमियाँ हैं। उनका पहली कमी यह है कि वे परिवार की गलत परिभाषा पर आधारित हैं। परिवार केवल सम्मिलित वास्तविक और रसाई पर ही आधारित नहीं है—परिवार का मुख्य आधार है परिवार में पाए जाने वाले सम्बन्ध और उनमें निहित विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य। जनगणना में केवल आकार पर ही ध्यान दिया गया है और आकार परिवार का अन्तर्विरोधताओं में से केवल एक विशेषता है जिसके आधार पर ही समुक्त परिवार का स्वरूप नहीं निर्धारित किया जा सकता है। जिस आधार पर जनगणना में गृहस्थी का स्वरूप माना गया है उस आधार पर वे मजबूत भी एक गृहस्थी में गिने जायेंगे जो एक ही

■ गृहस्थियों के प्रमुखों के गैर सम्बन्धों	५ पुत्र ८ नारियाँ	4
		3
		7
		487

या अग्य अग्य स्थाना से आय है किन्तु एक ही कामस्थान में रहते हैं और एक ही चौके में सोना खाते हैं यद्यपि वे एक परिवार के नहीं हैं। दूसरे, जैसा कि पहले से होता आया है, परिवार विभाजन के कारण कई चौके के बनने का जय यह रही है कि समुक्त परिवार बरतुन गूट गया है। चूल्हा बट जान के बाद भी परिवार की समुक्तता बनी रहता है क्योंकि समुक्त परिवार वस्तुतः, एक व्यावहारिक सामाजिक प्रयोग है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जो कि विवाह, मृत्यु पंच आर त्योहार के अवसर पर, परिवार की समुक्तता तब उभर आती है जो विभाजित परिवार के सदस्य एकसाथ एकत्र होते हैं और अपना पितृवशी समुक्तता का प्रदर्शन करते हैं। वास्तव में जैसा कि पहले हुआ है आज भी जाति अन्तर्बहिर्जाति परिवार की समुक्तता को रोक हुआ है क्योंकि जाति अन्तर्बहिर्जाति के कारण, जाति एक विस्तृत सम्बन्धिका (Extended kin Group) हो जाता है जिसमें विभिन्न मानवशी या पितृवशी पारिवारिक समूह का स्वतः महत्ता मिल जाती है। यही कारण है कि जानि व्यवस्था में उस यज्ञि का विवाह एक समस्या है जो एकसाथ एक जानि और एक समुक्त परिवार का विविक्त सदस्य नहीं है। जिस व्यक्ति (मुख्य अथवा स्त्री) के पारिवारिक सम्बन्धिका के विस्तार का ठीक ठीक पता नहीं वह सामाजिक मर्यादाओं के अनुसार अवरोधित है। तब, इन आकड़ों से यह पता नहीं चलता है और न जनगणना में इसका जानन का प्रयत्न ही किया गया है कि किस आकार वाली गृहस्थी में भारतीय जनसंख्या का क्या प्रतिशत पाया जाता है। बहुत सम्भव कि यदि आकड़ इकट्ठा किये जाय तो उनसे यह पता चले कि भारतीय जनसंख्या का अधिकतम अनुपात उन्ने आकार वाली गृहस्थी में रहता है। चौथे न आकड़ा से जो यन्त्र स्थिति निकलती है, वह वास्तविक नहीं है। उदाहरणार्थ, जनगणना के आकड़ों के अनुसार, भारत के एक साधारण गांव में प्रत्येक तीसरे परिवार की सम्पत्ति-संख्या तीन से अधिक नहीं है, अर्थात् एक तिहाई परिवारों की सम्पत्ति केवल एक से लेकर तीन तक है। यह स्थिति असम्भव भी लगती है और, इसकारण, इन आकड़ों का प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

ये आकड़े, वास्तव में दायपूर्ण जनगणना का परिणाम हैं। सम्मिलित चूल्हा और कामस्थान के आधार पर, जनगणना में जिस समूह का गृहस्थी मानकर उसको परिवार का प्रतीक मान लिया गया है वह समूह वस्तुतः परिवार का प्रतीक नहीं है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार न तो कबल आधार में समायोजित है न सम्मिलित कामस्थान में और न सम्मिलित सम्पत्ति के स्वामित्व में। इन सभी विषयों के साथ-साथ, समुक्त परिवार मूलतः समायोजित है भारत के परम्परागत पारिवारिक सम्बन्ध-जाल, परिवार के सदस्यों की परम्परागत पारस्परिक सामाजिक भूमिकाओं (Social Roles) उनके पारस्परिक अधिकारों (Rights) और दायित्वों (Obligations) में तथा उन सबको मनीषित्व में, जिनके कारण, एक मातृव

अथवा पितृवंश के सदस्य, अपने सम्बन्धों में सामीप्य का अनुभव करते हुए, सुगठित सामाजिक इकाई के रूप में रहते हैं।

हाल में किए गए समाजशास्त्रियों के अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि आज भी संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक संगठन का अंग है और आज भी भारतीयों के व्यवहार तथा उनकी मनोवृत्तियों में संयुक्त परिवार संरचना का प्रभाव बना हुआ है। के० टी० मर्चेंट के तथा अपने अध्ययनों का हवाला देते हुए कपाडिया¹ ने लिखा है कि उच्च शिक्षा से संयुक्त परिवार का विघटन नहीं हुआ है। सूरत जिले के नवसारी शहर और उसके आसपास पंद्रह गांवों में पाए जाने वाले परिवारों की संरचना का विश्लेषण करते हुए कपाडिया ने लिखा है कि शहर और गांव में संयुक्त तथा एकाकी परिवारों की संख्या लगभग बराबर है किंतु यदि पारिवारिक जीवन के ढंग (Pattern) के दृष्टिकोण से जांच की जाए, तो पता चलता है कि अध्ययन के लिए जिन लोगों में सम्पर्क स्थापित किया गया था, उनका अधिकतर प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहता है। कपाडिया के निष्कर्ष के अनुसार, आज एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ गई है, परिवार का आकार पहले की अपेक्षा कम हो गया है और सम्मिलित वामस्थान, सम्मिलित रसाई तथा सम्मिलित सम्पत्ति वाला तीन

-
- 1 के० टी० मर्चेंट ने 1930-32 में परिवार सम्बन्धी मनोवृत्तियों में आने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया था। उसके अनुसार अध्ययन के लिए, जिन चार सौ छात्रापीठ स्नातकों (Graduates) से सम्पर्क स्थापित किया गया था उनमें से दो सौ सत्तर संयुक्त परिवारों में रहते थे और एक सौ पचास एकाकी परिवारों में। संयुक्त परिवारों में रहने वालों में से, एक सौ उनोस इसके पक्ष में थे और एक सौ एक उसके विपक्ष में। एकाकी परिवारों में रहने वाले लोगों में सत्तासीस संयुक्त परिवार के पक्ष में थे और तेईस विपक्ष में। एक सौ तीरौवन गैर स्नातकों (Non Graduate) में उसठ संयुक्त परिवार में रहते थे और बहत्तर एकाकी परिवारों में और संयुक्त परिवार निवासियों में सत्ताइस इसके पक्ष में थे, बीस विपक्ष में और दस अनिर्दिष्ट। अध्ययन के लिए जिन व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया गया था, उनका छप्पन प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहता है और कुल का 43.2 प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहने के पक्ष में था। गैर स्नातकों की अपेक्षा स्नातकों (Graduates) में संयुक्त परिवार में रहने वालों की संख्या अधिक थी। कपाडिया के एक अध्ययन के अनुसार पांच सौ तेरह स्नातकों में 57.3 प्रतिशत संयुक्त परिवार में रहते थे और संयुक्त परिवार निवासियों में 86 प्रतिशत में संयुक्त परिवार को वांछित माना और 83.3 प्रतिशत ने उसे बनाए रखने की इच्छा प्रकट की—कपाडिया यही पृष्ठ 2,9 60

पीढ़ी का समुक्त परिवार बहुतायत से नहीं मिलता है फिर भी, एकवर्गी व्यक्तियों और उनके परिवारों में भावनात्मक समुक्तता बना दूयी है। जहाँ समुक्त परिवार के विभाजन से सम्पत्ति बंट जाता है और इस प्रकार अस्तित्व में आये हुए एकाकी परिवारों के सदस्य अलग अलग खाने बसाते और रहने हैं वहाँ भी परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सत्याग अप्रियार और दायि बों (Obligations) के द्वारा समुक्तता बनी रहती है। जहाँ विवाह मात्र था वह अब और व्यापक ऐसे अवसर है जहाँ एक ही वर्ग में उत्पन्न परिवार के सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं। जहाँ, एक परिवार के सदस्य कई सौ परिवारों में बँटकर बसे गावा में बँट जाते हैं वहाँ भी किसी एक परिवार में मानवान् प्रत्येक को समुक्त के समय सभी परिवारों के साथ एकत्र होते हैं और उसका कृति प्रत्येक परिवार का एक व्यक्ति अपना सिर मुड़वाता है। इस प्रकार समुक्त परिवार जाति का आधार प्रदान करता है और जाति समुक्त परिवार का।

प्राइड १५० के माई के अनुसार, जनगणना के आकड़ा से निकलने वाले निष्कर्ष और वास्तविकता में अंतर है और उसका प्रधान कारण है जनगणना प्रवक्ता की समुक्त परिवार प्रियतम गणन धारणा। व्यक्ति का परिवार की सम्पत्ति में और परिवार में अलग मान का अधिकार अमेजी राज की स्थापना के बहुत पहले में प्राप्त है। फिर भी समुक्त परिवार टूट नहीं बल्कि निरंतर बनता और बिगड़ता रहा। आज भी भारतीय सामाजिक समूहों में बगैर कुल और कुटुम्ब जैसी एकवर्गी सम्पत्ति टुकड़ियाँ (Unilateral kin groups) हैं जिन पर व्यक्ति निर्भर है और परिवारवाद में उन्नी के आने से होता है। भारत में सामाजिक सुरक्षा का वायव्य अब भी उन अवस्था में नहीं पहुँचा है कि व्यक्ति समुक्त परिवार से पूर्णतया अलग हो जाय। मडलबाम के अनुसार आज से तथा बल्कि अत्यन्त प्राचीन काल से समुक्त परिवार विभाजित होता रहा है किन्तु फिर भी, उसकी समुक्तता बनी रही है।

सामाजिकशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मान्यता निम्नलिखित है कि जिस प्रकार वर्तमान धाराय में औद्योगीकरण गृहीकरण और स्थानान्तरण में उत्पन्न शक्तिशाली नए एकाकी परिवारों का जन्म मिया है और परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता का घट कर दिया है वैसे ही भारत में यथा परिवर्तनकारी शक्तिशाली समुक्त परिवार का विघटन कर रहे हैं। समान परिवर्तनकारी शक्तियाँ दो विभिन्न समाजों में समान परिवर्तन को ही जन्म नहीं देती हैं। योरोप की औद्योगिक और औद्योगीकरण का अपना करक भी जापान धाराय की प्रतिकृति नहीं बना। सामाजिक परिवर्तन परिवर्तनकारी शक्तियाँ के अलावा उन शक्ति पर अधिक निर्भर करता है जिनके साथ परिवर्तनकारी शक्तियाँ का प्रभाव किसी प्रसंग पर पड़ता है। यदि परिवर्तनकारी शक्तियाँ तेजी से जाती हैं तो समाज परिवर्तन होना है। यदि परिवर्तनकारी शक्तियाँ धीरे धीरे जाती हैं तो सहस्र परिवर्तन के स्थान पर धीरे धीरे रूपान्तरण

जाता है। भारत में मनुकुन परिवार का विघटन न होकर रूपांतरण हुआ है।

भारत में औद्योगीकरण, गहरीकरण और स्थानांतरण जैसी परिवर्तनकारी शक्तियाँ का प्रवेश धीरे-धीरे हुआ है। इसी कारण, भारत की सामाजिक संस्थाएँ, एक जोर रूपांतरित हुयी हैं और दूसरी ओर ये परिवर्तनकारी शक्तियाँ और उनसे उत्पन्न हानि वांछित सामाजिक परिवर्तन भारत की संस्थाओं पर प्रभावित हुआ है। जैसा कि योरापीय प्रभाव से आर्थिक समस्याओं में हानि वाले परिवर्तन का वर्णन करते समय लिखा गया है जैसी राज में भारत का औद्योगीकरण हुआ ता है कि तु धीरे-धीरे। इसी कारण भारत में गहरीकरण की मात्रा ता कम रही है किन्तु गहरा का विकास सहसा हुआ है जिससे ग्रामीण जीवन की अनेक विपत्तियाँ गहरी संगठन में समा गईं। कृषि आर्थिक व्यवस्था, जाति प्रथा, बाल विवाह प्रथा निम्ना की कमी भाषा तथा संस्कृति की भिन्नता और उत्तराधिकार के नियमों के कारण भारत में स्थानांतरण और आंतरिक चरित्रगुता (Internal Mobility) अपेक्षाकृत कम रही है। फलतः भारत के कारखानों में काम करने वाले सैकड़ों हजारों मजदूर अपने गाँव और परिवार में बंधे रहे हैं। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का परिवार की खेती और सम्पत्ति में प्रभिनार रहता है। जाति अंतर्बैधात्मिकी के कारण विवाह के लिए प्रत्येक व्यक्ति का अपने गाँव और बग़िचा में गैटकट आना पड़ता है। भारत में गाँव से शहर की ओर होने वाला स्थानांतरण योरोप से भिन्न रहा है। ऐसा देखा गया है कि बहुधा परिवार पर हा जाने वाले बच्चे का खुदाम के लिए या पारिवारिक कृषि की पूँजी सम्बन्धी समस्या का हल करने के लिए परिवार का एक व्यक्ति शहर जाकर नौकरी या व्यवसाय करता है। ऐसा भी देखा गया है कि यदि एक परिवार में तीन भाई हैं ता वे बारी-बारी से शहर जाकर काम करते हैं और घर पर रहने वाले व्यक्ति कृषि का काम किया करते हैं। भारत में, व्यक्ति का शहर का ओर स्थानांतरण ता हुआ है किन्तु व्यक्ति के साथ साथ उसके गाँव और जाति का भी शहर में स्थानांतरण हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक शहर में एक क्षेत्र विगप में घाए हुए व्यक्ति बहुधा एक जाति विगप में हैं और वे एक ही पेश में लग रहते हैं। दहशदून का एक चमार जाति (शाम) के सम्बन्ध विजनीर के आस पास में जाते हैं और दूसरी जाति (जाट) के सम्बन्ध ग्वालियर के आस पास में। उनके साथ साथ उनकी जाति पचायत भी जाइ है और विवाह तथा उत्तराधिकार नियमों के साथ-साथ संपूँर्ण परिवार के आधार भी।

५

भारत में मुस्लिम परिवार

जातीय मुस्लिम-परिवार के संगठन में एक ओर में दोज और दूसरी ओर से उन इस्लामी सामाजिक तत्वा का संगठन हुआ है जिनका कुशन और परम्परा

(Tradition) के आधार पर निरूपण हुआ है। किंतु, जसा कि डिमाम्बीस न कहा है, यह समझना भूल हागी कि मुस्लिम परिवार के सामाजिक तत्वों का निर्माण और निरूपण मुहम्मद ने ही किया है। मुस्लिम परिवार की सामाजिक स्वरूपों वस्तुतः उस प्राचीन अरब परिवार पर आधारित हैं जिसे हजरत मुहम्मद ने एक उच्चतर मजद्वबी ढांचे में लाने का प्रयास किया था। इस्लाम के अम्युदय के पहले का अरबी सामाजिक संगठन गणजातियों (Tribes) में विभक्त था। ये गणजातियाँ निरंतर आपस में लड़ती रहती थीं। गणजाति (Tribe) के सामाजिक जीवन का केन्द्र था परिवार। निरंतर युद्धतर सामाजिक जीवन की आवश्यकता थी परिवार में पुरुषों की अधिकता क्योंकि पुरुषों की अधिकता से ही सुरक्षा और अतिजीवित (Survival) सम्भव था। इसी आवश्यकता के कारण, एक ओर प्राचीन अरब परिवार में कयाआ को जीवित गड़दने की प्रथा का अम्युदय हुआ था और दूसरी ओर परिवार की समस्या बढाने के लिए बहुपत्नीत्व की प्रथा का। इस्लाम के पहले अरब में मातसत्तात्मकता और पितसत्तात्मकता की प्रणालियाँ पायी जाती थीं यद्यपि मुहम्मद के समय, पितसत्तात्मकता का प्रभाव प्रधान होन लगा था। हजरत मुहम्मद ने कयाआ और जिदा गान् की प्रथा की भत्सना की, बहुपत्नीत्व को चार पत्नियाँ तक सीमित कर दिया और पारिवारिक संगठन का पितसत्तात्मक बनाया। मातसत्तात्मकता और मातवसीयता (Matriline) के कारण अरबों में नायबों की भाँति, अभातक बहुपत्नीत्व पाया जाता था जो इस्लाम के प्रभावा के अंतगत समाप्त हुआ। मुस्लिम परिवार विनैपत अरबी मुस्लिम परिवार में मातुल (मामा खाल) की जो महत्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है वह मुस्लिम परिवार के प्रारम्भिक मातसत्तात्मक आधार का ही प्रमाण है¹।

इस्लामी प्रभाव में प्राचीन अरब के बन्दू परिवार के आधार पर मुस्लिम परिवार के जिस संगठन का अम्युदय हुआ है वह पितसत्तात्मक (Patriarchal) पितवसी (Patrilineal) और पितस्थानीय (Patrilocal) परिवार है यद्यपि इस्लाम के प्रसार में देश-देश की स्थानीय परिस्थितियाँ ने उस प्रभावित किया है। परिवार का कर्ता पुरुष होता है। परिवार के कर्ता का परिवार उसकी सम्पत्ति, पत्नियाँ और उनकी सत्तानों तथा परिवार के गुलामा (Slaves) पर पूर्ण अधिकार रखता है। यदि यह मिट्ट हो जाय कि कोई सत्तान कर्ता की सत्तान नहीं है तो उस पर उस पत्नी का अधिकार होता है जो उस सत्तान का वास्तविक पिता होता है। इस्लाम के सिद्धांत के अनुसार, गुलाम का भी अपने कर्ता की सम्पत्ति में हिस्सा

1. गाडीक्राय, डिमाम्बीस मुस्लिम इस्टीमेट्स पृष्ठ 127। गुस्तेरी, ए० एम० ए० आउटलाइस आफ इस्लामिक कल्चर पृष्ठ 510

मिलता है और यदि कोई स्वतंत्र गुलाम लावारिस मर जाय तो उसकी सम्पत्ति को उसके कर्ता का मिलने का विधान है। गुलामों के साथ साथ, परिवार में रखेली पत्नियाँ (Concubines) का भी स्थान है। रखेली पत्नी की सत्ता का कर्ता की सम्पत्ति में उतना ही उत्तराधिकार है जितना कि व्याही स्त्री या स्त्रियाँ की सत्ता में अथवा सत्ताना का। हजरत मुहम्मद के एक आदेशानुसार 'सत्ता पर उसका माँ बाप का अधिकार है। तुम्हारा उन पर अधिकार है और उनका तुम पर। उन्हें तुम्हारे प्रति बफादार रहना चाहिए और तुम्हें उनके साथ दयापूर्ण प्रेम का व्यवहार करना चाहिए'। कर्ता के लिए सभी सत्तानें समान हैं। पुष्प कर्ता, इस्लाम की मायताजा के अनुसार, परिवार का पापक है। अतः, उसके उत्तरदायित्व के साथ साथ, उसके अधिकार भी, औरों की अपना अधिक है। किन्तु साथ ही साथ नारी का भी परिवार समूह में प्रमुख स्थान मिला हुआ है¹। मुस्लिम परिवार को सबसे बड़ी विशेषता है स्त्री का मिलने वाला द्विपक्षीय उत्तराधिकार और बयवितक सम्पत्ति का अधिकार जो कपाडिया के अनुसार, अरबी नारी के मातसत्ताधी विभाधिकारों का, इस्लाम की पितृसत्तात्मक परिवार संरचना में, ऊर्ध्वगामी विकास है²।

इस्लाम में प्रतिपादित उत्तराधिकार के नियमों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुस्लिम परिवार का केन्द्र कर्ता, उसकी स्त्रियाँ (व्याही और रखेली) और उनकी सत्तानें हैं³। यद्यपि साथ ही-साथ गुलामों तथा सत्तानों के अतिरिक्त अन्य वंशजों (Descendants) जीवित पूर्वजों (Ascendants) और पितृवशी सम्बन्धियों (Collaterals) का उत्तराधिकार दकर परिवार के विस्तृत रूप का भी स्वीकार किया गया है। इस विस्तार का आधार मुख्यतः, पितृव्य और पितृसत्तात्मकता है। इसका प्रमाण है पिता की सम्पत्ति में बहिन भाइयों का मिलने वाला उत्तराधिकार। मुस्लिम परिवार की संरचना में निहित पितृसत्तात्मकता का पता इस बात में चलता है कि, एक ओर, पिता की सम्पत्ति में भाई बहिनों को उत्तराधिकार मिला हुआ है किन्तु दूसरी ओर, बहिनों को भाइयों के हिस्से का आधा भाग मिलता

1 गुस्तेरी, ए० एम० ए० वही पृष्ठ 500

2 इस्लाम के विधायियों की यह भायता है कि इस्लामी विधि (Law) और परम्परा (Tradition) से पति को पत्नी और सत्तानों पर निरपेक्ष (Absolute) अधिकार मिलता है और पति का स्तर पत्नी की अपेक्षा उच्चतर (Superior) है— डिमाम्बोस वही पृष्ठ 132

3 कपाडिया, के० एम० वही अध्याय 9

4 गादीक्रयाय डिमाम्बोस के अनुसार असली सत्तानें वही हैं जो सोहागरात (Dusl Consumption of Marriage) के छ महाने बाद या उनके विच्छेद (Dissolution) के चार साल तक उत्पन्न हो वही पृष्ठ 136

है। कता की सम्पत्ति में उसके पुत्र अथवा पुत्रों का प्रत्यक्ष उत्तराधिकार है और उसकी लड़की अथवा लड़कियों का पुत्र अथवा पुत्रों के हिस्से का आधा भाग मिलता है। पुत्रों की मर्यादा जितनी ही अधिक होती है लड़कों का भाग उतना ही कम हो जाता है। यदि कता के एक ही पुत्र हो तो लड़की का कता की सम्पत्ति का एक तिहाई भाग मिलता है और यदि दो लड़कें हों तो पांचवां भाग। लड़का के हिस्से में आने वाला भाग कता की लड़कियों में उनकी मर्यादानुसार बराबर रखा जाता है।

हिमाचलीस के अनुसार इस्लामी उत्तराधिकार विधि (Law of Inheritance) कुरान द्वारा प्रतिपादित हुयी है और कुरान में प्राचीन अरब की उत्तराधिकार विधि का अपना लिया गया है। अन्तर इतना है कि प्राचीन अरब में पितृवशी उत्तराधिकार को प्राथमिकता मिलती थी जबकि कुरान में नारी का भी उत्तराधिकार दिया गया। फिर भी, इस्लामी विधि (Muslim Law) में उत्तराधिकार की प्राथमिकता पितृवश (Paternal Line) में ही है। पितृवश में पुरुष (अदब) और लड़कियाँ (अदवान) आते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार एक बार स्त्रोभाविक उत्तराधिकारी आते हैं और दूसरी बार विधाय उत्तराधिकारी (Privileged Inheritance) जिन्हें कता की सम्पत्ति में से एक निश्चित (Fixed) हिस्सा मिलता है। विधाय उत्तराधिकारियों में लड़कियाँ पुत्र अथवा पुत्रों की लड़कियाँ (प्रपौत्रियाँ) माता पिता चाचा (Grand Father) नानी (Grand Mother) बहिन या चचेरी बहिन (Sisters German) मान्य बहिन (पिता की मरने पर बहिन भाई (माता की मरने पर) विधुर (Widower) और विधवा (Widow) आते हैं। उसके अतिरिक्त पितामह (Grand Father) और अन्य जीवित पृथक् पितृवशी व धृवाधव (Collaterals of Any Degree) भी उत्तराधिकारियों में आते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी का कभी गुलाम रहा हो कि तु बाद में स्वतन्त्र हो गया हो और यदि उसके कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति उसके भ्रातृक को मिलता है। यदि किसी व्यक्ति के कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति राज्य काय में चली जाती है¹। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो वह अपनी सारी सम्पत्ति पुण्यकाय के लिए दक्ष का दान कर सकता है।

इस प्रकार मुस्लिम-परिवार में एक बार कता का निरपेक्ष अधिकार मिले हुए है और, दूसरी ओर, उसकी सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु के बाद एक विस्तृत सम्प्राप्तिवर्ग का उत्तराधिकार मान लिया गया है। ऐसी दशा में परिवार की संरचना में समुक्तता का वह जागर नहीं रह जाता है जो परम्परागत हिन्दू परिवार में है। भारत में मुस्लिम विधि प्रणाली का ही लागू किया गया है। भारत के विभिन्न स्थानों की दशा परम्पराओं ने और अपनी राज के अधीन न मुस्लिम

परिवार के संगठन और संरचना का किस प्रकार प्रभावित किया है इस विषय में निश्चितपूर्वक कह सकना कठिन है क्योंकि, भारत में उस परिदृश्य में मुस्लिम परिवार का समाजशास्त्रीय अध्ययन नहीं किया गया है। तुर्की जैसे देशों में यारोपीय प्रभाव पड़ा है और यारोपीय ढंग के परिवर्तन भी आए हैं। तुर्की में हान वाले परिवर्तनों का वर्णन मिलता जबकि है कि तु उससे प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार (Classical Muslim Family) में हान वाले परिवर्तनों का पता चलता है न कि भारत में होने वाले परिवर्तनों का।

६

जाति

जाति विवाह और परिवार की भांति यारोपीय सघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी शक्तियों का प्रभाव में आई है किन्तु जिस प्रकार यारोपीय सघात के अंतर्गत विवाह और परिवार का परिवर्तन उद्विकास हुआ है उसी प्रकार, जाति का भी परिवर्तित उद्विकास हुआ है। अंग्रेजी राज के माध्यम से पड़ने वाले यारोपीय सघात में जसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है, भारत की जादिक व्यवस्था बदली उत्तरवादी प्रजातंत्र के आदर्श का प्रसार हुआ बर्तानिक प्रौद्योगिकी का उत्तरांतर अपनाया गया गृहीकरण और औद्योगिकरण बढ़ा प्रशासन के आधार प्रदत्त, भारतीय विधि प्रणाली के निवचन और प्रशासन का यारोपीय बधानिक मायताओं के समन्वय में लान का प्रयास किया गया यथायात और सत्ताग्रहण के साधनों का उत्तरांतर विकास हुआ सामाजिक, भौमिक और आर्थिक चरित्रगुणा पहल की अपरा और भी अधिक प्रखर हुई तथा इसांयत और इस्लाम के सम्मिलित प्रभाव में समन्वित समानता के विचार को और भी व्यापक तथा व्यापारिक बनाने पर जार दिया। जाति के साथ ही इस विकास के सम्मिश्रित प्रभाव के बाद परिणाम निकल—एक, जाति के परम्परागत सामाजिक-आर्थिक आधार टूट पड़ा जाति भारतीय समाज की एक सामाजिक समस्या बन गई, तीन जाति समस्या का सामाजिक एतिहासिक कार्यात्मक तथा दार्शनिक पुनर्परीक्षण प्रारम्भ हुआ, चार समाज मुधार आ लाना का विकास हुआ जिनमें एक और जाति का प्रप्रजातंत्रिक और अमानवीय कहकर, उसे नष्ट करने पर और दबकर, वर्ण विद्वान्त का अपनापन पर और दिया गया और, दूसरी ओर जाति संगठन को ही समाज मुधार आन्वेषण का माध्यम बनाने पर जार दिया गया, पांच गृहवर्णी जातियों में जाति विराधी, वस्तुतः आत्मण विरोधी, आन्वेषण की उत्पत्ति हुई और गृहवर्णी जातियों का

अखिल भारतीय स्तर पर संगठित हमने की प्रेरणा मिली जिसके सम्बन्ध में सूत्रबर्णों जातियों की सामाजिक समस्या राजनैतिक समस्या बन गईं ठीक जाति तथा राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिये विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई जिसमें अन्तर्जातीय तनाव और मध्यम को प्रस्तावित मिला। इन परिवर्तनों का परिणाम यह निकला कि जाति में एक ओर विघटन और दूसरी ओर मध्यम शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। विघटन और मध्यम शक्तियों का घात प्रतिघात से चलते परिवर्तन पन्धियाँ जाति व्यवस्था का मुलाधार रही हैं। अन्तर स्तर है कि भारतीय मध्यम न इस प्रक्रिया का और भी प्रखर बना दिया जिसके फलस्वरूप जाति में तब से परिवर्तन भी आय और जाति का सामाजिक दृढ़ता भी मिली।

यूरोपीय संघात से जाति में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की ठीक ठीक व्याख्या करने के लिये जाति के सामाजिक स्वरूप की व्याख्या आवश्यक परिभाषा और है। जाति क्या है? यह एक विवादग्रस्त प्रश्न रहा है क्योंकि विशेषताएँ जाति एक बहुमुखी जटिल सामाजिक प्रमेय हैं। जाति की परिभाषा करने के प्रयास में मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने जाति की अनेक विशेषताओं को निर्धारित किया है जिनके आधार पर जाति का परिभाषात्मक वर्णन किया जा सकता है। एक जाति भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्रविष्टा समूह (Status Group) है—यह समूह जो अन्तर्विवाही होता है, जो परम्परा से एक या एक से अधिक पेशों से सम्बन्धित होता है जिसके सदस्य साधारणतया जाति पंचायत के अन्दर संगठित होते हैं जिसकी सम्पत्ति जन्मजात होती है जिसके सदस्यों के अपने विनिष्ट छान पान के नियम तथा कल्प (Pituls) होते हैं और जिसका सामाजिक संरचना में एक परम्परागत पद (Status) और सामाजिक तथा आर्थिक भूमिका होती है। जाति एक नहीं अनेक है। भारतीय समाज जातियों में बँटा हुआ है। सभी जातियाँ भारत की परम्परागत चिन्तन चरित्रों सामाजिक संरचना प्रणाली में बँटी हैं। प्रत्येक जाति की एक विनिष्ट सामाजिक-आर्थिक भूमिका होती है। इस कारण, समाज में परम्परा से निर्धारित एक सामाजिक आर्थिक भूमिका को निभाते हुए, प्रत्येक जाति अन्य जातियों पर निर्भर करती है क्योंकि प्रत्येक जाति की आर्थिक, सामाजिक तथा कानूनी आवश्यकताएँ अन्य जातियों से पूरी होती हैं। जाति, इस दृष्टिकोण से एक विशिष्ट समूह है और भारतीय समाज में पाये जाने वाले श्रम विभाजन का आधार है। जाति की इन बहुमुखी सामाजिक विशेषताओं के कारण जाति की विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा की गई है। इससे कबों कब अनुसार, जाति अन्तर्विवाही करने वाला एक अन्तर्विवाही समूह है क्योंकि जाति अन्तर्विवाही करने वाली जाति की सामाजिक सीमाएँ निर्धारित होती हैं। उनमें दृष्टिकोण से जाति, सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) आर्थिक भूमिका के आधार पर स्तर

अन्तर्विवाही करने वाला एक अन्तर्विवाही समूह है क्योंकि जाति अन्तर्विवाही करने वाली जाति की सामाजिक सीमाएँ निर्धारित होती हैं। उनमें दृष्टिकोण से जाति, सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) आर्थिक भूमिका के आधार पर स्तर

व्यवस्था रही है और ग्राम सहवासी समुदाय प्रणाली को आधार प्रदान करती रही है, म जातिगत पक्ष उस रूप में जाति-समूहों के एकमात्र स्वतंत्र पक्ष नहीं रहे हैं जिस रूप में धार्मिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पक्ष हैं। परम्परागत पञ्चा सरचना का मूल आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था रही है क्योंकि सभी पेश विशेषतः बारीगर जातियों के पञ्चा कृषि और कृषक में केन्द्रित रह है। गाँव की सभी जातियों के पञ्चा में मिलने वाली सामाजिक आर्थिक मूल्यों मूलतः स्थानीय कृषक के लिये रही है। दूसरे शब्दों में, सारी पेशा सरचना कृषि-आर्थिक व्यवस्था के अधीन रहा है। यह अवश्य है कि प्रत्येक क्षेत्र में कुछ विभिन्न जातियाँ कृषि को ही करती रही हैं किन्तु कृषि का पेशा अन्य जातियों के लिये बंद नहीं रहा है। धोबी चमार नाई तली दरजी बहार और कुम्हार अपने अपने जातिगत पक्षों को भी करते रहे हैं और कृषि का भी यद्यपि इन जातियों के लोग बड़-बड़ कृषक नहीं रहे हैं। इन जातियों के लोग अपना पेशा करने के अलावा याता छाट पमाने पर कृषि करते रहे हैं या फिर खतिहर मजदूर रहे हैं। भारत की कृषि आर्थिक-व्यवस्था निम्नतम उपभाग के आदेश पर आधारित रही है जिसके कारण जातिगत पेश कृषक की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन रहे हैं।

इस प्रकार, विभिन्न जातियों के पेश और उनके कार्य परस्पर पूरक, स्वतंत्र नहीं हैं। ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली, मुख्यतः विभिन्न जातियों के कार्य विभागीकरण (Functional Specialization) पर जोर पारस्परिक अन्तर्निभरता पर आधारित है। प्रत्येक जाति एक पेशा विशेष में सम्बन्धित रहती है किन्तु उसका द्वारा दूसरा पेशा अपनाये जाने पर कोई रुकावट नहीं है यद्यपि दूसरा पेशा अपनाने की सीमाएँ अवश्य निर्धारित हैं। ग्राम सहवासी समुदाय की सरचना में, प्रत्येक जाति समूह को परम्परा से एक निश्चित पेशा मिला है और पेश के साथ, एक निश्चित सामाजिक स्तर भी मिला है तथा स्तर और पेश के साथ, एक निश्चित कार्य और भूमिका भी मिली है। अपने पक्ष के द्वारा अन्य जातियों की सेवा करना, प्रत्येक जाति का दायित्व है। विभिन्न जातियों द्वारा की जाने वाली दायित्व-सेवाओं को व्यापारिकरण दुबे¹ ने चार श्रेणियों में बाँटा है—एक, कृषि सम्बन्धी सेवाओं या कृषक के ही लिये होती हैं और जिनका कृषि पर सीधा प्रभाव पड़ता है (जैसे बडई और नुहार का गन्ना और फल बनाना), दो कृषक तथा गैर कृषक के प्रति की जाने वाली सामाजिक धार्मिक प्रकार की पेशागत सेवाएँ (जैसे पुराहित की सेवाएँ) तीन, बारीगर जातियों में एक दूसरे की सेवाओं के उपलब्ध में की हुई पेशागत सेवाएँ (जैसे नाई का नाई से बाल बनवाई न लेना), और, चार, नकद पारिश्रमिक लेकर की हुई पेशागत सेवाएँ (जैसे घाबी का नकद पक्ष लेकर बपटे

धोना)। नरुद पारिश्रमिक देने की परम्परा तब से अधिक चली है जब से भारत में मुद्रा पर आचारित औद्योगिक तथा पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का समावेश हुआ है। परम्परानुसार, पारिश्रमिक नरुद न देकर धान्य में देने का प्रथा रही है। फसल तयार होने पर कृषक की सेवा करने वाली जातियाँ का, अनाज के रूप में, पारिश्रमिक दिया जाता रहा है। पारिश्रमिक भी परम्परा से निर्धारित रहा है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो प्रत्येक जाति पला विभाजन पर आधारित एक समूह है। जाति का यह रूप परम्परा से निर्धारित है। पर जाति केवल एक पेशा समूह ही नहीं है क्योंकि जातिगत पेशों का, एक छोटा आर्थिक मन्त्र है और दूसरी ओर, कमकाड़ी महत्व। उदाहरणार्थ जब नाई घर का बाल बनाता है तब नाई की स्त्री घर का पुराना महाडर लगाती है जब नाई का स्त्री विधवा की सूँडियाँ नाड कर उसके भाग का मिट्टर उतारती है जब किसी के मरने पर, सूतक मनाने वाले का नाई बाल बनाता है या जब अवध में साक्षात्ता की कथा के विवाह में धोवा की स्त्री दिन भर उपवास रख कर कथा को साक्षात्ता दती है तब नाई और बोधी की सवाय बबल आर्थिक सेवाय नही रहती है। उनकी सवाय वस्तुतः कमकाड़ी सेवार्थ ही जाती हैं। इसीप्रकार, अन्य जातियों की सेवाओं का भी कमकाड़ी महत्व है। जन्म विवाह मन्त्र त्योहार और मेले ऐसे अवसर हैं जब विभिन्न जातियों को एक दूसरे की कमकाड़ी सवायों की आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि जाति का न तो केवल पेशा समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और न गिल्ड (Guild) के रूप में यद्यपि जाति में पेशा समूह और गिल्ड के तत्त्व समाहित हैं। जाति-पेशा के सह सम्बंध न जाति अतिनिभरता तथा यजमानों प्रथा को जन्म दिया है। प्रत्येक जाति को अपने पेशे पर एकाधिकार मिला है और,

यजमानों प्रथा। पेशे का साथ साथ, उन लोग पर भी जा उस जाति के सदस्यों से सेवायें लेते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक गाँव में नाई के चार घर हैं तो गाँव के सारे घर उन चार नाइयों में बँट जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति जिसको एक नाई सेवा करता है उसका यजमान है। इसीप्रकार प्रत्येक जाति के लोगों के यजमान होते हैं—विशेषतः उन जाति के लोगों के जिनके पेशों का आर्थिक और कमकाड़ी महत्व है। यजमान अपने परजा या 'कमीन' से ही सेवा पान के लिए बाध्य है। प्रत्येक किसान उसी नाई से बाल बनवायेगा, उसी बढ़ई से अपना हल ठीक करायेगा और उसी लुहार से अपने औजारों की मरम्मत करायेगा जिसका कि वह यजमान है। यजमान और परजा का सम्बंध परम्परा से निर्धारित है। यजमान को अपनी परजा पर एकाधिकार है और परजा को अपने यजमान पर। परजा जाति के किसी व्यक्ति के घर में यदि बटवारा होता है तो यजमान भी वहाँ जाने हैं। इसप्रकार, जाति में पेशागत विशेषीकरण तो है किन्तु एक ही जाति के लोगों में प्राक्तक के लिए प्रतिभागिता नहीं है क्योंकि प्रत्येक के द्वारा परम्परा से निर्धारित है।

व्यवस्था रही है और ग्राम सहवासी समुदाय प्रणाली को आधार प्रदान करती रही है, मे जातिगत पेश उस रूप में जाति समूहों के एकमात्र स्वतन्त्र पेश नहीं रह हैं जिस रूप में प्रौद्योगिक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पेश हैं। परम्परागत पेशा मरचना का मूल आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था रही है क्योंकि सभी पेश विशेषण कारीगर जातियों के पेश कृषि और कृषक में के दीर्घत रह है। ग्राम की सभी जातियाँ पेशों में मिलने वाली सामाजिक आर्थिक सहाय मूलतः स्थानीय कृषक के लिये रही हैं। दूसरे छंदों में सारी पेशा मरचना कृषि आर्थिक व्यवस्था के अधीन रही है। यह अवश्य है कि प्रत्येक क्षेत्र में कुछ विशिष्ट जातियाँ कृषि का ही करती रही हैं कि तु कृषि का पेशा अन्य जातियों के लिये बंद नहीं रहा है। धोबी चमार नाई तलो दरजी कहार और कुम्हार अपने अपने जातिगत पेशों को भी करत रह है और कृषि को भी यद्यपि इन जातियों के लोग बड़-बड़े कृषक नहीं रह है। इन जातियों के लोग अपना पेशा करने के अलावा याता छाटे पमाने पर कृषि करत रह है या फिर खेतिहर मजदूर रहे हैं। भारत की कृषि आर्थिक व्यवस्था निम्नतम उपभोग के भादश पर आधारित रही है जिसके कारण जातिगत पेश कृषक की सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन रहे है।

इसप्रकार विभिन्न जातियों के पेश और उनके काम परस्पर पूरक, स्वतन्त्र नहीं है। ग्रामीण भारत की आर्थिक प्रणाली मुख्यतः विभिन्न जातियों के कार्य विभागीकरण (Functional Specialization) पर और पारस्परिक अन्तर्निभरता पर आधारित है। प्रत्येक जाति एक पेशा विशेष से सम्बंधित रहती है किंतु उसका द्वारा दूसरा पेशा अपनाये जाने पर कोई रुकावट नहीं है यद्यपि दूसरा पेशा अपनाने की सीमायें अवश्य निर्धारित हैं। ग्राम सहवासी समुदाय की मरचना में प्रत्येक जाति-समूह को परम्परा से एक निश्चित पेशा मिला है और पेश के साथ, एक निश्चित सामाजिक स्तर भी मिला है तथा स्तर और पेश के साथ एक निश्चित कार्य और भूमिका भी मिली है। अपने पेश के द्वारा, ये जातियों की सेवा करना प्रत्येक जाति का दायित्व है। विभिन्न जातियों द्वारा की जाने वाली दायित्व-सेवाओं को श्यामाचरण दुबे¹ ने चार श्रेणियों में बांटा है—एक, कृषि सम्बंधी सेवाओं जो कृषक के ही लिये होती हैं और जिनका कृषि पर सीधा प्रभाव पड़ता है (जम बड़ और नुहार का हल और फाल बनाना), दो कृषक तथा गर कृषक के प्रति की जाने वाली सामाजिक धार्मिक प्रकार की पेशागत सेवायें (जग पुराण की गवायें) तीन, कारीगर जातियों में एक दूसरे की सेवाओं के उपलक्ष्य में की हुई पेशागत सेवायें (जम नाई का नाई से बाल बनवाई न लेना) और, चार नकद पारिवर्तिक स्तर की हुई पेशागत सेवायें (जैसे धोबी का नकद पेशे लेकर बपड़े

धाना)। नकद पारिधमिक रत्न की परम्परा तब से अधिक चली है जब स भारत में मुद्रा पर आधारित औद्योगिक तथा पूजावादी आर्थिक व्यवस्था का समावेश हुआ है। परम्परानुसार पारिधमिक नकद न देकर धान्य म देने की प्रथा रही है। फसल तैयार होने पर कृषक की सेवा करने वाली जातियाँ को, अनाज के रूप में, पारिधमिक दिया जाता रहा है। पारिधमिक भी परम्परा में निर्धारित रहा है।

इस प्रकार, यदि देखा जाय तो ग्राम्य जाति पेशा विशेषीकरण पर आधारित एक समूह है। जाति का यह रूप परम्परा में निर्धारित है। पर जाति केवल एक पेशा-समूह ही नहीं है क्योंकि जातिगत पेशा का, एक प्रकार आर्थिक महत्व है और दूसरी ओर कमकाड़ी महत्व। उदाहरणार्थ जब नाई घर के बाल बनाता है तब नाई की स्त्री घर के पेशे में महातर लगती है जब नाई की स्त्री विधवा की चूड़ियाँ साँझ कर उसके माथे का सिंदूर लगाती है तब किसी के मरने पर, मृतक मनाने वाले के नाई बाल बनाता है या जब अवश्य में आश्रय की कमी के विवाह में घोषी की स्त्री दिन भर उपवास रख कर ब्याँ का गारा देती है, तब नाई और दाबी की सहाय्य केवल आर्थिक सेवाएँ नहीं रहती हैं। उनकी सहाय्य नैतिक-कमकाड़ी सेवाएँ हो जाती हैं। इसीप्रकार अन्य जातियों की सहाय्य का भी कमकाड़ी महत्व है। जहाँ विवाह, मर्यादित त्योहार और मते ऐसे अवसर हैं जब विभिन्न जातियों का एक दूसरे की कमकाड़ी सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है और यही कारण है कि जाति का न तो केवल पेशा समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और गिल्ड (Guild) के रूप में यद्यपि जाति में पेशा-समूह और गिल्ड के तत्त्व सम्मिलित हैं, जाति-पेशा के सह सम्बंध न जाति अतिनिरता तथा यजमानों प्रथा का अंग है।

प्रत्येक जाति का अपना पेशा पर एकाधिकार होता है, यजमानों प्रथा पेशे के साथ साथ, उन लोगों पर भी जो उस पेशे की सहाय्य करने हैं। उदाहरणार्थ यदि एक गाँव में एक घर में नाई के सारे घर में उन चार नाईयों में बंट जाते हैं। प्रत्येक नाई एक नाई सेवा करता है, उसका यजमान है। इसीप्रकार, प्रत्येक यजमान होते हैं—विशेषतः उन जाति के लोगों के जिन्हें पेशे की सहाय्य कमकाड़ी महत्व है। यजमान अपने 'परजा' या 'कर्मचारी' को नियंत्रित करवाय है। प्रत्येक किसान उसी नाई से बाल बनवायेगा, उसी दाबी से बाल बनायेगा और उसी सुनार से अपने औजारों की मरम्मत करवायेगा यजमान है। यजमान और परजा का सम्बंध परम्परा में निर्धारित अपना 'परजा' पर एकाधिकार है और परजा का यजमान के प्रति जाति के किसी व्यक्ति के घर में यदि बैठकर काम करेगा तो वह इसप्रकार जाति में पेशागत विशेषीकरण तो है कि वह एक प्राहक के लिए प्रनियोगिता नहीं है क्योंकि प्रत्येक यजमान

जमींदारी परम्परा पर आधारित भूमि व्यवस्था, यजमानी प्रथा का आधिक आधार रही है क्योंकि परजा की सेवाएँ कृषक जमींदार के लिए अधिक रही हैं। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है, उसकी सेवा के लिए 'परजा' की उतनी सुविधा रही है। परजा जातियों को दो प्रकार का पारिवर्त्मिक मिलता रहा है—एक आर्थिक महत्व की सेवाओं के उपलब्ध में और दूसरा कमकाड़ी सेवाओं के उल्लेख में। कमकाड़ी सेवाओं के उपलब्ध में मिलने वाला पारिवर्त्मिक 'नेम' है। विवाह के अवसर पर जब दरजी 'बर' क बपड़े सिलता है, सोहार बगन भेंट करता है, नाई बाल बनाता है, धात्री की स्त्री ब्या को सोहाग देती है, माली बर को 'मौर' देता है, तब वे सब नेम के अधिकारी होते हैं। यजमानी प्रथा ने जाति को टूट यूनियन का रूप दिया है क्योंकि प्रत्येक जाति अपने एकाधिकारी पेशे का आर्थिक हितों की बस ही रक्षा करती है जम एक टूट यूनियन अपने सदस्या के आर्थिक हितों की। आस्कर लुइस के अनुसार, जब रामपुर^१ गांव के जाटा न, विवाह में नाइयो को मिलने वाले 'नेम' जाग का घटा दिया तो नाइयो ने अपने जाटों की हजामत बनाना बंद कर दी। जाटा ने रजर खरीद कर स्वयं हजामत बनाना शुरू कर दी^२। तब क्या जाति को टूट यूनियन कहा जा सकता है? टूट यूनियनवाद औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था की उपज है। टूट यूनियन में मालिक और मजदूर के संघर्ष तथा उनके विरोधी हितों का भाव निहित है। यजमानी प्रथा में भी मालिक और सेवक का भाव है। यजमान और परजा का सम्बंध परम्परा से निर्धारित है। यजमानी प्रथा, जाति के निम्नस्तर पर, श्रम को अचलित बनाती है ताकि प्रभु जाति (Dominant Caste) के लिए श्रमिक उपलब्ध हो सकें। यहाँ सामूहिक सौदबाजी नहीं है। यजमानी प्रथा में केवल यजमान ही नहीं निर्धारित होते हैं बरन प्रत्येक जाति का सामाजिक स्तर उसकी सामाजिक, आर्थिक तथा कमकाड़ी भूमिका भी निर्धारित होती है। यजमानी प्रथा विभिन्न जातियों का सामाजिक आर्थिक समावोजन तथा सामञ्जस्य है। यजमानी प्रथा की जड़ें भारत की कृषि पर आधारित परम्परागत तथा निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था में उत्पन्न सामवाद में हैं। जाति में टूट यूनियन का तत्वा का समावेश आज हो रहा है।

जाति अंतर्विवाह तथा पेशा समूह हान का साथ-साथ, भारतीय सामाजिक संरचना का आधार भी है क्योंकि जाति व्यवस्था एक सामाजिक प्रतिष्ठा उच्चोच्च प्रणाली की परम्परागत उच्चोच्चपरम्परा पर आधारित है। परम्परा जाति व्यवस्था एक स्तरीकृत प्रणाली है, जिसमें विभिन्न जातियों को जन्म अलग सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त है—बड़े सामाजिक प्रतिष्ठा जो ज मजात है। आधुनिक पश्चिमी समाज का स्तरावरण ध्वंस्त सामा

१ रामपुर दिल्ली के पास का वह गांव है जहाँ आस्कर लुइस ने ग्राम व्यवस्था का अध्ययन किया था। रामपुर नाम कल्पित है।

२ बाइजर, डब्ल्यू० एच० कृत दि हिंदू यजमानी सिस्टम में से उद्धृत।

श्रमिक आर्थिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जबकि जाति व्यवस्थागत स्तरीकरण जन्मजात सामाजिक, आर्थिक तथा कमकाठी प्रतिष्ठा पर। जाति-व्यवस्था, इस दृष्टिकोण से, वय व्यवस्था से भिन्न है। इसी भिन्नता के कारण जाति को 'अचल वय' या अचलिष्णु वय या 'वह वय जो अचलिष्णु (Immobile) है' के रूप में परिभाषित किया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील नहीं है—जाति व्यवस्था चलिष्णु और परिवर्तनशील रही है किंतु उतना नहीं जितना कि वय व्यवस्था है। इसका कारण भारत की निम्नवाह आर्थिक-व्यवस्था रही है। जाति-व्यवस्था में वय व्यवस्था से भी उत्तम है। कृषि-व्यवस्था में भूमि ही सम्पत्ति का आधार है और भूमि का वितरण इसप्रकार में रहा है कि अधिकतर भूमि पर अधिकार ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्गीय जातियों के पास रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय, इसप्रकार, उच्च वय में रहे हैं। खेतिहर जातियाँ मध्यवय में और कारीगर तथा अस्पृश्य जातियाँ निम्न वय में। जातियों का वर्णानुसार वर्गीकरण और इवर्गीकरण का आधार प्रदान करने वाली सामाजिक आर्थिक पट्टभूमि, जाति व्यवस्था में निहित वय व्यवस्था को स्पष्ट करती है। निम्नवाह आर्थिक व्यवस्था में सामाजिक आर्थिक चलिष्णुता कम सम्भव रही है। अतः कारण, जाति व्यवस्था में, कम सिद्धांत का महत्ता ही गई है और चलिष्णुता के आधार आर्थिक न होकर कमकाठी रहे हैं। यही कारण है कि जातियों में अपना स्तर उठाने के लिए कमकाठी पर अधिक ज़ोर दिया है कि आर्थिक स्तर को उठाने पर। कृषि पर आधारित निम्नवाह आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक स्तर उठाने के लिए स्थान ही नहीं रहा है।

जाति-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा नम विद्यास का आधार आर्थिक भी है और कमकाठी भी। जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रतिष्ठा नम विद्यास का आधार में पवित्रता और अपवित्रता का भाव रहा है। इसी कारण जिस जाति का सामाजिक स्तर जितना उच्च है उतना आर्थिक स्तर भी उतना ही उच्च मिश्रता है और वह उतना ही पवित्र मानी जाती है। जाति-मरचना के उच्चतम स्तर पर रहे हैं ब्राह्मण जो पवित्रतम माने गये हैं और निम्नतम स्तर पर रही हैं चमार और भी जैसी जातियाँ जो अपवित्र और अछूत मानी गई हैं। जाति जाति में भेद जान बाली पवित्रता तथा अपवित्रता की भावनाएँ, कुछ जातियों को अछूत मानने का परम्परा और श्रान्त-मान के प्रतिबंध तथा जातिगत खाद्य अखाद्य के प्रश्न, अपवित्रता और अशौच के विचारों पर आधारित हैं। जैसा कि हट्टन में लिखा है कि जाति-मरचना में अस्पृश्यता का विचार, अपवित्रता और अशौच के ही विचारों में सम्बन्धित है। कमकाठी पवित्रता जाति नम विद्यास का आधार रही है। जिस जाति का स्तर जितना उच्च है उसके लिए पवित्रता के कमकाठी उतने ही अनिवार्य और उचित हैं। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के लिए दैनिक पवित्रता का नियम भगियों की अपेक्षा अधिक आवश्यक है।

जाति एक अद्वय राजनतिक इकाई है—अद्वय इसलिए कि राजनतिक सगठन होते हुए भी जानि सगठन राजनतिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नहीं रहा है। जाति का भारतवर्ष की राजनतिक व्यवस्था तीन स्तरों पर सगठित रही राजनतिक पक्ष है—एक जाति के स्तर पर, दूसरी क्षेत्रीय राज्यों (Principalities) के स्तर पर और तीसरी, अखिल भारतीय राजनतिक स्तर पर। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले रियासती स्तर ही प्रधान था। एक सामाजिक राजनतिक इकाई के रूप में जाति घरातल पर कार्य करती रही है और प्रत्येक जाति के राजनतिक कार्य जाति तक ही सीमित रहे हैं। जाति पंचायत का सगठन जाति का राजनतिक पहलू है। जाति-पंचायत जाति व्यवस्था में एक परम्परा के रूप में रही है। प्रत्येक अतिविवाही समूह एक या कई जाति पंचायतों में सगठित रहा है। जाति पंचायत में प्रबंधक, विधायिनी और यायिक अधिकार निहित रहें हैं। जाति पंचायतों ने परम्परा विधि को लागू किया है। जाति पंचायतों का मुखिया वंशानुक्रम के आधार पर चुना जाता रहा है। जाति पंचायतों के अंतर्गत जाति सम्बन्धी सभी प्रकार के नियमों का प्रतिपादन, संरक्षण और निबन्धन होता रहा है। अन्तर्जातीय सम्बन्धों का जाति पंचायतों द्वारा ही नियन्त्रण होता रहा है। जाति पंचायतों में दंडी साक्ष्य (Ordeal), सपथ और व्यावहारिकता के आधार पर कार्य होता रहा है। जाति के नियमों का उत्सर्जन करने वाला, जाति के समक्ष, दण्ड का भागी है। जुर्माना, जाति भोज, शारीरिक प्रहारणा जन अपमान शुद्धिकरण और हुक्का पानी बंद करना, जाति पंचायत द्वारा दिये जाने वाले मुख्य दण्ड हैं। जाति पंचायत के दण्ड विधान में, ऐसे दण्डों का विधान रहा है जिससे अल्प व्यक्तिगतों को उदाहरण मिले और वे जाति नियमों के उत्सर्जन से दूर रहें। अतः जैसे को तसा का सिद्धांत जाति पंचायत के याय और दण्ड विधान का मुख्य आधार रहा है। हुक्का पानी बंद करने का दण्ड हर दशा में अस्वीकार्य ही रहा है क्योंकि जाति के बाहर व्यक्ति का सामाजिक स्तर गूँथ है और इसकारण जाति से निकल जान पर जाति में पुनः शामिल होना एक आधारभूत आवश्यकता रही है। इसमें जाति को स्थायित्व मिला है।

जाति संरचना के माध्यम से भारत की राजनतिक सत्ता संस्थागत रही है। राजनतिक सत्ता के उच्च स्तर पर रही है ब्राह्मण तथा क्षत्रियवर्णी जातियाँ, मध्य स्तर पर वश्यवर्णी जातियाँ और निम्नस्तर पर शूद्रवर्णी तथा अस्पृश्य जातियाँ। इधर हास में, भारत की ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था के जो अध्ययन हुए हैं उनमें यह स्पष्ट हुआ है कि जिस प्रकार ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक प्रणाली में राजनतिक सत्ता और विशेषाधिकार उच्चवर्णी जातियों के हाथ में रहें हैं। राजनतिक सत्ता और विशेषाधिकार उन्हीं जातियों के हाथ में रहें हैं जिनके पास अधिकतम भूमि रही है। इस परम्परागत सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था में प्रत्येक गाँव और क्षेत्र में एक प्रभुतासम्पन्न जाति (Dominant Caste) रही है। प्रभुतासम्पन्न जाति वह जाति

है जिसके पास अपने ग्राम या क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विशेषाधिकार रहे हैं और इस कारण, अग्रे जातियों के सामाजिक जीवन का वह आदर्श रही है अर्थात् अपने सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने के लिए निम्नस्तर की जातियाँ जिसका अनुकरण करती रही हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाटों का प्रभुत्व रहा है और उनके जीवन-यापन में उस क्षेत्र के सामाजिक जीवन के आदर्श प्रतिमान रहे हैं। प्रभुत्व सम्पन्न जाति किसी भी वर्ण की हो सकती है यद्यपि मुख्यतया, ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य वर्ण की जातियाँ ही प्रभुत्व सम्पन्न जाति के रूप में पाई गई हैं। जाति व्यवस्था के माध्यम से, राज्य सत्ता के संस्थापक हो जाने के कारण भारतीय सामाजिक जीवन में सामाजिक-सांस्कृतिक नेतृत्व भी संस्थापक रहा है। यही कारण है कि भारतीय समाज में नेतृत्व ब्राह्मण और क्षत्रियों के हाथ में रहा है। इस परम्परागत सामाजिक प्रणाली में यह ऐतिहासिक तथ्य भी स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल में ब्राह्मण और क्षत्रियों ने जाति प्रणाली का विरोध किया है और उस स्थायित्व को प्रदान किया है।

इस प्रकार जाति के अनेक आधार रह हैं, जिन्हें किसी एक परिभाषा में बाधना मुश्किल रहा है। अतर्वैवाहिक, पेशा सामाजिक राजनैतिक तथा कमकाफी प्रतिष्ठा से सम्बन्धित होने के कारण जाति ने भारतीय सामाजिक संरचना को अनेक पहलुओं से प्रभावित किया है। हटन के अनुसार जाति का प्रभाव मुख्यतया तीन स्तरों पर क्रियाशील रहा है—एक, जाति के माध्यम से व्यक्ति को जन्मजात प्रतिष्ठा मिलती रही है जिसके कारण जहाँ व्यक्ति को अधिक सुरक्षा मिली है वहाँ, जाति के द्वारा व्यक्ति का जीवन भी निर्देशित होता रहा है। जाति से व्यक्ति की सामाजिक परिधि निर्धारित होती रही है। दो, जाति-व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न समूहों के सम्बन्ध नियमित होते रहे हैं जिसके कारण, जहाँ प्रत्येक समूह का सामाजिक स्तर निर्धारित हुआ है उसे सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा मिली वहाँ दूसरी धार, विभिन्न जातियों के रूप में विभिन्न समूहों के अन्तर्सम्बन्धों का स्थायित्व मिला है। इस दृष्टिकोण से जाति का भारतीय विनियमित हिन्दू समाज का मूलतम आधार कहा जा सकता है। जाति-व्यवस्था वह माध्यम है जिसके द्वारा अनेक समूहों का प्रधानतः गणजातियों के स्तर से उठ है हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत में अपनी विनिष्ठता बनाये रखते हुए भी, स्थान पाते रहे हैं¹। इसी कारण, जाति का प्रवेश हिन्दुत्व,

- 1 जाति और गणजाति में काफी समानता है। गणजातियाँ जाति के रूप में परिवर्तित होती रही हैं जिनके कारण, भारतीय समाज में, जातियों की संख्या बढ़ती गई है। जाति और गणजाति का अन्तर वर्तमान भारत में किया गया है न कि प्राचीन भारत में। अन्तर्विवाही समूह होने के कारण, भारतीय परम्परा के अनुसार, प्रत्येक गणजाति जाति है। गणजाति के जाति में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का वर्णन अन्तिम अध्याय में किया गया है।

इस्लाम और इसाईयत में हुआ है। तीसरा, जैसा कि हटन का मत है, जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को सघानीय समाज (Federal & Plural Society) का रूप दिया है। सघानीय समाज वह समाज है जिसमें प्रत्येक इकाई का अस्तित्व बना रहना है लेकिन हर इकाई एक सामाजिक सांस्कृतिक सूत्र से बंधी रहती है, वस ही जस अपनी कीली पर घूमती हुई पथ्वी सूय के चारों ओर घूमती है। सघानीय समाज लचीला समाज है और उसका मूल अनेकता में एकता का सिद्धांत है। जाति व्यवस्था ने, जैसा कि इरायती बर्वे का मत है, भारतीय समाज को 'एकोड्ड बहुस्याम' का आधार प्रदान किया है। जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा तथा सामाजिक सांस्कृतिक भूमिका से सम्बंधित होने के कारण, जाति न एकता में अनेकता बनाये रखते हुए सांस्कृतिक स्थायित्व को प्रोत्साहित किया है। जाति-व्यवस्था में उस व्यवस्था के तथ्य निहित हैं जिसे डाक्टर मजूमदार ने सस्कृतियों के सघान (Federation of Cultures) का माना गया है। किन्तु, जाति से यदि सांस्कृतिक स्थायित्व मिला है तो जाति परम्परावादिता का भी खोन रही है। परम्परावादिता वनाम प्रगति के सघप का मूल कारण जाति-व्यवस्था में ही रहा है।

यहां एक प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय समाज और सस्कृति को जाति ने स्थायित्व प्रदान किया है या उन कारणों ने जिन्होंने स्वयं जाति व्यवस्था को स्थाई बनाया है। भारत के सामाजिक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण से यह पता चलता है कि कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था और धामवादिता ने जाति व्यवस्था को स्थाई आधार प्रदान किये हैं क्योंकि अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले तक, य निम्प्रवाह रहे हैं। मत, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय समाज और सस्कृति के स्थायित्व में यहां की निम्प्रवाह अध-व्यवस्था का बहुत कुछ योगदान है और इसा योगदान न जाति-व्यवस्था को भी स्थाई बनाया है और इसका प्रसार भी किया है। साधारणतया यह मान्यता पाई जाती है कि जाति-व्यवस्था अचलिष्णु और अपरिवर्तनीय है। किन्तु यह मत तकसगत नहीं है क्योंकि जाति-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठानुक्रम लचीला रहा है। हा, यह अवश्य है कि जाति व्यवस्था में निहित अचलिष्णुता में प्रेरक आर्थिक क्रम, सामाजिक धार्मिक तथा सुधारवादी घडिध रहे हैं। बुद्धवाद जाति-व्यवस्था का विरुद्ध एक आदालत है और इसका उद्देश्य विभिन्न समूहों में धार्मिक सुधार करके, उन्हें एक सम्माननीय सामाजिक स्तर पर लाना रहा है। इसा प्रकार मध्य युग के सुधारवादी निगुण पंथा न यदि जाति प्रथा का विरोध किया तो उन्होंने निम्नस्तर की जातियों की प्रतिष्ठा को उठान के लिये हिंदुत्व का ही माध्यम बनाया। यही हाल उनीसवीं शताब्दी के ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज जन्म सुधारवादी आन्दोलन का हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों में हिंदुत्व का इसप्रकार से निवचन किया गया कि अधिक न अधिक अतिविवाही समूह हिंदुत्व का घेर में आ सकें। उपर, हिंदुत्व में प्रवेश करने पर,

जाति के रूप में यदि गणजाति को निम्नस्तर मिलता रहा है तो साथ ही साथ, एक पक्षा उपनान के कारण, सामाजिक सुरक्षा भी मिलती रही है। इसप्रकार, प्रत्येक सुधारवादी आन्दोलन में यदि नई गणजातियाँ जाति संरचना में प्रविष्ट हुईं तो उनसे पहले आई हुई गणजातियाँ भी पहले की अपेक्षा अधिक उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हुईं। किन्तु साथ ही साथ, जसा कि वीरशैव समाज और लिगायत सम्प्रदाय के उदाहरणों से स्पष्ट है प्रत्येक सुधारवादी सभ्यता सम्प्रदाय मातृ स्वयं एक जाति बन गया। उसमें जातियों का समावेश हुआ। जसा कि सिक्ख सम्प्रदाय से स्पष्ट है जो जातियों जिस स्तर से आई उनका वही स्तर बना रहा। इसप्रकार, चलिष्णुता के प्रकार रहे हैं हिंदुत्व के तत्त्व जिन्हें श्रीनिवास ने संस्कृताइजेशन कहा है। जाति संरचना में सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिये संस्कृताइजेशन को इसीलिए महत्व मिलता रहा है कि भारतीय समाज का अधिक आधार निष्प्रवाह रहा है। यही कारण है कि जाति संरचना में तीव्रतर चलिष्णुता का तबतक उदभव नहीं हुआ जबतक, अंग्रेजी राज्य के माध्यम से पटने वाले योरोपीय सघात के कारण, भारत में पूजावादी आर्थिक-व्यवस्था का समावेश नहीं हुआ। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना न नई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनतिक परिस्थितियों को जन्म दिया। उत्तरोत्तर बढ़ते हुये पूजावाद से परिवर्तन और सामंतवादी व्यवस्था समाप्त हुई। औद्योगिक तथा मुद्रायी उसके कारण आर्थिक व्यवस्था का प्रसार हुआ। यातायात तथा संचारवहन के साधनों के उत्तरोत्तर विकास के कारण पहले बार भारत का राजनतिक आर्थिक तथा सांस्कृतिक एकीकरण हुआ जिसके कारण जाति का अखिल भारतीय राजनतिक एकीकरण में समायोजन हुआ। प्राचीन परम्परागत पेशा संरचना के आधार पर, एक नई औद्योगिक पेशा-संरचना का प्रतिरोध हुआ। भारतवर्ष में उस वैधानिक 'यायिक तथा दण' व्यवस्था का शीघ्रण हुआ जिसका आधार पूजावादी प्रजातन्त्र और उदारवाद था। इसादयत के प्रभाव से समतावादी विचारधारा फैली और जाति जाति का असमान अन्तर एक निराधार आदत बन गया। व्यक्ति की गरिमा और महत्ता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के धादश के विचार का अभ्युदय हुआ। भूमि ही अधिक संपन्नता का एकमात्र आधार न रही। सरकारी नौकरियों, कारखानों की मजदूरी और व्यापार ने आर्थिक संपन्नता के नये आधार प्रस्तुत किये। सहरीकरण के विकास से 'हरों' में जो आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न हुई वह ग्रामीण में भी न थी। इन सारे विकासों का परिणाम यह हुआ कि जाति-व्यवस्था को आधार प्रदान करने वाले आर्थिक सामाजिक तथा आदर्शिक आधारों में परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप जाति के बहुमुखी आधारों में धीरे धीरे परिवर्तन हुये। किन्तु साथ ही साथ, अंग्रेजी राज्य में जनगणना जातियों के आधार पर ही होती रही, अप्रत्यक्ष जातिधर्मों को विशेषाधिकार दिये गये फीज में जातियों के आधार पर

यूनिट (Units) का संगठन किया गया। बदली हुई आर्थिक तथा राजनतिक परिस्थितियों में यदि निम्नस्तर की जातियों ने आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों की अधिकाधिक मांग की तो उच्च स्तर की जातियों ने अपने परम्परागत विरोधाधिकारों को बनाये रखने का प्रयास किया। इस परिस्थिति का सम्मिलित परिणाम यह हुआ कि जहाँ, एक ओर, जाति का आधार ढीला हुय वहाँ, दूसरी ओर, जाति का मण्डित होने के नये आधार और नई प्रेरणायें भी मिलीं। यारोपक सघात न जाति में एकीकरण तथा विशृङ्खलन की प्रक्रियाओं को एक साथ जन्म दिया।

अंग्रेजी राज्य के माध्यम से ज्यों ज्यों योरोपीय सभ्यता का सघात बढ़ा और भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आया, र्यो-र्यो जाति के विभिन्न आधारों और पहलुओं में परिवर्तन उत्पन्न हुये। उदारवादी विचारधारा, इसाईयां द्वारा जाति की आलोचना, अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पलती हुई प्रजातन्त्रवादी विचारधारा तथा यकिनवादी मायतावा के कारण जाति तथा उसके बंधनों के प्रति एक नये सुधारवादी दृष्टिकोण का उदय हुआ जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्मसमाज तथा आयसमाज के आंदोलनों में हुई। इन आंदोलनों से समतावादी विचारधारा का प्रसार हुआ, जाति के बंधनों का निमूल निर्धारित किया गया और हिंदू समाज की एकता पर जोर दिया गया। ब्रह्मसमाजियों ने जाति रहित हिंदू समाज की स्थापना के लिये अंतर्जातीय विवाहों पर जोर दिया। आयसमाज ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया। उधर, अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से फैलनेवाली कमानी विचारधाराओं से, विवाह और नर-नारी के प्रेम में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के विचार का प्रोत्साहन मिला। इन विकासों का परिणाम यह हुआ कि अंतर्जातीय विवाहों का पक्ष लिया जाने लगा। उन अठारहवीं शताब्दी के स्पेशल मरिज एक्ट से अंतर्जातीय विवाहों का बंधन प्रदान की गई। अंग्रेजी राज्यकाल में समान स्तर की जातियों के संगठन अस्तित्व में आये जिसके कारण अशक्त राजनतिक और अशक्त सांस्कृतिक थे। किंतु इन कारणों के मूल में भी उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त करने की भावना। इस विकास का परिणाम यह हुआ कि एक ही स्तर की अंतर्विवाही जातियों में अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला। उदाहरणार्थ, चमारों के जटिया और रविदास अंतर्विवाही समूहों में अंतर्जातीय विवाहों का किया जाने लगा है। किंतु, अंतर्जातीय विवाह अधिकतर शहरों में और शिक्षित तथा धनी वर्ग तक ही सीमित हैं। साधारणतया जाति अब भी मूलतः अंतर्विवाही समूह है।

यूरोप की पूजावादों तथा औद्योगिक-आर्थिक-व्यवस्था के दबाव से चलती हुई भारतीय आर्थिक-व्यवस्था का परिवर्तनकारी प्रभाव जाति और पेशा के सह सम्बंध पर पड़ा। औद्योगिक व्यवस्था ने गहरीकरण के साथ-साथ उस नई पेशा संरचना को जन्म दिया जिसमें अनेक परम्परागत पेशा की महत्ता समाप्त हो गई (जैसे नाई द्वारा समाचार भेजने के महत्व का कम होना), अनेक पेशों की आर्थिक

महत्ता समाप्त हुई (जैसे आइल गिला की स्थापना स तेली के पेशी की आर्थिक महत्ता का कम होना) और कुछ पेशों जैसे घोड़ी चमड़े का काम करने वाले चमारों, बुनकरों और मगियों के पेशों की आर्थिक महत्ता बढ़ गई क्योंकि शहरीकरण ने इन पेशों की आवश्यकता को और भी बढ़ा दिया। दूसरी ओर, उद्योग और व्यापार तथा सरकारी नौकरियों ने सभी जातियाँ व न्यून नये अवसर प्रदान किये जिससे परिणामस्वरूप जाति और पेशे का सह सम्बंध उतना अनिवार्य नहीं रहा जितना कि वह परम्परागत सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में था। किन्तु उच्चवर्णी जातियाँ पहले ही से व्यापार शिक्षा, सेना और प्रशासन के पेशों में लगी हुई थी जिसके फलस्वरूप नये अवसरों का लाभ सबसे पहले और सबसे अधिक इन्हीं जातियों को मिला। अठारहवीं सतावन की राज्यजाति के बाद, निम्नवर्णों की जातियों को सेना में स्थान देने की नीति अपनाई गई और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब दक्षिण भारत में ब्राह्मणविरोधी आंदोलन का प्रसार हुआ तब पिछड़ी हुई जातियों के लिये सरकारी नौकरियों में द्वारक्षित स्थान की मांग की गई। तबसे बराबर इसी नीति को अपनाया गया जिसके परिणामस्वरूप एक ओर, जातिवाद को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर, भारतीय राजनीति में जाति का समावेश हुआ।

सरकारी नौकरियों में द्वारक्षित सीटों की मांग पिछड़ी जातियों के उस वर्ग से आती रही है जो शिक्षित होने के कारण परम्परागत पेशों को नहीं अपनाता है और सरकारी नौकरी को उच्चतर-सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम मानता है। उच्चवर्णी जातियों के सामने यह समस्या नहीं थी क्योंकि अंग्रेजी राज्य में उन्हें वह सामाजिक प्रतिष्ठा उत्तराधिकार के रूप में मिली थी, जिसकी निम्नवर्णी-जातियाँ मांग कर रही थी। अंग्रेजी राज की स्थापना से उत्पन्न, नई परिस्थितियों में उच्चवर्णी जातियाँ के परम्परागत पेशों का (जैसे ब्राह्मण के अध्यापन तथा प्रशासन काय को, क्षत्रिय का जमींदारी तथा प्रशासन काय का वंश के उत्थम को और कायस्थों के मुखियाना पेशा को) एक नया अवसर मिला जिससे उनका, ह्रास नहीं बल्कि, विस्तार हुआ। किन्तु निम्नवर्णी जातियों विशेषतया कारीगर जातियों के पेशों का पूँजीवादी-जीसीगिक व्यवस्था से ह्रास हुआ। जूता बनाने के कारखाना, कपड़े की मिलें, सूती के औजार बनाने वाले कारखानों से, चमारों, कपड़ा बुनने वाली जातियों और लोहारों के पेशों का ह्रास हुआ। किन्तु, साथ ही साथ, ये सब ऐसे क्षय से बड़ा पूँजीवादी व्यवस्था ने नये व्यापारिक अवसर प्रदान किये जिसके कारण उच्च जातियों ने इन पेशों में कारीगर के रूप में ही नहीं वरन् व्यापारी के रूप में प्रवेश किया। आज ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिसमें लाडू का मालिक एक उच्च-जाति का है, यद्यपि कपड़ा धोने का काम धाबी करते हैं। उसी प्रकार, जूता और चमड़े का व्यापार अधिकतर उच्च जातियों के हाथ में है, जबकि चमड़ा निकालने तथा जूता बनाने का काम चमार करते हैं। इसप्रकार, नई आर्थिक व्यवस्था में कारीगर

जातियों का अपने पेशों पर से एकाधिकार समाप्त हुआ उनका अपने ग्राहकों पर र भी एकाधिकार समाप्त हुआ और धीरे धीरे उनका भारत में व्यवहार बग म परिवर्तन हुआ। जिन पेशों का परम्परानुसार अपवित्र मानकर अशौच का कारण माना जाता था (जम मरे हुए जानवरों की खाल निकालना और भगी का बाय (उन पेशों को करने वाली जातियाँ) उन पेशों के प्रति प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और उन्होंने उस छोड़ने पर जार दिया। इस प्रतिक्रिया का कारण बदलती हुई जाति व्यवस्था से मिलने वाले नये अवसर हैं। किन्तु इस प्रतिक्रिया के बावजूद भी अधिकतर निम्न वर्गीय जातियाँ अपने परम्परागत पेशों में ही हैं।

बदलती हुई सामाजिक जायिक परिस्थिति न जाति और पेशों के सहसम्बन्ध को प्रभावित किया है किन्तु पेशों तथा जाति संरचनाओं की उच्चाच्चपरम्परा में जो अनुसृष्टता थी उस नहीं तोड़ा है। देहरादून के चमारों की पेशा संरचना के विश्लेषण से इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। देहरादून में रविदास और जटियाँ दो चमार जातियाँ पाई जाती हैं। रविदास अधिकतर चूना उद्योग में लगे हुए हैं और जटियाँ जूता बनाने तथा चमड़े के उद्योग में। जटियाँ रविदासों से पहले देहरादून में स्थानांतरित हुए थे। रविदास चमारों के तीन सौ पंद्रह पेशों के मुखियाओं में 70.10 प्रतिशत चूना उद्योग में लग है 57.9% बलगाड़ी से सामान ढोल में 2.54% छोट छोट व्यापारों में 3.81% दर्जों और नाई के कामों में 7.04% छोटी मोटी सरकारी नौकरियों में 1.27% प्राइवेट नौकरियों में और 2.5% अपने लड़कों पर निर्भर हैं। जटियाँ चमारों में 89.3% जूता उद्योग में 4.54% व्यापार में और 6.78% सरकारी नौकरियों में लगे हैं। किन्तु इनके पेशों का यदि अत्यंत कुशल (Highly Skilled) कुशल (Skilled) और अकुशल (Semi skilled and Unskilled) श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि रविदास चमारों में केवल 11.11% और जटियाँ चमारों में केवल 1.0% अत्यंत कुशल श्रेणी में आते हैं और प्रमत्त 13.02% तथा 89.01% कुशल श्रेणी में और 7.93% तथा 27.9% अकुशल या अकुशल श्रेणी में। ग्रिग ने अपनी पुस्तक दि चमार (1900) और माहिंदर सिंह ने अपनी पुस्तक दि डिप्रेस्ड कमज (1914) में चमारों का मुख्य पेशा चमड़ा निकालना चमड़ा पकाना जूता बनाना और मजदूरी निर्धारित किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गहरी कारण तथा जीसांशिक कारण न चमारों में परम्परागत पेशों में परिवर्तन किया है यद्यपि

1. देहरादून के चमारों के पेशों सम्बन्धी यह आँकड़े सन 1908-09 में एकत्र किए गये थे। इनका विश्लेषण इस्टा एन्थ्रोपॉलाजिस्ट काल्यून N. N., नं० 3 में प्रकाशित, लेखक के लेख टेंडर एण्ड मेजस आफ स्टेटस मोबिलिटी एमाग दि चमार आफ देहरादून में किया गया है।

सभी चमार जातियों पर इसका एक सा प्रभाव नहीं हुआ है। किंतु साथ ही साथ, शहरीकरण और औद्योगीकरण के वावजूद भी चमार अधिकतर उसी अनुपात से अकुशल, अशिक्षित और कुशल पैगामे हैं जिस अनुपात से वे ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक-व्यवस्था में रहते हैं और आज भी हैं। हा यह अवश्य है कि बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था में चमारों में एक एस छाटे वर्ग का अभ्युदय हुआ है जो अत्यंत कुशल पैगामे में होने के कारण, अपेक्षाकृत अधिक धनी है। यही वह वर्ग है जो, एक ओर, उच्च जातियों के सामाजिक स्तर में प्रवेश पाने के लिए इच्छुक है और दूसरी ओर, अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के लिए चमारों के सामाजिक स्तर को उठाने के लिए, प्रयत्नशील है। इस प्रकार जिस जाति में जितना अधिक पैसा वैभिय आया है उतना ही उसमें आर्थिक वैभिय और वर्ग मरचना के तरफ का समावेश हुआ है और उतना ही उसमें पश्चिमीकरण या संस्कृतिज्ञान के द्वारा अपना सामाजिक स्तर उठाने की प्रेरणा का अभ्युदय हुआ है।

ग्रामीण सामाजिक-व्यवस्था में उपरोक्त परिवर्तन का समावेश हुआ है किंतु उतना नहीं जितना कि शहरी सामाजिक व्यवस्था में। जसा कि हाल के ग्रामीण अभ्युदय से स्पष्ट है भारत के गांवों में मुख्यतया निम्नवर्णी जातियां हैं जाति और वर्गों का परम्परागत सहसम्बन्ध बहुत कुछ अब भी वसा ही बना हुआ है यद्यपि वह धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में यजमानी प्रथा विद्यमान भी है और बदल भी रही है। बदलती हुई ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था तथा उस पर उत्तरोत्तर बढ़ते हुये औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के प्रभाव ग्राम की शहर पर बढ़ती हुई निर्भरता तथा ग्रामवासियों के शहरों में स्थानान्तरित होने के कारण यजमानी प्रथा का परम्परागत रूप बदल रहा है। उदाहरणार्थ, जब गांव के लोग शहरों में बपड़े सिलाते हैं या जूच्चों का शहरों में स्थिति जूच्चा-कै-द्रा में भेजते हैं या शहरों के नजदीक स्थित गांव के लोग शहरों में बाल कटाने जाते हैं तो परम्परागत यजमानी प्रथा का धक्का लगता है। परम्परागत सामाजिक आर्थिक-व्यवस्था में गांव का व्यक्ति गांव की ही नारीगर जातियों से मना लेने के लिए बाध्य था, जिसके कारण गांव की नारीगर जातियों का अपने प्रांत का परम्पराधिकार या जो शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के कारण समाप्त हुआ। फलतः यजमानी प्रथा के मूल आधारों में परिवर्तन आया। दूसरी ओर दैनिक आवश्यकताओं का वस्तुओं के बढ़ते हुए भावों तथा मुद्राओं आर्थिक व्यवस्था के उत्तरोत्तर प्रभाव के कारण पारिश्रमिक को धार्य (Wage) में देने के स्थान पर मुद्रा के रूप में देने और देने की प्रेरणा बढ़ी। मुद्रा में पारिश्रमिक के भुगतान के कारण यजमान और परजा का परम्परागत सम्बन्ध समाप्त हो गया और उस स्थान पर व्यापारी दृष्टिकोण का अभ्युदय हुआ। शहरों में अधिक पारिश्रमिक मिलने के कारण नारीगर तथा सबक जातियों ने अपने वर्गों के अनुसार गम की अपेक्षा शहरों में श्राव्य बढ़ाने पर जोर दिया। शहरी

व्यवस्था में भी, महा-ब्रह्म, परम्परागत यजमानी प्रथा के तत्त्व पाए जाते हैं किन्तु उनका आधार परम्परागत नहीं है। जैसे, शहर में भी विवाहों में नाई की आवश्यकता पड़ती है किन्तु उसके लिए पसा देकर किसी भी नाई की सेवा ली जा सकती है। जसा कि भगियो ने पेशे से स्पष्ट है शहरीकरण के बावजूद भी, उनका अपने पेशे पर एकाधिकार बना रहा जिसके कारण, शहरीकरण के प्रभाव में और अपने पेशे की विगपता के कारण, भगी जाति ने टूट यूनियन का रूप ले लिया।

बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था, पूँजीवाद तथा बढ़ते हुये औद्योगिकरण के प्रभाव के कारण तथा जमींदारी उन्मूलन और अस्पृश्यता निवारण जैसे बधानिक विकासों के कारण, एक ओर, विभिन्न जातियों का परम्परागत आर्थिक ऋम विन्यास बदला है तो दूसरी ओर, समानता के विचार का प्रसार हुआ है। बयस्क मताधिकार के द्वारा सभी जाति के लोगों को राजनैतिक समानता मिली। इस प्रकार योरोप के सघात से परम्परागत राजनैतिक तथा आर्थिक जातिम विन्यास परिवर्तित हुआ है किन्तु कमकाण्डी ऋम विन्यास बहुत कुछ बसा ही है। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में, आज भी विभिन्न जातियाँ कमकाण्डी सेवाओं को प्रदान करती हैं किन्तु 'नेग', धर्म के स्थान पर अधिकतर मुद्रा में दिया जाता है। कमकाण्डी ऋम विन्यास के कारण, पवित्र और अपवित्र तथा शुद्ध और अशुद्ध जातियों का अंतर आज भी बना हुआ है। भ्रष्टों को मिल हुए राजनैतिक अधिकारों ने भ्रष्टों का एक अलग समूह बना दिया है, जिसके कारण, भ्रष्टता में पाय जाने वाले कमकाण्डी ऋम विन्यास (Ritual Ranking) पर राजनैतिक एकता का अभ्युदय हुआ है। यद्यपि गांव में अस्पृश्यता की समस्या बसी ही है रेल, मोटर, होटल सिनेमा, विद्यालयों और शहरी वातावरण ने विभिन्न जातियों के सम्पर्क को बढ़ावा देकर कमकाण्डी ऋम विन्यास का बर्ला है जिससे शहरों में छूत अछूत की भावना कम हुई है। एक ओर, कमकाण्डी ऋम विन्यास तथा आर्थिक असमानताओं के बने रहने तथा दूसरी ओर, राजनैतिक अधिकारों के मिलने से निम्नवर्णी तथा उच्चवर्णी जातियों में सघम उत्पन्न हुआ है। जिसकी छाप वर्तमान भारतीय राजनैतिक जीवन पर पड़ रही है।

अंग्रेजी राज्य का सबसे अधिक प्रभाव जाति के राजनैतिक पहलू और जाति पंचायतों के अधिकारों तथा कार्यों पर पड़ा। अंग्रेजी राज्य के रूप में, भारत में पहली बार, राष्ट्र राज्य का अभ्युदय हुआ जिसके कारण जातियों का अखिल भारतीय विस्तार का अवसर मिला। रेल तार टाक, छापाखाना और समाचार पत्र के कारण तथा बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियाँ से मिलने वाली प्रेरणा के कारण, अंग्रेजी राज्यकाल में, अखिल भारतीय जाति संगठनों का अभ्युदय हुआ। यही वह काल है जब विभिन्न जातियों ने अपने अखिल भारतीय संगठन भी स्थापित किए और, साथ ही साथ जाति के संगठन का बनाए रखने के लिए, जाति के लिए उच्च स्तर का दावा करने के लिए तथा आवश्यकतानुसार सुधार करने के लिए समाचार

पन्ना का निकाला, जाति पर पुस्तका को प्रकाशित किया और जैसा कि श्री निवास ने लिखा है अनेक जातियों ने अपन सगठनों के सविधान का बनाकर उस प्रकाशित कराया¹। लेकिन ये सगठन परम्परागत जाति-पंचायतों से भिन्न थे। जमा कि पहले लिखा जा चुका है परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में, राज्य की देखरेख में, जाति-पंचायतों में प्रशासन, 'याय तथा दण्ड' के अधिकार निहित होते थे। अंग्रेजी राज्य में जब पुलिस और 'यायालयों' की स्थापना हुई और भारतीय दण्ड-संहिता का नियमन हुआ तथा आवश्यकानुसार विधियाँ क निमाण का कार्य राज्य के हाथ में चला गया तो जाति पंचायतों के प्रशासकीय सविधानों तथा 'यायिक' अधिकार राज्य के हाथ में चले गये। किन्तु फिर भी अर्थाविवाह, स्नानपान और पक्षा-सम्बन्धी नियमों का प्रशासन और नियमन जाति पंचायतों के ही हाथ में रहा। जाति-पंचायतों का दण्ड विधान जैसा शारीरिक प्रसारणा देना या दवा परीक्षा लेना, भारतीय दण्ड-संहिता के विरोध में पड़त थे वे धीरे धीरे स्वतः समाप्त हो गये। दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य की स्थापना से, जो सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक परिवर्तन हुये उनमें निम्नस्तर की जातियों की अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने का अवसर भी मिला और प्रेरणा भी। अंग्रेजी शिक्षा ब्राह्मणवादी कमकाण्ड और उच्च समझे जाने वाले पेशे सामाजिक प्रतिष्ठा का उठाने के ये माध्यम बन गये जिनका निम्नस्तर की जातियों ने अपनाने का प्रयास किया। इसी परिस्थिति में निम्नस्तर की जातियों में जाति-पंचायत एक सुधारवादी सगठन में परिवर्तित हुई। जाति पंचायतों ने, निम्नस्तर की जातियों में, मद्यनिषेध को लागू करने का प्रयास किया, उच्च शिक्षा की ओर लोगों को प्रोत्साहित किया और ब्राह्मणवादी कमकाण्ड का प्रचार किया। लखनऊ में कुशील चमारों की जाति पंचायत ने चमारों को अपन अलग मंदिर निर्मित करने के लिए प्रोत्साहित किया। पंचायतों के ही प्रयत्नों से रविदास मंदिर का निर्माण हुआ जिसे कुशील जाति का मंदिर समझा जाता है और पंचायत की बैठक में शराब पीकर आने वाले पर जुमाना लगान का विधान किया गया²। निम्नस्तर की लगभग सभी जातियों में, जाति-पंचायत समाज सुधार का माध्यम बन गईं। इसके दो कारण हैं— एक प्रत्यक्ष निम्नस्तर की जाति के शिक्षित वर्ग में जाति का स्तर उठाने के लिए समाज सुधारों की प्राथमिकता दी और, दूसरे, समाज सुधार आन्दोलन के प्रणेताओं ने जाति को समाज सुधार-आन्दोलन का माध्यम बनाने पर जोर दिया जिससे जाति पंचायत के सगठन का प्रोत्साहन मिला। निम्नस्तर की जाति के शिक्षित तथा धनी वर्ग का सामाजिक स्तर तब तक नहीं उठ सकता था जब तक कि सम्पूर्ण जाति का सामाजिक स्तर न उठे। यही कारण है कि जिस जाति का स्तर जितना निम्न रहा

1 श्रीनिवास एम०एन० कास्ट इन माडर्न इण्डिया एण्ड अदर एसेज पृष्ठ 16

2 अटल, जी० एम० चमारों आफ लखनऊ (अप्रकाशित)

है और जिस जाति के सदस्यो में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की जितनी प्रेरणा रही है, उसमें जाति पचायत या जाति संगठन का प्रभाव उतना ही महत्वपूर्ण है।

पराधीन प्रभाव के अंतर्गत, जाति संरचना में बड़े व्यवस्था के तत्वों का समावेश हुआ जिसके दो मुख्य परिणाम निकले। शहरी सामाजिक व्यवस्था में जाति के आर्थिक आधार गौण हो गए और व्यापार, सरकारी नौकरियों तथा धर्मपूजा शिक्षा के प्रभाव के अंतर्गत बड़ा औद्योगिक समाज की बड़ी व्यवस्था का सम्मिश्रण हुआ। इस बड़े व्यवस्था में निम्न और उच्च सभी प्रकार की जातियों का सम्मिश्रण हुआ। उदाहरणार्थ, शहरी में जो औद्योगिक पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसके मध्यवर्ग में उच्चवर्णी जातियों के लोग भी हैं और निम्नवर्णी जातियों के भी, यद्यपि इसमें बहुतायत उच्चवर्णी जातियों के लोग भी हैं। किन्तु भारत की ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था का आर्थिक आधार वृषि ही है क्योंकि भारत में औद्योगीकरण तथा शहरीकरण का धीरे धीरे विकास हुआ है। ऐसी दशा में, ग्रामीण समाज के आर्थिक साधना पर अधिकतर उच्चवर्णी जातियों का ही अधिकार रहा है। उधर, औद्योगीकरण के प्रभाव से घरेलू उद्योग घटते हैं जिससे शहरी जातियों के लोग भूमिहीन वृषक के रूप में संवहारा बग में बदलते गये जिससे भूमि पर जनसंख्या का दबाव और भूमिहीन वृषक की संख्या बढ़ी। राजनैतिक अधिकारों के मिलने के साथ-साथ निम्नवर्णी जातियों ने आर्थिक समानता तथा आर्थिक अधिकारों को बनाये रखने का प्रयास किया। निम्नवर्णी जातियों के जिन लोगों ने सरकारी नौकरियों का अपनाया या व्यापार का अपनाया उनका आर्थिक अस्तित्व ख़ूबी पर निर्भर नहीं है। अतः, वे अपने अर्थ साधनों की भाँति उच्च जातियों पर आश्रित नहीं हैं। उच्च जातियों पर आश्रित न होने के कारण इस वर्ग ने कमबालू समानता की माँग की क्योंकि राजनैतिक समानता पहले से ही मिली हुई है। हाँ, यह अवश्य है कि स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रारम्भ में, इस वर्ग का राजनैतिक विशेषाधिकार नहीं मिले थे। अतः, जैसा कि ज्यादातर बड़ों महाराजा बाहादुर (श्री साहू क्षत्रपति) और अम्बेडकर के शाहूजीविराधी आन्दोलन से स्पष्ट है, इस वर्ग ने पहले राजनैतिक विशेषाधिकारों की माँग की।

राजनैतिक विशेषाधिकारों के मित्र जान पर, कमबालू समानता की माँग पड़ी। इसका प्रभाव भारत के राजनैतिक आन्दोलन पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप निम्नवर्णी जातियों को, संविधान द्वारा, राजनैतिक विशेषाधिकार और संरक्षण प्रदान किया गया। किन्तु, गाँव में जमींदारी उन्मूलन के बाद भी, भूमि पर उच्चवर्णी जातियों का ही अधिकार रहा। इस ग्राम पंचायतों ने संगठन से निम्नवर्णी जातियों को मतदान का अधिकार और राजनैतिक समानता मिली। इस परिस्थिति में, उच्चवर्णी जातियों ने पंचायतों का अपने विशेषाधिकार बनाये रखने का माध्यम बनाया ता निम्नवर्णी जातियों ने उसे नये अधिकारों के प्रयोग का माध्यम। आर्थिक असमानता

न, इस परिस्थिति में, उच्च तथा निम्नवर्णी जातियाँ म सधप का जन्म दिया क्योंकि निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर, अपन राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूक हैं तो, दूसरी ओर, उच्चवर्णी जातियों पर अपनी आर्थिक आश्रयता के कारण असहाय हैं। ऐसी परिस्थिति में, निम्नवर्णी जातियों का सिद्धि वग, अपनी जाति के लोगों को नये मिले हुए राजनैतिक अधिकारों के प्रयोग के लिए प्रेरित करता है जिसका परिणाम होता है गुटवर्गी और सधप जिसस ग्राम पंचायत प्रणाली सरावार है।

जैसाकि भारत के अन्तर्गत ऐतिहासिक युगों में हुआ अंग्रेजी राज्यकाल में भी, जाति का सत्कर हिन्दू-समाज में सुधारवादी आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। ये सुधारवादी आन्दोलन दो प्रकार के हैं—एक श्रेणी में ब्रह्मसमाज, आयसमाज, रामकृष्ण मिशन और धियामाधिकार मासादटी आते हैं और दूसरी श्रेणी में महादेव गोविंद रानाडे और गांधीजी वृष्ण गोखले के सुधार आन्दोलन। पहली श्रेणी के आन्दोलन धार्मिक-सामाजिक हैं और दूसरी श्रेणी के सामाजिक धार्मिक। पहली श्रेणी के सुधारवादी आन्दोलन ने जाति का विरोध किया और शास्त्रप्रणीत वण व्यवस्था का उसी प्रकार से प्रतिपादन किया जमा कि बुद्ध और गमानुजयम सुधारक बन चुके थे। सामाजिक धार्मिक सुधारवादी नेता मूलतः समाजसुधारवादी थे और उनका दृष्टिकोण सद्भावपूर्ण हान की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक था। अतः यदि पहली श्रेणी के नेताओं ने जाति की वण के सद्भाव में समस्या की तो दूसरी श्रेणी के नेताओं ने जाति को ही समाजसुधार का माध्यम बनाने पर जोर दिया क्योंकि जाति का लोपोपर व्यापक प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो जाति की आलोचना शुरू हुई और, दूसरी ओर, जाति मजबूत करने का प्रयास मिला जिसका फलस्वरूप यदि एक ओर जाति विरोधी विचार फैला तो, दूसरी ओर, जाति के स्वातुषण्य ममा मष्टम् के आधार पर जाति का सुसुविनकरण किया गया। एक ओर, जाति विरोधी विचारधारा बननी लगी, दूसरी ओर जनानता में निम्नस्तर की जातियों ने अपने का उच्चस्तरीय जाति का अंकित करवाना शुरू किया। इसका फलस्वरूप जाति का लेकर भारतीय विचारधारा में द्विमानिता का योगयोग हुआ।

मीनिवास के अनुसार, जहाँ जहाँ जनता के हाथ में राजनैतिक सत्ता सौंपी गई तब-तब जाति की राजनैतिक सत्ता और बल बढन गये। यादव्यू चम्पकाड के राजनैतिक सुधारों के साथ-साथ, भारत के राजनैतिक जीवन में जाति चेतना का

1 विरोध अध्ययन के लिये देखिये

- (अ) बनड एस० कान चेंनिंग स्टेट्स आफ डिपरेस्ट कानेज, मरिम मरिपट द्वारा सम्पादित रिलेज इण्डिया में।
- (ब) बेली, एफ० जी० एन उडिया हिन्दु विलेज एम० एन० थोनिवास द्वारा सम्पादित इण्डियन विलेज में।

श्रीगणेश हुआ। इस चेतना का भारत की राजनतिक गतिविधियाँ पर प्रभाव पड़ा। अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये या नये विनोपाधिकारों को प्राप्त करने के लिए, जातियाँ न राजनतिक दलों का आश्रय लिया। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण कम्मा और रेड्डी जातियों की प्रतिस्पर्धा अत्यन्त प्राचीन है। बदलती हुई परिस्थिति में कम्मा जाति के लोग न कम्युनिस्ट पार्टी पर अधिकार जमाया तो रेड्डीयों ने कांग्रेस पर। रेड्डीयों के पास आपदाग्रस्त भूस्वामित्व अधिक है और यही उनकी प्रतिस्पर्धा का कारण है। वास्तव में, मुख्यतया, भारत के प्रधान राजनतिक दल का ही विभिन्न जातियों ने अपनी राजनतिक स्पर्धा का मंच बनाया है। विभिन्न प्रांता में, कांग्रेस पर विभिन्न जातियों ने अपना बहुमत कायम किया है। जसाकि श्रीनिवास का मत है पंचायती राज सगठन से स्थानीय प्रभुतासम्पन्न जाति को अपना राजनतिक प्रभाव बढ़ाने का एक अवसर मिला। यह सर्वविदित है कि चुनाव में, एक क्षेत्र विधायक के उम्मीदवार का चुनने के लिए राजनतिक दल बहुधा उही प्रभावशाली व्यक्ति को नामजद करते हैं जिनकी जाति का उस क्षेत्र विधायक में बहुमत है। इसप्रकार, प्रत्येक राजनतिक दल, विनोपतया कांग्रेस, एक घोर प्रभुतासम्पन्न जातियों के निहित स्वार्थों से प्रसिद्ध है तो दूसरी ओर, पिछड़ी हुई जातियाँ स्वार्थों से। यही कारण है कि कांग्रेस भारतीय समाज में आमूल-चूल परिवर्तन लाने में असफल रही। हिन्दू मुसलमान और इसाईयों में से अनेक जातियों ने पिछड़ी जातियों को मिलने वाले विशेषाधिकारों को पान के लिए, अपने का बैकवर्ड जातियों को अपनी मिलावट का प्रयास किया। केरल में बकवर्ड त्रिडिचयन फेडरेशन की स्थापना और उसके द्वारा पिछड़ी इसाई जातियों के लिए विनोपाधिकारों की माँग राजनीति पर जाति के बढ़त हुए प्रभाव का एक उदाहरण है¹। मध्यकालीन भारत में लिङ्गामता ने गवर्वाद का आश्रय लेकर और अनेक शास्त्रागत परम्पराओं को अपनाकर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का ऊपर उठाने का प्रयास किया किन्तु वर्तमान समय में अपने लिए पिछड़ी जातियों के हित की माँग की। इसप्रकार राजनीति के मंच पर जहाँ एक ओर जाति की भस्मना की गई उस दूर करने के लिए लोग को प्रेरणा दी गई वहाँ दूसरी ओर, बोटों की जाकपित करने वाली वस्तु के रूप में जाति की दबे पाँदों में महत्ता भी स्वीकार की गई।

ससृष्टताइजेशन की प्रक्रिया जाति गत्यात्मकता का आधार रही है क्योंकि धार्मिक-व्यवस्था के निष्प्रवाह होने के कारण ससृष्टताइजेशन ही जातिगत्यात्मकता का एकमात्र आधार रहा है। बुन्दवाद तथा मध्ययुगीन भारत में सुधारवादी निम्न संप्रदायों ने यदि जाति का विरोध किया तो, साथ ही साथ, हिन्दुत्व का इस ढंग से

1 दि हिन्दुस्तान टाइम्स कोकली (4 अक्टूबर 1964) में प्रकाशित यू० एन० आई० के एक समाचार के आधार पर।

निर्वाचन किया कि अधिकतर जातियाँ शास्त्रानुगत परम्पराओं को अपना सकें। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने अनेक गणजातियों के लिए हिन्दुत्व में आने का मार्ग प्रशस्त किया। ये आन्दोलन ब्राह्मणों द्वारा (बुद्धवाद को छोड़कर) शुरू किए गए। ब्राह्मण ही जाति का विरोधी रहा और ब्राह्मण ने जाति का समर्थन भी किया। जाति विरोधी आन्दोलन में सभी जातियों के लोग शामिल हुए किन्तु जाति विरोधी आन्दोलन में आकर के भी लोग अपनी पुरानी जातियों से सम्पर्क नहीं छोड़ सके। यह प्रक्रिया इस तथ्य से स्पष्ट है कि जब भी पथ, नानक पथ, शिवनारायणी पथ इत्यादि सुधारवादी पथों में सभी जातियों के लोग आए किन्तु अपनी जाति से सम्पर्क नहीं छोड़ सके। जैसे, सिक्खों में यदि खत्री एवं समूह विशेष बनता निम्नस्तर की जातियों के अनेक मतविवाही समूह सिक्खों में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार मस्जिदाइजेशन एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और सुधारवादी आन्दोलन उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम। जाति का एक भाग पहले सङ्कृताइजेशन की ओर उन्मुख होता है और फिर सङ्कृताइजेशन को अपनाकर वह संपूर्ण जाति को सङ्कृताइजेशन की प्रेरणा देता है। अतः सङ्कृताइजेशन यदि जाति में एक ओर, पथवर्तण की प्रक्रिया को जन्म देता है तो, दूसरी ओर एकीकरण की प्रक्रिया को क्योंकि निम्नस्तर की जातियों में जो व्यक्ति उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं उनको उच्चस्तर पर तब तक स्वीकार नहीं किया जाता जब तक कि उनकी संपूर्ण जाति उच्चस्तर स्तर पर स्वीकृत नहीं हो जाय। सङ्कृताइजेशन की प्रक्रिया जाति में विभाजन तथा एकीकरण का एक साथ जन्म देती है। पुराणों के आधार पर उच्चवर्ण का दावा मास मदिग का नियम वर्ण क्रम तथा आवागमन में विद्वानों और ब्राह्मणवादी कमकाण्ड का अपनाना सङ्कृताइजेशन का मूलतत्त्व रहे हैं।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से यूरोपीय सघात के कारण भारत की आर्थिक-व्यवस्था में जो परिवर्तन आए और अंग्रेजी शिक्षा एवं सरकारी नौकरी व्यापार और गृहीकरण ने आर्थिक चलिष्णुता के जो अवसर प्रदान किए उनसे सङ्कृताइजेशन के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उठाने के ओर भी अवसर मिले। दूसरी ओर, पश्चिमीकरण (Westernization) सामाजिक प्रतिष्ठा का एक नया मापदण्ड बना। इनके परिणामस्वरूप, वर्तमान भारत में सङ्कृताइजेशन और पश्चिमीकरण जाति गत्यात्मकता के दो आधार बन गये। जिस प्रकार, मध्य-युग में इस्लाम ने सङ्कृताइजेशन का अधिक तीव्र बना दिया उसी प्रकार यूरोप तथा इसायात के सघात ने, बल्कली हुई आर्थिक-व्यवस्था में, सङ्कृताइजेशन का पहल को अपक्ष अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज सङ्कृताइजेशन को व्यापक बनाने के आन्दोलन में और दोनों के प्रणेत ब्राह्मण थे। आर्यसमाज ने सभी को पौरोहित्य काय का स्थान देकर सङ्कृताइजेशन को और भी जनमुलभ बना दिया। यह दोनों आन्दोलन पश्चिमीकरण के विरोधी थे किन्तु, फिर भी,

पश्चिमीकरण प्रतिष्ठा का मापदण्ड बना रहा। व्यापार, सरकारी नौकरियों और राजनैतिक अधिकारों ने निम्नस्तर की विभिन्न जातियाँ भी ऐसे वग का जन्म दिया जिनसे संस्कृताइजेशन को अपनाकर उच्चस्तर प्राप्त करने की प्रेरणा दी। जम्बेद्वार द्वारा अछूतों को बुद्धिमान की ओर लाने का प्रयास इसका एक उदाहरण है। इस काल में, पौराणिक प्रमाणों के आधार पर निम्नस्तर की जातियाँ ने अपने लिए उच्चस्तर का दावा किया। चमारों ने अपने को चवरवशी राजपूत, जरावारी ने अपने को राठौर राजपूत तथा काछिया ने अपने को कुशवाहा राजपूत कहा। अनेक जातियाँ ने जाति के महापुरुषों का संस्कृताइजेशन के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया। उदाहरणार्थ चमारों ने रविदास जय शी मनाती झुड़ की जीर्ण मूलसीदास रामायण तथा सत्यनारायण कथा के स्थान पर रविदास रामायण तथा रविदास कथा को अपनाया। भगिया ने वाल्मीकि की जाति का प्रतीक माना और उनका उपदेशों को मानने पर जार दिया। अनेक जातियाँ ने अपनी उन साम्राज्य का महिम्नार किया जिनके धारण उन्हें हेय माना जाता था (जैसे भगिया का अपने को भगी न कहकर वाल्मीकि कहना)। मास और मन्त्रों के त्यागन पर जार दिया और योगपर्वत के साथ साथ ब्राह्मणों की भवाभा का अपना पर जार दिया।

संस्कृताइजेशन की प्रक्रिया एकतरफा रही है क्योंकि निम्नस्तर की जातियाँ ही संस्कृताइजेशन को अपनाने के लिए उन्मुख रही हैं। पश्चिमीकरण उच्चस्तर की जातियों से प्रारम्भ हुआ और बाद में उसका प्रचार निम्नस्तर की जातियों में हुआ। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन साधन हैं साथ ही नहीं। साध्य है उच्चस्तर सामाजिक प्रतिष्ठा। लोग की ऐसी धारणा रही है कि पश्चिमीकरण का प्रभाव उच्चस्तर पर रहा है और संस्कृताइजेशन का निम्नस्तर पर रहा जहाँ पश्चिमीकरण प्रारम्भ होता है वहाँ संस्कृताइजेशन का अंत होता है और उच्च संस्कृताइजेशन का अंत होता है वहाँ पश्चिमीकरण का प्रारम्भ होता है। ऐसी मान्यताओं भ्रममूलक हैं क्योंकि यदि बुद्धवाद मध्ययुग के सुधारवादी कथा और उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आंदोलनों के सद्भूमि विचार किया जाय तो यह विदिन होगा कि संस्कृताइजेशन एक गत्यात्मक विचार है—यह विचार जिसका निवर्तन एक ओर 'सभ्यतायुगे युगे युग की धारणा' में गम्यित रहा है ता दूसरी ओर, देश-धर्म की परिस्थितियों से। संस्कृताइजेशन के साथ पश्चिमीकरण का गमन यूरोपीय सभ्यता का प्रभाव है। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन जाति संरचना के विभिन्न स्तरों पर एक साथ कार्य कर रहे हैं यद्यपि किसी स्तर पर संस्कृताइजेशन का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव है और किसी स्तर पर पश्चिमीकरण का। पश्चिमीकरण और संस्कृताइजेशन सामाजिक प्रतिष्ठा की चलिष्णुता के आधार पर कार्य है किन्तु ये वस्तुन, निर्भर करते हैं जाति गत्यात्मकता का जन्म देने वाली दो प्रक्रियाओं पर। उन प्रक्रियाओं में एक है जाति में पथक होकर उच्चस्तर पाने की प्रक्रिया और दूसरी, उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए जाति के

एकीकरण को बनाए रखने की प्रक्रिया। बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियाँ ने तथा व्यापार, सरकारी तथा पीज का नौकरों और, राजनैतिक अधिकारियों से उत्पन्न परिस्थितियाँ ने इन प्रक्रियाओं के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया जिसके कारण, इन दोनों प्रक्रियाओं के माध्यम से, पश्चिमीकरण और संस्कृति-अज्ञान का जाति-गत्यात्मकता में अधिक प्रभावशाली स्थान मिला।

यूरोपीय संघर्षों का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि भारतीय समाज की एक आधारभूत संस्था हात हुए भी जाति एक प्रमुख सामाजिक समस्या बन गई। यूरोपीय उदारतावाद, प्रजातन्त्रवाद, व्यक्तिवाद और व्यक्तिवाद धर्म के आदर्शों के सदन में जाति अनुपयुक्त सामाजिक संस्था प्रतीत हुई। हिन्दू समाज के एकीकरण का समस्या ने जाति को सामाजिक समस्या का रूप दिया किन्तु, साथ ही-साथ, इस का एक सांस्कृतिक आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन में जाति की जड़ें जम गईं। फलतः जैसाकि पञ्जाब के जाति पारि-तोड़क पण्डित जय सगठनों और भायसमाज का प्रभूताद्वारक कायन्त्रमों से स्पष्ट है एक ओर जाति पारि के तोड़ने के विचार का अभ्युदय हुआ तो दूसरी ओर, जाति का समाज-तत्त्वज्ञान विवेचना को प्रोत्साहन मिला। विदेशी प्रशासकों ईसाई मिशनरियों और मानव शास्त्रियों ने जाति क्या है? क्या है? इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास किया। इन प्रश्नों का समाधान एक ओर ऐतिहासिक विवेचना के द्वारा किया गया और दूसरी ओर, जाति की वर्तमान व्यावहारिक विशेषताओं के आधार पर। रिसले ने जाति का प्रजाति-समिश्रण के परिणाम माना जिस स्वीकार न किया जा सका, क्योंकि एक ही स्तर की जातियों के प्रजातिक गठन में समानता नहीं पाई जाता है। नस्लीय और पेरिडन ने जाति की उत्पत्ति पेशे से मानी है किन्तु जैसाकि डा० मजूमदार ने लिखा है, उपलब्ध पक्षों की अपेक्षा जातियों का अधिक होना, इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। भारत के सामाजिक इतिहास के मद्देन में, जाति गत्यात्मकता का विवेचन करते हुए घुरे ने जाति का ब्राह्मणों की वह सामाजिक कृति कहा जिसे ब्राह्मणों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए, बालाकी से समाज में उत्पन्न किया। किन्तु घुरे के सिद्धान्त से यह नहीं स्पष्ट होता कि ब्राह्मण ही क्यों जाति प्रथा के विरोधी रहे हैं और क्या कोई सामाजिक समस्या इतनी सुनिश्चित और सुमुक्तिपूर्ण विचारधारा की उत्पत्ति हो सकती है जितनी कि घुरे ने जाति का माना है। डा० मजूमदार ने जाति अनाथों की संरक्षिता के संघर्ष और उस संघर्ष में प्रजातिक गुटता बनाए रखने की भावना से जाति की उत्पत्ति हुई है जिसका प्रमाण अनुल्लाप और प्रतिलोप की विवाह प्रथाएँ हैं। किन्तु, अनुल्लाप और प्रतिलोप का सम्बन्ध वंश से है न कि जाति से। कुछ लोगों ने मनु का अनुसरण करते हुए, आर्यों की वंश-व्यवस्था से जाति व्यवस्था की

उत्पत्ति मानी है। इस मत के प्रतिपादकों ने दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—एक दृष्टिकोण के अनुसार, वर्ण जातियों में विभाजित हुए, और, दूसरे के अनुसार वर्ण ही जातियों में अग्रणी पतित हुए। किंतु इस मत के प्रतिपादक यह भूल जाते हैं कि भारतीय विचार धारा में वर्ण अर्थात् सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित रहा है और जाति जन्मजात सामाजिक प्रतिष्ठा पर। वर्ण और जाति, वस्तुतः दो समानांतर परम्पराएँ हैं। हटन ने जाति-व्यवस्था में निहित छुआछूत के विचारों पर जोर देते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि जाति के तत्त्व संभवतः आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के बाहर उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि भारत के आदिवासियों में भी छुआछूत के विचार पाए जाते हैं। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रश्न को लेकर, जाति का विश्लेषण करने वाले विद्वान जाति और गणजाति में पाई जाने वाली असाधारण समानताओं को, जाति का विश्लेषण में गौण मानते रहे हैं। यदि जाति के पेशागत विशेषीकरण की विशेषता को जाति की विशेषताओं में से निष्काल दिया जाय तो जाति वस्तुतः गणजाति ही है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पहले के भारतीय साहित्य में वर्ण और जाति का अंतर तो पामा जाता है किंतु जाति और गणजाति की द्विभाजिता नहीं पाई जाती है। जाति और गणजाति मूलतः जन्मजात अन्तर्विवाही समूह के दो पहलू हैं। अतः, यह कहा जा सकता है कि जाति आर्यों की वर्ण व्यवस्था तथा भारत की गणजातीय व्यवस्था के सम्बन्ध से उत्पन्न एक सामाजिक प्रभेद है। गणजातियों से जातियों की समस्या बनी है और संस्कृति-इंजिन के माध्यम से वर्ण व्यवस्था के सिद्धांत पर, जातियों की वर्ण व्यवस्था विकसित हुई है। जाति वह संरचना है जिसका एक आधार गणजाति के माध्यम से जन्म और अन्तर्विवाहमूलक है तथा दूसरा वर्ण सिद्धांत के आधार पर, सामाजिक प्रतिष्ठामूलक।

भारत में आदिवासी संस्कृति

उनीसवाँ अध्याय आदिवासी समाज संस्कृति संकुल

आदिवासी भारत

भारत के राजनैतिक नक्शे के साथ-साथ आदिवासी भारत का भी नक्शा बदल रहा है। अपनी पुस्तक रसेज एण्ड कल्चर आफ इण्डिया में मजूमदार ने भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप के आदिवासियों की संस्कृति, प्रजाति तथा भाषा भिन्नता के आधार पर तीन क्षेत्रों में वर्गीकृत किया है। पहला क्षेत्र है पश्चिमोत्तर सामान्त प्रदेश का जो पश्चिमी पाकिस्तान में है और जिसमें अफगानी और दिलोची गणजातियाँ आती हैं। यहाँ के लोग जिरगो में बटे हुए हैं और साधारणतः पस्तून के नाम से प्रसिद्ध हैं। अंग्रेजी सरकार ने इन्हें दबाकर अवश्य रक्खा किन्तु इन्होंने अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य कभी नहीं माना। आज य वस ही अपने लिये स्वतंत्र पस्तूनिस्तान की माँग कर रहे हैं, जैसे कि नागा प्रदेश के निवासी। पूर्वोत्तर सोमान्त प्रदेश (उड़ीसा) मजूमदार के अनुसार दूसरा आदिवासी-क्षेत्र है और दोष भारत, जिस चहाने आन्तरिक भारत (Interior India) कहा है तीसरा क्षेत्र है। पहल क्षेत्र की गणजातियाँ पड़ता भाषा का प्रयोग करती हैं दूसरे क्षेत्र की गणजातियाँ मान्-समेर और आसामी मिथिल तिब्बती चीनी परिवार की भाषाओं का तथा तीसरे क्षेत्र की

गणजातियों इण्डो-आर्य (Indo-Arya), द्राविड तथा आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं का। भाषा के आधार पर तीसरे क्षेत्र की गणजातियों को भीलवाली, गाड़-बोया तथा मुण्डा भाषा समूहों में बांटा जा सकता है। भीलवाली समूह में इण्डो-आर्य भाषा को आस्ट्रिक भाषा पर आधारित किया गया है, गाड़-बोया समूह में द्राविड भाषा की बालियों का प्रयोग होता है और मुण्डा समूह में जिन बालियों का प्रयोग होता है वे आस्ट्रिक परिवार की भाषा के अंतर्गत आती हैं। पश्चिमोत्तर सीमांत प्रदेश की गणजातियों में आमतौर पर काकेशियाई प्रजाति के लोगों का समावेश है, पूर्वोत्तर सीमांत प्रदेश की गणजातियों में, एक ओर मग़ावायड प्रजातिक लोगों का समावेश मिलता है तो दूसरी ओर भारतीय आस्ट्रालोयड प्रजातिक लोगों का, जो, अपने मूल रूप में सम्भवतः प्रायः मीडिटरेनियन (Proto Mediterranean) के प्रकार के रहे होंगे^१।

भारत के जिन भूभागों में आदिवासी पाये जाते हैं, उनकी भौगोलिक विविधताओं तथा आदिवासियों के प्रजातिक गठन और भाषा भिन्नताओं के भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर, वर्तमान आदिवासी भारत का मोटे तौर पर, तीन बड़े बड़े आदिवासी क्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। पहला, उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र जिसका एक भाग हिमालय और लद्दाख़ में है और दूसरा सुगौरी पहाड़ियाँ तथा मिज़ोमदन में तथा जो लद्दाख़ से लेकर नफा तक फैला हुआ है। मध्य में पतला और किनारों पर चौड़ा होता हुआ यह क्षेत्र, पश्चिम में लगभग अक्षांश ३०°०' उ०—३५°००' उ० तथा पूर्व में लगभग अक्षांश २३°३०' उ०—२८°०' उ० तथा लगभग देशांतर ७७°३३' पू०—९७°०' पू० के बीच में फैला हुआ है। इसमें पूर्वी कश्मीर, पूर्वी पंजाब हिमाचल प्रदेश उत्तरी उत्तरप्रदेश, सिक्किम, नागालैण्ड तथा असम के आदिवासी क्षेत्र आते हैं। नैतिकशास्त्रीय (Ethnological) दृष्टिकोण से दक्षिणी उत्तरप्रदेश (जिला मिर्जापुर), बिहार, बंगाल और उड़ीसा, मध्यप्रदेश, गुजरात तथा दक्षिणी राजस्थान के आदिवासी मध्यक्षेत्र (Central Zone) में आते हैं। उत्तरी राजस्थान बस्तर (मध्यप्रदेश) और बम्बई प्रांत के दक्षिणी भाग तक (लगभग अक्षांश २०°०' उ०—२५°०' उ० तथा देशांतर ७३°०' पू०—९०°०' पू० के बीच) फैला यह क्षेत्र, क्षेत्रफल और जनसंख्या में सबसे बड़ा क्षेत्र है। इसका दक्षिण पूर्वी भाग आंध्र, मद्रास केरल और मंगलूर इत्यादि प्रांतों के आदिवासी क्षेत्रों के साथ, दक्षिणी आदिवासी क्षेत्र (अक्षांश ८°०' उ०—२०°०' उ० तथा देशांतर ७६°०' पू०—८५°०' पू० के बीच) का रूप ग्रहण करता है। वर्तमान और निकटवर्ती देशों में भी आदिवासी पाये जाते हैं किंतु उनका प्रजातिक गठन भारत-महादेश (Main Land) के आदिवासियों से भिन्न है^२।

१ मजूमदार, डी० एन० रैसेज एंड कल्चर ऑफ इण्डिया पृष्ठ ३७७।

२ मजूमदार और मदन के आधार पर।

जनसंख्या और प्रसार के दृष्टिकोण से, मध्य क्षेत्र जय क्षत्रों की अपेक्षा जितना बड़ा है उमके प्रति अपेक्षाकृत हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान भी उतना ही अधिक है। यह वह क्षेत्र है जहाँ आदिवासियों की जनसंख्या का उत्तरोत्तर केंद्रीकरण भी होना रहा और गर आदिवासियों से संस्कृति सम्पक भी। इसी क्षेत्र में गोंड जैसे आदिवासियों के साम्राज्य का उत्थान और पतन भी हुआ है। भारत के कटि प्रदेश में स्थापित होने के कारण जयजी शासन काल में, इस क्षेत्र के अध्ययन पर भी अधिक ज़ोर दिया गया। किन्तु आज हिमालय में भारत और चीन की सीमाओं के मिलन तथा चीन भारत संघर्ष के कारण उत्तरी उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की महत्ता सबसे अधिक बढ़ गई है। नेपा की छाड़र, इस क्षेत्र के बारे में हमारा समाजशास्त्रीय ज्ञान अल्पतम है। भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ियों, घाटियों तथा दुगम जगलों से घिरे उन भूभागों में आते हैं जहाँ यातायात की अपेक्षाकृत कम सुविधा होने के कारण जन जीवन एक प्रकार से अछूत अवस्था में रहा है। इसका उत्तरदायित्व जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है उनका बखान यहाँ न करके भाग दिया जायेगा। यहाँ तो इतना कहना काफी होगा कि अछूत अवस्था के बावजूद इन प्रदेशों का जन जीवन भारत महादेश के सांस्कृतिक प्रवाहों से झूटा नहीं रहा है। ब्रिटेन की स्थापना के बाद से, जहाँ यातायात के साधन और औद्योगिकी का प्रभाव बढ़ता रहा इन प्रदेशों की पथक्ता भी कम होती गई। द्वितीय महायुद्ध में, इन्फाल युद्ध का मार्चा बना और जब भारत की उत्तरी सीमा पर चीनी फौजों ने सहाय और नेपा में चढ़ाई (1962) की तो नेपा से लेकर सहाय तक के आदिवासी क्षेत्रों की पथक्ता और भी कम हुई।

भारत के आदिवासी क्षेत्र पहाड़ों तथा जंगलों से घिरे होने के बावजूद भी, एकल आदिवासी (Exclusively Tribal) क्षेत्र नहीं हैं। हाँ, यह अवश्य है कि कहीं आदिवासियों के साथ गर आदिवासियों की संख्या कम है और कहीं ज्यादा, यद्यपि प्रत्येक सम्पूर्ण आदिवासी क्षेत्र में आदिवासियों की संख्या गर आदिवासियों से ज्यादा है। सहाय और नेपा की अपेक्षा दक्षिणी बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में गर आदिवासियों की संख्या अधिक है। जहाँ जमशेदपुर और भिलाई जल वारखान खुले गये हैं, वहाँ गर आदिवासियों की स्थायी जनसंख्या और भी बढ़ गई है। अधिकतर आदिवासी निचले ही जंगलों से आच्छादित दुगम पहाड़ी घाटियों में रहते हैं किन्तु इन भौगोलिक परिस्थितियों के ही आधार पर, आदिवासी सांस्कृतिक जीवन पर भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा प्राकृतिक पर्यावरण का अपेक्षाकृत इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि प्राकृतिक पर्यावरण के विभिन्न तत्व आदिवासी संस्कृति के पार्थिव उपादान बन जाते हैं और उसके कारण आदिवासी संस्कृति तथा प्राकृतिक पर्यावरण में एक प्रकार का सहानुभूतिक तादात्म्य का स्थापित हो जाता है। किन्तु तादात्म्य में जो सहानुभूति है, वह आदिवासी संस्कृति का एकमात्र

नामक तत्व नहीं है। आदिवासी ने अपने भौगोलिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग किया है। जानिया म बटे हिंदुआ और गणजातिया म बटे आदिवासिया म जन्म ही यत्र रहा है कि जानियासी अपन प्राकृतिक पर्यावरण का प्रत्यक्ष उपभोग करता रहा है। बिन्तु भौगोलिक परिस्थितिया व ही आकार पर आदिवासी की परिभाषा नहीं हो सकती है। उदासा व खाड गणजाति व आदिवासा पहाडी घाटिया म अवस्थ रहते हैं बिन्तु, पहाडा म रहन क कारण ही, वे आदिवासी नहीं हैं। जैसा कि बेली न कहा है कि गणजाति (आदिवासी जाति) की परिभाषा में भौगोलिक मापदण्ड इसलिय असफल हो जाता है कि पहाडिया (उड़ीमा की पहाडियो) में यदि गणजातिया के अलावा अन्य लोग रहा ता आदिवासी समस्या ही नहीं रहगा।

भारत के चार भाषा परिवारों इण्डो योरोपीय (आर्य) द्राविड, आस्ट्रिक (काल या मुण्डा) और तिबेती चीनी, म स आदिवासी मुख्यतया अनाय आदिवासी भाषा भाषाओं तथा बोल्या का प्रयोग करते हैं यद्यपि आम भाषा के वर्गीकरण प्रभाव से वे एकदम मुक्त नहीं हैं। हाँ यह अवश्य है कि आर्य भाषा का प्रभाव सार भारतवर्ष व आदिवासियों पर नहीं पड़ा है। उत्तरी उत्तर पूर्वी प्रदेश में चीनी तिब्बती और तिबेती बर्मी का प्रयोग होता है यद्यपि, जैसा कि तामी प्रदेश के उदाहरण से स्पष्ट है इस प्रदेश में कहीं कहीं मॉन-ख्मेर (आस्ट्रिक परिवार की भाषा) का प्रयोग होता है। नाया पहाडिया में, स्थानीय बालिया के अलावा सोलह भाषाओं का प्रयोग होता है। मध्यक्षेत्र में, आस्ट्रिक परिवार की भाषा की प्रधानता तथा यहाँ यहाँ इण्डो आर्य भाषा व प्रभाव के साथ साथ, द्राविड भाषा परिवार की बालियों और भाषाओं का भी प्रयोग होता है। इस क्षेत्र में आराओ काम खाड और गाड नामक आदिवासी जिन भाषाओं को बोलते हैं, व द्राविड परिवार की हैं और छोटा नागपुर (बिहार) के आस-पास बोली जाने वाली मुण्डा भाषाएँ आस्ट्रिक परिवार की हैं। गाडी भाषा द्राविड और माघ भाषाओं

1 बर्मी, एक० जी० टाण्ड, कास्ट एण्ड नेशन पृष्ठ 264

2 मुण्डा भाषाओं में किया और लिंग भेद का अभाव है। शब्दों के द्वारा वस्तुओं का वर्गीकरण निर्जल और सजीव व आधार पर होता है। इन भाषाओं के लिये 'मुण्डा' शब्द का प्रयोग सबसे पहले (1852 में) फ्रेडरिक शिल्लर ने किया था। सन 1907 में डब्ल्यू० श्मिट (W. Schmidt) ने मुण्डा तथा मान जीर समेत भाषाओं को एक समूह की मानकर, उसे आस्ट्रो एशियाटिक भाषा परिवार की श्रेणी दी थी। मुण्डा भाषा परिवार तथा फिन्नी उग्रियन (Finnic-Ugric) परिवार को एक वर्ग में मिलाने के प्रयत्नों को हेमडर्क ने तत्कालीन नहीं माना है। सन 1928 में हर्न गेल्डरन (H. Geldern) ने यह सुझाव रखा कि मुण्डा भाषाएँ उन मजोल्वापड

के बीच की मानी जाती है। दक्षिण क्षेत्र के आदिवासी किसी न किसी रूप में द्राविड-परिवार की भाषाओं तामिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड या उनसे सम्बंधित भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

भारत के तीन आदिवासी क्षेत्र इस प्रकार, साधारणतया तीन प्रधान भाषा-क्षेत्रों में रखे जा सकते हैं यद्यपि किसी भी क्षेत्र में एक ही भाषा का प्रयोग नहीं होता है। उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र में तिब्बती चीनी और तिब्बती बर्मी के माय मान-खमेर भाषा बाली जाती है और मध्य क्षेत्र में आस्ट्रा एगियाटिक परिवार की भाषाओं के साथ द्राविड परिवार की भाषाएँ पाई जाती हैं। हा, दक्षिणी क्षेत्र इसका अपवाद अवश्य लगता है। एक ही क्षेत्र में दो आदिवासी समूह सस्कृति में समान हात हुए भी अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग करते हैं। छोटा नागपुर में मुण्डा बाली आम्बिक परिवार में आती है और भोराओ बोली द्राविड परिवार में, जबकि आराओ और मुण्डा एक-दूसरे के पड़ोसी हैं और दोनों की सस्कृति समान है। आदिवासी भाषाएँ और बोलियाँ निश्चय ही अनाथ भाषाओं के परिवार की हैं किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मूलतः भारत के आदिवासियों की एक भाषा थी या अनन्क भाषाएँ या यदि एक भाषा थी तो उसका मूल रूप क्या था। आज कोई भी आदिवासी भाषा अपने मूल रूप में नहीं है। इतिहास के प्रवाह में, ज्यों ज्यों और जहाँ जहाँ आदिवासियों का घर आदिवासियों से सम्पर्क हुआ उनकी भाषा बदली या उन्हाते दूसरा की भाषा अपनाई या वही कही उनकी मूल भाषा का लोप हो गया। बगल आदिवासियों ने आज अपनी मूल भाषा को छोड़कर अपने पड़ोस की छत्तीसगढ़ी

लोगों की भाषा से निकली है जो उत्तर पूर्व की ओर से, नव प्रस्तरयुगीन सस्कृति के प्रणेता के रूप में भारत में आये। यह मायता इस तथ्य पर आधारित है कि आर्यों के पहले, उत्तर-पूर्वी भारत तथा मध्य भारत में सांस्कृतिक नर-तय का सम्बंध स्थापित हो चुका था जो उस समय जला हुआ, जय आम पूर्व की ओर बढ़े। दिवगत की स्मृति में, बड़े बड़े परंपरों का स्मारक बनाने का रूप (Megalithic Ritual), युगाग्रह संगठन, जो उत्तर पूर्व तथा मध्य क्षेत्रों में पाये जाते हैं तथा मध्यभारत की घोंडों और उत्तरी पूर्व क्षेत्र की को-याक आदिवासी स्त्रियों की छाल के रंगों से बनी घाघरी, हैम-डाक के अनुसार, मेडन की मायता के नकुलगास्त्रीय प्रमाण हैं। हटन का मत है कि भारत में आस्ट्रिक परिवार की भाषा एक ओर हिमालय के पश्चिमी किनारों से आने वाले कोल भाषा भाषियों द्वारा और, दूसरी ओर हिमालय के पूर्व से आने वाले मान खमेर भाषा भाषियों द्वारा आई है—मजूमदार एण्ड भवन एन इण्डोइरान टु सोशल एथ्नोलोजी पृष्ठ 255 256।

(मध्य प्रदेश) भाषा को अपना लिया है, यद्यपि बग़ा संस्कृति आज भी एक विनिष्ट संस्कृति है। मध्य क्षेत्र के अधिकतर आदिवासी द्विभाषी हो गए हैं—प्रत्येक समूह अपनी भाषा का भी प्रयोग करता है। मध्य क्षेत्र में आदिवासी भाषाओं का साथ-साथ उड़िया बंगाली और हिंदी का भी प्रचलन मिलता है जा-आजा और मुण्डा हिंदी का प्रयोग करने लग गए हैं और बग़ा में रतन बाबू सवाल अपनी भाषा का अग़ादा बंगाली का प्रयोग सीख गए हैं।

केरल में, टावनकोर काचीन के निवासी कादर प्राचीनतम आदिवासी माने जाते हैं किन्तु वे मलयालम भाषा का प्रयोग करते हैं। एक बार, जैसा कि गाड़ी के उदाहरण से स्पष्ट है, भारत के आदिवासियों की भाषा का आधिकारण हुआ और दूसरी ओर, जहाँ द्राविड भाषा भाषियों का प्रभुत्व रहा है आदिवासियों की भाषाओं का द्राविडीकरण हुआ। ऐसी दशा में, भाषा का आधार पर आदिवासी की परिभाषा करना दुष्कर है क्योंकि आदिवासियों की कोई एक भाषा नहीं है। आदिवासी भाषा की एक सावभौम विशेषता है और वह है लिपि का अभाव। लिपि का अभाव के कारण सारा आदिवासी साहित्य मौखिक होता है। लिपि के अभाव में आदिवासी भाषा अधिकतर बोली के ही स्तर पर रहती है और इस कारण, लिखित भाषाओं का अपेक्षा वह परिवर्तनशील भी अधिक होती है। आदिवासियों की भाषाओं के लोप होने का एक कारण आदिवासियों में लिपि का अभाव है और जहाँ यह अभाव नहीं है, आदिवासी भाषा बाह्य प्रभाव को रोकने में सक्षम हो जाता है। जब स ईसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में रोमन लिपि का प्रचार करके आदिवासी भाषा में ही प्राथमिक शिक्षा का संगठन किया है तब से आदिवासी भाषाएँ सबल हो रही हैं और सांस्कृतिक पुनर्जनन का माध्यम बनती जा रही हैं।

जिस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासियों की मूल भाषा क्या थी, उसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि आदिवासियों का मूल प्रजातिक-प्रजातिक गठन प्रकार क्या था। सिंधु नदी की घाटी की संस्कृति, या लगभग चार हजार पाँच सौ वर्ष और नर्मदा नदी की घाटी की संस्कृति, या दो लाख पचास हजार वर्ष पुरानी हैं, की खोज में इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं कि उनके निर्माताओं का प्रजातिक प्रकार क्या था। यह अनुमान प्रवर्धित लगाया गया कि सिंधु नदी की घाटी में जा पहली संस्कृति उत्पन्न हुई थी—सब-निर्माताओं का प्रजातिक गठन विज्ञातीय था। भारत में एक ओर, प्रागतिहास में काम कम हुआ है और, दूसरी ओर, यहाँ की जलवायु के कारण, प्रागतिहासिक-प्रमाणों की कमी भी रही है जिसके कारण प्रागतिहास काल के भारतीय मानव की प्रजातिक विशेषताओं और संस्कृति के विषय में हमारा ज्ञान आज भी कम है। विभिन्न प्रजातियों तथा भाषा-संस्कृति-समूहों का जब, कहाँ और किस प्रकार स्थानांतरण होता रहा है इस विषय में भी निश्चित ऐतिहासिक तथा प्रागतिहासिक

प्रमाणों की भी कमी रही है—जिसके कारण, प्राचीन पुस्तकों में मिलने वाले विभिन्न समूहों का प्रजातिक विशेषताओं के वर्णन तथा इधर बीसवीं शताब्दी में की गई शरीर रचना की परीक्षा के आधार पर आदिवासियों के प्रजातिक गठन तथा इतिहास को जानने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ, बर्दो में 'दस्यु' का जो वर्णन मिलता है और गुप्त काल की चित्रकला में जो नीग्रोइड विशेषताओं वाली आकृतियाँ मिलती हैं उनके आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि आदिवासियों के प्रजातिक गठन में स्वतः प्रजाति की विशेषताओं के स्थानपर, नीग्रोइड तथा मंगोलोइड विशेषताओं का ही अधिक समावेश है। किंतु इस समावेश के स्वरूप और मात्रा पर मतभेद है।

सर हर्बर्ट हार्प रिसले जिन्होंने सन अठारहवीं सदी के अन्त्य में जनगणना का परीक्षण किया था न यह मत प्रतिपादित किया था कि भारत में द्राविड इण्डो आर्य और मंगोलोइड प्रजातियों के समावेश से भारत के मुख्य प्रजातिक प्रकारों का गठन हुआ है और आदिवासी प्रजातिक गठन द्राविड तथा मंगोलोइड के मिश्रण का परिणाम है। रिसले व सहयोगी सर विलियम क्रुके ने यह लिखा है कि आर्यों को पंजाब में मंगोलोइड प्रकार की एक जाति तथा बंगाल में दस्युओं का सामना करना पड़ा था। क्रुक ने दस्युओं को द्राविड तथा काल प्रजातियों का एक मिश्रित प्रकार माना है और द्राविडों का नीग्रोइड प्रकार की एक प्रजाति किंतु इन मतों की मान्यता नहीं मिली है क्योंकि इसमें जहाँ आर्य और द्राविड जैसे भाषा समूहों को प्रजाति माना गया है वहाँ दो प्रजातियों के मिश्रण से एक नई प्रजाति के बन जाने की कल्पना की गई है जो आनुवांशिकता के नियमों के विरुद्ध पड़ती है।

हैडन ने, प्रजातियों के स्थानांतरण के आधार पर प्रजातिक इतिहास तथा गठन का स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हैडन मध्य अश्व के आदिवासियों का भारत का मूल निवासी मानते हैं और उन्हें पूर्व द्राविड मानते हुए उन्हें भारत का प्रजातिक आधार मानते हैं। भारत के आदिवासियों का मूल प्रजातिक प्रकार क्या था यह हैडन के मत से स्पष्ट नहीं होता है यद्यपि हैडन के मत से यह विचार अवश्य पतला कि भारत के आदिवासियों तथा भारत के निवासियों के प्रजातिक गठन के विच्छेदन में, भारत में जो प्रजातिक समूह आये हैं उन पर ध्यान देना आवश्यक है। यह दृष्टिकोण में ध्यान देना कि आइन्स्टेन ने यह मत प्रतिपादित किया है कि हिमयुग के काल में दक्षिण भारत में प्रोटो नीग्रोइड (Proto Negroid) प्रकार की एक प्रजाति विद्यमान थी। जिसका आइन्स्टेन ने इण्डो-नीग्रोइड (Indo Negroid) की संज्ञा दी है। बाद में यहाँ लंबा व बड़काजा के प्रजातिक गठन से मिलती जुलती एक प्रजाति का आगमन हुआ जिसका उन्होंने एड्डिड (Eddid) प्रकार की संज्ञा दी है। भारत में जो वर्तमान एड्डिड प्रकार (Eddid Type) मिलता है, वह इण्डो-नीग्रोइड और प्राचीन एड्डिड प्रकार के मिश्रण का परिणाम है। एस० एम० सरकार

आइवरेट से महमन होने हुए, बड़का प्रकार के प्रजातिक समूह में आने वाले आदिवासी-समूहों का भारत का प्राचीनतम प्रजातिक प्रकार मानते हैं। हैमिंग्स भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं किंतु एक दूसरे दम से। हैमिंग्स के मत में, सम्भवतः, आर्यों और द्राविडों का भारत में एक ही समय में आगमन हुआ। आर्य हिमालय के किनारे किनारे में आगे आगे आये और द्राविड भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर समुद्री मार्ग से। जिस समय आर्यों के प्रभुत्व का प्रसार उत्तर में हो रहा था उसी समय द्राविड दक्षिणी भारत का द्राविडीकरण कर रहे थे। उत्तर पश्चिमी भारत में राहुवी भाषा भाषी प्रदेश जो अब पाकिस्तान में है द्राविड भाषा भाषियों के एक उपनिवेश का प्रतीक है कि, आर्यों के पहले सम्पूर्ण भारत में द्राविडों के प्रसार और प्रभुत्व का। उत्तर में आर्यों और दक्षिण में द्राविडों के दबाव के कारण, भारत के मूल निवासी सिमट कर मध्य क्षेत्र की पहाड़ियों और घाटियों में जा बसे और वहाँ आदिवासी समुदाय बन गए। किंतु घट्ट पमाणा और भारत के भाषा इतिहास की खोजों के अभाव में यह मत अनुमान मात्र लगता है।

गुह के अनुसार, भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में तीन प्रजातिक प्रकारों, नीग्रिटो प्रोटो आस्ट्रोल्वायड और मंगोल्वायड का अलग अलग स्थानों और आक्रामों में समावेश हुआ है। गुह के अनुसार दक्षिणी क्षेत्र में मंगोल्वायड का प्रसार और पश्चिमी भारत के प्राचीनतम आदिवासी हैं और उनमें घुघराले बालों (Frizzly Hair) का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वे मूलतः नीग्रिटो प्रजाति के हैं। मध्य क्षेत्र के आदिवासी, गुह के अनुसार प्रोटो आस्ट्रोल्वायड (Proto-Australoid) प्रजाति के हैं। उत्तर पूर्वी क्षेत्र में, गुह के अनुसार, मंगोल्वायड प्रजाति के तत्वों का प्रधानता है और महा दा प्रकार की प्रजातिक धारणाएँ पाई जाती हैं। एक बड़ा प्रकार का उत्तर पूर्वी भारत में पाया जाता है तथा अन्य मंगोल्वायड विशेषताओं के साथ चौड़ा सिर जिसकी प्रधान विशेषता है। दूसरा प्रजातिक प्रकार बड़ा पुत्र की घाटी के निवासियों में पाया जाता है तथा मध्यम सिर, मध्यम नाक और ऊँचा सिर (High Head) जिसकी मुख्य शारीरिक विशेषताएँ हैं। इस प्रकार, गुह के अनुसार भारत के आदिवासियों के प्रजातिक गठन में नीग्रिटो, प्रोटो आस्ट्रोल्वायड और मंगोल्वायड प्रजातियों के तत्वों का समावेश हुआ है। दक्षिणी क्षेत्र नीग्रिटो है, मध्य क्षेत्र प्रोटो आस्ट्रोल्वायड और उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र मंगोल्वायड। हटन भी गुह के मत में मानने वाले हैं। किंतु, मजूमदार और आयप्पन गुह के मत को नहीं मानते हैं। आयप्पन के अनुसार, घुघराले बाल केवल महा दा नाममात्र का ही पाया जाने हैं। प्रजातिक गठन में दक्षिणी क्षेत्र के आदिवासी, मध्य क्षेत्र के आदिवासियों से मूलतः भिन्न नहीं हैं। मजूमदार यह स्वीकार करते हैं कि उत्तर पूर्वी क्षेत्र में मंगोल्वायड प्रजाति के तत्वों का और पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में बसने वाले आदिवासी समूहों में नीग्रिटो प्रजाति के तत्वों का समावेश अवश्य हुआ है। किंतु

हाती है। खोंडो का यह विश्वास है कि व अपने क्षेत्र में कहीं बाहर से आकर बसे हैं और उहाने वहाँ के मूल निवासियों का बाहर सदेखा है। आर्यिक स्तर के दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो आदिवासियों का आर्यिक स्तर उन कृषकों से बुरा नहीं है जो आदिवासी नहीं हैं। प्रायद्वीपीय भारत की गणजातियों के देवताओं में हिंदू देवता पाये जाते हैं और अनेक निम्न स्तर की जातियाँ आदिवासियों के उन अनेक विश्वासों और प्रथाओं को अपनाय हुए हैं जिन्हें उच्च स्तर की जातियाँ तिरस्कार की दृष्टि से देखती हैं। आज आदिवासियों का जाति विभागीकरण मिटे हैं उससे समस्या और भी जटिल हो गई है और आदिवासी तथा गैर आदिवासी का प्रश्न राजनैतिक तथा प्रशासकीय मस्त्व का हो गया है।

आदिवासी संस्कृति को उसकी निजी तथा भारत की सामाजिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने की आवश्यकता है क्योंकि जिसे आदिवासी संस्कृति कहा जाता है उसका निर्माण भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया में हुआ है। आदिवासी संस्कृति एक धारणा है जो एक विषय प्रकार के सामाजिक संगठन का प्रतीक है यद्यपि वह सामाजिक संगठन निरपेक्ष नहीं है। योरोप के मानवशास्त्रियों ने आदिवासी संस्कृति का योरोपीय समाज की सापेक्षता में निर्धारित करने का प्रयास किया है। भारत की आदिवासी संस्कृति को योरोपीय सापेक्षता में नहीं समझा जा सकता है क्योंकि भारत की आदिवासी संस्कृति की सापेक्षता भारतीय, विषयगत हिंदू समाज में है। आदिवासी संस्कृति तथा उनके सामाजिक आधार हिंदू संस्कृति और समाज के अतिरिक्त नहीं है क्योंकि आदिवासी संस्कृति और समाज हिंदू धर्म का एक आधार है। आदिवासी और हिंदू भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परंपरा के दो किनारे हैं यद्यपि उन्हें एक-दूसरे का पूरक नहीं कहा जा सकता है। यह परंपरा भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित हुआ है और आज ऐतिहासिक प्रक्रिया ने ही इसका विकास के मार्ग में व्यवधान प्रस्तुत कर

- 2 अनेक समूहों ने अपने लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है ताकि वे सब धार्मिक विषयविचारों का प्रयोग कर सकें। जीनसार बाबर इसका उदाहरण है। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण अंग्रेजों ने इसे एक अलग घरेलू विषय प्रणालीय अंग माना है जसमि अंग्रेज आदिवासी क्षेत्रों को। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण जीनसार बाबर ने निवासियों को प्राचीनतम मानने का भी धारणा रहा है। किंतु जाति प्रथा के कारण वहाँ के निवासी घरेलू हिंदू हैं, जसमि अंग्रेज क्षेत्र के। एक दृष्टिकोण से वे आदिवासी हैं और एक दृष्टिकोण से नहीं। किंतु सर्वधार्मिक विषयविचारों के कारण वहाँ के निवासियों ने अपने लिए आदिवासी स्तर का दावा किया है।

दिया है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि आदिवासी का ऐतिहासिक गत य हिंदुत्व में है। इसका अर्थ यह है कि भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया में जहाँ, एक ओर हिंदू संस्कृति का विकास हुआ है, वहाँ दूसरी ओर, हिंदू की पट्टभूमि के रूप में आदिवासी संस्कृति का विकास हुआ है। अतः आदिवासी की हिंदू-आदिवासी की ऐतिहासिक सापेक्षता में समझना अधिक ठीकमगत है। किंतु, इस ऐतिहासिक सापेक्षता की विवेचना के पहले आदिवासी संस्कृति समाज संकुल (Tribal Culture Society Complex) की विवेचना आवश्यक है।

२

आर्थिक व्यवस्था

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था यूरोप की पंजीवादी आर्थिक व्यवस्था से भिन्न है जिसके कारण उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के मानवशास्त्रियों ने आदिवासी-आर्थिक व्यवस्था को उन्विकासी ऐतिहासिक दृष्टिवाण से यूरोपीय आर्थिक-व्यवस्था के व्यतिरेक के रूप में निधारित करने का प्रयास किया है। इस प्रयास में एक धार आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पाई जाने वाली भिन्नताओं के आधार पर विभिन्न आर्थिक-व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर विभिन्न आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का एकसूत्री उन्विकास क्रम में बिटाने का प्रयास किया गया है। प्रागैतिहासिक विकास की अवस्थाओं के निधारण में आदिवासी आर्थिक-व्यवस्थाओं को एकसूत्री उदविकास क्रम में बिटाने का प्रयास भी मिला है। उदाहरणार्थ प्राचीन प्रस्तर-युग में मायावर और फल-फूल तथा कदमून एकत्र करने वाली आर्थिक व्यवस्था के प्रमाण मिले हैं नवप्रस्तर-युग में कृषक और पशु-पालक आर्थिक-व्यवस्था के, कांस्य युग में मुद्रा तथा धातु-सम्बन्धी उद्योगों पर आधारित आर्थिक-व्यवस्था के और लोहयुग में औद्योगीकरण तथा साख पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के।

उदविकासी विचार इतना प्रभावकारी तथा व्यापक था कि उस काल के भूगोलीय भी इसके प्रभाव से मुक्त न रहे सब। वर्तमान अध्यात्म के जन्मदाता एडम स्मिथ ने भी मानव के आर्थिक विकास का आर्केटिक पशुपान्त तथा कृषक-व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ माना है। ग्राहम चाइल्ड ने मानव विकास का वयाचरणी

(Savagery) बर्बर (Barbarian) तथा सभ्य (Civilization) अवस्थाओं से गुजरता हुआ माना है। किन्तु आज यह मायता निराधार मानी जाती है कि मानव का मदन एकसूत्री आधिक उदविकास हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक समूह पहले आखेट भाजन एकत्र करने वाली तथा यायावर अवस्था में ही धीरे और बाद में पशुपालक तथा कृषक अवस्थाओं में। यूजीलण्ड के भावरी कृषक अवस्था में हैं किन्तु वे पशुपालक अवस्था में कभी भी नहीं आए। यह नहीं कहा जा सकता कि एक जातिवासी समूह एक अवस्था विशेष में किसी एक ही उदविकासी आधिक व्यवस्था में रहता है। उदविकास एकसूत्री न होकर बहुसूत्री होता है और इस कारण एक आदिवासी समूह में आखेटक पशुपालक तथा कृषक आधिक व्यवस्थाओं के तब एक साथ पाये जाते हैं। सभ्य और मुष्ण जहाँ शहरीकरण के सम्पर्क में आये हैं सबहारा श्रमिक वर्ग के सदस्य हो गए हैं यद्यपि शहरीकरण का प्रभाव से दूर घन जंगलों में रहने वाले उनके साथी बीड़े मकोड़ और छिपकलियों का लत हैं देवी देवताओं का मुर्गी और कबतर की भट चढाते हैं और यहाँ वहाँ कृषि करते तथा कद मूलों का एकत्र करते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा और बिहार के जंगल रया और बस्तर के गोड जातिवासी एक ओर जंगम खती करते हैं और दूसरी ओर कद मूल एकत्र करते तथा जानवरों और चिड़िया का गिकार भी करते हैं¹।

उपयुक्त विवरण से कई तथ्य स्पष्ट होते हैं। पहला आदिवासी आधिक व्यवस्था की भिन्नताएँ मानव आधिक विकास के किसी एकसूत्री आधिक उदविकास का दानक नहीं है और न उन्हें किसी एक विकास त्रय में फिट ही किया जा सकता है। दूसरा प्रागतिहासज्ञों ने विभिन्न युगों के जिन आधिक प्रकारों को वर्णन करके जिन आधिक प्ररूपों और मन्त्राओं का निधारित किया है उनका आदिवासी आधिक व्यवस्था की भिन्नताओं का वर्णन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि आज भी आदिवासीयों में कोई समूह प्रधानतः आखेटक है कोई पशुपालक और कोई कृषक²। तीसरा प्रागतिहासज्ञों ने आदिवासी आधिक व्यवस्था तथा भिन्नता

1 सज्जमदार डी० एन० रेसेज एण्ड क्लव्स आफ इण्डिया अध्याय ॥

2 पुन वाल्ड न, इस दृष्टिकोण से, विभिन्न आदिवासी आधिक व्यवस्थाओं का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है — 1 वे सजातीय समुदाय जिनमें पुरुष आखेट या पाग द्वारा गिकार करते हैं और नारियाँ कद मूल एकत्र करती हैं। जैसे भारत के कोरवा सारिया चवू और बादर इत्यादि आदिवासी समूह 2 वे सजातीय समुदाय जिनमें आखेट तथा पाग द्वारा जानवरों का गिकार और कृषि एक साथ आधिक साधन हैं (जैसे बमार घंगा और गिरहोर इत्यादि आदिवासी समुदाय), 3 वे स्तरीकृत समाज जिनमें

का जो वर्णन और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसका मुख्य आधार आदिवासी द्वारा साध-सामग्री प्राप्त करने के प्रयास हैं¹।

आर्थिक व्यवस्था की भिन्नताओं के दृष्टिकोण से भारत की गणजातियाँ कायम वर्गीकरण और वर्णन हो सकती हैं। इस पर विचार करने के पहले आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की उन तमाम विशेषताओं पर विचार करना आवश्यक है जो सामान्यतः सर्वत्र पाई जाती हैं और आदिवासी आर्थिक व्यवस्था को विशिष्टता प्रदान करती हैं। आर्थिक व्यवस्था आदिवासी संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति की भाँति वह सामान्य भी है और विशेष भी। आर्थिक व्यवस्था मानव-सम्बन्धी और प्रयास के संगठन से उत्पन्न वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से मनुष्य कम से कम प्रयास के द्वारा दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करने का प्रयास करता है। आर्थिक व्यवस्था वह संगठित सामूहिक तथा व्यवस्थित प्रयास है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी असीमित आवश्यकताओं और इच्छाओं की, सीमित साधनों के द्वारा अधिकाधिक सम्भव तुष्टि करने का प्रयास करता है। मानव का

आखेट, पाश दृष्टि और गिल्प आर्थिक साधन हैं (भारत की अधिकतर गणजातियाँ इसी श्रेणी में आती हैं), 4 पशुपालक (जैसे डोडा), 5 सजातीय पशुपालक तथा आखेटक (यह प्रकार भारत में नहीं है), 6 वे पशुपालक तथा व्यापारी समुदाय जो अपन प्रजातिक सांस्कृतिक संगठन में विजातीय और स्तरीकृत हैं (जैसे, उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र के भोटियों), 7 वे पशुपालक जिनमें बक, आखेटक और गिल्पी भी पाये जाते हैं और अपने सामाजिक संगठन में जो विजातीय भी हैं और स्तरीकृत (Graded) भी।

1 साध-सामग्री की प्राप्ति के प्रयास, साधन और समस्याओं को आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का मुख्य आधार माना गया है। किसी किसी ने, जैसा कि धुन वाल्डन किया है साध प्राप्ति के प्रयास और सामाजिक संगठन को मिलाकर, आदिवासी आर्थिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। हिल्डेन ग्रुड ने बदलीअल (Barter) मुद्रा (Money) और साध (Credit) पर आधारित आर्थिक व्यवस्थाओं में विभिन्न आर्थिक प्रणालियों का वर्गीकरण किया है। ग्रुड ने उद्विकासी दृष्टिकोण से, कम-पाच प्रकार की अथ प्रणालियाँ बताई हैं, जो इस प्रकार हैं—साग्रहिका (Collectional), सांस्कृतिक यायावरी (Cultural Nomadic), स्थायी ग्रामिका (Settled Village) नगरीय (Town) तथा महानगरीय अथ-व्यवस्थाएँ। फोड और हसकोविट्स ने संग्रहक, आखेटक, मछली मारना, कृषि और पशु-संवर्धक पाच प्रकार की अथ व्यवस्थाएँ नियमित की हैं (मनुमदार—मदन वही पृष्ठ 120)। इन सभी वर्गीकरणों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष साध-सामग्री की प्राप्ति के प्रयासों पर जोर है। मनुमदार न भी साध-सामग्री की प्राप्ति के प्रयासों की भिन्नता पर आधारित वर्गीकरण को उत्तम माना है।

यह प्रयास, एक ओर, पर्यावरण द्वारा प्रदत्त भौगोलिक साधनों, शैद्योगिकी के रूप में उपाजित मातृकृत उपकरणों तथा, दूसरी ओर, मानव के आदर्शों और अहंताओं से नियंत्रित होता है। जिसे आर्थिक आवश्यकताएं नष्ट जाते हैं व इसी कारका से निर्धारित होती है और चूंकि स्वयं मानव उनमें एक कारक है, व निरपेक्ष न होकर सापेक्ष रहती हैं और शाश्वत न होकर परिवर्तनशील होती हैं। जीवन के लिये आर्थिक आवश्यकता क्या है इसकी परिभाषा प्रत्येक समुदाय उपरोक्त कारकों के आधार पर अपने ढंग से करता है। आर्थिक व्यवस्था के चार आधार उपभोग (Consumption) उत्पादन (Production), विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) सब प्रपाय जाते हैं। किंतु आदिवासी समाज में, उनका व्यवस्थापन दूसरे ढंग से होता है और औद्योगिक समाज में दूसरे ढंग से।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था आदिवासी और उसके प्राकृतवास (Habitat) के बीच में होने वाले समायोजन का एक जग है क्योंकि आदिवासी अपने उत्पादन प्राकृतवास पर अधिक निर्भर करता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था मुख्यतया खाद्य-सामग्री की प्राप्ति संरक्षण और अति-जीविता के साधन जुटाने की आवश्यकताओं से सम्बंधित रहती है और इन आवश्यकताओं का जुटाने में आदिवासी अपने प्राकृतवास का अपेक्षाकृत अधिकतम आश्रय लेता है। प्राकृतवास पर आदिवासी की अधिकतम निर्भरता का कारण है आदिवासी संस्कृति में प्रौद्योगिकी (Technology) का निम्न स्तर जो लगभग सभी आदिवासी समाजों की विशेषता है। भूमंडल न, बिहार उड़ीसा के खारिया, आसाम के कुकी तथा बस्तर (मध्य प्रदेश) के गोडा आदिवासियों का उदाहरण देकर हम तथ्य का स्पष्ट किया है। खारिया बिहार उड़ीसा के दुर्गम पहाड़ी क्षेत्रों में रहते हैं जहां भोजन मानव जीवन की सबसे प्रथम समस्या है। अतः व एक जोर जंगल कृषि (Shifting Cultivation) को अपनाते हैं और दूसरी ओर, आलू तथा मछली मारने को। साथ ही साथ व जंगल से गहू फल और वन भी एकत्र करते हैं। खारिया प्रदेश में लहू भी पाया जाता है और इस कारण वे खेती और आलू की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लोहे व औजार भी बनाते हैं। बदलौअल उनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार है। छोट्टे छोट्टे गांवों में रहते हुए वे साल बरस का अनेक प्रकार से उपभोग करते हैं क्योंकि उनके प्राकृतवास में साल बहुतायत से पाया जाता है। इनके विपरीत आसाम के कुकी की आर्थिक व्यवस्था में वन का अधिक महत्व है। कुकी के घर और बगल बनुया वाम के ही बन होते हैं। कुकी प्रयोग करने जंगल में आ-छाड़ते हैं और दृग्वाग्य परिवर्तन की भांति कुकी भी जंगल कृषि करते हैं। जंगल कृषि न कुकी जीवन का यायावर बना दिया है। खारिया की

पकड़ना और उनका आर्थिक उपयोग कुक्की आधिक व्यवस्था की एक अथ विपणना है। वस्त्र के माता में स्थायी कृषि का अधिक महत्व है, जिसके कारण, उनमें अतिरिक्त उपज (Surplus Produce) भी उपसाधन अधिक होती है। अतिरिक्त उपज, समाज में विनिमय व्यापार और विशेषीकरण का प्रोत्साहित करती है। गोडा में लाहार जैम विशेषीकृत समूह पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, गोडा जंगल में लकड़ी की कटाई का काम भी करते हैं और वस्त्र प्रदान के घने जंगली पहाड़ी इलाका में सीरीनुमा खन बनाकर नगम कृषि भी करते हैं। इसप्रकार आदिवासी आधिक व्यवस्था का आधार अनिवार्यता की आवश्यकता है जिसे आदिवासी अपने तथा अपने प्राकृतिक मत्त में समाधान स्थापित करके पूरा करने का प्रयास करता है। यह समायोजन चार चारों ओर निरंतर करता है—(1) आदिवासी सामाजिक समूह का आधार (2) समूह का पार्थिव (Material) आवश्यकताएँ (3) प्रकृति प्रदत्त साधन और (4) प्रौद्योगिकी के विकास का स्तर। किसी भी समूह की पार्थिव आवश्यकताएँ न तो समूह के आकार में निर्धारित होती हैं और न प्रकृति प्रदत्त साधनों से। पार्थिव आवश्यकताओं का स्वरूप, उनकी महत्ता की मात्रा, उनकी तुष्टि के साधनों के प्रकार तथा प्राप्तिकाम के साथ समायोजन के ढंग, प्रत्येक समूह में भिन्न होते हैं।

खाद्य-सामग्री जुटान के प्रयास आदिवासी आधिक व्यवस्था का मुख्य आधार प्रदान करते हैं। वस्त्र मूल सतह तथा फल फूल एकत्र करना जानबूझ का गिकार करना, मछली मारना और कृषि करना ही आदिवासी के आर्थिक जीवन के प्राथमिक आधार हैं। पर बनाना, मिट्टी लकड़ी या धातु के बस्तन बनाना कटाई और टोकरों बनाना तथा कृषि के साथ-साथ पशुपालन में द्वितीयक आधिक नियोजन है। आदिवासी का अधिकतर समय खाद्य-सामग्री के जुटाने या उत्पादन में ही बीतता है। प्रौद्योगिकी के निम्न स्तर के कारण आदिवासी समाज में खाद्य सामग्री

1. प्रायः के सद्धान्तिक प्रभाव के अन्तर्गत, कुछ मानवशास्त्रियों ने यह निर्धारित करने का प्रयास किया है कि आदिवासी जीवन के निर्धारण में धीनतुष्टि की आवश्यकता (Necessity) की अभिव्यक्तियों और उन पर लगन वाले सामाजिक विपदा का मौलिक स्थान है (विशेष अध्ययन के लिये देखिये मल्लिनास्की द्वारा रचित सेवन एण्ड रिप्रजन इन मवेर सोसाइटी)। किन्तु वर्तमान मानवशास्त्र में इस सद्धान्तिक दृष्टिकोण को महत्व नहीं दिया जाता है। अफ्रीका की जंगल भाषी, बेन्टा गणजाति के अध्ययन से आगे रचित न यह मान्यता प्रतिपादित की कि आदिवासी सांस्कृतिक जीवन में नोजन का अधिकतर समय व्यतीत होता है। व्यक्ति के सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध नोजन पदार्थों के जुटान तथा उत्पादन करने की आवश्यकताओं से व्यपस्थित होते हैं (विशेष सन्दर्भ के लिये देखिये बील्म एण्ड ह्यापनर—एन इंट्रोडक्शन टु एथनोपॉलोजी)।

कें ही उत्पादन में अधिक समय लगता है। जहाँ शिकार ही भोजन का मुख्य साधन है वहाँ भाजन प्राप्ति की निश्चितता भी कम रहती है और साथ सामग्री जुटान में समय भी अधिक लगता है। क्योंकि शिकार का मिलना सयोग पर अधिक निर्भर करता है। एम्फीमा का सामूहिक जीवन इसका उदाहरण है। साथ सामग्री की पूर्ति की अनिश्चितता आर्थिक व्यवस्था में सामूहिक जीवन (Collective Life) के सत्वा का अधिक प्रोत्साहित करती है जिसके कारण, अनेक भाव्यशास्त्रियों को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था अपने मौलिक रूप में, साम्यवादी प्रतीत होती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवाद है या नहीं इस प्रश्न पर घागे विचार किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि आदिवासी संस्कृति में साथ सामग्री के जुटाने और उनके उत्पादन से जो प्रमाणें सम्बंधित हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में क्षुधा निवारण का प्रश्न सर्वोपरि है और यौन-आवश्यकता की अपेक्षा क्षुधा निवारण की आवश्यकता आदिवासी आर्थिक प्रियाओं की अधिक प्रेरक है।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में साथ सामग्री का संग्रहण या उत्पादन मुख्य

1. साथ सामग्री के उत्पादन से सम्बंधित कुछ प्रमाण इसप्रकार हैं — प्राचीन प्रस्तर-युग की कदराएँ जो स्पेन और फ्रांस में मिली हैं उनमें मत्त जानवरों के भित्ति चित्र मिले हैं। कहीं-कहीं शिकार के दृश्य भी चित्रित हैं। प्रागतिहासज्ञों की यह मान्यता है कि ये चित्र जाबुद्ध विचारों के प्रतीक हैं। शिकार के चित्र इसलिये बनाये जाते थे कि शिकार गृहतापन से मिल सके। प्रस्तात महासागर के मारबबीसन द्वीप के निवासी एकान्त में अनाज का भण्डार रखते हैं और वहाँ स्त्रियों को नहीं जाने देते हैं। स्त्रियों को रसोई में भी नहीं जाने देते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि स्त्रियों के छूने से अनाज का भण्डार कम होता है। मोलगिरी के टोडाओं के आर्थिक जीवन का आधार भस है। जहाँ वे भस बाधते हैं वहाँ स्त्रियों को नहीं जाने देते और स्त्रियों को दूध नहीं छूने देते। लगभग सारे आदिवासी सत्तर में अनाज की धुराई का काम स्त्रियाँ करती हैं। किंतु, मासिक घम के दिनों में स्त्रियाँ को अनाज न चोरे देना और योग्य हुए खत में उन्हें न जान देना एक आम प्रथा है क्योंकि आदिवासीयों का यह विश्वास है कि मासिक घम के दिनों में स्त्री अशुद्ध होती है जिससे फसल को नुकसान होने का भय है। वस्तर के गोड़, चोरे के पहरे, धोखे की बलि दिये हुए पत्र के खू से इस आभा से भिगोने हैं कि उसमें फसल अधिक अच्छी होगी। दारुण बूढ़ी, जंगम हृदय के स्त्रिय, जब जंगल साफ करते हैं तो, एक पेड़ को इसलिये छोड़ देते हैं ताकि जंगल को आत्माएँ उस पेड़ पर विधाम कर सकें और सेती को नुकसान न पहुँचायें। फसल तयार होने पर कभी उन आत्माओं की पूजा करते हैं ताकि ये प्रसन्न रहें। कभी सोझीनुमा खेत बनाकर इसलिये सेती नहीं करते कि इस प्रकार सेती करना उनकी प्रथा नहीं है और, इसकारण, वे यह नहीं जानते कि किन अनुष्ठानों से सोझीनुमा सेती से अधिक फसल उत्पन्न होगी।

स्थान रखता है और उत्पादन का उद्देश्य है उपभोग न कि मुनाफा। मुनाफे के लिये, मनीना के द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता है जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में नहीं पाई जाती है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था नियमित बाजार-व्यवस्था के मुद्रा और सामान जैसी आर्थिक संस्थाओं पर आधारित नहीं है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में केवल मेलों और साप्ताहिक बाजारों का ही अधिक महत्व है जो मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था के प्रसार और प्रभाव के साथ-साथ और भी बढ़ता जाता है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था उपभोग पर आधारित होने के कारण केवल निवाह प्रणाली (Subsistence Economy) है। उत्पादन का उपभोग पर आधारित करके अति-जीविता प्राप्त करने के प्रयास के कारण आदिवासी उत्पादन-व्यवस्था में सहयोग की मात्रा अधिक है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आदिवासी समाज में प्रतियोगिता (Competition) और संघर्ष (Conflict) का मूलतः अभाव है। मजूमदार के अनुसार जो आदिवासी समूह घाखेट और बंद-मूल एकत्र करके खाद्य सामग्री जुटाने हैं उनमें सामूहिक सहयोग अधिक पाया जाता है किन्तु फिर भी, उनमें विभिन्न समूहों तथा व्यक्तियों के स्वार्थों में विरोध भाव पर संघर्ष भी पाया जाता है। घाखेट के लिये विभिन्न आदिवासी समूह घाखेट-त्रय का तथा फल फल एकत्र करने के लिये पहाड़ों का बंदरगाह करते पाये गये हैं। भारत के जनक आदिवासी क्षत्रिय, महुआ जंगलों में उगता है और महुआ में एक प्रकार की शराब बनाई जाता है। ऐसा पाया जाता है कि एक क्षेत्र के आदिवासी बहुधा महुआ के पत्रों का अपने समूह के विभिन्न परिवारों में बांट देते हैं ताकि संघर्ष की सम्भावना कम हो जाय। आदिवासी समाज में, आर्थिक क्रिया की प्रत्यक्ष निरीक्ष्य प्रतियोगिता ही नहीं है। निरीक्ष्य प्रतियोगिता पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषता है।

प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न होने के कारण, आवश्यक उत्पादन की निश्चितता नहीं रहती है, जिसके कारण उत्पादन क्रियाओं विभिन्न प्रकार के जानदुई अनुष्ठानों से सम्बंधित हो जाती हैं। इन अनुष्ठानों का पहला वर्णन किया जा चुका है। चूंकि उत्पादन उपभोग और जीवन निवाह से प्रत्यक्ष सम्बंधित रहता है, इस कारण, प्रौद्योगिकी का स्तर भी साधारणतः निम्न ही रहता है। दूसरी ओर उत्पादन कलात्मक तथा मनोरंजक क्रियाओं से सम्बंधित हो जाता है। मछली मारना भाजन उत्पादन के साथ-साथ, मनोरंजन का भी साधन है। जीवनभर बाहर में भोजन का त्याहार एक मछली मारने का त्याहार है जिसमें एक रविवार के लिए अपने इष्ट मित्रों सहित मछली मारने जाते हैं। किन्तु यह त्याहार तनी मनाया जाता है जब फसल अच्छी हो। उत्पादन के विभिन्न उपकरणों के बनाने में आदिवासी की कलात्मक अभिव्यक्ति को प्रथम मिलता है। मछली मारने के लिये जाल, टाकरी या पाग बनाना तथा शिपार के लिए औजारों का बनाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी आभाजन आधिक्य व्यवस्था में उत्पादन राश और कच्चा एक में मिले रहते हैं। उत्पादन द्वारा में आदिवासी मानव में लीन का एक अंग नहीं है।

आदिवासी उत्पादन-व्यवस्था में धर्म विभाजन, मुख्यतया आयु (Age) और लिंग (Sex) के आधार पर होता है। समाज में धर्म विभाजन धर्म विभाजन (Division of Labour) की जटिलता और उसमें पाया जाना वाला विपरीतकरण प्रयोगिकी के विकास के साथ साथ घटत रहे हैं। प्रयोगिकी के विकास के साथ साथ जहाँ जितनी अतिरिक्त उपज बढ़ती रही है, वहाँ व्यापार और धर्म विभाजन भी उत्तम हो घटत रह रहे हैं। धर्म विभाजन प्रयोगिकी में उत्तम सम्बंधित नहीं है जितना कि उस अतिरिक्त उपज से जिससे कि विनिमय किया जा सक। यही कारण है कि जहाँ स्थायी कृषि के कारण विनिमय के लिए अतिरिक्त उपज उपलब्ध है वहाँ पशुधन विपरीतकरण के आधार पर, धर्म विभाजन भी पाया जाना है। वास्तविक धर्म विभाजन वही है जहाँ अतिरिक्त उपज की उपस्थिति पर आधारित रहे कि एक समाज के कुछ व्यक्ति किसी विशेष पेशा या काम में कुशलता प्राप्त करते हैं। इस स्थिति से किसी काम के करने की प्रयोगिक जटिलता भी धर्म विभाजन का प्रभावित करती है। उदाहरण के माध्यम आदिवासियों में धुनकरा का पाया जाना तथा बस्तर के गाँवों में लहारी में निपुणता का पाया जाना इसका उदाहरण है।

आदिवासी आधिक्य व्यवस्था में पाया जाना वाला धर्म विभाजन मूलतः शारीरिक बल का स अधिक प्रभावित रहता है। आय और लिंग के आधार पर हाथों वाला धर्म विभाजन, वस्तुतः, शारीरिक भिन्नताओं पर आधारित धर्म विभाजन है। आदिवासी समाज में यद्यपि वे अपने जीवन चक्र में अन्तर्गत रहते हैं अर्थात् बाल्य में लगभग और तरुण में वृद्ध होता है तथा वे उसका सामाजिक जीवन भी व्यतीत करते हैं। आय के आधार पर पाया जाने वाला धर्म विभाजन इस तथ्य पर आधारित है कि यद्यपि वे जीवन में बाल्य में तरुणता तथा वृद्धता और वृद्धता तीन मुख्य अवस्थाओं में आती है जिसमें होने वाले शारीरिक परिवर्तन व्यक्ति की कार्यक्षमता को प्रभावित करते हैं। आय पर आधारित धर्म विभाजन सामाजिक है यद्यपि आदिवासी समाज में इसका महत्व अल्प है। जिस समाज का प्रयोगिक स्तर जितना निम्न है उतना ही उसमें आय पर आधारित धर्म विभाजन का महत्व है। प्रायः सामान्य एकत्र करने वाले यात्रा जागृत पर निर्भर रहने वाले समाजों में बाल्य और वृद्ध अवस्थाएँ जो जात हैं। अतः यह सिद्ध है कि समीप के काल के अन्तर्गत समाजों में बाल्य और वृद्धता के महत्व को सामान्य एकत्र करने तथा जागृत पर निर्भर रहने वाले समाजों में शरीर के अमर्य वृद्धा के छोड़े भोजन के साथ उस समय छोड़ दिया जाता है जब कि वृद्धावस्था में दूसरे स्थान पर जाता है। पुरुष और स्त्री के धर्म विभाजन के पीछे लिंग और पुरुषमवाय जाना वाला शारीरिक अंतर का

आधार अवश्य है लज्जिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि पुरुष और नारी में जो धर्म-विभाजन है उसका नारी और पुरुष की शारीरिक भिन्नताका के ही आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ भारत की गणजातियों में नारी आखेट में भाग नहीं लेती है लेकिन भारत के बाहर की सभी गणजातियों में ऐसा नहीं है।

नारी गरीर से सम्बन्धित स्वाभाविक दैहिक प्रक्रियाओं, जैसे मासिक धर्म और गमधारण का ठीक ठीक न समय पान के कारण आदिवासी समाज में नारी के आर्थिक जीवन पर अनेक निषेध लग गए हैं। मासिक धर्म के दिनों में वीज न ब्रीज का निषेध या टोडा लंगा में नारी द्वारा भैंस को छूने या जहां भैंस बांधी जाती है वहां न जाने का निषेध इसके प्रमाण हैं। मानवत्व की जिम्मेदारियां न नारी को पुरुष में भिन्न बना दिया है और उसके फलस्वरूप नारी के सामाजिक आर्थिक कार्यों पर स्वभावतः अनेक निषेध लग गए हैं। अपनी गरीबी तथा दैहिक विप्रेतताओं के कारण, नारियां लगभग सभी समाजों में हल्के धम वाले कामों का करती हैं। आदिवासी समाज भी इस माधुमध्य नियम का अपवाद नहीं हैं। आदिवासी समाज में यह विचार आमसौर पर पाया जाता है कि नारियां उन कार्यों के अयोग्य हैं जो पुरुष करता है यद्यपि इस विश्वास का आधार वास्तविक नहीं है। वास्तविकता यह है कि पुरुष नारी के कार्यों का नहीं करत हैं, लेकिन नारियां पुरुषों द्वारा किए जाने वाले अधिकतर कार्यों का करती हैं। भारत के आदिवासी समाज में, जहां दृष्टि होती है वहां अधिकतर हल चलाने का काम पुरुष करते हैं और नारियां अधिकतर दृष्टि के गप कार्यों को करती हैं। वीज बीना, घान रोपना और फमल काटना अधिकतर स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जंगल से खाद्य सामग्री एकत्र करना मछली मारना टोकरी बपड़ा और मिट्टी के बरतन बनाना बहुधा नारियां द्वारा ही किया जाता है। भारत के आदिवासी समाज में नारियां गिकार के लिये नहीं जाती हैं और न वे बड़ईगिरी या लुहारी जम काम करती हैं। बच्चा का पालन पोषण और गहू काय सबन नारी के विशेषाधिकार में आत हैं। यह मत कि नारियां का साधारणतया वही काय सीपे जाते हैं, जिनमें थोड़ी बुद्धि की आवश्यकता होती है तकमगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि नारियां अधिकतर उही आर्थिक कार्यों को करती हैं जो प्रजनन और मातृत्व के स्वाभाविक भार का निवारण हुए किय जा सकें। यह विचार भी दंगा में नारी अयोग्यता का परिचायक नहीं है। मासिक धर्म गमधारण, सतान का प्रजनन तथा पालन पोषण, घर की दफ्तार तथा नारी गरीर की सामान्य विप्रेतताएं ऐसी कारक हैं जो आदिवासी समाज में नारी की आर्थिक भूमिका (Economic Role) को प्रभावित करत हैं।

प्रौद्योगिकी के प्रभाव से उत्पन्न तथा उत्तरांतर विकसित होता हुआ औद्योगिकरण भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था का भी बदल रहा है जिनके कारण, भारत के आदिवासी नर नारी की आर्थिक भूमिका भी बदल रही है।

आदिवासी पुरुष आज ताड़े के कारखाना, बोटले की खानो तथा चाय के बाग म काम करत हुए पाये जात ह । आदिवासी नारियाँ भी, उसी प्रकार, भ्रम्रक और कायल की खाना तथा चाय के बगीचो में नारी श्रमिको के रूप म काम करती है । आज आदिवासी समाज म भी, नर नारी क बीच का पुराना श्रम विभाजन धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है । भारत की आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म कृषक श्रमिक अन्याय पाये गए हैं किन्तु यहा दाम प्रथा नहीं पाई गई है¹ ।

आदिवासी आर्थिक व्यवस्था म पाया जाने वाला विनिमय (Exchange) और वितरण (Distribution) मुद्रा और मुनाफे की भावना पर आधारित न विनिमय हान क कारण औद्योगिक तथा पूँजीवादी समाज म पाये जाने वाला विनिमय और वितरण से मूलतः भिन्न हुआ जाता है । विनिमय और श्रम विभाजन का महसूसबोध है और दोनों, प्रत्यक्षतः, अतिरिक्त उपज से सम्बन्धित हैं । जहा जितनी मात्रा म अतिरिक्त उपज उपलब्ध होती है वही, उतनी ही मात्रा म, विनिमय और श्रम विभाजन का सामाजिक मर्यादित प्रसार होता है । विनिमय का दो रूपो म दला जा सकता है—एक प्रत्येक समाज विनियम म पायी जान वाली विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से और दूसरे विभिन्न समाजो म पायी जान वाली सामान्य विनिमय प्रणाली के दृष्टिकोण से । किन्तु, मिथ्यातः, ऐसा बार्ड समाज नहीं है जहा विनियमन आयु और लिंग पर आधारित श्रम विभाजन न हो और उस कारण, सिद्धान्ततः किसी ऐसे आदिवासी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो किसी म किसी प्रकार का विनिमय प्रणाली से पूर्णतया मुक्त हो । हाँ यह अवश्य है कि जहाँ अतिरिक्त उपज जितनी कम होगी वहा विनिमय भा उतना ही सीमित होगा । जगल से खाद्य सामग्री एकत्र करने वाल तथा आलेख पर निर्भर रहने वाले आदिवासी समाजो म अतिरिक्त उपज की मात्रा के कम होने क कारण आर्थिक विनिमय प्रणाली का निम्नतम रूप पाया जाता है क्योंकि उनम विनिमय क साधन ही निम्नतम होते हैं । लेकिन फिर भी, इन समाजो म श्रम क आधार पर पाये जाने वाले श्रम विभाजन के कारण, विनिमय का क्षेत्र मुख्यतः पति पत्नी क बीच म, परिवार तक ही सीमित रहता है ।

विभिन्न समाजो म पाये जाने वाले आर्थिक विनिमय क प्रमाण प्रागतिहास के प्रारम्भ से मिलते हैं । आमेरिकन समाज भी आर्थिक विनिमय से पूर्णतया मुक्त नहीं रहे हैं । आदिवासी समाजो म पायी जाने वाली आर्थिक व्यवस्थाओं म विनिमय एक प्रकार म मर्यादित हो जाता है कि उन आधुनिक समाज की आर्थिक व्यवस्था म प्रयुक्त बर्तलान् (Barter), क्रय विनय (Purchase Sale) या मजदूरी (Wages) जसा धारणाओं से व्यक्त नहीं किया जा सकता । आदिवासी समाज का

आर्थिक व्यवस्था में विनिमय का आधार केवल मुद्रा बमाना या मुनाफा नहीं है। यहाँ विनिमय में इस बात की आशा नहीं रहती है कि विनिमय करने वाले की उतनी ही आर्थिक सेवा या आर्थिक मूल्य की वस्तु मिलेगी जितनी कि वह दे रहा है। आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में पायी जाने वाली विनिमय प्रणाली की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं। एक, विनिमय मूलतः सामाजिक परम्पराओं के आधार पर होता है न कि केवल व्यापारिक दृष्टिकोण से। दो, विनिमय साधारणतया मित्रता और या अन्य सम्बन्धों के आधार पर होता है। तीन, विनिमय के अवसर सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुसार पूर्वनिर्धारित होने हैं¹। चार, किसी भी विनिमय में जसाकि लबोला के उदाहरण से स्पष्ट है यह आवश्यक नहीं है कि गोना और स हान वाला आदान प्रदान तत्काल हो जाए। पाँच, विनिमय का क्षेत्र विनिमय में प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ तथा उनका मूल्य प्रत्येक आदिवासी समाज के सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार पूर्वनिर्धारित रहते हैं। छ, अधिकतर विनिमय सामूहिक स्तर पर जानुष्ठानिक (Ceremonial) ढंग से होता है जिसके कारण, बहुत से विद्वानों को आदिवासी आर्थिक व्यवस्था साम्यवादी प्रतीत हुई है। यद्यपि इस विनिमय किसी साम्यवादी विचारधारा पर आधारित न होकर, पारम्परिकता के सिद्धान्त पर अधिक आधारित होता है²।

1 अफ्रीका में लबोला (Labola) दूधपन (Bride Price) की प्रथा आदिवासी विनिमय प्रणाली की सांस्कृतिक परम्परागतता का एक सुप्रसिद्ध उदाहरण है। लबोला प्रथा के अनुसार, विवाह के अवसर पर, प्रत्येक वर का पिता वधू के पिता को कुछ वस्तुएँ भेंट करता है जिन्हें वधू का पिता अपने सगे-सम्बन्धीयों में बाँट देता है और जिन्हें वर का पिता अपने सगे-सम्बन्धीयों से एकत्र करता है। इस प्रकार प्रत्येक विवाह में, वर के सगे सम्बन्धीयों से लबोला एकत्र होता है और वधू के सगे सम्बन्धीयों में बाँटता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सगे-सम्बन्धीयों के पुत्र के विवाह में लबोला एकत्र करने में सहायता देता है और उसकी लड़की के विवाह में लबोला का अंश दाय के रूप में पाता है। बिहार के मुण्डा आदिवासियों में भी वधूप्रदान एकत्र करने की ऐसी प्रथा थी, जो मुद्रा अथवा प्रणाली के सघात से समाप्त हो गई है।

2 'यूगिनी के पूर्वी किनारे के उत्तर पूर्व की दिशा में पाये जाने वाले द्वीपों (Tobriand Islands) के निवासियों में कुला रिंग (Kula Ring कुला परिधि) की प्रथा का यहाँ उदाहरण दिया जा सकता है। कुला को विनिमय परिधि, व्यापारिक साझेदारी का क्षेत्र या व्यापार का आधार कहा जा सकता है। कुला रिंग (कुला परिधि) लाल रंग के हार और सफेद रंग के बाजूबंद से बनती है। जब कोई व्यक्ति अपने ही समुदाय में, या जब दो समूह अपने ही समुदाय में, या जब दो द्वीपों के निवासी साधारण ढंग से या घूमघाम से अ नुष्ठानिक ढंग से आर्थिक विनिमय करते हैं तो, नाय ही नाय, एक पार्टी दूसरी पार्टी को लाल रंग का हार और दूसरी पार्टी पहली पार्टी को सफेद रंग का बाजूबंद देती है। बिना हार और बाजूबंद के दो व्यक्तियों, दो समूहों, और दो द्वीपों के निवासियों में व्यापारिक विनिमय नहीं हो सकता है। हार

जादिवामी जादिक व्यवस्था सामूहिकता की ओर अधिक उन्मुख है किन्तु वह साम्यवादी नहीं है। उदयिकासी मानवशास्त्रियों की यह धारणा थी कि आदिवासी जादिवामी सामाजिक जादिक व्यवस्था साम्यवादी है किन्तु हाल में अनेक अध्ययनों के आधार पर आज यह माना जाता है कि आदिवासी सामाजिक जादिक व्यवस्था का उस अर्थ में साम्यवादी नहीं कहा जा सकता है जिस अर्थ में साम्यवाद का जन्म किया है। साम्यवाद की धारणा धाराएं व पूँजीवादी समाज के एक व्यतिरिक्त (Contrast) के रूप में विद्यमान हुई है और उस रूप में वह आदिवासी समाज पर लागू नहीं की जा सकती है। विडिंगटन ने, 'यंगिनी के तटवर्ती प्रदेश के एक द्वीप वोगियो (Wogeo) और दक्षिणी टैगानिका की एक बाटू मणजाति में भूधरति प्रणाली (Land Tenure System) का तुलनात्मक अध्ययन करके, यह निष्कर्ष निकाला है कि जहाँ भूमि की कमी के कारण भूमि का निराल प्रतिपादित उत्पन्न होता है वही व्यक्तिगत तथा सामूहिक भूधरति को नियमित करने के लिए आवश्यक नियम उत्पन्न होते हैं। आदिवासी समाज में ये नियम अलिखित हान के कारण परम्परा के रूप में विद्यमान रहते हैं।

और बाजुब व के विनिमय में हार दाहिनी ओर से बाइ ओर और बाजुब व बाइ ओर से दाहिनी ओर चलते हैं और इस प्रकार कुला रिग बनाते हैं। कुला समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जो आपस में विनिमय करते हैं किन्तु जब विभिन्न द्वीपों व निवासियों में विनिमय होता है तो, एक सामूहिक इकाई के रूप में विनिमय में भाग लेते हैं। एक कुला रिग में एक गाँव के या कई गाँवों के या एक या कई जिलों के व्यक्तियों पड़ते हैं। कुला विनिमय में विभिन्न द्वीपों व निवासियों में होने वाले विनिमय सबसे महत्वपूर्ण हैं, जिनमें भाग लेने के लिए आवश्यक जादू (Magic) का जानना जरूरी है।

- 2) विडिंगटन व अन्य आदिवासी जादिक व्यवस्था में वे वस्तुएँ जिनके उत्पादन में सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है सामूहिक स्वामित्व में रहती हैं, जिनके कारण आदिवासी साम्यवाद की भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न हुई। आदिवासी समाज में सम्पत्ति सामूहिक भी होती है और व्यक्तिगत भी। जिन आधारों पर लोग आदिवासी साम्यवाद की धारणा के प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं, उन्हीं आधारों पर, आदिवासी व्यक्तिवाद की भी धारणा प्रतिपादित की जा सकती है। साम्यवाद आधुनिक समाज की धारणा है जो सामाजिक प्रगति की समानता उत्पादन व सामाजिक नियमन तथा नियोजन उत्पादन पर समाज व स्वामित्व, लगभग समान जोर देकर, कार्य करने की अनिवार्यता तथा एक निश्चित प्रकार की सामूहिक राजनैतिक सत्ता की धारणाओं पर आधारित है और, इस कारण जो आदिवासी अर्थ व्यवस्था पर लागू नहीं होता है। आदिवासी साम्यवाद क्या है इस पर लोग एकमत भी नहीं हैं। एसी दृष्टि में आदिवासी साम्यवाद की धारणा का प्रयोग ही भ्रामक है दक्षिण पूर्वी एशिया में 'एन इण्डोनेशियाई टोपोल एथनोलॉजी' नामक 1 पृष्ठ 314-17

भस्वामिन् भूमि के प्रयोग पर निर्भर करता है। इस कारण आदिवासी समाज में भूमि पर किए जाने वाले उत्पादन प्रणाली तथा भूमि पर मित्र अधिकारों में साम्य रहता है। व्यक्तिगत तथा सामूहिक अधिकारों का स्वरूप सांस्कृतिक आदर्शों पर आधारित रहता है। आदिवासी समाज में व्यक्तिगत तथा सामूहिक अधिकार और बिनापाधिकार साथ साथ पाये जाते हैं, जिसका कारण पहले के अनक मानवशास्त्रियों का आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के साम्यवादी होने का भ्रम हुआ है। विभिन्न उपकरण (Tool) कपड़े आभूषण और जन भवन का स्वामित्व बहुधा वैयक्तिक होता है। आदिवासी समाज में एक व्यक्ति किसी वस्तु का सभी अधिकारी होता है जब वह उसका उत्पादन करता है या नियमित रूप में उसका प्रयोग करता है। आदिवासी समाज में धन और सम्पत्ति की धारणा वर्तमान पंजीवादी औद्योगिक समाज में पायी जाने वाली धन और सम्पत्ति की धारणा से भिन्न है। यहाँ धन और सम्पत्ति का संचय नहीं करके व्यक्तिगत या सामूहिक उपयोग महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज में, विभिन्न अवसरों पर बिरादरी को दिए जाने वाले भोजन इत्यादि का उदाहरण है। भारत के आदिवासियों में भी व्यक्तिगत और सामूहिक सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के नियम पाये जाते हैं। नागा प्रदेश में ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक गाँव के निवासी गाँव की भूमि के सामूहिक रूप से अधिकारी हैं। वर्तमान परिस्थितियों में, वैयक्तिक सम्पत्ति की परम्परा अधिक बढ़ गयी है।

भारत के आदिवासी किसी एक विनैप आर्थिक व्यवस्था में नहीं हैं। एक ओर कुछ गणजातियाँ साख मामलों एकत्र करने की ओर रुपि तथा आखेट भारत की की व्यवस्था में हैं तो, दूसरी ओर, अनेक गणजातियाँ औद्योगिक आर्थिक प्रणाली के प्रभाव में आ गई हैं। आर्थिक संगठन के आधार पर भारत की गणजातियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। पहली श्रेणी में कान्हा पतियन पतियन, पनडो, कुम्भा विरहोर सारिया, चू और मल्पकम जैसी गणजातियाँ आती हैं जो घन वन में रहती हैं और जंगल में साख मामलों एकत्र करके जीवन-निर्वाह करती हैं। बादर ऐसा कहा गया है किसी भी प्रकार की रुपि नहीं करते हैं। वे जंगल में फल, बूँद और गहद एकत्र करते हैं तथा आखेट पर निर्भर करते हैं। साख मामलों एकत्र करके जीवन यापन करने वाली गणजातियाँ मछली भी पारता है और शिकार भी करती हैं। दूसरी श्रेणी में कमार और बंगा जैसी वे गणजातियाँ आती हैं जो जंगल से साख मामलों एकत्र करती हैं, मछली और आखेट पर अपना जीवन निर्वाह करती हैं और, साथ ही साथ, जंगम रुपि भी करती हैं। तीसरी श्रेणी में स्वाधी रुपि करने वाली भील जैसी गणजातियाँ आती हैं। जिन गणजातियों में स्वाधी रुपि की अपना लिप्ता है, उनके लिए जंगली फल-फूल का महत्व गीला हो गया है। चौथी श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जिनके सदस्यों ने, साथ के

बगीचा खाना और कारखाना में, मजदूरी करना प्रारम्भ कर दिया है। चौबीशगी के लग आदिवासी सबहारा वन में आते हैं और वे मुख्यतया विहार बंगाल और आसाम में निहित हैं। मध्याह्न, हाँ मुष्म और भुइयंग मजजातिया के सदस्य चौबीशगी में आते हैं। मजमदार और मन्^१ के अनुसार भारत के तीन आदिवासी क्षेत्रों में तीन अलग अलग प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ पायी जाती हैं। उत्तरी उत्तर पूर्वी क्षेत्र में पहड़ा की टालों पर वन, मीलीनुमा खेतों में स्थायी कृषि प्रधान रूप से पायी जाती है यद्यपि आसाम में यहाँ वहाँ जंगल कृषि भी होती है। मध्य क्षेत्र में जंगल कृषि की प्रधानता रही है और दक्षिण क्षेत्र का मजजातियाँ भोजन का एकमात्र जरूरी जीवन निवाह करने वाली (Food Gathering) साधारण आर्थिक व्यवस्था में है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जंगल में पशु चराना तथा वन में मूल के रूप में गाय सामाजी एकत्र करना स्थायी या जंगल कृषि करना पशुपालन और कारखानों में मुख्यतया मजहारा वन के रूप में काम करना भारत के आदिवासियों की मुख्य आर्थिक क्रियाएँ हैं। आलेख करना, मछली मारना, टाकरी बनाना और कृषक मजदूर के रूप में काम करना तथा सड़क बनाने के लिए और वन विभाग में सरकारी नौकरी करना उनके सभ्यता पाने हैं। कुछ आदिवासी समूह जिनमें पराधान मुख्य हैं गान-बजान का पेशा करके भरपूर जीवायापन करते हैं। मध्यप्रदेश विहार उड़ीसा और बंगाल के आदिवासी क्षेत्रों में सनिज पशुधन यद्यपि वन से पाये जाते हैं जिसके कारण खोरापक प्रभाव में जान के साथ इन क्षेत्रों में सनिज पशुधन का निकालने के लिए या उनका औद्योगिक उपयोग करने के लिए, इन आदिवासी क्षेत्रों में औद्योगिकरण बढ़ता रहा है। जूत, कापड़ा और लोहा का साने इन्हीं आदिवासी क्षेत्रों में हैं। भिखार और जमशेदपुर के कारखानों में इन्हीं क्षेत्रों में है। जल गरीबी तथा अधिक आर्थिक लाभ के कारण आदिवासी स्त्रियाँ और कारखानों में काम करने की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इससे अनिश्चित, आसाम के चाय के बगीचा में भी आदिवासी श्रमिकों के रूप में काम करते हैं। मध्याह्न, राह और गाह एवं बड़ी संख्या में, आसाम के चाय के बगीचा में काम करते हैं।

भारत के आदिवासियों में पशुपालन की संख्या अधिक नहीं है। पशुपालन आर्थिक व्यवस्था का प्रधान उद्देश्य नौसंगरी के टोडा लोग की आर्थिक व्यवस्था है। टोडा भेड़ें पालते हैं और भेड़ तथा दूध ही इनका जीवन के आर्थिक आधार है। पशुधन दूध और दूध से बनी वस्तुओं के विनिमय से वे आवश्यक वस्तुओं प्राप्त करते हैं। वे कृषि नहीं करते हैं। उत्तरप्रदेश की उत्तरी सीमा पर पायजान वाला भांगे कृषि और पशुपालन की बात की अवस्था में है। किन्तु जहाँ स्थायी कृषि आर्थिक जीवन

का आधार है वहाँ पशुपालन गौण पेशा बन गया है। कृषि के साथ साथ अन्य अनिवार्य गौण पेशे भी आ जाते हैं। गौण पेशे वस्तुतः सहायक पेशे हैं क्योंकि वे प्रधान पेशे के साथ किये जाते हैं। गिराकर करना, मछली मरना, टोकरी बनाना, मूत्र वातना, कपड़ा बुनना, रस्सी बनाना और बेंत की आवश्यक वस्तुएँ बनाना ऐसी ही पेशे हैं। बड़गिरी लाहारी तथा कुम्हारी का काम करने वाले विगपीरुन समूह भी आदिवासीयों से पाये जाते हैं। उगहरणार्थ, मध्यप्रदेश के मरिया गाँव जंगल की जड़ी-बूटियाँ (Forest Produce) से एक प्रकार की गन्ध बनाने हैं। मावरा, छोट और गोंड आदिवासीयों में गिल्ली का के लगे गापालक धातुओं का काम करने वाले, बुनकर, बेंत का काम करने वाले तथा मिट्टी के बरत बनाने वाले पाये जाते हैं। कोरवा और अगरिया लाहारी का काम करने में सिद्धहस्त हैं। वे स्थानीय उपयोग के लिए साधारण किस्म के औजार बनाते हैं। घासी ताँत बनाने के काम में निपुण हैं। थालू कृषि के साथ साथ, फर्निचर, धरेलू उपयोग के बरत टाकरी, बाद्य यंत्र हथियार रस्सी आदि बटाई बनाने का काम करते हैं। मद्रास प्रांत के इरला बरत की बटाईयाँ तथा टाकरिया और पाल (Ploughshare) और पहिए बनाते हैं।

कृषि भारत के आदिवासीयों का मुख्य आर्थिक आधार है। सन् 1951 का जनगणना में दिये गए आँकड़ों के अनुसार भारत के एक सौ आदिवासीयों में नब्बे सत्तार से कुछ अधिक आदिवासीयों में से, लगभग एक सौ कृषि-कार्य सत्तर लाख कृषि पर निर्भर हैं। कृषि कई प्रकार की है। एक जगम कृषि जिसमें एक स्थान पर लगातार स्थायी रूप से खेती न करके, एक स्थान पर पेड़ा का गिराकर और उनमें आग लगाकर तथा राख और मिट्टी को एक में मिलाकर सततक खेती की जाती है जबतक कि भूमि का उर्वरता बनी रहती है। इस प्रकार की कृषि में न तो हल का महत्व है और न खाद का। जलापे हुए पत्तों की राख खाद का काम देती है। बीज याता छिटका कर बोया जाता है या छडी में गड़डे करके, प्रत्येक गड़डे में एक बीज का दाना रख दिया जाता है। प्रागतिहासज्ञों का मत है कि जगम कृषि ही सद्यत्मान कृषि का प्रारम्भ हुआ है। नव प्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था खाद्य संग्रहण और जगम कृषि पर आधारित थी। स्थायी कृषि, कृषि का दूसरा प्रकार है जो पहाड़ों की ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेती में की जाती है और मैदानों में भी। स्थायी कृषि, जगम कृषि से आगे चला हुआ एक चरण है। स्थायी कृषि खाद तथा हल के प्रयोग और फसलों को बदल-बदल कर बोने (Rotation of Crops) के ज्ञान से सम्बन्धित है। मशीनों द्वारा खेती (Mechanized Agriculture) उसी प्रकार से, हम पर आधारित खेती में आग लगा हुआ एक चरण है जिस प्रकार, हल से खेती जगम कृषि से आगे चला हुआ एक चरण है। हल द्वारा की जाने वाली खेती में यदि खाद के प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है तो मशीनीकरण खेती में उर्वरक (Fertilizers) के प्रयोग का

का आधार है वहाँ पशुपालन गौण पेशा बन गया है। कृषि के साथ साथ अन्य अनेक गौण पेशे भी जा जाते हैं। गौण पेशे वस्तुतः सहायक पेशे हैं क्योंकि वे प्रधान पेशे के साथ किये जाते हैं। गिरावर करना, मछली मरना, टोकरी बनाना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, रस्ती बनाना और बत की आवश्यक वस्तुएँ बनाना ऐसी ही पेशे हैं। बड़ईगिरी लाहारी तथा कुम्हारों का काम करने वाले विनोदीय समूह भी आदिवासीयों ने पाये जाते हैं। उग्रहरणाय, मध्यप्रदेश के मरिया गाँव जंगल की जड़ी बूटिया (Forest Produce) से एक प्रकार की शराब बनाने हैं। सावरा खोड़ और गोड जातिवासीयों में गिल्ली बग के लिये गापालक, घातुआ का काम करने वाले बुनकर बँत का काम करने वाले तथा मिट्टी के बतन बनाने वाले पाये जाते हैं। कारवा और अगरिया लाहारा का काम करने में सिद्धहस्त हैं। वे स्थानीय उपयोग के लिए कृषि के साथ साथ फर्निचर घरेलू उपयोग के बरतन टोकरी, वाद्य-यन्त्र हथियार रस्ती जार घटाई बनाने का काम करते हैं। भद्रास प्राप्त के इस्ता वास की घटाईया तथा टाकरिया और फाल (Ploughsnare) और पहिये बनाते हैं।

कृषि भारत के आदिवासियों का मुख्य आर्थिक आधार है। सन् 1951 आदिवासियों में नब्बे लाख से कुछ अधिक आदिवासियों में से, लगभग एक सौ कृषि कार्य

एक स्थान पर पड़ोसों के गिराकर और उनमें आग लगाकर तथा राख और मिट्टी को एक में मिलाकर तबतक खेती की जाती है जबतक कि भूमि का उर्वरता बनी रहती है। इस प्रकार की कृषि में तो हल का महत्व है और न खाद का। जलपड़े हुए पशु की राख खाद का काम करती है। बीज याता छिटका कर बोया जाता है। या छत्तीस गढ़ों के प्रत्येक गढ़ में एक बीज का दाना रख दिया जाता है। प्रागैतिहासिकों का मत है कि जंगम कृषि ही से वर्तमान कृषि का प्रारम्भ हुआ है। नव प्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था आद्य मण्डल और जंगम कृषि पर आधारित थी। स्थायी कृषि, कृषि का दूसरा प्रकार है जो पहाड़ों की ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेती में भी की जा सकती है और मैदानों में भी। स्थायी कृषि, जंगम कृषि से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है। स्थायी कृषि खाद तथा हल के प्रयोग और फसलों को घुल-बदल कर बोने (Rotation of Crops) के पान में सम्मिलित है। मशीनों द्वारा खेती (Mechanized Agriculture) उसी प्रकार से, हल पर आधारित खेती से आगे बढ़ा हुआ एक कदम है जिस प्रकार हल से खेती जंगम कृषि से आगे उठा हुआ एक कदम है। हल द्वारा की जाने वाली खेती में यदि खादों के प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है तो मशीनीकृत खेती में उर्वरकों (Fertilizers) के प्रयोग का

मान। हल और महीन म की जाने वाली कृषि स्थायी कृषि में आती है। हल और महीन से ही प्रकृष्ट मती (Irrigation Cultivation) सम्भव हुई है। प्रकृष्ट मती बढ़ता हुई जनसंख्या की एक आवश्यकता है। जगम कृषि का आन्तिम कृषि कहा गया है और बढ़ गयी सम्भव है जगम जनसंख्या घनी न है तथा जहाँ जगलो और भूमि का बाहुल्य है।

भारत में आदिवासियों में जगम मती मजदूर घरदार बना करवा गा है और जगम की गणजातियों प्रधान कृषक गणजातियों है। भारत के आन्ध्रप्रदेश स्थायी जोर जगम दानों प्रवार की कृषि करते हैं। जगम कृषि पर निर्भर गणजातियों की आर्थिक व्यवस्था मूलतः वसी ही होती है जमी पाल-मछलीक गणजातियों की। बमार रङ्गी और बगा मती गणजातियों जो जगम कृषि पर निर्भर हैं नवप्रस्तर युग की आर्थिक व्यवस्था से आगे नहीं बढ़ पाए हैं। जहाँ-जहाँ स्थायी कृषि आ गई है वहाँ आदिवासी सामान्य कृषक की व्यवस्था में आ गए हैं किन्तु जगम जगम कृषि ही जीवन का आधार है वहाँ आदिवासियों की आर्थिक दशा काफी अविकसित है।

भारत में आदिवासियों में जगम कृषि का व्यापार प्रभाव है। विभिन्न क्षत्रों में उन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। नामों उन चूम कहते हैं उन्मा के नाम पाट, बस्तर में भरिया गाठ प्युष्ण और मध्यप्रदेश में बगा 'योग बरार'। भूमि जगम पालिया की तन्त्राटी में पडा का गिरा और जगम कर राग में बीज बोने है ता उन डाँची बरार है कि तु यन्त्र पडा को न गिरा कर पडा का चारों ओर पडा हाठिया का एकत्र कर पडा का जगते है तो व उन कोमा कहते हैं। जगम कृषि में पडा को जगकर राग करने, भूमि पर जमी राग की पनी में बीजों का बोना और एक गा पता की बसा उस भूमि की छोड़कर नई भूमि तमार करना आधारभूत नियम है। इस प्रकार की कृषि में निष्कारणता पर निर्भर रहती है। जगम कृषि में जन-संख्या का नाश होता है बसा का विनाश में भूमि का बर्बाद और बाढ़ का बोना बढ जाता है परिणाम में अनुसार पगम गा होता है तथा इसमें पगम पगम की बसा होता है कि समूह जनसंख्या का बसा नगा है। इस कारण जगम कृषि का प्रभाव न और हानिकारक हो गया है। अन्त में राज्य की स्थापना के बाद में जगम न जगम की सुरक्षा का धर्म का जगमदा है तो व आन्ध्रप्रदेश और मराठार में जगम जगम कृषि तब सार्वजनिक का नियम बन गई है वसादि जगम आन्ध्रप्रदेश में जगम का बसा गिरा में नगा मती नहीं है जगम नगा। जगम कृषि आन्ध्रप्रदेश में एक जगम न जगम पगम है। बसा गा। का मती विभाग है कि जगम पगम पगम मा की छाती का पगम है और इसमें जगम नगा नगा बसा का पुगम गा बसा का विभाग और गडा की मती हल पगम नगा मती किया गा। आदिवासियों की आर्थिक दशा में सुधार करने

क लिय, उन्हें जंगम कृषि की अवस्था से ऊपर उठना आवश्यक है किन्तु यह सहसा नहीं हो सकता है। इस कारण, जंगम कृषि जहाँ अधिक समृद्ध है, वहाँ वह सांस्कृतिक और प्रशासकीय समस्या भी है। कुछ भी हो, भारत के सभी आदिवासी जंगम कृषि पर निर्भर नहीं हैं। नागा क्षेत्र के निवासी रंगमा नागा पहाड़ की ढालों पर खेती करने में काफी कुशल हैं। धौल, गाड़, मुण्ग, मधाल, खासी और अज-अनेक गणजातिपूर्ण हल का प्रयोग करके वैसे ही स्थायी खेती करती हैं जसी कि गैर-आदिवासी गावों के निवासी। जहाँ स्थायी खेती होती है वहाँ सिंचाई और साद का भी ज्ञान आदिवासियों का है।

३

सामाजिक संगठन गणजाति (Tribe)

गणजाति (Tribe), आदिवासी सामाजिक संगठन की वस ही एक आधार-भूत सामाजिक इकाई है जैसा जॉन हिंदू सामाजिक संगठन की एक आधारभूत सामाजिक इकाई है। हिंदू समाज जातियों में बँटा हुआ है और आदिवासी समाज गणजातियों में। जाति की सदस्यता की भाँति, गणजाति की सदस्यता जन्मजात होती है। गणजाति, जाति, वंश, वंश और सम्प्रदाय, अलग अलग आधारों पर आधारित भारतीय सामाजिक संगठन की विभिन्न इकाईयाँ हैं जिनमें से, गणजाति-संगठन आदिवासी समाज की आधारभूत विशेषता है। मजूमदार के अनुसार कुछ परिवार या परिवार समूहों से संगठित, गणजाति एक ऐसा समूह है जिसका एक सामान्य नाम होता है (जैसे, टोडा भाल, सवास, आराजा हा बगा और कमार इत्यादि), जिसके सदस्य एक निश्चित भूभाग में रहते हैं (जैसे मथाला का बिहार से लेकर बंगाल तक फैला हुआ), एक सामान्य भाषा या बोली का प्रयोग करते हैं (जैसे गाड़ों द्वारा गाड़ी और नीलों द्वारा भाली बोलियाँ का प्रयोग), विवाह और पेशा सम्बन्धी कुछ सामान्य निषेधों को मानते हैं (जैसे गणजाति के बाहर विवाह न करना, टांडाओं द्वारा भैंस और दूध को नारियों से दूर रखना) और आपस में अत्यन्त निर्भर रहते हैं। इम्पीरियल गेजेटियर में गणजाति का एक सामान्य नाम, बोली तथा धर्म वाला कुछ परिवारों का एक ऐसा समूह कहा गया है जो सामान्यतः अतिविवाही नहीं होता है यद्यपि मूलतः वह अतिविवाही रहा होगा। किन्तु मजूमदार के मत में, गणजाति साधारणतया एक अतिविवाही समूह होता है। अतिविवाह, मजूमदार के मत में, गणजाति की एक आवश्यक विशेषता है। रिचम ने गणजाति का एक सरल प्रकार (Simple Kind) का ऐसा समूह माना है, जिसके सदस्य एक

माना का प्रयोग करने हैं और युद्ध जैसे सामान्य उद्देश्य में संगठित होकर, काम करते हैं। किन्तु युद्ध मात्र दो गणजातियाँ ही नहीं होते हैं। एक ही गणजाति के दो पक्षों में भी युद्ध हो सकता है। युद्ध नहीं, क्षत्र गणजाति की आवश्यक विशेषता है यद्यपि रियम ने क्षेत्र का महत्ता नहीं दी है। यायावर (Nomadic) गणजातियाँ भी बिना किसी क्षेत्र में सम्प्रचित होती हैं और प्रत्येक यायावर गणजाति एक क्षेत्र विशेष में ही घूमती रहती है।

इराकली बर्चोव्स्की अनुसार, गणजाति में आर्थिक विशेषीकरण (Economic Specialization) का अभाव होता है जिसका तात्पर्य यह है कि एक गणजाति के समस्त सभी आवश्यक आर्थिक क्रियाओं का करण है। जाति व्यवस्था में पेशावर विशेषीकरण (Occupational Specialization) पाया जाता है जिससे कारण, जाति व्यवस्था में जातियों की अन्तर्निभरता पाई जाती है। दूसरे शब्दों में, जाति व्यवस्था के माध्यम से विशेषीकरण का आधार पर, विभिन्न सामाजिक समूहों का ऐसा संगठन है जिसमें विभिन्न सामाजिक समूह एक सामाजिक उच्चान्व परम्परा में बंधे रहते हैं जो अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत हुए भी आर्थिक दबावों के कारण उत्पन्न लचीली रहती है। इस प्रकार, जहाँ कि एक मत है गणजातीय व्यवस्था में अधिक विविधता करण नहीं होता है जिससे कारण गणजाति जाति से भिन्न हो जाती है। किन्तु, आर्थिक जीवन में आत्मनिभर तथा स्वतन्त्र समूहों के रूप में गणजाति की धारणा एक आत्म प्रशस्ति है क्योंकि उसमें व्यवस्था भी पाये जाते हैं। मजूमदार के अनुसार, जाति के आर्थिक विशेषीकरण जाति व्यवस्था में निहित जातियों की अन्तर्निभरता और उच्चोच्च परम्परा तथा गणजाति का आर्थिक स्वतन्त्रता के आधार पर जाति और गणजाति का अन्तर नहीं किया जा सकता क्योंकि भारत के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में गणजातियों में भी अन्तर्निभर के माध्यम से विशेषीकरण का विकास हुआ है। मोलियर की गणजातियों दृष्टि का उदाहरण है। दोटा गणजाति के लोगन का येती करते हैं और बिना किसी उद्योग को। उनका आर्थिक जीवन भूमि पालन और दूध के व्यापार पर निर्भर है। दूध और दूध की बनी वस्तुओं में वे अपनी पड़ोसी गणजातियों से आवश्यक वस्तुओं को लेते हैं। बड़गा में वे अनाज मसो में उगाए जाने वाली अन्य आवश्यक स्थानीय वस्तुएँ और कपड़े लेते हैं और कोटा गणजाति के लोग से मिट्टी के बर्तन और लोह के औजार लेते हैं। काटा गणजाति के लोग दोटा व्यापार और अनुष्ठानों में अन्तर्निभरता का भी काम करते हैं। कुछवा गणजाति के लोग वस्त्र मूलक बन कर जीवन निर्वाह करते हैं। इस क्षेत्र में ऐसा माना जाता है कि मूलतः यहाँ की गारा भूमि दोटा लोगों का था जिसमें पशुधन के बड़गा बतौर लगान के दोटा लोगों का भव्य पदाधार का एक हिस्सा बन है।

दृष्टान्त के मोलियर की चारों गणजातियों का आर्थिक जीवन आत्मनिभर नहीं है, परन्तु अन्तर्निभर है। दोटा व्यापार है बड़गा से निहुर कोटा निहुर

और कुम्हा का मूल संगठन। इस क्षेत्र के आधिक संगठन में, प्रत्येक गणजाति दूसरी पर निर्भर है। इन चारों गणजातियों के अंतर्सम्बन्धों में पाये जाने वाले सामाजिक प्रतिष्ठाक्रम वियास में उच्चोच्च परम्परा का भाव है। टोडा गणजाति को सामाजिक प्रतिष्ठा उच्चतम मानी जाती है। ऐसा लगता है कि मानो ये चारों गणजातियाँ, वस्तुतः, जातियाँ हों। दूसरी ओर, प्रत्येक गणजाति को भाषा और संस्कृति कल्प एक दूसरे-से भिन्न हैं। उनके गणजातियाँ ऐसी हैं जिनके सदस्य एक-पेगा विशेष पर निर्भर करते हैं और, इसी कारण, गणजातियों का आन्दोलन, पशु-पालक तथा कृषक श्रेणियों में वर्गीकरण भी किया जाता है। भाग्य कि जिन क्षेत्रों में जाति और गणजाति का सम्पर्क बढ़ा है, जहाँ कि मध्य प्रदेश में अधिकतर आदिवासी क्षेत्रों के सीमांत प्रदेशों में हुआ है गणजाति का आधिक विशेषीकरण भी हुआ है। उत्तरप्रदेश के मिर्जापुर जिला में, बियार और खरवार गणजातियों के सदस्यों ने क्या बनाने का काम में निपुणता प्राप्त कर ली है, जिसके कारण, उन्हें खराही की सेवा से सम्बोधित किया जाता है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया में गणजाति पेशा विशेषीकरण का ओर उभर रही है और, इसी कारण, गणजाति जाति में रूपांतरित होनी रही है। भागे, यथास्थान, इस प्रक्रिया का वर्णन किया जायगा। विशेषीकरण का स्तर प्रौद्योगिकी के विकास-स्तर में सम्बंधित है। आदिवासी आधिक व्यवस्था में प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न है और इस कारण, अपेक्षाकृत, उसमें विशेषीकरण को कम है। भारत में, गणजाति का पेशागत विशेषीकरण, गणजाति की जाति में, रूपांतरित करना रहा है, जिसके कारण, यहाँ-वहाँ, अपवाद के रूप में गणजाति के पेशागत विशेषीकरण के उदाहरण भी मिल जाते हैं। वस, जैसी कि अधिकतर मानवशास्त्रियों की राय है आधिक जलम-निर्भरता, गणजाति का एक सामान्य विशेषता है। आधिक विशेषीकरण जाति की विशेषता है कि गणजाति की। एक गणजाति के सदस्य लगभग उन सभी आधिक क्रियाओं और पेशा का करते हैं जो उनके जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। गण जाति में साधारणतया आधिक विशेषीकरण नहीं होता है यद्यपि एक ही गणजाति में आधिक विशेषता प्राप्त समूह पाये जा सकते हैं। मध्य प्रदेश के गोंडों में लोहारों के काम में विशेषता प्राप्त समूह का पाया जाना इसका उदाहरण है। जाति का आधिक विशेषीकरण, उसे गणजाति से भिन्न कर देता है। इसमें कोई शक नहीं कि एक जाति विनाश के सदस्य कई पेशों का कर सकते हैं किन्तु, हर दशा में, प्रत्येक जाति के सदस्यों के लिय निर्धारित पेशा की संख्या और सीमा परम्परानुसार निर्धारित रही है। ब्राह्मण न तो भगी का काम कर सकता है और न भगी ब्राह्मण का।

मजूमदार के अनुसार गणजाति एक सामाजिक राजनतिक (Social Political) संगठन है। गणजाति मूलतः एक आत्मनिर्भर स्वतंत्र राजनतिक सामाजिक इकाई है—एसी राजनतिक इकाई जिसमें विभिन्न सामाजिक राजनतिक प्रतिष्ठा (Social Status) वाले व्यक्ति संगठित रहते हैं। एक सत्संगी शेष में केंद्रों हुई स्वतंत्र राजनतिक इकाई हान के कारण, गणजाति राष्ट्र का रूप ले लेती है यद्यपि भारत में राष्ट्र राज्य के विकास के साथ-साथ गणजाति का राष्ट्र रूप धीरे-धीरे हाता रहा है^१। आज सभी गणजातियाँ भारत के राजनतिक संगठन का अंग हैं और उनका राजनतिक स्वतंत्रता समाप्त हो गई है। किन्तु फिर भी गणजाति अपने सदस्यों के सामाजिक सम्बन्धों

- १ आदिवासी साम्यवाद (Primitive Communism) के प्रणता मानवशास्त्रियों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि आदिवासी समाज में राज्य-संगठन नहीं पाया जाता है और आदिवासी गोत्र प्रथाओं से नियंत्रित होता है। आदिवासी प्रजाजा का भी उत्पन्न नहीं करता है। इसकारण आदिवासी समाज में कानून (विधि) की भी आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु आज यह मत निमूलक माना जाता है। आज यह माना जाता है कि राजनतिक संगठन प्रत्येक समाज में पाया जाता है यद्यपि उसका प्रकार भिन्न है। समाज का लक्षणात्मक विभाजन (Sectoral Division) राजनतिक संगठन की आवश्यकता की जन्म देता है। स्वतंत्रतापूर्वी समूह आर्थिक समूह घन और लिंग (Sex) आदिवासी समाज का लक्षणात्मक बनाते हैं जिसके कारण आदिवासी समाज में भी राजनतिक संगठन पाया जाता है। राजनतिक संगठन के दृष्टिकोण से, दोस्त और दायजूर में आदिवासी समाजों की तीन श्रेणियों में बांटा है पहला वह समाज जिसमें राजनतिक संगठन अत्यंत सरल होता है (जैसे जाट गणतंत्र और आसटक गणजातियाँ) दूसरा, वह समाज जो जटिल (Band) गणजाति या राज्यसमूह (Confederacy) में संगठित होता है, और तीसरा, वह समाज जो साम्राज्य (Empire) में संगठित होता है। जिस समाज का आर्थिक स्तर जिनका निर्धारित है उसका राजनतिक संगठन भी उतना ही निर्धारित और जटिल है। इससे के अनुसार, आदिवासी समाज में पांच प्रकार के राजनतिक संगठन पाये जाते हैं स्थानीय समूह (The Local Group) गाँव (The Village) राष्ट्र (The Nation) राज्यसमूह (The Confederacy) और साम्राज्य (The Empire)। स्थानीय समूह और जटिल राष्ट्र में विभक्त होता है। आदिवासी समाज में गणजाति राष्ट्र का रूप ग्रहण करता है। गणजाति का विभिन्न राजनतिक रूप राज्यसमूह और साम्राज्य का रूप ले जाता है।

का नियमन उन क्षेत्रों में करती है जो भारतीय विधि प्रणाली के अंतर्गत नहीं आ पाये हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में जहाँ राज्य का उद्देश्य भारत की विभिन्न गणजातियों पर प्रभुता स्थापित करना था, गणजाति, केन्द्रीय सत्ता के अधीन, एक स्वतंत्र राजनैतिक इकाई के रूप में कार्य करती थी। गाँडा ने मध्यभारत में अपना राज्य स्थापित किया था। इससे प्रमाण इतिहास में मिलते हैं। सन 1855 में, सयाजी ने अंग्रेजों को अपने इलाके से निकल जाने की चुनौती दी थी और संगठित होकर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया था।

वर्तमान आदिवासी भारत में पंचायत प्रणाली आदिवासी राजनैतिक संगठन का मुख्य रूप है। भारत में पंचायत प्रणाली के तीन परम्परागत प्रकार मिले हैं एक, जाति पंचायत, दूसरा ग्राम पंचायत और तीसरा गणजाति-पंचायत। जाति पंचायत के अंतर्गत एक जाति के सदस्य आते हैं। एक जाति पंचायत के सदस्य, कई पड़ोसी गाँवों के किन्तु एक ही जाति के सदस्य होते हैं। जाति पंचायत का उद्देश्य है जाति के नियमों को लागू करना और उनका उल्लंघन करने वाले का दंड देना। ये नियम मुख्यतया खान पान, विवाह तलाक और पेशे से सम्बंधित होते हैं। ग्राम-पंचायत के अंतर्गत एक गाँव के निवासी आते हैं जो कई जातियों के सदस्य हो सकते हैं। ग्राम-जीवन का नियमन जाति पंचायत के अंतर्गत आता है। स्वतंत्र भारत में ग्राम पंचायत को वैधानिक आधार प्रदान किया गया है और विधान द्वारा उनके कार्यों और संगठन को निर्धारित किया गया है। वर्तमान विधान के अनुसार एक ग्राम-पंचायत में कई ग्राम आ सकते हैं क्योंकि, वर्तमान विधान में, पंचायत संगठन का आधार ग्राम नहीं, बल्कि एक निश्चित जनसंख्या है जो कई ग्रामों से मिल कर बन सकती है। गणजाति पंचायत से तात्पर्य उस पंचायत से है जो एक गणजाति में पायी जाती है। वर्तमान आदिवासी भारत में, गणजाति का एक केन्द्रीय राजनैतिक संगठन नहीं मिलता है। प्रत्येक गणजाति एक संपर्क क्षेत्र में फैली रहती है और उसके सदस्य बलानों (जिनका जगें वणन किया जायगा) और ग्रामों में विभक्त रहते हैं। वर्तमान आदिवासी समाज में परम्परागत ग्राम पंचायत का ही रूप अधिक मिलता जिसे कुछ उदाहरणों द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कमार गणजाति में कई केन्द्रीय संगठन नहीं हैं। पास पास स्थित कुछ गाँवों के निवासी पंचायत संगठन में संगठित हो जाते हैं। पंचायत का सामाजिक धार्मिक मामलों में सर्वोच्च सत्ता मिली हुई होती है। कुमार गणजाति के सदस्य, अपनी अपनी पंचायत के अधीन होते हैं। खरिया गणजाति में एक गाँव के खरिया परिवारों के मुखियाओं से मिलकर ग्राम पंचायत संगठित होती है। रेम्मा नागाओं में, अंग्रेजों राज्य के पहले प्रत्येक गाँव का एक अध्यक्ष होता था जो प्रशासन में प्रमुख ग्रामवर्द्धा की सहायता लिया करता था। हा गणजाति में भी पंचायत व्यवस्था पायी जाती थी। बिल्टु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद से, वहाँ जा दाहरा प्रशासन अस्तित्व में

आया, उससे पचायत का ह्रास हुआ है। अंग्रेजी प्रशासन ने वहाँ प्रत्येक गाँव में आदिवासी प्राफिसर रखे जो अपनी ही सेवा में लगे रहते जिसके कारण परम्परागत प्रशासन भ्रष्ट हो गया। वहाँ यह नियम है कि किसी भी मुकद्दमे की प्रतिम पचायत में क्लर्क अवरक्ष उपस्थित हो और वह स्वयं यह देखे कि फमला ठीक दिया गया है या नहीं।

प्रत्येक पचायत का एक मुखिया होता है, जिसका पद पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। किंतु, इस नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं। रेंगा नागाओ में ग्राम अध्यक्ष का पद किसी एक परिवार में नहीं बरत कराना पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। आदिवासी समाज में, मुस्लिम निरंकुश शासक नहीं है। मुखिया की सहायता के लिए तथा उसे सलाह देने के लिए यालो बलान के या गाँव के प्रमुख बूढ़ा की सभा होती है, जिसकी राय की मुखिया अवहेलना नहीं कर पाता है। मुखिया का पद वंशानुगत होता है फिर भी, यदि वह मृत उसके पुत्र में न हो सके, उसे हटाया जा सकता है। आदिवासी पचायत के सामने वही मुकद्दम आते हैं जिनसे गणजातीय विधि (Tribal Law) भग होती है। सिद्धांततः, पचायत के अधिकार क्षेत्र में आदिवासी जीवन के सम्बन्धित सभी समस्याएँ आती हैं क्योंकि पचायत और उसके नेताओं का प्रधान कार्य है पचायत के सदस्यों के वर्तमान तथा सामूहिक अधिकारों की रक्षा गणजाति के नियमों का लागू करना तथा आपत्तियों के समय माध निर्देशन करना। किंतु भारत के राष्ट्र राज्य और केन्द्रीय सत्ता के संगठित होने के साथ साथ पचायत के अधिकारों का क्षेत्र भी सीमित हो गया है। पुलिस-संगठन यायालयों और भारतीय दण्ड संहिता से पचायतों के अधिकार सीमित हो गए हैं।

पचायत के अंतर्गत मुख्यतया परस्त्रीगमन, तलाक, वधू मृत्यु, डाकिनी-वृत्ति (Witchcraft), उत्तराधिकार के झगड़ों तथा खान पान के नियमों से सम्बन्धित समस्याएँ आती हैं। कमार पचायत के नियमानुसार ग्राह्या और उनके साथ खाना खाना जिन्हें कमार अपने में निम्न मानते हैं अपराध माना जाता है। अतःवाहिकी तथा बर्द्धवाहिकी के नियमों का पालन करवाना भी पचायत के अधिकार-क्षेत्र में आता है। किसी व्यक्ति की हत्या, चोरी चिसा की मानहानि और किसी की स्त्री या लड़की भगाना इत्यादि अपराध पचायत के अधिकार क्षेत्र में आते हैं, किंतु ऐसे मामलों भारतीय दण्ड संहिता के नियमानुसार यायालय में भी ल जाये जा सकते हैं। कमारों में जसाजि दुबे ने लिखा है 'यक्ति और सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध बहुत कम होते हैं और यदि होते भी हैं तो वे उतने गम्भीर नहीं होते हैं। कमारों जसा हाल लगभग सभी गणजातियों का है।

पचायत में विधायी (Legislative) 'यायिक' (Judiciary) तथा प्रशासकीय (Executive) कार्य और अधिकार निहित हैं। गणजाति की प्रथाओं का नियमन, प्रशासन और यायिक निवचन पचायत द्वारा ही होता है। पचायत उस प्रकार का

न्यायालय नहीं है जैसा कि वर्तमान समाज में पाया जाता है। पंचायत में वादी प्रति-वादी को अपने विचारों का व्यक्त करने का अवसर मिलने के साथ-साथ, पंचायत के प्रत्येक सन्त्य को अपना मत व्यक्त करने का अधिकार होता है। पंचायत द्वारा उसी नियम का लागू किया जाता है जो बहुमत का नियम नहीं बरन सवसम्मति का नियम होता है। आदिवासी विधान परम्परा में अपराध का अपराध न मानकर पाप माना जाता है जिसके कारण अपराध के इराफ़े और प्रेरकों पर ध्यान न देकर, उसके परिणाम पर अधिक ध्यान दिया जाता है। दण्ड भी अपराध के परिणाम का ध्यान में रख कर दिया जाता है। चूंकि अपराध पाप माना जाता है, इसलिए दण्ड ऐसा दिया जाता है जिसमें अपराधी का मुधार भी हो और दूसरा को उदाहरण भी मिल सके। दण्ड का उदाहरणीय बनाने के कारण, आदिवासी दण्ड विधान में 'जम का तैसा नियम' भी पाया जाता है। मध्यप्रदेश की कलबलिया गणजाति में बलात्कार के अपराधी का गुप्तांग गरम किए हुए पस या लाह से शयन की प्रथा का विवरण मिलता है। किन्तु आज एम दण्ड भारतीय दण्ड महिता के विरुद्ध पड़न हैं और इस-कारण, उनका प्रयोग कम होता है। माक्षी में चर्मशीत गवाह का टी अधिक महत्व दिया जाता है पर साथ ही साथ सींगघ और दधीपरीक्षा (Ordeal) का भी महत्व दिया जाता है। कलबलिया में यदि कोई अपराधी सान बीपल के पत्ता को अपने हाथ पर रखकर और उसके ऊपर लाल तपा हुआ लाहा रखकर, सात कदम चलन पर भी न जल, तो वह निर्दोष समझा जाता है। वर्तमान समय में पंचायत, मुख्यतया, या तो नकद जुमाना लगाती है या विरादरी के लिए भोजन का दण्ड देती है, या दोनों को एक में मिला देती है। हुक्का पानी बन्द करना (Excommunication) पंचायत द्वारा दिया जाने वाला मुख्य दण्ड है किन्तु यह घाट समय के लिए ही होता है क्योंकि अन्ततः अपराधी को पुनः समाज में वापस ले लिया जाता है।

आदिवासी समाज में पंचायत का रूप एक सीमित सरकार का रूप है। पंचायत जिन नियमों को लागू करती है वे प्रथाओं के रूप में पाये जाते हैं। इस गणजातीय कारण एक मत यह भी है कि आदिवासी समाज में विधि (Law) का अभाव है। इस मत के प्रणेताओं का यह भी मत रहा है कि आदिवासी अपनी प्रथाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता है। वह अपनी प्रथाओं का बस ही स्वभावतया पालन करता है जैसा अपनी स्वाभाविक आदतों का। किन्तु, यह मत निराधार है क्योंकि आदिवासी समाज में भी व्यक्ति का सामाजिक नियमों का मानना पड़ता है और यदि वह इन नियमों का उल्लंघन करता है तो संगठित रूप से, समाज उस दण्ड देता है। यदि विधि का सरकार, मविधान और न्यायालय के सम्म में ही परिभाषित किया जाए तो आदिवासी समाज में निश्चय ही विधि नहीं है क्योंकि आदिवासी समाज में सस्याएँ अलग-अलग संगठित नहीं हैं। किन्तु, विधि की ऐसी परिभाषा एकांगी है। विधि स साक्ष्य है उस सामाजिक नियम से जो

समाज है जो जिसके पीछे समाज की वह गति है जो राजनैतिक संगठन से उत्पन्न होती है और व्यक्ति का समाज नियम मानने के लिए बाध्य करती है। जिस सामाजिक नियम का व्यक्ति सामाजिक गति के ग्राहक तथा सामाजिक दण्ड के भय से मानता है वही विधि की श्रेणी में आता है। विधि ऐसा सामाजिक नियम है जिसका उल्लंघन व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के बलपूर्वक हाकर व्यक्ति स्वयं के लिए करता है। सामाजिक कृत्या का रोकने वाले नियम विधि की श्रेणी में आते हैं। ये वे नियम हैं जिनके उल्लंघन से समाज को एकता का खतरा उत्पन्न होता है। आदिवासी समाज की प्रथाओं में ऐसे नियम सन्निहित रहते हैं। किंतु असामाजिक क्या है इसकी परिभाषा जल्द भ्रम में आती है। जल्द भ्रम में आती है। कच्चा गराव बनाना भारत के आदिवासी विभाग के नियमों के अनुसार अपराध है किंतु बमार पचायत के विधान में यह अपराध नहीं है। भोल चोरी करना अपराध नहीं माना है। अपराधों गणजातियों में भी चोरी और डाकेंजरी को अपराध नहीं माना जाता है यद्यपि भारतीय दण्ड संहिता के अनुसार, उनका कृत्य असामाजिक और दण्डनीय है। यही कारण है कि आज परिवर्तित परिस्थिति में आदिवासी समाज का अनेक परम्परागत विधियाँ राष्ट्र की विधियों के विरोध में पड़ती हैं और, उसके फलस्वरूप भारतीय समाज में यहाँ बड़ा तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो रहा है। आदिवासी संस्कृति में जो आदिवासी संस्कृति से उत्पन्न इन समस्याओं का यथा-स्थान जगह वगैरह किया गया है।

४

क्लान टोटम और टोटमवाद

गणजाति का समझने के लिए गणजाति के घातक संगठन की समझना आवश्यक है। गणजाति संगठन की निम्नतम इकाई परिवार है। स्थानीय क्लान समूह (Local Group) कई परिवारों से मिलकर बनता है किंतु वह ग्राम नहीं होता है। परिवार का सम्बन्ध एक ओर स्थानीय समूह और गाँव से होता है और दूसरी ओर वन से होता है। वन में वह व्यक्ति जाते हैं जो एक निश्चित पूज्य की सत्ता मानते हैं। वही वही वन से बड़ा सम्बन्ध समूह पाया जाता है (जम बाल) जिसके सम्बन्ध अपने को एक कथित पूज्य की सत्ता मानते हैं। कई वंशों और भालों में मिलकर क्लान बनती है जिसके सम्बन्ध अपने को एक कथित पूज्य की सत्ता मानने के कारण परस्पर रक्त सम्बन्धों मानते हैं। एक गणजाति के ही क्लान (Clans) में विभक्त रहती है जैसे एक जाति गोत्र में क्लान को वंश ही माना नहीं जाता जा सकता जस जाति की गणजाति नहीं बना जा सकता। गणजाति और गोत्र हिंदू सामाजिक संगठन के

आधार है जबकि गणजाति और क्लान आदिवासी सामाजिक संगठन हैं। क्लान परिवार का एक विस्तृत रूप है किंतु, क्लान का परिवार नहीं माना जा सकता क्योंकि, क्लान व सदस्य एक ही गृह में नहीं रहते हैं।

गान का नामकरण वंशिक श्रृंखला के आधार पर किया गया है जबकि क्लान का नाम पशुओं पेड़ा और पौधों के आधार पर किया जाता है। जिस पेड़, पशु या पौधे के नाम पर क्लान का नामकरण दिया जाता है उसे मानवशास्त्र में टोटम की संज्ञा दी गई है। टोटमवाद (Totemism) आदिवासी समाज की एक विशेषता है जिसका भाग वंशन किया जायगा। महा इतना कहना पर्याप्त है कि गणजाति साधारणतया क्लान (Clans) में विभक्त रहती है और एक क्लान के सदस्य अपने समूह का नामकरण किसी पशु पशु या पौधे के नाम पर करेंगे, उसके और अपने बीच में रहस्यात्मक सम्बंध मानते हुए, अपने का एक ही पूज्य की संज्ञा मानते हैं और इस भावना के कारण, एक बहिर्विवाही समूह का रूप ग्रहण करते हैं। क्लान इस प्रकार, गणजाति रूपी अंतर्विवाही समूह का एक बहिर्विवाही उपसमूह है। गान रक्तसम्बंध के सिद्धांत पर आधारित है यद्यपि रक्तसम्बंध की धारणा क्लान क्लाना नामांश होती है। क्लान की सदस्यता सामाजिक वंशानुक्रम (Social Heredity) के सिद्धांत पर पूर्वनिर्धारित रहती है। क्लान की सदस्यता, व्यक्ति की इच्छा पर नहीं निर्भर रहती है यद्यपि, एक क्लान का सदस्य, यदि वह चाहे तो दूसरे क्लान की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। गान मानसनात्मक भी होती है और पितृसत्तात्मक भी। क्लान के माध्यम से गणजाति की जनसंख्या खण्डों में विभाजित हो जाती है। क्लान-संगठन में निहित रक्तसम्बंध की भावना के कारण क्लान का सामाजिक प्रभाव महत्वपूर्ण हो जाता है।

आदिवासी सामाजिक संगठन में क्लान संगठन प्रणाली के कई रूप मिलते हैं। कहीं कहीं, जमाकि टोडा गणजाति में है, गणजाति में क्लानों में विभक्त रहती है। ऐसा दगा में प्रत्येक क्लान को स्वायत्ती (Moety) कहा जाता है। 'स्वायत्ती' अंग्रेजी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है अधभाग। स्वायत्ती प्रणाली की दोहरा-विभाजन (Dual Division) या दोहरा संगठन (Dual Organisation) कहते हैं। सामान्यतः, स्वायत्ती बहिर्विवाही होती है किंतु जसाकि टोडा लोग में है, इस नियम के अपवाद के रूप में, स्वायत्ती अंतर्विवाही समूह के रूप में भी पायी जाती है। जिस गणजाति में कई क्लानों में पायी जाती हैं, वहां एक स्वायत्ती कई क्लानों से मिल कर बनती है। फ्रैटरी (Phratry) प्रणाली क्लान-संगठन प्रणाली का दूसरा रूप है। जब एक गणजाति कई क्लानों में विभक्त होती है और सारी क्लानों में से अधिक समूहों में बंट जाती है तो प्रत्येक समूह को फ्रैटरी कहा जाता है। एक फ्रैटरी की क्लानों आपन में विशेष सम्बंध मानती हैं। स्वायत्ती प्रणाली विवाह को प्रभावित करती है किंतु, फ्रैटरी नहीं।

आदिवासी सामाजिक संगठन में क्लान के कई सामाजिक काम (Social Functions) पाये गए हैं। एक क्लान के सदस्य एक दूसरे का सहायता और सुरक्षा प्रदान करते हैं। परिवार के बाद क्लान ही ऐसा संगठन है जो व्यक्ति के व्यवहार को नियमित करता है। गणजातीय समाज के नियमों को अवहेलना करने पर, व्यक्ति क्लान की सदस्यता से वंचित भी किया जा सकता है। क्लान बहिर्विवाह (Clan Exogamy) का नियम क्लान संगठन की दृष्टि को बढ़ाता है। कहीं कहीं कृषि तथा वागदानी की भूमि जैसी सामूहिक सम्पत्ति क्लान का अधिकार में पायी जाती है। क्लान का मुखिया धार्मिक कृत्या में सामूहिक नतस्व करता है। एक गणजाति की क्लानों का सदस्य या मुखियाओं से मिल कर गणजातीय परिषद (Tribal Council) सम्मिलित होती है। अतः आदिवासी समाज में क्लान का राजनतिक महत्व भी है।

परिवार स्थानीय समूह, ग्राम वंश और क्लान गणजाति के विभिन्न स्तर हैं जिनसे गणजाति का राजनतिक पहलू का सामाजिक संगठन प्रभावित होता है। परिवार, वंश और क्लान रक्तसम्बन्ध के एकपक्षीय सिद्धांत पर आधारित हैं और ग्राम क्षेत्रीय समुदाय तथा स्थानीय समूह के हित के सिद्धांत पर। गणजातीय राजनतिक संगठन में, क्लान का प्रमुख स्थान है और इसकारण गणजातीय राजनतिक संगठन में सविदावाणी सम्बन्धों की अपेक्षा नातेदारी के सम्बन्धों की अधिक प्रधानता है। किंतु गणजाति और क्लान दोनों क्षेत्रीय समूह भी हैं और इसी कारण गणजातीय राजनतिक सामाजिक संगठन में धन का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ उड़ीसा की छोटी गणजाति अनेक बहिर्विवाही ग्राम इकाइयों (Village Units गोत्रिया) में बंटी हुई है। कई गांवों से मिल कर, अलग अलग छोटी बड़ी कई क्षेत्रीय इकाइयां बनती हैं और क्षेत्रीय इकाइयां अंततः गणजाति इकाई में विलीन हो जाती हैं। छोटा नागपुर और बिहार की कुछ गणजातियों में कई ग्रामों और क्लानों से मिल कर परदा या पीर संगठित होता है जो एक उपाध्यक्ष के अधीन होता है¹।

जो गणजाति जितनी बड़ी होता है, उसका आंतरिक संगठन उतना ही विस्तृत और जटिल होता है। मध्यप्रदेश के गोड इसका उदाहरण है। गाँव में पाई जाने वाली क्लानों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। पहली श्रेणी में वे क्लान आते हैं जो टोटम पर आधारित हैं जैसे गोह (टीक या साल के पेड़ पर आधारित) सोह (लाहा) और निरगम (जन्म) इत्यादि। सूनेर सुजोर (जिही), पेटम (गाँव का मुखिया) और लान चटिया (नमक खाटने वाला) इत्यादि नामों पर आधारित क्लानों विद्रूपित नामों पर आधारित हैं और दूसरी श्रेणी में आती हैं। महानदिया जोनपुरिया सरनगदिया सरगुजिया और रतनपुरिया इत्यादि क्लानों स्थानवाचा हैं और तीसरी श्रेणी में आती हैं। शाडिय तथा कश्यप

जस नामा पर आधारित क्लानों वैदिक ऋषियों के नाम पर आधारित हैं और गाड़ों में हिंदू प्रभाव की प्रतीक हैं। गाड़ों में तीन प्रकार के वग पाये जाते हैं, जिनका नामकरण किया है। अभिजात्य (Aristocracy) रयत (Tenantry) और थमिक डा० इन्द्रजीत सिंह न अभिजात्य वग में राजगाड़ आते हैं जिनमें मालगुजार, पटेल और अन्य सम्पत्तिधारी लोग हैं। रयत वग में वृषक आते हैं जो भूमि के स्वामी नहीं बल्कि कृषक हैं। रयत वग के गाड़ों का धुरगाड़ कहा जाता है। राजगाड़ और धुरगाड़ एक ही सामाजिक पष्ठभूमि से उठे हैं। धुर का अर्थ है घुल जिसका लक्षणात्मक अर्थ सामान्य में है और राज का लक्षणात्मक अर्थ है उमर जो राजतंत्र से सम्बन्धित हो। द्वितीय वग में परधान और भ्राजा जस गिल्पी समूहों के गाड़ों भी आते हैं। गोड़ा में परधानों का मूलतः वही काम रहा है जो सामान्यतया चारणा और भाटा का रहा है। खतिहर थमिक तीसरे वग में आते हैं¹।

टोटम और टोटमवाद

का नाम किसी पड़ पंगु या पौधे के आधार पर रखा जाता है। जिस किसी पेड़ पंगु या पौधे के आधार पर क्लान का नामकरण किया जाता है उस टोटम कहते हैं¹। किंतु क्लान का किसी पड़ पंगु या पौधे पर नामकरण ही टोटमवाद (Totemism) नहीं है और न टोटमवाद सांख्यिक ही है। जहाँ गणजाति के एक अंग, क्लान, का नामकरण किसी पड़ पंगु या पौधे पर करने के कारण क्लान के सदस्यों तथा पड़ पंगु या पौधे का सामाजिक जीवन में एक विंगप स्थान बन जाता है और क्लान के सदस्यों तथा टोटम के बीच में रहस्यात्मक सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं वही टोटमवाद का प्रत्यय सम्बन्ध उन निश्चित विश्वास और प्रथाओं से है जो टोटम से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टिकोण से पंगु पेड़ और पौधा की पूजा को टोटमवाद के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता।

- 1 मजूमदार, डी० एन० रसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया पृष्ठ 359
- 2 सवप्रथम जे० लग नामक अंग्रेज ने, 1791 में उत्तरी अमरीका के रेड इण्डियनों में इस प्रमेय का अवलोकन करके इसकी ओर ध्यान आरपित किया था। तब से टोटमिज्म का अवलोकन ससार के अनेकों भागों में किया गया है। ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में टोटमिज्म का व्यापक प्रभाव है। यह अमरीका की कुछ भागों उत्तरी अमरीका की कुछ गणजातियों और दक्षिणी अमरीका की दो गणजातियों में पाया जाता है। मानवशास्त्री इसे आदिवासी-समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं।

टोटमवाद को स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह बात पर ध्यान देना आवश्यक है। टोटम के आधार पर वर्णन का नामकरण सांख्यिक नहीं है। ऐसे उदाहरण भी पाए जाते हैं जहाँ वर्णन का नाम टोटम पर आधारित नहीं रहता है। समार के जिन जाति आदिवासी क्षेत्रों में टोटमवाद पाया जाता है यदि वहाँ के टोटमवाद का गुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि टोटमवाद के जन्मगत कई प्रकार के व विशिष्ट सामाजिक सम्बन्ध होते हैं जो एक समाज या समूह एक अलग और टोटम के बीच स्थापित हो गए हैं। यूरोप के रेड इण्डियनों में टोटमवाद का केवल इतना ही महत्व है कि वर्णन का नामकरण टोटम के आधार पर मिलता है। अमेरीका के उत्तरी पश्चिमी समुद्र तट के प्रदेश में पाए गये जाते हैं आदिवासियों में टोटम वर्णन का प्रतीक माना जाता है। अतः उनमें टोटम का गरीर पर गुदवाने कपड़ों पर छपवाने या अन्य वस्तुओं पर छोदने या चित्रित करने की प्रथा है। होपी रेड इण्डियनों में टोटम मनुष्यों जानवरों, पौधों, भौतिक पदार्थों और मानवनिर्मित उपकरणों (Artifacts) के वर्गीकरण का एक माध्यम है। मध्य आस्ट्रेलिया के निवासी, अरुता आदिवासियों में टोटमवाद एक प्रकार की पूजा पद्धति है जिसमें अनेक प्रकार के रीति (Rituals) और नमस्कार (Piles) होते हैं। अरुता पितृसत्तात्मक परिवार एक निश्चित क्षेत्र में फैला रहता है और इस क्षेत्र में कई पवित्र स्थान या टोटम क्षेत्र होते हैं—जहाँ जसा कि अरुता लोगों का विश्वास है पौराणिक पूर्वजों (Mythological Ancestors) की मृत्यु होनी से उनकी आत्मा का वास रहता है। टोटम क्षेत्र में जो पेड़ या जानवर पाये जाते हैं अरुता विश्वास के अनुसार उनका सम्बन्ध पूर्वजों से है और चूँकि जसा कि अरुता लोगों का विश्वास है, पूर्वजों की आत्मा के ही द्वारा स्त्रियाँ का गर्भावस्था होता है, टोटम क्षेत्र में सम्बंधित पेड़ और पशुओं का उम्र समझ के सदस्यों से विनय सम्बन्ध होता है, जो टोटम क्षेत्रों के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार आस्ट्रेलिया के अरुताओं में टोटमवाद पूर्वज पूजा पद्धति का रूप ले लेता है। विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में इस प्रकार टोटमवाद के अलग अलग रूप और विनयताएँ हैं।

भारतीय टोटमवाद की विशेषताओं का मज़मूदा न इस प्रकार उल्लेख किया है टोटम पशु को मारने का निषेध है। जब टोटम पशु की मृत्यु होती है तो उसकी चमड़ा ही अत्यन्त प्रियता की जाती है जमी कि किसी क्लान के सदस्य के की जाती है। विशेष अवसरों पर टोटम पशु की खाल का पहनना टोटम के गरीर पर गुदवाने या टोटम चित्र को क्लान का निशान या प्रतीक मानने की प्रथाय मिलती है। यदि टोटम पशु भयानक होता है तो उसका प्रसन्न रखने के लिये इस अतिशय से, पूजा की जाती है कि वह अपनी क्लान के सदस्यों पर प्रसन्न रहें और उनका नुकसान न पहुँचाय। यदि टोटम-पशु या पौधा मरता है तो उसे केवल विशेष आनुष्ठानिक अवसरों पर ही खाया जाता है। भारत के आदिवासियों में यह विश्वास पाया जाता

है कि टाटेम अपनी कानून के सदस्या का संरक्षक है। टाटेम से भावी आगवासी की सूचना भी हो सकती है और उनसे रक्षा भी हो सकती है। सम्प्रसार टाटेम के साथ अनुरोध धार्मिक भावनाएँ निपेय और प्रतीक लिपटे हुए हैं और चूँकि एव टाटेम-समूह के सम्पूर्ण अपने का रक्त-सम्बन्धी मानते हैं बहिर्विवाह टाटेम समूह की एक आवश्यक विपत्ति बन जाती है।

भारत में टाटेमवाद का प्रसार आदिवासियों से शुरू होकर हिन्दू समाज की निम्नस्तरीय जातियाँ तक है। मर्यादा में लगभग साँस अधिक चलाने हैं जिनका सामंजस्य योग, पशुओं और पक्षि पक्षियों के आधार पर किया गया है। हा गण-जाति में पक्षम में अधिक टाटेमवादी कानून हैं। मुण्डाजी में चौबीस से अधिक टाटेमवादी बहिर्विवाही कानून हैं। भीमा की चौबीस कानूनों में अधिकतर टाटेमवादी हैं किन्तु, हिन्दू प्रभावा के कारण, कुछ गाँववादी अर्थात् वदिक ऋषियों के नामों पर आधारित मिलती है। छोटा नागपुर के निवासी खरिया आदिवासियों का एक समूह धेल्की खरिया जाठ टाटेम कानून में विभक्त है। इसी प्रकार मध्यप्रदेश और राजस्थान के गाँव तथा बम्बई प्रान्त के कटकारी भी टाटेमवादी कानून में विभक्त हैं। जहाँ गणजाति फ़रारी (Phratres) में विभक्त है, वहाँ फ़रारी अन्तर्विवाही समूह है और फ़रारी के अन्तर्गत चलाने बहिर्विवाही समूह। बंगाल के बाँकुरा जिले के दाउरी का एक अनुसूचित जाति है, माल धाल 'सबोरिया और 'मान नामक चार फ़ट्टियाँ में बँट हैं और इनमें से प्रत्येक फ़ट्टी पाँच से लेकर बीस बहिर्विवाही कानून में विभक्त है। फ़ट्टियों के नाम स्थानवाची है जैसे माल मालभूमि के, धाल धालभूमि के और मान मानभूमि के निवासी हैं। उड़ोसा की कुरमी, कुम्हार और भूमिया जातियाँ के निवासी भी साँप सिंगार और बहू जैसे टाटेमों पर आधारित समूहों में विभक्त हैं। भारत में पाय जान वाल टाटेमों में कुछ तो स्थानवाची हैं, लेकिन अधिकतर पशु पंजा और पीछा पर आधारित हैं। जिन पशु, पेड़ और पीछा को टाटेम माना गया है व सामान्यतः उन समूहों के प्राकृतवास का अभिन्न अंग है जो उन्हें टाटेम मानता है और उसके लिए किसी न किसी रूप में उपयोगी है।

हिन्दुओं में अनेक ऐसी प्रथाएँ पायी गई हैं जिनकी उत्पत्ति भारत के आदिवासियों की टाटेमवादी प्रथाओं से मानी जा सकती है किन्तु वे प्रथाएँ टाटेमवाद के अन्तर्गत नहीं आती हैं। हिन्दू गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा करते हैं। काले कुत्ते का नहीं मारते क्योंकि काला कुत्ता भस्म की सवारी है। जिसको का मारना अपराध है और बिल्ली तथा गाय का भारत वालों को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। नागपंचमी के पक्ष पर नाग की पूजा की जाती है। गध का गालादकी का बाहन माना जाता है और जिस घर में चूँचक का प्रकोप होता है, उस घर में गध का मिश्राये

हुए चने की दाल (दाल) खिलायी जाती है। ऐसा माना जाता है कि यदि गधा चनों की भिगाई दाल खा लेता है तो चेबक से त्राण मिलेगा, वर्ना नहीं। बंदर को हनुमान का रूप मानकर उसके प्रति वही आदर का भाव रखा गया है जो कि हनुमान के प्रति वांछित है। मजूमदार के अनुसार, बंगाल के हिंदुओं में गिर्रा की पूजा करके नारिया की प्रजान शक्ति बढ़ाने की प्रथा पाई गई है। नरमिह दवता के रूप में बाघ की पूजा का प्रमाण मिलते हैं। बेल खर की सवारी चहा गणेश की सवारी हाथी इद्र की सवारी, भनायम की सवारी तथा उत्तू लक्ष्मी की सवारी होने के कारण, इन दवताओं के साथ पूजनीय माने गए हैं। हिंदुओं में तुलसी के पौधे को पवित्र मानकर पूजनीय माना गया है। भारत के कुछ भागों में हिंदू नारिया वटवक्ष को दीर्घायु पति का प्रतीक मानकर उसकी पूजा करती है। पीपल की पूजा इसलिये की जाती है कि यह ब्रह्मराक्षस का निवास स्थान है। जबकि ब्याह के रीति रिवाजों में पलाश पूजन तथा मूसल जैसे पवित्र पदार्थों की पूजा प्रथा पाई जाती है। किंतु ये प्रथाय टोटमवाद का अंतर्गत नहीं जाती हैं क्योंकि इनसे सामाजिक संगठन का नियमन नहीं होता है। ये केवल धर्म और जादू के क्षेत्र में आती हैं जबकि टोटम जादू के भी क्षेत्र में आता है और सामाजिक संगठन का भी क्षेत्र में।

आदिवासी समाज में टोटमवाद क्यों पाया जाता है? इस प्रश्न का सैद्धांतिक उत्तर एक विवाद का विषय रहा है। इसको स्पष्ट करने के लिये अनेक सिद्धांतों को प्रतिपादित किया गया है जिनमें से कोई भी सवमाय नहीं है। इसका कारण यह है कि टोटमवाद एक ऐसी सामाजिक संस्था है जिसके विभिन्न आदिवासी समाजों में, विभिन्न विचरित रूप पाये जाते हैं और जिनके स्पष्टीकरण का समाहार किसी एक सिद्धांत में नहीं हो पाया है। भारतीय टोटमवाद को स्पष्ट करने के लिये जो सैद्धांतिक दृष्टिकोण अपनाया गया है उसको स्पष्ट करने के पहले विभिन्न सिद्धांतों का एक संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

हेडन ने यह प्रतिपादित किया है कि, मूलतः टोटम का सम्बंध खाद्य सामग्री की प्राप्ति से है। प्रारम्भिक काल में एक आदिवासी समूह जिस किसी पेड़ या पशु पर निर्भर था वातावरण में उसने उसी पेड़ या पौधे का आधार पर विनिमय के द्वारा व्यापार प्रारम्भ किया, जिसके कारण उसने उस पेड़ या पशु का संवर्धन प्रारम्भ किया और उसी के आधार पर उसका नाम पड़ा। इसमें यह नहीं स्पष्ट होता कि अखाद्य पशु या पेड़ का टोटम क्या बनाया गया। जेम्स फ्रेजर ने एक के बाद एक कई सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं। उनका एक सिद्धांत यह है कि विभिन्न टोटम-समूह एक प्रकार के उत्पादन उपभोग (Production Consumption) व्यवस्था हैं। अर्थात् एक टोटम समूह अपने टोटम का इसीलिये संवर्धन करता है ताकि दूसरा उसका उपभोग कर सके और वह दूसरे द्वारा संबंधित टोटम पशु या वनस्पति का उपभोग कर सक। पर, आदिवासी समाज इतना नियोजित नहीं है जितनी कि

इस सिद्धांत में कल्पना की गई है। आस्ट्रेलिया के आदिवासीयों में आत्मा के दोहरे अस्तित्व में विश्वास है। अर्थात् आत्मा शरीर के अन्दर भी रह सकती है और बाहर भी। टाटेम में, फ्रेजर के अनुसार आदिवासी न बाह्य आत्मा का स्थापित करने का विचार इसलिए अपनाया ताकि उसकी सुरक्षा की भावना दृढ़तर हो सके। फ्रेजर का तीसरा मिथ्यात्व समर्थन के सिद्धांत (Conception Theory of Totemism) के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धांत के अनुसार आदिवासी इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि नर नारी के संयोग से गर्भाधारण होता है। इस कारण वह टाटेम का गर्भाधारण का कारण मानकर उस कल्पना का पूज्य मानता है। फ्रेजर की यह मान्यता निराधार है कि आदिवासी का इस बात का पता नहीं है कि नर नारी के संयोग से गर्भाधारण होता है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि मातृत्व काइ पेड या पंगू या पौधा टाटेम क्या चुना जाता है ?

हार्पकिंस ने यह कहा है कि जिस आदिवासी समूह की साक्ष्यपूर्ति का जो पंगू या पेड साधन रहा है वही उस समूह का टाटेम हो गया और उसका प्रति आदिवासी का समादर का भाव जगा। उसे टोडोमा में भ्रम के प्रति आदर का भाव विकसित हो गया है। टाइलर के अनुसार आदिवासी का यह विश्वास है कि मरने के बाद आत्मा किसी न किसी पंगू या पेड में निवास करती है और जिस किसी पेड या पंगू में आदिवासी न आत्मा का निवास माना, उसी का टाटेम मानकर, उसकी रक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। टाइलर के अनुसार टाटेमवाद पूज्य-पूजा का एक अंग है। थुरलेम ने, अथन समष्टिवादी समाजशास्त्रीय सिद्धांत के अनुसार टाटेमवाद सामूहिक मन की एक प्रतिव्यक्ति माना है। अमेरिकी मानवशास्त्री बीआर और स्टाउन इत्यादि ने यह माना है कि टाटेमवाद, आदिवासी समाज में, व्यक्ति तथा पंगू या पेड के सम्बन्धों का सामाजिक विस्तार है। फ्रायड ने अपने ओडिपस कम्प्लेक्स (Oedipus Complex)¹ के सिद्धांत के आधार पर टाटेमवाद का स्पष्ट करने का प्रयास किया है। टाटेम, फ्रायड के अनुसार पिता की सामाजिक आकृति का प्रतीक

1. इस सिद्धांत का नामकरण यूनान की एक पौराणिक कथा के आधार पर किया गया है। इस कथा में ओडिपस नामक एक व्यक्ति अपने पिता को मार कर अपनी सगी माता से विवाह करता है। फ्रायड के अनुसार, माता की ओर कामुक आकर्षण प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति ओडिपस की भांति ही व्यवहार करना चाहता है किन्तु, यह व्यवहार, सामाजिक नियमों के कारण, वास्तविक रूप नहीं ले पाता है जिसके कारण, व्यक्ति के व्यक्तित्व-गठन में जो मानसिक ग्रंथि बनती है उसे फ्रायड ने ओडिपस कम्प्लेक्स की संज्ञा दी है। पिता को मारकर माता से विवाह करने की इच्छा फ्रायड के ओडिपस कम्प्लेक्स सिद्धांत का मूलधार है।

है, जिनके विनाश पर सामाजिक सांस्कृतिक नियंत्रण लग जाते हैं। निषेधा का जप्रेजी में टैबू कहा जाता है। टोटेम के साथ या टैबू (Taboo) लग रहते हैं, उनके कारण टोटेम और टू फ्रायड के अनुसार आदिपस कम्प्लेक्स का सामूहिक प्रतीक बन जाते हैं। किंतु जसा कि फ्रायड ने जालोचका ने कहा है, यह मानना कि आदिपस कम्प्लेक्स हर समाज में पाया जाता है आधारहीन है।

गाल्डन वाइजर नामक जर्मनी की मानवशास्त्री ने यह प्रतिपादित किया है कि टोटेमवाद एक सामाजिक धार्मिक (Socio Religious) प्रमेय है और टोटेमवाद का समझने के लिए उसके सामाजिक धार्मिक पक्षों पर एक साथ ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय टोटेमवाद को स्पष्ट करने के लिए रिसले ने यह प्रतिपादित किया था कि, भारत में, टोटेमवाद के धार्मिक आधारों का तो लोप हो गया है किंतु सामाजिक आधार विद्यमान हैं। रिसले ने टोटेम समूह के बहिर्विवाही आधार को टोटेमवाद का कारक माना है। किंतु, मजूमदार के अनुसार टोटेम और बहिर्विवाह का साथ साथ पाया जाना इस धारणा का प्रमाण नहीं है कि टोटेमवाद की उत्पत्ति बहिर्विवाह के ही कारण हुई है। मजूमदार के अनुसार या टोटेम समूहों में बहिर्विवाह के उन्माहरण पाये गए हैं। एक टोटेम समूह और कलान के सदस्य जनसंख्या वृद्धि के कारण, जब दो समूहों में बने हैं तो वे बहिर्विवाही भी होत हुए पाये गये हैं। इसके अनेक उन्माहरण, मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'सेज एंड कल्चर्स में' अवलोकित किये हैं। कलान का बहिर्विवाही रूप कलान के संस्थानों में कल्पित रक्त सम्बंधों की धारणा के कारण आता है न कि टोटेमवाद के कारण। टोटेमवाद और बहिर्विवाहिकी, कलान के साथ, अलग अलग कारणों से सम्बंधित हो गये हैं। हटन के अनुसार भारतीय टोटेमवाद की उत्पत्ति मूलतः प्रजनन पूजापद्धति (Fertility Cult) में हुई है यद्यपि कालांतर में उसमें साथ अन्य प्रथाएँ जुड़ गई हैं। आदिवासियों में टोटेमवाद से सम्बंधित जो विचार या कथाएँ मिलती हैं, उनसे इस मत की पुष्टि नहीं होती है।

जुवाग संसृष्टि के टोटेमों के बारे में लिखते हुए एल्बिन ने यह मत प्रतिपादित किया है कि जुवाग लोग में टोटेमवाद ऐतिहासिक घटनाओं और अनुकरण के कारण आया हुआ जान पड़ता है। आकस्मिक या ऐतिहासिक घटना का सिद्धांत एक काल्पनिक उदाहरण में स्पष्ट किया जा सकता है। मान लें कबूतर की हत्या करने के कारण, बाई व्यक्ति अच्छा हो जाता है और इस कारण वह कबूतर से डरकर उसकी पूजा आरम्भ कर देता है और उसके परिवार में यह परम्परा चल पड़ती है तो एक टोटेम-समूह उत्पन्न हो जाता है। मुण्डा-समूह के तमरिया आदिवासियों में पाण्डुभिग वृत्तान्त के टोटेम को स्पष्ट करने के लिये जो कथा प्रचलित है उसमें इस तथ्य की पुष्टि होती है। पाण्डुभिग मुण्डा भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है नाग। एक तमरिया स्त्री अपने बच्चे का भवला छोड़कर पानी भरने गई और जब लौटकर आई तब उसने देखा कि उसके भान हुए बच्चे के ऊपर अपना पन फाँपे, एक नाग

बैठा हुआ है। स्त्री को देखकर गाँव एक झर को चला गया। उस बच्चे की सतर्पण और उनकी पीढ़िया से मित्रकर पाण्डुभिष या नागमुदती कलान का संगठन हुआ। इस कलान के लाग न तो साथ का मानने हैं और न उसे नुकसान पहुँचाते हैं और यह विश्वास करते हैं कि नाग उनका सरक्षक है। एम ग्राम धनक आधारों के प्रमाणों के आधार पर, मजूमदार ने लिखा है कि भारतीय टोटमवाद की आत्मा न तो धार्मिक अभिव्यक्तियों में है न टोटम को देवता तुल्य मानने वाल विचारों में और न खाद्य जागवरो तथा वनस्पतियों के मवधन की सामाजिक या जातिक आवश्यकता में। टोटमवाद की आत्मा समाधी है सामाजिक व्यवस्था के उस सामान्य समायाजन में जिसके द्वारा आदिवासी मानव और उसके पर्यावरण में महानुमति सम्बन्ध (Sympathetic Relations) स्थापित हो सकें, क्योंकि एम सम्बन्धों में आदिवासी मानव की अपने प्राकृतवास के साथ समायोजन करने की आवश्यकता पूरी होती है और उससे उन अवस्थाओं में मानसिक सुरक्षा मिलती है जहाँ मानव सुरक्षा का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता है।

पिछले वंशन से कलान संगठन की अनक विपत्ताय स्पष्ट होती है। एक, कलान अन्तर्विवाही समूह गणजाति, का एक भाग है। दो, साधारणतया, निम्न कलान बहिर्विवाही समूह होता है। तीन, कलान काल्पनिक रक्त-सम्बन्ध (Supposed Consanguineous Relations) पर आधारित होता है और इस कारण, कलान संगठन और बहिर्विवाहिकी एक में मिल जाते हैं। चार, वंश (Lineage) भी रक्त सम्बन्ध पर आधारित होता है किन्तु, वंश में रक्त सम्बन्ध काल्पनिक न होकर वास्तविक होते हैं। पाँच, वंश कलान का एक भाग होता है। इसकारण, वंश की अपेक्षा कलान का सामाजिक क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। छ, साधारणतया पौराणिक पुष्प, पेड़, पौधे और पशु कलान के पूज्य माने जाते हैं। सात, अधिकतर कलान और टोटमवाद साथ साथ पाये जाते हैं, यद्यपि टोटमवाद को कलान की सावभौमिक विशेषता नहीं माना जा सकता है। आठ, बहुधा कलान के सदस्य एक सम्पूर्ण क्षेत्र के निवासी होते हैं। नौ, कलान मातृसत्तात्मक और मातृवर्गी भी होता है तथा पितृसत्तात्मक और पितृवर्गी भी। दस, कलान और वंश रक्त सम्बन्धों और समान पूज्य की धारणा पर आधारित हैं किन्तु वे परिवार नहीं हैं, क्योंकि कलान और वंश के सदस्य, परिवार के सदस्यों की भाँति, एक ही गृह में नहीं रहते हैं। अतः, कलान परिवार नहीं है।

पहले के मानवशास्त्रियों ने टोटमवाद और सम्मिलित निवास-स्थान (Common Residence) को कलान की आधारभूत विशेषताएँ माना है। किन्तु टोटमवाद सावभौमिक नहीं है। अफ्रीकी आदिवासी संगठन में कलान है किन्तु, टोटमवाद नहीं। सम्मिलित निवासस्थान नहीं वरन् सामूहिक पूज्य के आधार पर, एक कलान के सदस्य संगठित रहते हैं। एक कलान के सदस्य एक क्षेत्र विशेष में फले

रहते हैं जो आदिवासी क्षेत्रों में बहुधा सस्पर्शी होता है। क्षेत्रीय सभ्यता और सम्मिलित निवासस्थान अलग अलग हैं। पहले के उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों ने, यह भी मान्यता प्रतिपादित की है कि क्लान संगठन की अवतारणा परिवार संगठन से पहले हुई है और क्लान संगठन में, मातृवशी क्लान संगठन प्राचीनतम है। इसका यह अर्थ निकलता है कि पितृवशी क्लान संगठन तथा परिवार मानव विकास प्रक्रिया में बाद के विकार हैं और मातृवशी क्लान संगठन पहले का। उद्विकासवादी मानव शास्त्रियों के अनुसार, पहले मातृवशी क्लान का विकास हुआ, फिर पितृवशी क्लान का और फिर परिवार का। मातृवशी क्लान की उत्पत्ति, झुंड-संगठन (Horde) से हुई है, जिसमें एक झुंड के सभी पुरुष सभी स्त्रियों से सहवास करते थे, जिसके कारण, प्रत्येक व्यक्ति का अपने पिता की अपेक्षा माता का ही अधिक निश्चित ज्ञान रहता था। यह अवस्था साम्यवादी अवस्था थी जिसमें, व्यक्तिगत सम्पत्ति न होने के कारण, मातृवशीयता प्रधान थी।

क्लान-संगठन की उत्पत्ति के बारे में उद्विकासवादी मानवशास्त्रियों के विचार आज काल्पनिक माने जाते हैं क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के अध्ययनों से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे उद्विकासी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। उदाहरणार्थ केरल की कादूर गणजाति तथा अरुमांन द्वीप के आदिवासियों में क्लान संगठन नहीं पाया जाता है यद्यपि उनका विकास स्तर मायावर अवस्था में ही है। उनमें परिवार-संगठन का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि क्लान संगठन परिवार संगठन से पहले का नहीं है। क्लान और परिवार जहाँ क्लान संगठन है साथ साथ पाये गये हैं। आसाम के ग्वासिया में, सम्पत्ति-स्थिति पाई जाती है किन्तु उनमें पाई जाने वाली मातृसत्तात्मकता पितृसत्तात्मकता में नहीं बदली है। मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक क्लानों की उत्पत्ति अलग अलग स्थानों में साथ साथ हुई है, ऐसा विद्वानों का मत है। वास्तव में परिवार को जिन आवश्यकताओं ने जन्म दिया है, वे उन आवश्यकताओं से भिन्न हैं जिन्होंने क्लान संगठन को जन्म दिया है। परिवार का आधार है प्रजनन, सन्तान पालन तथा आर्थिक जीवन को गृह के स्तर पर व्यवस्थित करने की आवश्यकताएँ। परिवार का आधार है विवाह जो दो भिन्न परिवारों तथा समूहों के विपरीतलिंगी यन्त्रियों के बीच में होता है। परिवार द्विपक्षीय (Bilateral) सम्बन्धों से मिलकर संगठित होता है यद्यपि साधारणतया, इसमें विवाह पर आधारित सम्बन्धों का द्वितीयक स्थान मिलता है। परिवार में निहित एकपक्षीय रक्त सम्बन्धों का सिद्धांत, जहाँ परिवार से बड़े समूह के स्तर पर लागू किया गया है, वहाँ वंश और क्लान जैसे संगठन पाये जाते हैं। वंश में रक्तसम्बन्ध वास्तविक होते हैं जब कि क्लान में काल्पनिक रक्तसम्बन्धों के एकपक्षीय संगठन ने ही क्लान में, वर्तमान विवाह का जन्म दिया है। सामाजिक संगठन के दृष्टिकोण से परिवार वंश और क्लान का आधार है न कि क्लान और वंश परिवार के आधार हैं। परिवार,

गणजानि के विनाश के सभी स्तरों पर पाया जाता है जबकि क्लान न तो प्राचीनतम विकास के स्तर पर पाई गई है और न आधुनिकतम विकास के स्तर पर। क्लान का व्यापक संगठन प्राचीनतम और आधुनिकतम विकास अवस्थाओं के बीच की अवस्था में पाया जाता है। बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की गणजातियों में पाया जाने वाला क्लान संगठन, इसका उदाहरण माना जा सकता है।

५

परिवार विवाह और युवागृह

गणजाति के आंतरिक संगठन का विश्लेषण, इस प्रकार, आदिवासी परिवार संगठन के विश्लेषण की ओर ले आता है। विवाह परिवार का आधार परिवार है। इस कारण परिवार के साथ-साथ, विवाह का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है। आदिवासी समाज में परिवार और विवाह मध्य तथा विकास की सभी अवस्थाओं में पाये जाते हैं यद्यपि उनके रूप भिन्न भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर, पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं जिनमें वंश पिता के नाम पर चलता है और पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार पिता से पुत्र का मिलता है तो, दूसरी ओर, सासो और नागो जैम आदिवासियों में मातृसत्तात्मक परिवार पाया जाता है जिसमें पारिवारिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार माता से पुत्री का मिलता है। पितृसत्तात्मक परिवारों में वंश पिता के नाम पर चलता है और परिवार का अध्यक्ष पिता होता है तो मातृसत्तात्मक परिवार में वंश मा के नाम से चलता है तथा परिवार की अध्यक्षता माँ के पास होती है। जहाँ पितृसत्तात्मकता है वहाँ विवाह के बाद, बधू अपने पति के घर जाकर रहती है और जहाँ मातृसत्तात्मकता है वहाँ, विवाह के बाद, बधू अपने माँ के ही घर में रहती है। पितृसत्तात्मक परिवार में बहुधा, एक ही पिता की सत्तानें और सत्तानों की सत्तानों की कई पीढ़ियाँ रहती हैं और, इस प्रकार, परिवार में विवाह के द्वारा आई हुई स्त्रियाँ को छोड़कर, बाकी सभी सदस्य खून सम्बंधी होते हैं। किंतु मातृसत्तात्मक परिवार में जैसाकि नायरा के मातृसत्तात्मक परिवार में एक सत्तानी पहले पाया जाता था, परिवार के सदस्य खून सम्बंधी नहीं होते थे क्योंकि इस परिवार में विवाह के बाद सड़कियाँ पति के घर नहीं जाती थी और परिवार के विवाहित पुत्रों की पत्नियाँ अपने पिता के ही घर रहती थी। दहरादून जिले के जौनसार बावर परगना में कई सगे भाई एक या एक से अधिक स्त्रियाँ से, सम्मिलित विवाह कर लेते हैं और छोटी गणजाति में सगे भाई या बहिन दो या दो से अधिक व्यक्ति, सम्मिलित विवाह करके, परिवार की स्थापना करते हैं। आदिवासी समाज में, किसी-किसी अवस्थाओं में, विवाह से पहले और विवाह के साथ-साथ, विवाह के अतिरिक्त यौन-

सम्बन्धों को मान्यता प्राप्त है। अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के आदिवासियों में, स्त्री का अतिथि और मित्र का यौन-तुष्टि के लिये देने की प्रथाओं की रिपोर्ट मिलती है। भारत की कुछ अपराधी गणजातियाँ में, पत्नी का वधक के रूप में रखने का उत्कृष्ट मरकार मजूमदार ने किया है¹।

आदिवासी परिवार संगठन और उससे सम्बन्धित परम्पराओं के वैज्ञानिकों का उदविकासी मानवशास्त्रियों ने बड़े ही अतिरिक्त ढंग में स्पष्ट उदविकासवादी किया है। उदविकासी मानवशास्त्रियों में अमरीका के लुई माइगन दष्टिकोण प्रमुख हैं और सबसे पहले उन्होंने ही यह विचार रखा था कि परिवार का उदभव और विकास उस आदिवासी अवस्था में हुआ है जिसमें मूलतः न तो विवाह था और न परिवार। यह अवस्था साम्यवादी युद्ध की अवस्था थी जिसमें नर नारी के यौन-सम्बन्ध उन्मुक्त थे यहाँ तक कि भाई बहिन का विवाह होता था। आदिवासी समाज में पाई जाने वाली जिन प्रथाओं का इन्होंने प्रमाण माना वे इस प्रकार हैं अनेक त्योहार के अवसरों पर, पति-पत्नी के यौन सम्बन्धों में छूट मिलना मित्रों की यौन तुष्टि के लिये पत्नी दे देना, दा-पतिवृत्तियों में स्त्रियों का बदला जाना और पिता तथा मामा के लिये एक ही सम्बन्धी शब्द (Kinship Term) का प्रयोग करना। परिवार विकास की दूसरी अवस्था है समूह विवाह की अवस्था जिसमें पुरुषों का एक समूह, स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता था। बहुपत्नित्व इसी अवस्था में आता है। तीसरी अवस्था में विवाह तो एक पुरुष और एक स्त्री में होता था किन्तु उनके यौन-सम्बन्ध निबंध थे। चौथा अवस्था में एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह करता था किन्तु स्त्रियों के यौन सम्बन्धों पर पुरुष (पति) का ही अधिकार रहता था। यह पितृसत्तात्मक बहुपत्नीत्व की अवस्था है। पाँचवीं या आधुनिकतम अवस्था एकविवाही परिवार की है जिसमें एक पुरुष, एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसी आधार पर, मारगन न मलान का परिवार का प्रारम्भिक रूप माना है और क्लान से ही परिवार की उत्पत्ति मानी है जिसकी वास्तविक तथ्यों के आधार पर, सैद्धांतिक पुष्टि नहीं की जा सकती है।

वेस्टर मार्क ने यह मत प्रतिपादित किया कि परिवार की उत्पत्ति के कारण हैं नर में पाई जाने वाली ईर्ष्या (Jealousy) तथा अधिकारात्मकता (Possessiveness) की भावनाएँ और सम्पत्ति तथा सम्पत्ति भावना का विकास। परिवार की उत्पत्ति का कारण है नर न कि नारी। चार्ल्स डार्विन ने पशु-संसार में पाये जाने वाले उदाहरणों से परिवार की उत्पत्ति को स्पष्ट किया। उनके अनुसार, कई नर,

1 देविय मजूमदार कृत फारब्रूस आफ प्रिमिटिव ट्राइब्स में अपराधी गणजातियों पर लिखा अध्याय।

आदिवासी समाज-संस्कृति संकुल

नारी के लिये सघन वरत है किंतु उनमें विजय एक ही की होती है।
लिय एक पत्नी की व्यवस्था के द्वारा इस मघप का दूर करने की जब सामाजिक
प्रथा बनी तभी परिवार की उत्पत्ति हुई। राबर्ट रिफाट न इस तथ्य पर ज़ार
दिया है कि परिवार का उत्पत्ति पुरुष की इर्ष्या की भावना तथा सम्पत्ति मस्या के
कारण नहीं वरन् मातृत्व की समस्याओं तथा मातृत्व-अधिकार (Mother Right)
के कारण हुई है। मानव मान को ही सबसे अधिक मानवत्व का भार वहन करना
पड़ता है। मानवत्व का संरक्षण परिवार का मूल रूप मातृतात्मक ही था।
सबसे अधिक समस्या मानव समाज में ही है। परिवार में आवश्यकताओं की पूर्ति
के लिये उसे न हुआ और इस कारण परिवार का मूल रूप मातृतात्मक ही था।

आधुनिक मानवशास्त्र में यह विज्ञानप्रसन्न समस्या एक किनारे छाड़ दी गई है
क्याकि इसका निराकरण सम्भव नहीं है। जसा कि मारग्रेट मीट ने कहा है इन सिद्धांतों के
निर्धारण में योरोप के एकदिवाही परिवार का आधुनिकतम माना गया है और आदि-
वासी परिवारों का प्राचीनतर या प्राचीनतम। योरोपीय परिवार का ही मापण्ड
मानना चलत है क्योंकि योरोपीय परिवार को आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में समझा
जा सकता है और आदिवासी संस्कृति नहीं है जिसमें परिवार संस्था नहीं। आदिवासी समाज में
कोई भी आदिवासी संस्कृति नहीं है जिसमें परिवार संस्था नहीं। ऐसी
पिता की सामाजिक भूमिका (Social Role) सभी जगह स्वीकार की गई है। ऐसी दशा
में यह नहीं कहा जा सकता कि कभी कोई अवस्था थी जहाँ परिवार और विवाह
नहीं थे। साथ ही साथ यह भी नहीं निर्धारित किया जा सकता कि पितृमातृतात्मकता
प्राचीन है या मातृतात्मकता। सांस्कृतिक प्रमाण तो यह है कि मातृतात्मक परिवारों
में भी परिवार प्रबंध पुरुष के हाथ में रहता है जबकि सत्ता नारी के अधिकार में।
अधिक सम्पत्ति दृष्टिकोण यह है कि मानव की कुछ आधारभूत आवश्यकताओं के

परिवार के
आधार

कारण, परिवार की अवतारणा मानव के ही साथ साथ हुई है
यद्यपि विभिन्न स्तरों और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसके भिन्न
भिन्न रूप पाये गए हैं। प्रजनन तथा सत्ता-पालन की आव-
श्यकता के कारण परिवार सामाजिक है। यही कारण है कि

माता पिता और सत्ता में मिलकर परिवार का जो प्रकार बनता है यह सर्वत्र
पाया जाता है। आन तब यह नहीं सिद्ध किया जा सके कि कहीं भी किसी

- 1 दक्षिण भारत के नायरो में मातृतात्मक परिवार का जो वर्णन मिलता है
उनसे यह स्पष्ट होता है कि परिवार की सत्ता तो परिवार की सम्योवद्ध स्त्री
के हाथ में रहती है किंतु परिवार के प्रबंध का अधिकार उस स्त्री के बड़े
भाई के हाथ में। विभिन्न विवरण के लिये देखिये के० एम० कपाडिया पृष्ठ
मरिज एण्ड फमिली इन इंडिया।

अवस्थाओं में परिवार नहीं पाया जाता है या पाया गया है। विवाह, यौन-नुष्टि के नियमन का एक माध्यम है जिसके आधार पर परिवार सामूहिक होता है। परिवार से व्यक्ति का सुरक्षा भी मिलती है और मानसिक तुष्टि भी। इसबाब, जहाँ, एक जोर परिवार का एक आधार-जिव है वहाँ, दूसरी ओर दूसरा आधार मानसिक है। परिवार संस्कृति के नरतय का माध्यम है क्योंकि संस्कृति के मापदंड, परिवार के ही द्वारा व्यक्ति तक पहुँचते हैं। इसीलिये यह कहा गया है कि परिवार का शक्ति-महत्व भी है यद्यपि, ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया है, परिवार के शक्ति-काय अन्य संस्थाओं के हाथ में पहुँचते रहे हैं। परिवार को समाज का छोटा रूप माना गया है। समाज के आदर्श नियम, परिवार के ही माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। अतः परिवार सामाजिक नियंत्रण का माध्यम भी है। समाज में जितने प्रकार के समूह बनते हैं उनमें परिवार समूह का प्राथमिक स्थान है। परिवार परिवर्तन में ही स्थायी रहता है। जबकि मानसिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ परिवार के द्वारा आर्थिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है। आदिवासी समाज में परिवार का आर्थिक महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि परिवार के सदस्य, खास सामग्री जुटाने में सामूहिक रूप से प्रयास करते हैं।

परिवार को समाजशास्त्रियों ने समिति (संघ) माना है और विवाह को संस्था। किंतु आदिवासी समाज में परिवार का जो रूप मिलता है उसमें संस्था का तत्व अधिक है। आदिवासी परिवार को आसानी से, संस्थात्मक प्रकार का परिवार (Institutional Type of Family) कहा जा सकता है। इसप्रकार के परिवार को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उत्पादन और उपभोग की इकाई है। उपभोग के लिये उत्पादन आदिवासी आर्थिक व्यवस्था की विशेषता है, जिसके कारण, ये विशेषता आदिवासी परिवार की भी विशेषता बन गई है। संस्थात्मक प्रकार का परिवार एक-विवाही परिवार से बड़ा होता है और उसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते हैं। इस परिवार का गणनात्मक महत्व वर्तमान समाज में पाए जाने वाले परिवार में अपेक्षाकृत अधिक है। संस्थात्मक प्रकार के परिवार का व्यक्ति पर व्यापक प्रभाव पड़ता है जिसके कारण, समाज में परिवार के सदस्यों का वही स्तर होता है जो कि परिवार का होता है। परिवार के नेतृत्व में आयु का प्रधानता मिलती है और विवाह केवल दो विधवा-पति-पत्नी के बीच में समझौता माना नहीं जाता है। विवाह का सम्बंध परिवार के सदस्यों और सम्बंधियों से होता है। नारियाँ का काय-धेन मुख्यतया प्रजनन-संतान-पालन और गृहस्थी तक सीमित रहता है। विवाह विच्छेद की समस्या भी केवल पति-पत्नी की ही समस्या नहीं रहती है, वरन् उस परिवार और विरादरी के सदस्यों की समस्या रहती है जिसके पति-पत्नी सदस्य हान हैं।

आदिवासी समाज संस्कृति संकुल

आदिवासी परिवार इस प्रकार उस परिवार की श्रेणी में आता है, मानवशास्त्रियों ने विस्तृत परिवार (Extended Family) कहा है। विस्तृत परिवार वह परिवार है जिसमें प्राथमिक परिवार (Primary Family) का साधारणतया या तीन पीढ़ियाँ में विस्तार होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आदिवासी समाज में प्राथमिक परिवार ही पाया जाता है। वास्तव में जमा कि मानवशास्त्रियों प्रतिपादित किया है प्राथमिक परिवार जिसमें पति पत्नी और उनकी सत्तान आती है, सभी प्रकार के परिवारों का मूलधार है। प्राथमिक परिवार बहुपत्नित्व तथा बहुपत्नीत्व पर आधारित परिवारों में भी समाया रहता है। प्राथमिक परिवार सावर्भूमिक और सावकालिक है यद्यपि आधुनिक समाज में वह अधिक स्पष्ट रूप तथा सरलता में पाया जाता है। आदिवासी समाज में प्राथमिक परिवार निश्चिन्त तो रहता है लेकिन सामाजिक सम्बन्धों में रक्त सम्बन्धों की प्रधानता के कारण वह विस्तृत परिवार में समाया रहता है। प्राथमिक परिवार स्वाभाविक परिवार है, जिसमें चौमुखी सम्बन्धों का समावेश रहता है यद्यपि इन सम्बन्धों में सबसे अधिक महत्ता एकापक्षीय रक्त सम्बन्धों की होती है। विस्तृत परिवार सभी उत्पन्न होता है जब एकपक्षीय रक्त सम्बन्धों तथा सम्मिलित वासस्थान के आधार पर प्राथमिक परिवार का विस्तार होता है। इसीलिए विस्तृत परिवार का एकापक्षीय परिवार (Unilateral Family) तथा रक्त सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family) की संज्ञाएँ भी दी गई हैं। बहुपत्नीत्व और बहुपत्नित्व पर आधारित तथा समुक्त परिवार विस्तृत परिवार की श्रेणी में आते हैं। कलान भी रक्त सम्बन्धों की श्रेणी में नहीं विस्तार के सिद्धांत पर आधारित है। किंतु उसे विस्तृत परिवार की श्रेणी में नहीं रखना जा सकता क्योंकि एक कलान के सदस्य एक ही गृहस्थी में नहीं रहते हैं। गृहस्थी की एकता की भावना अन्य विघटनशीलों के साथ परिवार की एक मुख्य विघटनशीलता है।

भारत के आदिवासियों में, पितासत्तात्मक समुक्त परिवार पाया जाता है यद्यपि यहाँ-वहाँ पितृसत्तात्मक संरचना में मातृसत्तात्मक संरचना के तत्व भी मिलते हैं जो साधारणतया गौण हैं। उदाहरणार्थ जौनसार बावर की पितृसत्तात्मक संरचना में नारियों का कुछ विरोधाभास मिले हुए हैं जिनमें से एक पिता के घर में यौन जीवन की स्वतंत्रता है। अपने पिता के घर में रहते हुए जौनसारी नारी, विवाहित हात हुए भी परसम्पन्ना को घर में रखती हैं जिस मजूमदार ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था में मानसत्तात्मक प्रभाव का परिणाम माना है। इसी प्रकार छाटा नागपुर के आस पास रहने वाली सरिया गणजाति के परिवार में, मामा का जा विशेष स्थान प्राप्त है उसे भी मातृसत्तात्मक प्रथा की दन माना गया है। किंतु ये उदाहरण इस निष्कर्ष के प्रमाण नहीं हैं कि भारत का आदिवासी परिवार मूलतः मातृसत्तात्मक ही था। आदिवासी समाज में पितृसत्तात्मक परिवार की संरचना और

संगठन किस प्रकार का है यह सरिया और हो गणजातियाँ के परिवारों के उस वर्णन से स्पष्ट होता है जो मजूमदार और मॉन ने प्रस्तुत किया है। सरिया गणजाति में, माता पिता और उनकी सत्ता या दत्तक सत्ता परिवार की मूल इकाई है। इस इकाई में कहीं कहीं जमाई भी शामिल हो जाता है विशेषतः उस अवस्थामें जहाँ जमाई का लड़का नहीं होता है और वह किसी का दत्तक पुत्र न बनाकर, जमाई की अपन परिवार का सदस्य बना जाता है। कहीं कहीं गृहपति के पिता, पितामह, चाचा और चाचा की सत्ता भी परिवार के सभ्य के रूप में पाये जाते हैं। किन्तु, अधिकतर नौजवान अपना आपना अलग बना लेते हैं जिसके कारण पति पत्नी और उनकी सत्ता से बना परिवार ही समाज की मूल इकाई रहता है। दूर के सम्बन्धी, परिवार समस्या में निरन्तर ही शामिल किये जाते हैं। किन्तु हो परिवार के संगठन में, वायामक तथा मरबनात्मक नैतिकता से परिवार और बाली (बालन) एक में मिल गये हैं यद्यपि परिवार और बाली के बीच में फायों का विभाजन स्पष्ट है। महा बाली विस्तार परिवार का रूप ले लेती है। साधो पान्न विस्तृत परिवार की जिम्मेदारी है किन्तु उत्पादित साधमामयी अलग अलग परिवारों (Individual Families) में बाँट दी जाती है। बच्चा की शिक्षा दोषा सामाजिक नियन्त्रण बीमारियाँ स रक्षा तथा स्वाहार और उत्तमता का मताना बीला का सामाजिक उत्तर दायित्व है। इसका यह ता पय नहीं कि ता परिवार बीली में पूजनपा समाहित हो गया है। प्रत्यक्ष हो परिवार अपनी अलग पूजा पद्धति का अपनाता है। हा गण जाति में बीली और परिवार के सम्बन्ध पारस्परिकता तथा सामूहिकता की आवश्यकताओं पर आधारित है। जहाँ सामाजिक सामूहिकता की आवश्यकता है वहाँ बीली का महत्व बढ़ जाता है। लड़के के विवाह पर जब किसी परिवार का बलू घन की आवश्यकता होती है ता उसकी बीली के सदस्य उसकी सहायता करते हैं।

सरिया और हा परिवार पितृसत्तात्मक हैं, जिसके कारण पिता, कर्त्ता के रूप में परिवार का मुख्य केन्द्र है। पिता ही परिवार की सत्ता केन्द्रित रहती है और पिता ही वग चलता है। विवाह के बाद प्रत्येक स्त्री पिता का घर छोड़ कर पति के घर में रहती है। एकविवाह का आम रिवाज है यद्यपि बहुपत्नी विवाह भी होते हैं जो गणजातियों में परिवार के द्वारा नैतिक मानसिक (यौन सन्तुष्टि और भय) की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ साथ नई पीढ़ियाँ की शिक्षा दी ता भी होती है। भेड़ और जानवर चरान तथा खेती के कामों की शिक्षा लड़के का पिता से मिलती है और मन्त्रों की शिक्षा स्त्रियों का माता से मिलती है। बालन और परिवार एक साथ गणजाति की भाषा प्रयाजों गडियाँ तथा जनरीनियाँ का, एक पीढ़ी में दूसरी पीढ़ी तक ले जाने हुए सरिया सभ्यता का स्थापित प्रमाण करते हैं। परिवार में वसाहिक जीवन का भी नियमन होता है।

सरिया परिवार एक आर्थिक समूह भी है। परिवार के सदस्य एक साथ

खाद्य सामग्री का उत्पादन और संग्रह करते हैं तथा सबके लिए एक समान सुरक्षा (Shelter) और कपड़ा का प्रबंध करते हैं। पति पत्नी समान रूप से परिवार के चलाने में अपना अपना योगदान हैं यद्यपि उनके कार्यों का विभाजन लिंग के आधार पर होता है। पति का आर्थिक कार्य मछली मारना और जाखेट करना है तथा पत्नी का कार्य फल काट और खाद्य जड़ियाँ का एकत्र करना है। पत्नी खाना बनाती, पानी भरती और बच्चा की देखभाल करती है और खेतों के कामों में भाग नहीं लेती है। पति व प्रभुत्व के हात हुए भी परिवार में, पत्नी का स्थान गौण नहीं है। बच्चा के पालन तथा गृहस्थी के चलाने में पत्नी का काफी स्वतंत्रता रहती है। खरिया नारी का अनेक सामाजिक निर्भोग्यताओं तथा निषेधा का पालन करना पड़ना है, जिनमें से मुख्य है धार्मिक अनुष्ठानों में भाग न लेना। किंतु, इन निषेधा का नारी की निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं माना जा सकता है। खरिया नारी को अपनी व्यक्तिगत वस्तुओं, जिनमें उसके आभूषण, कपड़े और व वस्तुएँ आती हैं जिनका वह स्वयं अजन करती है या जिन्हें वह स्वयं बनाती है, पर स्वतंत्र अधिकार रहता है।

खासी और गारो परिवार ही, भारत के आदिवासियों में, मातृसत्तात्मक परिवारों के उचित उदाहरण हैं। खासी और गारो, आसाम के खासी और जयंतिया पहाड़ियों के प्रदेश में पाये जाते हैं। खासी परिवार में, सबसे छोटी लड़की, परिवार का उत्तराधिकारिणी समझी जाती है जिसके कारण, सम्पत्ति-उत्ताधिकार माँ से बड़ी लड़की का न मिल कर, छोटी लड़की को मिलता है। परिवार की पूजा अनुष्ठान प्रथाओं का छोटी लड़की ही सम्पन्न करती है और परिवार के सदस्यों के मरने पर, उनकी अस्थियाँ को, बड़े परिवार के सम्मान स्थान में गाढ़ती है। इसप्रकार छोटी लड़की परिवार की सरलक समझी जाती है जिसके कारण उन परिवार की सम्पत्ति में से, सबसे अधिक अंश मिलता है। जब वर्तमान स्त्री का दहा त होता है तो उसका दाह संस्कार सबसे छोटी लड़की ही करती है। गारो परिवार में उत्तराधिकार माता से लड़की को चलता है किंतु यहाँ उत्तराधिकारिणी वह लड़की होती है जिसे माता पिता उत्ताधिकारिणी घोषित करते हैं। साधारणतया, ज्येष्ठ पुत्र का उत्तराधिकारिणी नहीं घोषित किया जाता है। उत्तराधिकारिणी घोषित की हुई पुत्री के भलाबा, अन्य पुत्रियों समेत परिवार में रह सकती हैं जबतक कि उनका विवाह नहीं हो जाता। विवाह हो जाने पर वे, अपने मायके में ही, पिता द्वारा दी हुई भूमि पर अपने घर बनाती हैं। यदि वर्तमान स्त्री के लड़की न हो तो उत्तराधिकार बहिन का या बहिन की लड़की का मिलता है। यदि कोई न हो तो मातृवंशी सम्बन्धी वंश से कोई लड़की गाढ़ ली जा सकती है।

खासी परिवार में, साधारणतः, वर्तमान स्त्री उसका पति, उसके अधिवाहित पुत्र पुत्रियाँ और विवाहित पुत्रियाँ के पति पाये जाते हैं। विवाह के समय, प्रत्येक

पुरुष को अपनी पत्नी के घर में जाकर रहना पड़ता है किंतु, कालांतर में, यदि पुरुष में जलन घर बसाने की क्षमता आ जाती है तो वह अपनी स्त्री और बच्चा के साथ अलग घर बना सकता है। किंतु इसप्रकार बसा हुआ नया परिवार मातृवशी ही रहता है¹। परिवार की नारियों और पुरुषों की सारी कमाई पर, कर्तृ-स्त्री का अधिकार रहता है और वही परिवार के सदस्यों की कमाई का, परिवार के सदस्यों के लिए उपयोग करता है। खासी परिवार प्रणाली के परम्परागत नियमों के अनुसार पुत्रों का व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार नहीं है, चाहे परिवार में उनका स्थान पति और पिता का हो या पुत्रों का। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक सत्ता और प्रतिष्ठा मिली रहती है। श्रम विभाजन लिंग के अनुसार होता है। वृषि कार्य पुरुषों द्वारा किया जाता है और कपड़ा बुनने का काम नारियों के द्वारा। कुलीगिरी पुरुष और नारी दोनों कर सकते हैं। इसप्रकार खासी परिवार-संगठन का मूल पारिवारिक सम्पत्ति सत्ता तथा धार्मिक कृत्यों का अधिकार रक्तसम्बन्धी नारियों में ही केंद्रित रहता है। परिवार में पुरुष के पास न तो सत्ता है और न सम्पत्ति। पुरुष उसे ही आदर और सम्मान का अधिकारी है जैसे पितृसत्तात्मक परिवार में नारी।

विवाह एक सांस्कृतिक तथा समाजिक समस्या है यद्यपि विभिन्न समाजों में उसके

विवाह भिन्न-भिन्न रूप पाये जाते हैं। विवाह समस्या को उन आदर्श

सामाजिक नियमों का एक संकुल कहा जा सकता है जिनके द्वारा

समाज में नर-नारी के सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में नियमित तथा

नियंत्रित होते हैं और, साथ ही साथ पति-पत्नी के सम्बन्धों के पारस्परिक सम्बन्ध,

माता-पिता और सन्तानों के सम्बन्ध तथा परिवार और समाज के सम्बन्ध परिभाषित

होते हैं। पति-पत्नी के रूप में समाज में नर-नारी के क्या अधिकार कर्तव्य और

आवश्यकताएँ हैं यह विवाह समस्या द्वारा ही निर्धारित होता है। विवाह समस्या,

परिवार के स्वरूप आकार सामाजिक क्षेत्र और कार्यों को प्रभावित करती है।

संवेदन (Mating) और विवाह में अंतर है। संवेदन किन्हीं भी दो विषमलिंगी

व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली अस्थाई काम-तुष्टि है जो केवल नर-मादा की स्वा

भाविक विषय-वासना से ही प्रेरित होती है। विवाह समाज द्वारा नियोजित नियंत्रित

तथा नियमित संवेदन है। अतः विवाह केवल संवेदन नहीं है यद्यपि संवेदन विवाह

का आधार है। इसी कारण यह भी प्रतिपादित किया गया है कि विवाह का आधार

केवल काम-तुष्टि ही नहीं है। काम-तुष्टि के साथ-साथ प्रजनन और आर्थिक

जायन की आवश्यकताएँ भी विवाह समस्या के द्वारा पूर्ण होती हैं। समाज का

व्याप्तित्व नई पीढ़ियों की देखभाल तथा शिक्षा दीक्षा और विवाह सम्बन्ध में बचने

वाले नर-नारियों के विस्तृत परिवारों के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा अधिकारों

1 खासी समाज में यह विकास नया है जो इसाईयत के प्रभाव से उत्पन्न हुआ माना जाता है—देखिए मजूमदार और भट्टन पृष्ठ 51

और वतव्यों का निर्धारण विवाह-मस्या के द्वारा सम्पन्न होता है जिसके कारण, विवाह की महत्ता जबकि महत्ता से आगे बढ़कर, सामाजिक महत्ता में बदल जाती है।

आदिवासी समाज में विवाह-मस्या भी पाई जाती है और उसका साथ-साथ पूर्व-ववाहिक (Pre Marital) तथा विवाहान्तरिक (Extra Marital) पूर्वववाहिक यौन सम्बन्ध भी। जहाँ-वही भी पूर्वववाहिक तथा विवाहान्तरिक यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं वे विवाह सम्बन्धों की भाँति मस्यागत विवाहान्तरिक हाकर आदिवासी संस्कृति का एक अंग बन गए हैं। किन्तु इसमें परसम्बन्ध यह निष्कर्ष निकालना कि आदिवासी-जीवन एक अलग तन्मानी जीवन है और आदिवासी समाज में उन्मुख यौन-सम्बन्ध पाये जाते हैं एक भल्ला हागी। पतिव्रतता तथा सतीत्व के आदर्श अलग-अलग समाजों में भिन्न हैं। जहाँ मित्रता का दृढ़ करने के लिए, दो पुरुष एक-दूसरे की पत्नी से यौन-सुखी करते हैं या अतिथि की आवश्यकता के लिए पत्नी अर्पित की जाती है या आवश्यकता पड़ने पर पत्नी का बंधन रख दिया जाता है वहाँ यह माना जाता है कि इन कृत्या से नारी का सतीत्व भंग नहीं होता है। नटों में वेश्यावृत्ति के विवरण मिलते हैं। नट स्त्रियाँ भीख मांगती हुई या देगल जड़ी-बूटियाँ बेचती हुई म्योदय से सूर्यास्त तक घर के बाहर रहती हुई, परसम्बन्धों द्वारा भी धनोपार्जन करती हुई पाई गई हैं। किन्तु यदि सूर्यास्त होन हान, वे पति के पास वापस न जा पायें तो पति या उनकी बिरादरी उन पर सतीत्व भंग करने का आराधन लगा कर, उन्हें दण्डित कर सकती है। नौनसार प्रायः में बहुपत्नित्व की प्रथा के साथ साथ नारी नतिकता का बाहरा माप दण्ड प्रचलित है। पत्नी के रूप में नारी को राखी कहा जाता है और घर की लड़की तथा गाँव का बालिका के रूप में घ्याण्टी। घ्याण्टी के रूप में, नारी का परसम्बन्धों की छूट है। परसम्बन्धों का, 'जास्ती' (दोस्ती) की धारणा के रूप में, एक संस्था का रूप मिल गया है। जोस्ती में होने वाले परसम्बन्ध उतने ही पवित्र हैं जितने कि विवाह सम्बन्ध। किन्तु पति के घर में या पति की मौजूदगी में, नौनसारी नारी उतनी ही पतिव्रता रहती है जितनी कि किसी अन्य समाज की नारी।

नारी-नतिकता का बाहरा मापदण्ड न तो निरीह कामुकता में प्रेरित है और न कामाचार से। इसका सामाजिक पन्ना भी है। नौनसार-बाहर में बहुपत्नित्व की प्रथा है और परिवार की संरचना, मयुक्त तथा पितृगतात्मक है। बयावद्ध पीढ़ी के पुरुषों में, ज्येष्ठ भाई परिवार का नेता होता है। वहाँ की बहुपत्नित्व प्रथा में कई सगे भाई एक या एक से अधिक पत्नी में सम्मिलित विवाह करते हैं किन्तु सम्मिलित पत्नियाँ पर, कता का ही प्रथम अधिकार रहता है। पहाड़ी प्रथा होने के कारण, वहाँ खेती योग्य भूमि की कमी है और जब से सरकार ने जंगल के संवर्धन की नीति को अपना कर अतिरिक्त भूमि पर वज्रा कर लिया है, नई भूमि (नो तांड) प्राप्त

करने की भुजायग हो नहीं रही है। पहाड़ा प्रदेश में वेन दूर दूर होते हैं और डगरा तथा भेड़ चकिया का पालन की भी आवश्यकता रहती है। इन सबके लिए धर्म की आवश्यकता ही है जो परिवार के सदस्यों से मिलता है। बड़ा समुक्त परिवार यहाँ की आर्थिक आवश्यकता है और इसी कारण भाइयों में मनमुटाव पैदा करने वाली पत्नी को तलाक देना परिवार विभाजन से अधिक श्रेयस्कर माना जाता है क्योंकि निरंतर परिवार विभाजन का अर्थ है भूमि का निरंतर बंटवारा। भूमि के बंटवारे से परिवार के आर्थिक आधार को ही त्वरित रूप से क्षति होती जाती है। खेती के लिए धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही अकेला व्यक्ति बहुपत्नीय का आश्रय लेता है। इस क्षय में नारियों की मर्यादा पुरुषों की अपेक्षा कम है¹। औनसार घाट की इन परिस्थितियों में बहुपत्नित्व एक परिवार संरचना को बनाए रखने का एक माध्यम है। यही कारण है कि वहाँ उच्चस्तर की जातियों (ब्राह्मण और क्षत्रिय) में निम्नस्तर की जातियों (कोल्हा बाजो और डोम) की अपेक्षा बहुपत्नित्व और समुक्त परिवार अधिकता से पाया जाता है क्योंकि खेती योग्य भूमि का अधिकांश भाग उच्चस्तर की जातियों के अधिकार में है ऐसी स्थिति में जहाँ आर्थिक परिस्थितियाँ परिवार की समुक्तता आवश्यक बना देती हैं और उस आवश्यकता के साथ नारियों की अपेक्षाकृत कमों के कारण बहुपत्नित्व परिवार की समुक्तता बनाए रखने का एक माध्यम बन जाता है तथा परिवार की संयुक्त संरचना में जयभाई का सम्मिलित पत्नियाँ पर प्राथमिक अधिकार मिले हैं वहाँ नतिकता के लोह मापदण्ड में भाइयों में उत्पन्न होने वाले विद्वेष पर रोक लग जाती है और परिवार की समुक्तता को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि गाँव के लहंगों की काम बर्तन की पूर्ति घर के बाहर भी हमारा करती है।

जसा कि औनसार गाँव के उत्खनन से स्पष्ट है आदिवासी समाज में जहाँ कहीं भी विवाहपूर्व और विवाहातिरिक्त यौन सम्बंध पाए जाते हैं उनका साथ उस समूह या समूहों के सम्बंधों को नष्ट करना है जिनमें वे सम्बंध पाए जाते हैं। विवाह साधारणतया कम उम्र में होता है जिससे विवाहपूर्व के यौन सम्बंध वह समस्याएँ उत्पन्न नहीं करती हैं जो वर्तमान समाज में करती हैं। आदिवासी समाज में तलाक की व्यवस्था है और जो तलाक देते हैं उन्हें हेय दृष्टि में नहीं देखा जाता और न उनके पुनर्विवाह की समस्या होती जाती है। इस कारण विवाहापराध का परामर्श यदि समस्या उत्पन्न भी करती है तो उसका हल तलाक और पुनर्विवाह से हो जाता है। विवाह संस्था से सम्बंधित आदर्श नियमों का नियमन

1. ऐसा अनुमान है कि नर नारी की जनसंख्या में भी और अस्सी का अनुपात है—देखिए मजूमदार द्वारा सम्पादित हरल प्रोफाइल्स भाग 1, में डेमोग्राफिक स्ट्रक्चर आफ ए पालियाण्डस विलेज नामक लेख।

और मचाए गए गणजाति पचायत द्वारा होता है। यदि कोई कुंवारी गभवनी हो जाती है तो पच वत व सामन उम उम पुष्प का नाम बताना होता है तो उसका गभ व लिये उत्तराया है और पचायत उम पुष्प का उम लटकी से विवाह करने व लिये बाध्य करनी है। बटुपलायन की मायता क कारण भी ऐसी समस्या का निराकरण हो जाता है क्योंकि यदि विवाहित पुरुष किसी कुंवारी या व्याहता स्त्री से परसम्बन्ध स्थापित करता है और यदि समस्या जा खड़ा होती है तो वह दूसरा विवाह कर लेता है। समस्या तो आता है जब स्त्री का परसम्बन्ध उस पुरुष से स्थापित होता है जो स्त्री की गणजाति का सम्बन्ध नहीं होता है। आजकल आदिवासी गैर जाति पचायत का उम पर ज़िम्दार नहीं होता है। आजकल आदिवासी गैर जाति वासिया व मन्त्र म आ रहे हैं जिसका कारण परसम्बन्ध की समस्याएँ उठ रही हैं और परसम्बन्ध की मन्त्रागत मायता बर्थावर्ति का रूप धारण कर रही हैं। सर्वान नियमन व जा नियम मिलते हैं उन्हें दो श्रमिया म रखता जा सकता है।

एक श्रमी म व नियम जाते हैं जो मन्त्रान्तर निषेध की मन्त्रांग प्रति-सर्वान निषेध पानित करने हैं—जम पिता पुत्री माता पुत्र भाई बहिन मामा-मानजी इत्यादि सम्बन्धियों के बीच म मन्त्रान्तर का निषेध करने वाले नियम। मन्त्रान्तर निषेध नियमों व उन्मेषन का अगम्यगमन या स्वजननत्यगमन (Incest) कर्त्तव्य है। अगम्यगमन की मन्त्रांग निषेधित करने का नियम सर्वान समान नहीं है। पिता पुत्री व मन्त्रान्तर का निषेध मन्त्र पाया जाता है। माता पुत्र का मन्त्रान्तर निषेध भी मन्त्र है। हाँ इसका एक अपवाद अवश्य है। हिन्दू मायताओं के अनुसार सौतली माँ भी माता की श्रमी म आती है। किन्तु मायाजी म जहाँ बहुत पत्नी की प्रथा है कर्त्ता के मरने पर उसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र अपनी सगी माँ का छावकर सभी सौतली माताओं की पत्नी व रूप म उत्तराधिकार में पाता है। अफराका म भी यह प्रथा पाई गई है। भाई बहिन व बीच म विवाह यज्ञित है किन्तु मन्त्र अपवाद भी पाये गये हैं। मिथ व प्राचीन राजघराना म तथा दक्षिण अफ्रीका व मन्त्रांग की दनका गणजाति का राज परिवार म भाई-बहिन के विवाह की प्रथा पाई गई है। आली द्वीप म जुठवा भाई बहिन भी विवाह के श्रमिन्तारी हैं। उत्तरी भारत व हिन्दुआ म माँ क भाई और पिता की बहिन की लड़का व साथ विवाह का निषेध है किन्तु मुसलमाना दक्षिण के हिन्दुओं और आदिवासीयों म एम विवाह का प्राथमिकता दी जाती है। बहिर्विवाहिकी (Exogamy) भी सर्वान निषेध नियमों पर आधारित एक विवाह प्रथा है जिसका कई रूप दलन का मिलन हैं। बहिर्विवाहिकी का अर्थ है यज्ञित द्वारा अपन उम समूह में विवाह न करना जिसकी समाज द्वारा अनुमति नहीं है और उम समूह म विवाह करना, जिसकी समाज द्वारा अनुमति है। दूसरे गाँव म विवाह करना (Village Exogamy) तथा अपनी वगन को छावकर, दूसरी वगन म विवाह करना वगन

बहिर्वैवाहिकी (Clan Exogamy) के दो ऐसे प्रकार हैं जो आदिवासी भारत में सर्वत्र मिलते हैं।

सबसे पहला नियम यह है कि समस्त पुरुषों के बीच निम्नलिखित हैं जो एक निधारित सामाजिक सीमा में विवाह की बाधनीयता प्रतिपादित करते हैं। अंतर्वैवाहिकी (Endogamy) सीतेली माँ का उत्तराधिकार के रूप में ग्रहण करना (Fidial Inheritance) लेविरेट (Levirate) मत पति के भाई में विवाह करना) सारोरेट (Sororate) मत पत्नी की बहिन से विवाह करना) सारोरेट पालीजिनी (Sororal Polygyny) पत्नी के जातिगत रक्त हुए उसकी बहिन या बहिन स विवाह करना) और पिता की बहिन का लड़के या लड़के से और माता के भाई का लड़का या लड़के से विवाह करना (Cross Cousin Marriage) इसी श्रेणी के नियमों के अंतर्गत आते हैं। अंतर्वैवाहिकी का अर्थ है यमिन द्वारा उन निर्धारित समूह में विवाह करना जिसका वह सदस्य है। जाति अंतर्वैवाहिकी हिंदू प्रथा है और गणजाति अंतर्वैवाहिकी (Tribe Endogamy) आदिवासी भारत में अभी पाए जाते हैं। यद्यपि बाहर इसके उदाहरण मिलते हैं। म्वायटी अंतर्वैवाहिकी (Moiety Endogamy) अंतर्वैवाहिकी का सीमा प्रकार है जो दो भाग गणजाति में पाया जाता है। अगम्यगमन अंतर्वैवाहिकी तथा अंतर्वैवाहिकी के नियम साथ साथ और सख्त पाए जाते हैं यद्यपि उनके व्यावहारिक प्रकार में भिन्नता है।

अगम्यगमन (Incest) और अंतर्वैवाहिकी रक्तसम्बन्धों से विवाह में बंधन के सिद्धांत पर आधारित हैं। किंतु जसा कि पिछले उदाहरणों से स्पष्ट है अगम्यगमन और अंतर्वैवाहिकी वास्तविक रक्तसम्बन्धों पर आधारित नहीं होकर उन सम्बन्धों पर आधारित हैं जिनमें समाज रक्तसम्बन्धों की कल्पना कर लेता है। घाली द्वीप में जुड़वा भाई बहिन का विवाह की अनुमति होना इसका उदाहरण है। प्राचीन मिथ के राजपरिवारों में भाई बहिन के विवाह की अनुमति होना इसका दूसरा उदाहरण है। अगम्यगमन और अंतर्वैवाहिकी में वही सम्बन्ध रक्तसम्बन्ध माने जाते हैं जिनका समाज रक्तसम्बन्धों में परिभाषित कर देता है न कि वास्तविक रक्तसम्बन्ध। इसका कारण है परिवार तथा परिवार के विस्तृत आधार पर वह समूहों की संगठनात्मक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने की आवश्यकता। यदि भाई बहिन, माता पुत्र और पिता पुत्री में संबंध का निषेध न होता तो परिवार की एकता ही भंग हो जाय। जसा कि प्राचीन मिथ के राजपरिवारों में पाया गया है राजपरिवार की विनिष्ट एकता बनाये रखने के लिये, बड़ा भाई-बहिन के विवाह की अनुमति नहीं है। काम एषणा की तुष्टि की आवश्यकता एक ऐसा सामाजिक तत्व है जो समूह की एकता को प्रोत्साहित भी कर सकता है और उसे नष्ट भी कर सकता है। परिवार और बलान की एकता तभी दृढ़ रहती है जब इन समूहों के सम्मुख इन समूहों के बाहर विवाह करता है। यदि ऐसा न होता तो

परिवार के पुरुषों में वहाँ की नारियाँ के लिये बा प्रतिद्वन्द्विता पैदा है। वह परिवार की एकता का ही नष्ट करते हैं। वाछनीय व्यवस्था नियमा का आधार भी यही मामला है और म्वायटी-अंतर्वैवाहिकी (Moety Endogamy) में म्वायटी की। सौतेली माता का उत्तराधिकार रूप में पत्नी बनाने से परिवार की एकता बनो रहती है। लेविरेट (Levirate) पितृव्य का मुद्दा बनाकर परिवार की समुक्तता बनाये रखने का एक माध्यम है। माराट से पति-पत्नी का समायोजन आमान हा जाता है। सारोरे पालीजिनी वही पाई जाती है, जहाँ बहुपत्नीत्व पाया जाता है और इस कारण माराट पालीजिनी बहुपत्नीत्व वाला परिवार में सौतेला डाह पर राक लगाकर परिवार की एकता में सहायक हा जाता है। पिता की बलि को लडकी से विवाह या माता के भाई की लडकी से विवाह वस्तुतः उन व्यक्तियों और परिवारों में विवाह है जो पहले ही से एक दूसरे को जानते हैं और परस्पर सम्बन्धी हैं। इस विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे का बचपन से जानते रहते हैं। जहाँ मा के भाई की लडकी से विवाह किया जाता है वहाँ लडकी की फूँजी (पिता की बलि) उसकी साम हो जाती है। ऐसा दशा में पति पत्नी तथा सास बहू के सम्बन्ध में तनाव की सम्भावना कम हा जाती है और परिवार की एकता का बल मिलता है¹।

पति-पत्नी की सहायक आधार पर विवाह के दो प्रकार मिलते हैं—एकविवाह और बहुविवाह। एक विवाह में एक समय में एक पुरुष एक नारी से तथा एक नारी एक पुरुष से ही विवाह करती है। बहुविवाह में एक पुरुष एक समय में कई नारियाँ से और एक नारी या कई नारियाँ कई पुरुषों से सम्मिलित विवाह करती हैं। एकविवाह और एकविवाही परिवार सदा पामे जान हैं—उन समानों में भी जहाँ बहुपत्नीत्व (एक पुरुष का एक समय में कई पत्नियाँ से विवाह) और बहुपत्नित्व (कई पुरुषों का एक या कई पत्नियाँ से सम्मिलित विवाह) पाये जाते हैं। आदिवासी समाज में बहुपत्नीत्व का सामाजिक अनुमति है किन्तु बहुपत्नीत्व आम प्रथा नहीं है। पहली पत्नी का वाच हान पर परिवार में अधिक काम करने वाला की आवश्यकता हान पर (जहाँ पहले स्थिति हुए जीवनसार का उदाहरण में स्पष्ट है) और सामाजिक प्रतिष्ठा²।

- 1 इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी परिवार-व्यवस्था पूर्वनिर्धारित है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आदिवासी परिवार में तनाव होता ही नहीं है। यहाँ जो स्पष्टीकरण दिये गए हैं उनपर अधिकतर मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एकमत हैं।
- 2 नापा गणजातियों में जो गणजाति के मुखिया हैं, और जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य लोगों से अच्छी है वे, बहुधा एक से अधिक विवाह करते हैं।

दा विपमलिगी सदस्य विवाह मूत्र म बँधते है¹ ।

विवाह त्रिच्छद हो जान पर वधू मूल्य लौटाने की प्रथा भी सवत्र पाई जाती है । लेकिन एमी परिस्थिति म जैसा कि जौनसार बावर म हाता है पति वधू मूल्य हरजाने क रूप म वसूल करता है । विवाह विच्छेद म, पति जो रकम लेता है, उसम याह का खर्चा भी जुड जाता है जिसके कारण विवाह विच्छेद की रकम वधू मूल्य से बढ जाती है । यह रकम उस व्यक्ति को दनी पडती है जो तलाक दी हुई स्त्री से विवाह करता है । ऐसी दशा म तलाक की मर्यादा के साथ साथ, हर्जाने की रकम भी बढती जाती है किन्तु यह रकम तभी तक बढती है जब तक स्त्री तरुण और स्वस्थ रहती है । मुण्डा गणजातियो म, वधू-मूल्य की रकम वधू की सुंदरता उम और उसके पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है । वधू मूल्य तथा तलाक म हर्जाने का रकम तय करने म, मध्यस्थ का रोल काफी महत्व पूर्ण होता है जिसका भागे वणन किया जावेगा ।

गोड और बगा गणजातियो म, यदि कोई व्यक्ति वधू मूल्य चुकान मे असमर्थ होता है तो वह अपने भावी ससुर के घर म जाकर एक निर्धारित समय तक घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है । बिरहोर गणजाति म, भावी दामाद को वधू-मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है और जब तक वधू मूल्य का भुगतान नही हो जाता है दामाद को अपने ससुर के घर मे रहकर, उसके घर का काम करना पडता है । जौनसार बावर मे, वृषि का काय करने वाले क लिए कभी नभी गुस्स भी इस बात पर रख लिए जाते हैं कि एक निश्चित समय के बाद घर की ल की से उनका विवाह कर दिया जायगा² । एम विवाहो को सेवा विवाह की श्रेणी मे रखा जाता है । घर जवाई पद्धति और सेवा विवाह म अंतर है । घरजवाई पद्धति म जब किसी के लडका नही होता है तो वह विवाह के बाद म या पहले ही से दामाद का अपने घर की देखभाल के लिए रख लेता है । वधू मूल्य जुटाने की समस्या को हल करने के लिए जब दो परिवार कयाभा का विनिमय कर लेते हैं तो उसे विनिमय विवाह कहा जाता है । जहा प्रास वजिन भरिन (मामा फूफी की सत्तानो म विवाह) की प्रथा है वहा विनिमय विवाह आसानो से हो जाता है । जासाम के खासिया मे ऐस विवाह की अनुमति नहा है । वधू मूल्य की समस्या से बचन के लिए मध्यभारत के आदिवासिया म रेविरेट विवाह को प्रोत्साहन दिया जाता है । परिवीक्ष्य विवाह (Probationary Marriage), जो आसाम की कुवी गणजाति म पाया जाता है घरजवाई विवाह तथा सेवा विवाह से भिन्न है । परिवीक्ष्य विवाह म भावी पति पत्नी को प्रेमी तथा

1 ह्यूबेल, ई० ए० मन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड पृष्ठ 20, 210

2 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 90

परिवार के पुत्रों में वहाँ की नारियाँ के लिये जो प्रतिद्वंद्विता पदा हो, वह परिवार की एकता का ही नष्ट करदे। वांछनीय संवर्धन नियमों का आधार भी यही सामाजिक आवश्यकता है। गणजाति अंतर्वैवाहिकी से गणजाति की एकता सुदृढ़ रहती है, और म्वायटी अंतर्वैवाहिकी (Moiety Endogamy) से म्वायटी की। मौतलो माताजा को उत्तराधिकार के रूप में पत्नी बनाने से परिवार की एकता बनी रहती है। लविरेट (Levirate), पितृवश को सुदृढ़ बनाकर परिवार की समुन्नतता बनाये रखने का एक माध्यम है। मॉरोरेट से पति-पत्नी का समायोजन आसान हो जाता है। मॉरोरेल पॉलीजिनी वही पाई जानी है जहाँ बहुपत्नीत्व पाया जाता है और, इस कारण, सारांश पालीजिनी बहुपत्नीत्व वाले परिवार में सौतिया डाह पर रोक लगाकर, परिवार की एकता में सहायक हो जानी है। पिता की बहिन की लड़की से विवाह या माता के भाई की लड़की से विवाह वस्तुतः, उन व्यक्तियों और परिवारों में विवाह है जो पहले ही में एक दूसरे को जानते हैं और परस्पर सम्बन्धी हैं। ऐसे विवाह में पति-पत्नी एक दूसरे को बचपन से जानने रहते हैं। जहाँ माँ के भाई की लड़की से विवाह किया जाता है वहाँ लड़का की फूकी (पिता की बहिन) उसकी साम हो जाती है। ऐसी दशा में, पति-पत्नी तथा सास-बहू के सम्बन्धों में तनाव की सम्भावना कम हो जाती है और परिवार की एकता को बल मिलता है।

पति पत्नी की समस्या के आधार पर, विवाह के दो प्रकार मिलते हैं—एकविवाह और बहुविवाह। एक विवाह में एक समय में एक पुरुष एक नारी बहुपतिव और स तथा एक नारी एक पुरुष से ही विवाह करती है। बहुविवाह बहुपत्नीत्व में, एक पुरुष एक समय में कई नारियों से और एक नारी या कई नारियाँ, कई पुरुषों से सम्मिश्रित विवाह करती है। एकविवाह और एकविवाही परिवार संभव पाये जाते हैं—उन समानों में भी, जहाँ बहुपत्नीत्व (एक पुरुष का एक समय में कई पत्नियों से विवाह) और बहुपतिव (कई पुरुषों का एक या कई पत्नियों से सम्मिश्रित विवाह) पाये जाते हैं। आदिवासी समाज में, बहुपत्नीत्व की सामाजिक अनुमति है किन्तु बहुपत्नीत्व आम प्रथा नहीं है। पहली पत्नी के वापस होने पर, परिवार में अधिक काम करने वाला की आवश्यकता होने पर (जिसका पहले दिख चुके नौसंसार के उदाहरण से स्पष्ट है) और सामाजिक प्रतिष्ठा²

- 1 इसका यह अर्थ नहीं कि आदिवासी परिवार व्यवस्था पूर्वनिर्धारित है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आदिवासी परिवार में तनाव होता ही नहीं है। यहाँ जो स्पष्टीकरण दिये गए हैं, उनपर अधिकतर मानवशास्त्री और समाजशास्त्री एकमत हैं।
- 2 नागा गणजातियों में, जो गणजाति के मूलियाँ हैं, और जिनकी आर्थिक स्थिति सामान्य लोगों से अच्छी है वे, बहुधा एक से अधिक विवाह करते हैं।

प्राप्त करने के लिए बहुपत्नीत्व का आश्रय लिया जाता है। किंतु गौतिया ढाह और कई पत्नियों के भरण पोषण की समस्या ऐसे वारण हैं जिनकी वजह से बहुपत्नीत्व सदब सीमित रहा है। भारत में बहुपत्नित्व जौनसार बाबर, टाडभा और नायरा में पाया गया है। नायरा में मातसत्तात्मक व्यवस्था का विवाह प्रथा न बहुपत्नित्व का जन्म दिया था। नायरा और मम्बूद्री ब्राह्मणों की विवाह परम्पराओं में यह स्पष्ट होता है। मम्बूद्री ब्राह्मणों में एक परिवार का सबसे बड़ा लड़का ही मम्बूद्री नारी से विवाह करता है और अन्य नायर नारियों से। नायर स्त्रियाँ अपनी माँ के ही घर रहती थी और उनके मम्बूद्री पति, यदा कदा, उनके पास आया करते थे जिसमें नायर-स्त्री बहुपत्ति सम्बन्ध स्थापित करती थी। टोडाओं में सग भाई या कोई भी दो व्यक्ति मिलकर एक पत्नी से विवाह कर सकते हैं। जौनसार बाबर में, सग भाई (जो बहुधा एक माँ की सत्तान हान है) एक या कई पत्नियों में सम्मिलित विवाह करते हैं। कपाडिया ने लिखा है कि भारत में बहुपत्नित्व मर्यादित परिवार के साथ साथ कई सामाजिक सदस्यों में पाया गया है। जसा कि पहले लिखा गया है यह पत्नित्व, विभिन्न सामाजिक सदस्यों में, परिवार की समुक्तता बनाए रखने का एक माध्यम रहा है।

पत्नी अभिग्रहण (Acquiring of Mate) के तरीके के आधार पर आदिवासी विवाह के जो मुख्य प्रकार निर्धारित किये गए हैं वे हैं नय विवाह पत्नी अभिग्रहण (Marriage by Purchase) सेवा विवाह (Marriage by Service) विनिमय विवाह (Marriage by Exchange) अपहरण विवाह (Marriage by Capture) पत्नी की उत्तराधिकार में प्राप्त करना (Inheritance of Wives) और गवय विवाह। गवय विवाह का अर्थ यह नहीं है कि आदिवासी समाज में नारियों का क्रय विप्रेय होता है। रुमभन सारे आदिवासी भारत तथा भारत के बाहर के आदिवासियों में लड़की के पिता को एक निश्चित रकम देने की प्रथा है। इस वधू मूल्य (Pride Price) की प्रथा कहा गया है। यह प्रथा दहेज प्रथा का उल्टा है।

दहेज प्रथा में वधू का पिता वर के पिता को एक तय की हुई रकम देता है जबकि वधू-मूल्य प्रथा के अनुसार वर का पिता वधू के पिता को एक वधू मूल्य निश्चित रकम देता है। जिस प्रकार, दहेज की रकम या तो नकद होती है या उपहारों के रूप में दी जाती है उसी प्रकार, वधू-मूल्य भी या तो नकद होता है या उपहारों के रूप में दिया जाता है। वही वधू मूल्य परम्परा से निश्चित है (जिस जौनसार में) और वही (जसा कि हो गणजाति में है) वर काया के पत्र के एक मध्यस्थ के द्वारा उस रकम का तय किया जाता है। दहेज हिन्दू समाज की प्रथा है जबकि वधू मूल्य आदिवासी समाज की। जिस प्रकार, मुद्रापी आर्थिक व्यवस्था (Monetary Economy) के प्रभाव से, दहेज उत्तरांतर

नकद रकम के रूप में दिया जान लगा है उसी प्रकार, वधू मूल्य भी धीरे धीरे नकद रकम का रूप लेता रहा है। बिहार की मुण्डा गणजाति में, वधू मूल्य इतना बढ़ गया है कि वह दहेज की भांति एक आर्थिक-सामाजिक समस्या बन गया है। जिस व्यक्ति की सामाजिक आर्थिक प्रतिष्ठा जितनी उच्च है, वह उतनी ही बड़ी रकम वधू मूल्य के रूप में मांगता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि याता सड़के लड़कियां कुंवारे रह जात हैं या व अपहरण या गंधर्व विवाह करत हैं। इस समस्या का एक अन्य परिणाम यह है कि यदि एक लड़की या पिता मनमाना वधू मूल्य न पान व कारण, उसका विवाह नहीं करता है तो वह जिस लड़के से विवाह करना चाहती है, उसका घर चली जाती है और वहा, कुछ दिना की न्यना और अनमान क बाद वह स्वीकृत हो जाती है। इसप्रकार के विवाह को मुण्डा भाषा में "अनदर" (अपघारण Intrusion) की संज्ञा दी गई है। गंधर्व अपहरण (गानो-निपी) और अपघारण (अनदर) विवाह अनियमित विवाह हैं किन्तु, कालांतर में, वह सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है।

वधू मूल्य देने तथा वधू नय (Purchase of Bride) में वधू ही उत्तर करना कठिन हो जाता है जैसे कि भट और रिदवत में। यह आशका निमूल नहीं होगी कि किसी-किसी परिस्थितियों में वधू मूल्य का विनय का रूप ले सकता है। बहुत कुछ वधू मूल्य (Bride Price) लेने वालों की दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। किन्तु वधू मूल्य प्रथा का एक दूसरा पहलू भी है। वधू मूल्य, आम तौर पर, बर-काया के परिवारों में भेंट विनिमय (Gift Exchange) के रूप में, माल (Kind) में दी जाती रही है। बर का पिता, अपने वधु-बा-बयों से भेंट लेकर वधू के पिता को दता रहा है और वधू का पिता उसे अपने वधु बा-बयों में बांट देता रहा है। आज वधू मूल्य का यह रूप समाप्त हो रहा है। किन्तु यहा सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वधू मूल्य दिया ही क्यों जाता है। इस प्रश्न का उत्तर आदिवासी विद्वान और प्रयाओ में कई रूपों में मिलता है। कही इसे काया के दूध का मोल कहा जाता है, कहीं इसे वधू के लिए दिया जाने वाला प्रतिदान और कही, जैसा कि बाली द्वीप में है, वधू मूल्य उस आर्थिक हानि का मूल्य है जो विवाह के द्वारा, लड़की के घर से चल जाने से, वधू के पिता को होता है। पड़ोसी अफ्रीका की दहामियन गणजाति के लोगों में, यदि कोई स्त्री बाधु हाती है तो उस अपने पति के दूसरे विवाह के लिए वधू धन का प्रबंध करना पड़ता है। दार्जिली अफ्रीका की बण्डा गणजाति में वधू मूल्य को किस्ती में चुकाने की प्रथा है और जब तक एक पुरुष सारी किस्ती का अदा नहीं कर देता है तब तक उसका बच्चे उसकी पत्नी व पिता व पास वधु के रूप में रहते हैं। मानवशास्त्रियों का यह मत है कि वधू मूल्य से, उन दो परिवारों में, आदान प्रदान के द्वारा, सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ होत हैं जिनके

दो विपरीतलिंगी सदस्य विवाह मूल्य में बँधते हैं¹।

विवाह विच्छेद हो जाने पर वधू मूल्य लौटाने का प्रथा भी सर्वत्र पाई जाती है। लेकिन ऐसी परिस्थिति में, जसा कि जीवनसार बाबर में हाता है पति वधू-मूल्य हरजाने के रूप में वसूल करता है। विवाह विच्छेद में, पति जो रकम लेता है, उसमें व्याह का खर्चा भी जुड़ जाता है जिसके कारण विवाह विच्छेद की रकम वधू मूल्य से बढ़ जाती है। यह रकम उस व्यक्ति को दनी पड़ती है जो तलाक दी हुई स्त्री से विवाह करता है। ऐसी दशा में तलाक की सख्या के साथ साथ हजनि की रकम भी बढ़ती जाती है किन्तु यह रकम सभी तक बढ़ती है जब तक स्त्री तहण और स्वस्थ रहती है। मुन्डा गणजातियों में, वधू-मूल्य की रकम वधू की सुंदरता, उम्र और उसके पिता की सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। वधू मूल्य तथा तलाक में हजनि का रकम तय करने में, मध्यस्थ का रोल काफी महत्वपूर्ण होता है जिसका आगे वर्णन किया जायेगा।

गोड और बैगा गणजातियों में, यदि कोई व्यक्ति वधू मूल्य चुकान में असमर्थ होता है तो वह अपने भावी ससुर के घर में जाकर एक निर्धारित समय तक, घर का काम काज करता है और उसके बाद विवाह करके अपने घर वापस आ जाता है। बिरहोर गणजाति में भावी दामाद को वधू मूल्य की रकम उधार दे दी जाती है और जब तक वधू मूल्य का भुगतान नहीं हो जाता है दामाद को अपने ससुर के घर में रहकर, उसके घर का काम करना पड़ता है। जीवनसार बाबर में, कृषि का काम करने वालों के लिए, कभी कभी गुरखों भी इस बात पर रख लिए जाते हैं कि एक निश्चित समय के बाद घर की लक्ष्मी से उनका विवाह कर दिया जायगा²। इस विवाहों की सेवा विवाह की श्रेणी में रखा जाता है। घर जवाई पद्धति और सेवा विवाह में अंतर है। घरजवाई पद्धति में, जब किसी के लड़का नहीं होता है तो वह विवाह के बाद में या पहले ही स दामाद को अपने घर की देखभाल के लिए रख लेता है। वधू मूल्य जुटान की समस्या को हल करने के लिये जब दो परिवार कन्याभा का विनिमय कर लेंगे तो उसे विनिमय विवाह कहा जाता है। जहा नास बजिन मरिज (मामा फूफी की सत्तानों में विवाह) की प्रथा है, वहा विनिमय विवाह आसानी में हो जाता है। आसाम के खासिया में ऐसे विवाह की अनुमति नहीं है। वधू मूल्य की समस्या से बचने के लिए मध्यभारत के आसिया में रविदय विवाह का प्रोत्साहन दिया जाता है। परिवीक्ष्य विवाह (Probationary Marriage), जो आसाम की कुकी गणजाति में पाया जाता है, घरजवाई विवाह तथा सेवा विवाह से भिन्न है। परिवीक्ष्य विवाह में भावी पति पत्नी को प्रेमी तथा

1 ह्वेले, ई० ए० मन इन द प्रिमिटिव वर्ल्ड पृष्ठ 205-210

2 मजूमदार और मदन वही पृष्ठ 90

प्रेमिका के रूप में, क्या के घर में, कुछ समय के लिए रहने दिया जाता है और इस बीच में यदि वर-क्या एक-दूसरे को पसंद कर लेते हैं तो दोनों का विवाह हो जाता है वना अलग अलग होने पर, वर का क्या के पिता का प्रतिदान (Compensation) देना पड़ता है। समा नागाओ में, पिता के मरने पर, पुत्र को सोनली विधवा माताओं से विवाह करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि समा नागाओ की उत्तराधिकार परम्परा के अनुसार, मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसकी विधवा या विधवाओं का मिलता है और यदि पुत्र उस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होना चाहता है तो उसे अपनी सगी माँ को छोड़कर, अन्य नीलेली विधवा माताओं से विवाह करना आवश्यक हो जाता है।

अपहरण विवाह के जैसे उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं वैसे अपहरण विवाह वर्तमान दण्ड-महिता के अनुसार अपराध हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक प्रगति होता रही है और भारतीय दण्ड-महिता का लागू किया जाता रहा है, अपहरण विवाहों की संख्या कम होती रही है। फिर भी, नागा, हो, गोड, भील, खरिया और बिरहार गणजाति में, वास्तविक या आभासी (Mock), अपहरण विवाह के प्रमाण मिलते हैं। आसाम की नागा गणजातियों में जब एक गांव के निवासी दूसरे गांव पर आक्रमण करते हैं तो स्त्रियों का भी अपहरण करते हैं। यही कारण है कि नागाओ में, लड़कियों को जन्मते ही मार डालने की प्रथा रही है। गोडा में लड़की के पिता के अनुरोध पर, लड़की का अपहरण किया जाता है। यह अपहरण पहले ही से निर्धारित होता है। वर-पक्ष के लोग, बंधू का अपहरण करते हैं और बंधू-पक्ष के लोग इसका विरोध करते हैं। किंतु, यह अपहरण, वास्तविक न होकर, केवल अपहरण का नाटकमान होता है। इसी प्रकार, हो गणजाति में बंधू मूल्य की समस्या उठ खड़ी होने पर, आभासी अपहरण सयोजित किया जाता है। खरिया और बिरहार गणजातियों में, अपहरण विवाह ने एक मस्कार का रूप ले लिया है। जब काह पुरुष किसी भी स्त्री से सामान्य तरीके से विवाह नहीं कर पाता है या वह किसी मूल या अन्य स्थान में छुपकर बैठ जाता है और उस स्त्री के उधर निकलने पर, सहसा उसके भागे पर तल मिश्रित सिन्धूर मल देता है तो वह उस स्त्री से विवाह करने का अधिकारी मान लिया जाता है। मध्यभारत में, त्याहारों के अवसरा पर, जब कई गांवों के लोग एक-साथ नाचत-गाते और शराब पीकर एकत्र होते हैं तब नौजवान उन लड़कियों का अपहरण करते हैं, जिनके साथ वे विवाह करना चाहते हैं। ये अपहरण शांतिमय होते हैं। नागाओ के अंतर्ग्राम आक्रमणों का छोड़ कर, हर दशा में अपहरण पूर्वसंयोजित होते हैं और वास्तविक अपहरण का आभासमान होता है। बहुधा, वर-बंधू व माता पिता की अनुमति से अपहरण होता है। अपहरण विवाह की गणजाति बिरादरी से भी मान्यता मिलती है जब, अपहरण करने वाला या तो बिरादरी का हर्जाना देता है या भाज देता है।

भीलों के गाल गंधानो विवाह में, जहाँ एक ओर अपहरण का आशय मिला है वहाँ, दूसरी ओर, विवाह के उम्मेदवार नौजवान व साहस और बहादुरी का अजमान का भी आभास है। गाल गंधाना प्रथा के अनुसार, विवाह व इच्छा भील नौजवान का, किसी लड़की से विवाह प्रस्ताव करने के पटल अपनी बहाना और गकिन का परिचय देना पड़ता है। हालाँकि के त्याहार पर अविवाहित पुरुष और स्त्रियाँ किसी पेड़ या जमीन पर गड पाल (Pole जम्मे) के आस पास न करने हैं। इस नृत्य में स्त्रियाँ पाल या पटल व आस-पास घेरा बनाकर नाचती हैं और पुरुष स्त्रियों के घेरे के बाहर घेरा बनाकर, नाचते हैं। पाल या पेड़ पर और नारियल बंधा रहता है। नाचन नाचते जब कोई नौजवान स्त्रियों का पाल गड पर, पाल या पेड़ पर चढ़ने का प्रयास करता है तो स्त्रियाँ उस राकत प्रयास करती हैं और इस प्रयास में, वे उनके कपड़े नाच सकती हैं उस चुटकी के साथ ही या पाल से मार सकती हैं। किंतु इन कपावटों का बावजूद भी यदि नौजवान गाल और नारियल तक पहुँच कर गुड खान तथा नारियल तोड़ने का प्रयास करता है तो वहाँ पर नृत्य करती हुई लड़कियों में से, वह किसी से भी विवाह करने का अधिकार लेता है और वह चुनी हुई लड़की को तत्काल वहाँ से ले सकता है।

न हा जाय तथा अपना प्रमिका के मत्प पर सिद्धर मल कर उससे विवाह करने की अनुमति प्राप्त करना एस उदाहरण है जिनमे प्रचलित नियमों की अवलना है। कि तु, य सभी प्रकार क विवाह समाज की मयादा के अतगत है और जब एम विवाह किये जाते ह तो उह समाज म स्वीकार कर लिया जाता है।

घमशास्त्रो के रचयिताओं न ब्राह्म दब आप, प्राजापात्य, जासुर, गाधव, राक्षस और पंसाच य आठ प्रकार के विवाह मान हैं। आसुर वह विवाह है जिसम बधू मूल्य दिया जाता है। गाधव प्रेम विवाह है और राक्षस तथा पंसाच अपहरण-विवाह की श्रेणी म आते है। हिंदू घमशास्त्रो के अनुसार इन आठ विवाह प्रकारा मे, प्रथम चार वाछनीय है और अंतिम चार अवाछनीय। इसम यह स्पष्ट होता है कि हिंदू विचारधारा के विकास म, आदिवासी विवाह प्रकारों को अवाछनीय कहकर उहे निपघात्मक सामाजिक प्रदान करने का प्रयास किया गया है। और ऐसा हुआ भी है। ज्यो ज्या गणजातिया का हिंदूकरण हुआ है उनम हिंदू तत्वा का समावेश होता गया है। आदिवासी मायताओं म विवाह दो विपर्मलिंगी व्यक्तियों उनक परिवारों तथा विस्तृत सम्बन्धी समूह म प्रजनन तथा गृहस्थी बसान के लिये एक ऐसा सामाजिक समझौता है जा आवश्यकता पडन पर ताडा भी जा सकता है। आदिवासी के लिये साधारणत विवाह का सामाजिक पक्ष धार्मिक पक्ष की अपना अधिक महत्वपूर्ण है। जिसके कारण, आदिवासी विवाह म सस्कारा की वह जटिलता नहीं मिलती है जो हिंदू विवाह म मिलती है। खासी विवाह म, सामाजिक और धार्मिक पक्षों का एक सा महत्व है क्योंकि खासी परिवार धार्मिक इत्या क सम्पान की एक सामाजिक इकाई है। जिस गणजाति पर हिंदूकरण का जितना प्रभाव है उसने विवाह सस्कार म उतनी ही सस्कार जटिलता भी बढ़ी है। हो गणजाति म सस्कार के दृष्टिकोण स अदी और दिक्कू अदी दो प्रकार क विवाहा का पाया जाना इसका प्रमाण है। दिक्कू अदी वह विवाह है जिसम अग्नि की साथी बनाकर विवाह सम्पन्न कराया जाता है जबकि अदी विवाह म गणजाति क देवताओं की स्तुति की जाती है और उनको प्रसन करने के लिय बन्नि चढ़ाई जाती है। 'अदी विवाह स्थानीय पुराहित द्वारा सम्पन्न हाता है, जबकि दिक्कू अदी हिंदू पुराहित के द्वारा।

आदिवासी समाज म विवाह क लिए लडके लडकी का चुनाव ता माता पिता करत ह किन्तु, साधारणत विवाह मध्यस्थ द्वारा तय किया जाता है। मयस्थ के, विभिन्न गणजातियों म अलग अलग नाम ह। उदाहरणार्थ हो मध्यस्थ को दूतम कहत हैं और सरिया 'डण्डिया। मध्यस्थ क द्वारा ही बधू मूल्य तय हाता है। कभी-कभी जसा कि हो गणजाति म हाता है भावी पत्नी का चुनाव करक, लडका अपन मित्रा द्वारा अपने मां बाप का सूचना भिजवा दता है और

मध्यस्थ का नियुक्त करके विवाह तय करते हैं। आदिवासी समाज में, विवाह से प्यार-पसंद और उनके परिवारों का ही सम्बन्ध नहीं है। क्लान और गांव के सदस्य भी विवाह सजतने ही सम्मिलित हैं जितने कि परिवार के सदस्य। यही कारण है कि विवाह ऐसे समय किया जाता है जब सभी उसमें शामिल हो सकें। बहुधा, जाड़ा की फसल काटने के बाद विवाह की तारीख रक्खी जाती है।

आदिवासी, विवाह को एक अविच्छेद्य धार्मिक संस्कार न मान कर, एक समाजीकृत समझौता मानते हैं जिसके कारण आदिवासी समाज में तलाक़ विवाह विच्छेद आसानी से हो जाता है। खासियाँ में परस्त्री या परपुरुषगमन और स्त्री के बाधपन के कारण विवाह विच्छेद किया जा सकता है। उसी प्रकार, गोडो में, यदि स्त्री परपुरुषगमिनी है, गहस्थी के बार्थों की आर उदासीन है, बीज या झगड़ानु स्वभाव की है तो उसे तलाक़ दिया जाता है। खासियों और गोडा में तलाक़ के जो आधार हैं वे खरिया लोगों में भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त खरिया गणजाति में यदि ग्राम पचायत किसी की स्त्री को डायन (Witch) घोषित कर देती है तो उसके पति को उसे तलाक़ देना आवश्यक हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि, आदिवासी समाज में, उन सभी परिस्थितियों और कारणों के कारण तलाक़ हो जाता है जिनमें पति पत्नी वैवाहिक समझौते का पलाने में असफल हो जाते हैं। पति पत्नी में असंगति आ जाना ही तलाक़ का मुख्य आधार है। तलाक़ देने का अधिकार पति और पत्नी दोनों का है। तलाक़ का नियम पचायत के द्वारा होता है। पचायत के नियम अलिखित होते हैं जिसके कारण तलाक़ के मुकदमों का निपटारा व्यावहारिकता की कसौटी पर किया जाता है और तलाक़ की अनुमति तभी दी जाती है जब दोनों पक्ष तलाक़ के पक्ष में हों। जो पक्ष तलाक़ की माँग करता है, उस दूसरे पक्ष का हर्जाना देना पड़ता है। लुशाई गणजाति में यदि पति, पत्नी को तलाक़ देना है तो उसे बधू मूल्य का वह अंश देना पड़ता है जो उनकी ओर बाँकी होता है। किन्तु यदि पत्नी पति को छोड़ती है या परम्परागत व अपराध के कारण उसे तलाक़ दिया जाता है, तो उसे बधू मूल्य में दी गई रक्कम वापस करनी पड़ती है। खासी गणजाति में, तलाक़ के बाद बच्चों पर स्त्री का अधिकार रहता है। किन्तु अन्य गणजातियों में बच्चों पर अधिकार भी समस्या पारस्परिक समझौते द्वारा तय की जाती है। तलाक़ के बाद स्त्री-पुरुषों व पुनर्विवाह में षट्ठिनाई नहीं होती है क्योंकि आदिवासी समाज में तलाक़ और तलाक़ देने वाले स्त्री-पुरुषों को अवाछनीय नहीं समझा जाता है। विधवा-पुनर्विवाह भी आसानी से हो जाता है।

आदिवासी समाज में जहाँ एक ओर, रबनमन्वन्ध के सिद्धांत पर आधारित परिवार और बगान जैसे समूह पाये जाते हैं वहाँ दूसरी ओर, धर्मनिरपेक्ष युवागृह और धर्मसापेक्ष समूह भी पाए जाते हैं जिनका सदस्यता ऐच्छिक होती है और जो समितियों के रूप में कार्य करते हैं। धर्मसापेक्ष समूह, धार्मिक दृष्टि के लिए संगठित होते हैं जन्म मृत्यु पंडन पर, वषा-अनुष्ठान का सम्पन्न करने के लिए मंगल समूह। धर्मनिरपेक्ष ऐच्छिक समूह के समितियाँ या मंडल हैं जो विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित होते हैं। ये समितियाँ अफ्रीका और अमेरिका के आदिवासियों में पाये जाने वाले 'गुप्त सभ' (Secret Societies) के प्रकार के भी होते हैं और मनोरंजन के लिए संगठित बल के प्रकार के भी। इन समितियों के संगठन में आयु का बारीक महत्वपूर्ण होता है जिसके कारण 'इहो आयु समूह' (Age Groups) भी कहा गया है। उदाहरणार्थ 'गुप्त-सभ' (Secret Society) के सदस्य वयस्क पुरुष ही हो सकते हैं। इस दृष्टिकोण से भारत के आदिवासियों में युवा संगठन (Youth Organization) एक महत्वपूर्ण संगठन है। युवा संगठन भोटिया, हा, आराओ, सरिया, गाड, भुइया और नागाओ में पाये जाते हैं।

युवा-संगठन, अविवाहित (भूतार) लड़के लड़कियों की एक समिति है, जिसके नियमानुसार, अविवाहित लड़के लड़की युवागृह में रात्रि बिताते हैं। ममी नागाओ का युवागृह इस संवर्धित नियम का अपवाद है क्योंकि उनके यहाँ, लड़के और लड़कियाँ के युवागृह अलग अलग होते हैं। विभिन्न गणजातियों में युवागृह के अलग अलग नाम हैं। युवागृह के लिए, मुण्डाओ और हा गणजातियों में 'मीती आरा', आराओ में 'आकरपा' या 'धूमकुरिया' भुइयाओ में 'धगरबाओ', गाडो में 'गोटुल', भोटियो में 'रगबग और एओ तथा सभा नागाओ में 'मोरग' ममी नागाओ का प्रयोग होता है। ममी नागाओ में लड़के के युवागृह को 'इखुबीची' और लड़कियों के युवागृह को 'इलोइची' कहा जाता है। युवागृह इस प्रकार, एक प्रकार का युवा-संगठन है, जिसके माध्यम से, अविवाहित लड़के और लड़कियाँ एक-साथ एकत्र होते हैं यद्यपि युवागृह से सम्बंधित प्रथाओं में भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ, मुंडा, हा, आराओ और नागा गणजातियों में अविवाहित लड़के और लड़कियाँ के अति भावको की देखरेख में लड़के लड़कियाँ अलग अलग गहों में सोते हैं जबकि, बस्तर के भुरिया गाँवों में, अविवाहित लड़के-लड़कियाँ एक ही गह में साथ-साथ हैं।

युवागृह बसल गमनगृह ही नहीं है। युवागृह से सम्बंधित नियमों और प्रथाओं में युवागृह की सामाजिक महत्ता स्पष्ट होती है। युवागृह गाँव के बीचो-बीच या गाँव की मरहद पर बनाया जाता है ऐसे ऊँचे स्थान पर बनाया जाता है जहाँ से, रात्रि में, गाँव की रखवाली भी की जा सके। गाँव के सभी अविवाहित लड़के-लड़कियाँ, युवागृह के सदस्य होते हैं। युवागृह की बातों का सुष्ठु रखना युवागृह के

संस्थ या वत य होता है। विवाह के बाद युवागृह की सदस्यता समाप्त हो जाती है गाँव में, जब किसी युवागृह के सदस्य का विवाह हो जाता है तो, उसका तथा उसकी पत्नी के लिए गाँव में जो स्वागत समारोह होता है वह वस्तुतः उसका गाँव में विवाह समारोह होता है क्योंकि उसके बाद वह गाँव का सदस्य नहीं रहता है। वह गाँव में फिर भी आता है तो उसे मना किया जाता है और यदि वह फिर भी नहीं मानता है तो गाँव के सदस्य उसकी फगल या जानवरों को नुकसान पहुँचाकर उसका जाना राकत है।

युवागृह संगठन में अधिकारी ऐसे ही पाये जाने हैं जमे कि वे किसी भी समिति में पाये जाने हैं। गाँव का एक अंग्रेज होता है जिस सरगार या मुतिमा कहते हैं। उसका पद वगानुम में चलता है। युवागृह में मुखिया और उसके मलाह कारा में मिलकर, युवागृह की कार्यकारिणी संगठित होती है। मुखिया की विशेषाधिकार भी मिलते हैं। मैरिया गाँव का मुखिया गाँव की किसी भी लड़की को अपनी प्रमिया बनाकर सबसाधारण में उसकी घोषणा कर सकता है। गाँव का मुखिया की प्रमिया होना गौरव और सम्मान की बात समझी जाती है जिसके लिए गाँव की प्रत्येक संस्था लालायित रहती है।

नाच, गीत, किस्म कहानियाँ तथा हास परिहास के द्वारा युवागृह के सदस्य परस्पर मनोरंजन करत हैं। जोराव युवागृह का वर्णन करत हुए डाल्टन ने लिखा है कि युवागृह में छोटी आयु के लड़के बड़ा आयु के लड़का का बदन दबाते हैं मालिश करत हैं और उनका घाला का मवारत हैं। छोटी आयु के लड़का का बड़ी आयु के लड़का के कठिन अनुशासन में रहना पड़ता है। जमाकि गाँव के युवागृह में होता है, जहाँ लड़ा लड़कियाँ साथ साथ रहते हैं वहाँ छोटी आयु के लड़का का स्थान लड़कियाँ ले लती हैं। मजूमदार के अनुसार युवागृह में लड़के लड़की अपनी अपनी आयु के अनुसार अलग अलग समूह में बटे रहते हैं—छोटी उम्र के लड़के लड़की एक साथ रहते हैं और बड़ी उम्र के एक साथ। गाँव का उदाहरण दत्त हुए मजूमदार ने यह लिखा है कि एक गाँव के गाँव के सदस्य कभी कभी दूसरे गाँव के गाँव के सदस्य में मिलते जाते हैं गाँव के सदस्य गाँव की जगली जानवरों और गण्डा से रक्षा करत हैं और कभी कभी गाँव के सावजनिक जगहों में हाथ बगान है या आवश्यकता पड़ने पर उम्र शक्ति की भी संगणना करत हैं जिसका सहायता की आवश्यकता होती है। धनुष चलाने की तथा प्रतिरक्षा के उपायों की शिक्षा और अभ्यास भी गाँव के कार्यक्रम का एक अंग है।

दस्तर के मैरिया गाँव के युवागृह का वर्णन करत हुए गिगसन ने लिखा है कि आन्ध्रप्रदेश के एक लड़कियों का नाम रहस्य (Mysterious of Sex) में परिचित कराता गाँव का आधारभूत कार्य है। मजूमदार के अनुसार गाँव में लड़के लड़कियाँ में यौन सम्बन्ध हो जाते हैं लेकिन ऐसे सम्बन्ध न तो आमनौर पर पाये

जाते हैं और न गातुल उन्हें प्रोत्साहित ही करता है। यदि काम शिक्षा ही युवागह का एकमात्र सामाजिक कार्य माना जाय तो यह स्पष्ट करना कठिन हो जायगा कि कि लड़क लड़कियों के अलग अलग युवागह क्या पाय जाते हैं। मजूमदार का यह मत है कि युवागह से आदिवासी समाज के ऐक्य को प्रोत्साहन मिलता है नौजवानों की शक्ति रचनात्मक कार्यों का और प्रवाहित होती है और उन्हें भावी कृतव्या की प्रशिक्षा मिलती है। युवागह की उत्पत्ति का कारण काम तुष्टि की शिक्षा की आवश्यकता नहीं वरन प्रतिरक्षा (Defence) की आवश्यकता है। यही कारण है कि युवागह या तो गांव के बीच में स्थापित होता है या गांव की सरहद पर। कालांतर में, अन्य जनक प्रयाए युवागह से सम्बन्धित हो गई हैं जो मरिया गोडा के गोतुल संगठन से स्पष्ट है।

६

धम और जादू अलौकिक के प्रति विश्वास तथा कमकाण्ड आदिवासी समाज और संस्कृति धमसापेक्ष (Sacred) हैं न कि धमनिरपेक्ष। धमसापेक्ष और धमनिरपेक्ष की द्विभाजिता वर्तमान योरोपीय संस्कृति की देन है। न उसमें राद्दात (Dogmas) और मिशनरीपन ही पाये जाते हैं। राद्दातों और मिशनरीपन की अनुपस्थिति में आदिवासी में न तो अपने धम के सुयुक्तिकरण की प्रवृत्ति मिलती है और न धमविद्या (Theology) की निरूपित करने की प्रवृत्ति। आदिवासी धम जहाँ ईश्वरवादी है वहाँ बहुदेववादी भी। आदिवासी यदि मानवीय अलौकिक शक्तियों को देवताओं के रूप में पूजता है तो वह अलौकिक तथा आधि-दैविक अव्यक्तिक शक्ति (Impersonal Supernatural Force) में भी विश्वास करता है और भूत प्रेतों तथा डाइनों से भी डरता है। वह प्राथना भी करता है और अपने देवताओं की तुष्टि के लिए बलि भी देता है। जत्र मात्र न भी उसका विश्वास है और देवदूता में भी। यदि वह आधिदैविक को अलौकिक मानकर प्राथना के द्वारा उसकी अनुपस्था की कामना करता है तो, साथ ही साथ वह भी मानता है कि आधिदैविक की इष्टतिद्वि करने उसके द्वारा मनोवाञ्छित फल भी प्राप्त किया जा सकता है और, इसलिए, मारण माहून उच्चाटन तथा अन्य जत्रों मात्रों का प्रयोग करता है। वह पेड़ों को पूजता है और पहाड़ तथा पत्थरों को भी। आधिक्यवस्था तथा औद्योगिकी द्वारा, यदि वह अपने और प्रकृति के बीच तथा सामाजिक संगठन के द्वारा यदि अपने तथा साधियों के बीच में तादात्म्य स्थापित करता है तो धम के द्वारा, वह अपने आधिदैविक और प्राकृतवासी के बीच में समायोजन

लाने का प्रयास करके, जीवन के उन स्थलों में भावात्मक सुरक्षा पान का प्रयास करता है जहाँ अथ किसी प्रकार की मानवीय सुरक्षा उपलब्ध नहीं है। आदिवासी के लिए, धर्म, मानव प्रकृति तथा समाज में आधिपत्यिक के द्वारा भावात्मक समायोजन लाने का एक माध्यम है।

आदिवासी धर्म एक भी है और अनेक भी। प्रत्येक गणजाति की अपनी धार्मिक प्रथाएँ और विश्वास हैं। उदाहरणार्थ, मिर्जापुर जिले की कारवा

आदिवासी गणजाति के आदिवासियों का यदि निराकार भगवान या 'इन्दर' धर्म के कुछ में विश्वास है तो साथ ही साथ, वह कसम, वर्षा और जानवरों के अधिष्ठाता देवा में भी विश्वास करते हैं। दुग्धी की लगभग सभी पहाड़ियाँ और जलस्रोत, किसी न किसी देवी या देवता में सम्बन्धित हैं। गाँव के आस पास आने वाले पीपल पलाम और महुआ के पेड़, प्रेतों और बुढ़ाले के वासस्थान माने जाते हैं। कोरवा जिन देवताओं को मानता है उनके नाम हैं राजा बड़ोल टिकरी के बरमबाबा भरमबाबा मुद्दिसेमर के बिलचर राजा गुरहर राजा मोरहमन, अहितर (एक पहाड़ी का नाम) के महाराज और बरमडन के महाराज। कोरवा के द्वारा पूज्य दवियों में बुढ़ीमाई शीतला माई मिरगो रानी, काठा रानी तखिली माई कोटा की ज्वालामुखी और काटर की दवी मुख्य हैं। इन देवी-देवताओं को, कारवा गणजाति के पडास में रहने वाला अथ गणजातियाँ भी मानती हैं। महादावी कोरवा लागो का मुख्य देवता है जिसका वासस्थान प्रत्येक गाँव के पूव में आने वाला बास का भुरमुट माना जाता है। प्रत्येक ऐसे भुरमुट में इस देवता के प्रतीक के रूप में एक पत्थर रखता रहता है। कोरवा लोगों का विश्वास है कि पत्थर और बास का भुरमुट अत्यन्त प्राचीन काल का है और 'महादावी' देवता गाँव के लोगो की बीमारी महामारी भयानक सड़कटो और दुघटनाओं से रक्षा करता है। प्रत्येक तीन साल बाद, देवता का प्रसन करने के लिये एक सफ़ेद बछड़े की बलि दी जाती है। बछड़े के न मिलने पर मक़ेद बकरी या सफ़ेद भुरगी की बलि दी जाती है। महादावी वाला बास के भुरमुट के समीप ही एक दूसरा बास का भुरमुट (देवघर) होता है जिसमें रखे हुए पत्थर गाँव के सभी लोगो (जिनमें कोरवा और अन्य जातियाँ शामिल हैं) के देवताओं के प्रतीक होते हैं। सूखा पड़ने पर कोरवा गणजाति के लोग, पहाड़ियों पर से बड़-बड़े पत्थर उतगाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि पत्थरों को गडगडाहट, बादलों को गडगडाहट को भावपित करके, वर्षा लायगी।

मुण्डा और हो गणजातियाँ, एक प्रकार की अव्यक्तिक आधिपत्यिक शक्ति में विश्वास करती हैं, जिसे वे बोगा के नाम से सम्बोधित करती हैं। बोगा एक

अव्यक्त अलौकिक शक्ति है जिसके सस्र से भीतिक वस्तुओं और व्यक्तियों में अलौकिक गुण उत्पन्न होते हैं। वागा का एक रूप सिंगबागा है जो हो गणजाति में मृत्यु देवता के समान पूजा जाता है। हो और मुण्डा गणजातियों का विश्वास है कि बोगा सपनों के द्वारा भावी जीवन की भ्रांति भवित करता है। वागा ही सभी प्रकार की ऊँचाई का स्रोत है। जिस किसी भी वस्तु में ऊँचाई की अभिव्यक्ति होती है वह वागा ही है। माइजिन वापइजिन और हवाई जहाज ध्वज-अलग वागा हैं। हवाई जहाज इन सब में बड़ा वागा है। जिस व्यक्ति में, वागा की जितनी अधिक मात्रा होगी, उमक गुण और उमक प्रतीक्षा अथवा से, उतनी ही ज्यादा होगी। जिस किसी भी वस्तु में नय ममायाजन का सन्तुलन बिगड़ जाता है, व सब वागा हो जाते हैं। इन गणजातियों के विश्वासों के अनुसार उनके प्राकृतिक वास्तव के अनेक सत्व और जानवर वागा हो गए हैं। वर्षों में हान पर हो गणजाति के भाग, आग जलाकर, धुएँ के बादल उठाते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि धुएँ के बादल वर्षों के बादलों को आकृष्ट करते हैं।

मध्य भारत के मुरिया गाँवों के बारे में लिखते हुए एल्विन ने लिखा है कि मुरिया गाँव का धर्म हिन्दुत्व के गैर सम्प्रदाय के अधिक समाप है, यद्यपि उसकी अपनी निजी विशेषता है। मुरिया धर्म में शिव के साथ साथ अनेक देवताओं की पूजा की जाती है, जिन्हें मुरिया लोग ने मानवीय रूप दिया है। मुरिया लोगों के अपने पुरोहित होते हैं। वे मनुष्यों के लिए छतरी (Shrine) मन्दिर और भोंपड़े बनाकर उनका मानव देवता के रूप में पूजते हैं। मुरिया धर्म, एक भार नतिक जीवन का आधार है और दूसरी ओर, देवताओं तथा जीवित और मृत मनुष्यों का एकसूत्र में बाँधता है। डाइनवन्ति से बचने के लिए, गाँव में, अनेक ऐसी प्रथाएँ पायी जाती हैं जो मुरिया धर्म का अभिन्न अंग हैं^१।

सम्प्रसार, ईश्वरवाद, बहुदेववाद, प्रकृतिवाद, बागावाद, आत्मावाद, अद्वैतवाद तथा ईश्वरवाद, भूत प्रेत, बुढ़ला और डाइनवन्तिवाद तथा सौम्य अग्नि परीक्षा (Ordeal), जर्नी-मन्त्रा, गुरु अपशकुना टाटेम और टैंक में विश्वास आदिवासी के धार्मिक विश्वासों और समकालीन में शामिल हैं। हिन्दू विचारधारा के दृष्टिकोण से, आदिवासी धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ बाममार्गी तथा आगमवादी परम्पराओं में आती हैं। बाममार्गी प्रथाओं के बड़े ही दिलचस्प रूप इसमें का मिलते हैं। कोरवा का विश्वास है कि पत्थरों की गड़गड़ाहट वर्षा के बादलों का आकृष्ट करती है जो के विश्वास के अनुसार, धुएँ के बादल वर्षा के बादलों का आकृष्ट करते हैं, किन्तु, खाँडा का यह विश्वास रहा है कि नगवलि के समग्र बलि न्ये जान वाल मनुष्य की आत्मा में गिरते हुए आसुआ तथा उसके गरीर से निकलती हुई सून की

धार उर्पा को आच्छादित करते हैं। नाल (Umbilical chord) का बक्सर गाढ़ दिया जाता है क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि नाल का जो कुछ होगा वह बच्चे का भी होगा। मुण्डन के समय उत्तारे हुए गम्बारे वाला का जल में प्रवाहित करने का पात्र भी यही विश्वास है। पूर्वी पाकिस्तान में रहने वाली पीलिया गण जाति का सम्प्रदाय अपना फाटा नहा लाने देता था कि वह मानता है कि उसके फोन्ने और उदर कोई जन्तु नहीं है और यदि फाटा को कुछ हो गया तो उसे भी वही हो जायगा। बीज का बलि लिए हुए जानवर के खन में मिलाकर बीने के पीछे भी ऐसा ही विश्वास है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारत के आदिवासियों के धार्मिक विश्वास और प्रथाएँ हिन्दुओं में भी पायी जाती हैं और हिन्दुओं की अनेक विश्वास और प्रथाएँ आदिवासियों में। जिन हिन्दुत्व में आगम और धर्ममार्गों कहा गया है, वह आदिवासी सांस्कृतिक आधार में आया है। हिन्दू समाज में, निम्नस्तर की जातियों के स्तर पर हिन्दुत्व और आदिवासीत्व एक में मिल गया है और वही से अनेक आदिवासी विश्वास और प्रथाओं का वैदिकीकरण हुआ है। इस प्रक्रिया का विश्लेषण जाति और गणजाति की तुलनात्मक विवेचना के मध्य में आगे किया जायगा। यहाँ इस तथ्य को और गहरा करना काफी है कि हिन्दुत्व के तत्वों को आत्मसात करते हुए और हिन्दुत्व के समापवर्ती क्षय में रह कर हिन्दुत्व को प्रभावित करने हुए आदिवासी धर्म आधिदैविक के प्रति विश्वास और कमकाण्डी का एक विशिष्ट संकुल रहा है। आदिवासी धर्म की विविधता की पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे आधारभूत तत्व रहे हैं जिनके आधार पर आदिवासी धर्म का संज्ञा का प्रयोग करके, आदिवासी धर्म की समाजशास्त्रीय व्याख्या की जा सकती है। हर्न के अनुसार, आदिवासी धर्मशास्त्र, टाटमवाद नरबलि नरमुण्डा के शिकार की प्रथा (Herd Hunting, नागाओं में), पूज्य पूजा पारम्यौहिक जीवन तथा संसार (स्वर्ग नरक) और पूज्य तथा टाटमवाद में विश्वास आदिवासी धर्म के मुख्य तत्व हैं^१।

आदिवासी धर्म प्रतिष्ठित धर्मों (Classical Religions) हिन्दुत्व गहरी पारसी बुद्धवाद इस्लाम इसाईयत और कृष्णशिवमत्त सन्तान है। वह धर्म उदभव न ता हिन्दुत्व की धर्म की धारणा से स्पष्ट होता है और न मज के सिद्धांत स्वयं या रिलीजन की उस धारणा में जो इसाईयत में पाई जाती है।

इन धर्मों की तुलना में आदिवासी धर्म विलक्षण भी प्रतीत होता है। यही कारण है कि उनसे भी उतारने के उत्तराध में, जबतक इंग्लैंड के मानवशास्त्री सर ई० बी० टाइलर ने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके, यह नया प्रतिपत्ति लिया कि धर्म एक विचारणीय किन्तु सावधानीपूर्वक संस्था है,

तब तब, याराप के अधिकतर विद्वानों का यही विचार था कि धर्म केवल मध्य समाज में ही पाया जाता है। टाइलर उन्विकासवादी मानवशास्त्री थे। इस कारण उन्होंने याराप के धर्म का उन्विकास का अंतिम परिणति माना और आदिवासी धर्मों का धर्म के प्रारम्भिक उन्विक्रम का मूल। टाइलर के अनुसार, धर्म की उत्पत्ति सर्वव्यवस्थावादिता एनिमिज्म (Animism) में हुई है और उसका विकास बहुदेववादित्वा (Polytheism) में एकेश्वरवादित्वा (Monotheism) की ओर हुआ है। बहुदेववादित्वा पूजना का प्रेरणास्त्रोत की पूजा में विकसित हुई है। पूजना की प्रेरणास्त्रोत का कारण और उनका प्रयत्न रखने के लिए उनकी पूजा करना धर्म के उन्विक्रम की प्रथम कड़ी है। प्रेरणास्त्रोत मानव के प्रथम देवता रही होंगी और उनके सबप्रकोट (Tombs) प्रारम्भिक मंदिर; अतः इस सिद्धांत का टाइलर में एनिमिज्म (Animism) कहा है। एनिमिज्म (Animism) का अर्थ है एनिमा (Anima) में हुई है, जिसका अर्थ है आत्मा (Soul)। आत्मा का अनुभव और उसमें विश्वास प्रेरणास्त्रोत में विश्वास और उनका पूजा की उत्पत्ति का कारण हुआ। टाइलर की मान्यता के अनुसार, आत्मा में विश्वास आदिवासी समाज में सर्वत्र पाया जाता है, जिससे एनिमिज्म के उन्विक्रमवादी सिद्धांत की पुष्टि होती है।

आदिवासी का आत्मा का अनुभव और विश्वास कैसे हुआ इस पर व्यक्त टाइलर के विचार बर्तानिक नहीं, वास्तविक हैं। उनकी यह मान्यता है कि आदिवासी का मानसिक गठन बच्चा के समान होता है और इस कारण आदिवासियों की विचार धारा अतीन्द्रिय होती है। आदिवासी ने जब मृत्यु का अनुभव किया यात्री में उसने अपनी परछाईं देखी स्वप्न में उसने स्वच्छन्द विचरण किया और पृथ्वी के दृश्य लिए अपनी ही आवाज की प्रतिध्वनि सुनी और जब उसे मतिविधम (Hallucination) तथा अतीन्द्रिय अनुभव हुए तो उसे सर्वव्याप्त चेतना का अनुभव हुआ। निद्रा और मृत्यु में, उन यह अनुभव हुआ कि मानव में भी चेतन है जो मृत्यु के बाद निकल जाता है। एक चेतन वह है जो अतीन्द्रिय है और दूसरा वह जो शरीर में व्याप्त है। चेतना के अनुभव ने, आत्मा के अनुभव को जन्म दिया—एक वह आत्मा का अतीन्द्रिय और स्वतंत्र है और दूसरी वह जो शरीर में बद्ध है। मृत पुरखों या स्वप्न में दृश्य तथा, धृष्टा के समान मानसिक गठन होने से उन ने समय पाने के कारण आदिवासी, एक ओर आत्मा की अमरता के विश्वास की ओर अग्रसर हुआ और दूसरी ओर प्रेरणास्त्रोत में विश्वास की ओर। आदिवासियों में पाए जाने वाली दायरी अतीन्द्रिय क्रिया की प्रथा टाइलर के अनुसार, इस बात का प्रमाण है कि आदिवासी मनु और चेतना के प्रथम का नहीं समय पाया। पहली अतीन्द्रिय क्रिया मृत्यु के बाद की जाती है, जिसमें सब के अंतिम रूप में गाथा या जन्मना नहीं जाता है क्योंकि यह विश्वास किया जाता है कि वह न ही दिव्यत आत्मा लौट पाये और दूसरी उस समय, जब यह निश्चित हो जाता है कि दिव्यत आत्मा के लौटने की कोई

आत्मा नहीं है^१। पूजका के प्रति रागात्मक लगाव ने, प्रतात्माओं के प्रति श्रद्धा का जन्म दिया और चेतन के प्रभय का न समझ पाने के कारण ने डर का। इसप्रकार आत्मा के अनुभव के आधार पर, प्रतात्माओं के प्रति डर और श्रद्धामिश्रित जा दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ और उससे जा विश्वास प्रथाएँ और पूजापद्धतियाँ अस्तित्व में आईं वे, एक ओर आदिवासी का घम बनी और दूसरी ओर घम का मूलधार। प्रतात्माओं में विश्वास और उनकी पूजा एनिमिज्म है और आदिवामी घम की आत्मा है।

जिन कारणों से टाइलर का सिद्धांत अमान्य हुआ है वे इसप्रकार हैं — एक पूजक पूजा आदिवासियों में पाया जाता है किन्तु सबत्र नहीं। और फिर पूजक-पूजा आदिवासियों की ही विशेषता नहीं है। हिन्दुओं में पूजक पूजा का स्थान है जितना कि आदिवासियों में। भारत में आदिवासी भी देव और पितरों की वैसे ही पूजा करता है जस कि हिन्दू। हिन्दू मनुष्य परिवार में भी एक पितृस्थान होता है और ज़ासी समुक्त-परिवार में भी। हिन्दू और आदिवासी दोनों प्रतात्माओं से जूटते हैं और दोनों अनुष्ठानों द्वारा उनका सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करते हैं। पूजक पूजा में हिन्दू और आदिवासी में केवल मात्रा का अंतर है। वे आदिवासी का मानसिक गठन बच्चों के समान होता है यह अमान्य है। जमरीकी मानवशास्त्री बोआज ने अपनी पुस्तक 'माइण्ड ऑफ दि प्रिमिटिव मैन' में यह दिखाया है कि आदिवासी का मानसिक गठन न तो बच्चों के समान है और न अतीति। यह अवश्य है कि आदिवासी का मानसिक गठन, उसके प्राकृतवास की परिस्थिति में अधिक प्रभावित होता है। तीन, आदिवासी उतना दार्शनिक नहीं है जितना कि टाइलर ने अपने मत में उसे चित्रित किया है। क्योंकि आदिवासी घम में मनुष्यवृत्तिजन्य (Rationalization) की प्रवृत्ति नहीं मिलती है। चार टाइलर ने आत्मा और प्रतात्मा में पाय जान वाला विश्वास पर आवश्यकता में अधिक जोर दिया है। पाच, घमों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बहुदेववाद ऐश्वर्यवाद से पहले का अवस्था नहीं है। जसाकि भारत में आदिवासी और हिन्दुओं में पाया जाता है। बहुदेववाद और ऐश्वर्यवाद साथ साथ पाये जा सकते हैं। धाज, यह माना जाता है कि एनिमिज्म (Animism सबचेतनवाद) आदिवासी घम का एक अंग है और आदिवामी घम एनिमिज्म ही नहीं है।

- 1 दोहरी अन्त्येष्टि क्रिया की प्रथा भारत में भी पायी जाती है और भारत के बाहर भी। भारत में टोडा कोटा और हो गणजातियाँ इस प्रथा को मानती हैं। अफ्रिकों में पहली अन्त्येष्टि को ग्रीन (Green ताजा) और दूसरी को ड्राई (Dry अतिम) कहते हैं। ग्रीन का अर्थ है 'हरा' और ड्राई का 'सूखा'।

टाइलर ने आलोचन अ य उद्विकासवादियो न यह प्रतिपादित किया कि एनिमिज्म का विकास बाद की अवस्था है। धम का विकास मानव की उस एनीमेटिज्म प्रारम्भिक मनोवृत्ति में हुआ है जिसमें, सम्भवतः वह जीव और निर्जीव में बराबर चेतना का अनुभव करता था। मॅरेट न इस अवस्था का मानावादिता या चेतनावादिता। (Manatism or Animatism) कहा है और मैक्समूलर ने प्रकृतिवादिता (Naturism) मॅरेट के अनुसार आदिवासी धर्म, मूलतः, मानावादी या चेतनावादी है। माना (Mana) शब्द अर्थो जी भाषा में, मलाने-शिया की भाषा से आया है। मेलानेशिया में, यह विश्वास पाया जाता है कि हम संसार में एक अलौकिक तथा धर्मव्यक्तिक शक्ति (माना Mana) है, जिसका अनुभव किया जा सकता है और जो सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं में अवतरित होकर, उन्हें अलौकिकता प्रदान करती है किन्तु हमें बँधती नहीं है। माना, अनुभवयोग्य होते हुए भी, असीमिद्ध है। भौतिक शक्तियों तथा मानव और अन्य वस्तुओं के अद्वितीय गुणों में माना की ही अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तिगत और वस्तुगत में इसकी अभिव्यक्ति, अलग अलग मानाओं में होती है यद्यपि इसका मूल रूप सदैव एक मा और निहित रहता है। यह चेतनावादी दृष्टिकोण, मॅरेट के अनुसार, मानावाद और एनीमेटिज्म (Animatism) है और यही आदिवासी धर्म की मूल आत्मा है। भारत में मुण्डा, हो और नागा गणजातियाँ ऐसी अव्यक्तिक शक्ति में विश्वास करती हैं। हो, जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसको बोंगा कहते हैं। कहीं कहीं इस वायुआ (Wakua) भी कहा जाता है। किंतु, भारत के सभी आदिवासी माना में विश्वास नहीं करते हैं। माना में विश्वास साधर्मिक भी नहीं है। माना में विश्वास के साध-साध, धर्म दवी देवताओं में भी विश्वास पाया जाता है जो मॅरेट के मत के विरुद्ध पड़ता है। जसार्ड डाक्टर मजूमदार ने लिखा है बहुत से पारिवर्तक इसलिए नहीं पूजे जाते हैं कि उनमें किसी दवी शक्ति या मा मा का नाम है बरन इसलिए कि वे उपयोगी होते हैं। अवध के हिंदुओं में व्याह की रस्मों में मूल, मिल बड़ा और पलास के पत्र का पूजन इसका उदाहरण है। मानावाद आदिवासी धर्म का एक तत्व है किन्तु आदिवासी धर्म उसी प्रकार से केवल मानावादी नहीं है जिस प्रकार से वह केवल एनिमिज्म नहीं है।

मक्समूलर के अनुसार, प्रकृतिवादिता (Naturism) अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों की पूजा, धर्म का मूल रूप रही होगी। मक्समूलर ने वेदा को इसका प्रमाण माना है। वेदा में इंद्र वायु के देवता हैं, वरुण समुद्र के और मरुत वायु के। वेग में अग्नि का भी देवता माना गया है। प्राकृतिक शक्तियों और पदार्थों का देवताकरण और उनके प्रति श्रद्धा डर या भय-मिश्रित आदर का भाव, मैक्समूलर के अनुसार, उस रुग्ण मस्तिष्क (Diseased Mind) की उत्पत्ति है जो उन्हें समझ नहीं पाता है और जिसकी अपायोक्त भाषा

(Defective Language) में निर्जीव वस्तुओं में चेतनता और उन शक्तियों की अवधारणा प्रतिपादित की जाती है, जो सजीव की विशेषताएँ हैं। मानव ने अनेक प्रमथा का ऐसी ही अपर्याप्त भाषा में व्यवहृत किया है—जैसे मूरज का उगना और डूबना, जवनि सूय अचल है। प्रकृतिवादिता इस प्रकार अव्यक्त मस्तिष्क और अपर्याप्त भाषा का दम है। आदिवासी धर्म, प्रकृतिवादी है इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न इस पर मतभेद ही है। मतभेद दम बात को लेकर है कि प्रकृतिवादिता धर्म का मूलरूप है और अपर्याप्त भाषा की उपज है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, यह सिद्ध करना कठिन है कि धर्म का मूल प्रकृतिवादिता में ही है। मानव की धारणाएँ भाषा अभिव्यक्तियों में नहीं बनती हैं वरन् भाषा अभिव्यक्तियों, धारणाओं को व्यक्त करती हैं। धारणाएँ पहले जन्म लेती हैं और भाषा अभिव्यक्तियों का बाद में।

इंगलंड के मानवशास्त्री फ्रेजर के अनुसार धर्म की उत्पत्ति जादूई (Magical) विश्वास और प्रथाओं से हुई है और धर्म का मूलरूप जादू था। जहाँ जादू जादू सिद्धांत असफल हुआ वहाँ धर्म की उत्पत्ति हुई। यहाँ जादू से तात्पर्य नहीं तो इन्द्रजाल से है, न बाजीगर के तमामों से और न मस्मरिज्म से।

समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में, जादू का एक विनिष्ट अर्थ है। धर्म और जादू का अंतर, सबसे पहले दुरखेम ने किया था। दुरखेम के अनुसार धर्म का मूल आधिदैविक में विश्वास है किन्तु आधिदिविक में विश्वास ही धर्म नहीं है। धर्म वह सामाजिक प्रभुत्व है जिसमें आधिदैविक में विश्वास (Beliefs) और उससे उत्पन्न तथा आधिदैविक की ओर लक्षित कर्मकाण्ड (Rites) आते हैं आधिदैविक में विश्वास पर आधारित तथा उसमें उत्पन्न जिन कर्मकाण्डों में प्राधना का भाव होता है जो समाज में सामूहिकता को प्राप्त करत हैं और समाज की एकता को बढ़ावा देते हैं वे धर्म के अंतर्गत आते हैं। किन्तु आधिदैविकता से उत्पन्न, जिन विश्वासों और कर्मकाण्डों में, आधिदैविक का नियंत्रण में लेकर उससे मनोवांछित फल प्राप्त करने की भावना रहती है जो सामूहिक रूप से न किए जाकर व्यक्तिगत तथा गुप्त रीति से किये जाते हैं, (जैसे मोहन और भारण की क्रियाएँ) और जो असामाजिक होते हैं वे जादू की श्रेणी में आते हैं। धर्म और जादू का एक ही स्रोत है—आधिदैविक में विश्वास और उससे उत्पन्न कर्मकाण्ड। किन्तु यहाँ धर्म भवनस्याणकारी सामूहिक और सामाजिक है वहाँ जादू व्यक्तिगत और असामाजिक है। धर्म ग्रहणीय है और जादू त्याज्य। दुरखेम जसा कि सर्वविदित है समष्टिवादी समाजशास्त्री हैं। वे धर्म का समष्टिवादिता का एक कारण के रूप में दर्शाते हैं और उस विशेषतया टाटेम का, सामूहिक मन (Group Mind) की एक अभिव्यक्ति मानते हैं। धर्म की सामाजिक महत्ता के सम्मेलन में, आगे चल कर, दुरखेम के विचारों पर पुनः विचार किया जायगा। यहाँ फ्रेजर के विचारों की व्याख्या अपेक्षित है।

फ्रेजर की व्याख्या में जादू धर्म का व्यतिरेक है क्योंकि, धर्म में, आधिदैविक शक्ति से प्रार्थना और अनुनय विनय की जाती है तथा, जादू में, आधिदैविक को निर्मात्रत करके, वांछित वस्तु पान के लिये उसे निर्देय करने की भावना रहती है। जादू इस विश्वास पर आधारित है कि आधिदैविक शक्ति मनुष्य के वश में आकर, उसकी मनाकामना पूरी कर सकती है। मन्त्रों द्वारा साप का विष भाटना मारने के लिये मूठ चढ़ाना किसी का मारने के लिये उसका पुतला बनाकर उसमें छुरा भावना या कीर्तन गाहना जादुई विश्वास और प्रथाओं की श्रेणी में आते हैं। फ्रेजर के अनुसार जादू दो सिद्धांतों पर आधारित है—एक एक वस्तु (या प्रेम) अपनी ही जैसी वस्तु (या प्रेम) का जम देती है और, दूसरा जो एक बार किसी के सम्पर्क में आ जाता है, वह हमेशा उससे सम्पर्क में रहता है। पहला सिद्धांत पर जा जादुई कमकाण्ड आधारित हैं उन्हें फ्रेजर ने अनुकरणमय (Homeopathic Imitative or Mimetic Magic) कहा है। कारवा गणजाति के लोगों द्वारा पन्नाडिमो पर स, इस आशा से पत्थर लुढ़काना कि पत्थरों की गडगडाहट बादलों की गडगडाहट को आकर्षित करके, वर्षा लायेगी या आटे या गोबर के पुतल को किसी का प्रतिरूप मानकर, उस पर इस आशा से मारने की किया करना कि इसमें उस व्यक्ति की मृत्यु हो जायगी, इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरे सिद्धांत पर जा जादू कमकाण्ड आधारित हैं वे सत्रामय जादू (Contagious Magic) की श्रेणी में आते हैं। पूर्वी बंगाल की पोलिया गणजाति का सदस्य जब इस दर से किसी का अपना फोटो नहीं लेने देता कि अगर फोटो को कुछ अनिष्ट हागा तो वह उसे ही हागा तो इसके पीछे सत्रामय जादू का ही भय रहता है। इसी विश्वास के कारण आदिवासियों में एक-दूसरे के कपड़े न इस्तेमाल करने तथा कटे हुए बालों और नागना का दुमने के सम्पर्क में न आने का रिवाज है।

जादुई कमकाण्ड जनकल्याण के लिये भी किया जाता है और दूसरा का मुकामान पहुँचाने के लिये भी। दुर्लभ का यह मन कि जादू सदा अनिष्टकारी ही होता है, सभी प्रकार की प्रचलित जादुई प्रथाओं की कसीटी पर खरा नहीं उतरता है। सूखा पड़ने पर, वर्षा के लिये किया जाने वाला जादुई कमकाण्ड न तो ग्राममाजिक है और न अनिष्टकारी। जीनमार बाबरलेशम, अप्रैल के यहीनम एवं वापिक पूजा हाती है और उस अवसर पर, जब गाव के चारा झार पतली रस्सा उस आशा से फेर दी जाती है कि वह गाव वालों की अनिष्टकारी आधिभौतिक शक्तियों से रक्षा करगी तो जादू का वह रूप अनिष्टकारी नहीं होता है। अनेक जादुई कमकाण्ड सामूहिकता का प्रामाणिक करते हैं और सामूहिक संगठन की सुदृढ़ता का प्रामाणिक करते हैं। व्यक्तिगत लाभ के लिये किये जाने वाले जादुई कमकाण्ड किन्हीं किन्हीं दशाभा में, अनिष्टकारी हो सकते हैं—जब किसी का मारने के लिये किया जाना वांछा कमकाण्ड। इस दृष्टिकोण से जादू ने दो भेद किये गए हैं—लाभकारी (White)

और अनिष्टकारी (Black)। जिस जादुई कमकाण्ड का घ्यय सामाजिक कल्याण है, उसमें सम्बंधित कमकाण्ड अनिष्टकारी जादुई कमकाण्ड की अपक्षा, अधिक सावजनिक होता है। लेकिन, धार्मिक, कमकाण्डों की अपक्षा, जादुई कमकाण्ड अधिक गोपनीय रखे जाते हैं। दिवानों की अद्वारात्रि का मंत्र जगाने की प्रथा इसका प्रमाण है। ऐसा विश्वास पाया जाता है कि जादू की सफलता उसकी गोपनीयता पर ही निर्भर करती है।

जादुई तथा धार्मिक दोनों प्रकार के कमकाण्ड विशेषण द्वारा सम्पन्न होते हैं। धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने वाला विशेषण पुजारी या पुरोहित कहलाता है। उसका कार्य है अपने यजमानों के भगवत् के लिये आधिदैविक की प्राप्ति करना। किंतु जादुई कमकाण्डों का विशेषण अपने यजमान की मनोकामना पूर्ण करने के लिये, आधिदैविक को निरक्षर देता है। तान्त्रिक, झंझोरी, कापालिक, सिद्ध, ओम्हा, नाडत भगत और बाकी (जीनसार का शब्द) जादुई कमकाण्डों के विशेषणों की श्रेणी में आते हैं। अग्रजो म पुजारी के लिये प्रीस्ट (Priest) और तान्त्रिक के लिये शेमन (Shaman) शब्द का प्रयोग होता है। शेमन (Shaman) शब्द अंग्रेजी में साइबेरिया की भाषा से आया है। पुजारी उन आधिदैविक शक्तियों का सेवक होता है जो कल्याणकारी होती हैं किंतु तान्त्रिक (Shaman) उनका, जो अनिष्टकारी होती है। इसीलिये शेमन को अग्रजो म डेविल प्रीस्ट (Devil Priest) अथवा शैतान का पुजारी कहा जाता है। वह भूत को भी जानता है और मविष्य को भी। दुर्भाग्य असफलता, रूग्ण बीमारी और अनिष्ट की आशंका में, आदिवासी प्राण के उपाय तान्त्रिक से ही पृथक्ता है, क्योंकि तान्त्रिक रहस्य के भी रहस्य का गाना माना जाता है। तान्त्रिक अनिष्ट भी कर सकता है, इसलिये, लोग उससे भय खाते हैं। फिर भी तान्त्रिक आदिवासी समाज का एक नेता होता है। मिश्र म जो प्रागति धार्मिक प्रमाण मिले हैं उनके आधार पर, प्रागतिहासज्ञान ने यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीन प्रस्तरयुग के प्रतिम चरणों में, वहां जो सामाजिक संगठन विकसित हुआ था उसका राजा तान्त्रिक ही हुआ करता था। अमरीका की अनेक गणजातियों के प्रधान तान्त्रिक ही होते हैं।

शेजर के अनुसार, सभी प्रकार के जादुई कमकाण्ड सहवृत्त्यात्मक (Sympathetic) होते हैं क्योंकि वे कार्य कारण (Cause & Effect) में सहवृत्ति के जादू और विज्ञान की गडगड़ाहट को आधारित होते हैं। पत्थरों की गडगड़ाहट से बादलों की गडगड़ाहट को आकृष्ट करके वर्षा लाने का प्रयास, कार्य (बादलों की गडगड़ाहट का आना और वर्षा होना)—कारण (पत्थरों की गडगड़ाहट) की सहवृत्ति (समान वृत्ति) पर आधारित है। जादुई कमकाण्डों में, निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा, किन्तु आधिदैविक के माध्यम से, किसी प्रमेय के कार्य कारण की सहवृत्ति पर नियंत्रण पाने का प्रयास रहता है। विज्ञान में भी, कार्य-

कारण की सहवृत्ति पर नियंत्रण किया जाता है। इस दृष्टिकोण से, जादू विज्ञान के समीप पहुँचता है यद्यपि वह विज्ञान नहीं है। जादू का एक सैद्धांतिक पक्ष होता है और दूसरा व्यावहारिक। जादू का सैद्धांतिक पक्ष छद्म विज्ञान (Pseudo Science) और व्यावहारिक पक्ष छद्म कला (Pseudo Art) है। छद्म कला का रूप में, जादू प्रत्यक्षवादी (Positive) है जिसमें आघात (Sorcery) और डामनवृत्ति (Witchcraft) आते हैं और दूसरा निषेधात्मक (Negative) जिसमें टैबू (Taboo) निषेध) आता है। किन्तु विज्ञान में, काय कारण की सहवृत्ति का सही और निश्चित प्रयोग होता है जबकि जादू में गलत और अनिश्चित। जादू के प्रयोग हर दशा में निश्चित और सही उत्तरत है। इसीलिये, वास्तव में, जादू भ्रष्ट विज्ञान है। फ्रेजर ने, जादू का विज्ञान की बिजमा भगिनी (Bastard Sister) कहा है। जादू विज्ञान का जनक नहीं है। जादू और विज्ञान मनुष्य की उस वृत्ति से जन्मे हैं जिसमें, विभिन्न प्राकृतिक प्रमेयों का काय कारण पर नियंत्रण पाकर, जीवन में सुरक्षा लाने की प्रवृत्ति है।

जादू और विज्ञान दोनों की कायप्रणालियाँ (Procedure) समान हैं। जिस प्रकार, किसी परिणाम पर पहुँचने के लिये वैज्ञानिक उसी कायप्रणाली का मशीनबद्ध बार बार दोहराता है उसी प्रकार तांत्रिक (Magician) भी करता है। दोनों इस मायता पर आधारित हैं कि विभिन्न प्रमेय अपने-अपने काय कारण की सहवृत्ति पर आधारित है और काय कारण की सहवृत्ति के नियंत्रण द्वारा उस सामान्य नियम या नियमों पर नियंत्रण किया जा सकता है जो विभिन्न प्रमेयों के घटक हैं। किन्तु विज्ञान का सम्बंध प्रकृति से है और जादू का अलौकिक से। विज्ञान का सीधा सम्बंध प्रकृति के कारका से है जिन्हें प्रयोग, निरीक्षण और पुनःपरीक्षण के द्वारा आका जा सकता है। जादू जिन कारका की मायता पर आधारित होता है वे अलौकिक हान हैं। उन पर न तो प्रयोग किया जा सकता है और न उनका निरीक्षण या पुनःपरीक्षण ही। विज्ञान में यदि वांछित फल न मिले तो सारी कायप्रणाली की पुनः परीक्षा की जा सकती है जो जादुई कायप्रणाली में सम्भव नहीं। जादू की असफलता या तो जादुई कमकाण्ड में कमी के कारण मानी जाती है या अलौकिक के प्रभाव के कारण। वैज्ञानिक कायप्रणाली या कायप्रणालियाँ गुप्त नहीं रखी जाती हैं जबकि जादुई कमकाण्ड बहुधा गुप्त और अलौकिक वानावरण में चलता है। इसलिये, जादू का वातावरण अवास्तविक हाना है। जादू और विज्ञान में दृष्टिकोण का अंतर है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण वास्तविक और निश्चित होता है और जादुई दृष्टिकोण अवास्तविक, आशाप्रद किन्तु अनिश्चित। विज्ञान वास्तविकता की ओर उमुख रहता है और जादू अवास्तविकता की ओर। जादू सुख्यता (Barren) रहता है जबकि विज्ञान समृद्ध। जादू की सफ़र का ध्येय जादू का नहीं वरन् प्रयोग का है।

जादू और घम विना स असंग एक निश्चित श्रेणी में आते हैं। जादू और घम दोनों आधिदैविक से सम्बन्धित हैं और दोनों एक दूसरे के सहोदर हैं। जादू घम और विज्ञान का मध्य योरोपीय समाज की समस्या है न कि आदिवासी समाज की। आदिवासी समाज में जादू घम, विज्ञान और प्रौद्योगिकी एक में मिल गये हैं। टोब्रियाण्ड द्वीप के निवासियों के जादुई कमकाण्डों की व्याख्या करते हुए मलिनॉस्की ने लिखा है, वहाँ के निवासी पाय बनाने में काफी मुश्किल हैं। उन्हें इस बात का भी पता है कि नाव एक विशेष जादूति का बया घनाई जाती है नाव पानी पर बया और कैसे तरती है और बया डूब जाती है। उनके पास इस विषय में सम्बन्धित वनानिष्ठा ज्ञान भी है। किन्तु वे यह नहीं जानते कि तूफान का और बया आता है और इस कारण उनकी नाविकता में विज्ञान प्रौद्योगिकी और जादू का मिश्रण हो गया है। जहाँ उनकी प्रौद्योगिकी सफल नहीं है वहाँ वे जादू का आश्रय लेते हैं। तब बया प्रौद्योगिकी की असफलता या अक्षमता जादू की जननी है? मलिनॉस्की पर यह आरोप लगाया गया है कि उन्होंने एक ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया है जो दाहर सत्य (Double Truth) पर आधारित है। यह निश्चित है कि जादू असत्य है। पर, साथ ही साथ, यह भी सही है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी जहाँ सफल है, वहाँ जादुई कमकाण्ड निरर्थक हो जाते हैं। लुसिनऊ के पडास के गावा में पहले निमोनिया फाड़-फूक द्वारा ठीक की जाती थी क्योंकि पेनीसिलीन के पहले निमोनिया का कोई निश्चित इलाज नहीं था। किन्तु आज पेनीसिलीन के प्रयोग ने फाड़ फूक की निरर्थक बना दिया है।

पयटिश (Fetish) और टबू जादू के वस ही अमिन अंग हैं जैसे आधिदैविक में विश्वास और उससे उत्पन्न कमकाण्ड। पयटिश (Fetish) उन जादू, पयटिश पाथिक पदार्थों को कहते हैं जिनके बारे में यह विश्वास किया और टबू जाता है कि उनमें वह जलौकिक शक्ति है जिससे वह कठिनाई में मनुष्य की महायता कर सकते हैं या मनुष्य को मनोवाञ्छित पद द सकते हैं। तथोक्त इसका एक उदाहरण है। बच्चे को शेर का दात इसलिये पहनाना कि वह डरे नहीं और उस पर भूत प्रेता का असर न हो और जिस कमरे में स्त्री का बच्चा हो उसके दरवाजे पर बया पक्षी का घासला लटकाना और बेल के बाँटे इसलिये बाँधना कि जच्चा बच्चा दबी विपत्ति में मुक्त रहे पयटिशवाद का अर्थ उदाहरण है। टबू शब्द अंग्रेजी में पालीनेशियन भाषा के टाबू (Tabu) शब्द के आधार पर गढ़ा गया है। टबू का अर्थ है निषेध किया हुआ। जादुई कमकाण्ड के दो पहलू होते हैं—एक वह जिससे जादुई कमकाण्ड का व्यवहार विहित और वाछनीय माने जाते हैं और दूसरा, जिसमें कुछ व्यवहारों का निषेध होता है। माथिक धर्म विज्ञान में हिंदू स्त्रियाँ द्वारा बच्चा स्नाना बनाने का निषेध टबू का एक उदाहरण है। टबू की अवहेलना करने वाला का समाज दण्डित नहीं करना है। टबू जादू में इसलिये

मिश्रित हो जाता है कि उसके पीछे आधिदैविक शक्ति का प्रभाव समझा जाता है। टैबू की अवहेलना देवी आत्मा को जन्म देती है और देवी-आत्मा समाज द्वारा माया होती है। अन्वेष में, स्खनऊ के पास क गावां में मुर्दों को बहाकर या जलाकर या गाड़कर जब लोग लोटते हैं तो जलम अलग चलते हैं क्योंकि उनका यह आशावा रहीती है कि यदि किसी क पंर की एडी दूसरे के पजे से लडती है तो उनम मे किसी न किसी के घर म मुदनी होगी।

टैबू तीन प्रकार क होते हैं—उत्पादक (Productive) सुरक्षात्मक (Protective) और निषेधात्मक (Prohibitive)। जो टबू कृषि की उबरता बढाने से सम्बन्धित हैं उह उत्पादक कहा गया है जंमे जीवनमार मे मामिक धम क दिनी म स्त्री की शालू के छेत म न जाने देना। सुरक्षात्मक टबू वे हैं जो नारिणी, बच्चों और पुषों को कुछ स्थानों दियाओ और वस्तुआ से दूर रहने का निर्देश करते है जस देवी आशका क डर मे नवजात शिशु को स घ्या के झुटपुट म घर से बाहर न खाने की प्रथा। निषेधात्मक व है जा किसी स्त्री या पुरष से दूर रहने का निर्देश करते हैं। निषेधात्मक टबू मसग का निषेध करन है जसे जादू टाना करनवाले म दूर रहना या रजस्वला नारी क ससग मे न आने का निषेध। माना (Mana) विश्वास भी टबू को जन्म देता है। माना पर आधारित टैबू तीनों प्रकार के या तीना म से किसी एक प्रकार के हा सकते है। जिस वस्तु या व्यक्ति का मसग टैबू से होता है, उसम बिना माना का वास समझा जाता है¹।

आदिवासी समाज म तथा अ्य समाजो मे भी जादुई और धार्मिक विश्वासी और कमकाण्डो का साथ-साथ पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि जादू की उत्पत्ति धम के प्रारम्भिक रूप म नही हुई है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के

1. टबू की सामाजिक वास्तविकता को कई प्रकार से स्पष्ट किया गया है। टोटेंमवाद के साथ अनेक टबू पाये गये ह। फ्रायड के अनुसार, टबू विवृत मस्तिष्क की उपज ॥ विवृत मस्तिष्क की अवस्था मानसिक गठन की यह अवस्था है जा विसमृज (Ambivalent) होती है जिसमें विरोधी कार्यों के करने की प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था मानसिक संघर्ष की अवस्था है और व्यक्ति पर पडने वाल समाज के दबावों से उत्पन्न होती है। यह अवस्था सावभौमिक है और इसक साथ साथ टैबू भी। टोटेंम के साथ जो टबू पाये जाते ह, फ्रायड के अनुसार उनकी उत्पत्ति आदिपस कम्प्लेक्स (Oedipus Complex) की विसमृज मानसिक अवस्था से होती है। रेडक्लिफ फ्राउन के अनुसार, टबू और टोटेंम का सम्बन्ध प्रतीकों से है, जिनका उद्देश्य समाज की एकता को प्रोत्साहन देना है। टबू वह सामाजिक यंत्र है जिससे समाज की अर्थायें सुरक्षित रहती ह और समाज की अतिजीविता मिलती रहती है।

साथ-साथ अनेक जादुई विश्वासों का क्षीण होना यह सिद्ध करता है कि जादू प्रौद्योगिकी और विज्ञान के बाद की नहीं पहले की चीज है। आधिदैविक में विश्वास और उससे प्रेरित कमकाण्ड आदिवासी समाज में एक ओर, धर्म के स्तर पर पहुँचते हैं और दूसरी ओर, जादू के स्तर पर। हाँ यह आवश्यक है कि आदिवासी के आधिदैविक विश्वासों और कमकाण्डों में जादू का अधिक पुट रहता है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि आदिवासी के आधिदैविक सम्बन्धी विश्वास और कमकाण्ड नितात् जादुई होते हैं। इसीलिये आदिवासी धर्म को स्पष्ट करने के लिये मानव शास्त्री 'जादुई धार्मिक विश्वास और कमकाण्ड' की अभिव्यक्ति का प्रयोग करते हैं। प्रतिष्ठित धर्मों और आदिवासी धर्मों में एक आधारभूत भेद है। प्रतिष्ठित धर्म

निराकार या सरकार ईश्वरवादित धर्मविद्या के द्वारा धार्मिक धर्म और जादू सुयुक्तिकरण और दशन चर्च संगठन और पारलौकिकता की ओर अधिक झुक हुए हैं जबकि आदिवासी धर्म देववादित प्रमवादित टबुओ, मानवाद और जादुई कमकाण्ड की ओर। प्रतिष्ठित धर्मों में बुद्धिवाद प्रतीतिश्वरवादी और इहलौकिक है। आदिवासी धर्म इसकारण न तो हिंदुत्व की धर्म की धारणा में बँधता है न मजहब की और न रिलीजन की। वास्तविकता तो यह है कि धर्म सावभौमिक है और मानव संस्कृति तथा समाज का अंग है किंतु धर्म न तो एकेश्वरवादित में निहित है न देववादित में न प्रेतवादित में न आत्मावादित में, न चर्च संगठन में न किसी विशेष पूजा पद्धति या पद्धतियों में न पुरोहितवादित (Priesthood) में न धार्मिक सिद्धांतों (Religious Dogmas) में और न धर्म प्रयोग में, यद्यपि विभिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में ये सभी तत्व एक-साथ या अलग-अलग धर्म के आधार अवश्य हैं¹। धर्म, मानव मस्तिष्क की उपज है क्योंकि मानव स्तर पर धर्म नहीं पाया जाता है। धर्म समाज-संस्कृति संकुल का एक आधार होने के कारण मानव और पर्यावरण के बीच होने वाले समायोजन का एक माध्यम है। पर्यावरण के साथ समायोजन की आवश्यकता ने धर्म और जादू को साथ-साथ जन्म दिया है। धर्म के साथ जादू का प्रभाव वही कम है और कहीं ज्यादा।

समाज और संस्कृति के माध्यम से मानव ने पर्यावरण के साथ जो समायोजन किया है, उसका उद्देश्य है पहले सुरक्षा और फिर सुरक्षा के द्वारा अतिजीविता प्राप्त करना। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के बावजूद भी मानव जीवन पूर्णरूपेण सुरक्षित नहीं है। जहाँ विज्ञान और प्रौद्योगिकी जितने अविकसित हैं वहाँ जीवन उतना ही असुरक्षित है। भावात्मक सुरक्षा मानव की एक सतत आवश्यकता है। मानव जीवन ही ऐसा है कि ज्ञान विज्ञान के विकास के बावजूद भी जीवन के भ्रमक

पहलू रहस्य में लिप्त हैं। जन्म, किशोरावस्था, विवाह बीमारी (विनायक वह बीमारी जिसका इलाज न हो) और मृत्यु ऐसे अवसर हैं जो व्यक्ति के जीवन में भावात्मक संकट (Emotional Crisis) प्रस्तुत करते हैं। खाद्य की कमी अकाल, अतिवृष्टि, ऋतु परिवर्तन और महामारियाँ तथा युद्ध सामूहिक संकट (Communal Crisis) उत्पन्न करते हैं। संकट की ये परिस्थितियाँ एक ओर, भावात्मक असुरक्षा की भावना का प्राप्तिप्राप्त करनी हैं और, दूसरी ओर, अनिनिश्चितता की भावना की। ये संकट मानव जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन का एक अंग हैं जिनसे भावात्मक प्राप्ति पाने के लिये मनुष्य ने आधिदैविक का आश्रय लिया है। आधिदैविक में विश्वास ने जिन कर्मकाण्डों (Rites) को जन्म दिया है उन्हीं पर धर्म भी आधारित है और जादू भी जिनकी अभिव्यक्ति एक ओर, संस्कृति में होती है और, दूसरी ओर, समाज में।

आधिदैविक में विश्वास और उससे भावात्मक सम्पर्क स्थापित करने की प्रवृत्ति तथा दोनों से प्रेरित कर्मकाण्ड (Rites) धार्मिक बलि के मूल के रूप में सन्तान पाने जाते हैं यद्यपि उनकी सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति सन्तान समान नहीं है। इसी वृत्ति में, हिन्दुत्व में नेतिवाणी ईश्वरवाद पर आधारित धर्म की धारणा का रूप लिया है और इस्लाम तथा इसाईयत में व्यक्ति ईश्वरवादी सघीय संगठन का। मानव की इसी वृत्ति ने आदिवासी धर्मों को जन्म दिया है। धार्मिक वृत्ति, आधिदैविक में लिप्त होने के कारण, रहस्यवादिता, भावात्मकता तथा पारलौकिकता से आतप्रोत रहती है। भावात्मक सुरक्षा पाने के लिये, आधिदैविक से सम्पर्क स्थापित करने की वृत्ति जहाँ प्रायना का रूप लेकर पूजा, भजन कीर्तन के रूप में अवतरित होती है वहाँ धर्म का अभ्युदय होता है, और जहाँ यह वृत्ति आधिदैविक का मानव नियन्त्रण में लाने की प्रवृत्ति का रूप लेती है वहाँ जादू का अभ्युदय होता है। धर्म और जादू एक ही स्रोत से उत्पन्न दो ऐसे प्रभय हैं जो बहुत कुछ समान भी हैं और भिन्न भी और इसकारण, उनमें, विशेषतः आदिवासी सांस्कृतिक स्तर पर, स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना कठिन हो जाता है। आदिवासी स्तर पर दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

जादू और धर्म दोनों आधिदैविक में विश्वास और उसमें उत्पन्न कर्मकाण्ड पर आधारित हैं। दोनों में आधिदैविक के आश्रय से, मनुष्य का भावात्मक सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास है। दोनों में कल्प (Ritual) का मुख्य स्थान है। दोनों इस संसार के रहस्य का समझने के माध्यम हैं, अतः, दोनों एक ही बौद्धिक मनोवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। आधिदैविकता में लिप्त तथा कल्पा द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण, प्रायना, मन्त्र, घृष, द्रोप, नबेय के साथ दोनों मनुष्य के लिये संकल्पप्रसृतता (Suggestibility) का आवातावरण उपस्थित करते हैं उसमें, मानव में, आधिदैविक के प्रति सम्मोहन और भी प्रखर हो उठता है, जिसमें उसकी भावात्मक सुरक्षा

की भावना का बल मिलता है। दाना में, मनुष्य प्रत्यक्षतः आधिदैविक के सम्पर्क में नहीं आता है। धर्म में, पुजारी मानव तथा आधिदैविक के बीच मध्यस्थ बनता है और जादू में आज्ञा, तान्त्रिक और शमन (Shaman)। दाना का उद्देश्य एक ही है और दाना परम्परा से बंध रहता है। दानो मानव समायाजन के साधन हैं।

फ्रेजर ने कहा है कि जादू प्रकृति के प्रयोगों पर प्रभावपूर्ण अधिकार पान की प्रवृत्ति तथा सन्निध्य अभिलाषा का एक परिणाम है। मनो (Spells) द्वारा आधिभौतिक पर नियंत्रण पान का प्रयास इस अभिलाषा की पूर्ति का एक साधन है। तान्त्रिक शमन (Shaman) और ओचा का यह विश्वास रहता है कि एक निश्चित परिस्थिति में आधिदैविक शक्ति उसके नियंत्रण में रहती है और उसका कामूला मनावाछित फल देगा ही वास्तव में सदैव ऐसा नहीं होता है क्योंकि कभी कभी जादू असफल भी हो जाता है। धर्म के पीछे प्रार्थना की मनोवृत्ति है मानव की असहायता की भावना है और आधिदैविक के आवाहन का प्रयास है। धर्म का आधार प्रदान करने वाली बाली मनावृत्ति प्रार्थनावादी है जबकि जादू का आधार प्रदान करने वाली मनोवृत्ति प्रार्थनावादी क्योंकि जादू में यह विश्वास रहता है कि मानव आधिदैविक की सहायता में अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। जादू में मानव-क्षमता पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर है और धर्म में मानव की असहायता, निबलना, विनम्रता और भाग्यवादिता पर। इसीलिए, यह कहा गया है कि जहाँ मात्र प्रार्थना में बदल जाता है जादू का स्थान धर्म ले लेता है।

जादू का आधार है प्रच्छन्न शक्ति (Hidden Force) और धर्म का देवता, भूत और प्राकृतिक शक्तियाँ। पिडिगटन के अनुसार एक या एक से अधिक आधिदैविक भूतों में विश्वास, चर्च या महवर्मी संगठन और समाज द्वारा माया पूजाविधि धर्म से सम्बन्धित है और व्यक्तिगतता प्रच्छन्नता आधिदैविक भूतों के माध्यम से प्रत्यक्ष परिणाम लाने का प्रयास तथा दुर्भावनात्मक होने के कारण जादू का मिलन वाली सामाजिक भ्रष्टता, जादू की विशेषताएँ हैं। दुरन्तम ने भी व्यक्तिगतता प्रच्छन्नता दुर्भावना असामाजिकता और आधिदैविक का नियंत्रित तथा तुष्ट रखने के प्रयास (Propitiation) को जादू के गुण माना है और सामूहिकता प्रार्थना और धार्मिककारी भावना को धर्म के गुण। धर्म सामाजिक समष्टिवादिता को प्रोत्साहित करता है और जादू व्यक्तिगतता को। इसी कारण जादू का कोई मंदिर नहीं है। सामाजिक धार्मिक समाज और धार्मिक परिवर्तन जैसे समष्टिवादी मामूले जादू में नहीं होते हैं। दुरन्तम का यह मत है कि जादू हर हालत में वैयक्तिक दुर्भावना प्रेरित तथा असामाजिक होता है सांस्कृतिक प्रमाणा की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। हाँ यह प्रत्यक्ष है कि, धर्म की अपेक्षा जादू में व्यक्तिगतता असामूहिकता और दुर्भावना का अधिक घुट होता है। मलिनस्की ने दो अनुष्ठानों की व्यतिरिक्त तुलना करके धर्म और जादू के अंतर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनमें से एक है

बच्चे के जन्म का अनुष्ठान । बच्चे के जन्म का समारोह धर्म में आता है, क्योंकि वह अपन में ही सीमित है । वह अपना साध्य भी है साधन भी । किन्तु इलाज का अनुष्ठान एक साधन है, एक साध्य नहीं । किन्तु यह मायता कि धार्मिक अनुष्ठान साध्य भी है और साधन भी माय नहीं है क्योंकि धार्मिक अनुष्ठान के भी अन्तता गया उद्देश्य होते है । धार्मिक अनुष्ठान का भी कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है, जो कही स्पष्ट है और कही प्रच्छन्न ।

न ता प्रायना ही हर दशा में सफल होती है और न जादूई कमकाण्ड । फिर भी धर्म और जादू में लागू का विश्वास बना रहता है, क्योंकि दोनों उपयागितावादी आस्था (Promotive Faith) पर आधारित है और उपयागितावादी कसौटी (Pragmatic Test) पर खरे उतरते हैं । धर्म में ईश्वर की अनुकम्पा की धारणा मनुष्य की मानसिक सबल प्रदान करती है । धर्म की उपयागितावादी कसौटी यही है कि प्रायना द्वारा ईश्वर की अनुकम्पा के मिलने के विचार से, सकलकाल की स्थिति में, मानव का भावात्मक सतुल्य प्राप्तहिन् हाता है । यही कारण है कि सभी धर्मों में ईश्वर और देवताओं की अलौकिकता दया और कष्ट में पड़ मानवों की सहायता करने का गाथाएँ मिलती हैं । इन गाथाओं से, जिन्हें भोग्यो में माइथालोजी (Mythology पौराणिक कथा) कहा गया है, ईश्वर, तथा देवताओं के स्वरूप, उनकी अलौकिक गुणों, उनकी पूजा करने के उपाय और उनकी अनुकम्पा से मिलने वाले लाभों का प्रतिपादन किया जाता है । सत्यनारायण ज्ञान में सुनाई जाने वाली सत्यनारायण की कथा अजामिल, भणिका, प्रह्लाद तथा गज इत्यादि के तरने की कथाएँ इसका प्रमाण हैं । सत्यनारायण की कथा में सत्यनारायण की कथा नहीं है किन्तु उन लोगों की कथा है जिन्हें सत्यनारायण की अनुकम्पा प्राप्त करने का फल मिला ।

पौराणिक कथाओं में धर्म, धार्मिक विश्वासों कमकाण्डों और कल्याण का, समाज के आदर्शों का अनुसार समुचितकरण निहित रहता है जिससे व्यक्ति में धर्म के प्रति मानसिक आस्था विकसित होती है । किन्तु पौराणिक कथाएँ धर्म को ही नहीं जादू का भी सबल प्रदान करती हैं । यदि धर्म का आधार है ईश्वर की अनुकम्पा में विश्वास तो जादू का आधार है जादूई कमकाण्डों और सयोग में विश्वास । उदाहरणार्थ, पानी बरसाने वाले अनुष्ठानों के करने में कभी पानी बरसता है और कभी नहीं बरसता है । बहुधा हाता यह है कि जादू की असफलताएँ तो भुला दी जाती हैं लेकिन उसकी सयोगिक सफलताओं का बड़ा चढ़ाकर बणन किया जाता है जिससे जादू के प्रति आस्था बनी रहती है । प्रायना के असफल हान पर, कर्मों को दोष दिया जाता है किन्तु, जादूई कमकाण्ड के असफल होने पर, इस मायता को कि सम्भवत कमकाण्ड ही ठीक नहीं हुए हैं । देवों के द्वारा कमकाण्डों को बरते पर जो कंठ लगती है उससे कोई न कोई बात ऐसी अवश्य निकल आती है जिससे

कमकाण्डा के करने में मूल की सम्भावना का प्रोत्साहन मिलता है। पालीनसिया और मेलानसिया में जादूगर (तांत्रिक Shamens) एक कुशल कारीगर भी होता है जिससे वहाँ जादुई कमकाण्डा की प्रतिष्ठा मिलती है। जादू और जादुई कमकाण्डा अवास्तविक हैं किंतु उनकी अवास्तविकता समाज में प्रचलित कल्पनाओं द्वारा ढकी रहती है। उदाहरणार्थ जब जादू असफल होता है तो यह माना जाता है कि जादू की असफलता का कारण कमकाण्डा का ठीक से न किया जाना है या किसी दबी शक्ति का प्रभाव है जो मानव की समझ के बाहर है, या किसी जीव भी अधिक शक्तिशाली तांत्रिक द्वारा उत्पन्न किया व्यवधान के फलस्वरूप है।

पिछले पन्थों में धर्म जादू और विज्ञान की जायदादों की गई है उसमें एक ओर, यह स्पष्ट हुआ है कि आदिवासी धर्म जादू मिश्रित है और दूसरी ओर, यह कि धर्म और जादू से मिलकर जा सामाजिक सांस्कृतिक के आधार संकुल बनता है उसके प्रधान तत्व क्या हैं। आधिदिव्य की कल्पना और उसमें विश्वास टूट और टाटेम जोम्बुइती (Shamanism) और पौरोहित्यवाद (Priest craft), कर्प और अनुष्ठान (Ritual Ceremony) पूजापद्धति (या) (Cults) और पौराणिक कथाय जादू धर्म संकुल के मुख्य तत्व हैं। आधिदिव्य की कल्पना और उसमें विश्वास की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है—एक, देवी देवताओं तथा भूत प्रेता के रूप में और दूसरी मानावाद के रूप में। ईश्वर देवी देवता और भूत प्रेत आधिदिव्य की मानव के रूप में कल्पना है। अतः उन्हें आधिदिव्य आत्माएँ कहा जा सकता है। आदिवासी का आधिदिव्य आत्माओं में विश्वास, बील्स एण्ड हायजर के अनुसार एनिमिज्म (Animism) है। आधिदिव्य आत्माओं के संसार में कई प्रकार की आत्माएँ शामिल हैं—एक वह आत्मा जो सभी इस पृथ्वी पर थी (भूत प्रेत) दूसरी वह जो आधिदिव्य के रूप में प्रारम्भ से ही विद्यमान है जिनका निवास पर्वत तालाब और पहाड़ जैसे प्राकृतिक प्रयोग शास्त्र पर या नाथ जैसे प्राकृतिक पदार्थों में या अदृश्य रूप से सम्पूर्ण ग्रहाण्ड या उसके एक भाग में हो सकता है।

आधिदिव्य आत्माओं का तीन श्रेणियाँ में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में देवतुल्य वे आधिदिव्य आत्माएँ आती हैं जो संसार की जनक और नियंत्रक समझी जाती हैं और आधिदिव्य आत्माओं के संसार में सर्वोपरि मानी जाती हैं। दूसरी श्रेणी में वे आत्माएँ आती हैं, जो पहली श्रेणी की आत्माओं से निम्न मानी जाती हैं और जिनमें से कुछ मानव के लिए कल्याणकारी होती हैं कुछ अनिष्टकारी और कुछ तटस्थ। तीसरी श्रेणी में मृतकों की आत्माएँ, (भूत प्रेत और चुड़ैल) आती हैं जो, आधिदिव्य आत्माओं में निम्नतम होती हैं और जो मानव के अनिष्ट के लिए सदैव उद्यत रहती हैं। पहली और दूसरी श्रेणी की आधिदिव्य आत्माओं में स्थानीय मित्रता अधिक पायी जाती है। आधिदिव्य आत्माएँ न तो धर्म और जादू हैं और न वे धर्म

का जन्म देती हैं। इन आत्माओं में विश्वास और उससे सम्बन्धित कमकाण्ड धर्म में आता है। धर्म की उत्पत्ति का कारण तो वह मनावृत्ति और उसके कारण हैं, जिसके कारण इन आधिदैविक आत्माओं के प्रति प्रार्थना (Prayer) या उन्हें नियंत्रित तथा निर्देशित करने (Propitiation) का भाव उत्पन्न होता है।

माना वाकृअ और शोभा उम अलौकिक शक्ति का प्रतीक है जो आधिदैविक है किन्तु आधिदैविक आत्मा नहीं है बरन आधिदैविक आत्माओं से अलग, ब्रह्माण्ड में उगुक्क प्रवाहित होती रहती है जो अव्यक्तिक है किन्तु व्यक्तियों और वस्तुओं में अभिव्यक्त होकर उर असाधारण गुण प्रदान करती है। आदिवासी के लिए 'असाधारण' या तो आधिदैविक आत्माओं की देन है या माना की। जहाँ 'असाधारण' आधिदैविक आत्माओं की देन नहीं है वहाँ वह माना की देन है। वसभी काम और व्यवहार मानव की सामान्य शक्ति तथा प्रवृत्ति से पर है माना के प्रभावों से उत्पन्न माने जाते हैं। प्रत्येक वस्तु या व्यक्ति की अलग अलग माना भी हो सकती है। जो वस्तु या व्यक्ति जितना ही असाधारण है उसकी माना उतनी ही उच्च है। पालीनेशिया की सामाजिक प्रतिष्ठा-परम्परा (Social Status System) माना की धारणा पर आधारित है। वहाँ राजा की माना सर्वोच्च मानी जाती है, जिसके कारण, राजा सवसाधारण के सम्पर्क से दूर रहता है। जब माना या आधिदैविक आत्मा के प्रभाव के कारण, किसी पवित्र पदार्थ के प्रति सम्मान और पूजा (Veneration) का भाव विकसित होता है तो वह पर्यटिग (Fetich) का रूप ले लेता है। मामूली या कीमती पत्थर, उपकरण (औजार) पद पहाड़ और कला की पवित्र वृत्तियाँ बहुधा पर्यटिग के रूप में पाई जाती हैं। पर्यटिग वही पदार्थ होता है जो कल्पों (Rituals) से सम्बन्धित होने के कारण, पवित्र और असाधारण गुण वाला माना जाता है।

टबू (Taboo) पौराहित्य कर्म (Priestcraft) और आषड्ती (Shamanism) धर्म और जादू का बाह्य रूप हैं। टबू धर्म जादू और टोटेम के साथ लिप्त रहता हुआ सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करता है। माना और टबू का, जैसा कि पालीनेशिया के सांस्कृतिक उदाहरणों से स्पष्ट है, घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। पालीनेशिया में उच्चतर माना वाले व्यक्ति का अंग और उसकी वस्तुओं का छूना, निम्नतर माना वाले व्यक्ति के लिए टबू है। पौराहित्य कर्म (Priestcraft) और आषड्ती (Shamanism) आधिदैविक के प्रति व्यवहार करने तथा उसके सम्पर्क में आने के दो तरीके हैं। पौराहित्य कर्म धार्मिक कमकाण्ड की विशेषता है और आषड्ती जादूई कमकाण्ड की। पुराहित और ओका मानव तथा आधिदैविक के बीच की कड़ी है। आदिवासी समाज में दोनों संस्थागत नस्ल के, एक पट्टू विनोय के, अधिष्ठाता होते हैं। पुजारी का सम्बन्ध प्रार्थना से होता है और ओका या तांत्रिक का आधिदैविक पर नियंत्रण पाने से। आषा का आदिवासी समाज में निषिद्ध माना जाता है। हिन्दुत्व के दृष्टिकोण से, पुराहित निगम परम्परा का कमकाण्डों कहा जा सकता

है और जो भी या तान्त्रिक याममार्गी परम्परा का ।

कल्प (Ritual), अनुष्ठान (Ceremony), पूजा पद्धतियाँ (Cults) और पौराणिक कथाएँ (Mythology) धर्म और जादू के नियामक पक्ष हैं। आधिदैविक संसम्बन्धित तथा एक पूर्वनिर्धारित और निश्चित ढंग से की जाने वाली धार्मिक या जादुई क्रिया वरूप है। एक समय में किये जाने वाले अनेक अंतस्सम्बन्धित कल्पा से एक अनुष्ठान बनता है। जिसे अंग्रेजी में सेरेमनी (Ceremony) कहा जाता है, उसमें अनुष्ठान और संस्कार दोनों आते हैं। शिव की पूजा में 'आरती' कबल एक कल्प है लेकिन शिवलिंग का स्नान दूध और बेल्पत्र का जपण, भांगा और आघमन इत्यादि कई कल्पा से मिलकर शिव-पूजा का अनुष्ठान बनता है। विवाह एक संस्कार है किंतु कल्याण एक कल्प (Ritual)। कल्प तथा अनुष्ठान संस्कार दो श्रेणियों में आते हैं—एक श्रेणी में जन्म नामकरण वयसर्पि (Puberty) विवाह बीमारी और मृत्यु से सम्बन्धित कल्प तथा अनुष्ठान आते हैं और दूसरी में उन संकटा से सम्बन्धित कल्प और अनुष्ठान आते हैं जो सारे समुदाय का प्रभावित करते हैं। पूवजपूजा, मतका की पूजा, प्रकृतिपूजा पशुटिशवाद (Tetishism) और दही देवताओं की पूजा, पूजा पद्धति व वे सामाज्य रूप हैं जो आदिवासी समाज में आमतौर से मिलते हैं। पौराणिक कथाएँ व वास्तविक कथाएँ हैं जो पानो और घटनाओं द्वारा, जादुई तथा धार्मिक विश्वासों, कल्पा अनुष्ठानों और पूजापद्धतियों के औचित्य का प्रतिपादन करती हैं। भारत का सारा पौराणिक साहित्य विभिन्न देवी देवताओं, उनकी उत्पत्ति, मूर्ति और उनसे सम्बन्धित पूजा पद्धति तथा उनकी महत्ता का प्रतिपादन करता है।

धर्म और जादू पाना आधिदैविक से सम्बन्धित है किंतु वे आधिदैविक नहीं हैं। दोनों का नियामक पक्ष संस्कृति में है और व्यक्तिगत तथा सामूहिक पक्ष समाज में दुरस्त्रेय पहल समाजशास्त्री य जि दोनों इस बात पर जोर दिया कि धर्म और जादू मूलतः सामाजिक वास्तविकताएँ हैं यद्यपि जादू की अपेक्षा धर्म अधिक सामाजिक है यद्यपि धर्म समष्टिवादिता का प्रोत्साहित करता है। धार्मिक विश्वास, दुरस्त्रेय के अनुसार उन्ही सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं जहाँ, "व्यक्ति के स्थान पर समूह की महत्ता अधिक होती है।" लोहार मनाना इसका एक उदाहरण है। इन परिस्थितियों में धर्म, समूह के परमात्मवृष्ट तथा सर्वशक्तिशाली रूप को प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति पर समष्टि का भौतिक और नैतिक प्रभुता का प्रतीक है। जादू दुरस्त्रेय के अनुसार व्यक्ति पर समष्टि की नैतिक और भौतिक प्रभुता का प्रतिपादन नहीं करता है। इसकारण वह असामाजिक है। समष्टिवादिता का प्रोत्साहित करने के कारण, धर्म पवित्र है और व्यक्तिवादिता का प्रोत्साहित करने के कारण जादू अपवित्र है।

धर्म समष्टिवादिता और सामूहिक मन की ही अभिव्यक्ति है। दुरस्त्रेय के इस

मत से लागू सहमत नहीं हैं। फिर भी दुरस्तेम के मत के प्रभाव से, धम और जादू को उनकी सामाजिक महत्ताओं के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की ओर प्रथम अवश्य उठे हैं। रेडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, धम और जादू के द्वारा व्यक्ति को उन सामाजिक आदर्शों का मानन के लिए बाध्य होना पड़ता है जो समाज की अतिजीविता के लिए आवश्यक है। आधिदैविक नियंत्रण और दंड की धारणा और धार्मिक तथा जादुई नियमों सम्बन्धी सामाजिक मान्यताएँ, व्यक्ति को धार्मिक तथा जादुई विश्वास और प्रथाओं के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य करती है। धार्मिक तथा जादुई नियमों सम्पूर्ण सामाजिक नियम का एक घग है। सम्पूर्ण सामाजिक नियम का काय है समाज की अतिजीवी बनाना। जादुई तथा धार्मिक क्रियाएँ इसी सम्पूर्ण सामाजिक नियम का अपना योगदान प्रदान करती हैं। मल्लिनास्की के अनुसार, धम और जादू का सम्बन्ध मानव की उन भावात्मक अवस्थाओं से है जहाँ भावी अनिष्ट की आशंका होती है। धम और जादू के द्वारा, भावी भय का का डर दूर होता है और मनुष्य, आत्मापूरा मानसिक परिस्थितियाँ में, मानसिक तनाव से बच जाता है। मल्लिनास्की के मत में धम और जादू भावात्मक सुरक्षा की आवश्यकता का पूरा करते हैं और रेडक्लिफ ब्राउन के मत में, सामाजिक अतिजीविता की आवश्यकता को। दोनों मतों में विरोध सा जान पड़ता है यद्यपि उनमें विरोध नहीं है। धम और जादू व्यक्ति और समूह का मानसिक सुरक्षा भी प्रदान करते हैं और सामाजिक संरचना की अतिजीविता भी। उदाहरणार्थ जब बैचक का प्रवास हान पर अवध के गाँव के लोग, देवी का प्रार्थन करने के लिए सामूहिक अनुष्ठान का आयोजन करते हैं तो उसमें विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न भूमिकाओं में अपना योग देते हैं। भाली दबी के सेवक के रूप में पूजा का सामान और चढ़ा इकट्ठा करता है और ब्राह्मण अनुष्ठान का सम्पादन करता है। यहाँ यदि, एक ओर, जाति प्रथा के कार्यात्मक पहलू का तत्व आता है तो, दूसरी ओर मानसिक सुरक्षा प्राप्ति का भी।

भारत के आदिवासी धर्मों का वास्तविक रूप क्या है, इस पर मतभेद रहा है। भद्रजी राज्य काल में, जनगणना के लेखकों ने आदिवासियों का हिंदुओं के अलग एक सामाजिक इकाई मानकर आदिवासी धर्म का हिंदुत्व आविवासी से भिन्न माना और उसे एनिमिज्म (Animism) की सत्ता दी। धम आदिवासी धर्म को एनिमिस्टिक (Animistic) या तत्त्वचैतनावादी कहने का यह अर्थ होता है कि उसमें केवल आधिदैविक आत्माओं की पूजा और जादुई नमस्कार के अभाव और कुछ नहीं है। यह अवश्य है कि भारत के आदिवासियों का धर्म एनिमिज्म की ओर कुछ अधिक झुका हुआ है

किन्तु न ता आदिवासी धर्म कोरी एनिमिज्म है और न केवल आदिवासी ही एनिमिस्टिक (Animistic) हैं। एक विकसित दशन के साथ साथ, हिन्दुओं में भी एनिमिज्म (Animism) के प्रभाव पाये जाते हैं। आदिवासी और हिन्दू दोनों पूजकों और मतकों की पूजा करते हैं। बोरवा गणजाति के लोगो में ईश्वर की अस्पष्ट धारणा पाई जाती है। गिब को हिन्दू भी पूजते हैं और भोल भी। हिन्दू और मुसलमान भी जादू टान में विश्वास करते हैं और आदिवासी भी। हटन ने हिन्दुत्व और आदिवासी धर्म को अलग-अलग मानते हुए भी, इस बात पर जोर दिया है कि चूँकि दोनों का विभिन्न स्तरों पर विभिन्न मानाओं में सम्मिश्रण हुआ है इसलिए, दोनों में स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना कठिन है। आदिवासी धर्मों में, हटन के अनुसार, उस विषय वस्तु का बाहुल्य है जिसके आधार पर उत्तरवर्तिक हिन्दुत्व का निमाण हुआ है और जो आज भी हिन्दुत्व के बाहर एक ऐसी अतिरिक्त विषय वस्तु है जिसका हिन्दुत्व के मंदिर में निमाण होगा बाकी है। दूसरे शब्दों में हिन्दुत्व में आदिवासी धर्म के तत्व हैं और आदिवासी धर्म में हिन्दुत्व के किन्तु फिर भी आदिवासी धर्म अधिकतर हिन्दुत्व के बाहर हैं और अभी उन पर हिन्दुत्व की मुहर नहीं लगी है।

एल्विन के अध्ययनों में इस बात पर जोर है कि आदिवासी धर्मों और हिन्दुत्व में अंतर करना निरर्थक है क्योंकि आदिवासी और हिन्दू सस्कृतियाँ मूलतः सम्पर्क और सस्कृतिकरण हुआ है कि जहाँ निम्नस्तर के हिन्दू आदिवासी लगते हैं वहाँ गोड, भोल और राँची के आस पास के आदिवासी वस्तुतः हिन्दुत्व आदिवासी। एल्विन के अनुसार आदिवासी सदैव एक दो अधिक देवताओं की पूजा करने के लिए तत्पर रहता है वहाँ कि वसा बरन से उह कुछ पार्थिव या सामाजिक लाभ है। सामाजिक लाभ की लालसा न ही आदिवासियों को हिन्दुत्व की ओर आकर्षित किया है। बुद्धवादी आन्दोलन में यन्त्रि वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी तो उसमें आदिवासियों के हिन्दूकरण का प्रच्छन्न प्रयास भी। आदिवासी हिन्दू सम्पर्क में यदि कुछ आदिवासी देवताओं का अपकष हुआ है तो कुछ का उत्कष भी। हिन्दुत्व में आगम नियम का विमर्श और समन्वय हिन्दू आदिवासी के ऐतिहासिक सम्पर्क की ही देन है। घुरे ने एल्विन और हटन के मत का दूसरे दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया है। जब हिन्दुत्व और आदिवासी धर्मों में अंतर नहीं किया जा सकता है और आदिवासी धर्मों में वे तत्त्व विद्यमान हैं जिनसे उत्तरवर्तिक हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है तो जसा कि घुरे का मत है, आदिवासी हिन्दुता में भिन्न नहीं हैं। आदिवासी वस्तुतः पिछड़ हुए हिन्दू हैं।

घुरे के मत में बहुत कुछ साधकता है क्योंकि आदिवासी उत्तरात्तर हिन्दूकरण की ओर बढ़ते रहें हैं। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है यद्यपि योरोप और ईसायितों के प्रभाव ने इस आदिवासी पुनरुत्थान की ओर मोड़ दिया है। साथ ही साथ इसे भी प्रस्वाचार नहीं किया जा सकता कि पार्थिव या सामाजिक लाभ के लिए, एक-दो अधिक देवताओं का स्वीकार करने के लिए आदिवासी ने केवल हिन्दू देवताओं

को ही नहीं अपनाया है। जहाँ आदिवासी ने इस्लाम को अपनाया है, वहाँ वह अपनी विशिष्टता खो बैठा है। इसाईयत को अपनाकर, इसाईयत, यारापीयता तथा आदिवासी धार्मिक विश्वास और प्रथाओं से आदिवासी ने एक विशिष्ट धर्म संकुल (Religious Complex) का निर्माण किया है, जिसके कारण भारत का इसाई आदिवासी न तो योरोपीय अर्थ में इसाई है और न आदिवासी अर्थ में आदिवासी। वर्तमान भारत में, कहीं आदिवासी बौद्ध हिन्दू है, कहीं बौद्ध इसाई और कहीं कहीं आदिवासी, जिनमें धार्मिक चेतना ही नहीं है। इसीलिए, धर्म के मत का एक प्रकार का उग्र, अतिवादी राष्ट्रीय मत भी कहा गया है। वर्तमान आदिवासी धर्म हिन्दुत्व, इसाईयत और आदिवासी धर्म के सीमांत धर्म (Marginal Religions) हैं अर्थात् आदिवासी धर्म, एक ओर, हिन्दुत्व और इसाईयत की सीमा पर है और, दूसरी ओर, अपने प्राचीन धार्मिक तथा जादुई विश्वास और प्रथाओं की सीमा पर। इन मिश्रण के जा परिणाम हैं, उनका आगे वर्णन किया जायेगा क्योंकि आज सीमान्तता (Marginalities) की समस्या आदिवासी धर्म की ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण आदिवासी संस्कृति की समस्या है।

बीसवाँ अध्याय

आदिवासीत्व, हिन्दुत्व और योरोपीय सभ्यता

आदिवासीत्व (Tribalism) प्रतीक है उन सामाजिक सांस्कृतिक विक्षोभिताओं का जिनका आदिवासी समाज संस्कृति समुह के अंतर्गत विक्षोभित किया गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, गणजाति संगठन प्रणाली आदिवासीत्व का मूलधार है। गणजाति जमा बि पहले लिखा जा चुका है एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक क्षेत्र विशेष में फैले रहते हैं मुख्यतया ॥ तबवाही हाते हैं, जिनमें आदिवासी कार्यो का विशेषीकरण नही होता है क्योंकि वे जीवन के लिए आवश्यक सभी प्रकार की उपलब्ध आर्थिक क्रियाओं को करते हैं, जिनकी एक सामान्य भाषा या बोली होती है जिसके कारण उन्हें एक विनिष्ट सामाजिक समूह का रूप मिलता है जो पचासता में संगठित होने के, जिनके मुखिया अधिकतर वंशानुगत होते हैं जो अपनी विनिष्ट परम्पराओं, प्रथाओं और विश्वासों (जो विवाह परिवार कलान, टांगे और धर्म तथा जादू सम्बन्धी विश्वास और प्रथाओं) का पालन करते हैं, जो बाह्य प्रभावों और विचारों के सामीकरण के प्रति अनुत्तर और अपने समूह की पद्धतिक तथा क्षत्रीय एवता तथा सजातिता के प्रति सजग रहते हैं। गणजाति का

आन्तरिक सगठन उसे विशिष्टता प्रदान करता है। गणजाति सगठन में तीन प्रकार के समूह पाए जाते हैं—परिवार, क्लान, म्वायटी, फ़टरी और युवाह जैसे समूह जो सामाजिक जीवन का आधार हैं, काय विभाजन के आधार पर नर नारियों का आर्थिक समूहों में विभाजन या आर्थिक जीवन का आधार है, पचायत-समूहों में विभाजन या आदिवासी समाज के आदर्श नियमों के नियमन का माध्यम है और, धार्मिक तथा जादुई कृत्यों को सम्पन्न करने वाले समूह जिनसे आधिदैविक के माध्यम से व्यक्ति और समाज का जीवन नियमित होता है।

गणजाति का एक आत्मनिर्भर तथा धर्मसापक्ष राजनैतिक सामाजिक सगठन में सगठित होना, आदिवासीत्व की प्रधान विशेषता है। हिंदू समाज में जातियाँ एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं किन्तु गणजातियाँ बहुधा परस्पर स्वतन्त्र होती हैं। छोटा नागपुर के पास रहने वाली मुण्डा और ओराओ गणजातियाँ इसका उदाहरण हैं। आदिवासी सामाजिक सगठन में गणजाति का आन्तरिक सगठन महत्वपूर्ण होता है। आन्तरिक सगठन के दृष्टिकोण से, गणजातियों में अन्तर पाया जाता है क्योंकि गणजाति की सामाजिक इकाइयाँ (Social Units) की सगठन व्यवस्था सभी गणजातियों में एक सी नहीं है। टी० सी० दास का मत है कि विवाह का नियमन, गणजाति की इकाइयों (परिवार, क्लान और टोटम इत्यादि) का प्रधान कार्य है। गणजाति की सामाजिक इकाइयाँ अन्तर्वैवाहिकी और बहिर्वैवाहिकी का नियमन करती हैं। अतः, इस दृष्टिकोण से, गणजातियों को सात श्रेणियों में रखा जा सकता है।

अन्तर्विवाही स्थानीय समूहों तथा बहिर्विवाही परिवारों में बड़ी अन्तर्विवाही गणजाति पहली श्रेणी में बहिर्विवाही म्वायटियों (Moieties) तथा परिवारों में बड़ी अन्तर्विवाही गणजाति तीसरी श्रेणी में, बहिर्विवाही फ़टरियों (Phratries) क्लानों और परिवारों में बड़ी अन्तर्विवाही गणजाति चौथी श्रेणी में, बहिर्विवाही म्वायटियों (Moieties), फ़टरियों (Phratries), क्लानों और परिवारों में बड़ी अन्तर्विवाही गणजाति पाँचवीं श्रेणी में, बहिर्विवाही उपगणजातियों (Sub Tribes), क्लानों और परिवारों में बड़ी अन्तर्विवाही गणजाति छठी श्रेणी में और अन्तर्विवाही गणजाति सातवीं श्रेणी में आती है। यह वर्गीकरण अन्तिम नहीं है। वास्तव में, कोई भी वर्गीकरण न तो अन्तिम है और न हो सकता है क्योंकि प्रत्येक वर्गीकरण वर्गीकृत प्रभु की किसी न किसी एक आधारभूत विशेषता पर आधारित रहता है। जब किसी दूसरी विशेषता के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है, वहाँ वर्गीकरण उस वर्गीकरण से बदल जाता है जो किसी अन्य विशेषता पर आधारित है¹।

हिन्दुत्व और आदिवासीत्व

गणजातियों के सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक प्रथाओं पर बाह्य सस्कृतियों का निश्चित प्रमाण मिलता है। जो गणजाति बाह्य सस्कृति या सस्कृतियों का सम्पर्क में जितना अधिक आई है उस पर बाह्य सस्कृति का उतना ही अधिक प्रभाव देखने में मिलता है। जो गणजाति जितना अलग रही है उस पर उतना ही कम। किंतु यह साचना कि किसी गणजाति को शुद्ध आदिवासी सस्कृति है, सिद्धांततः गलत है, क्योंकि सस्कृति सम्पर्क सस्कृति प्रसरण (Diffusion of Culture) के द्वारा भी होता है। बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों के साथ सस्कृति सम्पर्क के प्रवाह की माना भी घटती बढ़ती रही है। भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से यातायात के साधनों के बढ़ने के साथ साथ सस्कृति सम्पर्क की तीव्रता और भी बढ़ गई है। द्वितीय महायुद्ध में जब भारत वर्मा की सीमा युद्ध स्थल बनी और रांची पूर्वी बर्मान का प्रधान कार्यालय बना तो आदिवासी और भी सम्पर्क का सम्पर्क में आये। लेकिन यहां विचारणीय यह है कि हिन्दुत्व बुद्धवाद इस्लाम, मध्यकालीन भारत के समाज सुधार आन्दोलन, इसाईयत और योरोपीय सभ्यता के प्रभावों के बाद भी आदिवासीत्व की विशिष्टताएँ बनी रही और अनेक विनिष्ठाएँ विनष्ट होकर आदिवासी सस्कृति का विशिष्ट अंग बन गई। प्रत्येक गाँव गाँव में एका ही पक्ष के करने वाले विधायन पाये गये हैं। प्रत्येक गाँव के व्यक्ति अपने पैसे की बचत ही रक्षा करते हैं जैसे एक ट्रेड यूनियन के सदस्य। दूसरी ओर आदिवासी सस्कृति की अनेक विशिष्टताएँ भारतीय सस्कृति के ताने बान में बुन गई हैं।

हिन्दुत्व का अभ्युदय ही आय आदिवासी सस्कृति के उत्तरोत्तर सामंजस्य से हुआ है। आदिवासी द्राविड सम्पर्क में अनेक गणजातियों का द्राविडीकरण और अनेक द्राविड-समूहों का आदिवासीकरण हुआ। सस्कृति सम्पर्क की इस प्रागति सांस्कृतिक प्रक्रिया के बारे में हमारा ज्ञान अल्प ही है। प्रारम्भिक सस्कृति साहित्य में 'दास', 'दम्प', 'निपाद' और 'किरात' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो, विद्वानों के अनुसार, आर्यों द्वारा यहां के आदिवासियों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं और जो आय तथा आदिवासी सस्कृतियों के सम्पर्क के प्रमाण हैं। भारत के प्रागण में आर्यों का ज्यादा प्रसार हुआ, यह सम्पर्क और भी बढ़ता गया। इस सम्पर्क में आर्यों ने आदिवासियों से अपने का अलग भी रखा उन्हें भत्सना की नजर से भी देखा किन्तु उनमें साथ सम्पर्क भी स्थापित किया। इरावती नदी का ऐसा मत है कि आदिवासियों के पास के लोग आर्यों के पास के लोग के सम्पर्क में आय और सामाजिक के लिए सामाजिक के लोग के सम्पर्क में। आदिवासी आय-सस्कृति सम्पर्क में गणजातियों में विलीन अभिवर्णन उत्पन्न हुआ। अनुलोम और प्रति-

राम विवाहो के मिद्वान्त इस वान का प्रमाण है कि आय और आदिवासी सम्पन्न किस प्रकार का था। इस सम्पन्न में सम्पन्न की अभिलाषा भी है और अलग रहने का भावना भी। आयों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वश्य तीन वर्णों का ही वर्णन मिलता है। गुरु वर्ण में मुख्यतया यहाँ के आदिवासी ही आये। विद्वानों का मत है कि, मूलतः, गुरु किसी एक गणजाति का नाम था जो कालांतर में उन लोगों का प्रतीक बना जा, आय वर्ण-व्यवस्था में कृषक और सबक के रूप में, विभिन्न गणजातीय इकाइयों के रूप में मर्मठित हुए।

वर्ण परचनता में ज्या-ज्या गणजातियाँ का समावेश हुआ त्यो त्यो क्षत्रों और षाण्डालों की संख्या बढ़ी और वैश्य का स्तर ऊँचा हुआ। बौद्धकाल में वा मुख्य विकास मिलते हैं—एक वैश्यों की उठती हुई सामाजिक प्रतिष्ठा और, दूसरी, आदिवासी समाज के उत्तरोत्तर विघटन से बढ़ती हुई विक्षिप्तता। इसीलिये एक मत यह भी है कि बौद्धवाद, वस्तुतः उत्तरोत्तर विभूतलित आदिवासी समाज की बौद्धिक परम्पराओं के प्रति प्रतिक्रिया है। यही कारण है कि बौद्धवाद से बौद्धिक परम्पराओं के प्रति प्रतिक्रिया भी है और उनके नवनिवचन का प्रयास भी ताकि वर्ण व्यवस्था में सगठित व्यवहार वर्ग को अधिक सपाहृत स्थान प्राप्त हो सके। मज्जमदार ने लिखा है कि पाली साहित्य से यह प्रमाण मिलता है कि श्रमिक न लका का जा अभियान भजा था उसमें टाटेमवादी समूहों के लोग भी थे। बौद्धवादी परम्परा मध्यकालीन भारत के सुधारवादी निगुण सम्प्रदायों के रूप में प्रस्फुटित हुई। बुलसीदास ने जहाँ बौद्धिक परम्परा के प्रतिरोपण का प्रयास किया, वहाँ कबीर-पंथियों, सतनामियों, दादू पंथियों, और रविदामपंथियों ने बौद्धिक परम्परा के उस सुधारवादी पक्ष पर जोर दिया, जिस पर बौद्ध पहले ही जोर दे चुके थे। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य ऐतिहासिक तथ्य यह है कि इन सुधारवादी पंथों का प्रभाव और प्रसार समाज के उस स्तर में हुआ जहाँ जाति और गणजाति का अंतर नगण्य था। वही प्रदेश इन पंथों के प्रभाव में आये जहाँ आदिवासी जनसंख्या का बाहुल्य रहा है—जैसे पूर्वी उत्तरप्रदेश बिहार और मध्यप्रदेश। बौद्धिक परम्पराओं के प्रसार की यह प्रक्रिया वर्तमान समय तक चलती रही है जिसे योरोप और इसाईयत के श्रमिक से एक दूसरी गति और दिशा मिली है। श्रीनिवास के ग्रन्थों में इस प्रक्रिया को सन्स्कृताइजेशन (Sanskritization) कहा जा सकता है।

श्राविड, आदिवासी और आय मस्त्रुतियों के सम्बन्ध से हिन्दुत्व का अन्वयण हुआ जिसके सामाजिक-सांस्कृतिक आधार बने नैतिवात् बहुदेववाद, स्याद्वाद धर्म की धारणा, पुनपाय वर्ण और जातिव्यवस्था तथा कर्मसिद्धान्त। इन आधारों में मिलकर जा समाज मस्त्रुति-मनुष्य बनता है वही सन्स्कृताइजेशन का मूल है। मस्त्रुता-इजेशन के आधार पर, हिन्दुत्व एक उत्तरोत्तर विकसित सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रिया

ही है, जिसके कारण ब्रिटिश परम्पराओं के विरुद्ध उठने वाले आन्दोलन भी हिन्दुत्व समा गये और विभिन्न गणजातियों को समय समय पर, हिन्दुत्व में स्थान मिलता रहा है। संस्कृताइजेशन हिन्दुत्व में सामाजिक चलिष्णुता (Social Mobility) का प्रधान माध्यम रहा है जिसके कारण आदिवासी समूह हिन्दुत्व में आने के लिये प्रेरित रहे हैं और जिसके कारण हिन्दुत्व एक और सामाजिक शक्ति रहा है। हिन्दुत्व इस उत्तरोत्तर विकास के लिए, संस्कृताइजेशन का प्रयास सबसे पहले विनयकुमार सरकार ने किया था किन्तु उन्होंने संस्कृताइजेशन और हिन्दूकरण (Hinduization) में अंतर नहीं किया है¹। किन्तु जसा कि भोलू जसी गणजातियों के उदाहरण से स्पष्ट है, यह आवश्यक नहीं कि संस्कृताइजेशन हिन्दूकरण में ही दिख जाय। संस्कृताइजेशन एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम में विभिन्न जातियाँ और गणजातियाँ अपना सामाजिक स्तर उठाने का प्रयास करती रही हैं और आदिवासी हिन्दुत्व के तत्त्वा का आत्मसात करत रहे हैं। संस्कृताइजेशन हिन्दूकरण में बदल भाग लेता है और नहीं भी।

संस्कृताइजेशन हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के सम्पर्क का माध्यम रहा है। हिन्दुत्व और आदिवासीत्व संस्कृताइजेशन के दो किनारे रहे हैं। संस्कृताइजेशन भारतीय सांस्कृतिक सतति (Cultural Continuum) का मुख्य आधार है। संस्कृताइजेशन के दृष्टिकोण से, मजूमदार ने भारत की गणजातियों का तीन श्रेणियों में बाँटा है। पहली श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जो हिन्दू प्रभावों के बाहर हैं, और सही अर्थों में आदिवासी हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संस्कृति बाह्य संस्कृति या संस्कृतियों के प्रभाव में बिल्कुल ही नहीं आई है। दूसरी श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जिन्होंने हिन्दू प्रभाव और विश्वासों का अपनाकर सांस्कृतिक प्रगति भी की है और हिन्दुत्व के सम्पर्क में भी आई हैं किन्तु जो अनुसूचित जातियाँ नहीं गिनी जाती हैं। तीसरी श्रेणी में वे गणजातियाँ आती हैं जो हिन्दू हो गई हैं किन्तु उच्च जातियों के सामाजिक सम्पर्क में नहीं हैं यद्यपि उनमें और अनुसूचित जातियों में अंतर करना कठिन है²। किन्तु एक चौथी श्रेणी भी है जो, आदिवासी के स्तर से उठकर, हिन्दू समाज में मिल गई है। यह वह स्तर है जहाँ गणजाति ने जाति का, विशेषतः अनुसूचित जाति का, रूप ले लिया है और हिन्दुत्व के मूल तत्त्वाओं में अपना लिया है किन्तु, आदिवासीत्व से भी उसका सम्पर्क बना हुआ है। यहाँ धर्म और जादू एक में मिले हैं और गोत्र का रूप ब्रिटिश न होकर टाटमवादो है। यह वह स्तर है जहाँ जातियाँ नहीं गणजातीय जातियाँ (Tribe Castes) पाई जाती

1 विनयकुमार सरकार कृत दि पाब्लिक अफेयर्स आफ हिन्दू सोशियोलॉजी

2 मजूमदार, डी० एन० मद्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 131

रूप है। हाँ यह अवश्य है कि निम्नस्तर की जातियों में पचायत प्रणाली अधिक सुदृढ़ है। गणजाति अपने क्षेत्र की मूलनिवासी ही है ऐसा नहीं है। उड़ीसा के खाटा का यह विश्वास है कि व काडमल के मूलनिवासी नहीं हैं। गणजाति के युवागृह जैसे सगठन जाति में नहीं पाये जाते हैं। गणजातियों में जादूमिश्रित धार्मिक प्रथाएँ अधिक पाई जाती हैं और जातियों में ब्राह्मणवादी कमकाण्ड पर आधारित प्रथाएँ। किन्तु यह भी अंतर विक्षेप नहीं है। रांची के आस पास के आदिवासी ब्राह्मणवादी कमकाण्ड का प्रयोग करने लग हैं।

मक्स वेबर¹ के अनुसार, जो समूह सही अर्थों में जाति है उसका कोई निश्चित क्षेत्र नहीं है जबकि गणजाति का तबतक एक निश्चित क्षेत्र रहता है जबतक कि उसके सदस्यों की स्थिति परिया (Pariah अर्थात् बहिष्कृत) सागो की नहीं हो जाती है। परिया स्तर पर आने पर गणजाति जाति के स्तर पर आती है क्योंकि तभी उस हिंदू समाज में स्थान मिलता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जब गणजाति की सामाजिक-आर्थिक आत्मनिभरता समाप्त होती है, तो वह गणजाति न रहकर जाति हो जाती है क्योंकि गणजाति के सदस्य, जसा कि पहले लिखा जा चुका है अपने आर्थिक विकास के स्तर के अनुसार, उन सभी सम्भव आर्थिक क्रियाओं को अपनाते हैं जो जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक हैं। साधारणतः एक गणजाति का आर्थिक जीवन किसी दूसरी गणजाति पर निर्भर नहीं करता है जबकि एक जाति का आर्थिक जीवन दूसरी जाति पर निर्भर करता है। एक जाति के सदस्यों का साधारणतया एक ही पेशा होना है और यदि एक जाति के लोग यह पगो को करते भी हैं तो उनका क्षेत्र सीमित होता है। भगी ब्राह्मण का पेशा नहीं अपनाता है और न ब्राह्मण भगी का। प्रत्येक जाति के आर्थिक कार्यों का क्षेत्र भी सीमित होता है। किन्तु एक गणजाति के सदस्य श्रमिक भी हो सकते हैं आलेटक भी, पुरोहित भी और शिल्पी भी।

जाति एक बड़े समाज (हिंदू समाज) का एक खण्ड होती है और अपने ही जैसे अन्य खण्डों पर निर्भर करती है। प्रत्येक गणजाति अपने में एक आत्मनिभर समाज समुदाय होती है। प्रत्येक जाति की, परम्परानुसार एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा होती है और विभिन्न जातियों के सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक प्रतिष्ठा संचालनपरम्परा (Hierarchy of Social Status) पर आधारित होते हैं। एक जाति के सदस्यों की एक ही सामाजिक प्रतिष्ठा होती है जबकि, एक गणजाति में विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठानों वाले लोग पाये जाते हैं। जाति सगठन सामाजिक प्रतिष्ठा और वेने पर आधारित सामाजिक समूह होना है, जो गणजाति नहीं है। सामाजिक आदत नियमों (Social Norms) के दृष्टिकोण से, जाति और गणजाति

में अंतर होता है। वेबर के अनुसार, अन्तर्वैवाहिकी जाति की एक निश्चित विशेषता है न कि गणजाति की। किन्तु, मजूमदार इसमें सहमत नहीं है। उनके अनुसार, भारत में, अन्तर्वैवाहिकी गणजाति की वैसे ही एक सामान्य विशेषता है जैसे जाति की। वेबर के अनुसार कुछ दशाओं में गणजाति में अन्तर्वैवाहिकी अवश्य पाई जाती है किन्तु वह सम्पूर्ण गणजाति पर लागू नहीं होती है। वेबर का इशारा सम्भवतः इस तथ्य की ओर है कि गणजाति के अभिजान वर्ग के लोग गणजाति के बाहर विवाह कर लेते हैं। लेकिन यह सर्वमान्य नियम का अपवाद है। गणजाति में अन्तर्विवाह प्रचलित नहीं, एक सर्वमान्य नियम है। गणजाति में टाउट समूह, ग्राम समुदाय तथा क्लान बहिर्वैवाहिकी साथ साथ पाये जाते हैं। ऐसे सामाजिक आदेश नियम जाति संगठन में नहीं हैं। खाद्य अन्धास तथा दूत अदूत और खान पान के नियम जाति से सम्बंधित हैं गणजाति से नहीं।

वेबर के अनुसार गणजाति मूलतः और सामान्यतः एक राजनतिक इकाई है। जाति किसी भी दशा में राजनतिक सच नहीं है। यदि जाति सच का रूप लेती भी है तो वह व्यापारी और शिल्पी गिल्ड (Merchant & Craft Guild) का रूप लेती है न कि राजनतिक सच का। जाति तो उस सामाजिक समुदाय का अंग है जिसमें राजनतिक संगठन में जाति स्वयं संगठित रहती है। जाति के लिये न तो आवश्यक है और न जाति कोई ऐसी नियमित समिति है जो कबल एक ही राजनतिक सच के अंतर्गत हो। जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जो राजनतिक सच की सीमाओं के या तो इस पार पड़ता है या उस पार। किन्तु, यहाँ पर विचारणीय यह है कि धात्र न तो गणजाति एक आधुनिक राजनतिक सच है और न जाति। साथ ही साथ, यह भी विचारणीय है कि भारत में जाति और गणजाति दोनों की राजनतिक सत्ताएँ मजबूत के अधीन रही हैं यद्यपि एक सीमा तक दोनों को स्वतंत्रता रहा है। आज भी सामाजिक जाति और गणजाति के निर्णय पर ध्यान दिया जाता है यद्यपि सामाजिक जाति और गणजाति की पंचायतों के बदलने का अधिकार है। और फिर न तो कोई जाति एक ही पंचायत के अंतर्गत संगठित रहती है और न एक गणजाति ही। जाति पंचायत की संस्था निम्नस्तर की जानियों में पाई जाती है जिनका सामाजिक संगठन गणजाति के अधिक समीप है। राजनतिक संगठन के तत्त्व जाति और गणजाति दोनों में पाये जाते हैं किन्तु उनकी सांस्कृतिक सामाजिक अभिव्यक्ति अलग-अलग है।

उड़ीसा के साडा में किये गये जपन एक अध्ययन का आधार पर बेली¹ ने जाति और गणजाति के संगठनों में निहित राजनतिक व्यक्तियों का इस प्रकार स्पष्ट किया है। गणजाति में पंचायत संगठन का आधार क्लान है जो संघाती मित्रता

पर मगठित है। अतः बेली के अनुसार सपिण्डी सम्बन्धी प्रणाली (Aganatic Kinship) पर आधारित खण्डात्मक (Segmentary) राजनैतिक प्रणाली गणजातीय है। सपिण्डी सम्बन्धी प्रणाली पर आधारित होने के कारण गणजातीय राजनैतिक प्रणाली खण्डात्मक होने के साथ साथ सिद्धान्तगत समतावादी हो जाती है। बेली के अनुसार जाति और गणजाति एक ही मतति (Continuum) के दो किनारे हैं जिसके एक किनारे पर राजनैतिक प्रणाली सपिण्डी खण्डात्मक और समतावादी है और दूसरे किनारे पर खण्डात्मक राजनैतिक सम्बन्ध पाये जाते हैं किन्तु सम्पूर्ण समाज के अनुपात में एक बड़ा ही सीमित दायरे में जहाँ अधिकतर लोग समाज नहीं पर अधिकता की भूमिका से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। विधायन जिसकी विधायता है वह राजनैतिक प्रणाली गणजातीय नहीं है। जाति प्रणाली आश्रितों (Dependents) को समन्वित करने में सूक्ष्म है जबकि गणजाति या तो लोगों को समान स्तर पर मगठित करती है या उन्हें छोड़ देती है।

राजनैतिक मगठन में जाति और गणजाति किस स्तर पर एक में मिलते हैं यह पहना कठिन है। हा एक समूह विधाय जाति है या गणजाति यह बेली के अनुसार इन आधारों पर निश्चित किया जा सकता है पहला गणजाति का अपने साधनों पर सीधा अधिकार रहता है दूसरा गणजाति का आर्थिक उत्पादन का लाभ किसी मध्यजन द्वारा नहीं मिलता है क्योंकि उसी सामाजिक प्रतिष्ठा (Dependent Social Status) दूसरे पर आधारित नहीं है तीसरा अपने क्षेत्र में आवासियों की रक्षा औरों की अपेक्षा अधिक होती है। बेली के अनुसार इन आधारों के बावजूद भी यदि किसी क्षेत्र में गणजाति के सदस्यों की संख्या वहाँ की जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम है तो यह गणजाति गणजाति नहीं जाति है। जाति गणजाति और राष्ट्र तीन अलग अलग राजनैतिक श्रेणियाँ (Political Alignments) हैं। अपर्याप्त साधनों का वितरित करने तथा पाने के लिये मगठित होकर प्रतिस्पर्धिता करने के तीन अलग अलग तरीके हैं। वे तीन क्षेत्र हैं जिनमें अलग अलग प्रकार के तीन समूह पाये जाते हैं। पहला गणजाति फिर जाति और फिर राष्ट्र का विकास हुआ है और इस राजनैतिक मगठन की वर्तमान मर्यादक प्रक्रिया में जाति और गणजाति या राजनैतिक अंतर समाप्त हो रहा है। पहले की व्यवस्था में गणजाति का मतलब जाति में था किन्तु आज गणजाति का मतलब राष्ट्र में है।

अधिकतर जातियाँ हिन्दूत तथा आश्रित अभ्यागत गणजातियों के जाति में रूपांतरित होने से विकसित हुई हैं। आश्रित अभ्यागत गणजाति व गणजाति है जो राजनैतिक पराधीनता में आ जाती है जिसकी भूमि विजितों के हाथ में चली जाती है जिसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो जाती है। और जो जीवन यापन के लिये विजिता या अपने पड़ोसियों पर निर्भर हो जाती है। यहाँ यह अवस्था है जिनमें एक सम्पूर्ण गणजाति के संरक्षक या एक गणजाति के एक वर्ग के सदस्य

या तो सबहारा वग म आ जात हैं, या लगानी कृषक हो जाते हैं या किसी पेशे या गिल्ड का अपनात हैं। इस अवस्था म आने वाले गणजाति समूह का वेबर ने परिया (Pariah) और आशित अम्मागत (Guest People) की संज्ञा दी है। यही आशित-अम्मागत जब एक पेशा विनोप अपने जीवन यापन का आधार बना लेते हैं (जबत जब उनम आर्थिक विशीकरण आ जाता है) हिंदू सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था म एक स्तर विनोप का प्राप्त कर लेते हैं, अपन आर्थिक जीवन यापन म अथ अपने जम समूह पर निर्भर हो जाते हैं और ब्राह्मणवादी कर्पाचार (Brahmanical Ritualism) का अपना लेते हैं, तो वे धीरे धीरे गणजाति स जाति म रूपांतरित हो जाते हैं।

जब तक एक गणजाति अपने निवास-श्रेण से बंधी रहती है, अपनी आदिवासी संस्कृति क संरक्षा को अपनाये रहती है, तब तक न तो वह ग्राम-समुदाय का अंग बनती है और न सामाजिक नियोग्यता का शिकार बनती है। किंतु, जहां एक गणजाति समूह या उसका कोई अंश, एक पेशा या औरों पर आर्थिक निर्भरता अपना कर, आदिवासी जीवन से हटता है, वहां वह, ग्राम सामाजिक अव्यवस्था में मिल कर अनसूचित जातियों की श्रेणी में पहुँच जाता है और बहिष्कृत या अनुसूचित जातियाँ (Exterior or Scheduled Castes) की सामाजिक निर्योग्यता (Social Disabilities) का प्राम्य हो जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभी अनुसूचित जातियाँ अस्पृश्य नहीं हैं। अनुसूचित जातियाँ में अछूत भी हैं और गुट भी। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि जाति में रूपांतरित होने पर, प्रत्येक गणजाति का एक ही स्तर नहीं मिलता है। वेबर के अनुसार, अथ बाबा के साथ साथ, हिन्दूकरण के समय जो गणजाति अपने क्षेत्र की निवासिनी और अपनी भूमि की अधिकारिणी रही है, उसे उस गणजाति की प्रपेक्षा, जो सबहारा वग में घाई है अधिक उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा मिली है। कृषक जाति (Agricultural Castes) की, अस्पृश्य या शिल्पी जातियों की अपेक्षा, उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है। जिस गणजाति में सेनानियों और योद्धाओं के रूप में हिंदू समाज में प्रवेश किया उसे औरों की अपेक्षा उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती रही है। अधिकतर राजपूत जातियाँ गणजाति के स्तर से आई हैं और उनको प्राप्त सामाजिक प्रतिष्ठा इस तथ्य की पुष्टि करती है। अपराधी गणजातियों का अस्पृश्य इस आर्थिक प्रक्रिया का दूसरा परिणाम रहा है जिसके व्यापक परिणाम अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद और भी प्रखर हो गए।

हिंदू समाज में पाई जाने वाली जातियाँ मुख्यतया दो बड़ी बड़ी श्रेणियाँ में आती हैं एक, पेशे पर आधारित (Professional), जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और गूढ़ और, दूसरी गणजातीय जातियाँ (Tribe Castes) जिन्होंने ग्राम सामाजिक व्यवस्था में एक पेशे का तो अपना लिया है किंतु हिंदुत्व को अपनाते हुए भी, आदिवासीत्व

की ओर अधिक भुकी हुई है। ग्राम सामाजिक व्यवस्था में नट, कजर (यू० पी० और बिहार में) और बागडी तथा बरगुण्डा (मध्यप्रदेश में) इसके उदाहरण हैं। नट बहुधा गावा के किनारे पर रहते हैं पत्थर की वस्तुएँ (मुख्यतया चक्की सिल और बट्टा) बनाते हैं दाहद निकालते हैं शिकार करते हैं, सिरकी व पात बनाकर बचते हैं और पचायता में संगठित रहते हैं। निखी कुण बाग या मंदिर के किनारे बैठकर दूर से ब्राह्मण से सत्यनारायण की कथा सुन लेते हैं और अपने विशिष्ट दबी दबताभा का भी पूजते हैं। उनके यहाँ दहेज नहीं बधू घन की प्रथा है। मित्रया में परग नहीं है। कलाबाजी खिलाकर या नाच गाकर नट गाववाला का मनोरंजन भी करते हैं और जहाँ उन्हें सुविधा मिलनी है व खती भी करते हैं। व गाववालों पर निर्भर करते हैं किंतु गाववालों उनसे डरते हैं और दूर रहते हैं। उनकी अपनी अलग बोली भी है। नट एक अंतर्विवाही समूह है। इसप्रकार नट जाति की श्रेणी में भी आते हैं और गणजाति की भी। नट एक गणजातीय गणजाति है।

जाति-व्यवस्था में गणजातीय जातियाँ की संख्या काफी ज्यादा है जिनकी विषयपताएँ इसप्रकार हैं। गणजातीय जातियों के नाम वण नामावलि से मिल सकते हैं। एक स्तर की अनक उपजातियों का एक ही पूज्य से अपनी उक्ति मानना, उनके सामाजिक संगठन में टोटमा का पाया जाना आदिवासी दबताभा में विश्वास बना रहना और ब्राह्मण के स्थान पर जाति के पुरोहित का उपयोग करना, गणजातीय जातियों की मुख्य विषयपताएँ हैं। गणजातीय जातियों का प्रसार एक बड़े क्षेत्र में रहता है। गणजातियों में अंतर्विवाही की व नियम उतने कठोर नहीं होते हैं। उच्च जातियों की अपेक्षा गणजातीय जातियों में नारियाँ पर्दा प्रथा का काम अनुसरण करती हैं, आर्थिक जीवन में अधिक सक्रिय भाग लेती हैं और उनमें विधवा पुनर्विवाह तथा तलाक़ माय होता है। वेबर के अनुसार जहाँ एक ही पक्ष का करन वाली कई जातियों में अलग अलग गणजातीय नाम पाये जाते हैं वहाँ गणजातीय जाति अधिक स्पष्टता से पहचानी जा सकती है। उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाये जाने वाली अंतर्विवाही समूह जातियाँ इसका उदाहरण हैं। अहीर सुनार और घग्घीर लोहार जैसे अंतर्विवाही समूह इसका दूसरा उदाहरण हैं। ऐसी गणजातियाँ, संभवतः अधिक विशेषीकरण और सम्पत्ति तथा गिल्फकारिता से उत्पन्न होने वाली विभेनीकरण के कारण उत्पन्न हुई हैं। आर्थिक विशेषीकरण एक ही गणजाति में कई गिल्फों समूहों का जन्म दे सकता है या एक ही गणजाति का एक गिल्फ समूह का।

उच्चतम स्तर की जाति और गणजाति भारतीय संरचना का दो विभेनी बिन्दु हैं जिनके बीच में विभिन्न सामाजिक प्रतिष्ठाओं वाले अनेक अंतर्विवाही समूह आते हैं जो या तो आदिवासी स्तर से जाति-संरचना में आये हैं या अंतर्विवाह की नियमा की भंग करने या जाति के नियमों की अवहेलना करने या कोई नया पेशा अपनाने के कारण उच्च स्तर से अधःपतित हुई हैं। गणजाति का जाति में रूपांतरण

अत्यन्त प्राचीन काल में चलता चला आ रहा है। इस रूपान्तरण की कई मध्यम-कालीन अवस्थाएँ मिलती हैं। वहीं गणजाति में हिन्दुत्व और जाति-निरचना की विशेषताओं का सात्विकीकरण मिश्रित रूप में मिलता है और वही अब किसी गणजाति का कोई भाग ग्राम-व्यवस्था में कई जातियों का आधित-अन्त्यागत समूह बन जाती है ता वह जाति का रूप ले लेता है और वही प्रचार के द्वारा गणजाति के सदस्यों का हिन्दुत्व में धीरे-धीरे सम्मिलित किया जाता है। हिन्दुत्व का प्रचार हिन्दू समाजों, ब्राह्मणों और गणजाति के अभिजात वर्ग द्वारा हुआ है।

मजूमदार और मदन¹ ने रिसले के आधार पर गणजाति के जाति में रूपांतरित होने की पाँच प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। पहली गणजाति के समूह और अभिजात वर्ग के लोग माधारणतया राजपूत जाति का रूप ग्रहण करके ब्राह्मण द्वारा अपनी बातों को बनवा कर, हिन्दुत्व का ग्रहण करते हैं और हिन्दुत्व के प्रसार का माध्यम बन जाते हैं। प्राचीन भारत में शासक हिन्दूकरण का मुख्य प्रेरक रहा है। इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। गंगा के मैदान के पूर्वी भाग से लेकर दक्षिण में कुमारी घाटी तक राजाओं ने ब्राह्मणों को जागीर देकर अपने यहाँ आमंत्रित किया, ताकि उनकी सहायता से वे अपने राज्य का हिन्दू मायताओं के अनुसार सगठन कर सकें और वे ब्राह्मणों की सहायता से अपने को वैध शासक (Legitimate Ruler) घोषित कर सकें²। अठारहवीं शताब्दी में शिवाजी का क्षत्रिय घोषित किया जाना और उनके द्वारा हिन्दू राज्य की स्थापना का प्रयास इसका एक उदाहरण है। दूसरी गणजाति के सदस्यों का किसी हिन्दू पथ या सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर और अपना आदिवासी नाम त्याग कर एक हिन्दू जाति का रूप ग्रहण करना। तीसरी, किसी एक गणजाति या किसी एक गणजाति के एक बड़े समूह का हिन्दुत्व के विचारों और प्रथाओं को अपनाकर, एक जाति नाम ग्रहण करना। चौथी, बिना आदिवासी नाम का त्याग किए हुए, किसी एक गणजाति या उसके एक बड़े भाग का हिन्दुत्व को स्वीकार करना। पाँचवीं, किसी गणजाति के एक समूह व्यक्ति या किसी जातियुक्त और एक गोत्र की मजा ग्रहण करके, उस जाति में विवाह करना और उसके उदाहरण का अनुसरण करने हुए गणजाति के अन्य सदस्यों द्वारा अपना ही करने, गणजाति में जाति की स्थापना करना।

जहाँ आदिवासी और हिन्दू सम्पर्क में आये हैं, वहाँ आदिवासी, हिन्दू प्रथाओं, कल्पा, विदवाओं की देवताओं और मोहारा को अपनाकर, हिन्दूकरण की ओर अग्रसर हुए हैं। एक ओर, गणजातियों स्वयं हिन्दुत्व की ओर अग्रसर हुई हैं यद्यपि हिन्दूकरण के द्वारा जाति का रूप लेने पर, गणजाति का अनेक सामाजिक निर्माण-

1 मजूमदार एवं मदन : यही पृष्ठ 213-14

2 वेबर, मदन : वि रिसीजग आफ इण्डिया पृष्ठ 23

ताम्रों का सामना करना पड़ा है। यन्ती नहीं, उन्हें गामास मक्षण और मदिरा सेवा जसी अनक अपनी प्रथाओं को छोड़ना पड़ा है। दूसरी ओर हिंदू सम्राट गणजातियों को पराजित करके, उन्हें हिंदुत्व के प्रभाव में लाये हैं। उनका ध्यान सम्भवतः राजनैतिक सत्ता के द्वारा राजस्व बढ़ाने का स्वायत्त रहा होगा। तीसरी ओर, गणजाति के शासकों ने ब्राह्मणों की सहायता से राजपूत बनने की कोशिश की और वे उसमें सफल भी हुए। चौथी ओर ब्राह्मणों ने जहाँ एक ओर, गणजातियों के अभिजात वर्ग को राजपूत बनाने में सहायता दी वहाँ, दूसरी ओर, हिंदू जाति-व्यवस्था में स्थान पाने के लिए लालायित गणजातियों का, जाति का रूप ग्रहण करने में सहायता किया। हिंदू समाज में यदि एक ओर उच्चस्तर के ब्राह्मण रहें हैं तो दूसरी ओर, निम्न स्तर के ब्राह्मण या निम्नस्तर की जातियों के पुरोहित रहें हैं। वेदों का मत है कि आर्थिक स्वायत्त तथा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का रक्षक बनाने के लिए, ब्राह्मणों ने गणजातियों का सहायता किया। आज भी जो निम्न स्तर की जाति अपना सामाजिक स्तर उठाने के लिए लालायित है, वह ब्राह्मणों की सेवाएँ प्राप्त करने का प्रयास करती है और एम ब्राह्मण सदा उपलब्ध भी रहते हैं। इसी सन्तुष्टि में दूसरा विचारणीय तथ्य यह है कि भारत के सभी ऐतिहासिक सुधारवादी आंदोलनों में वेदों से प्रेरणा ली है सभी में जाति का विरोध किया है और वर्ण का प्रतिपादन किया है और जनवाद तथा बुद्धवाद का छोड़ कर लगभग सभी ब्राह्मणों का चलाय हुए है तथा जातिविरोधी होकर भी वे जाति की सार्वभौमिकता की शक्ति के शिकार हो गए। जनों में जाति प्रथा इसका प्रमाण है।

ब्राह्मणों ने हिंदुत्व का प्रसार दो रूपों में किया है। एक ओर उन्होंने आदिवासियों का अपनी सहायता अर्पित की, उन्हें हिंदू विश्वास और प्रथाओं से अवगत करा कर उनमें तथा हिंदुत्व में सांस्कृतिक समीपता का बढावा दिया और प्रत्येक गणजातीय समूह को पौराणिक प्रमाणों के आधार पर वर्ण जाति का रूप प्रदान दिया। ब्राह्मणों ने इस विचारधारा का प्रचार किया कि प्रत्येक गणजाति पहले ही से जाति है और उसके प्रमाण उन्हीं पुराणों और महाभारत से दूरे निकाले। यदि किसी गणजाति या जाति का स्तर निम्न भी था तो उन्होंने यह कर कि जमुन समूह मूलतः क्षत्रिय या और वर्णिक कमजोर भूतन के कारण उसका अधःपतन हुआ है उन्होंने उसे आत्मविश्वास भी बँटाया और भावी प्रगति की आशा भी, क्योंकि जिसका अधःपतन वैदिक कमजोर और गरीब की अवहेलना के कारण हुआ है वह उनका अपनाकर पुनः अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का उठा सकता है। वेदों पुराण में हमारा जो मूलतः चरित्रवादी क्षत्रिय सिद्ध करना इस प्रक्रिया का एक उदाहरण है। दूसरी ओर, मुसलमानों के द्वारा ब्राह्मणों में जाति की भयानता की, वर्मा-मुसलमानों का श्रेष्ठ माना और वर्णिक परम्परा का इस ढंग से निवर्तन किया कि वह यापक रूप से लामू की जा सके। दयानंद द्वारा हिंदू के स्थान पर 'आर्य' शब्द का

प्रयोग करना, आय का अर्थ 'श्रेष्ठ' करना और, ईसाई तथा इस्लाम व समान जाय-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना इस प्रक्रिया का आधुनिकनम ऐतिहासिक प्रमाण है। इसप्रकार के आन्दोलनों से, जो हिंदुत्व के निम्न स्तर पर जा चुके थे उन्हें एक नया उत्साह मिला और जो हिंदुत्व की सीमा में थे, हिंदुत्व में घाबर एक बंध स्थान पान के लिए प्रेरित हुए। मध्यकालीन भारत के अनेक आंदोलनों के माध्यम से अनेक गणजातीय जातियां हिंदुत्व में बंध स्थान पान में सफल हुई हैं।

मुधारवादी आन्दोलनों जाति का विराध किया है किन्तु वस्तुतः व जानि कि ही प्रसार में सहायक हुए हैं। प्रत्येक मुधारवादी आन्दोलन में कई जानियां का काम आया है किन्तु उनमें से प्रत्येक जाति के लोग अपनी ही जाति विराधी विचारों के कारण, एक अलग विनिष्ट समूह बन गए। उधर जमाकि विगायत सम्प्रदाय का हाल हुआ है, मुधारवादी सम्प्रदाय ही कालांतर में एक जाति बन गया। चूंकि मुधारवादी आन्दोलन में सभी स्तर की जाति के लोग आते हैं इसकारण जमा जैना सिक्खा, विगायत ब्रह्मसमाजिया और आयसमाजिया में हुआ मुधारवादी सम्प्रदाय जाति में भुक्क नहीं हो पाता है और मुधारवादी सम्प्रदाय में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति को नहीं छोड़ पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक मुधारवादी सम्प्रदाय में अंतर्विवाही जाति-समूह उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, आयसमाजी ब्राह्मण आयसमाजी चमार में नहीं मिल पाता है। क्योंकि उन मिलने में न तो चमार की निश्चिन्ता सामाजिक प्रतिष्ठा रह पाती है और न ब्राह्मण की। आयसमाजी चमार चमारों में एक विनिष्ट समूह बन जाते हैं और आयसमाजी ब्राह्मण ब्राह्मणों में। सिक्ख जाट, सिक्ख खत्री इत्यादि, कालांतर में अलग-अलग जातियां बन जाती हैं। जाति से बहिष्कृत व्यक्ति जाति से बहिष्कृत होता है न कि हिंदुत्व से और पुन जाति में वापस जा सकता है। जाति का मुयुनिष्ठ रूप वण है जिसमें वह सत्ताप मिला है जो जाति विराधी रह हैं। इसप्रकार जाति एक स्वयंवर्धित सभ्यता रही है और उसके द्वारा हिंदुत्व का प्रसार होता है। जानि क द्वारा विभिन्न समूहों का समाज में बंध स्थान मिलता रहा है और, अपनी सभी विनिष्ठता के कारण जाति इतनी गतिशील रही है कि इस्लाम और इसादयत भी इसके प्रभाव से न बच सकें।

बिहार में पालामऊ तथा उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर के खरवार जनेऊ कारण कहते हैं और उच्चवर्गी होने का दावा करते हैं। दोनाजपुर रणपुर नलापाइगुडो और कूचबिहार के बोलिया सत्रियवर्गी हान का दावा करते हैं और अपने का राज-वर्गी कहते हैं। गाड अपने का राजपूत मानते हैं। भील गिब की पूजा करते हैं। लगभग सभी गणजातियां में मुधारवादी आन्दोलन चले हैं अनेक ऐसे शेरवाद का प्रति-रोधन किया गया है और मास मंदिर के छोड़न पर जोर दिया गया है। वर्तमान समय में, निम्न स्तर की जातियों में यह आन्दोलन काफी व्यापक है। लखनऊ के चमारों

ने सत रविदास का देवतु य मान लिया है उनके नाम पर एक मन्दिर की स्थापना भी की है लेकिन उसमें विष्णु की मूर्ति को उच्चतम आसन प्राप्त है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस बात पर संघर्ष भी हुआ कि रविदास की मूर्ति के साथ विष्णु की मूर्ति रखी जाय या नहीं और जतने में बहुमत इसी पक्ष में रहा कि रविदास के साथ विष्णु की मूर्ति रखी जाय और उसे उच्चतर आसन दिया जाय। इन विकासों का ब्राह्मणों की चालाकी मात्र नहीं बढ़ा जा सकता है और न इसे ब्राह्मणों का प्रसार। वास्तविकता तो यह है कि जहाँ हिन्दुत्व एक विकासशील सचयी सांस्कृतिक प्रक्रिया रहा है वहाँ साथ ही साथ गणजाति और हिन्दुत्व की सीमा में स्थित गणजातीय जातियाँ हिन्दुत्व में आने के लिए प्रेरित रही हैं। ब्राह्मण तो इसके एक माध्यम मात्र रह हैं। ब्राह्मणों ने इस प्रक्रिया को संयुक्तिकृत किया है और उन्होंने इस प्रयास में, पौराणिक कथाओं का आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि गणजाति और गणजातीय जाति दोनों पहले ही से हिन्दुत्व का अंग हैं और उन्हें हिन्दुत्व में स्थान मिल सकता है बशर्ते कि वे ब्राह्मणवादी कल्पाचार को अपना लें। जो प्रेरणा स्रोत पहले ही से विद्यमान है ब्राह्मणों की प्रति का एक माध्यम रह हैं।

तब प्रश्न उठता है कि गणजाति के जाति में रूपांतरित होने के प्रश्न कहा हैं? धर्म के मत में सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभुता सम्पन्न वर्गों के अधिकारों को एक सुनिश्चित वधता प्रदान करने में प्रभुता सम्पन्न वर्गों में और पुरोहिताई के बीच सधि एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रमेय है। भारत में विजयपत्त हिन्दूकालीन भारत में ब्राह्मण पुरोहिता के रूप में इसी सधि के एक माध्यम रह हैं। हिन्दुत्व ने जब एक सुनिश्चित धर्म का रूप ल लिया तब ब्राह्मणों के माध्यम में शासक वर्ग के अधिकारों को धार्मिक वधता मिली। इसी कारण हिन्दू और आदिवासी शासकों ने, ब्राह्मणों के माध्यम से हिन्दुत्व के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। ब्राह्मणों के माध्यम से हिन्दुत्व विभिन्न गणजातीय समूहों की सामाजिक प्रतिष्ठाओं, आर्थिक भूमिकाओं तथा स्वार्थों की वैधता (Legitimation) का कारण भी बना। जाति पंचायत के अन्तर्गत संगठित और ग्राम-आधिक व्यवस्था में एक विनाश आर्थिक भूमिका निभाते हुए जाति वस्तुतः एक एस अंतर्विवाही, और विस्तृत समूह भी समूह (Extended kinship group) के रूप में विकसित हुई, जिसका मूल रूप टुड यूनिट का सा रहा है। जब गणजाति अपने क्षत्र और अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता को त्याग कर जाति या गणजातीय जाति के रूप में हिन्दुत्व में प्रविष्ट करती है तो जहाँ उस बहिष्कृत जातियों की नियोग्यता का अधिकार होना पड़ता है वहाँ एक पक्ष पर एकाधिकार तथा एक स्तर विनाश की सामाजिक प्रतिष्ठा मिटने के कारण उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और उसके आर्थिक एकाधिकारों को धार्मिक वधता भी मिलता है। यजमानी प्रथा जिसके द्वारा हर जाति के लोग को अपने अपने पक्ष के अनुसार कुछ निश्चित परिवारों की सेवा और उसके बदले में

आर्थिक लाभ लेने का अधिकार मिलता है से विभिन्न समूहों के आर्थिक स्वायत्त और भी अधिक तथा सुरक्षित हो जाते हैं। शिल्पी समूहों को, इसप्रकार की वधना से, और भी सुरक्षा मिली। इसप्रकार हिंदुत्व में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा और उसमें सम्बन्धित सम्भव आर्थिक लाभों को मिलने वाली धार्मिक वैधता (Religious Legitimation) है।

जाति और गणजाति दोनों जन्म पर आधारित समूह हैं। गणजाति आत्मनिर्भर है, पर जाति नहीं। जाति जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली का एक अंग है। गणजाति के जाति में रूपांतरित होने का अर्थ है गणजाति को जन्म पर आधारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में, एक स्तर मिलना और, आर्थिक आत्मनिर्भरता के स्थान पर, अन्तर्निर्भरता और उसके साथ साथ आर्थिक विशेषाधिकारों का मिलना। इस रूपांतरण में, गणजाति की केवल एक विशेषता लुप्त होती है और वह है उसकी सामाजिक आर्थिक आत्मनिर्भरता। गणजाति जन्मजात की सदस्यता अन्तर्वैवाहिकी तथा पंचायती सगठन जगों के लिये बने रहता है और साथ ही साथ, उसके सामाजिक अस्तित्व को, एक मायता प्राप्त धर्म के आधार पर, वधता भी मिलनी है। अतः, गणजाति का जाति में रूपांतरण गणजाति का केवल आर्थिक रूपांतरण है। जाति संरचना के माध्यम से, गणजाति को मिलने वाली प्रतिष्ठा वैध और जन्मजात है किन्तु अपरिवर्तनीय नहीं है क्योंकि हिंदुत्व में सिद्धांततः सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार जन्म नहीं, कम रहा है। कम को ब्राह्मणवादी चल्पाचार और मायताओं पर आधारित करके, जब इस बात पर जोर दिया गया कि कम के आधार पर वर्ग-परिवर्तन करके सामाजिक प्रतिष्ठा की उच्चोच्च परम्परा में उच्चतर स्तर प्राप्त किया जा सकता है तो एक ओर, हिंदूकृत गणजातियों के लिए उत्तरोत्तर हिंदूकरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया गया और, दूसरी ओर, जाति व्यवस्था के निम्न स्तर पर आने वाली गणजातियों को भावी उद्धार की आशा प्रदान की गई। पारलौकिकता और मुक्ति की धारणाओं से यह आशा और भी बलवती हुई। जाति प्रथा के विरुद्ध उठने वाले सुधारवादी आंदोलनों ने जब वर्ण सिद्धांत का आश्रय लिया तब गणजातियों के उत्तरोत्तर हिंदूकरण और सामाजिक चलिप्रगुता का मार्ग और भी प्रशस्त हुआ और दबी हुई जातियों के लिए हिंदुत्व में उद्धार की ओर आशा निहित थी, वह और भी बलवती हुई।

गणजातियों के लिए, हिंदुत्व एक दोहरी प्रेरक शक्ति रहा है और, अपनी इसी दोहरी प्रेरणा शक्ति के कारण, हिंदुत्व एक दुर्निवार सामाजिक सांस्कृतिक शक्ति रहा है। जनवाद और बुद्धवाद जैसे उद्धारवादी धर्म एमी शक्ति न दे पाये। इसकारण आदिवासियों में फलने के बावजूद भी वे हिंदुत्व में आत्मसात हो गये। इस्लाम और इसाइयत भी वह शक्ति न दे सके। आदिवासी आज भी हिंदुत्व की ओर उतना ही आकृष्ट है। आज आदिवासी हिंदू महाजन, हिंदू व्यापारी, हिंदू

सरकारी अफसर और हिंदू ठेकेदार का विरोधी है, हिंदुत्व का नहीं। उसके इस विरोध का कारण वही आर्थिक परिस्थितियाँ हैं जो अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद में, भारत में उत्पन्न हुई हैं और जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि गणजातियों की जाति के रूप में आत्मसात करके, हिंदुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव में यदि देखा जाय तो, वर्ण और गणजाति भारतीय सामाजिक संगठन के दो अलग अलग सिद्धांत हैं। पहला हिंदुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनों के बीच का प्रमेय है। जाति, वर्ण सिद्धांत के आधार पर, हिंदूकृत गणजातियों के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पृष्ठभूमि से हुई है। जाति वस्तुतः हिंदूकृत आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हिंदुत्व में जाति का विरोध हाता रहा है और वर्ण का प्रतिपादन¹।

जाति उत्पत्ति के सिद्धांतों में इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण महिष्मन् की उपज मानना अवास्तविक है। हटन ने जाति के खान पान के नियमों के पीछे उन जादुई और माना सम्बन्धी विचारों को माना है जो गणजातीय संगठन की विशेषताएँ हैं। गात्र वलन का हिंदूकृत रूप खान पकता है। वलन-संगठन के सम्बन्धी सिद्धांत (The Principle of Kinship) का जाति में विस्तृत रूप मिलता है। अंतर्राष्ट्रवाहिका के आधार पर जाति और गणजाति में अंतर करना कठिन है। विजितों में पराजितों का हडकी न देने की प्रवृत्ति सबत्र पाई गई है। अभिजात वर्ग की लड़की अभिजात वर्ग की ही जाती है। ग्रामों और आदिवासियों के वर्णमंदल, अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का संगठन हुआ। अनुलोम विवाह से जन्मात अभिजात की प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सवचेतनवादी (Animistic) विश्वासों के प्रभाव में, सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौरोहित्य पर उस मिलता है जिसके अधिकार में जादुई करिश्मा (Magical Charisma) होता है। किन्तु भारत में शिल्पी-कला, वलन करिश्मा का रूप लेकर, अतृताग्रवा वशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था प्रौद्योगिकी तथा शहरीकरण का निम्न स्तर, धातुओं की कमी, ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताएँ, गणजातीय व्यवस्था, गणजातियों की जार निरंतर उन्मुख पौरोहित्यवादिता और वलन करिश्मा, इसप्रकार जाति के विकास के केन्द्र

- 1 अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले जाति और गणजाति का विभेद ही नहीं था। अन्तरविवाही होने के कारण गणजाति, वस्तुतः, जाति थी। गणजाति का अंग्रेजी भाषा के 'टाइब' शब्द का एक गढ़ा हुआ पर्याय है। सस्कृत और पाली में टाइब का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अंतर अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से किया जाने लगा है।

विदु बन । इसी केन्द्र विदु के माध्यम से गणजाति का जाति में रूपांतरित होने की प्रेरणा मिली । कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामंजस्यवादी सामाजिक-राजनैतिक मगठन, इस केंद्र विदु के मुख्य घटक हैं । व्यापारी ऋण माण्ड प्रणाली (Credit System) उद्योग और सामंजस्यवादी व्यवस्था के बावजूद भी भारत में, पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ । भारत में पूँजीवाद पश्चिम से आया है । गणजाति का जाति में रूपांतरण उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूँजीवादी नहीं है । पूँजीवाद नये प्रेरका और गतव्य को जन्म दिया है । आज गणजाति का गतव्य जाति में ही नहीं है । गणजाति का जाति में रूपांतरण गणजाति का विघटन और विघटन नहीं, बरन गणजाति का एक बड़ा समाज में अधिक मुनिदिष्ट एकीकरण है ।

उपयुक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गतव्य जाति में ही रहा है । यह रूपांतरण हर देश में असुविधाहीन भी नहीं रहा है । इस रूपांतरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के दाहरे मसाले में प्रवेश करना जिसके कारण आदिवासी में, सभ्यता-समय से उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है । भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाष्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यही से मानी जा सकती है । गणजाति का जाति में रूपांतरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा, अधिक समाप्त और बाध्यता है । इसका परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी न आदिवासीत्व को हेतु दृष्टिकोण में देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रयासों का अपनाया है जो आदिवासी सभ्यता-संस्कृति में कभी कभी फिट नहीं हो पाती हैं । यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासीयों में बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है, जो आदिवासी सभ्यता-संस्कृति में फिट नहीं है । फिर भी, गणजाति का जाति में, रूपांतरण अधिक लाभ से प्रेरित रहा है और, इसी कारण, इस प्रक्रिया में व्यवधान और समस्याएँ अभी आई जब भारत पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से पूँजीवादी सामाजिक सभ्यता का प्रभाव पड़ा ।

आदिवासीत्व और इस्लाम

इस्लाम का भारत के आदिवासीयों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी सभ्यता से किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित हुआ है, यह प्रश्न भारतीय समाज और सभ्यता के इतिहासकारों की नजर से आसन्न हो रहा है । सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दू-मुस्लिम समस्या

सरकारी अपसर और हिंदू ठेकेदार का विरोधी है, हिंदुत्व का नहीं। उसके इस विरोध का कारण व नई आर्थिक परिस्थितियाँ हैं जो अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से भारत में उत्पन्न हुई हैं और जिनका आगे वर्णन किया जायेगा। यहाँ ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि गणजातियों को जाति के रूप में आत्मसात करके, हिंदुत्व का प्रसरण हुआ है। वास्तव में यदि देखा जाय तो वर्ण और गणजाति भारतीय सामाजिक संगठन के दो अलग अलग सिद्धांत हैं। पहला हिंदुत्व का प्रतीक है और दूसरा आदिवासीत्व का। जाति उन दोनों के बीच का प्रभेद है। जाति वर्ण सिद्धांत के आधार पर निर्दूत गणजातियों के सामाजिक वर्गीकरण का प्रयास और माध्यम है। जाति की उत्पत्ति गणजाति की पृष्ठभूमि से हुई है। जाति वस्तुतः हिंदू आदिवासीत्व है और यही कारण है कि हिंदुत्व में जाति का विरोध होता रहा है और वर्ण का प्रतिपादन¹।

जाति उत्पत्ति का सिद्धांत में इस तथ्य का प्रतिपादन मिलता है। जाति को ब्राह्मण भस्तिष्क की उपज मानना अवसरविक है। हटन ने जाति के खान पान के नियमों का पीछा उन जादू और माना सम्बन्धी विचारों को माना है जो गणजातीय संगठन की विशेषताएँ हैं। मात्र वर्ण का हिंदू रूप जान पड़ता है। वर्णन संगठन का सम्बन्धी सिद्धांत (The Principle of kinship) का जाति में विस्तृत रूप मिलता है। अतर्वर्णिकी के आधार पर जाति और गणजाति में अंतर करना कठिन है। विजितों में पराजितों का लड़की न देने की प्रवृत्ति सबत्र पाई गई है। अभिजात वर्ग की लड़की अभिजात वर्ग की ही जाती है। भायों और आदिवासियों का वर्णभेद से अनुलोम और प्रतिनाम विवाहों का संगठन हुआ। अनुलोम विवाहों में जन्मात अधिकार को प्रोत्साहन मिला। वेबर के अनुसार सबधेनवादी (Animistic) विद्वानों के प्रभाव में सामाजिक प्रतिष्ठा विशेषतया सत्ता-अधिकार और पौरोहित्य पर उसे मिलता है जिसका अधिकार में जादुई करिष्मा (Magical Charisma) होता है। किन्तु भारत में शिल्पी-कला, कला करिष्मा का रूप लेकर, अंततोगत्वा वशानुगत हो गई। कृषि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था, प्रौद्योगिकी तथा गृहरीकरण का निम्न स्तर, धातुओं की कमी, ग्राम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय भिन्नताएँ गणजातीय व्यवस्था, गणजातियों की आरंभिक निरंतर उन्मुख पौराणिकवादिता और कला करिष्मा इस प्रकार, जाति के विकास के केन्द्र

- 1 अंग्रेजी राज की स्थापना के पहले जाति और गणजाति का विभेद ही नहीं था। तत्विवाही होने के कारण गणजाति वस्तुतः जाति थी। गणजाति शब्द अंग्रेजी भाषा के टाइप शब्द का एक गढ़ा हुआ पर्याय है। सस्कृत और पाली में टाइप का पर्याय नहीं मिलेगा। जाति और गणजाति का अंतर अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से किया जाने लगा है।

विदु बन । इसी क्षेत्र विदु के माध्यम से गणजाति का जाति में रूपांतरित होने का प्रेरणा मिली । कृषिवादी आर्थिक व्यवस्था और सामन्तवादी सामाजिक-राजनैतिक संगठन, इस क्षेत्र विदु के मुख्य घटक हैं । व्यापारी वर्ग साम्प्रदायी (Credit System) उद्योगों और सामन्तवादी व्यवस्था के बावजूद भी भारत में, पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ । भारत में पूँजीवाद पश्चिम से आया है । गणजाति का जाति में रूपांतरण उस सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में अधिक होता रहा है जो पूँजीवादी नहीं है । पूँजीवाद न नये प्रेरका और गतिव्या का जन्म दिया है । आज गणजाति का गतिव्या जाति में ही नहीं है । गणजाति का जाति में रूपांतरण, गणजाति का विघटन और विघटन नहीं करने गणजाति का एक बड़ा समाज में अधिक सुनिश्चित एकीकरण है ।

उपयुक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गणजाति का स्वाभाविक गतिव्या जाति में ही रहा है । यह रूपांतरण हर देश में अनुविधाहीन भी नहीं रहा है । इस रूपांतरण का अर्थ रहा है आदिवासी का हिन्दुत्व और आदिवासीत्व के दाहर ससार में प्रवेश करना जिसके कारण आदिवासी में, सत्सृष्टि-समय से उत्पन्न मानसिक दशा और उदासीनता भी उत्पन्न हुई है । भारत की एक बड़ी जनसंख्या में भाग्यवादिता की भावना की उत्पत्ति भी यही में मानी जा सकती है । गणजाति का जाति में रूपांतरण इस भावना से प्रेरित रहा है कि हिन्दुत्व, आदिवासीत्व की अपेक्षा अधिक सम्मान और वाछनीय है । इससे परिणाम यह हुआ है कि स्वयं आदिवासी ने आदिवासीत्व का रूप दृष्टिकोण से देखा है और, समय-समय पर, ऐसी प्रमाणा का अपनाया है जो आदिवासी सत्सृष्टि-मनुष्य में कभी कभी फिट नहीं हो पाती हैं । यह इसी प्रभाव का परिणाम है कि हाल में आदिवासियों के बाल विवाह का प्रचार बढ़ा है जो आदिवासी सत्सृष्टि-मनुष्य में फिट नहीं है । फिर भी गणजाति का जाति में, रूपांतरण अधिक लाभ से प्रेरित रहा है और, इसी कारण, इस प्रक्रिया में अवधान और समस्याएँ अभी आई जब भारत पर, अंग्रेजी राज के माध्यम से पूँजीवादी योरोपीय सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा ।

३

आदिवासीत्व और इस्लाम

इस्लाम का भारत के आदिवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा, या भारत में इस्लाम आदिवासी सत्सृष्टि से किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित हुआ है, यह प्रश्न भारतीय समाज और सत्सृष्टि के इतिहासकारों की नज़र में आया है । प्रश्न है । सम्भवतः, इसका कारण यह है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दुत्व का प्रभाव

जिनकी सम्मति रहा है आदिवासी-मुस्लिम या जातिवासी हिंदू समस्या उनकी सम्मति नहीं रहा है। यहना कहा जा सकता कि आदिवासी मुस्लिम प्रभाव से मुक्त रहे हैं। इस्लाम का कट्टाकरण उन्हीं इलाकों (उत्तरा-पूर्वी उत्तरप्रदेश बिहार आदि) आसाम मद्रास और कर्नाटक) में हुआ है जहाँ आदिवासी जनसंख्या का अपेक्षा-वृद्ध प्रतिशत रही है। यह कितना अतिशयोक्ति न होगा कि जिस प्रकार, गणजाति के अस्तित्व में आने के कारण हिन्दूत्व में जाति की जड़ें जमा उन्हीं प्रकार इस्लाम में जाति का समावेश गणजातियों के इस्लाम में प्रवेश करने में हुआ है। इस्लाम में जाति विवाद और प्रजाति का समावेश गणजातियों के ही माध्यम से आया हुआ माना जा सकता है। बहराबच में गाँवों में मजार के पीछे एक डाटा-सा कुत्ता है जहाँ कौनो मुसलमान नहीं है कि वहाँ नहान से काँड़ दूर हाँ जाता है। वहाँ एक अथ मजार पर लकड़ा के डंडे लगाए जाते हैं। ये प्रमाण यह इस्लाम में और इनका साथ निश्चय है आदिवासी सभ्यता है या तांत्रिक बौद्धवाद या मध्य बुद्धवाद में आदिवासी प्रजाति से आया जान पड़ता है। इस्लाम का मानने वाला अनेक ऐसे अन्तर्जाति समूह हैं जो इस्लाम में गणजातीय जातियों (Tribe Castes) के रूप में हैं। उत्तर भारत के अनेक अपराध गणजातियाँ अपने-आपें चित्तौड़गढ़ के राजा प्रताप की अज्ञात मानती हैं। उनके उपाख्यान में यह बचन मिलता है कि उनका सामाजिक अर्थ पतन उस समय से हुआ जब अलाउद्दीन खिलजी ने हाया चित्तौड़ का पतन हुआ था और इस्लाम से बचने के लिए उन्होंने मायावर और डाक जना तथा लूटपाट का जीवन अपना लिया। डॉ० एम० भागवत के अनुसार, मुस्लिम अपराध गणजातियाँ वे समूह हैं जिनका जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया होगा और इसलिए सामाजिक जीवन के विरुद्ध होने के कारण उन्होंने अपराध किया था जाति के साधन के रूप में अपना लिया होगा¹।

४

आदिवासीय और पारंपरिक सभ्यता

उनमें से कौनों के अन्तर्गत गणजाति के जाति में स्थापित होने की प्रक्रिया में व्यवधान आ जाय और उस एक नया जनव्यक्ति या मिश्र—वह अति अति निम्न आदिवासी-मुसलमान (Tribal Perivalism) का भावना के साथ साथ प्रजातियाँ का ना अस्तित्व हुआ। पट्टे हिंदू आदिवासी सम्प्रदाय में सामाजिक प्रतिष्ठा का विषय (Leontuzat on) हिंदू धर्म द्वारा हाता था। इसलिए

गणजातियाँ स्वभावतया, हिंदुत्व की ओर आकर्षित होती थी। वण कम और मुनि की धारणाओं से गणजातियाँ का आशा भी मिलती थी और निरंतर हिंदूकरण की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी। इस्लाम के आने से मध्यकालीन भारत में गणजातियों को इस्लाम की ओर आकर्षित होने की प्रेरणा मिली यद्यपि इस्लाम की अपेक्षा, हिंदुत्व की प्रति आकर्षित और प्रेरित हान की मात्रा अधिक रही। मध्यकालीन भारत में गण तथा निगुण भक्तिमार्गी तथा सुधारवादी पंथों के द्वारा, आदिवासियों के उत्तरोत्तर हिंदूकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया चलती रही है। गणजाति की हिंदूकरण और इस्लामीकरण से गणजातियों का हिंदू और मुस्लिम जातियों का रूप मिलता रहा है। गणजाति का हिंदूकरण और इस्लामीकरण निर्बाध होता रहा है क्योंकि इससे गणजाति के आर्थिक जीवन का उन्मूलन नहीं होता रहा है और गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा भी परिस्थिति के अनुसार उठती रही है। गणजाति का सामाजिक अस्तित्व भी बना रहा है क्योंकि इस रूप में गणजाति ने वही तक हिंदुत्व या इस्लाम के आधारभूत तत्वों को अपनाया है, जहाँ तक आवश्यक था। हिंदुत्व या इस्लाम में जाने से गणजाति का आर्थिक उन्मूलन नहीं हुआ है बल्कि उस एक नया आर्थिक संतुलन मिला है या करना पड़ा है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले तक हिंदुत्व और इस्लाम दोनों का आर्थिक आधार कृषि आर्थिक व्यवस्था थी। कृषि आर्थिक व्यवस्था में हिंदू या मुस्लिम जाति में रूपान्तरित होने से, गणजाति की एकता भी बनी रही। किंतु अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से, योरोपीय सम्प्रदाय और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव से, भारत की गणजातियों का बाह्य संसार से सम्पर्क तब से बढ़ा और गणजाति में वसी ही विभक्तिक और एकताकारी शक्तियाँ का एक साथ प्रादुर्भाव हुआ जैसी जाति में हुई हैं। एक ओर यदि भारतीय राष्ट्रवादिता का विकास हुआ तो दूसरी ओर, हिंदू इस्लामी और आदिवासी राष्ट्रवादिता का, जिसके कारण, हिंदुत्व और आदिवासीत्व में वैसे ही तनाव उत्पन्न हुआ जैसे कि इस्लाम और हिंदुत्व में। आदिवासियों में बढ़ते हुए इसाईयत के प्रसार से इस तनाव को और भी प्रोत्साहन मिला क्योंकि, सामाजिक प्रतिष्ठा की धार्मिक वधता (Religious Legitimization) के लिए, इसाईयत ने, हिंदुत्व और इस्लाम से अलग, एक नया आधार प्रदान किया।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के साथ साथ और बाद में भी आदिवासी गणजातियों के सम्पर्क में वही अधिक आये जहाँ योरोप के इसाई मिशनरियाँ ने मिशन और चर्चों की स्थापना करके एक ओर, इसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया और दूसरी ओर अस्पताल और स्कूल खोल कर, समाज सेवा का कार्य प्रारम्भ किया। किन्तु, यह सम्पर्क उतना व्यापक और प्रभावकारी नहीं रहा है, जितना कि योरोपीय सम्प्रदाय और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के सघात से उत्पन्न परिवर्तनकारी

शक्ति का प्रभाव रहा है। सोलहवीं शताब्दी के बाद से जब मसार में योरोपियनों के प्रभुत्व का प्रसार होना शुरू हुआ तो मसार के सभी भागों में योरोपीय सभ्यता और आदिवासी सस्कृतियों का सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क में योरोपीय सस्कृति की प्रभुता रही है। इस कारण जसा अंग्रेजों के स्थानों में हुआ भारत में भी, योरोपीय सस्कृति का सघात आदिवासी सस्कृति पर पड़ा। इस सघात ने जंग अंग्रेजों के स्थानों (अमेरिका, अफ्रीका, यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया और प्रशांत महासागर के द्वीपों) से, आदिवासी सस्कृति में विश्व खलन की प्रक्रियाओं को जन्म दिया वैसे ही भारत में भी हुआ। अंग्रेजों के स्थानों की भाँति भारत में भी, आदिवासी के सांस्कृतिक स्वास्थ्य का इससे धक्का पहुँचा। आदिवासी सस्कृति पर सभ्यता के सघातिक परिणामों का विश्लेषण करने के पहले इस सस्कृति सम्पर्क के माध्यमों पर विचार करना आवश्यक है।

यातायात के साधनों (मुख्यतः रेल, सार और सड़क) के उत्तरोत्तर विकसित होने में जो आदिवासी क्षेत्र पल्लव दुग्ध से से सुगम हो गये। वैसे हुए औद्योगिक सभ्यता के कारण सख्तिज पदार्थों की माँग बढ़ी। आदिवासी क्षेत्र उस प्रशंसा में आते हैं जहाँ कायला लाह और अन्नक जल जनिज पदार्थ पाए जाते हैं। अतः, आदिवासी क्षेत्रों में कायले, अन्नक और लाह की खानें खुलने लगीं। जमशेदपुर, राउरकेला और भिलाई जैसे स्थानों में कारखाने खुलने लगे जहाँ आदिवासी, श्रमिकों के रूप में, काम करने लगे और बाहरी लोग तथा सभ्यता के प्रभावों में आने लगे। जामा के चाय के बाग आदिवासी श्रमिकों के द्वारा ही बने हैं जिस प्रकार भारत में गाँवों के किसान मजदूरों के रूप में औद्योगिक शहरों में जाकर वहाँ के कारखानों में काम करने के लिए विवश हुए उसी प्रकार, आदिवासी भी श्रमिकों के रूप में औद्योगिक क्षेत्रों में आने के लिए विवश हुए क्योंकि पूँजीवादी सघात से जंग गाँवों की आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले वैसे ही पूँजीवादी सघात से आदिवासी आर्थिक व्यवस्था के आधार हिले। मेला और व्यापार बढ़ाने वाली हाटों के स्थान पर, नियमित बाजार का प्रभाव बढ़ा, जहाँ गैर आदिवासी व्यापारियों नितातियों और पेटेंट दवाइयों बेचने वाला ने उन वस्तुओं का व्यापार प्रारम्भ किया जिसका उत्पादन आदिवासी क्षेत्रों में नहीं होता है। साबुन, तेल, सूते, किस्म के मट, नक्का जंगल बच्चा के खिलौने, रंग मिलों के बने कपड़े इत्यादि इस श्रेणी की वस्तुओं में आते हैं। सरकार ने व्यापारियों और प्रशासक नियुक्त किए जो नई सभ्यता के माध्यम बने। जंगलों की सुरक्षित रखने की नाति के कारण जंगल विभाग के कमचारियों का संगठन किया गया। जंगलों के नियोजित सवधान और उपभोग की नाति के कारण एक ओर, जंगलों को लगान के लिए श्रमिकों का खोजना मया तो, दूसरी ओर आवश्यकतानुसार जंगलों को काटने के लिए ठेकेदारों का नियुक्त किया गया। कमप्रकार जंगलों के कमचारी ठेकेदार और उनके श्रमिकों का अधिकतर बाहर में जाते थे एक नये सस्कृति सम्पर्क के माध्यम

बने। जंगल की छाक उपजो जैसे लाख और चीनी बनाने के पत्ता को नयी आर्थिक महत्ता मिली और उनका एकत्र करन के लिए ठकंदारी प्रथा का संगठन किया गया। स्कूलों का संगठन करके वहाँ शिक्षका को नियुक्त किया गया। एक झार मिशन ने सेवा काय का अपनाया ता दूसरी ओर भारतीय नेताओं की प्रेरणा से आदिमजाति सेवक मध्य जमी समाजमयी संस्थाओं का संगठन हुआ जिसमें सभ्यता-संस्कृति सम्पक और भी बढ़ा। इसी बीच में मानवशास्त्रियां न अपने अध्ययन प्रारम्भ किए जिससे आदिवासी अपने प्रति सजग हुए और भारतीयों तथा सरकार का ध्यान उनकी समस्याओं की ओर गया। इसी बीच में सम्भवतः, भारत में चलने वाली सांस्कृतिक पुनर्जागरण-प्रक्रिया के विचार के प्रभाव के कारण, लोक-संस्कृति के अध्ययन की आरंभिक ध्यान गया और लोक गीतों के अनेक सङ्कलनकारी आदिवासियों का बाह्य सम्पक में लाने के माध्यम बन। अनेक चित्रकारों ने मण्डिटाईना की प्रेरणा के लिए आदिवासी क्षेत्रों का भ्रमण किया। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में, जब इम्फाल और कोहिमा के क्षेत्र युद्ध के भौखे बने और राखी पूजा व्रतमान का हड़कवाटर बना, तो यह सम्पक और भी बढ़ा। अधिकतर प्रांतों की ग्रीष्मकालीन राजधानियां आदिवासी क्षेत्रों में ही हैं। स्वतंत्रता के बाद, जब बासिग मताधिकार के आधार पर चुनाव हुए, सहकारी जादोलन का प्रसार हुआ, बड़े पैमाने पर शिक्षा संगठित हुई, उच्च-शिक्षा के लिए आदिवासियों को बर्जों दिए जाने लगे और आदिवासी क्षत्र में सामुदायिक विकास योजनाओं का संगठन हुआ, तो संस्कृति सम्पक पहले की अपेक्षा और भी बढ़ा। सन १९७१ से बासठ में, जब चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर आक्रमण किया तो उस प्रदेश के आदिवासियों का सम्पक और भी बढ़ा। आज उस प्रदेश के विकास पर जो अधिक ध्यान दिया जा रहा है उससे वहाँ के आदिवासियों का सम्पक में सम्पक में आना निश्चित ही है।

आदिवासियों का सभ्यता के सम्पक में लाने वाली शक्ति अंगत आर्थिक, अंगत औद्योगिक प्रौद्योगिकीय, अंगत प्रशासकीय अंगत राजनैतिक और सभ्यता अंगत मानवतावादी है। जिसप्रकार, सारा भारत और भारतीय संस्कृति सम्पक में आये उसीप्रकार, भारतीय संस्कृति का एक अंग होने के कारण आदिवासी संस्कृति भी भारतीय सभ्यता के प्रभाव में आई। इस प्रभाव में आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की पथकता (Isolation) समाप्त हो गयी और अनन्तर समाप्त होती जा रही है। भारत के दो कराड आदिवासी आज भारत राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं जिनकी अवेहेलना नहीं की जा सकती है। उन्हें समुचित समादत विकास के स्तर पर लाना सविधान का आदेश है जिस पूरा करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य है। इस उद्देश्य को पूरा करने का मतलब है आदिवासियों को अधिकाधिक सभ्यता के सम्पक में लाना, जिन समय पर नहीं छोड़ा जा सकता है। हिंदू-

परम्परा में, हिंदू और आदिवासी में विभेद नहीं किया गया है और न हिंदू तथा आदिवासी में ऐसा विभेद मिलता ही है। हिंदू के दृष्टिकोण से, प्रत्येक गणजाति एक जाति है और उसकी सम्स्कृति उसका स्वधर्म। किंतु सम्यता के सघात ने इस हिंदू आदिवासी नरतय को शिथिल कर दिया है। आज आदिवासी भारत राष्ट्र के अल्पमध्यक नागरिक हो गए हैं जा, अपनी राजनैतिक सत्ता का बनाये रखने के लिये अपने तथा अपनी सस्कृति की विशिष्टता के प्रति जागरूक है। आज सामाजिक प्रतिष्ठा की वैधता धर्म में नहीं राजनैतिक अधिकारों आर्थिक स्तर शिक्षा और सरकारी नौकरी से होती है। इसप्रकार, हिंदू आदिवासी नरतय शिथिल पड़ गया है। धर्मनिरपेक्षता ने इस शिथिलता का और भी बढावा दिया है। यद्यपि योरोपीय सम्यता के प्रभाव में, हिंदुत्व की इसनी यापक परिभाषा करने का प्रयास किया गया है कि आदिवासी भी उसमें आ जाय। किंतु इस काल में आदिवासियों ने हिंदुत्व का अद्वैतवागत ही किया है।

योरोपीय सम्यता के सघात से जैसे सारे भारत की कृषि आर्थिक व्यवस्था का धीरे धीरे औद्योगिक पूँजीवादी व्यवस्था में रूपांतरण हो रहा है वैसे ही गणजाति-आर्थिक व्यवस्था का भी रूपांतरण हो रहा है। किंतु इस रूपांतरण में अंग्रेजी राज के निहित स्वार्थों के कारण, एक ओर जमींदारों के रूप में सामंतवादी भी उत्पन्न हुआ और दूसरी ओर यापारी मध्यजनों के वर्ग का जो आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में क्षोण का माध्यम बन गया। उधर जंगलों के सुरक्षित रखने की नीति से आदिवासियों से जंगलों का आर्थिक लाभ छिन गया। जंगल कृषि पर रोक लगा दी गई या उस एक क्षेत्र में सीमित कर दिया गया जिसके कारण, जंगल कृषि उतनी उधरक न रही जितनी कि वह पहले हुआ करती थी। जंगल कृषि में खाद जलाए हुए पेड़ों से मिलती थी। पेड़ों की कमी होने के कारण, खाद की मात्रा कम होने लगी जिसका असर पदावार पर पड़ा। आदिवासी उद्योग धंधे बस ही क्षीण हुए जैसे कि सारे भारत में हुए। आदिवासी भी मिल की बनी वस्तुओं के प्रयोग की ओर आकर्षित हुए। बदलते-बदलते के स्थान पर, मुद्रा का प्रयोग बनन लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि गणजातीय आर्थिक व्यवस्था की आत्मनिर्भरता समाप्त होन लगी और आदिवासी भारत में गरीब कृषक वर्ग का एक अंग बन गया। मुद्रा के प्रसार के कारण, आदिवासी आर्थिक व्यवस्था में यापारिया ठेकेदारों और सूदखारों (सिक्खों और पठानों) का प्रवेश हुआ और वे वहाँ की व्यवस्था में क्षोणक वर्ग बन गए। जमींदारी प्रथा के कारण, सारी भूमि हिंदू जमींदारों के हाथ में चली गई जिसका परिणाम हुआ उत्तरात्तर बढ़ती हुई दीनता नराश्य असंतोष और प्रतिजिया।

आदिवासियों की आर्थिक दीनता का अन्दाजा डा० मजूमदार द्वारा दिए हुए एक उदाहरण से लगाया जा सकता है। एक आने का साग खरीदने या बेचने के लिये आदिवासी नारिया बीस-बीस मील तक का रास्ता तय करती हैं। छत्ता की

एक साप्ताहिक बाजार में सर्वगण से यह पता चला कि पल और मंजी बचने वाली आदिवासी नारियों की सख्या चौरासी थी जबकि उनका माल की कीमत थारह रुपए से ज्यादा नहीं थी और खरीदने वाला की सख्या हजारों में थी। लाग बड़ी थोड़ा नमक थोड़ी तम्बाकू और बाड़ा मिट्टी का तल ही अधिक खरीद रहे थे। बाजार से दस मील दूर के एक गांव के लोग ने जितना सामान खरीदा था, उसकी लागत साठ तीन रुपए से ज्यादा नहीं थी जबकि उस गांव में जण हुए खरीदारों की सख्या साठ थी। काल्हान में अकबर यह देखने में आता है कि आदिवासी नारियां, सुबह शाम, पड़ोस के गहरी स्थानों या रेलवे स्टेशन के गांवों की बड़ मील की यात्रा सिर्फ थोड़ी-सी मंजी या बाड़ा चावल बेचकर और उसका बाल में बाड़ा नमक या परिवार की आवश्यकता की जय छोटी माटी चीजे लाने के लिए करती हैं। छवासा के बाजार में सिर्फ खरीद फरोहत करने वाले ही नहीं आते हैं। वहां घूमने वाले, गप रचाने वाले और ठेका पर गराव पीने वाले एक बड़ी सख्या में आते हैं जो आदिवासीता की नींता और उनका द्वारा क्षीण होने वाले राष्ट्रीय धर्म के बकार जान का परिचामक है।

गणजातीय आर्थिक व्यवस्था मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था (Moneyless Economy) से, मुद्रा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तित हुई जिसका एक परिणाम हुआ आदिवासियों का उत्तरात्तर गायन और अधिक दीनता तथा, दूसरा गणजानि-मरचता में सामाजिक प्रतिष्ठा विभेद का अम्युदय और गणजातीय मत्ताधिकार में परिवर्तन। मुद्रारहित आर्थिक व्यवस्था स्त्रभावतया समष्टिवादी होती है। उसमें व्यक्तिगत या परिवारों द्वारा सम्पत्ति-संचय का कम स्थान रहता है क्योंकि सम्पत्ति मुद्रा में न निहित होकर कृषि की उपज तथा जानवरों के रूप में होती है जिस प्रत्येक परिवार के व्यक्ति अपने धर्म से उत्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था में प्रत्येक परिवार के सदस्यों का अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं का पूर्ति स्वयं करनी पड़ती है। इस व्यवस्था में, जो कुछ भी अतिरिक्त उपज होती है, उसे संचित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह जल्दी ही क्षीण हो जाती है। इसकारण, अतिरिक्त उपज बिरादरी के भाजा में समाप्त कर दी जाती है। मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था में, मुद्रा के रूप में, व्यक्ति का सम्पत्ति-संचय का अधिक धर्मतर मिलता है यदि वह सम्पत्ति संचय का अवसर दूसरा से छीन सके। इस व्यवस्था में, अपने समुदाय के कल्याण के परम्परागत उत्तरदायित्व से भी व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यहां सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म पर आधारित न रह कर, व्यक्ति के द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर आधारित हो जाती है जिसके कारण व्यक्तिवाद का प्रास्ताविक मिलता है।

मुद्रा अर्थ-व्यवस्था के निरंतर प्रसार तथा व्यापार सरकारी नोकियों और

काखाना में काम करके घन कमाने के बल्ले हुए अवमरो से, जादिवारिया में उन व्यक्ति का घन कमान और सचय करन के अवसर मिले जा इसके योग्य थे। इसका परिणाम हुआ गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) के आधार में परिवर्तन। पहले एक गणजाति में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति हात में जोर निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले भी। किंतु, यह व्यवस्था वशानुक्रम के सिद्धांत पर चलती थी। दूसरे निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले के पास अपनी प्रतिष्ठा के बढ़ाने के साधन नहीं और उच्च प्रतिष्ठा वाले के पास सम्पत्ति सचय की अधिक गुंजाइश नहीं थी। अतः सामाजिक प्रतिष्ठा का अंतर आर्थिक विषमता का पराधीन नहीं था। मुद्रा अथवा व्यवस्था में गणजाति के उच्च प्रतिष्ठा वाले का सम्पत्ति सचय का अवसर मिला और निम्न प्रतिष्ठा वाले का अपने आर्थिक स्तर का बढ़ावा कर सामाजिक प्रतिष्ठा उठाने का अवसर। अंग्रेजी राज में लागू की गई विधि प्रणाली और कृषि के अतिरिक्त मिलन वाले आर्थिक साधनों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया का और भी प्रचलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गणजाति में ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने शिक्षा के द्वारा या सरकारी नौकरियों के द्वारा या लोगों मिले या चाय के बाग में काम करके या अन्य कस्यान पर मुद्रा कमाने का फसल का बाजार अपनी आर्थिक स्थिति को उठाकर सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह वह वर्ग है जो वशानुक्रम सत्ताधारियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है जिसके कारण जसा कि हम गणजाति में हो रहा है परम्परागत गणजातीय नस्ल के ह्रास हो रहा है। यह वर्ग या ताबारा पीढ़ी की ओर उन्मुख है या हिन्दु की ओर, और भारत की नई सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में समाप्त स्थान पाने के लिए उन्मुख है। उन बड़े आदिवासी जीवन से अलग होने के प्रयास में है। पर, साथ ही साथ उन उस स्तर पर सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है जहां वह माना गया पान का इच्छा है। इसके परिणामस्वरूप, यह वर्ग शक और आदिवासी जीवन से अपने को दूर भी रखना चाहता है और दूसरी ओर आदिवासी जीवन का भगति भी करना चाहता है और बदलना भी चाहता है ताकि आदिवासी का स्तर बढ़ने के साथ साथ उसका भी स्तर बढ़े। बालिग मताधिकार सरकारी नौकरियां तथा विधानसभाओं में आदिवासियों का मिली आरक्षित भाग ने इस प्रक्रिया का और भी प्रसरण बना दिया है।

यह विकास के कई सामाजिक परिणाम निकले हैं। पहला गणजाति में वर्ग व्यवस्था का समावेश हो रहा है जिसके कारण गणजाति में वर्ग विभेदीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। दूसरा उच्च वर्ग का अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये गणजाति की प्रतिष्ठा को उठाने की आवश्यकता पड़ रही है जिसके कारण वर्ग विभेदीकरण के साथ साथ गणजाति एकीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। जाति की भांति गणजाति में भी विशृंखल तथा एकीकरण की प्रक्रियाएँ साथ साथ चल

रही है। तीसरा, इन साथ साथ चलने वाली विभू सलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं की एक अभिव्यक्ति है हिन्दूकरण और योरोपीयकरण। दूसरी आदिवासी पुनरुत्थान और तीसरी आदिवासी सभ्य जस मुधारवादी सगठना का अभ्युदय स्वतन्त्र नागा प्रदेश और बिहार तथा उड़ीसा व आदिवासियों द्वारा अखण्ड प्रांत जसी मांगों के द्वारा राजनतिक अविकारों की मांग। चौथा, आदिवासी समाज में एक ऐसा वग पदा हुआ गया है जो आदिवासी है भी और नहीं भी, जो आदिवासी सस्कृति के सीमांत में है और आदिवासी सस्कृति के मुधार की मांग कर रहा है। आज आदिवासी समाज का नेतृत्व इसी वग के हाथ में है—वह वग जो अशत आदिवासी नहीं रहा है किन्तु जो आदिवासीत्व का छांड भी नहीं सकता है क्योंकि उसका स्वाध इसी में है। वशानुगत नेतृत्व के प्रभाव के कम होने और इस वग के नेतृत्व का प्रभाव बढ़ने का परिणाम यह हुआ है कि आदिवासी सस्कृति के प्रति आदिवासी के दृष्टिकोण में विरोध आ गया है जिससे जीवन के प्रति उदासीनता का प्रासाहन मिल रहा है।

अंग्रेजा राज के सघात से एक ओर, गणजाति प्रशासन व्यवस्था बदली। अंग्रेजा की पृथक्करण की नीति के कारण आदिवासी राष्ट्रीय जीवन ने प्रवाह से अलग रहे और, दूसरी ओर यह विचार धीरे धीरे पनपता गया कि आदिवासी क्षत्रों के लिए एक अलग प्रशासन प्रणाली की आवश्यकता है। इसका परिणाम हुआ अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली (The System of Indirect Rule) जो अंग्रेजी राज्य काल में विकसित हुआ है। इस विकास को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने जन्म दिया है। अप्रत्यक्ष प्रशासन और आदिवासियों का पृथक्करण, अंग्रेजी नीति के दो आधार रह हैं जिनका श्रीगणेश उस समय हुआ था जब बंगाल की राजमहल पहाड़ियों में रहने वाली गणजाति (हिल पहाड़िया) के आंदोलन को कुचलने तथा आदिवासी नेताओं का पेंशन के रूप में घस देकर उन्हें चुप करने के बाद सन 1872 में अंग्रेजों ने राजमहल पहाड़ियों के आदिवासी क्षत्र में स्थानीय नेताओं का दीवानी तथा फौजदारों के मुकदमों का फसला करने का अधिकार देकर, स्थानीय न्यायालयों का संगठन किया। हिल पहाड़िया गणजाति के लोगों ने हिंदू जमींदारों से तग आकर निद्राह किया था। इसलिये उन्हें बेलगानी जमीन दी गई। एक विधानमंडल का संगठन करके, उसे स्थानीय प्रशासन और न्याय व्यवस्था को संगठित करने का अधिकार दिया गया। किन्तु स्थानीय अपसरों के भ्रष्टाचार के कारण यह प्रयोग सफल न हो सका। बाद में (1827), इस प्रदेश की गणजातियों को साधारण प्रदातों के अधिकार-भन्तर में लाकर, उन्हें अशत आदिवासी विधि प्रणाली और अंत, सामान्य भारतीय विधि प्रणाली के अंतगत रक्खा गया। सन 1855 में, जब सभ्याला न विद्रोह किया तो सभ्याल क्षेत्र के अपसरों को विशेष प्रशासनिक अधिकार देकर सभ्याल-क्षेत्रों को विशेष प्रशासन क्षेत्र घोषित करके, उनका विधि उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को दिया गया। इसप्रकार, आदिवासी क्षेत्रों को विशेष अनुसूचित

कारखाना में काम करके घन कमाने के बढते हुए अवसरो में जादिवासियों में उन व्यक्तिगता का घन कमान और मजदूरी करने के अवसर मिले जो इसके योग्य थे। इसका परिणाम हुआ गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली (Social Status System) का आधार में परिवर्तन। पहले एक गणजाति में उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति हान थे और निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले भी। किंतु यह व्यवस्था वंशानुक्रम के सिद्धांत पर चलती थी। दूसरे निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा वाले के पास अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के साधन न थे और उच्च प्रतिष्ठा वाले के पास सम्पत्ति मजदूरी की अधिक गुंजाइश न थी। अतः सामाजिक प्रतिष्ठाओं का अंतर आर्थिक विषमताओं पर आधारित न था। मुद्रा नये व्यवस्था में गणजाति के उच्च प्रतिष्ठा वाले का सम्पत्ति मजदूरी या अवसर बिना और निम्न प्रतिष्ठा वाले को अपने आर्थिक स्तर के बढा कर सामाजिक प्रतिष्ठा उठाने का अवसर। अंग्रेजी राज में लागू की गई विधि प्रणाली और कृषि के अतिरिक्त मिलन वाले आर्थिक साधनों ने इस परिवर्तन प्रक्रिया को और भी प्रेरित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गणजाति में ऐसे व्यक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्होंने शिक्षा के द्वारा या सरकारी नौकरियों के द्वारा या छात्रों मिली या चाय के बागों में काम करके या अन्य के स्थान पर मुद्रा कमान बाजार फमाली का बोझ अपनी आर्थिक स्थिति को उठाने में सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की। यह यह वण है जो वंशानुक्रम सत्ताधारिता की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता जा रहा है जिसके कारण जसा कि दो गणजाति में हो रहा है परम्परागत गणजातीय नस्ल के ह्रास हो रहा है। यह वग या सारो पायता की ओर उ मुख है या हिन्दु की ओर और भारत की नई सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में समान स्थान पाने के लिए उ मुख है। अब वह आश्विनी जीवन से अलग होने के प्रयास में है। पर, साथ ही साथ उसे उस स्तर पर सामाजिक मान्यता नहीं मिलती है जहां वह मान्यता पाने का इच्छा है। इसके परिणामस्वरूप यह वग अपने आश्विनी जीवन से अपने का दूर भी रखना चाहता है और दूसरी ओर आश्विनी जावन के मगठित भी करना चाहता है और बदलना भी चाहता है ताकि आश्विनी का स्तर बदलने के साथ साथ उसका भी स्तर बदल। बालिग मताधिकार मरकारी नीतिरिधो तथा विधानसभाओं में आदिवासियों का मित्र आरक्षित माना न इस प्रक्रिया का और भी प्रगट बना दिया है।

सम विकास के कई सामाजिक परिणाम निकले हैं। पहला गणजाति में वर्गव्यवस्था का समावेश हो रहा है जिसके कारण गणजाति में वर्गविभेदीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। दूसरा उच्च वर्ग का अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए गणजाति की प्रतिष्ठा का उठाने की आवश्यकता पड़ रही है जिसने कारण वर्ग विभेदीकरण के साथ साथ गणजाति एकीकरण की प्रक्रिया भी चल रही है। जाति की भांति गणजाति में भी विभूत खलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाएँ साथ साथ चल

रही है। तीसरा इन साथ-साथ चलने वाली विभू खलन तथा एकीकरण की प्रक्रियाओं की एक अभिव्यक्ति है हिंदूकरण और योरोपायकरण, दूसरी आदिवासी पुनरन्वयन और तीसरी आदिवासी सभ्य जस सुधारवाणी संगठनों का अभ्युदय, स्वतंत्र नागा प्रदश और बिहार तथा उड़ीसा के आदिवासियों द्वारा असह्य प्राप्त जसी मागा के द्वारा राजनतिक अधिकारों की भाग। चौथा, आदिवासी समाज में एक ऐसा बग पैदा हा गया है जा आदिवासी है भी और नहीं भी, जा आदिवासी सस्कृति के सीमांत में है और आन्वासी सस्कृति के सुधार की भाग कर रहा है। आज आदिवासी समाज का नेतृत्व इसी बग के हाथ में है—वह बग जो अशत आदिवासी नहीं रहा है किंतु जा आदिवासीत्व को छोड़ भी नहीं सकता है क्योंकि उसका स्वाय इसी में है। बगानुगत नेतृत्व के प्रभाव के कम होने और इस बग के नेतृत्व का प्रभाव बढन का परिणाम यह हुआ है कि आदिवासी सस्कृति के प्रति आदिवासी के दृष्टिकोण में विरोध आ गया है जिससे जीवन के प्रति उदासीनता का प्राप्ताहन मिल रहा है।

अंग्रेजों राज के मघात से, एक ओर गणजाति प्रशासन व्यवस्था बदली। अंग्रेजों की पधक्करण की नीति के कारण आदिवासी राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह से अलग रह और दूसरी ओर, यह विचार धीरे धीरे पनपता गया कि आदिवासी क्षेत्रों के लिए एक अलग प्रशासन प्रणाली की आवश्यकता है। इसका परिणाम हुआ अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली (The System of Indirect Rule) जो अंग्रेजी राज्य-काल में विकसित हुआ है। इस विकास को ऐतिहासिक परिस्थितियों ने जन्म दिया है। अप्रत्यक्ष प्रशासन और आदिवासियों का पधक्करण, अंग्रेजी नीति के दो आधार रह हैं जिनका धीगण उस समय हुआ था जब बंगाल की राजमहल पहाडियां में रहने वाली गणजाति (हिल पहाडियां) के आदालन का कुचलन तथा आदिवासी नेताओं का पेशान के रूप में घस दवर उह चुप करने के बाद, सन 1872 में अंग्रेजों ने राजमहल पहाडियों के आदिवासी क्षेत्रों में, स्थानीय नताया का दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों का फैमला करने का अधिकार देकर, स्थानीय मामलों को संगठन किया। हिल पहाडियां गणजाति के लागाने, हिंदू जमीनारों से लग आकर, विद्राह किया था। इसलिये उह बेलगानी जमीन दी गई। एक विधानसभा का संगठन करके उस स्थानीय प्रशासन और माध-मध्यस्था का संगठित करने का अधि कार दिया गया। किंतु स्थानीय अफसरी के अष्टाचार के कारण यह प्रयाग सफल न हो सका। बाद में (1827) इस प्रदेश की गणजातियों को साधारण अष्टात्तो के अधिकार क्षत्र में लाकर, उह अशत आदिवासी विधि प्रणाली और अशत, सामाज्य भारतीय विधि प्रणाली के अतगत रक्ता गया। सन 1855 में, जब सचाल ने विद्रोह किया ता सचाल क्षेत्र के अफसरी को विधाय प्रशासनिक अधिकार देकर, सचाल-क्षेत्रों का विधाय प्रशासन-क्षेत्र घोषित करके, उनका विधाय उत्तरदायित्व गवनर जनरल का दिया गया। इसप्रकार, आन्वासी क्षेत्रों को विधाय अनुसूचित

क्षेत्र मानकर और उनके लिये स्थानीय प्रशासकों के अनुसार स्थानीय नेताओं को सहायता से प्रशासन चलाने की परम्परा का अम्युदय हुआ, जो सन 1947 तक बनी रही। इस परम्परा में, किसी भी क्षेत्र को विशेष या अनुसूचित क्षेत्र घोषित करने का अधिकार गवर्नर और गवर्नर जनरल को था और देश का प्रशासन सामान्य प्रशासन से अलग गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व था। इस नीति से आदिवासी पथक्करण को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजों ने आदिवासियों को अन्य भारतीयों से पथक्कृत ही नहीं किया बरन उनके लिये अलग प्रशासन नियमा और दण्ड विधान की व्यवस्था थी। अपराधी गणजातियाँ अविनियम के अनुसार, अपराधी गणजातियों के अपराधियों को, समान अपराध के लिये सामान्य व्यक्ति से अधिक दंड देने का विधान किया गया था जो अब समाप्त हो गया है।

गणजातियों के अप्रत्यक्ष प्रशासन की परम्परा अंग्रेजों के पहले से चली आ रही थी। भारत के सम्राटों और राजाओं ने गणजातियों को अपनी राजनैतिक अधीनता में रखवा, उनमें कर लिया किन्तु उनके सामाजिक आर्थिक जीवन को बसा ही रहने दिया और गणजाति के जातिगत प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया। गणजाति के वंशानुक्रम नता किसी राजा या सम्राट की अधीनता में अवश्य रहते थे किन्तु स्थानीय शासन का रूप में वे स्वतंत्र रहते थे। वे प्रशासन के वनानिक एजेण्ट नहीं होते थे। किन्तु अंग्रेजों ने अप्रत्यक्ष प्रशासन की जा व्यवस्था चलाइ उससे गणजाति के नेता जब अंग्रेजों की आर से सरकारी प्रशासक नियुक्त किये गए तो, वे नेता न रहकर एक विदेशी सरकार के वननिक एजेण्ट हो गये। उनका उत्तरदायित्व गणजाति के प्रति न रहकर, सरकार के प्रति हो गया। उनका नेतृत्व गणजाति के सम्मियों की इच्छा पर न निर्भर रहकर सरकार की इच्छा पर निर्भर रहने लगा। अपनी सत्ता जमाये रखने के लिये विदेशी सरकार ने उन्हें अधिक से अधिक सम्भव अधिकार दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि नयी आर्थिक प्रशासन व्यवस्था में उन्हें व्यक्तिगत स्वार्थों की समझने की प्रेरणा मिली। रिदवत लना, गहन करना, भ्रष्टाचार फैलाना अपराधों के प्रमाणों को दबाना और अपने ही साथियों का भोषण करना सरकार द्वारा नियुक्त आदिवासी अफसरों के मुख्य पाप हो गये। आसाम की अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली की आलोचना करते हुए हटन ने लिखा था कि 'वनानुक्रम मुखिया को मिलने वाली सरकारी मायता का भोषण और भ्रष्टाचार का फैलना स्वाभाविक है क्योंकि विद्रोह के डर से सरकार मुखिया के अधिकारों को सहन करता है और मुखिया अपने अधिकारों का निरकुश उपयोग करता है'¹।

मजूमदार के मत में आदिवासी स्थानीय प्रशासन भ्रष्ट है लेकिन फिर भी, आदिवासियों में गुप्त स्थानीय प्रशासन की स्थापना के पक्ष में यथेष्ट तर्क है पहला, आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन की परम्परा रही है और उसे उन्होंने सुरक्षित कर

रखा है। दूसरा आदिवासी-मोरापियन सम्पर्क व बाबूद आदिवासी सभ्यता के अनेक पक्ष ज्यों के त्यों हैं। तीसरा गणजाति के मुखिया अब भी वन ही काम कर रहे हैं जिस कि वे, मोरापियन के सम्पर्क में ग्राम व पट्टा करने थे। चौथा, प्रजातन्त्र की योरोपीय धारणा आदिवासियों में नहीं पाई जाती है। आदिवासी शासक तथा उनकी वृद्ध परिषद व स्थान पर निगाधीन की नियुक्ति आदिवासी प्रशासन का स्थान नहीं ले सकती है। आदिवासी शासन प्रणाली के स्थान पर, निगाधीन शासन प्रणाली की स्थापना वस्तुतः एक एसी बाह्य प्रणाली की स्थापना करता है जिसका आदिवासी जीवन में कोई स्थान नहीं है। मजूमदार आदिवासी क्षेत्रों में, स्थानीय प्रशासन प्रणाली स्थापना के पक्ष में हैं क्योंकि एक बार योरोपीय प्रशासन प्रणाली आदिवासियों के लिये विदेशी है और दूसरी ओर आदिवासियों में स्थानीय प्रशासन प्रणाली की परम्पराएँ अब भी विद्यमान हैं^१। इसी परम्परा का

१. अधिकतर गणजातियों में गणजातीय संगठन पाया जाता है। कहीं सम्पूर्ण गणजाति का वगानुक्रम मुखिया पाया जाता है कहीं गांव या कई गावों से मिलकर बने क्षेत्र के वगानुक्रम अध्यक्ष या मुखिया पाये जाते हैं जो राजनैतिक और सामाजिक सत्ता के अधिकारी होते हैं। ये अध्यक्ष या मुखिया अक्सर गणजाति के वृद्धों की सलाहकार परिषद की राय से काम करते हैं। परिषद के सदस्यों की सत्ता या तो मुखिया से मिलती है या गांव के निर्माण में उनके द्वारा दिये हुए योगदान से। छोटा नागपुर में ऐसे लोगों को छूट बट्टादार या नुइहार (जंगल साफ करने वाला) कहते हैं। हो गणजाति में प्रत्येक गांव का एक अध्यक्ष (मुण्डा) होता है जो वहाँ अध्यक्ष (मनकी) के अधीन होता है। एक गांव में दो-तीन गांव आते हैं। प्रत्येक गांव में एक पुजारी एक मुनीम और कई कामकाज होते हैं जो गांव के अफसर समझे जाते हैं। फसल बटने पर, इन लोगों की प्रत्येक परिवार से पारिवारिक मिलता है। कुछ मुण्डा गावों में ग्राम अध्यक्ष और पुजारी एक ही व्यक्ति होता है किन्तु जहाँ गांव बड़ा होता है, वहाँ पुजारी और अध्यक्ष के पद अलग अलग लोगों के पास होते हैं। सभ्यता में, ग्रामाध्यक्ष माझी कहलाता है और वह परगना अध्यक्ष (परगनाइत) के अधीन होता है। एक परगने में कई गांव आते हैं। माझी और परगनाइत दोनों मिलकर सभ्यता सामाजिक व्यवस्था का नियमन करते हैं। जोग माझी, माझी के आदेशों को लागू करता है। खोंडों में प्रत्येक इलाके का मुखिया और वगानुक्रम मिलकर स्थानीय प्रशासन चलाते हैं। खोंडों में पटेल ग्रामाध्यक्ष भी होता है और ग्रामाध्यक्ष भी। इस प्रकार, आदिवासी समाज के भी वगानुक्रम प्रशासक केवल प्रशासक नहीं हैं और न केवल वे राजनैतिक नेता मात्र हैं। उनका पद सामूहिक जीवन का एक अंग है—मजूमदार दि मट्रिक्स आफ इंडियन कल्चर पृष्ठ 139-41

उपयोग आदिवासी प्रशासन में होना चाहिए न कि सरकार द्वारा नियुक्त भ्रष्ट आदिवासी एजेंटों का। मजूमदार वंश का आधार यह तथ्य है कि आदिवासी प्रशासन व्यवस्था यथार्थीय व्यवस्था से भिन्न है और इसकारण आदिवासियों पर यथार्थीय व्यवस्था लादी नहीं जानी चाहिए। आदिवासी क्षेत्रों में घाना और पुर्लिस की स्थापना को मजूमदार महत्व नहीं देते हैं क्योंकि वे आदिवासियों का आदिवासियों द्वारा प्रशासन चाहते हैं। उनके वंश का मुख्य उद्देश्य है आदिवासी जीवन का सम्यक्ता के विश्वस्तनकारी प्रभाव से बचाना।

स्वतंत्रता के पश्चात् सारी समस्याएँ नए नए रूप में ली गई हैं क्योंकि अब यथार्थीय घाना आदिवासियों की समस्या नहीं रही है। अब समस्या है एक ऐसी प्रशासन प्रणाली का स्थापना की जिसमें आदिवासी जीवन विश्वस्तनकारी भी न हो और उसका राष्ट्रीय प्रवाह से पर्याप्तकरण भी न हो। संविधान में जिस प्रशासन प्रणाली का निर्माण किया गया है उसमें अंग्रेजों द्वारा स्वीकृत प्रणाली का थोड़ा बदलकर स्वीकार किया गया है। आज आदिवासी एक अलग समूह नहीं है। वे भारत के नागरिक हैं और उन्हें वही मौलिक अधिकार तथा सुविधाएँ प्राप्त हैं जो भारत के एक सामान्य नागरिक को प्राप्त हैं। किंतु आदिवासी एक पिछड़ा हुआ अपसंस्कृत वर्ग है अतः उनके लिये विशेष प्रशासन की आवश्यकताओं का स्वीकार किया गया है। संविधान में यह निर्दिष्ट किया गया है आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के सामाजिक विकास और कल्याण का देखभाल राष्ट्रपति और राज्यपालों का विशेष उत्तरदायित्व है। इसके लिये राष्ट्रपति का, राज्यपाल की सहायता से, किसी भी गणजाति और जाति का अनुसूचित घोषित करने का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रपति को यह अनुसूचित क्षेत्र घोषित करने का अधिकार भी दिया गया है कि आदिवासी कल्याण के लिये वह आदिवासी क्षेत्रों का उसकी दम्भाल के लिए आदेश दे और समय समय पर उसमें कल्याणकारी कार्यक्रम के विकास पर रिपोर्ट ले। पिछड़े वर्गों की जाँच करने और उनके सुधार के लिये सलाह देने के लिये राष्ट्रपति का कमांडन नियुक्त करने का अधिकार है। काका कालकर की अध्यक्षता में ऐसा एक कमिशन (1952-53) अपनी रिपोर्ट पेश कर चुका है। राष्ट्रपति का इसके लिये एक विशेष अधिकार नियुक्त करने का अधिकार है जिसके फलस्वरूप पिछड़े वर्गों (जिसमें अनुसूचित जातियाँ तथा गणजातियाँ और क्षेत्र जाते हैं) में विकास कार्य का देखभाल के लिये एक कमिशनर का नियुक्ति की गई है।

संविधान में यह निर्दिष्ट दिया गया है कि राज्य समाज के कमजोर तबकों की शिक्षा और आर्थिक हितों का विशेष ध्यान रखेगी और सभी प्रकार के सामाजिक अत्याचार तथा गणहत्या में उनकी रक्षा करेगी तथा इस शिक्षा में अनुसूचित जातियाँ और गणजातियों की दृष्टि पर विशेष ध्यान देगी। संविधान में बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में आदिवासी-कल्याण-मंत्रालयों के संगठन का निर्देश है क्योंकि इन

प्रदेशों में आदिवासियों की संख्या ज्यादा है। मामलों के प्रशासन के लिये, अलग विधान है और, जा क्षेत्र आसाम, उड़ीसा, बिहार और मध्यप्रदेश के बाहर पड़ते हैं, उनके लिये एक अलग विधान की व्यवस्था है। आसाम के आदिवासी-क्षेत्रों के प्रशासन के लिये, स्थानीय शासन के अधिकारों से युक्त मण्डल और प्रदेशों के निर्माण तथा उनमें परिषदों के संगठन का विधान किया गया है। ये परिषद स्थानीय मामलों में स्वतंत्र हैं और स्थानीय सामाजिक जीवन के नियमों का इन्हें अधिकार है। 'याय-प्रशासन' का भी इन्हें अधिकार है। भारतीय दण्ड मंडिता में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार, ये परिषदें परिवर्तन कर सकती हैं। संसद के अधिनियमों का प्रत्यक्ष क्षेत्र में लागू करने, रोकने या बदलने का इन्हें अधिकार है। नागालैण्ड आज एक अलग प्रदेश का रूप में बदल गया है।

संविधान के अनुसार आदिवासियों को बालिग मताधिकार मिला है। भारतीय संसद और प्रदेशों की विधानसभाओं में आदिवासियों की सीटें आरक्षित हैं। सरकारों की कार्यवाही में भी उनकी सीटें आरक्षित हैं। सीटों के आरक्षण का विधान पहले दस साल के लिये था किन्तु, बाद में इसे अब 20 जनवरी सन 1970 तक बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित जनजातियों के कल्याण तथा उनका अच्छा प्रशासन प्रदान करने के लिये संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों का जल स अनुदान दिया करेगी।

संविधान में आदिवासी सलाहकार परिषद के संगठन का विधान है। इस परिषद का कार्य राज्यपाल को आदिवासी प्रशासन के मामलों में सलाह देना है। संविधान में राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों में सामान्य कानून का लागू होना रोक सकता है या उसे आवश्यकतानुसार बदल सकता है। राज्यपाल सलाहकार परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु उसका यह अधिकार निरंकुश भी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में शांति बनाये रखने के लिए या उनमेंतर प्रशासन लाने के लिए या 'यापारियों तथा मूदपोरा की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने के लिए या आदिवासियों की भूमि का दूसरों के हाथ में जान से रोकने के लिए या भूमि का बंटवारा करने के लिए राज्यपाल सामान्य कानून का रोक या बदल सकता है।

भारतीय संविधान में, इस प्रकार, जिस प्रशासन-व्यवस्था की रूपरेखा रखी गई है उसके आधारभूत उद्देश्य हैं आदिवासी समाज को विगिष्टता बनाये रखा उसे धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय जीवन से एकीकृत करना बिश्व सल्लनकारी तथा शोषण शक्तिवाद का दूर करना और आदिवासी समाज के विकास तथा कल्याण के माग को प्रशस्त करना। भारत का नागरिक मानते हुए भी आदिवासियों का अलग से विगिष्ट अधिकार प्रदान करना अतः भारत की संस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं और अपेक्षाओं द्वारा अपनाई गई नीति के स्वाभाविक ऐतिहासिक परिणाम हैं।

हमारा जीवन अब निरर्थक है। हम एक ही गणजाति के हैं। आओ हम संगठित हो और संगठित होकर हम भी मारें लूट और नाश करें। छोटा नागपुर के एक जमन मिशन की रिपोर्ट में आदिवासी भावना का इसप्रकार व्यक्त किया गया है हमें प्रेतात्माओं की पूजा छोड़कर इसाई हो जाना चाहिए ताकि, पादरियों की सहायता से हम हिंदुओं के अयाय से बच सकें और अपनी खोई हुई भती पुनः प्राप्त कर सकें¹। इसाईयत ने आदिवासियों को आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं दी वरन् प्रतिस्पर्धात्मक प्रेरणा दी है। इसाईयत से आदिवासी बनाम गैर आदिवासी के सामाजिक संघर्ष को प्रेरणा मिली है। नागा प्रान्त के और हाल के बिहार तथा उड़ीसा के दंग इसका प्रमाण हैं।

इसाईयत के संघर्ष ने आदिवासियों में संस्कृति-करण की जिम प्रक्रिया को जन्म दिया है वह संस्कृति-इज्जत को और नहीं बरन पारोपीयकरण की ओर उन्मुख रही है। पारोपीयकरण का अर्थ रहा है जब संगठन में प्रविष्ट होना जब पूजा पद्धति का तथा इसाई ईश्वरवाद को अपनाना, आदिवासी विश्वासों तथा कर्मकाण्ड को छोड़ना पारोपाय वेश भूषा तथा तीर-तरीकों और इसाई सामाजिक संगठनों (मुख्यतया एक बिनाही पितृसत्तात्मक परिवार, इसाई विवाह पद्धति तथा यैबिनवादी सामाजिक सम्बन्धों) का अपनाना। इसाई धर्म में प्रविष्ट होने वाले आदिवासी, संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया में अपने ही पर नहीं छाड़ दिये जाते हैं। इसाई मिशनरों द्वारा इस प्रक्रिया का जागे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आदिवासी के दंगी तीर-तरीकों और इसाई तीर-तरीकों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसाईयत ने आदिवासी समाज में अव्यक्त सम्पत्ति के अधिनाशों पितृसत्तात्मक परिवार और उत्तराधिकार-सम्बन्धी विचारों का प्रोत्साहित किया है। वही वही ये विचार आदिवासी प्रथाओं के विरोध में पड़ कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। खासी इसाईया के मातृसत्तात्मक परिवार संगठन में सबसे छोटी लड़की के उत्तराधिकार की वैधता को लेकर, मुकदमों खाने के विवरण मिले हैं। जो इसाई खासी हो गए हैं वे खासी परम्पराओं का नवनिवर्धन करने वह प्रतिपादित करने लग गए हैं जो सम्भवतः, खासी परम्पराओं में नहीं है। इसाई गाढ़ गातुल को हथ दष्टि से देखने लग है।

इसाई मिशनरियों ने आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार किया उन्हें सम्पत्ति से परिचित कराया उनको लिए अस्पतालों का स्थापित किया उनकी बालियों का विकास करने, उन्हें भाषा का स्तर प्रदान करने का प्रयास किया और जमींदारों तथा महाजनों के गावण से उन्हें राण दिलाने की कागिश्त भी की। किन्तु साथ ही साथ, मिशनरियों ने, आदिवासियों को इसाई बना कर एक ऐसे सांस्कृतिक संसार में ला पटका है जो न भारतीय है, न आदिवासी और न पारोपीय। यह एक सीमा तक संसार

प्रदेशों में आदिवासियों की संख्या ज्यादा है। आसाम के प्रशासन के लिये, अलग विधान है और, जावेन आसाम, उड़ीसा, बिहार और मध्यप्रदेश के बाहर पड़ते हैं, उनके लिये एक अलग विधान की व्यवस्था है। आसाम के आदिवासी क्षेत्रों के प्रशासन के लिये, स्थानीय शासन के अधिकारों से मुक्त, मण्डलों और प्रदेशों के निर्माण तथा उनमें परिपक्वता के संगठन का विधान किया गया है। यह परिपक्व स्थानीय मामलों में स्वयं हैं और स्थानीय सामाजिक जीवन के नियमों का इन्हें अधिकार है। प्रायः प्रशासन का भी इन्हें अधिकार है। भारतीय दण्ड महीता में, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार, ये परिपक्व परिवर्तन कर सकते हैं। संसद के अधिनियमों का अपने क्षेत्र में लागू करने, रोकने या बदलने का इन्हें अधिकार है। नागालैण्ड आज एक अलग प्रदेश के रूप में बनेला गया है।

संविधान के अनुसार आदिवासियों को बालिग प्रताधिकार मिला है। भारतीय संसद और प्रदेशों की विधानमण्डलों में आदिवासियों की सीटें आरक्षित हैं। सरकारी नीतियों में भी उनकी सीटें आरक्षित हैं। सीटों के आरक्षण का विचार पहल दस साल के लिये था किन्तु बाद में इसे अब 20 जनवरी में 1970 तक बढ़ा दिया गया है। अनुसूचित गणजातियों के कल्याण तथा उनका अच्छा प्रशासन प्रदान करने के लिये संविधान में यह निर्देश दिया गया है कि केन्द्र सरकार राज्य सरकारों से जंगल से अनुदान दिया करेगी।

संविधान में आदिवासी सलाहकार परिषद के संगठन का विधान है। इस परिषद का काम राज्यपाल को आदिवासी प्रशासन के मामलों में सलाह देना है। संविधान में राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि अपने राज्य के अनुसूचित क्षेत्रों में सामान्य कानून का लागू होना रोक सकता है या उसे आवश्यकतानुसार बदल सकता है। राज्यपाल सलाहकार परिषद की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है किन्तु उनका यह अधिकार निरंकुश भी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में गति बनाये रखने के लिए या उत्तमतर प्रशासन लाने के लिए या व्यापारियों तथा मूदसतों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने के लिए या आदिवासियों की भूमि का दूसरों के हाथ में जान से रोकने के लिए या भूमि का बंटवारा करने के लिए राज्यपाल सामान्य कानून का रोक या बदल सकता है।

भारतीय संविधान में, इस प्रकार, जिस प्रशासन व्यवस्था की रूपरेखा रखी गई है उसके आधारभूत उद्देश्य है आदिवासी समाज की विशिष्टता बनाये रखना उस धीरे धीरे भारत के राष्ट्रीय जीवन से एकीकृत करना विश्व सलनकारी तथा गोपण शक्तियों को दूर करना और आदिवासी समाज के विकास तथा कल्याण के माग को प्रशस्त करना। भारत का नागरिक मानते हुए भी आदिवासियों को अलग से विनिष्ट अधिकार प्रदान करना अतः भारत की सङ्गठनकरण की प्रक्रियाओं और अंग्रेजों द्वारा अपनाई गई नीति के स्वाभाविक ऐतिहासिक परिणाम है।

मजूमदार के अनुसार इसाई मिशनरियो ने आदिवासियों में इसाइयत का प्रचार करने, आदिवासी सामाजिक सांस्कृतिक जीवन की जटिलताओं और इसाइयत का समस्याओं को और भी बढ़ा दिया है। एक जार पूजावादी सघात व्यवस्था के प्रभावों से गणजाति की सामाजिक संरचना में वर्ण-विभेदीकरण बढ़ा तो, दूसरी ओर, इसाइयत का प्रचार में गणजाति का धर्म के आधार पर लम्बा मक (Vertical) विभाजन हुआ और दोनों के सम्मिलित प्रभाव से सामाजिक विभूतलन और गर आदिवासीकरण (Detribalization)। आदिवासी गाँवों की जनता और गणजातियाँ आदिवासियों और गर आदिवासियों में बँट गए और उनमें सम्पर्क ही नहीं कम हुआ बरन धार्मिक मध्य भी बढ़ा। खासी इसाइया और गर इसाइया में बँट गये हैं और खासी गणजाति के इन दो तबकों में बहुत ही कम सामाजिक सम्पर्क है। इसाई धर्म में प्रविष्ट सभी आदिवासियों का उच्च जायिक स्तर न मिल सका। इसाई धर्म स्वीकार करने वाले आदिवासियों का समाज में हिंकारत कीनजर से देखा जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि इसाई आदिवासियों को अनेक नागरिक अधिकारों (Civil Rights) में भी हाथ घोना पड़ता है क्योंकि आदिवासी इसाई आदिवासी को घूत मानते हैं अतः इसाई होने वाले आदिवासी या तो अधिकतर भिन्न की नौकरी करते हैं या फिर बाहरी में चले जाते हैं। जहाँ इसाई आदिवासियों की मर्यादा अधिक है, वहाँ उनका प्रभुत्व रहता है और जहाँ उनकी संख्या कम है वहाँ अपनी ही बिरादरी की दृष्टि में धर्म बनने से बचने के लिए वे बाहरी में स्थानांतरित हो जाते हैं। समान आराध और मुण्डा इसाई रिकवा चलाकर, बाता लाकर खेतिहर मजदूरों के रूप में काम करके और छोटे माटे शिल्पी के रूप में अपनाकर जीवन बसर करते पाये गये हैं।

इसाइयत का प्रचार में आदिवासी समाज में विषमता ही नहीं आई है बरन संस्कृतिकरण की अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। हिंदुत्व में गणजाति का रूपांतरण धीरे धीरे होता था और इस रूपांतरण में आदिवासी को अपने विश्वासों और प्रथाओं को सहसा बदलना नहीं पड़ता था। जाति गणजाति सतति में चलने वाली हिंदूकरण की प्रक्रिया में या तो सम्पूर्ण गणजाति किसी सुधारवादी आन्दोलन के माध्यम से अपना उत्तरात्तर हिंदूकरण करती थी, या गणजाति के नेता हिंदुत्व से जागृत होकर, अपनी तथा गणजाति की सामाजिक प्रतिष्ठा का ऊँचा उठान के लिए गणजाति में हिंदू विश्वासों और प्रथाओं को नवोन्मेष (Innovation) के रूप में धीरे धीरे अपनाते थे। जाति के रूप में गणजाति की गिण्टताएँ बनी रहनी थी। हिंदूकरण का मूल आधार रहा है संस्कृताइजेसन। सम हिंदू प्रथाओं का वही तब अपनाया गया है जहाँ तक आवश्यक है। संस्कृताइजेसन का धर्म गणजाति की संस्कृति का आमूल चूल परिवर्तन नहीं रहा है और संस्कारण, संस्कृताइजेसन में गणजाति का सांस्कृतिक उन्मूलन नहीं होता था बरन

हिन्दू समाज में गणजाति को उसकी आधारभूत विनिष्टताओं के साथ एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। गणजाति का ज्ञान में स्थापनित होना का अर्थ होना था गणजाति द्वारा अपने विश्वासों और प्रथाओं में निम्न परम्पराओं का समन्वय। हिंदुत्व उस रूप में संगठित मिशनरीवादी धर्म नहीं रहा है जिन रूप में इसाईयत है। इसलिए हिंदुत्व में प्रवर्ण करने वाले समूहों से आधारभूत सांस्कृतिक परिवर्तन की मांग नहीं की गई है। और फिर जाति तथा गणजाति के सामाजिक आधारों में उनकी समानता रही है कि गणजाति का ज्ञान में स्थानान्तरण अवरोध रहित होना के साथ-साथ सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक स्तर ऊपर उठा हुआ काम होना था।

इसाइयत के सघात से इस प्रक्रिया का दूसरा रूप मिला। इसाइयत का पहला प्रभाव यह पड़ा कि आदिवासी विरोध इसाई आदिवासी अपने का आदिवासी और हिंदू में जलम एक विनिष्ट-समूह मानने लगे। इसाई मिशनरियों ने व्यक्तियों का धर्म परिवर्तन कराया है गणजातियों का नहीं जिसके कारण, आदिवासी समाज में और इसाई आदिवासियों के मानसिक गठन में हिंदू बनाम आदिवासी को लेकर, सामाजिक-मानसिक द्वन्द्व का समावेश हुआ। इसाई मिशनरियों ने दबाइया, अन्न और कपड़े पहले बाटे स्कूल पहले खोल और इसाइयत का प्रचार-बाद में किया। इसलिए, आदिवासी इसाइयत की ओर आध्यात्मिकता के कारण नहीं बरन कुछ सामाजिक लाभों की पूर्ति की प्रेरणा से आकृष्ट हुए। इसाइयत की सुयुक्तिबद्ध बौद्धिक धमकिया और आदिवासी के आधिदैविक सम्बन्धी भावात्मक विश्वास और कमकाष्ठ परम्पर विरोधी हैं। इसाई आदिवासी इसी विरोध का शिकार हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि इसाई आदिवासी न तो इसाई रहा और न आदिवासी। दूसरे धर्मों को हथ बताकर, अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना मिशनरी कार्य की एक साधारण विशेषता है। इसका परिणाम यह हुआ कि इसाई मिशनरी और इसाई-आदिवासी ने जहाँ आदिवासीत्व का हथ माना वहाँ आदिवासी इसाइयत के प्रति शकालु हो गया।

जहाँ गणजातियाँ और निम्नस्तर की जातियाँ काफी दिनों से साथ-साथ रहती आई हैं और उनके हितों में सघर्ष नहीं रहा है, वहाँ गणजातियाँ जाति के घेरे में प्रवर्ण करती रही हैं। किन्तु जहाँ आदिवासी हिंदू उपयोग, व्यापारिक और मूदस्तोरों के गणपण के शिकार रहे हैं और उन्हें बेगार करनी पड़ी है तथा आर्थिक शठिनाइयों के कारण अपनी खेती की भूमि से हाथ धोना पड़ा है और इन बाहरी लोगों के कारण आदिवासी नारियों का शरीरत्व भंग होना रहा है वटा, इसाइयत को एक प्रतिनिध्यावादी माध्यम के रूप में अपनाया गया है। कोल विद्रोह (1932) और छोटा नागपुर के आस-पास इसाइयत का प्रसार ऐसी ही परिस्थिति का परिणाम है। छोटा नागपुर के आस-पास गाये जाने वाले एक लावणीत में यह भाव आता है कि पठानों ने आकर हमारी दूरमत घोर सिक्खों ने हमारी बहना की अस्मत् लूट ली।

हमारा जीवन अब निरर्थक है। हम एक ही गणजाति के हैं। आओ हम संगठित हो और संगठित होकर हम भी मारें चूट और नाश करें। छोटा नगपुर के एक जमन मिशन की रिपोर्ट में आदिवासी भावना का इसप्रकार व्यक्त किया गया है हम प्रतापसाहब की पूजा छोड़कर इमाई हा जाना चाहिए ताकि पादरियों की सहायता से हम हिंदुजा व आयाय से बच सक और अपनी खोई हुई सती पुन प्राप्त कर सक १। इमाइयत ने आदिवासियों को आध्यात्मिक प्रेरणा नहीं दी वरन प्रतिस्वियात्मक प्रेरणा दी है। इमाइयत से आदिवासी बनाम गर आदिवासी के सामाजिक संघर्ष को प्रेरणा मिली है। नागा प्रदेश व और हाल के बिहार तथा उड़ीसा व दंग इसका प्रमाण हैं।

इसाइयत व संघर्ष ने आदिवासियों में संस्कृतिकरण की जिम प्रक्रिया को जन्म दिया है वह संस्कृतिराज्य की ओर नहीं वरन यारापीयकरण की ओर उन्मुख रही है। यारापीयकरण का अर्थ रहा है चर्च संगठन में प्रविष्ट होना चर्च पूजा पद्धति का तथा इमाई ईश्वरवाद का अपनाना आदिवासी विद्वानों तथा कमकाण्ड को छानना योरोपीय वंश भूपा तथा तीर-तरीका और इसाई सामाजिक संगठनों (मुख्यतया एक विवाही पितृसत्तात्मक परिवार इसाई विवाह पद्धति तथा यकिनवादी सामाजिक सम्बंधों) का अपनाना। इसाई धर्म में प्रविष्ट होने वाले आदिवासी संस्कृतिकरण की इस प्रक्रिया में अपने ही पर नहीं छाड़ दिया जात हैं। इमाई मिशनरी बराबर इस प्रक्रिया का आग बढन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि आदिवासी के दली तीर तरीको और इसाई तीर तरीका में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इसाइयत ने आदिवासी समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों पितृसत्तात्मक परिवार और उत्तराधिकार-सम्बंधी विचारों का प्रोत्साहित किया है। कहीं कहीं ये विचार, आदिवासी प्रथाओं व विरोध में पड़ कर संघर्ष उत्पन्न करने हैं। खासी इसाइया के मानसत्तात्मक परिवार संगठन में सबसे छोटी लड़की व उत्तराधिकार की संघर्षता का स्तर, मुकदम चर्चने के विवरण मिले हैं। जो इसाई खासी हो गए हैं वे खासी परम्पराओं का नवनिर्वाचन करके वह प्रतिष्ठापित करने लग गए हैं जो सम्भवतः, खासी परम्पराओं में नहीं है। इसाई गाइ गांजुल को हथ दलि से देखने लग गए हैं।

इमाई मिशनरियों ने आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार किया उह संघर्षता से परिचित कराया उनको लिए अस्पतालों का स्थापित किया उनकी बालियों का विकास करके, उह भाषा का स्तर प्रदान करने का प्रयास किया और जमींदारों तथा महाजनों के शासन से उह आण दिलाने की कोशिश भी की। किन्तु साथ ही साथ मिशनरियों ने, आदिवासियों का इसाई बना कर एक ऐसे सांस्कृतिक संसार में ला पटवा २ जो न भारतीय है, न आदिवासी और न योरोपीय। यह एक सीमान्त संसार

है जिसमें सस्त्रुति मधप का समावेश है। कही कही इसाइयत का बड़ा अम्बुस्थ प्रभाव पड़ा है। इसाइयत के सघन के कारण आदिवासी मधपनी परम्परागत सस्त्रुति के प्रति विद्वेष और घणा का भाव जाया है। इसाइयत में जीवन स्तर का उठान की प्रेरणा अवश्य मिली है कि तु इसाइयत से व अधिक साधन नहीं मिले हैं, जिनसे जीवन-स्तर को उठाया जा सके। मिगानो ने, अधिकतर गरतफनीकी गिगा का ही संगठन किया है। और फिर सभी इसाई हान वाले आदिवासी मिगान के स्कूलों में दो जाम वाली गिगा का उपयोग भी नहीं कर पाये हैं। इसाई हान वाले अधिकतर लोग मजदूर, बुन्नी माली, खानमामा बरा और अधिक से अधिक कलक और पादरी होकर रह गये हैं। कुछ ऐसा दखन में जाता है कि भारतीय समाज की लड़ाई का गिगा का उपयोग कर लता है कि तु लड़के नहीं कर पाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इसाई लड़ाई की गान्धी एक सामाजिक समस्या बन जाती है।

जीवन स्तर का ऊँचा उठान का प्रेरणा के अनुपप माधन में मिलने से नराध्य, दीनता, हानता की भावना निम्नाव की प्रवृत्ति और अपराधी बलिया का जन्म होता है। मजूमदार ने अपराधी गणजातिया के एक कम्प के अमिलिट सुपरिटेण्डेंट की स्थिति का वर्णन करके इसाई हान वाले गरीब समाज की दानता का वर्णन किया है। बड़ निन की दावत में उसने मजूमदार को आमन्त्रित किया था। मजूमदार के अनुसार, खान की मज के पाय टूट थे उस हटा के पाय पर खान किया गया था और खान आमन्त्रित लागा के लिए काफी न था। बीच ही में खाना खत्म हो जान में, मेहमानों के सामने ही पति पत्नी में अगाधन बातचीत हुई। दूसरे दिन प्रातःकाल उस सुपरिटेण्डेंट ने मजूमदार को बताया कि उसने उस दावत के लिए कर्जा लिया था और उसने यह भी बताया कि कैसे उस अक्सर रखी भूखी राटी खाकर गुजर करना पड़ता था। उसने यह भी बताया कि कम चब जाना और दूसरा के समान कपड़े पहन कर सतोंप और ऊँचे स्तर की जिंदगी का दिखावा करके रहना उसका लिए लाजिमी था। मजूमदार के अनुसार ऐसा मधप उस व्यक्ति का ही नहीं बरन बहुता का है और, सम्भवतः सभ्यता के सघात का परिणाम है। छोटा नागपुर के इसाई आदिवासी बहुधा गह्रा में आ जाते हैं और वहाँ मजदूरों, कुलीगिरी रिक्शागिरी और छाटे-माट गिल्पी कामों का करके, जीवन निवाह करते हैं। लेकिन साथ ही साथ, वे यारापियनों की बेगभूषा की नकल करते हैं फ्लॉ में तथा मज पर साना पसंद करते हैं, इतना को यारापियना की भाति कपड़ पहन कर चब जाना पसंद बरन हैं और उन तमाम आरामगमक सभ्यता के उपकरणों का पान का स्वादिष्ट करते हैं जो उनके आर्थिक साधना की सीमा के बाहर हैं। फलतः उनमें सामाजिक असम्यता और दीनता की भावना आता है जो उन्हें अपराधी दृष्टियों की ओर प्रवृत्ति करता है। एक व्यापारी एजेंट के अनुभव का हवाला देते हुए, मजूमदार ने, यह लिखा है कि नागा प्रदेश में अग्राय (Cosmetics), पाउडर, लिपस्टिक,

साबुन और सुगंधित तेलों की मांग जाठनी गुना बढ़ी है जबकि खर की बनी-सतति निराधक वस्तुओं की मांग इतनी बढ़ गई है कि वे बाजार भाव पर भी मिलती नहीं है। इन चीजों की मांग इसाई खासिया में ही अधिक है क्योंकि उनमें, इसाईयत के प्रभाव से व्यक्तिगत स्वच्छता का स्तर बढ़ गया है¹।

मानवशास्त्रियों का यह मत रहा है कि विदेशी इसाई मिशनरी के दृष्टिकोण में आदिवासी संस्कृति में प्रति उन्नतता और सहानुभूति का अभाव है क्योंकि उसका उद्देश्य आदिवासी का सच्चा इसाई बनाना रहा है। इसमें मिशनरी का भी दावा नहीं है बल्कि आदिवासी को सच्चा इसाई बनाना उसका पक्ष है और उसकी जीविका का आधार है। मिशनरी द्वारा की जाने वाली सवाभा के पीछे स्वाध है और स्वाध तथा उदारता में विरोध है। "यापारी, चाहे धर्म का हो या पार्थिव वस्तुओं का न तो सहिष्णु रह सकता है और न उदार। यही कारण है कि मिशनरी की गतिविधियों के प्रभाव से आदिवासी संस्कृति की शक्ति का ह्रास हुआ है और अनेक गणजातियों का सामाजिक सांस्कृतिक सन्तुलन बिगड़ गया है। यही कारण है कि मजूमदार 'रतचंद्र राय' मिल्स और हटन जैसे मानवशास्त्रियों ने आदिवासी क्षेत्रों में काम करने वाली मिशनरियों की गतिविधि पर रोक और नियंत्रण लगाने की मांग की है।

सम्यक्ता के उत्तरोत्तर मघात से अनेक आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाएँ धीरे धीरे लुप्त हो गई, अनेक नई प्रथाएँ सामाजिक समस्या के रूप में आविर्भूत संस्कृति सम्पक हुई और अनेक प्रचलित प्रथाएँ सामाजिक समस्याएँ बन गई। और समस्याएँ जहाँ हिंदूकरण की प्रवृत्ति है वहाँ सरल आदिवासी अनुष्ठानों के स्थान पर, जटिल हिंदू अनुष्ठानों को और जहाँ इसाईयत का प्रभाव है वहाँ इसाई अनुष्ठानों को अपनाया जा रहा है। नही कहा, बास विवाह नया आदश बन गया है जो आदिवासी परम्पराओं में प्रतिबल है। युवागण के ह्रास से आदिवासी जीवन में तनाव पैदा हो रहा है। परम्परागत जादुई धार्मिक प्रथाओं पर स आदिवासियों का विश्वास उठ रहा है किन्तु उनके स्थान पर कोई नया आधार नहीं उत्पन्न हो रहा है। जहाँ विवाहपूर्व और विवाहोपरांत परसम्बन्धों की प्रथा थी वहाँ इस प्रथा में दुरुपयोग के कारण आदिवासियों का नैतिक शोषण हो रहा है। जब तक ऐसे सम्बन्ध गणजाति में ही घेरे तक सीमित थे तब तक ये सामाजिक समस्या नहीं थे। आज आदिवासी क्षेत्रों में गर आदिवासियों के रहने के कारण, यह प्रथा वैश्यावृत्ति

1 मजूमदार, डी० एन० दि मद्रिक्स आफ इण्डियन कल्चर पृष्ठ 136 144-45

2 बदलती हुई परिस्थितियों में एक सामाजिक समस्या किस प्रकार नैतिक पतन और सामाजिक समस्या का कारण बन जाती है, इसका एक उपयुक्त उदाहरण

और नतिक पतन का कारण बन रही है। इसके कारण आदिवासी प्रदेशों में गुप्त रागा की भयकरता भी फैल रही है। वधूधन जो पहले पाँच के रूप में दिया जाता था और रक्त सम्बंधियों के योगदान से एकत्र होता था, आज नकद दिया जाता है और प्रत्येक पिता का अपने पुत्र के लिये या स्वयं वर का अपने लिये वधूधन का प्रबंध करना पड़ता है। उधर, वधूधन की रकम बस ही बढ़ गई है, जैसे हिन्दुओं में दहेज की रकम बढ़ गई है। जिस व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना ऊँचा है वह अपनी कमाई के लिये उतना ही ज्यादा वधूधन मागता है। इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार में, छोटा नागपुर के आसपास की अनेक गणजातियों में, तमाम कमाई कुंवारी रह जाती है। पहले यदि कोई वर व्यक्ति वधूधन नहीं दे पाता था किन्तु यदि कमाई और उसका पिता विवाह करने पर राजी होते थे तो वह, अपनी भावी पत्नी का भगाकर या उसका अपहरण करके विवाह करता था। किन्तु आज 'भगाना' (Elopement) और अपहरण (Capture), भारतीय दण्ड-महिता के अनुसार, अपनयन (Abduction) है और दण्डनीय है। वधूधन की समस्या एक बार ऋणप्रवृत्ति की समस्या का जन्म दे रही है और, दूसरी ओर, अविवाहिताओं की नतिक समस्या को। पहले, जंगलों को काटकर, जंगम कृषि करना एक सामान्य आदिवासी सांस्कृतिक प्रथा थी किन्तु आज वह कामूनन बंद कर दी गई है और कानून की सीमा का उल्लंघन दण्डनीय है। आदिवासी पंचायत प्रणाली की अनेक दण्ड व्यवस्थाएँ, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, भारतीय दण्ड-महिता के

जीनसार बाबर में मिलता है। यहाँ स्त्रियाँ कई पतियों की पत्नी होती हैं। अपने पिता के घर में, उन्हें गांव के लोगों के साथ बिलासी जीवन बिताने की अनुमति रहती थी। स्त्रियों को मिलने वाली यह सांस्कृतिक छूट, बहुपतित्व पर आधारित समुक्त परिवार की पोषक थी। किन्तु, इस प्रदेश में, जब बाह्य के लोगों का आना जाना प्रारम्भ हुआ तो इस प्रथा का शायण होने लगा क्योंकि बाहरी लोग यहाँ की लड़कियों को शरीर खेवने के लिये लालच देने लगे। प्रत्येक जीनसारी पुरुष जानता है कि उसकी स्त्री यदि उसकी पत्नी है तो अपने गांव में वह किसी की प्रेमिका भी है। लाखा मण्डल के आसपास से यहाँ की स्त्रियाँ के वेश्या बन कर बड़े बड़े शहरों में जाने के समाचार मिले हैं, जो सचचा निमूल नहीं हैं। वहाँ शोषकाय करने वाले मेरे एक मित्र ने बताया कि बहुपतित्व की प्रथा और नतिकता के दोहरे मापदण्ड में पत्नी नारी के लिये घर और बेडालय बराबर हैं क्योंकि वह एक से अधिक पुरुषों को कामतुष्टि प्रदान करने की आदी है। गहरा की चकाचौंध, बेडालयों में मिलने वाला मान, अच्छे कपड़े और अच्छा खाना और कठिन श्रम के परिधम से मुक्ति बेडालयों के प्रति आकर्षित होने के कारण बन जाते हैं।

अनुसार, ममाय ही नहीं दण्डनीय हैं। नर बलि और नागाओ में भी जान वाली मृगों की बलि जसी प्रथाएँ आज सरकारानुसी बन गई हैं।

मदिरा तब आदिवासी संस्कृति का एक अंग रहा है क्योंकि आदिवासी अपने जादुई धार्मिक अनुष्ठानों उत्सवों और संस्कारों में मदिरा का प्रयोग करता रहा है। आदिवासी व माघ साय उसके देवी देवता भी मदिरा का भोग करते हैं। विवाह की रस्मों में मदिरा भ्रू करने का आदिवासियों में प्रथा रही है। वाममार्गी हिन्दू अनुष्ठानों और प्रथाओं में मदिरा का प्रयोग आदिवासियों से ही आया जान पड़ता है। चावल और महुए की मदिरा आदिवासी अत्यन्त प्राचीन काल से बनाने और प्रयोग करते आये हैं। अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद से सरकार ने मदिरा का उत्पादन और वितरण अपने हाथ में ले लिया ताकि सरकारी राजस्व बढ़ सके। अंग्रेजी सरकार ने आधिकारी की जो नीति अपनाई उसमें उत्पादन और वितरण ठेके पर लिया जान लगा। मदिरा उत्पादन वितरण के चार प्रकार धीरे धीरे विकसित हुए हैं—एक शराब बनाने के बड़े बड़े कारखानों और वितरण की दुकानों को लाइसेंस देना दूसरा, वितरण का राशन करना जैसे मधुनिपेठ के क्षेत्रों में है तीसरा शरीर के म शराब बनाने की जगह छूट देना जसा कि जौनसार बाबर में है जहाँ हर व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार अपने खर्च भर की शराब बना लेता है और चौथा, देगी शराब बनान तथा बेचने की भट्टियों का नियम करना। आदिवासी क्षेत्रों के लिए चौथे प्रकार का तरीका अपनाया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार के उत्पादन और वितरण से, अल्प स्थानों की अपेक्षा आदिवासी क्षेत्रों में अपेक्षाकृत सस्ती शराब मिलती है लेकिन उसमें स्पिरिट (Spirit) की मात्रा इतनी ज्यादा होती है कि वह स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हो जाती है। आदिवासी द्वारा बनाई हुई शराब इतनी तेज नहीं होती थी और इसकारण वह अधिक स्वास्थ्यवर्धक थी। पहले, जब आदिवासी स्वयं शराब बनाता था तब, शराब का उत्पादन भी कम होता था और शराब का प्रयोग भी विनियमबद्ध पर ही होता था। किंतु, भट्टियों के नियम हो जाने से शराब के उपभोग की मात्रा बढ़ गई है। बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति का उत्पन्न भराव के कारण शराब का बढ़ता हुआ उपभोग आज आदिवासी की मानसिक स्थिति का परिचायक हो गया है।

बाह्य संसार से बढ़त हुए सम्पर्क के कारण, अनेक स्वास्थ्य तथा आचार सम्बंधी समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। अधिकतर आदिवासी क्षात्रा में नपड़े का प्रयोग अत्यंत हाता था। अधिकतर आदिवासी नगर से ऊपर का बदन नंगा रखते थे। इसी मिशनरियों और अन्य लोगों ने उन्हें इसकारण हेय नृष्टि में देखा। अतः, शरीर ढकन के लिये नपड़े का प्रयोग बढ़ा। किंतु आर्थिक माधन्य की कमी के कारण आदिवासी अधिक नपड़ा का प्रबंध न कर पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि आदिवासी उन तो ढकने लगा मगर नपड़ों की कमी के कारण, वह नपड़ों की

गंदगी और उससे उत्पन्न बीमारियों का भी शिकार हुआ। आदिवासी नारी का मिली परसम्बन्धों की सांस्कृतिक मर्यादा के गायण से आदिवासियों में गुल्म रोगों (गर्मी और मूलाक) का प्रसार जनस्वास्थ्य की एक प्रधान समस्या बन गया है। तपेदिक जस सप्तामक रोगों का सस्या बन गई है। नागाप्रणम में सीडीनूमा सेतो में सेती करन व प्रचार से मलरिया का प्रकाप बढ़ गया है क्योंकि न सता में भरे रहने वाले पानी में मच्छरों की पहावार बढ़ती है। थारवा में राहु (Franchoma) की बीमारी की जयिक्ता है। साडा और गाडो में गर्मी (Diphthia) के प्रकार की याज (Yaws) नामक बीमारी का प्रकाप हुआ है। गान प्रदम में इस खोडो की बीमारी और मारिया मोडा में इस मारिया बीमारी कहा जाता है। इसप्रकार, सभ्यता के सम्पर्क में, आदिवासियों में नयी-नयी बीमारियाँ आ गई हैं जिनका निगान-उपचार न उनकी जडी बूटियाँ में है और न जादू टान में।

शहरीकरण और औद्योगीकरण ने भी आदिवासियों का प्रभावित किया है। अंग्रेजी राज में एक ओर, आदिवासियों की आर्थिक जीवन शक्ती और, दूसरी ओर, शहरों तथा नगरी उद्योगों ने नये आर्थिक अवसर प्रदान किये। कारखानों, खानों जंगलों और बागों के बागों में श्रमिकों की माग बढ़ी। फलतः, आदिवासी श्रमिकों के रूप में शहरों और उद्योगों की ओर आकर्षित हुआ। इसप्रकार शहरीकरण तथा औद्योगीकरण ने आदिवासियों में श्रमिक वर्ग का जन्म दिया। इस वर्ग में बिहार बंगाल और आसाम के आदिवासी ही अधिक हैं। इस वर्ग में सयाल, हो, भइयाँ और मुण्डा गणजातियों के आदिवासी हैं। जमशेदपुर के कारखानों में ही गणजातियों के सदस्यों की सस्या मजदूरों की कुल सस्या का दस फीसदी है। इस वर्ग के आदिवासियों का आर्थिक स्तर अपेक्षाकृत अच्छा है किन्तु उनकी दशा ठीक नहीं है। यह वर्ग भी सूदखोरा और ठेकेदारों के गोपण का शिकार है। गहरा में रहते हुए और कारखानों में काम करते हुए इस वर्ग के आदिवासी, जुआ, धराबीपन और वेदयापन जैसे अस्वस्थ कृत्यों के शिकार होते हैं। शराब पीने और वेदयापन के कारण वे तमाम बीमारियों के भी शिकार होते रहते हैं। गहरा से ही ये अधिकतर राजनैतिक विचारों और नारों को ग्रहण करते हैं, जिनसे छाटा नागपुर के सारक्षण जैसे हउधर्म आन्दोलनों को बल मिलता है।

अंग्रेजी राज्यकाल में, अधिकतर गणजातियाँ ग्रामीण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में आकर भारत के विगाल कृषक वर्ग में मिल गई हैं। साथ ही माय, श्रमिकों सरकारी और गैर सरकारी नौकरों के रूप में, आदिवासी गहरों में भी आ बसे हैं। शिक्षा के प्रभाव ने उन्हें गहरा की ओर आकर्षित किया है। इसप्रकार आदिवासी ग्राम गहरा सतति (Tribal Rural Urban Continuum) का विकास हुआ है। आज आदिवासी ग्रामीण भी हैं और गहरा भी है। आदिवासी ग्राम गहरा सतति, आज आदिवासी सभ्यता का परिवर्तन के आधार प्रदान कर रही है।

उत्तरात्तर हिंदूकरण, इसाईकरण या रोपीयकरण, गर आदिवासीकरण (Detri-
alization) और आदिवासी पुनरुत्थन की प्रक्रियाएँ, आदिवासी ग्राम शहर सतति
ही पट्टभूमि में चल रही हैं। जो समूह इस सतति के जितना समीप है वह उतना
ही अधिक परिवर्तित हो रहा है।

संस्कृति सम्यता-अभ्यव का, आदिवासी संस्कृति पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा है।

इससे आदिवासियों का आर्थिक सांस्कृतिक उमूलन हुआ है।
आदिवासी अंग्रेजी राजकाल में आदिवासियों का जो भी इसाईकरण या
समस्या हिंदूकरण हुआ है उससे उनकी सांस्कृतिक आस्था का धक्का
पहुँचा है। शापण के कारण उनकी दीनता बढ़ी है और आदि-
वासी तीर-तरीका के प्रति उनमें हीनता का भाव आया है। एक ओर, एस आदि
वासी है जो आदिवासीत्व से मुह मोड रह है (जिनमें पटा लिखा तबका आता है)
और, दूसरी ओर एक ऐसा समूह (विशाल समूह) है जो आदिवासी जीवन के प्रति
उदासीन है। साथ ही साथ एक ऐसा भी समूह है जो आदिवासी पुनरुत्थन का हामी
है। सांस्कृतिक उदासीनता जा हर दंगा में पाई जाती है सांस्कृतिक विश्व सलन
की परिचायक है। सांस्कृतिक विश्व सलन की प्रक्रिया अंग्रेजी के आने के बाद से
प्रारम्भ हुई है और, अंग्रेजी राज्यकाल में यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।
इसकारण आदिवासी समाज अपने आंतरिक संघर्षों तनाभा और हलचलों का
शिकार रहा है जिसकी अभिव्यक्ति पहारिया मन्थाल (1855) और कोल (1932)
विद्रोहों के रूप में होती रही है। अंग्रेजी की नीति आदिवासियों को पथभ्रष्ट करने
की रही मिशनरियों की नीति उन्हें इसाई बनाने की हिंदुओं ने उन्हें हिंदुत्व में
आरमसात करने की माग रखी और राष्ट्रीय आंदोलन के प्रणताओं ने उनमें
राजनैतिक चेतना जगाकर उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के प्रवाह में लाने का प्रयास
किया। आदिवासी शत्रु में समाज सुधार तथा समाजसेवा करने वालों का उद्देश्य
या तो राजनैतिक रहा है या धार्मिक। आदिवासियों को समझने की सवने बौद्धि
की किन्तु अपने अपने दृष्टिकोण में। मानवशास्त्री ने आदिवासी और उसकी समस्याओं
की गंभीरता स्तर पर समझने का प्रयास किया, सरकारी नौकरी में अंग्रेज
मानवशास्त्री पथकरण का हामी रहा, स्टीफन फुक्स जैसे मिशनरी मानवशास्त्री
हिंदुत्व के बाहर जाने में आदिवासी का कल्याण देखते रहे, एल्विन जस लोग
आदिवासियों के निर्वाध आदिवासीकरण और पुनरुत्थन के प्रतिष्ठापोषक रहे¹ और

1 एल्विन का यह मत रहा है कि आदिवासी संस्कृति का विश्व सलन प्रशासकों,
मिशनरियों, व्यापारियों और सरकारी अफसरों के अनुसार दृष्टिकोण और
गतिविधियों के कारण हो रहा है। आदिवासियों को नहीं बरन प्रशासकों,
मिशनरियों, व्यापारियों और अफसरों की सुधारने की आवश्यकता है। और

मजूमदार जस मानवशास्त्री इस बात पर ज़ार दंत रहे कि आदिवासी सभ्यता की सरक्षण की आवश्यकता है क्योंकि आदिवासी सभ्यता की विश्व सभ्यता से बचाकर, ऐस रस्ते पर चला है जहाँ यह भारतीय सांस्कृतिक संधान (Indian Federation of Cultures) का एक अंग बन सके।

द्वितीय मायुद्ध के दौरान में आदिवासी समाज का विश्वयुद्ध भी बढ़ा और उनकी समस्यायें भी अधिक प्रखर हुईं। स्वतंत्रता के बाद जब नागा प्रदेश में स्वतंत्र नागालैंड की मांग उठी और सरकार का विद्रोही नागाओं का विरुद्ध पुलिस कायदा जारी करनी पड़ी विद्रोह और उड़ीसा के आदिवासियों में एक अलग प्रान्त (क्षेत्र) प्राप्त की मांग की और यहाँ के आदिवासियों ने हिंसात्मक क्रान्ताप व्यक्त किया तो लोका का ध्यान आदिवासी समस्याओं की ओर गया। आदिवासी समाज की समस्याओं और आदिवासियों में बढ़ता हुआ असंतोष जो अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का प्रतिफल करता है उन सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया का परिणाम है। जो अंग्रेजों के आने के बाद तब प्रारम्भ हुई जब पूँजीवादी शक्तियों के बढ़ते हुए प्रभावों के कारण आदिवासियों का जायिक उन्मूलन प्रारम्भ हुआ और उसके कारण उनकी जायिक पहचान बड़ी। व्यापारियों ठकंदारों, सुदखारों और मिशनरियों के हाथों उनका शोषण बढ़ा, उनकी राजनैतिक स्वतंत्रता का अपहरण हुआ, उनकी राजनैतिक संस्थाओं को अवैधानिक करार दे दिया गया और उनकी विधि तथा शासन प्रणाली टूटन भिन हो गई। इस विघटन प्रक्रिया के कई परिणाम निकले— एक आदिवासी में नराशयणत्व सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय उदासीनता की भावना का अन्मुख्य दूसरा अपनी समस्याओं के कारणों के न समझपान के कारण, आदिवासी में, दूसरों को उत्तरदायी ठहरान तथा दूसरों के प्रति प्रतिस्पर्धात्मक विद्रोही भावना का अन्मुख्य, तीसरा, आदिवासियों में अराष्ट्रीयता की भावना का अन्मुख्य, और चौथा, आदिवासियों का सामाजिक कृत्यों को अपनाता और उहाँ सुपुंजित बनाना।

आदिवासी अराष्ट्रीयता की मर्यादित अभिव्यक्ति नागा प्रदेश में हुई है जहाँ से स्वतंत्र नागा प्रदेश की मांग के लिए सशस्त्र विद्रोह के विवरण मिलते रहते हैं। आदिवासी जिस प्रकार असामाजिक कृत्यों को अपनाने के लिए प्रेरित हुए हैं इसका प्रमाण भारत की अपराधी नहीं जाने वाली गणजातियाँ हैं जिनके सदस्यों की संख्या, अपराधी गणजाति अविनाश के रहे जाने के पहले, चौदह लाख, अठसठ हजार

यदि हम इन्हें नहीं सुधार सकते तो हमें आदिवासियों को उनके हाल पर छोड़ देना चाहिए। आदिवासियों की सभ्यता से दूर रखने की आवश्यकता है क्योंकि, सभ्यता सम्पत्ति आदिवासी के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार, एल्विन का दृष्टिकोण पृथक्करणवादी ही नहीं धरन समानो भी है।

और तीन गो अन्तर्लीन थी¹। गरीबी के कारण, गुजरात के कुछ भागों में, भीत अपराध की आर प्रवृत्ति हुई है। मजूमदार के अनुसार, जीविवा के साधनों की कमी, निम्नतर जाती हुई दीनता और प्रगासन द्वारा भीला की आवश्यकताओं की अवहेलना न भीला का डाकजनी हत्या और नूट के लिए प्रेरित किया है। गरीबी और अपराध भील जीवन में इतना समा गया है कि भील उस जीवन का एक आवश्यक अंग मानने हुए पौराणिक कथाओं का आधार पर उस सुयुग्मिष्ट करत है। भीला में प्रचलित एक पौराणिक कथा के अनुसार पावती भील कथा थी और भीली ने जब भगवान गुरु में धन धन माँगा तो भगवान गुरु ने यह कहकर इंकार कर दिया कि तू तम पक्कड़ के पास धन कहाँ? तब भीला ने नन्ही (अमवात गुरु के बाल) की हत्या कर दी क्योंकि उन्होंने मुन रक्या था कि उसका कंधे में अपार रत्न राशि थी। इस जघन पाप के लिए जली कि कथा है भीला का गरीबी और आर्थिक दायित्व का जीवन बिना पड़ रहा है। बामबाडा (राजस्थान) के आस-पास प्रचलित एक ऐसी लोक कथा के अनुसार महादेव ने भीला को यह वरदान दिया कि उनका चारी का पाप नहीं लगता। वहाँ का भील अपने महादेव शक्ति का चौर मानता है। यही कारण है कि भील एक जोर अपने महाजन को अपना गारा सामान चुक कर लाने लगा लेकिन दूसरी ओर वह उम लूट भी गया क्योंकि भीला का विश्वास है कि किसी का कर्मा न दया पाप है कि तु उस लूटने पाप नहीं। तमाम अपराधी बड़े जाने वाली गणजातियाँ इसीप्रकार अपने अपराधी कृत्या का सुयुक्ति कारण करती हैं और अस्वामित्व कृत्या का अपनी सस्कृति का अंग मानती हैं।

हिंदू मुस्लिम और धारावीय सभ्यता के संगतता का महत्त्व आज जाति यासी सस्कृति उस स्तर पर आ गई है जहाँ वह हिंदु के अस्वाम और समाश्रयन से भिन्न है किन्तु भारतीय सस्कृति और राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इन मयातो के पक्षरूप उमम जन आर्थिक सामाजिक और सामूहिक व्याधियों का समावेश हो गया है जिसके कारण उसका विश्रुत चल रहा है। कुछ आदिवासी समूह निराश तथा आश्रमक दृष्टिकोण के गिराए हुए हैं कुछ (जैसे टांग और दारवा) सम प्लट हा रहे हैं कुछ निम्न या धारावीयकरण की ओर बढ़ रहे हैं और कुछ पुनरुत्थान की ओर। वर्तमान भारत में न केवल आदिवासी एक महत्वपूर्ण अल्पसंख्यक इकाई हैं। स्वतंत्र भारत उनकी अवहेलना नहीं कर सकता है। उनकी अवहेलना राष्ट्रीय एकता और भारतीय समाज के सर्वांग विकास में बाधा पड़ सकती है। यदि समाज के गार जग एंगाय नहीं विकसित होता है तो अविकसित जग प्रगति के माग में बाधक होकर प्रगति पर उठा ही प्रभाव डालता है। अतः विकासोन्मुख आदिवासी पल्याण और आदिवासी सस्कृति का पुनर्मस्थापन आज के भारत की राजनीतिक

तथा सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकता है।

आदिवासी-कल्याण और मस्त्रुति पुनर्मस्थापन की स्वरखात्रा का विस्लषण करन स पढ़ने ँक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। सभ्यता-मघात के प्रति, आदिवासिया की प्रतिक्रिया सवन ँक सी नही हुई ह निसके कारण आदिवासी संस्त्रुति स विभेतीकरण तथा परिवर्तन की भिन्न गतिया और णिगाए उत्पन्न हुई हैं। उगाहरणाथ भोग और गाड जैसा गणजातिया की जनमस्या बढी ह जबकि कारवा और टाडा जैसी गणजातिया न अपन वा सभ्यता-मपक स अलग रखनर, अपन लिए विकास का माग अवस्त्रुद कर णिया है। वा गणजातिया सभ्यता सभ्यक से दूर रनी हैं उनकी अलग समस्यायें हैं। जगम णपि जिस व अधिकतर करती हैं, आज अनुवर मिद हा रही है क्याकि, जगम णपि क लिए भाज उह उतना विस्तृत वन प्रदग नही मिलता है जितना कि कभी मिलता था। जमीन की बडसी हुई अनुवरता और कटाव क कारण तथा सभ्यता-सभ्यक से दूर रहने की प्रवृत्ति के कारण ँसी गणजातिया का विकास ही नही रवा है वरन भुखमरी उनकी ँक विकट समस्या बन गई है। भोल और गाड नसी गणजातिया अपन को हिंदूकृत करती हुई तथा स्वाई णपि अपनाकर ग्रामीण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था स आ गई हैं। आज उनकी वही समस्याये हैं ँो भारत क णपका की है। जिन आदिवासिया का शहरीकरण हा रहा है उनकी समस्या है ँक नया शहरीकृत सामाजिक-सांस्त्रुतिक अनुत्पन्न। जा श्रमिक वग से आ गए हैं उनकी अलग समस्यायें हैं और जा ग्राम शहर के बीच स हैं गापणकारी तत्वा स भुविन पाना उनकी विणेप समस्या है।

सभ्यता मघात न, आदिवासिया न, इसप्रकार विभिन्न परिवर्तन की गतिया और दिगाआ को जन्म दिया है जिनके कारण, गणजातिया स समस्या विभिन्न सांस्त्रुतिक स्तरा का समावग हा गया है। विभिन्न समाधान सांस्त्रुतिक स्तरा के समावग न, अलग अलग गणजातिया और क्षत्रा से, अलग अलग समस्याआ का जन्म दिया है। इसीलिए, इस वात पर जार दिया गया है कि आदिवासी कल्याण और मस्त्रुति पुनर्मस्थापन की ँक राष्ट्रीय नीति हा सकती है न कि ँक वायकम। हा, यह अवस्य है कि राष्ट्रीय नीति क आधार पर, ँक याजना को अपना लिया जाय और, विभिन्न क्षेत्रा तथा गणजातियो की आवश्यकतानुसार, उसके आधार पर, अलग-अलग स्थानीय वादनमा को तैयार किया जाय। किंतु इसके लिए गणजातिया के वर्गीकरण की आवश्यकता है। आदिवासी-कल्याण की याजना के दष्टिवाण स, विद्वाना न विभिन्न आधारा पर गणजातियो क वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। सभी ने मस्त्रुति करण की प्रक्रिया का मुख्य आधार माना है किंतु मस्त्रुतिकरण क अलग-अलग पथा पर जोर दिया है। उगाहरणाथ भजूमदार न, गणजातियो स पाई जाने वाली हिंदूकरण की मात्रा पर जोर दिया है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है—ँक,

हिंदू प्रभाव के बाहर की गणजातियाँ (वास्तविक आदिवासी), दूसरी, वे गणजातियाँ जिन्होंने हिंदू प्रथाओं को तो अपना लिया है किंतु बहुप्रकृत जातिओं की श्रेणी में नहीं आते हैं और, तीसरी वे गणजातियाँ जो हिंदूकृत हो गई हैं जिन्हें जाति का रूप भी मिल गया है किंतु जो उच्च जातियों से सामाजिक अंतर मानती हैं। इस प्रकार, कुछ गणजातियों का हिंदुत्व में साम्यकरण हो गया है जिन्हें सांस्कृतिक (Assimilated) आदिवासी समूह कहा जा सकता है और कुल समायाजन प्रक्रिया (Process of Adaptation) में हैं। समायाजन प्रक्रिया में जो गणजातियाँ हैं वे अपने को बर्खास्त कर देकर परिस्थितियों के अनुकूल ढाल रही हैं। दूसरे प्रकार की गणजातियों का मजबूत नतीजा तीन श्रेणियों में रहता है—पहली कम्युनलिक (Commensal) दूसरी सिम्बायोटिक (Symbiotic) और तीसरी एक्क्यूरेटिव (Acculturative)। कम्युनलिक गणजातियों का आर्थिक जीवन आत्मनिर्भर है। सिम्बायोटिक गणजातियों का आर्थिक सामाजिक जीवन आत्मनिर्भर हो गया है जैसे नीलगिरि की गणजातियाँ। एक्क्यूरेटिव गणजातियाँ सम्पत्ति के कारण बाह्य सभ्यताओं के आत्मसात करते हुए अपना सभ्यतिकरण कर रही हैं। कम्युनलिक गणजातियों की संख्या बहुत कम है के बराबर है क्योंकि आज गायत्री ही बाँई गणजाति हो, जो बाह्य समाज के सम्पत्ति में आ गई हो।

सन् 19०2 की इण्डियन कांफ्रेंस आफ सोशल साइंस के द्वारा नियुक्त आदिवासी कल्याण-समिति (19०2) ने गणजातियों को चार श्रेणियों में बाँटा है। पहली आदिवासी समुदाय दूसरी अर्द्ध आदिवासी समुदाय, तीसरी वे आदिवासी समुदाय जिनका सभ्यतिकरण हो चुका है अर्थात् जिन्होंने बाह्य सभ्यता के तत्वों का आत्मसात करते हुए, अपनी विशिष्टता कायम रखी है और चौथी, सांस्कृतिक (Assimilated) गणजातियाँ। एक दशक पहले, एल्विन ने सभ्यता सम्पत्ति के परिणामों के दृष्टिकोण से, एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार चार श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में वे आदिवासी जाते हैं जो अत्यंत प्राचीन हैं, दुर्गम जगहों में रहते हैं, जिनका सामाजिक-आर्थिक जीवन समष्टिवादी है और जो कुल्हाड़ियों से खेलते करते हैं। दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी जाते हैं जो पहली श्रेणी के आदिवासियों की भाँति सम्पत्ति से दूर हैं किन्तु जिनका सामाजिक आर्थिक संगठन व्यष्टिवादी है और पहली श्रेणी के आदिवासियों की अपेक्षा कम सरल है। तीसरी श्रेणी में वे आदिवासी जाते हैं जिनकी संख्या सबसे अधिक है और जो सभ्यता सम्पत्ति में आने के कारण, अपनी सभ्यता से दूर जा रहे हैं। चौथी श्रेणी में वे आदिवासी हैं जो प्राचीन आदिवासी गायत्री-समूहों का प्रतिनिधि हैं (जैसे भील और नागा) जिनका प्राचीन आदिवासी जीवन अनुपम है और जो सभ्यता सम्पत्ति में विजयी हुए हैं। एल्विन का यह मत है कि पहली और दूसरी श्रेणी के आदिवासियों का चौथी श्रेणी में लाना ही मुख्य आदिवासी-समस्या है। एल्विन के मत में चौथी श्रेणी ही वांछनीय है। किन्तु,

चौथी श्रेणी में आकर, हर दशा में आदिवासी संस्कृति सुरक्षित ही रहेगी यह मायता वैज्ञानिक कम रोमाण्टिक अधिक है क्योंकि चौथी श्रेणी में आकर न तो विकास ही रुक जायगा और न संस्कृति सम्पन्न ही। आदिवासियों को राष्ट्रीय जीवन की प्रधान-धारा से या सामाजिक आर्थिक सन्धियों के प्रभाव से अलग रखना न तो सम्भव ही है और न वांछनीय ही है। आदिवासी संस्कृति को अधुन्य बताने रखने की मानवतावादी भावुकता के प्रवाह में बहकर, इस बात का पक्ष नहीं लिया जा सकता कि आदिवासियों को सम्प्रदाय के लाभों से दूर रखा जाय। एल्विन के मत से यह ध्वनि होती है कि मानो वे आदिवासी संस्कृति को बसे रखना चाहते हों जैसे कि वे मानव जगजग-घर (Human Zoo) की वस्तुएं हैं। एल्विन का मत पर्यवरणवादी है और एक प्रकार से रोमाण्टिक है। जो भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतिकूल पड़ता है¹।

गणजातियाँ के आर्थिक आधारों और उनमें हुए परिवर्तनों के आधार पर उन्हें चार श्रेणियों में रखा जा सकता है—एक, वे जो जंगलों में रहती हैं जंगल पर निर्भर हैं और कदमूल पर जीवन बसर करती हैं दो वे (कमार बगा और रेड्डी बगैरह) जो कदमूल पर भी निर्भर हैं और साधारण किस्म की कृषि पर भी, तीन वे जो मुख्यतः कृषि पर निर्भर होने के साथ साथ, जंगल की उपज पर भी निर्भर करती हैं (जैसे उत्तरी पूर्वी तथा मध्यभारत की गणजातियाँ) और आदिवासी जनसंख्या का सबसे बड़ा भाग है चार वे आदिवासी जो औद्योगिक श्रमिकों की श्रेणी में आ गए हैं। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक दृष्टिकोण से आदिवासी जनसंख्या का अधिकतम भाग कृषि और जंगल की उपज पर निर्भर है और किसी भी कल्याण योजना में इस तथ्य की अवहेलना नहीं की जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सम्प्रदाय के प्रभाव से गणजातियाँ ग्राम-शहर मत्तति (I rural Urban Continuum) के विभिन्न स्तरों में आ गई हैं और इस दृष्टिकोण में मजूमदार और मदन ने गणजातियों को तीन श्रेणियों में बांटा है—पहली, वे गणजातियाँ जिनका संस्कृति ग्रामीण गहरी समूहों से दूर है अर्थात् जो सम्प्रदाय से बाहर हैं, दूसरी, वे जो ग्रामीण और गहरी समूहों के सम्प्रदाय में आकर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का शिकार हो गई हैं, तीसरी, वे जो ग्राम-शहर के सम्प्रदाय में आई हैं किन्तु उन्होंने ऐसा सांस्कृतिक समायोजन कर लिया है जिसके कारण वे सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का शिकार होने से बच गई हैं यद्यपि हो सकता है कि पहले वे सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का शिकार रही हों। समाज-कल्याण की आवश्यकता पहली और दूसरी श्रेणी की गणजातियों की है। आदिवासी कल्याण, विकास और सांस्कृतिक पुनर्संस्थापन इस ढंग से हो कि आदिवासी ग्राम-शहर की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में आ जाय ताकि, जहाँ जहाँ इस व्यवस्था का विकास हो, आदि-

वासिया का भी विकास हो।

जादियासी कल्याण और सभ्यता पुनर्स्थापन की योजना एसी हो कि उससे आदिवासियों की सभ्यता और उनके हितों की रक्षा भी हो और उस अपने ही आधार पर विरसित होने का जदमर भी मिले। आदिवासियों को भारत की सामाजिक आर्थिक धाराओं में अन्तर्गमन न सम्भव हो है और न ऐसा करना वाछनीय ही है। उनको सहानुभूति न हो हिन्दुत्व में आत्मसात् किया जा सकता है और न इस्लाम या इसाई धर्म में। आदिवासियों को उस राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक मरक्षण की आवश्यकता है जिसके नतीजे और साथ ही वे अपना विकास करते हुए राष्ट्रीय जीवन का भग्न बन सकें। उनका राष्ट्रीय सात्विकरण वाछनीय है न कि सामाजिक या सांस्कृतिक। उह विकास के माग पर लाते हुए वहाँ आना है जहाँ उह भारत के सभ्यता सघात में एक निश्चित स्थान मिले। आदिवासियों का उत्तरोत्तर सभ्यताकरण आदिवासी कल्याण योजना का आधार होना चाहिए। इस योजना के तीन पहलू हैं—एक निष्पत्तिमय (Positive) दूसरा निषेधमय (Negative) और तीसरा विरोधमय (Preventive)। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार आदिवासी श्रेणियों द्वारा आदिवासी क्षेत्रों के प्राकृतिक साधनों का उत्तरोत्तर उपयोग और उनसे आदिवासियों की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास आदिवासियों में नई चेतना का प्रसार आदिवासियों का सामाजिक कल्याण और मातृत्व तथा गणतन्त्रात्मक निष्पत्तिमय धर्म प्रसार है। आदिवासी सभ्यता का विभूत खलित करने वाली गतिविधियों का रोकना और आदिवासियों का साधन करने वाले प्रतिकारका (यापारी सूदखोर भण्ड अजमर और इसाई मिशनरी) का निवारण निषेधमय पक्ष में आता है और आदिवासियों में पाई जाने वाली सन्तान वीमारियों की रोक थाम गिराना भी पहलू में।

आदिवासियों की समस्याओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है पहली श्रेणी में वे समस्याएँ आती हैं जो आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों की समान समस्याएँ हैं और दूसरी वर्ग में वे समस्याएँ आती हैं जो आदिवासी की अपनी समस्याएँ हैं। गरीबी अंगी भा सभ्यता उदासीनता परम्परागत जादिवामी शासन प्रणाली तथा सरकारी शासन प्रणाली में सम्भव वीमारी और स्वास्थ्य साराव और मिशनरी की समस्या आदिवासी की अपनी विविष्ट समस्याएँ हैं। उनकी आर्थिक गतिविधियों को दूर करने लिए यह सिफारिश की गई है कि व्यापारियों ठेकेदारों और सूदखोरों का गणना से उह मुक्त किया जाए जगम गतिविधियों के लिए जहाँ तक हो सके उह अवसर दत्त हुए उह स्वायत्त गतिविधियों की अदर से जाया जाय और उनमें उद्योग वधा का विकास किया जाय जहाँ तक हो सके जंगल की उपज को उनके अधिकार में दिया जाय ताकि वे उनसे आर्थिक लाभ उठा सकें उनमें शिक्षा का प्रसार किया जाय उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और सन्तान वीमारियों की रोक थाम के लिए अधिक से अधिक सरकारी प्रयत्न किया जाय आदिवासी क्षेत्रों का,

अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली के सिद्धांतों के आधार पर प्रशासन किया जाय और उसके लिए परम्परागत पंचायत प्रणाली का प्रयोग किया जाय और यादिक तथा राज-नैतिक प्रशासन में आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाओं की अवहेलना न की जाय। मजूमदार आदिवासी शत्रु में पुणेस संगठन का भी पक्ष में नहीं है। उनके मत में आदिवासी अपमर्यादा हो प्रशासन में लगाया जाय। घटून से लोगों का यह मत है कि आदिवासीयों का अपने उपयोग के लिए दारान बनाने की अनुमति दी जाय क्योंकि इससे उनको स्वास्थ्यवद्धक पथ मिलेगा, आजकल कच्ची गराब बनाने के जा अपराध होते हैं वे मिट जायंगे और गराबखोरी में बचो जायंगे। किंतु इस मत का पक्ष लेने वाले यह भी जानते हैं कि आज आदिवासी शत्रु में आदिवासी ही नहीं अन्य लोग भी पाये जाते हैं और शत्रु आदिवासी ही नहीं पर आदिवासी भी पीते हैं। ऐसी दशा में दारान खींचन की अनुमति छोटे पमाने पर गराब बनाने और बचने के व्यापार का जन्म दे सकती है। जीवनसा में ऐसा हो रहा है। यहां जंगल में काम करने वाले अधिको व्यापारियों और अन्य प्रकार के लोगों के आने से गराब की मात्रा बढ़ी है। गराब बनाने की परम्परागत तरीके में समय भी लगता है और पसा भी। अतः यहां हर आदमी मोसादर और धून से गराब बनाने लगा है जिसका प्रयोग स्वास्थ्य को नष्ट कर रहा है।

मानवशास्त्रियों की यह मायता है कि आदिवासी की शिक्षा स्वास्थ्य, अनैतिकता और गराबखोरी सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक प्रचार की आवश्यकता है—वह प्रचार जिसका उद्देश्य नय जीवन के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक बनना लाना है। इस कार्य के लिए समाजसेवा की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों में आज कई प्रकार के समाजसेवी मिलते हैं। एक ओर वे प्रतिष्ठित समाजसेवी हैं जो सरकारी समाजकल्याण विभागों की आर से अधिकारियों के रूप में नियुक्त हैं। दूसरी ओर इसाई समाजसेवी हैं जिनके लिए समाज सेवा इसाईयत के प्रचार का एक माध्यम है। तीसरी ओर राजनैतिक समाजसेवी हैं और, चौथी ओर आदिमजाति नवक सघ जैसी ग्राइवेट संस्थाओं के समाजसेवी हैं जिनमें से कुछ राजनीति के हारे हुए खिलाड़ी हैं और कुछ परिस्थितिवश पशेवर समाज सेवक बन गए हैं। इधर, आदिवासीयों में बढ़ते हुए इसाईयत के प्रसार की प्रतिक्रिया में हिंदू संगठन भी आदिवासीयों में समाजसेवा कार्य संचालित करना प्रारम्भ कर दिया है। इस घवापेल में आदिवासी समाज सेवा कार्य में व्यवधान हो अधिक जाना है। समाज-सेवा की इस सना के प्रति आदिवासी गवालू हो उठता है—विशेषतया उस दशा में जब आदिवासी यह देखता है कि यह सारा मेला तो उसके नाम पर है किंतु लाभ दूसरों को हो रहा है। आज हम यह भूत रह है कि जहां समाज सेवा के लिए फंड सरकार से आए और उसका खर्च पर सरकारी संस्थाओं के द्वारा हो रहा, समाज सेवा में, राजनीति और निहित स्वार्थों का प्रवेश

वासियों का भी विकास हो।

आदिवासी कल्याण और सस्कृति पुनर्स्थापन की योजना ऐसी हो कि उससे आदिवासियों की सस्कृति और उनके हितों की रक्षा भी हो और उम्र अपन ही आधार पर विकसित होने का अवसर भी मिले। आदिवासियों को भारत की सामाजिक आर्थिक धाराओं से अलग रखना न सम्भव ही है और न ऐसा करना वांछनीय ही है। उनका सहसा न ता हिंसे से आत्मसात किया जा सकता है और न इस्लाम या इसाईयत में। आदिवासियों का उस राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक संरक्षण की आवश्यकता है जिसके नतीजे और साथ ही वे अपना विकास करते हुए राष्ट्रीय जीवन का अंग बन सकें। उनका राष्ट्रीय सांत्विकरण वांछनीय है न कि सामाजिक या सांस्कृतिक। उन्हें विकास के भाग पर लाते हुए वहाँ आना है जहाँ उन्हें भारत के सस्कृति संघात में एक निश्चित स्थान मिले। आदिवासियों का उत्तरोत्तर सस्कृति धरण आदिवासी कल्याण योजना का आधार होना चाहिए। इस योजना के तीन पहलू हैं—एक निष्क्रियतात्मक (Positive) दूसरा निषेधात्मक (Negative) और तीसरा विरोधात्मक (Preventive)। आदिवासियों में शिक्षा का प्रसार आदिवासी श्रमियों द्वारा आदिवासियों को आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास आदिवासियों में नई चेतना का प्रसार आदिवासियों का सामाजिक कल्याण और मानव तथा शैक्षणिक निष्क्रियतात्मक पहलू में आता है। आदिवासी सस्कृति को विशुद्ध करके बारीक श्रमियों का संरक्षण और जातिवाद का समापन करने वाले प्रतिस्पर्धी (व्यापारी सूक्ष्म और भ्रष्ट व्यवसाय और इसाई मिशनरी) का निवारण निषेधात्मक रूप में आता है और आदिवासियों में पारंपरिक मान्यताओं को सनातन बौद्धिकों की राय के विरोधात्मक पहलू में।

आदिवासियों की समस्याओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है पहली श्रेणी में वे समस्याएँ आती हैं जो आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों की समान समस्याएँ हैं और दूसरे वर्ग में वे समस्याएँ आती हैं जो आदिवासियों की अपनी समस्याएँ हैं। गरीबी, अज्ञान, सांस्कृतिक उदासीनता, परम्परागत आदिवासी शासन प्रणाली तथा सरकारी शासन प्रणाली में समन्वय, बीमारी और स्वास्थ्य, पारिवारिक और मिशनरी की समस्याएँ आदिवासी की अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं। उनकी आर्थिक कठिनाइयों का दूर करने के लिए यह सिफारिश की गई है कि व्यापारियों, ठेकेदारों और सूत्रधारों का शासन में उन्हें मुक्त किया जाए जगमग के लिए जहाँ तक हो सके उन्हें अवसर दत्त हुए उन्हें स्थानों के लिए भी और से जाया जाय और उनमें उद्योग धंधों का विकास किया जाय जहाँ तक हो सके जंगल की उपज का उनके अधिकार में दिया जाय ताकि वे अपने आर्थिक लाभ उठा सकें उनमें शिक्षा का प्रसार किया जाय उनके स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाय और सनातन बौद्धिकों की रोक-थाम के लिए अधिक से अधिक सरकारी प्रयत्न किया जाय, आदिवासी क्षेत्रों का,

अप्रत्यक्ष प्रशासन प्रणाली के सिद्धांतों के आधार पर प्रशासन किया जाय और उसके लिए परम्परागत पंचायत प्रणाली का प्रयोग किया जाय और अधिक तथा राज-नैतिक प्रशासन में आदिवासी सांस्कृतिक प्रथाओं को अहमता न दी जाय। मजूमदार आदिवासियों में भी पंचायत प्रणाली का भी प्रयोग नहीं है। उनके मन में आदिवासी व्यक्तियों को ही प्रशासन में लगाया जाय। वृत्त में आदिवासियों का यह मत है कि आदिवासियों का अपने उपयोग के लिए गराब बनाने की अनुमति दी जाय क्योंकि इससे उनका स्वास्थ्य बढ़ेगा पक्षियों आदिवासी गराब बनाने का अपराध नहीं है वह मिट जायगी और गराबखारी में बसी जायगी। किंतु इस मत का पक्ष लेने वाले यह भी मानते हैं कि आदिवासियों को भी आदिवासी नहीं माना जाय और भी पंचायत प्रणाली ही गराब खाने की अनुमति दाने पर गराब बनाने और वृत्तों के व्यापार का काम दे सकती है। जोनमार में ऐसा हो रहा है। यहाँ जंगल में काम करने वाले आदिवासियों को व्यापारियों और अन्य प्रकार के लोगों के आने से गराब की मात्रा बढ़ी है। गराब बनाने की परम्परागत तरीके में समय भी लगता है और पैसा भी। अतः, यहाँ हर आदिवासी नौसादर और वृत्त में गराब बनाने लगा है जिसका प्रयोग स्वास्थ्य को बढ़ाकर दे रहा है।

मानवशास्त्रियों की यह मान्यता है कि आदिवासी की शिक्षा स्वास्थ्य, अनैतिकता और गराबखारी सम्बन्धी समस्याओं का दूर करने के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक प्रचार की आवश्यकता है—यह प्रचार जिसका उद्देश्य नये जीवन के लिए शिक्षाप्रद सामाजिक चेतना लाना है। इस कार्य के लिए समाजसेवा की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों में आज कई प्रकार के समाजसेवी मिलते हैं। एक ओर, वे प्रतिष्ठित समाजसेवी हैं जो सरकारी समाजकल्याण विभागों की ओर से अधिकारियों के रूप में नियुक्त हैं। दूसरी ओर इसाई समाजसेवी हैं जिनके लिए समाजसेवा इसाईयत के प्रचार का एक माध्यम है। तीसरी ओर राजनैतिक समाजसेवी हैं जो चौथी ओर आदिवासी सवक मध्य जैसी प्राइवेट संस्थाओं के समाजसेवी हैं जिनमें से कुछ राजनीति के हाथे हुए मिलाने हैं और कुछ परिस्थितिक पेंगेवर समाज सवक बन गए हैं। इसी, आदिवासियों में बढ़ते हुए इसाईयत के प्रचार की प्रतिक्रिया में हिंदू संगठनों ने भी आदिवासीयों में समाजसेवा काय संप्रति करना प्रारम्भ कर दिया है। इस घकापेल में आदिवासी समाज सेवा काय में व्यवधान ही अधिक आता है। समाजसेवा की इस योजना के प्रति आदिवासी गंभीरता से उत्तरा है—विगततया, उस दगा में जब आदिवासी यह देखता है कि यह सारा मन्ता उसके नाम पर है किंतु लाभ दूसरों को हा रहा है। आज हम यह पूछ रहे हैं कि जहाँ समाज सेवा के लिए फंड सरकार से आए और उसका सवक पर-मुक्तारा संस्थाओं के द्वारा हो रहा, समाज सेवा में, राजनीति और निम्न स्वार्थों का प्रद

अवश्यभावी है। आदिवासी क्षत्रा में किए जाने वाले समाज सेवा कार्य को प्राइवट सस्यामों के कणधारों के निहित स्वार्थों के चंगुल से निवासना और उस प्रशिक्षित समाज मविया के हाथ में देना आदिवासी समाज सेवा-नाय की मात्र प्राथमिक आवश्यकता भी है और समस्या भी।

आदिवासी सस्कृति की राष्ट्रीय महत्ता के प्रति भारत बहुत पहले ही सजग हो चुका था और स्वतन्त्रता के पहले ही स समाज सेवा के वायव्य के द्वारा (जिनका सुप्रधान गांधी जी की प्रेरणा में टक्कर बापा के द्वारा हुआ था) उक्त राष्ट्रीय प्रवाह में लगे का प्रयास किया गया है। प्रारम्भ में ही, भारत में व्यवस्था और साम्यकरण की नीतियों का तरजोह नहीं दी गई है यद्यपि उनके पतिष्ठापापक सरकार में भी रहे हैं और बाहर भी। एल्विन सरकार के सगाहवार रहे हैं और उन्होंने आदिवासी क्षत्रा का नगनल पाकों के रूप में विकसित करने का पक्ष लिया था जिस स्वीकार नहीं किया गया है। सविधान में जिस नीति की आधारशिला रखी गई है उसमें एक आर, निश्चयात्मक (Positive) निषेधात्मक (Prohibitive) और निरोधात्मक (Preventive) वायव्यों का उल्लेख है और दूसरी ओर, यह स्वीकार किया गया है कि भारतीय नागरिका के रूप में आदिवासियों को अपने विकास का और अपनी सस्कृति की सुरक्षित रखने का पूरा अधिकार है और उसके लिए अवसर प्रदान करना राज्य का कर्तव्य है। आदिवासियों के वही मौलिक अधिकार हैं जो सब भारतीयों के हैं। उन्हें अपनी सस्कृति प्रदान और अपने विश्वास बनाये रखने का पूरा अधिकार है बगैरे कि वे राष्ट्रीय जीवन के जाद्यों के विरोध में न जाते हों। सविधान में बगैरे और अस्पष्टता को गवरानुनी करार दे दिया गया है। राज्या विनियम राज्यपालों, का आदिवासियों का गोपण रोकने और आदिवासियों के आर्थिक हितों की रक्षा करने का विशेष अधिकार है। सविधान की पाचवी और छठी अनुगुचिया के द्वारा आदिवासी को अप्रत्यक्ष प्रशासन के लाभों को देने का भी प्रयास किया गया है।

अंग्रेजों के समय से चली आ रही एक समस्या आज भी उतनी ही विवादपूर्ण है और यह यह है कि भारत राष्ट्र में आदिवासी सस्कृति का क्या स्थान है? अंग्रेजों ने आदिवासियों का, सबचतनावादी यहूकर, उन्हें हिंदुओं से अलग माना और उन्हें अलग रखने का वागिंग भी की यद्यपि आदिवासियों में, विदेशी इसाई मिशनरियों को इसाईयत का प्रचार करने दिया। इस प्रतिश्रिया का परिणाम यह हुआ कि घुरे जन समाजशास्त्रियों ने, आदिवासियों को विच्छेद हुए हिंदू कहकर, उन्हें हिंदू के म पूणम्पण आत्मसात कर लेने के मत की पुष्टि की। हिंदू राष्ट्रवादिता पर आधारित जनमत भी इसी पक्ष में रहा है। किंतु आज, न तो पथकरण ही सम्भव है और न आदिवासियों का हिंदुत्व में पूण साम्यकरण ही। सविधान में आदिवासी सस्कृति का स्वतन्त्र विश्वास का अवसर प्रदान कर देने के बाद भी समस्या

जाती हैं। शरीर और मुख पर बालों की अनुपस्थिति सिर के बालों की बनावट ऊनी (Woolly), रंग घने बादामी से लेकर कागस सफेद किन्तु गोलाकार मत्वा मोटा तथा ऊपर नीचे की ओर उठे हुए हाठ चौड़ी नाक और आग की ओर निकला हुआ मुख, यही नीग्रो प्रजाति की मुख्य विशेषताएँ हैं। सिर के दानों और के चौड़े विनार इस प्रकार के बन होत हैं कि गिर लम्बा लगता है, यद्यपि सिर-देशना (Cephalic Index) के अनुसार नीग्रो के सिर की बनावट मध्य श्रेणी में ही आती है। लम्बा बदन घुटना तक लम्बा भुजाएँ (आजानुबाहुता), छोटी टांग और मोटा तथा सामान्य शरीर नीग्रो की अन्य प्रजातिक विशेषताएँ हैं।

हावेस ने मिश्रण-रक्त कहा है क्योंकि इस क्षम में नाग्रो और श्वेत प्रजाति के मिश्रित प्रकार पाये जाते हैं। इस मिश्रण के मुख्य प्रतीक हैं नाइलोडिक नीग्रो जा नीन नदी के उद्गम क्षेत्र और नील प्रदेश तक फैले हुए हैं। नाइलोडिक नीग्रो जा बदन, लम्बी-पतली और सीधी मुलाकृति वाले एक प्रकार के नीग्रो हैं जिन्होंने घन मशीटर्गनिशन प्रजाति का कुछ विशेषताओं का भी आत्मसात् कर लिया है। पूर्वी अफ्रीका तथा गुड होप प्रन्तीय के दक्षिण में बादू-भापा-भापी गणजातियाँ रहती हैं जिनकी गार्गिक बनावट में गर-नीग्रो विशेषताओं की भरपूर मिलनी है। बादू भापा भापी गणजातियाँ में, यहाँ-वहाँ, कुछ समूहों में एसीसानिया के निवासियों की शारीरिक विशेषताएँ अवश्य दिखती हैं किन्तु अधिकतर, य गणजातियाँ शरीर का बनावट और आकार में बन-सबन के नीग्रो और नाइलोडिक नीग्रो की विशेषताओं को लिये हुए हैं।

कागो नदी की घाटी में नीग्रो प्रजाति के साथ-साथ नीग्रिटो प्रजाति के लोग पाये जाते हैं। इन्हें अफ्रीका के बीच भी कहा जाता है। नीग्रो और नीग्रिटो एक ही परिवार के हैं। नीग्रिटो नीग्रो का एक प्रमुख मात्र है। नीग्रिटो का छोटा बदन (चार पाट, आठ इंच के लगभग) शरीर और मुख पर उगने वाले बाल, चौड़ा-गाला सिर अत्यधिक बड़ी और चौड़ी नाक गोलाकार (Bulbus) मत्वा और बचकानी (Infantile) मुलाकृति उन्हें एक प्राथमिक नोग्रायड प्रजाति का रूप देती है। नीग्रो और नीग्रिटो में मिश्रण भी कम होता है। कागो-प्रदेश के जंगलों में नीग्रिटो प्रजाति के लोग का कोई निश्चित क्षेत्र नहीं है। वे जंगल में सिवार करते हैं और नाग्रो गणजातियों को मान पट्टेबाया करते हैं। अफ्रीका के बाहर, नीग्रिटो दक्षिणी भारत (?), मलाया और ओशीनिया (Oceania) तक फैले हुए हैं। एशिया और ओशीनिया में नीग्रो की अपेक्षा नीग्रिटो-रक्त की

है। बोनियो और मेरोवीज में नीग्रिटो तत्व है, पर मिश्रित रूप में और यथा-कदा पाय जाने वाले घुघराल बाल और छोटे कद में देखने को मिलता है। मेलानेशिया के भी कुछ भागों में नीग्रिटो तत्वा के पाय जाने की सम्भावना है यद्यपि अभी तक उन्हें निर्धारित नहीं किया जा सका है। इंडोनेशिया में नीग्रो नस्ल के बराबर हैं, यद्यपि यूगिनी और जावा-सुमात्रा के बीच के द्वीपों में नीग्रो मिश्रित रूप में मिलता है। यूगिनी में नीग्रिटो के साथ साथ नीपा भी पाया जाता है और यूगिनी के ठीक पूर्व में नीग्रो नीग्रिटो और आस्ट्रेलियाई के मिश्रण से एक ऐसा प्रकार अस्तित्व में आया है जिसमें मलाया के लोगों की एक सम्पन्न भस्मक शामिल है। मेलानेशिया के प्रमुख द्वीप पर नीग्रो नस्ल का प्राबल्य है, जो फीजी में पालीनेशियन तत्वा से मिल गया है। पालीनेशिया में नीपा, मगोनियन और स्वतः प्रजातियों के साथ मिल कर मिश्रित पर विशिष्ट रूप ले चुका है। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में नीग्रिटो और कालेस्वायड के मिश्रण में जिस प्रजाति प्रकार को जन्म दिया है उसे आस्ट्रेलियाई की संज्ञा दी जाती है।

अफरीका के सुदूर दक्षिण में, वासाहारी रंगस्थान में निवासी, बुशमैन और हाटे टाट नामक दो समूहों को हुटन ने एक-एक मिश्रित प्रजाति प्रकार माना है जिसमें नीग्रिटो विशेषताओं की प्रधानता है। बुशमैन और हाटे टाट में नीग्रिटो प्रजाति की विशेषताओं का सहस्र अस्वीकार नहीं किया जा सकता है यद्यपि वे पूर्णतया नीग्रिटो नहीं हैं। प्रजाति के लगभग सभी विचारियों ने बोनो (नीग्रिटो) और बुशमैन में पाई जाने वाली समानताओं को स्वीकार किया है। कद में, बुशमैन बोनो से कुछ अधिक लम्बे हैं। उनकी त्वचा का रंग काला न होकर पीला है। काली मिट्टी के समान घुग्मि पट्ट हुए बाल और मोठे तथा नरे हुए हाठ, उन्हें राशो और नीग्रिटो के समीप ला बिठाते हैं जब कि पीला बाल, कम चौड़ी नाक, चरटी मुखादृति, पकीली मर्या, चौटी गाल की हड्डीया, इशरविक फोन्ड और तिरली घावें उनमें मगोनियन विशेषताओं की निश्चित भस्मक दर्शाते हैं। स्टीटोपाइजिया (Stetopygia), नितम्बों पर जमा मांस, बुशमैन-हाटे टाट-नस्ल की एक भस्मक विशेषता है। बाल तथा होठ की बनावट में पाई जाने वाली समानता का आधार पर हावेल्स ने बुशमैन का नीग्रो प्रजाति के समीपतम माना है और उसमें तथा मगोनियन में पाई जाने वाली समानताओं का भ्रम कहा है। किन्तु, हुटन बुशमैन की मगोनियन विशेषताओं का भ्रम नहीं मानते हैं। हाटे टाट बुशमैन का वह रूप है जिसमें बाह्य नीग्रो और एथेनिक मडीटरनियन की विशेषताओं का मिश्रण हुआ है। हाटे टाट, बुशमैन से कुछ अधिक लम्बे होते हैं और सिर की बनावट में नीग्रो के अधिक समीप होते हैं। किन्तु

विशेषाश्रित और सामान्यतः विशेषताओं की बात करना कठिन है और हावत्स के मंगोलियन सम्बन्धी बर्णन से प्रजाति शुद्धता की ध्वनि निकलती है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्लासिकल मंगोलोवायड (Classical Mongoloid) और इस्किमोवायड (Eskimoid) मंगोलोवायड को हूटन ने प्राथमिक मंगोलियन प्रजातियाँ माना है और इण्डोनेशियन मंगोलोवायड (Indonesian Mongoloid) तथा अमेरिकी इण्डियन (American Indian) को मिश्रित मंगोलियन प्रजातियाँ। मिश्रित मंगोलियन प्रजातियों में हूटन के अनुसार मंगोलियन तत्वों और विशेषताओं की प्रधानता है। नामकरण के लिये अपनायी गई संज्ञाओं और दृष्टिकोणों में मतभेदों का हो सकता है किन्तु यह निर्विवाद है कि सम्पूर्ण साईबेरिया और उत्तरी चीन में मंगोलियन प्रजाति का एक प्रकार केन्द्रित है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता है मुख का चन्द्रमा के समान गोल और चपटा होना। साईबेरिया के उत्तर में रहने वाले इस्किमो चोड सिर वाले हैं और अन्य लोग लम्बे सिर वाले। एक अतिशक्तिशाली चीन में इसी मंगोलियन प्रकार के तत्वों का बाहुल्य है। पश्चिमी मंगोलो में भी इसी प्रकार की विशेषताएँ काफी मात्रा में पायी जाती हैं और तिब्बत में चीन मिर के साथ, यहाँ वहाँ अन्य विशेषताएँ पाई जाती हैं।

इण्डोनेशिया और मलाया में पाये जाने वाले मंगोलियन प्रकार को हूटन ने इण्डोनेशियन-मंगोलोवायड प्रकार कहा गया है। इण्डोनेशियन-मंगोलोवायड के दो प्रकार हैं— एक मलाया मंगोलियन प्रकार (The Malaya Mongoloid Type) और दूसरा, इण्डोनेशियन मंगोलोवायड प्रकार (The Indonesian Mongoloid Type)। मलाया मंगोलोवायड प्रकार इण्डोनेशिया (हिंद चीन), थाईलैण्ड वरमा मलाया प्रायद्वीप वच पूर्व द्वीप समूह मलेशिया मलेशिया न्त और जापान तक फैला हुआ है और इण्डोनेशियन मंगोलोवायड प्रकार दक्षिणी चीन इण्डोनेशिया वरमा थाईलैण्ड और मलाया प्रायद्वीप के अन्तर्गत में पायी जाने वाली जनजातियों के शारीरिक गठन में। इण्डोनेशियन प्रकार की विशेषता मलाया प्रकार से अलग अलग अधिकतर चौड़े सिर उभरा हुई गाल की हड्डी चौड़ी किन्तु अदर की और घसा नाक इपीकृत फीस और रुखे-साधे तथा नाल वाली वाला होता है। त्वचा का रंग भी अलग अलग अधिक काला-गहरा होता है। इण्डोनेशियन प्रकार के तत्वों का रंग भी अलग अलग अधिक काला-गहरा होता है। त्वचा का रंग वादामा या अरुण-वादामी या मध्य प्रकार की प्रकृति पायी जाती है। त्वचा का रंग वादामा या अरुण-वादामी (Red Brown) और काला का रंग काला होता है। मलाया प्रकार की विशेषता इण्डोनेशियन प्रकार में कम मंगोलियन विशेषताएँ हैं। इसके प्रमाण हैं इण्डोनेशियन प्रकार का अलग अलग अधिक लम्बी-पतली नाक, सीधा भाव और लहरदार बाल।

मास्ट्रैलिया है और न काकेस्वाइड। दक्षिणी अमरीका में पालीनेशियन विशेषताएँ मिलती हैं, पर अस्पष्ट रूप में। रेड इण्डियन न तो उनसे सजातीय और विशिष्ट हैं जिनका विच्छेद बनाने का प्रयत्न किया गया है और न वे लाल रंग के ही हैं। वे वस्तुतः एक प्रजातिक दृश्यरूप हैं और मगोल्वायड परिवार के एशियाई सदस्य हैं। मध्य एशिया, तिब्बत और ईस्ट इण्डोज (East Indies) के लोगों से उनको काफी प्रजातिक समानता है। प्रजाति के विद्यार्थियों की ऐसी भावना है कि रेड इण्डियन अतास्का होते हुए अमरीका में आये और उनके स्थानांतरित समूह हमारा वर्णों तक भात रहे। उनमें कई प्रजाति की विशेषताओं का मिश्रण भी एशिया में ही हुआ होगा।

४

भारत में प्रजातियाँ

भारत प्रजातियों का अजायबघर है। पश्चिमी पाकिस्तान से लेकर पूर्वी पंजाब और बंगाल तक और सागरतटमा सम्पूर्ण भारत में काकेस्वायड तत्वों का बाहुल्य है। उत्तर प्रदेश में हिमालय की तलहटी में रहने वाले बाहुल्य में मगोल्वायड तत्वों का प्रभाव स्पष्ट है और दक्षिण में आदिनामिया का नागरिक बनावट में मोगोल्वायड तत्वों का मिश्रण का आभास सा मिलता है। काकेस्वायड तत्व भी सम्पूर्ण भारत में एक समान नहीं हैं। उत्तरी-पूर्वी पंजाब, काश्मीर और जीतसार-बाबर में नम्र बदन, लम्बे सिर, लम्बी मुरावृत्ति, पतला नाक और गौरवण का वर्गीकरण हुआ है किन्तु बंगाल की ओर चौड़े सिर, मोले मुरावृत्ति, मध्यम बदन और बादामी गौरवण की अस्तित्वता बढ़ती जाती है। दक्षिणी-पश्चिमी भारत में, गुजरात से लेकर कर्णाटक तक दबले बदन चौड़े सिर और मध्यम बदन की प्रधानता है। भारत के सामाजिक मण्डल में भी प्रजातिक तत्वों का समावेश हुआ है—साधारणतया उच्चस्तर की जातियों के पारिवारिक मण्डल में काकेस्वायड तत्वों का, विपत्तयामा श्वेतवर्ण का, बाहुल्य है जब कि निम्नस्तरीय जातियों में दयामयण का। उत्तर पश्चिम के स्वतः

१—(अ) हटन ई० ए० ग्रप क्राम दि एण पृष्ठ ६३३ ६४६

(ब) हावल्स विलियम मनकाइण्ड सो फार पृष्ठ २५६ २५८

इन ताना सम्प्रदायों में काफी मतभेद रहा है और किसी भीमा तक धाज भी है । विदगी मानवशास्त्री जनगणनाओं को ही प्रामाणिक मानत रह हैं और भारत के मानवशास्त्रियों के इस दिगा में काफी ध्यान न देन के कारण जनगणना विवरणा की प्रामाणिकता और भी बढ गई । उधर, अग्रज नकुलशास्त्रियों ने आधारहान सिद्धांतों को प्रतिपात्त किया । अट्टारह सौ इक्कानवे के जनगणना विवरण में आ डानल (O'Donnell) ने यह प्रतिपात्त किया कि बिहार और बंगाल के मैदानों में पाया जान वाला मध्यम सिर, चौड सिर वान मंगोला और लम्ब सिर वाले द्राविडा के मिश्रण का परिणाम है और आर्यों का उम पर कोई प्रभाव नहीं है । उन्नीस सौ एक में रिस्सल ने यह निधारित करन का प्रयत्न किया कि अनक प्रजातियों के मिश्रण के कारण भारत में कई अन्तर्वर्ती प्रजातियाँ (Intermediate Races) अस्तित्व में आयी । उन्नीस सौ इक्कीस में हटन और शुहा ने नीग्रिटो प्रजाति को भारतीय जन मण्या का प्राचीनतम प्रजातिक आधार माना । सर विलियम हटर (Sir William Hunter) ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन इम्पायर' में छोटा नागपुर के आस पास रहने वालों का एक अलग प्रजाति माना और उसे कोलारियन प्रजाति की सना दी । किंतु रिस्सल ने काल और द्राविडा में प्रजातिक भिन्नता के स्थान पर उनमें केवल भाषा भिन्नता ही मानी है । म डरसन ने प्रजाति का भाषा, जाति और धार्मिक भिन्नताओं का मुख्य कारण माना । म डरसन के नी द्वाग में मानव-वर्गों में जाति ने निश्चय ही उन भिन्नताओं को स्थिर रक्खने का प्रयास किया है जो विभिन्न नस्ला के पीढा में जानकरा में पाई जाती हैं । 'भारतीय प्रजातिक भिन्नताओं के कुछ सूप इस प्रायद्वीप के घसों में भी मिल सकन हैं ।' जिस प्रकार, हटर ने कोल प्रजाति को प्रतिपात्त किया, उसी प्रकार, हडोन (Haddon) ने नेसिपट (Nesiot) प्रजाति को और उसका केन्द्रीकरण नामा प्राप्त में माना । अग्रज नकुलशास्त्री आर्यों और द्राविडों को अलग अलग प्रजातियाँ मानन आए हैं यद्यपि ये दोनों प्रजातिक समूह न

१—दत्त बी० एन० रेसेज आफ इण्डिया जनल आफ दि डिपार्टमेट आफ लेटस, वायूम २६ कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

२—दत्त बी० एन० वही

३—भाषा और प्रजाति परस्पर समानांतर नहीं हैं, यद्यपि भारत के इतिहासकार और भाषाशास्त्री बहुधा उन्हें समान मान लेते हैं । उदाहरण के लिये देखिये भार० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित वरिष्ठ एज अध्याय ८

४—म डरसन जे० डी० दि पीपुल आफ इण्डिया पृष्ठ ४

वर्णों समूह और न्यायमय आदिवासी भारत के प्रजातिक गठन के दो यतिरेकी आधार हैं। मिथित कि नुसूयाया विविष्ट प्रजाति समूह भारत के प्रजातिक गठन को एक विज्ञानीय (Heterogeneous) रूप प्रदान करते हैं जिसका निर्धारण और स्पष्टीकरण एक जटिल विवादग्रस्त समस्या है। सभ्यता और भाषा भी नता म बात का प्रतीक है कि भारतीयों के प्रजातिक उत्पत्ति के अनेक प्रजातिया और उनका मिश्रण में निहित हैं। प्रजातिक वंशवृत्तान्त में मिथित समूहों को जन्म दिया और जानि अन्तर्वैवाहिकी के आदत न एक और प्रजातिक धाराया (Racial Strains) को बनाये गवा तो दूसरी और मिश्रित प्रजातिक समूहों को स्थायित्व प्रदान किया। अपनी भौगोलिक विपत्ति का कारण भारत उस जनन के समान रहा है जिसमें अनेक प्रजातिया घुसती और मिश्रित होती रही हैं। अपने प्रजातिक गठन में भारतीय वस्तुतः उस रस्सी के समान हैं जिसके निर्माण में कई मोटी पतली लड़िया एक साथ बट दी गई हैं।

भारत में प्रजातियों के अध्ययन का श्रीगणेश अग्रज नृकुलशास्त्रिया (Ethnologists) के हाथों हुआ। अंडरसन (Anderson) के अनुसार, भारत के लोगों की प्रजातिक विवेचना का साम्प्रदायिक अध्ययन उस समय से प्रारम्भ हुआ है जब नेसफील्ड (Nesfield) ने यह कहा था कि भारत में केवल एक ही भारतीय जाति और प्रजाति है और यह प्रतिपत्ति किया था कि एक ब्राह्मण और भगी में अन्तर करना असम्भव है। यदि अन्तर किया भी जा सकता है तो देश भूया और अथ समाजिक बनावटी आधारों पर। किन्तु भारत में प्रजातियों के अध्ययन का यही एकमात्र कारण नहीं है। रिसले (Risley) का उदाहरण के आन्वित्तिया के बीच में रहने का अनुभव, भाषा परिवार की भाषाया का निर्धारण वदा में वर्णित वल भेद और भाषों के सांस्कृतिक गठन प्रागैतिहास और समार की प्रजातिया के अध्ययन में बहनी हुई दिलचस्पी भारत में प्रजातियों के उत्पत्ति और अध्ययन के अथ कारण है। अग्रजो शासन काल में अग्रज नृकुलशास्त्रिया का स्वरूप में दोने वाली जनगणनायें भारतीय प्रजातियों के अध्ययन का मुख्य मायम रही हैं। १८६१, १९०१ और १९११ की जनगणनायें भारतीय प्रजातियों के अध्ययन में विपत्ति का उत्पत्ति हैं। इसका अतिरिक्त भारतीय और मागेवीय मानवशास्त्री भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं। बंगाल, उत्तर प्रदेश और गुजरात में डॉ॰ मजूमदार द्वारा किया हुए प्रजातिक सर्वेक्षण इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रदान हैं।

भारत की प्रजातिया के अध्ययन कर्त्ताओं को तीन सम्प्रदायों में बांटा जा सकता है—प्रथम, योरोपीय सम्प्रदाय (जिसमें फ्रांस जर्मनी और इटली के मानवशास्त्री शामिल हैं), द्वितीय, अग्रजो अमरीकी सम्प्रदाय और तृतीय, भारतीय सम्प्रदाय।

न ताना सम्प्रदायों में काफी मतभेद रहा है और किसी सीमा तक आज भी है। विदेशी मानवशास्त्री जनगणनाओं को ही प्रामाणिक मानते रहे हैं और भारत के मानवशास्त्रियों के इस दिग्गम में काफी ध्यान न देने के कारण जनगणना विवरणों की प्रामाणिकता और भी बढ़ गई। उधर अंग्रेज नृकुलशास्त्रियों ने आधारहीन सिद्धांतों को प्रतिपादित किया। थ्रुट्ज़रुह भी इत्यादि के जनगणना विवरण में डॉ० डानेल (O'Donnell) ने यह प्रतिपादित किया कि बिहार और बंगाल के मैदानों में पाया जाने वाला मध्यम सिर, चौड़े सिर वाले भगोलों और लम्बे सिर वाले द्राविडों के मिश्रण का परिणाम है और आर्यों का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। उन्नीसवीं एक में रिसले ने यह निष्कर्ष निकाला कि भ्रमक प्रजातियों के मिश्रण के कारण भारत में कई अन्तर्मीम प्रजातियाँ (Intermediate Races) अस्तित्व में आयीं। वीनीस सी इक्लीसिस में हटन और गुहा ने नीग्रिटो प्रजाति को भारतीय जनसंख्या का प्राचीनतम प्रजातिक आधार माना। सर विलियम हटर (Sir William Hunter) ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन इम्पायर' में छोटा नागपुर के भास पास रहने वालों का एक अलग प्रजाति माना और उसे कोलारियन प्रजाति की संज्ञा दी। किंतु रिसले ने कोल और द्राविडों में प्रजातिक भिन्नता के स्थान पर उनमें केवल भाषा मिलना ही माना है। 'अडरसन' ने प्रजाति को भाषा जाति और धार्मिक भिन्नताओं का मुख्य कारण माना। 'अडरसन' की भाषा में 'मानव-वर्गों में जाति' ने निश्चय ही उन भिन्नताओं को स्थिर रखने का प्रयास किया है जो विभिन्न नस्लों के घोंटा या जानबूझकर में पाई जाती हैं। 'भारतीय प्रजातिक भिन्नताओं के कुछ सूत्र' इस प्रायद्वीप के घनों में भी मिल सकते हैं। जिस प्रकार, हटर ने कोल प्रजाति को प्रतिपादित किया, उसी प्रकार, हैडन (Haddon) ने नसियट (Nesiot) प्रजाति को और उसका केन्द्रोक्षण नागा प्रांत में माना। अंग्रेज नृकुलशास्त्री आर्यों और द्राविडों को अलग अलग प्रजातियाँ मानते आए हैं यद्यपि ये दोनों प्रजातिक समूह न

१—दत्त बी० एन० रैतेज आफ इण्डिया जनसंख्या आफ दि हिवाटमेड आफ सटस, वायूम २६ कलकत्ता विश्वविद्यालय।

२—दत्त बी० एन० यही

३—भाषा और प्रजाति परस्पर समानांतर नहीं हैं यद्यपि भारत के इतिहासकार और भाषाशास्त्री बहुधा उन्हें समान मानते हैं। उदाहरण के लिये द्रविड़ों और ० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित बर्दिक एज अध्याय ८

४—अडरसन जे० डी० दि पीपुल आफ इण्डिया पृष्ठ ४

होकर सांस्कृतिक समूह है। इस प्रकार, भारतीय प्रजातियों को स्पष्ट करने के लिए एक और मानव-समूहों के काल्पनिक स्थानांतरण का आश्रय लिया गया तो दूसरी ओर प्रजातिक मिश्रण का और इस प्रकाश में, जहां कि भूषेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है प्राणिशास्त्र के आनुवंशिकता सम्बंधी नियमों की स्पष्ट अवहेलना की गई^१। सम्भवतः इसी विचारधारा के प्रभाव का परिणाम है कि क्रोबेर (Kroeber) ने 'हिन्दू को काकम्बायड प्रजाति के अंतर्गत एक असंग प्रजाति माना है' और हावेंस (Howells) ने यह लिखा है कि यदि पाठक को ऐसा प्रतीत होवे भारतीय प्रजातियों के प्रति उसका विचार अस्पष्ट है तो उस सरमाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शायद ही कोई ऐसा जीवित व्यक्ति हो जिसके विचार इस विषय में स्पष्ट हों। भारतीयों के प्रजातिक प्रकार के बारे में काफी अनिश्चिता है और उनके प्राचीन इतिहास के बारे में पूर्णतम अनिश्चितता। वर्तमान परिस्थिति में मानवशास्त्री केवल सतह पर ही देखकर जो स्पष्टतम है उसी पर ज़ार दे सकता है यद्यपि ऐसा करने का तात्पर्य होगा सब प्रयत्न यह कहना कि भारतीयों के प्रजातिक गठन की चरम सीमाएं एक दूसरे से कोसा दूर हैं और फिर उन चरम सीमाओं के निधारण का प्रयत्न करना। भारतीयों के प्रजातिक गठन के विषय में केवल एक ही तथ्य स्पष्ट है और वह यह है कि भारत की जनसंख्या बहुत बड़ी और एक या उससे अधिक श्यामवर्णी प्रजातियों का मिश्रण है^२।

५

भारत की प्रजातियों के कुछ वर्गीकरण

भारत में पायी जाने वाली प्रजातिक धाराधारा का वर्णन करने से पहले भारत की प्रजातियों के कुछ वर्गीकरणों और उनके प्रतिपादकों के मतों की रिम्ने विवचना आवश्यक है। सबसे पहला प्रयास रिम्ने (Sir Herbert Risley) का है और जहां कि पहले कहा जा चुका है रिम्ने ने यह प्रतिपादित किया है कि मिश्रण के कारण भारत में मात्र मिश्रित किन्तु स्थायी

१—दत्ता बी० एन० पृ० ५३

२—शेडर ए० एल० एप्रोपोलाजी पृष्ठ १३५

३—हावेंस विभिन्न मनकाइड से कार पृष्ठ २४५

मन्तव्यी प्रकार (Intermediate Type) पाये जाते हैं। तुर्की इरानियन प्रकार (The Turko Iranian Type) तिलोचियो, तिलोचिस्तान व अफगाना, बाह्मी भाषा भाषियों और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के निवासियों में केन्द्रित है। आज यह प्रदेश पाकिस्तान का भाग है। तुर्की इरानियन-प्रकार रिमन के अनुसार तुर्की और ईरानिया के मिश्रण का परिणाम है। यूरदिया जसी नाक छोर पर बालों की अधिकता और घनी दाढ़ी इस प्रकार की मुख्य गैरारिब विशेषताएँ हैं।

इण्डो आर्यन प्रकार (The Indo-Aryan Type) पञ्जाब, राजपूताना और कश्मीर में केन्द्रित है और राजपूत, खत्री तथा जाट इस प्रकार के मुख्य प्रतिनिधि हैं। वण को छोड़ कर, अन्य सभी विशेषताओं में वे योरोपियनों के समान हैं और मंडोटेरनियन के आस-पास पाये जाने वाली प्रजातियों से बिरसा ही अधिक घुसूर (Dusky) हैं। इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोग सम्बन्ध में बर्णों में साफ रंग (Fair), लम्बे सिर, पतली प्रमुख नाक, कानों में अस्ता तथा चेहरे पर घने बालों वाले होते हैं। इनमें आर्यों की विनिष्टताएँ विद्यमान हैं, यद्यपि उनका रूपान्तरण अवश्य हुआ है। सीथो-ड्रवीडियन (The Scytho Dravidian) रिमन का तीसरा प्रकार है जो मराठी ब्राह्मणों, कुतबिया और पश्चिमी भारत के कुछ निवासियों में निहित है। अपभ्रंशित छोटा बड़ लम्बा सिर, अधिक ऊँची उठी हुई नाक और चौड़ी भुजाएँ ही सीथो-ड्रवीडियन की तुर्की इरानियन से भिन्न करती हैं। चौथा प्रकार, आर्यो-ड्रवीडियन (Aryo-Dravidian) है जिसे रिमने न हिन्दुस्तानी प्रकार (The Hindostani Type) भी कहा है। यह प्रकार संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) और राजपूताना तथा बिहार के कुछ भागों में पाया जाता है। इण्डो आर्यन और ड्रवीडियन प्रजातिक धाराओं का मिश्रण ही इस प्रकार का कारण है, यद्यपि इस पत्र का उच्च जातियों में, अपभ्रंशित, इण्डो-आर्यन विशेषताएँ अधिक पायी जाती हैं और निम्नतर की जातियों में अधिक ड्रवीडियन विशेषताएँ। फिर भी यह प्रकार एक विनिष्ट प्रजाति है। इस प्रजातिक प्रकार के सरसों की सामाजिक स्थिति उनकी नासिका-दण्ड (Nasal Index) पर निर्भर है। रिमने के अनुसार, जिस जाति की स्थिति जितनी ही निम्न है उस जाति के सदस्यों की नाक उतनी ही चौड़ी होती है। पाँचवा प्रकार, मंगोलो-ड्रवीडियन (Mongolo Dravidian) या बंगाली प्रकार (The Bengali Type) बंगाल और उड़ीसा में पाया जाता है जहाँ म्यानीय आदिवासियों, गैरों और तिब्बती-बर्मों प्रकार के साथ अन्य प्रजातिक विशेषताओं का काफी मिश्रण हुआ है। चौथा सिर इस प्रकार की प्रमुख विनिष्टता है जो ब्राह्मणों में बहुशत से पायी जाती है। बंगाली ब्राह्मण की पतली लम्बा नाक उसकी इन्हीं

आधुनिक आनुवंशिकता का ही प्रतीक है। मंगोलोवायड (The Mongoloid Type), लठा प्रकार, ई मालय नेपाल आसाम और बर्मा में मिलता है। चौड़ा सिर, पीलिमा लिये हुए श्याम वस्त्र मुख पर कम बाल छोटा कान, पतली तथा चौड़ी नाक, चपटा चेहरा और निम्न छोटी आँखें इस प्रकार की मुख्य शारीरिक विशेषताएँ हैं। पश्चिमी हिमालय में भी प्रजाति और आर्यों का मिश्रण हुआ है। ड्राविडियन-प्रकार (The Dravidian Type) रिस्ले के अनुसार भारत का सातवा प्रजातिक प्रकार है जो अफ्रीका से निकल गया की घाटी तक और दक्षिणी पूर्वी भारत में फैला हुआ है। मह मद्रास, हैदराबाद में यह प्रजाति और छोटा नागपुर में पाया जाता है यद्यपि इसमें शुद्धतम प्रति निधि मानाजार के तट पर और छाटा नामपुर में पाया जाता है। इस प्रजातिक प्रकार की विशेषताएँ हैं छोटा कान, गहरा काला रंग घुघुरालेपन का आभास लिये हुए धने बाल अधिक कजरायी बाल लम्बा मिर और अत्यधिक चौड़ी नाक जो कभी कभी जड़ में बसा रहता है।

रिस्ले द्वारा प्रयोग में लायी हुयी प्रजातिक सभामों (Racial Names) के विषय में अन्तरसम का कहना है कि ये सभामें विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों की उन साधारण प्रजातिक विशेषताओं को संकेत करती हैं जो निरीक्षण के द्वारा ही नहीं बरन् मापन द्वारा भी निर्धारित की जा सकती हैं। ये सभामें, किन्तु किन्हीं परिस्थितियों में, प्रजातियों की उत्पत्ति के सिद्धांतों को भी संकेत करती हैं और प्रजाति उत्पत्ति के ये सिद्धान्त अतः मापों, अक्षत प्रमाणा और अतः भाषा विविधताओं पर आधारित हैं। रिस्ले का मत को स्पष्ट करने के लिये लिखे गये अन्तरसम के इस कथन में ही रिस्ले की तीव्रतम आलोचना निहित है। भाषा प्रजाति और प्रजाति एक दूसरे के समानांतर नहीं हैं और भाषा के आधार पर ही प्रजाति का निर्धारण करना कठिन है। रिस्ले के अनुसार भारत के लोगों का प्रजातिक गठन मुख्यतया तीन प्रजातियों के मिश्रण का परिणाम है और ये तीन मुख्य प्रजातियाँ हैं—ड्राविड (The Dravidian) इण्डो-आर्य (The Indo Aryan) और मंगोलियन (The Mongolian)। किन्तु आर्य और ड्राविड प्रजातिक समूह न हूँ बरन् भाषा पर आधारित समूह हैं और ड्राविड भाषा भाषी समूह में कम से कम तीन प्रजातियाँ पाई जाती हैं। भारत में पायी जान वाली चौड़े सिर की विशेषता रिस्ले के अनुसार मंगोलियन प्रभाव के कारण है किन्तु डॉ॰ मजूमदार का मत में यह निर्धारित करना कठिन है क्योंकि एक ओर मंगोलोवायड प्रजाति के लोग केवल चौड़े सिर वाले ही नहीं होते हैं और दूसरी ओर बंगाल पर मंगोलियन प्रभाव उतना नहीं है जितना कि रिस्ले ने प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। गुजरात में पायी जान वाली चौड़े सिर की विशेषता मंगोलियन प्रभाव

के आचार पर निर्धारित करना वस्तुतः असम्भव है। रिमने द्वारा प्रयुक्त मनायेँ माव-गात्र में प्रयोग का ज्ञान वाणी अन्तर्गम्य प्रजातिक मनायो के अनुकूल नहीं है और न उनसे वास्तविक प्रजाति-मूला का बोध ही होता है। इसी कारण, रिमने द्वारा प्रयुक्त नामावली की आलोचना की गयी है। रिमने के एक सहयोगी क्रुक (Crooke) ने 'दि पीपुल्स आफ इण्डिया' की दूसरी आवृत्ति में प्राक्कथन में कहा कि लिखा है कि रिमल द्वारा प्रयुक्त प्रजातिक मनायेँ जितनी ही जल्दी त्याग दी जाय उतना ही अच्छा होगा। बाद के अध्ययन बता रिमने की प्रजातिक मनायो को बराबर त्यागन चले गये। आज वह नामावली मर्यादित है। फिर भी, रिमने के काम और अध्ययन का आज वही महत्व है जो एक अग्रगामी काम का होता है।

ए० सी० हैडोन (A C Haddon) ने रिमल का जगत अनुसरण किया है।

हैडोन (Haddon) के अनुसार भारत में मुख्यतया पाँच प्रकार

हैं—प्राक् द्राविड (Pre Dravidian), द्राविड (जम्बे मिर और

बादामी तथा जतुमी वगैरे), इण्डो-आर्य (साफ वगैरे और

सम्पत्ति वाले), मण्डो-अल्पाइन (चीन सिर वाला) और मंगोलियन। द्राविड

जैसा कि हैडोन का मत है, पश्चिमी बंगाल में बंगाल की घाटी के मूल निवासी रह

होंगे और धीरे-धीरे काफ़ी भ्रमण करने के पश्चात् मुख्यतया छोटा नागपुर में बस

गए होंगे। इण्डो-आर्य प्रजातिक तत्व और भारत में पाये जाने वाली चौड़े मिर का

विपत्ता क्रम में आर्य और अल्पाइन प्रजाति की दल हैं। भारत में मंगोलोइड नस्ल,

हैडोन के अनुसार, पूर्व से आया है। हैडोन ने ही सप्रथम भारत को मूलतः प्रजाति

का प्रश्न उठाया और यह प्रतिपादित किया कि भारत के प्रजातिक गठन का

प्राचीनतम आधार अनेक प्राक् द्राविड गणजातियों में निहित है। प्राक् द्राविड

प्रजातिक प्रकार की विपत्ता हैलम्बा सिर और चौड़ी नाक, जो हैडोन के अनुसार

अधिकतर नागा, खासी, कुकी, मैनीपुरी मित्र और बर्माई गणजातियों में पाई

जाती है यद्यपि नागा गणजातियों में यह तत्व उतने प्रधान नहीं है। लम्ब मिर

और मध्यम नाक वाले तत्व की हैडोन ने नेसियट (Nesiot) कहा है जो नेफा

(NEFA) की पहाड़ियों में पाया जाता है और जिसका नागा गणजातियों में

प्रभाव है। किन्तु हैडोन ने नेसियट को इण्डो-मैनीपुरी माना है जब कि हमने न

मैनीपुरी।

१—दल बी० एन० वही।

जनगणना विवरणों के लखकों में हटन पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने रिसने, अडरसन और हैडान द्वारा प्रयुक्त नामावली का प्रयोग न करके स्वमात्र, हटन अंतर्राष्ट्रीय नामावली का प्रयोग किया है। हटन के मत में, भारतीय प्रजातिक धाराओं का निर्धारण एक स्पष्टीकरण भारत में होने वाला स्थानांतरण के साथ में हो सकता है और इसी कारण उनका वर्गीकरण भारतीयों की भाषा, सभ्यता और शरीर गठन के आधार पर लगाये गये अनुमात्रों पर आधारित है। उदाहरणार्थ हटन के अनुसार, दक्षिणी पूर्वी एशिया के अथ क्षेत्रों के प्रजातिक गठन पर विचार करने से यह बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि भारत के प्राचीनतम निवासियों जिनके कुछ भी चिह्न अबोध हैं नोमिडो हैं। अडमन द्वीपों में नोमिडो अबोध गुट रूप में पाये जाते हैं और मनाया फिलिपपाइन-द्वीपों तथा यूगिनी तक नोमिडो तत्व पते हुए है। किंतु, भारत में नोमिडो प्रभाव समाप्त होता रहा है और आज भारत में नोमिडो तत्व सम्भवतः काबोल के जंगलों में पाई जाने वाली कादर गणजाति के सदस्यों विहार में गया नदी के दक्षिण में स्थित राजमहल की पहाड़ियों के इन्का-दुप्का निवासियों और आसाम तथा बर्मा के बीच उत्तरी पूर्वी सीमा पर स्थित किसी किसी नागा-गाव के निवासियों में पाये जाते हैं। वर्तमान भारत में नोमिडो प्रजाति के क्षीण अबोध ही पाये जाते हैं और आज इस बात की केवल कल्पना ही की जा सकती है कि कभी नोमिडो पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के निवासी रहे होंगे।

सुदूर उत्तर-पूर्वी भारत में स्थित आसाम की नागा पहाड़ियों के निवासियों की गैरीरिक विशेषताओं में महा बहा वापुषन (Popuan) मेलानेशियन प्रकार के नीग्रोइड भी पाये जाते हैं। गैरीरिक गठन की अपेक्षा इस प्रदेश की सभ्यता और कला में मलानेशियन तत्व अधिक स्पष्ट है। उन्नीस सौ इक्कीस के जनगणना विवरण में हटन द्वारा शरीर विभाग के अनुसार भारत और बर्मा में मलानेशियन तत्व स्पष्ट है यद्यपि उनका विस्तार सामित है और उनकी उत्पत्ति सन्देहात्मक। मेलानेशियन प्रकार के हटन एक विशिष्ट मिश्रित स्थायी प्रकार मानते हैं जो सम्भवतः नोमिडो और प्रोटो आस्ट्रो-वायन के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है। मेलानेशियन प्रकार निवासियों और उन पश्चिमी भूभाग में पाया जाता है जो बर्मा और आसाम को परस्पर अलग करते हैं। इस प्रकार हटन के अनुसार, भारत में नोमिडो मलानेशियन प्रकार के रूप में आया है और उसका मुख्य माध्यम है भारत में पूर की

और से होने वाले स्थानान्तरण। किन्तु, भूत-द्रोणम दत्त के अनुसार नागा-ग्रन्थ में नीग्रिटो और मेलानेशियन प्रजातिक घाराघा की भाषाओं परस्पर विरोधी हैं^१।

जिस हैडोन ने प्राक्-द्राविड (Pre Dravidian) कहा है हटन ने उसे आस्ट्रो-वायड (Australoid) प्रजाति के अनुरूप मानकर, प्राटो आस्ट्रोल्वायड (Proto Australoid) का मना दी है। हटन के मत में नाग्रिटो का भारत की प्राचीनतम प्रजाति मानने में सन्देह हो सकता है किन्तु हमें कोई मद्दह नहीं है कि भारत की जनसंख्या के प्रजातिक निमाण में प्राटो आस्ट्रोल्वायड प्रजाति का मुख्य हाथ है। अत्यन्त प्राचीन काल में, इस प्रजाति के पूरज भारत के निवासी थे और उन समय सम्भवतः नीग्रिटो के प्रतिरिक्त कोई अन्य प्रजाति भारत में नहीं आई थी। भारत के आदिवासियों, विशेषतया दक्षिण भारत के जंगली और पहाड़ी भूखण्ड में निवास करने वाली गणजातियों में, प्राटो आस्ट्रोल्वायड तत्वा की प्रबलता है यद्यपि, मिश्रित रूप में, यह प्रजाति सम्पूर्ण भारत और सभी सामाजिक स्तरों में पाई जाती है। हा, यह अवश्य है कि उच्च जातियों की अपना निम्न जातियों में इसका प्रभाव अधिक स्पष्ट है^२।

आस्ट्रिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग करने वाली गणजातियों में, हटन के अनुसार, प्राटो आस्ट्रोल्वायड तत्वा के साथ मगोल्वायड तत्वा का मिश्रण हुआ है, यद्यपि ये मगोल्वायड तत्व न तो विशेषीकरण को प्राप्त हो सके और न प्रमुखता की हो। भारत में पाये जाने वाले दो आस्ट्रिक भाषा परिवारों के आधार पर हटन ने मध्य एशिया से दो स्थानान्तरण माने हैं—एक, हिमालय के पश्चिमी किनारे से और दूसरा, हिमालय के पूर्व की ओर से^३। पाचवीं सदी पूर्वसे लेकर ईसा के मृत्यु काल के समय तक इसका ईसा के बाद की पाचवीं शताब्दी में हूणों के और आर्याम में शान लोगों के हमले हुए, जिसके कारण, भारत में मगोल्वायड प्रजाति के अवशेष पाये जाते हैं। हटन का छोटा नागपुर, बस्तर राज्य और मण्डल की पहाड़ियों के निवासियों के गैरीरिक हटन में स्पष्ट मगोलियन प्रभाव का आभास मिलता है। हटन के अनुसार, यह मगोल्वायड प्रभाव समुद्री मार्ग से आया है। किन्तु, हैडोन (Haddon) और थर्स्टन (Thurston) ने, हटन के विपरीत, दक्षिण में मगोलियन तत्वों को अस्वीकार किया है। पूर्वी बंगाल के मुसलमान किमानों के

१—दत्त बी० एन० वही

२—हटन जे० एच० कास्ट इन इंडिया पृ० ३

३—वही पृ० ४

४—बस्तर राज्य अब मध्य प्रदेश में मिला दिया गया है।

शारीरिक गठन में भी, हटन के अनुसार मगोलोवायड तत्वों का समावेश हुआ है, किंतु गेट के आधार पर भूपद्रनाथ त्त ने इसे अस्वीकार किया है। वास्तव में, हटन की इस मायता में विरोध है क्योंकि, एक ओर हटन ने नामसूद्रों को लम्बे सिर और मध्यम नाक वाला कहा है और, दूसरी ओर पूर्वी बंगाल के किसानों को मुख्यतया मगोलोवायड प्रजाति का। बंगाल के नामसूद्र और मुसलमान किसान एक ही सांस्कृतिक क्षेत्र के निवासी हैं और उनका आधारभूत प्रजातिक गठन वस्तुतः समान है। बंगाल के उनीस सौ दसतीस के जनगणना-विवरण के अखंड गेट (Gait) ने रिले (Riley) का हवाला देते हुए, पूर्वी बंगाल के मुसलमान कृषकों के प्रजातिक गठन में स्थानीय प्रजातिक धाराओं की प्रमुखता का उल्लेख किया है।

द्राविड भाषा भाषियों की हटन ने एक भ्रम प्रजातिक प्रकार न मान कर, उन्हें मुख्यतया मेडोटरनियन प्रजाति का माना है। आज द्राविड परिवार की भाषाय मुख्यतया गोदावरी के दक्षिण में ही सीमित हैं। किन्तु पश्चिमी पाकिस्तान में आज भी विद्यमान बाह्वी और राजमहल की मारटो भाषायें द्राविड परिवार की होने के कारण, इस बात का प्रतीक हैं कि किसी समय द्राविड-भाषा भाषी सम्पूर्ण भारत में फैले हुए थे। द्राविड परिवार की भाषायें हटन के अनुसार, भारत के उत्तर-पश्चिम से, एशिया माइनर (Asia Minor) या उस ओर से मेसोपोटामिया (Mesopotamia) होकर भारत में आयी हैं। द्राविड भाषा भाषियों का प्रजातिक प्रकार सम्भवतः वही था, जो प्रधानतः मेडोटरनियन में पाया जाता है। यद्यपि वर्तमान भारत में यह प्रकार अन्य प्रकारों में मिल गया है। इसका मिश्रण मुख्यतया बड़े सिर वाले प्रकार (Round Headed Type) से हुआ है जिससे भारत में सीरिया (Syria) आर्मीनिया (Armenia) और ईरानी पठार (Iranian Plateau) में पाये जाने वाले प्रजातिक प्रकारों का आभास मिलता है। दक्षिणी भारत और मेसोपोटामिया सीरिया तथा ग्रीक की प्राचीन संस्कृतियों में पाये जाने वाली समानताएँ हटन के मत में इस बात का प्रमाण हैं कि द्राविड भाषा भाषियों या मेडोटरनियन प्रजाति के लोगो की कई स्थानांतरित धाराएँ भारत में आयी हैं। एक धारा के लोग वह भाषा बोलते थे जिससे आस्ट्रो-एशियाटिक (Austro Asiatic) परिवार की भाषाएँ का विकास हुआ है और इसी कारण आस्ट्रोएशियाटिक भाषा भाषियों में यदि एक ओर प्रोटो आस्ट्रोल्वायड और सीए मगोलोवायड तत्व पाये जाते हैं तो दूसरी ओर उनमें आधे मेडोटरनियन तत्व भी विद्यमान हैं। इस धारा के लोगों को पि का साधारण ज्ञान था और वस्त्र के बड़े स्मारक (Megalithic Cult) बनाने

में विश्वास करते थे । दूसरी धारा के लोग पूर्वी योरोप से आये और पहली धारा के लोगों से अधिक उन्नत थे । इन्हीं धातु और उसके प्रयोग का ज्ञान था और इन्होंने ही सिन्धु नदी की घाटी की सम्भ्रता का जन्मदाता कहा जाता है । हटन के ही ज दा में, 'मंडीटरनिपन ही एक एमी प्रजाति प्रतीत होती है जिसका भारत के लोगों के 'गरीक गठन और सम्भवत उनकी सस्कृति-निर्माण में सबसे अधिक योग है' ।

ईसवी पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में, हटन के अनुसार, उत्तर-पश्चिम से चौड़े सिर वाले लोग की एक धारा आयी जो पश्चिमी समुद्रतट के किनारे किनारे कुछ तक पहुँची और वहाँ से मैसूर होती हुयी ताम्रिल तथा तेलंग भाषा भाषी-प्रदेशों तक पहुँची । सम्भ्रान्त, गंगा और यमुना के दक्षिण में चलने हुए इस धारा की एक शाखा बंगाल जा पहुँची । हटन के अनुसार, भारत में चौड़े सिर के दो उद्गम स्रोत हैं । एक स्रोत है वे चौड़े सिर वाले, जो आरसी-वायड प्रजाति के थे, जो सम्भवत द्राविड भाषा बोलते थे और जिनमें तथा मेगोपोटामिया के प्रागैतिहासिक लोग भी शामिल समानता थी । चौड़े सिर का एक अन्य स्रोत है वह स्थानान्तरित धारा जो पामीर और ईरान के पठार से भारत में आयी और जिसके सदस्य सम्भवत पिशाच वंशज वर्दी परिवार की भारतीय (इण्डो-यूरोपीय) भाषा बोलते थे ।

एक हजार पाँच सौ ईसवी पूर्व के लगभग गौर वंश तथा लम्बे सिर वाले इण्डो-आर्यन प्रजाति के लोग उत्तर पश्चिम से आकर पहले पंजाब में बसे और फिर वहाँ से भारत के अन्य क्षेत्रों में फैलने लगे । इण्डो आर्यन प्रजाति को हेटन ने प्रोटो आर्यिक कहा है यद्यपि इस नामकरण में अधिकतर मानवशास्त्री सहमत नहीं हैं । आर्य, विशेषतया इण्डो-आर्य शब्द भाषा-भूत का व्युत्पन्न करता है न कि प्रजाति को । हटन स्वयं आर्य शब्द की प्रजातिक नामावली में मिलान के पक्ष में नहीं हैं । कोई और अधिक उपयुक्त शब्द न होने तथा आर्य शब्द से पूर्व परिचित होने के कारण ही हटन ने आर्य शब्द का प्रयोग प्रजाति के संदर्भ में किया है ।

हटन द्वारा प्रस्तुत भारतीय प्रजातियों की रूपरेखा के अनुसार सगर की तीन बड़ी प्रजातियों की कुछ मुख्य मुख्य धाराएँ भारत में विद्यमान हैं । भारत में मीनाप्र प्रजाति का प्रतिनिधि है प्रोटो आस्ट्रोल्पायड, नीग्रिटो और मेलानेशियन तत्व वाले म्बायड प्रजाति के मेगटोनियन (लम्बा सिर, मध्यम नाक), इंडो आर्यन (आर्य ? लम्बा सिर, पतली नाक), आरसी-वायड (चौड़ा सिर, लम्बा चित्तु

मोरी तथा प्रमुख नाक) और ईरानी। मध्य एशिया तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के मंगोलियन तत्व भारत में मंगोलो-आर्य प्रजाति के प्रतीक हैं यद्यपि यहाँ मंगोलो-आर्य प्रमुख न होकर क्षीण अवस्था में ही है। हटन न स्वयं स्वीकार किया है कि भारत की प्रजातिक धाराओं के स्पष्टीकरण और वर्गीकरण पर उनका मत अंतिम नहीं है यद्यपि उनका दावा है कि उनका वर्गीकरण की योजना में भारत में प्रजाति सम्बंधी सभी पात तथ्य बिना किसी तोड़ मरोड़ के फिट अवश्य हो जाते हैं।

बी०एस० गुह का वर्गीकरण हटन की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और स्थापना-तरण की वृत्तनाओं के स्थान पर मुख्यतया भारतीयों की शारीरिक मापों गुह पर आधारित है। डा० गुह के अनुसार भारत में सात मुख्य प्रजातिक धाराएँ पायी जाती हैं। तेलगू ब्राह्मणों में पाई जाने वाली शारीरिक विशेषताओं का डा० गुह ने मुख्य भारतीय प्रजाति माना है और उसे प्रथम प्रजातिक प्रकार की संज्ञा दी है। इस प्रजातिक धारा की विशेषताएँ हैं लम्बा किन्तु घेरापियनो की अपेक्षा छोटा सिर लम्बी किन्तु प्रमुख नाक, काने बाल और गहरी पीला चादामी रंग (Dark Tawny Brown Colour)। नागर ब्राह्मण दूसरी धारा के प्रतिनिधि है। सिर का बनावट में ही दूसरी धारा पहली से भिन्न है, क्योंकि दूसरे प्रजातिक प्रकार के लोगों के सिर का पिछला भाग चपटा होता है। तीसरी धारा के प्रतिनिधि हैं पठान जिसे आम प्रकार (The Aryan Type) भी कहा जा सकता है। इस धारा के लोग पंसी तथा दूसरी धारा के लोगों की अपेक्षा अधिक लम्बे और कम गहरे रंग (Less Pigmented) वाले होते हैं। इसके प्रतिरक्त ये लम्बे सिर, लम्बी मुद्राकृति और लम्बी किन्तु प्रमुख नाक वाले होते हैं। चौथी धारा का प्रकार वैदिक है मध्य और दक्षिणी भारत के आदिवासियों में। यह प्रकार लवा के वेदु (Veddah) और मलाया के सवाई लोगों के शारीरिक गुण से मिलता जुलता है। इसी प्रकार की आइस्लेड (Eickstedt) ने बहामा प्रकार कहा है। छाटी किन्तु चपटी नाक, छोटी-बोड़ी मुखकृति और सहृदय भयवा धु धराने काने बाल इसे प्रथम प्रकार से अलग एक भिन्न प्रकार का रूप देते हैं। पांचवा प्रकार, मालाबार की कादर और पुलाया मणजानिया के सदस्यों में पाया जाता है। छोटा शरीर और कुन्तलाकार धु धराले बाल (Spirally Curled Hair) इस प्रजातिक प्रकार को चौथे प्रकार से भिन्न करने है। डा० गुह द्वारा निधारित छठे और सातवें प्रजातिक प्रकार मंगोलो-आर्य प्रजाति की

दो शाखाएँ हैं। मूटान तथा काश्मीर से लेकर आसाम तक, हिमालय की तलहटी के निवासियों में, चौड़े सिर के साथ पायी जाने वाली मंगोलियन विशेषताएँ छोटी प्रजातिक धारा की प्रतीक हैं और आसाम के जंगली नागा सानवी धारा की । लम्बा सिर और नाक की अविव प्रमुख गठन सानवी धारा से छोटी धारा की भिन्न करती है ।

हटन की भांति, डा० गुह ने भी आधुनिक नामावली का प्रयोग किया है । वे भी निग्रिटो को भारत के प्राचीनतम निवासी मानते हैं और मालाबार की कादर तथा पुलाया गणजातियों के सदस्यों की शारीरिक विशेषताओं को उनके प्रतीक । मध्य तथा दक्षिण भारत के आदिवासी प्रोटो-आस्ट्रालोयड प्रजाति के प्रतिनिधि हैं । मंगो-वायड की भारत में दो शाखाएँ हैं—एक पुरा मंगो-वायड (Palae Mongoloid) जिसमें लम्बे सिर और चौड़े सिर वाले मंगो-वायड शामिल हैं और दूसरी, निम्नतम मंगो-वायड (Tibeto Mongoloid) । मेडोटेरेनियन, डा० गुह के अनुसार, भारत की प्रमुख प्रजातिक धारा है और उसकी तीन मुख्य शाखाएँ हैं—एक, पुरा मेडोटेरेनियन (Palae-Mediterranean), दूसरी, मेडोटेरेनियन और तीसरी, मेडोटेरेनियन कहा जान वाला एक पूर्वी प्रकार (The So called Oriental Type) । भारत में मलगाइन, आरमोन्वायड और डिनारिक प्रभाव चौड़े सिर की विपत्ति के लिये उत्तरायी हैं और उन्हें डा० गुह ने एक ही श्रेणी में रख कर पश्चिमी चौड़े सिर वाली प्रजातियों (The Western Brachycephals) की संज्ञा दी है । हटन की भांति, गुह ने भी आय प्रकार में नाटिक तत्वों को निर्धारित किया है ।

डा० गुह के विवेचन और वर्गीकरण की एक अन्य विशेषता है । उनके अनुसार ब्राह्मणों और उच्च जातियों के सदस्यों के शारीरिक गठन में निहित आचार्यगत मेडोटेरेनियन मूल और पश्चिमी भारत तथा बंगाल में प्रतिरोपित आचार्यगत, भारत में हान वाले एक प्राचीन प्रजातिक आप्रवाशन (Racial Immigration) और धारों के साथ उत्तरी पश्चिमी भारत में आन वाले नाटिक तत्वों से एक दम भिन्न हैं । प्रजातिक गठन के दृष्टिकोण से डा० गुह ने भारत के आदिवासियों को चार प्रजातिक प्रकारों में बांटा है । पहले प्रकार की विशेषताएँ हैं छोटा, लम्बा बिन्दु योडा उठा हुआ सिर, प्रमुख भौंहें, छाटा-चौड़ा मुखानुनि, योडा भागे की और निचला हुआ मुह और छोटी-चपटी नाक जिससे नयने फँसे रहते हैं । दूसरे प्रकार को डा० गुह ने कृष्णवर्णी, बोनो और कुतलात्मक पुधुरान वाली वाली प्रजातिक धारा कहा है जिसके अवशेष कादर और पुलाया

गणजातियों में पाये जाते हैं। आसाम और उत्तरी ब्रमा के आदिवासियों में चौड़े सिर वाली मंगोलियन धारा डा० गुह के तीसरे प्रकार में आती है। उनके चौथे प्रकार में मंगोलियन प्रजाति की वह धारा आती है जिसकी विशेषतायें हैं मध्यम कद ऊँचा फिर (High Head), मध्यम नाक और तीसरे प्रकार की मुखकृति तथा आँख की सभी मंगोलियन विशेषतायें। इन चार प्रजातिक प्रकारों में प्रथम, डा० गुह के अनुसार, मध्य और दक्षिण भारत के आदिवासियों में मुख्य रूप से पायी जाती है। निम्नस्तर की जातियाँ में भी इसके अनेक विद्यमान हैं।

डा० डी० एन० मजूमदार के अनुसार, नौग्रिटो भारत के मूलनिवासी नहीं हैं यद्यपि नौग्रिटो प्रजाति के तत्वों का यहाँ वहाँ पाया जाना एक दम सम्भव नहीं है। प्रोटो आस्ट्रो वाड, डा० मजूमदार के मत में, भारत के प्राचीनतम निवासी हैं और नौग्रिटो की अपेक्षा प्रोटो आस्ट्रोल्वायड नए ही भारत में वृत्तायत से पाये जाते हैं। भारत के आदिवासी, जो अभी तक प्राक शाब्दिक कहे गए हैं, मुख्यतया एक ही (प्रोटो आस्ट्रोल्वायड) प्रजाति के हैं उनमें, डा० गुह की भाँति, प्रजातिक अंतर निकालना आवश्यक नहीं। मुण्डा और आसामी अपनी प्रजातिक विशेषताओं में परस्पर भिन्न नहीं हैं यद्यपि दोनों अलग अलग भाषायें बोलते हैं। इन गणजातियों की एक ही प्रजाति की स्थापना मानने में भाषा भिन्नतायें अटल अवरोध न समझी जानी चाहियें क्योंकि प्रजाति और भाषा परस्पर निर्भर नहीं हैं। मुण्डा, सँथाल, जुवांग, कोरवा, सावरा, परजा लाड, चच, हरला, पानियन और दक्षिण की अनेक गणजातियाँ स्वतंत्र प्रजातियाँ या प्रजातिक प्रकार नहीं हो सकती हैं। वे वस्तुतः एक ही प्रजातिक सजाति (Racial Stock) से सम्बन्ध की जा सकती हैं। काकेस्वायड प्रजातियों में भी भाषा तथा दारीरिक बनावट के अंतर पाये जाते हैं, फिर भी, उनमें व्याप्त आधारभूत समानता के कारण उन्हें एक ही प्रजातिक सजाति के अंतर्गत रखा जाता है।

सम्बो सिर लम्बी नाक मध्यम कद और आसामी वंश, डा० मजूमदार के अनुसार, उस प्रजातिक प्रकार की विशेषतायें हैं जो दक्षिणी भारत में प्रमुख है और यूनाधिक अनुगता में जिसका, एक ओर आदिवासियों में मिश्रण हुआ है और, दूसरी ओर, चौड़े सिर तथा लम्बी नाक वाली उस प्रजातिक धारा में जिसके मुख्य प्रतिनिधि हैं कन्नड़ और तमिल भाषा भाषी लोग। जैसा कि हमें पता चल गया है कि आसामी की दारीरिक बनावट से स्पष्ट है वह चौड़े सिर वाला तत्व भारत में

प्रागैतिहासिक काल में आया था और यही वह प्रजातिक धारा है जिसे हैडोन ने अल्पाइन (Alpine) की सजा दी है। चौड़े गिर वाली धारा भारत में सम्पूर्ण मध्य भाग में, गुजरात तथा मध्य प्रदेश से लेकर बंगाल तक, फैली हुयी है। उत्तर में चौड़े सिर की धारा साफ रंग और लम्बे सिर वाली धारा (जिसे रिसले ने इण्डोघायन की सजा दी है) में मिल जाती है और पूव में यही धारा मगोनिन आदिवासी समूहों में खीन हाँ गयी है।

६

भारत में प्रजाति-तत्व एक समीक्षा

यह निर्विवाद है कि भारत में लम्बे गिर और लम्बी तथा मध्यम नाक (Dolico-Lepto to Mesorhina) वाले प्राजातिक तत्व की प्रधानता प्राविष्ट ? है। इसी आधार पर हावम्स ने लिखा है कि भारतीय मुख्यतया लम्बे सिर वाले और मेडीटरनियन प्रजाति के हैं। जैसा कि

साधारणतया लोग मानते आये हैं भाय ही भारत में कानेस्वामड तत्वों के जन्म दाता नहीं हैं। हडप्पा और माहजोदडो की संस्कृति हमकी साक्षी है कि अत्यन्त प्राचीन काल में पश्चिम और उत्तर से कानेस्वामड प्रजाति के लोग आये और महा के दृष्टि वण वाला का आत्मसात कर लिया था दक्षिण और पूव की ओर जाने के लिए बाध्य किया। भारत की प्रधान प्राजातिक धारा को हूटन (Hooton) ने इण्डो ड्रवीडियन (Indo Dravidian) की सजा दी है। उन्नीसवीं शताब्दी के जनगणना विवरण के लेखक हटन का कहना है कि तत्कालीन भाषा-भाषी सम्भवतः भारत की शुद्धतम मेडीटरनियन सजाति (Stock) के हैं। हैडोन के अनुसार इराकियन और मेडीटरनियन लोगो में काफी समानताएँ हैं जो उनके प्राचीनतम सम्बन्ध और सम्भवतः समान उद्गम की द्योतक हैं। प्राविष्ट भाषा भाषियों को इस प्रकार मेडीटरनियन प्रजाति का माना गया है।

१—मजूमदार डी० एन० रैसेज एण्ड कन्वर्स आफ इण्डिया पृष्ठ ४६४८

२—दत्त डी० एन० वही

ड डोडियन अथवा द्राविड प्रतीक है उस समूह का जिसके सदस्य द्राविड-परिवार की भाषा बोलते हैं। द्राविड (डूवीडियन), वास्तव में, भाषा पर आधारित एक सांस्कृतिक प्रकार है जिसका प्रजातिक स्तर प्रमाण करने का प्रयास किया गया है। द्राविड भाषा तथा सभ्यता के प्रमुख खोजकर्ता बिशप काडवेल (Bishop Caldwell) के अनुसार, द्राविड बोलियों की आधारभूत समानता द्राविड भाषा भाषियों की प्रजातिक एकता की पत्ती है और यह कल्पना निराधार है कि द्राविड प्राचीन निम्नस्तर की जातियाँ एक अलग प्रजाति की हैं। भाषा-साम्यता के आधार पर का बल ने द्राविडों और आस्ट्रेलिया के आदिवासियों को भी एक ही प्रजाति का माना है। टोर्नान (Tournard) ने भी आस्ट्रेलिया के आदिवासियों और द्राविडों के प्रजातिक साम्य को माना है।

हैडोन (Haddon) के अनुसार, तमिल तेलुगु मलयाली और कन्नड़ द्राविड भाषा भाषी हैं, जिनकी अपनी समान सभ्यता भी है। द्राविड भाषा भाषियों में से यदि प्राक-द्राविड तत्वा को निकाल दिया जाय तो आदिवासियों से भिन्न एक ऐसा प्रजातिक प्रकार रह जाता है जिसकी शारीरिक विशेषताएँ अधिक उन्नत हैं और जो भारत में ईसा से दो हजार वर्ष पहले आने वाले प्रवासियों की देन हैं। हैडोन का यह भी मत है कि दक्षिण भारत में उच्च स्तर की जातियों में साधारणतया मूल द्राविड और निम्नस्तर की जातियाँ तथा अत्यन्त में प्राक-द्राविड प्रजाति की विघटनाएँ पायी जाती हैं किंतु रिसले (Risley) और थर्स्टन (Thurston) के मतों से यह स्पष्ट है कि दक्षिण की उच्च और निम्नस्तर की जातियों के प्रजातिक गठन में बसा अंतर नहीं किया जा सकता है जसा कि हैडोन ने किया है। यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जिन्हें हैडोन ने अधिक उन्नत शारीरिक विघटन कहा है वे ईसा से दो हजार वर्ष पहले आने वाले प्रवासियों की ही देन हैं। बहुत सम्भव है कि ये विघटनाएँ उत्तरी भारत के स्वेनबर्गी प्रवासियों की देन हों। कुछ जर्मन मानवशास्त्री एक स्वतंत्र द्राविड प्रजाति के अस्तित्व को असंभव करते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि सम्भवतः उत्तरी भारत से आने वाले प्रवासियों और वेदा प्रजाति के मिश्रण के कारण एक ऐसा नये तत्व का अभ्युदय हुआ जिसने कारण उच्च तथा निम्नस्तर की जातियों के शारीरिक गठन में प्रजातिक भगमानता का समावेश किया।

द्राविड प्रजाति के वास्तविक स्वरूप पर विरोधी मत प्रगट किये गये हैं। एक

धोर, उस मंडोटरनियन के समरूप माना गया है तो, दूसरी ओर आस्ट्रान्थायन के समान। एक ओर, जमे बाहर से आयी हुई एक प्रजातिक धारा माना गया है तो, दूसरी ओर, उत्तरी भारतीयों और ब्रह्मा के मिश्रण ॥ उत्पन्न एक प्रजातिक प्रकार जिस विशिष्ट प्रजाति का स्तर नहीं दिया जा सकता है। जिन द्राविड भाषा भाषियों को समान प्रजातिक स्तर प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है उनमें वस्तुतः प्रजातिक सजातित्व (Racial Homogeneity) का अभाव है। भाषा और संहति पर आधारित समानताये प्रजातिक सजातित्व का प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। जिन आदिवासियों को जिससे ने द्राविड कहा है वे लम्बे मिर और चौड़ा नाक वाले हैं। द्राविड परिवार की भाषा बोलने वाले अथवा लोगों का मिर लम्बा अवश्य है पर नाक चौड़ी नहीं है। तेनग और तामिल तथा तलगू और मलयाली के प्रजातिक गठन में डा० गुह को समीपस्थ समानतायें मिली हैं। किंतु, द्राविड भाषा-भाषी होने पर भी वे और मनवाली एक दूसरे में भिन्न हैं। वे नई चौड़ मिर वाले हैं जब कि मनवाली लम्बे मिर वाले हैं। यही नहीं, द्राविड-भाषा भाषियों में पाये जाने वाले प्रजातिक तत्त्व भारत के अन्य भाषा में भी पाये जाते हैं। द्राविड शब्द वस्तुतः एक परिवार के भाषा भाषियों का बोधक है न कि प्रजाति का। द्राविड भाषा भाषियों को न तो किसी विशिष्ट और स्वतन्त्र प्रजाति की अन्तर्गत रक्खा जा सकता है और न प्रजातिक नामावली (Racial Nomenclature) में द्राविड शब्द का प्रयोग ही किया जा सकता है। 'इंडो-यूनियन रेस' एक भाषिक संप्रदाय और द्राविड प्रजाति (इंडो-यूनियन रेस) की धारणा एक कपोल कल्पना।

भारत की प्रजातिक धाराओं को व्यक्त करने वाली नामावली में मेंडोटरनियन शब्द का प्रयोग भी अनुपयुक्त सा लगता है। डा० गुह ने भारत में मेंडोटरनियन में तीन मेंडोटरनियन शाखाओं को निर्धारित किया है जो इस बात का प्रतीक हैं कि भारत में लम्बे मिर वाली प्रजाति के कई प्रकार पाये जाते हैं। बक्सटन (Buxton) का भी यही मत है कि भारत की अधिकतर जनसंख्या लम्बे मिर वाली है और लम्बे मिर वाले निरूपण ही कई समूहों में विभक्त हैं। भारत में मेंडोटरनियन का निर्धारण साधारणतया मिर को बनावट के आधार पर किया गया है यद्यपि मानवशास्त्रियों का यह मत है कि किसी एक पारारिक विशेषता के आधार पर ही किसी प्रजाति का निर्धारण करना असाश्रयीय है। दूसरी ओर, मेंडोटरनियन प्रजाति के आविष्कर्ता सरजी (Sargi) ने मेंडोटरनियन की जा विशेषतायें निर्धारित की हैं वे एक भाषा और

उसी रूप में भारत में नहीं पायी जाती हैं। अतएव, मीट्रोनिमन के स्थान पर यह बहुत अधिक उपयुक्त होगा कि भारत में लम्बे सिर तथा मध्यम नाक और लम्बे रिर तथा पतली नाक वाले दो श्वेतवर्णी शारीरिक प्रकार पाये जाते हैं, जिनसे मिश्रित-खुलते प्रकार भारत की पश्चिमी सीमा के बाहर भी पाये जाते हैं और बहुत सम्भव है कि भारत के लम्बे सिर वाले प्रकार पश्चिम से ही स्थानांतरित हुये हों।

लम्बे सिर लम्बे कद, लम्बी पतली नाक, गौर वण लहङ्गदार बाल और नीली आँखों वाले तत्व को भारत में नाडिक अथवा प्रोटो नाडिक (Proto Nordic)

नाडिक कहा गया है। रिसले हैडोन और हटन ने इसी प्रजातिक प्रकार को इण्डो-आर्य (Indo Aryan) कह कर इसे आर्य-समूहों के साथ सम्बन्धित किया है। श्राविडकी भाति आर्य शब्द भी आर्या समूह का प्रतीक है न कि किसी प्रजाति विशेष का। आर्य परिवार की भाषायें भारत से लेकर योरोप तक फैली हुयी हैं और इस परिवार के अन्तर्गत अनेक कावेस्वायड प्रजातियाँ आती हैं। यह मान लेना कठिन है कि सभी इन्हीं आर्य लम्बे सिर वाले थे क्योंकि आर्य जिस क्षेत्र के प्रवासी हैं वहाँ चौड़े सिर वाले प्रकार का अस्तित्व भी 'मिद हो चुका है। हटन के इस मन में बहुत कुछ सार है कि ईसा के पूर्व तीसरी सहस्राब्दी में भारत में आये हुए चौड़े सिर वाले के कुछ समूह आर्य भाषा भाषी थे। यह निश्चित ऐतिहासिक तथ्य है कि आर्य कई हजार वर्षों तक भारत में आते रहे और उनके स्थानान्तरण की धाराओं के उद्गम और मार्ग अनेक हैं। अतएव, यदि आर्य नाडिक रहे जिनके जाने प्रजातिक तत्वों का जन्मदाता हैं तो वे चौड़े सिर वाले तत्वों के कारण भी हैं। भारत में चौड़े सिर वाला प्रजातिक तत्व रिसले के अनुसार मंगोलियन प्रभाव की ही देन है। हममें कोई शक नहीं कि हिमालय और उसकी तलहटी में, जैसा कि लद्दाख के निवासी, थारुआ और नागाप्रान्त के निवासियों के शारीरिक गठन से स्पष्ट है कश्मीर में लेकर आसाम तक, मंगोलवायड प्रभाव कहीं अधिक है और कहीं कम। किन्तु, मंगोलवायड प्रभाव ही चौड़े सिर वाले तत्व के लिये उत्तरदायी नहीं है।

रायबहादुर रामप्रसाद चादा ने सबसे प्रथम रिसले के मत का खण्डन करके यह

निर्धारित किया था कि भारत में चौड़े सिर की प्रजातिक

अल्पाइन विषयता अल्पाइन (Alpine) प्रभावों के कारण है। मोहन-

जोदरी में पायी गयी खोर्षडिया में डा० गुड और सेवेल (Sewell)

ने अल्पाइन तत्वों को निर्धारित किया है। जैसा कि पारमिया के शारीरिक गठन से विनिर्दिष्ट है भारत में चौड़े सिर वाला आर्मी-वायड प्रजातिक तत्व भी पाया

जाता है। दूसरी ओर, यह भी निर्विवाद है कि सभी प्रकार के मंगोलियन चौड़े सिर वाले नहीं होते हैं। अतएव, यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि भारत में चौड़े सिर वाला प्रजातिक तत्व मुख्यतया पश्चिम से ही आया है। इसी कारण, डा० गुह ने भारत में चौड़े सिर वाले तत्वों को तीन श्रेणियों में बांट कर उन्हें पश्चिमी चौड़े सिर वाली (Western Brachycephals) प्रजातियाँ कहा है।

भारतीय जनसंख्या का प्रजातिक आधार क्या है ? भारत के प्राचीनतम निवासियों की मुख्य प्रजातिक विशेषतायें क्या हैं ? भारत की गणजातियाँ नीग्रिटो ? में पाया जान वाला द्युम वर्णी तत्व (Dark Skinned Element) वस्तुतः किस प्रजाति का प्रतीक है ? यह प्रश्न भारतीय मानवशास्त्र की जो जटिल पहेली है जिनका ठीक-ठीक उत्तर दे सकना कठिन है क्योंकि भारतीय गणजातियाँ साधारणतया किसी भी प्रजातिक वर्गीकरण में फिट नहीं होती हैं। भारतीय गणजातियों के शारीरिक गठन की विशेषताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो, बिना किसी सांस्कृतिक परिवर्तन को जन्म दिये, शौरवर्णी प्रजाति ने द्युमवर्णी प्रजाति का आसमान कर लिया हो। भारत में नीग्रो प्रजाति का प्रमाण नहीं है क्योंकि यहाँ मुलाटो (Mulattoes), श्वेत वर्णियों और नीग्रो के मिश्रण से उत्पन्न जनसंख्या नहीं मिलती है। दक्षिण के आदिवासियों में अत्यन्त छोटा बदन, चौड़ा नाक और यदा-कदा पाये जाने वाले ऊनी बाल नीग्रिटो प्रजाति का आभास प्रकट करते हैं। भारत तथा आस्ट्रेलिया के आदिवासियों के शारीरिक गठन में कुछ हल्का साम्य निश्चित है और कभी-कभी आस्ट्रेलियन प्रकार के व्यक्ति यहाँ-वहाँ मिल भी जाते हैं। एक ओर, हावेल्स (Howells) ने यह कहा है कि यह सम्भव है कि भारतीय प्रजातियों की वृष्टभूमि में आस्ट्रेलियाई प्रकार छिपा हुआ हो और, दूसरी ओर, उनका यह मत है कि श्वेतवर्णी प्रजाति के अतिरिक्त भारत के द्युमवर्णी लोगों की अनुपपत्ता आस्ट्रेलियाई और निग्रिटो प्रजातियों में ही हो सकती है।

भारत का आधारभूत प्रजातिक आधार नीग्रिटो है या प्रादा-आस्ट्रेलियाई ? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय मानवशास्त्र की एक विवादास्पद समस्या रही है और आज भी है। जब से मक्समूलर (Max Muller) ने बदा से श्वेत वर्णी धार्यों और उनका भ्रमना के पान द्युम वर्णी दस्युओं को इकट्ठा निकाला और जब से भारत की भाषा भाषा और योरोप की भाषाओं में समानता स्थापित हुयी, तभी से द्युमवर्णी दस्युओं के प्रजातिक गठन की स्पष्ट करने के लिये लोग नीग्रिटो तत्वों की तलाश

म रह हैं। अट्टारह सौ सतामो म, सम्भवतः सब प्रथम लाथम (Latham) के आधार पर डी क्वार्टरफेजेज (De Quarterfages) ने यह प्रतिपादित किया था कि भारत और उससे प्रभावित देशों में छोटे बंद और द्युम वण वाली लगभग सभी जनसंख्याओं में नीग्रिटो का 'यूनाधिक' मिश्रण हुआ है। उसके बाद अट्टारह सौ नवासी में डी क्वार्टरफेजेज (De Quarterfages) के आधार पर फ्लोवर (Flower) ने यह निर्धारित किया कि हिमालय पंजाब सिंध नदी के पश्चिम और मध्य तथा दक्षिणी भारत में गाठार बाल (Frizzly Hair) छोटा कर्ण (Short Stature), और नीग्रो विशेषताएँ (Negro Features) इतनी बहुतायत से पायी जाती हैं कि उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राक प्राय और द्राविड जनसंख्या का मुख्य आधार नीग्रिटो ही है। डेनिकर (Deniker) ने चेचू, यन्ही और बान्द गणजातियों को नीग्रायड प्रकारों में रखते हुये यह मत प्रगट किया है कि दक्षिणी भारत में गाठार बाल और चौड़ी गार बाने यकिन पाये जाते हैं। जे० एच० हर्न, बी० एस० गुह, एल० ए० वे० ग्रइय्यर भी नीग्रिटो को भारत का प्राचीनतम प्रजातिक तत्व और आधार मानते हैं।

नीग्रिटो को भारत का प्रजातिक आधार सिद्ध करने के पक्ष में दिये गये तर्क मुख्यतया दो प्रकार के हैं। मानवशास्त्रियों और नकुलशास्त्रियों के एक सम्प्रदाय के अनुसार लका अडमन द्वीप मलाया फिलिप्पाइन्स, मलानेशिया, माइक्रोनेशिया और तस्मानिया में कहीं कम और कहीं 'यादा, किसी न किसी रूप में, नीग्रिटो तत्व पाये जाते हैं। भारत भी इसा क्षेत्र में आता है, अतएव, भारत में भी नीग्रिटो तत्व हैं और मध्य तथा दक्षिणी भारत के जंगलों में निवास करने वाले आदिवासियों का प्रजातिक गठन इसका प्रमाण है। हा, यह अवश्य है कि भारत में नीग्रिटो अथवा प्रजातियों में घुल सा गया है। इसी सम्प्रदाय के आधार पर हर्न ने सांस्कृतिक साम्य (Cultural Similarity) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। मलानेशियन और भारतीय संस्कृतियों के कुछ तत्वों में पायी जाने वाली समानताओं के आधार पर हर्न ने यह प्रतिपादित किया है कि भारत में नीग्रिटो तत्व मलानेशिया से होने वाले स्थानान्तरण के कारण आय हैं। दूसरे प्रकार के तर्क भारत के कुछ आदिवासियों में नीग्रिटो के समान पाये जाने वाली शारीरिक विशेषताओं पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ, एल० ए० वे० ग्रइय्यर के अनुसार, वादर, पुलाया, मुराली और कनिकर गणजातियों के संस्था में गाठार बाल पाया जाता है जो नीग्रिटो प्रजाति

की आधारभूत विशेषता है। डा० गुह, इसी प्रकार, कादर गणजातियों के लोगो के मिर और बाल की बनावट के आधार पर भारत में नीडिटो को प्रतिपादित करते हैं। डा० गुह के अनुसार, 'मोभाय्यवश' मिने पाच कादर पुरुषों और एक स्त्री के बालों की बनावट निम्न ही गोल कुतलाकार (Spirally Curved) थी और उनमें से एक के बाल छोटे छोटे कुतला वाले शुद्ध ऊनी (Woolly With Short Spirals) थे और बाकी के मेलानेशिया के लोगों में पाये जाने वाले बालों की तरह गाठदार (Frizzly)। इसके अनिर्विकन, डा० गुह के अनुसार, कादर छोटे क के और अयन वाले वन क हैं। उनका मुँह आगे की ओर निकला (Prognathic) और माथा साधारणतया पीछे की ओर हटा (Receding Forehead) रहता है। डा० गुह के विवरण के अनुसार कानर चौड़े सिर वाले न होकर साधारणतया लम्बे सिर वाले होते हैं। कुतलाकार बालों वाले पाच जातियाँ में से, दो के सिर की बनावट मध्यम (Mesocephalic) है और इसी कारण उनका यह मन है कि सम्भवतः कादरों में पाया जाने वाला नीडिटो तत्त्व अपन प्रारम्भिक रूप में चौड़े मिर वाला था कम से कम, मध्यम सिर वाला अवश्य रहा होगा।

डा० मजूमदार के अनुसार, नीडिटो के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों में कोई सार नहीं है। नीडिटो चौड़े मिर वाले होते हैं किन्तु कादरों में डा० गुह को चौड़े सिर वाला तत्त्व नहीं मिला। डा० गुह की धारणा है कि एक आद्य, लम्बे सिर वाली प्रजाति में मिश्रित होने के कारण, भारत में नीडिटो के मिर की बनावट प्रभावित हुई है, जिसके फलस्वरूप चौड़े सिर का स्थान लम्बे अथवा मध्यम सिर ले ले लिया है। डा० गुह की यह धारणा दो समस्याओं को जन्म देती है—प्रथम क्या दो तत्वों का मिश्रण एक अन्तर्वर्ती प्रकार (Intermediate Type) को जन्म दे सकता है और दूसरे, क्या कानर और पुलाया में इक्का-दुक्का व्यक्तियों में पाये जाने वाले मध्यम मिर नीडिटो प्रकार को सिद्ध कर सकता है? अमेरिका में बोसाज (Boas) ने भी मिश्रण से उत्पन्न अन्तर्वर्ती प्रजातिका प्रकार को निर्धारित करने का प्रयत्न किया था किन्तु उनकी धारणा को शास्त्रीय मापदण्डों में मिल सकी। दो भिन्न विशेषताओं वाले समूहों का मिश्रण किसी एक अन्तर्वर्ती प्रकार को निम्न ही जन्म देगा, यह प्रजनन शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल है, अतएव, अमान्य है। हो सकता है कि इक्का-दुक्का व्यक्तियों में पाया जाने वाली चौड़े सिर की प्रवृत्ति सम्बन्धित मिर के विवर प्रकार (Variant Type) हो क्योंकि प्रोटो पास्ट्रो-वायड में लम्बे मिर के

साथ साथ चौड मिर की भी प्रवृत्ति पायी जाती है । अतएव, यहां वहां एक दो लोग म पायी जाने वाली चौड सिर की प्रवृत्ति नीग्रिटो प्रजाति का निश्चित प्रतीक नहीं है ।

नीग्रिटो के बाल गाठदार होने हैं किन्तु बादर और पुलाया में गाठदार बाल की कितनी बारम्बारता पायी जाती है इसका बखान न तो डा० गुह ने किया है और न एल० ए० वे० अन्डर न । बादर के बाल की बनावट का वास्तविक नियारण उसकी जड को धार धार काट कर माइनास्कोप द्वारा निरीक्षण करने पर ही हो सकता है । किन्तु ऐसा निर्धारण अइय्यर और गुह दोनों में से किसी ने भी नहीं किया है । यही नहीं, बादरों में गाठदार बाल की अधिकाधिक बारम्बारता (Frequency) निवारित किये बिना ही गाठदार बाल के आधार पर नीग्रिटो प्रजाति का प्रतिपादन अशास्त्रीय है और फिर केवल दो शारीरिक विशेषताओं (बाल और सिर की बनावट) के आधार पर न तो किसी प्रजाति का निर्धारण ही किया जा सकता है और न किसी उपकल्पना (Hypothesis) को सिद्ध करने के लिये बाल गणजाति को औरो से एकदम अलग ही किया जा सकता है । बादर, जसा कि डा० मायप्पन का मत है अपने पड़ोसी मदान के निवासियों से भिन्न नहीं हैं । दक्षिण भारत का आधारभूत प्रजातिक आधार आस्ट्रोल्पायड प्रकार का है यद्यपि, यहां वहां मुठ्ठीभर लोगो में गाठदार बाल अवश्य पाया जाता है ।

खुदाई से प्राप्त प्रागतिहासिक बाल की खोजियों में कोई विशिष्ट नीग्रि सत्व नहीं पाये गये हैं । नीग्रिटो में 'बी' रधिर की प्रधानता है किन्तु भारत प्रागिवासियों में उनकी अपेक्षाकृत कमी । भीलो और मुण्डाओं में, मक्फारले (Macfarlane) के अनुसार, 'बी' रधिर की प्रधानता है, किन्तु न तो भील नीग्रिटो प्रकार का है और न मुण्डा ही । सम्पूर्ण भारत में पायी जाने वाली 'बी' रधिर की बारम्बारता कुछ लोगो के अनुसार, मंगोल्पायड और नीग्रिटो के मिश्रण कारण है । किन्तु १० मजूमदार के अनुसार, भारत में पायी जाने वाली 'बी' रधिर का बारम्बारता जंतुवायु या बीमारी के प्रवरणशील (Selective) प्रभावों के कारण भी हो सकती है । बहुत समय है कि पाहलों और मलेरिया-प्रेरक निवासियों में 'बी' रधिर का अधिकाधिक मलेरिया के प्रति रोग क्षमता (Immunity) उत्पन्न होने विकसित हुआ हो ।

कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि (A) और ओ (O) रधिर-मिश्रण :

प्रपेक्षा को (B) वाद में अस्तित्व में आकर प्रसारित हुआ है। रयल गेट की ऐसा मान्यता है कि सम्भवतः प्राटो-आस्ट्रोल्यायड प्रजाति प्रकार नीग्रिटो से अधिक प्राचीन है। उधर, कुछ विद्वान नीग्रिटो प्रजाति को विशेषताओं को उत्पत्तिगतों (Mutations) का परिणाम मानते हैं। इन दृष्टिकोणों से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि नीग्रिटो निश्चय ही प्राचीनतम प्रजातिक प्रकार नहीं है और भारत में पहाड़-बहा नीग्रिटो विशेषताओं का शीघ्र आभाव उत्पत्तिगत प्रक्रिया का परिणाम हो सकता है न कि निश्चय ही नीग्रिटो प्रजाति का। सम्पूर्ण भारत में नीग्रिटो प्रजाति की विशेषताओं का न पाया जाना नीग्रिटो सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी है। डा० मजूमदार के अनुसार, यदि भारतीय जनसंख्या का प्रजाति-साधारण नीग्रिटो होता और नीग्रिटो का भारत की अन्य प्रजाति-साधारणों के साथ सातवींकरण हुआ होता तो नीग्रिटो की प्रमुख विशेषताएँ—चपटी नाक, काला-ऊनी बाल तथा चौड़ा सिर—उत्तरी भारत में भी पायी जाती।

दक्षिणी पूर्वी एशिया में नीग्रिटो का पाया जाना ही भारत में नीग्रिटो प्रजाति के पाये जाने का संदेष्ट प्रमाण नहीं है। जिन सांस्कृतिक साम्य को हट्टन ने अपने नीग्रिटो सिद्धांत का आधार बनाया है वह भारत में मेलानेशिया से स्थानान्तरित लोगों द्वारा ही आया हा ऐसा मानना आवश्यक नहीं। समानान्तर उत्पत्ति (Parallel Evolution) या सांस्कृतिक प्रसरण (Cultural Diffusion) दो संरक्षितियों में समान तत्वा और विशेषताओं को जन्म दे सकते हैं। दूसरी ओर, यह भी निधारित कर दिया गया है कि मेलानेशिया के सार निवासी प्रधानतः नीग्रिटो नहीं हैं। हावेल्स (Howells) ने भी मेलानेशियों को कुछ नीग्रिटो प्रजाति का नहीं माना है। अरमन द्वीप के निवासी निश्चय ही नीग्रिटो हैं किंतु, अधिकांश विद्वानों के मत में न तो भारत की जनसंख्या पर अरमन निवासियों का प्रभाव है और न उनके अनुरूप भारत में 'पारीरिक' विशेषताएँ ही पायी जाती हैं। रमले (Rusley) ने साफ़ लिखा है कि अरमन द्वीप के निवासी अभी भी इतने सांस्कृतिक नहीं रहे कि वे भारत की जनसंख्या के प्रजातिक गठन को प्रभावित करते। भारत, विपणनशास्त्र द्वारा भारत, के आदिवासियों और अरमन निवासियों में प्रजातिक साम्य स्थापित करने के सारे प्रयत्न व्यर्थ रहे और यदि किसी ने ऐसा मत प्रतिपादित भी किया तो उस अवसंमति में मिल सकी। डा० गृह के अनुसार, वह और ल्योक (Lapique) प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत की मूल, प्रारम्भिक प्रजाति नीग्रिटो ही थी, किंतु, भूपट्र नाथ दत्त के नेतृत्व में दिये गये ल्योक (Lapique) के मतानुसार भारत के किसी भी भाग में कोई भी ऐसी प्राचीन प्रजाति

नहीं है जो अपने शुद्ध रूप में अटमन निवासियों या अन्य प्रकार के नीग्रो से तुलना करने योग्य हो। सरमि म (Sarama) ने भी अटमन में पाये जाने वाले नीग्रिटो तत्वों का दक्षिणी भारत में होना अस्वीकार किया है। वी० एन० मAYER द्वारा उद्धृत, ए० बी० मेयर (A B Mayer) के मतानुसार फिलिप्पाइन्स के बाहर नीग्रिटो का भी वणन मिलता है वह कमजोर प्रमाणों पर आधारित होना के कारण सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। आज तब यह भी नहीं निश्चित हो सका और न अंतिम रूप से उसके सिद्ध होना की आशा ही है कि महाभारत में वर्णित कृष्णवर्णी लोग नीग्रिटो प्रजाति के ही हैं। वास्तव में, भारत के कृष्णवर्णी लोगों की प्रजातिक स्थिति पर विरोधी विचार व्यक्त किये गये हैं। कुछ भी हो दक्षिणी पूर्वी एशिया, विपत्तया अटमन में नीग्रिटो तत्वों का पाया जाना कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं है कि यह मान ही लिया जाय कि नीग्रिटो प्रजाति भारतीय जनसंख्या का प्रजातिक आधार रही होगी।

प्रोटो आस्ट्रोल्वायड (Proto Australoid) या इण्डी आस्ट्रोल्वायड (Indo Australoid) बहुमत में, भारत का प्रजातिक आधार है। ठोस प्रोटो आस्ट्रोल्वायड प्रमाण भी इसी मत के पक्ष में हैं। भारत की गणजातियों और निम्नस्तरीय जातियों के पारिपरिक गठन में प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड तत्वों का एक विशेषण हुआ है जो मजूमदार के अनुसार, इस बात का ठोस प्रमाण है कि भारत की जनसंख्या का प्रजातिक आधार प्रोटो आस्ट्रोल्वायड है न कि नीग्रिटो। प्रोटो (Proto) का अर्थ है आद्य अथवा प्रारम्भिक और प्रोटो आस्ट्रोल्वायड का अर्थ हुआ आस्ट्रोल्वायड का आदि अथवा प्रारम्भिक रूप। आस्ट्रोल्वायड के आवासियों की पारिपरिक विपत्तया का आधार पर ही आस्ट्रोल्वायड प्रकार का निर्धारण किया गया है। आद्यता का आभास देने वाली पारिपरिक विपत्तया और निम्नतम सांस्कृतिक स्तर का आधार पर आस्ट्रोल्वायड को एक प्राचीन प्रजातिक धारा माना गया है।

आस्ट्रोल्वायड, हुटन के अनुसार, एक मिश्रित (Composite) प्रजाति है, यद्यपि उसका गठन में कानेम्बाड तत्वों की प्रधानता है। हुटन की मान्यता आधारित है टिंडेल और बर्डसेल (Tindale and Birdsell) के शोध कार्य पर। बर्डसेल

१—आस्ट्रोल्वायड के निवासियों के शरीर पर और लकड़ों के हैं, उनमें मिट्टी के घटन बनाने कि कला का अभाव है और उनके निवास स्थानों को बिरला ही भोंपड़ों की सजा दी जा सकती है—हुटन अप फ्राम दि एथ पृ० ६०६

(Birdsell) * अनुसार, ओशनिक नैग्रिटो (Oceanic Negrito), आद्य स्वेत (Archaic White) और सदा व वृद्ध तथा अश्व के चूँ और मुष्मा म पाये जान बाल नीग्रो-प्रकार (The Negro Type) के मिश्रण म आस्ट्रो-वायड प्रजाति का निर्माण हुआ है। टूटन की अपनी मायना के अनुसार आद्य-स्वत (Archaic-White), तस्म नियन (Tasmanian), कुछ हाल मे आय दृग् मेलानेशियन और पापुयन (Papuan) प्रजातिक तत्वो के समावेश मे आस्ट्रो-वायड प्रकार बना है। आस्ट्रो-वायड प्रकार की मुख्य विशेषतायें हैं चाकलट रंग की त्वचा (Chocolate Skin), काल या काले बादाभी रंग के लहरदार अथवा घुघुरान बाल घनी मूछे, बाला म भरी हुई छाती, पतली टाँ, पतली किन्तु ऊँची खोपड़ी, बड़ी मोटी भौंह, पीछे की ओर दबी हुयी माथे की हड्डी आग की ओर निकना हुआ भुँह (Prognathism) और पीछे की ओर घनी हुयी किन्तु चौटी नाक।

हावत्स * अनुसार, अपनी चौड़ी नाक और काल रंग के कारण आस्ट्रो-वायड नीग्रो के समान प्रतीत होता है। उनके सीधे घुघुराने बाल घनी और भरी हुयी दाढ़ी और शरीर पर उमने बाल घन बाल उधे यारोपियन के समीप ला बिठाते हैं और सजीव तथा पीछे का ओर दबा हुआ माथा, मोटी और उठी हुई भौंह (Heavy ridges over the eyes) और नाक की जड म पीछे की ओर दबी हुयी गहराई आस्ट्रो-वायड की एक विशेष प्रकार का आद्य (Primitive) और भयानक सा लगने वाला रूप देते हैं। बरु, मुफ औरसन माटे होठ नीग्रो की अपेक्षा कम आग की ओर निकना हुआ मुख किन्तु पीछे का ओर दबी हुई हड्डी, खान्डी की बजनदार हड्डियाँ छोट आकार का भस्त्रिक और दाया का अनेगाहृत बडा आकार, आस्ट्रो-वायड की अन्य विषयताएँ हैं जो उम एग आद्य प्रकार के मेपागी मानव (Homo Sapiens) का आभास देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि माना आद्य स्वेत (Archaic White), नीग्रिटो और नीग्रो के मिश्रण म आस्ट्रो-वायड का निर्माण हुआ हो। किन्तु वास्तव म ऐसा है नहीं। आस्ट्रो-वायड की मिश्रित प्रकार मानने से, हावत्स के मत म आद्य स्वत (Archaic White) को एक बड़ी चौथी प्रजाति मानना पड़ेगा। आद्य स्वत (Archaic White) प्रजाति के पक्ष म म तो ठोम प्रमाण हैं और न भूक। आस्ट्रो-वायड का बाहर आस्ट्रो-वायड प्रकार का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि आस्ट्रो-वायड एक मिश्रित प्रजाति नहीं है। वावेस्वायड, मगोल्वायड और नीग्रो-वायड की भाँति आस्ट्रो-वायड चौथी बड़ी प्रजाति है और सम्भवतः सबसे प्राचीन होने के

कारण यह सभी प्रजातियों की जननी है।

इटन के अनुसार, भारत में नोमिन्स का पाया जाना सन्देहास्प्य हो सकता है किन्तु प्रोटो आस्ट्रो-वायड का पाया जाना निश्चित है। हैडोन (Haddon) मार्टिन (Martin) और बक्सटन (Buxton) व अनुसार, आस्ट्रोल्वायड दक्षिणी पूर्वी एशिया में फना हुआ है। अतएव इस बात के अधिकारिक प्रमाण मिलने हैं कि भारत में आस्ट्रो वायड तभी का स्थानांतरण पूरा की ओर से हुआ है। किन्तु डा० मजूमदार के अनुसार यदि आस्ट्रेलिया में नियन्त्रित (Neandorthal) का अवशेष हो तो आस्ट्रेलिया भी आस्ट्रो वायड का जन्मस्थान माना जा सकता है। यह निश्चित है कि आस्ट्रोल्वायड का जन्म स्थान न तो आस्ट्रेलिया है और न दक्षिणी पूर्वी एशिया। भारत में आस्ट्रो-वायड निश्चय ही एक प्राकदाबिड प्रजाति है। इटन (Hooton) का यह मत है कि नोमिन्स और प्रोटो आस्ट्रो-वायड के मिश्रण ने प्राक-दाबिडों को जन्म दिया। इटन के अनुसार यह प्रजाति अततोगदश दक्षिणी पूर्वी योरोप की बादामी प्रजाति (Brown Race) से सम्बंधित की जा सकती है या हो सकता है कि दक्षिणी पूर्वी एशिया में ही किसी ग्रन्थ मानव पूराज से ही इसका विकास हुआ हो। भारत में प्रोटो आस्ट्रोल्वायड की उत्पत्ति के विषय में, जसा कि इटन ने लिखा है डा० सिबेल (De bowell) दो सम्भावनाएँ मानते हैं। एक ओर उनका यह कहना है कि सम्भवतः जनवायु द्वारा उत्पन्न आपरिवर्तनों के कारण पश्चिम का एक सम्बन्धी पत्नी नाक वाला प्रकार भारत में प्रोटो आस्ट्रो-वायड के रूप में रूपांतरित हो गया है। या जसा कि उनका दूसरा मत है इस रूपांतरण में, जनवायु द्वारा उत्पन्न आपरिवर्तनों के स्थान पर, मिश्रण द्वारा उत्पन्न आपरिवर्तनों के प्रभावशाली सिद्धांत का अधिक सम्भावना है। अतएव, डा० सिबेल के आधार पर इटन ने यह उक्त पना प्रतिपादित की है कि पश्चिम से होने वाले एक प्राचीन स्थानांतरण के माध्यम से प्रोटो आस्ट्रोल्वायड भारत में आया और इसकी मुख्य प्रजातिक विशेषताओं का अंतिम और स्थायी निर्माण भारत में ही हुआ। आज बहुमत इसी पक्ष में है कि भारत की प्रोटो आस्ट्रोल्वायड प्रजातिक धारा पश्चिम से ही आयी है। दक्षिणी पूर्वी एशिया, विशेषतया आस्ट्रेलिया में, प्रोटो आस्ट्रोल्वायड की उत्पत्ति प्रतिपादित करने का प्रयास ह्यूमरों पर सरसो जमाने व समान है।

अत्यन्त सहरदार धुधराने वान ची नो नाक साधारणतया अपरिष्कृत शारीरिक

(—हाथों वित्तियम वही पृ० २८४ २८६

२—हम जे० ए० काप्ट इन इण्डिया पृ० ३

३—वही पृ० ३

श्वेत और दशमवर्ण, भारत में, प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड की मुख्य प्रजातिक विरोधताएँ हैं। डा० मजूमदार के अनुसार, प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड का सिर साधारणतया सम्बा होना है किन्तु लम्बे सिर के साथ साथ, चौड़े सिर की भी प्रवृत्ति पायी जाती है। जर्मनी ओशनिक नीग्रो (Oceanic Negro) की विशेषता है प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड में, चौड़े सिर के साथ उनको अथवा गाँठदार बाल नहीं पाये जाते हैं। वर्तमान भारत में, विशेषतया आदिवासियों में, आमतौर पर, प्रोटो-आस्ट्रोल्वायड विशेषताएँ ही पायी जाती हैं यद्यपि विविन्न प्रजातिक धाराओं के मिश्रण के इशक अमिश्रित शुद्ध रूप और केन्द्रकरण की समाप्तता के कारण है। भील 'मका एफ' में दूर उदाहरण हैं। सान्देश और पश्चिम 'मध्यप्रदेश' से लेकर राजस्थान तक फैले हुए भील, विभिन्न क्षेत्रों में, अलग अलग लोगों के सम्पर्क में आये हैं। आज उनमें सांस्कृतिक, प्रजातिक और भाषा भिन्नता देखने को मिलती है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भीलों का अपना सजातीय प्रजातिक आधार ही नहीं है। जिस प्रकार भीलों में पायी जाने वाली विजातीयता पर सजातीयता का आवरण चढ़ा हुआ है, उसी प्रकार, मिश्रण के बावजूद भी भारत के आदिवासियों का सजातीय प्रजातिक आधार (प्रोटो आस्ट्रोल्वायड) भी बना हुआ है।

'भारत में प्रोटो आस्ट्रोल्वायड' का अर्थ यह निकलता है कि भारत में आस्ट्रोल्वायड का अस्तित्व पाया जाता है। आस्ट्रोल्वायड का अस्तित्व क्या था? आज इसका निगम करना कठिन है और यदि इसका निगम किया भी जायगा तो उसमें कम्पना का ही अधिक पुट होगा। प्रोटो आस्ट्रोल्वायड की संज्ञा से यह भी ध्वनित होता है कि वर्तमान भारत में आस्ट्रोल्वायड की प्रारम्भिक विशेषताएँ पायी जाती हैं और उन पर आंगिक संविकास की प्रक्रिया का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। आंगिक संविकास और परिवर्तन बराबर चलता रहता है। विकास प्रक्रिया में किसी भी समय का आद्य अवस्था प्रारम्भिक रूप निर्धारित करना कठिन है। 'कुलमान' में 'आद्य' शब्द का काफी विवादग्रस्त अस्तित्व रहता है। आद्य (आदि) के निर्धारण में सन्देहता बनाए रखना कठिन होता है। दूसरी ओर, वर्तमान के सन्दर्भ में आद्य की प्रतिपादित करने का तात्पर्य होता है परिवर्तन और उसके प्रभाव की अवहेलना। परिवर्तन-प्रक्रिया में आद्य ही कोई प्रमेय अपने आद्य रूप में विद्यमान रहता हो। वास्तव में, आद्य को एक बार अस्तित्व में आकर परिवर्तित होना ही नहीं लगती। अतएव, प्रोटो विभाजन के साथ आस्ट्रोल्वायड की रचना का प्रयोग आशंका है। इसी कारण, शूरेन्द्रनाथ दत्त ने भारतीय प्रजातियों की व्यवस्था करने के लिए प्रयुक्त नामावली में प्रोटो आस्ट्रोल्वायड के प्रयोग पर आपत्ति प्रकट की है। सम्भवतः, प्रोटो आस्ट्रोल्वायड

शास्त्र का प्रयोग भारत में आस्ट्रोनेवायड तत्वों की विशिष्टता व्यक्त करने के लिए किया गया है और यदि ऐसा है तो एक स्पष्ट प्रजातिक नामावली के दृष्टिकोण से प्रोटो आस्ट्रोनेवायड के स्थान पर इन्हें आस्ट्रोनेवायड (भारतीय आस्ट्रोनेवायड) की सजा अधिक उपयुक्त होगी।

भारत में मगोनेवायड प्रजाति के तबू उनके स्वल्प प्रकार और प्रभाव की सीमा पर विरोधी मत प्रगट किये गये हैं। जसा कि पिछले वगण से मगो वायड स्पष्ट है, रिसन ने उगाल से लेकर छोटी नागपुर मध्यप्रदेश और मद्रास तक छुटपुट मगोनेवायड प्रभाव की कल्पना की है। पूर्वी बंगाल के सुमनमान किसानों को रिसन ने मगोनेवायड प्रजाति का माना है किन्तु भूपाल नाथ दात ने इस अव्वीकार किया है। रिसन ने मगोनेवायड प्रभाव से ही भारत में चौड सिर की उत्पत्ति मानी है। आज रिसन का मत अमान्य हो चुका है। १० मजूमदार ने इस बात पर जोर दिया है कि मगोनेवायड प्रभाव पर उत्तरी और नहीं दिया जा सकता जितना कि रिसन ने दिया है। पर साथ ही साथ यह भी निर्विवाद है कि भारत की उत्तरी और पूर्वी सीमा पर तथा हिमालय और उसकी तनहुटी में रहने वाले लोगो में मगोनेवायड प्रभाव स्पष्ट है। दार्जिलिंग और चिटगाव (जो आज पूर्वी पाकिस्तान में हैं) की पड़ियों में इपिगैन्थिक फोल्ड (Epicanthic Fold), मगो वायड आन्तरी विशेषता पायी जाती है यद्यपि बंगाल की जातियों में यह अनुपस्थित है। डा० मजूमदार ने आन्ध्रा में मगो वायड प्रभाव माना है और डा० गुह ने आन्ध्र और उत्तरी बर्मा के आदिवासियों में दो मगो वायड प्रजातिका धाराओं का उल्लेख किया है। १० मजूमदार ने भारत के आदिवासियों को मुख्यतया प्रोटो-आस्ट्रोनेवायड प्रकार का माना है लेकिन उन्होंने बंगाल और आन्ध्र के पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों में मगो वायड विशेषताओं को एकल अव्वीकार नहीं किया है। उनका यह अव्वयव के ना है कि भारत के प्रजातिक गठन में, आस्ट्रोनेवायड प्रजातियों की अपना मगोनेवायड प्रभाव क्षीण और कम महत्वपूर्ण है। डा० गुह और मजूमदार के आधार पर, भारत में तीन मगोनेवायड प्रजातिक धाराओं का उल्लेख किया जा सकता है। पहली आन्ध्रा में पायी जाने वाली मध्यम सिर, तथा छोटी नाक, मगोलियन प्रकार की आन्ध्र और चीन वाला मावण की विशेषतायें, दूसरी, आन्ध्र और उत्तरी बर्मा में चौड सिर के साथ मगो वायड विशेषतायें और तीसरी, उसी प्रदेश में मध्यम नाक, ऊँच सिर (High Head), मध्यम नाक के साथ मगोनेवायड प्रकार की आस की बनावट। इस विषय पर उल्लेख साहित्य से ऐसा पता लगता है कि भारत में मगोनेवायड तबू, उनके निर्धारण और प्रभाव की सीमा में सम्प्रचित समस्याओं

का निराकरण अभी भी होना बाकी है।

७

भारतीय सामाजिक संरचना में प्रजाति

हरब" रिचर्ड पहला अग्रज नकुनशास्त्री था जिसने यह प्रतिपादित किया था कि जाति प्रथा के रूप में, भारतीय सामाजिक संरचना भारत में पाई जाने वाली प्रजातिक धाराओं और उनके सम्मिश्रण पर आधारित है। प्रजातिक मिश्रण के ही कारण प्रत्येक जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा उस जाति के समस्याओं में पाये जाने वाले प्रायः स्वरूप अनुपात पर आधारित है।

रिचर्ड के मत में, प्रत्येक जाति की नासिका देशना (Vasal Index) और सामाजिक प्रतिष्ठा में प्रतीत अनुपात (Inverse Ratio) है। अर्थात् जिस जाति के समस्याओं की ताक की बनावट जिनकी होती है उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही निम्न। भूतदत्त दत्त के अनुसार जाति-प्रथा का कोई भी प्रजातिक आधार नहीं है और किन्हीं भी जाति के सदस्यों की नासिका देशना और उस जाति की सामाजिक प्रतिष्ठा में प्रतीत अनुपात नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि नासिका देशना और जातियों की सामाजिक स्थिति में कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता और न ही सम्बन्ध स्थापित करने में कोई सफल हो हुआ है। वास्तव में, विभिन्न जातियों और जाति-प्रथाओं के मूल प्रजातिक तत्वों को निर्धारित करना कठिन है क्योंकि यह निश्चय है कि जितनी भी मूल प्रजातिक धारामें भारत में आयी उनकी विभिन्न अनुपातों में परस्पर मिश्रण हुआ है। आक्रमण के बाद आक्रमण विजयियों और पराजितों के सम्बन्ध, विजयियों की यौन-सम्बन्ध, धर्म और सामाजिक तथा क्षेत्रीय चलिपगुजा (Social and Territorial Mobility) भारत में प्रजातियों के मतलब (Levellers) रहें हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म इनके जातिवाद और प्रजातिक गठन वाले समूहों को एक मूल में बांध रहे हैं। हिन्दुत्व आदिवासियों

का अपने प्रभाव में न समेटता रहा है। अनुलोम प्रथा भी प्रजातिक तत्वों की सतत करी है। किंतु इसमें भी कोई शक नहीं कि अंतर्विवाहों समूहों के रूप में जातियाँ विभिन्न समूहों के प्रजातिक तत्वों का गिर बनाय रखने में सफल हुयी हैं। किसी भी क्षय की जातियाँ को सरलता पूर्वक प्रजातिक श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। रिसले का मत निश्चय ही एकागोण है किंतु भूषे द्वारा दत्त का मत भी एकागोणता से मुक्त नहीं है। भारतीय सामाजिक संरचना में प्रजाति का समावेश हुआ है यद्यपि प्रजाति ही उसका एक मात्र कारण नहीं है। सन्तु इस सौ इक्तालीस में डा० मजूमदार द्वारा किये गये उत्तर प्रदेश के प्रजातिक सर्वेक्षण से यह स्पष्ट होता है।

उत्तर प्रदेश की सामाजिक संरचना में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च है। ब्राह्मणों के बाद क्रमानुसार क्षत्रिय (राजपूत), खत्री, वैश्य, कायस्थ, अहोय, कुरमी, कन्नार, तनी और चमार इत्यादि जातियाँ, सासी, हवड़ा भातू इत्यादि अपराधी कहे जाने वाली गणजातियाँ और नीरवा औरामो घग्गे, मभवार खरवार तथा रजवार इत्यादि गणजातियाँ (आदिवासी अंतर्विवाही समूह) आती हैं। धर्म के आधार पर मुसलमान एक अलग समूह हैं किंतु, उनकी सामाजिक संरचना भी जाति प्रथा पर आधारित है। उत्तरी पूर्वी सीमा पर हिमालय की तलहटी में रहने वाले, मार (आदिवासी) एक विशिष्ट सांस्कृतिक समूह हैं। इस प्रकार, सामाजिक उच्चोच्च परम्परा (Social Hierarchy) के उच्चतम स्तर पर हैं ब्राह्मण और निम्नतम स्तर पर आदिवासी और इन दोनों स्तरों के बीच उच्च तथा निम्न और छूत (Clean) तथा मूत (Unclean) जातियों की उच्चोच्च परम्परा का सिलसिला आता है।

अपने प्रजातिक गठन में, तन्त्र सिर और साधारणतया लम्बी पतली नाक की प्रधानता के कारण ब्राह्मण वह विशिष्ट प्रजातिक समूह हैं जिसमें खत्री, क्षत्रिय और पठान जैसी उच्च जाति के मुसलमान भी आ जाते हैं। प्रजातिक विजातीयता (Racial Heterogeneity) लिये हुए कायस्थ एक सांस्कृतिक समूह है जो उनमें पाये जाने वाले अंतर्विवाह समूहों (जातियों) जैसे श्रीवास्तव सक्सेना, माधुर इत्यादि) से स्पष्ट है। अहोय, कुरमी, कन्नार तेली, चमार और डोग जो शिल्पी जातियाँ (Artisan Castes) की श्रेणी में आते हैं, प्रजातिक ग न में परस्पर भिन्न हैं। उनमें पाई जाने वाली प्रजातिक भिन्नता उनके सामाजिक स्तरों की भिन्नता

से सम्बन्धित है। गिल्पी जातियों की श्रेणी में अहीर सर्वोच्च हैं और अपने प्रजातिक गठन में ब्राह्मणों से अधिक समीप हैं। इसके विपरीत का र और चमार, जो अहीरों से निम्न स्तर के हैं, मिरजापुर के आदिवासियों में पाये जाने वाले प्रजातिक प्रकार के अधिक अनुरूप हैं। निम्नस्तर की मुसलमान जातियों का प्रजातिक गठन भी निम्नस्तर की जातियों के प्रकार का है। सिंधी जातियों में डोम का स्तर निम्नतम है। रिमने ने डोम को द्राविड गणजातियाँ (Dravidian Tribes) के साथ रखा है। किंगु डा० मजूमदार के मत में, डोम का प्रजातिक स्तर (Racial status) इसमें कहीं उच्चतर है। कद में डोम जातियों से समीप हैं किन्तु सम्पूर्ण प्रजातिक गठन में चमारों के। प्रजातिक दृष्टिकोण से यह निश्चित है कि निम्न स्तर की जातियों की उत्पत्ति गणजातियाँ (Tribes) में हुई है। उत्तर प्रदेश में दक्षिण, दक्षिण-पूर्व और पूर्व में ही आदिवासियों और निम्नस्तर की जातियों का अधिकतर विलीनन इस सम्भावना को और भी बढा देता है।

चौथीं श्रेणी में अहीरों की जाने वाली गणजातियों के सदस्य जिनकी संख्या बीस लाख से लगभग है, उच्च जातियों तथा आदिवासियों में पाये जाने वाले प्रजातिक प्रकारों से भिन्न एक भलग भजातीय प्रजातिक प्रकार है। उनके नयनों की बनावट, बिन्ही दागों में, उच्च शिल्पी जातियों से भलग एक विविष्ट प्रजातिक समूह का रूप देती हैं।

उत्तर प्रदेश के आदिवासियों में दो प्रजातिक धारों स्पष्ट हैं। धारों के मध्यम स्तर, मध्य तथा छोटी नाक मगोन्वायड प्रकार की भात की बनावट उभरी हुयी नाक की हड्डी और पीठे वालामी (Yellow Brown) वर्ण में उन मगोन्वायड विशेषताओं की स्पष्ट झलक मिलती है जिन्हें धारों में मगोन्वायड के सम्पर्क से प्राप्त कर लिया है और जो उच्च मिरजापुर के आदिवासियों से भलग एक विविष्ट प्रजातिक समूह का रूप देती है। मातृपक्ष से धार अपने को सन्निव मानते हैं। उनका सामाजिक संगठन में स्त्रियों की एक प्रधान स्थान मिला हुआ है। या वस्तुतः एक विविष्ट प्रजातिक-मातृकृतिक समूह हैं। मिरजापुर जिले में, कमूर पहाड़ियों के दक्षिण में बसने वाली गण जातियों में गहरा-वादासी और काला गग, चौड़ी किन्तु जड़ में बनी हुयी नाक, छोटा कद, लम्बा गिर, घन घुँघुराने या कुन्तलाकर काल बाल, धार पर बालों की कम परत, मोटे हाथ, छोटे दाँत और कम चौड़ा किन्तु निराला रंगों की धारीक विशेषताएँ पायी जाती हैं। ये विशेषताएँ उच्च प्राटो-माटोन्वायड प्रजातिक प्रकार का रूप देती हैं।

उत्तर प्रदेश में, मजूमदार के अनुसार, चार प्रजातिक प्रकार पाये जाते हैं मध्यम

लम्बे सिर और साधारणतया लम्बी पतली नाक वाला प्रकार (इण्डो मेडोटेरनियन) जिसके प्रतिनिधि हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, खत्री और उच्च जाति के मुसलमान, दूसरा, लम्बे सिर और चौड़ी नाक वाला प्रकार (प्रोटो म्यासोल्वायड) जो मिरजापुर के आदिवासियों में केन्द्रित है, तीसरा मध्यम सिर और मध्यम तथा छोटी नाक वाला प्रकार, जो मारवाड़ी और तराई के अनेक लोगों में पाये जाने वाले मंगोलोयड तत्त्वों में निहित है, और चौथा मेलोयड प्रकार जो उत्तराखण्ड की पहाड़ियों के लोगों में पाया जाता है।

इस प्रजातिक सामाजिक संरचना की दो चरम सीमाएँ हैं—एक, ब्राह्मण और दूसरी आदिवासी। इन दो चरम सीमाओं के बीच में पड़ी हुई उच्चतम परम्परा (Hierarchy) में जिस जाति का स्तर जितना उच्च अथवा निम्न है वह अपने प्रजातिक गठन में आदिवासी समूह से जितना ही दूर अथवा समीप है। ब्राह्मण और आदिवासी के मध्य पाये जाने वाली सामाजिक उच्चतम परम्परा, उसमें पाये जाने वाले स्तर तथा जातियों और गणजातियों में पाये जाने वाली प्रजातिक शुद्धता (Racial Purity) या विलक्षणता (Hybridization) की मात्रा में सामंजस्य है। इसका कारण है अंतर्विवाही की प्रथा जिसके कारण विभिन्न जातियों (Castes) और गणजातियों (Tribes) के सदस्य मगठन और सम्पर्क के प्रकार (Genetic Types) अलग अलग निश्चित सीमाओं में रहते हैं। उदाहरणार्थ, जसा कि डा० मजूमदार का मत है, यदि ब्राह्मण का प्रारम्भिक प्रजातिक रूप शुद्ध था तो उसने औरों की अपेक्षा अपने को अधिक शुद्ध रक्ता और यदि उसका प्रारम्भिक रूप मिश्रित था तो अन्य जातियों की अपेक्षा, उसमें अपने को पुन मिश्रित होने से अधिक बचाया। सम्भवतः, इसी कारण, डा० मजूमदार ने यह निर्धारित किया है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति हुई है प्रजातियों के सम्पर्क और संस्पर्शों के कारण में। किन्तु, फिर भी, जाति' अलग है और 'प्रजाति' अलग। जाति-संरचना में 'प्रजाति' के तत्वों का समावेश अवश्य हुआ है किन्तु प्रजाति जाति का एकमात्र कारक नहीं है। प्रजाति, जाति प्रथा के अनेक कारकों में से केवल एक ऐसा कारक कहा जा सकता है जो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और न जिस पर आवश्यकता से अधिक जोर ही दिया जा सकता है।

तीसरा अध्याय

संस्कृति

संस्कृति समाजशास्त्रीय व्याख्या

संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ-जनसाधारण में प्रचलित अर्थ से भिन्न है। जनसाधारण में प्रचलित, सामान्य अर्थ में, संस्कृति प्रतीक है मानव-व्यवहार के उन उपकरणों की जो मानव को सम्यक् बताये। पर, सम्यक् क्या है? इस प्रश्न का न तो एक उत्तर हुआ है और न हो सकता है। 'सम्यक्' के अर्थ में संस्कृति की धारणा अभी मध्यम प्रतीत होती है जब 'सम्यक्' के साथ-साथ 'असम्यक्' की भी धारणा बनाई जाए। पर 'असम्यक्' की परिभाषा करना उतना ही कठिन है जितना कि 'सम्यक्' की। संस्कृति की धारणा का सम्बन्ध है मानव-व्यवहार और उसके उपकरणों से और मात्र यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव-व्यवहार, मानव की कुछ आधारभूत दैहिक, शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं से उत्पन्न होता है—बे आवश्यकताओं जो प्रकृति का भौतिक उद्विकास की प्रक्रिया की विरासत के रूप में मिली हैं। ऐसी दशा में यह कहना कठिन है कि कौन-सा मानव-व्यवहार 'सम्यक्' का प्रतीक है और कौनसा 'असम्यक्' का। मानव व्यवहार की निम्नताओं दश-काल के प्रभावों का

परिणाम है। सभी प्रकार के मानव व्यवहार के उत्पन्न होत और उनके उद्देश्य समान हैं। विवाह और परिवार के ता उद्देश्य और उद्गम मान्य माराम म ह वही भारत में भी। उनमें जो भिन्नताएँ हैं वे दश काल के परिमोमन का परिणाम हैं। ऐसी दशा में, सस्कृति के सदम म, सम्य तथा असम्य और उच्च तथा निम्न की मायताय स्वतः निमूल हो जाती है। न कोई सस्कृति उच्च है न निम्न, न कोई सस्कृति सम्य है और न कोई असम्य।

समाजशास्त्रीय सदम म सस्कृति का अर्थ सुसस्कृत भी नहीं है क्योंकि जिस प्रकार यह कहना कठिन है कि 'सम्य' क्या है उसी प्रकार यह भी निर्धारित करना कठिन है कि सुसस्कृत क्या है। सभी प्राणियों में सस्कृति निर्माण की क्षमता केवल मनुष्य में है और यही क्षमता मानव को मानवोत्तर प्राणियों से भिन्न करती है^१। अतः, मानव-व्यवहार सुसस्कृत है और सुसस्कृत होने के नाते ही मानव मानवोत्तर प्राणियों से भिन्न है। सुसस्कृत 'ग'द का यदि प्रयोग किया भी जा सकता है तो केवल मानवमात्र के व्यवहार के लिए क्योंकि अन्य प्राणियों की अपेक्षा केवल मानव ही सस्कृतिवान् अथवा सुसस्कृत है। समान आधारभूत दहिक तथा मानसिक क्षमताओं के कारण ही सभी स्थान और कालों में मनुष्य ने सस्कृति का निर्माण किया है और देश काल की भिन्नताओं ने इस ससार के सांस्कृतिक वैचर्य को जन्म दिया है—वह वैचर्य जिसके आधार और पठभूमि समान हैं और जिसकी अनेकता में एकता और एकता में अनेकता समायी हुई है। इसी कारण, समाजशास्त्र में यदि, एक ओर, सामान्य सस्कृति की धारणा है तो, दूसरी ओर सस्कृति विक्षेप की। देश काल की विविध सीमाओं और सामाजिक सम्प्रदायों के जाल में बहने पर ही मानव सस्कृति सस्कृति विशेष का रूप ग्रहण करती है। भारतीय अमरीकी चीनी, जापानी और योरोपीय सस्कृतियाँ विक्षेप सस्कृतियाँ हैं और मानव सस्कृति की अनेकता की परिचायक हैं। शुद्ध सस्कृति की कल्पना उसी प्रकार से आकाश कुसुम की कल्पना के समान है जिस प्रकार शुद्ध प्रजाति की कल्पना। देश काल की सीमाओं में बंधी हुयी विविध सस्कृतियाँ के पारस्परिक आदान प्रदान और समान आधारों में ही, मानव की

- १ इसका तात्पर्य यह नहीं कि मानव की सस्कृति निर्माण की क्षमता किसी मूलप्रवृत्ति पर आधारित है। मानव उसी प्रकार सस्कृति का निर्माण नहीं करता है जिस प्रकार मकड़ी जाले का। सस्कृति के कारण जन्म दहिक, अन्त मानसिक और अन्त एतिहासिक है। समाजशास्त्री आधारभूत क्षमता और मूलप्रवृत्ति को अलग-अलग मानते हैं। मानव व्यवहार इतना विचरण गाल है और उस पर सस्कृति तथा सोचने का इतना प्रभाव है कि समाजशास्त्री यह मानते हैं कि मूलप्रवृत्ति का सिद्धांत मानवोत्तर प्राणियों के व्यवहार को तो स्पष्ट कर सकता है पर मानव का नहीं।

मुमम्भन का स्तर प्रदान करने वाली मानव संस्कृति समाप्ती हुयी है। संस्कृति उत्तनी ही शारवण और चिरतन है जितना कि स्वयं मनुष्य।

भारतीय मन्त्र साहित्य और अन्य देशों के देशों में प्रतिपादित संस्कृति की धारणा में मुमम्भन का भाव ही प्रमुख है। कल्याण व हिंदू संस्कृति अक व धोबीमवें पण्ड पर मन्त्रि 'न' की व्याख्या करत हुए संस्कृति का 'भूषणभूत सम्पत्ति' इति या चेष्टा' कहा गया है। मानव सम्पत्ति-असम्पत्ति चेष्टायें करने में समर्थ है, इसी कारण मानव में संस्कृति निर्माण की शक्ति भी है। भूषणभूत सम्पत्ति चेष्टायें मानव व्यवहार के वे प्रेरक कारण हैं जिनमें 'मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उत्तति करता हुआ सुख प्राप्त करे' या जो 'मनुष्य की आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उत्तति के अनुकूल हो,' 'संश्लेष में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-व्यवहार और उसका प्रत्येक पक्ष संस्कृति से इस प्रकार परिचित है कि संस्कृति की ही माध्यम से मानव की लौकिक-पारलौकिक स्वत्व और अस्तित्व का अथर्व अन्विष्ट और मायता मिलती है और इसी माध्यम से उसके सुख प्राप्त की भी परिभाषा होती है। यह भी निर्विवाद है कि संस्कृति के द्वारा निर्धारित संस्कारों के माध्यम से ही मानव का सामाजीकरण और मानवीकरण होता है। फिर भी, इस प्रकार की धारणाओं से यह शक्य उठती है कि आखिर 'लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार' उत्पन्न करने वाली चेष्टायें क्या हैं? यह शक्य उत्तनी ही रहन और समाधान से पर है जितनी कि स्वर के अस्तित्व सम्बन्धी शक्य। भूषणभूत सम्पत्ति चेष्टा का निरपेक्ष निर्धारण वस्तुतः असम्भव है क्योंकि जो कुछ भारत के लिये 'सम्पत्ति चेष्टा है वह योराप के लिए असम्पत्ति हो सकती है। अतः, ऐसी परिभाषायें और धारणायें मानव-व्यवहार के विश्लेषण के उस स्तर पर बनार सिद्ध होती हैं जहाँ धारणाओं को मानव-व्यवहार के निरीक्षण और तज्जनिता अनुभूति पर आधारित किया जाता है और सारा विश्लेषण सापेक्ष तर्कों पर आधारित रहता है। मानव-व्यवहार सम्बन्धी समस्याओं और सांख्यिक निरपेक्ष चेष्टा का निर्धारण सामाजीक शास्त्रों की वह समस्या है जिसका निराकरण सम्भवतः इन शास्त्रों के पास नहीं है और न होगा क्योंकि इनकी विषय वस्तु—मानव और उसकी व्यवहारिक समानताया तथा असमानताओं का वास्तविकता—निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है।

संस्कृति की परिभाषा के घेरे में वांछित का सबप्रथम प्रयत्न इंग्लैंड के मानवशास्त्री ई० बी० टाइलर (E.B. Tylor) ने सन् आठारह सौ चौहत्तर परिभाषायें ६० में किया था। उनके अनुसार "संस्कृति अथवा सन्मता वह जटिल इकाई है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि, रुढ़ि और किसी भी उस शक्यता तथा अभ्यास (आदत) का समावेश रहता है जो मनुष्य,

समाज का सन्त्य होने के नाते ग्रहण करता है' । सस्कृति और सम्पत्ता को टाइलर ने एक ही धर्णी में रक्खा है और आज भी अधिकतर मानवशास्त्री दोनों का एक ही प्रमेय मानते हैं जबकि समाजशास्त्री सस्कृति और सम्पत्ता को अलग अलग दो विनिष्ट प्रमेय मानते हैं । टाइलर ने समाज और सस्कृति को दो अलग अलग प्रमेय माने हैं । टाइलर की इस मायता को आज सद्धातिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है । इस मायता के अनुसार सस्कृति स तात्पय है मानव-व्यवहार सम्बन्धी उस प्रमेय स जो किसी समूह विषय या मानवमान के जीवनयापन का आधार हो— यह आधार जो परम्परात्मक तथा रुढिगत होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चला करता है जिसमें इतिहास समाया रहता है तथा जिसमें भूत चीन रहता है, वर्तमान अपने यथाय रूप में विद्यमान रहता है और भविष्य का आराहण अकुरित हुआ करता है । समाज में तात्पय लिया जाता है सामाजिक सम्बन्धों का उस जाल से जो किसी विनिष्ट मानव समूह या मानवमान में पाया जाता है । समाज सस्कृति में समाया रहता है और सस्कृति समाज में । समाज सस्कृति के स्वत्व, अस्तित्व और कालगत प्रसरण का मध्य माध्यम है और सस्कृति का ही कारण समाज की विशिष्टता मिलती है क्योंकि सामाजिक सध्य ध सस्कृति द्वारा ही परिभाषित होने हैं । इसी कारण लोवी (Lowie) और लिण्टन (Linton) ने सस्कृति को सामाजिक आनुवंशिकता या विरासत (Social Heredity) कहा है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवप्रथम सस्कृति मानव व्यवहार की वह विरासत है जो मानव को समाज से समाज का सन्त्य होने के नाते प्राप्त होती है—वह विरासत जिसे मानव अस्वीकार भी नहीं कर सकता ।

मानवशास्त्रियों के एक अन्य सम्प्रदाय के अनुसार, सामाजिक विरासत की वास्तविकता मुख्यतया मानसिक (Psychical) है क्योंकि यह वास्तविकता वस्तुतः ध्यकिन के मस्तिष्क में समायी रहती है और मानव-व्यवहार में प्रतीकों के रूप में अवतरित होती है । मानव की विचार प्रक्रियायें, आदम और अर्थात् सस्कृति का एक मुख्य आधार हैं । सम्भवतः, इसी सध्य को ध्यान में रखते हुए लैसलेह्वाइट (Leslie White) ने सस्कृति को क्रियाया (Acts) पदार्थों (Objects) और विचारा (Ideas) तथा भावनाया (Sentiments) का वह जटिल संगठन माना है जिसका अस्तित्व प्रतीकों में निहित रहता है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि सस्कृति एक प्रकार की प्रतीकात्मक (Symbolic), अखण्ड (सिससिल्वार Continuous) सघयी (Cumulative) और प्रगतिशील (Progressive) प्रक्रिया है । लैसलेह्वाइट (Leslie White) की परिभाषा में एक बार सस्कृति के मानसिक पक्ष पर जोर है ता दूसरी बार उसकी प्रतीकात्मक वास्तविकता और ऐतिहासिकता पर ।

सस्कृति का मानसिक और ऐतिहासिक पक्षों को आधार बनाते हुए क्लाइड (Clyde Kluckhohn) ने यह प्रतिपादित किया है कि सस्कृति की आत्मा

वस्तुतः समायी रहती है उन सभी आकल्पनाओं (Designs) में जो मानव व्यवहार का नेतृत्व करती हैं जिनका जन्म ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में होता है और जो स्पष्ट भी होती हैं और अस्पष्ट भी युक्तियुक्त भी होती हैं और आधुनिक भी। मानव-व्यवहार का नेतृत्व करने वाली आकल्पनाएँ प्रणाली संवद्ध होती हैं और उनकी उत्पत्ति अर्थात् पर्यावरण अर्थात् ऐतिहासिक प्रक्रिया और अर्थात् मानव की आन्तर-भूत दृष्टि तथा मानसिक आवश्यकताओं के धातु प्रदान के कारण होती है। जीवन मापन का नेतृत्व करने वाली आकल्पनाएँ, एक ओर, मानवमात्र में पायी जाती हैं और दूसरी ओर, दश-वाल की सीमाओं में घिरे विशिष्ट मानव समूह (या समूहों) में जिन्हें (जिन्हें) समाज (अथवा समाजों) की संज्ञा दी जाती है।

क्रोबेर (Kroeber) द्वारा प्रतिपादित धारणा में संस्कृति के अन्तर्गत, मनुष्यी प्रक्रिया पक्ष पर ही जोर दिया गया है। क्रोबेर के अनुसार, संस्कृति मानव-व्यवहार का अपने में समेट हुए एक सन्तति (Continuum) है, जिसकी व्यक्ति (Individual) और जीव (Organism) में पर एक अलग स्वतंत्र सत्ता है। संस्कृति वस्तुतः एक अमर प्रवाह है—वह प्रवाह जिसकी सीमाएँ आदि और भावी इतिहास में निहित हैं, जिसकी गत्यात्मकता से न्युनित समष्टि, परिवर्तन, स्थानिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं का निर्माण होता है और जो व्यवस्थित तथा उनके मध्य से अथवा बाहर से आयी हुयी लहरों (तावों) का आत्मसात करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। मानव संस्कृति अमर है। उसके अंग (संस्कृति विशेष) विभक्तित्व से होते हैं पर लुप्त नहीं। हडप्पा तथा मोहनजोदड़ों और मेसोपोटामिया तथा मिस्र की प्राचीन संस्कृतियाँ विभक्तित्व से होती हैं पर मानव-संस्कृति में उनका योगदान अमर है क्योंकि आन्तरिक मानव संस्कृति मनुष्य की सामाजिक विरासत है।

अपने वास्तविक रूप में संस्कृति वस्तुतः वह उपकरण है जिसके द्वारा मनुष्य प्रकृति के साथ अपना सामंजस्य और अनुकूलन स्थापित करता रहा है। प्राकृतिक पर्यावरण के साथ चलने वाले सहयोग और संघर्ष में ही मानव संस्कृति का निर्माण करना है और इसी कारण, संस्कृति पर प्राकृतिक पर्यावरण की छाप रहती है। मनुष्य पर्यावरण का न तो दास है और न स्वामी ही। वह पर्यावरण का अपने अनुकूल बनाने के लिए निरंतर प्रयास करता रहता है। इसी दृष्टिकोण में, यह कहा गया है कि संस्कृति पर्यावरण का वह भाग है जिसका निर्माण स्वयं मनुष्य ने किया है। मलिनोस्की (Malinowski) के उपयोगितावादी दृष्टिकोण में संस्कृति वह यंत्र (Apparatus) है जिसके द्वारा मानव अपनी गहरी आवश्यकताओं (Organic Needs) का पूरा करता है। भोजन, शरण और काम-तृप्ति के प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति और सन्तुष्टि के प्रयास में द्वितीयक आवश्यकताओं का जन्म होता है। ये आवश्यकताएँ मानसिक हैं, अर्थात्, संस्कृति भी मानसिक है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में ही संस्थाओं का

जन्म हाता है जिनके द्वारा मानव व्यवहार के आदर्शिक मापदण्ड निर्धारित हात हैं। अतः इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक तथा द्वितीयक आवश्यकताओं की तुष्टि के प्रयास में निर्मित सस्याओं की पारस्परिक सम्बन्ध प्रणाली ही सस्कृति है^१।

यह दृष्टिकोण इतना उपयोगितावादी है कि विश्लेषण के स्तर पर इसकी साहस्यता नष्ट होने का डर रहता है क्योंकि सस्कृति का प्रत्यक्ष स्वरूप और उपयोग उतना उपयोगी नहीं है जितना कि इस मत में मान लिया गया है। सस्कृति तब रूप प्राधारित है और अतः पर भी। बहुत से ऐसे तत्व हैं जिनकी उपयोगिता ढढ़ निकालना कठिन है। दूसरी ओर, इस मत से यह नहीं स्पष्ट हाता है कि सस्याओं के सम्बन्ध जाल का मुगठित रूप और विनिष्टता कहाँ से मिलती है और जा कुछ भी विशिष्टता एक बार मिल जाती है वह परिवर्तन प्रक्रिया में किस प्रकार स्थायी रहती है? इन प्रश्नों का स तापजनक उत्तर अभी मिल सकता है जन्म सद्धातिक रूप से यह मान लिया जाय कि सस्कृति एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है—वह प्रक्रिया जो सांस्कृतिक आदर्शों तथा अर्थात् (Ideals and Values) का जन्म दती है और उनसे प्रभावित भी होती रहती है। यहा पर यह समझना भूल हागी कि उपयोगिता वाणी दृष्टिकोण निराधार है। सस्कृति से आवश्यकताओं की पूर्ति हाती है। अतएव यह उपयोगी है। हा यह अवश्य है कि सस्कृति की वास्तविकता उपयोगिता तब ही सीमित नहा है। उपयोगों हाते के साथ साथ सस्कृति कुछ और भी है।

सस्कृति जन्म जटिल प्रमेय का परिभाषा की सीमा में बाधने का प्रयास वस्तुतः नागर म सागर भरने का समान है। सम्भवतः इसी कारण आज तक न सस्कृति ता कोई परिभाषा पूर्ण उतरी है और न सबमाय ही हो सकी पायिव अपायिव है। इसी कारण सस्कृति के तत्वों और आकार का निर्धारित करके, उसके सामोपाय रूप की समझन का प्रयास किया गया है क्योंकि सस्कृतिविषयक सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सस्कृति के रूप, आकार और आत्मा क्या, किस प्रकार और कहाँ से उत्पन्न पल्लवित पुष्टित और पालित पोषित होते रहते हैं? आगबन (Ogburn) द्वारा यह निर्धारित करने का प्रयास कि सस्कृति की आत्मा उसके पायिव (Material) और अपायिव (Non material) पक्षों के पारस्परिक गठन में समायी रहती है इसी दिशा में उठा हुआ एक काम है। साधारणतौर पर सस्कृति पायिव और अपायिव पहलुओं में बटी हुयी गिनायी पदती है यद्यपि यह विभाजन उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि आगबन ने उसे मान लिया है। यह कहना सरल है कि पायिव वह है जो भौतिक है, जड है, जिस रूपा, दृष्टि और संघने से जाना जा सकता है और जो कुछ अमृत अदृश्य और भावनाओं

आत्मों तथा अहंता से सम्बन्धित है, यह अपाधिक है। पर संस्कृति के सामाजिक गठन में, पाधिक में अपाधिक का पुट रहता है और अपाधिक में पाधिक का। संस्कृति गठन में पाधिक-अपाधिक का सम्मिश्रण इतना प्रगाढ़ होता है कि यह कहना कठिन है कि पाधिक-अपाधिक कहाँ से प्रारम्भ होता है या कहाँ उनका अंत होता है या कहाँ वे एक-दूसरे को स्थान देने हैं। यह निर्धारित करना कठिन है कि मंदिर, मस्जिद और चर्च में कितना पाधिक है और कितना अपाधिक। संस्कृति के पाधिक और अपाधिक पक्षों में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है और यही इस मत की सबसे बड़ी कमजोरी और कमजोरी है। पाधिक अपाधिक की धारणाओं से न तो संस्कृति के रूप का पता चलता है और न उसकी आत्मा का क्योंकि संस्कृति पाधिक-अपाधिक का योग न होकर, उनके प्रगाढ़ सम्मिलन में उत्पन्न एक प्रवाहयुक्त प्रणाली है—यह प्रणाली जिसके तत्वा का उनके सदस्य में अलग-अलग वरत हो उनका वास्तविक महत्त्व और स्वभाव अस्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का पाधिक-अपाधिक पक्षों में धारणात्मक विभाजन अन्यायिक माना जाता है। यह इस धारणा की ही कमजोरी है कि इस पर आधारित सामाजिक परिवर्तन का सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag) वाला सिद्धान्त तक की कसौटी पर खरा न उतर सका¹। इस विषय में आज केवल इतना ही मान्य है कि संस्कृति के पाधिक-अपाधिक पहलू अकाट्य वास्तविकता है किन्तु उनके अलग-अलग आधार पर कोई भी उपयोगी, विवरणपूर्ण उपकरण (Useful Analytical Tool) गढ़ना कठिन है क्योंकि व्यवहार में पाधिक अपाधिक का अन्तर समाप्त हो जाता है।

अमेरिकी प्रसारणवादियों (Diffusionists) ने संस्कृति क्षेत्र (Culture Area) की धारणा के द्वारा संस्कृति के रूप और आकार को समझने प्रसारणवादी का प्रयास किया है। संस्कृति क्षेत्र की धारणा इंग्लैंड और जर्मनी दृष्टिकोण की प्रसारणवादी धारणाओं की उत्पत्ति है। जर्मन प्रसारणवादियों ने मानव-संस्कृति के विशेष तत्वों को निर्धारित करके, उनके आधार पर मानव-संस्कृति को कुछ विगुह संस्कृति-क्षेत्रों में बांटने का प्रयास किया है क्योंकि इनकी मान्यता के अनुसार इस पृथ्वी पर सबसे प्रथम कुछ विगुह विगुह और सजातीय संस्कृतियों का जन्म हुआ और बाद में उनमें मिश्रण से वर्तमान मानव संस्कृति बर। इनके अनुसार, वर्तमान मानव-संस्कृति के आधार हैं कुछ निश्चित तत्व-समूह (Trait-Complexes) जो विभिन्न स्थानों में उत्पन्न होकर प्रसारित और मिश्रित हुए हैं। इनके मतानुसार, यदि दो संस्कृतियों के तत्वों में साम्य है तो वह इस बात का प्रमाण है कि समान तत्व वाली संस्कृतियाँ न एक ही तत्व-समूह में समान तत्व ग्रहण किये हैं। इस प्रकार, जर्मनों के प्रसारणवादियों के

अनुसार तत्व-सकुलो के निर्धारण से ही संस्कृति की समझा जा सकता है। जर्मन-भाषा में तत्व-सकुल के लिए कुल्टूरक्रीज (Kulturkreise) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस कारण इस मत के अनुयाइयों को कुल्टूरजीज सम्प्रदाय भी कहा गया है। इसके विपरीत इंगलैंड के प्रसरणवादियों ने वर्तमान मानव-संस्कृति का एक ही उद्गम-स्रोत (मिस्र) मानकर, वर्तमान मानव-संस्कृति को स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है। इन दोनों मतों की तीव्र आलोचना इस आधार पर की गयी है कि इनके अनुयाइयों ने विभिन्न संस्कृतियों के समान तत्वों को उनके मदभों से निकाल कर उन्हें अलग-एक स्तर पर रखा। ऐसा करना अशास्त्रीय है क्योंकि, जसा पहले कहा जा चुका है किसी भी संस्कृति-तत्व का वास्तविक महत्त्व और स्वरूप उसके मदभ में है। अपने मदभ से अलग संस्कृति तत्व वस्तुतः उस पुरजे के समान है जिसे मशीन से अलग कर दिया गया हो।

अमरीकी प्रसरणवादियों ने प्रसरण के सिद्धांत को मानते हुए इस बात पर जोर दिया कि केवल संस्कृति साम्य ही प्रसरण का प्रतीक नहीं है। प्रसरण को निर्धारित करने के लिए यथेष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है और वे प्रमाण तभी निर्धारित किए जा सकते हैं जब संस्कृति, उसके तत्वों और तत्व-सकुलों के भौगोलिक प्रसरण का निरीक्षण करके, प्रसरण क्षेत्र को निर्धारित किया जाय। किसी भी संस्कृति विशेष का भौगोलिक प्रसार क्षेत्र, उसका संस्कृति क्षेत्र है। जिस स्थान अथवा क्षेत्र में उस संस्कृति के प्रमुख तत्वों या तत्व-सकुलों का सबसे अधिक केन्द्रीकरण होता है वह उसका भौगोलिक संस्कृति केन्द्र (Geographical Culture Centre) है। केन्द्र की अवस्था परिधि पर तत्वों या तत्व-सकुलों का केन्द्रीकरण अवस्थाकृत बन जाता है और बड़ा सजातीयता की अवस्था विजातीयता अधिक पायी जाती है। प्रत्येक संस्कृति क्षेत्र की परिधि किसी दूसरे संस्कृति क्षेत्र से मिलती है, इस कारण संस्कृति क्षेत्र की परिधियाँ की सीमा में मिश्रित संस्कृतियाँ पनपा करती हैं। इस प्रकार संस्कृति क्षेत्र की धारणा, एक ओर संस्कृति विशेष के अध्ययन का उपकरण है तो, दूसरी ओर विभिन्न संस्कृतियों के वर्गीकरण का एक प्रयास है—वह प्रयास जिसकी सफलता ध्यानाकर्षक हान के साथ साथ सदेहास्पद रही है।

इस धारणा का जन्म और पालन पोषण अमरीका के उन महाह्लों में हुआ था जहाँ अमरीकी आदिवासियों के सांस्कृतिक उपकरणों का वर्गीकृत करके उनका भौगोलिक प्रसरण के दिग्गम की समस्या का हल ढूँढना था। इस धारणा के संस्पर्ध में कई विचारों का योग है जिनका समाधान नहीं हो पाया है। प्रथम, संस्कृति तत्व या तत्व-सकुल समानरूप से चारा ओर प्रसरित नहीं होते हैं, अतएव, संस्कृति क्षेत्र की धारणा ही अनुपयुक्त लगती है। दूसरे, यह भी निर्धारित करना कठिन है कि किसी भी संस्कृति का प्रमुख तत्व या तत्व-सकुल क्या है? यदि उनका निर्धारण हो भी जाय तो यह निश्चित करना कठिन हो जायगा कि किन तत्वों या तत्व-सकुलों के आधार

पर, क्षेत्र का निर्धारण किया जाय। इसी कारण, अमरीका में, विशेषतः वहाँ के आदिवासी-क्षेत्रों में, संस्कृति श्रेणियों की सहायता पर मतभेद नहीं पाया जाता है। मिश्रित तब मूल वर्गीकरण की वह जटिल समस्याएँ उत्पन्न करते हैं जिनका हल ढूँढ़ना मुश्किल हो जाता है। तीसरे इस धारणा में यह मान लिया गया है कि संस्कृति-तत्त्वों या तत्त्व समूहों से किसी भी संस्कृति को समझा जा सकता है। इस धारणा के आधार पर अमरीका में जितने भी अध्ययन हुए हैं उनमें किसी भी संस्कृति का वर्णन करने के लिए केवल उस संस्कृति के तत्त्वों की तालिका बनाने पर ही ध्यान दिया गया है। पर, कोई भी संस्कृति अपने तत्त्वों की तालिकामात्र ही नहीं है और न वह उसका याग है। किसी भी संस्कृति की आत्मा अपने तत्त्वों के पारम्परिक सामंजस्य में समायी रहती है न कि उनकी तालिका में¹।

संस्कृति क्षेत्र की धारणा का जो मैं सहायकों में हुआ था और वही इसका सबसे अधिक प्रयोग भी किया गया है। सद्धातिक स्तर पर इस धारणा के कुछ योगदान हैं जिनसे संस्कृति को समझने में सहायता मिली है और जिनके कारण संस्कृति का एक धारणात्मक उपकरण (Conceptual Tool) बनाने की दिशा में प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। प्रथम संस्कृति क्षेत्र एक आनुभूतिक वास्तविकता है जिसका निर्धारण किया जा सकता है यद्यपि उसके निर्धारण में मतभेद साना बड़ा मुश्किल है क्योंकि संस्कृति क्षेत्र के निर्धारण के आधार एक नहीं अनन्त हो सकते हैं। इस विषय पर, अमरीकी मानवशास्त्रियों के बीच विवाद इसमें ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारत में भाषा के आधार पर संस्कृति क्षेत्रों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है पर यह निर्धारण न तो पूर्ण है और न अंतिम। भाषा या बोली के आधार पर नए प्राप्ति की भाँति इस बात का प्रमाण है कि यह निर्धारण पूर्ण नहीं है। यदि मान्यता बनायी जाय या ब्राह्मण रीतियों के आधार पर संस्कृति क्षेत्र बनाए जाय तो वे वर्तमान भाषावार प्राप्ति से भिन्न होंगे। अतः संस्कृति क्षेत्र एक ऐसी धारणा है जिसका कोई पहलुओं से देखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार इसका प्रयोग किया जा सकता है। दूसरे, संस्कृति क्षेत्र की धारणा के प्रमुख आधार संस्कृति तत्त्व (Culture Traits) अथवा तत्त्व-समूह (Trait Complex) की धारणाओं का संस्कृति क्षेत्र की धारणा की अपेक्षा अधिक प्रमाण किया गया है और आज भी किया जा रहा है।

संस्कृति तत्त्व (Culture Trait) संस्कृति के बचने, उपादान या उपकरण हैं, जिनसे मिलकर संस्कृति बनती है, जो संस्कृति की अधिकतम छोटी इकाई है जो पारिवर्तनीय होती है और अपारिवर्तनीय भी और, जिन्हें संस्कृति विद्वानों के लिए अलग प्रयोग किया जा सकता है? पर यहाँ प्रश्न उठता है कि संस्कृति की अधिकतम छोटी इकाई है क्या? उत्तरण के लिए सान का कमरा मान्यता का उदाहरण है। पर

मजबूती अथवा उतारी उसकी अलग अलग इकाइयाँ हैं जिनको अधिकतम ठोटी इकाई नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उनमें अपनी स्वयं की इकाया विद्यमान है। अतः, सस्कृति तत्त्व का निर्धारण अव्ययनकता उसकी समस्या और दृष्टिकोण पर निर्भर है। पार्थिव तत्वों का निर्धारण और निरूपण अपार्थिव तत्वों की अपना अधिक सरल है, जिसका कारण तत्त्व निर्धारण की कठिनाई और भी बड़ जाती है क्योंकि पार्थिव और अपार्थिव एक ही में मिल रहे हैं। तबसे असाकि खान के कमरे के उदाहरण से स्पष्ट है सस्कृति के तत्व (Traits) का अपूर्ण अस्तित्व अन्य तत्वों के संगम में ही होता है। ऐसी ही तत्व संसर्गों से जो इकाइयाँ बनती हैं उन्हें तत्व संकुल (Trait Complex) कहा जाता है। मकान विवाह पूजा पद्धतियाँ तरन संकुल हैं। प्रत्येक सस्कृति कई तत्व संकुलों से बना हुआ एक विशिष्ट संकुल है, जिस सस्कृति संकुल (Culture Complex) का धारणा से व्यक्त किया जाता है। चौथे संकुल, तत्वों से बना योग मात्र नहीं है। संकुल वस्तुतः वह सामास्ययुक्त प्रणाली है जो तत्वों के बीच में पाई जाती है। प्रसरण होता अवश्य है पर वास्तविक प्रसरण वही है जहाँ बाहर से लिया हुआ तत्व आत्मसात कर लिया जाता है। वास्तव में संकुल बनता सभी है जब कई तत्व एक प्रणाली में एकाकार हो जाते हैं। भारत की हिन्दू-पूजा पद्धति में आगम नियम और आर्यों की हवन तथा द्राविडों की पुष्पापण पद्धतियों का एक प्रणाली में एकीकृत होना इसका उदाहरण है। यही एकीकरण की प्रवृत्ति कोवर की भाष्यता में सस्कृति का आंतरिक बहाव (Inherent Drift of Culture) है और कोली (Cooley) की भाष्यता में सस्कृतिगत समनुगति की प्रवृत्ति (Strain of Coherency) है जिसका कारण सस्कृति में एकात्मकता बनी रहती है। प्रत्येक सस्कृति बाह्य तत्वों को आत्मसात कर लेती है और अपने सभी तत्वों का एक में पिरोए रहती है। इसी प्रवाह में सस्कृति की आत्मा है और इसी में सस्कृति की एकीकरण (Integration) की प्रवृत्ति।

अतः सस्कृति की वास्तविकता एक सुगठित व्यवहार इकाई की सामाजिक वास्तविकता है जो अद्वितीय है जिसके तत्वों में अपनी निजी प्रणाली, तारतम्य सस्कृति-रूप प्रवृत्ति या प्रवाह पाया जाता है जो मानव व्यवहार को परिवर्णित किए रहती है जो अपना काय भी है और कारण भी, जो परम्परागत है तथा व्यक्ति और समष्टि दोनों को अपने में समेट हुए है जिसकी उत्पत्ति अगत दृष्टि, अगत मानसिक और अगत पर्यावरिक (Environmental) कारकों से हुई है और जिसका अस्तित्व और स्थायित्व एक बार भौतिक है तो दूसरी ओर, कालगत (Temporal) और ऐतिहासिक। जिन मानवशास्त्रियों पर मना विद्वान का प्रबल प्रभाव है या रहा है उहाँ इस इकाई की वास्तविकता को मुख्यतः मानसिक (Psychical) माना है और इस बात पर जोर दिया है कि सस्कृति का स्वतः प्रधानतः व्यक्ति में है तथा उसमें जो समष्टिकारी तत्व पाए जाते हैं वे व्यक्ति

न परे संस्कृति की स्वतंत्र सत्ता के चेतक नहीं हैं वरन् समान पर्यावरण, अनुभूति, सामाजीकरण, संस्थाओं, अर्थात् (Values) और आदर्शों (Ideals) के व्यक्ति पर प्रभाव की उत्पत्ति है। इसी दृष्टिकोण से संस्कृति की परिभाषा करते हुए रथ बनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने कहा है कि संस्कृति वस्तुतः उसी प्रकार एक इकाई है जिस प्रकार व्यक्ति। एक संस्कृति एक व्यक्ति की भाँति विचारों और क्रियाओं का संग्रह एक संगत कलाप (More or less a consistent pattern of thought and action) होती है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ विशिष्ट उद्देश्य (Characteristic Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं जिनके सामाजिकव्यवस्था, स्थायी एकीकरण से संगत कलाप (Consistent Pattern) उत्पन्न होता है। इसी उद्देश्यों के अनुसार प्रत्येक संस्कृति के अनुवाहक अपनी अनुभूति का निरन्तर संचित एक समेकित क्रिया करते हैं और इसी उद्देश्यों की आवश्यकताओं के अनुपात में प्रत्येक संस्कृति में बाह्य से आए हुए उत्पन्न निरन्तर अधिकाधिक अनुरूप आकार (Congruous Shape) ग्रहण किया करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के विशिष्ट उद्देश्यों से मिलकर उस संस्कृति के सदस्यों में, एक प्रधान मनावृत्ति (Dominant Attitude) बनती है जो उस एकीकरण, विशिष्टता और निरन्तर प्रदान करती है। इसी प्रधान मनावृत्ति का, किन्हीं किन्हीं मानवशास्त्रियों ने मूल्य (Value) और किसी ने आचरण (Ethos) कहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक संस्कृति में अपना एक प्रवाह होता है। यह प्रवाह अनुभवयोग्य है। पर, इस प्रवाह का कैसे वर्णन किया जाय और संसार की विभिन्न संस्कृतियों में पाए जाने वाले प्रवाहों में पायी जाने वाली समानताओं तथा अमानताओं को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाय और उन्हें किस भाषा में व्यक्त किया जाए, यह एक जटिल समस्या रही है और आज भी है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि मनमौजी (Happy go Lucky) मनावृत्ति किसी संस्कृति के लोगों की प्रधान मनावृत्ति है तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि यह मनावृत्ति है क्या? और, क्या इसकी कोई संवर्णन परिभाषा हो सकती है। रथ बनेडिक्ट और मारग्रेट मीड जैसे मानवशास्त्रियों की जो आलोचना हुयी है, उसका आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि नहीं। वास्तव में समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनो-विज्ञान में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है वे इतने गुणात्मक हैं कि अलग-अलग संस्कृतियों के सदस्यों में उनके अलग अलग अर्थ होते हैं, जिससे कारण उनकी संवर्णन परिभाषा नहीं हो पाती है। और फिर, एक यह प्रश्न भी है कि क्या निरीक्षण और अनुभव के आधार पर किसी संस्कृति विशेष की प्रधान मनावृत्ति को निर्धारित किया जा सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में भी दिया जा सकता है और 'ना' में भी। 'हाँ' में इसलिए कि कई अध्ययन इस प्रकार किए गए हैं और किए जा रहे हैं और 'ना' इसलिए कि एक ओर इस प्रकार के अध्ययन और निर्धारण में अध्ययनकर्ता की मनावृत्ति का प्रभाव रहता है और दूसरी ओर दो अध्ययनकर्ता एक

ही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि संस्कृति की अतिसूक्ष्म प्रवृत्ति वस्तुतः बीजगणित में प्रयोग हानि वास्तविकता (λ) या अ' के समान है जिसका आवश्यकतानुसार अलग अलग मूल्य निकाला जा सकता है। किंतु, इन सभी कठिनाइयों और आलाचनाओं में यह सिद्ध नहीं होता है कि प्रत्येक संस्कृति विशेष में अपनी निजी प्रवृत्ति और प्रवाह नहीं पाए जाते हैं। हाँ यह अवश्य है कि उनके वर्णन और विश्लेषण के उपकरण उतने उपयुक्त और प्रभावपूर्ण नहीं हैं जितना कि उन्हें होना चाहिए। वर्तमान समय में अर्थशास्त्र (Values) राष्ट्रीय चरित्र (National Character) और संस्कृति में व्यक्तित्व (Personality in Culture) सम्बंधी होने वाले अध्ययन इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने की दिशा में किए जाने वाले प्रयास हैं।

बेनेडिक्ट के अनुसार संस्कृति में एकीकरण (Integration) उसका विशिष्ट उद्देश्य और उनसे उत्पन्न पहचान मनोवृत्ति से उत्पन्न होना है। किंतु संस्कृति आज यह मायता त्याग दी गयी है क्योंकि प्रधान मनोवृत्ति का एकीकरण पाया जाना यह सिद्ध नहीं करता है कि गौण मनोवृत्ति या मनोवृत्तियाँ याता अनुपस्थित रहती हैं या उनका प्रभाव नहीं के बराबर होता है। संस्कृति एक जटिल प्रकार है। उसका एकीकरण, वस्तुतः एक माध्यम पाई जाने वाली कई मनोवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य का परिणाम है। मुख्य आपत्ति 'प्रधान' शब्द के प्रयोग से है (क्योंकि प्रधान न तो निरपेक्ष है और न शाश्वत) और इस मायता से है कि एक संस्कृति में एक ही प्रधान मनोवृत्ति पाया जाती है। इसी कारण विद्वानों ने कलाप (Pattern) की धारणा और सजाक प्रयोग पर भी आपत्ति प्रगट की है। बस्युलान ने संस्कृति के बाह्य (Overt) और आन्तरिक (Covert) दो पहलू माने हैं और इस बात पर जोर दिया है कि कलाप (Pattern) की धारणा का बाह्य पहलू या पक्ष पर लागू करना चाहिए क्योंकि इस पक्ष में कलाप स्पष्ट होते हैं। उनका और जोवर का यह भी कहना है कि कलाप एक नहीं कई हो सकते हैं और लोगों ने उनके रूप प्रकार और संख्याओं का अलग अलग निर्धारित किया है¹ जो इस बात का प्रतीक है कि कलापों का निर्धारण, संस्कृति की जटिलता और गुणात्मकता के कारण एक समाधान रहित समस्या है।

ओपलर (Oppler) ने यह निष्कर्ष निकाला कि संस्कृति एकीकरण (Integration of Culture) निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। किसी भी एकीकरण पूर्ण नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों की एकीकरण है। ऐसी दृष्टि में प्रधान मनोवृत्ति की धारणा संभव नहीं है विशेषतः भारत जहाँ उन संस्कृतियों

में अनन्य सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। ओपलर का कथन तत्काल है क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में, एक सीमा तक, व्यावहारिक विचरण-शीलता (Behavioural Variation) स्वीकृत है। उदाहरणार्थ भारत के शिक्षा-क्षेत्र में जब अध्यापक कक्षा में प्रवेश करता है तब विद्यार्थी अपने अपने स्थान पर उठकर उसका स्वागत और उससे प्रति आदर प्रगट करते हैं। यह एक सांस्कृतिक प्रथा है। किन्तु, वास्तविक व्यवहार में कुछ विद्यार्थी सीधे सट्टे हो जाते हैं कुछ थोड़ा उठकर फौरन बैठ जाते हैं, कुछ खड़े होने का संकेतमात्र करते हैं और बैठे ही रहते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक हिंदू के लिए विवाह आवश्यक है लेकिन अविवाहित रहने वाले का समाज से निष्काट नहीं किया जाता है। विवाह सम्पन्न करने के लिए कोई भी हिंदू चाह तो वह आयसमाजी पद्धति को अपना सकता है, या सनातनी पद्धति को या उस कानूनी पद्धति को जिसको हिंदू मरिज एक्ट और स्पेशल मरिज एक्ट जन अधिनियमों द्वारा मायता प्रदान की गयी है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्यव्यवहार और मर्यादाओं में एक सीमा तक विचलन (Deviation) माय रहता है। विचलन तथा विचरण का प्रगति और प्रधान मनावृत्ति, तत्त्व के दृष्टिकोण से, परस्पर विरोधी हैं और एक की मायता दूसरे की स्वतः समाप्त कर देती है। इसी कारण, संस्कृति के एकीकरण का स्पष्ट करने के लिए प्रधान मनावृत्ति का मिटाता कमजोर पड़ना है।

इसी कठिनाई का दूर करने के लिए लिंटन (Linton) ने संस्कृति के तत्त्वों को तीन श्रेणियों में बांटा है—प्रथम सार्वभौमिकता (Universalities) जिनमें विचरण और विचलन समाहित रहता है दूसरे वैकल्पिक (Alternatives) जिनमें वैकल्पिक विचरण और विचलन माय होता है, जैसे हिंदुओं में अपनायी जाने वाली विवाह-पद्धतियाँ और, तीसरे विशेष (Specialties) जो विशेष पदा (Statuses) और उनसे सम्बंधित भूमिकाओं (Roles) से सम्बंधित रहते हैं जैसे डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के पदों और भूमिकाओं से सम्बंधित आदेश और मर्यादाएँ। लिंटन की इस मायता से यह सिद्ध होता है कि एकीकरण इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के बीच में पाये जाने वाले सामंजस्य की भाषा में निहित होता है। इसी दृष्टिकोण से, ओपलर (Oppler) ने यह प्रतिपादित किया है कि एकीकरण किसी एक प्रेरक प्रवृत्ति से उत्पन्न न होकर कई प्रेरक प्रवृत्तियों के घात प्रतिघात और सामंजस्य में उत्पन्न एक संतुलन है। प्रेरक प्रवृत्तियों को ओपलर ने थीम (Theme) की संज्ञा दी है। संस्कृति का स्वरूप और आत्मा इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों के परस्पर सम्बंधों में निहित रहता है। किन्तु इन प्रेरक प्रवृत्तियों का निर्धारण उतना ही दुष्कर है जितना कि कलाप अथवा कथा का नियारण। आज, एक ओर, मायद के

मनोविदलेपण व सिद्धांतों से प्रभावित मानवशास्त्री बाल्यशास्त्र में अर्जित तथा सचित्र प्रतिप्रियाओं व अंतराल में छिपे हुए विदुषा में सस्कृति की प्रत्येक प्रवृत्तियों का दूतन का प्रयत्न करत है और दूसरी ओर उपयोगितावादी विचारधारा से प्रभावित समाजशास्त्री और मानवशास्त्री सस्कृति की सामाजिक संरचना की कार्यात्मकता में प्रेरण उद्देश्य ढूँढ़ने में प्रयत्नशील हैं। एकीकरण, प्रत्येक प्रवृत्ति और आंतरिक प्रवाह जैसी धारणाएँ सस्कृति की मानसिक जटिलता की छाया हैं। न मानव अनुभूति में पर नहीं हैं। पर उनका सादृश्य निर्धारण और वर्णन वह समस्या है जिसका हल मानवशास्त्र और समाजशास्त्र में नहीं मिल पाया है यद्यपि इन दोनों शास्त्रों के प्रतिष्ठापावन इस दशा में प्रयत्नशील हैं।

यहाँ तक प्रस्तुत विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि सस्कृति को स्पष्ट और परिभाषित करने के लिए न तो मतवय हुआ है और न सम्भवतः होगा। सस्कृति के लक्षण सस्कृति पर लोगों ने अनेक पहलुओं से विचार किया है। सस्कृति के जितने आनुभूतिक पहलू हैं, उन पहलुओं पर आधारित मतों में सार है और यह सहसा अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इनमें से कोई मत तब सारहीन प्रतीत होता है जब अथवा पहलुओं को गौण मानकर किसी पहलू विशेष का ही महत्त्वपूर्ण मान लिया जाता है और उसी के आधार पर कोई मत प्रतिपादित किया जाता है। सस्कृति विषयक मतमतांतर और विचार विमर्श में सस्कृति के कुछ सावभौतिक और सामाजिक लक्षण (Attributes) निर्धारित हो गये हैं जो सस्कृति को स्पष्ट करने का एक अच्छा माध्यम है। ये लक्षण इस प्रकार हैं — 1 सस्कृति वह व्यवहार है जो मनुष्य समाज से सीखता है। किंतु सस्कृति को न तो आदता अथवा अभ्यास (Habits) का योग कहा जा सकता है और न समस्याओं के मुलझाने का कोई एक परम्परागत तरीका। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सस्कृति की उत्पत्ति व्यक्ति के नरान्य में ही होती है क्योंकि सस्कृति में नरान्यकारी तथा तुष्टिकारी दोनों तत्व विद्यमान हैं, 2 सस्कृति समाज का एक पहलू है। इसी में सस्कृति की सामाजिक विशेषता का जन्म होता है। आगिक उद्विकास की प्रक्रिया और मानवोत्तर प्राणियों में समाज के पाये जाने के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज का अवतरण सस्कृति से पहले हुआ है। किंतु मानवी उद्विकास के सदा में यह कहना कठिन है कि सस्कृति प्राथमिक है या समाज। हाँ, यह अवश्य है कि समूहों के ही माध्यम से सस्कृति चलती है और उसमें समाज की अपनी एकीकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। समाज के आधार और सस्कृति के स्वरूप में कोई कारण सम्बन्ध नहीं है, 3 सस्कृति सन्तान (Transmissible) होती है और इसी कारण उसमें ऐतिहासिकता आती है, 4 सस्कृति वस्तुतः एक आदश है जो सर्व अप्राप्य रहता है

1 यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इतिहासज्ञों और समाजशास्त्रियों

यद्यपि उसमें मानव का माग दान अवश्य होता है, 5 मस्कृतिस जसा कि मलिनोम्की न प्रतिपादित किया है मानव आवश्यकताओं की पूर्ति होती है 6 संस्कृति में अनुकूलन की समता होती है और, जसा कि पहले कहा जा चुका है, संस्कृति में एकीकरण की प्रवृत्ति होती है जिससे संस्कृति में एकात्मकता और एकीक विधिप्रतिष्ठा आती है ।

ह्यूमबिट्स (Humboldt) ने संस्कृति के कुछ विरोधाभासा (Paradoxical) लक्षणों का वर्णन किया है । प्रथम संस्कृति मानव जीवन का निर्धारण करती है, किन्तु मानव के सजग विचारा में उसका विरोधाभासी प्रवेश होता है क्योंकि संस्कृति व्यक्ति में भी है और व्यक्ति में परे भी । दूसरे, संस्कृति स्थायी भी है और गत्यात्मक भी । निरन्तर परिवर्तन में स्थायित्व बनाय रखना संस्कृति की विशेषता है । तीसरे एक ओर संस्कृति सवकालीन तथा सावभौमिक है ता, दूसरी ओर उसके राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय रूप भी पाये जाते हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संस्कृति सामान्य भी है और विशेष भी । मानव-जीवन की सामान्य, सावभौमिक आवश्यकताओं ही संस्कृति का सामान्यता और सावभौमिकता का जन्म देती हैं । परिवार, विवाह, धार्मिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ, भाषा, कला और मनाबिनाद, धर्म, सामाजिक नान और प्रौद्योगिकी संस्कृति के सामान्य आधार हैं और सबसे पाये जाते हैं । ये सामान्य आधार मानव-जीवन की सामान्य आधारभूत आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं । संस्कृति की विचरणशीलता में ही विशेष संस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता है । विचरणशीलता के कारण ही भौगोलिक परिस्थितियों प्रौद्योगिक विकास के अनुरूप स्तर, विभिन्न संस्कृतियों के अलग-अलग आन्तरिक प्रवाह और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा घटनाएँ । भारत का इस्लामी राजनैतिक प्रभुत्व में आना वह परिस्थिति है, जिसके कारण भारत में हिन्दू-संस्कृति के स्थान पर भारतीय संस्कृति का अन्त्य हो गया । यदि सन् सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ईसाई धर्म का प्रसार न होता और उसके फलस्वरूप भारत इस्लाम के राजनैतिक प्रभुत्व में न आता तो सम्भवतः वर्तमान भारत की सांस्कृतिक धारा किसी समय हिन्दू धर्म की ओर प्रवाहित होती ।

एक धारणा के रूप में, संस्कृति का प्रयोग चार सन्दर्भों में किया जा सकता है :—(क) किसी भी समय विद्यमान सम्पूर्ण मानवमात्र के जीवनयापन के तरीकों (Ways of Living) और आविष्कारों (Designs) की सम्पूर्णता के लिये । यही सम्पूर्णता सामान्य संस्कृति (The Culture) का आधार है । (ख) उन नई समाजों और समूहों के सदस्यों के व्यवहार में निहित जीवन-यापन के तरीकों के लिए जिनके व्यवहार में, कम या अधिक मात्रा में, एकीकरण पाया जाता है जैसे अरबी इस्लामी

तथा मानवशास्त्रियों के मतों में अन्तर है । इतिहासज्ञों के अनुसार संस्कृति मानव की विधियों का अभिलेख है । इस मान्यता में प्रगति अथवा अवनति का भाव निहित है जो मानवशास्त्रियों को असाध्य है ।

संस्कृति। इसी धारणा के सदम में उपसंस्कृति (Sub Culture) या उपसंस्कृतियों (Sub Cultures) और संस्कृतिविशेष (A Culture) जैसी धारणाओं का प्रयोग होता है। (स) किसी समाजविशेष के विविष्ट व्यवहार कक्षाप (Pattern of behaviour peculiar to a given society) के लिये, जैसे भारतीय संस्कृति या अमरीकी संस्कृति। (द) एक बड़े टटिल और विजातीय समाज के विभिन्न समूहों के अलग अलग जीवन यापन के तरीकों के लिये जिसका उदाहरण है भारत के विभिन्न भाषा क्षेत्रों में फैली हुई संस्कृतियाँ।

२

संस्कृति प्रक्रियाय (Culture Processes)

संस्कृति का चाहे जिस रूप या स्तर में देखा जाय इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति एक प्रवाहशील प्रक्रिया है। संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया के दो मुख्य पहलू हैं—एक परिरक्षण (Preservation) स्थापित और स्थायित्व (Stabilization) और दूसरा, वृद्धि (Growth) विकास तथा परिवर्तन (Change)। संस्कृति परिरक्षण प्रक्रिया के मुख्य आधार हैं अभ्यासीकरण (Habituation) अर्थात् अभ्यास या आदत का बनना^१ संस्कृति के सिद्धांतों के अनुसार शिक्षा शैक्षा (Indoctrination & Education) और सातत्य (Continuance) की समान भावना। वास्तव में, व्यक्ति संस्कृति में ही जन्म लेता है। संस्कृति व्यक्ति से पहले ही विद्यमान होती है और इसी कारण, व्यक्ति संस्कृति का सबहुक बन जाता है यद्यपि इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति के समक्ष, एक समष्टिकारी प्रमेय के रूप में, संस्कृति ही प्रधान है।

- १ जन्म के समय मानव शिशु की मातृपेशियों और नाड़ी संस्थान में न कोई सगठन होता है और न कोई सुगठित व्यवहार। शिशु न तो कहीं आज ठहरा कर देख ही सकता है और न किसी विशेष कार्य में अपनी मातृपेशियों का प्रयोग हो कर सकता है। यहाँ तक मल मूत्र को निकालने वाली मातृपेशियों पर भी उसका नियंत्रण नहीं रहता है। अभ्यास के द्वारा ही धीरे धीरे व्यक्ति को मातृपेशियों पर नियंत्रण मिलता है और अभ्यास संस्कृति के प्रभाव के अनुसार होता है। उदाहरणार्थ, एक ओर शरीर विकास के दौरान में शिशु को मल मूत्र त्यागन वाले स्नायुओं पर नियंत्रण मिलता है तो दूसरी ओर, अभ्यास द्वारा उसे यह सीखना पड़ता है कि कहाँ, किस प्रकार मल मूत्र का त्याग किया जाये।

व्यक्ति संस्कृति से है और संस्कृति व्यक्ति से, लेकिन प्रतीकात्मक होने के कारण तथा मानव अनुभव में निहित होने के कारण, संस्कृति एक कालगत प्रवाह बन जाती है जबकि व्यक्ति जात जाते रहते हैं। सीखने (Learning) की शक्ति के ही कारण व्यक्ति संस्कृति को अपना कर, संस्कृति-संवहक बनता है और, इसी कारण, संस्कृति-परिरक्षण में वह सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पथान बन जाती है जिसे समाज मनोवैज्ञानिकों ने अनुकरण (Imitation) कहा है और जो मानव के सीखने में एक महत्वपूर्ण सध्य है।

परिरक्षण स्वायत्त और सातत्य के कारण ही संस्कृति एक संचयी प्रक्रिया (Cumulative Process) बन जाती है जिसमें संस्कृति का ऐतिहासिक-मुख्य उन्विकासी रूप उभरता है जिसका विश्लेषण आगे किया जायेगा। परिरक्षण के ही दृष्टिकोण से संस्कृति का वह प्रक्रिया कहा जा सकता है जो निरंतर वृद्धि (Growth) की ओर उन्मुख रहता है। इस दृष्टिकोण से, यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति विशेषतः, संस्कृति विशेष का विभूतजनन हो सकना है किंतु संस्कृति हानि (Cultural Loss) या संस्कृति निष्प्राणता (Cultural Death) नहीं हाती है। मानव संस्कृति अजर और अमर है क्योंकि संस्कृति विशेष के विभूतजनित हान पर, हमें तत्त्व प्रसरित होकर, सम्पूर्ण मानव संस्कृति के अर्थ तत्वों में मिल जाते हैं या अर्थ तत्त्व का हटा देते हैं या उनका स्थान ले लेते हैं। उदाहरण के लिए हड़प्पा और माहेंजोदड़ो की संस्कृति आज समाप्त हो चुकी है लेकिन उसके अनन्त तत्व भारतीय संस्कृति में विद्यमान हैं और भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति का एक विशेष रूप है। इसलिए नायर ने कहा है कि संस्कृति कभी भी निष्प्राण नहीं हाती है।

वृद्धि संस्कृति की एक वैसे ही स्वाभाविक प्रक्रिया है जैसे परिरक्षण। उपनायें (Inventions) इसका उदाहरण हैं। यह सही है कि आवश्यकता (Necessity), खेल (Play)¹ और आकस्मिक घटनायें (Accidents)² उपनायों का जन्म देती रही हैं किंतु वास्तव में उपनायों का जन्म देने वाली हैं संस्कृति विकास से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियाँ जिनके कारण उपना का जन्म सम्भव होता है। प्रत्येक उपना के पीछे एक क्रमिक विकास प्रक्रिया चला करती है, जैसे ही जैसे पानी के उबलने के पीछे एक प्रक्रिया चलती रहती है। हम उपना के प्रति वैसे ही अवगत होने हैं जैसे चाय के लिये उबलने वाले पानी के प्रति। किंतु पानी सभी उबलता है जब पानी में गर्मी पहुँचाने वाली प्रक्रिया एक अवस्था विशेष में पहुँच जाती है। इसी कारण, एक उपना का दूसरे से सम्बन्ध है। चीना बनाने की कला के विकास से

1 साइकिल, मोटर और हवाई जहाज की उपनायें मनोविनोद और खेल की मनोवृत्ति के कारण हुई हैं।

2 पनीरिलोन की उपना घटनाका हुई थी।

दूरधोन बनी और उसमें समस्त सगोल विज्ञान (Astronomy) का विकास हुआ। माइक्रास्कोप के बनने से औषधिशास्त्र का विकास हुआ। यूटन के सिद्धांतों ने ग्राइस्टोन के सिद्धांतों की आधारशिला रखी। अनुकूल परिस्थितियों में ही आविष्कारक आविष्कार करता है। बिना अनुकूल परिस्थितियों के आविष्कार स्वीकार ही नहीं होता है। यह जानते हुये भी कि बालू से चादी निकल सकती है उसने लिय प्रयास नहीं किया जाता है क्योंकि प्रायिक श्रष्टिकोण से यह लाभदायक नहीं है। उपनायें, वास्तव में सस्कृति की सचयी प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं और, इसी कारण कई उपनायें समानांतर विकास के रूप में एक साथ अलग अलग स्थानों या स्थितियों में अवतरित होती हैं। मारकोनी और जगदीश चन्द्र बसु ने एक साथ बेतारक तार के विचार पर कार्य करना प्रारम्भ किया था। प्रत्येक उपजा के पीछे उसकी विकास कहानी रहती है जो इस बात का प्रमाण है कि उपजा एक सतत विकास का परिणाम है और उसका सम्बन्ध सस्कृति-वृद्धि से है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सस्कृति केवल एक सचयी प्रक्रिया है और उसमें परिवर्तन होते ही नहीं हैं। सस्कृति में, एक ओर, सचयी वृद्धि प्रक्रिया

सस्कृति चला करती है और दूसरी ओर, परिवर्तन प्रक्रिया। परिवर्तन प्रक्रिया के कारण तत्त्वों की जोड़ने दो श्रेणियों में रक्खा है—

एक बाह्य और दूसरी आंतरिक¹। आंतरिक तत्त्वों से उत्पन्न होने

वाले सस्कृति परिवर्तन मुख्यतः तीन श्रेणियों में आते हैं। एक श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो जीवन निर्वाह (Subsistence)—प्रौद्योगिक (Technological)—आर्थिक (Economic) स्तर में परिवर्तन होने के कारण होते हैं जैसे कृषि के अनुसंधान से जनसंख्या तथा शहरीकरण का बढ़ना। दूसरी श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो जैवकीय मनोविनाशो भावों (Biological Play Impulses) के कारण होते हैं। खेल विज्ञान कला, संगीत मनोरंजन और परिहास में होने वाले परिवर्तन इसी श्रेणी में आते हैं। इसी श्रेणी में वे परिवर्तन भी आते हैं जो उस अवस्था में होते हैं जब किसी सस्कृति तत्त्व से तन आकर लोग उसे बदल देते हैं। सन अठारहवीं सदी उत्तरी में हवाई द्वीप के निवासियों का कुछ नियमों से तन आकर उन्हें सहसा तोड़ना इसका एक उदाहरण है²। तीसरी श्रेणी में वे परिवर्तन आते हैं जो वृद्धि के कारण

1 कावर ए० एल० एन्थोपॉलोजी पृष्ठ 386-425

2 गिन नियमों की हवाई द्वीप के निवासियों ने तोड़ा था वे इस प्रकार हैं—

(अ) स्त्रियों का बला और तारियल खाने का नियम, (ब) स्त्री पुरुषों का एक साथ बैठकर खाने का नियम, (स) सम्राट द्वारा किसी व्यक्ति की भूमि को नष्ट करना और दूसरा क क या पर जाना क्योंकि सम्राट द्वारा छूने से भूमि सम्राट की हो जाती थी, (द) त्योहारों को घरों के अंदर बैठकर मनाना।

हात है। बाबर ने इन्हें वृद्धि परिवर्तन कहा है। सगठित ऐतिहासिक मजहबों जैसे बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाईयन, का विकास तथा प्रसार और उनसे हानि वाला परिवर्तन तथा नानिया (Revolutions) से होनेवाले परिवर्तन इस श्रेणी में आते हैं।

संस्कृति परिवर्तन प्रक्रिया की गत्यात्मकता से उपनयन, संस्कृति परिवर्तन के आन्तरिक प्रतिकारकों (Factors) का जन्म देते हैं। यदि मानव-संस्कृति की सम्पूर्णता के मध्य में विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सभी परिवर्तन-प्रतिकारक और प्रक्रियाएँ (Factors and Processes of Change) आन्तरिक ही होती हैं। किन्तु जब हम विशेष संस्कृतियों के सन्दर्भ में विचार करते हैं तो हम यह मिलाता है कि एक संस्कृति-विशेष में अनेक ऐसी परिवर्तन प्रक्रियाएँ होती हैं जो बाह्य प्रतिकारकों (External Factors) से उत्पन्न होती हैं। बाह्य प्रतिकारक का तात्पर्य है उस प्रतिकारक से जो किसी संस्कृति-विशेष में बाहर से आया हो। भारत में आधुनिक प्रौद्योगिकी (Modern Technology) इसका उदाहरण है। बाह्य प्रतिकारकों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली प्रक्रियाओं को दो मुख्य श्रेणियों में रखा जाता है जिनमें से एक का प्रसरण की संज्ञा दी गई है और दूसरी का संस्कृतिकरण या एकत्वकरण (Acculturation) की। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रसरण एक सामाजिक प्रक्रिया है। मानव इतिहास तथा मानव-संस्कृति के गठन में प्रसरण काफी महत्वपूर्ण रहा है। संस्कृतियाँ एक दूसरे में वैसे ही सांस्कृतिक तत्वों को लेती रहती हैं जैसे व्यक्ति एक दूसरे से विचारों तथा व्यवहारों का ग्रहण करते रहते हैं। प्रसरण, वस्तुतः संस्कृति की स्वाभाविक विशेषता ही है यद्यपि यह नहीं माना जा सकता कि प्रसरण मनुष्य द्वारा स्वचालित है क्योंकि प्रसरण, जमा कि पहले कहा जा चुका है तब सामाजिक होता है जब एक संस्कृति का तत्त्व दूसरी संस्कृति में इस प्रकार स्वीकृत हो जाता है कि ग्रहण किया हुआ तत्व, ग्रहण करने वाली संस्कृति का अंग बन जाता है। इसी कारण, प्रसरण प्रक्रिया में मानव प्रतिकारक (Human Factor) महत्वपूर्ण हो जाता है।

प्रसरण, संस्कृति-सत्त्व पर निर्भर न होकर मानव की सोचने की क्षमता पर निर्भर करता है। अतः, प्रसरण प्रक्रिया इसी कारण अस्तित्व में आती है प्रसरण से निः मानव विभिन्न संस्कृतियों में विभाजित होने तथा अलग-परिवर्तन अलग संस्कृतियों में प्रभावित होने पर भी, अलग अलग संस्कृतियों के तत्त्वों का उपयोग में लाने में सफल होता है। यद्यपि प्रौद्योगिक प्रगति की जननी वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी (Scientific Technology) का ससारव्यापी प्रसार इसका उदाहरण है। प्रसरण में मानव प्रतिकारक की महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि प्रसरण के प्रक्रियामें ही सामाजिक अवरोध उपनयन होता है जन्म कि उपनयन के प्रति। जैसा कि मुद्रण-यंत्र, आग और टमाटर के ससारव्यापी

प्रसरण में स्पष्ट है, अलग अलग उपयोगी तत्वों का प्रसरण सुगमता से होता है। साम्यवाद के प्रसरण के प्रति उत्पन्न होने वाले अवरोध से स्पष्ट होता है कि उन तत्वों का प्रसरण कम होता है जिनमें सम्पूर्ण जीवन में आमूत्र परिवर्तन आना का भय रहता है। प्रसरण के प्रति उत्पन्न होने वाला सामाजिक अवरोध प्रवर्णात्मक (Selective) होता है। जावुनिक भारत में योरोप से बहुत कुछ ग्रहण किया जा रहा है किन्तु सभी कुछ नहीं। यह प्रवर्णात्मक अवरोध का प्रतीक है। इसी कारण, यह कहा गया है कि प्रसरण में मानव की सीखने की क्षमता के साथ साथ, उसकी अनुकरण की क्षमता भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसरण प्रक्रिया के, इस दृष्टिकोण से, मुख्य आधार है प्रसरित होने वाले तत्व की उपयोगिता अनुकूल सामाजिक परिस्थिति और ग्रहणकर्ता का दृष्टिकोण। प्रसरित होने वाले तत्व की उपयोगिता, अनुकूल सामाजिक परिस्थिति पर ही निर्भर करती है। अतः, यह कहा जा सकता है कि प्रसरण वह प्रक्रिया है जिसमें संस्कृति की भौगोलिक निरंतरता बनी रहती है। प्रसरण परम्परा (Tradition) नहीं है क्योंकि प्रसरण भौमिक प्रसार सीखने और अनुकरण पर आधारित रहता है जबकि परम्परा सीखने और कालगत प्रसरण पर आधारित रहती है।

सांस्कृतिकरण या एकत्वकरण संस्कृति परिवर्तन प्रक्रिया का एक विषय रूप है और संस्कृति-परिवर्तन के उन प्रमेयों में निहित है जो विभिन्न संस्कृतियों में एकत्वकरण वाले समूहों के सतत तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क (Continuous first hand Contact) में आने के कारण एक या दोनों समूहों के मौलिक सांस्कृतिक कलाप (Cultural Patterns) में अवतरित होते हैं। सांस्कृतिकरण इस दृष्टिकोण से, संस्कृति परिवर्तन नहीं है बरन संस्कृति परिवर्तन का एक पहलू विषय है। संस्कृतिकरण सांत्विकरण (Assimilation) भी नहीं है क्योंकि सांत्विकरण किसी-किसी परिस्थितियों में सांस्कृतिकरण का एक पहलू होता है। सांस्कृतिकरण प्रसरण भी नहीं है यद्यपि सांस्कृतिकरण की सभी अवस्थाओं में प्रसरण प्रक्रिया निहित रहती है। सांस्कृतिकरण और प्रसरण आश्रयता (Borrowing), सीखना (Learning) और अनुकरण (Imitation) पर आधारित रहते हैं और इस दृष्टिकोण से दोनों समान हैं। प्रसरण सम्पर्क के कारण भी हो सकता है और बिना सम्पर्क के कारण भी। अधिकतर प्रसरण बिना सम्पर्क के कारण हुआ है। अतः प्रसरण सांस्कृतिकरण प्रक्रिया का बस एक अंग है। प्रसरण और सांस्कृतिकरण दोनों में सांस्कृतिक संचरण (Cultural Transmission) निहित है। किन्तु, प्रसरण में वह सांस्कृतिक संचरण आता है जो भूतकालिक है, जो हो चुका होता है, जिसका स्पष्ट करने के लिये अध्ययनकर्ता को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि अमुक परिस्थितियों में अमुक प्रकार से और अमुक परिणामों के साथ संस्कृति संचरण हुआ होगा। किन्तु संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसका अध्ययन अतःभूतिक विरीक्षण

का आधार पर किया जाता है और इस कारण, जैसा कि हस्कोविट्स न लिखा है, संस्कृतिपरिवर्तन वस्तुतः सांस्कृतिक मन्त्रायण की वह प्रक्रिया (Cultural Transmission in Process) है जो चल रही है¹।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृतिपरिवर्तन का ऐतिहासिक पटलू हाता ही नहीं है। प्रत्येक संस्कृतिपरिवर्तन सम्पन्न की एक परिस्थिति विशेष से उत्पन्न होकर, आसानी से प्रक्रिया का रूप ले लेता है और, इसी कारण संस्कृतिपरिवर्तन के अध्ययन में ऐतिहासिक अध्ययन विधि, अर्थात् (Time) और संस्कृति सम्पन्न की भूत तथा वर्तमान परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृतिपरिवर्तन की धारणा का प्रयोग और अध्ययन उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी किया जा सकता है जहाँ सम्पन्न और उससे उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक ग्रहण (Cultural Borrowing) तथा परिवर्तन के लिखित अभिलेख मिल जाते हैं। जहाँ सम्पन्न और ग्रहणता की ऐतिहासिक परिस्थिति, अतः ऐतिहासिक परिस्थितियों का पार करती हुई, वर्तमान में बनो जाती है, वहाँ संस्कृतिपरिवर्तन का ऐतिहासिक सम्बन्ध में देखना और भी आवश्यक हो जाता है। भारत में धर्म द्राविड, हिन्दू मुस्लिम और भारतीय संस्कृति तथा यारानीय सम्प्रदाय के सम्पन्न से उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ऐसी ही परिस्थितियाँ हैं। किन्तु, जैसा कि अफ्रीका में होने वाली संस्कृतिपरिवर्तन की प्रक्रिया की स्पष्ट करने के लिए अध्ययन-विधि का प्रतिपादन करते हुए मल्लिनास्की ने कहा है कि अध्ययन का उस स्थिति से प्रारम्भ करना चाहिए जो सम्पन्न और संस्कृतिपरिवर्तन की दृष्टिकोण से स्थिति हो बना करना न तो सम्भव ही है और न बसा ही हो सकता है क्योंकि दृष्टिकोण स्थिति का निर्धारण कठिन है। और फिर संस्कृतिपरिवर्तन एकपक्षीय न होकर द्विपक्षीय होता है जिसके कारण दृष्टिकोण स्थिति की कल्पना और भी कठिन हो जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि योरोप के मानवशास्त्रियों का दृष्टिकोण अधिकतर ऐतिहासिक नहीं है और उसका कारण है आदिवासी समाज में अभिलेखित इतिहास (Documented History) की अनुपस्थिति। मानव इतिहास यदि, एक ओर, प्रसारण से उत्पन्न होने वाली वृद्धि और विकास की एक सतत प्रक्रिया रहा है तो, दूसरी ओर, वह एक महान संस्कृतिपरिवर्तन की प्रक्रिया भी है। भारतीय संस्कृति तो निश्चय ही एक विशाल संस्कृतिपरिवर्तन की प्रक्रिया है।

जिस परिभाषा के आधार पर संस्कृतिपरिवर्तन का यह स्पष्ट किया गया है उससे, अध्ययन विधि के दृष्टिकोण से नई समस्याएँ अस्तित्व में आई हैं जिनके कारण, इस परिभाषा की आलोचना भी की गई है। यह कहा गया है कि इस परिभाषा में उन प्रयोगों के स्वरूप का वर्णन नहीं है जो संस्कृतिपरिवर्तन के कारण उत्पन्न

होता है। इस परिभाषा में, सतत प्रत्यक्ष सम्पर्क (Continuous First hand Contact) के ऊपर जोर दिया गया है जिसके कारण, अन्य प्रकार की सम्पर्क परिस्थितियाँ इस परिभाषा के क्षेत्र के बाहर हो जाती हैं। आधुनिक भारत पर यात्रा का जो प्रभाव पड़ रहा है वह सतत प्रत्यक्ष-सम्पर्क का परिणाम नहीं है। ऐसी दशा में सतत सम्पर्क की कल्पना एकांगी लगती है। इसी दृष्टिकोण से सम्पर्क में विभिन्न सम्प्रतियाँ बाल समूहों की कल्पना भी कठिनाई उत्पन्न करती है। यह निश्चित है कि संस्कृति सम्पर्क में मानवी प्रतिकारक (Human Factor) व्यक्तियों का सम्पर्क और उनके द्वारा आत्मन प्रदान निहित होता है लेकिन प्रत्येक संस्कृति सम्पर्क की स्थिति समूहों के सम्पर्क की ही स्थिति नहीं है और न किसी भी स्थिति में सम्पूर्ण संस्कृति अथवा संस्कृतियों का आदान प्रदान ही होता है। आधुनिक भारत इसका उदाहरण है। इंग्लैंड के माध्यम से भारत तथा योरोप का सम्पर्क प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रहा है और योरोप तथा भारत के सम्पर्क में व्यक्ति समूह उस रूप में सम्पर्क में नहीं रहे हैं जिस रूप में उक्त परिभाषा में, उसकी कल्पना की गई है। अपने विभिन्न उपकरणों सहित वर्तमान योरोपीय सभ्यता का प्रसार भी सम्पर्क की स्थिति उत्पन्न करता है जिसके कारण संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अस्तित्व में आती है। इसी कारण संस्कृतिवर्णन वस्तुतः वह प्रक्रिया है जिसमें बाह्य संस्कृति के तत्वों को ग्रहण और आत्मसात करने के कारण बहुमुखी परिवर्तन प्रक्रिया उत्पन्न होती है।

केवल संस्कृति-सम्पर्क ही संस्कृतिकरण का एकमात्र प्रतिकारक नहीं है। मौलभिरि के पहाड़ी क्षेत्र में रहनेवाली चार गणजातियाँ टांडा बड़गाँवा, कोटा और कुम्हारों का उदाहरण हैं। टांडा पशुपालक (Pastoral) हैं बड़गाँवा खेतिहर (Agricoulturist) हैं कोटा शिल्पी (Artisan) और कुम्हार कदमूँ एकत्र करके बसने करने वाले (Food gatherer) और भूतमाधक (Sorcerers) हैं। इन चारों गणजातियों के लोग एक ही क्षेत्र में रहते हैं और उनमें सम्पर्क भी रहा है। अपने सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में वे परस्पर निर्भर भी हैं किंतु फिर भी ये चार गणजातियाँ अलग अलग भाषा तथा संस्कृति पर आधारित समूह हैं। इस परिस्थिति के लिए चार प्रतिवारक उत्तरदाई हैं। पहला, इन चारों गणजातियों में प्रत्येक का भाषिक आधार भिन्न है और इसलिए उनमें परस्पर सांस्कृतिक ग्रहण भी कम हुआ है। दूसरे, उनमें पाये जाने वाले सम्पर्क में आदान प्रदान नहीं के बराबर है। इसका एक उदाहरण यह है कि बाजा बजाने वाले तथा गायक होने के नाते कोटा लोग टांडा लोगों के यहाँ हर सप्ताह में उपस्थित तो रहते हैं लेकिन उनके समीप नहीं जाते हैं क्योंकि कागस छू जाने पर टोडा लोग अपने को अपवित्र समझते हैं। अतः, उनमें सम्पर्क तो है लेकिन दूर का। तीसरा कारण है उनमें पाई जाने वाली प्रतिष्ठा प्रतीक प्रणाली (Prestige Symbolism)। जो सांस्कृतिक तत्व किसी एक गणजाति में प्रतिष्ठा का प्रतीक समझा जाता है उसे यदि किसी दूसरी गणजाति के लोग अपनाते

का प्रयास करने हैं तो उस रोकने का प्रयास किया जाता है। एक बार जब कोटा लगी न साफ बाधना प्रारम्भ किया तो बड़गा लगी ने इसका विरोध किया। यह विरोध महा सब बढ़ा कि एक बार रास्ते में कुछ बड़गा छिपकर बैठ गये और उधर में साफ बाधे हुए बाटा लीगा के निकलने पर, उन पर टूट पड़े और उनका साफ को फाट डाला^१। यह विरोध उसी प्रकार का है जैसा निम्नस्तर की जातियाँ द्वारा जनैत्र धारण करने पर उच्चस्तर की जाति के साथ उसका विरोध करते हैं जो कभी-कभी सपने में भी बदल जाता है।

एक ही श्रम उदाहरणों के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि संस्कृतिकरण निम्न करता है सम्पर्क की ऐतिहासिक परिस्थिति पर और सम्पर्क में आई हुई संस्कृतियों के सदस्यों की सामाजिक-मानसिक पृष्ठभूमि पर। सामाजिक-मानसिक (Social Psychological) पृष्ठभूमि में, ग्रहण करने वाले की, ग्राह्य संस्कृति के प्रति मनोवृत्ति (Attitude) काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि ग्राह्य-अग्राह्य का नियम मनोवृत्ति के ही आधार पर होता है। उदाहरणार्थ एक समय था जब अन्ध के गाँवों में निम्नस्तर की, विरोधनया चमार, जाति की स्त्रियों के लिए साड़ी, कपड़ा की चूड़ी और सोने के जेवर का प्रयोग बहिष्कृत था और यदि कोई स्त्री उसका प्रयोग करती थी तो उच्च जाति के सदस्य इसका विरोध करते थे। इसी प्रकार, निम्नस्तर की जातियों के सदस्यों द्वारा गणपती के धारण करने का विरोध किया जाता था। किन्तु भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना के कारण जब भारत यूरोप के सम्पर्क में आया तो स्थिति बदल गई। गृहीकरण ने पश्चिमीकरण (Westernized) सामाजिक वातावरण में यह स्थिति उत्पन्न कर दी जिसमें उच्चस्तर के साथ पश्चिमीकरण (Westernization) का प्रतिष्ठा प्रतीक मम करने लगे और पुराने प्रतिष्ठा प्रतीक की ओर से उदासीन हो गये, जिनको निम्नस्तर की जातियों के साथ अपनाने लगे। इस तथ्य से संस्कृतिकरण के दो पहलु स्पष्ट हो जाते हैं—एक, संस्कृतिकरण एक प्रवर्णात्मक प्रक्रिया (Selective Process) है क्योंकि सम्पर्क में आई हुई संस्कृतियाँ सभी कुछ ग्रहण नहीं करती हैं। ग्रहण करने का तात्पर्य है ग्रहण करके, ग्राह्य तत्व का संस्कृति में स्थान देना। अतः, यही ग्रहण किया जाता है जो आवश्यक प्रतीत होता है और जिसके लिए संस्कृति में आसानी से स्थान बन जाता है। गृहीत तत्व को स्थान देने का मतलब है उसके प्रयोग का सीखना और, इस कारण, ग्रहण करने वाली संस्कृति के सदस्यों का अनुभव और उनकी मनोवृत्ति संस्कृतिकरण में प्रधान स्थान ग्रहण कर लेते हैं। संस्कृतिकरण, इस दृष्टिकोण से, संस्कृति के ऐतिहासिक उद्विकास का एक माध्यम है।

संस्कृतिकरण का दूसरा महत्वपूर्ण पहलु है संस्कृति-सम्पर्क का स्वरूप

यथाकिं सम्पन्न स्वरूप, एक ओर, ग्रहण करने वाली सस्कृति के सत्त्वा की मनोवृत्ति (Attitude) को प्रभावित करता है और दूसरी ओर, सम्पन्न में घाई हुई सस्कृतियों व सम्बन्धों को निर्धारित करता है। इस दृष्टिकोण से इसका विटस ने सात प्रकार के सम्पन्नों का निर्धारित किया है जो इस प्रकार हैं — एक सम्पन्न की स्थिति वह है जिसमें दा सस्कृतियों की सम्पूर्ण जनसंख्याओं या उनके मुख्य भाग या दानों के छोटे छोटे समूह या कुछ व्यक्ति सम्पन्न में आते हैं। ऐसी परिस्थिति में वही सत्त्व ग्रहण किए जाते हैं जिनको केवल दा सस्कृतियों के प्रतिनिधि परस्पर सम्पन्न में आते हैं। दूसरे प्रकार की स्थिति वह है जिसमें सम्पन्न शत्रुतापूर्ण (Hostile) या मित्रतापूर्ण (Friendly) होता है। इसी से सम्बन्धित तीसरी स्थिति यह है जहाँ आर्थिक या राजनैतिक कारणों से एक सस्कृति के सदस्यों को दूसरी सस्कृति के सदस्यों पर प्रभुत्व (Dominance) मिल जाता है। जहाँ प्रभुता की स्थिति होती है वहाँ, साधारणतया शत्रुतापूर्ण मनोवृत्ति विकसित हो जाती है। यहाँ यह अर्थ लगाना शक्य होगा कि मित्रतापूर्ण परिस्थिति में ब्राह्मता बढ़ जाती है और शत्रुतापूर्ण स्थिति में कम हो जाती है। अफ्रीका में, जहाँ योरोपियन और वहाँ के आदिवासियों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं रहे हैं बाकी पारस्परिक आदान प्रदान हुआ है जबकि अफ्रीका में बसने वाले भारतीयों ने अफ्रीकी सामाजिक जीवन को वस्तुतः नहीं के बराबर ग्रहण किया है। जहाँ एक सस्कृति की प्रभुतापूर्ण स्थिति मिल जाती है वहाँ पराजित सस्कृति विजित सस्कृति से ग्रहण तो करती है किन्तु जो कुछ ग्रहण करती है उसे इस ढंग से आत्मसात करती है कि उसकी अपनी प्रतिष्ठा बनी रहे। शत्रुतापूर्ण संघर्षमय परिस्थिति से यदि एक ओर, जाति अहमता (Ethnocentrism) की भावना उत्पन्न होती है तो दूसरी ओर पुनरुत्थान (Revivalism) और कांटा एक्ल्चरेशन (Contra Acculturation) की। चौथी स्थिति यह है जहाँ समान प्रकार के समूह समान सम्पन्न में आते हैं। पाँचवीं, जहाँ असमान आकार की जटिल सस्कृति वाले समूह सम्पन्न में आते हैं। छठी, जहाँ समान रूप से जटिल सस्कृतियों में सम्पन्न होता है और सातवीं, वह स्थिति है जहाँ एक सस्कृति समूह में सत्त्व अपना वासस्थान (Habitat) छोड़कर अन्य सस्कृति के वासस्थान में जाकर रहने हैं। जब भारत के आदिवासी अपना वासस्थान छोड़कर बड़े बड़े शहरों में जाकर बसने हैं तो सातवीं प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है।

सम्पन्न-परिस्थितियों के आधार पर ही विभिन्न प्रकार की सम्पन्निकरण की प्रक्रियाओं को निर्धारित किया गया है। शहर के अनुसार, सस्कृति-रक्षण की प्रक्रिया द्वि-दिश (Two Way Traffic) है और उसी रूप में उसका विश्लेषण भी होना चाहिए। भारतीय सामाजिक-उत्थान की पृष्ठभूमि में चलने वाली सम्पन्निकरण प्रक्रिया इसका उदाहरण है। यहाँ आर्यों ने द्राविडों को प्रभावित किया और विटों व आर्यों को हिन्दुओं ने मुसलमानों को प्रभावित किया और मुसलमानों ने

हिन्दुओं का और योरोपियनों व भाग्यीयों को प्रभावित किया और भारतीयों ने योरोपियनों को। इस प्रक्रिया का वर्णन अगले पृष्ठ, में किया जाएगा। सम्स्कृतिकरण की प्रक्रिया सात्मीकरण (Assimilation), प्रसरता (Hybridization) और अनुकूलन (Adaptation) की प्रक्रियाओं का जन्म देती है। सांस्कृतिक अनुकूलन और सात्मीकरण दोनों सम्स्कृतिकरण से उत्पन्न स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं और दोनों परस्पर काफी समीप हैं। भारत में योरोपीय वर्ग भूषा का घर के बाहर की वेशभूषा के रूप में अपना अनुकूलन का एक उदाहरण है जबकि ग्राम द्राविड संस्कृतियों का हिंदू संस्कृति तथा समाज के रूप में सम्मिलन सात्मीकरण का। प्रसरता बढ़ा जाती है जहाँ दो संस्कृतियों का सम्मिलन विरोधात्मक विजातीयता (Conflicting Heterogeneity) का जन्म देता है। प्रसरता ही शीघ्र (Schism) की जननी बन जाती है। भारत में इस्लाम, एक ओर अरबीवाद (Arabism) की ओर आकर्षित रहा है और दूसरी ओर, भारतीयता की ओर। भारत में मुसलमानों पर, एक ओर इस्लाम द्वारा प्रतिपादित अरबी सांस्कृतिक प्रथाओं का प्रभाव रहा है और, दूसरी ओर देशज प्रथाओं का। इसका परिणाम हुआ भारतीय इस्लाम की सांस्कृतिक प्रसरता और उसमें निहित शीघ्र की विचारधारा। प्रसरता व ही कारण सीमांत संस्कृति (Marginal Culture) और सीमांत व्यक्तित्व (Marginal Personality) की उत्पत्ति होती है।

सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया स्वच्छिक (Voluntary) होती है और, इस कारण, उन अंग-काण्डों के साथ, जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है, सम्स्कृतिकरण एक प्रवर्णात्मक प्रक्रिया बन जाती है। वर्तमान भारत जिसमें पूजोवाद तथा माध्यवाद व सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास चल रहा है इसका एक उदाहरण है। लेकिन प्रभुत्वपूर्ण तथा विजित अभिजित की सम्पूर्ण परिस्थिति में, जहाँ एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से भ्रम की भावना उत्पन्न होती है, सम्स्कृतिकरण की प्रक्रिया देशवाद (Nativism), पुनर्जननवाद (Revivalism) और कांटा एकन्वरसन (Contra Acculturation) का रूप ले लेती है। भारत में नागालैंड की माग देशवाद (Nativism) का परिणाम है। यह इसी प्रक्रिया का प्रभाव है कि बिहार के आदिवासीयों ने एक अलग प्रांत क्षारखण्ड, की माग की उठाया। आयममज आंदोलन और महात्मा गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वदेशी-आंदोलन पुनर्जनन की श्रेणी में आते हैं। कांटा एकन्वरसन की प्रक्रिया प्रतिक्रियात्मक होती है क्योंकि उसमें बाह्य संस्कृति में ग्रहण किए हुए तत्वों को त्यागने पर ज़ोर रहता है। चमार जाति के सम्य हिंदू समाज में काफी क्षोभित रह हैं और आज यह नतीजा का परिणाम है कि जगह-जगह रविदास मंदिर बनाकर उसमें महात्मा रविदास की मूर्ति की स्थापना की जा रही है। सत्यनागयण की कथा के स्थान पर रविनाथ कथा की जनप्रिय बनाया जा रहा है और तुलसीदास की रामायण के स्थान पर रविनाथ रामायण की

रचना की गई है। उत्तर प्रदेश और बिहार के हमारा भू रविदास जय ती मगाने का प्रचार अभी हाल ही में बचा है। आज रविदास का एक चमत्कारी दबी पुरुष के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। मस्कृति सम्पक की विजित पराजित परिस्थिति में ही जहां एक सस्कृति का हास होने का भय उत्पन्न होता है, वही मीसहा और पगम्बर उतने ही हैं या मसीहा के अवतारणा की भावना उत्पन्न होती है। मसीहा का अर्थ है पुनर्जीवन देने वाला और पगम्बर का अर्थ है देवदूत। अग्रजो राजकाल में प्रचलित 'कल्कि अवतार' तथा महात्मा गांधी को अवतारी पुरुष मानने की कहानियों मसीहावाद से ही सम्बंधित कल्पनाओं हैं।

३

सस्कृति और समाज

समाज सस्कृति और व्यक्ति मानव-व्यवहार के तीन मुख्य आधार हैं और तीनों अर्थात् याधिन हैं। व्यक्ति में समाज और सस्कृति दोनों समाहित रहते हैं। एक ओर मानव व्यवहार समूह से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर, उन आदर्श नियमों से निर्देशित निर्माण स्वयं मानव ने किया है। समाज वस्तुतः सस्कृति का आधार है क्योंकि समाज में ही सस्कृति का अस्तित्व रहता है। सामाजिकता सस्कृति का एक गुण है। सस्कृति की वास्तविकता, वस्तुतः समाज में ही होती है। सामाजिक व्यवहार का ही माध्यम में सस्कृति का व्यवहार का निरीक्षण सम्भव है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि मानव समाज का वास्तविक आधार सस्कृति है क्योंकि समाज की साधकता वस्तुतः सस्कृति से है। सस्कृति का ही द्वारा समाज को स्थापित और नैतिक प्राप्त होता है। मानव में सस्कृति समाज से है और समाज सस्कृति से। समाज और सस्कृति मानव व्यवहार के ऐसे ही दो पहलू हैं जिनसे सृष्टि उत्पन्न हुए

1. कल्कि अवतार की कल्पना में यह विश्वास किया जाता है कि धर्मात्मान युग कल्पियुग है और वह मानव के अधःपतन का प्रतीक है जिसे दूर करने के लिए ईश्वर का कल्कि के रूप में वैसे ही अवतार होगा जसा कि पहले राम और कृष्ण के रूप में हो चुका है।

2. एकलक्षणेन पर विनये अध्ययन के लिए देखिए

ओर ए० एल० ए० ग्यापलोजी पृष्ठ 425-444

लिटन राल्फ साइंस आफ मैन इन द वर्ल्ड काइसिस पृष्ठ 171-200

हमकोविटस, एम० बी० मन एण्ड हिज धर्म अध्याय 31

और डाढ़। मानव सामाजिक प्राणी है पर संस्कृतिकान भी। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सामाजिक मानव और संस्कृतिकान मानव का अलग अलग प्रमय है। मानव के सदम म केवल मानव ही एक आधारभूत वास्तविकता है जिसके विभिन्न पहलू इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि उह परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। फिर, प्रश्न उठता है कि समाज और संस्कृति म क्या अंतर है और इस अंतर का किस प्रकार समझा जा सकता है ?

हसकाविटम के अनुसार एक संस्कृति एक समाजविशेष के लोग के जीवन-यापन का तरीका (The way of life of a people) हाती है जबकि एक समाज उन मानवों का एक संगठित समूह होता है जा एक बिगुन प्रकार के जीवन-यापन के ढंग को स्वीकार करके, उसका अनुसरण करत हैं। समाज व्यक्तियों स मिलकर बनता है जबकि संस्कृति उनकी व्यवहार प्रणाली में निहित रहती है^१। समाज के सत्व समये रहते हैं व्यक्तियों के सामूहीकरण (Aggregation) और उससे उत्पन्न होने वाले संगठन में जबकि संस्कृति का उदगम है वह अनुभव जो मनुष्य भाषा, लिपि और प्रतीकों के माध्यम से मचम करता है और जिनमें उसके आदेश तथा अर्थात् समायी रहती हैं। समाज व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्धों से उत्पन्न संगठन और संरचना में निहित रहता है जबकि संस्कृति मानव की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में उत्पन्न उद्देश्यों में निहित रहती है। समाज का मूल आधार है सामाजिक सम्बन्ध और संस्कृति का आदेश नियम (Norm) या आदेशिक व्यवस्था (Normative Order)।

जहाँ एक व्यक्ति के व्यवहार का सदम दूसरे व्यक्ति में है जहाँ दो व्यक्तियों के व्यवहार म पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) विद्यमान है जहाँ पारस्परिक जागरूकता के कारण व्यक्तियों के व्यवहार म परिवर्तन आ जाता है जैसे अध्यापक क कक्षा म घुसते ही विद्यार्थियों का एकाग्र हाकर खड़ा हांना, वही सामाजिक सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति (Person to Person), व्यक्ति तथा समूह (Person to Group) और समूह तथा समूह के मध्य में उत्पन्न होने वाले सामाजिक सम्बन्धों के जाल स ही समाज का निर्माण होता है। इसलिए जसा कि समाजशास्त्रियों का मत है जब मामूहिक तथा महबारी रूप में मनुष्य एक दूसरे क साथ एक दूसरे के प्रति तथा एक दूसरे के लिए व्यवहार करता है ता उस समय सम्बन्ध और नियमों का ब्यापार उत्पन्न होता है वही समाज है। इतना ही नहीं, समाज एक आर मानवों के जीवन में निहित साहचर्य का ढांचा है और दूसरी ओर, संस्कृति (Culture) प्रौद्योगिकी (Technology) तथा सम्यता क रूप म मनुष्य न जो कुछ उराजित किया है उसकी माप है^२। समाज मूलतः सामाजिक सम्बन्धों का जाल है—वह जाल जो

१ हसकाविटम, एम० जे०. मैन एण्ड हिज बक्स पृष्ठ २०
२ ओडम, हयड डब्ल्यू० अडरस्टैंडिंग सोसायटी पृष्ठ ५

सतत परिवर्तनशील है। निरु साय ही साय समाज रीतिया (Usages) तथा प्रनियाआ (Procedures) अधिकार (Authority) तथा पारस्परिक सहायता (Mutual Aid) बहुमुखी समूहना (Many Groupings) तथा विभाजनो (Divisions) और मानव-व्यवहार के नियन्त्रणो (Controls of Human Behaviour) तथा स्वाधीनताआ (Liberties) की एक प्रणाली है^१। सामाजिक सम्बन्धों का एक पट्टा साहचर्य (Association), संगठन (Organization) मरचना (Structure) तथा बहुमुखी सामुहीकरण (Groupings) का है ता दूसरा पट्टा आदश नियमो (Norms) और उनसे उपन सस्थाआ का है।

सामाजिक आदश नियम (Social Norms), आदर्शों (Ideals) और अर्थाओ (Values) से सम्बन्धित रहते हैं और एक आर, सामाजिक सम्बन्धों के आदर्श का प्रतिपादित करत है तथा दूसरी ओर मानव व्यवहार का नियमित करत है। आदर्श नियम जविक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होते हैं यद्यपि उनमें तथा जैविक प्रवृत्तियों में बहुधा सघष भी रहता है। समाज में विवाह तथा परिवार द्वारा यौन नियमन (Sex Regulation) इसका उदाहरण है। सामाजिक आदर्श नियमों को, मानव-व्यवृत्तत्व में उत्पन्न मनोवृत्तियों (Attitudes) तथा सवेगा (Sentiments) से सबल मिलता रहता है और इसी कारण समाज में जब कोई आदर्श नियम भंग होता है तो आदर्श नियम भंग करने वाले के प्रति समाज में रोष उत्पन्न होता है।

समाज में मनुष्य वस्तुतः आदर्श नियमों पर ही निर्भर करता है। मानव समाज के आदर्श नियम आनुवंशिक नहीं हैं। वे मानव की कृति हैं। अपनी सीखने (Learning) तथा प्रतीकात्मक सन्देशवहन (Symbolic Communication) की क्षमताओं के कारण ही मनुष्य उनका निर्माण कर सका है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सस्कृति सामाजिक आदर्श है। सामाजिक आदर्श के रूप में सस्कृति सामाजिक आदर्श नियमों में ही समाहित रहती है। मानव-व्यवहार में, आदर्श और वास्तविकता पारस्परिक सामंजस्य में रहने हुए भी अलग अलग रहते हैं। सामाजिक आदर्श नियम, इमीकारण एक ओर वास्तविकता से सम्बन्धित रहत है तो, दूसरी ओर, आदर्श से। इसके फलस्वरूप आदर्श और वास्तविकता के बीच सामाजिक आदर्श नियमों का लम्बा सिलसिला पाया जाता है। अपने में आदर्श को समाहित किए हुए सामाजिक आदर्श नियम, सामाजिक सम्बन्धों में प्रत्याशाआ (Expectations) का जन्म देते हैं जो समाज के मूल में निहित साहचर्य (Association) का आधार बन जाती हैं।

सामाजिक आदर्श नियमों से ही सस्थाआ की उत्पत्ति होती है। एक मस्या सामाजिक आदर्श नियमों का वह जाल है जिससे मानव जीवन की एक या कई

आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। विवाह, आर्थिक व्यवस्था, राजनतिक व्यवस्था मन्वाय प्रणाली (Kinship System) और धर्म व आचारभूत आवश्यकताएँ हैं जो संस्थाओं द्वारा पूर्ण होती हैं। संस्थाएँ एक आर सामाजिक आगमन नियमों में बंधी रहती हैं तो, दूसरी ओर सामाजिक सम्बंधों का जाल है। संस्था का सामाजिक पहलू समिति (Association) है। समिति, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित मानव क्रिया समूह है जबकि संस्था किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्धारित आगमन नियमों का जाल है। विशाह संस्था का समिति पक्ष परिवार है। समिति संगठन, सामाजिक साहचर्य (Association) में निहित सामुहिकरण (Grouping) का एक परिणाम है। समाज की धारणा में सामुहिकरण का भाव वैसे ही निहित है जस दूध में मक्खन। समूह रङ्ग प्रचार के हाते हैं और समाजगामिन्या न रङ्ग दृष्टिकाणा से उनकी व्याख्या भी की है जिसे यहाँ पर दुहराना विषयातिरिक्त होगा। यहाँ पर इतना पर्याप्त आवश्यक होगा कि जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति क्षेत्र (Territory) अपने प्रकार के प्रति सजगता (Consciousness of Kind) और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर सामाजिक सम्बंधों का सामुहिकरण होता है जिससे उत्पन्न ममता मानव-व्यवहार का प्रभावित करने है।

एक समाज के विभिन्न समूह एक एकीकृत सामाजिक व्यवस्था में बंधे रहते हैं जिस आधारभूत सामाजिक संगठन की सहायता प्रदान की जाती है। किंतु सामाजिक सम्बंधों के जाल का एक दूसरा पहलू भी है और वह है स्तरीकरण (Stratification) तथा उच्चावचपरम्परा (Hierarchy) का। सामाजिक सम्बंधों के जाल में, आयु (Age), लिंग (Sex), धन (Wealth) जन्मजात अथवा अर्जित (Achieved) प्रतिष्ठा के आधार पर, प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) मिलती है और उसी पर उसकी सामाजिक भूमिका (Social Role) निर्भर करती है। सामाजिक सम्बंधों के जाल में निहित प्रतिष्ठा भूमिका-प्रणाली (Status Role System), एक आर, व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती है व्यक्ति तथा समाज में एकीकरण तथा सामाजिक स्थिति है तथा, दूसरी ओर, उस सामुहिकरण का आधार बन जाती है जिसमें ऊच-नीच का भाव पाया जाता है।

जब यह सामुहिकरण जन्मजात प्रतिष्ठा पर आधारित रहता है तो उसका परिणाम होता है जाति व्यवस्था जो भारतीय समाज की विशेषता है और जब यह अर्जित प्रतिष्ठा (Achieved Status) पर आधारित होता है तो उसका परिणाम होता है वर्ग व्यवस्था (Class System) जो योरोप अमरीकी समाज की विशेषता माना जाता है। वास्तव में, प्रत्येक समाज में दोनों प्रकार की प्रतिष्ठाओं का संतुलन मिले रहता है और इसी कारण, जाति तथा वर्ग समारम्भाश प्रमेय हैं। हा, यह अवश्य है कि जाति के तत्त्व अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और वहीं वर्ग के। जाति वर्ग प्रणालियों में जो सामाजिक व्यवस्था उपन होनी है, उसे सामाजिक संरचना

की धारणा प्रदान की गई है। सामाजिक आदत नियम (Social Norms) सामाजिक संगठन (Social Organization) और सामाजिक संरचना (Social Structure) सामाजिक वास्तविकता के तीन पहलू हैं जिनके कारण समाज और सस्कृति एक में मिले रहते हैं। सस्कृति का विश्लेषण में सामाजिक संगठन तथा संरचना का विश्लेषण स्वतः आ जाता है।

समाज और सस्कृति का अंतर एक दूसरे के बीच में भी समझा जा सकता है। समाज मानव में ही नहीं बल्कि मानवोत्तर प्राणियों में भी पाया जाता है। अपने सांस्कृतिक पहलू के ही कारण, मानव समाज मानवोत्तर प्राणियों से अलग है। प्राणी संसार में समाज एक सावभौमिक प्रमेय है जबकि सस्कृति केवल मानव में ही पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से तीन तथ्यों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है—पहला सावभौमिक समाज के मूल आधार और विशेषताएं क्या हैं। दूसरा मानव तथा मानवोत्तर समाजों में क्या समानताएँ हैं और तीसरा किन दशाओं में मानव समाज मानवोत्तर समाजों से भिन्न है। मानव तथा मानवोत्तर समाजों की समानता तथा भिन्नता में ही व तथ्य छिपे हैं जो समाज और सस्कृति के अंतर को समझने में सहायक हो सकते हैं।

समाज की धारणा में सामूहिकरण का भाव निहित है लेकिन समाज केवल समूहमय नहीं है। समाज कोई वर्गीकृत श्रेणी भी नहीं है। समाज वस्तुतः निहित है प्राणी द्वारा पर्यावरण के साथ किया जान वाला सामाजिक अनुकूलन (Social Mode of Adaptation) में। अतिजीविता (Survival), प्रजनन (Procreation) और आहार-प्रापण (Nutrition) के लिये प्राणियों का पर्यावरण के साथ सामाजिक अनुकूलन (Social Mode of Adaptation) करना आवश्यक है। सामाजिक अनुकूलन एक वह माध्यम है जो पारस्परिक उत्तेजन (Mutual Stimulus) तथा प्रतिक्रिया (Response) से प्रादुर्भाव साहचर्य (Association) में उत्पन्न होता है। साहचर्य ही समाज के सामूहिकृत रूप की जन्म देता है। पारस्परिक उत्तेजन और प्रतिक्रिया द्वारा पाया जाता है नरों एक प्राणी से दूसरे प्राणी को इस प्रकार उत्तेजन मिलता है कि उत्तेजित प्राणी उत्तेजक प्राणी से प्रति जागरूक (Aware) हो जाता है। प्राणी की जिस क्रिया में पारस्परिक उत्तेजन प्रतिक्रिया पाया जाता है उसे अंतर्क्रिया की धारणा प्रदान की जाती है और अंतर्क्रिया ही सामाजिक क्रिया (Social Act) का दूसरा नाम है। अंतर्क्रिया वस्तुतः समाज का आधार है क्योंकि अंतर्क्रिया पर आधारित सम्बन्ध ही सामाजिक सम्बन्ध है। अतः, समाज प्राणियों (Organisms) का वह साधुनिकरण (Cooperation) है जिसमें पारस्परिक उत्तेजन, जागरूकता तथा प्रतिक्रिया का जाल का आधार पर प्राणी-साहचर्य (A sociation of Organisms) उत्पन्न होता है। समाज अपने मुख्य में अंतर्क्रिया से उत्पन्न होने वाले प्राणी-साहचर्य में ही निहित रहता है।

समाज इस प्रकार, एक जविक आवश्यकता है। समाज जीव के ही समान एक मुपठिन इकाई है लेकिन समाज जीव नहीं है। एक सहचारी समूह हान के कारण समाज जीव में मूलतः भिन्न हो जाता है। प्राणी अतिजीविता (Survival of Organism) में समाज एक महत्वपूर्ण कारक है^१। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राणी अतिजीविता समाज पर ही निर्भर है। अतिजीविता प्राणी तथा समाज दोनों पर निर्भर है। हा, यह अवश्य है कि जहाँ समाज अस्तित्व में आया है वहाँ समाज अतिजीविता का एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गया है। समाज के माध्यम से प्राणी पर्यावरण के साथ अनुकूलन तथा सन्तुलन करने में सफल होता है समाज से प्राणी का बल प्राप्त होता है, समाज के ही माध्यम से प्राणी को सुरक्षा (Protection) तथा आहार पोषण (Nutrition) प्राप्त होते हैं और समाज के ही माध्यम से प्रजनन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। प्राणी-साहचर्य, जो पारस्परिक उद्दीपन, जागरूकता तथा प्रतिचार पर आधारित रहता है समाज का मूल आधार है किन्तु यह समझना मूल हाणी कि समाज केवल प्राणियों से ही मिलकर बनता है। समाज वस्तुतः, प्राणी से परे, पारस्परिक उद्दीपन प्रतिचार की श्रृंखलाओं से बना एक विभास (Arrangement) है जो निरंतर प्रवाहित होता रहता है। साहचर्य से सामाजिक कार्यों का विशेषीकरण (Specialization of Social Functions) उत्पन्न होता है जो समाज के एकीकरण तथा नरतय में सहायक होता है। साहचर्य, विभाषीकरण तथा एकीकरण से समाज में एक और, संरचना उत्पन्न होती है तथा, दूसरी ओर, नरतय का अग्र्युदय होता है।

प्राणी की एक जविक आवश्यकता के रूप में, समाज के मुख्य चार सावर्भौमिक आधारभूत काय हैं। पहला जनसंख्या को बनाये रखना, जिसके मुख्य साधन हैं आहारपोषण का प्रवध (Provision of Nutrition) क्षति या चोट से सुरक्षा (Protection against Injury) और नय प्राणिया का प्रजनन (Peproduction)

- १ एली (Ilee) द्वारा सफेद चूहों पर किया गया परीक्षण इसका उदाहरण है। इस परीक्षण में यह दिखाया गया है कि सफेद चूहे जब छोटे छोटे समूहों में रखे जाते थे तब उनकी यद्धि अधिक होती थी। यदि किसी चूहे के गिर में चोट लग जाती थी या कोई घाव हो जाता था तो दूसरे चूहे के गिर में कर लेते थे। इसी दशा में यदि कोई चूहा अलग रक्ता जाता था तो अन्य चूहे उसकी दलभाल नहीं कर पाते थे और उसकी अतिजीविता की सम्भावना कम हो जाती थी। जब पिन्डे का ताप कम कर दिया जाता था और गीत बढ़ाया जाता था तो सारे चूहे एक साथ इस प्रकार सट कर बैठ जाते थे कि एक दूसरे के सम्पर्क से अपने की गम रख सकें—हसकादितस मन एण्ड हिज

of New Organisms)। दूसरा, समाज की जनमख्या में सामाजिक कार्यों का विभाजन। इसी आधार से विनोबाकरख और सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका प्रणाली उत्पन्न होती है। तीसरा, समाज मनुष्य में समकक्ष बनाये रखना जिसके लिये एक ओर समाज सदस्यों में सम्पर्क बनाये रखने तथा पारस्परिक सहिष्णुता की और, दूसरी ओर बाह्य सदस्यों के प्रतिरोध की प्रेरणा मिलनी है। यही से समाज तथा व्यक्ति में तात्कालिक उत्पन्न होता है। यकिन समाज के साथ अपना अभिज्ञान (Identity) स्थापित करता है। चौथा, सामाजिक प्रणाली (Social System) को नरतय प्रदान करना।

समाज वस्तुतः प्राणी की उस जैविक क्षमता की उत्पत्ति है जिसके कारण वह पर्यावरण के साथ सामाजिक अनुकूलन करने में समर्थ होता है। प्राणिक उदविकास (Organic Evolution) के साथ साथ प्राणी की यह क्षमता भी बढ़ी है और इसी कारण प्राणिक उदविकास के साथ साथ समाज के गुण और आधारों की अभिवृद्धि भी बढ़ गई है। प्रत्येक प्राणी में समाज के आधारों की अभिवृद्धि उसी जैविक संरचना की विशेषताओं के अनुसार हुई है। कीड़ों मकोड़ों, चींटियों, मनुष्यवत् चिड़ियों वानरों और मनुष्य में पाये जाने वाले समाजों का अंतर इसका प्रमाण है। इसलिये, किंग्सले डेविस¹ (Kingsley Davis) ने यह कहा है कि समाज की उत्पत्ति प्राणिक उदविकास से न होकर, प्राणिक उदविकास के आधार पर हुई है। प्राणिक उदविकास के बहुमुखी होने के कारण ही समाज एक विचरणशील प्रमेय (Variable Phenomenon) बन गया है। लेकिन समाज की विचरणशीलता के बावजूद भी सभी प्रकार के समाजों में कुछ आधारभूत तत्व पाये जाते हैं। साहचर्य, समूह में रहने की प्रवृत्ति सामाजिक सम्बन्धों में प्रभुत्व अनुवर्तन (Dominance Submission) व्यक्तियों समूहों और व्यक्तियों तथा समूहों के बीच पाई जाने वाली प्रतियोगिता (Competition) तथा सहकारिता के प्रमेय सामूहिकरण (Grouping), सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता, यकिन में समाज के साथ तात्कालिक तथा अभिज्ञान (Identity) स्थापित करने की प्रवृत्ति, आयु (Age) लिंग (Sex), बल (Strength) तथा प्रतिष्ठा (Status) पर आधारित विभिन्न सामाजिक भूमिकाएँ (Social Roles), सामाजिक सम्बन्धों में निहित पारस्परिक प्रत्याशायें (Expectations) और सामाजिक संरचना तथा नरतय सभी समाजों में पाये जाते हैं।

प्रत्येक समाज में व्यक्ति को अपने समाज के व्यवहार कलापों को ग्रहण करना पड़ता है। सभी समाजों में व्यक्ति की सत्स्यता जन्म पर आधारित होती है

किन्तु यदा-वदा बाह्य सदस्य भी समाज में दाखिल किये जाते हैं। चाहे कोई व्यक्ति किसी समाज विशेष में जन्मा हो या बाहर से आकर सदस्यता ग्रहण की हो, दोनों अवस्थाओं में समाज और उसके सदस्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। यही से, समाज तथा व्यक्ति के बीच तादात्म्य लाने वाली प्रक्रिया में सामाजीकरण (Socialization) का अम्युदय होता है। सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसने माध्यम में व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेकर तथा समाज के व्यवहार-रूपा (Patterns of Behaviour) को ग्रहण करके और समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करके समाज में अपने लिए एक स्थान बनाता है। सामाजीकरण में अभ्यासीकरण (Habituation) अनुकरण (Imitation) और सीखने (Learning) का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। प्राणी के सामाजीकरण पर किये गये परीक्षणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि किस सीमा तक इसमें मूल प्रवृत्तियों का हाथ रहता है और किस सीमा तक सामाजिक उद्दीपन (Social Stimulation) का। उदाहरणार्थ, मुर्गी का बच्चा मुर्गी का दाना चुगते दल कर हो दाना चुगना प्रारम्भ करता है यद्यपि उसमें नाना चुगने की जैविक क्षमता पहले ही से विद्यमान रहती है। इन विषय में दो तथ्य स्पष्ट हैं—एक, जिस प्राणी की जैविक संरचना मानव की जैविक संरचना के जितना समीप है, उतना ही उसमें सीखने की अधिक क्षमता है यद्यपि आपागत प्रतीकों तथा पीढ़ी दर पीढ़ी संचित सामाजिक अनुभव के माध्यम से सीखने की क्षमता केवल मनुष्य में ही है। दूसर, जिस प्राणी की जैविक संरचना मानव की जैविक संरचना से जितना दूर है, उसके सामाजिक व्यवहार के निर्धारण में आनुवंशिक कारकों का उतना ही अधिक हाथ है।

संस्कृति के आधारों की स्पष्ट करत समय यह दिखाया गया है कि अपनी जैविक संरचना में मानव अन्य प्राणियों में भिन्न है और इसी कारण मानव-समाज भी अन्य प्राणियों के समाज से भिन्न है। यह मानव की जैविक संरचना की विशेषताओं का ही परिणाम है कि मानव में सीखने के आधार और यत्र अधिक तीव्र हो गये हैं और उसके सीखने का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। आपागत प्रतीकों और निषि के कारण मानव का सीखना अधिक गतिशील हो गया है। प्रौद्योगिकी (Technology) का निर्माण केवल मनुष्य ने ही किया है। मानव की सीखने की क्षमता तथा प्रौद्योगिकी के कारण मानव समाज में पाया जाने वाला विभेदीकरण आनुवंशिकता पर आधारित नहीं है। मनुष्य का घपने दारीर का ताप समान रखने की आवश्यकता है और इसी कारण मनुष्य गर्मी में गीतरता लाने का प्रयास करता है और गीतरता में गर्मी। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव में यौन प्रिया क्रतुओं के प्रभाव में मुक्त हो गई है। मानव में यौनिक प्रिया सतत चल्ती रहती है जिसके कारण मानव की प्रजनन-प्रणयना अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई है। अमूल विचार-क्षमता के कारण मानव में आदेश का अम्युदय हुआ है जिसके कारण मानव-

समाज, आनुवंशिक कारकों के स्थान पर, आदर्श नियम व्यवस्था (Normative Order) से अधिक प्रभावित रहता है। संक्षेप में, जैविक आनुवंशिकता (Biological Heredity) की अपेक्षा मानव व्यवहार तथा समाज सामाजिक आनुवंशिकता (Social Heredity) से अधिक प्रभावित रहते हैं। मानव समाज में सामाजिक आनुवंशिकता का पहलू का जुड़ जाना ही मानव समाज की विशेषता है। मानव की सामाजिक आनुवंशिकता में ही संस्कृति निहित है। इसी आधार पर निम्नलिखित बिंदुओं में मानव समाज का दो अंशों में वर्गीकरण किया है। एक श्रेणी में मानव समाज प्राणिज समाज आता है जिसे जैविक सामाजिक प्रणाली की संज्ञा दी गई है और दूसरी श्रेणी में मानव समाज आता है जिसे सामाजिक सांस्कृतिक प्रणाली कहा गया है।

मानव एक है पर अनेक। मानव संस्कृति भी 'अविभक्त विभक्तेषु' (एकता-अनेकता) के प्रमेय में सन्निहित है। इसी कारण, सामान्य संस्कृति (The Culture) तथा विशिष्ट संस्कृति (A Culture) में अंतर भी किया जाता है। उसी प्रकार, मानव समाज में भी एकता अनेकता का प्रमेय सन्निहित हो गया है। निम्नलिखित के अनुसार, मानव-सम्बन्धी या सम्पूर्ण ज्ञान सामान्य समाज है जबकि विशेष समाज कुछ व्यवस्था का वह समूह है जो एक विशेष प्रकार के सम्बन्धी या व्यवहार प्रकार (Modes of Behaviour) से बंधा रहता है। विशिष्ट समाज की यह धारणा इतनी परमाणुवादीय (Atomistic) प्रतीत होती है कि अततागरवा समाज तथा समूह का अंतर ही निरापेक्ष हो जाता है।

पर्यावरण भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों की भिन्नताओं ने विशिष्ट मानव समाजों का जन्म लिया है। हिमालय, अरब सागर, हिंद महासागर तथा बंगाल की खाड़ी ने उन भौगोलिक परिस्थितियों का विशिष्टता प्रदान की जिसे भारत भूमि की संज्ञा दी गई है। इन विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों में विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तथा प्रक्रियाएँ चलती रही हैं जिनसे भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। देश काल की सीमाओं से बंधन पर ही विशिष्ट अस्तित्व में आता है। अतः विशिष्ट समाज देश काल की सीमा से बंधा एक वह समाज विशेष है जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति है। पर्यावरण और भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का अतिरिक्त संस्कृति विकास के स्तर की भिन्नता, राष्ट्र धर्म तथा भाषा ने भी विशिष्ट समाज के परिपोषण में योग दिया है। इसी कारण का परिणाम है कि विशिष्ट समाज में भी विशिष्ट समाजों की उत्पत्ति होती है। भारत में हिंदू मुस्लिम और आनिवासी समाजों की विशिष्टता का उदाहरण है।

नरतय संस्कृति और समाज दोनों का विशेषता है। संस्कृति के नरतय का आधार समाज है और समाज का नरतय का आधार संस्कृति। इसी कारण, मानव स्तर पर संस्कृति तथा समाज दोनों में ऐतिहासिकता का समावेश होता है। दोनों का

अन्तिम म मान (Time) की पण्डमूमि रहती है। सम्पत्ति परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था म प्रतिबिम्बित होता है और सामाजिक परिवर्तन संस्कृति म। अतः, संस्कृति व विस्तेरण म समाज का विस्तेरण आवश्यक होता जाता है और समाज के विस्तेरण म संस्कृति का। जिसका किस सन्दर्भ म कहा तक विस्तेरण हो यह विस्तेरणकर्ता व दृष्टिकोण और आवश्यकता पर निर्भर करता है।

6

संस्कृति और सभ्यता

इतिहास और समाजशास्त्री संस्कृति (Culture) और सभ्यता (Civilization) म अन्तर करके उनका अलग अलग प्रमय मानते हैं जबकि मानवशास्त्री उनका एक ही प्रमय व दो ऐसे स्तर मानते हैं जिनम सबसे भास का अन्तर है न कि प्रकार का। 'सभ्यता' शब्द अंग्रेजी के शब्द सिविलाइजेशन (Civilization) का हिन्दी प्रमय है। शब्दकोश म सभ्यता म अर्थ लिया जाता है 'समाज या संस्कृति की प्रगति से, या प्रगति की उस दशा से जिसम कला विज्ञान और राज प्रबंध (Statecraft) का अपभारित अधिक विकास हुआ हो, या उस संस्कृति म जो वर्तमान यूरोप का लक्षण है। मानव इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि प्रौद्योगिकी और शहरीकरण व विकास के साथ-साथ विज्ञान कला, राज प्रबंध की उन्नति होती आयी है और वर्तमान यूरोप की संस्कृति उसी निरन्तर विकास का एक परिणाम है। यूरोपीय संस्कृति से उत्पन्न कुछ तत्व (जैसे शहरीकरण, प्रौद्योगिकी औद्योगिकरण, विधेयिकरण, बौद्धिकता, धर्मनिरपेक्षता, राजनैतिक तथा आर्थिक शक्तियों का माधन्य का केन्द्रीकरण और प्रभुता सम्पन्न राज्य) आज यूरोपीय संस्कृति के ही तत्व नहीं हैं—य तब सारे संसार में फैल रहे हैं और एक प्रमुख परिवर्तनकारी मकुल बन गये हैं। इसी मकुल का समाजशास्त्री सभ्यता की धारणा म बांधते हैं। सभ्यता का धनिष्ट सम्बन्ध धार्मिक म व्यापित किया जाता है। ऑलम (Oslum) ने सभ्यता के पांच आधार माने हैं—1 शहरीकरण (Urbanization) व साथ साथ विशेषीकरण (Specialization) और मकन्दन (Concentration) 2 प्रौद्योगिकी और उद्योग मध (Industrialism), 3 बौद्धिकता तथा धर्मनिरपेक्षता 4 शक्ति का केन्द्रीकरण और 5 तानाशाही राज्य (Totalitarian State)¹। इसी आधार पर यह कहा गया है कि सभ्यता संस्कृति की एक विकसित

1 ओलम, एच० डब्ल्यू०, मण्डरस्टडिंग सोमायटी अध्याय 15

ध्वम्या तथा विशदीकृत प्रौद्योगिक स्तर (Specialized Technical Level) है। विन्तु, वह विकसित अवस्था तथा विशदीकृत प्रौद्योगिक स्तर क्या है? इसका उत्तर मानवशास्त्रियों को उस परिभाषा में मिलता है जिसमें यह कहा गया है कि सम्यता साहसरी सस्कृति है।

समाजशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि सस्कृति की अपेक्षा सम्यता का अधिक यथाय मापण्ड हो सकता है। सम्यता सर्व विकासो मुख रहती है और जिना किसी प्रयास के स्थानांतरित होती रहती है। इसी दृष्टिकोण से, सम्यता की परिभाषा में यह कहा गया है कि सम्यता से तात्पर्य उस सम्पूर्ण यान (Mechanism) और संगठन से है जो मनुष्य ने अपने जीवन की दशाभा को नियन्त्रण में लाने के प्रयास में निमित्त किया है। इसमें मानव की सामाजिक संगठन प्रणाली ही नहीं बरन उसके द्वारा निमित्त प्रविधियाँ (Techniques) और भौतिक यान (Material Instruments) भी सम्मिलित हैं। सस्कृति मानव की उन कृतियाँ में बनती है जिनसे उसकी लाज्जा (Cravings) की तुष्टि होती है या जिनका मानव साध्य साधन के रूप में स्वीकार करता है। ऐसी कृतियों का सम्बन्ध आंतरिक आवश्यकताओं से होता है न कि बाह्य आवश्यकताओं से। ये कृतियाँ ग्रहण, रागात्मक सगन, बौद्धिक साहसिकता (Intellectual Adventures) और शैलियों (Styles) के क्षेत्र से सम्बंधित हैं। सस्कृति सम्यता का अपम्य (Antithesis) है। अपने जीवन यापन के प्रकार विचार, कला (Art), धर्म (Religion), प्रतिमोदन (Recreation) और आनंद विनोद (Enjoyment) के दैनिक सम्बन्ध (Daily Intercourse) में, सस्कृति मानव स्वभाव की अभि यक्ति है¹।

आडम के अनुसार, सम्यता की अपेक्षा, सस्कृति में स्थापनवर्तीकरण (Self Perpetuation) और स्थायित्व की अधिक क्षमता है। सस्कृति में, सम्यता की अपेक्षा, यह शक्ति भी अधिक अर्थाहित है जिसके द्वारा सस्कृति अपना पुनरुत्पादन (Reproduction) ही नहीं कर सकती है बरन विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उत्कृष्टित भी होती रहती है। अतः सस्कृति का सम्बन्ध जनमे है जबकि सम्यता का सम्बन्ध राज्य (State) से। सस्कृति संप्रचित समाज (Composite Society) है जिसमें अपने पुनरुत्पादन की क्षमता है और सम्यता सघटक समाज (Constituent Society) है जिसमें सीमित प्रकार के विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों की ही पूर्ति होती है। सस्कृति समाज के विकास का सर्वोच्च साधन है जबकि सम्यता, अपने में ही सीमित एक साधन है न कि किसी साध्य के लिए साधन। सस्कृति एक आधारभूत सामाजिक प्रक्रिया (A Fundamental Social Process) और सामाजिक साधन (Social Means) का प्रतीक है जबकि सम्यता प्रतीक है सामाजिक पन्थों

(Social Products) और पार्थिव प्राविधिक साधना (Material Technical Mean) की। संस्कृति प्रतीक है वृद्धि (Growth), विकास (Development) उत्पत्ति (Evolution) और अतिजीविता (Survival) का और सम्यता प्रतीक है प्रगति (Progress), मिटि (Achievement), क्रांति (Revolution) और अधोगति (Decline) की। मशीन (Machine) जनपुंज (Mass) और वर्ग (Class) सम्यता के चिह्न हैं। जन (The people) प्रजातन्त्र (Democracy), मानव चर्या (Human Striving) और वैयक्तिक तथा व्यक्तिगत (Personal Individual) संधारण (Opportunities) संस्कृति के प्रतीक हैं। संस्कृति यौवनमय (Youthful), विचारमय (Ideological) अनौपचारिक (Informal), यथार्थिक (Realistic) और मानव जाति की भावना तथा आत्मा की सार वस्तु है। सम्यता का धुंकाव बोद्धिकता मरुतन प्राविधिकता और युटोपिया (Utopia) की ओर अधिक रहता है। संस्कृति प्रतिनिधि है सामाजिक नियतवाद (Social Determinism) की जबकि सम्यता प्रतीक है प्राविधिक नियतवाद (Technical Determinism) की। संस्कृति का विकास जन जीवन के घरातल से होता है जबकि सम्यता जन जीवन पर अयारापित (Superimposed) होती है। साधारणतः संस्कृति सहवासी समुदाय और प्राथमिक समूहों के जीवन का प्रतिबिम्ब होती है जबकि सम्यता प्रतिबिम्ब हानी है नगरीय प्राप्तियाँ (Urban Attainments) औद्योगिक व्यवस्था (Industrial Order), द्वितीयक समूह (Secondary Groups), बड़े-बड़े शहरों की तरह संगठित राष्ट्र और साम्राज्य की। सामाजिक उद्विकास की सभी अवस्थाओं में साधना वाली, संस्कृति संचयी विरासत (Cumulative Heritage) है जबकि सम्यता विकसित प्रगति का एक अक्षमात्र हाती है।

साधारणतः संस्कृति और सम्यता में इस ही विभेद किये जाते हैं। इन विभेदों के आधार पर सम्यता का जा रूप निरखता है उसमें कुछ अवाछनीयता का भाव भवता है। यदि संस्कृति वाछनीय है तो सम्यता भी क्याकि संस्कृति और सम्यता दोनों ही मानव की कृतियाँ हैं। इन विभेदों के बावजूद भी, यह कहना कठिन है कि हार् सम्यता प्रारम्भ होती है और कहा संस्कृति। यदि साम्राज्य मानव संस्कृति के सम्भार विचार किया जाय तो सम्यता भी संस्कृति में लीन हो जायगी क्योंकि उस स्तर पर सभी कुछ मानव संस्कृति का अंग है। सम्यता और संस्कृति के विभेद अधिक यथार्थ तब लगते हैं जब हम संस्कृति विषय के सम्भार में मानव कृतियाँ (उनके स्वभाव और सम्भार) पर विचार करते हैं। मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही गहरीकरण प्रौद्योगिकी, बोद्धिकता इत्यादि उन विशेषताओं का जन्म हुआ चुका था जिन्हें आज

1 यहाँ तक प्रस्तुत सम्यता की धारणा के विषय अध्ययन के लिए दिये आह्वान की पुस्तक अण्डरस्टैंडिंग सोसायटी अध्याय 15

हम सभ्यता के लक्षण मानते हैं। इन लक्षणों का विकास गन्गीकरण और प्रौद्योगिकी के साथ साथ बढ़ा है। अतः यह कहना गलत है कि सभ्यता ही मनुष्यी प्रक्रिया है। सभ्यता और सस्कृति दोनों ही सचयी प्रक्रियाएँ हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभ्यता और सस्कृति में अंतर करना आवश्यक नहीं। वर्तमान संसार में यूरोप की औद्योगिक शहरी व्यवस्था फैल रही है और एक प्रमुख परिवर्तनकारी शक्ति का रूप ले रही है। आज तक के उच्चतम विकास से एक ऐसा संकुल बन गया है जिसे धारणा का सीमा में लाना आवश्यक है। शहरी प्रौद्योगिक औद्योगिक ताक और उनसे उत्पन्न सामाजिक आर्थिक विघटनताएँ इस संकुल के मुख्य आधार हैं। यही संकुल सभ्यता है जो वस्तुतः प्रतीक है मानव सस्कृति के विकास की एक अवस्था विशेष का। इसी दृष्टिकोण से यह कहना गीब होगा कि सभ्यता शहरी व्यवस्था की सस्कृति है।

५

सस्कृति के कारक तत्व

यह निर्विवाद है कि मानव की शारीरिक-मैट्रिक (जैवकीय) आवश्यकताएँ सस्कृति निर्माण में प्रथम कारक हैं। निवार करने के लिए शरीर के पास पजे हैं। शरीर रक्षा के लिए बिच्छू के पास उसका विषभरा डक है और शरीर को गर्म रखने के लिए टुण्डा प्रवेश के जानवरों के शरीर पर बाल। किन्तु मनुष्य के पास न तो शरीर के समान कोई पजा है न बिच्छू के समान कोई डक और न शरीर का गर्म रखने के लिए शरीर पर उगने वाला घने लम्बे बाल। गर्मी सर्दी से बचने के लिए मनुष्य को कपड़ा और घर की आवश्यकता है भोज्य मिटाने के लिए पशु अनाज तथा शिकार की ओर अपन बचाव के लिए अस्त्र-शस्त्रों की। सस्कृति का जन्म देने वाली शारीरिक-मैट्रिक आवश्यकताएँ मानव को शरीर संरचना से उत्पन्न होती हैं और मानव की शरीर संरचना आगिक उत्प्रेषण प्रक्रिया (Organic Evolutionary Process) की उत्पत्ति है। साथ में हाँक दाँतों पर चलने की क्षमता, चलने फिरने के भार में हाँका का मुकन हाना, हाथ और कलाई का अत्यंत सुगमता से चारों ओर घुमा सकता अंगुलियाँ और अंगुली की सहायता से वस्तुओं का पकड़ कर उनकी अनेक पद्धतियों से प्रयोग करना, दृष्टि में दो चित्रों की क्षमता (त्रिविध दृष्टि Stereo scopic Vision) अमूर्त विचार शक्ति (Abstract Thinking) तात्त्विक तथा वास्तविक कारण सम्बन्ध स्थापित कर सक्ने में सक्षम अस्तित्व और भाषा के माध्यम से गठे हुए प्रतीकों के द्वारा विचारों के अन्तर्गत प्रमाण की शक्ति के शारीरिक विघटनताएँ हैं जो मानव की प्रकृति में वर्णन के रूप में मिली हैं और जिन्होंने मानव का सस्कृति

निर्माण की क्षमता प्रदान की है। मानव मस्तिष्क, हाथ और भाषा ही वे मुख्य उपकरण हैं जिनके द्वारा संस्कृति निर्माण सम्भव हुआ। आगिक उन्विकास की प्रक्रिया ही ऐसी रही है कि एक ओर, मानव नाम के प्राणी ने उन शारीरिक उपकरणों का गठना जिनसे ज्ञेय प्रकार के प्राणी प्रकृति से सामञ्जस्य स्थापित किया करते हैं और, दूसरी ओर, उस वे शारीरिक विशेषताएँ प्राप्त हुईं जिनकी सहायता से उसने प्रकृति से सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए असादीरी (Extra Corporeal) उपकरण उत्पन्न किए। यही नहीं, भाषा को निमित्त करने की क्षमता के कारण, मानव अपने अनुभवों का परम्परागत बनाने में सफल हुआ। वायु-आरण सम्बन्ध स्थापित कर मकान की क्षमता और हाथ की सज्जना से मिल करील न यदि असादीरी उपकरणों (मकान, यातायात के साधन, कृषि, कपड़े, कला, राज्य इत्यादि) के निर्माण में सहायता की तो अमृत विचार विमर्श की क्षमता और भाषा प्रतीकों ने अनुभवों को सुरक्षित रखने और आकल्पनाओं को गढ़ने में सहायता की। यही क्षमताओं के कारण, अन्य प्राणियों के विपरीत, यदि मानव का प्रकृति के अनुकूल बनना पड़ा तो उसने प्रकृति का भी अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। यह सर्वविदित है कि यदि मनुष्य हवाओं के गम को न बदल सका तो उसने नावों में परत लगाकर यातायात में हवा का लाभ उठाया, यदि वह नदियों की प्रत्यकारी बाढ़ से न बच सका तो उसने बाध-बध कर उन पर नियन्त्रण पान का प्रयत्न किया। प्राकृतिक सन्तुलन को समाप्त कर मानव ने अपना एक अलग सन्तुलन (सांस्कृतिक सन्तुलन) स्थापित किया। संस्कृति, वस्तुतः, वह परदा है जो मानव ने अपने जीव प्रकृति के बीच खाने रखवा है^१।

६

संस्कृति ऐतिहासिक पक्ष

सर चार्ल्स डार्विन (Sir Charles Darwin) और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के अनुसार, मनुष्य और उसकी शारीरिक विशेषताएँ प्रागिन उन्विकासी प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। जीव विकास-वेत्ताओं (Palaeontologists) और भूगर्भवेत्ताओं (Geologists) के अनुसार इस पृथ्वी के वर्तमान तथा विलुप्त प्राणी उद-विकासी प्रागिन प्रक्रिया की उत्पत्ति हैं। प्राणी प्राणों की शरीर रचनाओं में पाई जाने वाले समानताएँ और पृथ्वी के गम में पाये गये लुप्त प्राणियों के काल (जीवाश्म

१ विवेक अध्ययन के लिए एडविन साइड्स द्वारा दत्त मन मेन्स हिमसेल्फ

fossil), इसके प्रमाण हैं। जीव विकास विज्ञान वेत्ताओं के अनुसार इस बात के प्रमाण अत्यन्त मिनत हैं कि आज से सक्ड़ा करोड़ों वर्ष पूर्व एक वह युग था जब एककोपी (प्रजीव Protozoa) जीव उत्पन्न हुए। इस युग को आरकियोज्वायक (Archaean प्राजावीय) युग कहा गया है। उसके बाद प्रोटिराज्वायक (Proterozoic पुराजावीय) युग में बहुकोपी (Metazoa) प्राणियों की उत्पत्ति हुयी। मानव बहु-कोपी है, अतएव उसके उत्पन्न की जड़ें इसी युग के विकास में हैं। पालियोज्वायक (Palaeozoic पुराजीवीय) युग को मछलियों का युग कहा गया है क्योंकि इस युग में रीढ़धारी (Vertebrate) प्राणियों का विकास के दौरान में मछलियों का विकास हुआ। इस युग में प्रजाति विकास काफ़ी गति में हुआ। इस युग का अंत तक उभयचरा (Amphibia मछल जन्म प्राणी जो पानी में भी रह सकते हैं और पृथ्वी पर भी) और रेंगने वाले प्राणियों का विकास हो चुका था। मेसोज्वायक (Mesozoic मध्यजीवीय) युग में रेंगने वाले प्राणियों (Reptiles सरीसृप और उरगों) का चरम विकास हुआ और यह विकास इस सीमा तक पहुँचा कि इस युग के अंत तक, इस युग में विकसित भारी भ्रूणमवाली रेप्टाइल (Reptiles) का अंत हो गया। पालियोज्वायक युग के अन्तिम अध्याय में छोटे स्तनधारी (स्तनपायी, Mammals) प्राणी अस्तित्व में आ चुके थे। मेसोज्वायक युग में प्रचण्ड, दैत्याकार भारी भ्रूणमवाली रेप्टाइल न पृथ्वी पर इतना प्रभुत्व जमा रखे थे और उनसे पृथ्वी इतनी अशांत थी कि वर्तमान स्तनपायी प्राणियों के पूर्वज छिपे स रहे और उनका विकास रका सा रहा। मेसोज्वायक युग के बाद सेनोज्वायक ¹ (Cenozoic नूतन जीवीय) युग में वर्तमान स्तनपायी प्राणियों का, जिनमें मनुष्य भी शामिल है, विकास हुआ। जीव विकास के दृष्टिकोण से सेनोज्वायक को दो युगों में बाँटा गया है—एक टर्शियरी (Tertiary) और दूसरा क्वाटनरी (Quaternary)। टर्शियरी में बड़े बड़े स्तनपायी प्राणियों (बंदरों आदि) और मानव के प्रकार के तथा स्वयं मानव को जन्म देने वाली प्राणिक शाखा का विकास हुआ। क्वाटनरी युग के प्रारम्भ होते होते, जीवाश्म का रूप में ऐसे प्राणी मिलते हैं जो वर्तमान मानव के समान नहीं हैं कि तु अपनी शरीर रचना में आकारों की अपेक्षा मानव के अधिक निकट हैं। क्वाटनरी युग का प्रारम्भ दस लाख वर्ष ईसा पूर्व हुआ था और वह वर्तमान में समाया हुआ है। इस युग के मध्य में, वर्तमान मानव का जीवाश्म (Fossils) मिलता है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि वर्तमान मानव का अस्तित्व लगभग पचास हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। प्राणिक विकास के इस संक्षिप्त विवरण से यह न समझना चाहिए कि ये युग पूर्व निर्धारित थे और किसी अदृश्य योजना के अनुसार यथा अवसर पर प्राणी विवर्धित होते गए। आगिक उद्विकास एवं जटिल प्रक्रिया है जिसमें आनुवंशिक

1 सेनोज्वायक को कैनोज्वायक (Cenozoic) भी कहा जाता है।

कता और पर्यावरण का हाथ रहा है। जीव (Organism) में निरन्तर परिवर्तन होने के कारण ही ये विकास सम्भव हुआ है और स्वयं मानव का गरीब भी भ्रमण परिवर्तन का परिणाम है। यह विकास और परिवर्तन क्या हुआ ? मानव इस पृथ्वी पर क्या विकसित हुआ ? इन प्रश्नों का शास्त्रीय स्पष्टीकरण तो सम्भव हुआ है किन्तु, इस विकास का क्या उद्देश्य है इस प्रश्न के प्रश्नांक उत्तर न दिए जा सकें हैं और न दिए जा सकते हैं क्योंकि ऐसे प्रश्नों का मूल दर्शन में है न कि समाजशास्त्र में। हाँ, यह अवश्य है यदि मानव का गलत होने विकास हुआ है यदि मानव का भी आदि है तो मानव द्वारा निर्मित संस्कृति का भी अन्विकार है और उसका भी अपनी विकास कहना है¹।

मिथ्यात इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संस्कृति का आदि और उसका विकास वय नहीं है। उनोसथा दाताली के प्रारम्भ और मध्य में मानव-शास्त्रियों ने जहाँ, एक ओर, मानव के आंगिक और सांस्कृतिक विकास की गुत्थियाँ को सुलझाया वहीं, दूसरी ओर, आदिवालीन संस्कृति की खोज के व्युत्पन्न में भी भटक गए। इसी प्रयास में सांस्कृतिक उदविकासवाद (Cultural Evolutionism) की धारणा का जन्म हुआ और इस धारणा के प्रतिष्ठापोषका ने यह प्रतिपादित किया कि इतिहास की गति प्रगति की ओर है। दूसरी ओर, इसाड्यत से प्रभावित इतिहासकारा न यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मानव पतन की ओर जा रहा है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण से ये दोनों मत गलत हैं क्योंकि इतिहास हमें नहीं बता सकता है कि मानव प्रगति की ओर है या पतन की ओर। प्रगति क्या है ? इस प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर ही कठिन है। तथ्या का निरीक्षण और वर्गीकरण करके तथा उनमें निहित काय कारण के सम्बन्धों के आधार पर विकास प्रक्रिया का प्रतिपादित करके ही शास्त्र भूत और वर्तमान का एक झूझला में जाड़ने वाली कहिया का स्पष्ट कर सकता है। संस्कृति उदविकास एक निरन्तर संचयी प्रक्रिया है और परिवर्तनों के रूप में, एक ऐतिहासिक तथ्य है किन्तु, दुर्भाग्यवश, इतिहासकारा न, इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के बजाय, या तो उसमें उद्देश्य पूर्व निर्धारित गति और दिशा दूढ़ने का प्रयत्न किया है या उसमें अपनी कोई पूर्व निर्धारित मायता या उससे किसी भावी कायधर्म का उचित ठहरान का प्रयत्न किया है। हेरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) और लूस मॉर्गन (Lus Morgan) ने यह प्रतिपादित किया कि सभी मानव समाज और संस्कृतियाँ प्रगति की ओर जा रही हैं और प्रगति की चरम सीमा है याराव अमरीकी समाज का स्तर। इसी विचारधारा ने प्रभाव में, इंग्लैंड के इतिहासकारा न विवटा-

1 विनोद अय्ययन के लिए उद्धरण — 1 सहानी एम० आर० मन इन इवोल्यूशन, 2 हावेल्स, विलियम मनकाइण्ड सो फार 3 ब्रूस स्पेन्सर आन फाइदिंग दि मिमिग मिक

रिया के रायकाल का स्वर्णिम युग कहा। मानव ने इतिहास व ही माध्यम से यह मिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ऐतिहासिक प्रक्रिया ससार का साम्यवाद की ओर लिए जा रही है और सम्भवतः इसी कारण प्रत्येक साम्यवादी, जाति की कामना करता हुआ जाति के लिए प्रयत्न करता है क्योंकि उसके विचार से इतिहास का यही प्रारम्भ है कि जाति के द्वारा पूजावान् नष्ट हो और साम्यवाद की स्थापना हो। इतिहास इतिहास है—एक निरंतर विकास नम। चाहे हम उसे एक वैज्ञानिक की भाँति निष्पन्न और तटस्थ होकर देखें या अपनी आँखों पर किसी विचारधारा विशेष का रंगीन चदमा लगाकर।

जाज मन्त्र सवमा य है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया में सांस्कृतिक उद्विकास निहित रहता है किन्तु उसके पीछे न तो कोई पूर्वनिर्धारित उद्देश्य है न कोई गति विधाय और न उसका कोई निश्चित गंतव्य। सांस्कृतिक उद्विकास एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सचचा परिवर्तन और विकास को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि भूत और वर्तमान को मिलाने वाली मुख्य कड़ियाँ, अपना अस्तित्व बनाए रखते हुए ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्तमान में आती हैं। एक स्थिति दूसरे को जन्म देती है और दूसरी तीसरी को—एक सोपान दूसरे तक पहुँचने में सहायता करता है और दूसरा तीसरा तक। अपने में कुछ मुख्य आधारों को समेटे हुए विकास प्रक्रिया इस प्रकार चलती रहती है कि उद्विकास अस्तित्व में आता है। मानव के लिए उद्विकास की कल्पना सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मानव क्योंकि प्रत्येक काल और स्थान में मानव न भूत और वर्तमान के बीच कारण सम्बन्ध का स्थापित करके उन्हें समझने का प्रयत्न किया है। सृष्टि रचना की कथाय इसका प्रमाण हैं। आधुनिक शास्त्रीय मान्यताओं के कारण उद्विकास का तटस्थ और शास्त्रीय अध्ययन पहले की अपेक्षा अधिक सम्भव है। सम्भवतः इसी कारण यदि एक ओर सांस्कृतिक उद्विकास की पुरानी धारणा की तीव्र जाँचोचना करके उसे अशास्त्रीय कहा गया है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक उद्विकास को एक ऐतिहासिक तथ्य मानकर उसके वास्तविक स्वरूप और चारों ओर के समझने का प्रयत्न किया गया है। जूलियन स्टीवार्ड (Julian Steward) ग्राडन चाइल्ड (Gordon Childe) और लैसली व्हाइट (Leslie White) सांस्कृतिक उद्विकास में वर्तमान समीक्षकों में हैं।

प्राचीन उद्विकासवाधियाँ ने यह प्रतिपादित किया था कि उद्विकास की जिम्मा कुछ अवस्थाओं (Stages) से होकर गुजरती है और इस से दम में मारगन (Morgan) द्वारा प्रतिपादित जगतीपन (Savagery), बबरता (Barbarian) और सभ्यता (Civilization) की अवस्थाओं समाजशास्त्रीय और मानसवादी साहित्य में काफी प्रसिद्ध हैं। ग्राडन चाइल्ड ने अपने निबन्धन में मार्गन की उद्विकास विषयक धारणा का परित्याग किया है किन्तु उसके द्वारा निर्धारित अवस्थाओं की

नामावली का प्रयोग किया है। चाइल्ड के अनुसार जंगलीपन, घोरता और सम्पत्ता आर्थिक विकास की तीन प्रधान अवस्थाओं की शक्त हैं। जिन प्रकार आधुनिक ज्ञानि न आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तनों का जन्म दिया, उसी प्रकार, प्रत्येक अवस्था का आर्थिक संगठन ने तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन का जन्म दिया। जंगली अवस्था शक्ति है उस सामाजिक-आर्थिक संगठन की जिसमें मनुष्य कदमूल और आखट पर जीवन बसर करता था, शररता उस अवस्था की जब मानव ने कृषि का आविष्कार किया और जानवर पालना आरम्भ किया और सम्पत्ता उस अवस्था की जब मनुष्य ने ताँबा, काँसा और लोहा जस धातुओं का प्रयोग करना सीखा^१। लम्बे ह्राइट न भी इसी विकास नामावली का प्रयोग किया है किन्तु उनकी मायता में प्रत्येक नाम प्रतीक है उस अवस्था का जब मनुष्य एक विशेष प्रकार की शक्ति का प्रयोग करता था। जंगलीपन में मानव ने अपनी शारीरिक शक्ति का नियन्त्रित किया बबर अवस्था में कृषि और जानवरों की शक्ति का और सम्पत्ता में धातुओं का प्रयोग से उत्पन्न शक्ति की। ह्राइट का अनुसार, इन शक्तियों पर नियन्त्रण और उनका प्रयोग संस्कृति के उद्धार और परिवर्तन का मुख्य कारण है। स्टीवाड के अनुसार उद्धार निहित है उन सांस्कृतिक नियमितताओं (Cultural Regularities) में जो सभी संस्कृतियों में अवतरित होती रही हैं। ये नियमितताएँ पाँच हैं जिन्हें स्टीवाड ने अवस्थाओं में कह कर युग कहा है^२। सांस्कृतिक उद्धार के निवर्तन की इन स्वरूपों में यह स्पष्ट है कि संस्कृति कुछ अवस्थाओं से होकर गुजरी है और किसी भी संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन में विकास की अवस्थाओं का निर्धारण आवश्यक सा है। भारतीय संस्कृति के समान, जिन संस्कृतियों का लिखित प्रमबद्ध इतिहास मिलता है, उनका विकास की कहानी, ऐतिहासिक अवस्थाओं की पृष्ठभूमि में अधिक स्पष्ट हो जाती है।

योरप की परम्परा में इतिहास की अधिकतर काल क्रम विज्ञान (Chronology) के ही रूप में देखा गया है जिसके कारण वही इतिहास मुख्यतः राजघरानों के उत्थान और पतन की कहानी माना गया है। राजघरानों के उत्थान-पतन केवल घटनाएँ हैं जो ऐतिहासिक प्रक्रिया की जन्म देने वाली कुछ विनिर्दिष्ट शक्तियों पर निर्भर करती हैं। इंग्लैंड में और रोम के राजघरानों का पतन वहाँ की राज्य शक्ति के कारण हुआ और ये शक्तियाँ परिणाम हैं इन देशों में फैले चाली विचारधाराओं की जननी वहाँ की ऐतिहासिक परिस्थितियों की। इसी कारण, यह

१ चाइल्ड का० डाउन १ मन मोक्ष हिमसेल्फ, २ ह्राइट हैपेड इन हिस्ट्री,

३ सोशल इवोल्यूशन

४ मोरिस एण्ड ह्यूबेनर एन इन्टरनैशनल इन्वेंस्टिगेशन

कहा गया है कि इतिहास की वास्तविक विषयवस्तु है अर्थात् (Values), परम्पराय (Tradition) और सांस्कृतिक (Myths) का अनक प्रकार में मानव जीवन और व्यवहार का प्रभावित करती हुई इतिहास की गति और दिशा का भी प्रभावित करती है। अर्थात्, परम्पराय और सांस्कृतिक युग युग तक चलती रहती है और इसीलिए वर्तमान की समस्याओं तथा गुणियों को गुल्लान और समझने के लिये इनका इतिहासिक स्पष्टीकरण आवश्यक है। इतिहास वास्तव में, समाज के व्यावहारिक पक्ष का मनोविज्ञान और दर्शन है जिसके अध्ययन का वास्तविक विषय है युग युग में विरसित होने वाले संस्कृति के गुण (Qualities) और कलापी (Patterns) की उत्पत्ति विकास परिवर्तन और उनकी कार्यात्मक प्रक्रिया (Functional Process)। इसी दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को इतिहास का दर्शन कहा गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से घटनाय नहीं बरन घटनाओं को ज में दन वाला प्रक्रिया और शक्तियाँ महत्वपूर्ण है। भारत जिस देश में, जहाँ सांस्कृतिक विकास का प्रमिष्ठ इतिहास विद्यमान है और जहाँ नाना प्रकार के मानव समूह अलग अलग रहते हुये भी एक तार में गुथते रहे हैं, इतिहास का केवल राजनैतिक या आर्थिक निवचन एकांगी है। भारतीय संस्कृति का इतिहास साधारणतः मानव-महात्मा (Human Values), दर्शन, धर्मों, कलाओं, सामूहिक जीवन यापन के प्रकारों और अनेकता में एकता स्थापित करने वाली विचारधाराओं के सतत विकास का इतिहास है¹।

परम्परागत इतिहास की एक अन्य कमजोरी भी है। यह परम्परा का ही प्रभाव है कि इतिहास का अध्ययन धर्म वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ से मानव संस्कृति या संस्कृतियों का लिखित विवरण प्राप्त होता है। किन्तु लिपि और लेखन कला का इतिहास पाँच हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। यह सबविदित है कि भारत में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में लिपि के प्रमाण पाये गये हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति का काल तीन हजार वर्ष ईसवी पूर्व के लगभग आता है। किन्तु मानव का अस्तित्व उससे कहीं अधिक प्राचीन है। आर्यों के आगमन में जिन परम्पराओं अथवा विचारों का आभास मिलता है वे लेखबद्ध होने के बहुत पहले अस्तित्व में आ चुकी होंगी। अतएव संस्कृति के विकास का पूर्णरूपेण समझने के लिये ऐतिहासिक धर्म और अध्ययन रीति को अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता है और वह तभी हो सकता है जब इतिहास और प्रागैतिहास का समन्वय किया जाय। फ्रांज़ चाण्ट्स के मतानुसार प्रागैतिहास इतिहास का युगा पीछे भूतकाल में ल जाकर, अधिक व्यापक और वास्तविक बना देता है। आतिरकार, वर्तमान संस्कृति के मुख्य उपकरणों (हथि, अग्नि, धानुआ का प्रयोग, चक्र (पहिया) और

नैमन कंग) का अधपण और विकास प्रागैतिहासिक काल में ही हुआ है।

प्रागैतिहास का अध्ययन स्वतः पूर्ण नहीं है क्योंकि प्रागैतिहासिक अध्ययन भूगर्भाध्य (Geology) जीव विकास विज्ञान (Palaeontology) और पुरातत्व-शास्त्र (Archaeology) के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है यद्यपि इस अध्ययन में पुरातत्वशास्त्र का ही प्रमुख योग्य रहता है। जिस प्रकार इतिहासकार लिखित अभिलेखा के माध्यम से मानव सभ्यता का निवचन करता है उसी प्रकार पुरातत्व-वेत्ता उन पुरातत्वा के माध्यम से जो मानव में सम्मिलित रह चुके हैं या जिन पर मानव के निर्माण कोणों की जड़ें छाप रखी हैं मानव सभ्यता के उद्गम, विकास और प्रसरण का समझने का प्रयत्न करता है। मानव द्वारा निर्मित भवन वस्तुएं प्रस्तरी-कृत अवशेष अपने प्रागैतिहासिक रूप में पथ्वी के गम में पायी गयी हैं जिन्हें पुरातत्व-वेत्ताओं के पावड़ा में खोज निकाला है और जिनके द्वारा मानव के प्रागैतिहासिक अभिलेख पर काफी प्रकाश पड़ा है। यह न तो मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएं प्रस्तरीकृत हुई हैं और न काल के गान में ही जान से बचा है। वास्तव में, मानव द्वारा निर्मित सभ्यता के पार्थिव स्वरूप ही पथ्वी के गम में पड़े रह पाये हैं जिनका एक नमूना अब ही हमारे सामने आ पाया है। पार्थिव के द्वारा पुरातत्व-वेत्ता अपार्थिव का भी समझने का प्रयत्न करता है और एक बड़ी मामला तक, उसमें सफलता भी मिलती है। वर्तमान समय में भी, मन-यन्त्र के साथ उगरी प्रिय वस्तु लपका दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुओं को दफनाने या जलाने की प्रथा है और यह प्रथा आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास पर आधारित है। अतएव, यदि कहीं ऐसी जगह मिले जिसमें गड़े हुए गव को दैनिक अप्रहार की वस्तुओं के साथ दफनाया गया हो तो पुरातत्ववेत्ता की यह धारणा गलत न होगी कि जिन लोगों ने उस शव को दफनाया था उनका आत्मा और पारलौकिक जीवन में विश्वास रहा होगा।

७

मानव-सभ्यता के चार अध्याय

प्राचीन मध्य एशिया भारत, इण्डोनेशिया, चीन और अफ्रीका में पाये गये पुरातत्वा और मानवीय जीवाश्मा (Humanoid Fossils) के आधार पर, प्रागैतिहास के विद्वानों ने मानव-सभ्यता के उद्गम और विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह कहना ही पड़ता है कि जीव विकास विज्ञान-वेत्ताओं के द्वारा प्रतिपादित सेनावादक (Cenozoic) युग के टिसियरी और क्रायोनरी नामक

दो भागों में बाँटा जाता है। टर्शियरी की अवधि लगभग छह करोड़ वर्ष ईसवी पूर्व से लेकर मत्तरी लाख वर्ष ईसवी पूर्व तक मानी जाती है और क्वाटनरी लगभग दस लाख वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होकर वर्तमान में समा जाता है। टर्शियरी महत्त्वपूर्ण भूगर्भीय उथल-पुथल का समय माना जाता है। इसी युग में पर्वतराज हिमालय का जन्म हुआ और भारत कहा जाने वाला भूभाग अस्तित्व में आया। इसी काल में बड़े बड़े स्तनपायी जानवरों का उद्विकास हुआ। पृथ्वी के परतों का अध्ययन करके भूगर्भशास्त्रियों ने टर्शियरी को चार कालों में बाँटा है—इयोसीन (Eocene) ओलिगोसीन (Oligocene), मायोसीन (Miocene) और प्लायोसीन (Pliocene)। टर्शियरी के प्रारम्भ में नील नदी की घाटी में कुछ ऐम जीवाश्म मिले हैं जो इस बात का प्रतीक हैं कि इस काल में बन्दर (Monkeys) और बानरों (Apes) का अलग-अलग विकास हो चुका था क्योंकि टर्शियरी के मध्यकाल (मायोसीन Miocene) से मिलने वाले जीवाश्म बानरों के प्रकार के हाते हुये भी उनमें भिन्न हैं। अफ्रीका भारत और इण्डोनेशिया से प्राप्त, मध्य टर्शियरी के जीवाश्म शरीर रचना के दृष्टिकोण से बानरों से भिन्न हैं और मानव के अधिक समीप हैं। इसी कारण, यह मत निर्धारित किया गया है कि मानव को जन्म देने वाली विकास शाखा का उद्गम मध्य-टर्शियरी में है और मानव का विकास अफ्रीका तथा योरोप से लेकर एशिया तक फैल चुका है। मानव और बानरों की विकास शाखाओं को मिलाने वाली कड़ी का क्या रूप या इसका निश्चय न हो सका है और न हो सकेगा क्योंकि उद्विकास एक सतत परिवर्तनकारी प्रक्रिया है¹। क्वाटनरी में मानव और मानव प्रकार के जीवाश्म भी मिलते हैं और सस्कृति के पार्थिव उपकरण भी। यही वह काल है जिसमें मानव और सस्कृति का विकास हुआ। भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार क्वाटनरी को दो कालों में विभक्त किया जाता है—प्लस्टोसीन (Pleistocene) और हालोसीन (Holocene)। प्लस्टोसीन में वर्तमान मानव के जीवाश्म नहीं मिलते हैं। यह अवश्य है कि प्लस्टोसीन से जितने भी जीवाश्म मिले हैं वे शरीर रचना में, टर्शियरी के जीवाश्मों की अपेक्षा, वर्तमान मानव के अधिकतम समीप हैं और जिनके ये जीवाश्म हैं वे वर्तमान मानव के पूर्वजों के रूप में मानव सस्कृति के प्रादि निर्माता हैं।

अभी तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि मानव सस्कृति के उत्पन्न और विकास के रहस्य प्लस्टोसीन में ही निहित हैं। प्लस्टोसीन हिम युग का भी काल है क्योंकि इस काल में पृथ्वी का उत्तरी गोलार्ध

-
- 1 विविध अध्ययन के लिये 1 हट्टन, ई० ए० अप फ्रॉम दि एप,
 2 हावार्ड मिलिंग्स मन काइण्ड सो फार, 3 ब्रूम, राउट मान फार्डिंग
 दि मिनिंग लिंक

चार बार हिमाच्छादित हुआ। दा हिम युग व बीच व उष्णकाल का अंतर्हिमयुग (Interglacial Period) कहते हैं। आज तक चार हिम युग हुये हैं और चार अंतर्हिमयुग। आज चौथे अंतर्हिमयुग में रहने लगे क्या हम पाँचवें हिमयुग की ओर बढ़ रहे हैं? सम्भवतः हाँ। कुछ भी हाँ पश्ची व रणमच पर हिमयुग के उतार चढ़ाव व उठने गिरने परदे रहे हैं जिनके आधुनिक मानव और संस्कृति के विकास का नाटक चलता रहा है। प्रथम अंतर्हिमयुग में लेकर द्वितीय अंतर्हिमयुग तक योरोप अफ्रीका, इण्डोनेशिया और चीन में प्रस्तरीकृत मानव काला व बड़ अवशेष मिले हैं जिनमें जावा और चीन व अवशेष प्रमुख हैं। जिन प्राणियों के ये अवशेष हैं व मानवी विकास दिशा में काफी बढ़ गये थे किन्तु फिर भी वर्तमान मानव का रूप नहीं प्राप्त कर सके थे। इन्हें जमंग जावा मानव (Java Man) और चीनी मानव (China Man) की मनाये दी गयी है। जावा मानव को उस मानवी प्रकार का मानव (Ape) कहा गया है जो सम्भवतः बड़ा होकर चलता होगा। जावा मानव ने साथ मिले संस्कृति के अवशेष नगण्य हैं। चीनी-मानव को जावा मानव की ही श्रेणी में रखा जाता है यद्यपि उसकी शरीर रचना मानवी शिष्टा में अधिक प्रगति कर गयी थी और जहाँ पर उसके अवशेष पाये गये हैं वहाँ संस्कृति के निश्चित पार्थिव प्रमाण भी पाये गये हैं। शरीर में ये प्राणी दैत्याकार रहे होंगे।

तीसरे अंतर्हिमयुग से लेकर चौथे हिमयुग के मध्य और उत्तरार्द्ध तक, योरोप उत्तरी अफ्रीका और फिलिस्तीन तक एक विशेष प्रकार की विकास गाला के मकड़ा नर-काल मिले हैं जिनके शरीर प्ररूप को नियन्त्रण (Neanderthal) की मना दी गयी है। चौथे हिमयुग का मध्यकाल नियन्त्रण मानव और उसकी संस्कृति का चरमावस्था था क्योंकि चौथे हिमयुग के समाप्त हात-हात नियन्त्रण मानव और उसकी संस्कृति दोनों योरोप में लुप्त हो गये। भारी गिर सर्वांग मरणा अग्न की भार निक्षेपी हुयी भौंहा की हड्डी भारी जवला, सर्वांग मांसल गदन के कारण ऊपर की ओर उठा हुआ सा मुख, गाल लम्बी छाया, घुटना तक लम्बे हाथ और खड़े होने पर नाग की ओर मुक मुक सा पड़ता हुआ शरीर यही नियन्त्रण की मुख्य शारीरिक विशेषताएँ हैं। चौथे हिमयुग व बाद, जहाँ एक ओर नियन्त्रण की समाप्ति होती है वहाँ, दूसरी ओर वर्तमान मानव का प्रसार होता है। जावा-मानव, चीनी मानव और नियन्त्रण व विकास गालाएँ हैं ना उसी तब में से पटो हैं जिनमें से वर्तमान मानव की गाला निकली है। इनके लिये न तो मानव का गना का हो प्रमाण दिया जाता है और न इन्हें वर्तमान मानव का पूर्वज ही माना जाता है। सभी विकास-गालाओं से एक तथ्य स्पष्ट हो उठता है और वह यह कि विकास प्रम में यदि, एक ओर, मानव व हाथ चलने के भार में मुक्त होना गये हों, दूसरी ओर, मानव मस्तिष्क बढ़ना गया जिसके कारण मानव संस्कृति का उत्तरात्तर विकास सम्भव हुआ।

पथ्वी में से खोद निकाले गये पुरावणपो के आधार पर प्रागैतिहासज्ञान ने मानव सस्कृति व चार प्रागैतिहासिक सोपान निधारित किये हैं जिनके नाम हैं प्राचीन प्रस्तरयुग (Palaeolithio) नव प्रस्तरयुग (Neolithio), कांस्य युग (Bronze Age) और लोह युग (Iron Age)। वर्तमान युग लौह युग है और इसका प्रारम्भ उस समय से होता है जब से मनुष्य ने लोह का प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रस्तरयुग में मानव पत्थर व औजारों का प्रयोग करता था और कांस्य युग में कांस के। कुछ ऐसे भाग्यशाली और कोनो पर योग्य थोड़ा तराश हुये पत्थर मिलते हैं जिनको देखकर यह प्रतीति होता है कि उस वे मासकृतिक उदयकाल के हो। अंग्रेजी में इसे इमोलिथ (Eoliths) उन्मयकालीन प्रस्तर) की संज्ञा दी गयी है। किन्तु यह सन्देहास्पद है कि इन पत्थरों का मानव ने हो गढ़ा है। अधिकतर सम्भावना इसी बात की है कि कांस्य उन्मयकालीन प्रस्तर) को प्राकृतिक शक्तियाँ न गढ़ा हो और मानव ने उनका प्रयोग किया हो। इसमें कोई शक नहीं कि मानव ने पत्थरों के औजारों को गढ़ने के पहले पत्थरों का औजारों की भाँति प्रयोग करना सीखा होगा।

प्राचीन प्रस्तरयुगीन औजारों के प्रति पुरातत्ववेत्ता निश्चित है कि वे मानव द्वारा ही गढ़ गये हैं। प्राचीन प्रस्तरयुग का प्रारम्भ प्लस्टासीन के साथ प्राचीन साथ होता है। प्राचीन प्रस्तरयुग मानव-सस्कृति के इतिहास प्रस्तर युग में एक लम्बा विकास काल है जिसमें यदि एक ओर, माट और भट्टे पत्थर के औजार मिलते हैं तो, दूसरी ओर, उससे अतः, छोट और बारीकी से गढ़े हुये औजार मिलते हैं।

यूरोप से प्राप्त पुरावणपो के आधार पर प्रागैतिहासज्ञान ने प्राचीन प्रस्तर-युग को तीन कालों में बाँटा है—प्रारम्भिक (Lower), मध्य (Middle) और अंतिम (Upper)। प्रारम्भिक प्राचीन प्रस्तरयुग (Lower Palaeolithio) में ऐसे औजार मिलते हैं जिन्हें एक बड़े पत्थर को गढ़कर बनाया गया है। हाथ में पकड़कर प्रहार करना इन औजारों का मुख्य प्रयोग प्रतीत होता है। प्रयोग के दृष्टिकोण से, इन्हें मुट्टिका कुन्हाडिया (Hand Axes) कहा जाता है। चौथे हिमयुग में निधडरघल मानव के प्रस्तरयुगीन कालों के साथ-साथ ऐसे औजार पाये गये हैं जिन्हें किसी बड़े पत्थर में से, चाट लगाकर निकाली हुयी चिप्पियाँ (Flakes) से गढ़ा गया है। औजारों के गढ़ने की कला के आधार पर प्रथम प्रकार के औजारों का कोरटूल (Core Tool आंतरिक औजार) और दूसरे प्रकार के फ्लेक टूल (Flake Tool पथुक औजार) कहा गया है। यूरोप में प्रारम्भिक प्रस्तर युग में आंतरिक औजारों की प्रधानता है और मध्य प्रस्तर युग में पथुक औजारों की। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन प्रस्तरयुग व मध्य में आंतरिक औजारों का प्रयोग ही समाप्त हो गया था। वास्तव में मध्य प्रस्तरयुग में दोनों प्रकार के औजार पाये जाते हैं पर पथुक औजारों की बाहुल्यता के साथ। काटने, छीलने और छेद करने के लिये पथुक औजारों का प्रयोग

किया जाता रहा होगा। प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम भाग में पत्थर और हड्डी दोनों प्रकार के औजार मिलते हैं। इन औजारों का आकार छोटा होने के साथ-साथ लम्बा और नुकीला हो गया है। ये औजार वस्तुतः उस प्रकार के हैं जैसे तीर के छोर पर लगन वाला शल्म (Arrow Head) या दोधारी चाकू का फल। इस काल में पाये गये पत्थर के शल्मों के ही आधार पर यह अनुमान किया गया है कि इस काल में धनुष का प्रयोग आ गया होगा। इस काल में ही पथक औजारों की वाहुल्यता है और इनके गढ़ने की कारीगरी पहले की अपेक्षा अधिक विकसित है क्योंकि, इन्हें प्रयोगानुसृत बनाने के साथ, इन्हें सुन्दर और आकर्षक बनाने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन प्रस्तर युग के अन्तिम काल में पाये गये हड्डी के औजार नक्काशी के द्वारा काफी अलंकृत किये गये हैं। इस युग के अन्त तक औजारों का गढ़ने के लिये भी औजार बनने लगे थे।

इस युग के अथ पार्थिव अवशेषों में अपार्थिव जीवन की भावना मिलती है। जसा कि चीनी मानव के खोदाई स्थला में स्पष्ट है, प्राचीन प्रस्तर-युग के मध्यकाल तक, मानव को भ्रम का प्रमाण प्राप्त हो गया था जिससे आगे चलकर कानों और लोहों के प्रयोग में उस सफलता मिली। उसी स्थल में धरात चीन की चाऊ-चाऊ टिन नामक बंदरा में मानव लापडियाँ बीच से इस प्रकार साड़ी मिली है कि माना उन्हें तोड़कर भोजन निकाला गया हो। यही नहीं साथ ही साथ चिचोरी हुई हड्डियाँ भी मिली हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः चीनी मानव नरभक्षक था ?

नियन्डरथल का कालाधीन मनुष्य नियन्डरथल के सामूहिक जीवन का प्रतीक है। नियन्डरथल की निवास गुफाओं में, शवों के साथ दफनाये गये पत्थरों के औजारों से, नियन्डरथल के पारमैत्रिक तथा आत्मा सम्बन्धी विश्वासों का प्रमाण मिलता है। प्राचीन प्रस्तरयुग के अन्तिम काल में जहाँ, एक ओर, शवों के साथ-साथ खाद्य-आम्रणी और आभूषण दफनाये हुए मिलते हैं वहीं दूसरी ओर, इन शवों की हड्डियाँ भी रंगी हुई पायी गयी हैं। प्रागतिहासज्ञों की ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार की अत्यन्त प्रिया में जादुयी विश्वास समाये हैं। इस युग की कला यन्त्र, एक ओर, सौन्दर्योत्पादन के लिये है तो, दूसरी ओर, जादुयी विचारों से प्रभावित। हाथी दाँत या मिट्टी की बनी छोटी-छोटी नारी मूर्तियाँ, जिनके यौनिक भाग अत्यन्त बढ़ाये गये हैं, इस काल का प्रतीक है कि सत्तानवदन के लिये इस काल में किता न किसी प्रकार की निषेधन पूजापद्धति (Fertility Cult) रही होगी। फल और स्पर्श की अंधकार-मयी गुफाओं में, मत जानकर और शिकार के बिना इसलिये बनाये जाने से ताकि बाहर भी शिकार बहुतायत से प्राप्त हो। यह प्रमाण कुछ ऐसा है जसा कि उस जादुया अनुष्ठान में पाया जाता है जिसमें, जिस व्यक्ति को डाने या टटने से मारना

हाना है, उसके गाजर या जाट व पुनः की नकली हत्या करत हैं¹। कला के इस प्रयोग के पात्र बड़े भावना हैं जिसमें जादू और धर्म की उत्पत्ति हुयी है। कुछ भी हो इस युग की वन अधिभर साहस्य थी। इस काल के समाज में जादुयी अनुष्ठानों को सम्मान करने वाला का प्रधानता प्राप्त हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त, पत्थर, हड्डी, हाथी दात कीड़ी और गन्ध के अभूषणों का प्रचार था। चाइड के अनुसार, इस काल में व्यापार के ब्यष्ट प्रमाण मिले हैं।

प्राचीन और नवप्रस्तरयुगों के बीच में सत्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) माना गया है जो एक जोर प्राचीन प्रस्तरयुग का समाप्त होता हुआ नव प्रस्तरयुग प्रसार है और दूसरी जोर नवप्रस्तरयुग का नवोदित काल।

इस युग की अवधि प्रस्तरयुग की अवस्था बहुत ही कम है। योरोप में, जलवायु परिवर्तन के कारण बर्फीली परिस्थितियाँ समाप्त हो गयी और वर्तमान परिस्थितियाँ आई। बड़े-बड़े जानवरों के स्थान पर, मछली पानी में रहने वाली चिड़ियाँ और खरगाहों का मानव जीवन के मुख्य आधार रह गया। प्राचीन प्रस्तरयुग की कला समाप्त हो गयी किन्तु जादुयी विचार बने रहे। पत्थर के औजार इतने छोटे बनाए जाने लगे कि उनका आकार एक या आधा इंच के लगभग रह गया। कई औजारों को एक साथ एक लाइन में लगाकर चाकू, आरी, हुसिया या गन्ध की भाँति प्रयोग किया जाने लगा। जंगल की वृद्धि ने कुल्हाड़ियों की आवश्यकता को जन्म दिया, जिनका निर्माण इस काल के अन्त में होने लगा था। कुल्हाड़ियाँ जातरक (Core) भी थी और पथुक (Flake) भी। उनका हाथ से भी प्रयोग होता था और हैंडल (Handle) लगा कर भी। प्राचीन प्रस्तरयुग में घिसकर और पालिश करके हड्डियों के औजार बनाने की जा कला मानव ने सीखी थी, उसका प्रयोग इस युग में पत्थर के औजार बनाने पर किया जाना लगा। कुत्ता सबसे पहला जानवर है जिसे मनुष्य ने इसी युग में पालना शुरू किया। मिट्टी के बर्तनों और धनुष का प्रयोग भी इस काल में मिलता है।

प्राचीन प्रस्तरयुग और सत्रमणकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic Period)

- 1 धर्म (Religion) और जादू (Magic) समाजशास्त्रोप दृष्टिकोण से एक ही वर्णों में आते हैं। दोनों दली गति में विश्वास और उसके सम्बन्धित क्रियाओं में निहित हैं। दोनों की उत्पत्ति वन होती है जहाँ मानव मानसिक असुरक्षा (Emotional Insecurity) का अनुभव करता है और उसे दूर करने में असहायता का अनुभव करता है। जादुयी विश्वास और क्रियाओं में मनुष्य दली गति पर नियंत्रण पाकर उसके द्वारा मनोवाछित फल पाने का प्रयत्न करता है जबकि धर्म में मनुष्य देवी गति से मनोवाछित फल पाने की प्रायना करता है। प्रायना धर्म का प्रतीक है और जत्र मंत्र जादू का।

की संस्कृति खाद्य सामग्री एकत्र करने वाली (Foodgathering) अथवा व्यवस्था पर आधारित है। वकि नवप्रस्तरयुगीन संस्कृति कपि पर आधारित आर्थिक व्यवस्था पर। पशुपालन, कपि और खालू या पथर से घिस कर बनाए हुए उपकरण बड़े स्तर के पथर के औजार, नवप्रस्तरयुग की मुख्य विशेषताय है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जलवायु परिवर्तन के कारण बर्फों की परिस्थितियाँ के स्थान पर, घन जंगल का विकास हुआ जिससे लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ों की आवश्यकता का जन्म हुआ। सत्रमणकालीन प्रस्तर युग में हाँ प्रसिद्ध बनायी हुयी कुल्हाड़ियों का बनना प्रारम्भ हो गया था कि तु नवप्रस्तरयुग में उनकी निम्न कला का चरम विकास हुआ। इन पथर की कुल्हाड़ियों के एक किनारे धाँवा बीच में हैंडिल लगाया जाता था और उनमें बड़-बड़े पड़ गिराए जा सकते थे।

पशुपालन और कृषि का आविष्कार मानव संस्कृति के इतिहास में एक शक्तिशाली कदम है और इन आविष्कारों के कारण इस युग का वही महत्व है जो औद्योगिक शक्तिवान वर्तमान युग का। कपि के आविष्कार का श्रेय नारियाँ का दिया जाता है क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है, कि जंगल के किनारे पर, शिकार के लिए गए हुए पुरुषों की प्रतीक्षा करते हुए अवकाश के क्षणों में नारियाँ न ही बीजा का भूमि पर गिरने और उगते देखा होगा। आज भी आदिवासियों में हल लगाने की प्रतिरिक्त कपि का अधिकतर काम, विशेषतया बीज बोना, स्त्रियाँ के द्वारा ही किया जाता है। कुछ भी हाँ जैसा कि एच० जे० ब्रॉन न लिखा है मनुष्य ने कपि प्रारम्भ करने के पहले अनेक पसलें काटी होगी। कपि का अनुसंधान वस्तुतः कहा हुआ यह एक विषादप्रस्तुत प्रश्न है। फिलिस्तीन के माउंट कार्मेल (Mount Carmel) में पाए गए हड्डियों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि मध्ययुग ईसा पूर्व में सत्रमणकालीन प्रस्तरयुग के अंतिम भाग में मानव का फल बाग और चालना सीख लिया होगा। कपि के अनुसंधान की सम्भावना मध्य एशिया में ही है। फिर भी जमा कि आर्टन साइन्ड न किया है नवप्रस्तरयुग में सत्रमण के तीन क्षेत्रों में कपि और पशुपालन के प्रमाण मिलते हैं—मध्य एशिया (Near East) में जो, गेह, जूत और ताई (Barley) की खेती और दार, गुजर दार और ब्रेड पालन, दक्षिणी पूर्वी एशिया में चावल पालन, बगाम का खेत और मुर्गी त (Water buffalo) का पालन, और अमेरिका में माका, टमाटर और धान का खेती। गंध धार घाटे का पालन बाद में प्रारम्भ हुआ।

इन तथ्यों का ज्ञान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कपि अनुमान जलज जल में स्वतंत्र रूप में हुआ या एक ही मातृ में कपि और पशुपालन के ज्ञान का प्रसरण हुआ। अधिन सम्भाव है। कुछ लोगो का यह भी मत है कि ब्रॉन और फ्ल पर समूह ने कपि का अनुसंधान किया होगा और आमेड पर निष्कर्ष

ने पशुपालन का। किंतु, पुरातत्वों के अवशेष इस विषय में मौन हैं क्योंकि न तो प्राचीनतम पीघा और कपि के औजारों के अवशेष ही मिलते हैं और न जानवरों के प्राप्त अवशेषों पर इस बात की गवाही देते हैं कि उनके पालने वाले खेती पर निर्भर थे या शिकार पर। अभी तक प्राप्त पुरातत्त्वों के अवशेष और उन पर आधारित प्रमाण केवल इसी तथ्य के परिचायक हैं कि, कपि और पशुपालन साथ साथ अस्तित्व में आकर, कृषि पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के कारण बने।

कृषि और पशुपालन के आविष्कार से अधिक महत्वपूर्ण इनके सामाजिक आर्थिक परिणाम हैं क्योंकि इन्हीं परिणामों में वर्तमान मानव संस्कृति की आधार नियाँ रखी हुयी हैं। कृषि और पशुपालन के कारण मानव को खाद्य सामग्री पर अधिक निश्चित नियंत्रण प्राप्त हुआ जिसके परिणामस्वरूप, एक ओर, जीवन सुरक्षा और जनसंख्या बढ़ी, तथा दूसरी ओर फिरदार जीवन के स्थान पर व्यवस्थित जीवन का अन्वेषण हुआ। कृषि की भाग्य है व्यवस्थित जीवन और इसी भाग्य ने ग्राम्य-जीवन का जन्म दिया। खाद्य सामग्री की वृद्धि और निश्चितता ने जहाँ, एक ओर, मानव के हाथ में अतिरिक्त धन (Surplus Wealth) लिया वहाँ दूसरी ओर विशेषीकरण (Specialization) और खाद्य सामग्री को उत्पन्न करने के अतिरिक्त अन्य कार्यों की प्रोत्साहित किया। इस युग के औजार उन्हीं विशेषज्ञों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्हें भाजन की चिन्ता नहीं थी। वास्तव में अधिक भाज्य सामग्री उत्पन्न करके ही मानव संस्कृति का विकास कर सका। वर्तमान समय में भी, कारखाना और बला तथा साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाले उम अतिरिक्त भाज्य सामग्री पर ही जीवित रहते हैं जिस किसान उत्पन्न करता है।

बाइबल के अनुसार कृषि के लिए उपयुक्त पीघों को छाटने के प्रयास में वनस्पतिशास्त्र के उत्थान हैं अनाज को पीसने और सनई की छाल से बपड़ा चुनने में भौतिक शास्त्र के घाटा गधन और नशीले द्रव तैयार करने में रसायन शास्त्र के और खाद्य अनाज जानवरों के पुनाव में प्राणिशास्त्र के। उसने ठीक ही कहा है कि बीसवीं शताब्दी के सार ज्ञान विज्ञान की जड़ें नवप्रस्तरयुग में ही हैं। नवप्रस्तरयुगीन जाति का प्रभाव सामाजिक जीवन पर भी पड़ा। यह पहले ही कहा गया है कि कृषि ने स्थिर सामाजिक जीवन की आवश्यकता को प्रोत्साहन दिया जिससे सामूहिक जीवन अस्तित्व में आया। मारोप में नवप्रस्तरयुगीन ग्रामों के चारों ओर सोदी हुयी खायी इसका प्रमाण है। कृषि ने नारी और पुरुष के कार्यों में विभाजन ला दिया और यह कृषि का ही परिणाम है कि कृषि व्यवस्था में नारी और बच्चे भार न हाकर बरदान हो गए। आज भी पुरुष के लिए विवाह परिवार और बच्चे उतने ही आवश्यक हैं जितना कि कृषि। इस युग का ग्राम एक आत्मनिर्भर सामाजिक आर्थिक इकाई रहा होगा। इस बात के भी प्रमाण हैं कि, इस युग में कृषि करने वाले जानवर पालने वाले और पत्थर निचालने वाले विपरीत समूह अस्तित्व में आ गये हाथों और

उनमें विनिमय-व्यापार होता रहा होगा। इस युग में, जनमर्या के साथ-साथ, सामूहिक विश्वास भी बढ़ा। पाले हुए जानवर, कृषि के लिए प्रयुक्त यौधो, प्रयोग में लगीं हुयी कुल्हाड़ियाँ और अन्य औजारों, मिट्टी के बतनों की मजाबट कला के प्रकारों और शव दफनाने में सम्बंधित रीतियों के आधार पर मध्य एशिया से लेकर यूराल तक, अनेक नवप्रस्तरयुगीन संस्कृतियों का निर्धारित किया जा सकता है। प्राचीन प्रस्तरयुग की अवस्था इस युग के शव दफनाने के अनुष्ठान काफी विस्तृत हैं। नारी मूर्तियों की पूजा भी विद्यमान है और इन सबके साथ साथ जादुयी विचार और विश्वास भी। सनई (Flax) के कपड़े बुनने और मत्ता के लिए स्मारक बनाने के भी प्रमाण इस युग में मिलते हैं। संक्षेप में, यही वह युग है जब मानव ने वर्तमान की आधार शिला रखी और उन परिस्थितियों का जन्म दिया जिन्होंने कांस्ययुग और लौहयुग की सद्गति तथा साम्राज्यवादी संस्कृति का जन्म दिया।

प्राचीन और नवप्रस्तरयुग की भांति, कांस्य और लौहयुग भी एक सभ्रमणकालीन युग के द्वारा अलग भी हैं और जुड़े हुए भी। नव प्रस्तरयुग कांस्ययुग का अन्त लगभग चार हजार वर्ष ईसा पूर्व होता है और कांस्ययुग का प्रारम्भ तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग।

इस प्रकार, लगभग एक हजार वर्ष का समय नवप्रस्तरयुग और कांस्ययुग को अलग करता है। इस काल का ताम्रयुग (Copper Age or Aeneolithic or Chalcolithic) की मना दी गयी है। ताम्र अथवा तांबा और साना अपने गुण धातुत्व में पाए जाते हैं। अतएव, सबसे प्रथम उनके टुकड़ा का, मानव ने पत्थर के टुकड़ा की भांति प्रयोग किया होगा। तांबा गम्य धातु है कि उसे कूटपीटकर वाह्य आकार दिया जा सकता है। कांस्य अथवा कासा तांबा और टीन (Tin) से मिलकर बनी धातु है और कासा सभी चीजें बना सकता है जब मनुष्य का यह ज्ञान हुआ होगा कि तांबा और टीन, आग की सहायता में मिलाकर एक में मिलाए जा सकते हैं। मनुष्य ने कासा बनाना जब और कहा सीखा यह दायता बटित है। टीन मिट्टी में मिली रहती है जिस पहचान कर और गन्नाकर निकालना पड़ता है। अतएव, कांस की उत्पत्ति सभी दुर्मी हागी जब मनुष्य ने टीन का पहचानना और आग के द्वारा धातुओं का गलना सीख लिया होगा। आग के द्वारा धातुओं का गलना मानव ने कैसे जाना? यह एक रहस्य है जिस मुग्धा सक्ता बटित है। इस बात की सम्भावना अधिक है कि कांस का बनना मध्य एशिया विशेषतया पश्चिमी एशिया में प्रारम्भ हुआ होगा। चाइल्ड के अनुसार, तीन हजार पांच सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग, पश्चिमी एशिया में कांस का प्रयोग मिलता है। वहीं में इसका प्रचार मौरिया और, कुछ गैरालिया का, ग्रीस और यूनान (ट्रॉय Troy) में हुआ। योरोप में कांस का प्रयोग एक हजार आठ सौ वर्ष ईसा पूर्व के लगभग होना प्रारम्भ हुआ। तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व के लगभग कांस से बनीं हुयी वस्तुओं का प्रयोग इरान और भारत तक

पाया जाता है। माह्नजाण्डा की सस्कृति वास्ययुगीन सस्कृति है। यही नहीं, इसका प्रसार चीन की ह्वांगहा नदी की घाटी तक म हुआ।

वास्ययुग म भी अनेक प्रभावशाली आविष्कार और परिवर्तन हुये। इस युग के मुख्य आविष्कार हैं हल आग व द्वारा धातु का गलाने का पान, पहिया (चक्र) और लेखन कला (लिपि)। आग के द्वारा धातु के गलाने का पान से बाँस जैसी मजबूत धातु मनुष्य के हाथ म आइ जिससे उसका औजार और भी सुदृढ़ हो गया। धातु का गलाना एक विषय ज्ञान है जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी चलना एक प्रयत्न सम्भावना है। अतएव धातु के गलाने वाला न एक विशिष्ट समूह अथवा वंश का रूप धारण किया होगा। बाँस साम्रा और साना, पत्थर और मिट्टी की अपेक्षा अधिक जलमय रहें हंग। अतएव वे उसी को प्राप्त हो सकत होंगे जिनके पास अति रिवत धन होगा और जो धातु का गलाने वाला की सहाय्य प्राप्त कर सका होगा। उधर हल का आविष्कार और प्रयोग ने उपज बढ़ाकर अतिरिवत धन का और भी बढ़ाया। विभिन्न सस्कृति वाले समूह म सघष और युद्ध ने प्रस्तरयुग म ही आ गया था। बाँस के प्रयोग ने उस सघष का और भी बढ़ावा दिया। अतएव, साम्राटो और सामन्तों का अभ्युदय हुआ जिनका बाँसे का प्रयोग पर अधिकार था। बाँस के अधिकाधिक प्रयोग ने अतिरिवत धन की आवश्यकता को और भी बढ़ाया जिसे गुलामी प्रथा और साम्राज्य मस्थापन के द्वारा पूरा किया गया। बेबीलोनिया, सुमरिया और असीरिया का साम्राज्य इसका प्रमाण है। घाड़े और पहिये का प्रयोग ने बलगाड़ी और रथ को ज म दिया जिससे मानव पहन की अपेक्षा अधिक गतिवान हो गया। इससे यदि एक ओर विभिन्न सस्कृतियों में पहल की अपेक्षा अधिक सम्पन्न स्थापित करने का मौका मिला तो दूसरी ओर युद्ध और साम्राज्य मस्थापन का प्रोत्साहन भी। हल्पा माह्नजोन्ग म लेकर मसोपोटमिया तक मिली हुई सीला (Seals) म न कुछ व्यवस्थित सम्पत्ति का प्रमाण है तो कुछ अनेक राज्यों और साम्राज्यों की।

वास्ययुग म सामाजिक वय अस्तित्व म आ चुक थे और सामाजिक संगठन पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गया था। पहिए का प्रयोग म कुम्हार का चार (Potter's wheel) अस्तित्व म आया जिससे मिट्टी के बरत बनाना और भी सुगम हो गया। लेखन कला अथवा लिपि का आविष्कार ने मानव अनुभव और प्रतीकों का गुरुगिन करने म मयायता दना प्रारम्भ किया। वास्तव म देखा जाय तो पहिया (चक्र) और लिपि का आविष्कार काफी महत्वपूर्ण हैं। मनीषों पर आधारित वर्तमान युग की गणना उन्मुक्त लिपि पर ही दी जाती है क्योंकि पहिया के प्रयोग के बिना मानव का प्रयोग असम्भव है। जालीनिक, आत्मा और जादू सम्बन्धी विश्वासों ने नव युग म घम का रूप लेना प्रारम्भ किया। जहाँ वहाँ वास्ययुग की सम्पत्ता मिली

है वहाँ देवघर भी मिले हैं^१। इन मन्त्र परिवर्तना और आविष्कारों के सचची प्रभावों ने गहरीकरण का जन्म दिया। नियोजित सहर और घप से मुत्तायी इटा के मकान इस युग का एक अर्थ विवाम हैं। ज्ञान के अनुसार ताम्र के सामाजिक प्रभाव और परिणाम नहीं के बराबर थे। किन्तु वास्तविकता और काम के प्रयोग ने मस्तिष्क और सामाजिक मरचना का निश्चय ही प्रभावित किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि धातु के प्रयोग ने एक नयी सामाजिक व्यवस्था का जन्म दिया। धातु के प्रयोग ने वस्तुतः एक नयी सामाजिक व्यवस्था का सर्वत्र प्रदान किया। वास्तव्युग, शत्रु के अनुसार, वह युग है जिसने बर्गों, मन्त्राटा, दबताजा, स्मारका, लखन-कला और गहरीकरण का अन्त्य और पुनरवतार दिया। जहाँ कहीं भी जनसंख्या और परिस्थितियाँ अनुकूल थी, वास्तव्युग ताम्र, अभिजाता और सामन्तों का युग हो गया^२।

लाह का आविष्कार और प्रयोग उस समय के ठीक लगभग दो हजार वर्ष बाद हुआ जब मानव ने ताँबे का गलाने वाला और अथ धातुओं के साथ लोह युग मिलाने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह आविष्कार एशिया माइनर (Asia Minor) बह जाने वाले धन में हुआ क्योंकि बारहवीं और बीसवीं ईसा पूर्व इस क्षेत्र में लाह का प्रयोग पाया गया है। लगभग एक हजार वर्ष ईसा पूर्व यूनानियों का इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। जिस प्रकार ताम्र का पृथ्वी से उठाकर मनुष्य ने उसका प्रयोग करना सीखा उसी प्रकार लाह भी अनुमानित मनुष्य का सबसे पहला मिट्टी में पड़ा मिला होगा। लाह का गलाना, डालना और फोंगद बनाना मानव ने बाद में सीखा। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि पहले लोहा एक मूल्यवान् धातु था क्योंकि पहले इसका प्रयोग श्रृंगिष्ठों बनाने और काम की वस्तुओं में पक्काकारी करने के लिए किया जाता था। किन्तु बाद में यह जनमुलभ हो गया और अथ आविष्कारों के साथ प्रजातन्त्रीय विचारों का वारस बना। काँसा अभिजाता और जन्म, काय तथा धन से सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति का प्रयोग की वस्तु था किन्तु लोहा जनमाधारण के प्रयोग की वस्तु बना और लाह का प्रयोग मन्त्र लक्ष्मण-कारण का कारण मिला हुआ। लाह के प्रयोग के साथ-साथ शत्रु द्वारा लिखने की लिपि और छोटी छोटी मुद्राओं के निमाण का भी आविष्कार हुआ। यही मोती आविष्कार एशिया माइनर में ही हुए और वहाँ से चारों ओर फैले। वास्तव्युग में लिपि का आविष्कार तो हुआ गया था पर लिखने के लिए चित्र और जटिल प्रतीकों का प्रयोग किया जाता था जिसमें लेखन कला जन मुलभ नहीं थी। शत्रु के प्रयोग

१ इसका तात्पर्य यह कदापि न लेना चाहिए कि जाड़ू और आत्मा में विश्वास ने धन को जन्म दिया था या जाड़ू धन का पूर्ववर्ती रूप है। धन के अधिक ठोस प्रमाण इसी काल में मिलते हैं।

२ शोवर, ए० एल० एन्सापलोडो पृष्ठ १०१

ने लेखन कला को और सरल बना दिया। मुद्राओं के प्रचलन ने व्यापार को प्रोत्साहन दिया और लोहे के अस्त्र-शस्त्रों ने युद्धों और साम्राज्य स्थापन का। यही वह युग है जब यूनानियों, ईरानियों और रोम की सभ्यताओं और साम्राज्यों का विकास हुआ। रोम साम्राज्य के पतन का काल हम इतिहास की सीमाओं में लाता है। वास्तव में, इतिहास का प्रारम्भ ही लौहयुग के साथ-साथ होता है। वर्तमान मानव लौहयुग के चरमोत्कर्ष के काल में रह रहा है।

इस प्रकार, मानव सस्कृति, विशेषतया योरोप में, प्राचीन प्रस्तरयुग, नवप्रस्तरयुग कांस्ययुग और लौहयुग के चार सोपानों से गुजरी है। ये सोपान योरोप की भूमि पर एक क्रमिक विकास प्रक्रिया के रूप में मिले हैं किन्तु यह विकास क्रम नियति द्वारा निर्धारित नहीं है और न ये अवश्यभावी ही हैं। ये चारों सोपान इतिहास की अवस्थाओं मात्र हैं जिनका घटित होना संयोग पर अधिक निर्भर करता है न कि किसी पूर्वनिर्धारित अवश्य योजना पर। यह सोचना कि सारा संसार एक ही समय में एक युग विशेष का प्रभाव में था या संसार के सारे लोग इन्हीं अवस्थाओं में से गुजरे हैं और जो नहीं गुजरे हैं उन्हें गुजरना पड़ेगा, पुरातत्वीय और ऐतिहासिक तथ्यों के विरुद्ध है। जब योरोप सारे युगों को पार करता हुआ लौहयुग में आ गया था तब प्रशांत महासागर के अनेक द्वीप प्रस्तरयुगीन अवस्था में थे। लोहे का आविष्कार एशिया माइनर में हुआ किन्तु उसका ढालना चीन में प्रारम्भ हुआ। अतएव जब चीन और उसके बाद मध्य एशिया लौहयुग में प्रवेश कर रहे थे तब योरोप कांस्य युग में था। दूसरी ओर यह मान लेना कि प्रत्येक क्षेत्र में इन अवस्थाओं का क्रमशः अवतरित होता अनिवार्य है ऐतिहासिक निवचन के साथ मेलित करता है। अफ्रीका की गणजातियाँ और जापान के निवासी कांस्ययुग में प्रवेश किये बिना ही लौहयुग में प्रवेश कर गये हैं। वास्तव में जसा कि पहले कहा जा चुका है ये युग चार सोपानों का संगम हैं और संयोग पर आधारित विकास हैं। यह आवश्यक है कि इनमें से प्रत्येक विकास ने मानव सस्कृति के अनेक पहलुओं को विकसित होने में सहायता दी। अतएव, इन्हें मानव सस्कृति की प्रावस्थायें (Cultural Phases) भी कहा जा सकता है। गमार्न के अधिकतर भागों में इन युगों के प्रमाण मिलते हैं किन्तु जसा पहले कहा जा चुका है प्रत्येक युग की अवस्थाओं के सारे सार में न तो समकालीन है और न परस्पर अनुरूप। भारत की प्रस्तरयुगीन सस्कृति अनेक विशेषताओं में योरोप का प्रस्तरयुगीन सस्कृति से भिन्न है। अतएव, एक यह भी मत है कि योरोप में किये गये अध्ययनों का आधार पर मनी गयी नामावली का संसार के अन्य क्षेत्रों पर लागू करना तत्काल नहीं है। इस मत में बहुत कुछ सार है, फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिये धारणाओं और सामान्य रूपरेखाओं के रूप में इनका प्रयोग करने में कोई भी अनौचित्य नहीं है।

चौथा अध्याय

हिन्दुत्व सामाजिक-ऐतिहासिक आधार

भारतीय सस्कृति, देश काल की सीमा में बसी हुई, एक विशेष सस्कृति है, जिसका उदभव और विकास मानव सस्कृति की पृष्ठभूमि में हुआ है। प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक, भारतीय सस्कृति के विकासकाल का चार अध्यायों में बांटा जा सकता है। प्रथम प्रागैतिहासिक काल का, भारत में आर्यों के आगम और हिन्दू समाज का निर्माण तक फैला हुआ है। दूसरा बौद्धकाल का एक और बौद्धिक कालावधि तथा चेतना और दूसरी ओर अदिग्रन्थ बौद्ध समाज का प्रति प्रतिनिधित्व का काल है। तीसरा, मुस्लिम-काल जिसमें इस्लाम के सम्पर्क में हिन्दुत्व का उत्थित विकास प्रभावित हुआ और चौथा वर्तमान काल जिसमें पश्चिमी सभ्यता के व्यापक सघात में अनेक परिवर्तन प्रक्रियाओं का जन्म लिया। किन्तु, भारतीय सस्कृति के विनाश काल के ये चार अध्याय एक दूसरे से अलग नहीं हैं क्योंकि उनमें एक ही गहरा प्रवाहित हो रही है। ये चार अध्याय वस्तुतः एक महाकाव्य के चार अध्यायों के समान हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता समेट करण भारतीय सस्कृति का प्रवाह उन्मत्त गंगा के समान है जो अनेक सहायक नदियाँ जो आत्मसात् करके भी गंगा ही बनी रहती है। आज भी भारतीय उसी समाज में रह रहे हैं जो

आज भी वेगो व रचयिताओं तथा महात्मा बुद्ध का प्रेरित करने वाल आदर्श और जहाँ भी भारतीयों का प्रभावित कर रही हैं।

आज स लगभग पचास वर्ष पहले सर हरबर्ट रिस्ले ने लिखा था कि भारत में योरोप जम प्रागतिहासिक अवस्था नहीं पाये जाते हैं और इस कारण भारत के प्रारम्भिक निवासियों और मस्कृति के बारे में यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की गम जलवायु में जीवाश्म (Fossils) वसे सुरक्षित न रह पाये ह जम व योरोप में है। फिर भी आज यह स्थिति नहीं है ज रिस्ले के समय में थी। पिछले तीस वर्षों में सरकारों और सर सरकारी मस्याओं की छत्र छाया में पुरातत्ववत्ताओं न भारत की प्रागतिहासिक सस्कृति के अनेक पुरावशेष ढूँढ निकाले हैं।

२

भारत में प्रागतिहास

सन 1930 ईसवी में डीटेरा और पटरसन के नेतृत्व में चल और कम्ब्रिज विश्वविद्यालयों द्वारा संगठित अ वषक दल ने यह निवारित किया कि भारतीय मस्कृति उतनी ही प्राचीन है जितनी कि योरोप की। योरोप के समसामयिक चार हिम युगों का आगमन निगमन उत्तरी भारत में भी हुआ है जिसके प्रमाण सिध की सहायक साक्ष्य ननों की घाटी में विद्यमान हैं। पंजाब राजस्थान गुजरात, मध्य प्रदेश, पनाटक मसूर बिहार आसाम और बंगाल लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में, प्रागतिहासिक मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार पाए गए हैं। सोआन, नमदा और भागवरी नदियों की घाटियों में भी मानव द्वारा निर्मित पत्थर के औजार मिले हैं। साआन नदी की घाटी में पाए गये औजार पानी के साथ बहकर जाय नुये पथरा (Pebbles) में बांध गये हैं और उनमें आंतरक (Core) तथा पशुक (Blade) जना प्रकार के औजार पाये गये हैं। दक्षिण में पाये जाने वाले औजारों में आंतरक औजारों की ही प्रधानता है। इस आधार पर स्टुअर्ट विगान ने यह मत प्रतिपादित किया है कि उत्तरी भारत से लेकर उत्तरी योरोप तक पशुक औजारों की घोर प्राचिण भारत से लेकर दक्षिण योरोप तक आंतरक औजारों की परम्पराओं का विकास हुआ है। इन औजारों में चाटन और छोलन के औजार पाये जाते हैं यद्यपि इनमें मुट्टिका कुहाडिया (Hand Axes) का बाहुल्य है। वास्तव में योरोप से लेकर भारत तक प्रस्तरकालीन युग में मुट्टिका कुहाडियों की ही बढतायत है। पुरातत्ववत्ताओं व अनुसार, गंगा सिध के मगन के अतिरिक्त, भारत के प्रत्येक भाग

की प्राचीनता के प्रमाण मिले हैं। किंतु, भौमिक स्तरीकरण (Stratigraphy) के सुस्पष्ट न होने के कारण यह कहना कठिन है कि भारत के किम भाग में मानव की अवतारणा हुयी। मूलभूत प्राचीनता, जलवायु की अनुकूलता और वादामदुराई में पाये गये अवशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः भारतवर्ष में मानव की उत्पत्ति दक्षिणी भूभाग में हुयी और वहां से वह चारों ओर फैला। साओन की घाटी में पायी जाने वाली मुष्टिका-कुन्हाडिया (Hand axes) के प्रमाण की मान्यता प्राप्त होना न भी यही मत प्रतिपादित किया है कि भारत में मानव की अवतारणा दक्षिण में ही हुयी होगी और प्रथम हिमयुग के अंत तक पंजाब में उसका आगमन हुआ होगा¹।

मध्यमकालीन प्रस्तरयुग (Mesolithic) के औजार भी लगभग सम्पूर्ण भारत में पाये गये हैं। यारोप और अफ्रीका में पाये गये इस काल के औजारों की भांति, ये औजार भी छोटे आकार के हैं और याराप में पाये गये औजारों के काफी अनुरूप हैं। अधिकतर ये औजार भूमि की सतह पर पाये गये हैं। अतः, यह निर्धारित करना कठिन है कि वे किस युग के हैं। एक ओर ये औजार लाह के औजारों के साथ पाये गये हैं और दूसरी ओर ये उन पिट्टी के अवशेषों के साथ पाये गये हैं जो ईसापूर्व चौथी सताब्दी में अधिक प्राचीन नहीं हैं। इस प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में मध्यमकालीन प्रस्तरयुग लोच्युग के समकालीन है।

मसूर के चीतलदुर्ग जिले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर की गई खुदाई में मध्यमकालीन प्रस्तरयुग और नवप्रस्तरयुग के औजार साथ-साथ पाये जाते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि मसूर के क्षेत्र में अब और प्राचीन प्रस्तरयुगों के मध्यमकालीन प्रस्तरयुग आया है। यद्यपि यह निर्धारित करना कठिन है कि यारोप की भांति यहां भी मध्यमकालीन प्रस्तरयुग प्लेस्टोसिन युग के पश्चात् ही आया है। पंचमंडी की महादेव पहाडियों पर पाये गये पुरावशेषों का भी यही हाल है। भारत के मध्यमकालीन प्रस्तरयुग की संस्कृतियां में गुजरात की संस्कृति सबसे प्राचीन है और वहां पाये गये कालों में पूर्वी अफ्रीका और मिस्र के निवासियों की भी पारिस्थितिक विशेषताओं पायी गयी हैं। इस संस्कृति के निवासियों का जीवन का आधार शिकार, भ्रम, घाट, बैल, भेड़, बकरी, बूढ़ा मछली और मगर का शिकार था। वहां का मानुष्यजन दक्षिण में और सम्भवतः कुत्ते पालत थे।

पालिया किन्ने हूय नवप्रस्तरयुगीन औजार विलासी, मसूर हराबाद मध्य प्रदेश बुंदेलखण्ड गुजरात बम्बौर पश्चिमी बंगाल, छाटा नागपुर और उड़ीसा के

1 एच० टी० नकालिया आर० सी० मजुमदार द्वारा सम्पादित यदि एज० में पृष्ठ 123 132

भाषा, डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, सस्कृति की अभिवृद्धि का एक मुख्य माध्यम है और भाषा के द्वारा ही सस्कृति प्रसारण होता है। यह निर्विवाद है कि भारत में उ प्रकार का प्रजातियों का आगमन, निगमन और मिश्रण हुआ है। प्रजाति और भाषा में कोई कारण सम्बन्ध नहीं है पर यह नहीं कहा जा सकता है कि एक प्रजाति समूह की अपनी विशिष्ट भाषा और सस्कृति नहीं होती है। प्रजातियों के साथ भारत में भाषा सस्कृतियाँ (Language Cultures) भी आई हैं जिनमें भारतीय सस्कृति का निर्माण हुआ है। भारत में जान वाली प्रजातियों के लोग आज ऑस्ट्रिक (Austroic कौल मुण्डा) ति बर्मी चीनी (Tibeto Chinese or Sino Tibetan) द्राविड और आर्य परिवार की भाषाओं की अलग अलग बोलते हैं किन्तु इन्हीं भाषा भाषियों की सांस्कृतिक विषयनाओं के मिलने में भारतीय सस्कृति और उसका स्थायी प्रेरक गणिमा और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अभ्युदय हुआ है। एक ओर, भारत में विभिन्न भाषा सस्कृतियाँ आती रही हैं और दूसरी ओर कवि पर आधारित आर्थिक जीवन तथा एक प्रकार से संसार से अलग एक बड़े भूभाग में रहने के कारण उनका पारस्परिक सम्मिलन और आदान प्रदान भी होता रहा है। भाषा के प्रमाणों के आधार पर यह कहना ठीक है कि भारत में आने के समय प्रत्येक भाषा सस्कृति के प्रवर्तकों का मानसिक और आध्यात्मिक गठन किस प्रकार का था यद्यपि, अथ मानवी ग्राहकों की सहायता से हम बात का बहुत कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है कि प्रत्येक भाषा सस्कृति का पारिवर्तिक और अर्थात्त्विक स्वरूप क्या था और भारतीय जीवन के पारिवर्तिक अर्थात्त्विक, मानसिक और भावना जगत में उसका क्या योगदान रहा है।

डा० गुह के साथ साथ डा० सुनीति कुमार चटर्जी भी यह मानते हैं कि भारत के आदि निवासियों नीग्रिटो में यद्यपि अब तक के पाये ही जाते हैं और न उनकी भाषा न ही बाद में आने वाली भाषाओं की प्रभावित किया। अतः त आदिकालीन होने के कारण, नीग्रिटो सस्कृति का भारतीय सस्कृति पर कोई प्रमुख प्रभाव नहीं पड़ा और यदि कुछ प्रभाव पड़ा भी तो वह आंशिक द्राविड और आर्य भाषा सस्कृतियों की तरफ से आत्मसात् किया गया। यह अनुमान किया जाता है कि बड़े वंश की श्रेणी में आने वाला वंश कर्मा पूजा और यमराज की कल्पना वस्तुतः नाग्रिटो लोग की ही है। प्राग आस्ट्रालोयड प्रजाति के साथ सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार आस्ट्रिक भाषा-संस्था का प्राग आस्ट्रिक कौल (Proto Austroic) का आगमन पश्चिम में हुआ उनका आदिवासी भाषा का विकास भारत में हुआ और यहीं से इस प्रजाति और भाषा भाषियों का प्रसार पूर्व की ओर हुआ। भारत का बोल या मुँगा, मान समर (मासाम) और निनावार द्वीप की बोनिया ऑस्ट्रिक परिवार की है। बर्मा हिन्दो (इंडो चाइना) इण्डोनेशिया, मलेशिया, मारेशानेशिया और पॉलीनेशिया की भाषाएँ भी इसी परिवार में आती हैं। इस प्रकार, आस्ट्रिक

भाषा भाषिया का प्रसार कदमौर में लेकर ईस्टर द्वीप तक हुआ। यही नहीं, मगानगियन और पालीनगियन समूहों के अस्तित्व में आने के बाद उनका भारत में पुन आगमन हुआ और इस प्रकार अनेक पालीनगियन और मगानगियन तथा भारतीय सस्कृति में मिल गया। जमा कि डा० सुनीति कुमार चटर्जी का मत है महात्मा बुद्ध के समय तक आस्ट्रिक परिवार के भाषा भाषिया का प्रसार गंगा के मैदान में रहा है। धीरे धीरे वे भाषा भाषा भाषी हो गये। एक हजार पाँच सौ और छ सौ ईसवी पूर्व के बीच में ये भाषा भाषा भाषी हुए। निषाद और चण्डाल मनाओ का प्रयोग आर्यों ने इन्हीं के लिये किया है। कुछ भी हा, आस्ट्रिक भाषा भाषी प्रोटो-आर्यन्वायड की सम्मूर्ति में भारत की आधारभूत सांस्कृतिक तत्व प्रदान किये हैं। चावल कच्ची, नारियल (नारियल) और ताम्बूल (पान) जैसे अनेक पदार्थों के नामों की उत्पत्ति में तो सस्कृति में है और न द्राविड भाषाओं में। इससे यह स्पष्ट है कि वहाँ के उन पुष्प पादपजातों के नाम जिनमें आय और द्राविड भाषा भाषी परिचित नहीं थे, आस्ट्रिक भाषा भाषियों को देन हैं। भारत में नक्षत्रस्तरयुगीन सस्कृति के बीच आस्ट्रिक भाषा भाषिया नहीं था। मिट्टी के बरतन चावल की खेती, गन्ने से शर्करा का निर्माण, पूजा तथा अनुष्ठान और धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में पान, हल्दी और मिर्च का प्रयोग हाथी पालना और कपास से कपड़े बुनना कुछ ऐसे पारिवर्तक हैं जो आस्ट्रिक भाषा भाषिया में मिले हैं। गिनने में चौबी (बीस) को इकाई मानना चंद्रमा की कलाभा के आधार पर तिथि का गिनना, नजर में विश्वास, कच्चाबतार मत्स्यगंधा और शपनाय की मायायें वानर और गणेश का पूजा और अठ स मूर्ति उत्पत्ति की कहानी भारतीय मस्कृति के वे अपारिवर्तक तत्व हैं जिनकी जड़ें आस्ट्रिक सम्मूर्ति में हैं। जब को गुला छाड़कर धर्मपति किया करना, सहवास-गृह (Dormitories) का निर्माण नरमुग्धा का गिहार और नाव की पूजा बहुत सम्मर है मगानगिया में आय हुए प्रवासियों की दल हो और विभिन्न सत्कारों में नारियल का प्रयोग पालीनगिया के प्रवासियों की।

द्राविड और आय भाषा भाषिया न ही भारतीय विगमनया हिंदू सम्मूर्ति का उनके मुख्य आधार प्रदान किये हैं। आज द्राविड परिवार की भाषाओं मुख्यतः दक्षिण में ही सीमित हैं किन्तु मध्य भारत में पायी जाने वाली ग्राही वाली के आधार पर भाषा कानिका और इतिहासकारों ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सम्मवन आर्यों के आने के पहले द्राविड भाषा भाषी सम्पूर्ण भारत में फैल गए थे। अपनी धर्म सारचना के कारण, डा० सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार द्राविड परिवार की भाषाओं किना उग्रियन (Finno Ugrian) भाषाओं के अधिन निबद्ध हैं और यह निश्चय इस बात का प्रमाण है कि द्राविड इरान के उन पार में आने में आय हैं। भारत में आर्यों ने दास अथवा 'दस्यु' मना का प्रयोग उन लोगों के लिए किया है

जो उनसे पहले भारत के निवासी थे। आधुनिक फारसी में 'डह' 'डह' या 'डीह' जसी सनाआ का पाया जाना इस सम्भावना का प्रतीक है कि आर्यों और द्राविडों का प्रथम साक्षात्कार ईरान में हो हुआ होगा। यह भी सम्भव है कि 'डह' सना का प्रयोग ईरानिया ने यूनानियों से लिया हो। यूनानी 'डह' सना का प्रयोग कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्व में रहने वाले, डहाई, लीगा के लिए किया करते थे। अतएव, यह कहा जा सकता है कि 'डहाई' या द्राविड कहे जाने वाले लोग कैस्पियन सागर के दक्षिणी पूर्वी तटवर्ती प्रदेश के निवासी थे।

संस्कृत विश्वविद्यालय के मानवशास्त्र के प्रोफेसर श्री हेमन्दाक का मत है कि भारत में आर्यों के फलने व बाढ़, समुद्रों मार्ग से आकर द्राविड दक्षिणी भारत में बस गये और यही कारण है कि आज द्राविड भाषायें दक्षिणी भारत में ही सीमित हैं। उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत तक फैली हुयी अनेक ऐतिहासिक परम्परायें और उसमें पाये जाने वाला सामंजस्य इस मत को सही मान लेने में बाधक है। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि द्राविड भाषा भाषी मडीटरैनियन प्रजाति ही के थे। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में पायी गयी सौलो पर अंकित लिपि को कुछ लोगो ने वर्तमान द्राविड लिपिया का प्रारम्भिक रूप मान कर यह प्रतिपादित किया है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति द्राविड संस्कृति है? यह निश्चित है कि तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार ईसवी पूर्व के मध्य, भारत में ताम्रपुगीन संस्कृति का विकास हुआ और जिसके निर्माण में द्राविड भाषा भाषियों का हाथ अवश्य है। बहुत सम्भव है कि जिन्हें वेदों में दास या 'दस्यु', शहरो तथा लोह और पत्थर के सप्तभोजी दुर्गों का निर्माणकर्त्ता कहा गया है वही द्राविड हो और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की संस्कृति के निर्माता भी¹।

सर जान मारशल के अनुसार, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की संस्कृति ताम्रपुगीन संस्कृति है और उसका अस्तित्व तीन हजार दो सौ पचास ईसवी पूर्व से लेकर दो हजार सात सौ पचास ईसवी पूर्व के मध्य रहा होगा। इसका क्षेत्र सम्पूर्ण सिन्ध, पंजाब, बलूचिस्तान और गंगा व यमुना के एक भाग से लेकर काठियावाड़ पश्चिमी घाट और दक्षिणी भारत के कुछ भागों में फैला हुआ होगा। किन्तु हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिले पुरातत्व के अवशेष ही इस संस्कृति का प्रतीक हैं और उन्हीं के द्वारा इस संस्कृति का स्वरूप को जाना जा सकता है। सभी विद्वानों का मत है कि यह संस्कृति ताम्रपुगीन शहरी संस्कृति थी और उस सांस्कृतिक प्रक्रिया का एक परिणाम थी जिसने सिन्ध और नील नदियों के बीच में आने वाले भूभाग में फैलित ताम्र तथा कैस्पियन संस्कृतियों का जन्म दिया। इसी काल की सुमेर, बबीलोन मिस्र और

1 सुन्दरम पी० एम० सत्यद अशुल लतीफ द्वारा सम्पादित और संप्रहीत एन आउटलाइन आफ दि कल्चरल हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ 1

अरीया की सस्कृति तथा हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सस्कृति में इतना मामू है कि पुरातत्ववेत्ता हड़प्पा मोहनजोदड़ो की सस्कृति को एक अलग छुटपुट विकास न मानकर उसे मिस्र से भारत तक फैली हुयी सांस्कृतिक विकास शृंखला की एक कड़ी मानते हैं। फिर भी, हड़प्पा मोहनजोदड़ो की सस्कृति अपनी समकालीन सस्कृतियों के पूणतया अनुरूप नहीं है—उनकी अपनी विशिष्टतायें हैं और अपना एक अलग व्यक्तित्व। हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की सस्कृति के निर्माणकर्ताओं को कपाम से कपड़े बनाने का ज्ञान था जबकि तत्कालीन मध्य एशिया के लोग इस ज्ञान में बचिन थे। मध्य एशिया की भांति यहाँ भी चित्रलिपि का विकास हुआ है किन्तु यहाँ की लिपि में प्रयोग किये गये चित्र अपने ढंग से निराले हैं। यहाँ बनाये जाने वाले मिट्टी के बतनो के आकार और उन पर बनायी जाने वाली चित्रकारी भी अपने ढंग की निराली है। हड़प्पा मोहनजोदड़ो में, जैसा कि पुरातत्वीय अवशेषों से विदित होता है, सस्कृति कश्चित है जनसाधारण में किन्तु तत्कालीन मध्य एशिया की सस्कृतियों के केशिबु हैं वहाँ के अभिजात्यवर्ग। पत्थरों पर खुदाई और नक्काशी करने की कला और धार्मिक विद्वानों भी हड़प्पा मोहनजोदड़ो की सस्कृति को एक अलग सांस्कृतिक विविधता प्रदान करते हैं।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के अवशेषों से सबसे पहला आभास यह मिलता है कि सिन्धु नदी की घाटी में नगर नियोजन (City Planning) का ज्ञान था क्योंकि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर सुनियोजित हैं। पक्की इंटों के बने मकान, उनमें स्नानागार और नालियों की व्यवस्था, मकानों का एक सीधी लाइन में बना होना, सड़कें और जनपथों का सीधा तथा चौड़ा होना सावजनिक सग्रहागारा और मन्दिर, स्वच्छता तथा पानी निचालने की व्यवस्था के अवशेष इस बात का प्रमाण हैं कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नगर नियोजित थे। यह अवशेष इस तथ्य के भी प्रमाण हैं कि इन शहरों में सहवासी जीवन अत्यंत संगठित था और जनसाधारण को आवश्यक नागरीय सुविधायें प्राप्त थीं। श्री के० एन० दीक्षित के मत में मोघकालीन रणा प्रहरी-सदृश तथा प्रत्येक मण्डलों की व्यवस्था और गुप्तकाल की नगर परिपद्धि की जड़ें सिन्धु नदी की घाटी में विकसित ताम्रयुगीन सस्कृति में हैं।

पुरातत्ववेत्ताओं ने इस सस्कृति के अनेक धार्मिक तत्वा तथा विशेषताओं का निर्धारित किया है। यह निर्विवाद है कि इस सस्कृति का धार्मिक आधार कपि था। किन्तु, कपक के अतिरिक्त, कुम्हार, बुनकर, बढ़ई, राज और धातु की वस्तुयें बनाने वालों के पग भी मुख्य थे। सोने, चाँदी, ताँबे, काँसे और पत्थर तथा पालिश की हुयी मिट्टी के आभूषणों का भी प्रचलन था। अनेक प्रकार के मिट्टी के बतनों का प्रयोग होता था यद्यपि यदा-कदा ताँबे, काँसे चाँदी तथा चीनी मिट्टी के बतन भी प्रयोग में लाये जाते थे। पत्थर की हुयी तथा चीनी मिट्टी की तकलियाँ, दामलक प्रणाली पर आधारित बोट, सिक्का का आभास देने वाले माल चाँदी के टुकड़े और कपड़ा

बनाने की कला समृद्धिशाही व्यापार के प्रतीक हैं। भारत तथा एशिया के विभिन्न भागों के निवासियों के साथ हड़प्पा और माहनजोदड़ो के निवासियों के व्यापारिक सम्बन्ध थे। यहाँ प्रयोग में लाये जाने वाले शक्क और मोती, श्री दीक्षित के मतानुसार, दक्षिण के द्राविडों, विशेषतया तामिल भाषा भाषियों, से आये होंगे। सुमेर और इस्लाम की खुदाई में पायी गयी हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सीलें इस बात की पुष्टि करती हैं कि इन संस्कृतियों के निर्माताओं में सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध थे। उत्कीर्ण (Engraving) और प्रतिरूपण (Modelling) की कलाओं के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। हड़प्पा और माहनजोदड़ो में पायी गयी सीलों पर तत्कालीन जानवरों और धार्मिक कृत्यों के खुदे हुये चित्र पाये गये हैं जिनसे, एक ओर, उस काल में पाये जाने वाले जानवरों का पता मिलता है और, दूसरी ओर, वहाँ के निवासियों के पारलौकिक विश्वासों का। कासे में ढली और आभूषणों तथा बालों की सजा से सजी नारियों की मूर्तियाँ अनेक मुद्राओं में पायी गयी हैं, जिनमें नतकी की मूर्ति काफी प्रसिद्ध है। साथ ही साथ, मिट्टी और पत्थर की भी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। खिन्नीने सी लगने वाली छोटी छोटी मिट्टी की बेलगाडियों का वही रूप है जो सिन्ध में वर्तमान बलगाडियाँ का है। इसी आधार पर लोगों का यह अनुमान है कि हड़प्पा काल में जगतप्रसिद्ध भारतीय बेलगाडी अस्तित्व में आ गयी थी। खुदायी में प्राप्त पाँच सौ सीलें इस बात का प्रमाण हैं कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासी चित्रलिपि का प्रयोग करते थे यद्यपि वह आज तक भी पढ़ी नहीं जा सकी है।

सीलों पर खुदे चित्रों और पत्थर की बनी मूर्तियों के आधार पर जिन धार्मिक विश्वासों और कृत्यों को निर्धारित किया गया है उनसे यह स्पष्ट पता चलता है कि हड़प्पा माहनजोदड़ो के निवासियों के धर्म, उनके विश्वास और प्रथाओं में हिंदुत्व का प्रारम्भिक रूप था। पत्थर और मिट्टी की बनी अद्वयनग्न नारी मूर्तियाँ, जो हड़प्पा और माहनजोदड़ो में ही नहीं बरन संपूर्ण पश्चिमी एशिया और योरोप तक पायी गयी हैं शक्ति या पृथ्वी माता या प्रकृति-देवी की प्रतीक मानी गयी है और लोगों का ऐसा अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उन विश्वासों और अनुष्ठानों की परिचायक हैं जिन पर, आगे चलकर शक्ति धर्म और देवी भगवती की कल्पनाएँ आधारित हुई। हड़प्पा की एक सील में उल्टी लेटी हुयी एक नग्न नारी की योगिनी से एक उद्यता हुआ पेड़ चित्रित किया गया है जो सम्भवतः उस विश्वास और कल्पना का प्रतीक है जिसने आगे चलकर 'प्रकृति' की 'पृथ्वीमाता' या 'पृथ्वी' की कल्पना का रूप लिया। एक सील पर खुदे चित्र में ऐसा आभास मिलता है कि माना नारी की बलि देने की तयारी हो। नारी की बलि दी जाती थी या नहीं यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि शक्ति की पूजा में बकरी की बलि दी जाती थी क्योंकि एक सील में एक पूजक बकरी को ठाँव जा रहा है और अनेक दशक एक पशु में खड़े हैं। शक्ति की पूजा में बकरी की बलि देने की प्रथा आज भी विद्यमान है। हड़प्पा और

श्रृंग लकर ह
जि तान श्रृंग स
क है। देखश्रृंग
ध आपने जायन
ज अभष्ट है।
इस सब कुछ

श्री सीलों व बाधार पर, विद्वानों वा यह अनुमान है कि वहाँ के
में शिव और जैन धर्मों का फुट था । शिव की अनक रूपा में कल्पना
सोल म शिव को तीन मुख तथा तीन नेत्रों के साथ पद्मासन मे
है । यही नहीं, उनके शिर पर सीगा वाली पोशाक है । उनके
हाथी तथा बाघ है और बाइ आर गढा तथा भसा और सिंहासन
प खड़ा है । इससे यह स्पष्ट है कि 'त्रिमुख', 'त्रिनेत्र' 'भूतनाथ'
महायोगी' के रूप में शिव की कल्पनायें इस युग में अस्तित्व में आ
मम्भव है कि सीगा वाली पोशाक ही आगे चलकर रिदूल में प्रति
। जिन्ही जिन्ही सीला में शिव का चतुर्भुजी के रूप में अंकित किया

विश्वामित्र ने देवी का रूप देखा। उसी कल्पना से प्रागे चलकर चतुर्भुज देवताओं की कल्पना की गया है। देवताओं का जन यागियों की मुद्रा में अर्पित करना और नृपति (बल) का प्रतीकात्मक रूप से जनक साथ सम्बन्धित करना जन धर्म के प्रारम्भिक रूप से रहते हैं। यहाँ मिले शकवाकार (Conical) और रज्जुवाकार (Cylindrical) पत्थरों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवतः 'शिव' और 'शक्ति' की पूजा 'लिङ्ग' और 'योनि' के रूप में की जाती थी। आज भी मन्दिरों में शिव-मूर्ति और अर्थात् 'लिङ्ग' और 'योनि' के ही प्रतीकों के रूप में गढ़े जाते हैं। हड़प्पा और मोहन जोदड़ो के लोग पीपल को पवित्र मानते थे। विभिन्न देवताओं के माहुर इस काल में पवित्र और पूजा योग्य समझे जाते थे। मुह में मछली लिए घड़ियाल को लोग मिथुन का प्रतीक मानते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि सम्भवतः, हड़प्पा मोहनजोदड़ो के निवासी मदिमी की भी पूजा करते थे। स्वस्तिक और चक्र, जसा कि विद्वानों का मत है, सूर्य के प्रतीक समझे जाने चाहिए। इस प्रकार, हिन्दुत्व की अनेक विराधातायें हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की मस्कृति में विद्यमान हैं। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित प्रेतात्माओं और जादुयों विचारों में विद्वानों हड़प्पा की मस्कृति के प्रभाव के ही परिणाम हैं।

हिंदुत्व का अभ्युदय ✓

आज स चार पीढ़ी पूर्व जब यह निर्धारित किया गया कि मस्जिद और उससे उत्पन्न भाषायें आय भाषायें हैं और ईरान से लेकर पारस तक फैली हुयी प्राय भाषाभाषा से उनका मूल सम्बन्ध है तो सहसा यह मान लिया गया कि भारत में जा कुछ भी श्रेष्ठ है यह आयों को देन है । किन्तु बाद की साजा से यह धारणा बदल गयी ।

आज यह निर्विवाद है कि आर्यों के पहले भी भारत में मुमगठित और उच्च सस्कृति विद्यमान थी। जाय गन्, धर्मनिन्द कोसाम्बी के अनुसार, 'शुद्ध धातु से बना होने के कारण, 'धुमकवड (यायावर) या मुगाफिर' का जन्म होता है। आय सस्कृति निश्चय ही यायावरो की सस्कृति थी और आय सस्कृति का भारत में द्राविडीकरण हुआ है। आय-सस्कृति का द्राविडीकरण की प्रक्रिया ईरान में ही प्रारम्भ हो गयी थी और इसी कारण पञ्जाब और वहाँ के निवासी आर्यों को उतने अपरिचित नहीं लगते। जितने कि वे नवागतियों का स्मरण चाहिए थे¹। हड़प्पा और मोहनजोदडो के ढूँहों (Mounds) के विभिन्न पतों में पाए गए विभिन्न प्रकार के मिट्टी के बरतन जो झूलते हुए हैं, इस बात का प्रमाण है कि जिन स्थानों में वे ढूँह बने गए हैं वे कई बार भावाद हा होकर उजड़े हैं। मिट्टी के बरतनों का झुलसा होना जाग लगाकर उखाड़ने का शोचक है। इसी आधार पर स्टुअर्ट पिगाट ने यह मत प्रतिपादित किया है कि लगभग एक हजार वर्ष तक आय-स्थानांतरण की वृद्धि भारत का प्रभावित करती रही²। भारत में आस्ट्रिक भाषा भाषी नवप्रस्तरयुगीन सस्कृति का अग्रदूत रहे हैं, द्राविड भाषा भाषी ताम्र और कांस्ययुगीन सस्कृति के और आय लौहयुगीन सस्कृति के। आर्यों के भारत में स्थानांतरित होने से भी अधिक महत्वपूर्ण है आस्ट्रिक, द्राविड और आय सस्कृतियों का एक मूल में बाधन वाली वह समकालीन प्रक्रिया जिसने हिन्दू सस्कृति का जन्म देकर फिर भारतीय सस्कृति को जन्म दिया। वास्तव में, आय और अस्ट्रिक सस्कृतियों द्वारा आपरिवर्तित प्राक् आय (आस्ट्रिक तथा द्राविड) सस्कृतियों के आधार ही अखिल भारतीय सस्कृति की आधारभूत आत्मा है।

आय और प्राक् आय सस्कृतियों के समकालीन के अनेक प्रमाण हैं। शिव (आदि पुरुष) और उमा (आदि प्रकृति) की कल्पना द्राविडों की देन है। दार्शनिक स्तर पर यह कल्पना आर्यों की 'पृथ्वी माता और आकाश पिता की कल्पना से कहीं अधिक व्यापक, रहस्यात्मक और सक्रिय प्रतीत होती है। शिव लिंग की पूजा, हो सकता है आस्ट्रिक भाषा भाषियों की देन हो किन्तु एक सबकल्पनाकारी देवता के रूप में, शिव की कल्पना द्राविडों की ही देन है। हिन्दुओं के धार्मिक विचार दर्शन, प्रथाएँ और संस्कार आगम और निगम दो ग्रन्थों में आते हैं। निगम प्रतीक हैं वेदिक क्रियाएँ वसुधाएँ और बलियुक्त स्वनवा और आगम तांत्रिक तथा पौराणिक प्रथाओं और संस्कारों का जिसमें योगिक तथा धार्मिक जादुई विचारधाराएँ और प्रथाएँ भी सम्मिलित हैं। पूष ऋषि नवेम पुण्य भजन कीर्तन के साथ देवमूर्ति की पूजा करना ही पूजा कहलाता है। पूजा निश्चय ही आगम की श्रेणी में आती है। यही नहीं,

1 घटजी गुनीति कुमार आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक एज' में पृष्ठ 1.

2 पिगाट, स्टुअर्ट प्रोहिस्टोरिक इण्डिया पृष्ठ 218

पूजा शब्द की व्युत्पत्ति भी द्राविड भाषा से है। इस प्रकार आगम का अपना एक अलग संचार रहा है। यद्यपि आगम और निगम ने एक दूसरे का प्रभावित किया है। गीता में कर्ण का यह कहना कि यदि कोई पुत्र पुष्प अर्पित करके निष्ठा के साथ मरी आराधना करता है तो वह मुझे स्वीकृत है इस बात का प्रतीक है कि गीता की रचना के समय आगम-मन्त्र और अनुष्ठान भाग्य हो चुके थे। गीता और महाभारत के समय तब पुष्पकर्म (पूजा) और पशुकर्म (हवन बलि) का समय हो चुका था। हिंदू धार्मिक अनुष्ठानों और क्रियाओं में यह समय आज भी विद्यमान है।

बदा में वर्णित आर्यों के देवताओं की महत्ता का धीरे धीरे समाप्त होना, उनका मानवीकरण होना और अनायों के देवताओं का सर्वोपरित्व मिटना जहाँ एक ओर, आर्यों के द्राविडीकरण का प्रतीक है वहाँ दूसरी ओर अनायों पर आर्यों की सांस्कृतिक विजय का। आय प्रकृति का पुजारी था और उनका देवता था इंद्र वरुण, मरुत और सूर्य का निराकार प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे। आगे चलकर, इन प्राकृतिक शक्तियों की मानवी रूप में मूर्तपना की गयी जो द्राविड विचारधारा के प्रभाव का परिचायक है। आर्यों के सबसे बड़े देवता इंद्र (पुरंदर), उत्तर वैदिक काल में केवल दिक्पाल माने रह गए और सभी देवताओं में विष्णु और शिव सर्वोपरि हो गए। विष्णु और शिव को सर्वोपरित्व मिला तब बड़ी कि अन्य देवता, कण्टो से छुटकारा पान के लिए शिव या विष्णु की शरण में आने लगे। अनुमान और गणना जैसे देवता और दैवी भगवती के अनेक रूप निश्चय ही प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक हैं। कर्ण ने इंद्र की पूजा में स्थान पर गावरयन पत्र की पूजा का प्रतिष्ठापित किया था जो इस बात का प्रमाण माना जाता है कि किस प्रकार कर्ण के नेतृत्व में अनायों ने अपनी सांस्कृतिक विजय पताका फहराने का प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुए। हिंदू सामाजिक संगठन में टोटमवाद (Totemism) का प्रभाव गहरा तथा नाग के रूप में जानवरों की पूजा और पेड़ पौधों तथा वृक्षों की पूजा अनायों सांस्कृतिक तरीकों के ही प्रतीक हैं।

अमरों में आए हुए इनका सामाजिक सत्त्व आज भी भारतीय संस्कृति में बने हुए हैं। देवर भाभी का सम्बन्ध, वैदिक तथा उत्तरवैदिक माहिर्य में। 'मय' प्रयोगों की ओर निर्देश, नारियल सिंदूर हल्दी और पान का उपयोग उससे में प्रयोग, जो की रोटी, भात और मक्खन, जो आर्यों के स्वाभिविरक्त प्रयोग में लाए जाने वाले साधन पदार्थ और वस्त्रों में धाती, साफा और उत्तरीय अनायों सांस्कृतिक सत्त्व हैं। राम और सीता की भारत के अनेक उपान्यासों का उन्मूलन भी अनायों विचारधारा में भारतीय विचारधारा का आन्तरिक और अर्थात् के मूलधार में अनायों चट्टों ने लाया तथा तब कहा है कि भारतीय संस्कृति रूप में संस्कृति है। भारत के भारतीय संस्कृति का जन्म है अनायों

धाय और अनाय ने ताने-बाने से ही भारतीय सस्कृति के आधार का निर्माण हुआ है। आय और अनाय सास्कृतियों के संगम से ही भारतीय सस्कृति की सामाजिक एवं समन्वयकारी विशेषता का जन्म होता है। इसी समन्वयकारी विशेषता ने भारतीय सस्कृति का विशिष्टता एकत्व और स्थायित्व प्रदान किया है। यही वह विशेषता है जिसने विभिन्न सास्कृतिक प्रजातिका मानव समूहों को एक सूत्र में बांध दिया। आयों और अनायों की सस्कृतियों के समन्वय ने एक विशिष्ट दर्शन का जन्म दिया जिसने मुख्य आधार हैं सहिष्णुता, अहिंसा, जीवन के सभी प्रकारों के प्रति पवित्रता की भावना, सम्पूर्ण दुःख और गुराड़ों को दूर करने के लिए तपस्या, यम नियम और ज्ञान का आश्रय लेना तथा रहस्यात्मक अनुभवों द्वारा अदृश्य वास्तविकता को पाने की अभिलाषा, जीवन के दुःखों तथा उनके मूलकारणों के प्रति भगवत् होकर व्यक्ति, समुदाय (सहृदयी) तथा मानवमात्र के जीवन से उन्हें दूर करने की प्रेरणा, रागात्मक भावनाओं तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों में सामंजस्य रखते हुए बुद्धि पर अडिग आश्रय बनाए रखना, जीवन में समन्वय (अनेकान्तवाद) की अभिलाषा और जीवन के सभी प्रकारों को अदृश्य और अलौकिक वास्तविकता के रूप मानकर उनमें एकत्व की अनुभूति करना¹।

आय और अनाय सस्कृतियों के संगम से ही हिन्दुत्व और हिन्दू समाज का जन्म हुआ और जसा कि पहले कहा जा चुका है हिन्दुत्व ने ही विभिन्न प्रजातिक तथा सास्कृतिक समूहों का एक सूत्र में बांध दिया। हिन्दुत्व प्रसरण की यह प्रक्रिया आज भी जारी है। हिन्दुत्व और हिन्दू समाज न तो पूर्णतया धाय है और न अनाय। जैसाकि वैदिक और उत्तरवैदिक साहित्य से स्पष्ट है, धीरे धीरे, आयों पर अनायों का प्रभाव पड़ा और धाय तथा अनाय सस्कृतियों का संगम हुआ। इस संगम से उत्पन्न सामासिकता में अनायों के विचार, दर्शन और प्रथाएँ नए रूपों में प्रस्फुटित हुयीं। भारत की परम्परागत सामाजिक आर्थिक विशिष्टताएँ इसी सामासिकता के साथ साथ अस्तित्व में जाती हैं। सम्राट सुदास की विजय के साथ साथ, भारतीय राजनितिक संगठन में सम्राट की धारणा का जन्म होता है और सभी से भारत के राजाओं ने, अन्य राजाओं के राज्यों को हड़प न करने वरन् उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाकर सदैव सम्राट की पदवी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। सम्राट बनना राजा का धर्म है और पराजित राजा के राज्य को हड़प लेना अधर्म है। सम्भवतः, इसी कारण जहाँ एक ओर, भारत के राजाओं ने सम्राट बनकर भारत को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया है वहाँ, दूसरी ओर भारत के बाहर उपनिवेश स्थापित करने से दूर रहे हैं। भारतीय राजनितिक दर्शन पर भी अनेकान्तवाद का प्रबल प्रभाव रहा है।

1 चटर्जी मुनीति कुमार भार० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित पुस्तक वैदिक एज में।

भारतीय परिवारण के प्रभाव और अनाथों के सम्पर्क ने फिर दर धार्यों को कृपक बना दिया। भूमि से बचकर स्थायी जीवन बिताना कृपि की एक आधारभूत आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति के माध्य-साध जगतप्रसिद्ध भारतीय ग्राम का अम्युदय हुआ। सम्मिलित और समुक्त परिवार कृपक जीवन की एक अम्य आवश्यकता है। वैदिक साहित्य में इस बात के यथष्ट प्रमाण मिलते हैं कि किस प्रकार भारत में परिवार की समुक्तता बताये रखन का प्रयास किया गया है और आज अनेक प्रबन्ध परिवर्तनकारी शक्तियों के आघातों को सहते हुये भी भारतीय परिवार की समुक्तता सुरक्षित है। कृपि का सहायता प्रदान करने वाले पेटे और उनको करने वाले व्यक्ति अथवा समूह कृपक समाज की एक अम्य आवश्यकता है जिनके परिणामस्वरूप, प्रारम्भ से ही लकड़ी, लोहा और चमड़े के कार्यों पर आधारित पेशा और उनके करने वाला का वणन मिलता है। उधर धार्यों ने भारत में प्रजातिवाद, वण-भेद और जाति ग्रहमयता के विचारों को जन्म दिया। जाति ग्रहमयता के विचार ने ही इस भावना को जन्म दिया कि वेना का जान धार्यों का साक्षात् ईश्वर से मिला है और इस जान के सभी अधिकारी नहीं हैं। कृपक समाज की आवश्यकताओं और वण भेद के विचारों ने ही सम्भवत वण-व्यवस्था का प्रोत्साहन दिया। कालांतर में, इसी परिस्थिति ने कृपि पर आधारित भारत की उस सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसका मुख्य आधार जाति में निहित हुआ गया। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वण व्यवस्था ने ही जाति प्रथा का जन्म दिया। वण और जाति सहसम्बन्धित किन्तु सहस्थायी सामाजिक इकाईयाँ रहती हैं। दाना ने एक साम मिलकर व्यक्ति और समूह की सामाजिक प्रतिष्ठा का निर्धारित किया है। कृपक-समाज की आवश्यकताओं ने प्रतिष्ठा को कममूलक मानने पर ज़ोर दिया जबकि प्रजातिवाद तथा जाति ग्रहमयता के विचारों ने जन्म पर। 'गुणकर्म विभागश' वाली विचारधारा ने कम पर ज़ोर देकर व्यक्ति को वण में स्थान दिया किन्तु सामाजिक स्थिति को जन्मजात मानने वाली विचारधारा ने जाति में। आय और धनार्थ सस्कृतियाँ के संगम से वण-व्यवस्था और वणजाति-व्यवस्था का संगम होने में जाति-व्यवस्था का अम्युदय हुआ जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। वैदिक काल में लेकर वर्तमान समय तक, वण और जाति व्यक्ति के जीवन और व्यवहार का प्रभावित करते रहे हैं और यह इस बात का प्रतीक है कि भारत में प्रारम्भ से ही व्यक्ति समष्टि का अंग रहा है। कृपि पर आधारित सामाजिक प्रणाली की सम्भवत माग ही यही है।

इस प्रकार, आय-द्राविड सस्कृतियों के संलयन में हिन्दुत्व का बीजारोपण

- 1 ओ मेले भाइन इन्डिया एंड दि वेस्ट पृष्ठ 15। पानीकर के. एम. ए. सर्वे आफ इन्डियन हिस्ट्री पृष्ठ 8-10

हुआ किंतु वह पल्लवित और पुष्पित हुआ उत्तरवैदिक काल में। उत्तरवैदिक काल में ही वेदांत ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद लिखे गये। इन ग्रंथों में निहित धार्मिक विचारों और दर्शन ने ही हिंदू समाज और संस्कृति का संगठित और स्थायी होने में सहायता दी। ब्रह्म काल के आये केवल आर्यावृत (वर्तमान पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश) को ही जानते थे किंतु बाद में, धीरे धीरे, वे पूर्व और दक्षिण की ओर फलते गये। रामायण की कथा का ऐतिहासिक पक्ष इस बात का प्रतीक है कि रामायण काल में बिष्णुचल की सलहटी से लेकर बिष्णुघा तक फले हुये सघन वन प्रदेश में महा-वहा आये ऋषि रहते थे और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा हिंदुत्व का प्रसारण हुआ होगा। किंतु महाभारत काल में यह स्थिति बदल जाती है। महाभारत काल में भारत के वर्तमान भौगोलिक क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। कुशक्षेत्र के मैदान में सम्पूर्ण भारत के योद्धा एकत्र होते हैं। यहां तक कि हिमालय, कलाश और मानसरोवर का ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। रामायण काल में तपस्व्यारत शूद्र की कल्पना नहीं की जा सकती थी किंतु महाभारत काल में दासी-पुत्र विदुर ही सम्राट् धृतराष्ट्र के मित्र और सहायक है। वेदों के रक्षयिता और पांडु तथा धृतराष्ट्र के जनक महर्षि वेद-याज्ञ स्वयं एक निषाद स्त्री की सन्तान हैं। इस प्रकार, ज्यों ज्यों आर्यों का विस्तार होता गया और वे यहां के आदिवासियों के सम्पर्क में आते गये, सामाजिक सामंजस्य की समस्या सामने आती गयी। इस समस्या का निराकरण हुआ वण-व्यवस्था और जाति व्यवस्था द्वारा। किंतु अत्यन्त प्राचीन काल से जहां, एक ओर, वण व्यवस्था एक आदर्श कल्पनामान रही है और कभी भी समाज में उस कड़ाई के साथ लागू नहीं किया जा सका वहां, दूसरी ओर, जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था समाज में दृढ़ता प्राप्त करती गयी और इस दृढ़ता के विरुद्ध बराबर विद्रोह भी होते रहे। हिंदुत्व एक सतत विकसित और प्रसरित सामाजिक सन्तुलन रहा है। संरक्षण और सात्विकरण इसकी विशेषता रही है जिसके कारण भारत में जाये हुए विभिन्न प्रकार के समूहों को हिंदुत्व एकता-मूल में बांधने में सफल हुआ है। हा, केवल इस्लाम इसका अपवाद है।

वास्तव में हिंदुत्व के दार्शनिक और सामाजिक आधारों का विकास और समन्वय तथा संगठन उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। उपनिषदों में ही आत्मा निरपेक्ष निराकार रहा और ईश्वर तथा मानव के सम्बन्ध की कल्पना और व्यवस्था की गयी। उत्तरवैदिक काल में ही धर्म की उस 'यापक' धारणा का प्रतिपादन किया गया जो हिंदू सामाजिक दर्शन की अपनी निजी विशेषता है। कम माया, मूर्ध्ति और आत्मगमन के सिद्धांतों का निर्धारण भी उत्तरवैदिक काल में ही हुआ। ये सिद्धांत ही वास्तव में हिंदू धर्म तथा समाज की वे आधारभूत शिलाएँ हैं जिन्होंने हिंदुत्व का स्थायित्व प्रदान किया है। प्रत्येक युग में आवश्यकतानुसार इन्हीं सिद्धांतों का निवेदन और निवेदन होता रहा है और उसी से हिंदू को प्रेरणा

मिलती रही है। गृह्य सूत्रों और धर्म-सूत्रों ने हिन्दुत्व के सामाजिक आधार की नींव डाली। गृह्य-सूत्रों के द्वारा हिन्दू गृहस्थ के घरेलू जीवन को नियमित और निर्धारित किया गया। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के अनेक संस्कारों का निर्धारण और नियमन गृह्य सूत्रों द्वारा ही हुआ। गृह्य सूत्रों द्वारा निर्धारित संस्कारों से सम्बंधित कल्पों (Rituals) को मानने वाला ही वास्तव में हिन्दू है। हिन्दुत्व के दार्शनिक सिद्धांत (जैसे कर्म और आवागमन के सिद्धांत) औरों के द्वारा भी अपनाये जा सकते हैं किंतु गृह्य कल्पों (Domestic Ritual) को वही अपनाया जा सकता है। आज भी जहां हिन्दुत्व है गृह्य सूत्रों में वर्णित गृह्य कल्प पाये जाते हैं। गृह्य कल्पों ने ही हिन्दुत्व को उसके सामाजिक आधार प्रदान किये। धर्म सूत्रों में सामाजिक व्यवहारों और प्रथाओं का वर्णन है। धर्म-सूत्र किसी युग विशेष की रचना न होकर कई युगों की रचनायें हैं। धर्मसूत्रों को हिन्दुओं की विधि प्रणाली (Legal System) कहा जा सकता है। धर्म सूत्र अपने वास्तविक रूप में समाज को संगठित रखने की प्रेरणा के प्रतीक हैं।

वैदिक काल में हिन्दूकरण (Hinduisation) की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी थी उत्तर वैदिक काल में उसका प्रसार बढ़ता गया जिसके फलस्वरूप अनेक गण जातियाँ हिन्दू समाज और धर्म के क्षेत्र में आती गयीं। सम्भवतः, इसी प्रसरण और उससे उत्पन्न सामाजिक सामंजस्य की आवश्यकता ने एक ओर गण व्यवस्था का प्रोत्साहन दिया तो, दूसरी ओर जाति व्यवस्था और जन्मजात सामाजिक उच्चावच परम्परा की भावना को। धार्मिक-आध्यात्मिक माहिय की अपेक्षा उत्तरवैदिककालीन साहित्य में जातियों और पेशों के नाम अधिक मिलते हैं। यही वह युग है जब यह विचार घर करने लगा था कि जाति जन्म पर आधारित है। इस युग में ब्राह्मण प्रयोगों की रचना इस बात का प्रमाण है कि ब्राह्मण वैदिक कर्मकांड को सामाजिक जीवन का आधार बना कर अपनी सामाजिक स्थिति का उच्चावच बनाने में सफल हो रहे थे। किन्तु साथ ही साथ, विश्वामित्र और वशिष्ठ के सघष की कहानी इस बात का भी प्रतीक है कि इस युग में ब्राह्मण-क्षत्रिय सघष भी चल रहा था। महाभारत में कृष्ण ने इन्द्र के स्थान पर गावरधन पर्वत की पूजा पर जोर दिया जो वैदिक धर्म और दत्तात्रेयों के प्रति विद्रोह का प्रतीक है। बागें चलकर ईसा पूर्व छठी-पाँचवीं सदी में जन और बौद्ध धर्मों के प्रवक्तव्यों का क्षत्रिय परिवारों में उत्पन्न होना यदि, एक ओर, इतिहास की आज्ञास्मिक घटनाएँ हैं तो दूसरी ओर, ब्राह्मण-क्षत्रिय सघष से उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम भी हैं। कोसांबी, कोसल, मगध और मल्ल के राज्य, बढ़त हुये राजनैतिक संगठन के प्रतीक होने के साथ साथ, बढ़ते हुये क्षत्रिय प्रभाव के भी प्रतीक हैं। दूसरी ओर, मन और ऋग्वेद पर आधारित। - कर्म, जनसाधारण का संतुष्ट करने में असफल रहा था। उत्तर और धर्म के प्रति होने वाली प्रतिप्रिया के

विकास और प्रचार हुआ।

उपनिषद् अनेक हैं और सभी उपनिषदों में वर्णित दशन, किंही किंही स्थलों में, एक दूसरे के विरोधी भी हैं। उपनिषदों में विरोधी विचारों के आजागने का एक मुख्य कारण यह है कि वे किसी एक कालविशेष की रचनाएँ नहीं हैं। उत्तर वैदिक काल से लेकर मुसलमानों के आने के समय और उसके बाद तक भी उपनिषदों की रचनाएँ और उनमें वर्णित विचारों और दशनों की व्याख्या तथा निबन्धन होता रहा है और यही कारण है कि उपनिषदों में कहीं-कहीं विरोधी विचार व्यक्त हो गए हैं। किंतु, यह निश्चित है कि उपनिषद् उत्तरवैदिक काल में चलने वाली एक विशेष विचारधारा और दशन की उपज हैं। वैदिक सामाजिक दशन इहलौकिक है और उसका मुख्य आधार है यज्ञों पर आधारित कम काण्ड। वेदों में कम का तात्पर्य है यज्ञ से। वैदिक धर्म यज्ञोत्सु और कमकाण्डी होने के साथ-साथ, बहुदेववादी भी है। वेदों में यज्ञ रचना और देव-स्तुति इसलिए की जाती है कि 'बल मोटे हो घोड़े बलवान हों, फल की उन्नति हो और शत्रुओं पर विजय मिले। वैदिकी विचारों में इस लोभ को उत्साह और आह्लाद के साथ अपनाया गया है। जन्म न तो दुःख का कारण है और न मृत्यु का पूरुरूप। वैदिक विचारों के लिए यह ससार सुख का माध्यम है—यह न तो प्रपञ्च है और न मायामय। वेदों में स्वर्ग की कामना भी इसी भाव से की गयी है कि वहाँ भी पृथ्वी पर उपलब्ध भोगों का सुख प्राप्त हो।

ठीक इसके विपरीत, उपनिषदों की विचारधारा इहलौकिक न हाकर पारलौकिक है। ससार भ्रमर है—उस मकड़ी के जाले के समान जो मकड़ी से उत्पन्न होकर फिर मकड़ी में ही समा जाता है। देवता अनेक हैं किंतु इनके ऊपर भी एक देवता है, अदृश्य, अनन्त, अच्युत निर्विकार और अजन्मा। इसी कल्पना ने सब अज्ञितमान ईश्वर, परब्रह्म परमपिता परमेश्वर की कल्पनाओं को जन्म दिया। सृष्टि के आदिकारण ब्रह्म की कल्पना उपनिषद्-दशन की एक विशेषता है। ब्रह्म एक है पर अनेक भी, निराकार है पर साकार भी। अतएव, वह निगुण भी है और सगुण भी। निगुण की उपासना ने ज्ञान सत्यास तथा योग पर ज़ोर दिया और सगुण की उपासना ने 'भक्ति' और 'अवतार' पर। ब्रह्म की ही कल्पना ने, कालांतर में, दैत, पद्मदत्त और विशिष्टादत्त जैसे वादा को जन्म दिया। उपनिषद् दशन में एक ओर ससार का क्षणभंगुर माना गया तो दूसरी ओर ससार और जीवन को मायामय। जीव ईश्वर का भाग है अतएव उसी में समा जाना उसका धर्म है। जन्म और मृत्यु के चक्र में छुटकारा पाने में ही जीव का कल्याण है। मानव जीवन का आदर्श है मुक्ति भोग, जिसके मिलने का माध्यम है ससार का वास्तविक ज्ञान न कि वैदिक कम काण्ड। धराय, सत्यास, चित्तन ध्यान और समाधि को ज्ञान प्राप्ति के मुख्य साधन माना गया है जिसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मनुष्य ससार से अलग रहे। कोई आश्चर्य नहीं यदि, उपनिषद्काल में वर्णाश्रम-व्यवस्था की विषय व्याख्या करने, उसे

लागू करने का प्रयत्न किया गया। उपनिषदों में जहाँ, एक ओर, यज्ञ और ऋग्वेद का तिरस्कार किया गया वहाँ, दूसरी ओर, कम की विस्तृत व्याख्या करके ज्ञान प्राप्ति के साधनों की भी कम के अतःगत ज्ञान का प्रयास किया गया। इस प्रकार, उपनिषदों में वैदिक कममात्र के स्थान पर ज्ञानमात्र पर जोर दिया गया। किंतु, हिन्दू सामाजिक जीवन में दोनों मात्रा अलग-अलग न रह सके। गीता की एक ऐसा उपनिषद कहा जा सकता है जिसमें इन दोनों मार्गों का समन्वित करने का प्रयास किया गया है। गीता में कम की व्याख्या ही इस समय का प्रतीक है। गीता-दान, इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। हिन्दू सामाजिक जीवन को प्रेरणा देने वाली अर्थात् यदि एक ओर इस लोक के प्रति प्रेरित करती है तो दूसरी ओर परलोक के प्रति।

४

बुद्धवाद और जनवाद

इसवीं पूर्व छठी शताब्दी में उत्पन्न होने वाले जन और बुद्ध धर्मों में, एक ओर, औपनिषदिक विचारधारा को प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर वैदिक कमकाण्ड और ब्रह्मणवाद का विरोध किया। वास्तव में, जनवाद और बुद्धवाद का विकास औपनिषदिक और वैदिक विचारधाराओं की ही पृष्ठभूमि में हुआ और यही कारण है कि जनवाद और बुद्धवाद के रूप में हम सामाजिक तथ्यों के नये निबन्धन मिलते हैं। इसीलिए जन और बुद्ध धर्मों के आविर्भाव को धार्मिक क्रांति न कहकर सामाजिक क्रांति कहा जाता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हठव्या और माहंजादों की सीला में खुदे हुए कुछ चित्र जन-यागियों के समान लगते हैं जो इस बात का प्रतीक हैं कि जन परम्पराओं भारत में पहले ही से विद्यमान थी। उधर अहिंसा सत्कार की नित्यता प्रतियता मोक्ष तथा कमसम्बन्धी विचार और संन्यास की मायतायों, बुद्ध के पहले ही माय हो चुकी थी। जैन और बुद्ध धर्मों के प्रवक्तव्यों ने इन विचारों को वह सामाजिक पुट दिया जिसकी जड़ वैदिक काल और उपनिषदों में ही जन्म समाज से दूर न जा सके। जनमतावलम्बी जनमत के साथ हिन्दू-परम्पराओं की मानते रहें हैं। बुद्धमत के लिए कहा जाता है कि वह हिंदुत्व का एक बौद्धिक रूप है और इस कथन में अतिशयोक्ति भी नहीं है। यह भी माना जाता है कि पौराणिक कथाओं की बौद्ध-आदशों के अनुसार गढ़कर, उन्हें जातक कहा जाता है कि पौराणिक कथाओं की पहली शताब्दी में, महायान के उत्थान और नागाजून के गुणवाद की धारणा ने बौद्ध धर्म की हिंदुत्व के और भी समीप ला दिया। नागाजून का

गुणवाद आगे चक्कर, शक्ति के अद्वैतवाद का आधार बना। वज्रयान के रूप में परम्परागत योगिक तन्त्रवाद पुनः स्थापित हुआ और सहजयान के रूप में वह रहस्यवादी विचारधारा बन गई जिसने एक ओर भिक्षुओं की परम्परा को जन्म दिया तो दूसरी ओर मध्यकालीन भक्तिमार्ग तथा वाक्य परम्परा का। यह कहना असंगत है कि भारत में बुद्धवाद का लोप हो गया। वास्तविकता तो यह है कि बुद्धवाद एक प्रजाशासिनी सरिता की भाँति अनेक धाराओं में बँटकर हिन्दुत्व के प्रशांत महासागर में विलीन हो गया।

यह निश्चित है कि जनवाद और बुद्धवाद का भारतीय सामाजिक जीवन, विशेषतया सामाजिक अहिंसा पर कारिणी प्रभाव पड़ा। इन दोनों धर्मों ने निवृत्तिमार्गी प्रवृत्तियों को प्रास्ताविक किया जिसके फलस्वरूप एक ओर समाज का सामाजिक माहात्म्य बढ़ा तो दूसरी ओर मोक्ष, कल्याण, तपस्या और 'समाधि' का। जैन मुनियों ने तो तपस्या का उसकी पराकाष्ठा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया किन्तु बौद्धों ने सम्यक मार्ग का ही उचित ठहराया। दोनों ने संसार का दुःखमय मानकर संसार त्यागने पर जोर दिया और इस प्रकार दोनों ने उपनिषद् के मार्ग का अनुसरण किया। हाँ यह अवश्य है कि बौद्धों ने तपस्या के द्वारा शरीर को कष्ट देने पर जोर नहीं दिया। दोनों ने 'अहिंसा परमार्थ' के आदेश को प्रतिपादित किया यद्यपि, इन आदेशों प्रतिपादन में दोनों ने अलग अलग मार्गों का अनुसरण किया। जिनका ने किसी भी प्रकार में जीव हत्या न हो इस पर जोर दिया। छानकर पानी पीना मार्ग को बृंहारते हुए चलना और बालों को उस्तरे से काटने का स्थान पर उखाड़ने का क्रियाएँ इस विचारधारा का परिणाम हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जिनका ने कपि का स्थान पर व्यापार का अधिक उचित ठहराया क्योंकि कृषि में जीव हत्या की अधिक सम्भावना रहती है। इसका दूसरा स्पष्टीकरण यह है कि आदिवासियों के हिन्दू समाज में शूद्र के स्तर पर संगठित होने के कारण, कृषि के लिए जन श्रमिक उपाय हीन वर्ग का वश्या न कपि के स्थान पर व्यापार को अपना कर अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का उच्च बनाने का प्रयास किया। बुद्ध ने व्यक्ति के लिए अहिंसा वृत्ति को किन्तु उस पराकाष्ठा तक नहीं जहाँ तक जैनियों ने किया। बौद्धों में, वही-वही जानवरों का मारना तो हिंसा माना गया किन्तु मरे हुए जानवरों का मांस खाना अहिंसा। अहिंसा सम्बन्धी जन विचारधारा ने अन्ततः अहिंसा 'बौद्धिक अहिंसा' का रूप लिया और स्यान्तान और अनकात्तान के मतों का जन्म हुआ। स्यान्त का अर्थ है 'पाप' या सम्भवतः और स्यान्तान से तात्पर्य लिया जाता है उस विचारधारा में जो इस भावना पर आधारित है कि हम सबका है कि दूसरा भी गरीब है। इसी प्रकार अनकात्तान का भी यही अर्थ है कि इस संसार में धर्म और सुख का मार्ग अनेक हैं और सम्भवतः सभी मार्ग ठीक हैं। आज स्यान्तान और अनकात्तान जन धर्म का ही एकाधिकार में नहीं है। आज के भारतीय सस्कृति की

या भाग में लीन हो चुके हैं। भारत में सांस्कृतिक सहिष्णुता और सामासिकता की जड़ें भी सम्भवतः स्यादवाद और अनेकवादात्मकता में ही हैं। स्यादवाद और अनेकवादात्मकता में उपलब्ध प्रेरणाएँ आज भी उतनी ही प्रभावपूर्ण हैं जितनी कि वे कभी थीं। पूर्व और पश्चिम में समन्वय स्थापित करने तथा शांति के चक्कर में जलम एक स्तर पर वैदेशिक नीति अपनाते की पृष्ठभूमि में स्यादवाद और अनेकवादात्मकता की ही प्रणालियाँ कार्य कर रही हैं। इन दो प्रेरक मताओं में यदि भारत की समाजशास्त्रीय निहित हों तो उसकी सजीवनी शक्ति भी इन्हीं में है।

बुद्धवाद और जैनवाद अपने युग की सामाजिक शक्ति प्रतीकियाँ हैं जिनका उदयावध ब्राह्मणवाद के वैदिक कर्मकाण्ड और उपनिषद् की अग्रतः शुद्ध एवं नीरस व्याख्या के प्रति होने वाली प्रतिविराह में हुआ। जैन और बौद्ध धर्मों का आविर्भाव और प्रसार ही उस प्रदेश के जातियों में हुआ था जो मुख्यतया अनाथ थे। इसका बड़ा प्रमाण है कि बुद्ध और पांचाल के जाय मगध के पालों की शायों का अपन में निम्न समझते थे। सम्भवतः इस कारण मगध के जायों में ब्राह्मणवाद और जाति व्यवस्था के प्रति जो प्रतिविराह हुआ उसका चरमोत्पत्ति बुद्धवाद के रूप में हुआ। बुद्धवाद में, वैदिक प्रथाओं के प्रतिविराह, यथा का रूप माना गया है। महात्मा बुद्ध ने जाति का जन्मजात न मानकर समान माना और वैदिक काल में पतने हुए हिन्दू 'आत्मवत् सब भूतपू और पण्डिता समन्वितों की विचारधारा पर जोर दिया जिसके परिणामस्वरूप यह भावना घर करने लगी कि ऊँच-नीच का भेदभाव न तो समझते हैं और न स्वीकार करते हैं—यह मनोव्यवस्था है। माता का जीवन का ध्यान मानते हुए महात्मा बुद्ध ने इस बात पर जोर दिया कि मानव का विकास सभी में है कि वह जाति, धर्म और ऊँच-नीच की भावनाओं में ऊपर उठने का प्रयत्न करे। जीवन का मात्र विकास बनाया जा सकता है पर कर्मों के द्वारा। यह कहकर कि निम्न स्थिति वाला व्यक्ति भी अपने कर्मों द्वारा पवित्र जीवन का प्राप्त हो सकता है भगवान् बुद्ध ने नम मित्रता का एक शक्तिशाली प्रतीकाल रूप प्रदान किया। परम्परागत विचारधारा के अनुसार, मानव जीवन और दुःख युक्त इस जीवन तथा पुनर्जात के कर्मानुसार होते हैं। महात्मा बुद्ध ने भी यह माना कि कर्म संचित होते रहते हैं। किन्तु साथ ही साथ, उन्होंने यह भी माना कि जन्म कुछ नहीं करता कर्म ही सब कुछ है क्योंकि कर्म के द्वारा निम्न व्यक्ति भी ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कर्मवाद के जिस निदान का वह तथा उपनिषद् के मनापियों ने निराशास्य भावना का रूप दिया उसी का भगवान् बुद्ध ने एक प्रतीकाल आभावाद का रूप दिया। बुद्धवाद में कर्म की विचार व्याख्या की गई। वैदिक काल में, यथा कर्म के प्रतीक थे। उपनिषद् काल में, यथा कर्म काय-माय, चिन्तन और साधन की कर्म की शक्ति में आ गए। किन्तु बुद्धवाद में, भगवान् बुद्ध के सम्भव माय पर आधारित, शांति भी कर्म की शक्ति में आ गए। यम नियम प्राणायाम, उपनिषद्, अस्त्यम

घोर अपरिग्रह इत्यादि नम के प्रतीक बन गए। कम की इसी 'यापव' व्याख्या ने गीता में अनासक्तियोग की धारणा का रूप ले लिया। महात्मा गांधी ने प्रबल आशावाद पर निश्चय ही अनासक्ति योग की छाप रही है और उनका सादा जीवन बिताने तथा साध्व के स्थान पर साधन की पवित्रता पर अधिक जोर देना, उसी आदर्श से प्रभावित स ज्ञान पद्धत हैं जिसमें नमों की पवित्रता और सम्यक् भाग पर जोर दिया गया है।

अनेक प्रजातियों का संगम स्थल होते हुए भी भारत प्रजातिवाद के भयकर रोगों में मूक्त रहा है। भारत प्रारम्भ से ही अनेक संस्कृतियों का सन्धान रहा है। यह, सम्भवतः, जैनवाद के 'अनेकात्मवाद' और बुद्धवाद के 'सम्यक् भाग' की ही देन है। वे० एम० पॉनिकर के अनुसार, सभ्यता की स्थापना और स्त्रियों की भिक्षुणी बनने की अनुमति देना वास्तव में मानव इतिहास में जातिकारी परिवर्तन के प्रतीक हैं। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि कालांतर सभा के स्थान पर मठों और 'भवाडों' का महत्व बढ़ गया। सभ्य धारण गच्छामि' बुद्धवाद का एक प्राथमिक तारा था। सभ्य परम्परा के परिणामस्वरूप मध्ययुग में मुसलमानों के प्रभाव के अंतर्गत, भारत में, विशेषतया उत्तरी भारत में, पंच परम्परा प्रादुर्भूत हुयी। प्रत्येक पंच के प्रणेता ने जाति पाति और ऊँच-नीच का विरोध किया। महात्मा बुद्ध ने स यासी का ही मुक्ति का भागी ठहराया और स यासी वह है जो समाज से अलग होकर जाति पाति के बंधनों से ऊपर उठ गया हो। यह बुद्धवाद का ही प्रभाव है कि स यास हिंदू सामाजिक जीवन का बहिर्क्षेत्र बन गया है जहाँ न कोई जाति है और न पाति। जाति-व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले विद्रोहियों को स यास से ही आश्रय और आश्रय मिलते रहे हैं। आज भी यह माना जाता है कि दण्डिया और स यासियों की कोई जाति नहीं होती है और न उन्हें जातिगत छूआछूत तथा स्नान पान के नियमों को मानना चाहिये। निगुडा बाभन ना तर भवता तर चमारे यह कथन और इसमें निहित दण्डिका बुद्धवाद के नम सिद्धांत से अप्रत्यक्षत प्रभावित हैं। महात्मा बुद्ध ने लोकभाषा का द्वारा अपना संदेश लोगों तक पहुंचाया और, साथ ही साथ, यत्किं कमकाण्ड और उपनिषदों के शुष्क ज्ञानभाषा के स्थान पर सरल कमभाषा का उचित ठहराया। जाति प्रथा, ब्राह्मणवाद ब्रह्म कमकाण्ड तथा उपनिषदों के शुष्क नीरस ज्ञानवाद से उठी हुयी जनता का बुद्धवाद अधिक आकर्षक तथा श्रव्यस्वर प्रतीत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्धवाद एक सामाजिक आन्दोलन बन गया और उससे उत्पन्न सामाजिक जाति की लहर एक भार जाति पाति का विरोध करने वाले मध्यकालीन सन्तों की वाणी में प्रभुत्वित हुयी तो, दूसरी ओर महात्मा गांधी के वायों और विचारों में। छठी पीढ़ी के सन्तों का सन्त साध्व न अतः तब चलने वाला ब्राह्मण बौद्ध सभ्य, सामाजिक आन्दोलन का ही प्रतीक है। यह निश्चित है कि बुद्धवाद ने जनसाधारण को प्रेरित किया और उन समूहों को प्रभावित किया जो हिंदुत्व के क्षेत्र का बाहर

ये जो, आगे चलकर, बुद्धवाद की समाप्ति के साथ-साथ वे हिन्दू समाज का अंग बन गये। अतएव, यह कहा जा सकता है कि जहां, एक ओर, बुद्धवाद ने वैदिक हिन्दू धर्म तथा समाज के प्रति विद्रोह की आवाज उठाई वहीं, दूसरी ओर, आय प्रनाय समवय से उत्पन्न हिन्दूकरण की प्रक्रिया का बढ़ावा भी दिया। बुद्धवाद नव निवर्तित वैदिक धर्म के प्रसार का एक प्रयास था।

ज्यों ज्यों बौद्ध धर्म का विकास हुआ त्यों त्यों स्मृतियों के रूप में जाति व्यवस्था का बनाये रखने के लिये कठे अनुशासनों की व्यवस्था की गयी। बुद्धवाद के प्रभाव के कारण, हिन्दुत्व के पुनर्संगठन का प्रयास किया गया और इस बात का प्रयास किया गया कि यह पुनर्संगठन जनमाधारण के स्तर पर हो। किन्तु जैसा कि मीमांसा सिद्धांतों¹ से स्पष्ट है इस पुनर्संगठन में कल्पवादिता (Ritualism) का प्राभाव था। आठवीं शताब्दी में, शंकर ने इस कल्पवादिता को अद्वैतवाद का दार्शनिक आधार प्रदान करके इसे शुद्ध एक नीरस होन में बचाया और हिन्दुत्व का वह दार्शनिक मिथ्यान्त प्रदान किये जिनके कारण हिन्दुत्व इस्लाम और ईसाईयत के आघातों को आत्मसात कर सका। शंकर ने उपनिषदों के आधार पर, अद्वैतवाद के दर्शन का प्रतिपादन करके, कार कल्पाचार को निरपेक्ष कहा। कर्त्तव्य (Rituals) की शंकर ने उसी प्रकार से भूलना की जमी कि बौद्धों ने की थी और इसी कारण मीमांसका ने उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध की संज्ञा दी है। कुछ भी हो शंकर ने बुद्धवाद के दार्शनिक आधार को आत्मसात करके हिन्दुत्व के पुनर्संगठन में सहायता की। दूसरी ओर, उत्तर में ब्रह्मिधर्म पूर्व में पुरी पवित्रम में द्वारिका और दक्षिण में श्री गौरी नामक स्थानों पर चार मठों की स्थापना करके शंकर ने हिन्दुत्व के पुनर्संगठन को प्रोत्साहित किया। मीमांसकों का पराजित करके शंकर ने बुद्धवाद और हिन्दुत्व का परस्पर समीप करने में सहायता दी जिसका परिणाम यह हुआ कि पुरी का बौद्धों का मन्दिर हिन्दुओं का मन्दिर हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "दसवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दुत्व अपना भावभौमिक प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। पुनर्प्रतिपादित सिद्धांतों ने हिन्दुत्व को वह दर्शन प्रदान किया जिसे बुद्धिवादी वर्गों में मान्यता मिली और जिसने बुद्धवाद का आत्मसात कर लिया। नर्मदा से लेकर कुमारी धन्तरीय तक शिव, विष्णु और देवी की पूजा का प्रसार और प्रतिपादन हुआ

- 1 'मीमांसा दर्शन का विषय है वैदिक विधि नियमों का आगम्य समझना, उनकी पारस्परिक संगति बटाना और धृतिवर्गों द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन करना। विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म-जमान्तर में परमात्मन की प्राप्ति हो उस वेद प्रतिपाद्य विधिवत् कर्म का अनुष्ठान ही धर्म है'। मीमांसा दर्शन के द्वारा वैदिक कर्मकाण्डी विधि के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया है—गोसा, वाचस्पति भारतीय दर्शन पृष्ठ 342

और तत्कालीन दंगन में बिना किसी शका के परमात्मा जीवात्मा माया और जाति तथा धर्म शास्त्रों के आधार पर संगठित समाज में अवतारा के सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया गया ^१। किंतु इस प्रकार जहां एक ओर हिंदुत्व के संगठनकारी आधार जास्तित्व में आ रहे थे वहां दूसरी ओर अनेक वादा में पड़कर हिंदू समाज विभ्रत स्थिति में आ रहा था। गवों शावता और वध्णवों के सघष उसी प्रकार अकाट्य ऐतिहासिक तथ्य हैं जिस प्रकार वैदिक काल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों और बाद में बौद्धों तथा ब्राह्मणों के बीच में चलने वाले सघष। इसी स्थिति में इस्लाम के प्रवेश ने हिंदु धर्म में अनेक परिवर्तनकारी प्रक्रियाओं को जन्म दिया जिनका विश्लेषण करने में पहले हिंदुत्व के उन वैचारिक आधारों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है जिनके द्वारा हिंदु धर्म में यकिन और समाज की मर्यादाय निर्धारित की गई हैं।

५

हिंदुत्व के वैचारिक आधार

हिंदुत्व के सामाजिक तथा वैचारिक आधार एक सतत विकासशील सचमी ऐतिहासिक प्रक्रिया रहे हैं। प्रागैतिहासिक काल से लेकर भारत में इस्लाम के प्रवेश के काल तक हिंदुत्व के सामाजिक तथा दार्शनिक आधारों की नींव पड़ी है जो बाद में इस्लाम तथा योरापीय सभ्यता के प्रभावों से परिवर्तित होने पर भी स्थायी रह गई है। हिंदुत्व जीवन यापन का एक तरीका है जिसके प्रेरणा स्रोत निहित हैं व्यक्ति तथा समाज सम्बंधी उन विचारों में जिन्हें हिंदुओं ने एक धार में यकित तथा समाज के सम्बंधों और दूसरी ओर इष्टांगिक तथा पारंगैकिक जीवन को नियमित करने के प्रयास में विकसित किया है। सभी प्राणियों में केवल मानव ही विचारशील प्राणी है। केवल मानव ही आदेश नियमों का निर्माण करता है और केवल मानव ही यत्नमान के आधार पर भूत तथा भविष्य का एक शृंखला में जानने का प्रयास करता है। आदेश नियमों द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन मानव की ही विशेषता है और इसी विशेषता का परिणाम है कि प्रत्येक वाक्य और स्थान में मानव ने जीवन दंगन का प्रतिपादन किया है। हिंदू मानव ने जिन जीवन शक्ति का विकसित किया वहां अपने सम्बंधित सामाजिक पक्ष के साथ शक्ति के रूप में आविर्भूत हुआ। वनों के प्रणेतारों उपनिषदों के मनीषियों धर्म शास्त्रों के रचयिताओं स्मृतिकारों और समय समय पर आविर्भूत होने वाले समाज

सुधारका न जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन-रूप को प्रतिपादित किया है, वही हिंदुत्व है। हिंदुत्व वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विसर्प है। प्रमुख अनुसार, हिंदुत्व न सामाजिक संगठन से सम्बन्धित समस्याओं पर काफी गम्भीरता से ध्यान दिया है और मानव जीवन के संगठन का जहाँ तक सम्भव हो सका उत्तमतम बनाने का प्रयास किया है। इसी प्रयास में हिंदुत्व की आधारभूत धारणाओं और उनसे नियमित हिंदू सामाजिक संगठन की प्रणाली की रूपरायों भी विकसित हुई है। हिंदू-जीवन-स्थापन में मानवी तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरचियाँ, उद्देश्य तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस समन्वय के दो आधार हैं—एक, इहलौकिक जीवन की आवश्यकताओं और दूसरा, इस जीवन तथा ससार से परे जीवन की आवश्यकताओं तथा उद्देश्य। हिंदू के लिये यह ससार एक रंगमंच है और मानव जीवन एक साधनमात्र है—वह साधन जिससे जीवन-स्वातंत्र्य (मुक्ति मोक्ष) की प्राप्ति होती है। शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति जबकि गुण भी है और आवश्यकता भी। मानवीयता नितान्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे उठा हुआ एक कदम है क्योंकि शारीरी नश्वर है। अमर है तो केवल आत्मा। आत्मा को निरन्तर प्रबुद्ध करते हुए, जीवन-स्वातंत्र्य की प्राप्ति का प्रयास ही मानवीयता है। इस दृष्टिकोण की वास्तविकता इस तथ्य में निहित है कि मानव जीवन केवल शारीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। मानवीयता निहित है शास्त्र प्रणीत धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने में। मानवीयता की मांग है मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है। अतः जीवन धर्म से बचा है। मोक्ष जीवन तथा ससार से विमुक्त हान पर नहीं मिलता है। वह मिलता है जीवन को उसकी स्वाभाविक अभिवृत्ति के साथ अपनाते।

इसलिये, धर्म के साथ साथ, जीवन अर्थ और काम में भी बचा हुआ है। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय और साधन धर्म से होता है। धर्म के माध्यम से धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की साधना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य कर्म पुरुष ही बन रहना नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य है पुरुष में मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों का योगदान और नर से नरात्तम होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों आवश्यक हैं क्योंकि पुरुष से पुरुषात्तम बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों के योगदान हैं। व्यक्ति में समाज की साधना होती है और समाज में व्यक्ति का योगदान है। इस प्रक्रिया की कुछ आधारभूत अवस्थाएँ हैं—

प्रथम धर्म से है। समाज के रंगमंच पर जीवन के लिये आवश्यक है क्योंकि ये अवस्थाएँ

स्विया का एक सदन परिणाम है। जत व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मों के कारण ही समाज तथा धर्म से बंधता है और इसकारण पुरुषार्थ की साधना का तात्पर्य है गुण वर्य के अनुसार समाज में धर्म प्रसूत व्यक्ति के जीवन का अपनाने का प्रयास करना¹। इस प्रकार हिन्दुत्व तथा जीवन व प्रति हिन्दू दृष्टिकोण कुछ धारणाओं में निहित है। ये धारणाएँ हैं—धर्म अथ, काम माय (पुरुषार्थ), कम मिट्टा त और मरणांशम व्यवस्था। ये धारणाएँ तथा इनमें निहित व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ और उद्देश्य हिन्दुत्व के आधार हैं। इ ही धारणाओं ने हिन्दू समाज तथा सभ्यता का उमका विशेषताएँ प्रदान की हैं। ये धारणाएँ किसी भी रूप में निरपेक्ष नहीं हैं। ये आपेक्ष हैं व्यक्ति की मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं और दण कार्य की परिस्थितियाँ से। युग युग की आवश्यकताओं के अनुसार इन धारणाओं के सन्तुष्टन और प्रतिपादन में ही हिन्दुत्व का विकास निहित है।

1) हिन्दुत्व का यह आधारभूत विचार सम्पूर्ण हिन्दू वाङ्मय में व्याप्त है। वेदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों, आरण्यक उपनिषदों, सूत्रों, स्मृतियों, महाकाव्यों, नीति शास्त्रों तथा धर्मशास्त्रों में—

हिन्दुत्व

पाश्चा अध्याय धर्म

धर्म और रिलीजन

हिन्दुत्व में धर्म से वह अर्थ नहीं लिया जाता है जो अंग्रेजी में रिलीजन (Religion) से लिया जाता है यद्यपि सामान्यतः हिन्दु धर्म शब्द का प्रयोग रिलीजन के पर्याय रूप में किया जाने लगा है। चेम्बर्स की ट्वेंटियथ सचुरी डिक्शनरी (1947) के अनुसार, रिलीजन का अर्थ है दधी शक्तियों के प्रति मनुष्य की अनुभा के कृत्य की भावना ईश्वर के प्रति प्रेम तथा अनुभा के कृत्य का पालन, आस्था तथा पूजा-पद्धति की वाङ् भी प्रणाली और उत्तमता अथवा कृत्य का भाव। रिलीजन के दो पहलू हैं—एक दधी शक्ति के प्रति अनुभा की भावना और दूसरा, दधीशक्ति के प्रति अनुभा की भावना से प्रेरित व्यक्तियों का एक मजहबों संगठन में संगठित होना। रिलीजन शब्द का प्रयोग बुद्धवाद, ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है यदि हिन्दुत्व के लिए। बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत, एक आर, दिव्य ज्ञान और आधिपत्य के प्रति भावना अनुभा की अनिवार्यता से सम्बन्धित है और दूसरी ओर, सध संगठन में। हिन्दुत्व में सध संगठन पर जोर न होने के कारण हिन्दुत्व बुद्धवाद, इस्लाम और ईसाइयत में भिन्न हो जाता है। धर्म की धारणा वही तब समष्टिमूलक है जहाँ सध अर्थ और नाम का सम्बन्ध है। अपने मूलरूप में, धर्म की धारणा व्यक्तिमूलक

है। अतः, धम रिलीजन नहीं है यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि धम म रिलीजन और रिलीजन म धम के तत्वा का एक्कम अभाव ह।

गोमल के अनुसार, हिंदू जीवन धम, अथ, काम और मोक्ष की धारणाओं म ओतप्रोत है। महात्मा कि हिंदू भाष्यता म यह माना जाता है कि इतिहास मी उस भूतकाल का वर्णन है जिसम जीवन के चार जातियाँ—धम, अथ काम और मोक्ष की पूर्ति तथा प्राप्ति का प्रयास निहित रहता ह। लेकिन, इन चार धारणाओं मे केवल धम की ही धारणा ऐसी है जा भारतीय विचारधारा म युग युग म चली आ रही है और जिसके द्वारा एक बड़े जन समूह म एक निश्चित विचार तथा व्यवहार-कलाप का निर्माण हुआ है। धम शास्त्र की व्युत्पत्ति तत्तवी व्यापक है कि हमका प्रमाण मानव प्रिया क सभी स्था क निरूपण तथा निर्माण क लिए किया गया है। भारतीय संस्कृति की तीन विज्ञपतायें जात्यात्मिकता (Spirituality), ओजस्मिता (Vitality) और बौद्धिकता (Intellectuality) धम की धारणा के विभिन्न स्था स ही आविर्भूत हुई हैं^१।

जमा कि राधाकरणन न कहा है, धम की धारणा उन स्था (Forms) और प्रियाओं (Activities) को समेट हुए है जा मानव जीवन का आधार है और जिसम मानव जीवन का निर्माण होता है। मानव जीवन म विभिन्न अभिरुचियाँ (Interests), अनेक आकांक्षाओं (Desires) और विरोधी आवश्यकताओं (Conflicting Needs) का समावेश हुआ है। ये अभिरुचियाँ आकांक्षाओं और आवश्यकताओं बन्ती और परिवर्तित होती रहती ह। हिंदूत्व म विनिरुध्ति धम की धारणा का उद्देश्य है इन सभी का एक ढाई के समन्वित करना। धम सिद्धांत हम व्याप्यात्मिक वास्तविकताओं का पहचानने के प्रति जागरूक बनाता है। किन्तु, यह जागरूकता मसार का त्याग करने मे मंती आती है। यह जागरूकता आता है साक्षात्क जीवन म अथ काम और आध्यात्मिक आस्था (Spiritual Faith) का नियंत्रित करने वाली गति का समन्वय करने म। जीवन की अभिरुचियाँ आकांक्षाओं और आवश्यकताओं अनक हैं किन्तु जीवन एक सुगठित इकाई है। महा लौकिक (Secular) तथा अलौकिक (Sacred) म अंतर नहीं है और न अहित तथा सुहित ही परस्पर विरोधी है क्योंकि मानव जीवन म लौकिक तथा अलौकिक दोनों का समावेश हुआ है। महा धम अथ और काम साध-साम चलत हैं। यही कारण है कि धम की धारणा म मानव जीवन, उसकी जाका-शाखा तथा अर्थात्ता का एक्कता मिलती है। इस प्रकार धम भाव-जीवन सम्बधा यह धारणा है जिसके द्वारा मानव जीवन क लौकिक तथा अलौकिक पक्षा का एक मूल में विरा कर, एक आदर्श समाज म व्यवित क अविवार तथा वनव्यो को एक व्यापक सिद्धांत मे निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धम

एक ओर मानव की सम्पूर्ण नैतिक क्रियाया की विधि है और, दूसरी ओर एक प्रकार का वह नीति जिसमें मानव की सभी नैतिक क्रियायें प्रतिबिम्बित होती हैं^१।

धर्म की धारणा, एक ओर, लौकिकता में अवगुंथित है तो, दूसरी ओर धर्मोपनिषद् में। धर्म एक ओर जीवन दर्शन को परिवेष्टित किए हैं तो दूसरी ओर, समाज में व्यक्ति की शरीरी मानसिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में सम्बन्धित है। धर्म वह धारणा है जिसके द्वारा हिन्दुत्व में व्यक्तित्व के लौकिक तथा पारलौकिक जीवन का नियमित तथा निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म का सम्बन्ध मानव जीवन की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से है। मानव जीवन की आवश्यकताओं का ज्ञात एक ही है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति बहुमुखी होती है। इसी कारण हिन्दू जीवन में धर्म की अभिव्यक्ति भी बहुमुखी होती है। धर्म की धारणा, वस्तुतः, एक बहुदलीय पुष्प के समान है। जिस प्रकार बहुदलीय पुष्प अनेक पल्लवियों में बँट होने पर भी अपनी सुगन्धित एकता बनाय रखता है उसी प्रकार धर्म भी मानव जीवन की शरीरी मानसिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं को एक सिद्धांत में लपेटे हुए है। धर्म की व्यवस्था इसी बहुमुखी सिद्धांत की व्याख्या में निहित है। हिन्दू विचार में 'नति' (जिसका अन्त न हो) की प्रधानता रही है और यही कारण है कि हिन्दू के लिए सभी कुछ वह रहस्य है जिसका अन्तिम ज्ञान पाना असम्भव है। इसी विचार ने हिन्दुत्व में रहस्यमयता की पुष्ट देकर हिन्दू विचार का लचीला बना दिया है। इस विचार के प्रभाव का परिणाम यह हुआ है कि जहाँ एक ओर धर्मग्रन्थों में धर्म के निरूपण का प्रयास किया गया है वहाँ दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि धर्म का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। धर्म का अन्तिम तथा शाश्वत स्वरूप का निर्धारण एक मुश्किल काम है।

इसी मायता का यह परिणाम है कि धर्म की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से की गई है। एक ओर गार्हस्थिक व्यवस्था का आधार पर धर्म की आत्मा की आकृति का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर धर्म के लक्षणात्मक तथा व्यञ्जनात्मक स्वरूपों का आधार पर धर्म के स्वरूप का निर्वाचित करने का प्रयास किया गया है। हिन्दुत्व में निहित रहस्यमय विचार में सम्पुष्टि होने के कारण धर्म की व्याख्या भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा में की गई है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्तित्व तथा समाज के सहअस्तित्व के आदर्श-गन्धर्व में है और इस कारण धर्म का सामाजिक दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हिन्दू विचार उन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों की उत्पत्ति के जिनका प्रभाव के अन्तर्गत हिन्दुत्व का निर्माण हुआ है। अतः,

धर्म की धारणा का अपना सामाजिक ऐतिहासिक पक्ष है। सामाजिक ऐतिहासिक पक्ष से तात्पर्य उन सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं जिनसे धर्म की धारणा का निरूपण का प्रभावित किया है। राधाकृष्णन कुमार स्वामी और अरविन्द नरसिंहन परिस्थितियाँ में धर्म का दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रभू न राधाकृष्णन ने तो पश्चिमी विचार के महाकरा में धर्म की व्याख्या की है^१। प्रभू न आर्य हिन्दू समाज के मानवनातिक विरूपण के सम्बन्ध में धर्म की व्याख्या की है^२। गोपल ने भारतीय विचार की सामाजिक ऐतिहासिक विवेचना के सम्बन्ध में धर्म की व्याख्या की है^३।

धर्म व्युत्पत्ति और परिभाषा २

मरुत भाषा के काया में धर्म शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। अमरकोष के अनुसार धर्म शब्द के अर्थ हैं—मुक्त या पुण्य ब्रह्म विनि—यागादि, यमराज, याग, स्वभाव, आचार और सामरस का धीने वाला। अर्थ काया के अनुसार धर्म शब्द के अर्थ हैं—शास्त्रोक्त धर्म के अनुष्ठान में उत्पन्न होने वाले भावी फल का साधनस्वरूप शुभ अष्ट या पुण्यापुण्य रूप भाग्य, धर्म और स्मृत धर्म, विहित किया स सिद्ध होने वाला गुण या धर्म-व्यय अदृष्ट आत्मा, दह के धारण करने में जीवात्मा, आचार या सत्कार धर्म का गुण, स्वभाव उपमा यागादि अहिंसा, सामाज्यायी, सत्संग, धनुष ज्योतिष मत में सत्संग नवम स्थान या भाग्य भवन और धर्म आदि। याकरण की रीति से धर्म शब्द 'धर्म' (धारण) धातु के आगे 'मन' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार में की जा सकती है—पहली जिसमें लान धारण किया जाय वह धर्म है (ध्रियत लाक अनन इति धर्म), दूसरी, जो लाक का धारण कर धर्म धर्म है (धरति धारानि वा लोकम् इति धर्म) और तीसरी, जो दूसरा के द्वारा धारण किया जाय वह धर्म है (ध्रियत य स धर्म)^४। इस प्रकार, धर्म शब्द का धातुगत अर्थ है धारण करना। धर्म की जिस धारणा ने हिन्दू जीवन का प्रभावित किया है, उसका मूलरूप इसी धातुगत अर्थ पर।

- १ राधाकृष्णन एत० दि हिन्दू धर्म आफ लाइफ
- २ प्रभू, पी० एच० हिन्दू सोशल आगनाईजेशन
- ३ गोपल बो० जी० इण्डियन पाठ धर्म दि एमेज
- ४ कल्याण हिन्दू संहिता अर्थ पृष्ठ ३०९

आधारित है यद्यपि उसकी 'यजनात्मक' तथा 'यजनात्मक' व्युत्पत्तियो में मत मतान्तर पाया जाता है। रामदास गौड़ के मत में धर्म शब्द के बहिष् प्रयोग¹ से धर्म का जो अर्थ निकलता है उसके अनुसार किसी वस्तु वा अवस्तु की, आत्म या अनात्म की विधायक वृत्ति का उसका धर्म कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर है वही उस पदार्थ का धर्म है।

धर्म शब्द के प्रातुगन्त अर्थ (धारण करने) के आधार पर धर्म की जनक लज्जनात्मक तथा व्यजनात्मक व्युत्पत्तियाँ करके धर्म की निरूपित करने का प्रयास किया गया है। धर्म की मूल धारणा है जो धारण करने वह धर्म है (धारयतीति धर्म)। किन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि कौन धारण करे, क्या धारण कर और किसका धारण करे? महाभारत के कणपर्व में उद्धृत एक श्लोक में निहित भावना में यह भाव है कि 'धारण करने से सांग हमें धर्म कहते हैं। धर्म प्राण का धारण करता है। जो धारण के साथ रहे, वह धर्म है—यह निश्चय है'। इसी का एक व्यजनात्मक अर्थ यह भी किया जाता है कि 'जो समाज का व्यक्ति का धारण कर, वह धर्म है'²। इसी व्याख्या के सन्दर्भ का स्पष्ट करते हुए प्रभू ने लिखा है कि धर्म, निश्चय ही वह मिश्रता है जिसमें मार ब्रह्माण्ड का सुरक्षित रखने की क्षमता है³। मस्कृति की व्याख्या के प्रकरण में यह पढ़े ही कहा जा चुका है कि सस्कृति मानव में जाणों मुख व्ययहार में निहित रहती है। समाज और व्यक्ति मस्कृति द्वारा ही धारण किए जाते हैं। इस दृष्टिकोण में धर्म मानव व्ययहार समाज तथा सस्कृति का धारण करने वाला हुआ। मानव व्ययहार, समाज तथा मस्कृति, एक और, आदर्श नियमों के जाल में बंधे रहते हैं और दूसरी ओर वास्तविकता में जो आदर्श के अनुरूप होते हुए भी उनमें भिन्न रहती है। इसी कारण यह कहा गया है कि धर्म आचार या सदाचार से उत्पन्न होता है (आचार प्रभवा धर्मो)⁴। इसी सन्दर्भ में निम्न में दी हुई धर्म की उस व्याख्या की साधकता सिद्ध होती है जिसके अनुसार

1 रामदास गौड़ ने जिन बहिष् प्रयोगों का उल्लेख किया है, वे ये हैं —

- (अ) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गापा अदाम्य । अतो धर्माणि धारयन् ॥१८॥ ऋग्वेद
- (ब) धर्ति लोभान धिपत पुण्यात्मभिर्वा,
- (स) धारणाद्धर्ममित्याहुः —वेदेषु रामदास गौड़ द्वारा रचित हिन्दुत्व ।

2 धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा ।

मतं स्याद्धारणसमुत्तत स धर्म इति निश्चय ॥ महाभारत कण० ७०/५८

वत्प्राण यही पृष्ठ ३६०

3 वत्प्राण यही पृष्ठ १६१

4 प्रभू पी० एच० हिन्दू सोशल आगनाईजेशन पृष्ठ ७०

5 वत्प्राण यही पृष्ठ ३७३

धर्म का अर्थ नियम दिया गया है—वह नियम जो व्यक्ति तथा समाज को धारण विद्यमान रहता है। लेकिन धर्म का उद्देश्य केवल धारण करना ही नहीं है। धर्म सुख और आनन्द का मूल है (धर्मेण सुखमाप्नोति)¹। सुख का प्रकार का होना है—
 लाभिक तथा ज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक। लेकिन सुख के पक्ष का प्रधानता पर जोर देने के लिए ही कहा गया है कि 'धर्म से धर्म जाता है और धर्म से सुख जाता है (धर्माद्धर्मो ततो सुखम्)।' क्योंकि ज्ञान के रक्षयिता ब्रह्मा न धर्म का लौकिक तथा पारलौकिक सुखों और ब्रह्माण्ड का साधन माना है। उससे अनुसार 'जिनमें लौकिक सुख तथा पारलौकिक ब्रह्माण्ड (परमात्मा) की निधि है, वह धर्म है (यथाऽभ्युदयनिधेयमासद्धिः स धर्मः)²।

इस व्याख्या से यह तात्पर्य निकलता है कि धर्म उन सदाचारी नियमों से निहित है जिनके द्वारा लाभिक तथा पारलौकिक सुख का धारण हो। व्यक्ति का जीवन अस्याई है। उसका जीवन में आने वाले सुख तथा दुःख भी अस्याई हैं। किन्तु जाव नित्य (स्थायी) है और इस कारण धर्म भी नित्य (स्थायी) है³। धर्म, नित्य जाव का नित्य सुख नियम धर्म से ही मिल सकता है। लेकिन, वह नित्य धर्म क्या है? मनु ने धर्म के चार लक्षण बताये हैं और वे हैं वदानुक्त स्मृति सम्मत, आचारनिष्ठ तथा आत्मप्रिय व्यवहार⁴। मानवधर्मशास्त्र में धर्म के दशक लक्षण बताये गये ॥ और वे हैं—धृति (मताप), क्षमात्म (आत्मनिग्रहण) अमृत्य (त्याग), गौच (शुद्धता), दक्षिण निग्रह भी (दायगुणि) विद्या (ज्ञान) मय और अत्राद्य⁵। मनु द्वारा निर्धारित नियमों द्वारा ज्ञान का व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म का सम्बन्ध उन नियमों से है जिनमें मानव जीवन में मयम तथा सदाचार उत्पन्न होते हैं और जिनके माध्यम से मानव जीवन का शरीरी मानसिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय होता है। समय तथा सदाचार की पट्टभूमि में मस्कारों का मन्त्र बद्ध जाता है। इसी दृष्टिकोण से धर्म की व्याख्या करने हुए रामानुज गौड ने लिखा है 'सयमी जीवन संस्कारों का मन्त्र बनकर रहता है और संस्कार का पत्र होना है शरीर

1 ब्रह्माण्ड पर्व पृष्ठ 369

2 पर्व

3 ब्रह्माण्ड पर्व पृष्ठ 370

4 धर्मो नित्य सुख दुःखे नित्ये जीवो नित्य हेतुरस्याप्यनित्य —आरत तावित्री

5 वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्दिषु प्राहुः साक्षाद्विदमस्य लक्षणम्।

॥ धृति क्षमा दमोस्तेमयगौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्बलः

जीर जीवात्मा का उत्तरात्तर विकास। धम पद संमाण का उपदेश है उनति के लिए नियम है मयम सम उपपन्न व नियम का पालन है, सस्कार उा मयमा का सामूहिक पद और किमी प्रियेय दंग काल जीर निमित्त म विषय प्रकार की उनन जरस्था म प्रवृत्त करन का द्वार है और सब सस्कार का अंतिम वाय विकास है। 'मयम-नस्कार विकास व 'मयम सस्कार अम्युदयनि प्रेयस यह धमानकूल कलव्य का नियामक रूप है। यह सभी मिल कर सस्कृति का इतिहास बनाते है। धम यति नाम जना ग की विधायक वसि है सा सस्कृति उसका नियामक रूप है धम जातम और जातम ता, जीवात्मा जीर शरीर का विधायक है, शास्त्र हर जीवात्मा घर हर शरीर का विकास करन वाला है। धम व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है (धर्मो धारयति प्रजा) और सस्कार समाज का विकास करन वाला है।

धम सधम जीर सस्कार के उन नियमो मे निहित हैं जो मानव जीवन का यकिन जीर समाज का अम्युदय तथा निधेयस की ओर ल जाता है। कि तु हमका सात्वय यह नहीं कि धम कोई उचित व धन है। धम व धन नहीं है क्योंकि धम धन पर आधारित है। मानव जीवन म वधन अविद्या से आता है न कि विद्या से। धम का आधार विद्या है न कि अविद्या। जो धम दूसरे धम को बाधा दे वह धम नहीं है, अयम है। जो धम समस्त धर्मों का अविरोधी है, वही यथाधर्म है। धम मानव जीवन व सभी पक्षा का सम्यक् कि तु उन्नतिशील विकास है। हिंदू शास्त्रकारा व अनुसार एक सामाजिक प्राणी के रूप म, मनष्य पर जिन चार कारणों का प्रभाव पड़ता है, व है दश काल, धर्म और गुण। धम व नियम है जो दश काल धर्म और गुण का समन्वय करके व्यक्ति तथा समाज की अम्युदय का माग पर ल जाता है। धम, समाज म मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तिया की उन्नतगामी अभिव्यक्ति का आधार है। मानव जीवन मे धम उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि स्वयं मानव जीवन। धम मानव जीवन का रक्षा वक्त्र है। धम का धारण करना और उसकी रक्षा करना मानव के लिये आवश्यक है। धम का जो माग करेगा धम उसका जितना कर देगा और जो धम को रखा करता है धम उसकी रक्षा करता है (धम एव हता इति धर्मो रक्षति रक्षितः) ३) इसीलिये भारत सावित्री म कहा गया है कि कभी भी कामा म भय स लाम से तथा जीवा अस्तित्व व मरण के लिय भी धम का परित्याग न करे (न जातु कामा न भयान लोभाद

1 गीत, रामदास हिंदुत्व पृष्ठ 11

2 धम यो धापते धर्मो न स धम कुधम सतः।

अविरोधी तु यो धम ॥ धम सत्यविक्रम ॥ कल्याण वही पृष्ठ 171

3 कल्याण वही 161

ममम त्यजेज्जीवितस्यापि हता) ।

२२७

धर्म की उपयुक्त व्याख्या स धर्म की धारणा में सम्बन्धित कई तथ्य और उन तथ्यों से सम्बन्धित कई गवायें उत्पन्न होती हैं—पत्नी क्या धर्म केवल सत्ताचारी नियमों का संग्रह मात्र है या दूसरे गण में धर्म केवल सत्ताचारी ही सीमित है। यदि हाँ, तो सदाचार की कसौटी क्या है? दूसरी यदि धर्म मयम तथा सत्कार में बड़ा सदाचार है तो सयम-सत्कारमय सत्ताचारी का आधार क्या है? सयम-सत्कार का सम्बन्ध धर्म विचार से है। अब यहाँ सद्गुरु ही प्रश्न उठाता है कि धर्म धर्म का सम्बन्ध क्या है? तीसरी धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

धर्म, स्वधर्म और अधर्म

३

धातुगत अर्थ के दृष्टिकोण से विचार करते हुए गायत्री ने यह लिखा है कि धर्म के अनेक अर्थों में हम मानव-वृत्त का भी रस सकते हैं। मानव-जीवन बहुमुखी है। अतः मानव-वृत्त में भी बहुमुखी है। परिवार के प्रति कर्तव्य, सामाजिक वनव्य अध्यात्मिक कर्तव्य सांस्कृतिक कर्तव्य और राजनैतिक कर्तव्य, मानव-वृत्त के अनेक पक्ष हैं। हम मनुष्य में धर्म से तात्पर्य लिया जा सकता है उन मानव-वृत्तों से जिनमें व्यक्ति तथा सामाजिक जीवन पारण किया जा सके। कर्तव्य के साथ अवतार का भी विचार आ जाता है और जहाँ कर्तव्य-कर्तव्य का विचार आता है वहीं सत्ताचारी की धारणा आ जाती है। धर्म की धारणा में निहित सदाचार की भावना का विचारका न अनेक रूपों में व्यक्त किया है। महाभारत के गाति पर्व में जाये एक प्रसंग के अनुसार वहीं व्यक्ति धर्म का धर्म समझता है जो मन-वचन और धर्म से दूसरा कर्तव्य का अनुष्ठान ही नहीं रहता है बल्कि हमारे कल्याण में निरंतर रत रहता है। मनु के अनुसार धर्म वह है जिसका विद्वान् अनुसरण करे और जो उन मज्जना द्वारा बिना किसी धर्म के प्रत्यक्ष किया जाय जिसमें दूसरा के प्रति घणा और द्वेष न हो। इसी आधार पर, धर्म के विभिन्न रूपों में अंतर किया गया है। एक बार हम स्वधर्म की धारणा और दूसरी ओर अधर्म धर्म परधर्म धर्मभ्रंश उपधर्म और उल्लंघन की धारणाएँ हैं। स्वधर्म ही परधर्मों भयावह है। स्वधर्म का अर्थ अपना धर्म जिसमें यह तात्पर्य लिया जा सकता है कि व्यक्ति का जो अपना धर्म है वहीं उसका धर्म है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति मनमाने ढंग से धर्म की परिभाषा करके, तत्पुनः धर्म व्यवहार को चला सकता है। स्वधर्म वह धर्म है जो व्यक्ति के गुण धर्म वन धर्म, दस काल और

धर्म शास्त्रों के अनुसार होने के साथ साथ, समयानुसूल और तत्त्वमय भी हो। स्वधर्म का आधार केवल व्यक्ति ही नहीं है स्वधर्म का आधार व्यक्ति के साथ साथ समाज भी है।

स्वधर्म की धारणा तब स्पष्ट होती है जब अधर्म की धारणा पर भी विचार किया जाय। भागवत पुराण के आधार पर प्रभू ने अधर्म के पांच भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं—विधर्म परधर्म धर्माभास, उपधर्म और छलधर्म^१। कन्याण व हिंदू संस्कृति अनेक धर्म के लक्षण और रत्न की व्याख्या करते हुए श्री गोविंद नारायण अमापा ने अधर्म के इन पांच प्रकारों में कुधर्म की धारणा भी जोड़ दी है^२। इस प्रकार, जो स्वधर्म नहीं है अर्थात् जो अधर्म है उसके छ प्रकार हैं। जो स्वधर्म के प्रतिकूल है वही विधर्म है। विधर्म की व्युत्पत्ति (विगत धर्मेण विधर्म) के अनुसार स्वधर्म में विगत (गिरी हुई अर्थात् प्रतिकूल) नियमों विधर्म की श्रेणी में आती हैं। धर्म का शास्त्रविहित और शास्त्रानुवर्त माना गया है। अतः विधर्म का अर्थ हुआ शास्त्रप्रणीत स्वधर्म के विपरीत आचरण। कुधर्म (कुत्सित धर्म कुधर्म) वह है जो निन्दनीय है और निन्दनीय वही है जो न तो शास्त्रोक्त है और न देश, काल तथा वर्णधर्म व्यवस्था की मर्यादाओं के अनुसार है। कुधर्म शब्द के एक अर्थ अर्थ अनुसार जो स्वधर्म के लिए बाधक हो, वही कुधर्म है (धर्मों या न बाधक धर्म)। परन्तु जो अर्थ दूसरा। अतः, परधर्म का अर्थ हुआ वह धर्म जो अपने लिये (स्वधर्म) न होकर दूसरे के लिए है। स्वधर्म तथा परधर्म की धारणा इस तथ्य का प्रतीक करती है कि हिंदू-जीवन-दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिये उनकी परिस्थितियों के अनुसार, प्रत्येक के अपने अलग अलग धर्म हैं और प्रत्येक का अपने ही धर्म का अनुसरण करना चाहिए। यही कारण है कि हिंदुत्व में धर्म प्रचार तथा धर्म परिवर्तन पर जोर न देकर सह अस्तित्व पर जोर दिया गया है। यही सिद्धांत जो निरूपित आचार (Established Morals) के विरोधी है जो पाखण्ड तथा दम्भयुक्त है उपधर्म की श्रेणी में आते हैं। धर्माभास की श्रेणी में वह आचरण आता है जो व्यक्ति देश, काल तथा वर्णधर्म व्यवस्था की मर्यादाओं का ध्यान न रखते हुए अपनी व्यक्तिगत इच्छा की पूर्ति के लिए करता है। छल धर्म वह धर्म है जो केवल नाममात्र के लिए धर्म हो, जिसका आधार सत्य में न होकर असत्य में है।

धर्म (स्वधर्म) और अधर्म (न धर्म अधर्म) की इस व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धर्म वही आचरण है जो एक ओर शास्त्रविहित हो, देश, काल तथा समाज की मर्यादाओं के अनुकूल हो और, दूसरी ओर, स्वभाव विहित (स्वभाव-

१ प्रभू पी० एच० हिंदू सोन-आगनाइजेन पृष्ठ २८

२ कन्याण वही पृष्ठ २७०-२७१

विहित) हो। धर्म बस व्यक्तिगत स्वभाव विहित आचरण नहीं है। धर्म का उद्देश्य है व्यक्ति के आचरण को स्वभावविहित रखत हुए, दस काल की परिस्थितियाँ, सामाजिक आवश्यकताओं तथा आदर्शों के अनुसार ठालना। यही धर्माचरण, भगवत् तथा सत्कार से बंधते हुए, कम में बंध जाता है। यही कारण है कि हिन्दु में धर्म ने साथ कम की व्याख्या की गई है और कम के साथ धर्म का। धर्म कममय है और कम धर्ममय। धर्म का आधार कम है और कम का आधार धर्म। धर्म आदर्शमय आचरणीय सिद्धांत अवश्य है लेकिन उस सिद्धांत की साधना केवल उसका मानना से ही नहीं होती है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सिद्धांतिक पक्ष। जसा कि कहा गया है, 'तत्रैव पुण्यो वा मनः' कि किया या कम द्वारा सिद्ध होकर ब्रह्माण्डकारी हाना धर्म का लक्षण है (त्रियासाधमावे सति श्रेयस्करत्वमिति लौकिका)।^१

४

शक्ति

धर्म के आधार

धर्म के तीन स्वरूप माने गए हैं। यथा, अध्ययन तथा दान प्रथम स्वरूप म आते हैं, तप दूसरा स्वरूप म और आचार्य-कुल-वास तथा ब्रह्मचर्य, तीसरा स्वरूप म^२। इस दृष्टिकोण से आचार्यकुलवास ब्रह्मचर्य यन अध्ययन (स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन), दान तथा तप (दम और अमनस्य) धर्म के मुख्य आधार हैं। इनकी साधना व्यक्ति को पुण्यलाभ का भागी बनाती है। इनमें धर्मविन अमृतत्व को प्राप्त होता है। धर्म की यह व्याख्या आश्रमव्यवस्था की आवश्यकता पर आधारित है। आचार्य कुलवास, ब्रह्मचर्य तथा अध्ययन का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य आश्रम से है दान का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है और तप का वानप्रस्थ तथा सन्यास से। मन का सम्बन्ध सभी आश्रमों से है क्योंकि यथा का श्रमणात्मक जय है त्याग। आश्रम-व्यवस्था, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, एक ओर धर्म परम्परा में आती है और दूसरी ओर, मन परम्परा म। ब्रह्मचर्य-आश्रम मान-यन की परम्परा म आता है क्योंकि इस आश्रम म ब्रह्मचारी अपने 'स्व' को धर्मानुसार ठालन का प्रयास करता है। गृहस्थाश्रम, एक

१ इसीलिए, जसा कि रामाकृष्णन ने लिखा है, हिन्दुत्व में मजहब की एकता (Religious Conformity) पर जोर न देकर, जीवन के प्रति आध्यात्मिक तथा सदाचारी दृष्टिकोण पर अधिक जोर दिया गया है। यहाँ व्यवहार मिद्वान से पहले धाना है और व्यवहार के माध्यम से मिद्वान ममता जाता है।

२ ब्रह्मचर्य बही पृष्ठ ३७०

३ यही

और जीवन यन का क्षेत्र है और, दूसरा ओर दान का। गृहस्थाश्रम के धर्मानुसार गृहस्थ क नियम पंचमहायन (भूतयन मनुष्ययन पितृयन देवयन तथा ब्रह्मयन^१) करने का विधान है। गृहस्थ का जीवन त्याग तथा दान का जीवन है क्योंकि गृहस्थ वस्तुतः पत्नी से तान बढ़ा कुल के सन्तस्यो जित्तियों और अपने पर निर्भर व्यक्तियों की सेवा में रत रहता है। गृहस्थ वस्तुतः पुन तथा पित का सरसक है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति अपने सामाजिक श्रद्धा को चुकाता है। इसीलिये गृहस्थाश्रम की धारणा म यन तथा दान की धारणा में व्याप्त है और हिंदू जीवन में दान की अनेक धारणायें पायी जाती हैं (जैसे विद्याभ्यास सर्पतिभोजन जीवनदान अनन्तान, रतिदान तथा वयादान इत्यादि)। धर्म की विवेचना में दान का भी धर्म का जगह माना गया है। धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है दया और दान से वह बढ़ता है क्षमा में वह निवास करता है और नोध से उसका नाश होता है (मर्यादाज्जायते दयाया दानेन च बधते क्षमाया तिष्ठति प्रीधानक्षयति)। धर्म की धारणा, इस दृष्टिकोण से, परमाथ पर आधारित है न कि स्वाध पर। धर्म अथ तथा काम की पूर्ति के लिये अपनाया गया गृहस्थजीवन वस्तुतः त्याग-तपस्यामय कठिन पुरुषार्थ का जीवन है। वानप्रस्थ अंतिम यन की तयारी है। सदास आत्माहुति की तयारी है। वानप्रस्थ और सदास—ये दोनों आश्रम भक्ति-यज्ञ के आश्रम अथवा अवस्थाएँ हैं क्योंकि इन आश्रमों में व्यक्ति अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। यह भक्ति प्रवृत्तिमार्गी न होकर निवृत्तिमार्गी होती है क्योंकि इसका आधार होता है आत्मज्ञान तथा आत्मदर्शन। इसप्रकार, धर्म को आधम-व्यवस्था के रूप में स्पष्ट किया गया है। व्यक्तिगत सुदम में, धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से है और सामाजिक मन्त्र में वर्णाश्रम व्यवस्था से। मनु और याज्ञवल्क्य ने इसी आधार पर धर्म की विवेचना की है।

मनु के अनुसार, मन (Mind), वाक (Speech) और देह (Body) सभी कर्मों का आधार हैं। कर्म से ही मानव-जीवन की विभिन्न गतिमें वनती हैं। कर्म के परिणाम अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। बुद्धिमें व्यक्ति आवागमन के चक्र में फसा रहता है और सुनभी को आवागमन के चक्र और मृत्यु जाल से छुटकारा मिलता है। जीव की सभी उच्च तथा निम्न गतियाँ अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार वनती हैं। जीवन मृत्यु तथा आवागमन से छुटकारा पाना (माय) मानव जीवन का सद्दम्य है जिसकी प्राप्ति उन धर्म-कर्मों से होती है जो वाच्य हैं और जिनसे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वेदविहित कर्मों से दृष्टोक्ति तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति होती है। वेदविहित कर्म, एव जार निवृत्ति की जार ल जाता है और दूसरी धार, प्रवृत्ति की

आर । जीवन का उच्चतम ध्येय निवृत्ति है न कि प्रवृत्ति और निवृत्ति आत्मज्ञान में मिलती है । आत्मज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो मनुष्य का इस संसार से उद्धार करने में सक्षम और निश्चय की धार से जाता है जिसे ज्ञान प्राप्त करने में मनुष्य (मनुष्य) अपनी ही जमीन (आत्मा है) का उपयोग करती है । जीवन का उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति उसी व्यक्ति का हाथ है जो रागादिना वृत्ति का नियंत्रित रहना है । तब आर विद्या से ही जीवन का उच्चतम उद्देश्य (मात्र) की प्राप्ति होती है । तब प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है । अतः यह क्या जा सकता है कि वह वृत्ति से न बच सके रहस्यमय शक्ति है जो शारीरिक तथा पारिवर्तिक जीवन में मनुष्य की सहायक रहती है । [धर्म ही एक ऐसा मित्र है जो मरण पर भी जीव के साथ जाता है और सब तो शरीर के साथ ही छोड़ कर चल जाते हैं^१ ।]

मनु द्वारा प्रस्तुत धर्म-धर्म की इस व्याख्या का यागवल्क्य ने भी स्वीकार किया है । यागवल्क्य स्मृति के टीकाकार बालमभट्ट के अनुसार धर्म-मन्त्र (Accumulation of Karma) की जड़ें धर्म प्रथम में हैं और धर्म-मन्त्र के तीन परिणाम प्राप्त हैं—पहला जाति (उच्च या निम्न स्थिति में जन्म) दूसरा आयु और धर्म साक्षर भाग (सुख और दुःख) । यागवल्क्य ने विभिन्न वर्णों के लिये, आश्रम-धर्म निष्पत्ति करने का प्रयास किया है । विज्ञान-धर्म के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में यागवल्क्य ने छ विषयों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं—वर्ण धर्म आश्रम धर्म, वर्णधर्म धर्म, गुण धर्म निमित्त धर्म और साधारण धर्म^२ । इन छ प्रकार के धर्मों से मनुष्य के लिए सुख (Right Karma) का निर्धारण होता है । यागवल्क्य के अनुसार, धर्म पर आधारित सुख के मुख्य तत्व हैं या आचार, दम, अहिंसा दान, स्वाध्याय (व्याययन) और आत्म-ध्यान । इन सभी में आत्म-ध्यान परमधर्म है^३ ।

- १ प्रभू हिंसा सोमल आगनाइनेन पृष्ठ ३०-३३
- २ एक एव मुहूर्त धर्मों निवर्तनेऽयमुपाति य ।
परीरेण सम नाग सवम-यस्तु गच्छति ॥ बल्याण वही पृष्ठ ३७०
- ३ धर्म धर्म का सम्बन्ध है चार वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) के बन्धना से आश्रमधर्म का चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास) के बन्धना से वर्णधर्म धर्म का चार वर्णों तथा आश्रमों के धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध या गुणधर्म धर्म के गुणानुसार बन्धना से, निमित्तधर्म का विशेष परिस्थिति से सम्बन्धित बन्धना से और साधारणधर्म का उन बन्धना से जो सभी वर्ण-पुरुषों से लिये समान रूप से आवश्यक हैं—प्रभू वही पृष्ठ ३५-३६

इस प्रकार अपने मूलरूप में धर्म आचार है (आचार प्रथमा धर्म) । लेकिन धर्म केवल आचारमात्र नहीं है । धर्म वस्तुतः वह आचार है जो मयम और मस्कार में बसा हुआ है । और मयम तथा मस्कार सुख में बंधे हुए हैं । धर्म का उद्देश्य केवल आचार मयम मस्कार तथा सुख में ही नहीं है । धर्म का अततोगत्वा उद्देश्य है अमृत्युदय और निश्चयस से जिसका स्वाभाविक परिणाम है आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्ति । धर्म अलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का मयोजक है । धर्म पार्थिव जीवन से परे वह द्योति है जो जीव के कर्मों से प्रस्फुटित होकर जीवात्मा के साथ प्रवाहित होती रहती है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि धर्म दय या प्रारंभ है । हिंदुत्व की विचारधारा में प्रयत्न (कर्म) बीज क समान है और दय क्षेत्र के समान । जिस प्रकार क्षेत्र में बीज बाने से फल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्म से दय प्रतिफलित होता है । बिना कर्म के दय भी निष्प्राण रहता है । जिस प्रकार, हवा के प्रभाव से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, उसी प्रकार कर्म से दय का प्रभाव भी बढ़ जाता है । जैसे तेल के कर्म होने के साथ साथ दीपक की लौ मंद होती रहती है, उसी प्रकार, बिना कर्म की सहायता क दय का प्रभाव भी मंद होता रहता है । कर्म ही दय का प्रेरक है^१ । अतः, दय कर्म पर आधारित है और धर्म दय से परे एक अलग सत्ता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म का आधारभूत ग्रंथ उस कृत-द-सहिता (Code of Duties) से है जो मानव समाज के सुनिश्चित संगठन के लिये आवश्यक है । लेकिन धर्म कृतग्रंथ सहिता क अतिरिक्त कुछ और भी है । धर्म की धारणा में वह भाग भी निहित है जिसमें धर्म का एक प्रकार की प्रच्छन्न द्योति समझा जाता है—वह गति जिसकी रहस्यमयी प्रच्छन्न त्रियात्मकता में मानव की दण्डित (Punish) अथवा प्रतिफलित (Reward) करने की क्षमता है^२ ।

आचार मयम मस्कार और शास्त्रविहित कर्म होने के कारण धर्म परम्परा और प्रथा का भी रूप लेता है किन्तु धर्म केवल परम्परा ही नहीं है । धर्म का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सत्य (Truth) और विवेक (Reason) में है । यदि परम्परा सत्य या सत्य के प्रतिबल है तो परम्परा को धर्म की श्रेणी में नहीं रखता जा सकता है । धर्म का आधार है विवेक जो सत्य तत्त्व नहीं है बरन जो सत्य और सदाचार से सम्बन्धित है । कोटिल्य ने धर्म को गान्धर्व मत्व कहा है । उपनिषदा में धर्म को सम्पूर्ण ब्रह्मांड का आधार माना जाता है । धर्म सर्वोत्कृष्ट है धर्म ब्रह्म से भी परे है । महाभारत में धर्म का ससार का धारण करने वाला कहा गया है । रामायण में धर्म को लाभ (Profit) तथा प्रमोद (Pleasure) का माध्यम मानते हुए उसे ससार का गार तथा मक्ति माना गया है । कर्म से जीव दयता है लेकिन धर्म से जीव का मुक्ति

१ प्रभू, पृष्ठ २८-२९

२ गोपबे, धी० जी० पृष्ठ २५

मिलती है। धर्म की धारणा में अलौकिक अनुकम्पा (Devine Grace) का भाव भी निहित है। धर्म उम अलौकिक शक्ति का प्रतीक है जिससे मानव जीवन प्रभावित होता रहता है। बौद्धों के अनुसार धर्म में अच्छे-बुरे का अंतर स्पष्ट होता है। धर्म दासकी का भी शासक है। धर्म से राज्य की वास्तविक शक्ति में सदाचार का समावेश होता है और धर्म से ही, सदाचारी तथा आध्यात्मिक अर्थात् आचार पर, व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध निरूपित होते हैं। नैसा कि पहले कहा जा चुका है धर्म का केवल साधारण सदाचार नहीं माना जा सकता है। भारत में धर्म की व्याख्या युग युग में होती चली आ रही है। धर्म की धारणा की उत्पत्ति तो मानव व्यवहार की एक संहिता (A Code of Human Behaviour) के रूप में हुई किन्तु, एक दीनकालीन व्याख्या की प्रक्रिया में, धर्म की धारणा में रहस्यात्मकता का समावेश हुआ। धर्म की धारणा में रहस्यात्मक (The Mystical), युक्तियुक्त (The Rational), आध्यात्मिक (The Metaphysical) और उपयुक्ततावादी (The Practical) दृष्टिकोणों का समावेश हुआ है¹। वास्तव में हिन्दुत्व में धर्म की आ धारणा विकसित हुई है, उसका आत्मा सर्वव्यापी है। धर्म मानवी प्रयास की साधनता की बमोटी है। मानवी क्रिया के सभी प्रकार, चाहे वे व्यक्तिगत हों या सामाजिक, सदाचारी हों या अधिःशिव, युक्तियुक्त हों या रहस्यात्मक और लौकिक हों या आध्यात्मिक, धर्म से ही निरूपित होते हैं। अपना स व्यापकता के कारण ही, धर्म भारतीय विचारधारा का केन्द्र बन गया। धर्म के विभिन्न अध्यादेशों से वह प्रेरणा मिलती रही जिसके द्वारा सांसारिक अस्तित्व अपरिवर्त्य आशंकों में प्रेरित जीवन बन गया। धर्म की धारणा कोई सद्धान्तिन मूलमात्र नहीं है। यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसकी अभिव्यक्ति, एक बार जनसाधारण के जीवन में, दूसरी बार, दिल्ली, भारत, राम मुषिष्ठिर, अंगार, समुद्रगुप्त, हर्ष और अकबर जैसे पौराणिक तथा ऐतिहासिक पुरुषों के द्वारा हुई है। मन्दकालीन तथा विपन्न परिस्थितियों में धर्म से ही जनसाधारण की शक्ति तथा धर्म की प्रेरणा मिली हुई है।

हिन्दुत्व में जिस सर्वव्यापी, व्यक्तिगत तथा सामाजिक धर्माचरण का एक रहस्यात्मक जीवन दशम के रूप में निरूपण किया गया है, उसकी बमोटी क्या है? धर्म की प्रथम बमोटी है वेद, शास्त्र और स्मृति में निरूपित आचार-रत्न। अखिल वेद को धर्म का मूल कहा गया है (वेदोऽस्तित्वा धर्ममूलात्)। धर्म का वेदविहित (वेद में कहा हुआ वेद विहितत्वम्) माना गया है। वेद में जिसकी प्रेरणा दी गई है, वही धर्म है (वाचनात्साधोर्वै धर्मः)। गीता में कहा गया है कि वेद में कहा हुआ धर्म है और उससे विपरीत अधर्म है (वेद प्रणहितो धर्मोऽधर्मस्तद्विपर्ययः)। श्रुति (वेद) और स्मृति (धर्मशास्त्र)

1 गोखले धी० जी० वही पृष्ठ 28

2 वही पृष्ठ 27

मे जो कुछ कहा गया है, वह धर्म कहलाता है (श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं यतः स धर्मः प्रकीर्तितः)।¹ 'श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्म को करता हुआ मनुष्य इस लोक में यश पाता है और मरकर परलोक में उत्तम सुख या मोक्ष की प्राप्ति होता है।² 'श्रुति और स्मृति में वर्णित मदाचार परम धर्म है। इसलिए आरम्भानी द्विज सदा सत्पात्र से युक्त रहे।³ किंतु यह मानना भूल होगी कि धर्म काई श्रुति स्मृति-विहित अपरिवर्तनीय शास्त्र धारणा है। मनु ने जखिल वेद को धर्म का मूल माना है लेकिन उनका मत में वेद का ही धर्माचरण की एकमात्र कसौती नहीं है। मनु के अनुसार वेद का साथ साथ, विद्वानों का जाचरण भी धर्म का प्रमाण और उसकी कसौती है। बृहस्पति के अनुसार धर्म के विषय में शास्त्र का अक्षरशः पालन करके कोई नियम नहीं लेना चाहिये। शास्त्रों का धर्मा अनुसरण करने से धर्म विषयक विचार मुक्तिहीन हो जाते हैं और उसके परिणाम धर्म के लिए हानिकारक होते हैं। धर्म विचार की जटिलता तथा गहराई को ध्यान में रखते हुए धर्माचरण के लिए एक यावहारिक सिद्धांत के रूप में यह कहा गया है कि महापुरुष जिस माग का अनुसरण करें यही पथ ठीक है (धर्मस्य तत्त्वमिह निर्दिष्टं गुहाया महाजना येन गतं स पथा)। महाभारत में यह भी कहा गया है कि धर्म अधर्म का निरणय करने में विद्वान का बुद्धि का आश्रय लेकर, परिस्थिति पर अधिक ध्यान देना चाहिये⁴। धर्म की उत्पत्ति सत्य से होती है और सत्य की धारणा निरपेक्ष न होकर सापेक्ष होती है। सत्य की सापेक्षता देश-काल की परिस्थितियों से बनी रहती है। देश-काल की परिस्थिति का गत्यात्मक होना है। अतः सत्य की धारणा भी गत्यात्मक है और सत्य से उत्पन्न धर्म भी गत्यात्मक है। यह धर्म का प्रति गत्यात्मक विचार तथा उसकी गत्यात्मकता के लचीलेपन का सुरक्षित रखने का परिणाम है कि धर्म की समय-समय पर अनवरत रूप में कल्पना की गई है। धर्म का व्यक्तिगत भी माना गया है और सामाजिक भी। धर्म का अंगी समष्टिवादिता के चंगुल में बन्धायें रखने के लिये ही, धर्म के सर्वोत्तम उद्देश्य (मात्र) की धारणा को व्यक्ति से ही सम्बंधित रखा गया है। मनु ने तो यही तर्क कहा है कि यदि काम और अथ धर्मरहित हो तो उनका त्याग कर देना चाहिये और यदि ऐसा लगे कि भविष्य में धर्म से कष्ट हानि की सम्भावना है या यदि धर्म मानना ही प्रति शूरता है तो धर्म का ही परित्याग कर देना चाहिए⁵।

1 धर्मोत्पत्तिः श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं हि मानवः ।

इह कीर्तितमवाप्नोति प्रेत्य धानुत्तमं सुखम् । कल्याण यही पृष्ठ 370

2 आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मृतः एव च ।

तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यात्प्राप्तमवान द्विजः । कल्याण यही

3 प्रभू पी० एच० यही पृष्ठ 27-28

4 यही पृष्ठ 35

धर्म एक गत्यात्मक धारणा

धर्म की धारणा का विकास एक गत्यात्मक विचारधारा में हुआ है। भारत की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों ने धर्म की धारणा के विचार को ढाला है। धर्म की धारणा में 'यन्त्रितगन' सामाजिक तथा रहस्यात्मक विचारों का समावेश भारतीय विचारधारा के विकास की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है। अतः धर्म की सर्वोपयोग व्याख्या के लिए धर्म की धारणा के विकास का ऐतिहासिक विवेचन भी आवश्यक है। लोगो की एसी मायता है कि धर्म की धारणा की उत्पत्ति 'ऋत' की धारणा से हुई। ऋत की धारणा प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में पाई जाती है और इस आधार पर यह मत प्रतिपादित किया गया है कि सम्भवतः 'ऋत' की धारणा आर्यों की है जो उनकी विचारधारा के रूप में भारत में आई। ऋत का एक अर्थ है 'वह शक्ति जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। अपने विषयोय अनुरीत' के सद्गम में ऋत का अर्थ होता है नैतिक व्यवस्था। नैतिक व्यवस्था के मदभ में ऋत का व्यावहारिक रूप एक बार नकारात्मक हो जाता है और दूसरी ओर धादेशात्मक जिसके कारण ऋत कोर मत्य से भी परे एक अलग रहस्यात्मक सत्ता का रूप ले लेता है। ऋत वस्तुतः ब्रह्माण्ड में व्याप्त वह 'शक्ति है जिसके नियमों से देवता भी बंधे हुए हैं। ऋत तथा धर्म की धारणा में भारत के प्रारम्भिक सामाजिक तथा नैतिक विचारों में साने ज्ञान के रूप में विद्यमान हैं। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में जहाँ ऋत से तात्पर्य ब्रह्माण्ड की पार्थिव व्यवस्था तथा धर्म-व्यवस्था से है, वहाँ इसका तात्पर्य सामाजिक नैतिक नियमों में भी है। यही ऋत की धारणा वाला चरम धर्म की धारणा के रूप में प्रस्तुत हुई। वैदिक साहित्य में ऋत की धारणा के साथ साथ धर्म का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ है, वे हैं आचार (Custom), नैतिक नियम (Moral Laws) सामाजिक नियम अथवा कर्तव्य तथा ओचित्य (अर्थात् What is right)। ब्रह्मण्यग्रंथों में धर्म की धारणा 'ऋत' की धारणा का स्थान ले लेती है और इसका कारण है भारत के जटिल तथा विजातीय समाज में एक सामाजिक स्थिति की आवश्यकता। प्रारम्भ से ही भारत के विभिन्न समूहों का एक समाज, मस्तिष्क तथा राष्ट्र में गणित करने का प्रयास चलता रहा है। भारत में अनुरता लेने का प्रयास किया गया है और भारतीय विचार इसी प्रयास का अन्तर्धान है। धर्म तथा स्वयं की गरणाधारा में इस प्रयास में सफलता मिली है। भारत में आर्यों के ज्ञान के बाद, जाया तथा आर्यों के सम्पर्क से जो स्थिति उत्पन्न हुई उसकी आवश्यकताओं 'ऋत' की धारणा से पूर्ण न हो सकी और इसी कारण भारत में आर्यों के आचार के बाद वाला चरम धर्म की धारणा पर धर्म की धारणा विद्यमान हुई। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में धीरे धीरे

धर्म की धारणा देवताओं, ऋषियों, पितरों, मनुष्य तथा मानवेतर प्राणियों के प्रति कृतव्यव संहिता (Code of Duties) के रूप में विवक्षित होती है। धर्म की इस धारणा में, एक ओर धर्म की धारणा में व्याप्त प्रकृतिवादी (Naturalist) दृष्टिकोण बना रहता है और दूसरी ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों का नैतिक आधार भी मिलता है।

पाणिनि के निवचन में धर्म का अर्थ है धर्मप्राण कृत्य तथा प्रथा। धर्म शास्त्रों में, एक ओर, धर्म की वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ में व्याख्या की गई और, दूसरी ओर आधर्म व्यवस्था के सन्दर्भ में। धर्मशास्त्रों में की गई व्याख्या के अनुसार धर्म वस्तुतः शास्त्रोक्त वर्णों की कृत्या में निहित है। धर्म की इस व्याख्या में, एक ओर, व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के कृतव्यों को निरूपित करने का प्रयास है और, दूसरी ओर वर्ण व्यवस्था के निरूपण के द्वारा, समाज के विभिन्न समूहों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कृतव्यों का निधारित करने का प्रयास। इस प्रकार, धर्मशास्त्रों के युग में, धर्म से तात्पर्य लिया गया है एक आदर्श तथा सुगठित समाज की सभी इकाइयों की प्रतिष्ठा तथा कृतव्यों में। यही से धर्म के अन्तर्गत सम्पूर्ण मानव कृत्यों को लिया जाने लगा और धर्म को एक व्यापक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया।

इस बहुमुखी विकास का परिणाम यह हुआ कि धर्म धार्मिक सद्भावों तथा अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। जैसा कि गोखले ने लिखा है धर्म से अर्थ लिया जाने लगा धार्मिक सद्भावों और अर्थों, सद्गुण सुष्ठु धार्मिक कृतव्य, धार्मिक सद्गुण, आत्म निरपेक्ष सत्य सामान्य नियम अथवा सिद्धांत (Universal Law or Principle) देवी-याचन (Convention), प्रथा तथा परम्परा संहिता (Code of Customs & Traditions) धर्म विधि (Canon Law) या विधि (Law) तथा अन्तर्गणनीय विधि (Intertribal Laws) से¹ धर्म की इस व्यापक धारणा में जहाँ, नैतिक आत्म नियम (Ethical Norm) धार्मिक कृतव्य, रहस्यात्मक सत्ता (Mystical Entity) तथा आदर्श के भाव निहित हैं वहाँ इसमें आर्थिक, राजनैतिक, प्रजातिक तथा वस्तुिक और व्यावसायिक (Professional) व्यवहार संचालन के नियम भी निहित हैं। इस व्यापक व्याख्या में धर्म को सामाजिक सहचारी जीवन के एकीकरण की प्रक्रिया (Process) का उपकरण (Instrument) बनाने का प्रयास किया गया है। एकीकरण सभी प्रकार के सहचारी जीवन की आवश्यकता है। मानव के सहचारी जीवन (सामाजिक जीवन) में उच्च आवश्यकता सस्कृति से पूर्ण होती है। भारतीय समाज में उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए धर्म की धारणा निरूपित की गई है और इसान्तरण भारतीय सस्कृति धर्मप्राण सस्कृति है।

धर्म की इसी व्यापक व्यापकता का ध्यान में रखते हुए महाभारत में कहा

गया है कि सभी प्राणियों की वृद्धि तथा विकास के लिए और उन्हें परस्पर हानि पहुँचाने में रोकने के लिए धर्म उपस्थापन हुआ है। अतः, धर्म साधारण तथा एवमुक्तो न हाकर जटिल तथा बहुमुखी है। इसका सम्बन्ध राज्य तथा प्रजा के व्यवहार, जाति तथा परिवार समूह, जीवन की अवस्थाओं, दान, उपाय, मोक्ष, नारी पुण्यो के कृत्या तथा सामान्य मानव कृत्यों में है। भारतीय विचार के विकास के दौरान में धर्म पर अनेक बहुमुखी विचारों तथा धारणाओं का आवरण चला रहा है। फिर भी, धर्म धारणा की अपनी आत्मा है जो निम्न धारणाओं तथा विचारों के आवरण में भी अभ्युज्ज्वल रही है। धर्म की आत्मा सत्ताचारों, मूल्यों (Moral Values) के संरक्षण तथा स्थायित्व के प्रति विश्वास में निहित है। धर्म का धारणा में एक रहस्यमय सत्ताचार व्यवस्था का भाव निहित है जो स्वतः में निहित ब्रह्माण्डसम्बन्धी विचारों पर आधारित है जो अपरिवर्तनीय तथा स्थायी रहा है और जो निरीह मानवी अधिमानों (Preferencels), सुविधाओं (Conveniences) या प्रयत्नता (Manipulations) से एकत्रित स्वतन्त्र हो नहीं बरने उनमें प्रति प्रतिष्ठित भी रहा है। स्वतः की धारणा रहस्यात्मकता में लिपटी हुई है क्योंकि इस धारणा में मनस्य से पर एक सत्ता में विश्वास रहा है। यही कारण है कि धर्म की धारणा में रहस्यात्मकता का पुट आया।

धर्म की धारणा में निहित रहस्यात्मकता के भाव के लिए भारतीय विचारधारा के मुख्य प्रवाह तथा सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी हैं। भारत में आर्यों के आने के बाद, जिस सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का संगठन हुआ उसमें एक ओर वे आर्य और दूसरी ओर आर्य अनाथ एक ओर वे विजित और दूसरी ओर पराजित। सत्ताहीन भारत में भूमि ही अथवा एकमात्र साधन थी जिसकी उत्पादन-शक्ति सीमित थी। दूसरी ओर, क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों के रूप में, ऐसा वर्ग अस्तित्व में आ रहा था जो उत्पादक न हाकर बस परितोषीमात्र था। अतः, बहिष्कार समाज की एक आवश्यकता थी विभिन्न गणजातियों का एक समाज में संगठित करना, जो वर्ग व्यवस्था के द्वारा हुआ दूसरी जनसाधारण की उत्पादन-शक्ति में लगाए रचना ताकि परितोषी वर्गों का अस्तित्व बना रहे और सामान्य धर्मिक तथा समाज के एकीकरण की बनाए रखना जो राज्य व्यवस्था तथा सत्तार द्वारा सम्पन्न रहा। ऐसी अवस्था में कादम्बरिचय नहीं यदि धर्म का मानव तथा समाज के पर एक रहस्यात्मक दशा सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया। भारत की ही नहीं, बल्कि तत्कालीन समार की ही विचारधारा रहस्यात्मक थी। मानव विचारों पर स रहस्यात्मकता का आवरण लग स उत्तरदायी प्रारम्भ हुआ जब स विज्ञानादिना का प्रभाव बढ़ा। विज्ञानवादी विचारधारा के आविर्भाव के पश्चात् मानव सम्बन्धी जिनको भी विचार प्रणालियाँ अस्तित्व में आई हैं उनमें रहस्यात्मकता का पुट रहा है। सुनानी, ईसाई और इस्लामी विचार प्रणालियाँ इसका प्रमाण हैं। धर्म की धारणा की सर्व

बड़ी विरोधता यह है कि रहस्यात्मक होते हुए भी यह उस प्रकार से दबी अध्यादेश नहीं है जिस प्रकार म इसाईयत और इस्लाम है। धर्म सर्वोच्च दबी सत्ता से परे एक जगत् मत्ता है। इस्लाम और इसाईयत की भांति, धर्म कोई अपरिवर्तनीय तथा अंतिम विचार प्रणाली भी नहीं है। धर्म देश-काल से बंधा हुआ है। यह अवश्य है कि वह मानव से परे है लेकिन वह मानव से सबथा अलग भी नहीं है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म की विचारधारा में धर्म की प्रत्येक वह दबी सत्ता नहीं है जिसका अस्तित्व मानव से एकत्र अलग है वरन् वह दबी सत्ता है जो मनुष्य के रूप में ही धर्म की प्रेरणा देती है। धर्म की धारणा में स्थायित्व की भावना न होकर समकालीन युग युगों की भावना 'याप्त' है।

दूसरी वचारिक पृष्ठभूमि का प्रभाव है कि जब हिन्दुत्व तथा हिन्दू समाज के प्रकार तथा सघात के कारण आदिवासी समाज का विश्वस्तर हुआ तो बुद्धवाद एवं वचारिक तथा सामाजिक नाति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। बुद्धवाद में धर्म के रहस्यात्मकी पक्ष पर ही सर्वत्र अधिक चोट की गई। लेकिन, बुद्धवाद भी धर्म के आधारभूत विचार में मुक्त न हो सका। बुद्धवाद का विकास मगध तथा अवन्ती जैसे साम्राज्यों की पृष्ठभूमि में हुआ था। मौर्यों के प्रभुत्व और ऐश्वर्य की आधार मिला जनसाधारण के धर्म में उत्पादित सम्पत्ति थी क्योंकि जन साधारण का उनसे

हिन्दुत्व की विचारधारा में ईश्वर को एक साथ, धर्म का शासक तथा धर्म से बंधा हुआ माना गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि धर्म आचार से उत्पन्न होता है लेकिन धर्म के प्रभु स्वयं अच्युत (भगवान्) हैं (आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः)। भगवान् धर्म का मूल हैं (धर्ममूलं हि भगवान् सर्वदेवमयी हरिः)। भगवान् स्वयं धर्म के जानने वाले ही नहीं वरन् स्वयं धर्म का रूप हैं (धर्मो धर्मविदुत्तमः)। भगवत् में लिखा है कि धर्म की रक्षा के लिए भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं (धर्मावनायोऽवृत्तावतारः)। गीता के चौथे अध्याय (श्लोक ७-८) में भगवान् कृष्ण से कहा गया है, हे अर्जुन ! जब जब धर्म की गति होती है, तब तब अधर्म के अम्यस्थान (विनाश पतन) के लिए मैं अपना सज्जन करता हूँ (अर्थात् अवतार लेता हूँ)। साधुओं के परिश्रम दुष्टों के विनाश और धर्म स्थापन के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता रहता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि मानो ईश्वर तथा धर्म सम्बन्धी विचारों में द्विविधा या विरोधाभास हो। ऐतिहासिक साक्ष्य में यह विरोधाभास समाप्त हो जाता है। वदिक विचारधारा में धर्म ही सर्वोपरि है। लेकिन, कालांतर में सकटकालीन परिस्थिति में जब साधारण की उपासना बंदी और जनसाधारण को एक अलौकिक आधेय की आवश्यकता हुई, तो अवतारवाद की कल्पना के साथ धर्म को जोड़ कर उसे ईश्वरमय मान लिया गया।

धर्म के फल से वंचित किए बिना न तो साम्राज्य रह सकता था और न साम्राज्य का ऐश्वर्य । और जहाँ जनसाधारण का उनके धर्म से उपार्जित फल से वंचित किया जाता है वहाँ या तो क्रांति होती है या यदि क्रांति सम्भव न हो तो जनसाधारण का किसी न किसी मानसिक सत्ताप के माध्यम की आवश्यकता होती है । धर्म की रहस्यात्मकता तथा पारलौकिकता में धन्यवस्था की सत्तामूढ़ सामाजिक व्यवस्था के तापण से, जनसाधारण को मानसिक सतोष मिला । यह इसी रहस्यात्मक विचारधारा का प्रभाव था कि राजधर्म में सम्राट की राजपिक रूप में कल्पना की गई और सम्राट को एक दिव्य मरक्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया । इस प्रकार, धर्म की धारणा में निहित पारलौकिकता सामाजिक परिस्थितियों की दन है । यह सामाजिक परिस्थितियों का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद जैसे मान्यकारी आन्दोलन में धरणा का प्रभावता मिली और उसका फलस्वरूप महासानी बुद्धवाद में बोधिसत्व की कल्पना आई । जिन परिस्थितियों ने धर्म की धारणा को जन्म दिया था उहाँन बुद्धवाद को जन्म दिया और यह धर्म की धारणा का ही प्रभाव है कि बुद्धवाद भी पारलौकिकता के प्रभाव में मुक्त न रह सका । मोक्ष की धारणा बुद्धवाद में निर्वाण के रूप में प्रतिफलित हुई । हाँ, यह अवश्य है कि बुद्धवाद में धर्म का निवचन एक नये ढंग से किया गया । यहाँ धर्म की स्वयं सम्मक भाग, सद्भाव और निर्वाण में ही सीमित रहता गया । लेकिन, धर्म की बुद्धवादी व्याख्या से ही मज्झिम की नींव पड़ी । बुद्धवाद ही पहला ऐतिहासिक तथा सण्डित मज्झिम था जिसके प्रभाव में उत्पन्न ऐतिहासिक प्रवाहों ने, कालांतर में, ईसाइयत तथा इस्लाम जन्म मज्झिम को जन्म दिया ।

धर्म की धारणा के ऐतिहासिक निवचन से यह स्पष्ट होता है कि धर्म की धारणा कोई अपरिवर्तनीय तथा अन्तिम धारणा के रूप में नहीं प्रतिपादित की गई है । मानव जीवन का काल, गुण तथा धर्म का क्या हुआ है । दश भौगोलिक परिस्थितियों का प्रतीक है और काल ऐतिहासिक परिस्थितियों का । गुण में तापय धर्म की स्वाभाविक क्षमताओं से है और धर्म का इन स्वाभाविक क्षमताओं के अनुसार बम करने का क्षमता में । धर्म का सम्बन्ध मानव से है । अतः धर्म भी दण, काठ, गुण तथा धर्म के कारणों से पर नहीं है । दण, काल, गुण तथा धर्म के कारणों के कारण ही मानव में तथा मानव व्यवहार में विचरणशीलता आती है और चूँकि मानव तथा मानव व्यवहार विचरणशील है धर्म विचार में भी विचरणशीलता का समावेश आवश्यक है । राजपि भौतिक के द्वारा दी हुई शिक्षाओं के अनुसार, 'दण' काल की परिस्थितियों, आवश्यकताओं तथा अपवातों के कारण जो धर्म है, वह अपम हो सकता है और जो अधर्म है वह धर्म हो सकता है । धर्म सम्बन्धी यह

विचार इस तथ्य का प्रमाण है कि धर्म के गत्यात्मक निर्धारण की आवश्यकता सदैव बनी रहती है क्योंकि मानव जीवन ही गत्यात्मक है। वास्तव में, एक ओर, मानव शाश्वत है और, दूसरी ओर विचरणात्मक। यही कारण है कि, एक ओर, धर्म की धारणा में मानव सम्बन्धी आधारभूत शाश्वत सिद्धांतों का प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है और, दूसरी ओर, विभिन्न परिस्थितियाँ तथा अपवादों के अनुसार उन सिद्धांतों में लचीलापन बनाय रखने का। "सीकारण" एक ओर, जसा कि पहले कहा गया है स्वधर्म की धारणा प्रतिपादित की गई है और, दूसरी ओर, अधर्म की, एक ओर, सामान्य धर्म तथा मानवधर्म की कल्पना रखी गई है और, दूसरी ओर, आपद्धर्म का। सामान्य धर्म के ही लिए नित्य तथा सावर्भौम की सनाओ का प्रयोग किया है। व्यक्ति के गुणों के सर्वांगीण विश्वास के लिये जाधर्म धर्म की धारणा प्रतिपादित की गई है। सामाजिक दृष्टिकोण से, मानव जीवन में परिवार तथा विवाह का सर्वाधिक महत्व है जिसे कुल धर्म की धारणा से व्यक्त किया गया है। गुण तथा धर्म के अनुसार समाज में व्यक्ति की जो प्रतिष्ठा बनता है और उससे जा स्तरीकरण (Stratification) अस्तित्व में आता है उस वर्ण धर्म के सामाजिक ढाँचे में रखा गया है। सामाजिक जीवन के राजनैतिक पक्ष की राजधर्म की धारणा में बाधा गया है। वर्ण और जाधर्म की धारणाएँ वस्तुतः धर्म की धारणा का प्राण है। धर्म का सारा निरूपण वर्णाश्रम के ही निरूपण में निहित है। (वर्णाश्रम-अवस्था वस्तुतः हिन्दु की आत्मा है। हिन्दू सस्कृति वर्णाधर्म अनुमानित है। इसी कारण, हिन्दु में धर्म सस्कृति का भी प्रतीक माना गया है।)

६

धर्म के विभिन्न रूप

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म एक ऐसी दृष्ट्यात्मक सत्ता है जिसका सम्बन्ध, एक ओर मानव की मान्यता से है और दूसरी ओर, मानव-जीवन की गत्यात्मकता तथा उसके विभिन्न पहलुओं से। इस दृष्टिकोण में धर्म की व्याख्या में, धर्म के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या अपेक्षित हो जाता है। धर्म के कितने पहलू हैं या धर्म के कितने रूप हैं? यह विषय जहाँ सतत विचार का प्रश्न रहा है, वहाँ दृढ़ता समाधान मनमतांतर का भी विषय रहा है। स्वधर्म तथा अधर्म और उनके विभिन्न रूपों की धारणाओं का स्पष्टीकरण पहले ही किया जा चुका है। यह भी पता लिया जा चुका है कि मानव ने धर्म के प्रश्न पर विचार करते हुए वर्णाधर्म, जाधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म तथा साधारणधर्म की

व्याख्या की है। अतः, यह कहा जा सकता है कि या-यवत्व के अनुसार छ प्रकार के धर्म हैं। भारतीय विचार (Indian Thought) की ऐतिहासिक विवचना के सन्दर्भ में धर्म की धारणा की व्याख्या करते हुए गांगुली न धर्म के जिन पहलुओं या प्रकारों का वर्णन किया है वह हैं मानवधर्म, वणधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, राजधर्म तथा सत्त्विक के रूप में धर्म^१। नस्वनि जमा कि पदार्थ अध्याय में दिनाया गया है समाज के आश्रमों का अपने में समेट रक्ती है। हिन्दू विचारधारा में मानव जीवों के व्यवहार तथा सामाजिक आचरण धर्म में ही निहित है। अतः हिन्दू दृष्टिकोण में धर्म मन्वन्ति का प्रतीक है। कुल धर्म का सम्बन्ध परिवार और गृहस्थाश्रम में है जिनका, आगे चलकर, व्याख्यान वर्णन किया जायगा। धर्म के सामाजिक पहलुओं का स्पष्ट करने के लिए धर्म के जिन पहलुओं का यहाँ वर्णन किया गया है वह हैं मानवधर्म, वणधर्म, आश्रमधर्म, वणधर्म, कर्मधर्म और राजधर्म। धर्म की स्वाभाविक परिणति उत्तमपुरुष की धारणा में होती है अतः, धर्म में उत्तमपुरुष की धारणा का विश्लेषण किया गया है।

मानवधर्म की धारणा में धर्म के सामान्य तथा शाश्वत आधारों का निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। मानव धर्म की धारणा में मानवभौमिकता का भाव निहित है क्योंकि मानवधर्म की मायता इस धारणा पर आधारित है कि देश, काल, गुण तथा श्रम के कारणों में उत्पन्न विचरणा के हान हुए भी, मानव-जीवन समान समान है और, इस कारण, वह कुछ आधारभूत नियमों तथा सिद्धांतों तथा हुआ है। यही सर्व-व्यापी आधारभूत नियम तथा सिद्धांत मानवधर्म का सार है। किन्तु, यहाँ प्रश्न उठता है कि वे सर्व-व्यापी, आधारभूत नियम तथा सिद्धांत क्या हैं? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार में दिया गया है। एक दृष्टिकोण में, मानवधर्म वह है जो मानव में निहित औचित्य की प्रेरणा पर आधारित है और जिससे मानव को नैतिक-सौख्य तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। औचित्य की प्रेरणा ही सत्त्विक की ओर प्रेरित करती है। अतः धर्म का एक बाह्यरूप है और दूसरा अन्तरिक। धर्म का बाह्य रूप मनुष्य को धर्म से बाधता है और आन्तरिक का प्रेरणा से। इस दृष्टिकोण में, धर्म मनुष्य का उस प्रारम्भ से बाधता अपनी प्रकृति का वह नियमों का पालन करने हुए अततागता प्राप्त इसी दृष्टिकोण से धर्म का मानव के उन गुणों का मायस्थ, उनमें तथा जीवन का विधायक, महात्मा और निवर्तन मानव का मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक रूपों और व्यक्ति तथा समूहों विषयीयता तथा प्रबंध निधारित होत हैं। जपन इस रूप में मानव को इहलौकिक सुख तथा मानव की ओर ल जाता

यह फिर प्रश्न उठता है कि विवक की कमीटी क्या है ? इस प्रश्न को मुलज्ञाने के लिए मानवधर्म की विशेषताओं को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस विषय में एकमतता नहीं है । मनु के अनुसार, जसा कि पहले लिखा जा चुका है, मानवधर्म के लक्षण हैं धृति, धर्मा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्राव । विष्णुधर्मशास्त्र में सहिष्णुता, सत्यता, सयम, इन्द्रियनिग्रह अहिंसा, गुरु के प्रति धृष्टा, तीथयागा, दुष्ठी के प्रति सहानुभूति सरलता, अभिभाषा से मुक्ति, दया तथा बाह्यता का आदर और अगोप्य मानवधर्म के लक्षण बताए गए हैं । भागवत पुराण के अनुसार मानवधर्म अहिंसा सत्य चारी न करन की भावना, इच्छा काय तथा अभिभाषा के रागों से मुक्ति और उस कम जो दूसरा के लिये रक्षिकर तथा अच्छा हो म निहित है । कौटिल्य ने मानवधर्म के लक्षणों में अहिंसा सत्यनिष्ठा, गुदना, अविद्वय दया और क्षमा का मुख्य माना है । महाभारत में अहिंसा को उच्चतम मानवधर्म माना गया है । गीता में निष्काम धर्म का मानवधर्म माना गया है । मैक्सवेल ने सर्वोच्च धर्म की परिभाषा प्रथा के रूप में की है । सामाजिक कर्तव्य (Social Duty) या कर्तव्य कर्तव्य के रूप में भी धर्म परिभाषित किया गया है । इन विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मानव सामाजिक सावर्भौमिक पक्ष में मानवधर्म वह धर्म है जो दैनिक जीवन में सत्य अहिंसा, आ मनियग्रह तथा कष्टना पर आधारित हो, जो मानव प्रकृति का मानवीय बनाने का उपकरण तथा मानव प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण का माध्यम हो^१ ।

धर्म की विवचनाओं के वर्णन में सामाजिक धर्म नित्यधर्म साधारणधर्म, सावर्भौम धर्म विशेषधर्म तथा आपद्धर्म जसी संज्ञाओं का भी प्रयोग मिलता है । सामाजिक नियम साधारण और सावर्भौम पर्यायवाची विगणन है और उनका अर्थ है शास्त्रों में । धर्म के साथ जुड़े स उनका तात्पर्य हो जाता है शास्त्र धर्म स जिसकी व्याख्या मुख्यतः मानवधर्म की धारणा के रूप में की गई है । विशेषधर्म का अर्थ है उस धर्म में जो सामाजिक सभित हो और जो परिस्थिति विगणन की मांग हो । दया और दान सामाजिक धर्म में आते हैं । किन्तु यदि रागी कुपधर्म मागे तो, दया करके उस कुपधर्म दना उपधर्म होगा । आपद्धर्म का तात्पर्य उस धर्म से है जो अपतिकाय के त्रिय हो । यदि सामाजिक धर्म है अग्नि दग्ध फटन पर चूहा को मारना अपधर्म न होगा । विगणधर्म तथा आपद्धर्म सामाजिक धर्म के अपवाद के रूप में परिभाषित किया गया है । अपवाद परिस्थिति जय हो है । अतः सामाजिक न होकर अस्थाई होत है ।

छठा अध्याय

पुरुषार्थ

धर्म और पुरुषार्थ

धर्म पुरुषार्थ का साधन माना गया है। पुरुषार्थ का तात्पर्य है प्रयत्न अथवा प्रयत्न। स—य प्रयत्न जिनसे जीवन के उद्देश्य की पूर्ति हो। हिंदू जीवन दशम के निरूपण तथा व्याख्या में पुरुषार्थ का अर्थ रूढ़िगत हो गया है। अपने रूढ़िगत धर्म में, पुरुषार्थ मानव जीवन के उद्देश्य का प्रतीक माना गया है। हिंदू-जीवन दशम के प्रत्येक पक्ष में जीवन के चार उद्देश्य माने हैं—धर्म अथ काम धीर मोक्ष। ये चारो अलग-अलग पुरुषार्थ मान गये हैं। धर्म का प्रथम पुरुषार्थ माना गया है जो इस संघ का प्रतीक है कि सभी पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वोपरि है। महाभारत में रचयिता महर्षि व्यास ने भारत सावित्री की अंतिम श्लोका में कहा है कि मैं हाथ उठा-उठा कर तथा अपनी पूरी शक्ति के साथ कहता हूँ कि धर्म में अथ धीर नाम की मायना होती है। अतः धर्म का ही अनुसरण करो न कि धर्म ? किन मरी कोई नही मृतता है। फिर भी यह ध्यान रखो कि धर्म की वरना चाहिये।

धम उसी प्रकार से नित्य है जैसे आत्मा ¹। धम प्रथम पुरुषार्थ इसलिए है कि वह अन्य तीन पुरुषार्थों का साधन ही नहीं वरन् उनका आधार है। अथ दूसरा पुरुषार्थ है काम तीसरा और मांश चौथा। संस्कृत भाषा में 'अथ' के अनेक अर्थ हैं लेकिन, एक पुरुषार्थ के रूप में अथ से तात्पर्य लिया जाता है इहलौकिक तथा पार्थिव सम्पन्नता से। काम से साधारणतः अर्थ लिया जाता है मानव की उन एपणाओं से जिनसे आनंद की प्राप्ति होती है तथा जिनसे जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि होती है। साधारणतः काम का मानव में निहित यौन प्रेरणा का पर्याय माना जाता है यद्यपि अपने व्यापक अर्थ में यह प्रतीक है मानव की उन सभी जविक एपणाओं का जो मानव में जविक तथा मानसिक तनाव उत्पन्न करती है और जिनकी तुष्टि इन्द्रिय-जनित सुख का साधन होती है। मोक्ष से तात्पर्य है मुक्ति से—आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने से।

मानव जीवन का अतत्त्वोन्नेता और सर्वोच्च पुरुषार्थ है मोक्ष जिसका एकमात्र साधन है धम। इसीलिये धम मोक्ष से भी महत्वपूर्ण है। लेकिन केवल धम से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मांश मानव जीवन की एक सतत विकास प्रक्रिया (धम्मुत्पत्ति) का चरमावस्था है। मांश का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से है, जो इहलौकिक जीवन का उत्तमोत्तम है। इहलौकिक जीवन का स्वाभाविक विकास अथ और काम से होता है—यह अथ और काम का धम पर आधारित है। अथ और काम का सम्बन्ध सात्त्विक जीवन से है। धम अथ और काम के माध्यम से, मांश की आरंभ होता है अतः, धम का स्तर अथ और काम की अपेक्षा उच्चतर है। धम अथ और काम, वस्तुतः, प्रतीक है मानव के नैतिक (Moral), भौतिक (Material) तथा मानसिक (Mental) संसाधन (Resources), उपकरणों तथा शक्तियों के जो मानव को अपने में ही उपलब्ध रहते हैं और जिनकी साधना के बिना मोक्ष की साधना नहीं हो सकती है। अतः पुरुषार्थ वस्तुतः एक साधना है जिसमें धम के आधार पर अथ तथा काम (अर्थात् इहलौकिक जीवन) की साधना करते हुए पारलौकिक जीवन का साधने का प्रयास निहित है। पुरुषार्थ अर्थात् तथा निश्चय से की साधना का माध्यम है।)

धम पुरुषार्थ का आधार अवश्य है, लेकिन एक धारणा के रूप में। धम की धारणा पुरुषार्थ धारणा का एक पहलू है। धम और पुरुषार्थ एक दूसरे पर आश्रित हैं। धम के बिना न तो पुरुषार्थ की साधना हो सकती है और न बिना पुरुषार्थ के धम की। पुरुषार्थ केवल एक धारणामात्र नहीं है। पुरुषार्थ वस्तुतः जीवन दर्शन का एक सिद्धांत है। जीवन दर्शन के एक सिद्धांत के रूप में पुरुषार्थ से तात्पर्य है धम के माध्यम से अथ काम तथा मांश की साधना। मोक्ष धम अथ तथा काम का स्वाभाविक विकास

है। अतः, चारों पुरुषार्थों में धर्म अथ और काम की आधारभूत महत्ता है। धर्म की व्यापक व्याख्या के लिये अथ, काम तथा माय की विषय व्याख्या आवश्यक है।

धर्म का अन्ततोगत्वा उद्देश्य है माय प्राप्ति। मोक्ष प्राप्ति निवृत्ति का प्रतीक है। इसी कारण, यह कहा जाता है कि धर्म निवृत्ति की ओर ल जाता है जिसके फलस्वरूप, हिंदुत्व में जीवन के प्रति नास्ति तथा नकारात्मक दृष्टिकोण का समावेश हुआ है। किन्तु हिंदुत्व के प्रति यह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। गाता इसका उदाहरण है। गीता में जीवन का कर्मक्षेत्र मानकर उस अपमान की प्रेरणा दी गई है। पुरुषाय सिद्धांत में धर्म के साथ अथ तथा काम को प्रधानता देकर, इहलौकिक जीवन के आधारभूत महत्व पर जोर दिया गया है। शरीर का धर्म साधना का प्राथमिक साधन माना गया (शरीरमाद्य खलु धर्म साधन)। शरीर का साधना का प्रत्यक्ष अथ और काम की साधना आवश्यक है। हा यह अवश्य है कि हिंदुत्व में शरीर और उसकी आवश्यकताओं की प्रति की ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं माना गया है। मानव जीवन केवल शरीरी आवश्यकताओं की प्रति तक ही सीमित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मनुष्य अथ जानवरों में भिन्न न होता। शरीरी दृष्टिकोण से, मानव जीवन में जन्म विकास ह्रास (जरा) तथा मृत्यु का चक्र है। जन्म प्रलय की यह दृष्टिभाविक प्रक्रिया है जिसकी अवहलना नहीं की जा सकती है। मनुष्य ही उद्देश्य के द्वार में सोचता है। यही कारण है कि हिंदुत्व में एक ओर इहलौकिक जीवन का निरूपण का प्रयास किया गया है और दूसरी ओर इहलौकिक जीवन का अन्ततोगत्वा उद्देश्य को पारलौकिक के साथ जोड़ा गया है। हिंदुत्व में पहले इस पथ पर मानव अस्तित्व की सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नों की महत्ता पर विचार किया गया है फिर मानव अस्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा उसमें समावेश अन्ततोगत्वा उद्देश्य पर विचार किया गया है और फिर इन विचारों के आधार पर व्यक्ति, समाज, परिवार समूह समाज तथा राष्ट्र और जीवित तथा निर्जीव के सम्बन्ध में विचार पर आधारित हैं। हिंदुत्व निवृत्तिमार्गों प्रवृत्ति का जीवन प्रण है। अतः, महाफलदायिनी है। आसक्ति में अनासक्ति का समन्वय जीवन का उद्देश्य यही कारण है कि पुरुषाय विचार में धर्म, अथ काम और मोक्ष का समन्वय किया गया है। जहाँ एक ओर, धर्म तथा मोक्ष (निवृत्ति) का विचार चलता है, दूसरी ओर, अथ और काम (प्रवृत्ति) का भी विचार चलता है।

अथ

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृत भाषा में 'अथ' शब्द कई सन्तर्भों में प्रयुक्त किया जाता है। जसा कि गोल्ले ने लिखा है अथ से साधारणतः तात्पर्य लिया जाता है समृद्धि तथा सांसारिक पक्षों की प्राप्ति, सुविधा लाभ धन, व्यापारिक जीवन का परिणाम, व्यापारिक विषय वस्तु तथा कार्य किया और मूल्यसे। विधि (Law) के सन्दर्भ में, अथ से तात्पर्य है प्रतिवाद, अभियोग तथा प्रायनापन अथवा धाचिका (Petition) से। इस प्रकार, अथ शब्द के अनेक अर्थ हैं। ऋग्वेद के आधार पर पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अथ का तात्पर्य उन पार्थिव वस्तुओं से है जिनकी गृहस्थी चलाने परिवार बसाने तथा धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करने में आवश्यकता पड़ती है^१। अथ का एक अर्थ उस वस्तु अथवा उन वस्तुओं से है जिनकी इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सके^२। जिन वस्तुओं की इन्द्रियों द्वारा अनुभूति की जा सकती है वे हैं रूप रस, गन्ध स्पर्श और शब्द। प्रभू के अनुसार, पुरुषार्थ के सन्दर्भ में अथ से तात्पर्य लिया जा सकता है उन सभी उपकरणों से जो सांसारिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। प्रभू ने धन और सत्ता को सांसारिक समृद्धि का प्रतीक माना है^३।

(धर्म की भाँति अथ की धारणा का विकास विभिन्न सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सन्दर्भों में हुआ है और इसकारण, उसे अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। वंश में मानव तथा समृद्ध जीवन की एक सतत अभिलाषा व्यक्त की गई है। ऋग्वेद की ऋचाया तथा उपनिषदों की प्रायनापन में धन धाँय की वृद्धि, सांसारिक समृद्धि, गताम्य होने की अभिलाषा, गायो तथा घोड़ों की वृद्धि, सत्तान की समृद्धि तथा सुखी जीवन की याचना की प्रायनापन मिलती हैं^४। जब जनव ने माध्यमत्व से यह जानना चाहा था कि वे धन तथा पशु की कामना पसन्द करते हैं

१ गोल्ले, बी० जी० वही पृष्ठ 51

२ इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्थं अर्थेभ्यश्च परमा

मनसस्तु परा बुद्धिबुद्धिरात्मा महान पर —कठोपनिषद् बल्की 3 अ० 1

३ प्रभू पी० एच० वही 70-80

४ ऋग्वेद—अ० 18, प० 77, म० स० 1 से 89

अनूपनिषद् द्वितीय प्रश्न—अथ 8 से 13

द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड, तृतीय मुण्डक प्रथम खण्ड, एतरोपनिषद्

द्वितीय खण्ड, तत्तरीयोपनिषद्—गीतापत्नी, तृतीय अनुवाक

सामवेद-पूर्वोचक पृष्ठ खण्ड, आग्नेयखण्ड, ऐन्द्रखण्ड, उत्तरार्चिक प्रथम खण्ड

या शास्त्राय म विजय की, ता याज्ञवल्क्य ने दोना की कामना प्रकट की थी। ऋग्वेद म धन क लिये रथि शद आया है जिसका तात्पर्य पशु भोजन सत्तान, वासस्थान तथा प्रचुर आजीविका से है। उपनिषदा म भी जीवन के उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति क लिये सासारिक पदार्थों की प्राप्ति की कामना की गई है^१।

महाभारत म यह कहा गया है कि यहा जिस धनममया जाता है वह नितात धन पर ही आधारित है। जा किसी का धन छीनता है वह धन क साथ साथ उसका धन भी छीन लता है। निधनवा पाप है। सभी प्रकार क सत्त तथा धार्मिक कर्मों का मूल धन ही है। धन म धन की वस ही प्राप्ति हाती है जस हाथिया द्वारा हाथिया का पकड़ा जाता है। धार्मिक कया सुख, रूप, साध्य, मोक्ष और विद्वता का आवार धन ही है। धनहीन के लिये धार्मिक कया की साधा दुष्कर है क्योंकि धन धार्मिक कृत्यों का वसे ही सात है जस सरिताओं का सात पवना म है। कौटिल्य के अनुसार, दान तथा एणगाओं की पूर्ति धन पर निर्भर है अत, धन की सवाधिक महत्ता है। राज्य के चार मुख्य वस्तव्य हैं—उपाजन करना उपाजनो को सुरक्षित रखना, उनम निरंतर सुधार तथा वद्धि करना और उनम उत्पन्न होने वाले लाभ को उनम वितरित करना जो उस पाने के योग्य तथा अधिकारी हा। कौटिल्य अविका बराग्य का विरोधी है क्योंकि जनसाधारण म बराग्य की प्रवृत्ति आर्थिक उत्पादन का अवरोध करती है। उसने तो यहा तक कहा है कि जा समाज तथा परिवार की भाग को पूरा किय बिना बराग्य का अपनाता है उन राज्य द्वारा दंड मिलना चाहिये। अपने अर्थशास्त्र मे कौटिल्य न यहा तक लिखा है कि साम्राज्य के गाँवों म सत्यामिया क आन की अनुमति नहीं होनी चाहिय क्योंकि गाव म उनकी उपस्थिति से ग्रामीणा की आर्थिक त्रिया म बाधा पडती है। पचतत्र और हितोपदेश जो जन साहित्य की परम्परा म घात हैं म भी अथ परम्परा पर उतना ही जोर दिया गया है जितना कि शास्त्रा म। शास्त्रे द्वारा पचतत्र म उद्धत अंग के अनुसार धन मनष्य का समीपस्थ सम्बन्धी है। धन से ओज विवास तथा सत्ता प्राप्त होती है निम्नवर्गी धनवान को आनन्द मिलता है जबकि उच्चवर्गी धनहीन का लाभ निरादर की दृष्टि म दखते हैं। निधनता अभिगाप है और मृत्यु म भी बुरी है बिना धन क मृत्यु भी बेकार हा जात है धनहीनता सभी बुराईया की जड है भिक्षु का प्रावन जीवित न क म रहन क समान है^२। कया सरिमागर म कहा गया है कि धन का उदय है सुन जिस धन स मुख न प्राप्त हो वह बेकार है। धा बवस इच्छा स ही नहा प्राप्त होता है धा क लिये प्रयास आवश्यक है धन बवल उसी का प्राप्त होता है जा परिधमी, साहसी तथा विवकी है^३।

१ गोतले धी० जी० वही पृष्ठ ५१-५२
२ वही

इसीप्रकार शुद्धनीतिसार में भी, अथ परम्परा को धनाजन के सद्भ में व्यक्त किया गया है। शुद्धनीतिसार के लेखक के अनुसार, जिस पुरुष के स्त्री, सत्तान तथा मित्र है, उसका लिये दानिक धनापाजन उचित है। दान के लिये धन आवश्यक है। बिना दान और धन के मानव अस्तित्व का महत्व ही क्या है? प्रत्येक को भविष्य के लिये धन संचय करना चाहिये। जब तक किसी के पास धन है, तभी तक उसका सम्मान होता है। धनहीन व्यक्ति वह चाह किता ही योग्य क्या न हो, स्त्री तथा सत्तान द्वारा त्यागा जा सकता है। इस सकार में धन ही सारे पुरुषों की जड़ है। अतः, धन उपाय से धनाजन करना उचित है। शुद्धनीतिसार में विद्या, सदा, शौच, श्रुति, व्यापार अल्प तथा क्षिप्तकारिता और यहाँ तक कि भिक्षाटन धनाजन के धन उपाय माने गए हैं¹।

धन का उपाजन और संचय तथा उससे मिलने वाला इहलौकिक कल्याण भारतीय, निम्नोक्त हिंदू विचार में प्राप्त है। हिंदू विचार में धन की वाञ्छनीयता कई प्रकार में व्यक्त की गई है। इस वाञ्छनीयता का प्रमाण हैं वे शब्द जिनके माध्यम से इस व्यक्त किया गया है। धन वह है जो मनुष्य की पूर्वी (धर्म) और 'द्रव्य' हो, जो उपाजित (विद्य) हो जिसका व्यक्ति विनियोजन (स्वपातेय) कर सके, जो संचय (अथ) का परिणाम हो, जो विभव का मात और 'भोग्य' हो और जो हस्तांतरणीय (Transferable) होने के कारण प्रवृत्त हो अर्थात् जो विवाद (Dispute) तथा मुकदमाबाजी (Litigation) का कारण हो²। धन का 'हिरण्य' कहा गया है जिसका अर्थ है—सोना, चादी सोने का बना बरतन, मूल्यवान् धातु धन, सम्पत्ति तथा कोई इत्यादि³। वैदिक साहित्य में पशु को धन का मुख्य साधन माना गया है किन्तु पाणिनी में लिखे बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द पञ्च में धन की श्रेणी में जिन वस्तुओं का उल्लेख किया है उनमें पशु का उल्लेख नहीं है जो इस तथ्य का प्रमाण माना जा सकता है कि बौद्धमत में धन का पशुपालन (Pastoral) आधार समाप्त हो गया था। बौद्ध ग्रन्थों में श्रुति और व्यापार का वत (आर्थिक नियम) का आशय माना गया है। महाभारत में भी वत को गृह्यार का मूलधार माना गया है। जब तक राजा वत का साथ रहता है, सभी कुछ सुचारु रूप में चला करता है। कमण्डक नीतिशास्त्र में यह कहा गया है कि वत का विनाश के साथ साथ सत्तार का भी विनाश हो जाता है। धर्मशास्त्रों में श्रुति, पशुपालन, औद्योगिक कलाया, व्यापार तथा धर्म देने का वत का आधार कहा गया है⁴।

1 गोपले, पी० जी० वही पृष्ठ 54

2 वही

3 धाप्टे, पी० एस० वही

4 गोपले, पी० जी० वही पृष्ठ 53

ऐतिहासिक सन्दर्भ में विचार करने पर अथ परम्परा में कई विचार प्रवाह एक साथ प्रवाहित होत हुए दिखाई पड़ते हैं। पहला जो उत्पादन बढ़ता गया और प्रयोगिकी का विकास होता गया अथ की धारणा अधिक व्यापक होती गई। वनिक काल में धन पशु में केन्द्रित समझा जाता था किन्तु बौद्धकाल में कृषि तथा व्यापार को धन का केन्द्र समझा जाने लगा। दूसरा प्राचीन ग्रन्थों में धन की समष्टिवादी धारणा प्रतिपादित की गई है जबकि पंचतन्त्र तथा हितापदेश जैसे जन-वार्ता बाल ग्रन्थों में व्यक्ति को धनाजन तथा समृद्धि का मुख्य साधन माना गया है। तीसरा, एक ओर, धन को वित्त, स्वपातय भोग्य तथा व्यवहाय माना गया है और दूसरी ओर, विलास, वैभव तथा दिग्गज की भत्सना की गई है^१। चौथा, उत्पादन में लग्न वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा का सतत ह्रास हुआ है^२। इन विभिन्न तथा परस्पर विरोधी विचार प्रवाहों का परिणाम यह हुआ है कि भारत में धन की धारणा में गर-आर्थिक विचारों का समावेश हुआ और सारी अथ परम्परा इहलौकिक होती हुई। अथ की धारणा के साथ साथ त्याग तथा वराम्य की भावना क्या आई ? अथ विचार में इहलौकिक विचारों के साथ-साथ पारलौकिक विचारों का समावेश

१. मनु ने विलावटी तथा अनावश्यक व्यय की भत्सना की है और शुक्र ने अपव्ययी को राज्य से निकाल देने का विधान किया है। विधि निर्माताओं ने साधारणतः धनियों द्वारा किए गए अपव्यय के लिए कड़ दण्ड का विधान किया है। इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि भारत में अथ परम्परा धर्म प्रधान रही है, अथ नीति पर आधारित रहा है न कि केवल भोग पर, मानव क्रियाओं का ब्रह्म मानव रहा है न कि धन, और हिन्दू विचार तथा संहिता धर्मोन्मुख (कृत-योन्मुख) रहे हैं। यहाँ अथ को केवल एक उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि अथ का उद्देश्य धर्मसाधना है। धर्म के माध्यम से अथ और अथ के माध्यम से धर्म की साधना, हिन्दुत्व का मुख्य उद्देश्य है। इसी कारण, हिन्दुत्व में अथ की धारणा गर-आर्थिक आधारों पर की गई है।
२. बौद्ध ग्रन्थों में उच्च तथा निम्न जातियों का बहुधा वर्णन मिलता है। निम्न जातियों के लोगों में साधारणतः आलस, जाल लगाकर निकास करना चमड़ा का काम, कुम्हाररी, बाँस के काम, कपड़ा-बुनाई तथा नाई के काम को रक्खा गया है। धर्मशास्त्रों में उत्पादक वर्गों वन्य तथा गूढ़ वर्गों को निम्न सामाजिक प्राप्ति प्रदान की गई है। वन्य तथा गूढ़ वर्गों के प्रति द्वय बद्धि काल से चलता रहा है। कौटिल्य के अनुसार, राज्य अब चाह तब वर्गों की समाप्त करने का उसे अधिकार है। गूढ़ों की प्रारम्भ से ही अथ वर्गों का सेवक माना गया है—गोखले वही पृष्ठ ५६

क्यों हुआ ? इसका उत्तरदायी धर्म को ठहराया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदू विचार की धर्मप्राणता न ही अथ की धारणा में पारलौकिकता का पुट दिया है। किंतु यहां प्रश्न उठता है कि धर्म में ही पारलौकिकता का समावेश क्यों हुआ ? इसका एक उत्तर रहस्यात्मक तथा आध्यात्मिक है। इस उत्तर के अनुसार जहां उच्चतम उद्देश्य भास है, वहां पारलौकिकता का विचार अवश्यभावी है। दूसरा उत्तर सामाजिक ऐतिहासिक है। सामाजिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, भारतीय समाज की पुनरावृत्ति विपन्न परिस्थितियाँ आर्थिक पृष्ठभूमि तथा वंश संघर्ष न यहां के पारलौकिक विचार को स्थायी रूप से जन्म दिया। मौर्य साम्राज्य के विकास तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के आदिवासियों समाज के विष्णु खलन ने, पारलौकिक विचारों वाले सामाजिक आन्दोलन बुद्धवाद तथा जैनवाद का जन्म दिया। गुप्त साम्राज्य के विष्णु खलन से जो विपन्न परिस्थितियाँ अस्तित्व में आईं उन्होंने वेदाती विचारधारा को जन्म दिया। इस्लामी सघात से हिंदू समाज में जो परिस्थितियाँ आईं उनके प्रभाव में पारलौकिक विचारधारा वाले दशानों तथा भक्ति आंदोलनों का आविर्भाव हुआ और वर्तमान समय में अग्रजी राज्य के आध्यक्ष से मारोपीय सघात ने गांधीवाद को जन्म दिया।

वदिक युग ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का युग है। बुद्धवाद क्षत्रिय सर्वोपरिता का परिचायक है लेकिन बुद्धवाद का ह्रास ब्राह्मणों की पुनर्विजय का। बौद्ध तथा जन आंदोलनों को क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रों से प्रोत्साहन मिला। किंतु धर्मशास्त्रों के युग में, ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष समाप्त हो गया था और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शूद्र के विरुद्ध संगठित हो गए थे। यह संगठन एक प्रकार की संधि थी जिसमें ब्राह्मणों को पौरोहित्य काय से उत्पन्न धार्मिक सत्ता मिली और क्षत्रियों को राजनैतिक सत्ता। भारत की विशालता और प्रजातिक तथा सांस्कृतिक भिन्नता ने यहां के परिस्थितियाँ उत्पन्न की जिनमें साम्राज्य स्थापन का प्रोत्साहन मिला। भारतीय इतिहास में साम्राज्य स्थापकों का तब तक संघर्ष चलता रहा जब तक कि अग्रजों ने उसे एक राज्य राष्ट्र में न बांध दिया। साम्राज्य के मुख्य आधार हैं अतिरिक्त उपज जो वर के रूप में ली जाती है मना नीकरणाही तथा सम्राट के प्रति जन भक्ति। भारत एक कृषिप्रधान प्रान्त रहा है। कृषि पर आधारित ग्रामीण सामाजिक संगठन जो मौर्य काल में अस्तित्व में आया न निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था को जन्म दिया। धानुआ की कमी न प्रौद्योगिकी के स्तर का नीचा रखता। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का स्तर कम रहा। एक और उत्पादन का स्तर कम रहा और दूसरी ओर, उसी निम्न उत्पादन स्तर पर साम्राज्य खड़े होत रहे जिसका अधिकतर भार वैश्य तथा शूद्रों का बहन करना पड़ा। ऐसी दशा में, जन भक्ति लाने के लिए, सम्राटत्व का दमो अवगुठन में लपेट दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन का एक बड़ा भाग राज्य सत्ता तथा नीकरणाही पर व्यय होता रहा

रूप, एक ओर, जन-दारिद्र्य बढ़ा और दूसरी ओर, राजसी वमव परम्परा में व्याप्त पारलौकिकता का पुट जन-दारिद्र्य से उत्पन्न सिक् अभिव्यक्त है। लेकिन, यह केवल एक स्पष्टीकरण है न कि न्त।

पार परम्परा में अथ सम्बन्धी प्रवृत्तिमार्गी विचारों को इहलौकिक व तथा मानसिक आवश्यकताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया मार्गी विचारों का आध्यात्मिक आवश्यकताओं के आधार पर। प्रस्तुत अथ की व्यवस्था इसी परम्परा में आती है। राधाकृष्णन का सम्बन्ध मानव-जीवन के आध्यात्मिक तथा राजनैतिक पक्षों से है। तथा समृद्धिलिप्सा की लाटसा शांत होती है। सम्पत्तिलिप्सा आधारभूत ऐपणा है जिसकी अभिव्यक्ति अथ के माध्यम से होती है। व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न, एक उचित मानव आकांक्षा है। लेकिन व मुक्ति तभी मिलेगी जब ये प्रयत्न धर्मोन्मुख हों। अजन तथा ता प्राप्त करने के लिए, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी इच्छा को किसी सीमा तक सीमित करें। आध्यात्मिक मुक्ति के लिए, मानव-जीवन का नियमन आवश्यक है। धर्म नियमन का माध्यम है और अथ आध्यात्मिक मुक्ति का एक साधन। अतः अथ धर्म पर आधारित है। धर्म इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। इसकारण, धर्मोन्मुख अथ एक ओर, इहलौकिकता का साधन है और, दूसरी ओर पारलौकिकता का।)

की भाँति, काम परम्परा भी दृष्टोक्ति तथा पारलौकिकता की विचार लहरियों पर हिलचारे खाती रही है। लेकिन काम सम्बन्धी दृष्टोक्ति तथा पारलौकिक विचार परम्पराओं उनका उद्गम स्रोतों तथा उनके सम्बन्धों पर विचार करने से पहले काम की धारणा तथा जीवन में उसकी आवश्यक अभिव्यक्ति की व्याख्या करना आवश्यक है।

आपटे ने काम शब्द का अर्थ लिए हैं वे इस प्रकार हैं—अभिलाषा, इच्छा (एषणा), अभिलाषा पात्र अनुराग तथा प्रेम, इन्द्रिय उपभोग के प्रति अभिलाषा या लगाव जिस चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है सम्भ्राम स तुष्टि की अभिलाषा, एन्द्रियता कामदेव^१ रतस एक प्रकार का आम का पेड़। इन सभी अर्थों के सारांश के रूप में काम से तात्पर्य निकलता है इन्द्रिय सन्तुष्टि की अभिलाषा से। इन्द्रिया है दस—ज्ञान, स्पर्श चक्षु (आँख) जिह्वा नासिका, पायु (गुदा) उपस्थ (जननेन्द्रिय), हस्त (हाथ) पाद (पैर) तथा वाक् (वाणी)। इनमें पहली पाँच ज्ञानेन्द्रिय (बुद्धीन्द्रिय) कही गयी हैं और शेष चारों इन्द्रिय क्योंकि पहली पाँच इन्द्रियों द्वारा जीव का प्रतिबाध होता है अर्थात् उसे अपने पर्यावरण का ज्ञान होता है और शेष इन्द्रियों द्वारा जीव बँध रहता है। किसी किसी ने 'मन' को भी एक इन्द्रिय माना है और मन को चन्द्रिय मानने में इन्द्रियों की संख्या ग्यारह हो जाती है। लेकिन अधिकतर मायता इसी पक्ष में है कि मन इन्द्रिया का राजा है^२। इन्द्रियों से जीव की जबकि आवश्यकताओं

हिंदू मायता में काम के देवता की कल्पना की गई है जिसे काम या मदन भी कहा जाता है। हिंदू पौराणिक परम्परा में काम को कृष्ण तथा रुक्मिणी की सत्ता माना गया है। उसकी पत्नी है रति। देवताओं के प्रायना करने पर, काम ने शिव की तपस्या भंग की थी ताकि शिव पावती की ओर आकृष्ट हों और शिव-पावती के समागम से उत्पन्न पुत्र, देवताओं को कष्ट देने वाले राक्षस, तारक का रथ करे। किंतु, काम की घृष्टता से क्रुद्ध होकर शिव ने अपने तीसरे नेत्र की शक्ति से उसे जलाकर खाक कर दिया। रति के प्रायना करने पर शिव ने काम के पुनर्जन्म का वर दिया जिसके फलस्वरूप काम का जन्म प्रद्युम्न के रूप में हुआ। काम का सगा मित्र वसन्त है और धनुष बाण उसके अस्त्र शस्त्र हैं। काम के धनुष की प्रत्यक्षा मधुमक्खियों की पंक्ति से बनी है और उसका बाण फूलों का है—आप्ट यह पृष्ठ 143

तत्तरीयापनिषद् वल्ली २, अनुवाक ३, 'आत्मानोमयः । तनयपूजः' ।

आत्मानं रश्मिं विद्धि शरीरं रश्मिमेव च ।

मृष्टि तु सारमि विद्धि मनः प्रपद्ये च । कठोपनिषद् वल्ली ३, अ० १ श्लोक ३,

'मनो बहन्ति व्यजानात् । मनसो ह्येव सत्त्वमानि भूतानि जायन्ते ।

मनसा ज्ञानानि जीवन्ति । मनः प्रपद्ये भित्तिं विन तोति' । तत्तरीय, अ० ३, अनु० ४

की प्रति होती है। इन्हीं के मा-मल मूल-व्याप, प्रजनन और पयावरण का अनुभव जीव का इन्द्रिया द्वारा ही होता है। जबकि आवश्यकता के उत्पन्न होने पर, जीव में जो क्षणिक प्रवाहित होती है और उससे जो तनाव उत्पन्न होता है उसका निरसन इन्द्रिया द्वारा ही होता है। तनाव के निरसन से जो तुष्टि की अवस्था आती है, उससे सुख का अनुभव होता है। भूय समान तनाव की स्थिति है लेकिन, भोजन मिलने के बाद, जो तुष्टि की अवस्था आती है, वह सुख की अवस्था है। एक और इन्द्रियों का सम्बन्ध शरीर से है और, दूसरी ओर मन अथवा मानसिक प्रमय से। इसी कारण, इन्द्रियों तथा उनकी स्वाभाविक क्रिया का शारीरिक तथा मानसिक सुख का आधार माना गया है। इसी दृष्टिकोण से, साधारणतः, काम का तात्पर्य सुख में लिया जाता है। एक अन्य साधारण अर्थ में काम से सम्भोग ऐपणा या सम्भोग का अर्थ लिया जाता है किन्तु यह दृष्टिकोण एकमात्र है।

प्रभू में काम का मनोविज्ञान के सिद्धांत के सादृश्य में स्पष्ट किया है। प्रभू के अनुसार, काम से तात्पर्य उन ऐपणाओं से है जो मानव में भोग और जीवन तथा इन्द्रियों की तुष्टि के लिए होती हैं। इन ऐपणाओं में दोनऐपणा भी शामिल है जिसमें जैसे साधारणतः काम शब्द का प्रयोग किया जाता है। इन्द्रिय भाग और ऐपणाओं के दृष्टिकोण से काम शब्द का अर्थ अधिक व्यापक हो जाता है। प्राकृत आवेग (Natural Impulses), मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts), मानव ऐपणाएँ (Desires of Man) और मानव की प्राकृत-मानसिक प्रवृत्तियाँ (Natural Mental Tendencies) काम के अंतर्गत आ जाती हैं। काम में वे सभी धारणाएँ आ जाती हैं जिन्हें आधुनिक समाज मनोविज्ञान में अनिलायाजा (Desires), आवश्यकताएँ (Needs), प्रेरणा (Motives), आंतरिक उद्दीपन (Urges) या चालन (Drives) की धारणाओं का माध्यम में व्यक्त किया जाता है। आधुनिक सामाजिक

इन्द्रियों पर मना—कठोपनिषद् बल्की ॥ अ० २,

1. हिन्दू में मूलप्रवृत्ति का शब्द अंग्रेजी शब्द इन्स्टिक्ट (Instinct) के लिए प्रयोग किया जाता है। इन्स्टिक्ट से तात्पर्य लिया जाता है उन जन्मजात प्रवृत्तियों से जो प्राणी के जैविक समूह में निहित होती हैं और उसके व्यवहार का चालक होती हैं। मानव-व्यवहार सोपा हुआ व्यवहार है। सोपा हुआ व्यवहार जन्मजात जबकि प्रवृत्तियों से प्रेरित नहीं होता है। मूलप्रवृत्ति का सिद्धान्त जानवरों के व्यवहार पर अधिक लागू होता है। इस कारण, आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान में मूलप्रवृत्ति सिद्धान्त को त्याग दिया गया है। मूलप्रवृत्ति शब्द का प्रयोग यदि किया भी जा सकता है तो केवल जन्मजात जैविक ऐपणाओं के लिए।

मनोविज्ञान में यह माना जाता है कि अपने आधारभूत रूप में मानव एक जीव है। अतः मनुष्य की भी कुछ जैविक आवश्यकताएँ तथा क्षमताएँ हैं। जैविक आवश्यकताओं के कारण जब जीव में तनाव बढ़ता है और आवश्यकता की पूर्ति के लिए शक्ति उत्पन्न तथा प्रवाहित होती है तो अपनी जैविक क्षमताओं के द्वारा जीव आवश्यकता की पूर्ति करके तनाव को दूर करता है। भूख लगने पर भोज्य की तलाश इसका उदाहरण है। आवश्यकता की सन्तुष्टि से सुख मिलता है। सुख अर्थात् जैविक और अर्थात् मानसिक होता है लेकिन सुख की अनुभूति एक मानसिक प्रमेय है। जैविक आवश्यकता की पूर्ति नियाचक द्वारा होती है अर्थात् पहले आवश्यकता का अनुभव होता है फिर एपणा का सम्मुख होता है फिर उस वस्तु अथवा परिस्थिति की तलाश होती है जिससे आवश्यकता पूर्ण हो जाय और आवश्यकता के पूर्ण होने पर सुख का अनुभव होता है। आवश्यकता की पूर्ति न होने से नैराश्य की भावना आती है। जैसा कि सस्कृति का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है, मानव एक ऐसा प्राणी है जिसकी आधारभूत आवश्यकताएँ अर्थात् जैविक हैं और अर्थात् सामाजिक सांस्कृतिक। जैविक के ही आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक का निर्माण हुआ है। मनुष्य की जैविक आवश्यकताएँ तथा एपणाएँ अर्थात् काम के अंतर्गत आती हैं और अर्थात् धर्म के अंतर्गत और सामाजिक सांस्कृतिक आवश्यकताएँ धर्म तथा मोक्ष के अंतर्गत। मानव की जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजीकरण के द्वारा होती है जिसके लिये हिंदुत्व में आधर्मव्यवस्था तथा सस्कारका विधान किया गया है।

इस प्रकार, काम से तार्पण मानव की आधारभूत जैविक आवश्यकताओं और एपणाओं से है जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है क्योंकि बिना उनकी पूर्ति के मानव-अस्तित्व ही असम्भव है। काम तपति वाछनीय है क्योंकि काम-तृप्ति के बिना न तो जीवन और समाज का धारण हो सकता है और न धर्म का। काम की आवश्यकता तथा महत्ता को अनेक प्रकार से व्यक्त किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि धर्म, धन और काम की साधना का स्वाभाविक परिणाम है सुख, जिससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कुछ नहीं है। सुख वाछनीय है क्योंकि सुख साधना स्व (Self) का एक विगपता है। सदगुण और लाभ सुख के लिए ही अपनाये जाते हैं। सदगुण पुत्र का मूल है। सारी नियाचों का अंततोगत्वा उद्देश्य सुख है^१। सुख, एक और मन की एक विगप अवस्था है और, दूसरी ओर, जीवन का एक आधार। अर्थात्, अपने इन दाना पहलुओं के साथ, जहाँ सुख इहलौकिक है वहाँ पारलौकिक भी। सुख का एक रूप शारीरिक है और दूसरा मानसिक। हिंदू विचार में शरीर तथा मन की आवश्यकताओं की महत्ता का बराबर स्वीकार किया गया है जिसका प्रमाण यह है कि काम का जीवन का एक आदर्श मान लिया गया है। काम की एक पुरुषार्थ

के रूप में कल्पना हिंदू विचार में व्याप्त इसी मायता का व्यक्त करती है कि काम एषणाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति आवश्यक है क्योंकि उनका दमन सामाजिक तथा मानसिक अव्यवस्थाओं का प्राप्ति करती है। धर्म अथ और मास के साथ काम के आदग का स्वीकार करने का तात्पर्य ही यही है कि जीवन दान के पार लौकिक तथा दुहलौकिक पक्षा का उचित समन्वय हो सके।

हिंदू विचार में जहाँ, एक ओर, काम की महत्ता स्वीकार की गई है और इस बात पर भी जोर दिया गया है कि पुरुषार्थ की साधना में काम-साधना एक आवश्यक आधार है वहाँ, दूसरी ओर इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि काम केवल एक साधन है। किसी भी दशा में काम साध्य नहीं है। साध्य है मोक्ष, जिसका सहयोगी है आध्यात्मिक सुख, न कि शरीरी सुख। शरीरी सुख का अपना महत्त्व है लेकिन वह आध्यात्मिक सुख के माग की केवल एक सीढ़ी है। शरीरी सुख केवल वहीं तक वाछनीय है जहाँ तक वह, इन्द्रिय लालुपता का नाश करने तथा आत्मा का प्रबुद्ध करने आत्मा को शरीरी बन्धन से छुटाने का एक उपकरण है। इसीलिए, काम को आवश्यकता, महत्ता तथा वाछनीयता की बसोटी है धर्म। यही काम वाछनीय है धर्मोन्मुख है। कौटिल्य ने काम का वाछनीय माना है न कि कामलालुपता के। कामलालुपता कौटिल्य के अनुसार अपयग तथा घनहीनता का कारण है। लालुपता के ही कारण व्यक्ति चारों गवयो तथा अवाछनीय पुरुषों को जीत नहीं सकता है^१। हिंदू विचार में काम वाछनीय तथा आवश्यक न केवल है ही साथ काम मनुष्य का शत्रु भी है^२। काम की वाछनीयता के अन्तर्गत यह है कि काम के बिना प्रजनन सम्भव नहीं है जिसके कारण विद्वान् तथा मत्स्यायम को आवश्यक माना गया है।

इस पर एक आर, जहाँ ब्रह्मण्य तथा सत्यास का प्रभाव रहा है वहीं, दूसरी ओर गीता के निष्काम कर्मयोग का। धर्म की धारणा में व्याप्त धृति, क्षमा, दम अस्तम इन्द्रिय निग्रह अभ्युदय तथा निश्चयम जैसे विचारों का सम्बन्ध इसी विचार परम्परा से है। यह परम्परा आध्यात्मिक तथा निवृत्तिवादी है। काम सम्बन्धी दूसरी विचार परम्परा एकदम इसके प्रतिकूल है जिसके प्रतिनिधि है लोकायत सम्प्रदाय तथा चार्वाक दशम। लोकायत तथा चार्वाक सम्प्रदायों का जीवन दर्शन नितान्त भौतिकतावादी तथा इहलौकिक है। चार्वाक ने वैदिक परम्परा उसके आध्यात्मिक सिद्धांतों, कल्पवाद तथा पुराहितवाद की भत्सना की और कल्पवाद की यह कहकर हसी उड़ाई कि यदि ज्योतिष् पन्थ ने अनुष्ठान में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग जाता है तो पशु के स्थान पर, बलि देने वाला घपन पिता की ही बलि क्यों नहीं चढ़ाता है। चार्वाक के मत में सार्वभौमिक तथा अनुष्ठान ब्राह्मणों ने अपने स्वाध्याय के लिये बूढ़ निकाले हैं। चार्वाक के लिए स्वर्ग नर, ईश्वर और मोक्ष कौरी कल्पनाएँ हैं। ससार न तो माया है और न क्षण भंगुर। ससार और मानव जीवन में बढकर कोई और सत्य नहीं है। इसलिए मनुष्य को यह धर्म है कि जब तक जिय सुख से जिये और ऋण लेकर भी धी पिये। यह देह तो भस्मीभूत (नाशवान) है इसका पुनरागमन वहाँ होता है? लेकिन, ऐसे विचारों की परम्परावाजियों तथा जनो और कौटिल्य ने बराबर भत्सना की है। तीसरा मत मनु का है जिसमें धर्म अध और काम के उचित समन्वय पर जोर दिया गया है। मनु के अनुसार, एक आश्रम सम्प्रदाय धर्म अध और काम की उचित महत्ता को जानता है^१। इस प्रकार हिन्दू विचार परम्परा में, एक ओर, काम से उत्पन्न सुख की साधना पर जोर दिया गया है और दूसरी ओर, उसे एक यूननतम क्षरीरी आवश्यकता मान कर और उसे ब्रह्मण्य तथा सत्यास की ओर उन्मुख करके, मोक्ष का एक साधन माना गया है। हिन्दू विचारधारा पर पारलौकिकता का इतना प्रभाव रहा है कि काम का यहाँ के अधिकतर विचारका न अवाञ्छनीय वाञ्छनीयता के रूप में ही देखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मानव जीवन में काम की अभिव्यक्ति का के जितने साधन और प्रकार हैं उन्हें जहाँ उचित माना गया है वहीं, साथ ही साथ उन्हें अनुचित भी कहा गया है।

काम के साधनों में नारी का मुख्य स्थान है और इसी कारण काम धारणा सम्बन्धी विचार परम्परा में नारी सौन्दर्य के आदर्श और उसके रहस्य का काफी बर्णन है। नर-नारी के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख का स्रोत विवाहित प्रेम के मादक माना गया है। मही कारण है कि नारी के आदर्श-सौन्दर्य का वर्णन पत्नी और मा^२ के रूप में किया गया है। गरुड पुराण में कहा गया है कि 'वहा स्त्री अपने पति की सच्ची पत्नी

१ गोपले, बी० जी० वही पृष्ठ ७६-७७

२ जननी जमभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी—गीता

है, जो अपने पति से मीठे ढंग में बालता है, गृह-कार्य में प्रवृत्त है चतुर है जिसका स्वत्व पति में स्वत्व में मिल गया है और जो अपने स्वत्व का पति के सुख के लिए अर्पित कर देती है। जिस पुष्प का पत्नी चन्दन के रूप में अपने शरीर का सजाती है, नित्यप्रति स्नान के बाद अपने शरीर का इत्रादि से सुवासित करती है, कम खाना खाती है और कम तथा मोठा बोलती है। सर्व अपने पति में आभक्ति रखती है और अपने पति की प्रशंसा इच्छाया की पूर्ति के लिए सब तयार रहती है तथा गृहस्थी के सुख और समृद्धि के लिए दयामय सबगुणों कायों में रत रहती है, वह पुष्प, वास्तव में, मनुष्य नहीं बरन स्वर्ग का देवता है ^१।

हिन्दू विचारधारा में नर-नारी के नैतिक विचारों को काम का साधन माना गया है। नर-नारी का नैतिक विचार ही प्रेम है जिसकी तीन प्रकार की अभिव्यक्ति मिलती है। नर-नारी के प्रेम की एक अभिव्यक्ति है दाम्पत्य-जीवन जो गृहस्थाश्रम का आधार है। इस सद्म में, कामी प्रेम एक सतत अभिप्राय नहीं है बरन दाम्पत्य जीवन का पूर्व रूप है। शत्रु-तन्त्र-दुष्ट-तत्काल-माधव नल-मयती और शिव गति को कथायें इसका उदाहरण हैं। इसका दूसरा रूप है एक सतत आध्यात्मिक अभिलाषा का जिसकी अभिव्यक्ति कृष्ण की लीलाया तथा विद्यापति और चण्डीदास के गानों में हुई है। इस सद्म में, नर-नारी का आदि पुरुष तथा आदि प्रवृत्ति के रहस्यात्मक प्रेम में मग्न हुआ है। नर-नारी का ससंग, शरीर तथा आत्मा के नैतिक ससंग का सङ्ग है। काम इसी रहस्य की आवश्यक अभिव्यक्ति है जिसकी व्याख्या काम-शास्त्र और तन्त्रों में की गई है। खजुराहो के मंदिर में बन कामाभिव्यक्ति के मूर्ति चित्र होते रहस्य की कलात्मक अभिव्यक्ति हैं। साहित्य में इसी रहस्य को शृङ्गारिकता की गली में व्यक्त किया गया है। यही गली प्राग-ज्वर, नायिका भेद तथा नव शिव व्रजन का साहित्यिक परम्परा में प्रकटित हुई। 'शर्पा' और 'त्रिपुर मुन्दरी' इसी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति से उपलब्ध धारणायें हैं।

हिन्दू विचारधारा में शृङ्गारिक अभिव्यक्ति का एक आधार आध्यात्मिक है और दूसरा ज्ञानात्मिक। ज्ञानात्मिक शृङ्गारिक प्रमानिब्यक्ति का प्रतीक है गणिका। हिन्दू विचारधारा में नारी के दो रूप हैं—एक पत्नी का और दूसरा गणिका का। गणिका नर-नारी के नैतिक विचारों की तीसरी अभिव्यक्ति है। 'शर्पा' और 'त्रिपुर मुन्दरी' यदि आध्यात्मिक प्रेमिका के धारणात्मक रूप हैं तो गणिका ज्ञानात्मिक कामी प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन है। गणिका की धारणा अनन्य रूप में अभिव्यक्त हुई है। आसुराली, नगरवधू, विषकथा और देवगामी उनके मुख्य रूप हैं। हिन्दू विचारधारा में, गणिका का एक लम्बा इतिहास है जिसका प्रारम्भ वैदिक काल से होता है। बौद्ध ग्रन्थों में गणिका और उनके कृत्या के यहाँ-वहाँ अनन्य व्रणन मिलते हैं। बौद्धिक न

गणिका को समाज का एक आवश्यक अंग माना है और कूटनीति, गुप्तचर और दूतों के कार्यों में उसके महत्व का स्वीकार किया है। लेकिन, साथ ही साथ, कौटिल्य ने गणिका के व्यवहार तथा पेशे पर नियंत्रण रखने की राय दी है। वात्स्यायन ने काम मूत्र में गणिका और उसकी बत्ताजी का विशद वर्णन करके उसके ससंग में मिलने वाले सुख को वाछनीय माना है। इस्लामी प्रभाव के अतन्मत्त नारी के गणिका रूप को और भी प्राधाय मिलता। इस युग में जसा कि गोखले ने लिखा है समाज की सुसंस्कृत रचियों का केन्द्र नृत्य की गायिका वंश्या और गणिका हो गई। संस्कृत नाटका की व्याख्या करते हुए कोष ने लिखा है कि यहाँ बहुपत्नीत्व का विलासिता के साथ साथ, पुरुष के लिए गणिका के ससंग की विलासिता भी वाछनीय है। यहाँ पुरुष की बौद्धिक रचियों का केन्द्र पत्नी नहीं बरन गणिका है। साहित्य यत्ना संगीत, नृत्य और नाटक का बौद्धिक सुख पुष्प का गणिका और उसके सहायिनी के ससंग से मिलता है¹।

इसी मन्त्र में, हिंदू विचारधारा में व्याप्त नारी के प्रति द्विविधापूर्ण विचारों को समझा जा सकता है। नारी एक ओर, पत्नी है पुरुष की पूरक तथा अर्द्धांगिनी है और दूसरी ओर प्रेमिका है। प्रेमिका के रूप में, एक ओर नारी प्रतीक है एक सतत रहस्यात्मक अभिलाषा की पुरुष के प्रति सतत आकर्षित प्रकृति की या चतन्य को आकृष्ट करने वाली माया की और दूसरी ओर, गणिका अथवा इहलौकिक प्रेमिका की—वह प्रेमिका जो पुरुष के बौद्धिक उद्दीपन का सबस है। पत्नी के रूप में नारी केवल त्याग तथा तपस्या की मूर्ति है उसका स्वत्व केवल पति में है। पतिव्रता का आदर्श ही यही है कि मन बचन, कम से पत्नी अपने का पति में लीन कर दे और अंधे, बहरे जोषी तथा दीन पति का भी अपमान न करे। कथा में ऐसी पतिव्रता का भी वर्णन मिलता है जो अपने पति की इच्छा पूर्ण करने के लिये उसे बदला के पास ले गई थी। किन्तु गणिका के समक्ष पुरुष का स्वत्व नहीं है। हिंदू विचारधारा में पत्नी और प्रेमिका अलग-अलग रही हैं। यही कारण है कि जहाँ नारी पत्नी है मा है पूज्य है यहाँ वह पमदा भी है। जहाँ, एक ओर, नारी नर की रान है वहाँ, दूसरी ओर, वह नरक का द्वार भी है। गणिका को भी, एक ओर, वाछनीय माना गया है किन्तु, दूसरी ओर उसकी भत्सना की गई है। मनु ने गणिका को चार और छानों की श्रेणियों में रक्खा है। गौतमधर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि गणिका की हत्या करने वाले को कोई पाप नहीं लगता है और न वह किसी दण्ड का भागी ही होता है। संगीत तथा नृत्य का सम्बन्ध गणिका से रहा है। अतः, उस भी अवाछनीय माना गया है। धर्मशास्त्रों में यह भी बिधान है कि गणिका तथा अभिनेता को सांगी (गवाही) अमाय है।

1. गोखले बी० बी० : वही पृष्ठ 79, 80, 81

की जा सकती किन्तु जिसके परिणाम के प्रति वृत्ता की आसक्ति न हो। इसीलिये, उपमा के तौर पर कहा गया है कि मनुष्य का इस ससार में वैसे ही रहना चाहिये जस पानी में कमल रहता है।

हिन्दू विचार में अथ तथा काम-सम्बन्धी विचारधारा इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। वन्ने में जिस मानव जीवन की कल्पना की गई है वह इहलौकिक है। पुराण तथा उपनिषदों पर पारलौकिक विचारधारा का प्राधान्य है। बुद्धवाद की एक प्रकार से इहलौकिक पारलौकिकता का हमारी है क्योंकि बुद्धवाद में, जहाँ, एक ओर, इस जन्म के कर्मों पर जोर दिया गया है, ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया गया है वहाँ, दूसरी ओर आवागमन का माना गया है, इन्द्रिय निग्रह, अस्त्रेय और दम पर जोर दिया गया है, सभी कुछ शून्य माना गया है और मानव जीवन का सर्वोत्कृष्ट साध्य माना गया है कैवल्य अथवा मोक्ष। गीता में भी इसी इहलौकिक पारलौकिकता के विचार का प्राधान्य है। वेदांत दर्शन भी पारलौकिक विचारधारा से प्रोत्पन्न है। शंकराचार्य का शिववाद और कालांतर में उत्पन्न होने वाला भक्ति आन्दोलन भी पारलौकिक विचारधारा से प्रभावित है। महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह तथा सत्याग्रही की धारणाओं पर सत्योदय इन्द्रिय निग्रह, अस्त्रेय और दम की विचारधाराओं का प्रभाव है। इस प्रकार हिन्दू विचारधारा, एक ओर, इहलौकिक रही है और दूसरी ओर पारलौकिक। जसा कि पहले कहा जा चुका है गांधीजी के अनुसार, भारतीय इतिहास में बार बार उत्पन्न होने वाली संकटापन्न तथा विपन्न परिस्थितियों ने हिन्दू विचार का पारलौकिक बना दिया है। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू विचारधारा में व्याप्त पारलौकिकता का विचार केवल इतिहासजन्य है या उसका कोई सामाजिक भनाव्यावहारिक महत्व भी है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिये नीचे पुरुषार्थ अर्थात् मान्य की व्याख्या आवश्यक है।

४

मोक्ष

मोक्ष शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है जिनमें से मुख्य ये हैं—विमोचन, छुड़ाना, पलायन स्वतंत्रता उद्धार, प्रान्न अपण मृत्यु, छोड़ना, अथ पतन, गिरना बिखेरना, दायित्व निभाना ग्रहण की समाप्ति और जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना। किन्तु पुरुषार्थ की धारणा में मोक्ष स तात्पर्य है आवागमन से छुटकारा पाना। हिन्दू विचार में सारा ससार ईश्वर अथवा ब्रह्ममय है। जीव उसी ईश्वर का अंग है। अज्ञानवादी ज्ञान में जीव ईश्वर का वह अंश है जो माया से आवृत्त है। जीव ईश्वर से उत्पन्न हुआ है और ईश्वर में लीन होने की उसमें प्रवृत्ति है। गरीर

प्राप्त करने का एक अवसर है। वर्णाश्रम व्यवस्था उस उच्चतम उद्देश्य को प्राप्त करने का मुख्य माध्यम है। आश्रम का अर्थ है अवस्था। आश्रम-व्यवस्था से तात्पर्य है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की उन अवस्थाओं से जिनसे गुजरता हुआ और जिनके माध्यम से हुई शिक्षा दीक्षा से व्यक्ति अपने का इस प्रकार अनुशासित करता तथा ढालता है कि वह अपने उद्देश्य के समीप पहुँच जाय। वर्ण II तात्पर्य समाज में मनुष्य के स्थान से है। समाज में मनुष्य आश्रम तथा वर्ण के अनुसार नाम करना हुआ मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। पुरुषाय वह उपकरण है जिसके द्वारा व्यक्ति—एक आश्रम, वर्णाश्रम का साधना है और, दूसरी ओर जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष का। इसमें कोई संदेह नहीं कि मोक्ष पारलौकिक है और मोक्ष मकराण्य की भावना निहित है। लेकिन मोक्ष नितान्त पारलौकिक नहीं है। बिना धर्म और काम की साधना के मोक्ष की साधना नहीं हो सकती। धर्म अथवा और काम की साधना से ही मोक्ष की साधना हो सकती है। मोक्ष धर्म, अथवा और काम की साधना की प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मोक्ष का सम्बन्ध व्यक्ति से है। लेकिन साथ ही साथ, मोक्ष का सम्बन्ध उस व्यक्ति से है जिसका सामाजीकरण हो चुका है अर्थात् जिसने धर्म, अथवा तथा काम की साधना कर ली है। मीलिये कहा गया है कि बिना सामाजिक ऋण चुकाये अर्थात् बिना धर्म अथवा तथा काम की साधना किये, व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिल सकता है और न उस मोक्ष की साधना करनी ही चाहिये।

यह पक्ष ही कहा जा चुका है कि मोक्ष जीवन के उद्विकास की एक अवस्था है जिसकी ओर जीवन स्वभावतया उन्मुख है। यह स्वाभाविक उन्मुखता मानव जीवन में प्रधानतम स्थान ग्रहण करती है क्योंकि सभी जातियों के मानव उच्चतम है और उस रहस्यमयी सत्ता के अभिव्यक्त समीप है। अतः, जीवन को माधो-मुक्त बनाना मानव जीवन का धर्म है। धर्म इस स्वाभाविक उन्मुखता का उसकी स्वाभाविक गति प्रदान करता है। यह अर्थ है कि धर्म मोक्ष का एकमात्र साधन है। लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि वे कौन से धर्मोन्मुख उपाय हैं जिनके माध्यम से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि वासना और मोक्ष परस्पर विरोधी हैं। अतः संसार में प्रति वातराग हान से मोक्ष मिलता है क्योंकि मोक्ष वह अवस्था है जहाँ जीवन इतना नीतराग हो जाता है कि वह न तो वासना रह जाती है और न काम की भावश्यकता। इसी दृष्टिकोण से, गीता में कहा गया है कि मोक्ष उस मिलता है जो कमरत हान पर भी स्थितप्रज्ञ है जिसका कामफल में आसक्ति नहीं है, जिसमें ज्ञेय पराजय तथा सुख-दुःख समान हैं। महाभारत में स्वधर्मपालन का मोक्ष का साधन माना गया है। स्वधर्म से तात्पर्य है व्यक्ति के वर्ण तथा आश्रम के अनुसार नियत धर्म से। किन्तु मोक्ष का साधन केवल धर्मप्राप्त धर्म ही नहीं है। मोक्ष का साधन है निवृत्तिमार्गी पाप से युक्त धर्म।

मनु के अनुसार, केवल धर्म-कर्म ही स मात्त नहीं मिलता है। धर्म कम से, अधिक-से-अधिक, अगले जीवन में सुख मिल सकता है। लेकिन वह परमसुख, जहाँ से सासारिक अस्तित्व की पुनरावृत्ति नहीं होती है, आत्मज्ञान से मिलता है। आत्मज्ञान, एक आर, निवृत्ति की भावना में निहित है और, दूसरी ओर, 'आत्मवत्त सब भूतेषु की भावना में। आत्मज्ञान का शान्तिव अर्थ है आत्म अपना अथवा आत्मा का ज्ञान। लेकिन, इसका व्यञ्जनात्मक अर्थ उस ज्ञान में है जो इस अनुभूति में निहित है कि सभी प्राणियों में एक जैसी आत्मा है। धर्म सभी प्राणा समान हैं और सभी उसी रहस्यात्मक आदिशक्ति के विभिन्न रूप हैं। आत्मज्ञान का तात्पर्य है आत्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से। आत्मज्ञान के साधन है रागादिवा प्रवृत्ति का दमन आत्म निग्रह, वेदाध्ययन तप और विद्या। भक्तिमार्गी विचारधारा में प्रपत्ति (ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण) का मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है क्योंकि ज्ञानमार्ग सबके लिये सुलभ नहीं है। गीता में इन तीनों का समन्वय हुआ है। गीता के अनुगार, ससार कमश्रेष्ठ है क्योंकि ससार ही जीव का कर्म से बाधता है। जीवन यज्ञ है और यम उस यज्ञ की आहुति। गीता में समत्वबुद्धि से आथम वष, देश और काल के अनुसार किये हुये कर्म को ही मोक्ष का प्रधान साधन माना गया है। लेकिन, साथ ही साथ, गीता में उस कर्म का सर्वोपरित्व भी गई है जिसके पीछे प्रपत्ति और स्थितप्रज्ञता की भावना है। गीता उस ज्ञान का उपदेश है जो मनुष्य का निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करता है।

इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मोक्ष का सर्वोपरि साधन है। ससार तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का यथाथ ज्ञान। गीता में कहा गया है कि जम प्रज्ज्वलित अग्नि दहन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सभी कर्मों का भस्म कर देती है अर्थात् ज्ञान मनुष्य को भीतराग तथा बाह्यनारहित बना देता है। इसी कारण, 'ज्ञान के समान इस ससार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है। योग में—समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय पर अपने आप में उस ज्ञान का पाता है अर्थात्, ईश्वरपरायण और जित्वा द्वय पूर्ण ज्ञान का पाता है और ज्ञान पाकर तुरत परम शांति को पाता है'। 'संयासी और योगी वह है जो कर्मफल पर प्रतापित होकर कर्म करता है न कि समस्त श्रियाओं का त्याग करने वाला। 'संयास योग है और योग का अर्थ है मन के मन्त्रों का त्याग'। इसमें यह निष्कर्ष निकलता है कि निवृत्ति ज्ञान की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का समत्व बुद्धि मिलती है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ मनुष्य के लिये ऊँच-नीच जन्म-मृत्यु, जवानी बुढ़ापा, सुख-दुःख और मुद तथा शांति सब इमलिय ममान लयन हैं कि ये

/1 गीता 4/37,38,39

/2 गीता 6/1,2

सब किसी एक रहस्य से प्रेरित है। मोक्ष की धारणा व्यक्ति का इस ज्ञान की धार प्रेरित करती है क्योंकि यह ज्ञान ही मोक्ष की अंतिम सीढ़ी है। किंतु, यह ज्ञान तभी मिल सकता है जब व्यक्ति को अपने शरीर तथा उसकी आवश्यकताओं और समाज तथा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान हो। यह ज्ञान उसी को मिल सकता है जिसने शरीर तथा समाज की माधना की हो। निवृत्ति ज्ञान, शरीर तथा समाज के स्तर में ऊपर उठा हुआ ज्ञान है।

मनुष्य के जीवन का आधार न बल रोटी है और न केवल द्विधर्म-साधना। अथ और काम यदि सुख होते हैं तो दुःख भी। अथ और काम तपति और अतपति से है। तपति से सन्तुष्टि आती है लेकिन अतपति नराश्य का जन्म देती है। नराश्य, जन्म कि आज के सामाजिक मनाविधान में माना जाता है अनेक-पतितगत तथा सामाजिक-प्राधिया को जन्म देता है। व्यक्ति का नराश्य से बचान का एकमात्र साधन है नसार तथा व्यक्ति का समत्व ज्ञान जिसमें निवृत्ति निहित है और जो मोक्ष का साधन है। इसी से दम में विमोचन तथा उद्धार के अर्थ में, मोक्ष की धारणा की साधनता सिद्ध होती है। मोक्ष पारलौकिक की ओर उन्मुख है किंतु मोक्ष की धारणा न इहलौकिक जीवन को ही प्रेरित किया है। यह कहा जा सकता है कि मोक्ष का धारणा का भारतीय इतिहास की सफटकालीन तथा विपन्न परिस्थितियों से बल मिला है यद्यपि इसकी उत्पत्ति का आधार यही परिस्थितियाँ ही नहीं हैं। भारतीय जन जीवन में मोक्ष की धारणा गंगा की भाँति प्रभावित होती रही है और सफटकालीन परिस्थितियों में मोक्ष की ही धारणा ने भारत में व्यक्ति तथा समाज की नराश्य से रक्षा की है। मोक्ष की धारणा का सम्बन्ध इस विचार से है जिसमें नर को नरोत्तम और पुरुष का पुरुषोत्तम बनाने की प्रेरणा है।

५

पुरुषार्थ समाजशास्त्रीय महत्त्व

पुरुषार्थ सिद्धांत का सम्बन्ध उस जीवन ज्ञान में है जिसमें यह माना गया है कि मानव जीवन का सम्बन्ध इन्द्रिय और परलोक दोनों का है। एक ओर दीर्घायु मानव जीवन की ओर दूसरी ओर, एक साथ समृद्धि तथा मोक्ष की अभिलाषा का प्रमाण है। धर्म की धारणा के एक अंग के रूप में पुरुषार्थ सिद्धांत दोनों ओरों के साधन का एक सामन्वयस्य में लाने का प्रयास है। पुरुषार्थ सिद्धांत इस मायना पर आधारित है कि मानव-स्वभाव का अन्तः पक्ष है जिसे एक जीवन सिद्धांत में नगणित किया जा सकता है। स्वभावतया, एक ओर, मानव शरीरी आवश्यकताओं से बँधा है और दूसरी ओर, बौद्धिक आवश्यकताओं से, मानव

जावन म, एव ओर, वीदिक आवश्यकतायें है और, दूसरी ओर, आध्यात्मिक, मानव जीवन, एव ओर, भावो-मुख है और, दूसरी ओर, सौन्दर्यो-मुख । मानव की प्रकृति ही ऐसी है कि मानव अस्तित्व स्वभावतया बहुमुखी है । ये बहुमुखी आवश्यकतायें परस्पर विरोधी भी हैं, लेकिन मानव जीवन म उनका अपना स्थान है जिसकी अवहन्ता नहीं की जा सकती । बिना उनकी अभिव्यक्ति के मानव-जीवन अपूरा रहगा । मानव तभी मानव रहेगा जब उनका उचित स्थान मिले । सुगठित व्यक्तित्व क विकास के लिये यह आवश्यक है कि इन आवश्यकताओं के सामंजस्य महत्व का स्वीकार करके, इनमें प्रत्येक का मानव जीवन म उचित स्थान दिया जाय । पुरुषार्थ सिद्धांत से, मानव-जीवन म, इन आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति के सामंजस्य का निधारित करने का प्रयास किया गया है । पुरुषार्थ सिद्धांत वह शास्त्र विधान है जिसके द्वारा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के तरीके और मर्यादा निर्धारित होती हैं । पुरुषार्थ सिद्धांत म रहस्योक्तिक भौतिक अभिलाषाओं तथा आध्यात्मिक जीवन का एव सामंजस्य म स्थान का प्रयास निहित है ।

पुरुषार्थ की साधना म जहाँ एव ओर मानव की यौन आवश्यकता, प्रजनन एषणा और अधिनार तथा समृद्धि क प्रति उसकी साक्षता की तत्ति हानी है वहाँ, दूसरी ओर, पुरुषार्थ स मानव क कलात्मक तथा सांस्कृतिक जीवन की ओर हम समार से ऊपर उठकर परमात्मा म स्थान हान की साधना पूरी होती है । पुरुषार्थ का मन्वन् सम्पूर्ण मानव जीवन स है न कि उनके किमी अंग विशेष स । मानव जीवन की आशाओं तथा उच्छाकाक्षाओं, उनकी मयमी तथा विलासी प्रवृत्तिओं और उसमें निहित उदात्तीकरण तथा आध्यात्मोत्थरण की भावनाओं की सन्तुष्टि पुरुषार्थ से होती है । द्वितीय तथा तृतीय पुरुषार्थ (अथ और काम) मानव की ऐहिक अभिरुचियों, निषाओं और प्रयासों के प्रतीक हैं, जबकि धर्म और माय पारलौकिक अभिरुचिया, निषाओं तथा प्रयासों क । अथ, काम और मोक्ष परस्पर धर्म द्वारा जुड़े हुए हैं । मनुष्य म पण्डित और दलव का समावग हुआ है । पुरुषार्थ मनुष्य को दलव की ओर ल जाता है क्योंकि पुरुषार्थ साव निषाओं का एव आदर्श जीवन दान म संगठित करके, मानव की आध्यात्मिकता की प्राप्ति के प्रयास म सहायक होता है^१ ।

प्रमू क अनुसार पुरुषार्थ सिद्धांत स हिंदू-नामाजिक जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक (Psycho-moral) आधारों की समझन म सहायता मिलती है । पुरुषार्थ सिद्धांत स यह स्पष्ट होता है कि हिंदू-जीवन-दान म धर्म मयमे महत्वपूर्ण है और काम की महत्ता खलम कम है । अथ का स्थान धर्म और काम क मध्य मे आता है^२ । मा १ का स्थान धर्म स बदलर है तकिन, वास्तविक जीवन म, धर्म की प्रधानता इसलिय ब जानी है कि वह माय का एकमात्र साधन है । पुरुषार्थ स यह

भी पता चलता है कि सिद्धांततः मानव-जीवन में धर्म अथवा काम के उचित समन्वय की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों में है। पुरुषार्थ से, एक ओर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के नियमों के औचित्य का प्रतिपादन होता है, उनकी क्रियाओं के उचित पारस्परिक सम्बन्धों की परिभाषा होती है और, दूसरी ओर, पुरुषार्थ की धारणा में सन्निहित प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विचारों से यह भी पता चलता है कि व्यक्ति तथा समाज के अनुचित सम्बन्ध क्या हो सकते हैं और उनमें किस प्रकार छुटकारा पाया जा सकता है। पुरुषार्थ से व्यक्ति तथा समाज और इनके पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित होते हैं^१।

सातवा अध्याय

संस्कार तथा आश्रम

आश्रम, संस्कार और पुण्याय

हिन्दू विचारधारा में पुण्याय धर्म का मुख्य साधन है। पुण्याय का सार्वत्रिक समाज में व्यक्ति के उस क्रमिक विकास में है जिसमें उसकी लौकिक तथा आध्यात्मिक, दैहिक तथा पारलौकिक जिवित तथा मानसिक और व्यक्तिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। मानव जीवन गर्भाधान, जन्म, विकास और मृत्यु के जीवन चक्र में चलता रहता है। हिन्दू विचारधारा में मानव जीवन चक्र की इस चरण में देखा गया है—एक है आवागमन का चक्र जिसमें आत्मा विभिन्न यानियों में होती हुई मनुष्य यानि में आती है और वहाँ से, यदि जीव का जीवन धर्मानुसार हुआ तो, मोक्ष के माध्यम से उस परमशक्ति में लीन हो जाती है जो उसका मूल स्रोत है। दूसरा चक्र है व्यक्ति के जीवन का। इस चक्र में गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु का चक्र चलता रहता है और इस जीवन चक्र पर व्यक्ति का ज्ञान प्राप्त रहने दे। पुण्याय का सम्बन्ध दोनों प्रकार के जीवन चक्रों में है क्योंकि पुण्याय, एक आर, व्यक्ति के क्रमिक विकास में सहायता देता है तो, दूसरी ओर, व्यक्ति का आवागमन के चक्र से सुखारा भी मिलता है।

गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु प्राण के क्रमिक गुण हैं। जसा कि पञ्च

बहा जा चुका है समाज की उत्पत्ति मानव के जैविक गुणों में हुई है। प्रजनन और अतिजीविता जीवों की आधारभूत विशेषताएँ हैं। प्राणी का जीव चक्र समाज में चलता है। मानव-समाज संस्कृतिमय है। अतः मानव समाज में व्यक्ति का जीवन चक्र संस्कृतिमय हो गया है। अर्थात् गर्भाधान, जन्म, विकास तथा मृत्यु के साथ अनेक आदर्श नियम तथा अनुष्ठान जुड़ गए हैं। ये अनुष्ठान सब पर पाए जाते हैं यद्यपि इनकी अभिव्यक्ति देश, काल और सामाजिक आदर्श के अनुसार अलग अलग समाजों में अलग अलग पाई जाती है। मानवशास्त्रियों ने इन अनुष्ठानों को राइट्स आफ पैसेज (Rites of Passage) की संज्ञा दी है क्योंकि इन अनुष्ठानों के द्वारा एक व्यक्ति का सामाजीकरण होता है उस समय की उचित तथा आवश्यक सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) और भूमिका (Role) मिलती है और दूसरी ओर, जैविक तथा मानसिक विकास क्रम के जीवन चक्र में उसे एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुँचने में सहायता मिलती है। जन्म, विवाह तथा मृत्यु से सम्बंधित और सब पर पाए जाने वाले अनुष्ठान इसका प्रमाण हैं। मानव-समाज में राइट्स आफ पैसेज (Rites of Passage) यन्त्रिका का सामाजीकरण (Socialization) तथा संस्कृतिकरण (Enculturation) का मुख्य माध्यम है¹।

1. चपेल (Chapple) और लून (Loun) के अनुसार जीवन चक्र दो प्रकार के होते हैं—एक व्यक्तिगत तथा दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत जीवन चक्र से तात्पर्य व्यक्ति के जन्म, विकास, ह्रास और मृत्यु की जैविक विशेषताओं से न होकर, इनसे सम्बंधित सामाजिक सांस्कृतिक प्रथाओं से है। इसी प्रकार, सामाजिक चक्र का अर्थ व्यक्तिगत चक्र या परिवर्तन से नहीं है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति तथा समाज को प्रभावित करने वाले कुछ नियमित तथा अनियमित परिवर्तन आते रहते हैं जिनसे सामाजिक अंतर्क्रिया की सामान्य क्रियाशीलता में व्यवधान आ जाता है और उस व्यवधान से जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक संकट उत्पन्न होता है वह अनुष्ठानों द्वारा दूर किया जाता है। जन्म, विवाह तथा मृत्यु का संकटापन अनियमित परिवर्तन है जो परिवार तथा सम्बंधित वर्ग में व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते हैं इन परिवर्तनों से सम्बंधित अनुष्ठानों को राइट्स आफ पैसेज (Rites of Passage) कहा गया है क्योंकि इनके द्वारा, अपने सामाजिक सम्बंधों में व्यक्ति एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचता है। यथा का अधिक या कम या बिल्कुल न होना कसल का खराब होना महामारी फैलना इत्यादि ऐसे संकटापन परिवर्तन हैं जो सामूहिक जीवन को प्रभावित करते हैं। इनसे सम्बंधित अनुष्ठानों (जैसे वर्षा लगान या महामारी को भगाने के अनुष्ठानों) को राइट्स आफ इंटेंसिफिकेशन (Rites of Intensification) कहते हैं क्योंकि इनसे सामाजिक अंतर्क्रिया और भी तीव्र हो जाती है—

चपेल एंड लून प्रिंसिपल्स आफ एंथ्रोपॉलॉजी अध्याय 20-21

और यथोपवीत अनुष्ठान। इन अर्थों की तुलनात्मक व्याख्या से सस्कार से टालने, गुढ़, सवदित पवित्र तथा परिभाजित करने का अर्थ निकलता है। सस्कार शिक्षा और प्रशिक्षण दोनों हैं। इस दृष्टिकोण से सस्कार वह है जिससे परिभाजन हो, शुद्धता तथा पवित्रता प्राप्त हो शिक्षा दीक्षा मिले और इन सबके फलस्वरूप त्रिमित्र विकास हो। सस्कार केवल एक उपकरण है जिसका सम्बन्ध अशत मानव के जैविक पक्ष, अशत मानसिक पक्ष और अशत सांस्कृतिक पक्ष से है। सस्कार से व्यक्तित्व का त्रिमित्र विकास होता है क्योंकि सस्कार के द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। मानव की जैविक मानसिक विज्ञपताय, अथ गूण और कम सस्कार द्वारा प्रस्तुतित तथा विकसित होती है।

हिन्दू विचारधारा में सस्कार का अर्थ रुढ़िगत हो गया है। सस्कार से ग्रहण लिया जाता है उन जनेक अनुष्ठानों से जो व्यक्ति के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक किये जाते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार व्यक्ति को जनेक सस्कारों से होकर गुजरना पड़ता है। धर्मशास्त्रों में सस्कार का तात्पर्य है शरीर सस्कार से क्योंकि गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सस्कार ही शरीर को पवित्रता प्रदान करते हैं। हिन्दू विचारधारा में ऐसा विश्वास किया जाता है कि सस्कार मानव शरीर को इहलोक तथा परलोक दोनों में पवित्र करते हैं। सस्कार व्यक्तित्व के त्रिमित्र विकास के परिचायक हैं। सस्कार कितने हैं? यह मतमतान्तर का विषय है। गह्य सूत्रों में अनुसार सस्कार लगभग चालीस हैं जबकि गौतम धर्मसूत्र में अनुसार सस्कार अठ्ठासी हैं। एक मत में अनुसार सस्कार सोलह हैं जबकि मनु के अनुसार सस्कार बारह हैं¹। साधारणतः सोलह सस्कार माने जाते हैं जिनमें बारह मुख्य हैं और बाकी उनका ही वर्णन किया जाता है²।

गर्भाधान का अर्थ है गर्भ रखना रचना या धारण करना। विवाह के बाद यह प्रवृत्ति के चौथे दिन वर वधू के मिलन के पहले, जिन अनुष्ठानों का गर्भाधान और विधान है, वे गर्भाधान सस्कारों में अन्तर्गत होते हैं। वर (पति) पुमवन अग्नि में चार घ्राहुतियाँ अर्पित करके वधू (पत्नी) से सम्भोग करने हुए जा मग्न पड़ता है उसका अर्थ है हमारा मन हृदय आदि तन और त्वचा मित्र हुए हैं, मैं तुम्हें काम के बन्धन से बाधता हूँ और यह

1 प्रभू पी० एच० यही पृष्ठ 222

2 सस्कारों में दो पहलू हैं—एक, वह पहलू जो धर्मग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है और दूसरा वह जो धार्मिक व्यवहार में देखने को मिलता है और त्रिवर्णगीत है। उदाहरणार्थ, प्रभू ने यह लिखा है कि गर्भाधान सस्कार पित्रार्थ निष्पत्ति या चतुर्थी के समय किया जाता है। अवध में इसका ध्यावहारिक रूप निम्न है। वहाँ गर्भाधान के तीसरे या सार्वे महोत्सव में गर्भवती स्त्री को चौंठ भर कर यह सस्कार किया जाता है। यह प्रथा सभी जातियों और सभी परिवारों में समान रूप से नहीं पाई जाती है। यहाँ हाल अर्थ सस्कारों का

वधन अविमोचित रहेगा'। पत्नी को भ्रातृगनपाश में बाधते हुए पति यह कामना करता है कि उनका प्रेम चकवा-चकई की भांति अटल रहेगा। इसके बाद, पति विष्णु, अश्विन अग्नि और इंद्र इत्यादि देवताओं से सुंदर तथा बलिष्ठ पुत्र की प्रार्थना करता है। गर्भाधान मस्कार विवाह संस्कार का अन्तिम अनुष्ठान है^१। गर्भाधान नस्कार उस प्रतिज्ञा की पूर्ति है जो वर-वधू परिवार चलाने के लिये, विवाह के समय करते हैं। गर्भाधान मस्कार इस बात का प्रतीक है कि सर्वेश्वर घोर प्रजनन विवाह का एक आवश्यक अंग है। पुसवन संस्कार का तात्पर्य उस अनुष्ठान से है जो गमधारण के तीसरे महीने में इसीलिए किया जाता है कि पुत्र ही उत्पन्न हो क्योंकि पुत्र परिवार नरतय का मुख्य माध्यम है। गर्भाधान तथा पुसवन संस्कार जन्म के पहले के संस्कार हैं।

जातकम, नामधेय निष्क्रमण, अनप्राशन तथा चूडाकम संस्कारों का सम्बन्ध शशवी अवस्था से है। जातकम संस्कार जन्म के समय किया जाता है। इस संस्कार से सम्बंधित अनुष्ठान में पिता बच्चे का अक्षग्रहण करता है और उसके कान में तिस मंत्र का उच्चारण करता है उसमें बच्चे के दीर्घायु तथा मधावी होने की कामना रहती है। जातकम संस्कार के बाद पहले बच्चे के मुह में घी घोर गट्ट रखी जाती है और बाएँ म माँ बच्चे को स्तन पान कराती है। जातकम के बाद ही स्तनपान का विधान है। नामधेय संस्कार जन्म के तमके या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। शिशु का नामकरण इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है^२। निष्क्रमण-संस्कार जन्म के चौथे महीने में होता है। इस संस्कार के साथ शिशु को घर के बाहर निकाला जाता है।

१ प्रभू पी० एच० घट्टी पृष्ठ १७४ १७५
२ नामकरण, शास्त्रकारों के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शास्त्रकारों के अनुसार,

नाम ऐसा होना चाहिए जिससे व्यक्ति के परिवार, समुदाय तथा वंश का पता चले। मनु के अनुसार नाम, वंश का प्रतीक होना चाहिए। शास्त्र का नाम मंगल और सतीय (गमयत) का सूचक होना चाहिए। गमयत के आधार पर लोगों की यह मान्यता है कि शास्त्र का नाम का अंत गमन गन्त के साथ होना चाहिए (जैसे विष्णु गमाँ)। क्षत्रिय के नाम से बल तथा रक्षा का बोध होना चाहिए (जैसे बल कर्मा)। क्षत्रिय के नाम से धन तथा पुष्टि (समृद्धि) का बोध होना चाहिए (जैसे धनुमूर्ति) और गृह के नाम से बात भाव व्यक्त होना चाहिए (जैसे रामदीन या रामदास)। क्षत्रियों के नाम उच्चारण में सरल, मनोहर और मंगलसूचक होना चाहिये। उनसे किसी भी प्रकार की आक्रूरता नहीं प्रगट होनी चाहिए तथा उनकी अन्तिम मात्रा दीर्घ होनी चाहिए—प्रभू घट्टी पृष्ठ २२३-२२४

इस संस्कार में अनुष्ठान के तौर पर शिशु को सूय का अर्पित किया जाता है और वह इस बात का प्रतीक है कि इस संस्कार के बाद शिशु उस महान्तम व्यक्ति के सम्पर्क में आता है जो इस संसार की प्रभावित करती है। निष्क्रमण संस्कार के बाद शिशु परिवार के बाहर के सदस्यों के सम्पर्क में आना शुरू करता है। अन्तःप्राशन संस्कार में जन्म के छठ महीने बाद शिशु को पहली बार दूध में उमाला हुए चावल (खीर) का माह चटाया जाता है। चूड़ाकर्म का दूसरा नाम मन्त्र भी है। इसमें शिशु के गन्धुवार बाल पहली बार उतार जाते हैं। यह जन्म के पहल या तीसरे साल में होता है।

उपनयन संस्कार बाल्यावस्था तथा विशाखावस्था के संक्रमणकाल में किया जाता है। उपनयन संस्कार किशोरायु में किया जाय इस पर विद्वानों में उपनयन सावित्री मतभेद है। विद्वानों ने अलग अलग उर्णों के लिए अलग अलग और समावर्तन आयु का विधान किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्मण उपनयन संस्कार आठ साल की आयु में होना चाहिए क्षत्रिय बारह साल की आयु में और वश्य का बारह साल की आयु में। याज्ञवल्क्य के अनुसार उपनयन संस्कार परिवार की प्रथा के अनुसार किसी भी उचित समय पर किया जा सकता है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन प्रारम्भ होता है। इसीमें कुछ के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन पाँचवें साल में क्षत्रिय का छठे साल में और वश्य का आठवें साल में होना चाहिए। विद्वानों ने उपनयन संस्कार की कम से कम तथा अधिक से अधिक आयु का भी विधान किया है। इस विधान के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठ से सोलह वर्ष की आयु में क्षत्रिय बालक का बारह से बीस वर्ष की आयु में और वश्य का बारह से चार बीस वर्ष की आयु में होना चाहिए।

शूद्र के लिए उपनयन संस्कार का विधान नहीं है। हिंदू विचारधारा में विद्वानों की ऐसी मान्यता रही है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है और संस्कार से वह द्विज बनता है। द्विज से तात्पर्य है उसका जन्म दूसरा जन्म है। एक जन्म मर्त्य के गर्भ से होता है और दूसरा उपनयन-संस्कार से। उपनयन संस्कार पुरुषार्थ की साधना में पहला चरण है क्योंकि उपनयन संस्कार के बाद ही व्यक्ति विद्या प्रारम्भ करने आचार्यगुरुवासो होता है और धर्म के स्वरूप का समझने का प्रयत्न करता है। उपनयन-संस्कार के फौरन बाद ही आचार्य गुरु का शीघ्र (स्वच्छता) और आचार (सदाचार) का गिना देना जिसका तात्पर्य यह है कि शीघ्र तथा आचार की दीक्षा उपनयन संस्कार के बाद ही प्रारम्भ होता है। उपनयन संस्कार से व्यक्ति या वस्तुतः दूसरा जन्म पाता है। उपनयन संस्कार के साथ चरित वस्तुतः त्रिगुणात्मता तथा उत्तरदायित्व प्रत्याग्राह्यता तथा आकाशगोत्र के उस संसार में जन्मता है जिसमें रहने के लिए उसे धर्म की संभार करने की गिना दीक्षा देना है।

उपनयन संस्कार के बाद से ही व्यक्ति का सक्रिय सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है। इसलिए उपनयन संस्कार का सर्वाधिक सामाजिक महत्व है। उपनयन संस्कार का मानवशास्त्र की भाषा में राइट ऑफ इनीसियेशन (Rite of Initiation) की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि उपनयन से व्यक्ति के सक्रिय सामाजिक जीवन तथा उसकी शिक्षा का सूत्रपात होता है। सूत्रपात संस्कार (Rites of Initiation) सबन पाए जाते हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति अलग अलग समाजों में अलग अलग है।

उपनयन को यज्ञोपवीत भी कहा जाता है। यज्ञोपवीत से तात्पर्य जनक से है। उपनयन संस्कार में यज्ञोपवीत धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत दो प्रकार से धारण किया जाता है—एक मंडप के नीचे बंदी रखकर और दूसरा विवाह के समय। विवाह के समय पहन जाने वाले जनक का दुर्गा जनक कहते हैं। ब्राह्मणों में दाता प्रकार से जनक धारण किया जाता है। कुमार अवस्था में तीन तामों का जनक धारण किया जाता है और दुर्गा जनक के बाद से छ तामों का। क्षत्रिया और वश्यों में, विवाह के समय जब दुर्गा जनक का संस्कार होता है तो छ तामों का जनक धारण किया जाता है। ऐसा माना जाता है कि जनक के तीन तामों तीन ऋणा (देव ऋण ऋषि-ऋण और पित ऋण) के परिचायक हैं। इन ऋणों का चुकाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि ये सामाजिक ऋण हैं। विवाह के समय दोहरा जनक धारण करने का तात्पर्य यह है कि पुरुष स्त्री के भी सामाजिक ऋणों का अपन उपर लेता है। ब्राह्मण वर्ण के लोग का उपनयन संस्कार बंदी रखकर होता है और क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लोगों का साधारण तौर पर।

उपनयन-संस्कार का सामाजिक मानसिक महत्व है और यह महत्व इस संस्कार से सम्बंधित अनुष्ठानों से स्पष्ट होता है। जिस बालक का उपनयन संस्कार होता है उसे यदि वह ब्राह्मण हुआ तो मूज की, यदि क्षत्रिय हुआ तो प्रत्यक्षा की और यदि वैश्य हुआ तो ऊन के धागे की करधनी पहनाने का विधान है। फिर उसके हाथ में एक डण्डा दिया जाता है और फिर उसके गरीर पर यज्ञोपवीत धारण करवाया जाता है। इन उपकरणों के साथ बालक विद्याभ्यसन के लिए तत्पर हुना समझा जाता है। आचार्य फिर उसमें पूछता है कि क्या यह ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए तत्पर है? कुमार के हाथ में धारण पर आचार्य उसे अपना गिर्य बना लेता है और फिर उसे 'काम-ब्रह्मचारिण' की मंजा देकर, गायत्री मंत्र की दीक्षा देता है। शिदु-जीवन में गायत्री मंत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सावित्री मंत्र भी कहते हैं। इसका प्रकाश सध्या में उपवास होता है। सावित्री मंत्र की दीक्षा उपनयन-संस्कार में सम्बंधित है। धर्मशास्त्रों में सावित्री मंत्र की दीक्षा का एक संस्कार माना गया है। गन्धमूत्रा के अनुसार सावित्री संस्कार या तो उपनयन-संस्कार के बाद होना चाहिए या उपनयन-संस्कार के बाद तीन मंथन नीतर नीतर। मनु के अनुसार सावित्री संस्कार ब्राह्मण कुमार की सोलह साल की आयु के पहले, क्षत्रिय कुमार का बार्हम साल की आयु के

पहले और वश्य कुमार की चौबीस साल की आयु के पहले होना चाहिए। सावित्री संस्कार और सावित्री मंत्र की साधना ब्रह्मचर्य आश्रम के कनव्यों का एक अंग है। उपनयन संस्कार के बाद से विद्याध्ययन आरम्भ होता है और जब विद्यार्थी जीवन की समाप्ति होती है अर्थात् जब ब्रह्मचारी आचार्यकुलवास करने, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए वापस आता है तो समावर्तन संस्कार किया जाता है जो इस बात का प्रतीक है कि अब व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो चुकी है और वह गृहस्थाश्रम के उत्तराधिकारी को मंजूर करने के योग्य है।

उपनयन, सावित्री और समावर्तन संस्कारों का सम्बंध व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा से है—वह शिक्षा शिक्षा जो उसे सामाजिक कर्तव्यो का भार उठाने के योग्य तथा घर्में मुख अथ और काम की साधना के उपयुक्त बनाती है। यौववर्तन संस्कार के बाद ही व्यक्ति के लिए त्रिबाल संध्या, दैनिक स्नान और शरीर की सफाई तथा खान पान में विवेकी व्यवहार का पालन आवश्यक हो जाता है। उपनयन संस्कार, इस प्रकार आत्म अनुशासन तथा इन्द्रिय नियंत्रण का आरम्भ है। शिक्षा में मस्तिष्क पर अनुशासन आता है और शिक्षा के माध्यम से ही व्यक्ति धर्म के वास्तविक स्वरूप का समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उपनयन संस्कार मस्तिष्क तथा शरीर की उस शिक्षा की यात्रा का प्रवेश द्वार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति धर्म का भावी जीवन के लिए तैयार करता है। उपनयन संस्कार के बाद ही व्यक्ति ब्रह्मचर्य जीवन यतीत करने और धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ करके, व्यक्ति का समाज में आवश्यकताओं तथा बन या क प्रति अंगत होता है और उसकी पूर्ति करने तथा उनका निभाने की योग्यता ग्रहण करता है।

विवाह संस्कार गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार है। गर्भाधान संस्कार से लेकर समावर्तन तक व्यक्ति का सामाजीकरण पूर्ण हो जाता है और उसके बाद में विवाह और वह सामाजिक कर्णों को चुकाने तथा सामाजिक कर्तव्यों के निभाने का प्रयत्न करता है। विवाह संस्कार के साथ साथ, व्यक्ति ब्रह्मचारी से गृहस्थ हो जाता है और समाज के आधार 'अथ' तथा 'काम' युग्मों की साधना में तत्पर होता है। जन्म से व्यक्ति समाज के अन्दर आता है और मृत्यु में समाज का बाहर जाता है। जन्म-व्यक्ति के इन्तर्लौकिक समाज में आने का प्रवेशद्वार है और मृत्यु पारलौकिक समाज का प्रवेशद्वार है। मृत्यु से व्यक्ति पिशा के समाज में प्रवेश करता है। मृत्यु से व्यक्ति का सामाजिक सम्बंध अस्त व्यस्त होता है जिसे अत्यष्टि-संस्कार द्वारा पुनः सामाजिक मिलता है।

विवाह और अत्यष्टि संस्कार धर्म अलग कई विधि विधानों में बटे हुए हैं। विवाह संस्कार का पहला है—एक सवर्ण नियमों पर खूब चुनाव और प्रशस्त (प्राप्त, दत्त, आप, प्राजापात्य) तथा अप्रशस्त (अमुर, माधव, रागात तथा योग्य) विवाह प्रकारों में सम्बंधित है और दूसरा कम-काण्ड में। विवाह संस्कार में

वाग्मन (तिलक, वरीच्छा) लग्न (विवाह की तिथि निश्चित करना), मृगहरण (मिट्टी लाना), गणपति-पूजन, मण्डप-प्रतिष्ठा, मात पूजन, वसार्घांश पूजन, आयुष्य जप, नादि धातु का सक्लप, वैवाहिक स्नान, वरदाना मधुपक (वर का स्वागत, अंगवानी), वधू-सत्कार, वधू को वस्त्रोपहार (चढ़ावा), समञ्जन (वर द्वारा वधू के साथ एक सूत्र में बंधन का संकल्प), गोत्राचार क्यादान, मालमूत्र, राजाहोम, पाणिग्रहण, गठबन्धन, अग्नि प्रदक्षिणा, सप्तपदी, वधू का आशीर्वाद (सुमंगली), ध्रुव दान, चतुर्थीकर्म और विवाह मण्डप का उत्थापन कमकाण्ड मुख्य हैं। ये कमकाण्ड पुरोहित द्वारा करवाये जाते हैं और हिन्दू विवाह-संस्कार के विधि विधान का मुख्य अंग हैं। किन्तु अनेक ऐसे कमकाण्ड हैं जो स्वायत्त्यान पर भिन्न हैं और जिन्हें बिना पुरोहित की सहायता के घर के लोग विनियत नारिया करती हैं। पितराने के कमकाण्ड इस श्रेणी में आते हैं, जो बहूया नारिया करती हैं। सखनऊ के आम पास, भवध के गणकी में, घोड़ी की स्त्री द्वारा वधू को सुहाग देने की प्रथा है जो अत्यन्त नहीं पाई जाती है।

इसीप्रकार अत्यन्त बट सत्कार के मुख्य कमकाण्ड हैं—प्राण ग्राह (मरणान्त व्यक्ति के मुह में तुलसी या गुगाजल डालना) अर्घ्य मवारना शवयात्रा अनुस्तरणी (गान्धन), दाह, कपाल निया उदक कर्म (जल दना जो दस दिन तक चलता है), भगीच (मृत व्यक्ति के परिवार तथा कपाल किया करवा वाल का दसवा तक अपवित्र मानना), अस्थि सचयन, नातिकर्म, दमगान (पिनमेध अर्थात् समाधि निर्माण) पिडगान (जपवा) और सपिडीकरण (तपनी, वर्षी)। अहिनामि, गिगु, गभिणी नवप्रभूता तथा राजस्वला विवाहिता तथा विषवा, परिम्राग, समामी तथा वानप्रस्थ प्रवामी, अकाल मृत्यु तथा पतित (घमद्राही, प्रतिलाम विवाह में उत्पन्न अस्थि आरम हत्या करने वाला, पातड, चार अभिचारिणी स्त्री) के लिए अलग-अलग अत्येष्टि का विधान है। मृत के अनुमार पतित अत्येष्टि का अधिकारी नहीं है। हिन्दू विधि विधान में जीवच्छाद (जीवित धातु) का भी विधान है। जिस प्रकार विवाह कमकाण्ड के विचरित रूप यन्त्र में देगन का मिलन है वम ही अमरवि कमकाण्ड के स्थानीय विचरित रूप दगने का मित्र है।

सत्कारों से जहां एक ओर व्यक्ति का सामाजिकरण होता है वहां दूसरी ओर सत्कारों से व्यक्ति का मानसिक तथा सामाजिक परिष्कार भी होता है। सत्कारों से माध्यम से व्यक्ति का मानसिक सामाजिक जीवन का विभिन्न स्तरों में प्रवेश करता है। सत्कारों के सामाजिक उपकरण हैं जिनसे माध्यम से व्यक्ति समाज का सदस्य बनता है और सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव करता है। गर्भाधान से लेकर चूडाकर्म तक के सत्कार व्यक्ति को उसके परिवार तथा सम्बन्ध-वर्ग की

सत्यता की गरिमा का अनुभव कराते हैं। उपनयन संस्कार समावर्तन तक के संस्कार उस सामाजिक प्रत्याशा (Social Expectations) से परिचित कराते हैं। विवाह संस्कार से उस वैवाहिक पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन की गरिमा का अनुभव होता है और अत्युत्ति संस्कार से पारलौकिक जीवन की महत्ता निर्धारित होती है। संस्कारों के ही माध्यम से व्यक्ति की मानसिक जिवन तथा सामाजिक आवश्यकताओं का नियोजन होता है जिससे पुष्पाय की साधना में सहायता मिलती है। विभिन्न संस्कारों से सम्बंधित अनुष्ठानों में यह सामाजिक वातावरण उत्पन्न होता है जिसमें एक ओर सामाजिक उद्देश्यों का महत्ता निखर उठती है और दूसरी ओर उस वातावरण में सामाजिक उद्देश्यों की संलग्नता बढ़ जाती है जिसके कारण व्यक्ति द्वारा सामाजिक उद्देश्यों की ग्रहणशीलता बढ़ जाती है। संस्कारों का एक ओर सामाजिक महत्व है और दूसरी ओर मानसिक। संस्कार से जीवना का विकास होता है। ऐसा हिंदू मनीषिया का मत है।

३

आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था संस्कारयुक्त जीवन की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जायदे के अनुसार आश्रम का इके मुख्य अर्थ है—वह स्थान जहाँ काठरी या कुटीर जहाँ संन्यासी निवास करते हैं। व्यवस्था अवधि या व्यवस्था बालक स्कूल (शिक्षण संस्था) वन या कुज जहाँ तपस्वी तप करते हैं। आश्रम शब्द व्यक्ति के सामाजिक जीवन की चार अवस्थाओं (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास) में प्रत्येक के लिये प्रयुक्त होता है^१। हिंदू विचारकों की यह मान्यता है कि व्यक्ति का संस्कारयुक्त सामाजिक-जीवन ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास की चार अवस्थाओं में गुजरता है। ये अवस्थाएँ पुष्पाय साधन के नियम आवश्यक हैं। इन चार अवस्थाओं के समन्वित रूप को आश्रम व्यवस्था की गना दी जाती है और इस आश्रम से सम्बंधित सामाजिक तथा व्यक्तिगत कृत्यों की आश्रम धर्म की। संस्कार का सम्बंध व्यक्ति के सामाजिकरण तथा सामाजिक विकास से है। संस्कार विधान में व्यक्ति के सामाजिक विकास की अवस्थाएँ निर्दिष्ट हैं। व्यक्ति का जिवन तथा सामाजिक विकास साथ साथ बढ़ता है। संस्कार में जिवन विकास का सामाजिक मानसिक उद्भुतता तथा गति मिलती है। आश्रम व्यक्ति के जिवन, सामाजिक तथा मानसिक विकास की मुख्य अवस्थाएँ हैं—वे

अवस्थाएँ जिनसे व्यक्ति की जैविक एपणाओं को सामाजिक अभिव्यक्ति मिलती है और व्यक्ति पुरपाय की माँग करता हुआ जीवन के परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करता है। सत्कार और आश्रम व्यक्ति की जैविक एपणाओं तथा क्षमताओं के सामाजिक प्रतिपोषण (Nurture) के माध्यम हैं।

प्रभू के अनुसार, आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रम' धातु से हुई है। 'श्रम' का अर्थ है सत्रिय होना या प्रयास करना और सप्रयास अथवा सत्रिय हान की निर्याशीलता या अवस्था। 'श्रम का व्यजनात्मक अर्थ हुआ वह स्थान जहाँ सत्रिय हुआ जाय या प्रयास किया जाय। इस व्युत्पत्ति से 'आश्रम का शाब्दिक अर्थ हुआ 'रुक्ने या विश्राम करने का स्थान'। आश्रम, अपने व्यजनात्मक अर्थ में, इस दृष्टिकोण से, प्रतीक हो जाना है जीवन-यात्रा की एक अवस्था या स्थल का, जहाँ विश्राम करके, व्यक्ति अगली यात्रा अवस्था की तैयारी करता है। इस से दश मन्त्रों आश्रमों का मोक्ष की ओर ले जाने वाले जीवन के राजमार्ग के चार विश्राम स्थल कहा जा सकता है। महाभारत में व्यास ने आश्रम-यवस्था को वह मापान कहा है जो व्यक्ति को ब्रह्म तक ले जाता है। आश्रम का प्रारम्भिक ^{प्राथमिक} अनुगत अर्थ चारों ओर रहा है। आश्रम धारणा का ऐतिहासिक विकास सामाजिक संस्था के रूप में हुआ है। प्रत्येक 'आश्रम' एक सामाजिक संस्था है क्योंकि प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के सामाजिक जीवन की एक अवस्था विनियम के लिये जाण नियम प्रतिपादित करता है। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकासक्रम की एक विनियम-संस्थागत अवस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति को उस अवस्था की दशाभा के अनुसार, अपने को इस प्रकार योगित तथा सत्रिय और सप्रयास करना पड़ता है कि वह विकासक्रम की अगली अवस्था तक पहुँचने में सक्षम हो जाय^१। जीवन एक विकास-क्रम है और आश्रम-यवस्था इसी विकासक्रम का एक मिलमिला। एक आश्रम (अवस्था) स्वभावतया दूसरे आश्रम में परिणत हो जाता है।

जसा कि पहले कहा जा चुका है हिंदू विचारधारा के अनुसार, व्यक्ति के सामाजिक जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है। ये चार आश्रम हैं ब्रह्मचर्य-गृह्यस्थ-व्रजस्थ और संन्यास। ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जो उन्नयन सत्कार से प्रारम्भ होकर समावर्तन सम्कार तक रहती है। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति का विद्यार्थी जीवन जाता है। हिंदू मान्यताओं में विद्यार्थी को आचार्य कुलवामी, ब्रह्मचारी तथा स्नानक की मनाई दी गई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने का मतलब है आचार्य के आश्रम में रहकर और ब्रह्मचर्य जीवन का व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन करना। ब्रह्मचर्य आश्रम के लिये, हिंदू विचारकों ने अनेक नियमों तथा कर्तव्यों का प्रतिपादन किया है जिनका एक ही उद्देश्य है और वह है

आत्म समय तथा साधारण जीवन यापन। इन नियमों में जोर इस बात पर नहीं है कि विद्यार्थी को क्या देना चाहिये वरन् जोर इस बात पर दिया गया है कि किन वस्तुओं के बिना विद्यार्थी का काम चल सकता है क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम का अन्तर्गत उद्देश्य है धर्म का ज्ञान प्राप्त करना और समय इन्द्रिय निग्रह अस्त्य और दम की यावहारिक दीक्षा देना।

ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी व्यक्ति समान हैं चाहे वे किसी भी वर्ण के हों और चाहे वे धनवान् घर के हों या गरीब घर के। उपनयन संस्कार के साथ साथ ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता है और उपनयन संस्कार साधारण जीवन यापन के प्रति पहली शिक्षा है। मज की बरधनी लंगोटी बनापवती दंड कमण्डलु धारण किये हुए, व्यक्ति भिक्षाटन प्रारम्भ करता है क्योंकि भिक्षाटन ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भिक्षाटन में ब्रह्मचारी को विनम्र होना चाहिये और उसे सज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिये क्योंकि वह अपने लिये नहीं वरन् आचार्य तथा आश्रम के लिये भिक्षाटन करता है। भिक्षाटन में सज्जा या हीनता का अनुभव न हो इसलिये भिक्षाटन की शिक्षा उपनयन संस्कार में ही मिल जाती है। उपनयन संस्कार में कुमार पहली भिक्षा अपने माता पिता तथा सगे सम्बन्धियों से मागता है। गुरु की आज्ञा से ही विद्यार्थी भिक्षाटन प्रारम्भ करता है। विद्यार्थी के लिये यह आवश्यक है कि वह गृहस्थ में भिक्षा के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार न करे। भिक्षाटन परमाय की पहली शिक्षा है।

मनु के अनुसार ब्रह्मचारी को केवल दो ही बार भोजन करना चाहिये— एक बार प्रातः काल और दूसरी बार संध्याकाल। ब्रह्मचारी को अल्पभोजी होना चाहिये। अति भोजन से बचना आवश्यक है क्योंकि अतिभोजन से अनारोग्यता तथा अनायुता वृत्ती है। अति भोजन से मनुष्य अप्रुण्य और अस्वर्गी होता है। दूषित भोजन के वही परिणाम होते हैं जो अतिभोजन के हैं। मांस मद्य दूषित मिष्ठान और ताम्बूल का सेवन विद्यार्थी के लिये त्राज्य है। भोजन की भाँति सादे वस्त्र पर जार

- 1 हिंदू शिक्षा व्यवस्था में आचार्य कुल में सभी विद्यार्थियों को एक ही सा जीवन बिताना पड़ता था। धनी तथा निधन, ग़ासक तथा प्रजा और उच्च तथा निम्न प्रतिष्ठा वाले परिवारों से आये हुए विद्यार्थियों को समान जीवन बिताना पड़ता था। रामायण और महाभारत में आई हुई कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि रामकुमारों को भी विद्यार्थी जीवन की वही कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं जहाँ अन्य साधारण परिवार के विद्यार्थियों को उठानी पड़ती थीं। दृष्टान्त गुदामा या विद्यार्थी जीवन इसका उदाहरण है। भिक्षाटन, पणशाला में निवास यत्न पत्र धारण और कुशा से बनी चटाई पर शयन सभी को समान रूप से अपना पड़ता था। प्रभू वही पृष्ठ 117

दिया गया है। मनु के अनुसार, ब्राह्मण ब्रह्मचारी का सनई की छाल से बने कपड़े, शत्रिय का रंगमी तथा वश्य को ऊनी कपड़ों से उतना गरीर ढकना चाहिये जितना आवश्यक है। इनके उत्तरीय (चादर) त्रयण बारहमिषा, रक् (एक प्रकार का हरिण) और बकरी की छाल के बने होने चाहिये। इसीप्रकार, ब्राह्मण विद्यार्थी का जनेऊ कपास का, क्षत्रिय का सनई तथा वश्य का ऊन का बना होना चाहिये। वशिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण विद्यार्थी का कपड़ा लाल रंग का (मज्जिष्ठा से रंगा हुआ) और वश्य विद्यार्थी का कपड़ा पीले रंग का (हल्दी में रंगा हुआ) होना चाहिये या वश्य-विद्यार्थी का वस्त्र कच्चे रंग का हो। ब्रह्मचारी के हाथ में रहने वाला डंडा सीधा, गैर-जला और देखने में सीम्य होना चाहिये। उसके डंडे से किसी का हृदय में भय और उद्वेग नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका डंडा उसकी रक्षा के लिये है न कि किसी पर आक्रमण करने के लिये। अजन, सुवासित तन, जूता तथा छाता, ज्यटन, नरय, गीत तथा वाद्य-धूत (जुवा) और जनवाद (गणशय) ब्रह्मचारी के लिये त्याग्य हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के लिये यह आवश्यक है कि ब्रह्मचारी स्थिरासे उतनी ही बात करे जितनी आवश्यक हो। सूर्योदय से पहले उठना, नित्यप्रति स्नान करना, दिन में न सोना, प्रतिदिन दस बार (प्रातः और संध्याकाल) मध्या करना, आचार्य के प्रति निष्ठा रखना ब्रह्मचारी के आवश्यक कर्तव्य हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम इस प्रकार, वह अवस्था है जिनमें व्यक्ति, एक ओर वैराग्यजन करता हुआ धर्म के स्वरूप की समझना है और, दूसरी ओर, साधारण, प्रत्येकपूर्ण तथा आत्मनिग्रही जीवन बिताने की व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा होता है। विद्यार्थी के लिये सत्यभाषी आत्मनिग्रही, अपरिग्रही और अहिंसक जीवन का आदर्श रखा गया है। ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने का काम शोध, मद्र और काम से दूर रखे। शौतम के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति जिज्ञा, भुजा और आमाशय का नियन्त्रण तथा अनुगमन में रहने की शिक्षा-दीक्षा होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम उस तप, त्याग और कष्ट जीवन के लिये अपनाई गई अनुगमित दीक्षा है जो गृहस्थ्य धानप्रस्थ और सत्यास आश्रमों के लिये आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम धर्मका विद्यार्थी जीवन की एक और विशेषता है जो हिन्दुओं द्वारा निरूपित शिक्षा पद्धति में पाई जाती है। यहाँ विद्यार्थी आचार्यकुलवामी अर्थात् आचार्य के आश्रम का निवासी होता है। विद्यार्थी आचार्य के लिये पुत्र तुल्य है और विद्यार्थी के लिये आचार्य आध्यात्मिक पिता के समान। आचार्य तथा विद्यार्थी द्वारा कही जान वाला प्राप्ति या प्रभू न तत्तरीय उपनिषद् से उद्धृत की है, का सारांश इस प्रकार है 'हं प्रभा ॥ हम दोनों की रक्षा करा। हम साथ साथ भाजन मिले। हम एक पारस्परिक सन्ध्या तथा शाम-जस्य के साथ पान प्राप्ति के लिये अपनी गतिविधियों का उपयोग करें। हम दोनों के बीच कभी भी घटा के भाव का प्राप्तिभाव न हो। यह प्राप्ति हम दोनों का प्रमाण है कि हिन्दु शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को

आचार्य की पूर्ण देय रेख में छोड़ने का विधान है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी अपने परिवार से नहीं के बराबर सम्पर्क रखता है। अतः, ब्रह्मचर्य आश्रम वह अवस्था है जिसमें ब्रह्मचारी पूर्णतया उस पर्यावरण में रहता है जहाँ आचार्य की प्रधानता रहती है। विद्यार्थी के सामने परिवार तथा शिक्षा संस्था की परस्पर विरोधी भावनाएँ नहीं रहती हैं। ब्रह्मचारी के लिये सम्पूर्ण पर्यावरण तथा आदर्श एकसम रहते हैं जिसके कारण जीवन का उच्चतम और अतत्तागतत्वा उद्देश्य तथा आदर्श सर्वत्र प्रसर रहता है। समाज नतिकता तथा अनतिकता का मिश्रण है। समाज में व्यक्ति पर नतिकता तथा अनतिकता दोनों का प्रभाव पड़ता है। आचार्यकुलवास नतिक धर्माचरण से प्रोत्साहित रहता है। अतः, ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति का वह सम तथा नतिक पर्यावरण मिलता है जिसमें व्यक्ति का स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित होता है। ब्रह्मचर्य आश्रम, वस्तुतः उस स्वतन्त्र तथा आदर्श पर्यावरण का नियोजित करने का विधान है जिससे समाज के उच्चतम तथा अतत्तागतत्वा आदर्शों के अनुरूप व्यक्तित्व विकसित हो सकें^१।

गृहस्थ आश्रम वह अवस्था है जो स्नातकोत्तर जीवन से प्रारम्भ होकर व्रतप्रस्थ के प्रारम्भ तक रहती है। व्यक्ति की स्नातक अवस्था ब्रह्मचर्य गृहस्थ आश्रम आश्रम का एक भाग है। लेकिन, वास्तव में, स्नातकत्व वह अवस्था है जो शिक्षा समाप्ति के बाद से विवाह संस्कार तक रहती है। स्नातक का अर्थ है स्नान किया हुआ। शिक्षा समाप्ति के बाद जब ब्रह्मचारी आचार्य का आश्रम छोड़ता है तो उसने पहले वह स्नान करता है। यह स्नान इस बात का प्रतीक माना गया है कि व्यक्ति की शिक्षा पूर्ण हो गई है और अब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के उपयुक्त हो गया है। यह स्नान समावर्तन संस्कार का एक अंग है, जो शिक्षा समाप्ति के बाद पितृकुल में वापस आने का प्रतीक है। ब्रह्मचर्य आश्रम धर्म का समझने की अवस्था है तो गृहस्थाश्रम धर्म की कार्यावधि व्रतधर्म सचय की अवस्था। ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की तयारी है तो गृहस्थाश्रम धर्म क्षेत्र। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति पुरुषार्थ के ज्ञान पक्ष से अवगत होता है लेकिन गृहस्थाश्रम में व्यक्ति पुरुषार्थ के व्रत पक्ष को अपनाता है। गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अर्थ तथा काम की साधना करता है^२।

गृहस्थ आश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति सामान्यतया धर्म की, विद्या तथा, अर्थ, काम और कुलधर्म की साधना में प्रवृत्त होता है। गृहस्थाश्रम जीविका महान्तम उद्देश्य, मान्य, की साधना का पूरूप है। अतः, गृहस्थाश्रम एक साधन है साध्य नहीं। गृहस्थाश्रम एक सत्रमण कारक है जिसमें कुलधर्म की साधना करता हुआ व्यक्ति, अग्न आश्रमा के लिये, अपने का तयार करता है। गृहस्थाश्रम एक व्रतस्थ

है—वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दायित्व है—जिसे निभाना व्यक्ति का कर्तव्य है क्योंकि इस दायित्व के निभाने से घम-सचय होता है। गृहस्थाश्रम सामाजिक कर्तव्य है अथवा लेकिन, व्यक्ति गृहस्थाश्रम में, अपने लिये प्रवेश करता है क्योंकि घम-सचय से व्यक्ति को मान्य मिलता है। गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति की ओर आ जाता है। लेकिन, व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह गृहस्थाश्रमी प्रवृत्ति का निवृत्ति की ओर आ जाय क्योंकि जीवन का अन्तर्गतता उद्देश्य है समास और मोक्ष।

विवाह, गृह और कुल गृहस्थाश्रम के आधार हैं। विवाह से ही गृह तथा गृहस्थी की स्थापना होती है। गृह से तात्पर्य उस स्थान से है जो पित्रा तथा पुत्रों का वासस्थान है। गृहस्थ गृह स्वामी नहीं है। वह ता वास्तव में पित्रों और पुत्रों की सम्पत्ति का संरक्षक है। गृह वह माध्यम है जिससे वंश परम्परा चला करती है। इसी कारण, गृहस्थाश्रम वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति कुलघम का पालन करता है। गृह में सम्प्रतिष्ठित नियमों और कर्तव्य गृहस्थाश्रम में आते हैं। ये नियमों और कर्तव्य शास्त्रोक्त होते हैं। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति उन सभी शास्त्रोक्त विधियों का पालन करता है जिनका उद्देश्य होता है कुल का परिष्करण और नरतय बनाये रखना। गृहस्थाश्रम का आधार है घम और घम का जिस पथ में पारिवारिक कर्तव्य नियमित होता है उसे कुलघम कहा गया है। कुलघम में तात्पर्य है कुछ निश्चित आनुविध्य तथा कर्तव्य-जन्य (Filial and Paternal Duties) में जिनका उद्देश्य पुरुषार्थ की माधना है। आनुविध्य-जन्य (Filial Duties) के रूप में कुलघम से तात्पर्य है परिवार के विभिन्न सदस्यों का उचित पारस्परिक सम्बन्ध से और कर्तव्य में तात्पर्य है पथ महाभूत यथा में जिनमें जान अनजान में किये पाप छूट जाते हैं और जिनका करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है¹।

महात्मा बुद्ध के अनुसार गृहस्थ का चाहिए कि वह जीव हर्षा, असपम तथा अमय में दूर रहे, दूसरों के साथ व्यवहार में पम्पात, गन्तुता, निबुद्धिता और ठर का पाम न धान दे, मादक द्रव्यों के सेवन, कुमग अकम्प्यता और जुवे में धन का अपभय न करे, ब्राह्मण, क्षत्री, वीर्य करने वाले, ब्राह्मण और अपभयपी मनुष्यों के संग में दूर रहे और अपने माता पिता, आचार्यों तथा बड़ों का आदर करे। माता पिता तथा बड़ों का आदर और उनकी आज्ञा का पालन बच्चा तथा तत्पुत्रों का परम कर्तव्य माना गया है। पत्नी का प्रति गृहस्थ का व्यवहार घम, अथ और काम की मर्यादाओं के अनुसार होना चाहिये। परिवार के सम्पत्ति में पारस्परिक आदर और एक दूसरे की चिन्ता सामान्यतः कुलघम का सार माना गया है²।

1 गोतले यो० जी० वही पृष्ठ 41

2 गोतले, यो० जी० वही पृष्ठ 41

मंत्र माये हैं उनमें गृह की वह स्थान माना गया है जहाँ से पितृ उत्पन्न हुए हैं और जहाँ पुन तथा बछड़े आयेगे। इही मंत्र में गृह की रक्षा, दीर्घायु तथा समृद्धि के लिए देवताओं का आवाहन किया गया है।

(गृह प्रवेश पर हवन करने की प्रथा है और घम गास्ना में इसका विधान है। रसोई परोसन के पहले देव पित्रा के नाम पर चूल्ह के सामन भाग लगान की प्रथा आई जाती है। अग्नि वस्तुतः गृह देवता है। प्रत्येक हिन्दू गृह में देव पित्रा का एक स्थान होना है। प्रत्येक गृह के अपने पितृ होन हैं और अपन देव जा गृह की रक्षा किया करते हैं जिन्हें प्रमन रखना गृहस्थ का कर्त्तव्य है क्योंकि गृहस्थ इनका श्रेणी है। पितृ व्यक्ति क जबकि अमृतत्व क निमित्त हैं, देव सुरक्षा तथा समृद्धि के ता कृपि उस पान के जिसके द्वारा यक्ति को घम का नाग मिलता है। हिन्दू-मायताओं के अनुसार यक्ति के पास अपना कुछ नहीं है वह जो कुछ भी हाता है पित्रा, कृपियो और देवा क कारण होता है। अतः, व्यक्ति उनका श्रेणी है और उनके श्रेण में उनका होना व्यक्ति का कर्त्तव्य।

(य और दान क उपकरण हैं जिनके द्वारा व्यक्ति इन श्रेणा से उन्नत होता है, घम संचय करना है और दानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमा क लिए अपने का तैयार करता है। गृहस्थ जीवन में अथ और काम की साधना के माय साय, यन तथा दान की साधना। व्यक्ति में निवृत्यो भूत प्रवृत्ति का अम्युदय होता है जा यक्ति का माग की प्रतीति होती है। यन का अथ है उल्लि अथवा त्याग। गीता में यन का 'यजनात्मक' अथ निष्काम कर्म और परमाय के रूप में किया गया है। यन देवताओं तथा दूसरों के प्रति समर्पण है। इसी निष्काम समर्पण की धारणा में दान की धारणा आ जाती है। त्रिया क रूप में दान का अथ है काटना विभाजित

1 प्रभू, पी० एच० वही पृष्ठ 218

2 गीता के अनुसार प्रजापति ने कल्प के अन्त में प्रजा तथा यज्ञ दोनों को साय-साय उत्पन्न किया। यज्ञ, प्रजा की इच्छित कामनाओं को देने वाला है। मानव प्राणी कर्म से बंधा हुआ है और यन कर्म से उत्पन्न होता है। अतः, यन मानव प्राणी क लिय स्वभावतया आवश्यक है। यज्ञ से देवताओं की उन्नति होती है और देवताओं से मनुष्य को प्रिय भोग मिलते हैं तथा उसकी उन्नति होती है। जो पुण्य देवताओं को अर्पित किये बिना भोगों को भोगता है, वह खोरे है। यज्ञ देवताओं के प्रति समर्पण का एक माध्यम है। यज्ञ में परमाय की भावना निहित है क्योंकि यन से गाय बचे हुए यन की गाने वाल थोछ पुरुष राय पापों से छूट जाते हैं और जो पापा अपन गरीर पोषण क लिए हो पचाते हैं वे ता पाप का हो पाते हैं। परमाय का काम यज्ञ में है। अतः, साय सप्त में कर्मगत आवश्यक है (१७८१)। यज्ञ तीन प्रकार के हैं—सात्विक,

करना और सीधा करना। सत्ता के रूप में दान से सामाजिक अर्थ लिया जाता है देना, सिखाना और अनुदान से। दान का अर्थ हस्तांतरण, भेंट, उपहार और भिक्षा से भी है। दान का सामाजिक अर्थ है वह जो दूसरों को दिया जाय। लेकिन हर प्रकार का देना दान नहीं है। दान के साथ क्यों, किसको और किस प्रकार का विचार जुड़ा हुआ है। श्रेष्ठ दान वही है जो कृत्य ममत्त्व, बिना किसी प्रत्यागा के देना, काल और पात्र के अनुसार दिया जाय। जिस दान में देनेवाले में प्रत्युत्कार की भावना हो, दान के फल के प्रति आसक्ति हो जिसके देन में निष्काम भावना न हो देना, काल और पात्र का विचार न हो दान देने वाले के प्रति तिरस्कार की भावना हो वह दान निष्कृष्ट है और त्याग्य है¹। दान केवल भिक्षा नहीं है। दान व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकता है क्योंकि दान देना, काल पात्र और निष्काम क्रम से बढ़ा हुआ है। दान कम यत्न है। दान वह माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के प्रति अपना योगदान देता है। 'व्यक्ति समाज' से है और समाज व्यक्ति से। समाज से मिले योगदान से व्यक्ति बनता है और व्यक्ति के योगदान से समाज बनता है। दान समाज के प्रति व्यक्ति का समर्पण है। दान से धर्म की साधना होती है। अतः दान न तो प्रत्युत्कार है और न वह प्रत्युत्कार के लिए किया जाता है। दान कृत्य है। ऋषि, पित्र देव और मनुष्य व्यक्ति समाज के भागी हैं क्योंकि यज्ञ इसका ऋणी है। यही कारण है कि पठन पाठन और शिक्षण-कार्य को विद्यादान कहा गया है और विवाह विधियों में कर्मदान एक महत्वपूर्ण विधि है। हिंदू मान्यताओं के अनुसार जहाँ दान है वही यज्ञ है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्यकुत्वास यत्न दान और तप धर्म के तीन स्वर्ग हैं। तप के तीन प्रकार हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देव, ब्राह्मण, गुरु और पानी की पूजा पवित्रता मरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक

राजस और तामस। शास्त्रविधि, जैन दान मन्त्र, दक्षिणा तथा श्रद्धा रहित यज्ञ तामस है, दम्भाचरण तथा फलासक्ति के लिये किया हुआ यज्ञ राजस है और शास्त्रविधि से नियत, परमकृत्य मानकर अनासक्तिभाव से किया हुआ यज्ञ सात्विक है और परम श्रेष्ठ है (17 11 12, 13)।

- 1 यज्ञ की भांति गीताकार ने दान के भी तीन प्रकार बताये हैं—सात्विक, राजस और तामस। सात्विक दान ही श्रेष्ठकर है। सात्विक दान 'देना उचित है ऐसा समझकर बदला मिलने की आशा के बिना देना, काल और पात्र को देखकर' दिया जाता है। राजस दान वह जो बदला मिलने के लिये अथवा फल को लक्ष्य कर और दुःख के साथ दिया जाता है। देना, काल और पात्र का विचार किए बिना, बिना मान के, तिरस्कार से दिया हुआ दान तामस कहलाता है—गीता, 17 20 22

तप है दुख न देने वाला सत्य प्रिय, हितकर वचन तथा धर्म ग्रन्थों का अभ्यास वाचिक तप है, और मन की प्रगल्भता सौम्यता मोन आत्मसमय तथा भावना बुद्धि मान-सिक तप है^१। कष्ट उठाकर दुराग्रहपूर्वक जयवा दूसरे के नाश के लिए किया हुआ तप तामस है। सत्कार मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक किया हुआ अस्थिर तथा अनिश्चित तप राजस है। तामस और राजस तप जवाउनीय हैं क्योंकि इनमें आत्मविनया भाव रहता है। हिंदू मायताओं के अनुसार वाछनीय है सात्विक तप जो शारीरिक वाचिक तथा मानसिक तपों की समन्वित युक्त परम श्रद्धापूर्ण निष्कामसाधना है^२। यज्ञ तप और तप व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करते हैं लेकिन उनका ज्ञान आम तन मत में है। आम प्रतीक है ब्रह्म का उस रहस्यात्मक परम सत्ता का जिसमें मध्यमिन् का आधिपत्य है और जो व्यक्तित्व का अन्तर्भाव गतव्य है। ब्राह्मण वर्ग और यज्ञ ब्रह्म ही उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वही (तप) आम समय तथा कल्याणकारी (सत) है और सब कुछ असत्य है। ब्रह्मवाणी ओम् का उच्चारण करके (जयवा सभी कुछ ब्रह्ममय मानकर) यज्ञ दान और तपस्वी नियाय करता है। माध्यामी तप (जयवा सब कुछ उसी से है) की भावना से, कम फल की इच्छा न रखता हुआ, यज्ञ तप तथा तपस्वी नियायों किया करता है। समय कल्याण प्राप्त धर्म यज्ञ-तप तप दहना और तप के निमित्त कम के सकल मत्त का भाव आता है। जत जिस यज्ञ दान और तप में श्रद्धा नहीं है वह असत्य है^३। श्रद्धा में सात्विक है ओम् तप सत के प्रति समर्पण जिसे गीताकार ने निष्काम धर्म कहा है।

यज्ञ दान और तप की क्रियाओं से युक्त तथा धर्म तप तप के प्रति समर्पण अथ तथा धर्म की साधना दृष्ट्याश्रम का मूल है। लेकिन इस साधना में धास्त्रासन कर्मों तथा कर्मों का ही धर्मस्वर माना गया है। दृष्ट्य का यज्ञ धर्म है कि वह धास्त्राश्रम विधियां स यज्ञ दान और तप का जीवन गतीन कर। दृष्ट के उपकरण चूरा (चुट्टि) चरणी (पण्डा) नाटू (पम्बर) मिल दहना और जलपात्र के प्रयोग से जाना जाता है जो यज्ञ अग्न्याग्नी है। इस जीवन दृष्ट्या स व्यक्ति का दृष्टकारा भी मिल सकता है। यह जय धर्मात्मा जाते हैं यज्ञ न दृष्टकारा पान के लिए तथा तप और तप की साधना के लिए धास्त्राश्रम में दृष्ट्य के लिए पचमाया का विधान किया गया है। य पचमाया है ब्रह्मवा पितृय दानय नन्दन और नया। अध्ययन और विद्याश्रम में तपित क्रिया यज्ञ से उद्भूत जाता है। अध्ययन और विद्याश्रम से तपसा की साधना होती है। श्रद्धा अनुष्ठान में तपण और भाग

- गीता १७/११, १५ १६
गीता १७/१७, १८ १९
गीता १७/२३ २४

देना पितृया व प्रतीक है। पितृयज्ञ से व्यक्ति पितृकृण से उद्भूत होता है। देवताओं के प्रति अर्पित किया जान वाला द्रव्य (आहुति) देवयज्ञ है जिसके द्वारा व्यक्ति देवकृण से उद्भूत होता है। भूतया भोजन की आहुति के द्वारा मानव जीवन का प्रभावित करने वाली प्रजात्माओं (भूता) को श्रम न करके उनके ग्रहितकर प्रभावा से वचन की पूजा है। अतिथि सत्कार तथा पूजा नयज्ञ में आता है^१। ये यज्ञ दानप्रधान है न कि स्वायप्रधान। इन यज्ञों को करना गृहस्थ का कर्तव्य है और यह कर्तव्य भारतीय तथा सामाजिक आवश्यकता है। ऋषि, पितृ, देव, भूत तथा अतिथि की सेवा गृहस्थ का कर्तव्य ही नहीं बरन उत्तरदायित्व है। बिना इनके प्रण ग उद्भूत हुए गृहस्थ मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है^२। किंतु गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह इस दायित्व को निष्पक्ष होकर निभाये। निष्पक्ष तथा निष्काम हानर अथ तथा काम की साधना और गृहस्थ आश्रम के कर्तव्य का निभाना तप नहीं तो और क्या है? हिंदू मान्यताओं में गृहस्थ आश्रम को तपस्या माना गया है और यज्ञों को नित्य सुख का स्रोत। इसी विचारधारा की पृष्ठ भूमि में, हिंदू गृह, परिवार के एकीकरण तथा उसके आध्यात्मिक नरत्तय की एक बटी बन गया है।

वानप्रस्थ तीसरी अवस्था है जिसमें शास्त्र विधान के अनुसार व्यक्ति गृहस्थ आश्रम त्याग कर तप के लिए वन में निवास करता है। गृहस्थ जीवन वानप्रस्थ निर्लिप्त सागारिक कर्तव्य का जीवन है। वानप्रस्थ आश्रम, गृहस्थ आश्रम से भाग किसी निर्लिप्तता की ओर उठा हुआ एक और चरण है। जब व्यक्ति पचमहायज्ञों और अथ तथा काम की साधना करते हुए गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का पूरा कर ले और सभी ऋणा से उद्भूत हो जाय तब आश्रम धर्म के नियमानुसार व्यक्ति का सभी बुद्धि पुत्रों का सीप कर जगत् में निवास करना चाहिए और धीरे धीरे सामाजिक वस्तुओं में अपना सम्बन्ध कम करना चाहिए। वानप्रस्थ का अर्थ है वन में निवास करने वाला। वानप्रस्थ आश्रम के धर्मानुसार, बुद्धि गृह और ग्राम का आश्रय छोड़ कर व्यक्ति का यात्रा करत हुए और अपनी द्रव्य का धन में बदल कर नियत द्रव्य दान का प्रयास करना चाहिए। नियत द्रव्य दान के लिए सामान्य में वस्तुओं के भाजन मीठी वस्तुओं का त्याग भूमि गमन, वस्त्र वस्त्र प्रत्यक्षारी जीवन और रागरहित वनवासी जीवन का विधान किया

१ गोपले ने त्रिन पांच यज्ञों का वर्णन किया है वे हैं—ब्रह्म यज्ञ (अध्ययन तथा निरूपण कार्य) पितृ-यज्ञ (आहुतियाँ तथा तपण) भूत यज्ञ (प्रभुओं के प्रति आहुतियाँ देना) अतिथि-यज्ञ (अतिथि-सत्कार) और नयज्ञ (मानवता के प्रति दाय)। जिस गोपले ने अतिथि या कहा है वह प्रभु के अनुसार नयज्ञ में आता है। गोपले ने त्रिन यज्ञों का वर्णन किया है उनमें देव-यज्ञ नहीं है।

२ प्रभु पी० एच० यती पृष्ठ २१६-२१८

गया है। वानप्रस्थ अवस्था में व्यक्ति का किसी भी प्रकार के विलासी प्रमादनों की प्राप्ति का प्रयास नहीं करना चाहिए और भूख से जात होने पर भी उन काममूलों का स्वीकार नहीं करना चाहिए जो ग्राम में उत्पन्न हुए हैं। वानप्रस्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना अधिक से अधिक समय धुनिया (धन) तथा उपनिषद् के अध्ययन में लगाए और तप के द्वारा शरीर की शुद्धि करके अपनी आत्मा को प्रबुद्ध कर क्योंकि वानप्रस्थ मातृ की तपारी का बाल है।

वानप्रस्थ आश्रम उत्कृष्ट अध्ययन चिंतन, आत्ममय, दान तथा सभी जीवा के प्रति अनुकम्पा की भावना का जीवन है। इसका साथ साथ वानप्रस्थी के लिए पंचमहायज्ञ का भी विधान है। वानप्रस्थी को पंचमहायज्ञ उभी लगा से करने चाहिए जब कि उन्हें गृहस्थ्य करता है। वानप्रस्थ आश्रम में यदि व्यक्ति चाहती अपनी सहधर्मिणी (पत्नी) को भी साथ रख सकता है क्योंकि पत्नी के साथ हाथ हुए भी गृहस्थ्य व्रत आरम्भ है। वानप्रस्थ गृहस्थाश्रम के प्रसार की एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति धीरे धीरे समारम्भ की गिरावट करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ऐसी ही मानव के जबकि विकास की प्रक्रिया में अनुकूल है क्योंकि कर्मोद्धार की बदली हुई निष्कलता के साथ साथ अर्थ और काम के प्रति निर्निष्ठता का भाव जहां आत्म मय का प्रोत्साहित करना है वहां व्यक्ति का नाराज्य से भी बचाता है। उहा जीवन का उत्कृष्ट मोक्ष हो वहां ऐसी गिरावट दीक्षा आवश्यक भी जान पड़ती है।

संन्यास व्यक्ति के जीवन की चौथी तथा अंतिम अवस्था है। आश्रम के दृष्टिकोण से व्यक्ति के जीवन की चार अवस्थाएँ हैं—ग्रहचारि गृही, वानप्रस्थी संन्यास और संन्यासी। संन्यासी वह व्यक्ति है जिसने तपस्व का पूरा त्याग कर लिया हो। इसलिए संन्यासी के लिए यह विधान है कि वह भिक्षा पर निर्भर रहे और भिक्षा भी जिन में वरतता वार ले। यदि भिक्षा न मिले तो उस दुःखी और यदि भिक्षा न मिले तो सुखी नहीं होना चाहिए। संन्यासी के लिए सुख दुःख, लाभ अलाभ और जीवित तथा मृत समान हैं। संन्यासी के जीवन का जीवन है वीतराग क्योंकि सदासी तप का अर्थ है मय (अर्थात् सभी कुछ) त्यागी (त्यागने वाला)। संन्यासी के जीवन का जीवन है इन्द्रिय निग्रह, राग द्वेष रहित अस्मिक जीवन। संन्यास बन्धुन व्यक्ति की यह मानसिक अवस्था है जहाँ व्यक्ति का सामाजिक व्यक्ति में समाप्त हो जाता है। संन्यासी के पारिवारिक बंधन समाप्त हो जाते हैं यह एक गृहीत परिवर्तन हो जाता है और समाप्ति स्थान पर करल भिक्षात्मक उमक जीवन का आधार हो जाता है। संन्यासी को ज्ञापक भी कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि संन्यासी सभी आश्रमों में पर है।

संन्यास आश्रम में प्रविष्ट करना इच्छा जीवन में ही पारलौकिक जीवन में प्रवेश करना है। संन्यास-आश्रम में ऐसा माना जाता है कि, व्यक्ति

का सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। संयास आश्रम में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत मगभा जाता है। उसके वधु वा अथ प्रतीकात्मक रूप से उसकी अंत्यष्टि कर दते हैं और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटा से संयासी के रूप में व्यक्ति का पुनर्जन्म हुआ है। संयासी होने वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति के लिए दाह-संस्कार का विधान है लेकिन संयासी के लिए समाधि संस्कार का अर्थात् संयासी होने वाला व्यक्ति की अंत्यष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती है। संयास आश्रम में व्यक्ति सामाजिक बंधना से उन्मुक्त हुआ समझा जाता है और इसी कारण संयासी के लिए वर्ण जाति ऊँच नीच तथा छूत-अछूत के सांसारिक बंधन निरयक्त हैं।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिंदू जीवन दर्शन में, पुरुषार्थ, संस्कार और आश्रम अर्थात् आश्रित हैं। संस्कार और आश्रम व्यक्ति के जविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और पुरुषार्थ व्यक्ति के जविक सामाजिक विकास को आदर्शिक आधार प्रदान करने व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरक बन जाते हैं। संस्कार आश्रम और पुरुषार्थ सामाजिक पद्धति भूमि में, व्यक्ति के जविक तथा मानसिक विकास को एक ओर, गति तथा दिशा प्रदान करते हैं और दूसरी ओर, उस नियंत्रित भी करते हैं। आश्रम का एक आधार है संस्कार और दूसरा पुरुषार्थ। संस्कार आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषार्थ आश्रित। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति उस अवस्था से सम्बंधित पुरुषार्थ की साधना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम यह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का धर्म के विभिन्न पहलुओं पर अभिप्रेरितता का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। इसी अवस्था में व्यक्ति यह सीखता है कि धर्म समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मानव जीवन का परम लक्ष्य। धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम का और अर्थ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषार्थ हैं। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ हैं जिसमें पहल ही धर्म का गहनान्वित तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया और जिसमें वह मातृ ज्ञान है कि मानव जीवन का सारोपरि पुरुषार्थ है और उसने लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है¹।

1 प्रभू के अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रखी गई है कि व्यक्ति के जविक विकास में एक अवस्था यह आती है जब

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मांस जीवन के मुख्य पुरुषार्थ हो जाते हैं यद्यपि इनमें धर्म का स्थान प्रधान रहता है। संन्यास-आश्रम में मांस सर्वोपरि पुण्याय हो जाता है। संन्यासी के लिए मोक्ष भी उसका धर्म हो जाता है। वास्तव में, यदि शरीर तब तक, सभी आश्रमों का सम्मिलन ही है। हा यह अवश्य है कि वही मांस का प्रयोग प्रधानता मिली है और वहीं अप्रत्यक्ष। कम सभी आश्रमों का परिणति संन्यास में होती है कम ही सभी पुरुषार्थों की परिणति मात्र में होती है।

आश्रम व्यवस्था एक ओर, धर्म परम्परा में सम्मिलित रही है और दूसरी ओर, धर्म परम्परा में चारों आश्रमों का चार प्रकार का धर्म माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम का धर्म, यज्ञ की व्यवस्था माना गया है। ब्रह्मचर्य-आश्रम को ज्ञान धर्म की अवस्था माना गया है क्योंकि इस अवस्था में व्यक्ति आत्म नियंत्रण तथा ज्ञान की दीक्षा लेता है। गृहस्थाश्रम को कर्मधर्म कहा गया है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम की माधना करता हुआ व्यक्ति, पत्नी, सन्तान कुल, छायाय अनिधि तथा दवा के प्रति अपने दायित्व को निभाता है। गृहस्थाश्रम, इस प्रकार, निस्वार्थ सेवा की अवस्था है और निस्वार्थ सेवा के द्वारा ही व्यक्ति समाज के प्रति अपना धार्मिक दत्त है। वानप्रस्थ आश्रम, एक ओर धीरे धीरे, अर्थ काम और संसार के त्याग की तथा, दूसरी ओर, उच्च जति धर्म की तयारी है जो संन्यास आश्रम में पूरा होती है। संन्यास-आश्रम में परमार्थ के प्रति संवर्धन करने के व्यक्ति ज्ञानमय हो जाता है। संन्यास, एक ओर सम्पूर्ण योग तथा दूसरी ओर आत्मावृत्ति की अवस्था है। आत्मावृत्ति का उद्देश्य है आत्मा की आवृत्ति ज्ञान पूज्यता का प्राप्ति के लिए आत्मा की परमात्मा के प्रति पूर्ण तथा निरपेक्ष प्रपत्ति। आत्मावृत्ति पूर्णता की दृष्टि से उत्तम होती है। हिन्दू विचारधारा में पूर्णता ही उत्तम उद्देश्य है। पूर्णता मानवी नहीं

जीवन में अर्थ तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है क्योंकि अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज को आनुषंगिकता के अंग हैं। अर्थ और काम व्यक्ति तथा समाज की विकाशीलता के गारंटी, इतिहास तथा आनुषंगिकता के अंग हैं। व्यक्ति और समाज के लिए उनकी उचित अनिवार्यता आवश्यक है जिस धर्म द्वारा नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया है। अर्थ और काम का, धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानव-जीवन में इस प्रकार समन्वय किया गया है कि उनकी उचित अनिवार्यता से धर्म तथा समाज का यह रहता, स्थापित गृह तथा विकास मिलेगा। अर्थ और काम के व्यक्तिगत के अनुकूल है। धर्म तथा आश्रम के द्वारा अर्थ और काम की अनिवार्यता व्यक्ति में सजग आत्मनिष्ठा तथा आत्ममार्ग की प्रोत्साहित करती है। इस सजग आत्मनिष्ठा तथा आत्ममार्ग में मानव तथा उनकी सामूहिक आनुषंगिकता को ऐतिहासिकता के अंग निहित है—प्रश्न यह पृष्ठ १७

का सामाजिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है। सयास आश्रम में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति मृत समझा जाता है। उसका बंधु वा धन प्रतीकात्मक रूप से उसकी अत्यष्टि कर देते हैं और ऐसा माना जाता है कि प्रतीकात्मक रूप से जलाई हुई चिता की राख और लपटा से सयासी के रूप में व्यक्ति का पुनर्जन्म हुआ है। सयासी होने वाला व्यक्ति अपना पहला नाम छोड़ कर दूसरा नाम रखता है। साधारण व्यक्ति के लिए दाह-संस्कार का विधान है लेकिन सयासी के लिए समाधि संस्कार का क्योंकि सयासी होने वाला व्यक्ति की अत्यष्टि पहले ही हो चुकी हुई मानी जाती है। सयास आश्रम में व्यक्ति सामाजिक बंधन से उन्मुक्त हुआ समझा जाता है और इसी कारण सयासी के लिए वध जाति ऊँच नीच तथा छूत अछूत के सामाजिक बंधन निरर्थक हैं।

४

आश्रम व्यवस्था के आधार

हिन्दू जीवन दशन में पुरुषार्थ, संस्कार और आश्रम अन्तर्भावित हैं। संस्कार और आश्रम व्यक्ति के जैविक विकास का सामाजिक आधार प्रदान करते हैं और पुरुषार्थ व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास को आदर्शिक आधार प्रदान करके व्यक्ति के लिए मानसिक प्रेरणक बन जाते हैं। संस्कार, आश्रम और पुरुषार्थ सामाजिक पद्धति में व्यक्ति के जैविक तथा मानसिक विकास को, एक ओर, गति तथा दिशा प्रदान करते हैं और दूसरी ओर, उस नियन्त्रित भी करते हैं। आश्रम का एक आधार है संस्कार और दूसरा पुरुषार्थ। संस्कार आश्रम का सामाजिक आधार है और पुरुषार्थ आश्रम का। प्रत्येक आश्रम व्यक्ति के जैविक सामाजिक विकास की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति उस अवस्था के सम्बंधित पुरुषार्थ की साधना करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम यह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का धर्म के विभिन्न पहलुओं का धर्म अभिप्रेक्षण का ज्ञान प्राप्त करता पड़ता है। इसी अवस्था में व्यक्ति यह सीखता है कि धर्म समाज तथा व्यक्ति का आधार है और मानव जीवन का प्रथम स्तर। धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम का और अर्थ तथा काम गृहस्थाश्रम के प्रमुख पुरुषार्थ हैं। गृहस्थाश्रम में 'अर्थ' और काम उस व्यक्ति के जीवन के प्रमुख पुरुषार्थ हैं जिसने पहले ही धर्म का गहनान्वेष तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसने यह मान लिया है कि मानव जीवन का सौंदर्य पुरुषार्थ है और उसके लिए आत्म ज्ञान आवश्यक है^१।

१ प्रभू के अनुसार गृहस्थाश्रम में जय और काम पुरुषार्थों की प्रधानता इसलिए रखी गई है कि व्यक्ति के जैविक विकास में एक अवस्था यह आती है जब

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म और मोक्ष जीवन का मुख्य पुरोपाय हो जाते हैं यद्यपि इनमें धर्म का स्थान प्रधान रहता है। स यास आश्रम में मोक्ष सर्वोपरि पुरोपाय हो जाता है। स यासी के लिए मोक्ष भी उसका धर्म ही जाता है। वास्तव में यदि दत्ता जाय तो, सभी आश्रमों का सम्भव मान्य है। हा यह अवश्य है कि वही मान्य का प्रत्यक्ष प्रधानता मिली है और वही अग्र गुरु। जय सभी आश्रमों की परिणति स यास में होती है वय ही सभी पुरोपायों की परिणति मान्य में होती है।

आश्रम व्यवस्था एक बार धर्म परम्परा में सम्बन्धित रही है और दूसरी बार, यय परम्परा में। चारों आश्रमों का चार प्रकार का यय माना गया है। ब्रह्मचर्य-
~~आश्रम को मान्य-यय की व्यवस्था माना गया है।~~ ब्रह्मचर्य आश्रम को तान यय की व्यवस्था माना गया है क्योंकि इस व्यवस्था में यय आत्म नियन्त्रण तथा तान का

दीक्षा होता है। गृहस्थाश्रम को वययय कहा गया है। गृहस्थाश्रम में अय और काम की साधना करता हुआ ययित पत्नी सतान कुल भाचाय अतिथि तथा दवा के प्रति अपन दायित्व को निभाता है। गृहस्थाश्रम इस प्रकार निम्बाय सवा की व्यवस्था है और नि स्थाय सवा के द्वारा ही ययित ममाज के प्रति अययय यागययन दत्ता है। वानप्रस्थ आश्रम, एक बार धर्म और काम की त्याग की तथा, दूसरी ओर, उय अतिम यय की तयारा हो जा स यास आश्रम में पूण हाती है। स यास आश्रम में परमययित के प्रति सवाययन करने ययित तानभवत हा जाता है।

स यास एक बार सम्पूण याग तथा दूसरी ओर आत्माहति की अवस्था है। आत्मा-हति का गथ है आत्मा की जाहति ययान पूणत्व की प्राप्ति के यये आत्मा की परमात्मा के प्रति पूण तथा निरयय प्रपति। आत्मानुति पूण व ना वच्छा में उत्तयन हाती है। हिन्दू विचारधारा में पूणयय उच्चतम उद्दश्य है। पूणयय मानवी नहीं

जीवन में अय तथा काम की प्रधानता बढ़ जाती है ययानि य और काम ययित तथा समाज की आनुययितता के जग है। अय और काम ययित तथा समाज की ययानुययिता के गारोयय दहिय तथा मानिय आपार है। ययित और समाज के लिय उयरी उत्ति अभिययित जाय यय है तने धर्म द्वारा निययित करने का प्रयत्न किया गया है। अय और काम का धर्म तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा मानव-जीवन में इस प्रकार समययय किया गया है कि उनकी उचित अभिययित से भाग्य तथा समाज की दह रक्षा स्थायित्व, यद्वि तथा दिवस मिल जा प्रत्यय ययित के ययितत्व के जनुरूल हो। धर्म तथा आश्रम के द्वारा अय और काम की अभिययित, ययित में सजग आत्मनियन्त्रण तथा आत्मययति को प्रोत्साहित करती है। इस सजग आत्मनियन्त्रण तथा आत्मययनिमें मान्य तथा उयका साम्यनिय आनुययितता की एतिहासिकता के बीज निहित है—प्रभ यही पण्ड ७७

मानवाय एषणा है जो पुरुष को पुरुषात्तमत्व की ओर ले जाती है। सत्यास आश्रम में या अविन श्रमसमारम आत्मा के स्थान, महत्त्व और अर्थ को समझकर अपने का मोक्ष के लिये तैयार करता है। इस प्रकार चारों आश्रमों में जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति का ज्ञान, कर्म, भक्ति व प्रति आत्मसमर्पण करना पड़ता है। प्रत्येक आश्रम में सम्बंधित ज्ञान, उस आश्रम के उद्देश्य का व्यक्त करता है। यहाँ में ज्ञान कि पहले कहा जा चुका है त्याग तथा समर्पण की भावना रहती है। आश्रम का ज्ञान मानवर आश्रम के उद्देश्य के प्रति व्यक्ति में समर्पण की भावना ज्ञान का प्रयास किया गया है। आश्रम व्यवस्था में ज्ञान कर्म और भक्ति के प्रति श्रमश्रम अपने को समर्पित करता हुआ व्यक्ति एक ओर जैविक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और दूसरी ओर जीवन के परम उद्देश्य मोक्ष का प्राप्त करता हुआ पूर्णत्व का प्राप्त करता है।

शास्त्र के अनुसार आश्रम व्यवस्था का निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों में युग में हुआ है यद्यपि इनका उत्पत्ति पाणिनि तथा बौद्धिक के युग में भी मिलता है। धर्म शास्त्रों में प्रत्येक आश्रम के धर्म का विस्तृत निरूपण मिलता है^१। पारम्भ में तीन आश्रमों का ही वर्णन मिलता है। छात्याय उपनिषद् में धर्म के तीन स्तरों (आचार्यकुलवान गाहस्थ्य जीवन तथा तप) के रूप में केवल तीन ही आश्रमों का वर्णन मिलता है। मनुस्मृति में भी विद्वानों का ऐसा मत है कि तीन ही आश्रमों का निरूपण हुआ है। हिंदू विचारधारा में तीन आश्रमों का निरूपण दो दृष्टिकोणों से किया गया है। एक, ज्ञानप्रस्थ और सत्यास वस्तुतः एव ही आश्रम में आते हैं। अतः उक्त एक ही आश्रम माना जा सकता है। दूसरे जब सत्यास में सम्पूर्ण त्याग हो जाता है और व्यक्ति का अपना लिये तथा समाज के लिये अस्ति व हो समाप्त हो जाता है तो मित्रातत सत्यास आश्रम का अस्तित्व ही रहता है। इसी कारण एक विचारधारा यह भी रही है कि सत्यास वस्तुतः आश्रम ही रहती है। इसी लिये, चारों के स्थान पर तीन आश्रमों का वर्णन मिलता है। पारम्भ में ब्रह्मचर्य गाहस्थ्य ज्ञानप्रस्थ तथा सत्यास के अनुक्रम का ही वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य गाहस्थ्य ज्ञानप्रस्थ तथा सत्यास के अनुक्रम में आश्रमों का वर्णन उपनिषद् में उत्तरकाश में मिलता है^२।

जिस आयु में व्यक्ति जिस आश्रम में प्रवेश करे वह मतमात्तर का विषय रहा है। जिस अवधि और जिस आयु तक व्यक्ति विभिन्न आश्रमों में रहे यह भी मतमात्तर का विषय है। जिस आयु में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर इसका विभाजन अल्प अल्प वर्गों के लिये अल्प अल्प किया गया है। जिसका वर्णन आगे चल कर उक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ में किया जायगा। इस विषय में सहाय्य साधारण

१ गोमले बी० जी० चट्टी पृष्ठ ३॥

२ प्र०, पी० एच० चट्टी पृष्ठ ४०

नियम यह है कि जब व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा समाप्त हो जाय और व्यक्ति वैवाहिक जीवन का दायित्व सम्भालने के योग्य हो जाय तब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। जब बाल में भुर्रिया पड़ने लगे बाल सफा होना लग और व्यक्ति पोषा का दाय ले, तब स्त्री के साथ वनवासी जीवन व्यतीत कर और उस प्रकार, धीरे धीरे, अपने का सम्पूर्ण त्याग तथा आत्मानुति के लिये तैयार करे। वात्स्यायन ने सौमल की स्वामाविक आयु का तीन काल (बाल्य, यौवन तथा स्वविर) में बाटा है। वात्सकाल, वात्स्यायन के अनुसार, विद्या ग्रहण का काल है, यौवन काल की स्वामाविक एषणा की सन्तुष्टि का और स्वविरकाल (वृद्धावस्था) धर्म तथा भाग्य की साधना का। एतद्भिन्, साथ ही साथ, वात्स्यायन ने यह भी कहा है कि मानव जीवन अक्षिप्त तथा अनिश्चित है। अतः, जब अन्तर मिले तभी विद्या, धर्म, धन तथा मोक्ष का साधन करना उचित है। हमारा तात्पर्य यह है कि त्रिवर्गी पुष्पायों (धर्म, अर्थ और काम) का उचित समन्वय करके उनकी इस प्रकार साधना करनी चाहिये कि उनमें से कोई भी विनाश का कारण न बन। मनु ने भी इसी पर जोर दिया है कि त्रिवर्ग पुष्पाय के उचित समन्वय से ही व्यक्ति का उच्चतम लाभ होता है^१।

इन चारों आश्रमों का अनुक्रम से पालन करना चाहिये या नहीं यह भी मतमात्र का विषय है। मनु ने गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति दी है। जाबाल श्रुति से उद्धरण देते हुए मनु के भाष्यकार मुत्सूक भट्ट ने यह लिखा है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पूर्ण होना पर व्यक्ति को प्रवेश ग्राह्य, वात्स्यायन तथा सत्यास आश्रमों में प्रवेश करना चाहिये या यदि व्यक्ति चाहता है वह ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद या गृहस्थाश्रम के बाद सीधे संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। श्रीमती दयानन्द ने केवल उसी का ब्रह्मचर्य में संन्यास आश्रम में जान की राय दी है जिसमें इस साधना की क्षमता हो। याज्ञवल्क्य ने भी गृहस्थाश्रम से संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होना की अनुमति दी है^२। लेकिन, दूसरी ओर धर्मशास्त्रों में यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रमाण चार आश्रमों के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये क्योंकि मातृ का भागी बही व्यक्ति होता है जो आश्रमों का अनुक्रम से अनुसार जीवन व्यतीत करता हुआ, याज्ञिक जीवन व्यतीत करता है और जितना ही होता है और जीवन का अन्तिम दिन मिश्रित नया परिश्रान्त में व्यतीत करता है।

हिन्दू विचारधारा में साधारणतः चारों आश्रमों का अनुक्रमानुसार जीवन व्यतीत करने का महत्ता स्वीकार की गई है। सीधे ब्रह्मचर्य में संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति अपवाद के रूप में केवल विशेष दशाओं में ही दी गई है। जीवन एक समित्व विकास है और जीवन की आवश्यकताओं तभी पूर्ण हो सकती हैं

१ मनु, पी० एच० बही पृष्ठ ७७

२ मनु बही पृष्ठ ७१

जब जिवन विवास की सभी अवस्थाओं के अनुसार जीवन व्यतीत किया जाय। जैसा कि पट्टा कहा जा चुका है ब्रह्मचर्य गृहस्थ्य वानप्रस्थ तथा संन्यास का अनुक्रम व्यक्ति के जिवन, मानसिक तथा सामाजिक विवास का आधार है। ब्रह्मचर्य आश्रम से व्यक्ति ऋषि ऋण से उन्मुक्त होता है। गृहस्थ्य आश्रम से पितृ ऋण से और वानप्रस्थ तथा संन्यास से देव ऋण से। यही तीनों ऋण सामाजिक आवश्यकताओं में वध है। अतः इनमें से किसी को भी नज़रहेल्ना नहीं की जा सकती। हा यह अवश्य है कि वानप्रस्थ तथा संन्यास को एक में मिटाया जा सकता है क्योंकि उनका उद्देश्य एक है। हिंदू विचारधारा में यह सबमाय है कि मान का जिविकारी बड़ी है जिसने संन्यास के पहले के तीनों दायित्वों का भार निभा लिया है। स्वयं मनु ने यह स्वीकार किया है कि जो व्यक्ति बिना तीनों आश्रमों के दायित्वों को निभाये मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करता है, वह ऊँचगामी होने के बजाय अधःपतित होता है।

यह इसी विचारधारा का परिणाम है कि एक ओर ब्रह्मचर्य तथा संन्यास आश्रमों को सर्वाधिक वाछनीय माना गया है और, दूसरी ओर गृहस्थ्य आश्रम को सर्वाधिक महत्ता दी गई है। न्यास के अनुसार गृहस्थ से पक्षियां पशुछां और अन्य अनेक प्राणियों का सहायता मिलती है। गृहस्थ्य आश्रम में ही वन अध तथा काम की एक साथ साधना होती है। गृहस्थ्य जीवन के दायित्वों तथा कर्तव्यों को निभाना ही सर्वोच्च धर्म है। गृहस्थाश्रम में ही गृह धर्म अध तथा काम की साधना का प्रयोग मोक्ष की साधना के लिये किया जा सकता है। गृहस्थ आश्रम वस्तुतः अन्य आश्रमों का आधार है क्योंकि गृहस्थ के ही दातृ पर ब्रह्मचारी ऋषि और देव निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक ऋणों से उन्मुक्त होने का मायम है। गृहस्थाश्रम से ही प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जिस प्रकार सभी प्राणियों का आधार वायु है उस सभी छांटी बड़ी तद्विधा का आधार समुद्र में है, वैसे ही सभी आश्रमों का आधार और दायित्व गृहस्थाश्रम से है। सभी आश्रमों के व्यक्तियों में गृहस्थ का स्थान श्रेष्ठ है क्योंकि गृहस्थ तीनों आश्रमों के व्यक्तियों का आधार प्रदान करता है। मनुस्मृति के अनुसार जिस व्यक्ति को हम गुरु में स्वीकृत गुण और परगण में नियम सुख की चाह है उसका लिये गृहस्थाश्रम का दायित्व निभाना आवश्यक है। गृहस्थाश्रम के लिये महान प्रयत्न की आवश्यकता है क्योंकि गृहस्थाश्रम का भार सगर्व ही उठा सता है¹। केवल हिंदू विचारधारा में गृहस्था

1 महाभारत में गातिपर्व में आय एक प्रसंग के अनुसार, जब समार से तप यावर युधिष्ठिर ने मयास लेने की सोची तो उनके भाइयों उनकी पत्नी तथा द्रुपामन ध्यास ने उन्हें गृहस्थाश्रम में ही रहने की सलाह दी। उनको यह दृष्टान्त सुनाया गया जिसमें कुछ ब्राह्मण कुमारों ने अल्पायु में संन्यास ले लिया था और इंद्र ने उन पर दया करके उनको यह शिक्षा दी थी कि गृहस्थाश्रम का

धर्म की पाछनीयता सापेक्ष है न कि निरपेक्ष । गृहस्थाश्रम न तो अपने में पूर्ण है और न अपने तक ही सीमित है । सभी आश्रम परस्पर निर्भर साधन हैं । एक साधन के रूप में प्रत्येक आश्रम दूसरे आश्रम से बंधा हुआ है । जीवन का साध्य है अमृतदय और निश्चयेय जिसकी चरम अभिव्यक्ति है मोक्ष । व्यक्ति अपनी जगह पर है और समाज अपनी जगह पर । गृहस्थाश्रम से व्यक्ति समाज से बंधता है । लेकिन बानप्रस्थ और संन्यास व्यक्ति को समाज से ऊपर उठाते हैं—वहां, जहां व्यक्ति का ही स्वत्व समाप्त हो जाता है और वह सर्वादिमा में लीन हो जाता है । व्यक्ति का स्वामित्व में लीन होना एक क्रमिक विकास प्रक्रिया है । आश्रमों का अनुक्रम इसी विकास प्रक्रिया की शृंखला है ।

वाचित्त्व दिये बिना संन्यास बेकार है । उस दृष्टान्त में आपे इन्द्र के बचनानुसार गृहस्थाश्रम के उचित प्रवचन पर ही सभी कुछ निर्भर है । गृहस्थाश्रम का जीवन धृष्ट और पवित्र है क्योंकि उसमें जीवन के उद्देश्य की सफलता के लिये बाधों का सामना है— प्रभू बही पृष्ठ १३

आठवा अध्याय वर्ण-व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था में धर्म व सामाजिक पक्ष की अभिव्यक्ति हुई है। जस आश्रम को, एक ओर व्यवस्था माना गया है और, दूसरी ओर धर्म माना गया है, वम ही वर्ण को, एक ओर व्यवस्था माना गया है और दूसरी ओर, धर्म। हिंदू मान्यताओं के अनुसार यकिन एक ओर गस्कारों के माध्यम में आश्रम धर्म पालन करता हुआ, सामाजीकृत होता है और जीवन के परम उद्देश्य का प्राप्ति करता है और, दूसरी ओर सामाजीकृत व्यक्ति, जपन स्वाभाविक गुणा के अनुसार, किसी न किसी वर्ण में जीवन व्यतीत करता है। समाज में व्यक्ति का जीवन, एक ओर गस्कार तथा आश्रम में वधा हुआ है और दूसरी ओर वर्ण में। आश्रम धर्म-तथा व्यवस्था यकिन में निहित त्रिभि शक्ति (धर्म) की स्वाभाविक अभिव्यक्ति व सामाजिक गचाजन की योजना पर आधारित है और वर्ण धर्म तथा व्यवस्था यकिन व स्वाभाविक गुणों व सामाजिक विकास तथा गचाजन पर है। गस्कार तथा आश्रम में व्यक्ति का स्वाभाविक त्रिभि तथा सामाजिक विकास होता है। वर्ण में यकिन का उगव स्वाभाविक गुणा व अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका (Social Status and Role) मिलता है। आश्रम व्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज में यकिन और

सामाजिक संगठन में है लेकिन वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध वर्ग तथा सामाजिक संरचना में है। वर्ण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन समूहों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में है जिनमें, अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को स्थान मिलता है वर्ण से ही व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका निर्धारित होती है। जहाँ वर्ण व्यक्ति का सामाजिक श्रेया का आधार बन जाता है। इसी कारण हिन्दू मान्यताओं में, वर्ण का सम्बन्ध कम में है। वर्ण के अनुसार कम ही व्यक्ति का धर्म है और यही मान्यता वर्ण धर्म का सार है।

अपने मूल रूप में वर्ण एक संरचनात्मक सामाजिक व्यवस्था है जिसका आधार धर्म है। समाजशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार जहाँ सामाजिक संरचना (Social Structure) में वेबे समूहों में उच्चोच्चपरम्परा (Hierarchy) पाई जाती है और इसी उच्चोच्च परम्परा के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक भूमिका तथा प्रतिष्ठा निर्धारित होता है। हिन्दुत्व में प्रतिष्ठित समाजशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार सामाजिक उच्चोच्चपरम्परा भूमिका तथा प्रतिष्ठा का आधार धर्म है। इस दृष्टिकोण में वर्ण व्यवस्था के दो अन्वयार्थित पट्टे पाए जाते हैं—एक, सामाजिक वर्ण-व्यवस्था (Social Class System) का और दूसरा वर्ण धर्म का। पट्टे का सम्बन्ध समाज में स्वभावतः उत्पन्न होने वाले वर्गों उनके स्तरों तथा उनमें निहित उच्चोच्च परम्परा में है और दूसरे का इन वर्गों की सामाजिक महत्ता और इनमें आने वाले व्यक्तियों के कर्मों में है। वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म व सामाजिक उपकरण हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक बलि का अभिव्यक्ति मिलती है।

२

वर्ण की व्याख्या

वर्ण की धारणा के समचित स्पष्टीकरण के लिए वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म का जगत्-मध्य स्पष्टीकरण आवश्यक है। संस्कृत भाषा में वर्ण शब्द के कई अर्थ मिलते हैं। श्रेया के रूप में वर्ण शब्द का अर्थ है—रचना, वर्णन करना, वर्णना लिखना, विवरण करना अंकित करना, प्रमाण करना प्रमाणित करना और प्रमाणित करना। श्रेया के रूप में, वर्ण शब्द का अर्थ है शक्ति, शक्ति, शक्ति का रंग सौन्दर्य, एक मानव-समूह गट्टरानि (Tribe) वर्ग, प्रजाति नाम, प्रकार एक अन्तर्ध्वनि एक शब्द ध्वनि प्रतिष्ठा परिमाण अन्तर्गत बाह्य स्वरूप शक्तिशाली शक्ति का विषय, वर्ण दर्शन शक्तिशाली के रूप का स्थान विषयता और धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि। वर्ण का प्रमाण शक्तिशाली शक्तिशाली शक्ति और शक्ति में स

प्रत्येक वर्ग के लिए भी किया जाता है¹ और इसी सदभ में वर्ण शब्द का सबसे अधिक प्रचलन है। वर्ण शब्द की उत्पत्ति श्री घातु से की जा सकती है। 'श्री' घातु का अर्थ है 'चुनना' या 'चुना हुआ होना'। इस सदभ में वर्ण शब्द का अर्थ हुआ वह जा औरों की अपेक्षा चुना गया हो। मानव समाज के सदभ में वर्ण का आशय है वर्ग। अतः समाजशास्त्रीय सदभ में, वर्ण शब्द का अर्थ हुआ चुना हुआ वर्ग। जहाँ चुनने का भाव है वही पूर्वता या पूर्वगामिता नम (Order of Precedence) का भाव आ जाता है। व्याकरण में अक्षरों के क्रम के लिए वर्ण-माला शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस तथ्य की पुष्टि करता है कि जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग चुनने, चुन हुए या वर्ग के अर्थ में हुआ है वहाँ पूर्वगामिता नम (Order of Precedence) का भाव विद्यमान है और जहाँ पूर्वगामिता नम का भाव है, वही उच्चा-व्य परम्परा का भाव है। इरावती वर्णों के अनुसार संस्कृत-साहित्य में मानव समाज का वर्णन करने के लिए जहाँ वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वर्ण से तात्पर्य है वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा स्थिति से²। अतः वर्ण व्यवस्था से तात्पर्य है सामाजिक वर्गों की प्रतिष्ठा तथा उनकी कार्यात्मक महत्ता के अनुक्रम से।

हिंदू समाजशास्त्र के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र—ये चार वर्ण समाज का आधार हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अपने गुण तथा कर्मों के अनुसार इन्हीं में से किसी न किसी का सदस्य होना पड़ता है और जिस वर्ण का व्यक्ति सदस्य होता है उसी के अनुरूप जीवन बिताना, व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य हा जाता है। प्रत्येक वर्ण के सदस्यों का क्या सामाजिक कर्तव्य है इसका निरूपण धर्म के द्वारा किया गया है। चारों वर्ण एक उच्चा-व्य परम्परा में गूँथे हुए हैं जिसमें ब्राह्मण की प्रतिष्ठा सर्वोपरि है और शूद्र की निम्नतम। सामाजिक प्रतिष्ठा में क्षत्रिय, ब्राह्मण से निम्न किंतु वश्य से उच्च माना गया है और वश्य क्षत्रिय से निम्न किंतु शूद्र से उच्च माना गया है।

1 आप्त, श्री० एत० वि स्तूडेन्टस संस्कृत इगलिज डिप्लोमरी पृष्ठ 403

2 सामाजिक चार वर्ण मान गए हैं यद्यपि कहीं कहीं तीन वर्णों का भी उल्लेख मिलता है और कहीं कहीं पाँच का। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में कहीं कहीं आय तथा दास और कहीं-कहीं ब्राह्मण और राजा-य या क्षत्रिय दो ही वर्णों का वर्णन मिलता है। आय समाज में ब्राह्मण, राजा-य (क्षत्रिय) और वश्य (वश्य) तीन वर्णों का उल्लेख मिलता है। शूद्र वर्ण का उत्पत्ति बाद में हुई, ऐसा माना जाता है। गुप्तनीतिसार की रचना मुसलमानों के आक्रमण काल के समय हुई है। उसमें शूद्र वर्ण से नीचे एक पाँचवा स्लेच्छ वर्ण जोड़ दिया गया है। शूद्रों के नीचे पाँचवाँ इत्यादि का एक ऐसा वर्ग रहा है जिसे साधारणतः अवर्ण माना गया है लेकिन, कहीं कहीं उसे पंचम वर्ण मान लिया गया है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्या हैं ? महाभारत के वन पर्व में यह कहा गया है कि सत्ययुग^१ में वर्ण विभाजन नहीं था। किंतु महाभारत के शांतिपर्व में आये एक प्रसंग में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के प्रश्न पर महर्षि भृगु से यह कहा गया है कि पहले ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई और बाद में क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की। ब्राह्मण का वर्ण सित (श्वेत), क्षत्रिय का लोहित (रक्ताभ) वश्य का पीत (पीला) और शूद्र का अश्वि (कृष्ण) था। इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि सम्भवतः भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार विभिन्न प्रजातियों का सम्पर्क रहा है। भारत के इतिहासकारों ने बहुधा वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रजाति को माना है जिस मानवशास्त्र के विद्याधिया ने अस्वीकार किया है। गोखले के अनुसार, जब आय भारत में आय तो सबसे पहले प्रजाति का आधार पर सामाजिक विभाजन का आविर्भाव हुआ। यही विभाजन आगे चल कर वर्ण व्यवस्था का आधार बना यद्यपि कालांतर में सामाजिक विभाजन के आधार के रूप में, प्रजाति का महत्त्व समाप्त हो गया। फिर भी प्रजाति के आधार पर उत्पन्न हुआ सामाजिक विभाजन एक समाजशास्त्रीय परिकल्पना (Sociological Fiction) के रूप में चलता रहा^२। गोखले ने एक और वर्ण की उत्पत्ति प्रजाति से मानी है और, दूसरी ओर वर्ण को बस परिकल्पना (प्रवास्तविकता) कहा है। पात्रिकर ने भी वर्ण व्यवस्था को परिकल्पना ही माना है क्योंकि उनके अनुसार इतिहास द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि चतुर्वर्णी विभाजन वास्तव में, कभी अस्तित्व में था ही नहीं^३।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं एक क्या वर्ण जारी परिकल्पना ही है या केवल मान्य है जिसकी प्राचीन हिन्दू समाजशास्त्रियों ने बस कल्पना ही की है और जिसने कभी भी व्यावहारिक वास्तविकता का रूप दिया ही नहीं है दूसरा क्या वर्ण व्यवस्था का आधार प्रजाति^४। वर्ण किस प्रकार की वास्तविकता है ? इस प्रश्न के समाधान की समस्या को आगे के लिए छोड़कर यहाँ इस प्रश्न को लेते हैं कि क्या वर्ण व्यवस्था का आधार प्रजाति^५। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत में सभ्यता की लगभग सभी मुख्य प्रजातियाँ पाई जाती हैं और यह भी सही है कि सभ्यता के जिन

१ हिन्दू विचार के अनुसार, मानव इतिहास चार युगों में बँटा हुआ है सत्ययुग प्रता, द्वापर और कलियुग। वर्तमान युग कलियुग है। सत्ययुग धर्म का स्वर्णिम युग माना जाता है। सत्ययुग से धर्म का बराबर हास होता रहा है। कलियुग अपम का युग है जिसका अभ्युत्थान कल्कि अवतार द्वारा होगा।

२ गोखले, बी० जी० यही पृष्ठ ३०

३ पात्रिकर, के० एम० हिन्दू सोसायटी एट वास रोड पृष्ठ ७

क्षेत्रों में अनेक प्रजातियों का सम्पर्क हुआ है, वहाँ सामाजिक वर्गों का विभाजन प्रजाति तथा जन्म के आधार पर हुआ है। अफ्रीका तथा अफ्रीका के सामाजिक संगठन में पाया जाने वाला वर्ण भेद और उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला सामाजिक विभाजन इसका प्रमाण है। जैसा कि महाभारत के विछले उद्धरण से स्पष्ट है प्रत्येक विभाजन (वर्ग) के वर्ण से उसके एक अलग प्रजाति होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण का वर्ण श्वेत है जिससे उसके श्वेत प्रजाति होने का, वदय का पीली अर्थात् मंगोलियन प्रजाति हान का और सूद्र का कृष्ण वर्ण हान के कारण नीग्रोइड प्रजाति का होने का आभास मिलता है। ब्राह्मण और सूद्र के प्रजातिक गठन में साधारणतया अंतर है यह डॉ० मजूमदार के उत्तर प्रदेश के प्रजाति सर्वेक्षण के परिणाम से स्पष्ट है। ब्राह्मण में सामान्यतः काकेम्बायड प्रजाति के तत्त्वा का बाहुल्य है और शूद्र में प्रायः आस्ट्रालोयड प्रजाति के तत्त्वा का¹। हटन के अनुसार चारों वर्गों का अलग अलग रंग में सम्बन्धित होना यह जाहिर करता है कि सम्भवतः वर्ण भेद कहीं पर, किसी न किसी रूप में, प्रजाति से सम्बन्धित है। विभिन्न वर्गों का अलग अलग रंग से सम्बन्धित करना मिस्र की उम्र प्राचीन प्रथा की याद दिलाता है जिसके अनुसार प्राचीन मिस्र में मिस्र निवासियों को लाहित वर्ण का, एशियानासियों को पीत वर्ण का, मिस्र के उत्तर में रहने वाला का श्वेत वर्ण का और सीधों का कृष्ण वर्ण का दिया जाता था²।

हटन ने, जैसा कि ऊपर उपर्युक्त मत से स्पष्ट है, केवल यह सम्भावना ही मानी है कि हो सकता है कि किसी रूप में वर्ण का सम्बन्ध प्रजाति से हो। लेकिन उन्होंने इस सम्भावना का केवल सम्भावना ही मानकर छाट दिया है। उन्होंने स्वयं यह लिखा है कि मिस्र प्रकार होवार्ट ने वर्ण के प्रजातीय सिद्धांत का आलोचना की है। हटन ने वर्ण को सामाजिक वर्ग माना है। हटन के शब्दों में, ऐसा लगता है कि अपने प्रारम्भिक रूप में वर्ण चार वर्ग (Classes) के जिनमें पञ्चवर्णिक समाज विभाजित था और यह सम्भव है कि वर्णिक नाल में इनमें से प्रत्येक वर्ग का जिस कि स्थापना की जा चुके। त्रैवर्णिक काल का अनुवर्णित विभाजन त्रैवर्णिक समाज के चार वर्गों में विभाजित होना का प्रतीक है³।

इरावती बर्वे के अनुसार यह मानना भूल हाजी कि वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजातिक भिन्नता के प्रति उस सजगता से हुई है जिसका आधार केवल त्वचा का वर्ण है। प्रजाति के वर्ण त्वचा के वर्ण पर ही आधारित नहीं है। यह अवश्य है कि ऐतिहासिक साहित्य में श्रावण तथा दामवर्ण का वर्णन मिलता है और श्राव्यों को

1 मजूमदार, डॉ० एन० रेनेज एण्ड क्लैस आफ इण्डिया पृष्ठ 61-64

2 हटन, ज० एच० कास्ट इन इण्डिया पृष्ठ 65

3 हटन ज० एच० वही पृष्ठ 61-65

इस वृत्तवर्णी तथा दासा का वृष्ण वर्णी चित्रित किया गया है। लेकिन साथ ही साथ, यह भी सही है कि वंशिक साहित्य में ब्राह्म (ग्राह्यण) और राजाय (क्षत्र क्षत्रिय) वर्णों का भी उल्लेख मिलता है। ये दोनों वर्ण आर्यों के ही सामाजिक संगठन में थे और इनका अंतर का आधार त्वचा का रंग न होकर, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा भूमिका का अंतर था। कहा बही आर्यों के तीन वर्णों का उल्लेख है, वही 'विश्व' को तीसरा वर्ण बढ़ा गया है। विश्व का अर्थ है सभी, सामान्य जन। इसी आधार पर वैदिक साहित्य में सम्राट का विश्वम्पति (विश्व का पति) कहा गया है। इसी सम्भव वर्ण के उम जय की साक्ष्यता स्पष्ट है जो कि जिनमें वर्ण से चुने हुए का साक्ष्य दिया गया है। ब्राह्म और राजाय का अर्थ उन वर्णों से है जो विश्व में सन्तुष्ट हुए हो बर्षान्त्वा अपन कार्यों का आधार पर स्वसाधारण (विश्व) में भिन्न हो। विश्व, जन साधारण के रूप में प्रतीक है रूपक पशुपालक, व्यापारी और सवक का। ब्राह्म, राजाय और विश्व (वश्य) आर्यों के सामाजिक संगठन में तीन वर्ण थे। इन तीनों वर्णों का लग समान दस्तावेजों की पूजा करते थे और जय न भयुक्त का समान सत्कारों का मानने थे। तीनों वर्णों का लग उन्नयन महार करत थे। इनके विभाजन का आधार प्रजाति न होकर उनका सामाजिक कार्यों की भूमिका की भिन्नता थी।

महाभारत में जिस प्रमाण में चार वर्णों का अलग अलग रंग का उल्लेख किया गया है, उसी प्रमाण में आगे चलकर वर्ण का आधार त्वचा का रंग का न मानकर कम को माना गया है। जय भृगु ने यह कहा कि वर्ण का आधार त्वचा का रंग है तो चार वर्णों का विभाजन किस प्रकार सम्भव हुआ? इस पर भृगु ने उत्तर दिया कि वर्णों में वस्तुन कोई अंतर नहीं है। पहले सारा समार ब्राह्मण वर्ण में था। लेकिन बाद में, अलग अलग वर्णों के कारण अलग-अलग वर्णों का आविर्भाव हुआ। चार वर्णों की उत्पत्ति द्विज वर्ण में से हुई है। द्विज द्विजा में भोग-भुज की घामबिज बड़ी, जिनमें प्राय और रूपना की विपत्ता की उत्पत्ति हुई जिनमें माहम और बल का आविर्भाव हुआ जो स्वयम् की ओर में उन्मीन हुए और तारा वर्ण रचना में था वह क्षत्रिय हुए। स्वयम् का अति उन्मीन स्वत तथा वृष्णवर्ण युक्त रूपक तथा पशुपालक वश्य और अमत्यप्रिय, हिंसक बिना बिना साव बिहार का आविर्भाव का लिये सभी वर्णों की अपनान का गोचर परिग्रह्य और वृष्णवर्णों में हुए। इस प्रकार, क्षत्रिय, वश्य तथा गृध्र वर्णों का लोग ब्राह्मण वर्ण का अधिकार है। वर्ण का आधार धर्म-नैम है न कि त्वचा-वर्ण।

होकाट¹ ने भी वणव्यवस्था में प्रजातिके आधार को मस्वीकार किया है और इस बात पर जोर दिया है कि चारों वर्णों के रंग का जो वणुन मिलता है उसकी प्रजातिके महत्ता न होकर, कल्याचारी महत्ता (Ritual Significance) है। चार रंग प्रतीक हैं चार कोना के। श्वेत उत्तर का प्रतीक है लाहित पूव का, पीत दक्षिण का और कृष्ण पश्चिम का। चारों वर्ण के लोग शहर या गांव के इन चारों कोना में अलग अलग रहते थे—ब्राह्मण उत्तर में क्षत्रिय पूव में, वश्य दक्षिण में और शूद्र पश्चिम में। अत्यंत शहर के बाहर रहते थे और इसी कारण उनको अकल कहा गया है। होकाट के सिद्धांत में उस कल्पना का अधिक पुन है जो हिंदू विचारधारा से मेल नहीं खाता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतीय जनता में व्याप्त प्रजातिके भिन्नता ने वर्ण विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया है। सबसे अधिक निश्चित तथ्य यह है कि हिंदू विचारधारा में जिस रूप में वर्ण का निरूपण किया गया है, उसका आधार प्रजाति नहीं है। वर्ण, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा प्रतीक हैं मानव की उन आधारभूत विनायक वक्तियों के जिनसे मानव की सामाजिक वृत्ति की अभिवृद्धि, गुण तथा कम के आधार पर वर्णों के रूप में होती है। ब्राह्मण प्रतीक है सत्त्व गुण का जिसका आधार गान तथा निमलत्व में है। हिंदू विचारधारा में गान प्रकाशवान है। अतः उसका वर्ण सित अथवा श्वेत है। शूद्र तमोगुण का प्रतीक है जिसका आधार अज्ञान में है। अज्ञान ही तम (अंधकार) है और तम का वर्ण है कृष्ण (काला)। राग कामना और आसक्ति रजोगुण के आधार हैं। लोहित रागात्मिका वृत्ति का प्रतीक है। क्षत्रिय की विधायक वृत्ति रागात्मिका है। अतः क्षत्रिय का वर्ण लाहित है। पीत लोहित तथा कृष्ण वर्णों के सम्मिलित प्रभाव में उत्पन्न होता है। जहां रज और तम मिल गए हैं वहां पीत अथवा कृष्ण वर्ण है। इस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र वर्णों के अलग अलग वर्ण उनकी वृत्तियों के प्रतीक हैं कि प्रजातिके। वर्णनात्मक स्पष्टीकरण में प्रतीकों का प्रयोग हिंदू विचारधारा की एक अभिन्न परम्परा रही है जिसका यहां भी प्रयोग हुआ है। वर्ण का जाति मानना वैसा ही धारणात्मक विभ्रम है जैसा कि वर्ण का प्रजाति मानना। भारतीय इतिहास तथा दर्शन के विद्यार्थी वृद्धा इस वर्ण और जाति विभ्रम में फँसते रह रहे हैं। उदाहरणार्थ, वे० एम० पान्तिवर ने ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र के चार जातियाँ माना है। चतुर्वर्ण व्यवस्था का उन्होंने चतुर्जाति व्यवस्था कहा है। अपनी इस मायता के आधार पर, उन्होंने यह किया है कि चतुर्वर्ण-व्यवस्था केवल एक सद्भावित्व योजना है जो वास्तविक व्यवहार से सम्बंधित न होकर जाति जाति से सम्बंधित है। इतिहास के माध्यम से यह गिढ़ दिया जा सकता है कि समाज का चार जातियाँ में विभाजन अभी भी

अस्तित्व में आया ही नहीं। पानिकर नी गाखले की भांति चतुर्वर्ण-व्यवस्था को एक समाजशास्त्रीय परिवर्तन (Sociological Fiction) मानते हैं। गोबल के अनुसार, वर्ण का मूलधार प्रजाति में है यद्यपि जसा कि महाकाया, स्तिया और पुराणों में आये वर्णन में स्पष्ट है आगे चलकर वर्ण निभाजन के आधार पर (Occupation) और प्रतिष्ठा (Status) हो गए। किन्तु दूसरी ओर गोबल ने यह भी कहा है कि प्रारम्भिक आय समान मर्यादा के आधार पर जा विशेषीकरण और उनके फलस्वरूप सामाजिक विभाजन का प्रक्रिया चल रही थी उसी ने भागे

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और गूढ़ पानिकर के अनुसार सुगठित जाति इकाइया नहीं हैं। ब्राह्मण एक हजार आठ सौ उपजातियों में विभक्त है। एतिहासिक काल में क्षत्रिय नाम की जाति पाई ही नहीं जाती है। महापद्माद के बाद से जिनमें भी परिवर्तित राज-परिवारों का वर्णन मिलता है, वे क्षत्रिय जाति के नहीं हैं। मौर्य गूढ़ य, गुप्त सम्राट् वैश्य के और भारतीय ब्राह्मण य। उदयपुर के सोसो-या राजपूत मूलतः ब्राह्मण थे। महाराजा कुम्भा ने अपने गिलालेख में अपने को विप्र कहा है। राठौर राजपूत क्षत्रिय की एक गणजाति य जिन्हें आठवों और नवों गताव्दियों में राजपूत का स्तर मिला। उसी प्रकार, वैश्य और गूढ़ भी विजातीय समूह हैं। गोदावरी के उत्तर में जो सामाजिक सत्ता राजपूतों के हाथ में रही है, गोदावरी के दक्षिण में वही सामाजिक सत्ता आंध्र के रेड्डी, तामिलनाडु के बल्लाल तथा मालाबार के नायर्स के हाथ में रही है यद्यपि, इन वर्गों की गूढ़ की ही यणी में रक्ता गया है। भारत के विभिन्न भागों में जिन जिन परिवारों ने राज्य किया है, उनमें से अधिकतर गूढ़-वर्ण से ही आये हैं। बंगाल के पालवर्गी शासक और मराठा राज-परिवार इसका प्रमाण हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि पानिकर वर्ण की जाति मानने हैं और एक वर्ण के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न अन्तर्विवाही समूहों को उपजाति। समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण से य मायतायें गलत हैं। एक जाति है न कि उपजाति—पानिकर २० एम० हिंदू सोमापटी एड पास रोड्स पृष्ठ ७, ८, ९

जसा कि पहले दिखा जा चुका है जिस समय आधे भारत में आये जग समय उनमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी जिसका आधार शिरोधार्य की आवश्यकता थी। एक ओर पौरोहित्य कम के लिये ब्राह्मणों का विशेषाज्ञ और, तात्पर्य और, कृषि, पशुपालन तथा व्यापार के लिये शत्रिया का समूह अलग अलग हो रहे हैं।

चलकर वण व्यवस्था को जन्म दिया। लेकिन, कालांतर में, धीरे धीरे जब वण ने साथ पेशा और सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार जुड़े तब, प्रसार के द्वारा वर्णों की विभाजन हुआ, और बाद में जब अनेक गणजातियों को वण व्यवस्था में मिलाया गया तथा जब साक्ष्य गणजातियों में जब संस्कार सम्बंधी तथा साम्प्रदायिक अंतर बढ़ तब वण व्यवस्था ने जाति-व्यवस्था का रूप लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन तथा बौद्ध धर्मों के माध्यम से होने वाले विरोध के बावजूद भी, ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूरे वण का अंत जाति हुआ गया था¹।

वण विषयक इस धारणा से दो मायनों में निकलती हैं—एक, वण व्यवस्था ने ही जाति व्यवस्था को जन्म दिया है और दो वण जाति को दूसरी नाम है। भारत के मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों को ये दोनों मायनाएँ प्रमाण हैं। इरावती बर्वे के अनुसार, साधारणतया वण के लिये जाति शब्द का प्रयोग किया जाता है किंतु यह प्रयोग तत्काल नहीं है क्योंकि वण और जाति, हिंदू विचार धारा में दो अलग अलग प्रमेय हैं। प्राचीनतम सस्कृत साहित्य में केवल वण शब्द का प्रयोग मिलता है और जसाकि पहले कहा जा चुका है वहीं दो वर्णों का उल्लेख मिलता है और कहीं तीन वर्णों का। चौथे वण का प्रयोग उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में मिलता है। बाद के सस्कृत पाणिनी तथा प्राकृत साहित्य में ऐन और, वण शब्द का प्रयोग मिलता है और दूसरी ओर जाति कुत्र और योनि का। इसमें सबसे अधिक प्रयोग जाति शब्द का ही मिलता है। यही जाति शब्द का प्रयोग इन समूहों के लिये किया गया है जिनका आधार जन्मात सामाजिक प्रतिष्ठा है। सस्कृत-साहित्य में जातियों का सबसे पहला वर्णन मनुस्मृति में मिलता है। मनु ने ही सबसे पहले यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति गूढ़ वर्णों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली वण शक्तिता में हुई है। मनु ने ऐसा प्रतीत होता है जाति व्यवस्था का वण व्यवस्था में फिर करने का प्रयास किया है। इस बात की सम्भावना अग्रे यह कि भारत में आर्यों के पहले ही जाति-व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। आर्यों के आगमन के बाद एक ओर आर्यों के तीन वण थे और दूसरी ओर वीरशज जाति-व्यवस्था जो गणजाति व्यवस्था में विकसित हुई थी²। एक विनिष्ट वण के रूप में वैश्यवर्ण का विकास भारत में ही हुआ। साथ ही साथ, अनेक देशज तत्त्व भी आर्यों की वण व्यवस्था में मिल गए। अतः बहुत सम्भव है कि जाति व्यवस्था में सम्पर्क हान पर आर्यों ने उग्र उग्र व्यवस्था में फिर करने का प्रयास किया जिसका फल उनको पहले ही मिला था। जाति और वण ऐसा प्रतीत होता है, दो

1 गोपले, पी० जी० तथा पृष्ठ 31

2 इस विचार के कारणों का वर्णन आदिवासी सस्कृति के संदर्भ में किया गया है।

मत है आय और दास वर्णों का उल्लेख मिलता है और बहुत सम्भव है कि अपने मूलरूप में, वर्ण शब्द का प्रयोग आय और दास के वर्ण भेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया हो यद्यपि, कालांतर में इसका प्रारम्भिक प्रयोग लुप्त हो गया और धनक समूहों के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग हान लगा हो। लेकिन, फिर भी, वर्ण शब्द का सामान्य तथा विशेष अर्थों का दृष्टिकोण से, वर्ण की जाति नहीं माना जा सकता है। बाद के साहित्य में वर्ण के आधार पर जाति की व्याख्या मिलती है जिसके कारण जाति और वर्ण के विषय में भ्रांति उत्पन्न होती रही है। अतः, जाति के आधार पर वर्ण की व्याख्या करना, वास्तव में, तब को उल्टा कर देता है।

मनु ने वर्ण के माध्यम से जाति को स्पष्ट किया है लेकिन मनु ने भी वर्ण और जाति को अलग-अलग रखा है। मनु ने, एक ओर, चार वर्णों का उल्लेख किया है और, दूसरी ओर, सत्तावन जातियाँ का। मनु के अनुसार वर्ण केवल चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिनके वर्ण साक्ष्य से जातियाँ की उत्पत्ति हुई है मनु के अनुसार, यदि किसी वर्ण का व्यक्ति अपने ही वर्ण की स्त्री से विवाह करे तो सत्तावन शूद्र वर्ण की होगी और उसका वही वर्ण हागा जो माता पिता का है। यदि कोई पुरुष अपने से एक डिगरी निम्न वर्ण में विवाह करता है (जैसे ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय स्त्री से व्याह करे) तो सत्तावन पिता के वर्ण की होती है यद्यपि उसमें माता का आ जाता है। वर्णसंकर सत्तावन तक होती है जब उच्च वर्ण का पुरुष अपने वर्ण से दो या तीन डिगरी नीचे वर्ण की स्त्री से व्याह करे (जैसे ब्राह्मण पुरुष का वैश्य या शूद्र स्त्री से या क्षत्रिय का शूद्र स्त्री से व्याह) और उच्च वर्ण की स्त्री अपने से निम्न वर्ण के पुरुष से व्याह करे। वर्णसंकर वर्ण नहीं, जातियाँ अस्तित्व में आती हैं और वर्णसंकर जातियाँ के पुनः वर्णसाक्ष्य से और नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार, वर्णों तथा जातियों के वर्ण-साक्ष्य से जातियों की संख्या बढ़ती रही है। यही से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों की धारणायें अस्तित्व में आईं। अनुलोम विवाह से तात्पर्य है पुरुष द्वारा अपने या अपने से निम्न वर्ण में विवाह करना और प्रतिलोम का अपने से उच्च वर्ण में विवाह करना। अतः, मनु के अनुसार जातियाँ अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का परिणाम हैं। इस आधार पर यह

1 मनु धी० एच० वही पृष्ठ 303-304

2 वर्ण साक्ष्य से किस प्रकार जातियाँ उत्पन्न हुई हैं मनु के आधार पर इसका कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता की सत्तावन से उत्पन्न और ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता की सत्तावन से निष्पात की उत्पत्ति हुई है। क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सत्तावन में सून जाति की, वैश्य पिता और क्षत्रिय या ब्राह्मण माता की सत्तावन से भागध और विदेह जातियाँ की उत्पत्ति हुई है—मनु वही पृष्ठ 304

कहा जा सकता है कि यह मायता निमूत है कि वर्णों के विभाजन से जातियाँ बनी या वर्ण ही कागत्तर में जाति हो गए। मनु ने वर्ण का स्थायी मानकर जातियाँ का स्पष्ट करन का प्रयास किया है न कि उन्हीं यह प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक वर्ण का प्रसार और विभाजन में उस वर्ण की जातियाँ उत्पन्न हुई हैं।

अपनी प्रजाति तथा सांस्कृतिक विजातिता के कारण कि भारत प्रारम्भ में ही गुणजातियाँ और जातियाँ का दंग रहा है। भारत में ही नहीं जहाँ भी विभिन्न जातियाँ और सम्प्रदायों का मेल हुआ है वहाँ जाति (जन्म पर आधारित समूह) और वर्ग (यह समूह जो गुण, धन या धन पर आधारित होते हैं) साथ साथ पाये गये हैं। जातियों में व्यक्ति का स्थान पूर्वनिर्धारित रहता है क्योंकि जाति में व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा जन्म ज्ञान होती है। लेकिन वर्ण में व्यक्ति का सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित होती है। वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था की अपना अधिक लचीली है और उसमें व्यक्ति का सामाजिक प्रतिष्ठा चरित्र (Molale) होता है। वर्ग व्यक्ति (व्यक्तित्व) द्वारा अर्जित सामाजिक प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः वह वर्ण व्यवस्था है जिसका आविर्भाव हिन्दू विचार धारा के आधार पर, भारत में हुआ है। हिन्दू विचारधारा आदर्शोन्मुख है क्योंकि उसका आधार धर्म की धारणा है। वर्ण-व्यवस्था एक आन्त-समाज का आन्त वर्ण व्यवस्था है। इसका अर्थ है कि जिस विचार धारा में जनता प्रतिपादित करता है न मान्यता मान्यता

सामाजिक धर्म है। मिथ्यातत्त्व जाति अलग है और वर्ण अलग। जाति जन्म से है और वर्णक्रम से। समाज में व्यक्ति की जाति निश्चित है लेकिन उसका वर्ण परिवर्तनशील। वर्ण अजित सामाजिक प्रतिष्ठा पर आधारित है जो हिन्दू मायताओं के अनुसार, क्रम पर निर्भर करती है। अतः, वर्ण के आधार पर व्यक्ति अपना वर्ण परिवर्तित कर सकता है। यही कारण है कि भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें व्यक्ति और समूहों ने स्वाजित सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर, अपने वर्ण बदले हैं।

विद्वान्मित्र ने क्षत्रिय में ब्राह्मणत्व पद प्राप्त किया था। हरिवंश पुराण के अनुसार नाभारिष्ठ के दो पुत्र जो वश्य थे, ब्राह्मण हो गए थे। राजपूताना के गोवर मवक ब्राह्मणों का पूज्य ऐसा कहा जाता है कि, एक मेर^१ था जिसकी एक मुनि ने यजुर्वेद में लीगा हो थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि बंगाल के 'यासोक्त' ब्राह्मण उस शूद्र की सत्ता है जिसको स्वयं 'यास' ऋषि ने ब्राह्मण बनाया था। शिवार्जों की क्षत्रिय वर्ण में आना एक इतिहास प्रसिद्ध तथ्य है। बंगाल की कामरूप जाति की भाग विज की श्रेणी में रखा जाता है यद्यपि, सौ साल पहले उस गौड़ों की श्रेणी में रखा जाना था^२। महाभारत के अनुगमन पर्व के एक श्लोक में यह कहा गया है कि मेरु द्विज क्षात्र पोण्ड कावशिर शौद्रिक दण्ड, दण्ड, चवरे, शर्वर, भयरे, किरान और यवन शत्यादि मूलन क्षत्रिय जातियाँ हैं जो ब्रह्मण्य की उपेक्षा करने के कारण धरती वर्तमान अधोगति (अथवा शूद्रों की स्थिति) की प्राप्ति हुई हैं। वर्तमान समय में भी साधारणतः यह विश्वास पाया जाता है कि धर्म क्रम सुधारने में उच्चतर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त की जा सकती है। आज निम्न स्तर की जातियों में जो सुधार मात्मान चल रहा है, उनमें राम मंदिर स्थापना और सात्विक जीवन विधान पर अधिक जोर दिया जा रहा है^३। भारत में निम्नवर्णी जातियों पर जो धुन है सुधारकारी दृष्टिकोण में लीनी जा रही है, उसमें बहुत ही दिव्या जाता है कि जो जाति आज निम्न समझा जाती है प्राचीन काल में वह निम्न नहीं थी। उसका स्थापन बहुत क्षत्रियों में रखा जाता है^४ या ब्राह्मणों में। उत्तर प्रदेश और राजस्थान की भाट जाति के लिए अभी हाल ही में भट्ट-ब्राह्मण शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जो इस बात का प्रतीक माना जाता है कि भाट शब्द वस्तुतः भट्ट का अपभ्रंश है और भाट वे हैं जो वाण बह्मण विस्मय मम्मट, मनु के टीकाकार बालमभट्ट तथा

१ भर गौड़ों की श्रेणी में आते हैं।

२ हला पृ० १८७० वास्तु इन इण्डिया पृष्ठ ६५

३ भट्ट, श्री० एम० टुंडस एण्ड मेजर्स आफ स्टेट्स मोबिलिटी एमांग दि घनार्म धार देहरादून की ईस्टन एन्वायोलोजिस्ट, वात्स्यम १९९१, न० ३

४ उदाहरणार्थ देखिय निवर्तनस्थ यादव द्वारा रचित यादव परिवार

नहीं है वरन् वण का आधार धर्म है। वण के निरूपण में धर्म (अर्थात् व्यक्ति तथा समाज का विधायक वृत्ति) का आधार माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय समाज के संगठन में प्रजाति, जाति और गणजाति से उत्पन्न हुान वाली विजातिता का सम्बन्ध हुआ है जिसका कारण भारत के सामाजिक संगठन में प्रजातीय, जातीय तथा गणजातीय समूहों की भिन्नता रही है। यह भी बहुत सम्भव है कि इन समूहों का एक व्यवस्था में लाने की समस्या और आवश्यकता ने ही वण व्यवस्था की धारणा का प्राप्ताहित किया हो। ऐन्ड्रिज हिन्दू विचारधारा में, वण का निरूपण जिस रूप में हुआ है उस रूप में वण न तो प्रजाति है न जाति और न गणजाति। वण इन सभी से ऊपर एक ऐसी धारणा है जिसमें ये सभी समूह समा जाते हैं। हिन्दू विचारधारा में वण विषयक दो परम्परायें मिलती हैं—एक परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वण का अस्तित्व तथा उत्पत्ति का रहस्यात्मक ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है और दूसरी परम्परा उस विचारधारा की है जिसमें वण को धर्म के आधार पर निरूपित करने का प्रयास निहित है। वण यास्या का मुख्य आधार है वण धर्म न कि जाति या प्रजाति। हा जाति, गणजाति और प्रजाति की भिन्नता तथा उनके सामाजिक सम्पर्क के सम्बन्ध से यह पर्यावरण अवश्य प्रतिबल में आता जिसकी पृष्ठभूमि में वण धर्म का प्रतिपादन हुआ है।

वण और जाति का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए एक और तथ्य पर विचार करना आवश्यक है। जाति गणजाति (Tribe) का सामाजिक, जाति जिसे अनुरूप है न कि वण का। गणजाति की भाँति, जाति जन्म और गणजाति पर आधारित एक अतिविधाही सामाजिक राजनतिक संगठन है जिसके सदस्य सिद्धांततः वण धर्म, आवागमन और पुनर्जन्म, हिन्दू संस्कारों तथा आश्रमों को मानते हैं और ब्राह्मणवादी कर्पाचार में विश्वास करते हैं। गणजाति और जाति में अंतर इतना है कि प्रत्येक गणजाति एक दान विशेष की निवासी होती है एक विशेष बोली या भाषा का प्रयोग करती है और उसी सदस्य, जाति के सदस्यों की भाँति एक पना विस्तार से ही नहीं बढ़े होते हैं। गणजाति के सम्य सभी आवश्यक पना को करते हैं और उनके सामान पना की उच्चता और निम्नता का प्रश्न नहीं रहता है। हिन्दू सामाजिक संरचना के निम्न स्तरों में अन्य एक जाति समूह पाये जाते हैं जिनके कर्प (Rituals) कमकाण्ड (I llus) और गहनार ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित नहीं होते हैं किन्तु वे गणजाति इसलिये होते हैं कि उन्हीं के सामान कृषि व्यवस्था में परम्परानुसार किसी एक पना को अपना लिया है जिस पर उनका एकाधिकार है। सामाजिकशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि जब एक गणजाति सामान कृषि व्यवस्था में एक पना पर एकाधिकार प्राप्त करके, दूसरी जाति का रूप ले ले, हिन्दूत्व का आधारभूत नियमों का धर्पा लेती है तो उन जाति का रूप मिलता है। अन्य गणजातियों में वृक्षानुसार चतुर्वर्गी विभाजन

क भाषार पर भी जातिया के उत्पन्न होने के प्रमाण इतिहास में हैं और वर्तमान आदिवासी समाज में भी। इस प्रकार गणजाति का जाति में बराबर समांतरण होता रहा है और हिंदू समाज में जातिया की सत्या बढ़ती रही है। एक ओर जातिया बढ़ती रही हैं और, दूसरी ओर जमा कि बुद्धवाणी जनी निराकार एकरवर्गवाणी प या और ब्रह्मसमाज तथा आयसमाज जस आन्दोलनों में स्पष्ट है समय-समय पर, जाति व्यवस्था का विरोध करके वर्ण सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया है। इन आन्दोलनों के द्वारा हिंदूकरण का प्रसार होता रहा है क्योंकि ये आन्दोलन जाति के तथा जादुई विश्वासों और प्रथाओं का विरोधी रहे हैं न कि हिंदुत्व का। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अजिन्तर आन्दोलनों का प्रयोग ब्राह्मण रहे हैं। उच्च निम्नस्तर की जातिया और गणजातिया ब्राह्मणों की कम-कामनी सेवा के लिए लालायित रही है। इस प्रकार धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों तथा हिंदू प्रथाओं को स्वतः स्वीकार करके गणजातिया जातियों का रूप लेती रही है। इनका एक कारण आर्थिक है क्योंकि जाति का रूप में एक पक्ष पर एकाधिकार मिलने से गणजाति को आर्थिक सुरक्षा मिलती रही है और दूसरा कारण रहा है एक वैधिक (Legitimate) धार्मिक-सामाजिक-मण्डल (हिंदू समाज) की सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में एक निश्चित स्थान पाने की प्रेरणा जो मकसदबद्ध है अनुसार सबम पाई जाती है। वर्ण सिद्धान्त में निहित धार्मिक सामाजिक प्रतिष्ठा का मिद्वान्त द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा को उच्चतर बनाने की सम्भावना और हिंदुत्व की भी त्वादी विचारधारा में गणजाति की जाति में रूपांतरित होने की और भी प्रेरणा दी। इस प्रकार गणजाति का रूपांतरण में जया जया हिंदू समाज का आकार बढ़ा, जातिया की सत्या बढ़ी जातिया में उच्च स्तर प्राप्त करने की प्रेरणा भी बढ़ी और जिनका ही यह प्रेरणा बढ़ी उत्तम ही जाति प्रथा के विरुद्ध विद्रोह भी बढ़ा। बुद्धवाद विभिन्न गणजातिया की ओर से पहला आन्दोलन था। जयो जया आन्दोलन का त्याग वर्ण सिद्धान्त की एक आत्मावाणी सामाजिक संरचना व्यवस्था के रूप में निश्चिन्त और प्रतिपादित किया गया क्योंकि हर आन्दोलन में सामाजिक-संरचना को एक प्रगतिवाणी आधार प्रदान करने की आवश्यकता पड़ी। स्वामी दयानन्द से प्रेरित भाषण यह हुआ कि वर्णव्यवस्था, धीरे धीरे कम पर आधारित एक मुपुनित्तव प्रेरित आदर्श वर्णव्यवस्था बन गई जिससे हिंदू-समाज में सामाजिक चलिचलुता प्रेरित होती रहा। अलग अलग क्षेत्रों में विभिन्न गणजातिया न विभिन्न जातिया का रूप लिया जिनमें वर्ण सिद्धान्त के आधार पर हिंदुत्व में मण्डलित किया गया। यही कारण है कि, तब आदि भारतीय जातिया नष्ट पाई जाती हैं और दूसरी ओर अनुसूचित जातिया (ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और गूड) सारे हिंदू समाज में पाई जाती हैं। हिंदू समाज ब्राह्मण जातियों क्षत्रिय जातिया, वश्य जातिया और गूड

जातियाँ म सगठित हैं क्योंकि अलग अलग प्रदेशों में अलग अलग समूहों की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के स्तर मिले। यही कारण है कि ब्राह्मण तो सारे भारत में पाए जाने हैं किन्तु वे अलग-अलग अंतर्निवासी समूहों में बँटे हुए हैं। एक ओर, आर्यों का वर्ण सिद्धांत है और दूसरी ओर, आदिवासी समूहों की वर्णजाति। जाति व्यवस्था वर्ण तथा वर्णजाति के बीच की, एक सामाजिक व्यवस्था है^१।

३

वर्ण धर्म

वर्ण धर्म वस्तुतः वह आचार है जो विभिन्न वर्ण के व्यक्तियों के लिए निरूपित किया गया है। विभिन्न वर्णों के अनुसार अलग अलग आचार नियमों का निरूपण व्यक्ति की सामाजिक वृत्ति में पाये जाने वाले अंतर के आधार पर किया गया है। इसीलिए वर्ण का आधार जन्म का न मानकर गुणानुसार वर्ण को माना गया है। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य है व्यक्ति का अभ्युदय और निश्चय जो हिंदू मान्यता में गुणानुसार वर्ण से प्राप्त होता है। अपने वर्ण के अनुसार कार्य करने से, पुत्रों में वंश द्वारा व्यक्ति का अभ्युदय होता रहता है। व्यक्ति साथ ही साथ, सभी व्यक्ति समान हैं उनमें अंतर है तो केवल गुण और वर्ण का। व्यक्ति वर्णों में विभाजित अवश्य रहते हैं पर, सभी वर्ण अयो-याधिश हैं। समाज सभी वर्णों की अयो-याधिता में निहित है। समाज में सभी वर्णों की अयो-याधिता उसी प्रकार से एकीकृत रहती है जगत् की जीव के सभी अंग प्रत्यक्ष। सभी वर्ण इस संसार में व्याप्त विराट् पुरुष के अंग हैं। व्यक्तियों की सामाजिक वृत्ति में पाया जाना वाला अंतर स्पष्ट है, पर, साथ ही साथ, वह एक रहस्य भी है—वह रहस्य जो विराट् पुरुष के रहस्य में समाया हुआ है। अतः, वर्ण का आधार एक भौतिक रहस्य है। इसी कारण हिंदू विचारधारा में, एक ओर वर्ण व्यवस्था को उस रहस्यात्मक भौतिक विराट् की सामाजिक अभिव्यक्ति माना गया है वह परस्पर समान धार अयो-याधित बँटा गया है और दूसरी ओर, व्यक्तियों में पाया जाना वाला अंतर और अनुसार वर्ण के आधार पर विभिन्न वर्णों तथा उनके आधार का निरूपण किया गया है। इसीलिए हिंदू विचारधारा में, एक ओर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति विषयक विचार मिलता है और, दूसरी ओर, वर्ण धर्म तथा सभी वर्णों के लिए समाज धर्म विषयक विचार मिलता है।

१ वर्ण जाति और वर्णजाति में जो सन्तति (Continuum) है उसका विग्रह — वर्ण, आगे चलकर आदिवासी संस्कृति के सन्दर्भ में किया गया है।

साधारणतः, चार वर्णों का प्रतिपादन मिलता है। य चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण धर्म के निरूपण में इन चार वर्णों को चार प्रकार की बतिया माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति में एक न एक वृत्ति प्रधान होती है और प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वृत्ति का पूर्ण प्रकटन तथा विकास समाज में होता है। इन चार बतियों को ब्राह्मणत्व, क्षत्रीयत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व की संज्ञाएँ दी जा सकती हैं। प्रत्येक वर्ण इस दृष्टिकोण से वह वर्ण है जिसके सदस्यों में एक वृत्ति विशेष की प्रधानता रहती है—ब्राह्मण वर्ण में ब्राह्मणत्व की क्षत्रिय में क्षत्रीयत्व की, वैश्य में वैश्यत्व की और शूद्र में शूद्रत्व की। वर्ण व्यवस्था इस दृष्टिकोण से वह सामाजिक व्यवस्था है जिसमें चार प्रधान बतियों का आधार पर व्यवस्था और समूहों का वर्गीकरण किया गया है। हिन्दू मान्यताओं में इन चार बतियों का पूर्वनिर्धारित तथा स्थायी मान लिया गया है और इस मान्यता का निरूपण अनुभूतिक तथा दार्शनिक परम्पराओं के समन्वय से किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रधान वृत्ति उसकी गुणाओं और गुण कर्म का जन्म देने हैं। इसलिए, वर्ण का आधार है वृत्ति, गुण तथा कर्म का जन्म समन्वित रूप जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति तथा वर्ण के सामाजिक गुणों तथा कर्मों में होती है। हिन्दू मान्यता में सामाजिक व्यवस्था का आधार है आधार क्योंकि व्यक्ति तथा समाज की विधायक वृत्ति धर्म है। जो नियम चारों बतियों के सामाजिक विधायक है उन्ही से मिलकर वर्ण धर्म बनता है। वर्ण धर्म के द्वारा चारों बतियों की आदर समाज में जात्य अभिव्यक्ति को निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

वर्ण व्यवस्था तथा वर्ण धर्म के आधारों की व्याख्या की चरम अभिव्यक्ति गीता में हुई है। प्रभू के अनुसार वर्ण धर्म के सिद्धान्त का जो निरूपण वर्ण धर्म और गुण गीता में किया गया है। यह सबसे अधिक अग्रगण्य, विशुद्ध और सुनिश्चित है। गीता में प्रस्तुत वर्ण सिद्धांत में प्रधान गुणों के आधार पर समाज को चार वर्णों में बांटा गया है। प्रभू के अनुसार गुण वह मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति के ज्ञान तथा मानसिक गठन में निहित क्षमताओं से उत्पन्न होती हैं। वर्ण-व्यवस्था का एक आधार सामाजिक है और दूसरा मानसिक-आचारी (Psycho-Moral)। जहाँ वर्ण का आधार गुण माना गया है वहाँ सामाजिक आधार की अपेक्षा मानसिक आचारी आधार अधिक प्रधान हो जाता है। गुणों में वर्ण-व्यवस्था का मानसिक आचारी आधार (Psycho-Moral Basis) मिलता है। गीता में, एक बार यह निरूपित किया गया है कि प्रकृति सामान्य, राजस और तामस तीन प्रवृत्तियाँ हैं व्यापक है और मारा ससार इन्हीं तीन प्रवृत्तियों तथा इनके पात प्रतिपात के कारण है और, दूसरी बार, यह दिखाया गया है कि इन्द्रियिक

जीवन से परे एक स्तर वह भी है जहाँ यह प्रवृत्तियाँ उस विराट पुरुष में ऐसे लीन हो जाती हैं जैसे सरिताओं सागर में। उस स्तर पर गुण तो रहते हैं लेकिन गुणा का इहलौकिक प्रभाव अन्धका हो जाता है। यही वह स्थिति है जहाँ व्यक्ति वर्णाश्रम से ऊपर उठकर परम तत्त्व में मिल जाता है^१। गीता के चौथे अध्याय में भगवान् कृष्ण ने कहा है "गुण-बन्धन विभाजन के आधार पर मैंने चार वर्ण उत्पन्न किये हैं। मैं चारों वर्णों का कर्ता हूँ पर भी अविनाशी और अवर्तमान हूँ क्योंकि ब्रह्म के फल में मैं तो मेरी स्पर्शा हूँ और मैं ब्रह्म मुझ स्पर्श ही करते हैं। इस प्रकार, जो मुझ अच्छी तरह जानते हैं, वे ब्रह्म-बन्धन में नहीं बंधते हैं"^२।

गीता के अनुसार सात्त्विक राजसी और तामसी भाव परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा इन भावों पर निर्भर नहीं है, बरन् ये भाव परमात्मा पर निर्भर हैं। सारा समार इन्हीं त्रिगुणी भावों से मोहित हो रहा है जिसके कारण परम अय्य (अविनाशी ईश्वर) का पहचानना बंठित है। ईश्वर इन भावों से उच्च और भिन्न है। त्रिगुणी भावों से दबो माया उत्पन्न होती है जिससे वही पार पाते हैं जो ईश्वर की शरण में जाते हैं^३। इस प्रकार, जलौकिक स्तर त्रिगुणी भावों से परे है। चौथे अध्याय में, दूसरे ढंग से इसी तथ्य पर जोर दिया गया है। कृष्ण के वचनानुसार "महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है। उसमें मैं गर्भाधान करता हूँ और उससे प्राणीमात्र की उत्पत्ति होती है सब योनियों में जिन जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है उनकी उत्पत्ति का स्थान मेरी प्रकृति है और उनमें बीजाधान करने वाला पिता पुरुष मैं हूँ। सत्त्व राजस और तामस ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर से बाधते हैं^४।

सात्त्विक, राजस और तामस गुण केवल जविक या शरीरी ही नहीं हैं। त्रिगुणी भाव अथवा ब्रह्मिया जविक भी है और मानसिक भी। गीता के अनुसार, सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश आरोग्यकर और दही का सुख तथा ज्ञान से बाधनेवाला है। रजोगुण रागरूप होने में तण्णा और आसक्ति का मूल है और वह देहधारा का बन्धन म बाधता है। तमोगुण अज्ञानमूलक है। तमोगुण देहधारीमात्र को मोह में डालता है और दही का असावधानी घालस्य तथा मित्रा का पात्र में बाधता है। सत्त्व आत्मा में शांति तथा मुक्त को रजस ब्रह्म को और तमस ज्ञान ढक कर प्रमाद को प्राप्ताहित करता है। तीनों गुणों का एक साथ सहप्रस्तित्व नहीं पाया जाता है यद्यपि तीनों इस प्रकार में विद्यमान रहते हैं क्योंकि गीता में कहा गया है कि "जब

१ गीता २/४५, ४६

२ गीता ४/१३, १४

३ शरी ७/१२, १३, १४

४ शरी १४/३, ४, ५

रजस और तमस दबते हैं तब सत्त्व, जब सत्त्व और तमस दबते हैं तब रजस और जब
 सत्त्व तथा रजस दबते हैं तब तमस उभरता है ।
 तीनों गुण अलग अलग रहते हैं ।

तीना गुण अलग अलग वस्तुतया तथा उनके लक्षणों को जन्म देते हैं। सत्त्वगुण की वृद्धि होती है जहां सब इंद्रिया द्वारा इस दृढ़ म प्रकाश और ज्ञान का उत्पन्न होता है। जहां लाम प्रवृत्ति कर्मों का आरम्भ अशान्ति और इच्छा का उदय होता है, वही राजागुण की वृद्धि होती है। तमोगुण की वृद्धि वहां होती है जहां अज्ञान, मदता, असावधानी और माह उत्पन्न होता है। सत्त्व गुण प्रधान दृष्टकारी जब मरता है तो वह उत्तम ज्ञानिया व निम्न लोका को पाता है, राजागुण प्रधान दृष्टकारी कम मरी लाक (मनुष्य लोका) तथा तमागुण प्रधान भूतयानि (पशुयानि) म जन्म पाता है। मन्वगुण स ज्ञान, राजागुण स लाम और तमोगुण स अमावधानी माह तथा अनान उत्पन्न हान है। जन्म सत्त्वगुण हो सचधेयस्वर है क्योंकि 'सात्त्विक मनुष्य ऊँच चरन है, राजसी मय म रहने हैं और अतिम गुण वाला तामसी अघाति पाते हैं'। त्रिगुण भाव से पर पारलौकिक सत्य तक व्यक्ति तमो पहुँचता है जब वह ज्ञान के द्वारा यह अनुभव कर लेता है कि गुणों के सिवा और कोई कर्ता नहीं है। गुणों से पर जा भाव है, वही परमात्मा का भाव है। गुण व्यक्ति को कम तथा सत्ता देते हैं। जन्म दृष्टकारी जन्म मनुष्य और जरा के दुःख से छूटकर तमो मास पाना जब वह दृढ़ के मय स उत्पन्न हाने वाला तीना गुणों का पार कर गुणातीत हो जाता है। गुणातीत वह है जो प्रकाश प्रवृत्ति और माह प्राप्त हाने पर दुःख नहीं मानता। अर्थात् जन्म प्रवृत्ति ज्ञान पर वह बुरा नहीं समझता और जन्म निवृत्ति हाने पर उनका आवागता नहीं करता जो जन्मसीन की भाँति स्थिर है जिस गुण विचलित नहीं करते, जो यह मानकर चलता है कि गुण ही इस ममार म कर्ता हैं और इस कारण कमल के परिणाम से विचलित न होकर स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख म मम और स्वत्व रहता है जो मिट्टी के ढेर पथर और सान को समान समझता है प्रिय-अप्रिय वस्तु प्राप्त हाने पर एक समान रहता है जिसके लिये निन्दा और स्तुति, मान और अपमान, मित्र और शत्रु समान हैं और जिसे समस्त आरम्भों का त्याग कर दिया है अर्थात् जिसमें कर्ता की भावना का लोप हो गया है।

गीता म मयास और त्याग म अन्तर किया गया है। कामना स उत्पन्न हुए
कर्मों के त्याग का ज्ञानी सयाम के नाम स जानन हैं और समस्त कर्मों क फल के
त्याग का बुद्धिमान त्याग त्याग कर्त्त हैं। दुहपारी के लिये कम का खपपा त्याग
सम्भव नहा है। अत त्यागी वह है जो कमफल का त्याग करता है। गुणातीत कम-
त्यागी नदी बरन कमफल-त्यागी है। जहा नियत कम का आवश्यक मानकर उसके

1 गीता 14, 6, 7, 8, ॥ 19
2 गीता 14, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 36, 37, 38, 39, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 51, 52, 53, 54, 55, 56, 57, 58, 59, 60, 61, 62, 63, 64, 65, 66, 67, 68, 69, 70, 71, 72, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 79, 80, 81, 82, 83, 84, 85, 86, 87, 88, 89, 90, 91, 92, 93, 94, 95, 96, 97, 98, 99, 100

1	गीता	14, 6, 7, 8, ■ 19
2	गीता	14/11 23

2 गीता 14/6, 7,
14/11 23

फल का त्याग किया जाता है, वह त्याग सात्त्विक है। जहाँ कम को दुखकारक समझ कर और बाया दष्ट के भय में कम का त्याग किया जाता है, वह त्याग राजस है और जहाँ माहृग नियम कम का त्याग किया जाता है वह त्याग तामस है। गुणा तीत वह है जो सात्त्विक त्याग करता है। इससे यह निष्पन्न निश्चयता है कि गुणानुसार कम मानव जीवन का एक स्थाई सत्य है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ज्ञान ज्ञेय और परिणता कम प्ररणा के तीन तत्त्व है और इन्द्रिय, त्रिया तथा कर्ता कम के तीन अंग हैं। ज्ञान तथा ज्ञेय की महायता से ही व्यक्ति परिणता और, परिणता होने के बाद इन्द्रिय और त्रिया के माध्यम से कर्ता बनता है। व्यक्ति परिणता तथा कर्ता गुणानुसार बनता है। इसी कारण गीता में सभी कुछ त्रिगुणी भावों का विचार रखा गया है। मनुष्य भी इन त्रिगुणी भावों के विचार से मुक्त नहीं है¹।

ज्ञान कम कर्ता, बुद्धि, धृति और मुख भी त्रिगुणी भावों के विचार का परिणाम हैं। उदाहरणार्थ 'मस्त गूढ' में एक ही अविनाशी भाव और विविधता में एकता के भाव की अनुभूति सात्त्विक ज्ञान का जन्म देती है। भिन्न भिन्न भूतों में विभिन्न विभक्त भावों का दर्शन राम ज्ञान का और, क्षणभंगुर नाशवान्तरीर का आत्मा मानकर उसमें आसक्त रहने का भाव या मुक्ति तथा तत्त्व अर्थ से रहित होता है, तामस ज्ञान का जन्म देता है। पच्छा आसक्ति और रागद्वेष से रहित, नियत कम ही सात्त्विक है जबकि भोगच्छा और अहं भाव से किया कम राजस है। परिणाम हानि हिमा और गति का विचार निये बिना माहृग किया हुआ कार्य तामस है। जिसमें नियत सफलता असफलता हृष गोचर बराबर है, जो ज्ञान और अज्ञानरहित है जिसमें चेतना और उत्साह है वह कर्ता सात्त्विक जो रागी धर्मका ही इच्छा वाला सभी हिमावा मलिन हृष और गान वाला है वह राजस और जो अव्यवस्थित असंतोषी, चक्की गठ, नीच आलसी अप्रगल्भ और दीनगुनी है वह तामस है। सात्त्विक बुद्धि वही है जिस प्रवृत्ति निवृत्ति काय, अकाय भय अभय और बंधन तथा मोक्ष का उचित ज्ञान है। राजसी बुद्धि धर्म अधर्म और काय तथा अकाय का विचार करने में असमर्थ रहती है और तामसी बुद्धि अधकार में गिरी है अधर्म को धर्म मानती है। जहाँ मन प्राण और इन्द्रिया का विचार साम्यबुद्धि में कारण किया जाय वहाँ सात्त्विकी धृति होती है, जहाँ मन की आकांक्षा और धर्म काम तथा अर्थ को ज्ञानविषयक किया जाय वहाँ राजसी और जहाँ बुद्धि निद्रा भय दास्य, निराशा तथा मर्त्य का भाव हो, वहाँ तामसी धृति होती है। जिसमें अध्यात्म में प्रसन्नता आती है और दुःख का अंत होता है, जो आरम्भ में विषयमान किन्तु परिणाम में अमृत जसा होता है और जो आत्मज्ञान का

प्रसन्नता से उत्पन्न होता है, वहीं भुग साविक होता है। विषय और इन्द्रिया के समीप से जा आरम्भ में अमल ममान किन्तु परिणाम में विषयमान होता है वह राजस और जा निद्रा, आलस्य तथा प्रयास से उत्पन्न होता है तथा निमका प्रारम्भ तथा परिणाम आत्मा का माहृष्य करने वाला होता है वह सुख तामन है^१।

इस प्रकार पृथ्वी में मा स्वयं में अथवा दृवताया में, तथा कोई भी प्राणी नहीं है जो, प्रकृति में उत्पन्न इन सीमा गुणों से मुक्त हो। मनुष्य भी इनमें सुख नहीं है^२। पाप घति बुद्धि कम और सुख जिनमें मनस्य का जोड़न क्या हुआ है इन्हीं विगुणों भावा के अधीन है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव है कि विगुणी भावा में अल्प अल्प वनता है जिससे अनुसार प्रकृति कमरन होता है। स्वभाव द्वारा ही स्वयं भी उत्पत्ति पाती है। स्वयं में अनामक्ति भाव में मन जाता तो परम में जो भजना है, जिसमें सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिसमें जो सारा समार व्याप्त है। स्वयं में जो मा का साधन है वगैरि स्वयं ही स्वयं है। विगुण स्वयं में सुख पर धम में क्या अल्प है। स्वयं में जो अल्प काय करने वाले व्यक्ति का पाप नहीं जाता वगैरि जिस प्रकार अग्नि का साथ हुए रा गया है जो प्रसार भाव वगैरि का साथ दाप का मयाग है। इन स्वभावानुसार कम का सारा ज्ञान पर भी नहीं छाड़ता चाहिये। स्वभावविधि कम (गुण का अनुसार कम) हम जो एक मुख्य आधार है यह वह सीमा है जिसके द्वारा व्यक्ति अनुसृत तथा निधन की ओर अग्रसर होता है। मयास द्वारा निष्कामता जो परम निद्रि लभ मित्रा है जो अमल बुद्धि (आमक्ति से रहित बुद्धि बाता) जिहात्मा (वामना न्ति) और स्पष्टविगत (स्पष्टा रहित) होता है^३।

शास्त्रों धर्मिक धर्म जो गुरु का विभाजन उनमें स्वभावज्ञान गुणों में उत्पन्न होने वाले वगैरि का कारण है। गम (गो वभाव में कम-त-गना), गम गम, गीच गावि (गमा) आग (मरलता) गान (ब्रह्मज्ञान) गिज्ञान (अनुभव, माणा रिक गान) और आम्बिकता कायग का गीच तज धृति, दाता, युद्ध में पीठ न गितामा, दान और गामन धर्मिक, लेनी, गाम्ना और व्यापार वगैरि के तथा गम काय गुरु का स्वभावज्ञान कम^४। शास्त्र प्रतीक है गाविक घति का जोर शास्त्रों शास्त्र वह है जिसकी प्रकृति मात्तिक गान मात्तिक कम, साविक कम, माविक बुद्धि मात्तिक घति और साविक भुग का सार है। उनी प्रकार, धर्मिक और धर्म की प्रकृति राजस की ओर है और गुरु का भाव का सार।

१ गाना १९/१९-३९

२ वही १९/४०

३ वही १९/४१, ४६ ४७, ४८

४ गाना १९/४१-४४

गुण धर्म का निरूपण, इस प्रकार स्वभावगत कृतव्यों के रूप में किया गया है। इस निरूपण में स्वभावज्ञय गुण तथा कम की भिन्नता का आधार गुणानुसार माना गया है। लेकिन यह मानना भल हागी कि वण केवल कृतव्य वण धर्म स्वभावज्ञय गुण तथा कर्मों की भिन्नता पर ही आधारित है।

वण धर्म का सार ही यही है कि वण धर्म पर आधारित है न कि धर्म वण पर^१। वण धर्म में, स्वभावज्ञय गुण तथा कम की भिन्नता की जननी, विधायक वृत्ति की भिन्नता का आधार पर एक लचीली सामाजिक संरचना को प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है। वण धर्म उन कृतव्यों में निहित है जो ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य तथा शूद्र वर्ग के सदस्य अपने अपने स्वभावज्ञय गुणों के आधार पर, कम के रूप में ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ महाभारत के गाति पर्व में भीष्म के कथनानुसार शिक्षण आत्म नियंत्रण और तप ब्राह्मण के अध्ययन, जनरक्षा यज्ञ और दान क्षत्रिय के अध्ययन, दान यज्ञ और उचित साधना से धन संचय वश्य के तथा सीमा वणों की सेवा शूद्र के कृतव्य हैं। भीष्म के अनुसार शूद्र को कभी भी धन संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि धन संचय से शूद्र जय वण के लागे से उच्चतर हो जाता है। धन संचय शूद्र के लिये पाप है क्योंकि शूद्र का पावन पापण धर्म वणों का धर्म है। शूद्र तो केवल सबक है उसके पास जो कुछ भी है, वह उसके स्वामी का है। शूद्र धन पर संतुष्ट है किन्तु बिना वृत्ति मंत्रों का उच्चारण नियम^२।

महाभारत के अनुशासन पर्व में उपवास धर्म ज्ञान विवेचन, वेदविहित आचार का पालन, निरंतर वेष्ट-पाठ गृह की पवित्र अग्नि का प्रज्ज्वलित रखना, यज्ञ और अहिंसा ब्राह्मण के स्वाध्याय रक्षण, यज्ञ तथा दान के अतिरिक्त प्रारम्भ किये हुए कार्यों को पूरा करने की रीति, अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दंड देना तथा दुखी जना की सहायता के लिये तत्परता क्षत्रिय के, सच्चा व्यापार वश्य का तथा सीमा वणों की सेवा शूद्र के कृतव्य हैं^३। महाभारत में एक अन्य स्थान पर भरद्वाज का वण धर्म का महत्त्व उल्लेखित हुए महर्षि भृगु ने कहा है कि ब्राह्मण वह है जो जात धर्म तथा धर्म संस्कारों से संस्कृत किया गया है जिसका आचरण शुद्ध है वेदाध्ययन में जिसकी निष्ठा है जो नियम वृत्ति (दैनिक व्यवहार) तथा सत्य के प्रति सत्य सजग रहता है जिसके माघ गत्य दान अहिंसा अद्रोह, दया, प्रसा (शील), उपकार और तप सर्वोपेत है। इसी प्रकार क्षत्रिय वह है जो शत्रुघ्नोचित कृतव्य का पालन करने के साथ-साथ स्वाध्याय (व्याययन), दान तथा धन संचय की ओर प्रवृत्त हो।

१ प्रभू. पी० एच० बहो पृष्ठ ११८

२ प्रभू. पी० एच० बहो पृष्ठ ३०५-३०६

३ प्रभू. पी० एच० बहो पृष्ठ ३०५-३०६

क, कृपक धनोपाजन के साधनों में लगा हुआ शुद्धाचरण
है और, गूढ़ वह है जो सबभूतों, अनाचारों, अंगुलि और

म लक्षणा के आधार पर ब्राह्मण शत्रिय, वश्य और गूढ़ का
निर्णय किया गया है। भाग्यत पुराण में निरूपित वर्णों
विभिन्न वर्णों का स्वाभाविक वृत्तियाँ का जन्म तथा उनमें
विभिन्न मानसिक विशेषताएँ (Psychological Traits) हैं।
वभाव आत्म नियंत्रण, आत्म निग्रह (मितापयोग) पवित्रता
(आजक) विद्या दया मर्यादा और इस्वर निष्ठा ब्राह्मण के,
तज दान, आत्मनियंत्रण क्षमा ब्राह्मण के प्रति मित्रभाव,
या दूसरा की रक्षा का भाव क्षत्रिय के इस्वर तथा गुरु के प्रति

निष्ठा, ताना बणा का पापण उद्याग और दयाता वश्य के तथा विनम्रता पवित्रता
स्वामी के प्रति अनन्य सेवा का भाव यज (चिसम वज मन्त्र का पाठ न हा) चारी
करन की प्रवृत्ति का अभाव सत्यता और पशु तथा ब्राह्मणों की रक्षा गूढ़ के लक्षण
है। मनु ने प्रत्येक वर्ण की प्रधान वृत्ति पर वर्ण धर्म का आधारित किया है। वर्ण
पठन पाठन ब्राह्मण के लिये रक्षण क्षत्रिय के लिये वातावरण (खेती कृषिकार्य)
तय के लिये और सेवा गूढ़ के लिये उत्तम वर्ण है।
एक और विभिन्न वर्णों के लिये धर्म का अलग-अलग निरूपण किया गया है

वहा दूसरी ओर सभी वर्णों के लिए समान धर्म का भी निरूपण
किया गया है। वर्ण स्वभाव गुण धर्म के अनुसार भिन्न अवश्य
समान धर्म है, लेकिन वर्ण भिन्नता का आधार तो केवल मानव म हा है।
जन्म जीवन का उद्देश्य मानवीयता है वहा वर्ण तो केवल

मानवीयता प्राप्ति के माध्यम हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक है वहा वर्ण तो केवल
धर्म में पर उम धर्म का निरूपण किया जाय ता विभिन्न वर्ण धर्मों के साथ और
विभिन्न वर्णों के माध्यम से मानव को मानवीयता की गलत जाय। महाभारत के
गातिपत्र में भास्व के कथनानुसार शायद (अनाधी नाक) मत्स्यभाषण 'याप
(गमविभाग) क्षमा विवाहित पत्नी ग ही गतातात्ति करना गूढ़ आचरण
गम स दूर रक्षा सरलता (आजक) यज करना और मत्स्य का पापण सभी वर्णों
का धर्म है। महाभारत के अनुशासन पत्र में सभी के प्रति आतिथ्यभाव (सर्वोपनिषद्)
धर्म धर्म तथा काम की साधना और अपना अपनी मामध्य के अनुसार भिन्नान

1 प्रमू यहा पृष्ठ 318

2 यहा पृष्ठ 316

3 यहा पृष्ठ 308

सभी वर्णों का समान धर्म माना गया है। मनु ने अहिंसा, सत्य, आस्थेय, शौच, इन्द्रिय नियंत्रण, दम, क्षमा, आज्ञा और दान को सभी वर्णों का समान धर्म माना है^१।

यह पक्ष ही कहा जा चुका है कि धर्म के साथ साथ आपद्धर्म की भी धारणा मिलती है। धर्म शाश्वत है लेकिन वह देश काल की परिस्थितियों तथा

वर्ण धर्म और मर्यादाओं से पर नहीं है। देश काल की परिस्थितियों का प्रभाव आपद्धर्म इतना प्रबल है कि देश काल के अनुसार धर्म भी अधर्म हो सकता है। वर्ण धर्म भी देश काल की परिस्थितियों तथा मर्यादाओं से

उन्मुख नहीं है। आपत्ति अथवा संकट काल में यदि वर्णधर्म का पालन सम्भव न हो तो आपत्तिकालीन वर्ण धर्म (आपद्धर्म) का आश्रय लिया जा सकता है। महाभारत में आपत्तिपूर्वक यह कहा गया है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय व कर्मों का अपना सकता है या यदि क्षत्रिय कर्म उसकी सामर्थ्य के बाहर हो तो वह वश्य कर्म को अपना सकता है। यदि वश्यकर्म अपनाता भी है तो वह मरिचा नमक, तिलहन (Sesamum Seeds) गहन पर बाल धाल जानवर साड़, सहस्र भात और

पका हुआ भोजन किसी भी दशा में न लेवे। उसी प्रकार आपत्तिकाल में क्षत्रिय भी वश्य कर्म अपना सकता है। महाभारत में यह नहीं लिखा गया है कि तीनों वर्ण कर्म का अपना सकता है या नहीं? लेकिन प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत में तीनों वर्णों का किसी भी दशा में शूद्र कर्म अपनाने की अनुमति नहीं है^२।

धर्मशास्त्रों में भी वर्ण धर्म के निरूपण में आपद्धर्म को स्वीकार किया गया है। यहाँ भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण का क्षत्रिय या वश्य कर्म क्षत्रिय का वश्य-कर्म और वश्य का शूद्रकर्म अपनाने की अनुमति दी गई है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषिकार्य का अपनाते हैं तो उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन्हे किसी भी जीव का घात न पहुँच और न उसकी सेवा हो और यदि वे व्यापार कार्य का अपनाते हैं तो वे परा भोजन तिलहन नमक एवं मनुष्य रक्षा तथा सनई या उनसे बना कपड़ा एवं कद्दमूल औषधि की जड़ी बूटियाँ, पानी

गन्ध विष मांस साम सभी प्रकार के सुवासित तेन द्रव्य मराने वाले मांस शकट जगदी शोभाय पते गरज नील लाम और एक सुरवात घोषाये जानकरा के छात्रर उत सभी अनुज्ञा का व्यापार कर सकन है जिनका व्यापार करना वे पक

धर्म है। मनु के अनुसार विद्या याज्ञिक यज्ञाय भक्ति (मजदूरी) सेवा (चोरप) पशुपालन विपणि (बाजार) कृषि धति भिक्षा और कुमीनप्रति (मृत्तिका) जीवन यापन के ये सभी व्यापार, जिनका आपत्तिकाल में सभी वर्णों के लिए उचित

है। यहाँ भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण का क्षत्रिय या वश्य कर्म क्षत्रिय का वश्य-कर्म और वश्य का शूद्रकर्म अपनाने की अनुमति दी गई है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषिकार्य का अपनाते हैं तो उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन्हे किसी भी जीव का घात न पहुँच और न उसकी सेवा हो और यदि वे व्यापार कार्य का अपनाते हैं तो वे परा भोजन तिलहन नमक एवं मनुष्य रक्षा तथा सनई या उनसे बना कपड़ा एवं कद्दमूल औषधि की जड़ी बूटियाँ, पानी

गन्ध विष मांस साम सभी प्रकार के सुवासित तेन द्रव्य मराने वाले मांस शकट जगदी शोभाय पते गरज नील लाम और एक सुरवात घोषाये जानकरा के छात्रर उत सभी अनुज्ञा का व्यापार कर सकन है जिनका व्यापार करना वे पक

धर्म है। मनु के अनुसार विद्या याज्ञिक यज्ञाय भक्ति (मजदूरी) सेवा (चोरप) पशुपालन विपणि (बाजार) कृषि धति भिक्षा और कुमीनप्रति (मृत्तिका) जीवन यापन के ये सभी व्यापार, जिनका आपत्तिकाल में सभी वर्णों के लिए उचित

है। यहाँ भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण का क्षत्रिय या वश्य कर्म क्षत्रिय का वश्य-कर्म और वश्य का शूद्रकर्म अपनाने की अनुमति दी गई है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषिकार्य का अपनाते हैं तो उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उन्हे किसी भी जीव का घात न पहुँच और न उसकी सेवा हो और यदि वे व्यापार कार्य का अपनाते हैं तो वे परा भोजन तिलहन नमक एवं मनुष्य रक्षा तथा सनई या उनसे बना कपड़ा एवं कद्दमूल औषधि की जड़ी बूटियाँ, पानी

गन्ध विष मांस साम सभी प्रकार के सुवासित तेन द्रव्य मराने वाले मांस शकट जगदी शोभाय पते गरज नील लाम और एक सुरवात घोषाये जानकरा के छात्रर उत सभी अनुज्ञा का व्यापार कर सकन है जिनका व्यापार करना वे पक

धर्म है। मनु के अनुसार विद्या याज्ञिक यज्ञाय भक्ति (मजदूरी) सेवा (चोरप) पशुपालन विपणि (बाजार) कृषि धति भिक्षा और कुमीनप्रति (मृत्तिका) जीवन यापन के ये सभी व्यापार, जिनका आपत्तिकाल में सभी वर्णों के लिए उचित

१ प्रभू, पी० एच० पृष्ठ ३०, ३०७

२ पृष्ठ ३०७

कर मरत हैं। अकाल या निरीह आवश्यकता के पड़ने पर, यदि माजन के न मिलने पर जीवन का ही खतरा हो तो भाग्य के रूप में चाण्डाल से भी गाय या मुत्ता स्वीकार करने में पाप नहीं लगता है—बस ही जन्म आकाश पर कभी भी कीचड़ की छाप नहीं लगती है। हाँ, यह अवश्य है कि किसी भी दशा में किसी भी वर्ण के व्यक्ति का अपने से उच्च वर्ण के काम का नहीं अपनाना चाहिए^१।

वर्ण धर्म का स्वधर्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है और इस रूप में वर्ण धर्म के प्रति यह धारणा रही है कि अपने वर्ण का धर्म दूसरे वर्ण के वर्ण धर्म और धर्म में नहीं सम्मिश्रित है। यदि व्यक्ति अपने वर्ण के धर्म की अपूर्ण स्वधर्म साधना कर पाता है और दूसरे के वर्ण-धर्म की साधना करने की उमम मनना भी है, तो भी उस अपने ही वर्ण के धर्म को अपनाना चाहिए। वर्ण के अनुसार काम के प्रति निष्ठापूर्वक समर्पण वर्ण-धर्म का मुख्य आधार है। गीता में निष्काम कामयोग के जीवन-दान की पद्धति में इसी पर जोर दिया गया है और महाभारत में अनेक प्रसंगों के द्वारा इस स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

महाभारत के वन पर्व में उक्त धर्म-व्याप^२ की कथा आई है जिसमें कौणिक नामक तपस्वी ब्राह्मण ने वर्ण तथा धर्म की सिखा ली थी। ब्राह्मण ने जब यह आश्चर्य प्रकट किया कि व्याप को धर्म व्याप क्या कहा जाता था तो व्याप ने उत्तर दिया, 'जिम काम के लिए सज्जनवर्ती ने मुझे काम दिया है मैं उसमें रहूँ मैंने अपना जीवन अपने उच्च वर्ण के लोभ तथा वद्धा के लिए अर्पित कर दिया है निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी एक व्यक्ति आचारणीय हो सकता है चाहे काम या काम में वह अधिक ही क्यों न हो। प्रारम्भ में अविज्ञान है पूर्वजन्म के कर्मों के परिणाम से हठवारा पाना बटित है मरने के बाद भी पूर्वजन्म के कर्मों तथा पापों का परिणाम है लेकिन अधिक ता बल साधन मात्र हैं क्योंकि जिसका वय होता है, वह भी उच्च पूर्वजन्मों के प्रभाव के कारण होता है उसमें ग प्रथम

१ प्रभु, पी० एच० ३०३ ३७७

२ व्याप उस कहत है जिसका काम जानवरों और पक्षियों को पकड़ना उनका पथ करना और मान बचना है। धर्म व्याप सना का प्रयोग प्रभाव है उस व्याप का जो धर्म के धर्म को समझता था और जिसका आचरण धर्मानुसार था। धर्म-व्याप व्याप काम को प्रारम्भ समझ कर करता था। यह सत्यभाषी था उसमें किसी के प्रति द्वेष नहीं था अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह निष्ठा तथा दान किया करता था देवों, अनिष्टियों और मृत्यों का तथा म जो बच रहता था, उसीपर वह अपना जीवन व्यतीत करता था, उसमें किसी के प्रति घणा का भाव न था और न वह कभी किसी को माराई करता था।

अपने कर्मों के प्रभाव में है। इसलिए यह देखना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि किस प्रकार कम प्रभाव की दूर किया जा सकता है। दान, सत्यता, गुरु की सेवा, अपने वंश धर्म के प्रति निष्ठा, सदाचार, अहंकार से मुक्ति और निष्काम सम्भाषण इत्यादि कम प्रभाव से मुक्त होने के अनन्त साधन हैं। हमारे कर्मों की अच्छाई तथा बुराई का विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लेकिन, महान गौरव उस ही मिलता है जो अपने वंश धर्म (स्वधर्म) में रत रहता है। धर्म-साधन वंश धर्म के इस विस्फरण का सुनकर ब्राह्मण को यह निश्चय हो गया कि अपनी कर्तव्यपरायणता के कारण धर्म-साधन नहीं वास्तव में ब्राह्मण है। तपस्वी ब्राह्मण की शक्ति का दान में जो ब्राह्मण अहंकारी पापी दुःप्रवृत्ति वाला और नीच कर्मा में प्रवृत्त होता है, वह वस्तुतः गूढ़ है और जो गूढ़ सदाचारी सत्यभाषी और आत्मनिग्रही है, वह वस्तुतः ब्राह्मण है। अपने कर्म से ही वह व्यक्ति ब्राह्मण बनता है और अपने कर्म से ही वह दुर्गम को प्राप्त होता है।¹

महाभारत में आय भीम नहुष का प्रसंग¹ से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वंश धर्म, कर्म पर आधारित है न कि जन्म पर। अजगररूपी नहुष के यह पूछने पर कि ब्राह्मण कौन है, युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि ब्राह्मण वह है जिसमें सत्य, दान, क्षमा उत्तम गीत दया तापम प्रवृत्तियाँ और करुणा के भाव हों। धर्म के यह कहने पर कि ये लक्षण तो गूढ़ में भी पाये जा सकते हैं युधिष्ठिर ने कहा कि यदि यलक्षण किसी गूढ़ में विद्यमान हों तो वह गूढ़ भी ब्राह्मण है और यदि किसी ब्राह्मण में ये लक्षण अनुपस्थित हों तो वह ब्राह्मण नहीं गूढ़ है। युधिष्ठिर के कथनानुसार ब्राह्मण और गूढ़ का अन्तर उनकी अलग अलग जीवन वृत्तियों की विवेकता का पर आधारित है न कि जन्म पर। इसपर अजगर (नहुष) ने प्रश्न किया तब, जाति का अन्तर तब तक बेकार है जब तक मनुष्यों का कर्म विभिन्न वंश वृत्तियों के अनुसार न हो ?

- 1 नहुष, भीम और युधिष्ठिर का प्रसंग धनपर्व में आया है। नहुष पाण्डवों के पूज्य थे। ऋषियों के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त क्रूर था। एक बार ऋषियों से उन्होंने अपना स्वयं विचारनाया था जिससे दुखी होकर एक ऋषि ने उन्हें आप ही भी कि उनका पुनर्जन्म अजगर रूप के रूप में हो। साथ ही साथ, उन्हें यह धरदान भी दिया कि उनका उद्धार उनके वंशज पाण्डवों से होगा। जन्म में अजगर रूप के रूप में नहुष ने भीम का पकड़ लिया और अपने बल-पराक्रम के बलपूर्वक भी भीम अपने को छुड़ा न पाये। अजगर ने भीम को छोड़ने का वादा इस गन्धर्व पर किया कि उसका प्रान्तों का ठीक-ठाक उत्तर दें। भीम के उत्तर में दस वर्षों पर धर्मराज युधिष्ठिर का बुलाया गया और उन्होंने सप्त वर्ष प्रान्तों का उचित उत्तर देकर भीम को छोड़ा। अजगर का सबसे पहला प्रान्त था कि ब्राह्मण कौन ?

यज्ञगर के प्रश्न का सारांश यह निकलता है कि क्या वर्ण और जाति एक ही है ? इस पर युक्तिधर ने उत्तर दिया, 'वर्ण-मान्य के कारण किसी भी व्यक्ति की जाति निर्धारित करना कठिन है। सभी वर्णों के स्त्री पुरुष पारस्परिक सम्भाग में मिलावट कर रहे हैं और कर रहे हैं। भाषा सम्भाग मनु और जम सभी वर्णों में समान रूप से पाये जाते हैं। सभी वर्ण के लोगों का यज्ञ करने का अधिकार है। धर्म के तत्त्वदर्शियों का यह कहना है कि शीघ्र ही सत्रम अश्विक वादनीय मानवीय स्थिति है। तब, नील का विकास सत्कारा द्वारा होता है। जन्म के समय प्रत्येक मनुष्य गुरु में किसी भी प्रकार उच्च नहीं होता है^१। जातिधर्म के सम्भार के समय प्रत्येक मनुष्य की माँ उसकी सावित्री - गुरु पिता उसका आचार्य प्रत्येक व्यक्ति का गुरुत्वता उपनयन के बाद समाप्त होता है। आस्था वस्तुतः वह है जिसमें सम्भार-कृत वृत्ति (नस्वारकृत वृत्ति) पाई जाय।

महाभारत के अनुश्रवण पत्र में महेश्वर ने यह कहा था कि निम्न-वर्ण का कोई भी व्यक्ति इस जन्म में स्वधर्म का पालन करके, अगले जन्म में उच्च वर्ण का प्राप्त कर सकता है। तबिन जा व्यक्ति अपने वर्ण धर्म का पालन नहीं करता है, उसका अगला जन्म भी जन्म के निम्नवर्ण में होगा। इनप्रकार इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य उच्च वर्ण इस जन्म में नहीं करत अगले जन्म में प्राप्त कर सकता है बल्कि कि इस जन्म में वह अपने वर्ण धर्म का अनुसरण करे। इस जन्म के कम पिछले जन्मों के परिणाम हैं और जन्म छुटकारा सभी मित्र सबता है। अर्थात् उच्च वर्ण सभी प्राप्त हो सकता है जब इस जन्म में मिले बर्षों का लगन के साथ किया जाय। इस सिद्धांत के अनुसार वर्ण धर्म मुख्यतः और धर्म साधारणतः के साधन है तबिनके द्वारा तबिन प्रत्येक जन्म में उच्चतर स्तर पर सकता है। आवागमन और धर्म सतत उद्भिविधम के साधन है।

वर्ण धर्म के इस विवेचन में यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ण का आधार धर्म है और वर्ण धर्म उही एक और स्वभावजन्य गुणों से बंधा है - वही वर्ण धर्म से बंधा दूसरी धार के धर्म है। वर्ण धर्म का आधार है। तबिन जना कि पिछले विवेचन में स्पष्ट होता है धर्म का सबर में प्रकार की विचारधाराओं मिलता है। एक विचारधारा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण उसके पूर्वजन्म के धर्म-गुणों पर आधारित है और बाद में व्यक्ति इस जन्म में अपने वर्ण का बदल सकता है। दूसरी विचारधारा यह है कि पूर्व-जन्म के धर्म नहीं है। इस जन्म के बर्षों में वर्ण बनता है। महात्मा बुद्ध ने भी इस जन्म के बर्षों पर ही जोर दिया है। बुद्धवाद के सिद्धांत के अनुसार, इस जन्म के बर्षों के ही अनुसार भौतिक जीवन बनता है। जहां कि गीता में है महात्मागान्धी ने जन्म गुण नया वस्तु के

एक म मित्रा है। मन्त्रात्मागाधी के अनुसार मेरा यह विश्वास है कि जैसे प्रत्येक व्यक्ति का आनुवंशिकता म एक आकार मिलता है, वस ही उमे अपने प्रजनयिताओं (Progenitors) से कुछ विषय विशेषताएँ तथा गुण मिलत है। इस तथ्य का स्वीकार करना अपनी गति का सर्ववित्त करना है क्योंकि इससे अपनी महत्वाकांक्षाओं पर उचित रोक लग जाती है और अपनी गति के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा आध्यात्मिक उद्विग्नता का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। मने सदक वर्णाश्रम धर्म को ही अपनाया है। मन्त्रात्मागाधी न वर्ण व्यवस्था का जन्म पर आधारित एक पुष्ट पाप विभाजन की व्यवस्था मानी है क्योंकि जसा कि उन्होंने कहा है मेर सामने उच्चता तथा निम्नता का काद प्रदन नहीं है। मेरे सामने केवल कर्तव्य का प्रदन है। अतः यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वर्ण का आधार ज मजात गुण-कम है या अर्जित कम और सामाजिक प्रतिष्ठा।

महाभारत के गतिपत्र म जनक को वर्ण की वास्तविकता समझते हुए महर्षि पाराशर ने कहा कि ऋषिद ब्राह्मण सदाचारी गृध्र को भी ब्राह्मणस्वरूप मानते हैं। निम्नवर्णी व्यक्ति वर्ण-व्यवस्था म अपने का कृपा उठाने के लिए उच्च वर्णी लोगों का आचार का अनुसरण कर सकत हैं यद्यपि उह मन्त्राचारण की आज्ञा नहीं है। जनक द्वारा यह पूछ जान पर कि मनुष्यज म स दूषित होता है या कम स पाराशर ने उत्तर दिया कि एक ऋषिबान स मनुष्य दाओ स दूषित हो सकता है। फिर भी जाना म एक विषय अन्तर है। जो व्यक्ति निम्न परिवार म ज म होने पर भी निम्न कम नहीं करता है वह ज म स दूषित नहीं होता है और उच्च परिवार म जन्म ले वाला व्यक्ति यदि नीच कम करता है तो उसके कम उसे दूषित करता है। जन्म और कम म अधिकतर दूषित प्रभाव कम का ही पड़ता है।

हि दूधमप्रयोग म अनन्य एग उगाहरण मिल जात हैं जिनम जन्म की अपेक्षा कम का आधार पर वर्ण का निर्धारण किया गया है या वर्ण परिवर्तता हुआ है। रामायण और महाभारत स पता चलता है कि अपने प्रयत्ना स विन्वामित्र न ब्राह्मण पद प्राप्त किया था। परगुणम जन्म स ब्राह्मण किन्तु कम म क्षत्रिय था। महाभारत

- 1 गोवले वी० जा० इण्डियन घाट द्यू रि एजज पृष्ठ २१-३
- 2 यगिष्ठ क ब्राह्मण वर्ण स प्रभावित होकर हा विन्वामित्र न साधु बल त्याग कर साह्य वर्ण क लिए तपस्या की थी। यगिष्ठ विन्वामित्र तपस्य म इतिहासकारों न योगसंघर्ष का तथ्य को दृढ़ निश्चालन का प्रयास किया है क्योंकि यगिष्ठ ने विन्वामित्र के इस प्रयास का विरोध किया था। काफी परिश्रम के बाद विन्वामित्र को ब्राह्मण पद मिला था। लेकिन प्रभू के अनुसार यदि हम वर्णों का गतिवत् रास तथा सामस वर्णों का आधार पर विभाजित मान लें या स्पष्ट हो जाता है कि राजस मासिक प्रवृत्तियों को सहसा त्याग कर गतिवत् की अपनाया सरल नहीं है—प्रभू यही पृष्ठ ३०

में औरव पद्म के प्रमुख सेनानी द्रोणाचार्य कृपाचार्य और अश्वत्थामा जन्म से ब्राह्मण विन्तु वन से क्षत्रिय थे। देवापि सिंधुद्वीप और वीरहन्त्र क्षत्रिय राजकुमार थे किन्तु उन्हें ब्राह्मणत्व का पद मिला। इन्द्र जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी वन से क्षत्रिय माने गए। भागवत पुराण में भी वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण पाए हैं। सम्राट् शर्यापि को क्षत्रिय वर्ण में जन्म लेने पर भी ब्राह्मणत्व का पद मिला और नाभाग नामक राजकुमार को वन के छाघार पर वन्य का पद। भागवत पुराण में सम्पूर्ण गोत्र के वर्ण परिवर्तन के उल्लेख मिलते हैं। मौन्यन्य गात्र के सदस्या का ब्राह्मण वर्ण मिला यद्यपि वे मुन्गल नाम के क्षत्रिय से उत्पन्न हुए थे। सम्राट् क्षुद्रमन्त्र के सौ पुत्रों में से इन्द्राक्षी को ब्राह्मणत्व का पद मिला। पद्म पुराण के धनुर्माह महाभारत के रचयिता महर्षि उदयास असुर-क्षत्र-कुल (निम्नस्तर) में जन्म थे और वशिष्ठ वंशवा पुत्र थे। किन्तु दाना का द्विज की श्रेणी में रक्खा गया है^१। वर्ण धर्म के ही हिन्दुत्व को उसका सामञ्जस्यकारी गुण (Accommodative Quality) मिला है। यह इसी विशेषता का परिणाम है कि भगवान् रामचन्द्र जैसे क्षत्रिय को, श्रीकृष्ण जैसे याज्ञिक का शास्त्रीय जस निपात्र का गुराराम और अश्वत्थार जैसे गृध्रों का भीराबाई जैसी क्षत्राणी का, नामन्त्र जस वर्जों का रदास जस क्षत्रिय का और बहीर जस भूतलमान को हिन्दू समाज में उच्च पत्र मिला है^२। यह वर्ण धर्म में निहित आदर्श का ही परिणाम है कि ऐतिहासिक काल में अनेक परिवर्तनों तथा जातियों के वर्ण स्तर के परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

४

वर्ण असमानता

वर्ण धर्म का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उसका पूर्वनिर्धारित रूप। प्रायेण अनेक के लिए उसका वर्णधर्म अन्वेषित तथा पूर्वनिर्धारित है जिसका पालन करना उसका धर्म है। वर्णधर्म का साथ-साथ वर्ण का भी पूर्वनिर्धारित माना गया। इसकी अन्तिम अनेक वर्णव्यवस्था में पाई जाने वाली उच्च-निम्नरूपरा (Hierarchy) में मिलती है। यह इसी विचार का परिणाम है कि विभिन्न वर्णों के वर्णों के लिए विभिन्न व्यावहारिक मापदण्डों का निर्धारित किया गया है यद्यपि,

१ प्रभु पृष्ठ १०१

२ पृष्ठ ३०१

सिद्धांततः सभी वर्णों को समान माना गया है। संस्कारों में वंश वंश में भेद किया गया है और संस्कारों की विवेचना के साथ-साथ इस भेद का उल्लेख भी किया गया है। यही उनका सतिष्ठ पुनर्गठन आवश्यक है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वंश वंश के लोग का जन्म आठ ग्यारह और बारह वर्षों के अग्रिम में विद्या आरम्भ करने का विधान है। गूढ़ के लिए न तो विद्या अध्ययन का ही विधान है और न उपनयन संस्कार का ही। ब्राह्मण क्षत्रिय और वंश के लिए वंश अध्ययन की अनुमति है। गूढ़ का अध्ययन से वंचित रखा गया है। उपनयन संस्कार में प्रयुक्त होने वाले वस्त्र यज्ञोपवीत और डंड में भी वंश के अनुसार अंतर रखा गया है¹। अनुलोम विवाह के सिद्धांतों के अनुसार प्रत्येक पुरुष का अपने तथा अपने से निम्न वंश में विवाह करने का अधिकार है और प्रतिलोम विवाह के सिद्धांतों के अनुसार कोई भी पुरुष अपने से उच्च वंश में विवाह नहीं कर सकता है। इन वैवाहिक सिद्धांतों का स्वाभाविक परिणाम यह है कि जिस पुरुष का वंश जितना निम्न है उसका पत्नी चुनने का क्षेत्र उतना ही सीमित है अपने वास्तविक रूप में यह नियंत्रण सामाजिक नियोग्यता के अतिरिक्त और क्या है? जो वंश सामाजिक उच्चाच्च परम्परा के सापान में जितना निम्न है उस पर यह नियोग्यता उतनी ही अधिक लागू होती है। विवाह के द्वारा वंश शुद्धता बनाए रखने को वांछनीय माना गया है और वंशमार्ग का अवांछनीय। वंश भेद में वंशचार (Iltisam) पर अधिक जोर दिया गया है। गूढ़ के संस्कारों में वंशिक मंत्रों के प्रयोग न करने का विधान किया गया है। गूढ़ के लिए अत्यंत शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है निम्नतम। जो वंश जितना उच्च है उसके संस्कार उतने ही सभ्य वंशिक मंत्रों से विभक्त और वंशिक आदमों के अनुसार हैं। इस संदर्भ में वंशिक धर्म

1 वही 113 114 115 116

2 जहाँ एक ओर, अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह के नियमों के रूप में वंश वंश में पारिजात वाली सामाजिक नियोग्यताओं का विचार मिलता है वहाँ, दूसरी ओर जहाँ कि प्रभू न दिखाया है महाभारत में वंश अन्विवाहों के अन्वय उदाहरण भी मिलते हैं जो विभिन्न वर्णों की आधारभूत समानता का प्रतीक मान जा सकते हैं। गातु (क्षत्री) का सत्यवती (गूढ़ कन्या) से द्रुपद (क्षत्री) का गुरुतला (ब्राह्मण श्रद्धि कर्ष की कन्या) से संग्राम ययाति (क्षत्री) का वासुदेव पुरोहित मुक्ताकाश की कन्या देवप्रानी से और धर्मयज्ञ श्रद्धि का राजकुमारी मुक्ताकाश से विवाह इस तथ्य के उदाहरण हैं कि महाभारत का वंशभेद दिया है का आधार नहीं था। लेकिन साथ ही-साथ यह कहना कठिन है कि वहाँ तक यह विवाह एक सामाजिक नियम का प्रतीक है। १५२ अनुलोम प्रतिलोम सिद्धान्तों का अपवाद भी कहा जा सकता है।

विभिन्न वर्णों के लिए अलग अलग पूर्वनिर्धारित आदम है।

इसप्रकार, वर्णधर्म के निरूपण में एक छोटे मनुष्य में पाये जाने वाले गुणों तथा कर्मों के भेदों के अनुसार चतुर्वर्णों व्यवस्था को आधारतन्त्र मान लिया गया है और कम पर आर दकर उसे अतिन सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर एक लचीली वग-व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा दूसरी ओर चार वर्णों का स्थायी मानकर प्रत्येक वर्ण के लिए अलग अलग व्यावहारिक नियमों का निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। जहाँ चारा वर्णों का स्थायी मान कर, उनके लिए पूर्वनिर्धारित निर्देशों के निरूपण का प्रयास किया गया है, वहीं कम के स्थान पर जन्म का प्रधानता मिल गई है जिसके कारण वर्ण में जाति का विभक्त हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू विचारधारा में वर्ण का लेकर जन्म तथा कम सम्बन्धी द्विविधापूर्ण विचारधारा मिलता है जिसके कारण वर्ण तथा वर्णधर्म के वास्तविक स्वरूप का आकलन में सफलता नहीं मिल पाई है। एक ओर, वर्णधर्म तथा कम पर आधारित वर्ण का वह आदम ही मिलता है जिसकी यादों तथा प्रतिपादन वग, पुर्ण गीता और महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है और, दूसरी ओर, वर्ण का वह रूप है जो असमानताओं तथा निर्बोध्यताओं में सम्मिलित रहा है। वर्तमान भारत में यह द्विविधापूर्ण विचारधारा चल रही है। आयममज ने वर्ण-व्यवस्था के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया और गांधी ने उस मुमुक्षुपूर्ण बनाने का प्रयास किया। दूसरी ओर, ऐत इतिहासकार तथा विचारक हैं जिन्होंने वर्तमान जाति-व्यवस्था के आधार पर वर्ण की विवेचना करके उस शायपूर्ण ठहराने का प्रयत्न किया। वर्ण के वास्तविक स्वरूप के समझने के लिए वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितनी विचारधाराएँ मिलती हैं, उनका विवेचन आवश्यक है।

५

वर्णोत्पत्ति के सिद्धान्त

हिन्दू विचारधारा में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वर्ण-व्यवस्था को मानव-जाति का स्थायी आधार माना गया है। अतिन वर्णों की धाराणा स्थायी नहीं है। वर्णों की धारणा का हिन्दू विचारधारा में एक मूलन अविकल हुआ है। वर्ण विचार का प्रथम प्रगयन पञ्चम में हुआ है, और, बाद में समयानुसार, एक विचार का व्याख्या, दृष्टा विवेचन और परिवर्तन होता रहा। इस विचार पर, एक ओर युग युग की सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा है और, दूसरी ओर भारत की सर्वोच्च सामाजिक परिस्थिति ने इस पर प्रभाव डाला है। यह है। है जो भारत के

धम प्रत्या म निहित है। दूसरा विचार, भारत के इतिहासकारों तथा इण्डोलोजिस्ट का है। धम प्रत्या म निहित वण सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर इ होन वण के उद्भव का स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वण उद्भाव सम्बन्धी तीसरा विचार भारत के समाजशास्त्रियों का है जिसका प्रणयन अब प्रारम्भ हुआ है।

ऋग्वेद के पुरपसूक्त में एव जलोविन, रत्स्यात्मव विराटपुरुष की कल्पना की गई है। रत्सा पुरप स सार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है और सारे ब्रह्माण्ड रत्स्यात्मा ही म यही पुरप व्याप्त है। इसी पुरप के मनस से चन्द्रमा की सिद्धांत जाता स सूर्य की मुख स इंद्र और अग्नि की, दास स धाम्य की, ताभि से अतिरिक्त की सिर स आकाश की, परा स भूमि की और वाना स चारा दिनाभा की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मण वण इसी विराट पुरप का मुप है। राज्य (क्षत्रिय) इसकी मुजाय वश्य इसकी जघायें और शत्रु इसके पर है^१। पुरप सूक्त की इन पवित्रता का प्रतानात्मक जय निकाला गया है। पुरप प्रतीक माना गया है समाजकी गरीर का और मुख, बाहु जघा और पर के रूप में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा गूद्र वण समाजकी शरीर के अंग हैं। समाज म इन वर्णों का वही महत्व है जो गरीर म मुख बाहु, जघा और पर का है। इसी आधार पर यह विचारधारा मिलती है कि सभी वर्णों का यमिनवस्तुतः समान है—वस ही जस शरीर के सभी अंग। जमे गरीर का सभी अंगों का महत्व है वस ही समाज म सभी वर्णों का महत्व है। जिस प्रकार मुख बाहु जघा और पर का गरीर म उपयोगी महत्व है, उसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय, वश्य और गूद्र वर्णों का समाज म उपयोगी महत्व है। रत्सी विराट पुरप के अंगों के रूप म वर्णों की उत्पत्ति का विचार महाभाग्नी और गीता म मिलता है। उपनिषद् म पुरप का स्थान ब्रह्म ने र लिया है और वर्णों की पुरप का स्थान पर प्रजापति की कल्पना रखी गई है।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषद् म भी यही रत्स्यात्मव विचारधारा मिलती है। गणपथ ब्राह्मण में एव स्थान पर यह कहा गया है कि प्रत्येक वर्ण म पाये जान पाये अग्नि का चार विध तत्वा स चार वर्णों की उत्पत्ति हुई है। त्रिच ब्राह्मण म मानवी ब्राह्मण की द्विच क्षत्रिय म मानवी क्षत्रिय की त्रिच वश्य में मानवी वश्य की चार विध गूद्र स मानवी गूद्र की उत्पत्ति हुई है। तत्रय मन्त्रि म गूद्र का प्रजापति के चरणा म उत्पन्न हुआ माना गया है। बह्वारण्य उपनिषद् म वर्णों की उत्पत्ति के विषय म यह कहा गया है कि प्रारम्भ म केवल ब्राह्मण का अतिरिक्त और बाद वण नष्टे पा। किन्तु अब उसकी समझ न हो सकी। अतः, व्यापक की प्राप्ति के लिए

१. धाम्योऽस्य मुखमासीद बाहु राज्य कृतः ।

उरः शरस्य चक्षुः पदभ्याम शूद्रो अजायत ॥

क्षण वण की उत्पत्ति हुई। क्षत्र वण इन्द्र वरुण, शम, रुद्र, परब्रह्म शम, मलय और ईशान इत्यादि देवों में मिलकर बना। जब शम जो काम न चला तो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वान और मरु इत्यादि वरुण में विभक्त (वैदमत्त) की उत्पत्ति हुई और उससे भी काम न चलने पर पूगन देव वरुण में गूढ़ की उत्पत्ति हुई और जब इनमें भी काम न चला तो मानव-वत्प्राण के शिष्ट घट्ट की उत्पत्ति हुई। यह-दारुणवर्णनिपद के अनुसार इष्टोक्तिक चार वर्णों की उत्पत्ति चार शिष्ट वर्णों में हुई है। छात्राण्य उपनिषद् में इस रहस्यमय विचार का एक नया रहस्यमय आधार प्रदान किया गया है। छात्राण्य उपनिषद् के अनुसार किमी भी वर्ण में जन्म, पुनर्जन्म के वर्णों के अनुसार जाता है। किन्तु जो चार इन जन्म में अच्छा है उन्हें छोड़कर जन्म ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यता में मिश्रता और जिनका आधार दो जन्म में दूषित है उन्हें बाला जन्म कुला सुवर या गूढ़ मानि में मिलाया है।

महाभारत में कई प्रकार में वर्णों की उत्पत्ति का स्पष्ट विचार दिया गया है। महाभारत में धर्म एक शिष्टाण्य के अनुसार स्तनयुग में वर्ण चार जाति या नद महाभारत का नहीं था। शास्त्रिक में महर्षि धर्म के कथनानुसार पहल क्षेत्र ब्रह्मक्षत्री ब्राह्मण का ही उत्पत्ति हुई और बाद में चार वर्ण अन्तिम में दृष्टिमान जाय। यही वह सिद्धांत भी मिश्रता है कि एक अनुसार वर्ण माना जाता है कि भारत शास्त्र का वर्ण उक्त क्षत्रिय का क्षत्रिय, वैश्य का पीत और गूढ़ का अन्तिम है। महाभारत में यह सिद्धांत भी प्रतिपादित किया गया है कि द्वित्रिधा न ही चार वर्णों तथा शास्त्रियों की उत्पत्ति हुई है। शास्त्रिकों ने जातियों का उत्पत्ति का सिद्धांत भी महाभारत में मिलता है। महाभारत के शास्त्रिकों में पुनर्जन्म के निमित्त रहस्यमय सिद्धांत का भी वर्ण मिला है। महाभारत के अनुसार ब्राह्मण की उत्पत्ति श्रद्धा के पुत्र में गूढ़, क्षत्रिय की श्रद्धा के बाला में, वैश्य की श्रद्धा में और गूढ़ की श्रद्धा के चरणों में। शास्त्रिकों में भी धर्म के कथनानुसार प्रारम्भ में प्रजापति (या प्रजा का पति अथवा राजा है) ने कबल मण उत्पत्ति किए और उनके बतला का निधारित किया। लेकिन बाद में इन वर्णों के माय में अन्य समूह उत्पन्न हुए। महाभारत के अनुशासन पत्र में तथा पाराशर के मन्त्रा-६ यह भी स्पष्ट होता है कि महाभारत में जहां, सभी वर्णों का समान माना गया है वहां दूसरी ओर, अनुवर्ण निरन्तरता का भी वर्ण निरन्तरता का आधार माना गया है। जन्म के यह वर्णभेद का आधार क्या है पाराशर ने उत्तर दिया कि कर्मान के ही उत्पत्ति होती है और यदि भूमि और वीर अच्छे नहीं हैं तो उन भी अच्छे नहीं होंगे। महाभारत में विभिन्न वर्णों के गुण तथा

भी प्रयास मिलता है। यहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगी कि महाभारत में जहाँ सभी मनुष्यों का समान माना गया है, सभी वर्णों का प्रजापति के अंगों के रूप में माना गया है, सभी वर्णों को मूलतः समान कहा गया है और इस आधारभूत समानता के सिद्धांत का उम भीमा तब ल जाया गया है जहाँ वर्ण का आधार इहलौकिक जीवन के मस्वार गुण और कम ही हैं वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति व्यक्ति तथा समूह समूह में पाए जाने वाले गुणों का आधार आनुवंशिक भी माना गया है। गीता में, गिराट पुरुष से सत्सत् तथा वर्णों की उत्पत्ति के विचार की अलौकिक पृष्ठभूमि में स्वभावज्य गुण कम की भिन्नता को वर्ण भिन्नता का आधार माना गया है। मनु स्मृति में अलौकिक तत्त्व में निहित चार वर्णों को आधारभूत और शाश्वत मानकर, उनका आधार पर जातियों का स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार, धर्म या धर्म निहित वर्ण उत्पत्ति के सिद्धांत का एक आधार अलौकिक है और दूसरा स्वभावज्य गुण कम। इन सिद्धांतों में मानव की आधारभूत समानता स्वीकार की गई है लेकिन साथ ही साथ स्वभावज्य गुण कम की भिन्नता को भी आधारभूत माना गया है।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति से सम्बंधित अन्य विचार इंडोलॉजिस्ट (Indologists) इतिहासकारों और समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों के हैं जिन्होंने धर्म या धर्म निहित सामग्री के आधार पर वर्ण के स्वरूप और उत्पत्ति का निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस निष्ठा में जो विचार प्रतिपादित किए गए हैं उनमें सममतता नहीं है और न होने की सम्भावना ही है क्योंकि धर्मग्रंथों में निहित सामग्री का निवचन बड़े दृष्टिकोणों में किया जा सकता है। विषय वस्तु को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण में यहाँ मुख्य मुख्य विचारों का वर्णन किया जा रहा है।

प्राचीन में बड़ी तीन वर्णों (नाय, क्षत्रिय और वीश्या) का उल्लेख मिलता है और बड़ी प्राचीन क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चार वर्णों का। पुष्पगुप्त के विषय प्रजाति सम्पन्न में नायों का ऐसा मत है कि यह वर्णों की रचना है। प्रभू ने हाग (Haug) के मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि वर्ण-व्यवस्था के आधार में जाति-व्यवस्था रहा है¹।

हाग (Haug) के अनुसार यह सत्य है कि ऋग्वेद के प्रारम्भ के अंगों में जाति प्रथा का उल्लेख नहीं है और न जाति प्रथा का उस रूप में वर्णन ही मिलता है जिस रूप में उसका निरूपण पुराणों और स्मृतियों में मिलता है। यद्यपि, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वेदिक काल में जाति प्रथा का अस्तित्व ही नहीं था। हाँ यह अवश्य है कि इस काल में विभिन्न वर्णों में पाए जाने वाले अवरोध (Barriers) कम प्रबल नहीं थे जिन्होंने कि वे बाद में हो गए। इसी कारण से हटन न लिखा है

वर्णव्यवस्था अपने मूलरूप में अनावृत्त वर्णव्यवस्था (Open Class System) के समान थी। प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ऋग्वेद में जिस समाज की रूपरेखाओं का वर्णन है, उसमें वर्ण तो थे लेकिन पैसा, खान पान और विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद नहीं था¹। इसका एक सम्भव कारण यह भी हो सकता है कि ऋग्वेद मूलन आयों के ही समाज का वर्णन है। अधिकतर विद्वानों का यही मत है कि वर्णव्यवस्था के रूप में ऋग्वेदीय समाज की वर्णव्यवस्था वर्णानुक्रम को अपेक्षा प्रकृतितक गुणों पर अधिक आधारित थी।

लेकिन ऋग्वेदीयकाल की सामाजिक वर्ण व्यवस्था से सम्बंधित दो अन्य विषयों का उल्लेख यहां आवश्यक है। पहला तथ्य यह है कि तत्कालीन आयों के आधार पर वर्ण व्यवस्था अकुरित हो चली थी जिसका प्रमाण ग्रास (पुण्यहितवर्ण), जम, (अभिजात्य या ग्रासक वर्ग) और विना (जनमाधारण) नामक तीन वर्णों का अस्तित्व है। यह हम बात का प्रमाण है कि तत्कालीन आयों के आधार पर समाज में पार्यात्मक विशेषीकरण (Functional Specialization) की प्रक्रिया अस्तित्व में आ चुकी थी और आयों में प्रिवर्गी वर्ण विभाजन इसी का परिणाम था। दूसरा तथ्य यह है कि, एक ओर, मित वर्णों आयों का वर्णन मिलता है और दूसरी ओर अमित वर्णों दामों का वर्णन मिलता है। दाम या दस्यु ग्रास का प्रयोग अनाथों के लिए हुआ है। ऋग्वेद में आए वर्णन के अनुसार अनाथ वे हैं जिनकी त्वचा वृष्णारण की है, जिनकी नाक घोंकी है जिनकी भाषा समझ में नहीं आती है जिनमें बल और दृष्टि की पूर्णता नहीं मिलती है और जो विभिन्न प्रकार की प्रयासा का पात्र बन रहे हैं। ऋग्वेद में ग्रास का कोई स्पष्टीकरण नहीं मिलता है और कालान्तर में ग्रास ग्रास दाम वर्ण का अर्थ हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि दाम या दस्यु वर्ण का प्रयोग साधारणतः द्राविड तथा प्राक द्राविड जनजातियां के लिए हुआ होगा²। प्रभू के

1 प्रभू ने एक आह्वान श्रुति का कथन उद्धृत किया है जिसमें यह कहा जाता है कि 'मं ब्रवि हू, मेरे पिता बधु मेरी माता अनाथ पीसने वाली थीं' श्रुति भगु के कुछ वर्णों ऐसा कहा जाता है रथ निर्माण का वर्णन में निष्कर्ष (पृष्ठ 203)। ययानि (शत्रिय) और दययानि (आह्वान कथा), दुययानि (शत्रिय) और गहुतला (आह्वान कथा) के विवाहों में उदाहरण देकर प्रभू ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विवाह के आधार पर वर्ण-वर्ण में भेद नहीं था (पृष्ठ 204)।

2 इसी आधार पर कुछ विद्वान वर्ण की उत्पत्ति भारत में होने वाले (Contact of Ideas) से मानते हैं यद्यपि जहां कि पहले तिराया का वर्ण प्रकृति नहीं है। रिसले ने प्रजाति का वर्णन नहीं जानि का है और डा० मन्मदर ने जाति के अन्तर्गत वर्णों के मूलभूत मूलभूत (Class of Cultures and Contact of Ideas) के प्रमाण दिया है।

अनुसार, सम्भव है कि शूद्र कोई मुख्य दास गणजाति रही हो जिसके आधार पर पराजिता को आर्यों ने शूद्र की सजा दी हो और कालांतर में शूद्र शब्द का व्यञ्जनात्मक अर्थ दास (गुलाम) के अर्थ में हो गया^१। इरावती कर्वे के अनुसार शूद्र शब्द का प्रारम्भिक अर्थ और इतिहास अनिश्चित है। बहुत सम्भव है कि यह पन्ध्रें गणजातीय (Tribal) नाम रहा हो जो कालान्तर में निम्नतम सामाजिक स्तर का प्रतीक बन गया हो^२।

इरावती कर्वे ने वर्णोत्पत्ति का एक अन्य स्पष्टीकरण दिया है। उनके अनुसार इस बात की अधिक सम्भावना जान पड़ती है कि जाति के प्रकार का संगम भारत में आर्यों के पहले ही अस्तित्व में आ चुका था। जब भारत में आर्य विजितों के रूप में आए तो उन्होंने अपनी त्रिवर्णी वर्ण-व्यवस्था को देशज सामाजिक-व्यवस्था से ऊपर रखा। इसप्रकार, जब जाति और वर्ण व्यवस्था का सम्मिलन हुआ तो देशज सामाजिक-व्यवस्था में अनेक तत्व वर्ण-व्यवस्था में मिल गए। वर्ण-व्यवस्था की जड़ें देशज जाति-व्यवस्था के चार पार हाती चली गईं। ब्राह्मणों ने अपने वर्ग में अनेक देशज समूहों को मिलाया। क्षत्रियों ने अनाथ राजपरिवारों की राजकुमारियाँ से विवाह किए और विश्व धीरे धीरे श्रमिकों की अवस्था से ऊपर उठकर एक धनाढ्य वर्ग के रूप में बदल गए। बौद्ध साहित्य में वैश्य का वर्णन ऋग्वेदिक काल के विश्व (सवसाधारण कृषक और पशुपालक) के रूप में मिलकर धनाढ्य व्यापारी के रूप में मिलता है। इस काल में कृषक और पशुपालक हेतु नष्ट हो देखे जाते थे। एक सर्व साधारण श्रमिक वर्ग से आर्य विश्व का एक धनाढ्य व्यापारी वर्ग में रूपान्तर तभी हुआ जब पराजित वर्ग के लोग कठिन तथा निम्न कार्य के लिए उपलब्ध हुए^३। इस की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि आर्यों के संस्कार, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, केवल तीन ही वर्णों के लिए हैं। बिना वर्ण के लोगों को आर्यों के समाज में उच्चस्थान पान के लिए निरन्तर प्रयास करना पड़ा है। व्यापार तथा उत्पादन में लगे होने के कारण, एक और, वैश्यवर्ग का सम्पर्क श्रमिकवर्ग (शूद्र) से रहा और, दूसरी ओर, उच्चवर्ग के लोग से। सम्भवतः यह उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त करने का ही प्रयास था कि बुद्धायणी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव वैश्य तथा शूद्र वर्ग के लोगों पर ही पड़ा। आज भी हिन्दू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील जातियाँ हैं (जो अधिकतर शूद्र वर्ग में आती हैं) काय सम्भारा, जिनमें यज्ञोपवीत मुख्य है, को अपनाने पर ज़ोर दिया जाता है। वर्ण-व्यवस्था में इस पहलू पर आवश्यक स्थान पर पुन विचार किया जायगा।

१ प्रभु पी० एच बहो पृष्ठ २१३

२ कर्वे इरावती हिन्दू सासायटी एन इन्टरप्रिटेनन पृष्ठ १३

३ पन्थी पृष्ठ १७

वर्णिक युग के बाद, धीरे धीरे, वर्णों में अन्तर बढ़ता हुआ मिलता है। तत्पश्चात् ब्राह्मण में चारों वर्णों के लिए अलग-अलग सम्बोधन शब्दों के प्रयोग का विधान मिलता है। यही नहीं अलग-अलग वर्णों के लिए, अलग-अलग आकार के पिण्डों का भी विधान है। साथ ही साथ, यह भी विधान है कि ब्राह्मण गायत्री मंत्र में, शत्रिय भुव और वैश्य स्व में उच्चारण करे क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति में गूढ़ से, शत्रिय की भुव और वैश्य का स्व शब्द से हुई है। तृतीय ब्राह्मण के अनुसार, ब्राह्मण को यम का अनुष्ठान वसन्त ऋतु में, शत्रिय का भीष्म ऋतु में और वैश्य का पतञ्जल की ऋतु में करना चाहिए। इस प्रकार, ब्राह्मणवर्ग के रचनाकारों में विभिन्न वर्णों का अधिकार। कन्या और सामाजिक प्रतिष्ठाओं में अन्तर आना दिवादि पड़ता है जो संहिताओं और उपनिषदों के रचनाकारों में बढ़ता ही गया। इस काल में गूढ़ शब्द का प्रयोग चतुर्थ वर्ण के लिए बहुधा किया गया है। यहाँ गूढ़ की जनक निर्धोषता का उल्लेख मिलता है। वह मन में सम्मिलित हो हो सकता था लेकिन उन यम करने का अधिकार न था। अन्य वर्णों की सेवा ही उसका काम था। अथ वर्ण के लोग का चरणों को धोने के लिए ही गूढ़ यम में सम्मिलित हो सकता था क्योंकि वह स्वयं प्रजापति के चरणों से उत्पन्न हुआ है। इस काल में महात्मा विधान मिलता है कि ब्राह्मण शत्रिय वैश्य के वर्ण के लोगों को गूढ़ से प्रत्यक्ष जान नहीं करनी चाहिए। इस काल में बस गूढ़ स्त्री या पुरुष में विवाह करने का निषेध मिलता है।

महाभारत में जसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, एक ओर वर्णव्यवस्था का वह रहस्यमय स्पष्टीकरण मिलता है जिसका आश्रित ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है और, दूसरी ओर, स्वभावज्ञ में गुणवर्गों का आधार पर वर्णों के सामाजिक व्यवस्था का आधार प्रतिपादित करने का प्रयास मिलता है। यहाँ वर्णसावय के आधार पर जातिवर्गों को स्पष्ट करने का भी प्रयास मिलता है। यह वह प्रयास है जिसका व्यापक प्रयोग मनु ने किया है। वर्णिक काल के बाद से चार वर्णों को सामाजिक व्यवस्था का स्थायी आधार मानने का विचार मित्रता है और महाभारत इसका अपवाद नहीं है। इसी कारण महाभारत में अनुलाम विचारों को वाञ्छित प्रतिष्ठाम विवाहों का आवाहनीय माना गया है। गीता, महाभारत का है। महाभारत में स्वभावज्ञ में गुणवर्ग के आधार पर वर्णव्यवस्था को अनागत वर्णव्यवस्था के रूप में प्रतिपादित करने का जो प्रयास किया गया उसी का सुविवृत बनाने का प्रयास है। गीता में गुण आधारभूत और स्वभावज्ञ माना गया है जिसमें यह निष्कर्ष निकला, गायत्री का अनुष्ठान होना है जो कर्म द्वारा स्वयं को ज्ञान प्राप्त हो जा मान है।

1. गीता के लिए यह कहा जाता है कि गीता में उक्त

ऐतिहासिक निवचन की माक्सवादी पद्धति से प्रभावित इतिहासकार वण और जाति का वायव्यस्था के विशेष पहलू मानकर, उहे कुछ सतत, स्थायी सामाजिक सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की उत्पत्ति मानते हैं। उनके आर्थिक निवचन अनुसार धर्म प्रथा में वण व्यवस्था का निरूपण एक आदर्श के रूप में किया गया है जबकि वास्तविकता कुछ और रही है। वण व्यवस्था उनके अनुसार वस्तुतः एक सामंतवादी व्यवस्था है जिसका उद्भव कृषि के साथ-साथ होता है। वण व्यवस्था तथा धर्म एक निष्प्रवाह सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के प्रतीक हैं जो भारतीय आर्थिक इतिहास की एक विशेषता रही है। ग्राम और ग्रामीण व्यवस्था का उद्भव भी कृषि के साथ-साथ होता है। मौलाम्बी के अनुसार जब ग्राम सामाजिक राजनैतिक संगठन तथा आर्थिक उत्पादन की एक इकाई बना और ग्रामीणता को सर्वोपरिता मिली, सभी जातिप्रथा में रुढ़िवादिता आई। ग्रामीणता पर आधारित निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था (Stagnant Economy) से जो सामाजिक मकुल (Social Complex) उत्पन्न हुआ वह वण व्यवस्था पर आधारित जातिव्यवस्था थी। ऐसी दृष्टि में जातिव्यवस्था का आधार वण धर्म बना जिससे निष्प्रवाह अर्थव्यवस्था और भी निष्प्रवाह बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वण व्यवस्था तथा धर्म से विभिन्न वर्गों के बीच और विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच संतुलन बना रहा। इस व्यवस्था से ब्राह्मणों का पौराहित्य सत्ता पर एकाधिकार मिला क्षत्रियों का नैतिक तथा राजनैतिक सत्ता पर और वश्यों का आर्थिक सत्ता पर जिससे चारों वर्गों में सहयोग आवश्यक हो गया और सामाजिक संरचना सुचारु रूप से चलनी रही। जाति से सामाजिक संरचना को यदि रुढ़िवादिता मिली तो वण से कृषि तथा ग्रामीणता पर आधारित सामाजिक आर्थिक व्यवस्था की सीमाओं के अंतर्गत, सामाजिक संरचना का एक सीमित लचीलापन मिला^१।

इस दृष्टिकोण से वण व्यवस्था तथा वणधर्म भारत की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। अपनी सांस्कृतिक तथा प्रजातिगत विजातिता के कारण, भारतीय समाज बहुमुखी रहा है। वणधर्म ने इसी बहुमुखी समाज के एकीकरण

एक युक्तियुक्त दृष्टान्त का प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है जिसमें अगमानता का आधारभूत भाव निहित था और जिसे गीता की प्रतिष्ठा के कारण स्थायित्व भी मिला। गीता की रचना के पछले ही यह व्यवस्था अस्तित्व में आ चुकी थी। गीता में इस व्यवस्था को अनावृत और लघोः बनाये रखने का प्रयास है। 'गणधर्मविभाग' के सिद्धांत का आधार पर गीता ने इस व्यवस्था में उदारता लाने का प्रयास किया। तार्किक सिद्धांततः, उसमें ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी चरित्रों की सम्भावना बनी रह—गोपते पृष्ठ 33

की आवश्यकता का पूरा किया है। भारत का बहुमुखी समाज जीवन निर्वाह वाली अथ-व्यवस्था (Subsistence Economy) पर आधारित रहा है। इसके उत्पन्न व तरीके पुराने रहे हैं और यहाँ आर्थिक विकास के लिए आवश्यक धातुओं की कमी रही है। आर्थिक निष्प्रवाह न सामाजिक निष्प्रवाह का प्राप्ताहित किया और वणधम ने विभिन्न वर्गों के स्तर तथा कार्यों का पूर्वनिर्धारित करके, सामाजिक-आर्थिक निष्प्रवाहता में सहयोग दिया। निष्प्रवाह परिस्थितियाँ सामाजिक एकीकरण की आवश्यकता ने सृष्टिवादिता को जन्म दिया, जिसकी अभिव्यक्ति दृढ़ प्रत्यक्ष वगैरे सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यों का पूर्वनिर्धारण में मिले धम का धारणा के आधार पर और भी पुष्ट किया गया। मिद्वान्तन कम व आधार पर वण का परिवर्तनीय माना गया लेकिन व्यवहार में वण पूर्णनिर्धारित ही रहा। वणधम व आधार पर हिंदू समाज में अनन्य विजातीय समूह का सार्वभौमिक अवश्य हुआ लेकिन प्रत्यक्ष समूह को पूर्वनिर्धारित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रणाली में ही एक न एक स्तर मिला। गांधी व वण धम सम्बन्धी विचार निष्प्रवाह आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में ही समझे जा सकते हैं। गांधी न वणव्यवस्था को जन्म पर आधारित और पूर्वनिर्धारित अथ-व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया है और साथ ही साथ उस अथ व्यवस्था का अपमान पर जार दिया है जिसमें व्यक्ति की 'यूनितम आवश्यकताओं' हैं और उनकी प्रति उत्पादन के उन्ही प्राचीन तरीकों से हा जा निष्प्रवाह 'भारतीय आर्थिक संगठन की विशेषताएँ हैं'। गांधी न जिस अथ व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था तथा यथाश्रमव्यवस्था की कल्पना की है, उसमें धर्म, धम आरम निष्प्रवाह, अमीर-छातीति (Plutocracy) आर्थिक सत्ता सत्ताप और दरिद्रनारायण का द्वादस मजदूर हैं और यही आदम भारतीय, विशेषतः, हिंदू समाज का आदम रहा है। मार्क्सवादियों के अनुसार यह आदम उस सामन्तवादी सामाजिक व्यवस्था की उपज है जिसमें निम्न श्रौणाधिकीय स्तर व कारण, आर्थिक विकास न हासिल जिसके कारण एक भार, जन साधारण का सत्ताप का पाठ पढ़ाया गया और, दूसरी ओर, सामन्ती वगैरे व एदव्य और बमब का अलौकिक आधार प्रदान किया गया²।

1 यही

2 धर्ममेष पत्र, सत्यवर्तों सम्पाद और उसमें अलौकिक गुणों की कल्पना, सम्पाद की रक्षाएँ मानना, मीय, गुप्त और मुक्त सम्पादों का वधव, जिसका अनुकरण अर्धेजी सरकार ने भी किया, इसके प्रमाण बताये जाते हैं। सचिवों ने इस वधव की बनाया, साक्ष्यों ने उसे युक्तियुक्त आधार प्रदान किया क्योंकि साक्ष्यों की रक्षा सचिवों का कर्तव्य रहा है। वगैरे ने इस वधव व निर्माण में योगदान दिया। यह सारा वधव द्वादसों के परिधम में निर्मित हुआ। भय भयों घरे-घरे किर्तों, ऋषि ऋषि मन्त्रियों तथा मन्त्रियों और आलोचन मन्त्रियों का निर्माण उसी वधव से हुआ है जिसकारण जनसाधारण ने किया है।

माकमवाणी इतिहासकारों ने वण व्यवस्था में वण सभ्य के तत्त्वा को निर्धारित किया है। विश्वामित्र और वणिष्ठ का सभ्य इस त्रिचारधारा के विद्वानों के लिए ब्राह्मण-क्षत्रिय सभ्य का प्रतीक है। विश्वामित्र को ब्राह्मण पद प्राप्त करने के लिए निरन्तर सभ्य और तपस्या करनी पड़ती थी और उन्हें अनेक परीक्षाओं भी देनी पड़ी थी जो इस बात का प्रमाण माना जाता है कि ब्राह्मण पद एक वणविशेष के एकाधिकार में था जिसे पाना कठिन था। रामायण में यह कहा है कि राम ने उस गूढ़ का बंधन छोड़ा था जिसने गूढ़ कम छोड़ कर तप कर्म अपना लिया था। मनुष्य रूप में भगवान् के सभी अन्तर्गत क्षत्रिय वण में ही हुए हैं। ऐसा कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी का क्षत्रिय वण में जन्म लेना इतिहास की प्राक्कर्मिक घटनाएँ मान नहीं हैं। बुद्धवाद तथा जैनवाद ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आन्दोलन थे और यही कारण है कि इन दोनों आन्दोलनों का सबसे अधिक प्रभाव क्षत्रिया, वश्य और गूढ़ों पर पड़ा। क्षत्रिय और वश्य वर्ण वण सभ्य से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक सामाजिक आघातों को शांत करने वाले वण रहे हैं क्योंकि, वण-व्यवस्था में निहित सामाजिक प्रतिष्ठा व्यवस्था में उच्चस्तर प्राप्त करने वाले समूहों को जाति के रूप में इन्हीं वर्णों में सर्वाधिक स्थान मिलता रहा है। क्षत्रिय वण में सबसे अधिक विद्रोही प्रवाह सार्वभौमिक है और इसी कारण भारत के जिन जिन भागों (बंगाल साम्राज्य और आंध्र प्रदेश) में क्षत्रिय वण अनुपस्थित रहा है, वहाँ हिंदू समाज का समूह अधिक असंतुलित रहा है। गूढ़ों का अत्यंत मानने की, कल्पना, उन्हें गस्कारों से वंचित करने का प्रयास उन्हें मान का अधिकारी न मानना धर्माध्ययन और तप से उन्हें असम रसना उन्हें अछूत मानना और उन्हें अन्य तीन वर्णों के समान सामाजिक अधिकार न देना, वण सभ्य की भावना के प्रतीक माने जाते हैं। यही कारण है कि इस्लाम के प्रभाव से जब एक नया वातावरण अस्तित्व में आया तो समाजसुधारकों की एक बड़ी समस्या का प्रादुर्भाव गूढ़ों और क्षत्रियों में ही हुआ। आज भी भारत के विभिन्न भागों में निम्नवर्णी जातियाँ, एक ओर, हिंदू समाज में उच्चस्तर प्राप्त करने के लिए जहाँ उन वर्गों को अपनाती हैं जिन्हें ब्राह्मणोचित बताया गया है तो दूसरी ओर, अपने का क्षत्रिय या ब्राह्मण सिद्ध करने का प्रयास करती हैं।

इस प्रकार माकमवाणी विचारधारा में वण-व्यवस्था तथा धर्म का उग सामंजस्य

- 1 लेकिन प्रभू के अनुसार, विश्वामित्र द्वारा दिया जान वाला सभ्य और तपस्या उन ब्राह्मणोचित गुणों को प्राप्त करने का प्रयास है जो ब्राह्मण वण के स्वभाव जय गुणों के अनुसार स्वाभाविक है। विश्वामित्र का सभ्य शब्द, प्रभू के मत में, उस मानसिक शिक्षा बोध का शब्द है जो ब्राह्मण के लिए स्वभावतया आवश्यक है—प्रश्न पृष्ठी 319-320

वाणी व्यवस्था तथा उसमें सम्पन्न सामाजिक जीवन के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जो भारत की सामंती अवस्था की परिस्थितियों में उत्पन्न हुए। यह निश्चय है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः एक विशेष प्रकार की वा-व्यवस्था है, और इस तथ्य का भी एक ही अर्थ है कि किया जा सकता कि इसमें वर्ण व्यवस्था की प्रक्रिया का संस्थापना करना है। जाति-समाज-समाज-माध्यमों में एक यह माध्यम भी स्वीकार की जाने लगी है कि सामाजिक संरचना में एकीकरण (Integration) और समन्वय (Solidarity) का साथ साथ साथ भी पाया जाता है। स्तरीकरण (Stratification) और उसमें उत्पन्न वर्ण-व्यवस्था सबन पाए जाते हैं। संघर्ष भी सबन पाया जाता है। स्विनरर इस में संघर्ष का परिणाम विश्रुतलन ही नहीं है और त-अध्ययन ही वर्ण का एकमात्र कारण है। अध्ययन-व्यवस्था का वर्ण का एकमात्र कारण तथा वर्ण का संघर्ष-परिस्थिति की ही उत्पत्ति मानने के कारण मान्यवाणी दृष्टिकोण एकमात्र ही गया है। प्रत्येक सामाजिक-संरचना आन्तरिक-संस्था से सम्पन्न रहती है जिसे भी समाज में वर्ण की धारणा उस समाज के आदर्श-नियमों के ही अनुसार होता है। वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का बल-आधिक निश्चयन इस दृष्टिकोण में एकमात्र है यद्यपि उसकी नितात अवस्था-ही का जा सकती है। प्रभूत सामाजिक-संस्था-विज्ञान के सिद्धांतों के आधार पर वर्ण का स्पष्ट किया है।

प्रभू भी वर्ण-व्यवस्था को वर्ण-व्यवस्था मानते हैं। वर्ण-व्यवस्था एक प्रभू का समाज-सावभौमिक सामाजिक प्रभु है जिसकी उत्पत्ति एक आधारभूत मनोवैज्ञानिक सामाजिक आवश्यकता के कारण होती है। यह पक्ष ही कहा जा निश्चयन चुका है कि सामाजिक संरचना ही समाज को समन्वय और संरक्षण प्रदान है। अतः प्रत्येक समाज की यह आधारभूत आवश्यकता है कि

उसके संस्था, संरचना के निम्न-स्तरों में रखने जाय और उसके वर्ण-रूप का भी सदैव सामाजिक संरचना के जिम्मेदार में ही, उसके अनुसार उसे सामाजिक-व्यवस्था के अनुरूप काम करने की प्रेरणा मिले। वर्ण-व्यवस्था और स्तरीकरण यह माध्यम हैं जिनके द्वारा इस सामाजिक-व्यवस्था की पूर्ति होती है क्योंकि, संरचना के माध्यम से, प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताओं के अनुसार उसका ही स्तर, सामाजिक-प्रतिष्ठा और भविष्य के निर्णय चुनाए जाता है जिससे कि वह योग्य होता है। सामाजिक-व्यवस्था के लिये यह भी आवश्यक है कि समाज उन माध्यमों को भी दृढ़ निश्चय-विधि द्वारा प्रत्येक स्तर के व्यक्ति का सामाजिक-व्यवस्था के अनुसार अपनी भूमिका निर्धारण की प्रेरणा मिले। वर्ण-व्यवस्था, स्तरीकरण, सामाजिक-प्रतिष्ठाओं और भूमिका (९) (१०) (११) (१२) की उच्चाच्च परम्परा और उनका अपना ही तथा उनके अनुसार-

१. विशेष अध्ययन के लिये दिये जायें

सोशियल-विज्ञान के लिये

प्रत्येक समाज में पाई जाती है। इस दृष्टिकोण से समाज का दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—एक प्रतियोगी (Competitive) और दूसरी अप्रतियोगी (Non Competitive)। प्रतियोगी समाज में जनसंख्या को विभिन्न स्तरों (वर्गों) और भूमिकाओं में जान तथा उनके अनुसार व्यक्तियों का कार्य करने की प्रेरणा प्रतिस्पर्धा (Competition) से मिलती है जबकि अप्रतियोगी समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक प्रतिष्ठाओं तथा भूमिकाओं के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा पूर्वाभिनव कृत्यों से मिलती है। इसी कारण प्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ यूरोप अमरीका समाज) में जार दिया जाता है प्रतियोगिता की भावना से उत्पन्न होने वाली प्रेरणा पर और अप्रतियोगी समाज (उदाहरणार्थ भारतीय समाज में) व्यक्ति की क्षमताओं और उनके अनुसार पूर्वाभिनव कृत्यों को करने पर¹। सर्वोत्तम सामाजिक संरचना वही है जिसमें व्यक्ति की जीवन सामाजिक आवश्यकताओं और सामाजिक उद्देश्यों में संघर्ष न हो—उनमें पूर्ण सामंजस्य हो।

समाजशास्त्र के सामाजिक प्रश्नों पर अध्ययन की सुविधा के लिये सामाजिक मानसिक (Social Psychological) तथा व्यक्तिगत मानसिक (Individual Psychological) दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है क्योंकि समाज-व्यवस्था व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओं को उभरती है। यह मानना कि समाज में मानसिक प्रभाव अभी के बराबर होता है भ्रम है। जहाँ, एक ओर, मानव आनुवंशिकता समाज का एक मुख्य आधार है वहाँ दूसरी ओर मानव आनुवंशिकता की अभिवृद्धि सामाजिक परिवर्तन पर निर्भर करती है। जिनकी यह मान्यता है कि सामाजिक संगठन में आनुवंशिकता का हाथ नहीं हाना चाहिये वे वस्तुतः समाजवाद (Socialism) को आनुवंशिकता समझ बैठे हैं। आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति का उन गुण-गणों का समूह जो उसे उसके जीवन संगठन से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन संगठन समान नहीं होता है। इसी कारण व्यक्ति-व्यक्ति में स्वाभाविक क्षमताओं का अंतर होता है जो अनेक सामाजिक कारणों (जैसे धन परिवार और उच्च तथा निम्न की भावना) के साथ स्वीकृति का कारण बन जाता है। यह मान्यता ठीक है कि आनुवंशिक क्षमताएँ पूरजा में मिलती हैं जबकि इसका तात्पर्य यह नहीं कि आनुवंशिक क्षमताएँ बसत जन में होती हैं। सामाजिक परिवर्तन में ही आनुवंशिक क्षमताओं की अभिवृद्धि होती है और परिवर्तन के प्रभाव और निम्न श्रेणी में ये समझायें जा सकते हैं कि समाज एक सीमा तक। इसी सम्बन्ध में भी मान्यता समझी जा सकती है जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक देशीयता में एक नए स्वभावजन्य गुण की प्रभावना होती है।

व्यवस्था की समाजशास्त्रीय महत्ता को आका है। प्रभू के अनुसार, हिंदुओं का वण-व्यवस्था, मोटे तौर पर आनुवंशिकता सिद्धांत के आधार पर, मानव नियात्रा को संगठित करने तथा उन्हें और मानवी योग्यता को पूर्णत्व प्रदान करने की दिशा में किये हुए एक बड़े परीक्षण के अतिरिक्त और क्या है? वणसिद्धांत निश्चय ही आनुवंशिकता सिद्धांत पर आधारित है अकिन वणसिद्धांत के निरूपण में आनुवंशिकता का अथ वंशानुक्रम या पतनता नहीं है। वणसिद्धांत में आनुवंशिकता से तात्पर्य है व्यक्ति के स्वाभाविक जविक उपकरण से जिसकी सहायता से व्यक्ति सामाजिक विरासत में सम्मिलित होकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है और जो समाज तथा सामुदायिकता का आधार है। इसे ही हिंदू विचारकों ने स्वभावजय गुण कहा है। इसीलिए यह मान्यता निर्धारित की गई है कि जन्म से प्राप्त व्यक्ति गुण रहता है और जन्म तब तब गुण ही समझा जाना चाहिये जब तक कि उसमें उच्चतर रचनात्मक सामाजिक कार्यों (साधनत्व, क्षमत्व और वश्यत्व) के सम्पादन का क्षमता न विकसित हो। आश्रम और संस्कार विधान के माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति का सामाजीकरण होता है, और उसकी जविक क्षमताओं का अभिव्यक्तिपूर्ण विकास होता है। आश्रम-मनस्था से व्यक्ति के भस्तिष्क में समार-व्यवस्था तथा उसमें उसके स्थान के प्रति जागृत तथा प्रतिवाधन का विकास होता है। घम इस विकास की प्राप्ति व्यवस्था का आधार है। आश्रमघम से व्यक्ति को वाछनीय सामाजिक आदर्श का ज्ञान ही नहीं होता है, बरन उनको प्राप्त करने की उसे प्रेरणा भी मिलती है। घम उन जविक क्षमताओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिनका विकास समाज में होता है। घत, वणव्यवस्था वह वण-मनस्था है जिसमें व्यक्ति का अपने स्वभावजय गुणों के अनुसार सामाजिक जीवन बितान का क्षेत्र मिलता है और इसका प्रधान प्रेरक है घम वम का सिद्धांत^१।

गुण आनुवंशिक क्षमताओं की सामाजिक अभिव्यक्ति का स्वाभाविक परिणाम है और वही वण का एक मुख्य आधार है। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक वण वह सामाजिक पर्यावरण प्रस्तुत करता है जिसमें व्यक्ति के उस गुणविशेष के विकास की प्राप्ति मिलती है जिसका कि मध्य व वण में है। अकिन, वण केवल स्वभावजय गुण (जविक क्षमताओं) के ही आधारित नहीं है। वण का आधार घम भी है जिनमें वणव्यवस्था में अतिवृत्ता का पुन आता है। इसीलिए, प्रभू ने यह कहा है कि वण व्यवस्था अतिक तथा नतिक, सामाजिक तथा वयवितन और भौतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के प्रयास पर आधारित है। मानव जीवन का सभी पक्षों का वयवितन तथा सामाजिक, का एकीकरण करने के उद्देश्य से सामाजिक समस्याओं का माध्यम न उपलब्ध करना, ताकि वे व्यक्ति की सामाजिक,

मानसिक, जविक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, वर्णाश्रमव्यवस्था का प्रधान उद्देश्य है। इसी मन्दम म वर्णव्यवस्था के जविक तथा नतिक आधारों के महत्व के साथ साथ इसका मानसिक आधार का भी महत्व बढ जाता है। अतः, यह कहा जा सकता है कि आश्रमव्यवस्था के साथ साथ वर्णव्यवस्था का उद्देश्य बहु सामाजिक दक्षता (Social Efficiency) लाना है जो समुदाय और उनका सम्बन्ध नैतिक (Physical) मानसिक (Mental) और नैतिक (Moral) सम्मान के लिये है। वर्णाश्रमव्यवस्था की धारणा का उद्देश्य समाज का बहु क्षमता प्रदान करना है जिसके द्वारा व्यक्ति की क्षमताओं का समाज उत्तमोत्तम बना सक ताकि व्यक्तियों की उत्तमोत्तम क्षमताओं की विधासीलता के द्वारा जो उत्तमोत्तम है उसका निरूपण और नियमन हो सके और सामाजिक संरचना के प्रत्येक वर्ग में उस उत्तमोत्तम की अवतारणा हो सके जो व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिये हितकर है। इसलिये, आश्रमव्यवस्था व्यक्ति के सामाजिककरण और सामाजिक परिपोषण की वह योजना है जिसमें व्यक्ति के जीवन में उत्तमोत्तम का विरास हो सके और वर्णव्यवस्था वह योजना है जिसके द्वारा व्यक्ति के स्वभाव और उनका आधार पर आविर्भूत वर्गों का, सामाजिक दक्षता के लिये उचित समन्वय हो सके।

वर्णव्यवस्था में प्रत्येक वर्ग को अलग अलग कृत्या तथा उत्तरदायित्वों में बांध दिया गया है ताकि प्रत्येक वर्ग अपनी क्षमता के अनुसार, एक विशेष कार्य में योग्यता प्राप्त कर सके और सामुदायिक जीवन के प्रति अपनी सेवाओं का योगदान दे सके। इसप्रकार, वर्णव्यवस्था का उद्देश्य है उत्तमोत्तम तथा अधिकतम सामाजिक कृत्याओं का उपनिर्माण करके, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में उसका समन्वय करना। सामाजिक संतुलन और समन्वय का निर्माण तथा उनका शोभायमान वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य है। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति उस व्यक्तिगत मगटन द्वारा हो सकती है जिसकी धारणा वर्णव्यवस्था तथा धर्म के मन्दम में की गई है। धर्म मध्य श्रावण का मुख्य धर्म नहीं है। उसका मुख्य धर्म है आध्यात्मिक तथा भौतिक विद्याओं के रहस्य का उन्पादन। शरीर के मगटन ही धर्म-मध्य कर सकता है जिसका कि उन पर निर्भर व्यक्तिगत की दक्षता तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक है क्योंकि जनता उसका मुख्य धर्म है। धर्म का धर्म है समाज के अधिक मायना का समन्वय बनाने के लिये धनान्तरण और धनमध्य। व्यक्तिगत स्वाध के लिये धनमध्य प्रथम है क्योंकि परमाय वर्णधर्म का आधार है। इसप्रकार शास्त्र शास्त्र और वर्णवर्गों का धर्म है सामाजिक कृत्या में स्वनात्मक योगदान और जो योगदान के अभाव में, वर्ण मगटन है और उनका कार्य है उन वर्गों की सेवा जो सामाजिक कृत्या में स्वनात्मक योगदान करने में सक्षम हैं। इसप्रकार वर्णव्यवस्था का निर्माण इस

दृष्टिकोण से किया गया है कि विभिन्न प्रकार की मानव शक्तियों का, उन विभिन्न कार्यों में लगाया जा सके जो उनमें से प्रत्येक के लिये अलग अलग अनुकूल हैं और सामूहिक रूप से सभी को सामाजिक-संगठन सामाजिक स्थायित्व तथा सामाजिक प्रगति के उद्देश्य की पूर्ति की ओर लगाया जा सके। अंग्रेजों की वर्ग व्यवस्था में वर्ग प्रतिष्ठा (Class Status) का आधार सत्ता (Power) तथा प्राधिकार (Authority) युक्त धन है जबकि वर्ण व्यवस्था में धन और प्रतिष्ठा (Status), सत्ता और प्राधिकार विज्ञान की निस्वार्थ सेवा और सफलता तथा इहलौकिक सुख के प्रति साधना का परस्पर अलग रखने का प्रयास किया गया है और उसमें सफलता भी मिली है^१। हिंदू दार्शनिकों की विचारधारा में सामाजिक हित तथा सामाजिक उद्देश्य और व्यक्तिगत हित तथा व्यक्तिगत उद्देश्य में तो परस्पर विरोधी हैं और न उनमें परस्पर संघर्ष ही है क्योंकि हिंदू सामाजिक व्यवस्था का आधार है धर्म जिसके माध्यम से सारी मानवी क्रियाएँ (अर्थिक, मानसिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, नैतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक) परिभाषित और समन्वित होती हैं।

प्रभु का सामाजिक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत, स्तरीकरण के सामाजिक मनो-वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रतिपादित एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें वर्ण व्यवस्था की एक आदर्श का रूप में विवेचना की गई है। ऐसा स्पष्टीकरण व्यक्तियुक्तकरण (Rationalization) का प्रतीत होता है। प्रभु के स्पष्टीकरण की उपयोगिता तभी स्पष्ट होती है जब वर्ण-व्यवस्था को आदर्श समाज की आदर्श वर्ण व्यवस्था के रूप में देखा जाए।

नवा अध्याय कर्म तथा कर्मसिद्धान्त

कर्म, पुरुषार्थ और वर्णाश्रम

धर्म, जसा कि पहल कहा जा चुका है इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन का संयोजक है। पुरुषार्थ सिद्धांत में इसी आधारभूत मान्यता की अभिव्यक्ति हुई है। इह-लौकिक जीवन का सम्बन्ध अथ काम, आधर्म और वर्ण-व्यवस्था में है जिनका आधार धर्म है। इहलौकिक जीवन वैयक्तिक-सामाजिक है न कि सामाजिक-वैयक्तिक। धर्म इहलौकिक जीवन के माध्यम से व्यक्ति का पारलौकिकता की ओर ले जाता है। मानव जीवन का धर्म उद्देश्य है। व्यक्ति उस रहस्यमयी शक्ति का एक भाग है जो इस संसार में व्याप्त होने पर भी हमसे पर है। जब इसी रहस्यमयी शक्ति का एक भाग है जो कुछ काल के लिए इहलौकिक जीवन धारण करता है। इस रहस्यमयी शक्ति को प्रकृति, ईश्वर, परमात्मा और प्रजापति की धारणाओं से व्यक्त किया गया है। इसी शक्ति में अंग का आभा बन गया है जो जैव में व्याप्त द्वारा जीवात्मा का रूप लेती है। पारलौकिक जीवन में निम्न प्रकार शक्ति द्वारा मानव, आत्मा और परमात्मा एक में मिल जाते हैं। वही व्यक्ति का अन्तिम एक वह शाश्वत अस्तित्व में मिल जाता है। पारलौकिक जीवन में जावात्मा, परमात्मा और धर्म एकाकार हैं।

जाते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि परमात्मा भी धम से परे नहीं है।

इहलौकिक जीवन में आत्मा और परमात्मा अलग-अलग रहते हैं। यहाँ आत्मा देहीवान् हा जाता है। देहीवान् होने के कारण आत्मा प्रकृतिमय हा जाता है और इस, कारण देहीवान् में सत्, रज और तम गुणों का प्रवेश हो जाता है। प्रकृतिमय होने के कारण जीवात्मा में भियाशीलता आती है। थम देहीवान् का गुण है। देह थमयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है जिसका लीला भेत्र प्रकृतिमय ससार है। जीवात्मा, आत्मा की सन्नमणकालीन इहलौकिक अभिव्यक्ति है। इस सन्नमण काल में देहीवान् होने के कारण, जीवात्मा कम से बढ़ता है क्योंकि देहीवान् के अस्तित्व का आधार ही कम है। बिना कम के देहीवान् का अस्तित्व ही असम्भव है। अतः इहलौकिक जीवन कम के माध्यम में धम से बढ़ता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इहलौकिक जीवन में धम की अभिव्यक्ति कम से होती है। इहलौकिक जीवन की साधना केवल धम से नहीं बरन धम कम से होती है। धम और कम इहलौकिक जीवन के दो आधार हैं। पुरपाथ साधना और वर्णधर्म व्यवस्था धम कम दोनों पर आधारित हैं। हा, यह अवश्य है कि कम की कसौटी धम है और इस कारण, धर्म धम से परे है। मोक्ष न तो निष्क्रियता से मिलता है और न केवल धम से। मोक्ष का साधन है धमप्राण कम। वास्तव में धम पर आधारित कम ही इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन की साधना का आधार है। व्यक्ति (जीवात्मा) में कम वैसे ही निहित है जम सूय में प्रकाश। व्यक्तित्व समाज और सस्कृति मानव-जीवात्मा की क्रियाशीलता के स्वाभाविक परिणाम है। इहलौकिक जीवन कम का परिणाम है और इहलौकिक कम पारलौकिक जीवन की आधारशिला है। इहलौकिक जीवन में व्यस्मा कम में नहीं कम सिद्धांत से आती है। कम सिद्धांत निरपेक्ष नहीं है, कम सिद्धांत धमभाषण है क्योंकि मानवी क्रियाशीलता का एक आधार जविक है और दूसरा मास्कुलिक।

कम^१ मानव का एक आधारभूत गुण है। अकर्म मानव का अस्तित्व यम ही अवास्तविक है जैसे आकाश कुमुम। कम इहलौकिक तथा पारलौकिक

- १ कम शब्द सस्कृत भाषा में 'कर्मन्' शब्द से व्युत्पन्न है। 'कर्मन्' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है—जसे, क्रिया, कार्य, कृति, निष्पादन, क्रियापालन, व्यापार, पद वक्तव्य पामिक कमकाण्ड (Religious Rite), कोई एक विनियम क्रिया, गतिक वक्तव्य उत्पाद (Product), परिणाम, एक स्वाभाविक या क्रिया शील गुण दय (Fate), पूवजन्म के कर्मों का परिणाम, किसी क्रिया का उद्देश्य (व्याकरण में) और गति। जसा कि जगले वण्ट से स्पष्ट होगा कमसिद्धांत के सिद्धांत में क्रिया कार्य, कृति, कृत्य, वक्तव्य, दय और गति के भाषाओं का समावेश हुआ है।

जीवन का नियामक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना का माध्यम कर्म है— वह कर्म जो धर्मानुसृत है। अतः, कर्म मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है और कर्मातीत होना जीव का अतत्त्वोक्त उद्देश्य। कर्म से अभ्युदय भी मिलता है और अधोगति भी। सुकर्मसमाप्त (परमगति) की साधना हान्ती है और अकर्म से अधोगति मिलती है। कर्म तथा अकर्म के विचार और निष्कर्ष का आधार कर्म है। कर्माकर्म के परिणामों से उत्पन्न भाग का ही नाम जीवन है। दुःख सुख, भोग-व्योग का सम्बन्ध कर्म और देहोद्धार से है। देही मर्त्य है और आत्मा अमर। स्वभावतया आत्मा अमरत्व (ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर और प्रजापति) की ओर उन्मुख है और जीव सासारिक (इहलोकीक) गतियों की ओर। चौरासी लाख मानिषा जीव की विभिन्न सासारिक गतियाँ हैं। जीवात्मा के सुकर्म आत्मा का धर्मत्व की ओर ले जाते हैं और अकर्म सासारिक गतियों की ओर। आत्मा अमर अवश्य है लेकिन जीवात्मा के कर्मों के प्रभावों से वह परे नहीं है।

सुकर्म आत्मा का परमात्मा में मिग्न में सहायता देता है लेकिन अकर्मों के कारण आत्मा की, कर्मानुसार, जीव की विभिन्न गतियाँ पुनरावृत्ति हुआ करती हैं। अमरत्व की प्राप्ति मोक्ष है जो सुकर्म में मिलती है। जीवात्मा के रूप में, जीव की विभिन्न गतियों में कर्मानुसार पुनरावृत्ति आवागमन है। आवागमन का चक्र और कर्म के माध्यम हैं जिनके द्वारा जीवात्मा अपना सतत उन्निवास और अभ्युदय कर सकता है। आवागमन से मुक्ति जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है। मानव यानि मर्त्योक्त है और एक ओर वह सनकर्मों का परिणाम है और, दूसरी ओर, सनकर्मों के लिये वह ऐसा अपूर्व अवसर है जो अद्वितीय है। इसी लिये, मर्त्य का कर्मोद्धार होता गया है और धर्म कर्म की जीवात्मा के उस सतत उन्निवास का माध्यम जिसकी अन्तिम परिणति मोक्ष और मुक्ति (आवागमन से मुक्तिकार) है। स्वर्ग और नरक की धारणाओं का सम्बन्ध भी कर्मसिद्धान्त है। इहलोकीक कर्मों के अनुसार ही जीवात्मा का स्वर्ग और नरक का जीवन का भोग मिलता है और उसका बाप, पृथ्वी-जीवन में बिना हुए इहलोकीक कर्मों के अनुसार जीवात्मा का पुनः इहलोकीक गति मिलती है जिसे वह अपने कर्मों के अनुसार पुनः बना या बिगाड़ सकता है। इस प्रकार कर्म का दाहरा फल मिलता है और दाहरा प्रभाव रहता है। और इस कारण जहाँ एक ओर, व्यक्ति कर्मों के अधीन है वहाँ, दूसरी ओर, कर्म भी व्यक्ति के अधीन है क्योंकि मानव जीवन व्यक्ति का वांछित कर्म करना और करने का अवसर प्रदान करता है।

कर्मसिद्धान्त पुराणों और ब्रह्मसूत्र सिद्धान्तों के साथ-साथ, हिन्दुत्व का एक महत्त्वपूर्ण आधार है जिसकी अन्तिम परिणति प्रकिया में हुई है। अन्तिम की अन्तिम भाषाईय धारणाओं का भाव कर्म विचार और कर्मसिद्धान्त का विभिन्न परिणामों पर प्रकिया में ही ही ही विचार होता है। कर्म सिद्धान्त के सिद्धान्तों का

ऐतिहासिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है और इस प्रभाव के कारण जिस प्रकार कमसिद्धांत विकसित हुआ है, इसका विश्लेषण आगे किया जायगा। यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि कमसिद्धांत हिंदू धर्म, दशम और सामाजिक जीवन की आधारशिला है। बुद्धवाद और जनवाद में उस व्यक्ति कमकाण्ड की भूमना की गई है जिससे कमसिद्धांत का उद्भव हुआ है लेकिन कमसिद्धांत का परित्याग नहीं किया गया है। कमसिद्धांत बौद्ध और जन जीवन दशना का आधार है जिसके कारण बुद्धवाद और जनवाद हिंदुत्व का एक अंग रहे हैं। जीवन के उच्चतम उद्देश्य मोक्ष की धारणा कमसिद्धांत और उससे सम्बंधित पुनर्जन्म तथा आवागमन की धारणाओं के सद्वृत्त में ही स्पष्ट होती है। कमसिद्धांत से ही वर्णाश्रमव्यवस्था को उसके नैतिक आधार प्राप्त हुए हैं। इसी सद्वृत्त में कमसिद्धांत का समाजशास्त्रीय महत्त्व भी स्पष्ट होता है। गोमल के अनुसार, यदि धर्म से यह व्यक्त होता है कि क्या करना चाहिये तो धर्म में यह स्पष्ट होता है कि क्या है और क्या हो सकता है। धर्म, एक आदर, इस तथ्य का स्वीकारण है कि जो है वह क्यों है और दूसरी ओर, इस तथ्य की पूर्वसूचना है कि व्यक्ति अपना जीवन क्या सँभाल सकता है। धर्म नियामक है व्यक्ति और समाज का—उस समाज का जिसमें व्यक्ति का अस्तित्व और निर्माण होता है। धर्म, व्यक्ति के जीवनपथ पर व्यवस्थित तथा सामाजिक क्रिया बलापों को बालता रहता है। यदि धर्म प्रतीक है उस आदर्श व्यवस्था का जिसमें व्यक्ति की सामाजिक, सांस्कृतिक और जैविक मानसिक एकाग्रता की स्वस्थ और सुचारु अभिव्यक्ति होती है तो धर्म प्रतीक है उस माध्यम का जिसके द्वारा वास्तविकता को आदर्श की ओर लौटाया जा सकता है। धर्म का मूल धर्म मानव जीवन के आदर्श से है धर्म का आदर्श मूल वास्तविकता से। धर्म ब्यक्तिगत सामाजिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण है और धर्म, धर्म में निहित व्यवस्था के अनुसार, सांसारिक तथा सामाजिक भिन्नताओं में व्यवस्था लाने का एक विविध तथा प्रभावरूप प्रयत्न^१।

२

कमसिद्धांत ऐतिहासिक उदयविकास

कमसिद्धांत का सर्वप्रथम उदय निरूपण उपनिषद् में मिलता है। उपनिषद् में कमसिद्धांत के उद्भव का निरूपण मिलता है जिसका विश्लेषण महाभारत गीता धर्मशास्त्रों और पुराणों के माध्यमों से हुआ है। यह कमसिद्धांत

का वह रूप है जो साधारणतः हिंदू विचारधारा में व्याप्त है। लेकिन उसके पहले शतपथ ब्राह्मण में कर्मसिद्धांत के साथ साथ पुनर्जन्म और आवागमन का उल्लेख मिलता है^१ जो इस बात का प्रमाण है कि उपनिषद् के पहले कर्मसिद्धांत के मुख्य आधार अस्तित्व में आ चुके थे। यह तथ्य इसका भी प्रमाण है कि उपनिषद् में कर्मसिद्धांत के विचार का जो निरूपण मिलता है वह वस्तुतः परिणति है उस विचार की जिसकी जड़ें धार्मिक काल में पड़ चुकी थीं जो ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में अद्वितीय हुआ और औपनिषदिक काल में जिसका पालन हुआ। कालांतर में, महाभारत, गीता और धर्मशास्त्रों के काल में इस औपनिषदिक विचार का सुवर्णयुक्त बनाकर उन दार्शनिक तथा आध्यात्मिक आधार प्रदान किए गये।

ग्रन्थ के अनुसार वेदों में वे विचार आये हैं जो कालांतर में कर्मसिद्धांत के आधार बन गए। वेदा में यह विचार मिलता है कि आत्मा अमर वेशों से ब्राह्मण है और गरीर नाशवान है। जन्मत्व (अमरत्व) की कल्पना नीचों तक धर्म में मिलती है। कर्म की एक प्रायश्चित्त में अग्नि से अमरत्व प्राप्त की कल्पना व्यक्त की गई है। अथर्ववेद के समस्त मन्त्रों में अग्नि का इसलिये आवाहन किया गया है कि वह मृत व्यक्ति को जिन्दा और देवा के पास ले जाय^२। इसी मन्त्र के एक मंत्र में आत्मा का मृत्यु-मग्न में वापस बुलाकर, उसे एक नये गरीर में प्रवेश करने का कहा गया है। अथर्ववेद में इस कल्पना का भी उल्लेख है कि मृत व्यक्ति की आत्मा की इस पृथ्वी पर पुनरावृत्ति हुआ करता है। अथर्ववेद में आत्मा के आवागमन का विचार मिलता है क्योंकि यहाँ यह विचार व्यक्त किया गया है कि मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति अपनी उन स्थितियों, बन्धों, मित्रों और माता पिता की आत्माओं से मिलता है जो उसके पहले मर चुके हैं। यहाँ में वैयक्तिक अमरत्व का भी विचार मिलता है क्योंकि यहाँ व्यक्त एक मायता के अनुसार यह माना गया है कि जो व्यक्ति यत्न करता है, वह अपने सम्पूर्ण गरीर के साथ पारलौकिक जन्म में जन्म लेता है^३। यही विचार आगे चलकर इस विचार में बदल गया कि पुण्यात्मा और पाप्यात्मा सदैव स्वयं जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों

में इही विचारों का प्रसार और विकास हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो व्यक्ति तप का साधन करता है, वह स्वयं में अपनी सभी दारौरीक ज़रियाओं तथा तब कि मनुष्य ज़रिया के भी साथ जाता है। शतपथ ब्राह्मण में सबसे प्रथम कमफल के विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋषि भृगु को नर में पापात्माओं को मिलन वाली यातनाओं के दिग्दर्शन कराया जाने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में आया है। यही इस विचार का उल्लेख है कि इस संसार में मनुष्य जिस भोजन को खाता है उसी के द्वारा वह दूसरे संसार में खाया जाता है। यही, सबसे प्रथम 'ब्रह्म' (ब्रह्म) की कल्पना तथा इस विचार का उल्लेख मिलता है कि जिस पूरा ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह ब्रह्म में सीन होकर मुक्ति पा जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में नचिवेता की कथा आई है जिसमें धर्म द्वारा नचिवेता को व लोक दिलाने का प्रसंग आया है जहाँ लोगों का इहलौकिक कर्मों का पूरा भागना पड़ता है²।

गाखले का मत है कि कमसिद्धांत का सभी आधारभूत तथा आवश्यक तत्वों का निरूपण वैदिक काल के अंत (700 ईसवी पूर्व के लगभग) में हाता हुआ मिलता है यद्यपि कमसिद्धांत का निरूपण उपनिषद् में हुआ है। ऋग्वेद में विकसित ऋत की धारणा और अनेक स एकर ब्राह्मणग्रन्थों तक विकसित होने वाली यज्ञ, यज्ञाचार, कर्प (Ritual) और कल्पवाद (Ritualism) सम्बन्धी धारणाएँ कमसिद्धांत की प्रधान आधार गिलावे हैं। धर्म की धारणा के उदभव की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए यह लिखा जा चुका है कि ऋग्वेद में पाई जाने वाली 'ऋत' की धारणा बालांतर में धर्म की धारणा के रूप में अवतरित हुई। इहलोक तथा परलोक की विधायक वृत्ति के रूप में धर्म की धारणा ऋत की ही धारणा पर आधारित है। ऋग्वेद के ऋतमूर्त में अद्वैत विचार का अनुसार यह सारा ब्रह्माण्ड विरञ्जिकी की उग्र तपस्या से उत्पन्न हुआ है लेकिन उस तपस्या से सबसे पहले 'ऋत सत्य' की उत्पत्ति हुई (ऋत का सत्य का भीदात्तपसोऽप्यजायत)³। ऋत, इस दृष्टिकोण से, वह सत्य है जिसपर यह ब्रह्माण्ड आधारित है। इसलिए 'ऋत का अर्थ उस महान, शाश्वत नियम (Cosmic Law) का रूप में लिया गया है जो ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का आधार है। अर धातु से ऋत की उत्पत्ति करने पर 'ऋत' का अर्थ होता है 'यथस्थित, नियमित और निर्धारित'। ऋत ऋत व्यवस्था नहीं बरन् व्यवस्था का 'यथस्थित बरन वाला मयव्यापी और रहस्यमय सिद्धांत है। ऋत वस्तुतः विधायक विधान है जिसमें सब मनुष्य प्रकृति और समाज बंधे हुए हैं। कमसिद्धांत व्यवस्थित तथा सामाजिक जीवन में पूरगूचिन व्यवस्था लाने का प्रयास है क्योंकि कमसिद्धांत वस्तुतः उस व्यवस्था का निरूपण करता है जिसका नियम ऋत है और जिसका व्यवस्था तथा

समाज बंधे हुए हैं। कमसिद्धांत में निहित व्यवस्था का विचार ऋग्वेद में विकसित 'ऋत'-धारणा का ही योगदान है।

ऋग्वेद में ऋत की धारणा के साथ साथ, यज्ञ परम्परा भी पाई जाती है। वैदिक काल के अंत में ऋत की धारणा सुप्त हो जाती है और उसके स्थान पर यज्ञ से सम्बंधित कल्प (Ritual) का प्रधानता मिलती है। वैदिक काल के प्रारम्भ में यज्ञ का उद्देश्य देवताओं को कृपा का आवाहन है लेकिन वैदिक काल के अंत और उत्तर वैदिककाल में, यज्ञ ही ईश्वर वस्तुओं का प्रदान करने वाला है। अतः देवों के स्थान पर यज्ञ को सर्वोपरिता मिली जिसका परिणाम यह हुआ कि यज्ञ, साधन के स्थान पर, साध्य हो गया। यज्ञ के साथ ही जान व साथ-साथ 'कल्प' की महत्ता बढ़ी जिसका परिणाम यह हुआ कि ऋत के रहस्यात्मक विचार के स्थान पर कल्पवादिता के विचार ने जोर पकड़ा। अतः म. जा. महान शास्त्रवत् व्यवस्था सिद्धांत का विचार या वह कल्प से जुड़ गया। यज्ञ ऋत का अर्थ हो गया यज्ञों में सम्बंधित कल्पा की व्यवस्था का सिद्धांत। साधनयज्ञ इसी कल्पवादिता (Ritualism) से ओतप्रोत है। यज्ञ व्यवस्था का विकास में पुराहित कर्म की बढ़ती हुई सर्वोपरिता और पौरहित्य-कर्म की अस्तित्वानुसार कल्पवादिता की ओर भी ओतसाहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पौरहित्यकर्म रहस्यात्मकता के अन्त में परिवर्तित हो गया। 'ऋत' के स्थान पर यज्ञ का ही इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त व्यवस्था का आधार और यज्ञ के साथ कल्प का ब्रह्माण्ड का रहस्य का प्रतीक मान लिया गया।

वेदों में आत्मा की अमरता इस प्रकार स. पु. ला. (देवयान और पितृयान) समार की व्यवस्था की धारण करने वाला 'ऋत' यज्ञ और कल्प तथा उपनिषदों में यज्ञ के द्वारा सासारिक याननामा में मुक्ति पाने का विचार अस्तित्व कमसिद्धान्त में आ चुके थे। ब्राह्मणग्रन्थों में कल्पवादिता के आधार पर इन्हीं विचारों का विरमिन् किया गया और उपनिषद् में इन्हीं विचारों के आधार पर कमसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। प्रभु का अनुसार कमफल का विचार भी वही में मिलता है¹। उपनिषद् में कमफल की धारणा के साथ-साथ आवागमन और पुनर्जन्म की धारणाओं भी जुड़ गई। आत्मविश्वास तो यह है कि उपनिषदों के ज्ञान की सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितियों में कमफल, भोग, आवागमन और पुनर्जन्म की धारणाओं के माध्यम में वैदिक धारणाओं का एक प्रान्तिकारी रूप लिया गया और प्राचीन सिद्धांतों का नई धारणाओं में अद्यतन किया गया। कमसिद्धांत में दत्त प्रविच्छेद (Double Distribution) की धारणा हमका उदाहरण है। दत्त प्रविच्छेद ने सात्विक = कमफल का रूप में पद परम्परा

म मृत्यु या दण्ड भोग और बाद में कमफल के भोग के ही कारण, इहलोक में पुनर्जन्म। इहलोक और परलोक में कमफल के भोगने की धारणा को दोहरे प्रतिदण्ड की धारणा कहा गया है। यह धारणा दो विचारों में मिलने से बनी है। इसमें वेदा में पाये जाने वाले भावी प्रतिदान (Future Recompense) के विचार का सम्मिलन आवागमन के सिद्धांत की नई धारणा से हुआ है¹। शतपथ ब्राह्मण के बाद से कर्मानुसार पुनर्जन्म के विचार का विकास बराबर मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में तो इतना ही कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही द्वारा निर्मित ससार में जन्मता है²। लेकिन उपनिषदों में इस विचार का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि मृत व्यक्ति की आत्मा नया शरीर धारण करती है। बड़ोपनिषद में कहा गया है कि नश्वर प्राणी धोज की भांति मल जाता है और धोज की ही भांति पुन उत्पन्न होता है³। एक मा के गम से शरीर धारण करके उत्पन्न होता है और दूसरा पीये के रूप में अवतरित होता है क्योंकि प्रत्येक अपने ज्ञान और कर्म से अनुसार जन्मता है⁴।

बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि मृत्यु के बाद आत्मा शरीर को त्याग देता है और इस जन्म में किये हुए कर्मों का सचित फल ही उसके साथ जाता है। मरते जन्म-मै आत्मा को क्या रूप मिलेगा यह कमफल द्वारा निर्धारित होता है। इसी उपनिषद में, इस प्रश्न के उत्तर में कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है, मानवत्व ने उत्तर दिया है कि 'मानव का भावी जीवन उसका कर्मों से निर्धारित होता है।' गुण कर्मों का परिणाम गुण होता है और अशुभ कर्मों का परिणाम अगुण (पुण्या वै पुण्यता वमणा भवति पाप पापन) जिस प्रकार, टिड्डा घाम की एष पत्ती का बिनाश तभी छाड़ता है जब दूसरी का पकड़ लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा मानव शरीर को तभी छाड़ता है जब इस दूसरे प्रकार के अस्तित्व में स्थान मिल जाता है। जिस प्रकार, सुनार अपनी इच्छानुसार, साने को नये और सुन्दर आकारों में ढालता है उसी प्रकार यह आत्मा अपने लिय नये नये और सुन्दरतर अस्तित्व का निर्माण किया करता है, चाहे यह अस्तित्व पितरा में मध्य हो चाहे धर्मों में मध्य चाहे दबताघा के मध्य और चाहे उन मध्य प्राणियों में जिनमें कि आत्मा चाहे⁵।

कर्मानुसार पुनर्जन्म के विषय में बृहदारण्यकोपनिषद में यह कहा गया है कि शरीर में आत्मा का निश्चलन में साथ साथ प्राण भी रक्ता जात है जसा जिसरा

1 गोतले पी० जी० यही पृष्ठ 99

2 यही पृष्ठ 98

3 प्र० पी० एच० यही पृष्ठ 18

4 यही पी० जी० यही पृष्ठ 98

5 प्र० पी० एच० यही पृष्ठ 13

ध्वस्त किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों के काल में कमसिद्धांत में यज्ञ विचार का भाव आया और उपनिषदों से ज्ञान विचार का भाव। उपनिषदों के ही काल में हिन्दू विचारधारा और जीवन-दर्शन पारलौकिकता की ओर उन्मुख हुए।

औपनिषदिक काल में ही दो विचारधारा का जो विकास हुआ है, उसे गोखले ने भारत के सामाजिक इतिहास की एक आवश्यक परिस्थिति माना है। इस दृष्टिकोण से औपनिषदिक विचारधारा भारतीय ऐतिहासिक विकास की एक तत्कालीन आवश्यकता के रूप में प्रस्फुटित तथा विकसित हुई। इस विकास के लिए दो परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं—एक वह परिस्थिति जो ब्राह्मणग्रन्थों के काल की बौद्धिक विचारधारा के रूप में आई जिसमें वारे कल्पवाद ने बौद्धिक जीवन को शुष्क एवं नीरस बना दिया था और जिसमें ब्राह्मण यग का सामन्तवादी एकाधिकार बढ रहा था। दूसरी वह परिस्थिति थी जो तत्कालीन सामाजिक आर्थिक संकट से उत्पन्न हुई थी। यह वह परिस्थिति थी जिसमें युद्धों के द्वारा आर्यों का प्रसार बढ रहा था जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण को अधिक दबाव सहन करना पड रहा था। औपनिषदिक विचारधारा में आत्मज्ञान के उस विचार का वर्णन नहीं मिलता है, जो यज्ञों में मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा में बौद्धिक विकास तो मिलता है लेकिन साथ ही साथ आध्यात्मिक जीवन के प्रति ध्यान का भी भाव मिलता है। औपनिषदिक विचारधारा एक नए बौद्धिक परम्परा से उत्पत्ती हुई है किन्तु केवल बौद्धिक स्तर पर और दूसरी ओर उसमें वैदिक परम्परा के प्रति गहरा है—वह गहरा जो उस तथ्य से उत्पन्न होनी शुरू जान पडती है कि तत्कालीन नई परिस्थितियाँ से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में वैदिक परम्परा अनुपयोगी थी। उपनिषदों की उत्पत्ति की धारणा इन बातों का प्रतीक है कि उसमय और विज्ञान के स्थान पर रहस्यात्मकता का प्रभुत्व मिली जिसमें पारलौकिकता के विचार का प्रातगाहन मिला। रहस्यात्मकता के विचार का विपरीत परिस्थितियाँ में ही प्रथम मिलता है। डॉक्सन (Doxson) के आधार पर शास्त्र ने यह स्वीकार किया है कि सम्भवतः औपनिषदिक विचारधारा के प्रसार के साथ ही प्रथम धार्मिक यग में हुआ है और राजातंत्र आदि सत्ता के अधिकारी धर्मियों का पारलौकिकता के विचार की ओर उन्मुख हुआ। यह ध्यान का प्रमाण माना जा सकता है कि औपनिषदिक विचारधारा का प्रणयन निम्न सामाजिक आर्थिक और बौद्धिक परिस्थितियों में हुआ होगा। जहाँ यह कहना आवश्यक जान पडता है कि कमसिद्धांत का प्रथम निरूपण सामाजिक विज्ञान के रूप में हुआ है। इससे यह ध्वनित होता है कि कमसिद्धांत का उद्भव निराशावादी जीवन दर्शन के रूप में हुआ। किन्तु यद्यपि कम

सिद्धान्त वास्तव में निराशावाणी है ? इस प्रश्न पर यथास्थान भागे विचार किया जायगा।

कमसिद्धान्त के उद्भव के आधार जो कुछ भी रहे हों। लेकिन इसके विषय में एक तथ्य निश्चित है और वह यह है कि कमसिद्धान्त पर आधारित जीवन दान न एक बड़े अभिनव माग प्रस्तुत किया जिसके चारों ओर सभी बृहत् व्यवस्थित था और उस व्यवस्था का आधार था कम। इस माग पर वैदिक देवी की सर्वोपरिता नहीं थी क्योंकि महा मनुष्य स्वयं अपने जीवन का निर्माता था। यहाँ मनुष्य के सामने जीवन का एक लम्बा वितान था जिसके इस ओर इहलौकिक जीवन था और उस पार पारलौकिक जीवन। इसी माग पर वह ज्ञान प्रतिपादित हुआ जिससे यह मायता है कि 'गरीर जिन दो प्रकार के तत्वा से मिलकर बना है उभयों से एक है मूलाश्रय और दूसरा वर्माश्रय। वर्माश्रय एक सचयी प्रणिया है जिसका निर्माण जीव के पूर्व जन्म तथा इस जन्म के कर्मों से होता है। वर्माश्रय जीव के भावी जीवन का निर्माता है। प्रत्येक आत्मा और जीवन का वर्माश्रय अलग अलग होता है। प्रत्येक जीव वर्माश्रय से बंधा है। इहलौकिक जीवन अपूर्ण है और जब तक यह अपूर्णता रहती जीव और जीवन वर्माश्रय से बंधे रहेंगे तथा आवासमन से घन में पते रहेंगे। पूर्णत्व का अर्थ वर्माश्रय तथा आवासमन से मुक्ति पाना है। मानव जीव उगी पूर्णत्व की प्राप्ति है। पूर्ण व निमी देवी अनुजम्पा से रही अपने ही प्रयत्नों से मिलता है। मनुष्य नियत कमसिद्धान्त से बंधा है नियति से नहीं। नियत कम के माध्यम से मनुष्य स्वयं अपनी नियति का निर्माण कर सकता है। वर्माश्रय यन्त्र और प्रारब्ध का नियामक है तो दूसरी ओर प्रारब्ध का भी।

जानिये कि निर्णित कमसिद्धान्त में इहलौकिक या पारलौकिक प्रारब्धियों का भंडार सा तुल्य गया जिससे भारतीय जन जीवन के उत्थान और प्रेरणा साता की बात मिला। कम की यह व्याख्या निराशावाणी नहीं आशावाणी है। कम की इस व्याख्या में व्यक्ति के लिये परिवार, गांव जाति गण (जति) और राज्य से अधिक कम का महत्व बढ़ जाता है। यहाँ कमसिद्धान्त उभय सामाजिक व्यवस्था का नित्य आधार बन जाता है जिसमें विभिन्न प्रजातियाँ सदृष्टियाँ, भाषाभाषा तथा धर्मों के अन्तर्गत और समूह एक मूल में बंधते रहे हैं। कम के साथ कमसिद्धान्त हिंदू जतिपता का आधार है और उस आधार का मूलपात अधिनियमित काल में हो हुआ। यहाँ कम नित्यता है जो 'प्रविभक्त विभक्तियों की भाषा पर आधारित है। कम का वैदिक नैतिकता नहीं है। कम वह नित्यता है जिसका आधार आध्यात्मिक है। इसी कारण, हिंदू सामाजिक जीवन में कमसिद्धान्त का उद्भव नित्य तथा आध्यात्मिक यहाँ (Value) के रूप में हुआ है और दूसरा रूप में अनिष्ट का दान के व्याख्याकारों ने इसका व्याख्या की है।

महाभारत में कमसिद्धान्त को एक जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह पहले ही सिखा जा चुका है कि महाभारत में वृण का आधार कम महाभारत माना गया है। लेकिन यहाँ कम की व्याख्या उस रूप में नहीं है जिस रूप में बुद्ध ने की है। यहाँ कम का 'यक्ति' की स्वाभाविक यक्ति से जोड़ दिया गया है। 'यक्ति' की स्वाभाविक यक्ति पूर्वजन्म के कर्मों से बंधा है। प्रभू द्वारा महाभारत के वनपर्व से उद्धृत एक अर्थ के अनुसार, 'कर्मों द्वारा संचित भार के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है। कर्मों के परिणाम से ही 'यक्ति' का सुख दुःख और सम्पन्नता विपन्नता की प्राप्ति होती है। पूर्व जन्म में किये हुए कम किसी भी प्राणी का कभी नहीं छूटते हैं। यह कम का ही परिणाम है कि इस जीवों में सृजन का दुःख मिला सबका है और दुःखन को सुख'। महाभारत के अनुशासन पर्व में ऋषि बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कमसिद्धान्त की विवचना करते हुए कहा है कि मर्यु के पदचक्र मनुष्य के अचल बुरे कम उसका साथ जाते हैं और उनके द्वारा उसके अगले जन्म का प्रारंभ निश्चित होता है। शांतिपर्व में यह कहा गया है कि आत्मा की अगली यात्रा भी इस जन्म के कर्मों से निर्धारित होती है। वनपर्व में कहा गया है कि मनुष्य को अपने किंचित कम का भी परिणाम भागना पड़ता है। मनुष्य के कम उनके साथ जाते हैं। कम के परिणाम कभी भी नाश नहीं होते हैं (नास्ति श्रुतस्य नाशः)। कर्मों के ही कारण आत्मा का बार-बार जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य के कम शुभ भी होने हैं और अशुभ भी और यह निश्चित है कि मनुष्य क्या ही पाटेगा जमा कि बाँटेगा। कोई भी अपनी इच्छानुसार अपने प्राणों का निग्रह नहीं कर सकता है। पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का परिणाम इस जन्म में भोगना पड़ता है। जो इस कमसिद्धान्त से अनभिज्ञ है, वह अपने दुर्भाग्य के लिए देवी शक्ति का कोसते रहते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि उनका दुर्भाग्य उनके ही अशुभ कर्मों का परिणाम है¹। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि महाभारत में कम की दृष्टि का रूप में प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में कम और उसके परिणाम को इतना अध्ययनाधीन माना गया है कि महाभारत का कममन्त्राधीन विचार दृष्टव्य ही गया है। यद्यपि उग्र दृष्टादित्य में बचाने का प्रयास भी किया गया है। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि व्यक्ति का प्रयत्न बीज का समान है। द्रव भूमि का समान और पक्का (कमज) दाना का सम्मिलन का परिणाम है²। यहाँ कम के सम्बन्ध में महत् विचार प्रकाश है कि 'जो जमा पाट रहा है, क्या उसमें बीया होगी।

यह कहा जाता है कि महाभारत में कम का अवांछनीय किन्तु अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के अनुसार, 'कर्म'

अपना ही कर्म की प्रशंसा करने हैं, जिसके कारण वे दैहिक अस्तित्व के प्रपञ्च में प्रसङ्गतापूर्वक फँस रहते हैं। लजिन, जिन्हें धर्म का पूरा ज्ञान है वह कर्म की वैसे ही प्रशंसा नहीं करते हैं जिस नदी में जल पीता हुआ व्यक्ति बरत को जग भी ध्यान में नहीं लाता है (शांतिपर्व)। मनस्य मन्त्र कर्म के प्रभाव के अंतर्गत रहता है और इस कारण उग यह धर्मस्य साधना चाहिये कि किस प्रकार वह कर्म का प्रतिविधान (Atonement) कर सकता है और निम्न प्रश्न वह अपने को असाध्य लगे हुए में मूक कर सकता है (वनपर्व)। चाहे दास प्राणी सब भी यह कर्मकार, जन्मा या माछाटा जीणता और मनुष्य सभी का निगम ज्ञान है। हा, हमका अपवाद की या वस्तु है जो पुनर्जन्म से बच सक क्योंकि आत्मा जन्म न (शांतिपर्व)। प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा में मोक्ष प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये क्योंकि यह समार अनेक कठिनाइयों और श्रुतियों से भरा पड़ा है (शांतिपर्व)²।

परलोक का विचार महाभारत में और भी विस्तृत हुआ है। महाभारत में आत्मा के अस्तित्व के तीन स्तर बताये गये हैं। इस लोक का कर्मभूमि कहा गया है और परलोक की कर्मभूमि। परलोक के दो स्तर हैं—एक स्तर है स्वर्ग और नरक का जहाँ कर्मानुसार जीव को फल भोगना पड़ता है। दूसरे स्तर के कारण नरक की यातनायें भुगनानी पड़ती हैं और अच्छे कर्मों के कारण स्वर्ग के भागा का भुगमि मित्ता है। महाभारत के वनपर्व में स्वर्ग के भोगों की विस्तृत तात्त्विक का वर्णन है। लजिन स्वर्ग के भोग यवित कर्मों के अनुपात से ही मित्र है और ज्या ही अपने कर्मों के अनुपात में व्यक्ति स्वर्ग के मुख्य और नरक की यातनायें भाग लता है। उक्त पुनर्जन्म में किये हुए कर्मों के अनन्तार पत हम लोक की किसी न किसी याति में जन्म लता

है। ज्ञान में प्राणी सनातन, अतीन्द्रिय और अजर हो जाता है। ज्ञान सरिता में जल के समान है और कम कुएँ के जल के समान। सरिता के जल को पात्रों जिस प्रकार कुएँ की चिंता नहीं रहती, उसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति से कम की चिंता छूट जाती है। ज्ञान से प्राणी उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ न तो क्लेश है, न मृत्यु, न जन्म और न पुनर्जन्म^१। निवृत्ति और सतोष धर्म का अर्थ द्वार है जिससे प्राणागमन से मुक्ति मिल सकती है। निवृत्ति और सतोष वह अवस्था है जहाँ कम का अस्तित्व नहीं है। इस अवस्था की प्राप्ति वासना के प्रसन्न से होती है। वासना का अर्थ वासना की वस्तुओं के त्याग से होता है। एक वासना की पूर्ति से दूसरी वासना उत्पन्न होती है और इस प्रकार कभी न समाप्त होने वाला वासना चक्र अस्तित्व में आता है जिसके परिणामस्वरूप कम की उत्पत्ति होती है और प्राणी आवागमन के चक्र में बंधता है। जन्म हर बार नया इंधन ढालने से अग्नि प्रज्ज्वलित होती है वैसे ही प्रत्येक वासना की वस्तु से वासना प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। वासना की उत्पत्ति छूने देखने और सुनने वाली कमन्द्रियाँ उत्पन्न होने वाले सुख की अनुभूति में होती हैं। जिसने जिस वस्तु के सुख का अनुभव नहीं किया है, उसे उस वस्तु की इच्छा नहीं होती है। अतः सुख प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति वासना वाले वस्तुओं का न चखने न छूने और न देखने का प्रयत्न करे।

महाभारत में ऐसा कि पिछले वचन से स्पष्ट है, निवृत्ति की उम्र पराकाष्ठा तक लं जाया गया है जहाँ प्रत्येक के लिए पढ़ना यत्ति अस्मभव नहीं तो दुःख अवश्य है। सनातन परम तत्त्व से ज्ञान वाले ज्ञान की अनुभूति भी हर एक के पास की जाती है। इसलिए महाभारत में कम से मुक्ति पान के लिए एक धीरे का मार्ग अपनाया गया है। वह मार्ग है सतोष और स्वधर्म का जिसका प्रमाण है धर्मन्याय का प्रमाण जो महाभारत के उपपन्न में आया है और जिसका उद्देश्य पहला दिया जा चुका है। धर्मन्याय के अनुसार कमरिक्त दार्शनिक जीवन असम्भव है। सुख कर्मों से सुख प्राप्त मिलती है और पाप कर्मों से पापमानों प्रारम्भ, पूरे जन्म के कर्मों का परिणाम इतना बलवान होता है कि उसका प्रभाव में बंधता असम्भव है दार्शनिक जीवन पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है और दार्शनिक जीवन में स्वधर्म का पालन ही धर्म है स्वधर्म त्याग पाप है स्वधर्म पालन के लिये नियम हुए कम तथा दुर्गति करते हैं और पूरसचित्त धर्मभार का ही बन्नात है जिस धर्म में स्वधर्म की साधना है वही अस्तर है चाह यह धर्म धर्म का ही गया है। महाभारत में स्वधर्म में तात्पर्य वधधर्म में है^२।

उमा प्रसन्न में महाभारत में यह कहा गया है कि कवच अस्त्रबुद्धि ही धर्म

छिन के घटित होने पर तथा बाधित कर्म पान पर धार करता है। रोहित और अवाहित या अभीष्ट और अन अभीष्ट के लिये नियोजित जाय जाय साधन से जीव का कष्ट कम नहीं होता बरन् बढ़ता है। मानसपुत्र माया जिनसे पान १ उद्भूत होता है और मुक्त बनाया है, जिनसे सुख और दुर्भाग्य के प्रति समभाव से बड़ी समुद्र मुक्त है। सत्ता ही परम सुख का साधन है। मत्ताय जाना या वश है और अनन्त मूढ का। विषाद से पराजित व्यक्ति, जिसका ध्यान ही साधन है वश है परमात्मन ही जाता है। निर्वै (असत्तायमय निराशा) में बाध पान न होता वश है कर्मफल का भाग आवश्यकता है। अतः अनात्मन से मत्ता पर १११ मत्ताय पान के उपाय ही साधन का प्रयास अधिस्त यथेष्ट है। मत्ता पर १११ मत्ताय १११ मत्ताय के साथ स्वयम्-पान। कर्म व मत्ताय मत्ताय मत्ताय का मत्ताय १११ मत्ताय ५ ही काल मत्ताय।

श्रीमद्भगवद्गीता में त्रिम मायारणन गाना का नाम दिया जाता है कर्म सिद्धान्त का एक व्यापक जीवन गाना है कर्म प्रस्तुत करने का प्रयास दिया गया है। मानसिक न भ्राम्यमान गीता का उप निष्कास कर्म निपद अध्याय प्रत्येक तन्त्र याग्यास्त्र की मत्ता ही है जो मत्ताय की प्रताप है कि मत्ताय का रचना उपनिषद् की विचार-

गीताकार के अनुसार न तो प्रवृत्ति ही सर्वोपरि है, न ज्ञान और न प्रपत्ति और न इनमें से किसी की अवहेलना ही की जा सकती है। प्रवृत्ति कम की ओर प्रेरित करती है किंतु पारा और निरीह कम बंधन है। मोक्ष वही है जहाँ कम का आधार ज्ञान और प्रपत्ति है। ज्ञान प्रपत्ति और कम निभुन के तीन बिंदुओं की भाँति परस्पर बंध हुए हैं और इन कारण, ताना बसम-बस ही मोक्ष मिल सकता है। ज्ञान कम और प्रपत्ति का सम-बस निष्कामकर्मयोग सहाता है जिसे गीताकार न मोक्ष का साधन माना है। निष्कामकर्मयोग के द्वारा जीव मोक्ष की ओर अपना उत्तरोत्तर विकास कर सकता है। निष्कामकर्म के सिद्धांत पर आधारित होने के कारण गीता महाभारत में भिन्न-भिन्न आती है। इसी कारण गीता में प्रतिपादित कर्मसिद्धांत महाभारत में प्रतिपादित कर्मसिद्धांत की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील और प्रबल है। सम्भवतः इसी कारण सभ्यता-परिस्थितियों में भारतीय जन जीवन का जितनी प्रेरणा गीता से मिली है उतनी किसी अन्य धर्मग्रंथ से शायद ही मिली हो और आज भी जन जीवन में जितना प्रभाव गीता का है उतना रामायण के बाद शायद ही किसी धर्मग्रंथ का हो^१।

गीता की रचना के पहले कम और मोक्ष में सम्बन्धित जितने सिद्धांत तथा विचार प्रतिपादित हो चुके थे गीताकार ने निष्कामकर्मयोग के सिद्धांत की स्पष्ट-भूमि में उन्हीं का नव निवेदन करके उन्हें एक सिद्धांतमय में प्रस्तुत किया।

- १। समय-समय पर, गीता पर लिखे गये भाष्य इसका प्रमाण हैं। गीता पर जितने भी भाष्य लिखे गये हैं वे सभ्यता-परिस्थितियों में ही लिखे गये हैं। जब बौद्ध-ब्राह्मण-समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था और उसके पल्लव-आठवीं शताब्दी के आस-पास सामाजिक संघर्षयुक्त विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी तो शंकर ने गीता पर भाष्य लिखकर ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। बुद्धवाद विचारधारा पहले से ही गीता के अधिक समीप था। पालान्तर में, रामानुज ने गीता पर भाष्य लिखकर प्रपत्ति मार्ग का प्रतिपादन किया। महाभाग आग घट कर भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत हुआ। गुरु जी गुरुण, अद्वैतवादी, ज्ञानाश्रयी विचार धारा, प्रपत्ति मार्ग से सम्बन्धित होकर, तुलसी की साधुण अद्वैतवादी, ज्ञानाश्रयी विचारधारा के रूप में प्रस्तुत हुई। आग घट कर अष्टमो राजकाल में, जब स्यात-संस्थान के कारण सामाजिक विषमता आई तो तिलक ने गीता रहस्य लिखकर, देव-बाल की मर्मादा के अनुसार निष्काम कर्म करने के आदेश को प्रतिपादित किया। महात्मा गांधी के आधिप और शान्तिवादी आदर्श के प्रेरणा श्रोत गीता में है पर उनके द्वारा लिखे गये भाष्य से स्पष्ट है। गांधी का सत्याग्रही गीता का, शान्ति, भक्ति और निष्काम कर्मयोगी ही है।

‘नेति’ का रहस्यवादी विचार जो उपनिषदों में पल्लित हुआ था गीता में व्याप्त है। यह मनार क्षणभंगुर और नाशवान है। इस संसार में पर एक गति है जो इस संसार में व्याप्त है लेकिन फिर भी इस संसार में पर है। यह सत्ता अगम, अगाध अथवा अव्यक्त और परम है। उसका संबन्ध और हजारों रूप हैं, जो नाना प्रकार के दिव्य, भिन्न वष भिन्न संचरण और भिन्न आकृतिवान हैं (11/5)। इसमें समूचा स्थावर तथा जगम जगन समाहित है (11/7)। परम सत्ता का रूप केवल दिव्य चक्षुषा से ही देखा जा सकता है क्योंकि वह साक्षात्क नहीं ईश्वरीय धाम है (11/8)। परम सत्ता का रूप अनेक मुख और आकाश आकाश अनेक अमृत दान वाला, अनेक शिखर धामधूपगो तथा उद्यन गन्धो वाला है। यह अमृत (रहस्ययुग्म), अनन्त और सर्वव्यापी देव का रूप है। उसका तज आकाश में एक गाय प्रकाशित हजार सूर्यों जैसा है और उसमें अनेक प्रकार से विभक्त समूचा जगत एक साथ विद्यमान है। उसका न ता आदि है, न मध्य और न अन्त (11/10 11 12, 13, 16)। उसका हा अनेक मुख, हाथ उदर और नेत्र वाला है, वह अनन्त है। उसका तज सभी दिशाओं में देरी समान हो रहा है (11/17)। उसकी गति अनन्त है, मूल चक्र उगम नम है उसका मुख प्रज्वलित अग्नि का समान है उसका तज में जगत सब रहा है (11/19)। आकाश और पृथ्वी का बीच के अन्तर में और समस्त दिशाओं में वही अमृत व्याप्त है (11/20)। वह त्रेत्रमुखी विश्वव्यापी अनन्त, परम और आदि देव है। उस विभी ने भी नहीं देखा है उसका केवल अनुभव किया जा सकता है (11/47)। उसका बीच अनन्त है, उसकी शक्ति अपार है, वही सब कुछ धारण करता है इसलिए वही सब है (11/49)। वह विद्वत् का परमस्थान और परमधाम है। इसलिए वह परात्मा परम है (11/53)। वह परम अथवा जगत् का अन्तिम

परिचायक है¹। वह एक अवर्णनीय, गुह्य रहस्य है।

गीता के अनुसार पुरुष और प्रकृति दोनों अनादि हैं। पुरुष सबव्यापी, अगम अगोचर, मनातन अव्यक्त, अविकारी, अजन्मा, गुणातीत और चेतन है। प्रकृति सगुण और विकारयुक्त है। देह (क्षेत्र) प्रकृति से उत्पन्न होती है और क्षेत्र में व्याप्त क्षेत्रन पुरुष है। विकार तथा गुण प्रकृति में उत्पन्न होते हैं (13/9)। जो कुछ भी धर अचर वस्तु उत्पन्न होती है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होती है (13/26)। महत्प्रज्ञा अर्थात् प्रकृति पुरुष की यानि है। वह उसमें गर्भाधान करता है और उसमें प्राणीमात्र की उत्पत्ति हाती है (14/3)। सब योनियों में जिन जिन प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उनकी उत्पत्ति का स्थान पुरुष की प्रकृति है और उनमें बीजारोपण करने वाला पिता पुरुष ही है (14/4)। परमपुरुष सभी देहधारियों में व्याप्त है और देह में स्थित जा परम पुरुष है, वह सबसाक्षी, अनुमति देनेवाला, भर्ता,

- 1 सद्य प्राणियों के हृदय में विद्यमान आत्मा, भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त, जादियों में विष्णु, ज्योतिषों में जगमगाता सूर्य, वायुओं में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र, देवों में सामवेद, देवों में इन्द्र, इन्द्रियों में मन, प्राणियों का चेतन द्रवों में क्षर, यक्ष और राक्षसों में कुबेर, वसुधों में अग्नि, पर्वतों में मेरु, पुरोहितों में ब्रह्मर्षि, सेनापतियों में कार्तिक स्वामी, सरोवरों में सागर महर्षियों में भृगु, वाणों में ओम, यज्ञों में जपमन्त्र, स्थावरों में हिमालय, वनों में अश्वत्थ (पीपल), देवियों में नारद, नद्यों में चित्ररथ, सिद्धों में कपिल मुनि, अश्वों में अमर से उत्पन्न उच्चैश्चक्र, हाथियों में ऐरावत, मनुष्यों में राजा, हथियारों में वज्र, गायों में कामधेनु, प्रजा की उत्पत्ति का कारण कामदेव, तपों में वामुकि, नागों में नैषधनाग, जलचरों में वरुण, पितरों में अयमा, दण्ड देने वाली में यम, दया में प्रह्लाद, गिनने वालों में काल, पशुओं में सिंह पक्षियों में गरुड, पावन करने वालों में यमन, शास्त्रधारियों में परगुराम सछन्धियों में मगरमच्छ, नदियों में गङ्गा, सन्धियों का आदि अन्त और मध्य विद्याओं में आत्मविद्या, विवादकों का वाद, अक्षरों में आक्षर, समाप्तों में द्वन्द्व अविनाशी बाल, सक्कर्त्ता, मृत्यु और उत्पत्ति, बीज, लक्ष्मी, वाणी स्मृति मेधा, धृति और क्षमा, सामों में बहुत साम, छत्रों में गायत्री, महीनों में मागशीर्ष, ऋतुओं में वसन्त, छल करने वाले का छूत, प्रतापी का प्रभाव जय और निश्चय सात्त्विक भाव वाले का सत्य, विष्णु-कुल में यागुदेव पाण्डवों में धाजय, मुनिरों में ध्यात, कवियों में उन्ना, गायक का वज्र, जय चाहने वालों की नीति, गुह्य बातों में मौन, ज्ञान प्राप्त का ज्ञान, उत्पत्ति का कारण स्थावर जगम या जनक, यही परम सत्य है। गङ्गा का विभूतिर्वा उती स ह (10-10-11)।

भावना, महेश्वर और परमात्मा भी कहलाता है (13'22)। विचार और गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं (13'10)। इस कारण, काय कारण का हेतु प्रकृति है और सुख-दुःख में हेतु पुरुष है (13'20)। पुरुष में दो स्तर हैं—एक, परमपुरुष का जो सर्व-व्यापी और अव्यक्त है और दूसरा, प्रकृति में रहने वाला पुरुष (जीव) का।

पुरुष का आधार आत्मा है जो परमात्मा का अंश है। जीवात्मा ही क्षेत्रज्ञ है। अग्नि, शरीर, इंद्रिया (ज्ञान और बर्मेन्द्रिया) मन, बुद्धि और आत्मा से मिलकर बनता है। शरीर (दह) में अधिष्ठित सूक्ष्म इंद्रिया हैं, उनमें अधिक सूक्ष्म मन है, उसमें अधिक सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि में भी अधिष्ठित सूक्ष्म है, वह आत्मा है (3/42)। आत्मा इंद्रिया और मन के लिये अव्यक्त और विचार रहित है (2/15)। इंद्रिया के स्पर्श सर्वों और गर्मों तथा सुख और दुःख देने वाले होते हैं, और अनित्य होने के कारण वे जात होते रहते हैं (2/14)। आत्मा परमात्मा का अंग है अतः, आत्मा अमर-अमर है और वह न मरता है और न मारा जाता है। जो इस मारने वाला और मारा हुआ जानता है वह वस्तुतः कुछ नहीं जानता है (2/10)। नाशवानता देह है न कि आत्मा (2/18)। आत्मा अजन्मा नित्य गात्रवत् और पुरातन है। शरीर का नाश से इसका नाश नहीं होता। आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान समयों में विद्यमान है (2/20)। आत्मा का न तो घटन छेद सकते हैं न आग जला सकते हैं न पानी भिगा सकते हैं और न वायु इस गुणा सकता है। आत्मा नित्य, अचल, स्थिर अचल और सनातन है (2/23-24)। आत्मा तो नित्य जन्मने तथा मरने वाला है (2/26)। सबकी दह में विद्यमान यह आत्मा नित्य और अव्यक्त है (2/30) और इस कारण भूतमात्र की जन्म में पहले और मरण के बाद की व्यवस्थाएँ अव्यक्त हैं। उनकी वस्तु वर्तमान अवस्था ही व्यव्यक्त है (2/23) और वह भी कुछ काल के लिये है।

देह (क्षेत्र) में पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), अहन्ता (अहंकार अर्थात् शरीर के प्रति विद्यमान अहंभाव), बुद्धि, प्रकृति दस इंद्रिया (पांच ज्ञानेन्द्रिया नास, कान, आँख, जीभ और त्वचा तथा पांच बर्मेन्द्रिया हाथ, पैर, मुँह, श्रोत्र और गुण), एक मन, पांच विषय (ज्ञानेन्द्रिया के विषय सूचना, सुनना, देखना, चमकना और छूना), इच्छा, द्वेष, गुण, दुःख, मर्षा (शरीर के तत्त्वा की परस्पर महानिष्ठा करने की शक्ति) चेतन शक्ति और धृति (शरीर के परमाणुओं का एक दूसरे में रहने का गुण जो अहंभाव के कारण ही सम्भव है और जो अव्यक्त प्रकृति में विद्यमान है) का वाग है, त्रिक कारण देह विचारयुक्त रहता है (13/5,9)। दह में उत्पन्न होने वाले विचार का कारण सावित्र, सत्य और तामस तीन गुण हैं जो प्रकृति में अनिरहित हैं। यह सारा समार और इसका सारे देहधारी पुरुष और प्रकृति के मेल से सम्भव उत्पन्न होता है रहित उत्पन्न। अतः व्यापार प्रकृति में इन तीनों गुणों के कारण है। इंद्रिया विषय, मन और बुद्धि उनमें निवास स्थान हैं। सारा

अनुसार जोर सारे भूतमात्र इ ही तीन गुणों के व्यापारों की लीला का परिणाम है। गीताकार के लिये यह ससार गुणत्रयविभागयाम¹ है। सत्त्वगुण प्रकाश, आरोग्य, सुख, शान्ति और ज्ञान का कारक है, रजोगुण क्रम, राग, तृष्णा और आसक्ति का, तमागुण अज्ञान, मोह, असावधानी, आलस्य, निद्रा और प्रमाद का (14/5-10)। काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार जो मनुष्य के घातु हैं राजस तथा तामस गुणों से उत्पन्न हान है (3/37, 40, 41, 43)। मन और इन्द्रिया स्वभावना राजस और तामस की धार भुङ्कती हैं। जहाँ सात्विक है, वहाँ राजस और तामस नहीं हैं, जहाँ राजस है वहाँ सात्विक और तामस नहीं है और जहाँ तामस है, वहाँ सात्विक और राजस नहीं है (14/10, 11, 12, 13, 14)। व्यक्ति, यग, यम, कर्त्ता, ज्ञान, बुद्धि, धृति, सुख सत्यास, त्याग, धारणा यत्न, भक्ति श्रद्धा और दान, सन्नेप में जितने भी सामाजिक मानसिक (Social Psychological) प्रमेय हैं, वे सभी गुणत्रयविभाग याग से बचे हैं। प्रकृति के ये तीन गुण गीताकार के अनुसार देहधारी की तीन आधारभूत जैविक मानसिक (Bio Psychological) प्रवृत्तियाँ हैं जिसे मनुष्य का वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यापार विधान बधा हुआ है। इनमें सात्विक सर्वाधिक यादनीय है और तामस सर्वाधिक अवाछनीय। मोक्ष सात्विकता से मिलता है। अतः, सात्विकता मानव जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है।

गीता के अनुसार, जो सर्वोत्तम अविनाशी है वह ब्रह्म है प्राणिमात्र में अपनी सत्ता में जा रहता है वह अन्याय है। अधिभूत परमसत्ता का नाशवान स्वरूप है, अधिदत्त अधिभूत में रन्ने वाला उसका जीवस्वरूप है और प्राणिमात्र का उत्पन्न करने वाला दृष्टि-व्यापार क्रम है (8/1, 4)। प्राणी का भौतिक आधार देह है जो प्रकृति से मिलता है। प्रकृति का अंग हान के कारण देह में प्रकृति के गुण व्याप्त रहते हैं और देह के व्यापार का कारण बनते हैं। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण गत्त राजस और तमस अविनाशी देहधारी (जीव) को देह के सम्बन्ध में बाधते हैं (14/5)। रजोगुण देहधारी को क्रमपात में बाधता है (14/7)। गीता में क्रम के प्रति प्रकृतिवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है क्योंकि गीताकार के मत में प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण प्रमेय मनुष्य से क्रम कराते हैं (3/5)। देहधारी के लिये क्रम त्याग सम्भव नहीं (16/11) क्योंकि शरीर का व्यापार क्रम क्रिये बिना नहीं चल सकता (3/8)। वास्तव में कोई देहधारी एक क्षण भी क्रम विन्य बिना नहीं रह सकता (3/6)। क्रम गुण की स्वाभाविक व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। अतः, जहाँ गुण है वहाँ क्रम है। क्रम गुण में अतः ही व्याप्त है जहाँ क्रम में गुण-व्यय मुख्य में प्रकाश। गुण स्वाभाविक है अतः गुणानुसार क्रम भी स्वाभाविक है। गुणानुसार स्वाभाविक क्रम से देहधारी का व्यवहार भी बचना पड़ता है। अतः क्रम न बढा है, 'मे भूमान

का इतर, अविनाश और अजमा हैं फिर भी, अपने स्वभाव को लेकर अपनी माया के बल में जन्म ग्रहण करता है (1/6)। मैं अविनाशी हूँ लेकिन, फिर भी, गुणानुसार कर्म के आधार पर मैं चार वर्ण उत्पन्न किये हूँ (4/13)। मैं कर्म में लगा रहता हूँ यद्यपि तीनों पापों में मुझे कुछ करने का है और न पाने का है (3/22)। लेकिन, हाँ, यदि मैं कर्म न करूँ तो ये तीनों लोक भ्रष्ट हो जायें और मैं अव्यवस्था का कर्ता तथा इन लोकों का नाश करने वाला बनूँ (3/24)।

गुणानुसार कर्म ही व्यवस्था का आधार है। सारे ब्रह्माण्ड की व्यवस्था गुणानुसार कर्म पर ही आधारित है। मानव जीवन व्यापार और व्यवस्था भी मानव के गुणानुसार कर्म पर आधारित है। केवल कर्म न करने से मनुष्य निष्कर्म नहीं बन सकता और न कर्म के केवल बाहरी त्याग में वह भाग ही पा सकता है (3/4)। जीवन के लिये कर्म इतना आवश्यक और स्वाभाविक है कि उसका सम्पूर्ण त्याग ही नहीं सकता। कर्म का त्याग हर दशा में केवल बाहरी ही रहेगा। जो मनुष्य कर्म करने वाली इन्द्रिया का रक्षण है परन्तु उनमें विषयों का चिन्तन मन में करता है, वह मत्तःमा मिथ्याचारि है (3/6)। मानव जीवन की गौरीरिक्त, मानसिक तथा वाचिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर्म से ही होती है। कर्म जबिक तथा मानसिक और वयविक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इमीकारण, गीताकार ने इन्द्रिय, क्रिया और कर्त्ता को कर्म के तीन अंग माने हैं और ज्ञान, नेम तथा परिणामों का कर्म की प्रेरणा में विद्यमान तीन तत्व (18/18) क्योंकि पहले कृतव्य कर्म (नेम) और उसकी विधि (ज्ञान) का जानकर व्यक्ति परिणाम बनता है और फिर इस प्रकार प्राप्ति की हुई प्रेरणा के द्वारा वह इन्द्रियों द्वारा क्रिया का कर्त्ता बनता है। कर्म में परिणाम और कर्त्ता एक में मिल जाते हैं। कर्म में ज्ञान, नेम और ज्ञान जप तथा परिणामों की प्रक्रिया में ही कर्म-मग्न बनता है। शेष, कर्त्ता साधन क्रिया और देव सभी प्रकार के कर्मों का कारण हैं (18/14, 15)।

जसा कि महाभारत में माना गया है गीता में कर्म का कारण केवल देव ही नहीं है। देव का वहीं तक हाथ है जहाँ तक स्वाभाविक गुण और उनके प्रभाव का सम्बन्ध है और उसका आधार शून्य है। कर्त्ता, साधन और क्रियाएँ देव तथा क्षेत्र में सम्प्राप्त होने पर भी त्राव आधीन रहते हैं। महाभारत के धर्मशास्त्र के लिये एक इतना प्रमाण है कि दशानुसार कर्म करने के अन्तर्गत कर्त्ता के लिये बाद और चारा ही रहता है। लेकिन, गीताकार के लिये ऐसा नहीं है क्योंकि साधन और क्रिया के द्वारा कर्त्ता नेम और देव के प्रभाव में ऊपर उठ सकता है। महाभारतकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जिसने जसा बोया था, वह वही काट रहा है जब कि गीताकार ने इस बात पर जोर दिया है कि जो बोया था वही काट रहा है, वही काटता है। यही नहीं गीताकार ने यह भी बनाने का प्रयास किया है कि ज्ञान के द्वारा-द्वारा प्रसार है

और जिस प्रकार उनके द्वारा मोक्ष मिल सकता है। गीता के अनुसार अध्याय ५ में प्रकट है कि योगी की निष्काम कर्मसिद्धांत के आधार पर की गई व्याख्या इसका प्रमाण है। गीता की विचारधारा दबवादी नहीं है क्योंकि, गीता के अनुसार जगत का प्रभु न कर्त्तापन को रचता है और न कर्म का और न वह कर्म और फल का मूल माधता है। प्रवृत्ति ही सब करती है। ईश्वर किसी के पाप या पुण्य का नहीं माधता। अज्ञान के द्वारा ज्ञान के ढक जाने पर लोग माह (रागात्मक बंधन) में पड़ते हैं। (अतः) पाप द्वारा जिनके पाप धुल गए हैं, वे ईश्वर का ध्यान करने वाले, समय हुए उसमें स्थिर रहने वाले, उसी को सबस्व मानने वाले लोग मोक्ष प्राप्त हैं (5/14, 15, 17)।

कर्म स्वाभाविक है। अतः कर्म बंधन नहीं है। बंधन है कर्मफल के प्रति आसक्ति, मोह और लगाव। कर्म मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है—वह अधिकार जो जन्मजात है। लेकिन कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है। गीता के अनुसार, मनुष्य के लिये निष्प्रियता असम्भव है और कर्मफल उसके अधिकार के बाहर (2/47)। कर्मफल के प्रति आसक्ति ही मानव को आवागमन के बंधन में बाधती है। कर्मफल के प्रति आसक्ति काम, शोध और अहंकार में उत्पन्न होती है। काम, शोध और अहंकार राजस तथा तामस गुणों की प्रधानता से उत्पन्न होते हैं। जब इन्द्रिया, मन और बुद्धि राजस और तामस गुणों के प्रभाव में होती हैं तो, काम, शोध, मद लाभ और अहंकार का प्रभाव बढ़ता है जिससे ज्ञान ढक जाता है और दहधारी धनुष हा जाता है (3/40)। राजागुण लाभ का कारण है और कर्म की ओर प्रवृत्त करने का भी (14/17)। काम शोध और लाभ आसुरी सम्पत्ति हैं और इनके प्रभाव में किया हुआ कर्म बंधन में बाधता है क्योंकि इनसे कर्म के फल के प्रति आसक्ति बढ़ती है, जिससे दहधारी का इस संसार में बार बार जन्म लेना पड़ता है (16/10)। गीता में प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार मानव जीवन में न तो कर्मफल के प्रति आसक्ति का स्थान है और न कर्मों के प्रति अहं या कर्त्तापन के भाव का। जब सब कर्म प्रवृत्ति के गुणों द्वारा किये हुए होते हैं और सारा कर्म-माध्यम प्रवृत्ति के गुणों की सीमा का व्यापार है तो मैं ब्रह्मा हूँ यह वह मनुष्य मानता है जो अहंकार से मुक्त हो गया है (3/27)। अपने अपने विषयों के प्रति इन्द्रिया को रागद्वेष रहता ही है। मनुष्य का उनसे बच नहीं होता चाहिये क्योंकि वे मनुष्य के भाग में बाधक हैं (3/1)। दशोक्तारण्य, गुण-कर्म के विभाग का रहस्य जानने वाला पुरुष उन्मत्त आसक्ति नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि सारा कर्म व्यापार तभी उत्पन्न होता है जब गुण गुण में बँटते हैं (3/29)। प्रवृत्ति के गुणों में माह हुए मनुष्य गुणों के कर्मों में आसक्ति रहता है। वे जानती और मादबुद्धि है (7/29)। कर्मवादी, कामना और कर्मपाण्ड का करने वाले स्वयं का ही उद्धान्त यात्रा कर्म मरण तथा कर्मफल में विभाग करने वाले तथा भाग और अन्त्य के लिये ही कर्म करने वाले अज्ञानी

हैं वदेवि भाग घोर ऐश्वर्य में लिप्त रहनेवाला की वृद्धि पायी जाती है (242-43)। विषयों में चिन्तन में आसक्ति, आसक्ति से कामना कामना से शोक, शोक से मूढ़ता, मूढ़ता से स्मृतिभ्रान्ति और स्मृतिभ्रान्ति से ज्ञान-नाश की उत्पत्ति होती है। ज्ञाननाश की अवस्था मतक की अवस्था है (262-63) और जहाँ ज्ञान का नाश होता है, वही अज्ञान का तम छा जाता है जिसमें मनुष्य में कर्मफल के प्रति आसक्ति घाती है और वह सासारिक बंधन में बंधता है।

जीवन में कर्म आवश्यक है न कि कर्मफल की कामना और उसके प्रति स्पर्धा तथा लगाव। जीवन का अन्तर्वागत्वा उद्देश्य कामना नहीं बरन मोक्ष है। मोक्ष बंधन नहीं स्वतन्त्रता है परमगति है निवाण है। माया वह अवस्था है जहाँ सामान्य बंधन नहीं हैं और सामान्य बंधन वही नहीं हैं जहाँ न तो प्रकृति का बंधन है और न प्रकृति से उत्पन्न होने वाला गुणा का व्यापार का। माया अव्यक्त और निस्पृह की अवस्था है क्योंकि माया परम पुरुष का साथ आत्मा का सम्मिलन की अवस्था है और परमपुरुष अव्यक्त तथा निस्पृह है। अपनस्वभाव का अनुसार समरन हाते हुए भी परम पुरुष निस्पृह है। उसका कर्म न तो उस स्पष्ट करत है और न उसकी उसे लालसा ही है (314)। माया गुणावात की अवस्था है और मनुष्य गुणानीन तब होता है जब ज्ञान द्वारा उसे यह अनुभव हा जाता है कि गुणा का गिरा और कोई कर्ता नहीं है।

इहलौकिक जीवन में जो इस गुण-व्यापार का भेद को जानता है, वही गुणातीत¹ है। दृष्टांती तभी मोक्ष पाता है जब वह दृष्ट का सगम उद्गम हान पाती तभी गुणा का पार कर जाता है (14-20)। जहाँ कर्मफल का इच्छा नहीं है जहाँ गुणातीतता है, वहीं आत्मपरायणता में ब्रह्मपरायणता² का अभ्युदय होता है और

1 गुणातीत वह है जो प्रकाश प्रकृति और मोह प्राप्त होने पर दुःख नहीं मानता, इनका प्राप्त न होने पर इनको इच्छा नहीं करता, उदासीन की भाँति जो स्थिर है, जिस गुण विचलित नहीं करता, जो यह समझकर स्थिर रहता है कि गुण ही अपना काम कर रहे हैं जो कभी विचलित नहीं होता, जो सुख दुःख में सम और स्वस्थ रहता है, मिट्टा के दल, पत्थर और साने को समान समझता है, प्रिय अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर समान रहता है, जिसका लिय निन्दा और स्तुति माया और अपमान तथा गर्व और निम्न समान है और जिसने समस्त जारम्भों (सकपों) का त्याग कर दिया है (11/22-27-28-29)।

2 जो तीन गुण बंधन विषय है उनमें अग्रिम रहता, सुख दुःख का द्वन्द्व से मुक्त होना, निम्न उत्पन्न वस्तु में स्थित रहना और किसी वस्तु का पाप और सभालन के शङ्क से मुक्त रहना, आत्मपरायणता है। ज्ञानमाया का द्वारा

यही अमृत्य मोक्ष का साधन बनता है। यह अमृत्य न तो ससार त्याग से मिलता है और न सकाम कर्म से। इसकी प्राप्ति हाती है निष्काम कर्म से—उस कर्म से जो नियत समय पर किया जाता है लेकिन जिसके फल के प्रति आसक्ति नहीं है। यही कर्म सात्त्विक है क्योंकि यही कर्म दिव्यकर्म का आधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर्म की गति गूढ़ है। कर्म और अकर्म के विषय में समझदारों को मोह भी हुआ है और हाता है। कर्म अकर्म और निषिद्ध कर्म का भेद भी जानना आवश्यक है। लेकिन कर्म की गूढ़ गति के भ्रम को वही जानता है जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है (4/16 17 18) क्योंकि दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य यही है। किन्तु यह जानानुभूति यही है जहाँ निस्पृह और समस्त (समभाव) है। कर्म की सिद्धि चाहने वाला इस लोक में दैवताओं को पूजते हैं इससे वह कर्मजनित फल मनुष्य ज्ञान में तुरन्त मिल जाता है (4/12)। लेकिन इससे न तो कर्म बंधन से मुक्ति मिलती है और न मोक्ष मिलता है। इसी श्रुति गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कर्म-बन्धन में व नहीं पड़ने जा मुझे अच्छी तरह जानते हैं (4/14) जो भेदे दिव्य जन्म और कर्म का रहस्य जानता है वह तब तब त्याग करके पुनर्जन्म नहीं बल्कि मुक्त पाना है (4/0)।

मनुष्य के श्रुति कर्म स्वाभाविक ध्यातव्य वाञ्छनीय और नियत है न कि कर्मफल और उसके प्रति लालसा। कर्म फलसक्ति अज्ञानता मूर्खता दासता और बन्धन है। परम पुरुष त्रिमय मनुष्य की परमगति स्थित है कर्म में नहीं कि कर्मफल में। मानव स्तर पर गुणानुसार कर्म की दा श्रणियां हो जाती हैं—एक, स्वयं कर्म की और दूसरी निष्काम कर्म की। सकाम कर्म जिसमें कर्मफल के प्रति आसक्ति रहती है राजस और तामस से उत्पन्न होता है। कर्मफलसक्ति में मानव के तमो अहंकार में मोह काम और कामना का वास है। कर्मफलसक्ति से अज्ञानता जाती है जो अमृत्य का ही अधोगति का कारण बनती है। इसके विपरीत निष्काम कर्म सात्त्विकता का जनक है। वह सत्त्व से उत्पन्न होकर सात्त्विकता और सात्त्विक बल का जन्म देता है। सात्त्विकता ही अमृत्य और मोक्ष का साधन है। सात्त्विक कर्म ही कर्म-बन्धन से मुक्त कर सकता है और सात्त्विक कर्म वह है जिसमें निष्कामता है। निष्कामता वह है जहाँ कर्म के प्रति अहंकार का भाव नहीं है जहाँ कर्म का प्रकृति व गुणों का व्यापार समझा जाता है जहाँ गुणातीतता है जहाँ समस्त है और जहाँ सारे आरम्भ कामना आरंभ व्यक्त में ही समा हो गया है। निष्कामता की अवस्था कामनीय की भी अवस्था है क्योंकि जिसने किसी धार्मिक की स्तुति नहीं है वह बाध में अच्छी तरह सगा हुआ भी कुछ नहीं करता है

कामना को जानता वह परायणता है। जिस प्रकार सरोवर से वे सारे काम निकलते हैं जो कुछ ही निष्काम हैं वैसे ही ज्ञानवादी व्यपरायण को, जो यहाँ यह बात ध्यातव्य मित्रता रहता है (1-10)।

(1/20) । जो योगी रहित है, जिसका मन अपने चंग में है जिसमें सारा स्थान छाट दिया है और जिसका शरीर मर रहा कम करता है वह कम करता हुआ भी कम का दोषी नहीं होता (3/12) । जो यथा योग में मग्न रहता है जो मुक्तगति होता है मुक्त हो गया है जो मग्नता निश्चयता में तटस्थ है वह कम करने हुए भी कम-व्ययन में नहीं पड़ता (4/22) ।

पूर्ण कर्मसंयास अगम्य है क्योंकि दहधारी में कम प्रतीति है । संयास और वराग्य से न तो कोई कम हो त्याग सकता है और न मसार का क्योंकि कम के आधार, धारीरी व्यापार से मुक्ति पण ही बात मिल सकती है । इसीलिए, गान्धार के अनुसार, अग्नि और अग्नि का त्याग करने वाला संयासी नहीं है । संयासी यह है जो कर्मफल का आशय लिये बिना कम करता है (6/1) । इस दृष्टिकोण से कम-संयास अवाम्बुविष है, अतः कर्मसंयास का विचार अज्ञान है । गीताकार ने त्याग का संयास का आधार माना है । कामना से उपपन्न हुए कर्मों का त्याग संयास है और सम्पन्न कर्मों के फल का त्याग त्याग है ((18/2) । कर्मफल का त्याग ही सात्विक त्याग है । कितने ही विचारमात्र पुरुष कहते हैं कि दोषमय हान के कारण कर्मफल त्यागन योग्य हैं और अज्ञान तथा तपस्वी कम त्यागन योग्य नहीं है (18/1) । गीताकार को कम सम्बन्धी मायका इस द्विविधा से परे है । गान्धार के लिये कोई भी कम दाप से उसी प्रकार मक्त नहीं है जस कोई भी अग्नि घुग म मुक्त नहीं है । जहाँ कर्मफल का त्याग किया जाता है वही कर्ता कर्मफल के दाप में मुक्त हो जाता है । अतः यज्ञ दान और तपस्वी कम तमो दापरहित हाते हैं जब उन्हें आसक्ति और फलच्छा का त्याग करके किया जाय (19/1 अ, 6) । गीताकार के लिये फलच्छा रहित यज्ञ दान और तप सात्विक हान के कारण वाछनीय हैं । जिस यज्ञ, दान और तप में फलच्छा के प्रति आसक्ति है वह मत्तम होने के कारण अकरणीय है (17/11-22) । नियत कम का त्याग उचित नहीं है । त्याग्य है नियत कर्मसंग और कर्मफल के प्रति आसक्ति (18/1-9) । मनुष्य के लिये कर्मफल का त्याग ही सम्भव है और उसका योग्यता है वही त्यागी कहलाता है (18/11) । कर्मफल त्यागी का कर्मफल का प्रभाव नहीं पड़ता (19/12) । इसलिये, जो आसक्ति और अहंकार रहित है जिसमें श्रुति और शास्त्र का शपथना निष्पत्ति में हान-मान नहीं करता, वह कर्ता सात्विक है (19/10) और जो सात्विक कर्ता है, वह योग्य रहित, शुद्ध श्रुति वाचा योगी और बुद्धिमान होने के कारण धृतिविधा अतः कम का द्वेष नहीं करता और धृति वाचक मत्तम मत्तम मत्तम मत्तम (18/10) ।

जिस संयास का है वह, गीताकार के अनुसार कर्मसंयास है और कर्मफल त्याग का साधन योग के द्वारा मत्तम । कर्मफल के बिना कर्मयोग का साधन है (6) । इसलिये भाषाण का अर्थ मत्तम है । श्रुति वाचक । जिस संयास का है उसका योग जान । जिसमें मत्तम मत्तम को त्यागता नहीं । यह

वभी याग नहीं हो सकता (6/2)। योग की साधना के लिये कम का साधना आवश्यक है। गति उम ही मिश्रित है जो कमयाग द्वारा योग साधता है (6/3)। कमयोग का अर्थ है कमफगमस्ति का त्याग करके कम की साधना करना। जब मनुष्य इंद्रियां व विषयां में या कम में आसक्त नहीं होता है और सब मन्त्र तज जाता है तब वह यागारूढ़ कहलाता है (6/4)। यागी वह है जो आत्मा से आत्मा का उद्धार करे और आत्मा में आत्मा का उद्धार करे होता है जहां मन इंद्रियों के वश में न रहकर बुद्धि और आत्मा के वश में रहता है। जिसने अपना मन जीता है, जो सम्पूर्ण रूप से गति हो गया है, जिसकी आत्मा सर्वोत्तम, सुख-दुःख और मान-अपमान में समान रहती है, जो ज्ञान और अनुभव से तृप्त है, जो इंद्रियजित और अविचल है, उसके लिये मिट्टी, पत्थर और लोहा समान है, ऐसा ईश्वरपरायण मनुष्य यागी कहलाता है (6/8-9)। यागी वह है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से या केवल इंद्रियों में भी आसक्तिरहित होकर आत्मबुद्धि के लिये कम करता है (6/11)। जिसने याग साधा है जिसने अपने हृदय को विगुड़ किया है, जिसने मन और इंद्रियां जीता है और जो भूतमात्र का अपने ही जैसा समझता है ऐसा मनुष्य कम करते हुए भी उसमें अन्विष्ट रहता है (5/7)।

जीवन एक निरंतर याग आत्मा के अनुसंधान और ब्रह्मप्राप्तिरूप सुख के अनुभव की ओर प्रयास है (6/24)। इसीलिए लयन से प्रयत्न करता हुआ योगी, पाप से छूटकर अनन्त ज्ञान से विगुड़ होता हुआ परमगति का प्राप्त होता है (6/40)। योग का जिनामुक्त्यं सत्त्व वैदिक कर्म करने वालों की स्थिति पार कर जाता है (6/41)। मन में मग्न होने का कारण, जो योगभ्रष्ट हो जाता है उनका नाश न हो इस लक्ष्य में होता है और न परमात्म में क्योंकि कल्याण मार्ग में जानें यात्रे की वही दुर्गति नहीं होती है (6/40)। पुष्पगाली लोहा का मिलाने वाले स्थापक पार और रंग वस्तु समग्र तत्त्व रहकर योगभ्रष्ट मनुष्य पवित्र और साधन बाने के घर में जम जाता है या जानकार मार्ग के घर में जम जाता है जहां उम पूज्यजन्म के बुद्धि और मन्त्रार मिश्रित है और जहां में वह मार्ग के लिये पुनः आगे बढ़ता है क्योंकि पूर्वजन्म उम याग की ओर लक्ष्य साधना है (6/11-12)। उक्त, योगी तपस्वी, शांत और समस्त की गति है (6/10)।

समस्त का ही नाम याग है (6-42)। गीता में समस्त के लिये 'समभाव जोर समस्त' का ही प्रयोग है। समस्त निष्कामता की साधना में जाती है। समस्तमनाशक्ति का ही लक्ष्य है कि समस्त समभाव या समस्त समस्त ही ही ही ही (Attitude) है जिस ओर ही कम साधना

मन और इन्द्रिया व विषया में हटकर समस्त और समाधि में स्थिर हो जानी है जिसमें वाङ्मय व्यक्ति में कष्टों की कामना कम हो जाती है। गीताकार के अनुसार, बुद्धि का स्थान माह नही समाधि और समस्त है (२/७२-७३)। समाधि और समस्त में स्थिर हुई बुद्धि का समत्वबुद्धि कहा गया है। समत्वबुद्धि की तुलना में जबल कम बहुत तुच्छ है (२/४९) क्योंकि जहां केवल कम करने वाला व्यक्ति कम-बचन में फसता है और दया का पाप है, वहां समत्व बुद्धि वाले पुण्य का पाप पुण्य का स्थान नहीं होता और वह, कम से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग करके, कम-बचन से मुक्त हो जाता है (२/५०-५१)। समत्व बुद्धि स्थितप्रज्ञता^१ से आती है और स्थितप्रज्ञता स्थिरबुद्धि^२ से। प्रज्ञानता वही है जहां मन बुद्धि के वश में है और इन्द्रियों का व्यापार समुद्रपरहित होकर चलता है (२/७४)। स्थिरबुद्धि से प्रज्ञानता और चित्त की प्रज्ञानता से स्थिरबुद्धि आती है (२/७५)। प्रज्ञानता और स्थिरबुद्धि से शांति आता है और शांति से मुक्त। इस प्रकार, शांति और मुक्त की उत्पत्ति समत्व से होती है न कि कमफल की इच्छा और कामना से^३। समत्व ही वह स्थिति है जहां मनुष्य आत्मपरायण होता हुआ ब्रह्मपरायण होता है। यहां मोह नहीं रहता और ईश्वर की पहचान होती है और यही मत्सुकाल में भी ऐसी स्थिति दिखता ब्रह्मनिर्माण की प्राप्ति होती है (२/२२)।

स्थित प्रज्ञता, स्थिरबुद्धि और समत्व के लिये समय आवश्यक है। जहां सब प्राणी सान है, वहां समयी जागता है और जहां सब लाग जागते रहते हैं वहां ज्ञानवान् मुनि सोता रहता है (२/७७)। जो इन्द्रिया का मन व द्वारा नियम में रहते हुए मन

- १ स्थितप्रज्ञता प्रज्ञा की वह अवस्था है जहां समस्त कामनाओं का लोप हो जाता है और आत्मा द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्टि उत्पन्न होती है (२/५५)।
- २ वही बुद्धि स्थिर है जिसमें सुख दुःख से विकार न उत्पन्न हो, जो राग भय और शीघ्ररहित हो जिसमें गुण-अगुण की प्राप्ति से हर्ष और मोह न हो, जिसके प्रभाव से इन्द्रिया अपने विषयों में से दूरे हो तिमटि जाता है, जैसे बछल व सज्जन बाहु सतार से तिमटि कर अलग हो जाते हैं। स्थिर बुद्धि इन्द्रियों व दया में न रहकर, इन्द्रियों की अपने वश में रहता है और स्वयं यत्न करने में सान रहती है (२/७६-७७, १८-७९)।
- ३ जहां समस्त नहीं वहां न सा विद्वत् है और न भक्ति, यहां भक्ति नहीं है, यहां शांति नहीं है और यहां शांति नहीं है, वहां मुक्त नहीं है (२/७७)। यह कामनाओं का त्याग करके जो पुण्य, इच्छा, समयता और अस्वभाव रति होकर विद्यमान है, वही शांति माना है (२/७७)। जो मनुष्य में सतार व भोग ज्ञान हो जाना है वही शांति प्राप्त करता है न कि कामना या मत्सु (२/७७)।

रहित हाकर कर्मोद्भवा द्वारा कमयोग का आरम्भ करता है, वह शष्ठ पुरुष है (3/7)। समत्व न तो जतिमाजी को प्राप्त होता है और न उपवामी का और न अति स्वप्नशील का और न जति जागन वाले का। जो मनुष्य आहार विहार, मोने जागने और दूसरे कर्मों में परिमित रहता है, उसका योग दुग्भजन हो जाता है (6/10 17)। भलीभांति नियमबद्ध मन जब आत्मा में स्थिर होता है और मनुष्य सारी कामताओं में निम्पूह हो जाता है तब वह योगी कहलाता है (6/18) और आत्मा को परमात्मा के साथ जाहने का प्रयत्न करने वाले स्थिरचित्त योगी की स्थिति वापुर्हित स्थान में अवल रहन वाले दीपक की सी कही गई है (6/19)। जिनका मन समत्व में स्थिर हो गया है उन्होंने इस देह में रहते ही ससार को जीत लिया है। ब्रह्म निष्कलन और समभावी है। इसीलिये जिसने समत्व पा लिया है, वह ब्रह्म में ही स्थिर होता है (6/19)। देहात्त से पहले, जिसने इस देह से ही काम और त्राघ के वेग को सहन करने की शक्ति प्राप्ति कर ली है, उस मनुष्य ने समत्व पाया है, वही सुखी है (6/20)।

समत्व इस प्रकार, न तो निष्प्रियता है और न शून्यता। समत्व न तो वैराग्य है, न सपास और न कोरी निवृत्ति। समत्व कोरा योग भी नहीं है और न वह बारी विरक्ति है। समत्व उत्साहीनता भी नहीं है। समत्व, निष्काम, कमठ तथा शत्रिय जीवन का आध्यात्मिक बौद्धिक आधार है क्योंकि समत्व वह निष्काम मनोवृत्ति है जो स्थिरबुद्धि से उत्पन्न होती है। निष्कामता कम में नहीं, मन और बुद्धि में होती है। निष्कामता तब उत्पन्न होती है जब मन और बुद्धि को समय के द्वारा इन प्रकार दीक्षित किया जाय कि कमफल की कामना के प्रति आसक्ति ही न रह जाय। योग केवल समाधि अभ्यास और ध्यान नहीं है। निष्कामता में कम का या योग ही योग है। इसीलिये गीता का कम मिद्धात निष्काम कमयोग का मिद्धात है, ता कममयास से बढकर है। ईश्वर, ब्रह्म और आत्मा निष्काम हैं। समत्व उनका गुण है। इसलिये निष्कामता तथा समत्व का उदभव कम से न होकर ज्ञान से होता है—ब्रह्म ज्ञान तिमसु मुख दुस्व लाभ हानि जय पराजय कम अकम समान है और कमपच्छा से लोप हो गया है (2/11)। जैसे ज्ञानी योग आगवन हाकर कम करत है उस ज्ञानी को आसक्ति रहित हाकर कम करना चाहिये (3/25)। परन्तु ज्ञानी ही अने-बुरे पक्ष का आरोप ईश्वर पर करता है। परन्तु जिनके अज्ञान का आत्मज्ञानपरा ता हो गया है उनका सुख के समान प्रशान्तमय उनका पाप परमन के साथ करना है (6/16)। ज्ञान द्वारा जिनके पाप धुन गए हैं, वे ईश्वर का ध्यानात्मक दास तमय हुए, उनमें स्थिर रहने का न उमी है। सर्वस्य मान पाप लोप पाप पान है (6/17)।

निष्कामयोग समत्व पर आधारित है और समत्व ताप पर। इसलिये, निष्कामयोग रहित शास्त्रमार्गयोग है। समत्वमय निष्कामयोग ज्ञान

यन है जो द्रव्य यन से कहीं अलग है क्योंकि कर्ममान ज्ञान में ही पराकाष्ठा का पटुवन है (4/33) । बड़े सब्ज पापी भी ज्ञानम्पी मोक्ष के द्वारा सब पापों का पार कर जाता है (4/36) । जन प्रज्जतिनि अग्नि इधन का काम कर देती है जैसे ही ज्ञानम्पी अग्नि सब कर्मों का नष्ट कर देती है (4/37) । ज्ञान के समान हम मत्तार में दूसरा कुछ पवित्र नहीं है और समस्त में पूर्णता प्राप्त मनुष्य समय आनंद पर अपने आप में उसकी पाता है । धृष्टवान्, ईश्वरपरायण और त्रिनिद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त ज्ञानि का प्राप्त होना है । अद्वैतसिद्धि सत्यवान् ज्ञानी के लिये न यह गलत है और न परमात्म । जिसने समस्तवस्त्वी योग द्वारा कर्मफल का त्याग किया है और ज्ञान द्वारा सत्य का ध्यान कर डाला है, ऐसे आत्मदार्ढ्य का कर्मबन्धन नहीं होता (4/39-41) । हम लाख की दो अवस्थाएँ हैं—एक ज्ञानयोग की और दूसरी कर्मयोग की (4/3) । ज्ञान और कर्म न तो परस्पर विरोधी हैं और न भिन्न । ज्ञान की परिणति कर्म में है और कर्म की ज्ञान में । दोनों अर्थात्प्राप्त हैं । ज्ञान और कर्म का भिन्न पक्षित नहीं ज्ञानी मानते हैं । एक में अच्छी तरह स्थिर रहने वाला भी दोनों का फल पाता है । ज्ञानी और योगी का एक ही गति मिलती है । तत्त्वदर्शी दोनों का समान पाता है (7/45) ।

अमानसित्व, अभिवृत्ति अहिंसा क्षमा सरलता, आचार्य की सेवा गुरुज्ञान, स्थिरता, आत्मसत्यम इन्द्रिया के विषयों में वैराग्य अहंकाररहितता, ज्ञान, मरण, जरा व्याधि दुःख और दाया का निरंतर ज्ञान पुनर्जन्म और गलत भावों में माहृत तथा समस्त का अभाव, त्रिषु और अधिषु में निरत समभाव ईश्वर में अन्तर्ध्यानपूर्वक एक निष्ठ भक्ति एकात्म्यमान का भवन जन्ममूह में मम्मिन्नि ज्ञान की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की निरतिता का ज्ञान और आत्मज्ञान—यह सब ज्ञान कहलाता है । इसका जो विपरीत है वह अज्ञान है (13/7-11) । लेकिन यह सब ज्ञान का लक्षण है । ज्ञान ज्ञेय का आध्यात्म है । ज्ञेय वह है जिसमें भाव मिलता है और वह अज्ञानि परब्रह्म है ज्ञान मत है और न अज्ञान जो गुणातीत, अव्यय तथा अविध्य है और नाशय भा है और अविद्य भी जो गतिमान है और स्थिर भी जो भूता में अविभक्त है और विभक्त भी जो प्राणिमा का पालन ज्ञान भी है और नाशय भी । ज्ञान वही है ज्ञेय वही है और ज्ञान में जो प्राप्त होता है वह भी वही है (13/12-17) । इसीलिये यह कहा गया है कि क्षत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (ज्ञेय को जानने वाला प्रधान ईश्वर) के अद्वैत का ज्ञान ही ज्ञान है (13/2) । ज्ञान यह मानना कि ज्ञान ज्ञेय समस्त का ज्ञान आत्मा में आत्मा की परब्रह्म होना है अर्थात् ज्ञान भूतमान में ही आत्मा का अनुभव ज्ञान है—जो आत्मा जो परमात्मा परब्रह्म और ईश्वर का दहप्राप्त ज्ञान है । इसीलिये ज्ञान का ज्ञेयमान (आत्मा में आत्मा के ज्ञान) ज्ञानमान और ज्ञानमान का परब्रह्ममान मानने दो ईश्वर और ईश्वर का परब्रह्ममान मानना ज्ञान है ज्ञान निरतिता, ज्ञान, निरतिता, स्थिर-

बुद्धि और स्थिरता के कारण आत्मपरायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता जाती है। यहाँ ब्रह्मकार का भाव नहीं है और न कृतापा का भाव है। इसी ज्ञान पर सारा स्तिर कम निरामरुत है। यही ज्ञान मात्त्विक और वाछनीय है क्योंकि ज्ञान की इसी अवस्था में मनुष्य ज्ञान के द्वारा समस्त भूता में जनितांगी भाव का और विविधता में एकात्मता देता है (18/20)। जो ज्ञानचक्षु द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद और प्रकृति के द्वारा प्राणियों की वस्तु मुक्ति होती है, यह जानता है, वही ब्रह्म का पाता है (11/31)।

ज्ञानज्ञान आत्मा और ब्रह्म में स्थिर होता है। इसी कारण, ज्ञानवान ही समत्व और निष्कामता पाता है। गीताकार के अनुसार ज्ञान की मनोदशा दूरे नहीं है क्योंकि ज्ञानी ब्रह्म में स्थित रहता हुआ भी ससार में स्थित रहता है—यस ही, जैसे कमल पाना में स्थित रहता है। ज्ञान वह मनोदशा है जिसमें कम का आधार इन्द्रियों के विषयों में परायणता नहीं करने आत्मा में परायणता के द्वारा ब्रह्मपरायणता का भाव है। यह ससार ब्रह्म की विभूतियों की सीता है। इनमें वश्याप्य होते हुए भी वह अवश्याप्य है कमल होन हुए भी वह अनर्मा है, स्वाभावानुसार अपन गुणों के बतते हुए भी वह गुणातीत है। जहाँ ज्ञान में ब्रह्मपरायणता है वहाँ मनुष्य कम करते हुए भी कमों में लिप्त नहीं है। परायणता में निश्चरता और लगाव का भाव है। परायणता में आश्रय वृत्ति का भी भाव विद्यमान है। ब्रह्मपरायणता का अर्थ है ब्रह्म के प्रति निश्चरता लगाव तात्पर्य और समर्पण का भाव। ब्रह्मपरायणता सात्त्विक है क्योंकि यह इन्द्रियों के विषयों के प्रति परायणता नहीं है। जहाँ ब्रह्मपरायणता है वहाँ प्रवृत्ति, जाग्रत, श्रद्धा और भक्ति की भावना है। गीताकार के लिये जिस प्रकार कम और ज्ञान में द्विविधा नहीं है उसी प्रकार ज्ञान, भक्ति तथा श्रद्धा में भेद नहीं है। ब्रह्मपरायणता, समभाव निष्कामजन्म ज्ञान और भक्ति तथा श्रद्धा में उपाय है। प्रवृत्ति (श्रद्धा भक्ति), निष्कामकर्म और समत्व ज्ञान का स्वाभाविक प्रतिकार है। ज्ञानी स्वभावतया भक्त हो जाता है और भक्त ज्ञानी क्योंकि ज्ञान का आधार ब्रह्मपरायणता है। इसीलिये निष्कामकर्मयोगी ज्ञान भक्त हैं और भक्ति योग है तथा भक्त योगी हैं। भगवान् कृष्ण के अनुसार 'चित्तं ध्यायन् नरं दूरे मुक्तं मन आकर जा श्रद्धापूर्वक मरी उपासना करता' उग में श्रद्धा योगी म उपासक। अर्थात्, अनुन के प्रति उपासना कृष्ण का ध्यान है सब धर्मों का त्याग कर मुक्त। अर्थ में आ।

नर के प्रति श्रद्धा और आराधना का भाव भक्ति का आधार है क्योंकि भक्ति सभी योग है जब इसमें समत्व है और समत्व या तो ज्ञान या समता है या श्रद्धा तो आराधना ही है। ज्ञानयोग सबसे स्थिर मुख्य नहीं है क्योंकि त्रिनारायण ज्ञान में समा हुआ है उद्दण्ड अधिक है। प्रवृत्ति भक्ति का आधार श्रद्धा है (1-1)। अर्थात्, यह धारणा है कि कम में आगत ज्ञानी

मनुष्यो की बुद्धि का जाना डावाढाल न कर, परन्तु मनुष्यक अच्छे प्रकार से कम करके, उन्हें सब कर्मों में लगाने (१२६)। मनुष्य यह अर्थ है कि जगत् जानने में मनुष्य का पराकृष्टा की प्राप्ति सम्भव न हो वगैरह जो श्रेष्ठ भाव में किया हुआ कम ही निष्कामकर्मयोग है। श्रेष्ठारम्भकर और द्वय श्रेष्ठारम्भक कर्म का पक्षि कर्मजन से दूर जात है (३/३१) और नारी वश्य गद तथा पापयानि ना इत्तर का आश्रय ग्रहण करके परमगति पात है (५३० ३१ ३२)। मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की थड़ा होना है क्योंकि थड़ा सर्वाधिक तामस और राजस गुण का जन्म ग्रहण अनुसरण करती है और जसा जिसका स्वाभाविक गुण होता है उसकी थड़ा होनी है (१७/३)। सात्विकी थड़ा बाल दवताया का भजन है, राजसा बाल पात को और तामसी बाल भूतप्रेतादि का (१८/४)। जो यन् दान और तप तथा मय कार्य थड़ा रहित होता है वह असत कह्यता है। असत काय से न ता यहा का प्रयाजन सिद्ध होता है और न परशोक का (१८/२८)। ईश्वर का आश्रय और उपासना थड़ा क आवश्यक अंग है क्योंकि भगवान् कृपा का म जो मुक्त म परायण रहकर, सब कम मुझे समर्पण करके एक निष्ठा से मरा ध्यान करत हुए मरी उपासना करते हैं और मुष्म जिनका चित्त विरोधा हुआ है उह मनुष्यी मसार से नै पटपट पार कर दता हैं (१२६ ७) और मरा आश्रय ग्रहण करने वाला सग मव कम करता हुआ भी मरी कपा से गायत प पाता है (१८/६) ब्रह्मभाव का प्राप्त, प्रसन्नचित्त मनुष्य न ता शाश्व करता है न कुछ चाहता परन भूतभाव में ममभाव रखकर मरी परम भक्ति पाता है (१८/४) म कौन हू कमा हू इस भक्ति द्वारा वह (भक्त) यथाय जानता है और इस प्रकार मुक्त यथाय जानकर मुष्म प्रवर्ग करता है (१८/५)।

✓ जान से भक्ति है और भक्ति में जान और दाना से समग्रयवन निष्कामकर्म है। नन भक्ति का नैडातिव आधार क्या है ?—यह बीताहारन भगवान् कृपा के कथना में स्पष्ट किया है। उगाहरणाय म सबका उवति का कारण हू और सब मयम । ईदूत होने हैं यह जानकर समग्रार लाग नागपूजक मुष्म भजन हैं (१०/९) जो सब कम मुष्म समर्पित करता है मुष्म पगयग रता है मरा १३न वनता = आनति का त्याग करता है और प्राणीमात्र में द्वयरत्नि कर रहता है व मम पता = (११/५)। अपना विवर्ण दिवानी क वाग भगवान् कृपा जन्म म कपा है जो मर दान नून किय वह दान न ता उ ता सधन है, न ता म नान म और न याम मर मय्य प म छाया पान म मर दान और मुष्म में म नानि प्रवर्ग कन य भक्ति में ही मय्य है (११/३ ४)। मय्य जेधाय म नान कपा न क्या है मुष्म विवर्ण जान ता मुष्म प्राप्ति करने का एक दूत का वाय मरा हू मरा ता उ वानन करत हुए गताय म और गताय म है म प्रकार मुष्म म मय रन वाला का मुष्म प्रम म मान वाला का ये

ज्ञान देता हूँ जिसमें व मुझ पात है और उनके ऊपर दया करके उनके हृदय में स्थित
म, ज्ञानरूपी प्रकाशमय दीपक से, उनके अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता हूँ
(10/9-11) । अतः, मनुष्य के लिये यह श्रेयस्कर है कि मन से सब कर्मों का 'उप
अपित करके', उगम परायण होकर तथा विवेक बुद्धि का आश्रय लेकर निरंतर
'उत्तम चित्त लगाये' (18/57) । इसीलिये, भगवान् कृष्ण का आदेश है, 'अपना मन
मुझमें लगा, अपनी बुद्धि मुझ में रख (बधो कि) इससे इस (जन्म) के बाद निःसंशय हो
तू मुझे पावगा (12/8) जो मर जा स्या जा हवन में डाले, जा दान में दे, जो तप
कर वह सब मुझे अर्पण करके करना (बधो कि) इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्म
बंधन में छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व का पाकर तथा जन्म मरण से मुक्त
होकर मुझे पावगा (9/27-29) भारी दुराचारी भी यदि मुझे अनय भाव से भजे
ता उसे साधु हुआ ही मानना चाहिये मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता
(9/30-31) राग, भय और प्रोष से रहित हुए मरा ही ध्यान करते हुए मरा ही
आश्रय लेने वाले ज्ञानरूपी तप से पवित्र हुए, बहुता ने मेरे स्वरूप को पाया है
(4/10) श्रद्धावान् योगभ्रष्ट हो सकता है से । मोक्षभ्रष्ट नहीं (0/37-44) ।

गीता में अनुगार, जो उसका आश्रय लेकर जरा और मरण से मुक्त होने
का प्रयत्न करते हैं, वे पूज्यवत् तथा अध्यात्म का जोर अधिकतम काम का जानते हैं ।
जो 'उत्तम अधिभूत, अधिदैव और अधिधनयुक्त को पहचानते हैं, वे समत्व पाए हुए मनुष्य
के समय भी उगम पञ्चानन है और परमगति पाते हैं (7/29-30) । आत (दुरी)
जिनासु (जानने की प्रणाली), अर्थाधी (कुछ प्राप्ति की इच्छा वाले) जोर पानी—
ये चार प्रकार के मदाचारी मनुष्य ईश्वर का आश्रय रत हैं और उस भजते हैं । किन्तु,
हम जो जितने समभावी एक का भजन वाला है वह पानी ही श्रेष्ठ है क्योंकि ईश्वर
पानी का प्रिय है और पानी ईश्वर को । पानयोगी यह जानकर ईश्वर का
आश्रय रता है कि ईश्वर के पाने के सिवा दूसरी कोई उत्तम गति नहीं है । भक्त तो
भी श्रेष्ठ है पर पानी तो ईश्वर की आत्मा है (7/16-17-18) । गीता के अनुसार,
भक्ति का आधार त्रिकाय भाव या राग नहीं है । वरन् भक्ति का आधार पान है ।
भक्ति यद्यपि कष्टा विहाय आवगा दुःखों और कष्टों का प्राण पात का माध्यम
भी रहा है । भक्ति पानप्रमथ प्रपत्ति है जिसका आधार बौद्धिक है । कि
रागागत । पान कम और भक्ति एक दूसरे के पूरक है । मुक्त कर्म यही है जो पान
और भक्ति पर आधारित है और श्रेष्ठ भक्ति यही है जो पान पर आधारित है ।
एक प्रकार पान भक्ति जोर काम करने का आधार है । गीता में काम, पान और
भक्ति का पान प्रमथ प्रस्तुत किया गया है उगम पान का वह मानविक प्रणाली
और अध्यात्म गाना तथा श्रेष्ठ जगत् आधार पर काम और भक्ति का महत्त्व गाना
है । गीता में काम और पान का पान का महत्त्व लक्षित उगम काम और पान का आधार
गाना प्रपत्ति है । गाना या कामपान प्रस्तुत पानातिथिग है । गीता में प्रतिपादित

कर्मसिद्धांत का आधार ज्ञान है। गीता बौद्धिकता पर आधारित कर्म की प्रेरणा है—
वत् बौद्धिकता जिसका आधार समत्व है 'अविनश्यन् विनश्यत्' का अनुभव है जो आत्म-
परायण तथा तत्परायण है और इसका गण इह लौकिक जीवन में निहित है।

इसी बौद्धिकता की कसौटी पर एक बार कर्म की अपमान तथा कर्मरत-
होकर मांस पान की प्रेरणा दी गई है और दूसरी बार कर्मसिद्धांत का प्रतिपादित
किया गया है। गीता के अनुसार, 'जो मनुष्य आत्मा में गमन करने वाला उसी में
तत्परा रहने वाला तथा सत्ताप मानने वाला है उस कुछ करने का नहीं रहता क्योंकि
न तो करने या न करने में उसका कुछ स्वाध है और न भूतमात्र में ही उसका कोई
निजा स्वयं है। अतएव रहकर कर्म करने का प्रारम्भ ही मांसापाता है। इसलिए,
संग्रहित होकर निरंतर कर्तव्य कर्म करना ही मनुष्य के लिए धर्मस्वरूप है
(3/17-19)। नियत, कर्तव्यकर्म वह कर्म है जो स्वधर्म, लाभसंग्रह, धन दान और
सर्व वृत्तियों के लिए किया जाता है। काय तथा अकाय के नियम का आधार आत्मनः
है (19/24)। लेकिन साथ ही साथ सात्त्विक नियम कर्म का आधार निष्कामता है
(18/23)। इसलिए, गीता में नियत तथा कर्तव्य कर्म को भी ज्ञान भक्ति और
निष्कामता पर आधारित किया गया है। स्वधर्म स्वकर्म है और स्वकर्म वह है जो
स्वभाविक गुणा के अनुसार हो। गुणानुसार कर्म के आधार पर आध्यात्म-व्यवस्था
की रचना हुई है। अतः व्यक्ति का धर्म स्वभाविक गुणा के अनुसार वर्णाश्रमी तथा
स्वधर्मस्वी स्वधर्म का पालन करना चाहिए क्योंकि स्वभाव के अनुरूप कर्म करने
वाला व्यक्ति का पाप नहीं होता (18/4)। स्वभाविक प्राप्त कर्म का त्याग करने
पर भी नहीं छोड़ना चाहिए (18/48)। स्वयं ज्ञान कर्म में रह रहकर मांसपान
पाता है (18/45), जिससे द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है जिससे द्वारा यह सारा
ससार व्याप्त है उसे जो पुरुष स्वधर्म द्वारा मज्जा है वह मांसापाता है (18/40)
गुरु परमम में विगुण स्वधर्म अन्ता है परमम सदावत है और स्वधर्म में मत्पु-
भी धर्मस्वरूप है (3/35), स्वधर्म में हिचकिचाता उचित नहीं (कदाचि) स्वधर्म
साधने में पाप होता है (2/31-33)। मुख मुख तथा लाभ प्राप्ति को गमान संपन्न कर
स्वधर्म करने में पाप नहीं होता (2/35)।

स्वधर्म व साध साध लाभसंग्रह की दृष्टि में किया हुआ कर्म भी नियत कर्तव्य
कर्म है (3/20)। जय और काम की माधना लाभसंग्रह के अनन्त आती है। लाभ-
प्राप्त आनन्द के लिए अनिवार्य है, अतः लाभसंग्रह के लिए कर्म भी आवश्यक है।
बिना कर्म के लाभसंग्रह सम्भव नहीं है। किन्तु लाभसंग्रह माधन है साध्य
नहीं। साध्य है मांसा जिसके लिए लाभसंग्रह जनक माधना में से एक है। जीवन के
मुक्त प्रमित विकास के लिए, जय और काम की माधना के रूप में, लाभसंग्रह एक
साध्यम मान है। लेकिन लाभसंग्रह के लिए किया हुआ वह कर्म सात्त्विक है जो
मार्गहीन लाभसंग्रह के रूप में किया जाय।

गीता में यथाय किया हुआ कम भी नियत कृतव्य कम की श्रेणी में आता है। यन् स यचा हुआ अमृत खाने वाले लोग सनातनब्रह्म को पाते हैं। यन् न करने वाले के लिए यह लाभ नहीं है, तो परन्तु हो ही कहा सं सकता है (4/31)। यथाय किये जाने वाले कम के अतिरिक्त कम से इस लोक में बचन पैदा होता है। इसलिए रागरहित यथाय कम करना ही श्रेयस्कर है (3/9)। लेकिन यथाय कम क्या है? यथाय कम का एक रूप यह है जिसमें यन् फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है¹। सविन गीताकार ने मत्त में 'यज्ञ से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है अन्न में से भूतमात्र उत्पन्न होना है और यन् कम सं होता है। कम प्रकृति से उत्पन्न होता है, प्रकृति अक्षरब्रह्म में उत्पन्न होती है और इसलिए सबव्यापक ब्रह्म सदा यन् में विद्यमान है (3/14, 15)'। वेद में जितने प्रकार² के यन्ों का वर्णन हुआ है वे सब कम से ही उत्पन्न होते हैं। लेकिन, वास्तविकता यह है कि यन् में 'अपण ब्रह्म है हवि (हवन की वस्तु) ब्रह्म है और ब्रह्मरूपी अग्नि में हवन करने वाला भी ब्रह्म है³। और चूँकि यन् कम है, यन् का अर्थ है कम के साथ ब्रह्म का मत्त साधना। यन् का सार यह है कि यन् ब्रह्ममय है। अतः, यथाय कम वही कम है जो

1 वेदों में फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ का विधान है। यह यज्ञ सकाम है, जिसका गीताकार ने इस प्रकार वर्णन किया है,—यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ब्रह्मा ने कहा, 'यज्ञ द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो। यह तुम्हें इच्छित फल दे। तुम यज्ञ द्वारा देयताओं का पोषण करो और देवता तुम्हारा पोषण करें। एक दूसरे का पोषण करते हुए तुम कल्याण पाओ। यज्ञ द्वारा संप्रुप्त हुए देवता तुम्हें इच्छित भोग देंगे। उनका बर्त्ता दिये बिना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य घोर है (3/10-12)।'

2 विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है —जितने योगी देयताओं का पूजनरूपी यन् करते हैं कितने ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ द्वारा यज्ञ को होमते हैं कितने श्वणादि इन्द्रियों का सममरूप यज्ञ करते हैं कुछ नग्नादि विषयों को इन्द्राग्नि में होमते हैं कितने ही समस्त इन्द्रियकर्माँ को और प्राणकर्माँ को ज्ञानदीपक से आत्मसममरूपी योगाग्नि में होमते हैं, (यहाँ तात्पर्य योग और समम है), कोई यज्ञाय द्रव्य दान करते हैं, कोई तप करते हैं कोई अष्टांग योग साधते हैं कोई स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते हैं, कोई प्राणायाम करके अयान को प्राणवायु और प्राण को अपान में होमते हैं और कोई आहार समम करके प्राणा को प्राण में होमते हैं (4 2, 30)।

3 नये अध्याय में अयान कृष्ण के इन वचन में भी यही भाव व्यक्त है — 'यज्ञ का सत्त्व्य म है यन् म है यज्ञ द्वारा पितृगणों का आधार म है यज्ञ की घनरश्मि म है आहुति म है अग्नि में है और हवन-द्रव्य म है (9 16)।'

इस ब्रह्मपरायण ज्ञान पर आधारित है जोर जो इस ज्ञान का अनुभव करता हुआ यज्ञ करता है वही माता पाता है। यज्ञ का द्वारा जो कम के साथ ब्रह्म का मन्त्र माधता है, वही ब्रह्म को पाता है (4/24, 32)। ब्रह्मपरायण होने का कारण, यज्ञ का कम स्वभावतया ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। अपने का बड़ा मानने वाले अहंकारी यज्ञ तथा मान के मद में मग्न हुए दम्भी और विधिरहित नाममात्र के ही यज्ञ करते हैं (10/17)। यज्ञ की इच्छा और दम से किया यज्ञ राजसी है (17/12) और जिसमें विधि नहीं, अन्न को उत्पत्ति नहीं मान्य नहीं, त्याग नहीं, थड़ा नहीं, वह यज्ञ लाभम है (17/13)। सात्विक यज्ञ वह है जो विधिपूर्वक वनस्पति ममत्ता के और मन का यज्ञ में पिराकर किया जाता है (17/11)। अतः सात्विक यज्ञ निष्काम है। इसी कारण, ज्ञानयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग अधिक अच्छा है क्योंकि कम-मात्र ज्ञान में ही पराकाष्ठा को पहुँचते हैं (4/33)। इसी प्रकार, दान और तपस्वी वही नियत कृतकर्म के अयस्कर हैं जो ब्रह्मपरायण ज्ञान और भक्ति में उत्पन्न हुई निष्कामता पर आधारित हैं।

गीता में प्रतिपादित कममिद्वान, इस प्रकार निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत है जो, मिद्वान्त, ज्ञान और भक्ति की ओर उन्मुख है। गीताकार की यह आधारभूत मतांतिक मायता है कि कम में निष्कामता ज्ञान और भक्ति के योग से जाती है। सम्भवतः, इसी कारण गीताकार ने कममिद्वान का निष्कामकर्मयोग का सिद्धांत कहा है। गीता में स्थान स्थान पर, इस बात पर जोर दिया गया है कि माया ज्ञान में मिश्रता है। लेकिन साथ-ही साथ इस तथ्य पर भी जोर दिया गया है कि मोक्ष उस ज्ञान से नहीं मिश्रता है जो 'गूँघवानी तथा धिरक्लितवानी है। उपनिषद् के ब्रह्मवादी तथा महाभारत के आर्यादी ज्ञान का गीताकार ने ब्रह्मपरायणवानी ज्ञान की धारणा द्वारा उस प्रपत्ति और निष्कामकर्म पर आधारित किया है। यह अवश्य है कि ज्ञान और प्रपत्ति से निष्काम कर्म जाता है और गीताकार ने मिद्वान्तत इस स्वीकार भी किया है। लेकिन साथ-ही साथ, गीताकार ने यह भी स्वीकार किया है कि 'अभ्यासमाग से ज्ञानमाग भेदस्कर है, ज्ञानमाग से ध्यानमाग और ध्यानमाग से कमपलत्याग क्योंकि कमपलत्याग में अन्न में तुरन्त स्मृति आ जाती है (12/12)। इस प्रकार भक्ति की माता का माधन बनाम ज्ञान की माता ने भगवान् ब्रह्म में कहलाया है, 'यदि मन स्थिर करने की सामर्थ्य न हो तो अभ्यासयोग द्वारा, यदि अभ्यासयोग की सामर्थ्य न हो तो निमित्त कर्म का द्वारा और यदि निमित्त कर्म की भी सामर्थ्य न हो तो दत्तपूर्वक सब कर्मों का पूरा का त्याग करके मुक्त पाने का प्रयत्न करना (12/9, 11)।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि क्या बिना ज्ञान और भक्ति के निष्कामकर्म की प्राप्ति हो सकती है? गीताकार ने इस प्रश्न का उत्तर देना एक विचार छोड़ दिया है क्योंकि वह यह मानना लेकर चला है कि निष्कामकर्म ज्ञान

और भविन तीना अयो-याधित हैं और तीना मित्बर तथा अलग-अलग व्यक्ति म यह मनाया उत्पन्न करत हैं जिसस निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति आती है और जिससे, सभी परिस्थितिया म व्यक्ति का आत्मसाह तथा आत्मविश्वास मिलते है। निवृत्ति या प्रवृत्ति स ही जीवन का वाचना गीताकार को स्वीकार नहीं है क्योंकि न तो निवृत्ति ही अपने म पूर्ण है और न प्रवृत्ति ही। निवृत्ति और प्रवृत्ति का विवाद ही अधीन है। गीताकार के लिए वाछनीय है वह मनोदशा जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति एक म मिल जाते हैं। चाहे कोई ज्ञान से चले या भक्ति से या निष्कामकर्म से सबकी परिणति निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति म हाती है। इसीलिए, गीता का ब्रह्मसिद्धांत अधिक प्रेरक और आगावादी है क्योंकि इसस उच्च तथा निम्न, ज्ञान तथा भक्त यागी तथा ज्ञानी, योगी तथा पुरुष और ब्राह्मण तथा शूद्रों को एक सी प्रेरणा मिलती है।

गीता हिंदू सामाजिक ज्ञान का एक अंग है और उसके गत्यात्मक विकास की एक विधा अवस्था है। सामाजिक ज्ञान के गत्यात्मक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का विकास सामाजिक ऐतिहासिक विकासक्रम की गत्यात्मकता से सम्बंधित होता है। सामाजिक ज्ञान म जहाँ सामाजिक आदर्श तथा अर्थात् सन्निहित रहती है वहाँ उसम सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितिया भी प्रतिबिम्बित होती है। सामाजिक ज्ञान जहाँ सामाजिक आदर्श तथा अर्थात् को भूत से घनमान और घनमान से भविष्य की ओर ल जाकर समाज का नरतय प्रदान करता है वहाँ, उसम युग की गत्यात्मक आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन भी हुआ करता है। अपने युग की आवश्यकताओं के अनुसार गीता हिंदू सामाजिक ज्ञान का एक विधा प्रतिबिम्बित रूप है। गीता कल्पाचारी ब्रह्म ब्रह्मकाण्ड की विरोधी है क्योंकि उपनिषद् का पानाश्रयी ज्ञान के विकास ही पहले ब्रह्म ब्रह्मकाण्ड का विरोध हो चुका था और अगरी सामाजिक महत्ता समाप्त हो चुकी थी। उपनिषद् की पानाश्रयी ज्ञान के वैयक्तिकी थी। कल्पाचारी ब्रह्म ब्रह्मकाण्ड ब्रह्मचार प्रवृत्तिवादी था तो औपनिषदिक विचारधारा धार निवृत्तिवादी। ब्रह्म ब्रह्मकाण्ड म प्रवृत्ति और उपनिषद् की विचारधारा म निवृत्ति निवृत्ति दोनों उन पराकाष्ठाओं का पहुँच चुके थे जहाँ जीवन तथा के दो अर्थ नम छान बनकर रह गये थे। कृषि पर आधारित समाज म जिसका आधार परमाथ था निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों के मन्तुलन की आवश्यकता थी। गीता म निष्काम कर्म के आधार पर, यही मन्तुलन ज्ञान का प्रयास किया गया है।

गीता का ज्ञान मन्तुलन गीता के रचना काल के समय जातिव्यवस्था का जटिलता बढ़ गई थी जिसके कारण गीता म गुण-कर्म के आधार पर वर्णों के प्रतिपादन का प्रयास किया गया है तब सामाजिक व्यवस्था के निष्पत्ति अविज्ञानी अज्ञान म ब्रह्म का और व्यक्ति का सामाजिक परिष्कार की प्रेरणा का अन्तर मिले। इसीलिए, गीता म कर्म का आधार गुण है जो कर्म का भी

आधार है और व्यक्ति के चरम उद्विगम (परमगति) की अवस्था में दोनों गये हा जाते हैं क्योंकि वहाँ न तो गुण है न कर्म और न वण। इस प्रकार, गीता में वणव्यवस्था का दबी आधार प्रदान किया गया है और उभा आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि दबी स्तर पर क्या भिन्नता सम्पन्न हो जाती है। इहलौकिक जीवन (सामाजिक जीवन) का आधार ब्रह्ममय है। अब कर्म भी ब्रह्ममय है और चूँकि कर्म ब्रह्म का विावता है न कि कर्मावधि कर्म का आधार केवल कर्म का अधिकार है न कि कर्मपरामर्श। यही वह दृष्टिकोण है जिससे निवृत्ति प्रवृत्ति का सम्मिलन होता है। चूँकि भगवान् बुद्ध ब्रह्ममय है वास्तविक ज्ञान ब्रह्म है जो ब्रह्मपरायण है और निष्काम कर्म तथा ब्रह्मपरायण ज्ञान की स्वाभाविक परिणति भवित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की विज्ञानीयता का अतिमा गणजातिता और प्रजातिता में सन्निहित है, यही उस ब्रह्म की कल्पना का प्रेरित किया है जिससे सार विज्ञानीय गुण उदया जाते हैं और बबल ब्रह्म रह जाता है जो सारी विभिन्नताओं की तह में निहित एकर का प्रतीक है। यह कहा जा सकता है कि विज्ञानीय समाज में एकर का आवश्यकता का स्वाभाविक माग का कारण है। गीता में ज्ञान का आधार वह अनुभूति मानी गई है जो प्रवृत्ति और 'अविमनन विमनन' पर आधारित है। समाज का धार्मिकी अवस्था में बधान के लिए ही गीता में 'सम्भवामि युग युगे की धारणा आई है। इस प्रकार हिन्दू सामाजिक ज्ञान के रूप में, गीता हिन्दू विचार का वह उपाधित रूप है जो समाज का एकता तथा व्यक्ति की सामाजिक कृति का पूरा अभिव्यक्ति और समाज में व्यक्ति तथा समूह की गत्यात्मक क्षम्यता (Dynamic mobility) बनाए रखने की मायना पर आधारित है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीता में प्रवृत्ति कर्मसिद्धान्त का दैववादी (Fatalistic) विचार में मुक्त रहने का प्रयास किया गया है।

यह कहना अतिआधिकारिक न होगी कि जातिव्यवस्था की बदती हुई जटिलता के साथ साथ, कर्मसिद्धान्त जहाँ एक ओर जाति व्यवस्था में निहित असमानताओं को स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुआ था, दूसरी ओर, ज्ञान का जातिगत सामाजिक स्तर, कर्मों तथा धर्ममताओं का देवा विधान के रूप में स्वीकार करने तथा कर्म के द्वारा धर्ममय करके उसमें मुक्ति पाने की प्रेरणा देने में भी उसका प्रयोग हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसिद्धान्त भोग की धारणा के साथ धर्म के साथ स्वयं और नरक की धारणाओं के साथ बंध गया। निवृत्त कर्म की धारणा, एक ओर जाति से सम्बन्धित सामाजिक आर्थिक विषयों से बंध गई तो दूसरी ओर, वह निहित कर्म और मानव धर्म के उन सामान्य नियमों में जिनका पट्टा पान किया जा चुका है और जो मुख्यतया मनु के मानव धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है। इन सबका सम्मिश्रित प्रभाव यह हुआ कि कर्म धर्म की धारणा में बंध गया यद्यपि हिन्दू विचारधारा में सिद्धान्ततः इस तथ्य के निरूपित करने का प्रयास मिलता है कि कर्म

देव से सम्बन्धित होने पर भी पूणतया देव के वश में नहीं है।

यह हमी सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है कि ब्रह्म कमकाण्ड और जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था के विरोधी होने पर भी बुद्धवाद में बुद्धवाद और जैनवाद कमसिद्धांत को न छोड़ सके और दब तथा कमसिद्धांत प्रयत्न सम्बन्धी उस द्विधिया से न हट सके जिससे कम मन्त्रधी हिन्दू विचार प्राप्त है। उदाहरणार्थ, महात्मा बुद्ध ने यह कहा है

कि जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है और न अत्यज। कम से ही कोई व्यक्ति जन्मज होता है और कोई व्यक्ति कम के ही आधार पर ब्राह्मण बनता है। किसी से उसकी जाति मत पूछो बल्कि उसके आचरण की परीक्षा करो क्योंकि खराब से भी पराब नकड़ी से पवित्र अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। लेकिन, दूसरी ओर धम्मपद में कम सिद्धांत का एक निमग्न रहस्य शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। धम्मपद के अनुसार प्रत्येक पापी अपने पापों से घिरा रहता है किसी व्यक्ति के कम उसका कम हा दूषित करते हैं जन्म उसके मदकम उसे पवित्र करते हैं पापकम पापी का कम ही अनुसरण करते हैं जन्म राव अग्नि का अनुसरण करती है पापी को इहलौकिक तथा पारलौकिक मसार में बन्धन भोगना पड़ता है सम्बन्धित मत व्यक्ति का पारलौकिक मसार में बन्धन ही स्थापित करते हैं जन्म किसी के मने सम्बन्धी एक नम्बी यात्रा में वापस आने पर उसका स्थापित करते हैं कम मन्त्रधी है इसलिए छोटे से भी छोटा कम की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, छोटे छोटे कम मन्त्रित होकर उसी प्रकार एक बड़े कम में परिणत हो जाते हैं जिस प्रकार बूढ़ बूढ़ से घड़ा भर जाता है, आकाश समुद्रतट की गहराई या पहाड़ की गुफाओं की सारे मसार में वही भी कोई स्थान नहीं है जहां कोई अपने कमों का प्रभाव से मुक्त हो सके। अतः, पापकर्मों से जन्म रहता और मन का बुद्ध रहना मनुष्य का कर्तव्य है।¹ इस प्रकार, बुद्धवाद में कम मन्त्रधी विचारों में जागावाणी और निरागावाणी विचारों का सम्मिलन मिलता है। यहाँ, एक ओर यह माना गया है कि जन्म कुछ नहीं है कम ही प्रदान है और कम के ही आधार पर व्यक्ति का इहलौकिक जीवन बनता है और कम ही इहलौकिक जीवन की उत्पत्ति या निम्नता की कमोटी है और, दूसरी ओर, यह माना गया है कि कम ही पुनर्जन्म का कारण है और चूंकि कम व्यक्ति का बँते ही पीछा करते हैं जन्म राव अग्नि का पीछा करती है कम पुनर्जन्म में भी परिणत होता है। बुद्धवादी आत्मा का नहीं मानते। इस कारण, बुद्धवाद में कमसिद्धांत एक रहस्यपूर्ण कारण कार्य (Cause-Effect) की प्रक्रिया का रूप ले जाता है। बुद्धवादीयों ने पुनर्जन्म में पूर्वजन्म के प्रभावों की सम्भावना का स्वीकार करते हुए भी कमसिद्धांत का स्वयंसी विचारणा से मुक्त रहना।

1 गीगले की पुस्तक इन्डियन थॉट्स वि एजेंस में से उद्धृत पृष्ठ 100-101।

स्मृतियां, सूत्रा और नीतिशास्त्रा में कर्मसिद्धान्त की जातिव्यवस्था का आधार माना गया है और धर्म, पाप तथा पापों को मोक्ष का साधन । मनु स्मृति सूत्र और नीतिशास्त्र के अनुसार, मन, वाक् और देह से उत्पन्न होकर, कर्म की परिणति अच्छे बुरे परिणामों में होती है । कर्म ही मनुष्य की विभिन्न गतियों का कारण है । मानसिक पापों के कारण व्यक्ति का जन्म अत्यन्त जाति में होता है और बाणी द्वारा किए हुए पापों के कारण उसका जन्म पक्षी या चौपाये के रूप में होता है । गरीब द्वारा किए हुए पापों के कारण स्थावर वस्तुओं की गति मिलती है । कर्मनुसार नव यातना भोगकर व्यक्ति का पुनर्जन्म एना पड़ता है । जिस भाव में इस जन्म में कर्म किया जाता है, पुनर्जन्म के बाद, भावी जीवन में उसी के अनुसार उभरा परिणाम मिलता है । कर्मफल अत्यन्त भावना पड़ता है, जिसके लिए पुनर्जन्म आवश्यक है । मनु के अनुसार, आत्मज्ञान (जन्मा के द्वारा आत्मा का ज्ञान) ही कर्मजन्म से मुक्ति पान का एकमात्र साधन है । मनु के आत्मज्ञान की वन्दना गीता के ज्ञान की वन्दना के ही अनुरूप है । वेदविहित कर्म, धर्मप्राप्त्यर्थ ज्ञान के कारण इहलोक और परलोक में सुख दे सकता है मुक्ति नहीं । जन्म का पूरा फल उस ही मिलता है जो आत्मज्ञान की प्राप्ति, राग वृत्ति का ज्ञान (गम) करन और स्वाध्याय में रत रहता है । आत्मज्ञान की प्राप्ति ही मनुष्य का वास्तविक धर्म है । इसलिए मनु ने वेदविहित कर्मों के द्वारा धर्ममार्ग की प्रेरणा दी है ।

याज्ञवल्क्य के अनुसार कर्ममार्ग (कर्मयोग) का आधार धर्म और अधर्म है । जाति (उच्च अथवा निम्न स्तर में जन्म), जाय और भोग (सुख दुःख) कर्ममार्ग में ही उत्पन्न होते हैं । याज्ञवल्क्य ने वाचनीय अथवा नियत कर्म की ही धर्म माना है । धर्म कर्म के अनुसार वाचनीय अथवा नियत कर्म वह है जो वनधर्म, आश्रमधर्म, वनाश्रमधर्म, गुणधर्म निमित्तधर्म और साधारणधर्म से सम्बन्धित है । दान, आचार, धर्म, अहिंसा दान और स्वाध्याय के गृहित अथवा सभी कर्मों में आत्मज्ञान परमधर्म है क्योंकि आत्मज्ञान आत्मज्ञान में होता है और आत्मज्ञान मान्य का साधन है । गुणनीतिमार्ग के अनुसार, मनुष्य का इहलौकिक जीवन पूवजन्म के कर्मों से बंधा रहता है । कर्म जगत् के जन्म में व्यक्ति के देव का निर्माण ही नहीं करने हैं बल्कि उसकी बोद्धि प्रकृति को भी निर्मित करते हैं । अपने पूवजन्म के कर्मों के कारण ही व्यक्ति पाप या पुण्य की आरम्भसर होता है । गुणनीतिमार्ग में प्रतिपादित कर्म सिद्धान्त में इहलौकिक जीवन का कारण देव और कर्म, पर आधारित माना गया है और देव का पूवजन्म तथा इस जन्म के कर्मों में उत्पन्न माना गया है । इस प्रकार, गुणनीतिमार्ग में एक ओर, देव का प्रारम्भ का निष्पाद्य माना है सो, दूसरी ओर,

दव को इस अर्थ के बर्णों के प्रभाव के अंतर्गत माना है। शुभनीतिसार में एक ओर सन्नित जीवन पर आधारित पीरुपदगन की प्रशमा की गई है, दववादियो की भत्तना की गई है और दूसरी ओर जीवन को दव-कम व अधीन माना गया है जो इस बात का प्रतीक है कि शुभनीतिसार दव-कम की प्राथमिकता से सम्बंधित प्रदन में निहित द्विविधा से व्याप्त है¹।

पतजलि के यागसूत्रों² में यह मायता प्रतिपादित की गई है कि अविद्या और वशक बर्णों का कारण है। बले पाच प्रकार के हैं — अविद्या (पुरुष और प्रकृति का भ्रमण एक मानना) अस्मिता (शरीर और जीव का एक मानना) राग (विषयो में लगाव) द्वेष (दुष्ट देने वाली वस्तुओं व प्रति घणा और उनसे दूर रहने का भाव) और अभिनिवृत्ता (जीवन से लगाव और मरण में डर का भाव)। अविद्या प्रधान बलेश है और शेष उभय विभेद है। अविद्या अज्ञान नहीं बल्कि विभ्रम है। पाप-कर्म तथा पुण्यकर्म का कारण वशक है। जाति आयु और भोग का कारण कर्म है और बर्णों का प्रभाव इह-लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवन पर पड़ता है। मनुष्य के कर्म 'गुण', कृष्ण और गुणलक्षण की श्रमिया में आते हैं। स्वाध्याय और ध्यान शुक्ल कर्मों की श्रमिया में आते हैं क्योंकि इनका आधार मानसिक है ये किसी बाह्य साधन पर आधारित नहीं हैं और इनसे किसी की पीडा नहीं होती है। कृष्ण श्रेणी में वे कर्म आते हैं जो शुक्लकर्म के विपरीत होने के कारण दुष्कर्म बहे जाते हैं।

1 प्रभू, पी० एच० वहीं पृष्ठ 35-37।

2 योगसूत्रों से तात्पर्य उन नियमों से है जिनके द्वारा योग की साधना हो सकती है। योग हिंदुओं के छे दशनों में एक वगन है लेकिन योगसूत्रों का सम्बन्ध योग की ध्यावहारिक विधाओं के नियमों से है। योगसूत्र के नियम हैं जिनसे कर्म व-प्रन से मुक्ति मिलती है। योग का अर्थ है आत्मा का ईश्वर से योग। योग 'युज' धातु से निकला है जिसका अर्थ है जोड़ना। योग में यह माना जाता है कि आत्मा और ईश्वर में जो वियोग है उसे योगिक क्रियाओं द्वारा दूर किया जा सकता है। इसलिए, योग का अर्थ प्रयास से भी है—उस प्रयास में जिससे आत्मा परमात्मा का मिलन हो सकता है। योगसूत्रों में योग शब्द का प्रयोग प्रयास के ही अर्थ में किया गया है। इसलिए, योगसूत्र एक आध्यात्मिक दगन की अयेगा एक प्रकार की योगिक विद्या साहिता है। आत्मा-परमात्मा के मिलन की अवस्था समाधि है। अतः, योग शब्द का प्रयोग समाधि-अवस्था के लिए भी किया जाता है। लेकिन, जहाँ कर्म योग ज्ञानयोग और भक्तियोग जैसे प्रयोग आते हैं वहाँ योग का अर्थ प्रणाली हो जाता है। गीता में, निष्काम कर्म को जन्म देने वाली मनोदगा के लिए योग शब्द का प्रयोग किया गया है।

सुबलक्षण कर्मों में दोनों श्रेणियों की विद्यमानाएँ विद्यमान रहती हैं। योगी कर्मफल की अभिलाषा त्याग देता है। इसलिए, उसके कर्म इस किंगी भी श्रेणी में नहीं आते हैं। योगी के कर्म ईश्वर के प्रति आपित हान हैं और वे केवल भूतबानिक शक्तों और उत्तरदायित्वों का निभान के लिए किए जाते हैं और इस कारण योगी भावी कर्मों और उत्तरदायित्वों के बन्धन में मुक्त हो जाता है। योगी के कर्मों का प्रेरणास्त्रान प्रविष्टा नहीं प्रियत ह कपाति वह पुण्य और प्रकृति के अन्तर का जानता है। योगी कर्म का ईश्वरचक्रा समझकर ग्रहण करना है। तानागि उसको अविद्या का जलाशय नष्ट कर देती है। इसीलिए योगी कर्मों और कर्मों के बन्धन में मुक्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति में योगी के कर्म में कटापन का भाव लुप्त हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति का अवस्था के साथ साथ योगी धर्ममय हो जाता है अर्थात् वह धर्म कर्म से करता है तबिन जस मय सभी से अछटा रहता है। कर्म ही योगी भी मत्सर और कर्मों से अलिप्त रहता है। एम ज्ञानवान का पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म योगश्रुति में निहित अतिवाण शास्त्रों के निबन्ध है क्योंकि इसमें भी ज्ञान मान का आधार है, ज्ञान पुण्य और प्रकृति के भेद की अनुभूति है और योगी वस्तुतः गीता का निष्काम कर्मयोगी है।

३

कर्मसिद्धान्त के आधार

विष्णु ध्यान में यह स्पष्ट है कि कर्मसिद्धान्त वर्णाश्रम व्यवस्था तथा धर्म के साथ, सिद्ध ब्रह्मविद्वत् सामाजिक जीवन ज्ञान का एक आधार है जिसका विकास सामाजिक विचार के रूप में धारणा हुआ है। भारत का सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थितिगत न हम विद्वान की गतिविधि का निमित्त किया है। साथ ही साथ, कर्मसिद्धान्त का निर्माण ब्रह्म विचारधाराओं के समन्वय से हुआ है। मोक्ष के अनुसार कर्म आश्रमों और ब्रह्मस्थानों के धारणाओं में मिलकर कर्मसिद्धान्त का स्थापना हुआ है। कर्म सिद्धान्त में कर्म की धारणा ही सबसे प्रधान है। गीता के अनुसार कर्म संप्रदायी की यह श्रिया है कि उनके प्रियत, उदयिनक तथा सामाजिक अस्तित्व का आधार है। कर्म, आधारभूत वैदिक विचारों के रूप में, जीव का गुण है। अतः कर्म का यह धारणा कर्म के उत्पन्न-मरण पर आधारित है। कर्म का उत्पन्न धारणा में प्रकृतियों के अतिवाण निहित है। कर्मसिद्धान्त में कर्म की धारणा का

द्रुमरा रूप भी है। कम व्यक्ति का नतिव उत्तरदायित्व है—वह उत्तरदायित्व जिसके लिये व्यक्ति ही उत्तरदायी है। कम की धारणा का यह रूप धर्म से क्या है जो सम्भवतः 'व्रत' की धारणा से आया है। इसी आधार पर कम, अकम, सुकम, नियत कम, अनियत कम, पुण्य कम पाप कम, शुक्ल कम तथा कृष्ण कम के विचार विकसित हुए हैं। एक श्रेणी में वह कम आता है जो नियत व्रत, सुकम, और पुण्य कम है और दूसरी श्रेणी में वह कम आता है जो अकम पापकम तथा कृष्ण कम है। पहली श्रेणी में आने वाला कम और उसके प्रकार करणीय हैं और दूसरी श्रेणी में आने वाला कम अकरणीय। करणीय कम का आधार, एक आर, धर्म और गुण को माना गया है और, दूसरी ओर धर्म तथा धर्म का। धर्म और गुण का सम्बन्ध शरीर-व्यापार और इन्द्रिया के विषय से है। धर्म और गुण का वह आधार है जिसे समाज-मनाविज्ञान में चालक (Drive) और आधारभूत आवश्यकताओं (Basic Needs) या एषणाओं (Desires) की संज्ञा दी जाती है। चालक का अस्तित्व स्वतः नहीं है। चालक का अस्तित्व उद्देश्य (Goal) से सम्बन्धित है और उद्देश्य का स्थान व्यक्ति में होकर पर्यावरण में होता है। चालक जबकि मानसिक प्रवृत्ति है और जीव की क्रियाशीलता तब उत्पन्न होती है जब चालक उद्देश्य की ओर उन्मुख होकर जान का उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। जीव, संस्कृति और समाज क्रिया का आधार हैं।

कम के विषय में हिंदू विचार आधुनिक सामाजिक मनाविज्ञान के विचार में घाटा भिन्न है। सामाजिक मनोविज्ञान विज्ञान है न कि ज्ञान। विज्ञान का आधार आनुभूतिकता (Empiricism) है जिसमें जीव का ज्ञान प्रकृति के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। आनुभूतिक सामाजिक विज्ञान (समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और समाजमनोविज्ञान) में मानव और के साथ समाज और संस्कृति का वही तत्त्व ध्यान में लाया जाता है जहाँ तब जीव का ज्ञान स्पष्ट करने के निम्नतम के प्रयोग का सम्बन्ध है। लेकिन, समाज और संस्कृति जबकि नहीं हैं। समाज और संस्कृति परा जीव है क्योंकि संस्कृति जीव विकास का अपने में निहित आदर्शों का अनुसार गति और गति प्राप्त करती है। हिंदू विचार में धर्म और गुण मानव क्रिया का जैविक आधार (चालक) हैं लेकिन मानव क्रिया धर्मगुणामुक्त ही नहीं है। इन्द्रिया का विषय धर्म गुण में उत्पन्न होता है और क्रिया का धर्मगुणामुक्त होना का तात्पर्य है कम का विषय वागना में बांधना। हिंदू का साम्प्रतिक आदर्श मान है। हिंदू विचार नति पर आधारित है। इसीलिए धर्म गुण का और धर्म पर आधारित करणीय कम यह है जो धर्म की ओर लजाय। समाज गुण तथा धर्म पर आधारित है। दूसरी अभिव्यक्ति वर्णाश्रमव्यवस्था में होती है। अतः कम, एक आर, वर्णाश्रम व्यवस्था से क्या है और दूसरी ओर माना है। लेकिन, पूर्व जीवन का अन्तर्गतता उद्देश्य माना है, मान की वास्तविकता का अनुभव स्वभावतया कम का आधार बन

जाता है। योग का तात्पर्य है 'नति' में मिल जाना, धर्म-गुण में पर हो जाना क्योंकि 'नेति' ही धर्मगुण में परे है यद्यपि धर्म गुण उनसे प्रेरित हैं। अतः, योग की वास्तविकता में अनुभव से तात्पर्य है नति का ज्ञान प्राप्त करना और उसके परायण रहकर कर्म करना क्योंकि अन्तिम उद्देश्य यही है। इसीलिये हिंदू विचारधारा में धर्म का ज्ञान मुख्य बनाने की प्रणाली दी गई है और ज्ञान में लान्छन किया गया है आत्मज्ञान से। धर्म गुण की अवहत्या नहीं हो सकती। इसलिये आश्रम और व्रत अर्थात् समाज की इष्टावधि जीवन की, व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः समाज माध्यम है मोक्ष का और इसीलिये समाज में किया हुआ कर्म भी माता-पिता हीना चाहिये। मोक्ष निष्काम की अवस्था है। ज्ञान मोक्ष का माध्यम कर्म भी निष्काम होना चाहिये। माता-पिता का अधिकार है जातव्य में मिलता है और जातव्य की साधना कर्म द्वारा होती है। ज्ञान कर्म से कर्म करना व्यक्ति का नित्य उत्तरदायित्व है। कर्म में नित्यता का विचार कर्म से कर्म की धारणा पर आधारित है।

जहाँ माता का योग बना गया है वहाँ कर्म का आधार योग को माना गया है। योग समाधि है। ज्ञान कर्म से वह है जो समाधि का दशा लान में सहायक हो। समाधि पारिवर्तिक नहीं मानसिक अवस्था है। अतः, पारिवर्तिक मन का हटाना ही कर्म माना गया है। यहाँ कर्म में तप का भाव आ गया है, जिसका एक रूप संप्रदाय शरीर का कष्ट देना ही दया का दमन करना है और दूसरा ज्ञान, निष्कामता और भक्ति द्वारा उस मानसिक अवस्था पर पहुँचना जहाँ कर्म बल शरीर व्यापार रह जाय। कर्म उत्तरदायित्व है गुणानुसार व्यक्ति का अपना धर्म है। ज्ञान कर्म स्थानांतरणीय है। यही कर्म दान का विचार से बंध जाता है। महाभारत में यह विचार व्यक्त किया गया है कि राजा का कुबर्षों से प्रजा पर ऐसा विपणन आनी है और मानव धर्मशास्त्र में यह कहा गया है कि स्त्रियाँ का अपने पति का कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसमें यह भाव निहित है कि कर्म एक प्रकार की पूजा है जिसे हस्तांतरित किया जा सकता है और जो व्यक्ति का साथ रहनी है। विष्णु, जिस गोमले में कर्म की हस्तांतरणीय विपणन कहा है और जिसके आधार पर कर्म को एक प्रकार का भौतिक प्रमेय माना गया है वह दम्पित कर्म का वह रूप है जो हिंदू विचार और धर्म में व्याप्त दूषण विचार (The Idea of Pollution) से सम्बंधित है। मुख्य पवित्र करत हैं और पापकर्म दूषित करने हैं। दूषण अपने एक ही सीमित नहीं रहता है। इसीलिये दान शोध का नियम जो उन कर्मों का श्रेणी में रक्का गया है जो व्यक्ति का पवित्र करने हैं। नित्य स्नान और तीर्थस्नान का इसमें विषय महत्व है। इस कारण जिस व्यक्ति की जाति जिनकी उच्च है, चण्डालिये उठने ही जटिल नित्य शोध कर्मों का विधान है और सम्मेलन इसीलिये

गौच धर्म के इस लक्षण से एक है। जन्म और मृत्यु के अवसर पर किये जाने वाले अनेक कल्प कर्मों (Ritual Acts) की साधकता दूषण विचार के सद्व्यवहार में ही स्पष्ट होती है। जाति अन्तर्वैवाहिकी तथा खानपान के नियमों का भंग करने वाले दूषित हुए माने जाते हैं और उनके किये अनेक पवित्रकारी कल्प कर्मों का विधान है जिनमें गंगास्नान, गंगा जलपान, गंगाजल में अभिसिंचन, सत्यनारायण तथा भागवत की कथा सुनना मुख्य है।

दुर्गमों से उत्पन्न पाप का धर्म का विचार उस वैदिक विचार का ऐतिहासिक प्रतिफल है जिसमें यह माना जाता था कि यज्ञ तप और मनस्ताप से पाप धुल जाते हैं। इसी विचार के आधार पर अनेक पावनकारी कल्पा (Purificatory Rituals) के सामाजिक विधान का उद्भव हुआ है जो करणीय कर्म की श्रेणी में आते हैं। इन सभी कल्पों में यह विचार निहित है कि समान से समान की उत्पत्ति होती है (Like Produces Like)¹ किसी के स्वर्ग में रहनेवाली किसी वस्तु या उसके निम्नी अंग के प्रति किया जान वाला पाप, वस्तुतः उसके प्रति किया पाप है² और द्रव्योक्ति का नियम तब तक लागू रहता है जब तक कि उससे कोई फल प्राप्त न हो सके³। यह विचार उस प्राचीनतम विचार से उत्पन्न हुआ है जिसमें यह माना जाता था कि मनुष्य का जो दुःख मित्रता है दयताया की अनुप्राप्ति से मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति का मिलन वाला पाप पुण्य सुख दुःख अन्धता दुरा पहल ही से निर्धारित है जो उगता विधि है और उसका भाग्य है। दया द्वारा निर्धारित भाग ही यज्ञ का भाग्य है और भाग्य ही द्रष्ट (दया द्वारा पूर्वनिर्धारित) है। यही स भाग्य, विधि, प्रार्थना, स्वयंसेवा और मानव जाति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य का प्रभावित करने वाली एक निरीत रहस्यात्मक शक्ति की धारणा के रूप में दया धारणा का अप्रुदय हुआ जा कर्म की धारणा से मिल गई। फलतः कर्ममिद्वान्त सम्बन्धी

- 1 जते मिर्जापुर जिले की कौरवा गणजाति के लोग वर्षा लाने के लिये पहाड़ियों पर से घड़े-घड़े पत्थरों की इसलिये जुद्धका देत हैं कि पत्थरों की गड़गड़ाहट यादों की गड़गड़ाहट को आकर्षित करती है और बादलों की गड़गड़ाहट के आन का मतलब है बादलों का तथा वर्षा का आना।
- 2 नाल (Nails) गाड़ना और मृच्छन के बालों को गंगा में धाँसना नदी में प्रदत्त करना इस विचार पर आधारित है कि नाल या बालों पर पड़ने वाले प्रभाव यन्त्रुन बद्ध पर पड़ते हैं। बर्गीकरण और माण्डवी तंत्रित क्रियायें इसी विचार पर आधारित हैं।
- 3 गडा, लाओड के द्वारा मनोवाछित — पाप का प्रयास इसी विचार पर आधारित है। पाप फूस से ओमारी तथा दायाए डूर करना इसी विश्वास पर आधारित है कि पाप फूस से ओमारी करने वाला नियमों में कोई आपत्तिपूर्ण शक्ति रखता है। फिर उस ही माना जाता है जिसका विरोध न किसी आधिपत्यिक शक्ति की शक्ति है। इस प्रकार का विश्वास की मानवशास्त्र में जादुयी क्रियायें (Magical Imetices) करने हैं।

विचारधारा वहीं-वही देववादी हो गई।

लेकिन कर्मसिद्धांत का आधार यह विचार नहीं है कि कर्म देव का प्रतिफल है। कर्म सिद्धांत का आधार यह है कि कर्म ही भाग्य है (भाग्यम् कर्म)।

कर्म और दैव महाभारत में धर्म-शास्त्र के इस कथन का पहला ही उल्लेख किया जा चुका है कि देव सर्वोपरि हैं और वर्तमान जीवन की गति-दैव का परिणाम है जिस बिना दैव के स्वीकार करना मनस्य का धर्म है। धर्म-शास्त्र का कथन इस विचार का विरोधी है कि कर्म ही भाग्य है। दैव तथा कर्म का तारर द्विविधापूर्ण विचार व्यक्त किया गए हैं। मनुस्मृतिके प्रसिद्ध अथर्व विद्वान् कीर्ति ने कर्मसिद्धांत का मूलतः देवपरक (Theistic) कहा है और मन्वानर ने यह कहा है कि आकाशमन तथा कर्मसिद्धांत के सम्मिश्रित प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रकृति का एक ओर, इस जन्म का पूर्व जन्म का प्रतिकूल भान कर भाग्य पर मानाव करने का प्रेरणा मिलती है और, दूसरी ओर, इसमें नियोगीयता गिरिष्ठ हो जाता है। मन्वासा-मुनता बढ़ती है और कर्म आत्ममूलक हो जाता है क्योंकि माना-व्यक्तिमूलक है। इसका परिणाम यह होता है कि अवरपरक गुणा (Otherworldly Virtues) के विकास के लिये बहुत कर्म की सम्भावना रह जाती है। इसी आधार पर यह भी कहा गया है कि कर्मसिद्धान्त निराशावादी है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिये स्थान नहीं है। अतएव, कर्म निराशावादी जीवन का ध्येय है।

राधाकृष्णन के अनुसार कभी-कभी यह कहा जाता है कि कर्मसिद्धान्त मानव स्वातन्त्र्य का विरोधी है यद्यपि यदि उसका ठीक-ठीक विश्लेषण किया जाना हो तो वास्तविकता कुछ और ही निकलती है। कर्मसिद्धांत में मानव-स्वातन्त्र्य का विरोध नहीं है। कर्मसिद्धांत इस भावना पर आधारित है कि प्रकृति ही नहीं करने मनुष्य और आचार भी व्यवस्थित हैं और यह व्यवस्था उच्च श्रेष्ठ विधान पर आधारित है जिसका मर्याद तथा निरीतव-स्य कमाध्यत (इदम्) है। दिव्य विधान का अवहनता अवम्भव है। प्रत्येक कर्म एक अन्त्य-साधन पर तुल्यता है और उसका परिणाम मनी इसी जीवन में, मिलता है। श्रेष्ठ विधान में यथे होने पर भी कर्मसिद्धांत, सिद्धान्त-प्रकृति के जन्मजान मानविक तथा-विक-उत्तरणों पर आधारित है क्योंकि कर्मसिद्धांत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपने मनुष्य-व्यक्ति उत्तरणों के अनुसार, कर्म करने की शक्ति है। कर्मसिद्धांत की आधारभूत प्रेरणा यह है कि कभी भी किसी भी समय पार्श्व भी-प्रति अपने अन्त्य के लिये प्रयास कर सकता है। कोई भी, पापी हो या धर्म का कर्म भी हो नहीं है^१।

१ प्रभू, पी० एच० की पुस्तक हिन्दू सोशल आर्थिक्स में पृष्ठ ४३-४४

२ एम० राधाकृष्णन दि हिन्दू एंड आर्य साइंस

कर्मसिद्धांत में दैव का विचार कर्म की धारणा से बढ़ा है। कर्म और दैव अन्त्यायाश्रित है। दैव कर्म का प्रतिफल है न कि कर्म दैव का। बिना कर्म के दैव निष्प्रिय तथा निष्फल हो जाता है। दैव की सिद्धि कर्म से होती है (बिना पुरुषकारण दैवमय न सिध्यति)। महाभारत में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि दैव और कर्म में कौन प्रधान है भाष्म ने यह उत्तर दिया कि परंपकार (जिसका आधार कर्म है) बीज के समान है और दैव क्षेत्र के समान और शस्यम् (फल) दोनों के प्रभाव का परिणाम है। जिस प्रकार बिना बीज के क्षेत्र (खेत) से फल नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार, बिना कर्म के दैव निष्फल रहता है। दैव पर निर्भर रहने से कुछ नहीं मिलता सभी कुछ कर्म से ही मिलता है¹। कर्म के प्रभाव से दैव वैसे ही प्रदल हो उठता है जस हवा के प्रभाव से जल और कर्म का अनुपरिधिति में दैव वैसे ही मग्न हो जाता है जस बिना तेल के दीपक की लौ। दैव में अपना काइ प्रभुत्व नहीं है। जस शिष्य गुरु का अनुसरण करता है, वस ही एक दक्षिण के कर्म, दैव से निर्दिष्ट है वर, उसके पीरप का अनुसरण करता है। अतः जहां कर्म है, वहीं दैव है। दैव, दैव और कर्म के सम्मिलित प्रभाव से मिलता है।

दैव कर्ममय से बनता है और कर्म मयपूवजम में भी होता है और इस जम में भी। अतः दैव इस जम तथा पूवजम के कर्मों के अधीन है। द्युप्रतीति-सार में जमा कि पहल कहा जा चुका है, जीवन का दैव और कर्म का प्रतिफल माना गया है और कर्म में पूवजम तथा इस जम के कर्मों की सम्मिलित किया गया है। इस जम के कर्म भावी प्रारब्ध का बदल सकते हैं। इसलिये, द्युप्रतीतिसार में कहा गया है कि अततागत्या कर्म ही अच्छे बुर प्रारब्ध का कारण बनते हैं। लेकिन, साथ ही साथ, द्युप्रतीतिसार में यह भी कहा गया है कि इस जम के कर्म अगल जम की बौद्धिक तथा अन्य प्रवृत्तियों को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, द्युप्रतीतिसार का दैव तथा कर्ममयी विचार द्विविधापूर्ण तथा अस्पष्ट है। याज्ञवल्क्य के अनुसार, कर्म गिद्धि पुरुषकार (मानव प्रयास) तथा दैव के बीच व्यवस्थित होती है। इन पूवजम के पीरप का अति यक्ति²। कर्मसिद्धि केवल दैव से होती है³। इसका अभाव में, न कर्म (मय) में और न केवल पुरुषकार से। जस केवल एक पहल से यह नहीं चलाता है वगैरे बिना पुरुषकार (प्रयास) के दैव की सिद्धि नहीं होती है। द्युप्रतीति और कर्म परस्पर निर्भर है, उत्तर मुक्त कर्मों में लगे रहते हैं और कर्म के त करके दैव पर निर्भर करते हैं।

1 प्रभू पी० एच० बर्नी पृष्ठ 29, 30, 37

2 बाबर मन कर एक अध्याय। दैव दैव आश्रित पुरुषकार—तुलसीदास

कम सिद्धांत का तीसरा आधार आवागमन के सद्बोध में विचार करने पर देव की धारणा अर्थात् स्पष्ट हो जाती है। आवागमन की धारणा एक आवागमन और नति विचार पर आधारित है और दूसरी ओर आत्मा की अमरता के विचार पर। जो 'नति' है वही परब्रह्म या परमात्मा या ईश्वर है। आत्मा उसका वह अंग है जो देहद्वारा के रूप में इस संसार में आता है। शरीर नष्ट हो जाता है और आत्मा अमर है तथा ईश्वर का अंग होने का कारण आत्मा सर्व ईश्वर में मिलने के लिए समुद्यत रहता है। आत्मा का अमरता का विचार कम सिद्धांत का केवल एक आधार है जिसका विकास बौद्धिक चार्ज में हुआ है। कम-सिद्धांत का मुख्य आधार यह विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा का इस जन्म के कर्मों के अनुसार अलग जन्म में पुनर्जन्म या नव भागना पड़ता है जिसमें पुनर्जन्म पान के बौद्धिक उपाय उपासना और यत्न हैं। नियत कृतकर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्ति का विचार इसी बौद्धिक विचार में निहित है जो गीता में आरंभ निष्काम कर्म हो गया है। माया का वातराग का मिलता है और जब तक मनस्य बीजराग नहीं होता है उस आवागमन में मुक्ति नहीं मिलती है। किन्तु मुक्ति और आवागमन के बीच के बीच में यत्न अर्थात् और बुरे दानों प्रकार के कर्म करना है। अच्छे कर्म से सुख भाग मिलता है और बुरे कर्मों से यातना या अर्थात् बुरे कर्मों के फल का मृत्यु के बाद मनुष्य स्वर्ग और नरक में भागता है और बाद में पुनः पुनर्जन्म के द्वारा दुष्ट तमारा में या पूर्वकर्मों के अनुसार जीवन गति मिलती है। गति में जानि, आयु और भाग शामिल है। गीता में भी यह माना गया है कि गुण स्वाभाविक अथवा जन्मजात होते हैं। कम और आवागमन का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि आत्मा परमात्मा में न मिल जाय। प्रत्येक जन्म माया का आरंभ करने का एक अवसर है क्योंकि प्रत्येक जन्म में पुनर्जन्म के कर्मों के प्रभाव का दूर करने के समसमय का गुण दिया जा सकता है। गुण समसमय के लिये नित्य कम आस्य है। कमसिद्धांत, इस प्रकार, अवगति तथा प्रगति दोनों के लिये अवसर प्रदान करता है।

कमसिद्धांत वस्तुतः नियतकर्म (जिस मायाशक्त स्वधर्म कहा गया है) की धारणा और इस अनुभूति पर आधारित है कि व्यक्ति का वर्तमान जीवन (उसका परिवार विषय में जन्म उसकी वर्तमान सामाजिक परिस्थिति, जानि वगैरे इसमें गुण और दुष्ट) माया का परिणाम नहीं बरन उसने पुनर्जन्म के कर्मों का परिणाम है जिस स्वधर्म पात्र के द्वारा समुचित बनाया जा सकता है। कमसिद्धांत में निहित मायता के अनुसार, वर्तमान जन्म पुनर्जन्म के कारण है और इस जन्म के कर्मों की प्रतिनिधता पुनर्जन्म के कर्मों पर होती है जिससे नये कर्म अस्तित्व में आते हैं। यह कहना कि यह जन्म पुनर्जन्म के कर्मों का परिणाम है और उन्हीं के अनुसार वर्तमान तथा नया जीवन निर्धारित होता है यह मानना है कि कमसिद्धांत मानने की जानि कोई अपने आप स्वचालित यंत्र है जो कि वस्तुतः वह नया